पूज्य प्रवर्तक
श्री अम्बालाल जी महाराज
अभिनन्दन ग्रन्थ

पूज्य गुरुदेव श्री
अम्बालाल जी महाराज
के भागवती दीक्षा के

गरिमामय पचास वर्ष की
सम्पन्नता पर
प्रकाशित
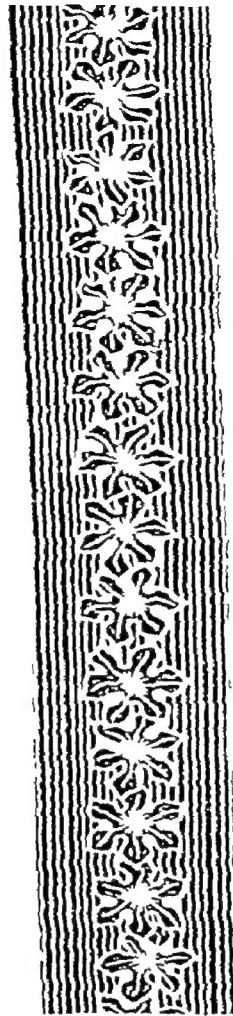
पूज्य प्रवर्तक

श्री अम्बालाल जी महाराज

अभिनन्दन ग्रन्थ

संपादक—सौभाग्य मुनि 'कुमुद'

सम्पादन

☐ प्रधान सम्पादक

श्री सौभाग्य मुनि 'कुमुद'

☐ प्रबन्ध सम्पादक

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

☐ सम्पादक मण्डल

श्री देवेन्द्र मुनिजी शास्त्री
डॉ० नरेन्द्र भानावत
श्री अगरचन्द जी नाहटा
श्री बलवन्तसिंह मेहता
श्री ब्रजमोहन जावलिया

☐ प्रकाशक

पूज्य गुरुदेव श्री अम्बालाल जी महाराज
अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति
लक्ष्मी मार्केट, आमेट (चारभुजा रोड)

☐ प्रकाशन

२ अप्रेल १९७६, चैत्र शुक्ला ३ वि० स० २०३३

समायोजन

☐ परामर्शदाता मण्डल

आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी
राष्ट्रसंत उपाध्याय अमरमुनि जी
मरुधरकेसरी प्र० मुनि श्री मिश्रीमल जी
मालवकेसरी मुनि श्री सौभाग्यमल जी
बहुश्रुत श्री मधुकर मुनि जी
अध्यात्मयोगी श्री पुष्कर मुनि जी
प० मुनि श्री जिनविजय जी

☐ सम्प्रेरक

श्री मदनमुनि 'पथिक'
महासती श्री प्रेमवती जी

☐ संयोजक

श्री भूरालाल जी सूर्या
श्री मदनलाल जी पीतल्या
श्री ऊँकारलाल जी सेठिया

☐ मुद्रक

श्रीचन्द सुराना के लिए
दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा-४

मूल्य पचास रुपये मात्र

प्राप्ति केन्द्र

☐ धर्म ज्योति परिषद्, १५७, राजेन्द्र नगर, भीलवाडा (राजस्थान)

☐ मेवाडभूषण श्रावक समिति, सोजत्या भवन, सिंघट वाडियों की सहरी, उदयपुर

समर्पण

सयम - सुमेरु के
उत्तुग शिखर पर
अवस्थित हो
आत्मा के
अनन्त सौंदय रस के
अनुपान को उत्सुक,
अत

तद् - प्रेरित
अध - शतक
सवत्सर पर्यन्त
अविराम
विराग यात्रा के पथिक
आचरण - निरत
चरण युगल
को

मानस - मानसरोवर के तट पर
निर्बाध - पल्लवित
श्रद्धा - वल्लरी
स - पत्र
स - पुष्प
अर्पित
समर्पित

—'कुमुद'

मेवाड़ संघ शिरोमणी :- प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज

संदेश

उप-राष्ट्रपति, भारत
नई दिल्ली
VICE-PRESIDENT
INDIA
NEW DELHI

२५, नवम्बर १९७५

प्रिय महोदय,

आपका पत्र दिनाक १० नवम्बर, १९७५ का प्राप्त हुआ, धन्यवाद।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप मुनि श्री अम्बालाल जी के (सयम जीवन के) इकावनवें वर्ष के प्रवेश के उपलक्ष मे सार्वजनिक अभिनन्दन करने जा रहे हैं और इस अवसर पर उन्हें एक अभिनन्दन ग्रन्थ भी भेंट किया जायेगा। मैं अभिनन्दन समारोह की सफलता के लिये अपनी हार्दिक शुभ कामनायें भेजता हूँ।

आपका,
—व० दा० जत्ती

RAJ BHAVAN
BANGLORE

२२ नवम्बर, १९७५

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि पूज्य प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज के सयम पर्याय के पचास वर्ष के पूर्ण होने के उपलक्ष मे उनकी सेवाओ के लिये उनका अभिनन्दन किया जा रहा है और उस अवसर पर एक अभिनन्दन ग्रन्थ भी समर्पित किया जा रहा है। इस अवसर पर मैं उनको अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ और अभिनन्दन समारोह की सफलता के लिये अपनी शुभ कामनायें भेजता हूँ।

—मोहनलाल सुखाडिया
[राज्यपाल, कर्नाटक]

संदेश

कृषि तथा सिंचाई मंत्री, भारत सरकार
नई दिल्ली

४ सितम्बर, १९७५

प्रिय महोदय,

पूज्य प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज अपने दीक्षा-जीवन के पचास वर्ष पूर्णकर इक्यावनवे वर्ष मे प्रवेश कर रहे हैं। उनके सम्मान मे इस अवसर पर उन्हे एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेट किया जा रहा है, यह आपके पत्र दिनाक २५-८-१९७५ से माननीय कृषि एव सिंचाई मन्त्री, श्री जगजीवनरामजी को ज्ञात हुआ।

माननीय मन्त्री जी की शुभ कामना है कि समारोह सफल हो एव मुनि श्री अम्बालाल जी दीर्घायु हो और समाज व राष्ट्र की सेवा करते रहे।

भवदीय
धर्मचन्द्र गोयल
विशेष सहायक

मुख्यमन्त्री, राजस्थान
जयपुर

१५-९-१९७५

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि जैन श्वेताम्बर स्थानकवासी श्रमण सघ के प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज के दीक्षा जीवन के ५१वें वर्ष मे प्रवेश करने के अवसर पर अभिनन्दन ग्रन्थ को एक सार्वजनिक समारोह मे उन्हें भेंट किया जायेगा।

मुझे बताया गया है कि मुनि श्री अम्बालाल जी मेवाड ही नही भारत के अनेक प्रदेशो मे पद यात्रा कर धर्मोपदेश करते रहे हैं। मैं प्रारम्भ से ही जैन सन्तो के त्याग-मय जीवन का प्रशसक रहा हूँ। मेरी मान्यता है कि वर्तमान मे जैन धर्म के प्रचारको का जीवन एक आदर्श कर्मनिष्ठ जीवन होता है। परन्तु यह प्रश्न अवश्य विचारणीय है कि जैन धर्मावलम्बी अपने जीवन मे किस सीमा तक इन उपदेशो को उतार सके हैं।

मैं श्री अम्बालाल जी महाराज के दीर्घ एव स्वस्थ जीवन की कामना करता हूँ तथा आपके अभिनन्दन ग्रन्थ की सफलता चाहता हूँ।

—हरिदेव जोशी

स्व० निरजननाथ आचार्य

वी-६, एम एल ए क्वाटर्स,
एम आई रोड-जयपुर
दिनाक २८ अक्टूबर, १९७४

पूज्य गुरुदेव श्रद्धेय श्री अम्बालालजी महाराज साहब के सयमी जीवन के पचास वर्ष सम्पन्न होने के उपलक्ष मे अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है, इसकी प्रसन्नता है।

गत चातुर्मास मे पूज्य गुरुदेव का कई बार मुझको स्नेहिल और आध्यात्मिक सान्निध्य मिला। उनके व्यक्तित्व मे नैतिकता की महक और वर्चस्व मे सरलता की सौरभ है। पास बैठने पर सहसा ही शान्ति एव पावनता की अनुभूति होती रही है। लगता था जैसे थके पथिक को विश्राम सघन आम्रवृक्ष की छाह मे मिल गई हो। आप लोग धन्य है जिनके हाथो पूज्य गुरुदेव की गरिमा, तेजस्विता, साधना, तप और त्याग को उजागर करने का दायित्व आया है।

इस शुभावसर पर मैं पूज्य गुरुदेव का अभिनन्दन करता हूँ—विश्वास है कि उनका दीर्घ जीवन सतप्त मानव को मार्गदर्शन करेगा, पूज्य गुरुदेव का सबसे प्रिय श्लोक जिससे वे सदा प्रेरणा लेते रहे हैं यहाँ उधृत करता हूँ—

"जीवन्तु मे शत्रुगणा सदैव, येषा प्रयत्नेन निराकुलोहम्
यदा यदा मा भजते प्रमादस्तदा स्तदा मा प्रतिबोधयन्ति।"

भवन्निष्ठ
—निरजननाथ आचार्य

ओकारलाल बोहरा
भूतपूर्व सदस्य-लोकसभा

उदयपुर,

पूज्य प्रवर्तक श्री अम्बालालजी महाराज साहब से बाल्यावस्था से ही मेरा घनिष्ठ सम्पर्क रहा है। उनके सद्-सम्पर्क मे मैंने सदैव आत्मीय वातावरण की अनुभूति की है।

मैं उनके अभिनन्दन के बारे मे क्या लिखूँ, मेरा सारा परिवार ही श्रद्धा और भक्ति के साथ उनके प्रति अनुरक्त है। मैं उनके दीर्घायु और स्वस्थ जीवन की मगल कामना करता हूँ। इस अवसर पर मेरा शत-शत अभिनन्दन।

—औंकारलाल बोहरा

यशपाल जैन
दिल्ली

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि पूज्य प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज की भागवती दीक्षा के पचास वर्ष पूर्ण होने पर उन्हें एक अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित किया जा रहा है। मैं इस आयोजना का स्वागत करता हूँ और उसकी सफलता के लिये अपनी मगल कामनाएँ अर्पित करता हूँ। निर्मल आत्माओ के प्रति मेरे मन मे गहरी श्रद्धा रहती है। स्वामी श्री अम्बालालजी महाराज साहब ऐसे ही सन्त पुरुष हैं। सरलता, सौम्यता आदि गुणो से आप ओत-प्रोत हैं। उन्होने समाज की एव शिक्षा क्षेत्र मे जो सेवाएँ की हैं, वे निस्सदेह अभिनन्दनीय हैं।

मैं स्वामी श्री अम्बालालजी महाराज साहब का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ और प्रभु से कामना करता हूँ कि वे दीर्घायु हो, स्वस्थ रहे और अपने साधुचरित्र से समाज और राष्ट्र का मार्गदर्शन करते रहें।

—यशपाल जैन

जवाहरलाल मुणोत
बम्बई

दिनाक १८ जनवरी, १९७५

श्रमण सघ के प्रवर्तक सन्त रत्न प० गुरुदेव श्री अम्बालालजी महाराज साहब की सेवा मे उनके तपस्वी जीवन के ५१वे वर्ष मे प्रवेश पर, अभिनन्दन-ग्रन्थ का आयोजन नितान्त स्पृहणीय और प्रशसनीय है। प्रकट है कि स्वय सन्त शिरोमणि इस प्रकार के अभिनन्दन में कोई रुचि नही रखते। सभवत वे इसका विरोध भी करते होगे, परन्तु ये अभिनन्दन जैन समाज को नई प्रेरणा, नव स्फूर्ति और नव उद्बोधन के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होते हैं।

इस दीर्घ-तप पूत साधक को दीर्घतर सयम जीवन की श्रद्धायुक्त प्रार्थनाओ के साथ मेरे साधुवाद!

—जवाहरलाल मुणोत

धर्मप्रेमी, उदार हृदय, सारल्य एवं सात्विकता की प्रतिमूर्ति

दानवीर सेठ श्री भूरालाल जी सूर्या

को शी य ल

अध्यक्ष

- गुरु अभिनन्दन समारोह समिति ।
- धर्म ज्योति परिषद्
- श्री व० स्था० जैन श्रावक संघ, कोशीयल
- भू० पू० अध्यक्ष श्री व० स्था० जैन श्रावक संघ, भूपालगंज (भीलवाड़ा)

प्रकाशकीय

पाठको के हाथो में अभिनन्दन ग्रन्थ सोपते हुए हमें वडी हर्षानुभूति हो रही है। जव कार्य प्रारम्भ किया, तो हमारे सामने लक्ष्य को छोडकर कोई साधक सामग्री उपलब्ध नही थी।

हमे सवप्रथम अर्थ-प्रवन्ध करना था। हमने ज्यो ही समाज के सामने यह प्रश्न रखा तो सहयोग के लिए सैंकडो हाथ हमारी तरफ बढ गये, किन्तु वे कुछ सम्पन्न लोगो के हाथ थे। समाज का सामान्य वग भी इस काय मे अपना यथाशक्ति सहयोग देना चाहता था। यह श्रद्धा का प्रश्न था और हम किसी का जी नही दुखाना चाहते थे। तो हमने व्यक्तिश अर्थ-प्राप्ति का लक्ष्य छोडकर श्रावक सघो को सदस्य बनाना प्रारम्भ किया और कुछ ही समय मे हमे यथेष्ठ अर्थ प्राप्ति हो गई। साधन सुलभ हो गये।

एक कार्य पूरा होने पर हमें वडा सन्तोष हुआ। जहाँ तक अभिनन्दन ग्रन्थ के निर्माण और प्रकाशन का प्रश्न था हम लगभग निश्चित थे।

सम्पादन का काय मुनि श्री 'कुमुद' जी के समर्थ एव सुयोग्य हाथो मे सोपकर हमे वडी खुशी हुई।

क्रान्तदृष्टा विद्वदरत्न श्री सौभाग्य मुनि जी "कुमुद" सम्पूण मेवाड सघ की आशाओं के केन्द्र है, इन्ही की मौलिक प्रेरणा ने इस सारे आयोजन को अकुरित कर पल्लवित, पुष्पित और फलित किया।

हमे प्रसन्नता है कि मुनि श्री ने अपने व्यस्त समय मे से समय निकाल कर प्रस्तुत कार्य को वडी सु-योग्यता के साथ सम्पन्न किया। व्यस्त एव अस्वस्थ होते हुए भी वे दिन-रात इस कार्य में जुटे रहे।

प्रकाशन व्यवस्था का भार हमने आगरा निवासी प्रसिद्ध साहित्य सेवी श्री श्रीचन्दजी सुराना पर डाल दिया।

श्री सुराना जी ने वडी हार्दिकता, निष्ठा और लगन के साथ ग्रन्थ प्रकाशन के कार्य को देखा—लेखो का वर्गीकरण, सशोधन, सम्पादन से लेकर ग्रन्थ कलात्मक सुरुचिपूर्ण, आकपक एव शुद्ध रूपेण प्रकाशित करने का श्रेय एकमात्र श्री सुराना जी को ही है।

साथ ही हम उन समस्त श्रावक सघ, सामाजिक कायकर्त्ता, विज्ञजन एव लेखको, सम्पादको के प्रति हार्दिक आभार ज्ञापित करते हैं, जिन्होंने हमे प्रत्यक्ष या परोक्ष यत्किंचित भी सहकार किया है और इस महनीय कार्य मे सहयोगी बने।

विनीत

अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति

सम्पादकीय
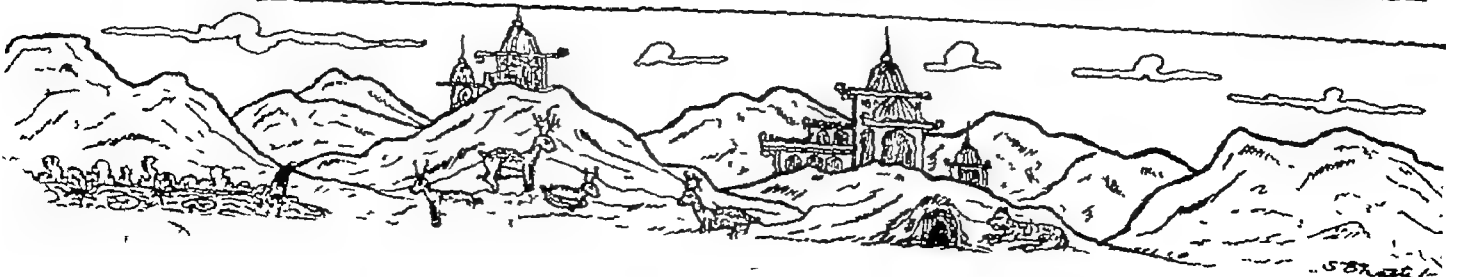
अभिनन्दन, स्वरूप और विश्लेषण

प्रत्येक स्थूल का मौलिक सत्य कुछ सूक्ष्म हुआ करता है। सूक्ष्म तो फिर सूक्ष्म ही है, उसे तत्काल पा लेना सभव ही नही, और यह असभवता ही स्थूल की जननी है।

सूक्ष्म को ढूंढना होता है, फिर वह चाहे वस्तुपरक हो या भाव-परक।

सूक्ष्म तक पहुंचने की प्रक्रिया ने विज्ञान को जन्म दिया, जो आज जन-जीवन के भौतिक पक्ष का एक आवश्यक अग बन चुका है।

मानव अन्तर्भेदी दृष्टि रखने वाला एक विलक्षण प्राणी है। अनन्त काल से वह स्थूल के आधारभूत सूक्ष्म को ढूंढता-खोजता चला आ रहा है।

हमारे शास्त्र इस बात के साक्षी हैं कि मानव की शोध-प्रधान दृष्टि ने अनेक परोक्ष तथ्यो को उद्घाटित ही नही किया, अपितु उनके अन्त स्थल मे पहुंचकर उन्हें ठीक-ठीक पहचाना भी।

श्री गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से हजारो प्रश्न पूछे, वे उनकी स्थूल से सूक्ष्म तक पहुंचने की चिरन्तन मानवीय आकाक्षा के परिचायक हैं।

पाठको के हाथो मे एक अभिनन्दन ग्रन्थ है। यो अभिनन्दन ग्रन्थ कुछ सौ पृष्ठों का सगठन मात्र है। किन्तु कलित स्थूल मात्र के आधारभूत किसी सूक्ष्म की तरह इसकी तह मे भी कुछ सूक्ष्म छुपा हुआ है।

जहां तक पदार्थात्मक सूक्ष्मत्व का प्रश्न है, अन्य पदार्थों की तरह इसमें भी कोई विशेषता नही मिलती, किन्तु इसके साथ जो भावात्मक चेतना जुडी हुई है वह अवश्य इन्द्रियगम्य नहीं होकर सवेदनात्मक मानस प्राप्य एक सूक्ष्म तत्त्व है।

पाठक उस सूक्ष्म तक पहुंचें, मात्र यही अभिप्रेत है। अभिनन्दन के किसी भी समायोजन का मूल वह श्रद्धा होती है जो किसी श्रद्धेय के प्रति चुपचाप किसी मानस मे स्थान बना लिया करती है।

मानव-मन लोक जीवन के सामान्य सस्कारो मे जैसा कि उसका निर्माण होता है, अधिकतर स्पर्धात्मक, विद्रोहात्मक तथा सशयात्मक होता है।

अनायास ही मन किसी को स्वीकार करले, प्राय मन की ऐसी तैयारी नही हुआ करती।

सामान्य एव असामान्य ऐसे कई कारण प्राय उपस्थित ही रहते हैं कि मन कभी-कभी अपने अति नैकट्य मे भी विद्रोहात्मक हो उठता है, ऐसी स्थिति मे कोई किसी को स्वीकार करे उसे श्रद्धेय और वन्दनीय कहे, यह एक विलक्षण बात होगी।

ऐसी विलक्षणताएँ कभी-कभी होती हैं।
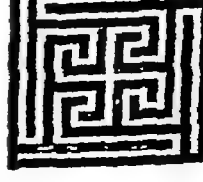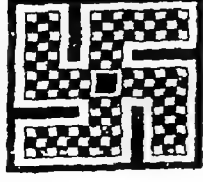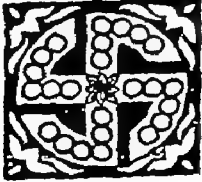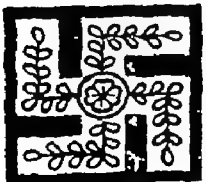
प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ भी एक ऐसी विलक्षणता का मूर्त स्वरूप है जिसके पीछे अमूर्त चेतना का परम रमणीय रूप सक्रिय है ।

श्रद्धेय अभिनन्दनीय हो जाता है किन्तु क्यो ? क्योकि वह श्रद्धेय है ।

श्रद्धा जिसे ग्रहण करती है वह अवश्य आकर्षक होता है ।

मन की गुणात्मक योग्यता ही अपने से अधिक सौन्दर्यात्मक विशेषताओ का अकन कर श्रद्धेय की स्थापना कर पाती है ।

यह मैं इसलिए कह रहा हूँ कि ऐसा मेरे मन ने किया ।

व्यक्तिश ऐसा अनेक बार होता है, किन्तु यही क्रम एक से अनेक तक व्यापक हो उभरने लगता है तो वह श्रद्धेय व्यक्तित्व सार्वजनिक अभिनन्दन का पात्र बन जाता है ।

समारोह या समूहगत अभिनन्दन उस सूक्ष्मतत्व की सार्वजनिक अभिव्यक्ति है, जो अन्त की तरगायमान तरल स्पन्दनाओ पर सचरण विचरण करता है ।

अभिनन्दन क्यो ?

अभिनन्दन क्यो ? यह एक प्रश्न हैं । जीवन की सजनात्मक ऊर्जा की किसी भी स्फुरणा पर "क्यो" तो आकर खडा हो ही सकता है और यह भी सत्य है कि "क्यो" कही भी अनर्थक नही होता, यहाँ भी नही है ।

"क्यो" अपने आपमे एक समीकरण है, किन्तु उसका समाधान कभी-कभी बडा विकट हो जाया करता है । कारण स्पष्ट है । 'क्यो' धनात्मक नही होकर ऋणात्मक है । प्रश्न अपने आप मे ऋण स्वरूप होकर भी उसका समाधान धन मे है ।

धन यौगिक प्रक्रिया है । जुडकर जो कुछ बन जाता है वह समाधान होता है ।

एक नही, अनेक मन किसी श्रद्धेय से श्रद्धात्मक तादात्म्य स्थापित कर जी रहे हो और वे यौगिक हो (जुडकर) अभिव्यक्ति देदे, तो, वह सार्वजनिक अभिनन्दन बन जाता है ।

अभिनन्दन को कभी-कभी सार्वजनीनता देनी पडती है । विभिन्न फूलो को एक धागे मे डालकर माला रचने की तरह । श्रद्धा को व्यापक रूप देने पर उसका घनत्व अपनी सघनता की स्पष्ट प्रतीति कराता है । और अश्रद्धा पर श्रद्धा की विजय का उद्घोष भी करता है ।

वर्तमान लोक-जीवन के ह्रासोन्मुखी परिणमन के अनेक कारण हो सकते है किन्तु एक प्रबलतम कारण अन्याय का आदर भी स्पष्ट है । अनय-सम्मान ने भौतिक आग्रहो को यो दबा दिया है कि आज उसके नीचे शील-सौजन्य, नीति धर्म और राष्ट्रीयता आदि सभी सिसक रहे हैं ।

अनय-सम्मान ने सम्पूर्ण मानवता को विश्वयुद्ध के कगार पर लाकर खडा कर दिया है, ऐसा लगता है मानो लपटें उठने ही वाली हैं और विश्व स्वाहा का ग्रास होने को है, वारण असम्भव लगता है फिर भी प्रयास आवश्यक है । अभी समय है, सब कुछ बचा लेने का ।

यदि विश्व चेतना मे एक नई लहर आ जाए "अनय का प्रतिकार और नय का सम्मान । भोग का अनादर त्याग का आदर और प्रतिष्ठा ।"

सम्मान उन वास्तविकताओ का जो विश्व चेतना के दीप को स्नेह से पूरती है ।

सम्मान उन स्फुरणाओं का, जो अन्त के किसी कोने से प्रस्फुटित होकर समस्त विश्व-जीवन को अपने से आप्लावित करदे ।

सम्मान उन कृतियों का, जिनसे मानवता का सौन्दय समलकृत होता है ।
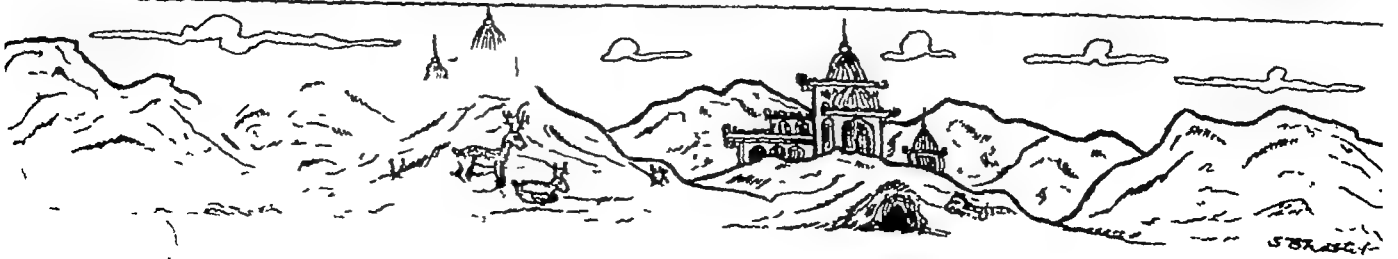
सम्मान जब व्यक्ति के किसी भौतिकवादी पक्ष को उजागर करता सामने आता है, तो यह मानवता का ही नही, उस व्यक्ति के मौलिक स्वरूप का भी अपमान है जो उसमें स्थित होकर भी कभी उभर नहीं सका।

इसके विपरीत यदि मानव के किसी आत्मिक सौन्दय का अभिनन्दन किया जाय तो वह सम्मान किसी व्यक्ति का नहीं होकर मानवता के उन चिरन्तन-मूल्यों का होता है जिनसे विश्व सवदा दीप्तिवन्त हुआ है। ऊर्जेस्विल रहा है।

पूज्य गुरुदेव श्री अम्बालाल जी महाराज का अभिनन्दन, उपर्युक्त चिन्तन के सन्दर्भ मे अनय-पूजा के विरुद्ध नय-पूजा का एक विनम्र प्रयास है। भोगवाद के विरुद्ध त्याग-प्रतिष्ठा का सबल उपक्रम हैं।

पूज्य गुरुदेव श्री अम्बालाल जी महाराज, जिन्होंने विगत पचास वर्षों के सुदीघ समय से सयम, स्नेह, सारल्य सहानुभूति आदि व विश्वशान्ति के उन आधारभूत तथ्यो को आत्मसात् कर रखा है, जिन पर अभी तक विश्व जीवित रहा।

त्याग, तप और करुणा की आज विश्व को सर्वाधिक आवश्यकता है। पूज्य गुरुदेव श्री में ये तत्त्व एक रूप हो उठे हैं। अम्बा (अम्मा) करुणा, वत्सलता, स्नेह-सौजन्य का पर्याय बन चुका है।

मैं विगत पच्चीस वर्ष से इनके साथ हूँ, निकट से मैंने अध्ययन किया, इन्हें देखा, परखा इनकी मौलिक श्रेष्ठता में मुझे कही खोट दिखाई नहीं दी।

मैं मानता हूँ—गुरुदेव श्री बहुत बड़े विद्वान् नही हैं, किन्तु सरलता और समता के क्षेत्र मे बड़े-बड़े विद्वान् भी इनके समक्ष नगण्य हो जायेंगे।

गत पन्द्रह वर्ष से ये मेवाड के स्थानकवासी धमसघ का सचालन कर रहे हैं। श्रमण सघ के प्रवर्तक पद को निभा रहे हैं। इन और ऐसे ही कई अन्य कारणो से कई विपरीत प्रसग इनके सामने उभर आये होंगे। किन्तु ये नहीं उलझे, ये स्वस्थ रहे, आज भी हैं। सबके भी और सबसे अलग भी। यहाँ मे जीवन परिचय नही दे रहा हूँ। मैं उस क्यो, को समाधान दे रहा हूँ जो अभी सामने था।

समग्र मानवता का सम्बल उन व्यक्तियो में भी तो रहा हुआ है जो जल-कमलवत् भौतिकता के विष से निर्लिप्त है।

यदि हम ऐसे भी किसी निर्लिप्त पुष्प को उठाकर शीष चढ़ाएँ तो यह उस पुष्प का सम्मान भले ही कहलाए हमारा अपना अलकरण भी उसी में रहा हुआ है।

अभिनन्दन ग्रन्थ आवश्यकता और उपादेयता

श्रद्धा एक होती है-झाड-फानूस मे दीप एक होता है किन्तु दीप की ज्योति कई पहलुओ से चमकती है। श्रद्धा की अभिव्यक्ति भी कई तरह से होती है। धार्मिको मे भक्ति के अनेक रूप विख्यात हैं ही।

अभिनन्दन ग्रन्थ का निर्माण अभिनन्दन की वह साहित्यिक विधा है, जो कुछ वर्षों पूर्व चली, किन्तु उपयोगी और सशक्त प्रक्रिया होने से निरन्तर विकास पाती जा रही है।

सामूहिक अभिनन्दन के उपक्रम को स्थायित्व देने के प्रयास ने मन्दिर-मठ समाधियाँ, स्तम्भ, छत्रियो आदि के निर्माण की प्रेरणा दी, ये सभी स्थापित स्मारक एव कीर्ति-निकेतन जो हैं, सो हैं वे मानव को स्मृति दे सकते हैं। किन्तु किसी व्यक्ति के विराट व्यक्तित्व और उसके जीवन दशन का बोध वहाँ दुलभ है। इनके स्थान पर अभिनन्दन ग्रन्थ जहाँ अभिनन्दनीय के इतिवृत्त का बोध तो देता ही है, साथ ही अपने में इतनी विस्तृत ज्ञान राशि समेटे रहता है कि युग-युग तक मानव उसका अवगाहन कर अपनी वृत्ति और कृति को ऊर्ध्वमुखी बना सके।

इधर आये दिन धर्म-दर्शन नीति एव सस्कृति के क्षेत्र मे बडा विस्तृत शोधकार्य हुआ। शोधप्रबन्ध के रूप में प्रतिवर्ष जो विराट् साहित्य तैयार होता है, अभिनन्दन ग्रन्थ तथा स्मृति ग्रन्थो ने ऐसे शोधप्रबन्धों का आम जनता के निकट लाने में तथा उन्हें चिरकाल स्थायित्व देने मे बडा योग दिया।

इस दृष्टि से भी अभिनन्दन ग्रन्थ की उपयोगिता किसी अन्य प्रयत्न से अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है।
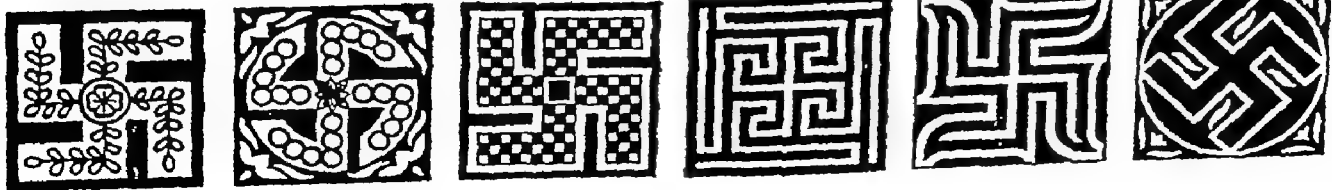
भारतवर्ष का वह भाग जिसे 'राजस्थान' कहते हैं तथा राजस्थान का भी वह भाग जिसे 'मेवाड' कहते हैं। शौर्य-भक्ति और सयम के क्षेत्र मे अपना अद्वितीय गौरव रखता है। एक ओर शौर्य और वीरता के अमर प्रतीक चित्तौड और हल्दीघाटी मेवाड के गौरव की श्रीवृद्धि कर रहे हैं तो दूसरी तरफ जैन और वैष्णवो के सर्वोच्च कहलाने वाले धार्मिक तीर्थों से मेवाड मडित हैं।

क्षेत्रीय महत्त्व के इन पार्थिव उपादानो से भी अधिक मेवाड का गौरव उन पुरखाओ पर इठलाता है, जिन्होंने चन्द वर्षों के भोग और वैभव पूर्ण जीवन बिताने के स्थान पर आध्यात्मिक-नैतिक तथा राष्ट्रीय मूल्यो की रक्षा करते हुए हँसते-हँसते मृत्यु तक का वरण कर लिया।

वे हजारो सन्नारियाँ, जो अपने शील गौरव की वैजयन्ती लहराती हुई हँसती-हँसती चिताओ मे उतर गई केवल मेवाड की थीं।

त्याग-वैराग्य और वीरता की यहाँ परम्पराएँ चलती रही हैं।

कोई आये और देखें, मेवाड के इतिहास को कि वास्तव मे मेवाड क्या है? मेवाड के शौय-त्याग और बलिदान का इतिहास केवल राणावश के चन्द विश्रुत राणाओ के इतिवृत्त के साथ ही पूरा नही हो सकता। मेवाड का इतिहास प्रत्येक मेवाडी की परम्परा मे समाया हुआ है, यह अलग बात है कि केवल राणा या चन्द रजवाडो के कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को छोडकर अन्य वशानुवशो को न सुना गया, न शोधा गया और न समझा गया।

मेवाड की धार्मिक परम्पराएं भी सामाजिक राजनैतिक परम्पराओ के समान बडी समृद्ध है।

यहाँ का राज धर्म "शैव" होने पर भी मेवाड में धर्म-सहिष्णुता और समन्वय का आदर्श सवदा मान्य रहा। अन्य परम्पराओ के समान जैनधर्म भी मेवाड मे अनेक सफलताओ के साथ न केवल फलता-फूलता रहा, अपितु मेवाड के सास्कृतिक एव साहित्यिक उन्नयन मे भी सदा अग्रहस्त रहा है।

मेवाड में अनेक 'जैन मन्दिर' और तीर्थों की स्थापना के साथ शुद्ध वीतराग मार्गीय आत्माराधक साधुमार्गीय परम्परा भी बराबर विकसित होती रही। इतना ही नही, पूज्य श्री धर्मदासजी महाराज के शिष्यानुवश से पल्लवित हुई मेवाड सम्प्रदाय का इस प्रदेश मे इतना बडा प्राबल्य रहा कि यत्र-तत्र-सर्वत्र उनकी गरिमा का गान अनुगुजित हो रहा है, आज भी मेवाड मे इस सम्प्रदाय के हजारो अनुयायी दूर-दूर तक गावो कस्बो मे फैले हुए हैं।

मेवाड के जैन जगत में यह सम्प्रदाय अपना प्रमुखतम स्थान रखता है। मैंने अनुभव किया कि इतने बडे भूखण्ड पर विस्तृत इतने बड़े समुदाय का नेतृत्व जिन महान् सन्तो ने किया, निश्चय ही उनमे कुछ अप्रतिम विशेषताएँ होगी। मैं स्वय इस परम्परा मे दीक्षित हूँ तो मेरा सोचना अहैतुक नही था। मैंने ऐतिहासिक महान् सन्तो पर शोध करना प्रारम्भ किया तो वस्तुत कई ऐसे त्यागी-तपस्वी और तेजस्वी चरित्र मिले कि मैं चकित रह गया।

मैं कई दिनो से इच्छुक था कि इन महापुरुषों का, जिनका परिचय मिला है व्यवस्थित रूप से कही प्रकाशित कर दिया जाये, किन्तु कोई अवसर नही मिल रहा था।

अचानक गत वर्ष गुरुदेव की दीक्षा स्वण जयन्ती का विचार उपस्थित हुआ। मैंने देखा कि सैकडो गुरुभक्त कार्यकर्ता भी इस उत्सव के लिए उत्सुक है तो मैंने सोचा कि क्यों नही इस उत्साह को साहित्यिक दिशा में मोड दिया जाये। विचार कायकर्ताओ तक पहुचे और सभी ने स्वागत किया और अभिनन्दन ग्रन्थ का कार्य प्रारम्भ हो गया।

चिरन्तन उपादेयता तथा सामयिक आवश्यकता ही अभिनन्दन ग्रन्थ के निष्पादन के मूल हैं।

अभिनन्दन ग्रन्थ एक परिचय

प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ में छह खण्ड हैं। अभिनन्दनीय वृत्त के रूप में गुरुदेव श्री का जीवन परिचय है। और उसके पश्चात् हैं, श्रद्धार्चन एव वन्दनाएँ स्नेह सिक्त भावनाशील मानस का शब्द साक्ष्य!

गुरुदेव श्री का जीवन क्रम कोई अधिक घटना-प्रधान नहीं रहा, और जीवन के जो कुछ विशेष अनुभव हैं भी, तो उनके पीछे पूज्य श्री मोतीलाल जी महाराज, जिनकी पवित्र छत्रछाया में प्रवर्तक श्री का निर्माण हुआ उन्हीं का सर्वाधिक प्रभाव रहा।
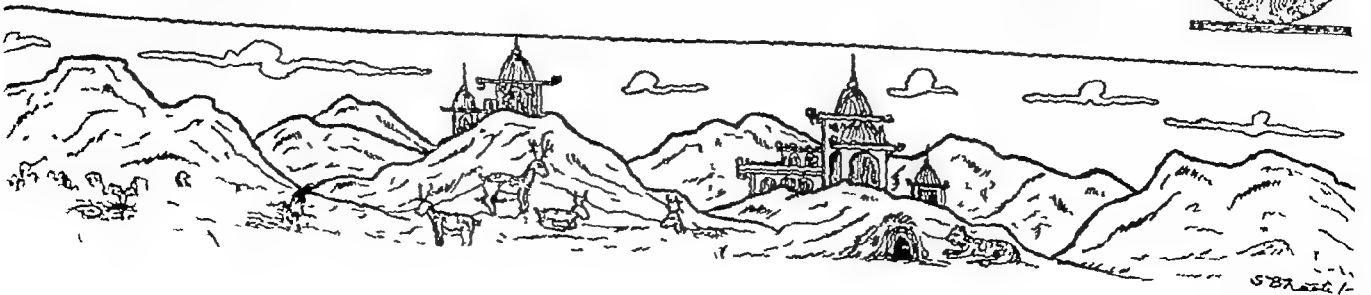
पूज्य श्री मोतीलालजी महाराज बड़े तेजस्वी वक्ता और प्रभावशाली आचार्य थे और गुरुदेव श्री बराबर उन्ही की सेवा मे बने रहे।

राम की तरह पूज्य श्री थे तो गुरुदेव हनुमान की तरह केवल सेवा मे रहे। जैसे सेवा ही हनुमान का परिचय है। ऐसे ही गुरुदेव का भी जीवन परिचय का शब्द केवल 'सेवा' है। घटनाएँ जो बनती हैं वे सीधी स्वामी के साथ जुडती जाती हैं, सेवक का तो केवल सेवा ही कर्त्तव्य बना रहता है।

घटनाओ की विविधता नही होने पर भी मुझे मेरे सम्पर्क मे आने से पूर्व की तथा बाद की जितनी बातें मिली बिना किसी अतिशयोक्ति के यथासंभव तटस्थ भाव से लिख देने का प्रयास किया है।

मुझसे पूर्व की जो घटनाएँ हैं, उन्हे पाना बडा कठिन रहा। प्रवर्तक श्री ने कभी भी एक साथ बैठकर अपना परिचय देने का प्रयास ही नही किया। कई बार पूछने पर और कई तरह के प्रसग चलाकर कुछ बातें निकलवा पाया।

इन सारे कारणो से जीवनवृत्त मे वैविध्य और वैचित्र्य की कमी अवश्य है। किन्तु जितना परिचय दे पाया यदि पाठक उस पर भी ठीक-ठीक मनन करें तो उससे गुरुदेव श्री के अन्तर व्यक्तित्व का परिचय मिल सकता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे 'मेवाड और उसके दमकते हीरे' नामक जो द्वितीय खण्ड है, उसमे मेवाड के सर्वांगीण स्वरूप का परिचय देते हुए मेवाड सम्प्रदाय के पूर्वाचार्यो और विशिष्ट मुनियो का परिचय देने का प्रयास है।

पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज के शिष्य श्री छोटे पृथ्वीराज जी महाराज से इस परम्परा का सम्बन्ध है।

मैंने बहुत प्रयास किया कि क्रमश जितने 'मुनि हुए' उनका ठीक-ठीक परिचय मिले, किन्तु पूज्य श्री रोडीदास जी महाराज (रोडजी स्वामी) से पूर्व के केवल नाम मात्र उपलब्ध हैं और कुछ भी परिचय नही मिल पाया।

श्री रोडजी स्वामी के बाद से अब तक का जितना परिचय पट्टावलियो, स्तवनो और अनुश्रुतियो के आधार पर मिला, वह ज्यो का त्यो दिया। जिसके जितने प्रमाण मिल पाये उन्हें भी ग्रन्थ म उद्धृत कर दिया है।

इतिहास रखने की परिपाटी नही होने से आज हमें ऐतिहासिक तथ्यो के लिए बहुत भटकना पड रहा है।

मेवाड खण्ड मे मेवाड के अन्य गौरवशाली व्यक्तित्वो का विस्तृत परिचय आना चाहिए था किन्तु मेवाड मे एक तो इस दिशा मे बहुत कम शोध हुई। दूसरा, जो इस विषय मे थोडा काम करते भी हैं, तो ऐसे व्यक्तियो ने उतनी रुचि नही ली जितनी मैं चाहता था। फिर भी जितना नवीन मिल पाया उतना लिया है।

तीसरा खड 'जैन तत्त्व विद्या' से सम्बन्धित है। सागर की भाँति असीम जैन तत्त्व विद्या (जैनोलोजी) का जितना आलोडन किया जाय उतना ही अमृत और अमूल्य मणियाँ मिलने की निश्चित सम्भावना है। विद्वान् लेखको ने विविध विषयों का आलोडन कर जो विद्यामृत हमे दिया है, उससे बहुआयामी जैन विद्या का एक परिचय प्राप्त हो जाता है, जो रुचिकर भी है, ज्ञानवर्धक भी।

चतुर्थ खड में, "जैन साधना, साहित्य और सस्कृति" पर १७ उच्च कोटि के लेख हैं। 'साधना और साहित्य' विषय पर पर्याप्त सामग्री मिली है, पर जैन सस्कृति पर अनुशीलनात्मक एव चिन्तन प्रधान लेख नही प्राय आये। जो आये वे कुछ 'स्तर' के नही लगे, इसलिए सास्कृतिक लेखो का अभाव स्वय मुझे भी खटकता रहा।

ग्रन्थ के इतिहास और परम्परा नामक पाँचवें खण्ड मे भगवान ऋषभदेव से भगवान महावीर तक और उनके बाद गणधर, श्रुतकेवली और स्थविरपरम्परा पर क्रमगत दृष्टि से लिखा गया है। इस सारे लेखन कार्य मे सर्वाधिक उपयोग श्री हस्तिमल जी महाराज (मारवाडी) द्वारा लिखित "जैनधर्म का मौलिक इतिहास" प्रथम और द्वितीय भाग का किया गया।

ये दोनो प्रकाशन जैनधर्म के इतिहास को प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत करने मे बडे सार्थक सिद्ध हुए हैं, ऐसा मेरा विश्वास है।

कुछ निबन्ध विषय, भाषा और शैली की दृष्टि से निश्चय ही बडे उत्तम और विद्वद्‌गम्य है तो कुछ निबन्ध भाषा-शैली और विषय-वस्तु की दृष्टि से सामान्य भी हैं।
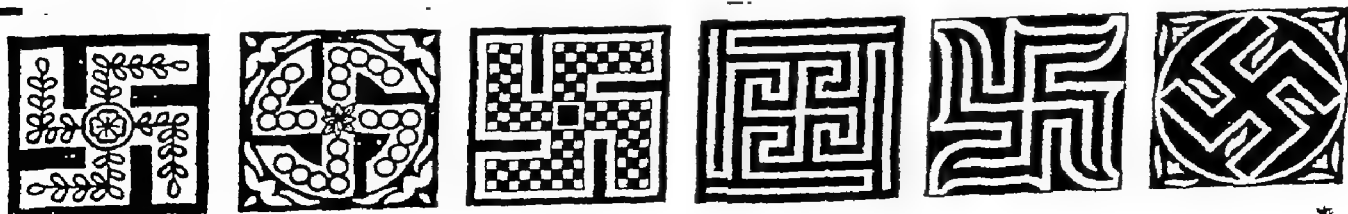
विनम्र समाज सेवी, प्रगतिशील विचारक, कर्मठ कार्यकर्ता

दानवीर सेठ श्री ऊंकारलाल जी सेठिया

स न वा ड

अध्यक्ष

श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ सनवाड

मनोनीत अध्यक्ष —

अम्बागुरु अभिनन्दन समारोह, कोशीथल

गम्भीर तात्त्विक निबन्धों के साथ सामान्य विषय-वस्तु का संयोजन हमें जान बूझकर करना पड़ा।

हम यह अच्छी तरह समझते हैं कि जिस धरती पर इस ग्रन्थ का विमोचन होने जा रहा है वहाँ के धरापुत्रों मे से अधिक तो सामान्य ग्राही ही हैं।

ग्रन्थ का सर्वाधिक सदुपयोग हो, इस दृष्टि से इसमे वैशिष्ट्य और सामान्य का समन्वित प्रयास है।

छठे 'काव्य-कुसुम' खण्ड में कुछ पुरानी ढालें, कुछ अन्य ऐसी सामग्री है जिनका ऐतिहासिक महत्त्व है। गुरुदेव श्री के नित्य स्मरणीय पद भी हैं।

मेरे सहयोगी

मैं बहुत ही व्यस्त वातावरण ओढकर चलने वालो मे से हूँ। प्रवचन, विहार, साध्वाचार सम्बन्धी कार्यों के उपरान्त जो समय मिल पाया है उसमे भी अनेक बाधाएँ प्राय बनी रहती हैं। ऐसी स्थिति में ग्रन्थ सम्पादन, लेखन जैसे कार्य को सम्पन्न करना मेरे लिए तो कम से कम बडा कठिन था, किन्तु फिर भी कार्य हुआ तो यह श्रेय मेरे समस्त सहयोगियो का है।

श्री पूज्य मुनि श्री महाराज जो पिछले एक वर्ष से गुरुदेव श्री की सेवा मे हैं मुझे बराबर प्रेरित करते रहे। श्री इन्द्रमुनि जी, श्री मगन मुनिजी का अविस्मरणीय सहयोग रहा।

श्री मदन मुनिजी की प्रारम्भ से ही बडी जोरदार प्रेरणा रही। सामग्री उपलब्ध कराने मे भी इन्होंने सहयोग किया।

श्री दर्शन मुनिजी ने सेवा-सम्बन्धी कार्य कर सहयोग दिया। परम विदुषी महासती जी श्री प्रेमवती जी के प्रेरणात्मक सहयोग को मैं विस्मृत नही कर सकता।

यह लिखते हुए बराबर मुझे याद आ रही है पूज्य मरुधर केसरी मिश्रीमल जी महाराज की, जिनके प्रेरणात्मक आशीर्वाद से मेरी सक्रियता बनी रही।

स्नेही साथी तपस्वी श्री रजत मुनिजी को मैं नही भूल सकता, जो बराबर प्रगति के विषय मे जानकारी लेते रहे और प्रेरणा देते रहे।

सम्पादक मण्डल मे से जिनका मुझे भरपूर सहयोग मिला, उनमें समर्थ विद्वान श्री देवेन्द्र मुनिजी शास्त्री, श्री श्रीचन्द्रजी सुराणा 'सरस' और डा० श्री नरेन्द्र जी भानावत हैं।

श्री देवेन्द्र मुनिजी ने "जितना सहयोग चाहिए उतना लीजिये" लिखकर मेरी प्रेरणाओ मे नवीन स्फुरणाएँ भर दी।

डा० भानावत ने अच्छी सामग्री उपलब्ध कराकर सहयोग दिया तो श्री 'सरस' जी को तो आप इस सारे कार्य मे 'सर्वेसर्वा' ही मान लीजिये, सामग्री उपलब्ध कराने से लेकर संयोजन एव मुद्रण साज-सज्जा तक उनका सहयोग पूरी तरह मेरे साथ रहा।

अन्त में मैं अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति तथा अभिनन्दन समारोह समिति के पदाधिकारियो, कार्यकर्त्ताओ को साधुवाद देता हूँ जिन्होंने समय-समय पर उपस्थित हो, यथा समय काय सम्पन्न हो जाये इस लक्ष्य से भावपूर्ण आग्रह किये। और यह ग्रन्थ अभिनन्दन समारोह की शोभा बढाने योग्य बन सका आशा है विद्या-रसिक पाठको के मन को भी चिर कालिक परितृप्ति मिलती रहेगी, बस यही शुभाशा।

—मुनि 'कुमुद'

प्रथम खण्ड

अभिनन्दनीय वृत्त एव श्रद्धार्चन

आशीर्वचन एव शुभकामना

श्रद्धार्चन एव वन्दना

[गद्य भाग]

[पद्य भाग]

द्वितीय खण्ड

मेवाड और उसके दमकते हीरे

परम्परा का इतिहास

तृतीय खण्ड

जैन तत्त्व विद्या

चतुर्थ खण्ड

जैन साधना, साहित्य और संस्कृति

पंचम खण्ड

इतिहास और परम्परा

षष्ठ खण्ड

काव्य-कुसुम

पूज्य प्रवर्तक गुरुदेव श्री अम्बालाल जी महाराज अभिनन्दन-
ग्रन्थ प्रकाशन समिति को आर्थिक सहयोग देने वाले

श्री संघ और श्रीमानो की

स्वर्णिम नामावली

☆

५०१)	श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक सघ	पाटन
५०१)	” ”	चैनपुरा
५०१)	श्रीमान् डालचन्द जी जैन	शम्भुगढ
५०१)	श्री वर्धमान स्था जैन श्रावक सघ	सगरेव
५०१)	” ”	कालेसरिया
५०१)	” ”	चिलेश्वर
५०१)	” ”	मींटा
१००१)	” ”	रायपुर
१००१)	” ”	वदनोर
१००१)	” ”	कोशीथल
५०१)	” ”	बोराणा
५०१)	” ”	लसाणी
५०१)	” ”	ताल
५०१)	श्रीमान् हीरालालजी महता	वदनोर
५०१)	श्री वर्धमान स्था जैन श्रावक सघ	भीम
५०१)	” ”	शम्भुगढ
५०१)	” ”	आसीद
५०१)	” ”	शिवपुर
५०१)	” ”	थाणा
५०१)	” ”	चान्दरास
५०१)	” ”	नाथद्वास
५०१)	” ”	झडोल
५०१)	” ”	सहाडा
५०१)	” ”	मोखुणदा
५०१)	” ”	नान्दशा
५०१)	” ”	डेलाना
१००१)	” ”	लाखोला
५०१)	” ”	आरणी
५०१)	” ”	राशमी

५०१)	श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक सघ	भीमगढ़
५०१)	” ”	डिण्डोली
५०१)	” ”	लागच
५०१)	” ”	सिंघपुर
५०१)	” ”	गिलूण्ड
५०१)	” ”	आमेट
५०१)	श्रीमान् भैंरूलालजी ईश्वरलालजी साखला	रामथली
५०१)	श्रीमान् मिलापचन्दजी सम्पतलालजी महता	रेलमगरा
५०१)	श्री वर्धमान स्था जैन श्रावक सघ	गणेशपुरा
५०१)	” ”	भगवानपुरा
५०१)	” ”	करजालिया
५०१)	” ”	जूणदा
५०१)	” ”	जीतावास
५०१)	श्रीमान् छगनलाल जी ओसवाल	ताराथट
५०१)	श्री व स्था जैन श्रावक सघ	जेतगढ
५०१)	” ”	खेजडी
१००१)	श्रीमान् भीमराज जी पृथ्वीराज जी कोठारी	दोवड
५०१)	श्री व स्था जैन श्रावक सघ	आकड सादा
५०१)	श्रीमान् भगवती लाल जी तातेड	डूगला
५०१)	श्री व स्था जैन श्रावक सघ	केरिया
५०१)	” ”	सागावास
५०१)	श्रीमान् मदनलाल जी पीतल्या	देवगढ़
१०००१)	श्री धर्म ज्योतिपरिषद् मोलेला शाखा कार्यालय से सम्बन्धित श्री सघ	
१००१)	श्री वर्धमान स्था जैन श्रावक सघ	राजाजी का करेडा
५०१)	” ”	रेलमगरा
५०१)	” ”	थामला
५०१)	” ”	सरदारगढ
५०१)	” ”	कु वारिया
५०१)	” ”	मोही
५०१)	” ”	काकरोली
५०१)	” ”	घोइन्दा
५०१)	” ”	खमणोर
१००१)	” ”	गडवाडा
५०१)	” ”	पलाणा कला
५०१)	” ”	भिन्दु
५०१)	” ”	देलवाडा
५०१)	” ”	मेमली
५०१)	” ”	धम्दसरा
५०१)	” ”	देवारी
५०१)	” ”	ढचोक
५०१)		

५०१) श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक सघ — डूंगला
६०२) " " — मगलवाड
१००१) " " — मादसोडा
५५१) " " — मडपिया
५०१) " " — वानसेन
१००१) " " — सनवाड
६५१) " " — फतह नगर
५०१) " " — जासमा
६०१) " " — आकोला
५०१) श्रीमान् नाथूलाल जी गोखरू — मावली स्टेशन
५०१) श्री व स्था० जैन श्रावक सघ — घांसा
५०१) " " — आयड
५०१) " " — कावरी
५०१) " " — जोर
५०१) " " — गलवा
५०१) " " — विणोल
१००१) " " — नाथद्वारा
५०१) " " — राज्यावास
५०१) " " — वनेडिया
५०१) " " — पाखण्ड
५०१) " " — फलीचडा (कु चोली)
५०१) " " — जेवाणा
५०१) " " — सासेरा
५०१) " " — लडपचा
७५१) " " — गवारडी (चराणा)
१००१) श्रीमान् तुलसीराम जी समदाणी — फतहनगर
५०१) श्री व स्था० जैन श्रावक सघ — दरोली
५०१) " " — महाराज की खेडी
५०१) " " — रुण्डेडा
५०१) " " — इन्टोली
५०१) श्री व स्था० जैन श्रावक सघ — सूरपुर
५०१) " " — करू कडा
५०१) " " — किला चित्तौड
५०१) श्री स्थानकवासी जैन सघ — चित्तौड़गढ़
५०१) श्री व स्था० जैन श्रावक सघ — पनोतिया
५०१) " " — खाखला

५०१)	श्री मगनबाई धर्मपत्नि सरदारमलजी सर्राफ
५०१)	श्री व० स्था० जैन श्रावक संघ
५०१)	” ”
५०१)	” ”
५०१)	” ”
५०१)	श्रीमान् गेरीलाल जी घासीलाल जी कोठारी
५०१)	श्री व० स्था० जैन श्रावक संघ
८०६)	” ”
३०१)	” ”
५०१)	” ”
५०१)	श्रीमान् सेठ मोतीलाल जी हुक्मीचन्द जी चोरडिया चक्की वाला

नोट—जिस क्रम से रसीदें कटी उसी क्रम से नामावली दी गई है।

—अभिनन्दन

परम श्रद्धेय मेवाड़ संघ शिरोमणि
पूज्य प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज का
आदर्श जीवन वृत्त एवं श्रद्धार्चन, शुभकामनाएं, वन्दनाएं

प्रथम खण्ड

अभिनन्दनीय वृत्त एवं श्रद्धार्चन

५०१)	श्री मगनबाई धर्मपत्नि सरदारमलजी सर्राफ	जोधपुर
५०१)	श्री व० स्था० जैन श्रावक सघ	खेरोदा
५०१)	" "	मावली
५०१)	" "	नवाणिया
५०१)	" "	जबरकिया
५०१)	श्रीमान् गेरीलाल जी घासीलाल जी कोठारी	सेमा
५०१)	श्री व० स्था० जैन श्रावक सघ	पोटला
८०६)	" "	बल्लभ नगर
३०१)	" "	सोनियाणा
५०१)	" "	भूपालगज
५०१)	श्रीमान् सेठ मोतीलाल जी हुक्मीचन्द जी चोरडिया चक्की वाला	इन्दौर

नोट—जिस क्रम से रसीदें कटीं उसी क्रम से नामावली दी गई है ।

उक्त सभी सहयोगदाता श्री सघो, एव धर्मप्रेमी उदार महानुभावो को हम हार्दिक धन्यवाद के साथ उनके सद्सहयोग का आदर करते हैं ।

मत्री

—अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति, आमेट

परम श्रद्धेय मेवाड़ सघ शिरोमणि
पूज्य प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज का
आदर्श जीवन वृत्त एवं श्रद्धार्चन, शुभकामनाएं, वन्दनाएं

प्रथम खण्ड

अभिनन्दनीय वृत्त एवं श्रद्धार्चन
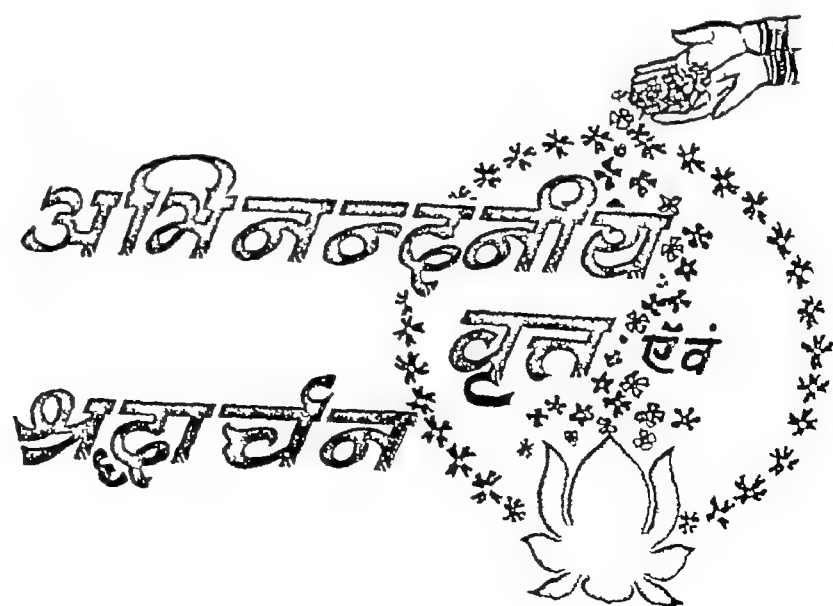
□ श्री सौभाग्य मुनि 'कुमुद'
[कवि, लेखक एव राजस्थान के प्रभावशाली विद्वान सत]

अभिनन्दनीय वृत्त

[प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज की गरिमा मडित जीवनरेखा]

जीवन की आन्तरिक गहराई मे जाना समुद्र के अन्तराल मे प्रवेश करने के समान है। समुद्र की थाह पाना कठिन है, ऐसे ही किसी जीवन को सम्पूर्ण रूप से परख पाना कठिन ही नही, लगभग असम्भव है।

अनेकानेक छोटी-बडी घटनाओ, कदाचित् परस्पर विरोधी उपक्रमो से निर्मित जीवन वस्तुत एक पहेली है। उसे समझ पाना अपने आप मे एक पेचीदा कार्य है और वह भी एक ऐसे व्यक्ति के लिये बडा कठिन है जो उस आलोच्य जीवन के प्रति नितान्त स्नेहास्पद हो।

एक शिष्य गुरु के जीवन को ईमानदारी पूर्वक अकित कर सके, इसमे प्राय सन्देह रहता है। किन्तु शिष्य यदि अपनी शिष्यत्व की भूमिका से हटकर तटस्थ सत्ता के परिप्रेक्ष्य मे गुरु को देखने का यत्न करे तो इसमे कोई सन्देह नही कि सैकडो अन्य लेखको की अपेक्षा वह गुरु को अधिक अच्छी तरह स्पष्ट पा सकता है।

मैं अपनी इस दूसरी सत्ता को अच्छी तरह समझने मे प्रयत्नरत हूँ किन्तु साफल्य कितना पा सकूँगा, यह अभी कहने की स्थिति मे नही हूँ।

गरिमा मय मेवाड

विश्व के अनेक देश भारत के प्रति असूयाग्रस्त है। इसका कारण मात्र प्रवर्तमान राजनैतिक परिस्थितियाँ ही नही हैं, भारत की भौगोलिक, सास्कृतिक एव सामाजिक उपलब्धियाँ ही इतनी विविध, विशाल तथा गौरवास्पद हैं कि इसके प्रति कोई सहिष्णु रह पाए तो सचमुच आश्चर्य होगा। एक तरफ हिमाच्छादित विस्तृत उत्तुग शिखरावली तो दूसरी ओर असीम जल-राशि का उमडता सैलाब।

इन दोनो के मध्य नदियो, नगरो, मैदानो, वनो व पहाडो-पर्वतमालाओ, लहलहाते खेतो आदि विविधताओ से परिपूर्ण यह भारतवर्ष देवताओ को भी अपने बीच खीच ले तो क्या आश्चर्य!

सचमुच भारत अपने आप मे सुन्दर सुहावना एव परिपूर्ण व्यवस्थित भूखण्ड है, जिसकी तुलना किसी अन्य स्थान से केवल आशिक रूप से ही हो सकती है, सम्पूर्णतया नही।

राजस्थान भारत का कलेजा है। भारत जो है, उसको सबसे अधिक बनाने का श्रेय राजस्थान को है। राजस्थान की मिट्टी मे एक तेज दमकता है, जो दिल्ली के सिंहासन को नई आभा दे सकता है, राष्ट्र के लिये न्यौछावर हो सकता है, धर्म राष्ट्र और सस्कृति की रक्षा मे प्राणपण से जुट सकता है।

मेवाड राजस्थान के ही एक प्रदेश का नाम है। उदयपुर, भीलवाडा, चित्तौड इन तीन मण्डलो मे अधिकतर मेवाड का हिस्सा आ जाता है। स्वतन्त्रता से पूर्व मेवाड की अपनी अलग राज्यसत्ता थी। सस्कृति, भाषा, पहनावा, सिक्का, पैमाना, नाप-तौल आदि इसके अपने थे। यहाँ बहुत पहले से गहलोतवशीय वीर क्षत्रियो का राज्य चला आ रहा था, जो अपने गौरव मे भारत के सभी क्षत्रियो मे सर्वदा श्रेष्ठ रहे हैं। यहाँ के शासक महाराणा कहलाते थे। महाराणा अपनी आन-बान-शान के पक्के, दिलेर और जबरदस्त लडाका होते थे।
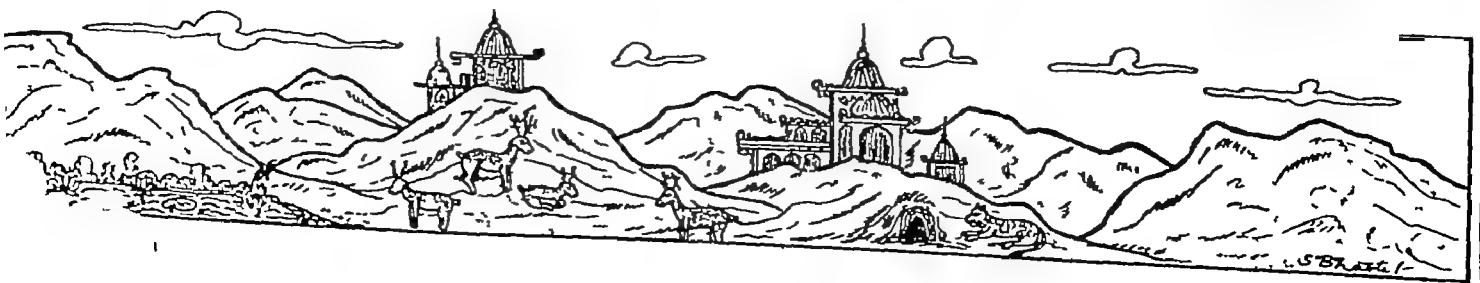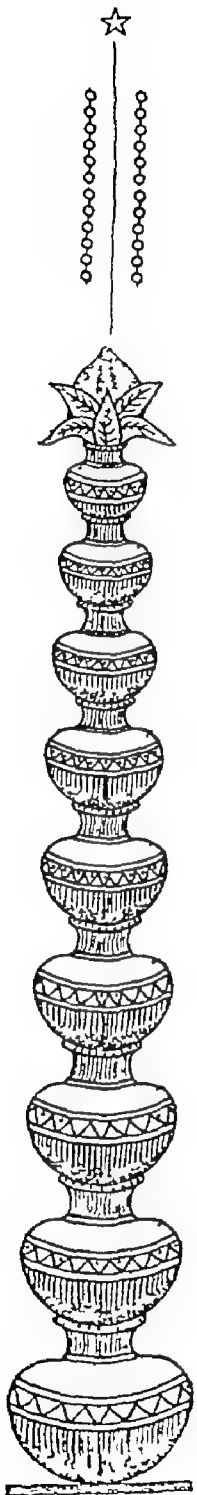
राणा वश मे महाराणा सागा, महाराणा प्रताप, महाराजा राजसिंह आदि कुछ ऐसे जबरदस्त व्यक्तित्व हो चुके हैं, जो सचमुच वेजोड है। राणा परम्परा मे कुछ वीरागनाएँ भी ऐसी हो चुकी हैं, जिन पर मेवाड ही नही विश्व का नारी वर्ग गर्व कर सकता है। ऐसी सन्नारियो मे पद्मिनी और मीरॉं का नाम सर्वोपरि है।

प्राकृतिक दृष्टि से मेवाड एक सम्पन्न प्रदेश है। अरावली पर्वतमाला मेवाड की सीमा बनाती हुई दूर तक निकल गई है। मेवाड के चारो तरफ और कही-कही मध्य मे भी पहाडो की छटा बडी सुहावनी है। पहाडो के आस-पास दूर-दूर तक लम्बे-चौडे प्रदेश मे प्राय सभी तरह की खेती होती है। खेती मेवाड का मुख्य व्यवसाय है।

मेवाड अधिकतम गाँवो मे बसा हुआ है, शहर भी हैं, किन्तु कम।

मेवाड मे विकास आधुनिक युग की देन है। मुगलो के निरन्तर आक्रमणो से मेवाड सदियो तक उजडता रहा। फलत इसका समुचित विकास नही हो सका। आन शान की रक्षा मे मेवाड ने गौरव तो पाया किन्तु खुशहाली नही पा सका। अँग्रेजो के शासन मे मेवाड कुछ जम सका। उसके बाद सुखाडिया सरकार के हाथो यह विकास के पथ पर बढा।

धर्मप्रियता मेवाड की रग-रग मे है। मेवाड सघर्ष की छाया मे पला, तलवारो मे रहा, बर्छी-भालो मे इसने जीवन बिताया, किन्तु अधर्म के लिए नही, धर्म के लिए।

मुगलो से लम्बे सघर्ष के पीछे किसी भूमि के टुकडे का प्रश्न नही था। प्रश्न था धार्मिकता और सामाजिकता का। मुगलो को बेटियाँ देना हिन्दू अधम समझते हैं, सभी हिन्दुओं का यह निश्चय है। किन्तु मुगलो की जबरदस्त शक्ति से कोई टकराना नही चाहते थे, लेकिन मेवाडी टकरा गये और टकराते ही रहे। अन्तिम समय तक लोहा लेते रहे। किन्तु मुगलो को डोला नही भेजा। यह इनके धर्म का प्रश्न था।

धर्म मेवाड के जन-जीवन का प्राण-तत्त्व है। मेवाडी इसकी उपेक्षा नही कर सकता। वह घास की रोटी खा सकता है। विशाल सेनाओ से टक्कर ले सकता है। किन्तु वृन्दावन से आये श्रीनाथ-विग्रह को वापस नही भेज सकता। किसी चचल कुमारी की लाज रखने से मुख नही मोड सकता।

मेवाड कटकर या लुटकर भी मुस्कुराने वाला तत्त्व है, बशर्ते कि वह केवल धर्म के नाम से हो।

धर्म के मौलिक सस्कारो के तीव्राग्रह ने ही यहाँ कई धार्मिक प्रतिमाओ का सृजन किया जो विश्वविश्रुत है।

जिस महान मुनि व्यक्तित्व का परिचय देने मैं बैठा हूँ, यह भी मेवाड की एक मौलिक कृति है।

उदयपुर जिले मे थामला एक ग्राम है, जो मावली जक्शन मे लगभग ६ मील पूर्वोत्तर मे है। पूज्य श्री अम्बालालजी महाराज का यही जन्मस्थान है। मैदानी इलाके मे बसा हुआ थामला न बहुत बडा और न छोटा किन्तु एक मँझला अच्छा-सा गाँव है। मेवाड राज्य के समय यहाँ चौहान क्षत्रिय राज्य करते थे। चौहान अपनी अद्भुत वीरता के लिये सदा ही प्रसिद्ध रहे हैं।

जन्म और बाल्यकाल

थामला के जैन ओसवाल महाजन समाज मे सोनी गोत्रीय सज्जनो का बहुत पहले से प्रमुख स्थान रहा है। अपने व्यवसाय मे तो ये सज्जन बढे-चढे थे ही, राज्यसत्ता मे भी इनका अग्रगण्य स्थान था। आर्थिक दृष्टि स यह वर्ग प्राय सम्पन्न ही रहा। आज भी वह सम्पन्नता परिलक्षित होती है। आम्नाय की दृष्टि मे ये सभी स्थानकवासी जैन मेवाड सम्प्रदाय के अनुयायी थे। किन्तु जब मेवाड मे तेरापथ के उद्भव के साथ ही धर्म-परिवर्तन का दौर चला तो उसमे अधिकतर सोनी-परिवार तेरापथ के अनुयायी हो गये, किन्तु कुछ ऐसे भी थे, जिन्होंने इस धर्म-परिवर्तन के प्रवाह का दृढतापूर्वक मुकाबला कर अपनी स्थिरता—दृढता का परिचय दिया।

पूज्य श्री अम्बालालजी महाराज का ऐसे ही एक सोनी-परिवार मे जन्म हुआ, जो अपनी सुदृढ धार्मिकता के लिये प्रसिद्ध था।

आस-पास के अधिकतर विपरीत प्रभावो, विरोधी पारिवारिक-जनो के मध्य भी अपनी स्थिति को स्थायी रखना आसान बात न थी। किन्तु धर्मप्रिय श्री किशोरीलालजी तथा श्रीमती प्यारबाई के लिये यह सहज हो गया। क्योंकि वे धर्म के मामले मे किसी के हस्तक्षेप और प्रवाह को अनावश्यक ही नहीं, अनुपयोगी भी समझते थे।
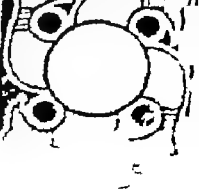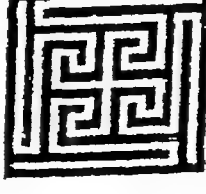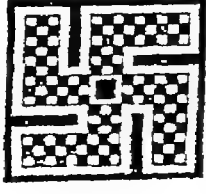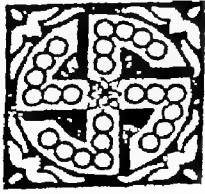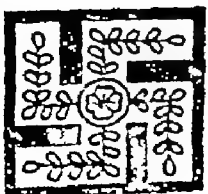
श्री किशोरीलालजी और श्री प्यारबाई को हमने प्रत्यक्ष नही देखा। अत उनके जीवन की मौलिक विशेषताओ का साधिकार वर्णन करने की स्थिति तो नही है, किन्तु फल से वृक्ष का अनुमान लगाये जाने के समान पुत्र से माता पिता को कुछ-न-कुछ तो पहचाना ही जा सकता है।

जिनकी सन्तान पूज्य जी अम्बालालजी महाराज जैसी पवित्र चरित्र-सम्पन्न सन्तान हो, उन माता-पिता का चरित्र अवश्य ही उत्तम होगा, यह सहज विश्वास है।

विपरीत धार्मिक परिस्थितियो मे भी स्वधर्म के प्रति उनकी प्रगाढता उनके दृढ चरित्र को प्रकट करती है। साथ ही पारिवारिक मेलजोल को इस कारण बिगडने नही दना एक अलग विशेषता है जो इन्हें व्यवहारकुशल और मधुर स्वभावी होना सिद्ध करती है। व्यावसायिक चातुर्य तो था ही, जो उन्हे सस्कारों से मिला था। कुल मिलाकर माता-पिता धर्मनिष्ठ, चरित्रवान, दृढ आस्तिक और चतुर थे।

विक्रम सम्वत् १९६२ ज्येष्ठ शुक्ला तृतीया मगलवार को प्यारबाई ने एक पुत्र-रत्न को जन्म दिया। प्रथम पुत्र का स्वागत तो हार्दिकता के साथ होता ही है। बच्चे का नाम हम्मीरमल रखा गया। यह नाम केवल छह वर्ष रहा।

थामला से मावली

सेठ किशोरीलालजी सोनी के एक और भाई थे गमेरमलजी। उन्होंने अपना निवास-स्थान मावली बनाया था। उनका नि सन्तान ही देहावसान हो गया। उनकी पत्नी रामीबाई एकाकी रह गई। वह एक बार थामला गई। उनको अपना एकाकीपन खल रहा था। छह वर्ष के छोटे से हम्मीरमल को देखा तो मावली ले जाने की हठ करने लगीं। माता-पिता छोटे से बच्चे को भेजने के लिए राजी नही थे, किन्तु जिद के कारण वह उनको उठा लाई और पुत्रवत् प्यार बरसाने लगी।

हम्मीरमल का अम्बालाल के रूप मे नया नाम-सस्करण कर दिया। हम्मीरमल नाम भुला दिया गया। उसके साथ ही थामला लगभग दूर पड गया। कभी कभार जाना हो जाता, वह भी प्रसगवश, अन्यथा मावली ही अब जीवन-निर्माण का स्थल बन गया। पाठशाला मे भी भर्ती हुए। तेरह वर्ष की उम्र मे उस समय की उच्च कक्षा 'अपर' उत्तीर्ण कर अम्बालाल जी ने अपनी शिक्षा सम्पूर्ण कर ली।

दादी के प्यार भरे नेतृत्व, लालन-पालन मे अम्बालाल का यह समय बडा सुखमय बीता।

सस्कारो की खाद जीवन-पौधे का निर्माण करने मे बडा उपयोगी हिस्सा अदा करती है। बच्चा कैसा बनेगा? इस प्रश्न का उत्तर उसके सस्कारो में मिल सकता है। अन्यत्र नही।

अम्बालाल जहाँ स्कूल में साक्षरता प्राप्त कर रहा था, साथ ही उसको कुछ ऐसे सस्कार भी मिल रहे थे, जो किसी बहुत बडे सद्भाग्य के बिना सम्भव नही हो सकते।

अम्बालाल के रिश्ते मे एक मामी थी, बडी धर्मप्रिय और श्रद्धालु। वह यद्यपि गृहस्थ थी किन्तु साध्वाचार-सी स्थिति मे रहती थी। वर्ष मे दो बार अपने हाथो से लुंचन करती, चारो स्कन्ध का पालन करती, केवल दरी पर सोती, बहुत त्यागवृत्ति से रहती थी वह। उसका भी इस बच्चे से बडा ही प्यार था। अम्बालाल भी समय मिलते ही उसके पास चला जाता।

मामी उसे बराबर त्याग-वैराग्य का सन्देश देती रहती। जीवन का महत्त्व त्याग मे है, भोग मे नही। यह बात मामी कई तरह मे उसे बताया करती थी।

अम्बालाल धीरे-धीरे ऐसे सस्कार पाने लगा, जिनमे श्रद्धा और सयम का बीज पल सके।

भविष्यवाणी

हस्तरेखा या देह-चिह्न भावी का कुछ परिचय दे सकते हैं, यह विवादास्पद हो सकता है, किन्तु इन्हें आधार बनाकर कही गई बातें काकतालीय न्यायवत् ही सही सिद्ध हो जाएँ तो कम से कम यह तो सिद्ध कर ही देती हैं कि यह विषय एकदम तो निस्सार नही है। एक चारण वृद्ध को अम्बालाल का अचानक हाथ या देह-चिह्न विशेष दिखाई दिया। तदनुसार उसने जो कुछ कहा—उस पर आज अवश्य आश्चर्य है। उसने अम्बालाल को लगभग बारह वर्ष की वय मे
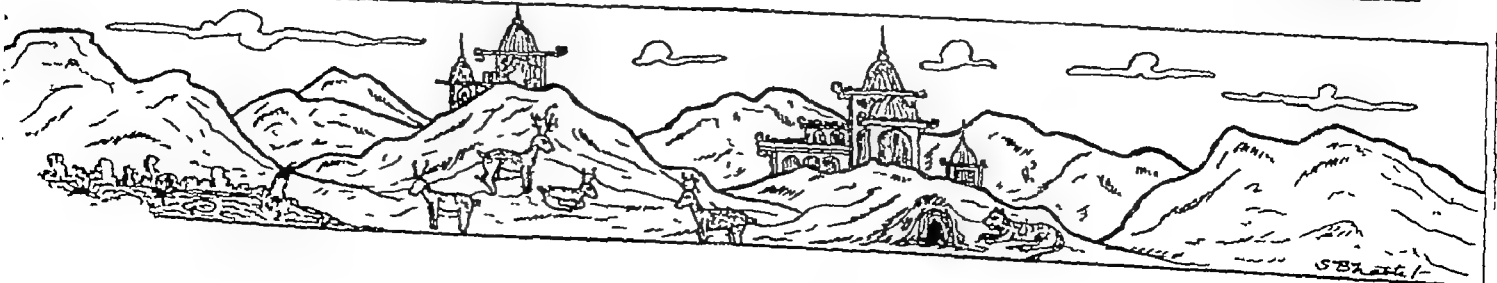
उसकी दादी को यह बात कही कि यह बच्चा सन्त या शासक—दो मे से एक होके रहेगा। तब इस बात को कोई सत्य मानने के लिए तैयार नही था। इतना ही नहीं, इस कथन को मनोरंजन का विषय बनाकर विस्मृत-सा कर दिया गया।

राज्य-सेवा मे

अम्बालाल जब 'अपर' पढ़ चुका तो किसी समुचित कार्य मे लग जाना चाहता था। दादी चाहती थी कि यही कोई धन्धा शुरू किया जाए। किन्तु अम्बालाल कही बाहर किसी सुयोग्य नेतृत्व में काम करना चाहता था।

सद्भाग्य से लक्ष्मीचन्दजी देपुरा मिल गये। ये श्रेष्ठ राज्य कर्मचारी थे। बच्चे की योग्यता और इच्छा को परख कर अपने साथ ले गये और रामपुरा मे दाणी के रूप मे नियुक्त कर दिया। रामपुरा मेवाड का ब्यावर की तरफ का अन्तिम नाका है। वह महत्त्वपूर्ण चौकी थी। अच्छी मुस्तैदी से वहाँ का कार्य सँभाला।

लक्ष्मीचन्दजी देपुरा, जो इन्स्पेक्टर थे, बड़े खुश थे। राजवर्गीय लोगो मे अम्बालालजी प्रशसा पाने लगे तो मोतीलालजी देपुरा इन्हे वागौर ले गये। वहाँ मुहर्रिर के पद पर काम किया।

हीरालालजी चिचाणी 'शिशुहितकारिणी सभा', मेवाड मे गिरदावल के पद पर थे, बड़े ही ख्याति प्राप्त कार्यकर्ता थे। अम्बालाल जी को सुयोग्य समझकर उन्होंने अपने पास बुला लिया और अपने निर्देशन मे कार्य दिया। इस कार्य के अन्तगत भीलवाडा, जहाजपुर, मॉडलगढ़, चित्तौड आदि परगनो के कई ठिकानो मे बड़ी समझदारीपूर्वक काम किया।

दुर्घटना से बचे

जीवन कभी-कभी मृत्यु के मुख मे पहुचकर आश्चयजनक ढग से बच जाया करता है। ऐसी घटनाएँ अम्बालालजी के जीवन मे भी बनी। तैरना आता नही था। किन्तु बच्चो के साथ पीछोला चले गये। उनके साथ पानी मे उतर गये। गहराई मे जाते ही डूबने-उबरने लगे। जीवन और मृत्यु जुडने ही वाले थे कि कुछ व्यक्ति, जो स्नान कर रहे थे, ने देख लिया और उन्होंने बाहर निकाल कर एक तरह से इन्हे नया जीवन प्रदान किया।

एक बार थामला मे अम्बालाल जी तीन मंजिल की ऊँचाई से गिर गये, बचना कठिन था, किन्तु सद्भाग्य की बात थी कि ये एक व्यक्ति के ऊपर जा गिरे। उसे भी चोट लगी, किन्तु ये बच गये।

कुछ दिन व्यापार भी

पहले माताजी की और बाद मे पिताजी की मृत्यु ने एक ऐसी स्थिति पैदा कर दी कि इनका राज्य सेवा मे रहना असम्भव हो गया। फलस्वरूप इन्हें सब कुछ छोडकर माहोली आ जाना पडा। थामला की जिम्मेदारियो का वहन करना भी एक आवश्यकता थी। एक छोटा भाई था—रगलाल, उसे सक्षम बनाने का भी प्रश्न था। अम्बालाल जी मावली-थामला मे रहकर अपने सभी तरह के उत्तरदायित्व को निभा रहे थे। फिर भी आर्थिक दृष्टि से कुछ न कुछ करते रहने को जी चाहता था। सुयोग भी मिल गया। भादसोडा वाले श्री खूबचन्द जी व्होरा ने इन्हें अपनी दुकान फतहनगर बुला लिया। ईमानदारी इन्हे जन्मजात मिली थी। व्यावहारिक प्रतिभा भी ठीक थी। थोडे समय मे वहाँ इन्होंने अपनी विश्वासपात्रता का अच्छा परिचय दिया। खूबचन्द जी अपने घरेलू एव व्यावसायिक प्राय सभी कार्यों मे इन पर ही निर्भर करते थे। सद्व्यवहार और चातुर्य से प्राय सभी प्रभावित थे। यद्यपि व्यावसायिक क्षेत्र मे इनका अधिक टिकाव नही हुआ, किन्तु वह थोडा समय भी नैतिकतापूर्ण और चरित्रनिष्ठ रहा।

गुरु-समागम

जब कुछ नया होने को होता है तो अचानक अनपेक्षित सयोग मिल जाया करते है। हुपियाना भादसोडा से चार मील पर गाँव है। वहाँ कोई शादी थी। जाना तो कानमलजी को था जो खूबचन्दजी के बडे पुत्र थ, किन्तु उन्होंने सहज ही आग्रह कर लिया साथ मे चलने का। अम्बालालजी चाहते हुए भी इन्कार नहीं कर सके। दोनों हुपियाना पहुंच गये।

सयोग की बात थी। उसी दिन मेवाड प्रसिद्ध सन्त रत्न पूज्य श्री मोतीलालजी महाराज साहब अपने शिष्य

श्री भारमल जी महाराज सहित हथियाना पधारे थे। उन्हे भी बहुत अच्छे शकुन हो रहे थे। किन्तु रहस्य रहस्य ही था। श्री भारमल जी महाराज श्री अम्बालाल जी के ममेरे भाई होते थे। यह बहुत ही संक्षिप्त रिश्ता था और वहाँ अवकाश मे थे। अत इसी छोटे-से रिश्ते को याद कर अम्बालालजी श्री भारमलजी महाराज के पास पहुँच गये। बातें चली, भारमलजी महाराज ने पूज्य श्री मोतीलालजी महाराज को बताया कि यह मेरा ममेरा भाई है। पूज्यश्री ने सहज ही कह दिया—"तो, अम्बालालजी! सच्चे भाई बन जाइये!" बस इसी एक वाक्य ने अम्बालालजी के मन पर जादू-सा असर कर दिया। अम्बालालजी अब एक अनजानी नई दिशा मे सोचने लगे। दिन भर मनोमथन चलता रहा। अन्ततोगत्वा एक दृढ निश्चय उत्तर आया—सयम लेना।

पूज्यश्री के सामने मन को स्पष्ट खोलते हुए अम्बालालजी ने अपने विचार प्रकट किये। पूज्यश्री को यह कल्पना तक न थी कि मेरा एक वाक्य इसको यो मोड देगा। पूज्यश्री ने सयम की कठोरता, परिषहो की भीषणता और सयम में आने वाली विघ्न-बाधाओ का विस्तृत वर्णन करते हुए आग्रह किया कि जो कुछ निश्चय किया जाए वह किसी लहर मे बहकर न हो। निश्चय के पूर्व बहुमुखी चिन्तन से वस्तुस्थिति का, साधन और सामर्थ्य का विस्तृत विचार कर लेना चाहिए।

पूज्यश्री जिन बातो की तरफ सोचने को कह रहे थे, अम्बालालजी पहले ही सब कुछ सोच चुके थे। मंथन तो पहले हो चुका था, अब तो केवल तैयार मक्खन था, जो पूज्यश्री के सम्मुख रखा गया था।

बात अब केवल बात नही थी, दृढ निश्चय था। वह छुप भी नही सकता था और न छुपाना था। तेजी से चारो तरफ यह हवा फैल गई। कानमलजी ने पुन भादसोडा चलने का आग्रह किया किन्तु दृढ निश्चयी अम्बालालजी टस से मस नही हुए।

कानमलजी बोहरा ने सारे समाचार माहोली दादी को लिख भेजे। भाई रगलालजी और कुछ सज्जन हथियाना पहुचे। घर ले जाने के कई यत्न किये, किन्तु उन्हें भी सफलता नहीं मिली। एक बार भादसोडा भी कई लोग आये और इन्हें जबरन उठा ले जाने का प्रयत्न करने लगे, किन्तु वे सफल न हो सके।

त्याग के मार्ग पर

जैन मुनि का जीवन त्याग की पराकाष्ठा का जीवत प्रतीक होता है। उसमे पूर्णता पाना एकाएक सम्भव नहीं होता। दीर्घ अभ्यास व सुदृढ मानसिक सबल के बिना जैन मुनित्व की साधना सध जाए, यह सम्भव नही।

वैराग्यमूर्ति अम्बालालजी को साधुत्व का सपुष्ट अवलम्बन मिलना अभी कठिन लग रहा था। किन्तु साधना का सम्बन्ध केवल वेश से तो है नही। सचित्त जल का त्याग करके अन्य आरम्भादि के त्याग कर दिये। प्रतिदिन दयाव्रत करना और भिक्षा से आहार लाना प्रारम्भ कर दिया। त्याग के इस प्रकट स्वरूप से जैन समाज तो प्रभावित था ही, सैकडो अजैन भी बहुत प्रभावित होकर धन्य-धन्य कहते थे।

बावीस मील का सफर

"श्रेयासि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि" श्रेष्ठ कार्यों में प्राय विघ्न आया ही करते हैं। वैरागी अम्बालाल जी के प्रखर त्याग की सर्वत्र चर्चा फैल चुकी थी। माहोली मे दादी ने सुना तो छोटे भाई रगलाल को प्रेरित कर साथ मे कुछ और सम्बन्धियों को भेजकर अम्बालालजी को घर लाने की बात बना ली। तब अम्बालालजी आकोला थे। यही पर सब दल बनाकर पहुँचे और अम्बालालजी को जबरदस्ती उठाकर छकड़े में डालकर माहोली ले आये। माहोली में अम्बालालजी अब इनके पूर्ण शिकजे में थे। वैराग्य के लिए कई अन्धविश्वासपूर्ण टोटके किये जाने लगे। उन अज्ञानियों को यह विश्वास कैसे हो गया कि बाल कटाने से या अन्य बाह्य क्रिया से मानसिक स्तर पर पनपने वाला वैराग्य भी हट सकता है? समझदारों की बुद्धि में तो यह बैठता ही नही। भ्रमित लोगों ने सब कुछ किया, किन्तु वह नहीं हो सका, जो उन्होंने सोचा। अम्बालालजी अपना निश्चय नहीं बदल सके।

खमनौर (हल्दीघाटी) मे कोई निकट के सम्बन्धी हैं, उन्होंने समझाने का दायित्व लिया और अम्बालालजी
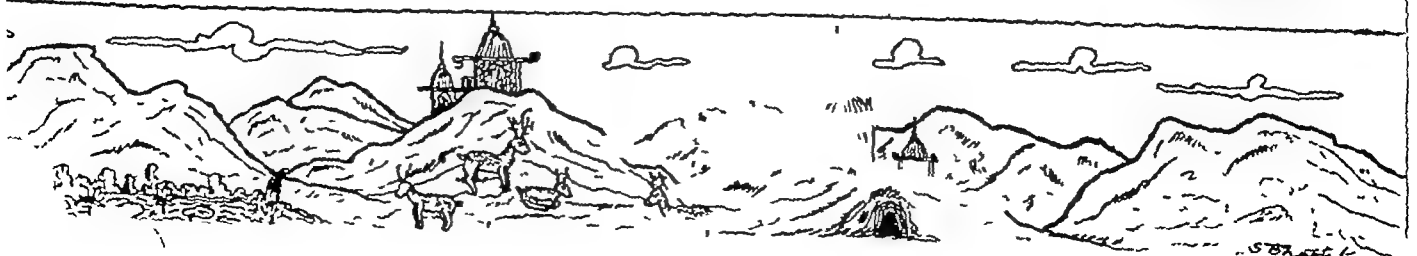
को रामनोर ले गये। किन्तु हल्दीघाटी तो वीरभूमि ठहरी। वहाँ किसी का वीरत्व छूट पाए, यह तो सम्भव नहीं था, फिर चाहे वह वीरत्व त्याग का हो या रण का!

एक दिन अम्बालालजी ने एक सुदृढ निश्चय किया और किसी को बिना बताये ही रामनोर छोड दिया। बावीस मील चले होंगे, सनवाड पहुँच गये। पूज्यश्री मोतीलालजी महाराज वहीं विराजमान थे। जहाँ चाह वहाँ राह! उत्साह होता है तो शक्ति और साधन आ जुटते हैं।

महाराणा के चंगुल में

अम्बालालजी रामनोर से नदारद हो गये। माहोली खबर पहुँची। अधिक ढूँढने की आवश्यकता न थी, अम्बालालजी के गन्तव्य को सभी जानते थे। सनवाड पूज्यश्री की सेवा में वे पाये गये। पारिवारिक-जनों में फिर नई हैरानी व्याप्त हो गई। हाथ आये अम्बालालजी फिर चले गये। कुछ लोगों ने सोचा—अम्बालालजी संसार में रह पाएँ, यह सम्भव नहीं, किन्तु दादी का मोह अभी थमना नहीं चाहता था। उसने अब एक नया ही रास्ता ढूँढ लिया, अम्बालालजी को रखने का। दो नाइयों को साथ लेकर बुढ़िया उदयपुर पहुँची। तत्कालीन महाराणा फतहसिंह जी बग्घी में बैठ-घूमने को निकले ही थे कि वह बग्घी के सामने जाकर खडी हो गई। महाराणा के पूछने पर एकमात्र सहारा अम्बालालजी के संयम लेने के आग्रह को उसने प्रकट कर दिया। बुढ़िया ने कहा—अम्बालाल साधु बन जाएगा तो मेरा कोई सहारा न रहेगा, वही मेरा एकमात्र आधार है। आप बचाएँ! महाराणा ने कर्मचारियों को अम्बालालजी को उदयपुर ले आने का आदेश दे दिया।

आदेश स्वयं महाराणा का था। अतः पूर्ण होने में अब कोई संशय नहीं रहा। माहोली थाने में आदेश पहुँचते ही पुलिस के दल ने 'हिन्दू' गाँव में, जहाँ पूज्यश्री विराज रहे थे और अम्बालालजी त्याग-वैराग्यपूर्वक ज्ञानाभ्यास कर रहे थे, अम्बालालजी को हस्तगत कर लिया और माहोली लेकर चले आये। माहोली में थाना ही अम्बालालजी का निवास था। भोजन दादी के वहाँ पहुँचकर लेते, वहाँ भी पुलिस का कडा पहरा रहता था। लगभग एक माह माहोली थाने में अम्बालालजी को ठहराया गया। इस बीच कई तरह के परिषह पुलिस वालों ने दिये। वे यह चाहते थे कि लिख दो कि दीक्षा नहीं लूँगा। किन्तु अम्बालालजी इसके लिए बिल्कुल तैयार नहीं थे। कभी धोवन पानी नहीं मिलता तो प्यासे ही रह जाते।

माहोली थाने में रहते हुए इन्हें सामायिक करने में भी कठिनाई का सामना करना पडता था। किसी से बात करना तो दूर, मिलने तक की सख्त मनाई थी। एक माह के बाद उदयपुर पहुँचने का आदेश पाकर पुलिस इन्हें उदयपुर ले गई और महाराणा के सामने प्रस्तुत कर दिया।

महाराणा से सीधी बातचीत

महाराणा फतहसिंहजी बडे जबरदस्त व्यक्तित्व के धनी, ओजस्वी और स्पष्टवक्ता थे। उनके आसपास एक आतंकपूर्ण वातावरण छाया रहता था। बडे से बडे प्रखर व्यक्ति भी उनके सामने आने में कांपते थे। कहते हैं, एक बार लार्ड कर्जन उदयपुर आया और उसके पास कई शिकायतों का पुलिन्दा था जो महाराणा के सामने बडे जोरदार ढंग से पेश करना चाहते थे। किन्तु महाराणा के प्रभावशाली व्यक्तित्व का उसके मन पर ऐसा असर हुआ कि वह पुलिन्दा केवल सहायक के बस्ते में ही बन्द रह गया।

ऐसे प्रभावशाली नर-नाहर महाराणा फतहसिंहजी के सामने अम्बालालजी को प्रस्तुत किया गया तो सभी को विश्वास था कि महाराणा की एक ही हुंकार से यह अपना विचार बदल देंगे। किन्तु ऐसा कुछ हुआ नहीं। महाराणा ने अम्बालालजी से कई धार्मिक प्रश्न किये। संयम का हेतु पूछा, गृहस्थाश्रम की विशेषता प्रकट की। अम्बालालजी ने निर्भयतापूर्वक सभी प्रश्नों का यथोचित उत्तर देकर दीक्षित होने का दृढ निश्चय प्रकट किया तो महाराणा ने एक नया प्रसंग रखा। व्यापार के लिये यथावश्यक धन और कुछ विशेष अधिकार देने का लालच भी दिया। किन्तु अम्बालालजी दृढतापूर्वक इन्कार कर गये। अन्त में महाराणा ने कहा—"हम तुम्हे यदि दीक्षा लेने की आज्ञा ही न दें तो?" इस पर
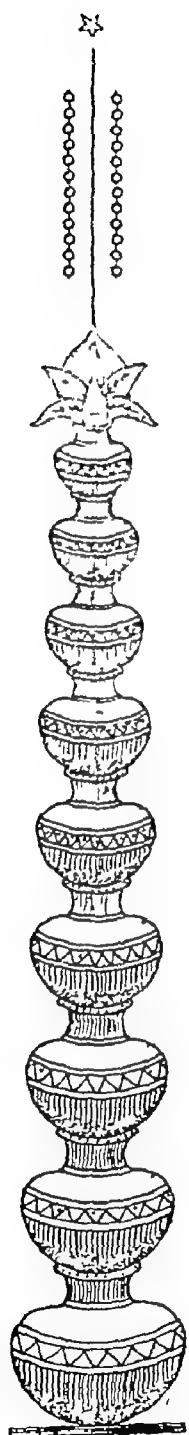
दृढ निश्चयी अम्बालालजी ने कहा कि मैं भोजन का परित्याग कर दूगा। महाराणा अम्बालालजी के दृढ निश्चय को देख कर बड़े प्रभावित हुए और अपनी रोक हटा दी।

साम्प्रदायिको का आग्रह

उदयपुर के कुछ साम्प्रदायिक तत्त्वो को जब अम्बालालजी के दृढ निश्चय का पता चला तो उन्होने कुछ और ही योजना बना डाली।

महाराणा के प्रतिबन्ध के उठते ही, वे अम्बालालजी को अपने मान्य गुरुजी के पास पहुँचाने का भरपूर प्रयत्न करने लगे। इसी उद्देश्य से उन्होने इन्हें एक साम्प्रदायिक पाठशाला मे भर्ती करा दिया। किन्तु अम्बालालजी तो अपनी गुरु-धारणा मे एकान्त दृढ थे, अवसर मिलते ही बिना ही कोई सूचना दिये सनवाड, जहाँ पूज्य श्री मोतीलालजी महाराज विराजमान थे, पहुँच गये।

स्वीकृति और दीक्षा

अब यह लगभग निश्चय हो चुका था कि अम्बालालजी दीक्षित होंगे ही। महाराणा से मुक्ति मिलने पर पारिवारिक प्रतिबन्ध भी ढीला हो चुका था। समाज के समझदार वर्ग ने भी परिवार को और मुख्यतया दादी को समझाने मे अब प्रमुख हिस्सा लिया। फलत रुकावट हल हो गई। स्वीकृति मिलते ही अम्बालालजी मे एक नये उत्साह का सचार हो गया। सयम के लिए उत्सुक मन को निर्बाध योग मिलने पर प्रसन्नता होना तो स्वाभाविक ही था।

हमारे चरित्रनायक का वैराग्य नकली और कच्चा वैराग्य नही है। आत्मा के धरातल से उठी हुई एक लौ थी जो अपने लिए समुचित मार्ग ढूँढ रही थी। ज्योही समुचित मार्ग मिला, वह तीव्रता से जगमगाने लगी।

भादसोडा मे ही दीक्षा-महोत्सव होने वाला था। किन्तु तत्कालीन भीडर रावजी (ठाकुर), जो भादसोडा पर अपना दखल रखते थे, के असहयोग से वहाँ दीक्षा होना असम्भव देखा। मगलवाड, जो भादसोडा से दस मील पर स्थित अच्छा-सा कस्बा है, का सघ भी आग्रहशील था। अत दीक्षा-महोत्सव वही करना निश्चित किया गया। वैरागी अम्बालालजी एक दिन भी व्यर्थ खोना नही चाहते थे। न वे किसी बडे आडम्बर के आकाक्षी थे। फिर भी सघ ने अपने सामर्थ्यानुसार समायोजन किया ही।

सवत् १९८२ मे मार्गशीर्ष मास के शुक्लपक्ष की अष्टमी सोमवार को अम्बालालजी का अभीष्ट मनोरथ सफल हो गया।

पानी तीखा है

जैन मुनि की चर्या एक ऐसी अद्भुत चर्या है, जिसे देखकर प्रत्येक व्यक्ति आश्चर्य-चकित होता है। सयम और परीषह दोनो ही उसको तेजस्वी एव प्रभावशाली बनाते हैं।

कोई मुमुक्षु सयमी रहे और उसे परीषह नहीं हों, ऐसा तो हो नही सकता। कब क्या परीषह आ जाए, सयमी जीवन के लिए कोई अनुमान नही किया जा सकता।

पूज्य श्री धर्मदासजी महाराज प्रथम बार भिक्षा (गोचरी) को गये तो किसी ने उन्हे राख बहरा दी। जाएँ भोजन के लिए और बहरादे राख तो क्या यह कम अपमान है? किन्तु मुनि ऐसे अवसर पर समभाव रहा करते हैं। यदि मन में द्वेष आ जाए तो उन्होंने भिक्षा-परीषह को जीता ही नही।

श्री अम्बालालजी महाराज भी जब मुनि बनने के बाद पहली बार गोचरी गये तो किसी ने मिर्ची मिला पानी बहरा दिया। स्थान पर लाकर उसी का अनुपान करने लगे। पानी देखकर पूज्यश्री ने कहा—"कहो अम्ब मुनि! पानी तीखा है? तुम्हें बुरा तो नही लग रहा है? सयम में साधना है तो 'सम' रहना, अभी तो परीषह का प्रारम्भ है।"

"गुरुदेव! पानी तो तीखा है, पर मन तो मेरा मीठा ही रहा! मैं बडे से बडे परीषह को सहने के लिए तैयार हूँ, आपकी कृपा से सब सह जाऊँगा।" नये मुनिजी ने कहा।

बडी दीक्षा भादसोडा मे

नव दीक्षित मुनि जघन्य सात दिन, मध्यम चार मास, उत्कृष्ट छह मास सयम की लघु भूमिका मे रहा करते

हैं। यह लघु भूमिका जैनेन्द्रीय संयम-साधना का प्रारम्भिक रूप रहता है। तत्पर संयमार्थी प्रायः सातवें दिन ही संयम की परिपूर्ण भूमिका स्वरूप छेदोपस्थानीय में स्थित हो जाते हैं। श्री अम्बालालजी महाराज भी सातवें दिन संयम की इस उन्नत भूमिका को पा गये। यह समायोजन भादसोड़ा में हुआ।

एक ऐतिहासिक स्मृति

मेवाड़ का गौरव जैसे भारत में सर्वोपरि है, जैन-जगत में मेवाड़ का जैन सम्प्रदाय भी उसी यश के अनुरूप सर्वदा श्रेष्ठ रहा है। यह निर्विवाद सत्य है कि सम्प्रदाय के तत्कालीन साधु-समुदाय में पूज्य श्री मोतीलालजी म० जो उस समय आचार्य पद पर तो थे नहीं फिर भी सम्प्रदाय में उनका स्थान महत्त्वपूर्ण था। वे मेवाड़ की गौरवास्पद स्थिति के अनुरूप अपनी सुदृढ़ संयम-साधना के प्रति पूर्ण सजग थे। मेवाड़ सम्प्रदाय के ही कुछ मुनियों के साथ पूज्य श्री मोतीलालजी महाराज का कुछ बातों को लेकर मतभेद हो गया था। मुनि-मार्ग के पथिकों का अनैक्य अहैतुक या तुच्छाधारित तो हो नहीं सकता, उसके पीछे कुछ गम्भीर कारण थे। पूज्यश्री की शास्त्रसम्मत एक स्पष्ट विचारधारा थी। वे संयम की पवित्रता के जबरदस्त पक्षधर थे। जहाँ कहीं उन्हें उस पवित्रता की उपेक्षा नजर आई, वे चुप नहीं रह सकते थे। मतभेदों का मूल कारण यह भी था।

मतभेद मनभेद तक पहुँच रहा था। पारस्परिक कलह मेवाड़ के धर्मोपासकों के लिये बड़ा हानिप्रद होने लगा। मेवाड़ का जैन संघ तथा उसके अग्रगण्य बड़ी चिन्ता में थे। मुनियों का पारस्परिक अनैक्य समाज के विकास में सैंकड़ों बाधाओं को जन्म दे रहा था। प्रधान हितचिन्तक श्रावक-श्राविका इस अनैक्य का कोई समाधान चाहते थे। बहुत विस्तृत विचार-विमर्श हुआ।

प्रधान श्रावकों ने इस अनैक्य को समाप्त करने का दृढ निश्चय कर समुचित कदम उठाया। फलतः आयड़ में मेवाड़ के श्रावकों की एक महत्त्वपूर्ण बैठक हुई। दोनों पक्ष के मुनिराज भी वहाँ उपस्थित थे। संघ ने अपनी पीड़ा सन्तों के सामने रखी। गुत्थियाँ गहरी थीं। किन्तु सुलझाना उससे भी ज्यादा आवश्यक था।

श्री फोजमलजी कोठारी, श्री गहरीलाल जी खिमेसरा की उपस्थिति में विचारों का आदान-प्रदान हुआ। लम्बे समय से विचारों में जो दरारें थीं उनको पाटना आसान न था। किन्तु वातावरण का ऐसा असर था कि मुनिवृन्द को समाधान के निकट पहुँचना ही पड़ा।

समाधान केवल ऐसे ही नहीं करना था कि सब की चुप, समाधान युक्तियुक्त आवश्यक था।

पूज्य मोतीलालजी महाराज सत्य को स्पष्टता तो देना चाहते ही थे, साथ ही मुनि-जीवन अपनी शास्त्रसम्मत मर्यादा के अधीन बरते, यह उनका अपना आग्रह था।

हर्ष का विषय है कि युक्तियुक्त शास्त्रसम्मत समाधान सिद्ध हुआ और संघ में हर्ष छा गया।

गुरुदेव कहा करते हैं कि आयड़ की यह बैठक मेवाड़ के श्रावकसंघ की अद्भुत शक्ति का मूर्तरूप था। चतुर्विध संघ में श्रावक समाज कितना और कैसा महत्त्व रखता है, इसका परिचय मुझे इस बैठक से मिला।

जहाँ से मिला वहीं से लिया

जिज्ञासा व्यक्ति के विकास का मनोवैज्ञानिक उपादान है। जिसमें यह जागृत है, उसमें निमित्त मिल ही जाया करते हैं।

निमित्त की खोज से अधिक उपादान की जागृति आवश्यक होती है। जिसका उपादान जागा है, उसे निमित्त मिला है। यह अनुभव सिद्ध तथ्य है। नव-दीक्षित मुनि श्री अम्बालालजी म० दीक्षित होकर अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए।

पूज्य श्री मोतीलालजी म० ने मुनिश्री की हार्दिक आकांक्षा को पहचान कर शास्त्राभ्यास की तरफ प्रेरित किया। प्रारम्भ में स्तोक (थोकड़ा) ज्ञान का आलम्बन लिया। जैन सिद्धान्त के अध्ययन के लिये स्तोक ज्ञान एक ऐसी सड़क है जो अभ्यासी को गम्भीर तत्त्वज्ञान तक पहुँचा देती है।

अल्प बुद्धि वाले साधारण अभ्यासी भी स्तोक-ज्ञान द्वारा सिद्धान्तवादी हो जाया करते हैं। शास्त्र रूपी ताले को खोलने में स्तोक ज्ञान चाबी का काम करता है।

स्तोक ज्ञान साधना के साथ मुनिश्री ने पूज्यश्री के सान्निध्य मे शास्त्रवाचन भी प्रारम्भ कर दिया।

स० १९८३ का पूज्य श्री का चातुर्मास अर्थात् नवदीक्षित मुनिश्री का प्रथम चातुर्मास जयपुर हुआ। दीक्षा को केवल नौ माह हुए थे, पूज्यश्री ने आज्ञा दी—"मध्याह्न को सभा मे शास्त्रवाचन करो!"

जयपुर की परिषद् कोई तुच्छ परिषद् तो थी नही! भँवरीलालजी मूसल, गट्टूलालजी, गुलाबचन्दजी जैसे शास्त्रज्ञ श्रावक तथा गुमानबाई, सिरेबाई जैसी विदुषी श्राविकाएँ जहाँ उपस्थित रहती हो, वैसी परिषद् मे निर्दोष शास्त्र-वाचन करना कसौटी पर चढने जैसा था केवल नौ माह से दीक्षित मुनि के लिये तो और कठिन परीक्षा की घडी थी। किन्तु मुनिश्री अनुत्तीर्ण नही हुए। बडे चातुर्य तथा साहस के साथ शास्त्र-वाचन करते रहे।

श्री भँवरीलालजी से शास्त्रो की वाचना भी लिया करते। मूसलजी कितनी भक्ति और प्रेम से वाँचनी देते थे, उसका वर्णन करते हुए आज भी गुरुदेव उनके प्रति कृतज्ञ हो उठते हैं।

स० १९८४ का चातुर्मास जोधपुर था। वहाँ लच्छीरामजी साड अच्छे शास्त्रज्ञ थे। मुनिश्री ने उनसे भी शास्त्र ज्ञान प्राप्त किया।

इसी तरह मुनिश्री ने श्री भैरोदानजी सेठिया आदि कई विद्वान् शास्त्रज्ञ श्रावको से शास्त्रज्ञान प्राप्त किया। जिज्ञासा जब बलवती होती है तो छोटे-बडे ऊँच-नीच के सारे भेद गौण हो जाया करते हैं।

यह तीव्र जिज्ञासा का ही परिणाम था कि श्रावको से भी शास्त्रवाचन लेने मे कभी सकोच नही किया।

वह अनेकता भी मधुर थी

गुरुदेव ने बताया कि जब हमारा जोधपुर चातुर्मास था उसी वर्ष जैन दिवाकरजी महाराज तथा पूज्यश्री कानमल जी महाराज (मारवाडी) के भी चातुर्मास वही थे।

तीनो न केवल अलग-अलग स्थानो मे ठहरे थे, व्याख्यान भी तीनो के भिन्न-भिन्न स्थानो मे होते थे। किन्तु परस्पर ऐसा अद्भुत प्रेम था कि देखते ही बनता। जब परस्पर मिलते तो सगे भाइयो से भी अधिक स्नेह प्रकट होता। कोई किधर भी व्याख्यान मे जाए, कोई टोकाटोकी नही थी, न निन्दा विकथा थी। न आरोप-प्रत्यारोप, चारो माह सन्तो और सघ मे बडे प्रेम की गगा बही। उसी वर्ष श्री आनन्दराजजी सुराणा के श्रम तथा सभी मुनिराजो के सदुपदेश से जोधपुर की जनता ने प्रतिवर्ष पर्यूषण में बाजार बन्द रखने का क्रान्तिकारी ऐतिहासिक निश्चय किया, जो अब तक चल रहा है।

यद्यपि उस समय अलग-अलग सम्प्रदायें थी, आचार्य भी अपने अलग-अलग थे। किन्तु परस्पर जो आत्मीयता रही, वह आज भी याद आती है। सचमुच वह अनेकता भी मधुर थी।

बीकानेर मे

भारत मे जैसे वाराणसी, उज्जैन, कश्मीर आदि सरस्वती के केन्द्र माने जाते हैं, उसी तरह बीकानेर जैन विद्या का सरस्वती-केन्द्र रहा है। विद्या और लक्ष्मी के सुपात्र सेठ अगरचन्द भैरूदान सेठिया जैसे शासन-सेवी ने बीकानेर के गौरव को पल्लवित करने मे बडा योग दिया।

पूज्यश्री के जोधपुर के सफल चातुर्मास की कीर्त्ति-सुवास बीकानेर पहुँच चुकी थी। बीकानेर सघ साग्रह विनय कर पूज्यश्री को बीकानेर ले गया, गुरुदेव श्री भी साथ थे। गुरुदेव बताया करते हैं कि वहाँ ज्ञानाभ्यास का बडा अच्छा सुयोग मिला। सेठियाजी के विशाल पुस्तकालय मे शास्त्रो का सुन्दर सकलन देखा। वहाँ प० श्री चादमलजी महाराज (बडे) विराज रहे थे। बडा प्रेममय मधुर-मिलन रहा।

सघर्ष टल गया

स० १९८५ वें वर्ष का चातुर्मास सादडी (मारवाड) था। मारवाड—सादडी गोडवाड प्रान्त का प्रमुख क्षेत्र है। एक हजार के लगभग मूर्तिपूजक समाज के घर होंगे। स्था० जैन समाज के तीन सौ घर हैं। पूरे गोडवाड प्रान्त में

मूर्तिपूजक-समाज का बाहुल्य है। स्थानकवासी समाज अल्पता मे है। किन्तु मूर्तिपूजक-समाज के कुछ कट्टर तत्त्वो को स्थानकवासियो का थोडा अस्तित्व भी खटकता था। वे येन-केन-प्रकारेण उपद्रव पर उतारू थे।

सवत्सरी का पवित्र दिन था। साय प्रतिक्रमण का समय, मूर्तिपूजको के कुछ शरारती तत्त्व स्थानक के बाहर कणिया चौकडी मचाने लगे, चिल्लाने लगे। प्रतिक्रमण मे आये श्रावको मे उत्तेजना की लहर फैल गई। वे प्रतीकार को उतारू हो गये।

परिस्थिति की गम्भीरता को देख पूज्यश्री ने श्रावको को सम्बोधित करते हुए कहा—"सवत्सरी का पवित्र दिन है, इसका सन्देश है—'क्षमा', आज यह परीक्षा की घडी है, कही फेल नहीं हो जाएँ।" गुरुदेव बताया करते हैं कि पूज्यश्री के इस सन्देश से श्रावकों ने बडे धैर्य का परिचय दिया। शरारती थककर चले गये। किन्तु उन्हे उन्ही के समाज के समझदार, सभ्य व्यक्तियो से जबरदस्त उपालम्भ मिला।

प्रतिक्रमण तुम सुनाओ

पूज्यश्री एकलिंगदासजी महाराज ऊँठाला (वल्लभनगर) मे अस्वस्थ हो गये थे। सभी शिष्य-समुदाय सेवा मे था। साय प्रतिक्रमण के समय पूज्यश्री, मुनि श्री अम्बालालजी महाराज को ही प्रतिक्रमण कराने की आज्ञा देते। पूज्यश्री कहते—अम्बालालजी पूर्ण विधि के साथ स्पष्ट उच्चारण करते हुए प्रतिक्रमण कराते हैं। इनकी वाणी मे मिठास भी है।

मुनिश्री अपनी साधना मे अप्रमत्त भाव से प्रवृत्त होते। यही इनकी सवदा विशेषता रही है।

सबल आश्रय मे समुचित विकास

पूज्य श्री मोतीलालजी महाराज जिनके पवित्र सान्निध्य में जीवन-यात्रा चल रही थी, सबल व्यक्तित्व के धनी, सफल प्रवक्ता तथा उग्र विहारी थे। भ्रमण उनके जीवन का प्रमुख अग था। यही कारण है कि मुनिश्री का प्रारम्भिक जीवन ही दीर्घ विचरण से शुरू हुआ और वह निरन्तर बढ़ता ही गया।

पूज्यश्री के पवित्र सहवास में बम्बई, मनमाड, जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, अहमदाबाद, आदि कई क्षेत्रो का विस्तृत प्रवास किया। इस विस्तृत प्रवास के कई खट्टे-मीठे अनुभव हैं और जब वे उन्हें सुनाने लगते हैं तो एक बात स्पष्ट हो जाती है कि सचमुच 'सही दिशा मे जीवन का सही निर्माण' इतना आसान नही है, जितना कि कहा सुना जाता है। वस्तुत जीवन-निर्माण एक ऐसी लम्बी प्रक्रिया है, जो उपयुक्त दिशा मे सतत जागरूकता के साथ बढने से ही सफल हो सकती है।

पत्थर के बदले प्यार

स० १९८७ श्रावण कृष्णा २ को पूज्य आचार्य श्री एकलिंगदासजी महाराज का स्वर्गवास हो चुका था। वर्ष भर मेवाड भ्रमण कर स० १९८८ का चातुर्मास पूज्य श्री मोतीलालजी महाराज (जो चरितनायक के गुरु हैं) के साथ भादसोडा किया। बम्बई के सेठ वीरचन्द थोबण, अमृतलाल भाई, जीवनलाल कोठारी आदि अग्रगण्य श्रावको का अत्याग्रह था। अत पूज्यश्री ने बम्बई की तरफ विहार की स्वीकृति दे दी। अपने गुरुदेव के साथ मुनिश्री भी बम्बई की ओर चल पडे। भादसोडा से क्रमश विहार कर निम्बाहेडा (नवाब) आये, एक शरारती मुस्लिम छोकरे ने मुनिश्री के सिर मे पत्थर की दे मारी। रक्तस्राव होने लगा, घाव गहरा था। (छोटा-सा निशान अभी भी मौजूद है)। पत्थर-प्रहार को सुनते ही समाज मे सन्नाटा छा गया। नगर मे सनसनी फैल गई। अग्रगण्य कार्यकर्ता जिनमें गौरीलालजी प्रमुख थे, अपराधी को पकडने में सफल हो गये। अपराधी को वे पुलिस के सुपुर्द करने ही वाले थे, किन्तु पहचान के लिये उसे पहले मुनिश्री के सामने लाये। छोकरा काँप रहा था। मुनिश्री ने कहा—बच्चा तो यही है, किन्तु आप इसे क्या करना चाहते हैं ?

मुनिश्री का यह अद्भुत सन्देश सुनकर कार्यकर्ता और जनता दग रह गये। उनके सामने उस बालक को मुक्त करने के अलावा और कोई चारा नही था। बालक ज्योही मुक्त हुआ, मुनिश्री के पाँव पकडकर अपने कुकर्म पर रोने लगा। मुनिश्री ने उसे प्यार देकर विदा किया। इसी को तो कहते है कवि की भाषा मे—"जिन्दगी हर मरहले पर मुस्कुराती ही रही है।"

मेवाड से बाहर

पाठक जान ही चुके हैं, कि पूज्यश्री के साथ मुनिश्री का बम्बई की तरफ प्रस्थान हुआ। उस वर्ष का चातुर्मास बम्बई ही रहा। इसके बाद का वर्षावास अहमदनगर था। गुरुदेव बताया करते हैं कि वहाँ श्री शान्ताकुँवरजी जैसी विदुषी महासतीजी तथा कई विद्वान श्रावको से प्राय तत्त्व-चर्चा होती रहती और यो चातुर्मास व्यतीत हो गया। स० १९९१ का चातुर्मास मनमाड रहा। एक भाई (चुन्नीलालजी लोढा) ने अपनी सारी सम्पत्ति सघ को समर्पित कर दी।

पूज्यश्री अभी और दूर-दूर विचरण करना चाहते थे। किन्तु हमारे चरितनायक के गुरुदेव पूज्य श्री मोतीलालजी महाराज को मेवाड के चतुर्विध सघ ने आचार्य पद देना निश्चित कर लिया था। सघ का आग्रह अपरिहार्य था। फलत मनमाड के बाद फिर मेवाड आना हुआ।

एक यह भी दृश्य देखा

गुरुदेव बताया करते हैं कि मनमाड से जब हम मेवाड मे आये तो घासा मे मेवाड सम्प्रदाय का चतुर्विध सघ एकत्रित होकर पूज्य श्री मोतीलालजी महाराज से आचार्य पद स्वीकार करने का आग्रह करने लगा। किन्तु गुरुदेव ने नि सकोच स्पष्ट इन्कार कर दिया। एक तरफ सघ पद देने को आतुर था, दूसरी तरफ गुरुदेव बराबर मनाही कर रहे थे।

पूज्यश्री की यह अद्भुत निस्पृहता देखकर मैं दग रह गया। उस अनुभव के साथ आज के पदाग्रह के वातावरण की तुलना करता हूँ तो मन को एक चोट-सी लगती है। कहाँ आज का पदाग्रह और कहाँ वह निस्पृहता!

उस वर्ष का चातुर्मास सनवाड रहा। स० १९९३ ज्येष्ठ शुक्ला २ को सरदारगढ मे पूज्यश्री को विवश कर आचार्य पद दे दिया गया था। सघ मे एकता के सुन्दर वातावरण की सृष्टि हुई। हमारे चरितनायक ने इस सारे कार्यक्रम में प्रमुख भूमिका अदा की।

समर्पित जीवन

किसी युग में मेघकुमार मुनि ने प्रतिज्ञा की थी—"मैं इन दो आँखो की देखभाल करूँगा। शेष सारा शरीर सेवा मे समर्पित है।" आगमो के प्रमाण से इसे हम जान पाये। किन्तु श्री अम्बालालजी के रूप मे इस आदर्श को हम देख पाये हैं। इसमे तनिक भी अतिशयोक्ति नही है। जिसने भी इनसे साक्षात्कार किया है, प्रत्येक व्यक्ति नि सकोच कहेगा—"श्री अम्बालालजी के रूप में हम सेवा को मूर्तिमन्त देख रहे हैं।"

अपने आपके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को किसी आराध्य में विलीन कर देना, समर्पण की पराकाष्ठा है। तथा वह मुनिश्री मे स्पष्ट पाई गई। अपना अलग कुछ नही, सब कुछ उन्ही का और उन्हीं के लिये, जिनको 'गुरु' स्वीकार कर लिया।

छाया की तरह पूज्यश्री के निरन्तर साथ रहने वाले श्री अम्बालालजी महाराज पूज्यश्री की उपस्थिति मे ही नही, उनके स्वर्गस्थ होने के बाद तक भी जो भी महत्त्व का काय सम्पन्न हुआ, उसे गुरु का ही मानते रहे, आज भी ऐसा ही मानते हैं।

जहाँ पूज्यश्री मोतीलालजी महाराज वही श्री अम्बालालजी महाराज, मेवाड ही नही भारत भर के हजारो परिचितो भक्तो मे से किसी ने कभी भी यह जानने का प्रयास नहीं किया कि अम्बालालजी महाराज कहाँ हैं? सभी का दृढ निश्चय था—जहाँ गुरु वही शिष्य। जहाँ पूज्यश्री मोतीलालजी महाराज वही अम्बालालजी महाराज सहभावी पर्याय की तरह सवदा पूज्यश्री की सेवा मे बने रहे।
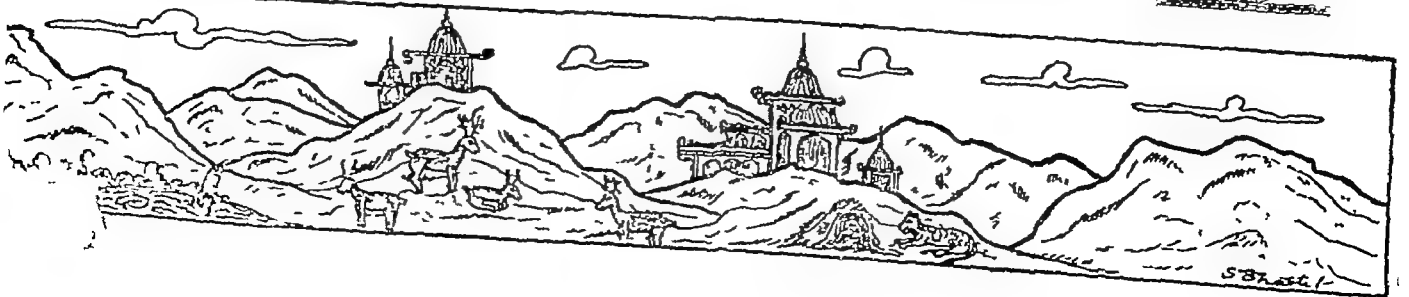
देलवाडा, आकोला, वदनौर, कौशीथल, राजकरेडा, अजमेर, मोही, वल्लभनगर, खेरौदा, राजकरेडा, गोविन्दगढ, जडौल, राशमी, आकोला, मादसौडा और कपासन पूज्यश्री के साथ चातुर्मास होते रहे।

सादडी सम्मेलन मे

सामाजिक अनेकता समाज को वर्षों से खोखला बना रही थी। साम्प्रदायिक कलह वातावरण को विषाक्त बना रहे थे। ऐसे समय मे सघ में ऐक्य का नारा बुलन्द हुआ। वर्षों के श्रम के उपरान्त सादडी सम्मेलन निश्चित हुआ। दूर-दूर से सन्त मुनिराज प्रतिनिधिगण पधारे थे इस सम्मेलन मे। मेवाड सम्प्रदाय का जो प्रतिनिधि-मण्डल सम्मेलन मे पहुँचा, उसका नेतृत्व श्री अम्बालालजी महाराज कर रहे थे। सम्मेलन में सामाजिक समस्याओ पर गहराई तक विचार-विमर्श हुआ। ऐक्य के माग मे अनेको बाधाएँ थी। किन्तु प्रबुद्ध मुनिराजो ने एक-एक कर समस्त बाधाओ पर विजय पाई और श्रमण-सघ स्थापित कर सघ-ऐक्य की पताका लहरा दी। विशाल सघ की ऐक्य सरचना मे श्री अम्बालालजी महाराज का आदि से अन्त तक भरपूर सहयोग रहा। जीवन का बहुत बडा हिस्सा सम्प्रदाय के अधीन व्यतीत करने के बावजूद भी गुरुदेव श्री एकता के सच्चे उपासक हैं। इसका प्रमाण इनका अब तक भी श्रमण-सघ में सम्मिलित रहना है। सादडी सम्मेलन के अवसर पर सघ मे सम्मिलित कई सम्प्रदायें आज फिर से अपने घेरे मे पहुँच चुकी हैं, किन्तु गुरुदेव आज भी दृढ़ता के साथ सघ मे हैं और सम्पूर्ण एकता की बात किया करते हैं।

साम्प्रदायिक साथियो ने अलग होने का आग्रह भी किया होगा, किन्तु ये तिलमात्र नही हिले। ये कहा करते हैं कि *साधु कहकर भी नही बदल सकता तो हमने तो हस्ताक्षर किये हैं, उनसे कैसे हटें?*

सघ मे कुछ समस्याएँ हो सकती हैं। उनका समाधान सघ मे रहकर करने का यत्न करें, यह उचित है।

उस वर्ष का चातुर्मास खमणौर किया और उसके बाद मोलेला।

पूज्यश्री स्थानापन्न

मोलेला चातुर्मास तक पूज्यश्री का विचरण चला। तदनन्तर पूज्यश्री पाँच वर्ष देलवाडा स्थानापन्न विराजे। श्री अम्बालालजी महाराज उपर्युक्त सारे चातुर्मास और मध्य व चरणकाल मे तो साथ थे ही, देलवाडा भी पूज्यश्री की सेवा मे पाँचो वर्ष सेवा की अडिग आस्था लिये टिके रहे।

श्रावक सघ तो यह जान ही चुके थे कि अम्बालालजी महाराज का अलग से विचरण न हुआ, न होगा, फिर भी यदि कोई सघ अपने क्षेत्र के लिये गुरुदेव हेतु विशेष प्रार्थना भी करता तो उसे निराशा ही मिलती, क्योकि गुरु और शिष्य मे से न कोई भेजना ही चाहते थे, न जाना ही।

सवत् २०१५ श्रावण शुक्ला चतुर्दशी को पूज्यश्री मोतीलालजी महाराज का स्वर्गवास हो गया। श्री अम्बालालजी महाराज के लिये यह वज्रपात-सी घटना थी। ऐसे कठिन समय मे श्री अम्बालालजी महाराज ने न केवल अपने को ही सम्भाला अपितु गुरु-वियोग से पीडित मेवाड की हजारो जनता को आत्मिक सम्बल प्रदान किया।

देलवाडा से प्रस्थान

लगातार पाँच वर्ष देलवाडा में गुरु सेवा का अमृत पान कर अपने गुरुदेव श्री भारमलजी महाराज सहित श्री अम्बालालजी महाराज और अन्य शिष्य-गण कुल ठाणा ने प्रस्थान किया तो देलवाडा के भक्तिमान आबाल वृद्ध नर-नारियो की आँखें छलछला आईं। उस वर्ष कोशीथल वर्षावास हुआ और उसके बाद देवगढ।

मुसलमानो की प्रतिज्ञा

सेवा ही जिनके जीवन का मन्त्र हो, उन्हें तो केवल सेवा चाहिए। पूज्यश्री के स्वर्गवास के बाद गुरुदेव श्री भारमलजी महाराज का नेतृत्व पा गये। मुनिश्री उन्हीं की सेवा मे तल्लीन हो गये।

"कबहुँ-कबहुँ इन जग महँ, अनहोनी घटि जायँ।"—कभी-कभी अप्रत्याशित घटनाएँ घट जाया करती है। वदनौर मे आगामी चातुर्मास के लिये कई आग्रह चल रहे थे। वयोवृद्ध गुरुदेव श्री भारमलजी महाराज ने राजकरेडा को
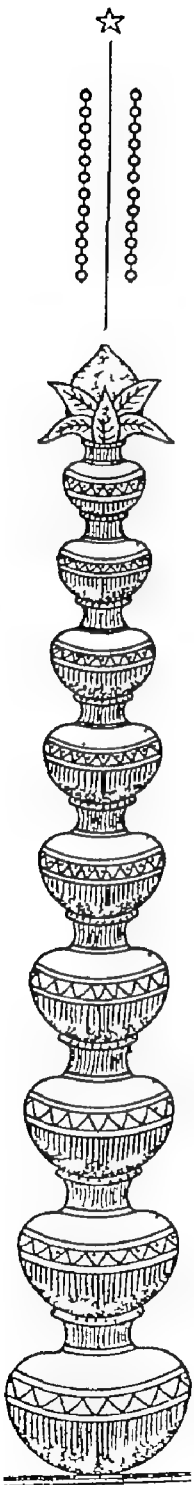
स्वीकृति प्रदान की। वह नगर धन्य हो गया। इधर वदनौर के मुस्लिम समाज ने मस्जिद मे एकत्रित होकर एक प्रतिज्ञा पत्र लिखा जिस पर सबो ने हस्ताक्षर किये।[1] उसमे, बकरा ईद पर जब मुस्लिम समाज मे आमतौर पर हिंसा होती है, हिंसा न करने की प्रतिज्ञा थी और वह प्रतिज्ञा-पत्र गुरुदेव के चरणो में प्रस्तुत कर दिया तथा चातुर्मास की मॉग रखी। बडा उपकार देख गुरुदेव ने चातुर्मास की स्वीकृति वदनौर सघ को दी। गुरुदेव श्री मारमलजी महाराज से अलग चातुर्मास का यह प्रसग आया और उसी वर्ष श्रावण कृष्णा अमावस्या को राजकरेडा मे भद्रमना गुरुदेव श्री मारमलजी महाराज का स्वर्गवास हो गया। जीवन भर सेवा में रहने के उपरान्त अन्तिम समय की यह दूरी आज भी मुनिश्री के कोमल मन मे कसक पैदा कर दिया करती है। वदनौर चातुर्मास के उस महान् उपकार के समक्ष यह कसक यद्यपि कोई महत्त्व नही रखती, किन्तु गुरु के साथ अनन्य भाव से रमने वाले के लिये उसे भुलाना आसान नही होता। उस समय स० २०१८ चल रहा था।

अगले वर्ष का चातुर्मास रायपुर तथा उसके बाद देलवाडा वर्षावास हुआ।

अजमेर को

सादडी मे अथक श्रम कर जिस सघ रूपी कल्पवृक्ष को खडा किया था, वह किन्हीं साम्प्रदायिक कारणो से अब तक जर्जर-सा होने लग गया था। सादडी में बडी उमगों के साथ सघ मे मिले कुछ साथी बिछुड गये, कई आन्तरिक असन्तोष जला रहे थे। कुछ समस्याएँ वास्तव मे थी। कुछ खडी करदी गई थीं। ऐसी स्थिति मे सघ के नवीनीकरण की महती आवश्यकता प्रतीत होने लगी। उस आवश्यकता की देन अजमेर सम्मेलन (द्वितीय) था।

प्रतिनिधि मुनिराजो का समागम हुआ। गुरुदेव मन्त्रीपद पर थे, वे भी अजमेर पहुँचे।

बडी विस्तृत चर्चाएँ चली, गण-व्यवस्था प्रारम्भ की गई। मन्त्रीपद प्रवर्त्तक के रूप मे परिवर्तित किया। कई और भी महत्त्वपूर्ण निर्णय लिये गये। किन्तु ऐसा लगा, वातावरण मे ऐक्य के प्रति जैसी उमग चाहिए, वैसी नही थी। मनोवृत्ति कुछ ऐसी लग रही थी कि सघ मे और बिखराव नही आने पाये, ऐसा कुछ कार्य हो जाना चाहिए। केवल रक्षात्मक रुचि ही वहाँ देखने मे आई, जो किसी भी सघ के लिये परिपूर्ण नहीं हो सकती। गुरुदेव भी जो मन्त्री थे, यही से प्रवर्तक कहलाने लगे। पूरे सम्मेलन के कार्यक्रमो मे प्रवर्तक श्री का आत्मिक सहयोग रहा। उस वर्ष ब्यावर चातुर्मास किया।

अभय गगा

वीतराग सत्पुरुषो का उपदेश "सव्व जग जीवजोणी रक्खणट्ठाए दयट्ठाये।"—सभी जीवो की रक्षा और

---

१ प्रतिज्ञा-पत्र की प्रतिलिपि

श्री

अनुनय पत्र दि० १३-४-६५

परम पूज्य महामहिम श्रद्धेय श्री अम्बालालजी महाराज साहब

प्रवास वदनौर

हम मुस्लिम धर्मावलम्वी नगरवासी वदनौर की हार्दिक आकाक्षा है कि आज हमारे महान् धार्मिक पर्व ईद के दिन प्रतिवर्ष की भाँति आज का दिन मनाया है इस अवसर पर भगवान महावीर का जन्म-दिवस जो कि आज है इस अवसर को मनाने के लिये हमने हिंसा नही करके जयन्ति मनाने का सकल्प किया। इसी प्रकार यदि श्रीमान् ने वदनौर इस वर्ष चातुर्मास फरमाया तो हम विश्वास दिलाकर प्रतिज्ञा करते हैं कि बकरा ईद के दिन कभी हिंसा नहीं कर आज के सकल्प को बराबर निभायेंगे। दस्तखत—

—दिलावरखाँ, रमजूखाँ, अकबरखाँ, अलिखाँ, रमजानअली, सुलेमान, नूरखाँ, गफूर मौहम्मद, मागुखाँ, रमजुद्दीन अलावक्ष, इमामुद्दीन, अजावक्ष, रमजानखाँ, नजीरखाँ, खाजूखाँ, खाजु, बसीरखाँ, अमराव, महबूब, लालखाँ, समसुद्दीन।

नोट—कुछ हस्ताक्षरों को पढ नहीं सके।
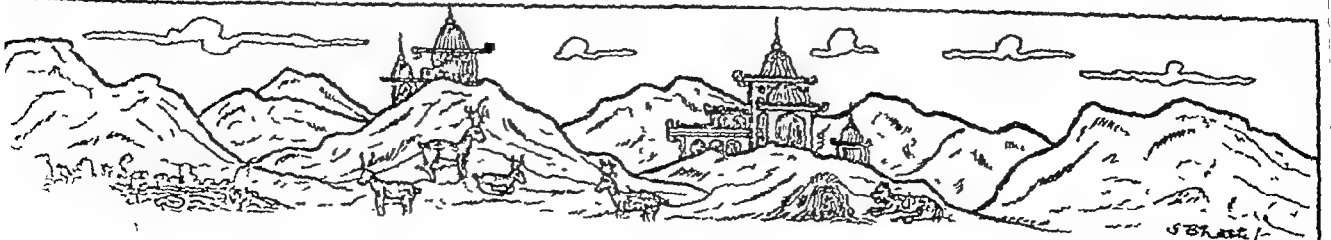
दया के लिये होता है। जैन मुनि उन्ही के अनुचर हैं। उनके उपदेशो मे दया और करुणा की धारा बहे तो आश्चर्य ही क्या ?

ब्यावर चातुर्मास मे प्रवर्तक श्री विविध अवसरो पर करुणा का ऐसा सन्देश दिया कि नागरिको मे जीव दया का नया वातावरण तैयार हो गया। पर्युषण और दीघ तप के अवसर पर कत्लालय नितान्त बन्द ही नही रहे, कत्ल को लाये गये पशुओं को बचाकर उन्हे अभयालय मे पहुँचा दिया। चातुर्मास भर मे लगभग चार सौ जीवो को अभय-गगा मे नहला दिया गया।

ब्यावर के इतिहास मे जीव दया का यह प्रसग अनुपम था। इसके बाद वाला चातुर्मास बदनौर हुआ।

सघ ऐक्य बना रहा

स० २०२३ मे दो श्रावण थे। चातुर्मास मे जब अधिक मास हो तो सवत्सरी कब करना ? इस विषय पर सादडी सम्मेलन मे अच्छी तरह निर्णय लिया जा चुका था। किन्तु आग्रह बडे भयकर हुआ करते है।

सादडी मे सवत्सरी पर जितना स्पष्ट और सवसम्मत निर्णय लिया उतना ही जब-जब इसके विधिवत् पालन का अवसर आया, यह अस्पष्ट और उलझावपूर्ण बनाया जाता रहा। जोधपुर चातुर्मास के अवसर पर भी ऐसे प्रयत्न चल रहे थे किन्तु सघ ने बहुत ही स्पष्टता के साथ श्रमण सघ के नियमानुसार भाद्रपद मास में सवत्सरी मनाई। उस अवसर पर जोधपुर सघ ने जो सघ-प्रेम प्रकट किया, वह सवदा याद रहेगा। श्री माधोमलजी लोढा (मन्त्री श्री व० स्था० जैन श्रावक सघ) जैसे कमठ कायकर्ता सघ-ऐक्य के प्रबल पक्षधर बने रहे। उन्होने श्रमण-सघ के निणय का समर्थन ही नही किया, अपितु सारे सघ को एक साथ रखकर एकता और प्रशासन का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया। सखेद लिखना पड रहा है कि अभी कुछ दिनो पूर्व ही श्री लोढाजी का देहावसान हो गया। अब उनकी और अधिक आवश्यकता थी। किन्तु काल को कौन टाल सकता है ?

लोढाजी जैसे दस-बीस व्यक्तित्व समाज के मच पर आ जाए तो आज भी समाज की निराशा कट सकती है।

कल्पवृक्षोद्गम

जोधपुर से नागौर तक विचरण कर गुरुदेव मेवाड की ओर मुडे। भूपालगज (भीलवाडा) सघ का चातुर्मास हेतु तीव्र आग्रह था। सोजत होकर सादडी पधारे। वहाँ एक मकान को लेकर सघ मे कडा सघर्ष था। मुकदमे चल रहे थे। गुरुदेव के सदुपदेश से टटा टूट गया। चातुर्मास भूपालगज रहा।

समाज में किसी सेवा-सस्था की बडी कमी अनुभव की जाती रही थी। भूपालगज मे गुरुदेव श्री के सान्निध्य मे धर्मज्योति परिषद् के रूप मे इस कमी की पूर्ति करने का प्रयास सफल हुआ। धर्मज्योति परिषद् मेवाड प्रान्त की एक ऐसी सेवा-सस्था है, जिसे कल्पवृक्ष कह सकते हैं। पिछले कई वर्षों से यह सस्था सेवारत है।

लोकप्रिय सन्त

एक कहावत है—

जात पाँत कछु जानै न कोई। हरि को भजे सो हरि का होई॥

जो धर्मानुरागी है, वही धर्मी है, जो सन्त-प्रेमी है, वही भक्त है, इसमें जाति-भेद कहीं नहीं। रेलमगरा-श्रावक सघ, जहाँ केवल आठ स्थानकवासी परिवार हैं, चातुर्मास का भरपूर आग्रह लेकर आया। सामान्यतया उनकी जो भी विनती सुनता मुस्कुराकर रह जाता। घरो की अल्पता, सीमित साधनो को देख किसे भी चातुर्मास की स्वीकृति की सम्भावना नहीं हो पाती थी। किन्तु गुरुदेव, जोकि स्थूल से हटकर सूक्ष्म के द्रष्टा हैं, कि भावोर्मियो को देखकर स्वीकृति प्रदान करने में तनिक भी नही हिचकिचाये। रेलमगरा-चातुर्मास की सार्वजनीनता को आप इससे आंक सकते हैं कि अनुयायियो के इतने कम घर होने पर भी व्याख्यानो मे सैकडो की भीड बनी रहती थी। हजारो दर्शनार्थियो के आवा-गमन को रेलमगरा की जनता ने हार्दिक स्नेह के साथ सँभाला। धर्मज्योति परिषद् के विशाल अधिवेशन के अवसर पर सैकडों अजैन स्वयसेवक अपनी हार्दिक सेवाएँ दे रहे थे। वलि वदी के कायक्रमो मे जैना से अधिक अजैनो का उत्साह

दिखाई दिया। विहार के अवसर पर मीलो तक जैन ही नही अजैन भी साथ थे। बिछुडने का गम उन्हे अधिक सता रहा था। धर्म क्रियाओ मे जैनो के साथ अजैनो ने भी भाग लिया। उपवास, तेले, पाँच और अठाई तक की तपश्चर्याएँ अजैनों मे भी हुई। धर्म की यह सार्वभौम दृष्टि बडी आह्लाददायिनी थी।

अभिनन्दन एक कर्मठ सन्त का

मरुधरकेसरी श्री मिश्रीलालजी महाराज भारत-विश्रुत एक कमठ सन्त हैं। मारवाड की अनेक शिक्षण तथा सेवा सस्थाएँ इनकी देन हैं। व्यवहार में बडे प्रखर होकर भी केसरीजी हृदय से मधुर तथा बुद्धि से बडे दूरद्रष्टा हैं। मारवाडी भाषा के अच्छे कवि और आला दर्जे के साहित्यकार हैं। केसरीजी का गुरुदेव के प्रति बडा हार्दिक स्नेह, दोनो की मैत्री अगाध है। उनकी दीक्षा-स्वर्णजयन्ती पर चतुर्विध सघ ने उनके अभिनन्दन का समायोजन किया और प्रवर्तक श्री को निमन्त्रण मिला तो मुनि-मण्डल सहित गुरुदेव ने सोजत पहुँचकर अपने परम मित्र तथा अग्रज का हार्दिक अभिनन्दन किया। वहाँ मरुधरा के कई सन्त सतीजी से मिलने का सुन्दर सुयोग मिल गया। उस वर्ष पुन मेवाड पहुँचकर भाद-सौडा चातुर्मास किया।

विग्रह भग और चातुर्मास

भादसौडा से डूँगला की तरफ प्रवास हुआ। वहाँ सामाजिक एकता भग थी। तड थी और वह भी भयकर। गुरुदेव श्री के सदुपदेश से एकता बनी और उसी वर्ष वहाँ चातुर्मास भी हो गया। सघ ने सेवा का अच्छा लाभ उठाया। इसके बाद का चातुर्मास कोशीथल हुआ।

सस्कार निर्माण की तरफ

डूँगला चातुर्मास के बाद सादडी सम्मेलन का समायोजन था। उधर होकर गुरुदेव श्री मेवाड पधारे और मोलेला चातुर्मास किया। मगरा प्रान्त में सांस्कारिक परिवर्तन की बडी आवश्यकता को स्वीकार कर उस तरफ कुछ करने का गुरुदेव का इशारा हुआ। धर्मज्योति परिषद् ने अपना शाखा कार्यालय स्थापित कर पूरे प्रदेश मे पन्द्रह जैन शालाओं की स्थापना कर दी। एक बहुत सुन्दर पुस्तकालय भी मोलेला मे स्थापित हुआ। अनेको उपकारी के साथ गुरुदेव ने पूरे मगरा प्रान्त का प्रभावशाली विचरण किया।

मुनिद्वय अभिनन्दन-समारोह मे

मारवाड में जयमल्लजी महाराज की सम्प्रदाय का अपना विशिष्ट स्थान है। समाज को इस सम्प्रदाय से कई रत्न मिले। वर्तमान में यह सम्प्रदाय सघ मे सम्मिलित है।

स्वामीजी श्री ब्रजलालजी महाराज, पण्डित रत्न श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर' इसी सम्प्रदाय की देन हैं। दोनो मुनिराज मरुधरा के रत्न और जैन समाज के सितारे हैं। गुरुदेव श्री से इनका भी प्रगाढ प्रेम व्यवहार चला आया है। इनके अभिनन्दन की योजना पर निमन्त्रण मिला। तब स्वास्थ्य बराबर नही था। फिर भी आत्मीयता का समादर कर गुरुदेव ब्यावर पधारे और अपने आत्मीय-जनो का अभिनन्दन कर हर्षित हुए। उस वर्ष आमेर चातुर्मास किया।

साम्प्रदायिक सौहार्द

मेवाड के तेरापथी क्षेत्रो में आमेट का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। तेरापथ समाज के २५० से अधिक परिवार रहते हैं। स्थानकवासी लगभग ३०-४० होंगे। किसी जमाने में आमेट साम्प्रदायिकता का बडा गढ था। इसका प्रमाण पूज्य श्री नृसिंहदासजी महाराज की ढाल से लगता है। ढाल रोडजी स्वामी के जीवन पर बनी है। पद्य है —

आमेट स्वामी पधारिया जी
उतर्या हाटा के माय।
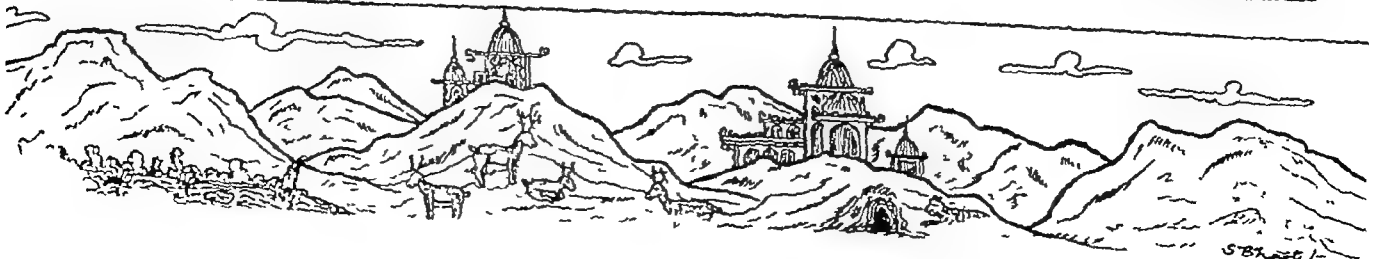
परीषो तो वीवो अति गणो
पारणो कीदो लावे लाय जी।
श्री रोडजी स्वामी मे गुण गाणां।

पाठक इससे समझ सकते हैं कि आमेट मे कैसा वातावरण था।

जब आमेट सघ चातुर्मास के लिये आया तो कई हितचिन्तक विरोधो की आशका से चातुर्मास के लिये असहमत थे, किन्तु गुरुदेव ने स्वीकृति दी। कहना होगा कि प्रस्तुत चातुर्मास मे आशकाएँ ही व्यर्थ सिद्ध नही हुई, अपितु साम्प्रदायिक सौहार्द का एक नया वातावरण बना। स्थानीय अजैन समाज ने भी इस चातुर्मास को बडी भक्ति-भावना के साथ लिया। जैनशाला स्थापना, पुस्तकालय स्थापना जैसे रचनात्मक कार्यों के साथ चातुर्मास बडा सफल सम्पन्न हुआ। चातुर्मास के अन्तिम मास—कार्तिक—मे ही सनवाड सघ चातुर्मास की विनती लेकर उपस्थित हो गया और यथासमय उसे स्वीकृति भी मिल गई।

भेद मिटते ही गये

बनास नदी के किनारे बसा पहुँना एक सुन्दर क्षेत्र है। एक मकान को लेकर बोहरा परिवार मे समाज के बीच विवाद खडा हो गया। विवाद पहुँना तक ही नही रहा, १०० क्षेत्रो तक व्याप्त हो गया। सम्बन्ध-विच्छेद की स्थिति चल रही थी। इस स्थिति को तीन वर्ष हो गये थे। बडा घुटनपूर्ण वातावरण था। गुरुदेव श्री का चातुर्मास उठते ही उधर ध्यान गया और उभय-पक्ष के आग्रह से गुरुदेव पहुँना पधारे। लगभग २० दिन ठहरकर प्रस्तुत विवाद की कई उलझनो को सुलझाने मे अपना अमूल्य सान्निध्य प्रदान किया। फलत सारा विवाद न्यायोचित तरीके से सुलझाकर एकता स्थापित हो गई।

जासमा मे भी कई वर्षों का विवाद था। इसी तरह गिलूड मे भी तड थी। आकोला मे भी भेद चल रहा था। गुरुदेव श्री के पुण्य प्रताप और इनका पवित्र सान्निध्य पाकर सारे विवाद मिटकर सर्वत्र प्रेम की गगा बहने लगी। यह चातुर्मास सनवाड हुआ।

विरोध का सामना विनोद से

लगभग विगत एक सदी से साम्प्रदायिकता के विष ने स्थानकवासी जैन समाज को बडी कठिन स्थिति मे डाल रखा है। दुःख की बात तो यह है कि ज्यों-ज्यो साम्प्रदायिकता का विरोध होता जा रहा है, त्यों-त्यो यह विकराल रूप लिए बढ़ती जा रही है।

साम्प्रदायिकता का परिचायक मूल लक्षण यह है कि अपने मान्य साधुओ के दोषो को ढँकना तथा जो अपने लिये अमान्य साधु हैं उनमे यदि कोई दोष हैं तो उसकी घोषणाएँ करते फिरना और यदि उनमे कोई दोष नही हों तो उन पर दोषारोपण कर उन्हें जलील करने की साजिश करना।

सम्प्रदाय के पक्ष मे यह बात स्वीकार करते हैं कि इनका अस्तित्व पिछली कई सदियों से था, किन्तु साथ ही यह भी मानना होगा कि ऐसा रागद्वेष उन विगत कई सदियो मे हर्गिज नहीं था। प्राय सभी तरफ के साधु विभिन्न साम्प्रदायिक क्षेत्रो में विचरा भी करते थे और वर्षावास भी किया करते थे, किन्तु अपना पक्ष बनाने की तुच्छ लालसा प्राय उनमे नही थी। साम्प्रदायिक सौहार्द का एक सुन्दर वातावरण व्याप्त था तब, किन्तु अब वैसी स्थिति नही रही।

प्राय देखने मे आता है कि परम्परागत किसी अन्य क्षेत्र मे चातुर्मास का अवसर मिलते ही प्राय स्वाग्रही साधु अपनी ऊँचाई तथा अन्य की बुराई करने में लग जाते हैं। गहराई तक श्रम करने के कारण प्राय कुछ तत्त्व साथ हो ही जाया करते हैं। फलत क्षेत्र की शान्ति भग हो जाती है।

एक ही क्षेत्र मे कई पक्ष खडे होकर टकराने लगते हैं। सम्प्रदायो के साथ साधुओ का बँटवारा कर लिया जाता है। फूटफजीती का साम्राज्य छा जाया करता है तीव्र साम्प्रदायिकता की इस बीमारी से कई क्षेत्र कराह रहे हैं, किन्तु कोई उपचार करना नही चाहता।
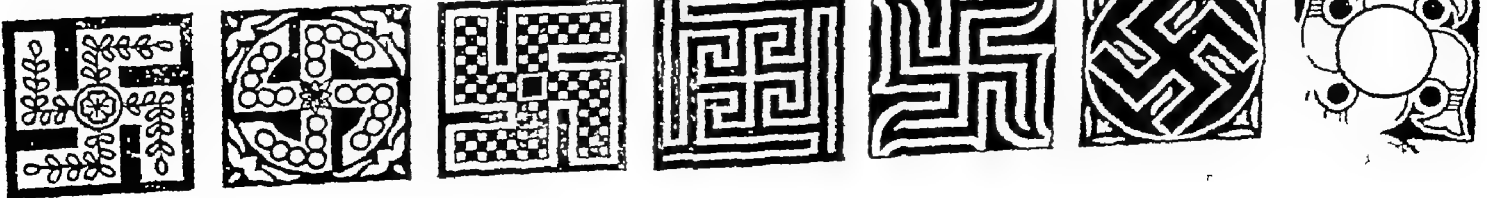
सनवाड मेवाड सम्प्रदाय का एक पुरातन मान्य क्षेत्र रहा तथा आज भी है। किन्तु मेवाड के समस्त क्षेत्रो के समान भारत भर के सन्त सती समाज मे से जो भी इधर आते रहे, मेवाड की आम जनता के समान सनवाड भी सर्वदा स्वागत करता रहा। लाभ उठाता रहा।

विगत कुछ वर्षों से सनवाड के शुद्ध वातावरण म साम्प्रदायिकता की एक जहरीली हवा प्रवेश पाने लगी। फलत वातावरण इतना शुद्ध नही रहा, जैसा चाहिए। विगत कुछ वर्षों मे कुछ ऐसे उदाहरण भी सामने आने लगे, जो सनवाड और मेवाड की गरिमा के अनुकूल नही थे। गडबड बढती जा रही थी, ऐसा लगा तो गुरुदेव श्री ने चातुर्मास कर स्थिति सुधारना उचित समझा।

चन्द विरोधी तत्त्व, चातुर्मास प्रारम्भ नहीं हुआ उसके पहले से सक्रिय हो उठे। आरोपो का वाक्-जाल फैलाने लगे और यह क्रम चातुर्मास मे बहुत दूर तक चला भी। किन्तु गुरुदेव की शान्तिप्रियता, समाज के कमठ कार्य-कर्त्ताओ की सजगता से वे एक-एक कर अपने सारे कार्यक्रमो मे असफल होते गये।

सनवाड बडा गरिमामय क्षेत्र है। इसकी शानदार परम्परा रही है। धर्मसाधना और सेवा मे इसका अपना एक अलग कीर्तिमान है। कुछ शरारती तत्त्वो के उपरान्त क्षेत्र का जन-सामान्य धर्मप्रिय, गुणानुरागी तथा सहनशील और शान्तिवादी है। सघ मे कई ऐसे कर्मठ और उत्साही कार्यकर्ता हैं, जो ओछेपन से कोसो दूर हैं।

प्रस्तुत चातुर्मास मे पैंसठ अठाइयो की रिकार्ड साधना तो हुई ही, पच्चीस सौ व्यक्तियो को मदिरा-मास छुडाने की महान योजना को मूतरूप ही नही मिला, इसे काफी प्रगति भी मिली। बलिदान-विरोधी बिल की पूर्व भूमिका के रूप में यहाँ कार्य हुआ।

महावीर स्वाध्याय केन्द्र का बीजारोपण हुआ। प्रवचनो मे सवधर्मानुयायी केवल सनवाड के ही नही, फतह-नगर तक के भी विशाल सख्या मे लाभ उठाते थे। विहार के समय हजारो नागरिको ने जब आर्द्र हृदय से गुरुदेव श्री को विदाई दी तब वह दृश्य अवर्णनीय बन गया।

प्रस्तुत चातुर्मास मे गुरुदेव श्री के उपदेशो का जैन समाज पर ही क्या, अजैन वर्ग पर भी बडा सुन्दर प्रभाव रहा। यहाँ बडी सख्या मे खटीक समाज रहता है। प्राय वे व्याख्यान श्रवण का लाभ उठाया करते थे। दानवीर सेठ श्री ऊकारलालजी सेठिया के शुभ प्रयत्नो के फलस्वरूप समस्त खटीक समाज के पचो ने स्थानक मे एकत्रित होकर वर्ष भर मे चौरासी दिन जीवहिंसा के त्याग किये। इस महान उपकार के उपलक्ष मे श्रीमान् सेठिया जी की तरफ से खटीको के श्मशान मे चद्दरें लगाई गईं तथा वहाँ निम्न लेख अकित कर दिया गया—

> **"समस्त खटीक समाज द्वारा वर्ष के ८४ दिनों (ग्यारस, चतुर्दशी, अमावस्या, पूर्णिमा, राम-नवमी, महावीर जयन्ति, जन्माष्टमी, निर्जला ग्यारस, पर्यूषण) मे जीव हिंसा बन्द करने के उपलक्ष में शा० भेरूलाल ऊँकारलाल सेठिया द्वारा श्मशान निर्माण।**
> **सवत् २०३१, श्रावण वदी १।**

उदयपुर चातुर्मास

सनवाड के यशस्वी चातुर्मास के बाद, आसपास के कई क्षेत्रो में गुरुदेव श्री का प्रभावशाली विचरण हुआ, कई उपकार भी सम्पन्न हुए। धासा मे प्रान्तीय युवको की समाज सुधार के विषय मे एक बैठक हुई जिसमे समाज सुधार सम्बन्धी उत्तम विचारणा हुई।

सारे प्रान्त मे एक नया वातावरण बनाने मे यह बैठक बडी सफल रही।

इस वर्ष होली चातुर्मास उदयपुर रहा। राजस्थान बलिबन्दी बिल इस अवसर पर विधानसभा मे पेश होने वाला था, उसमे कुछ अडचनें खडी हो रही थी। कार्यकर्ता यहाँ सेवा मे पहुँचे, गुरुदेव श्री ने अपने विशिष्ट सन्देश द्वारा अडचनें समाप्त करवा दी, फलत बलिबन्दी बिल निर्विवाद रूप से विधानसभा मे सफल हो गया। होलीचौमासी के अवसर पर ही उदयपुर सघ ने अपने चातुर्मास के हेतु तीव्र आग्रह प्रस्तुत कर दिया, देलवाडा सघ उससे पहले ही चातुर्मास
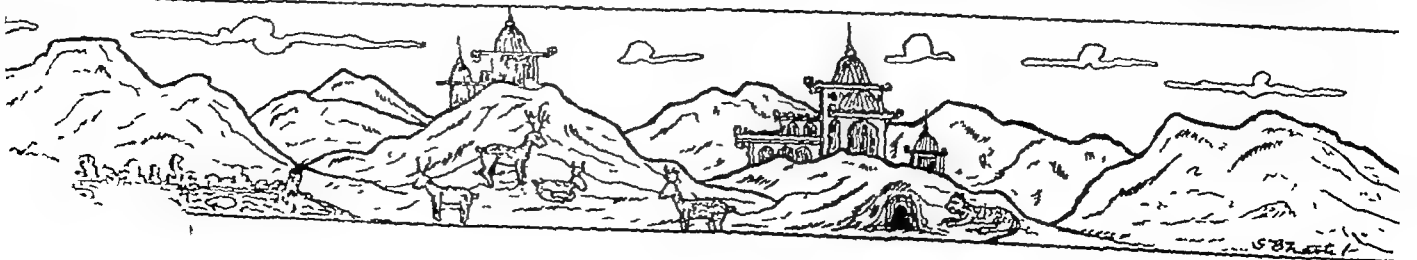
की विनती लेकर आ पहुँचा था, अन्ततोगत्वा आयड में उदयपुर सघ की विनती स्वीकार हुई। उदयपुर सघ इस सफलता से नये उल्लास से भर गया। गुरुदेव श्री ने आसपास के क्षेत्रो मे अपना विचरण प्रारम्भ रखा।

डूगला मे जैन शिक्षण शिविर का समायोजन हो रहा था। जनता की हार्दिक इच्छा को महत्त्व देकर गुरुदेव श्री डूँगला पधारे। यहा आये हुए बच्चो और अध्यापको को अपनी मगल वाणी द्वारा प्रबोध दिया।

गुरुदेव श्री के सान्निध्य में यह शिविर कई विशेषताओ के साथ सम्पन्न हुआ।

यथासमय गुरुदेव श्री अपने शिष्यो सहित उदयपुर नगर में चातुर्मासार्थ प्रविष्ट हुए। उदयपुर की धर्मप्रिय जनता ने बडे उत्साहपूर्वक भावभीना स्वागत किया।

उदयपुर का यह चातुर्मास कई दृष्टियो से बडा महत्त्वपूण रहा।

पर्यू षण मे कत्लखाने बन्द रहे।

नवरात्रि के अवसर पर होने वाले बलिदान बन्द रहे। राजस्थान सरकार द्वारा पारित प्रस्ताव की कार्यान्विति का कार्य स्थानीय कायकर्ताओ ने बडी मुस्तैदी के साथ किया। इतना ही नही, दूरवर्त्ती कई गाँवो मे कार्यकर्ताओ ने पहुँच कर बलिबन्दी के काय को मूर्त्त स्वरूप देने का भगीरथ प्रयत्न किया।

सावत्सरिक महापर्व पर पच्चीस सौ पौषध की अभूतपूव साधना सम्पन्न हुई। पूरे चातुर्मास भर मे कई तरह से सुन्दर तपाराधना चलती रही।

यह चातुर्मास जनसम्पर्क तथा धर्मप्रचार की दृष्टि से बडा प्रशसनीय रहा।

गुरुदेव श्री को विदाई दी, उस अवसर पर दश सहस्र से अधिक जैन जैनेतर जनता का समूह उपस्थित था। उदयपुर के लिये इतना बडा चल समारोह ऐसा कहा जाता है कि 'अभूतपूर्व' था।

●●

जो आग को न बुझा सके वह नीर क्या ?
जो लक्ष्य को न भेद सके वह तीर क्या ?
जो क्षुधा को तृप्त न कर सके वह क्षीर क्या ?
जो स्वय को न जीत सके वह वीर क्या ?

—'अम्बागुरु-सुवचन'
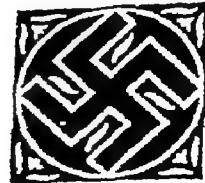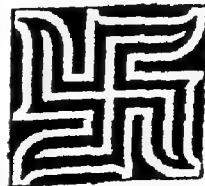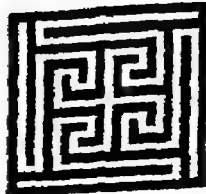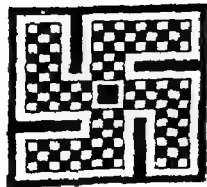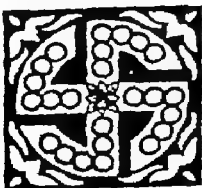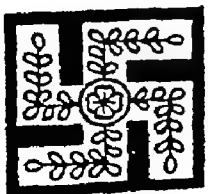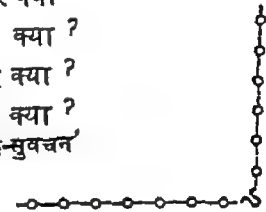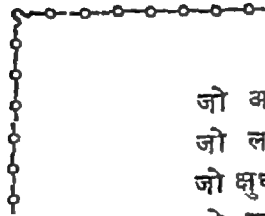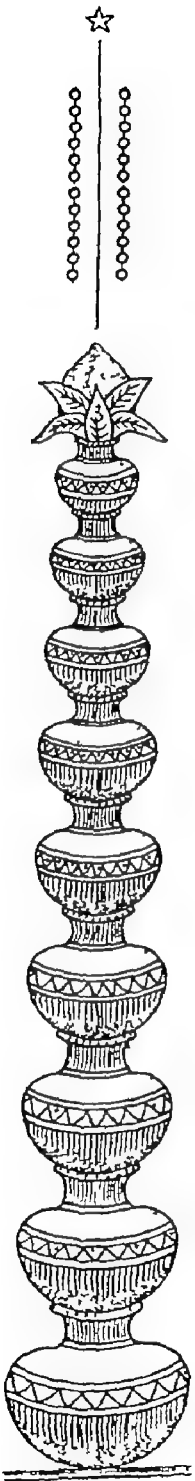
□ मदन मोहन जैन 'पवि' कानोड
[राजस्थान के प्रसिद्ध ज्योतिर्विद]

नक्षत्रों की भाषा में

□

मेवाड़संघ शिरोमणि पू० श्री अम्बालाल जी
महाराज का फलित चक्रम्
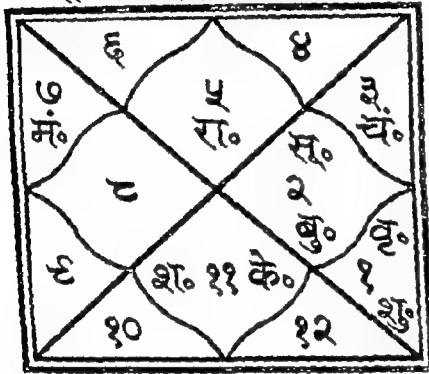
जन्म—सवत् १६६२ ज्येष्ठ शुक्ला तृतीया
पुनर्वसुनक्षत्र राशि मिथुन,
स्वामी बुध

परिचय

जन्म राजस्थान मे उदयपुर जिला, ग्राम थामला मे हुआ। माता प्यारबाई, पिता श्री किशोरजी सोनी, औसवाल कुल मे बड़े साजन मान्यता प्राप्त के यहाँ अवतीर्ण हुये। १३ वर्ष की अवस्था मे प्रेत लगने से एक भ्राता की मृत्यु। पिता व भ्राता की एक ही दिन मृत्यु हुई। पिता ने पुत्रवियोग मे प्राण दे दिये। एक भ्राता वर्तमान में मौजूद हैं। मारमलजी महाराज की प्रेरणा से ससार-मुक्ति की भावना जागृत हुई। शिक्षा मावली मे हुई। ६ वर्ष की उम्र तक थामला ही रहे। कान मे मोती व मोतियो की माला पहनने का शौक था। बाल्यकाल मे पितृ-निधन हो गया। नौकरी की। मोहरिर, गिरदावर भी रहे।

दीक्षा की भावना बलवती देखकर मेवाड़ महाराणा स्व० फतहसिंह जी के पास परिवार वाले पहुँचे। दीक्षा भावना मे विघ्न पहुँचाने का भरसक प्रयत्न किया। दरबार ने एक माह तक जेल मे रखा। जैनियो से वार्ता पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। मुँहपत्ति सिपाही ने फाड़ दी। पक्का निश्चय पाकर महाराणा ने छोड़ दिया।

सवत् १६८२ मृगसिर, शुक्ला अष्टमी को मेवाड़ पूज्य स्व० श्री मोतीलाल जी महाराज के पास दीक्षा ग्रहण की। दीक्षास्थल मगलवाड़, जिला चित्तौड़ रहा।

फलित

सिंह लग्न मे आपका जन्म हुआ है। इसी शुभ लग्न मे जैनाचार्य श्री तुलसी, गुरु नानक, जनरल मानेकशाह का भी जन्म हुआ है। इस लग्न वाले क्रान्तिकारी, शान्तिकारी रहे हैं।

केन्द्र मे बुध राज्यस्थ होने से सर्वारिष्ट योग भग हुआ है। बुध केन्द्रवर्ती श्री स्व० शास्त्री जी, पृथ्वीराज चौहान, सुभाषचन्द्र बोस, "पवि" सिक्ख धर्म सस्थापक गुरु नानक के था। तुला का मगल पराक्रम श्री आचार्य तुलसी के भी हैं। डा० दार्शनिक राधाकृष्णन, सिकन्दर, के भी विभिन्न राशियो में स्थित था। सप्तम मे शनि आपके कुम्भ राशि का है। युधिष्ठिर, हेनरी फोर्ड के भी सप्तमस्थ था। शुक्र भाग्य मे प० श्री उदय जैन, मानेकशाह, युधिष्ठिर, कैनेडी के हैं। सूर्य राज्य मे "ज्योतिष मिहिर" देवधर पाण्डेय, वी० जी० तिवारी के है। लाभ मे मिथुन का चन्द्र
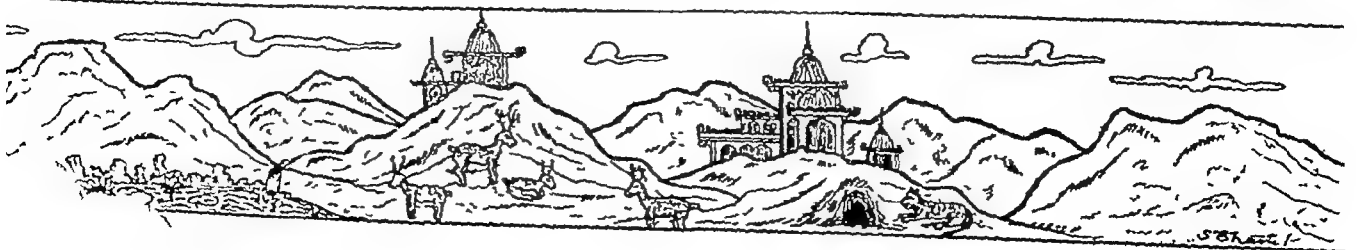
जनरल मानेकशाह के भी है। आपके शिष्यों में सन्त श्री सौभाग्य मुनि "कुमुद", महेन्द्र मुनि "कमल", मगन मुनि, सती प्रेमकुंवर जी लेखक, कवि व सुव्याख्याता रत्न है। २० के करीब शिष्य-शिष्याएँ हैं।

दीक्षा विघ्न योग

एक चारण साधु ने भिक्षा वृत्ति के समय इनके लिए भविष्य वाणी की, कि "यह साधु महात्मा बनेगा।" मेष का बृहस्पति व शुक्र भाग्य भवनस्थ होने से श्वेताम्बर जैन साधु बनने का योग बना है। मंगल की पूर्ण दृष्टि भाग्य-भवन पर होने से दीक्षा में विघ्न आया व नेतृत्व का योग (मेवाड़ पूज्य होने का) बना। यही शत्रुपक्ष को रोकता है।

शिष्यों से भाग्योदय योग

चन्द्र लाभस्थ होकर शिष्य भवन को पूर्ण दृष्टि से देख रहा है। चन्द्र स्त्री ग्रह होने से शिष्याएँ अधिक हैं। शिष्येश बृहस्पति भाग्य भवन में जाने से, पुरुष शिष्यों से ज्यादा भाग्योदय रहेगा। जीवन में भाग्योदय २५ से २८ तक श्रेष्ठ रहा।

धर्म-नेतृत्व योग

मेवाड़ पूज्य हैं। मंत्री प्रवतक भी रहे। मंगल की राज्य भवन पर पूर्ण दृष्टि व राज्यस्थ सूर्य, बुध से यह योग बना। "केन्द्रे सूर्ये नेतृत्व कर्त्ता" बुध के साथ सूर्य की संगति में "धर्म नेतृत्व" योग बना। भाग्य भवन पर मंगल की पूर्ण दृष्टि होने से विपरीत धर्म में सदैव अनास्था रही है।

जेलयात्रा योग

भाग्य में शुभ ग्रह स्थित है। भाग्य को शनि, मंगल पूर्ण दृष्टि से देख रहे हैं। अतः धर्म कार्य में बढ़ने से रोकने हेतु सादी कैद तत्कालीन सामन्तों ने दी।

प्रसन्नवदन योग

षष्ठेश शनि सप्तमस्थ होकर स्वगृही हुआ है। शत्रु भवन पर मंगल की पूर्ण दृष्टि होने से उपरोक्त योग बना है।

प्रबल मस्तिष्क योग

सिंह लग्न पर राहु स्थित है। अतः "धर्म-क्रान्ति" करने का योग बना है। लग्नेश सूर्य राज्यस्थ होने से दिव्य ललाट व प्रबल मस्तिष्क योग बना है।

शास्त्रवेत्ता योग

बृहस्पति विद्याधिपति है। भाग्य में शुक्र राज्येश होकर गया है। इसने उपरोक्त योग बनाया है। शुक्र भाग्य में जाने से धर्मनीतिज्ञ, व्याख्याता बनता है। शुक्र भाग्य में जाने से लाखों लोगों के सामने व्याख्यान देने की क्षमता, दक्षता होती है।

आप अभयदानी हैं। आप आत्मानन्द, विवेकानन्द, नित्यानन्द, दयानन्द, सत्यानन्द स्वरूप हैं। हृदय व्यापक महान है। करुणार्द्र हैं, कलापूर्ण, सोदाहरण व्याख्या करने की पूर्ण क्षमता है। त्यागी, अद्भुत साहसी, लक्ष्य सिद्धार्थ अटूट श्रद्धावान्, कर्तव्याधिकार सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तपयुक्त हैं।

आकाश के समान विशाल, सागरवत् गम्भीर, चन्द्र से भी निर्मल, करुणा निधान, मानव-जीवन नौका खेवैया, सरस्वती के अपूर्व भण्डार, मुक्तिपथ गामी, जिज्ञासु, कृतज्ञ, दूरदर्शी, निरहंकारी हैं। नीतिज्ञ, शास्त्रपारगत, ज्ञान व कर्म समन्वय सोने में सुगन्धवत्, शास्त्रवाचन रस की पिचकारियाँ हैं। उससे श्रोतागण रससिक्त हो जाते हैं। आँखों के तारे, श्रमणवृन्द के सितारे, मनीषीवर की शिष्य वृद्धि होती जायगी। सितारा चमकता हुआ, ७७ या ७८ वर्ष अवस्था में दिवंगतकारी होगा। वय ७१ व ७२वाँ जीवन का सर्वश्रेष्ठ वर्ष होगा। तीर्थस्थल में संथारा ग्रहण करके इहलोक को छोड़ देंगे। लम्बे व्याधिग्रस्त नहीं रहेंगे। जीवन व जगत में जय श्री पाते हुए, मुक्तात्मा, महात्मा रहेंगे।

□ श्री सौभाग्य मुनि 'कुमुद'
[कवि, लेखक एवं राजस्थान के प्रभावशाली विद्वान संत]

जीवन की अन्तर्यात्रा

[पूज्य श्री अम्बालाल जी महाराज के जीवन की विरल विशेषताएँ]

□

इसमे कोई सन्देह नही कि सामान्य जन-जीवन की एक सम भूमिका से ऊपर उठकर दमकने वाले जीवन के अन्तकाल मे कुछ ऐसी अन्यतम विशेषताएँ अवश्य होती हैं जिनका सहज ही अन्यत्र पाया जाना कठिन है।

पूज्य गुरुदेव श्री के दमकते जीवन के अन्तर मे क्या-क्या विशेषताएँ हैं। उन्हें सर्वतोभावेन समझ पाना तो आसान है नही, किन्तु हाँ, यदि उस तरफ अति निकटता से लगातार गहराई तक देखते जायें तो वे विशेषताएँ किसी स्वच्छ जल से भरे गहरे पात्र के तले पड़ी मणियो की तरह दमकती हुई अवश्य दिखाई दे सकती हैं।

मैं पिछले छत्तीस वर्षों से गुरुदेव श्री के निकट हूँ और गहराई तक इन्हें देखता भी रहा हूँ। इतने दीर्घ-कालीन अन्तर्दर्शन से मुझे इनमे जो कुछ मिला उसमे "मधुरम्" ही अधिक है।

चाहता हूँ, मुझे जो कुछ मिला वह सब पाठको के सामने खोलकर रख दू, किन्तु यह मुझसे सभव नही होगा। क्योकि जो कुछ पाया वह अति विशाल है।

यहाँ कुछेक अन्तर्तत्त्व सामने लाने का प्रयास है, पाठक इन्ही कुछ विशेषताओ से समग्र जीवन के अन्तर्दर्शन को समझने का यत्न करें।

शास्त्र-परक

गुरुदेव श्री को सयमरत्न पाने मे बडी कठिनाइयों का सामना करना पडा। अनेको परीषह सहे तब कहीं मुनि बन पाये, फलस्वरूप मुनि बन जाने पर भी रत्न को जैसे सहेज कर रखा जाता है, गुरुदेव सयम को भी ऐसे ही सहेज कर रखने लगे।

शास्त्र ज्ञान ही सयम का सबल है। इस तत्त्व को चरितार्थ करते हुए, गुरुदेव केवल शास्त्र (आगम) पढ़ने लगे और अब तक भी केवल यही करते हैं। शास्त्रो से भिन्न अन्य पुस्तकें कभी-कभी सयम को चोट भी पहुँचा जाती हैं अत उनका सयमी जीवन के लिए कोई उपयोग नही, कुछ ऐसी ही धारणा के आधार पर अन्य ग्रन्थो मे लगभग असपृक्त रहे। यही कारण है कि आज भी गुरुदेव श्री का शास्त्र-ज्ञानाभ्यास बहुत ऊँचा व गहरा है। इनके प्रवचन मे भी शास्त्रीय आख्यान की ही प्रमुखता रहती है।

बातचीत, चर्चा, अन्य सारे व्यवहारो मे शास्त्रीयता का इतना गहरा असर परिलक्षित होता है, मानो महाराज श्री शास्त्र परक ही हो गये।

शास्त्रीयता का आधार केवल व्यवहार ही नहीं है, बौद्धिक स्तर पर भी शास्त्र का बड़ा असर है। गुरुदेव श्री का शास्त्रज्ञान बड़ा गम्भीर एव विस्तृत है। किसी भी समस्या का शास्त्रों के आधार से समाधान करना इनका दैनिक उपक्रम है, यही कारण है कि वर्ष भर में हजारो प्रश्नो का यत्र-तत्र समाधान करते रहते हैं।

जनरल मानेकशाह के भी है। आपके शिष्यों में सन्त श्री सौभाग्य मुनि "कुमुद", महेन्द्र मुनि "कमल", मगन मुनि, सती प्रेमकुवर जी लेखक, कवि व सुव्याख्याता रत्न हैं। २० के करीब शिष्य-शिष्याएँ हैं।

दीक्षा विघ्न योग

एक चारण साधु ने भिक्षा वृत्ति के समय इनके लिए भविष्य वाणी की, कि "यह साधु महात्मा बनेगा।" मेष का वृहस्पति व शुक्र भाग्य भवनस्थ होने से श्वेताम्बर जैन साधु बनने का योग बना है। मगल की पूर्ण दृष्टि भाग्य-भवन पर होने से दीक्षा मे विघ्न आया व नेतृत्व का योग (मेवाड पूज्य होने का) बना। यही शत्रुपक्ष को रोकता है।

शिष्यो से भाग्योदय योग

चन्द्र लाभस्थ होकर शिष्य भवन को पूर्ण दृष्टि से देख रहा है। चन्द्र स्त्री ग्रह होने से शिष्याएँ अधिक हैं। शिष्येश वृहस्पति भाग्य भवन मे जाने से, पुरुष शिष्यो से ज्यादा भाग्योदय रहेगा। जीवन मे भाग्योदय २५ से २८ तक श्रेष्ठ रहा।

धर्म-नेतृत्व योग

मेवाड पूज्य हैं। मत्री प्रवतक भी रहे। मगल की राज्य भवन पर पूर्ण दृष्टि व राज्यस्थ सूर्य, बुध से यह योग बना। "केन्द्रे सूर्ये नेतृत्व कर्ता" बुध के साथ सूय की सगति मे "धम नेतृत्व" योग बना। भाग्य भवन पर मगल की पूर्ण दृष्टि होने से विपरीत धम मे सदैव अनास्था रही है।

जेलयात्रा योग

भाग्य मे शुभ ग्रह स्थित है। भाग्य को शनि, मगल पूर्ण दृष्टि से देख रहे हैं। अत धर्म कार्य में बढने से रोकने हेतु सादी कैद तत्कालीन सामन्तो ने दी।

प्रसन्नवदन योग

षष्ठेश शनि सप्तमस्थ होकर स्वगृही हुआ है। शत्रु भवन पर मगल की पूण दृष्टि होने से उपरोक्त योग बना है।

प्रवल मस्तिष्क योग

सिंह लग्न पर राहु स्थित है। अत "धर्म-क्रान्ति" करने का योग बना है। लग्नेश सूर्य राज्यस्थ होने से दिव्य ललाट व प्रवल मस्तिष्क योग बना है।

शास्त्रवेत्ता योग

वृहस्पति विद्याधिपति है। भाग्य मे शुक्र राज्येश होकर गया है। इसने उपरोक्त योग बनाया है। शुक्र भाग्य मे जाने से धर्मनीतिज्ञ, व्याख्याता बनता है। शुक्र भाग्य मे जाने से लाखो लोगों के सामने व्याख्यान देने की क्षमता, दक्षता होती है।

आप अभयदानी हैं। आप आत्मानन्द, विवेकानन्द, नित्यानन्द, दयानन्द, सत्यानन्द स्वरूप हैं। हृदय व्यापक महान है। करुणार्द्र हैं, कलापूर्ण, सोदाहरण व्याख्या करने की पूर्ण क्षमता है। त्यागी, अद्‌भुत साहसी, लक्ष्य सिद्धार्थ अटूट श्रद्धावान्, कर्तव्याधिकार सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तपयुक्त हैं।

आकाश के समान विशाल, सागरवत् गम्भीर, चन्द्र से भी निर्मल, करुणा निधान, मानव-जीवन नौका खेवैया, सरस्वती के अपूर्व भण्डार, मुक्तिपथ गामी, जिज्ञासु, कृतज्ञ, दूरदर्शी, निरहकारी हैं। नीतिज्ञ, शास्त्रपारगत, ज्ञान व कर्म समन्वय सोने मे सुगन्धवत्, शास्त्रवाचन रस की पिचकारियाँ हैं। उससे श्रोतागण रससिक्त हो जाते हैं। आँखो के तारे, श्रमणवृन्द के सितारे, मनीषीवर की शिष्य वृद्धि होती जायगी। सितारा चमकता हुआ, ७७ या ७८ वय अवस्था मे दिग्गजकारी होगा। वर्ष ७१ व ७२वाँ जीवन का सर्वश्रेष्ठ वर्ष होगा। तीर्थस्थल मे सथारा ग्रहण करके इहलोक को छोड देंगे। लम्बे व्याधिग्रस्त नहीं रहेंगे। जीवन व जगत मे जय श्री पाते हुए, मुक्तात्मा, महात्मा रहेंगे। ●●

□ श्री सौभाग्य मुनि 'कुमुद'
[कवि, लेखक एवं राजस्थान के प्रभावशाली विद्वान संत]

जीवन की अन्तर्यात्रा

[पूज्य श्री अम्बालाल जी महाराज के जीवन की विरल विशेषताएँ]

□

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सामान्य जन-जीवन की एक सम भूमिका से ऊपर उठकर दमकने वाले जीवन के अन्तकाल में कुछ ऐसी अन्यतम विशेषताएँ अवश्य होती हैं जिनका सहज ही अन्यत्र पाया जाना कठिन है।

पूज्य गुरुदेव श्री के दमकते जीवन के अन्तर में क्या-क्या विशेषताएँ हैं। उन्हें सर्वतोभावेन समझ पाना तो आसान है नहीं, किन्तु हाँ, यदि उस तरफ अति निकटता से लगातार गहराई तक देखते जायें तो वे विशेषताएँ किसी स्वच्छ जल से भरे गहरे पात्र के तले पड़ी मणियों की तरह दमकती हुई अवश्य दिखाई दे सकती हैं।

मैं पिछले छब्बीस वर्षों से गुरुदेव श्री के निकट हूँ और गहराई तक इन्हें देखता भी रहा हूँ। इतने दीर्घकालीन अन्तर्दर्शन से मुझे इनमें जो कुछ मिला उसमें "मधुरम्" ही अधिक है।

चाहता हूँ, मुझे जो कुछ मिला वह सब पाठकों के सामने खोलकर रख दूँ, किन्तु यह मुझसे संभव नहीं होगा। क्योंकि जो कुछ पाया वह अति विशाल है।

यहाँ कुछेक अन्तर्तत्त्व सामने लाने का प्रयास है, पाठक इन्हीं कुछ विशेषताओं से समग्र जीवन के अन्तर्दर्शन को समझने का यत्न करें।

शास्त्र-परक

गुरुदेव श्री को संयमरत्न पाने में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अनेकों परीषह सहे तब कहीं मुनि बन पाये, फलस्वरूप मुनि बन जाने पर भी रत्न को जैसे सहेज कर रखा जाता है, गुरुदेव संयम को भी ऐसे ही सहेज कर रखने लगे।

शास्त्र ज्ञान ही संयम का संबल है। इस तत्त्व को चरितार्थ करते हुए, गुरुदेव केवल शास्त्र (आगम) पढ़ने लगे और अब तक भी केवल यही करते हैं। शास्त्रों से भिन्न अन्य पुस्तकें कभी-कभी संयम को चोट भी पहुँचा जाती हैं अतः उनका संयमी जीवन के लिए कोई उपयोग नहीं, कुछ ऐसी ही धारणा के आधार पर अन्य ग्रन्थों में लगभग असपृक्त रहे। यही कारण है कि आज भी गुरुदेव श्री का शास्त्र-ज्ञानाभ्यास बहुत ऊँचा व गहरा है। इनके प्रवचन में भी शास्त्रीय आख्यान की ही प्रमुखता रहती है।

बातचीत, चर्चा, अन्य सारे व्यवहारों में शास्त्रीयता का इतना गहरा असर परिलक्षित होता है, मानो महाराज श्री शास्त्र परक ही हो गये।

शास्त्रीयता का आधार केवल व्यवहार ही नहीं है, बौद्धिक स्तर पर भी शास्त्र का बड़ा असर है। गुरुदेव श्री का शास्त्रज्ञान बड़ा गम्भीर एवं विस्तृत है। किसी भी समस्या का शास्त्रों के आधार से समाधान करना इनका दैनिक उपक्रम है, यही कारण है कि वर्ष भर में हजारों प्रश्नों का यत्र-तत्र समाधान करते रहते हैं।

सेवा-परायणता

गुरुदेव श्री सर्वाधिक किसी बात के लिए चर्चित एव प्रशसित हुये हैं तो वह है "सेवा"।

सेवा इनके अन्तर का स्वीकृत धर्म है, इनकी श्रेष्ठता का मर्म है।

समस्त मेवाड इस बात का साक्षी है कि स्वर्गीय पूज्यश्री मोतीलाल जी महाराज की गुरुदेवश्री ने सर्वोत्कृष्ट सेवाएँ की। अभी कुछ वर्षों पूर्व तक गोचरी स्वय लाकर सभी मुनिराजो की सेवा करते थे। प्रत्येक मुनिराज की छोटी-बडी सभी तरह की आवश्यकताओ का ध्यान प्रवर्तकश्री बराबर रखते हैं और कल्पानुसार सेवा करने मे सदा आगे रहे। यही कारण है कि हमारे मुनिराज महासतियो मे अम्बा के स्थान पर अम्मा (माता) कहकर सेवा के सर्वोच्च पद मातृत्व से इन्हे अभिषिक्त करते है।

अप्रमत्त

गौतम को भगवान महावीर ने कहा था 'समय मात्र का प्रमाद मत करो'। भगवान के इस उपदेश को इस युग मे मूर्तस्वरूप देखना है तो गुरुदेव के पास चले आइये।

प्रात बहुत जल्दी लगभग रात्रि के अन्तिम प्रहर के प्रारम्भ मे उठकर ध्यान, स्मरण मे मग्न हो जायेंगे।

दैनिक चर्या मे प्रवचन, धर्मचर्चा, स्वाध्याय प्रमुख हैं।

दिन बारह घण्टे का हो या चौदह का, गुरुदेव श्री दिन मे शयन नही करेंगे।

कई बार दीर्घ विहार का प्रसग भी आया, युवक सत भी थककर विश्राम करने लगे, उस स्थिति मे गुरुदेव श्री को आग्रह भी किया कि थोडी देर लेट लें किन्तु नही। एक क्षण भी नही।

वही रात्रि के द्वितीय प्रहर के प्रारम्भ के आस-पास शयन करते हैं। इससे पूर्व, सारा समय स्वाध्याय स्मरण और धर्मचर्चा या उपदेश मे ही जाता है।

तीन-चार घण्टा एक आसन पर बैठ कर, चर्चा ध्यान और स्वाध्याय करते हुए तो इन्हें कोई भी लगभग प्रतिदिन देख सकता है।

सवत्सरी आदि विशेष अवसर पर इन्हें आठ-आठ घण्टा एक आसन पर दृढ़ता से बैठे आज भी हजारो व्यक्ति देखते हैं।

ऐसे सुदृढ आसन के पीछे अप्रमत्तत्व का स्फूर्त आदर्श रहा हुआ है जो भगवान महावीर के द्वारा गौतम को प्रदान किया गया।

अकृत्रिम व्यवहार

प्रवर्त्तक श्री नितान्त सहज हैं। आप कही भी, कभी भी और कैसे भी मिलें ये बिलकुल अकृत्रिम मिलेंगे।

वही हँसता मुस्कुराता चेहरा, वही सीधी सादी बातचीत, वही सामान्य बैठना चलना आदि।

सम्प्रदाय के अगुआ, श्रमण सघ के मन्त्री और प्रवर्तक जैसे पदो पर काम करते हुए भी ऐसा कभी अनुभव नही किया करते कि मैं पूज्य पद पर हूँ तो मुझे वैसे ठाठ से रहना चाहिए।

हमने देखा कई बार बच्चो से धार्मिक वार्तालाप और विनोद करते हुये उन्हें सामने बिठाकर स्वय भी नीचे ही बैठ जायेंगे और उन्हें प्रबोध देते रहेगे।

आसन पट्ट आदि कोई मुनिराज लाकर लगा दे, वह अलग बात, किन्तु स्वय कभी उसकी अपेक्षा नही करेंगे।

गरीब-अमीर, बालक, बुड्ढे सभी के साथ एक समान सहज व्यवहार। आचाराग की उस उक्ति को चरितार्थ करता है जिसमें कहा गया है कि—

"जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ।

स्वय मे नूतन सृजन

अपने आप मे नव सृजन, अर्थात् विचार-चिंतन तथा जीवन प्रक्रिया के क्षेत्र मे स्वय को ऊर्ध्वोदय की तरफ

ढालते रहना जीवन की एक महानतम विशेषता है जो बहुत कम व्यक्तियो मे पाई जाती है। प्रवर्तक श्री उन्ही चन्द व्यक्तियो मे से एक है।

विगत पचास वर्ष की सयम पर्याय पर दृष्टिपात करने पर यह तथ्य सहज ही उजागर हो जाता है कि प्रवर्तक श्री ने अपने आपको "समय के अनुरूप बहुत मोड़ा।"

केवल दो दशक पहले की ऐसी अनेको घटनाएँ हैं जिनका अध्ययन करने से स्पष्ट ज्ञान हो जाता है कि प्रवर्तक श्री जैनधर्म की ही विभिन्न सम्प्रदाय जैसे तेरापन्थी, मूर्तिपूजक आदि के प्रति कतई उदार नही थे।

सरदारगढ़, मोतीपुर, वोराणा, खेरोदा, धूलिया, देलवाड़ा, कुँवारिया आदि स्थानो पर विभिन्न सम्प्रदायो के साधुओ से बडी चर्चाएँ की। चर्चाओ के लिए छपे हुए खुले चेलेन्ज पत्र भी मैंने छपे हुये देखे। मेवाड मे यत्र-तत्र साम्प्रदायिक विवाद होते ही रहते और प्रवर्तक श्री स्थानकवासी सघ को जबर्दस्त सैद्धान्तिक सम्बल प्रदान करते।

अब जबकि समय ने पलटा खाया। देश मे चतुर्दिक पारस्परिक सामञ्जस्य का वातावरण चला।
स्थानकवासी समाज मे सघ ऐक्य का बिगुल बजा और श्रमण सघ का गठन हुआ।
विभिन्न सम्प्रदायो मे भावात्मक ऐक्य को स्वीकार किया जाने लगा।

पारस्परिक कटुता को मिटाने का चतुर्दिक प्रयास होने लगा। एक-दूसरे के निकट आने लगे और सभी को मिलकर रहने में ही भलाई नजर आने लगी, ऐसी स्थिति मे प्रवर्तक श्री ने भी युग के आह्वान को समझा।

पारस्परिक कटुता जो बडी दूर से चली आ रही थी, वह भीषण थी, उसे मिटाना आसान नही था किन्तु प्रवतक श्री ने सर्वप्रथम अपने विचारो को नई दिशा दी। उन्होने विद्वेष को कम करने और मिटाने को आगे कदम बढाया।

यत्र-तत्र विभिन्न सम्प्रदाय के साधु-साध्वियो से मिलना, सह-प्रवचन करना, साप्रदायिक विवाद कही खडा हो जाये तो उसे मेल-जोल पूवक मिटाना आदि प्रवृत्तियो से, मेवाड मे साप्रदायिक विद्वेष को नष्टप्राय कर दिया।

आज प्रवर्तक श्री मेवाड मे, प्रेम की गगा बहा रहे हैं। साप्रदायिक सौहार्द का आज जो वातावरण मेवाड मे व्याप्त है, उसका बहुत कुछ श्रेय पूज्य गुरुदेव श्री को है।

दो दशक पहले के साम्प्रदायिक चर्चाओ के अग्रदूत महाराज श्री को आज स्नेह और सामञ्जस्य की बात करते देखता हूँ तो मन कह उठता है कि यही तो किसी विशिष्ट व्यक्तित्व का आन्तरिक सौन्दर्य है जो सामयिक आवश्यकता के अनुसार ढलता है।

●●

जैसे कीचड जल से पैदा होता है और जल से ही साफ होता है।
वैसे ही जो पाप दिल से पैदा होता है वह दिल से ही साफ होता है।

—'अम्बागुरु-सुवचन'

□ सकलन—
सौभाग्य मुनि 'कुमुद'

गुरुदेव श्री के सुवचन

□

सद्धा परम दुल्लहा

इधर-उधर मत भटको, भगवान वीतराग के तत्त्वज्ञान पर विश्वास करो। किसी को ऊपर चढ़ना है तो उसे निसैनी या सीढ़ियों का सहारा चाहिए। इसी तरह यदि जीवन को ऊँचा उठाना है तो श्रद्धा की निसैनी लगाओ। निसैनी फैंक कर ऊपर चढ़ने की कल्पना मूर्खता है, ऐसे ही श्रद्धा के बिना कुछ भी करना व्यर्थ-सा है। विश्वास से ही आत्मबल पैदा होता है। नवतत्त्व, षड्द्रव्य, देवगुरु धर्म पर विवेकपूर्वक दृढ़ विश्वास रखो बेड़ा पार हो जाएगा।

अप्पाचेव दमेयव्वो

जो अपनी आत्मा को वश में कर लेता है, उसके लिए विश्व में कहीं उलझन नहीं है। एक रोटी का टुकड़ा कई श्वानों के मध्य पड़ा है, वे सभी आपस में खींचतान कर रहे हैं। इस मारा-मारी में कई श्वान लहू-लुहान हो रहे हैं। यह पशुता है, ऐसी पशुता आज मानव में चल रही है। विश्व का वैभव तो कम है किन्तु इन्सान की तृष्णा है ज्यादा, ऐसी स्थिति में छीना-झपटी चल रही है। अगर अपने आपको सुरक्षित और शान्त रखना हो तो अपनी तृष्णा को रोक लो। आत्मा का दमन कर लो।

दयामय बनो

चइत्ता भारहं वासं चक्कवट्टी महिड्ढिओ।
सन्ति सन्तिकरे लोए, पत्तो गइमणुत्तरं॥

सोलहवें तीर्थंकर भगवान शान्तिनाथ का स्मरण करने के साथ यह भी सोचिये कि उन्होंने अपने जीवन में शान्ति-स्वरूप कैसे पाया।

अपने पूर्वभव में भगवान शान्तिनाथ जब मेघरथ थे, उन्होंने एक भयातुर कबूतर को बचाने को अपना तन तक न्यौछावर कर दिया। जो, भयातुर अन्य प्राणी पर दया कर उसे शान्ति प्रदान करता है वही शान्तिस्वरूप बन सकता है।

सफलता की कसौटी

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जंति राइओ॥

समय तो व्यतीत होता ही है, दिन आता है चला जाता है, रात आती है चली जाती है। इस तरह उम्र का रथ मृत्यु के निकट पहुँच रहा है।

कुछ सोच लीजिये, समय सार्थक हो रहा है या निरर्थक ?

अधर्म के आवर्त्त, तुम्हें पाप में रत कर सकते हैं किन्तु वह समय व्यर्थ, कर्मबंधक हो जाएगा। धर्म के निकट आओ, वीतराग के तत्त्व ज्ञान का अमृत पी लें, समय व जीवन सब कुछ सार्थक हो जायेगा। धर्मयुक्त जीवन ही सफलता की कसौटी है।

धन के प्रति निस्पृहा

धन्ना-शालिभद्र के पास इतनी विशाल रिद्धि थी, कि सम्राट श्रेणिक भी उस वैभव को देखकर चकित रह गया, किन्तु उनको उस धन का कोई अभिमान नहीं था। वे धन को धूल और कचरे के बराबर समझते थे। शालीभद्र को इतना-सा ज्ञात हुआ कि उसके भी ऊपर 'नाथ' है। बस, इस बात से उन्हें वैराग्य का तत्त्व मिल गया। धन्ना जी को सुभद्रा ने कुछ जाग्रत किया कि वे भी त्याग मार्ग

पर बढ गये। दोनो ने धन के ढेर को साँप जैसे काँचली उतारता है, इस तरह उतार कर फैंक दिया।

आज के गृहस्थो के पास धन तो थोडा किन्तु घमण्ड ज्यादा। धन तो रज जितना है किन्तु अह मेरु जितना है, इसलिए उनसे त्याग भी मुश्किल से होता है।

सच्चे महावीर

भगवान महावीर का सारा महत्त्व उनकी वीतरागता से है। धन वैभव, सत्ता से उनको देखना हो नहीं चाहिए, ये तो उनके पास जो थोडे से थे उनको भी उन्होंने परित्याग कर दिया। अथक कष्ट सहिष्णुता और समभाव से ही वे सच्चे महावीर बने।

स्वस्थता के लिए स्वाद-सयम

पहला सुख "निरोगी काया"। रोगी शरीर से धम की साधना होना कठिन है। अत शरीर निरोग रहे इसका ध्यान रखना चाहिए। स्वाद को जीते बिना शरीर निरोग नहीं रहता। कम खाना और स्वाद को जीतना अपने को स्वस्थ रखने का सच्चा माग है।

स्वस्थ रहने के लिए जीवन को सयम मे रखना चाहिए। इन्द्रियो पर विजय करने पर ही स्वास्थ्य अच्छा रह सकता है।

वचन-बदल न बनो

सोच-समझकर कोई वचन देना चाहिए, जो वचन दिया जाये उसका ईमानदारीपूवक पालन करना चाहिए। वचन देकर बदलना धोखा देना है।

वांह बदल नारी बदल, वचन बदल बे धूर।
वचन देकर बदले उसके मुख पर, धोबा धोबा धूर॥

अभयदान

दाणाण सेट्ठ अभयप्पयाण

एक अपराधी को मृत्यु दण्ड मिला।

राजा की तीन रानियाँ थी, उनमे से एक ने, एक दिन शूली टाल कर, करुणा का परिचय दिया। दूसरी रानी ने, एक दिन शूली और रुकवा कर उसे भोजन भी दिया और सुन्दर वस्त्राभूषण भी पहनाये।

तीसरी रानी ने, उस अपराधी की सवदा के लिए मृत्यु दण्ड से बचाकर उसे निर्भय कर दिया।

उपकार तीनो का है, किन्तु तीसरी रानी की तुलना मे दोनो रानियो का उपकार थोडा है।

दो दिन वह बचा, किन्तु मृत्यु का भय तो था ही। तीसरी रानी ने 'अभय' देकर निश्चिन्त कर दिया। वास्तव मे "अभय" प्रदान करने के बराबर कोई दान नही।

लाभ से लोभ

भोगोपभोग की तृष्णा की बडी विचित्र स्थिति है। नही मिलते हैं तब तक थोडा भी पाने के लिए प्राणी छट-पटाते हैं किन्तु ज्योही कुछ मिलने लगते है कि उनकी आगे से आगे असीम तृष्णा बढती जाती है। भगवान ने ठीक ही कहा है—

जहा लाहो तहा लोहो।
लाहा लोहो पवड्ढई॥

पाथेय लेकर चलो!

जो मुसाफिर अपने साथ भोजन लेकर चलता है, उसे चिन्ता नही, रहती किन्तु जो खाली ही रवाना होता है उसे मार्ग मे कष्ट उठाना पडता है। इस सामान्य सिद्धान्त से अपने भविष्य पर स्वय विचार कर लो। साथ मे कुछ लेकर चल रहे हो या खाली ही रवाना हो रहे हो।

सवर निर्जरा रूप खाद्य साथ मे लेकर चलोगे तो, पछताना नही पडेगा।

कदाग्रह नहीं, सत्याग्रह

तीन व्यक्ति कमाने को चले, उन्हें लोहे की खान मिली और उन्होंने लोहे का भार उठा लिया। माग मे चाँदी (रजत) की खान मिली, उन तीन मे से दो ने लोहे को फेंक कर रजत का भार उठा लिया। तीसरा लोहे को ही ढोता रहा। आगे उन्हें सोने की खान मिली, लोहे वाला तो लोहा ही ढोता रहा, रजत ढोने वालो मे एक ने रजत फेंक कर स्वर्ण उठा लिया। एक रजत ही ढोता रहा, एक लोहा ही।

स्पष्ट है तीनो मे से स्वण लाने वाला ही श्रेष्ठ रहा, रजत और लोहे वाला क्रमश नुकसान मे रहे। आपको नुकसान मे नही रहना है। पुरानी गलत बातो को इसलिए मत उठाए रखो कि वे पुरानी हैं। कोई उससे अच्छी बात मिल जाये तो, पुरानी बात का त्याग कर अच्छी बात को ले लेना चाहिए। मिथ्यात्व को छोडने से ही तो सम्यक्त्व

स्वरूप रत्न की प्राप्ति हो सकती है। सम्यक्त्वी कभी कदाग्रह नहीं करता, वह सत्याग्रही अथवा सत्य-ग्राही होता है।

ज्ञान नहीं तो दया कैसे ?

ज्ञान न जाणे जीव की धर्म फणां सू होय।

लोग अहिंसा की बात करते हैं। किन्तु क्या बातों से अहिंसा का पालन हो सकता है, जीव दया के बिना अहिंसा कैसे होगी ? जीवों की उत्पत्ति के स्थान कौन-कौन से हैं ? किन-किन कारणों से जीव वध होता है इन बातों को अच्छी तरह नहीं समझें वहाँ तक अहिंसा का पालन कैसे हो सकता है ? पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय। ये जीवों के छह विभाग हैं इन्हें ठीक-ठीक समझना चाहिए और अनावश्यक हिंसा से बचकर मर्यादित जीवन बिताया जाये। तभी अहिंसा की कुछ साधना हो सकती है।

मानसिक हिंसा से भी बचो

मन, वचन और काया इन तीनों योगों से हिंसा होती है। केवल कायिक हिंसा से ही नहीं, मानसिक और वाचिक हिंसा से भी बचना चाहिए। मन से अनिष्टकारी सोचना तथा अनिष्टकारी वाणी का प्रयोग करना हिंसा है।

बड़ा कैसे बनें ?

बड़ा, दाल का बनता है, दाल गल कर, पिसकर, पानी में मिलाकर तेल में तला जाये तब कहीं बड़ा होता है।

मानव को भी बड़ा बनने के पहले क्षमाशील, गुणवान और सहिष्णु बनना चाहिए।

बकरा और घोड़ा

बकरा मैं-मैं करता है, वह तलवार के नीचे कटता है। घोड़ा हे-हे करता है, वह सम्मानित होता है।

मानव भी मैं-मैं करता है, वह घमण्डी है। गुणवान तो घोड़े की तरह कहते हैं मैं कुछ नहीं, मुझ से बढ़कर और कई व्यक्ति हैं।

चाह से ही आह

अपनी इच्छाओं को सीमित रखना चाहिए। अत्यधिक लालसाओं से मानव दुःखी हो जाता है। चाह से आह पैदा होती है। जीवन में कम से कम जरूरतें रहे, इस तरफ पूरा ध्यान देना चाहिए।

याद रखो, एक बार जरूरतों को बढ़ा देने पर फिर कम करना बड़ा कठिन होगा। जरूरतें बढ़ाने से लालसाएँ बढ़ती रहती हैं। लालसाएँ ही संसार का मूल कारण हैं। एक साधक ने कहा है—

चाह चूड़ी चाह चमारी, चाह नीचन में नीच।
जीव सदा ही ब्रह्म है, एक चाहन न होवे बीच॥

धीरा सो गम्भीरा

गम्भीरता, मानव-जीवन को महान् बनाने वाला गुण है। जैसे प्रतिदिन खाये जाने वाले भोजन को हम पचाते हैं इस तरह जीवन में कई बातें ऐसी भी होती हैं जिन्हें पचाना चाहिये। यह जरूरी नहीं कि हर बात का बदला लिया ही जाये या वह कही ही जाये। कई बार चञ्चलता में कही गई बात या किये गये कार्य पर फिर पश्चात्ताप करना पड़ता है। चञ्चलता से अन्ट-सन्ट बक देना अधूरापन है एक राजस्थानी कवि ने कहा है—

"भरिया सो छलके नहीं, जो छलके सो अद्ध।"

क्रोध, शैतान है

क्रोध पर संयम रखो। क्रोध मानव को शैतान बना देता है। जितने कुकृत्य संसार में हुये वे अधिकांश क्रोध के कारण ही हुये हैं। क्रोधी के जीवन में सर्प से भी भयंकर विष काम करता है। भगवान महावीर ने क्रोध को प्रीति का विनाशक और जीवन का शत्रु बताया। उन्होंने तो सर्प के डसने पर भी क्रोध नहीं किया। क्रोध से कोई बुराई मिटती नहीं, न क्रोध से कोई सुधार ही होता है।

अच्छी बात भी क्रोधपूर्वक नहीं कहना चाहिए। क्रोध में कही गई अच्छी बात भी बुरी हो जाती है।

संभालो और बनाओ !

धन्ना सेठ ने अपनी चार बहुओं को, पाँच दाने देकर उनकी परीक्षा की। एक बहु ने फैंक दिये, एक खा गई, एक ने सम्भाल कर रखे और एक ने उन्हें बहुत बढ़ाये। जिसने बढ़ाये और सम्भालकर रखे वे दोनों प्रशंसित हुईं किन्तु जिसने फैंक दिये या खा गई वे निन्दनीय रहीं।

साधु साध्वियों को भी पाँच महाव्रत मिले हैं उन्हें सम्भाल कर रखना है। उन्हें नष्ट करने पर दो बहुओं के समान वे भी निन्दनीय हैं। जो व्रत नियमशील का विस्तार करता है वह सर्वत्र सम्मानित होता है।

बहुय मा य आलवे

वहुत मत बोलो। बहुत बोलने से अनेको कलह खडे हो जाते हैं। कई वार वहुत अधिक बोलने वाला अकथनीय भी कह जाता है जिसका परिणाम भयकर निकलता है। अधिक बोलने से आयु का क्षय भी जल्दी होता है। थोडा बोलो और वह भी सोचकर।

शोक को रोक

शोक मत करो, शोक करना आर्तध्यान है, आर्तध्यान पाप है। जो हुआ, हो रहा है या होगा, वह सर्वज्ञो के द्वारा सब देखा हुआ है। कम-ज्यादा नही होता। अपनी भावना को शोक की आग मे मत जलाओ। कहा है—

जीव रे तूं, ध्यान आरत किम ध्यावे।
जो जो भगवत भाव देखिया, सो सो ही वरतावे।
घटे वधे नहीं रच मात्र काहे को मन डुलावे॥

गुरु का उपकार

ज्ञान का प्रकाश देने वाले गुरु होते हैं। गुरु का उपकार अनन्त है। माता-पिता तो केवल जन्मदाता हैं, वे तन की रक्षा करते हैं किन्तु जीवन को, सार्थकता प्रदान करते वाले तो गुरु ही है। अनन्त माता-पिता भी आत्मा का जन्म-मरण नही मिटा सकते किन्तु एक सत्य-गुरु का दिया तत्त्वज्ञान अनन्त भव भ्रमण को समाप्त कर देता है।

विनय लाभ का सौदा

विनयवान को सभी चाहते हैं। अत विनयवान बनो। उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है कि अविनयी, सडे कान की कुतिया की तरह सभी जगह दुत्कारा जाता है।

विनयवान, गुणियो से तो लाभ उठाता ही है, अभिमानी और वेपरवाह लोगो से भी लाभ उठा लेता है।

पाखण्ड कौन करता है ?

पाखण्ड तो मुलम्मा है। पीतल पर चढा सोने का मुलम्मा कुछ ही दिन चमकता है अन्त मे तो पीतल को ही सामने आना पडता है। जिनमे असलियत की कमी होती है वे ही व्यक्ति पाखण्ड करते हैं। सच्चे को दिखावट की कोई जरूरत नही।

दो बीमारी

सिनेमा देखना और गन्दा साहित्य पढना इन दो खराबियो से आज हिन्दुस्तान की युवा पीढी डूब रही है। भावी पीढी को इन दो बुराइयो से बचाना हो तो इन दोनो के व्यापार को विलकुल बन्द कर देना चाहिए।

सम्यक्त्व शुद्ध रखो !

सम्यक्त्व रत्न को सभाल कर रखो कुदेव, कुगुरु, कुधर्म से अपने को बचाओ। उपवास मे टटा लग जाये तो उपवास भग हो जाये, पौषध मे टटा लगे तो पौषध भग हो जाये किन्तु सम्यक्त्व से भ्रष्ट हो जाये तो अनन्त जन्म-मरण बढ जाये। अत सुगुरु सुदेव और सुधर्म की उपासना करो।

सग-वर्जन

जो सम्यक्त्व से भ्रष्ट है, उसका सग दूर से त्याग दो। दर्शन-भ्रष्ट का सग छोडो !

लाख और साख

"जाज्यो लाख पर रीज्यो साख" इस राजस्थानी कहावत के अनुसार भले ही हानि सहन कर लो, किन्तु अपनी पैठ (साख) मत जाने दो।

हृदय मधुर रखो

कभी किसी जगह कडक बोलने से कोई अच्छा कार्य हो सकता हो तो उसका प्रयोग सज्जन व्यक्ति करते हैं किन्तु उनका हृदय कडक नही होता।

त्यक्त की कामना मत करो

जिसका त्याग कर दिया, उस तरफ फिर कभी लालसा मत करो। रहनेमी को राजुल सती ने क्या कहा वह याद करो।

राजुल ने कहा—

धीरत्थु तेऽजसो कामी जो त जीवियकारणा।
वत इच्छसि आवेउ, सेय ते मरण भवे॥

कठिनाई तो आयेगी

जीवन मे कठिनाइयाँ तो आती ही हैं, जो अपने लक्ष्य पर दृढ रहता है उसी की बलिहारी है।

जम्बू को उसकी आठों नारियो ने विचलित करने का बडा प्रयास किया किन्तु वे वैराग्य में अविचल रह गये तो स्वय भी तिर गये और अनेको को तार दिया।
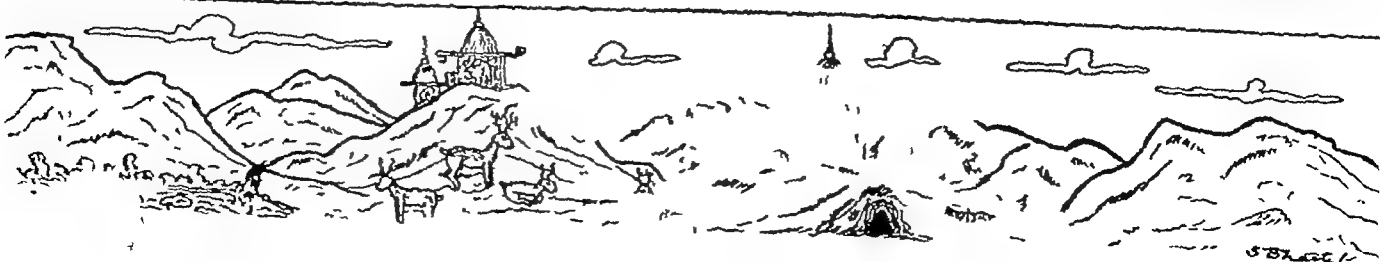
स्वरूप रत्न की प्राप्ति हो सकती है। सम्यक्त्वी कभी कदाग्रह नही करता, वह सत्याग्रही अथवा सत्य-ग्राही होता है।

ज्ञान नहीं तो दया कैसे ?

जात न जाणे जीव की धर्म कणा सू होय।

लोग अहिंसा की बात करते हैं। किन्तु क्या बातो से अहिंसा का पालन हो सकता है, जीव दया के बिना अहिंसा कैसे होगी ? जीवो की उत्पत्ति के स्थान कौन-कौन से हैं ? किन-किन कारणो से जीव वध होता है इन बातो को अच्छी तरह नही समझे वहाँ तक अहिंसा का पालन कैसे हो सकता है ? पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पति काय, त्रसकाय। ये जीवो के छह विभाग ह इन्हे ठीक ठीक समझना चाहिए और अनावश्यक हिंसा से बचकर मर्यादित जीवन बिताया जाये! तभी अहिंसा की शुद्ध साधना हो सकती है।

मानसिक हिंसा से भी बचो

मन, वचन और काया इन तीनों योगो से हिंसा होती है। केवल कायिक हिंसा से ही नही, मानसिक और वाचिक हिंसा से भी बचना चाहिए। मन से अनिष्टकारी सोचना तथा अनिष्टकारी वाणी का प्रयोग करना हिंसा है।

बडा कैसे बनें ?

बडा, दाल का बनता है, दाल गल कर, पिसकर, पानी मे मिलाकर तेल मे तला जाये तब कही बडा होता है।

मानव को भी बडा बनने के पहले क्षमाशील, गुणवान और सहिष्णु बनना चाहिए।

बकरा और घोडा

बकरा मैं-मैं करता है, वह तलवार के नीचे कटता है। घोडा है-है करता है, वह सम्मानित होता है।

मानव भी मैं-मैं करता है, वह घमण्डी है। गुणवान तो घोडे की तरह कहते हैं मैं कुछ नही, मुझ से बढकर और कई व्यक्ति हैं।

चाह से ही आह

अपनी इच्छाओ को सीमित रखना चाहिए। अत्यधिक लालसाओं से मानव दुःखी हो जाता है। चाह से आह पैदा होती है। जीवन में कम से कम जरूरतें रहें, इस तरफ पूरा ध्यान देना चाहिए।

याद रखो, एक बार जरूरतो को बढा देने पर फिर कम करना बडा कठिन होगा। जरूरतें बढाने से लालसाएँ बढती रहती ह। लालसाएँ ही ससार का मूल कारण हैं। एक साधक ने कहा है—

चाह चूडी चाह चमारी, चाह नीचन मे नीच।
जीव सदा ही ब्रह्म है, एक चाहन न होवे बीच॥

धीरा सो गम्भीरा

गम्भीरता, मानव-जीवन को महान् बनाने वाला गुण है। जैसे प्रतिदिन खाये जाने वाले भोजन को हम पचाते हैं इस तरह जीवन मे कई बातें ऐसी भी होती हैं जिन्हें पचाना चाहिये। यह जरूरी नही कि हर बात का बदला लिया ही जाये या वह कही ही जाये। कई बार चञ्चलता मे कही गई बात या किये गये कार्य पर फिर पश्चात्ताप करना पडता है। चञ्चलता मे अन्ट-सन्ट बक देना अधूरापन है एक राजस्थानी कवि ने कहा है—

"भरिया सो झलके नहीं, जो झलके सो अद्दा।"

क्रोध, शैतान है

क्रोध पर सयम रखो। क्रोध मानव को शैतान बना देता है। जितने कुकृत्य ससार मे हुये वे अधिकाश क्रोध के कारण ही हुये हैं। क्रोधी के जीवन मे सर्प से भी भयकर विष काम करता है। भगवान महावीर ने क्रोध को प्रीति का विनाशक और जीवन का शत्रु बताया। उन्होंने तो सर्प के डसने पर भी क्रोध नहीं किया। क्रोध से कोई बुराई मिटती नही, न क्रोध से कोई सुधार ही होता है।

अच्छी बात भी क्रोधपूर्वक नही कहना चाहिए। क्रोध मे कही गई अच्छी बात भी बुरी हो जाती है।

सभालो और बनाओ !

धन्ना सेठ ने अपनी चार बहुओ को, पाँच दाने देकर उनकी परीक्षा की। एक बहु ने फैंक दिये, एक खा गई, एक ने सम्भाल कर रखे और एक ने उन्हें बहुत बढ़ाये। जिसने बढ़ाये और सम्भालकर रखे वे दोनो प्रशसित हुइ किन्तु जिसने फैंक दिये या खा गई वे निन्दनीय रही।

साधु साध्वियो को भी पाँच महाव्रत मिले हैं उन्हें सम्भाल कर रखना है। उन्हें नष्ट करने पर दो बहुओ के समान वे भी निन्दनीय हैं। जो व्रत नियमशील का विस्तार करता है वह सर्वत्र सम्मानित होता है।

बहुय मा य आलवे

बहुत मत बोलो। बहुत बोलने से अनेको कलह खड़े हो जाते हैं। कई बार बहुत अधिक बोलने वाला अकथनीय भी कह जाता है जिसका परिणाम भयकर निकलता है। अधिक बोलने से आयु का क्षय भी जल्दी होता है। थोड़ा बोलो और वह भी सोचकर।

शोक को रोक

शोक मत करो, शोक करना आर्तध्यान है, आर्तध्यान पाप है। जो हुआ, हो रहा है या होगा, वह सर्वज्ञों के द्वारा सब देखा हुआ है। कम-ज्यादा नहीं होता। अपनी भावना को शोक की आग मे मत जलाओ। कहा है—

जीव रे तूं, ध्यान आरत किम ध्यावे।
जो जो भगवत भाव देखिया, सो सो ही वरतावे।
घटे वधे नहीं रच मात्र काहे को मन डुलावे॥

गुरु का उपकार

ज्ञान का प्रकाश देने वाले गुरु होते हैं। गुरु का उपकार अनन्त है। माता-पिता तो केवल जन्मदाता हैं, वे तन की रक्षा करते हैं किन्तु जीवन को, सार्थकता प्रदान करने वाले तो गुरु ही है। अनन्त माता-पिता भी आत्मा का जन्म-मरण नहीं मिटा सकते किन्तु एक सत्य-गुरु का दिया तत्वज्ञान अनन्त भव भ्रमण को समाप्त कर देता है।

विनय लाभ का सौदा

विनयवान को सभी चाहते हैं। अत विनयवान बनो। उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है कि अविनयी, सड़े कान की कुतिया की तरह सभी जगह दुत्कारा जाता है।

विनयवान, गुणियो से तो लाभ उठाता ही है, अभिमानी और बेपरवाह लोगों से भी लाभ उठा लेता है।

पाखण्ड कौन करता है?

पाखण्ड तो मुलम्मा है। पीतल पर चढा सोने का मुलम्मा कुछ ही दिन चमकता है अन्त मे तो पीतल को ही सामने आना पड़ता है। जिनमे असलियत की कमी होती है वे ही व्यक्ति पाखण्ड करते हैं। सच्चे को दिखावट की कोई जरूरत नहीं।

दो बीमारी

सिनेमा देखना और गन्दा साहित्य पढ़ना इन दो खराबियों से आज हिन्दुस्तान की युवा पीढ़ी डूब रही है। भावी पीढ़ी को इन दो बुराइयो से बचाना हो तो इन दोनो के व्यापार को बिलकुल बन्द कर देना चाहिए।

सम्यक्त्व शुद्ध रखो!

सम्यक्त्व रत्न को सभाल कर रखो कुदेव, कुगुरु, कुधर्म से अपने को बचाओ। उपवास मे टटा लग जाये तो उपवास भग हो जाये, पौषध मे टटा लगे तो पौषध भग हो जाये किन्तु सम्यक्त्व से भ्रष्ट हो जाये तो अनन्त जन्म-मरण बढ़ जाये। अत सुगुरु सुदेव और सुधर्म की उपासना करो।

सग-वजन

जो सम्यक्त्व से भ्रष्ट है, उसका सग दूर से त्याग दो। दर्शन-भ्रष्ट का सग छोड़ो।

लाख और साख

"जाज्यो लाख पर रीज्यो साख" इस राजस्थानी कहावत के अनुसार भले ही हानि सहन कर लो, किन्तु अपनी पैठ (साख) मत जाने दो।

हृदय मधुर रखो

कभी किसी जगह कडक बोलने से कोई अच्छा काय हो सकता हो तो उसका प्रयोग सज्जन व्यक्ति करते हैं किन्तु उनका हृदय कडक नही होता।

त्यक्त की कामना मत करो

जिसका त्याग कर दिया, उस तरफ फिर कभी लालसा मत करो। रहनेमी को राजुल सती ने क्या कहा वह याद करो।

राजुल ने कहा—

धीरत्थु तेऽजसो कामी जो त जीवियकारणा।
वत इच्छसि आवेउ, सेय ते मरण भवे॥

कठिनाई तो आयेगी

जीवन मे कठिनाइयाँ तो आती ही हैं, जो अपने लक्ष्य पर दृढ रहता है उसी की बलिहारी है।

जम्बू को उसकी आठो नारियो ने विचलित करने का बडा प्रयास किया किन्तु वे वैराग्य मे अविचल रह गये तो स्वय भी तिर गये और अनेको को तार दिया।

दहेज का दैत्य

समाज को दहेज का दैत्य खा रहा है। जरूरत है ऐसे सामाजिक वीरों की जो अपने पुत्रों की शादी के अवसर पर प्राप्त दहेज को त्याग कर केवल कन्या लेकर अपने घर आ जाये।

अपूर्व उदाहरण

धर्मरुचि अणगार को धन्य हो, जो अपने संयम की रक्षा के लिए जहर भी पी गये। ऐसा उदाहरण जिस परम्परा में मौजूद हो उस परम्परा के साधक धर्मभ्रष्ट हो जायें तो यह बड़े दुःख की बात है।

यह घोर अज्ञान

बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राटों ने, धनाढ्य व्यक्तियों ने जिस धन-वैभव रूप मेल को उतार कर फेंक दिया, आज के श्रावक लोग उस मेल को प्राप्त करने के लिए कुकृत्य करें तो यह घोर अज्ञानता है।

छोटों का सम्मान

जो अपने से छोटे हैं उनका भी सम्मान करना चाहिए। उनकी सुख-सुविधा का अपने से ज्यादा ध्यान रखना चाहिये। कार्य स्वयं करें किन्तु यश छोटों को देना चाहिये।

विनय

भक्ति, भाव और विनय करने वाला सत्पुरुष स्वयं तिरता है और औरों को भी तिरा देता है। पंथक ने शिथिलाचारी गुरु को जाग्रत कर संयम मार्ग में स्थित कर दिया।

समय का सदुपयोग

रात और दिन का क्रम चल रहा है, इस क्रम में मास और वर्ष निकलते चले जाते हैं। बनने वाले इसमें बन जाया करते हैं और बिगड़ने वाले बिगड़ जाते हैं।

सावधानीपूर्वक समय का सदुपयोग करिये।

न्याय को स्वीकार करो

न्याय की बात करना आसान है किन्तु न्याय को स्वीकार करना कठिन है। परस्त्रीगामी दुराचारियों को दण्ड देने वाला रावण स्वयं जब सीता को चुरा कर अपराधी हो गया तो दण्ड की बात भूल गया।

श्रेष्ठ भावना

श्रेष्ठ भावना से अल्प क्रिया भी महान फलदायक हो जाती है। जीरण सेठ श्रेष्ठ भावना से तिर गया। चन्दनबाला ने उड़द के बाकुले वहराये, किन्तु श्रेष्ठ भावना से महान् लाभ उठा सकी।

श्रवण करो!

वीतराग वाणी का श्रवण करने का अवसर ढूंढना चाहिये। और जब अवसर मिले तो तन्मय होकर वाणी सुनना चाहिये क्योंकि श्रवण करने से ही ज्ञान विज्ञान प्राप्त होता है। शास्त्रों में कहा है—

"सवणे नाणे विन्नाणे"

असत्य मत कहो

रात को रात कहो, दिन को दिन। किसी भी लालच में पड़ कर रात को दिन मत कहो। धर्म को धर्म और अधर्म को अधर्म कहो। किसी भी दबाव में आकर अधर्म को धर्म मत कहो, कुगुरु को गुरु मत कहो।

पाप पर पश्चात्ताप

पूर्व में किये गये पापों को केवल पश्चात्ताप करने के लिए या उनका प्रायश्चित करने के लिए याद करो। लालच की दृष्टि से पहले के पापों को याद करोगे तो जिनरक्ष की तरह पतन प्राप्त करोगे।

शंका समाधान में संकोच क्यों?

शंका होने पर उसका निर्णय करना चाहिए। निर्णय करने से ही समाधान होता है। अपनी बात पूछने में किसी तरह का संकोच नहीं होना चाहिये। गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से हजारों प्रश्न पूछे तभी तो तत्त्वज्ञान स्पष्ट हुआ।

कसौटी करो

किसी दुराग्रह में तो नहीं पड़ना चाहिये किन्तु किसी भी बात को स्वीकार करने के पहले उसे वीतराग-विज्ञान की कसौटी पर कस लेना चाहिये। भगवान की आज्ञा के विरुद्ध कुछ भी स्वीकार नहीं करना चाहिये।

सभी स्थितियों में समान रहो!

सर्वदा एक समान स्थिति नहीं रहती है। एक कहावत है, "कभी घी घणा, कभी मुट्ठी चणा, कभी वे भी

मना" । अत दौलत के ढेर मे अधे होकर फूलो मत । हर स्थिति मे अपने आप को ढालने की कोशिश करो ।

मन के मते न चालिये

अच्छे-अच्छे ज्ञानियो का भी मन कभी-कभी अव्रत, प्रमाद कषाय और अशुभ योग मे चला जाता है । किन्तु व्यवहार मे वे अशुभ आचरण नही करते । इस तरह अशुभ मे गया मन भी फिर शुभ मे स्थिर हो जाता है । साधारण व्यक्तियो के लिए भी यह आदरणीय बात है । कभी मन में बुराई आ जाये तो अपने आचरण को बुरा मत होने दो । मन वापस मार्ग पर आ जायेगा । एक कवि ने कहा है—

मन लोभी मन लालची, मन कपटी मन चोर ।
मन के मते न चालिये, मन पलक पलक में और ॥

बोली बोल विचार कर

राजस्थानी मे एक कहावत है *"बोल्या ने लाधा"* वाणी से मानव का परिचय मिलता है इसलिए वचन सोच-समझ-कर बोलना चाहिये । कठोर, कर्कश, छेदन भेदनकारी मर्म-कारी, मृषा आदि कुभाषा नही बोलनी चाहिये ।

समता

बहुत पुस्तकें पढ़ लेने वाला और कई डिग्रियाँ ले लेने वाला विद्वान नही । सच्चा विद्वान तो वह है जिसने जीवन मे "समता" रखना सीख लिया है ।

तृष्णा रोकने का उपाय

महलों और हवेलियो मे रहने वालों को झोपडी में रहने वालों की तरफ देखना चाहिये । ऐसा करने से उनकी तृष्णा रुक सकती है ।

स्वय श्रम करो

"काम सुधारो तो ढीला पधारो" जो कार्य अपने हाथ से हो सकता है वह अपने हाथों से कर लेना चाहिये ।

अपनी महनत से किया हुआ कार्य ही सार्थक होता है । कई शिष्य या सेवक भी सामने हो तो भी जीवन को परा-श्रित नहीं ढालना चाहिये ।

मूर्खता

कम पढ पाना मूर्खता नही है, समझना नही या उल्टा समझना ही मूर्खता है ।

मोक्ष का मार्ग

देतो भावे भावना, लेतो धरे सन्तोष ।
वीर कहे रे गोयमा, दोनों जासी मोक्ष ॥

दानी की भावना, उत्कृष्ट होनी चाहिये किन्तु मुनिराज जो ले रहे हैं उन्हें दान के अवसर और अपनी जरूरत का ध्यान रखना चाहिये । लेते हुए आत्म-सन्तोष धारण करके ले तो देना और लेना दोनो सार्थक हो जाता है ।

दृष्टि सयम

बहनें यदि भूषण पहनकर भैंस को बाँटा (खाद्य) रक्खे तो भैंस बाँटा देखती है । बहन के आभूषण और सजावट को नही देखती । ऐसे ही मुनिराज घरो मे गोचरी जाये तो उनका ध्यान, आहार के कल्पाकल्प की तरफ रहना चाहिये, बहराने वाले की सजावट या घर की सजावट की तरफ देखने की आवश्यकता नहीं ।

धन, रक्षा नहीं करता

अनाथी मुनि जब गृहस्थ थे उनके पास बहुत वैभव था किन्तु वह वैभव उनकी रोगादि से रक्षा नही कर सका, ऐसे ही भाइयो ! तुम भी अनाथ हो, धन-वैभव, परिवार तुम्हारी रक्षा नही कर सकते हैं ।

सच्ची रक्षा तो धर्म से होती है ।

गुरुदेव के गुरुभ्राता, शिष्य-परिवार एक परिचय

☐

श्रद्धेय गुरुदेव श्री अम्बालाल जी महाराज के दिव्य जीवन का संक्षिप्त परिचय पाठक पिछले पृष्ठो पर पढ़ चुके है। उनके जीवन की अन्तर्यात्रा एव शिक्षा वचनो का स्वाध्याय करने के पश्चात् जीवन का आधार एव विचार पक्ष स्वत उजागर हो उठता है। व्यक्तित्व का शाब्दिक परिचय लम्बा न कर जीवत गुणो का निदर्शन एव उनके स्वत अनुभव से नि सृत वाणी का सचयन स्वय ही गुरुदेव के समग्र व्यक्तित्व को प्रकट कर देते हैं।

गुरुवर्य के जीवन-दर्शन के पश्चात् उनके गुरुभ्राता एव शिष्य परिवार आदि का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

प्रवतक श्री अम्बालाल जी महाराज के—एक गीत का पद्य है कि 'ज्योति से ज्योति जगाते रहो' इसके अनुसार ज्योति से ज्योति जगाते रहना यही तो है, किसी सद्पुरुष का प्रशस्तोपक्रम।

प्रत्येक व्यक्तित्व मे एक सम्प्रेषण तत्त्व होता है, वह यत्र-तत्र सप्रेषित होता रहता है।

पतनोन्मुख जीवन का सम्प्रेषण कलुषित होता है जबकि ऊर्ध्वमुखी जीवन का सप्रेषण ज्योतिमय।

पूज्य गुरुदेव श्री अपनी जीवनयात्रा मे केवल स्वय को बनाने मे ही नही लगे रहे, अपने साथ कई ऐसे विरल व्यक्तित्व भी इनसे तैयार हुए जो अपनी क्षमता के अनुसार गुरु-पथ पर अग्रसर हैं।

श्री शान्ति मुनि जी महाराज

'जेठाणा' मालवे मे कोई अच्छा-सा गाव है। श्री शान्ति मुनि जी का वही जन्मस्थल है। श्री जसराज जी, फूलाबाई, इनके माता-पिता थे। जन्म समय वि० स० १९७४ का कार्तिक मास है।

सोलह वर्ष की उम्र मे अपने पिता के साथ ऋषि सप्रदाय मे सयम ग्रहण किया किन्तु किन्ही कारणो से ऋषि सप्रदाय मे दोनो मुनिराजो का निभाव नही हो सका।

सवत् १९९१ मे दोनो मुनियो का पूज्य श्री मोतीलाल जी महाराज, पूज्य प्रवत्तक श्री आदि से दलोट मे परिचय हुआ।

दोनो मुनि, यद्यपि सयम पथ पर अग्रसर थे किन्तु सहकार के अभाव मे उनकी सयम नैया मझधार मे डगमगा रही थी। उन्हे तत्काल सबल सहयोग की आवश्यकता थी और वह आवश्यकता पूरी हुई, पूज्य गुरुदेव श्री द्वारा।

साप्रदायिक परपरा के अनुरूप सैलाना मे अक्षयतृतीया के दिन पुनरारोपण के साथ दोनों मुनियो को मेवाड मुनिसघ में सम्मिलित कर लिया गया।

गुरु का नाम तो मुनि श्री के पिता-मुनि श्री जसवन्त राय जी का ही धरा, किन्तु श्री शान्ति मुनि जी पूज्य श्री को ही गुरु-स्वरूप मानते रहे तथा वरते रहे।

पूज्य श्री के सानिध्य मे श्री शान्ति मुनि जी की जीवन-यात्रा के प्रमुख सहयोगी, पूज्य प्रवतक श्री भी थे।

श्री शान्ति मुनि जी के जीवन-निर्माण मे पूज्य श्री का तो प्रमुख हिस्सा था ही, प्रवर्तक श्री का कम असर नहीं था।

मधुर वक्ता

श्री शान्ति मुनि जी की सर्वाधिक प्रसिद्धि का कारण उनकी वक्तृत्व कला था। वाणी मे एक विशेष 'रस' था कि श्रोताजन झूम उठते।

मैंने देखा, दिन की अपेक्षा रात्रि मे मुनि श्री का प्रवचन बडे जोरों से खिलता।

उनके प्रवचनो मे हजारो की उपस्थिति मैंने स्वय देखी।

प्रवचन कथा प्रधान, गेयात्मकता लिये होता, किन्तु साथ ही एक लय चलती जो श्रोताओ को विभोर करती रहती।

सुकवि

श्री शान्ति मुनि जी 'कवि' हैं। उनकी सैकडो रचनाएँ हैं किन्तु प्रकाशित बहुत कम। अभी कुछ दिनो पूर्व श्री इन्द्र मुनि जी की प्रेरणा से "श्री शान्ति गीतामृत" नामक पुस्तिका प्रकाश मे आई है।

श्री शान्ति मुनि जी की रचनाएँ, वैराग्य भक्ति तथा वर्णन प्रधान हैं।

अभिव्यक्ति सीधी, सरल और असर कारक है। शब्द योजना सुन्दर और मधुर है।

वीर जन्मोत्सव पर लिखि गीतिका की कुछ पंक्तियाँ देखिये—

तीन लोक के नायक, सहायक,
हैं जग के सुख कन्द।
भवदधि से भविजन को तारण,
प्रकटे त्रिशलानन्द ॥
जय जयकार गगन मे करले,
सुर वर कोटिक वृन्द।
सिद्धारथ पुर खिल उठा है,
इन्द्रपुरी मानिन्द ॥
अज्ञान तिमिर को नाश करन,
प्रभु प्रकटे सूरजचन्द।
धर्म नैया के सच्चे खिवैया,
प्रकथत सन्त महन्त ॥

श्री शान्ति मुनि जी का कवित्व मृत नही, जीवन्त है। उसमे आशा का सम्बल और उत्साह की गर्जना है।

कस कमर अखण्ड भूमण्डल मे, यह जैन ध्वजा लहरा दूगा।
अज्ञानियो ने फैलाये हैं, वे सब पाखण्ड हटा दूगा ॥

अभिव्यक्ति की स्पष्टता देखिये—

यह काया मेघ की छाया, कटोरा काच का सुन्दर।
छेह पल मे दिखाएगा, तो इस पे व्यर्थ घुमराना।
जवानी होगी धूल धानी, उतर जाएगा यह पानी ॥

× × ×

हवेली रग से रेली, नीलम से है जडी कठी।
बगीचा रम्य भी सग मे, न आता आँख मिच जाना ॥

मुनि श्री का कवि 'जैन' है, जैनत्व के गौरव से ओतप्रोत—

एक स्वर से सब पुकारें, जैन जयति शासनम्।
यह शासन है पाप विनाशक, मोक्ष का दातार है।
श्रद्धा धर लीजे सहारा, जैन जयति शासनम् ॥
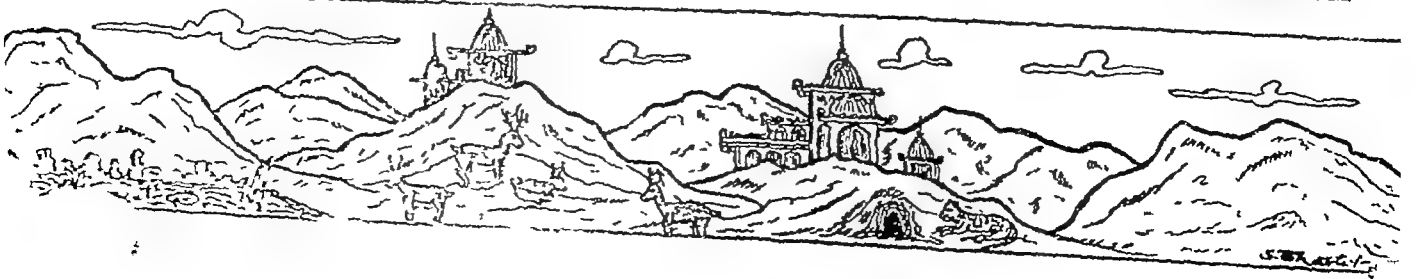
कवि अन्य धर्मों के उपास्य के प्रति भी सहिष्णु और गुणानुरागी है—

मोरे मन वसिया घनश्याम, हो नन्द जी के लाला।
मोर मुकुट शिर सावरो, तन जग मे सोहे।
मधुरी बजावे कानो बासुरी, सब के मन मोहे॥

विद्यानुरागी

मुनिश्री बहुत अच्छे विद्यानुरागी हैं। अध्ययन और स्वाध्याय इनके रुचिकर उपक्रम है। प्रवतक श्री के सानिध्य से, शास्त्र-ज्ञान भी अच्छा उपार्जित किया।

विद्यानुराग का परिचय इससे मिल जाता है कि जब मैं 'जैन सिद्धान्त' की परीक्षाओ मे सम्मिलित, हुआ, तब मेरा तो शैशवकाल जो मुख्यतया अध्ययन के लिए ही होता है, था, किन्तु मुनिश्री तो प्रौढता के निकट थे, फिर भी विद्यानुराग इतना गहरा था कि मेरे साथ अध्ययन मे बराबर चलते रहे, और जैन सिद्धान्ताचार्य और अन्य कई परीक्षाएँ हमने साथ-साथ सम्पन्न की।

मुनिश्री स्वभाव से सरल, मिलनसार तथा मधुर हैं, इधर मेवाड मे उनका पूज्य श्री और श्रद्धेय श्री भारमल जी महाराज तथा प्रवत्तक श्री के साथ बहुत सघन विचरण रहा बहुत अधिक जन समुदाय उन्हे आज भी सप्रेम याद करता है। विगत कुछ वर्षों से, मुनिश्री सकारण मालवा के गाँव हातोद मे ठहरे हुए हैं।

श्री इन्द्रमुनि जी महाराज

ये श्री भारमलजी महाराज के शिष्य और प्रवत्तक श्री के गुरु भ्राता हैं।

पदराडा (सेरा-प्रान्त मेवाड) निवासी, सकरीग जी सुथार पिता तथा कंकूबाई माता थी। सवत् १९८३ के वैसाख मास मे जन्म हुआ। तेरह वर्ष की लघुवय मे ही विदुषी महासतीजी श्री सज्जन कुंवरजी के सम्पर्क में आये और वैराग्य मार्ग की तरफ उन्मुख हुए।

सवत् १९९६ आषाढ़ कृष्णा त्रयोदशी गुरुवार के दिन वल्लभनगर (ऊठाला) मे, पूज्य श्री मोतीलालजी महाराज के पवित्र सान्निध्य मे दीक्षा सम्पन्न हुई। इस अवसर पर श्री मगन मुनिजी की दीक्षा भी साथ ही सम्पन्न हुई।

विगत छत्तीस वर्ष से मुनिश्री सयम मार्ग मे प्रवृत्त है।

स्वभाव से विनोदप्रिय श्री इन्द्रमुनिजी शरीर से स्थूल किन्तु वाणी से मधुर है। व्याख्यान की इनकी अपनी छटा है। सम्पूर्ण व्याख्यान मे एक सरसता चलती रहती है।

आदर्श तपस्वी

इन्होंने सर्वाधिक प्रगति तप के क्षेत्र मे की। एक माह, इक्कीस दिन, पन्द्रह दिन अठाई आदि तप कई बार किये। अभी भी तप के क्षेत्र मे आगे बढने का प्रयास प्राय किया ही करते हैं।

श्री मगन मुनिजी 'रसिक'

श्री मगन मुनि जी झाकरा (मदारिया) में श्री नाथूसिंहजी राठौड के यहाँ जन्म पाये। माता का नाम गेंदाबाई था।

जन्म समय सवत् १९८५ का माना जाता है।

लगभग ग्यारह वर्ष की वय मे ठीकरवास निवासी श्री छोगालालजी बम्बकी की प्रेरणा से जैनधर्म का निकट से परिचय हुआ। श्रद्धेय श्री जोधराजजी महाराज, सम्बन्ध मे 'काका' लगते थे अत जैनत्व के सस्कारो का नितान्त अभाव तो नहीं था किन्तु श्री बम्बकीजी की प्रेरणा से उन्हें फलवान बनने का अवसर मिल गया।

श्री मगन मुनिजी की दीक्षा ऊठाला (वल्लभ नगर) में सवत् १९९६ आषाढ़ कृष्णा त्रयोदशी, गुरुवार को श्री इन्द्रमुनिजी के साथ ही सम्पन्न हुई।

पूज्य प्रवर्त्तक श्री अम्बालालजी महाराज के शिष्य स्थापित किये गये ।
दीक्षा के समय, ग्यारह वर्ष के लगभग वय थी ।

सादगी प्रिय-मधुर भाषी एव कवि

श्री मगन मुनिजी स्वभाव से मृदुल एव मधुर भाषी है । सादगी इनके जीवन का प्रमुख अग है । परिधान आदि मे सादगी के क्षेत्र मे सौ वर्ष प्राचीन मेवाडी जीवन का प्रतिनिधित्व आपको मुनिश्री के जीवन मे मिलेगा ।

मुनिश्री बहुत अच्छे गीतकार हैं । राजस्थानी, मुख्यतया मेवाडी शैली की इनकी रचनाऐं आकर्षक और बडी उपयोगी हैं । गीतो की भाषा एकदम सरल और मेवाडी शैली के ठीक अनुरूप है । यही कारण है कि इनके गीतो का प्रचार केवल जैन ही नही अजैनों में भी बडा व्यापक है ।

अभिव्यक्ति की सहजता और भाषा का तादात्म्य इनके गीतो का प्राण तत्त्व है । एक प्रसिद्ध गीत की पक्ति देखिए —

आओ ए सखी री, धीमी धीमी चालो ।
जनम्यो जनम्यो रे, गोकुल मे कानो बशी वालो ।।

मुनिश्री के गीतो मे, लोकगीत के रूप ढलने की बडी योग्यता है क्योकि वे लोक राग के आधार पर ठीक-ठीक गाये जा सकते हैं ।

प्रसिद्ध लोकगीत घूमर की अनुरूपता का एक उदाहरण देखिये—

ए म्हारा, रघुवर लेवा कद आसी ए मोरी माय ।
सियाजी लका मे घणो रुदन करे ।
पचवटी मे बाँधी, झूँपडली ।
ऐ मैं तो फल फूल खाइ ने दन काढ्या ए म्हारी माँय

गणगौर भी राजस्थान का एक प्रसिद्ध लोकगीत है, श्री नेम-जन्म पर, मुनिश्री की गीतिका की तदनुरूपता का एक उदाहरण और उपस्थित किया जाता है—

नेम नगीना जनम्या सखि म्हारी,
दर्शन चाला आज ।
अजी म्हारे हिवडे हरख भराय
सखि म्हारी, बावीसवां जिनराज ।।

मुनिजी की रचनाओं के निम्न सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—रसीले गीत, अनमोल गीत, गीत मजरी, गीतलता, गीतो का घूम-धडाका, गीतो की फुलवारी, चन्दना जीत गई, सज्जन सगीत, सज्जन गीताजली आदि ।

मुनिश्री के गीत "रसिक" नामक उपनाम से पहचाने जा सकते हैं ।

सौभाग्य मुनि 'कुमुद'

गुरुदेव श्री का एक शिष्य मैं भी हू । मैं अपना क्या परिचय दूँ ।[1]

"धर्म शासन एव गुरुदेव श्री के चरणो मे समर्पित एक जीवन्त पुष्प" बस मेरा इतना परिचय ही बहुत है ।

---

१ श्री सौभाग्य मुनिजी एक अध्ययनशील, भावुक कवि, तेजस्वी लेखक और ओजस्वी वक्ता हैं । धारा प्रवाह कविता करते जाना, सगीत की लय मे नये स्तवन भजन गुनगुनाते ही रचते जाना इनका सहज स्वभाव बन गया है । जब लिखने बैठते हैं, तो बस एक ही प्रवाह मे जमकर इतना लिख जाते हैं कि उसे भाव-भाषा-शैली की दृष्टि से उसे पुन सुधारने की भी आवश्यकता नही रहती । आपके अनेक काव्य छप चुके हैं । 'धर्म ज्योति' पत्रिका के प्राण प्रतिष्ठापक आप ही हैं । युवक सगठन और जन-जीवन से आत्मीय सम्बन्ध बनाना आपकी रुचि है । प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ के अनेक खण्डो का लेखन एव सुन्दर सम्पादन आपके कृतित्व का स्पष्ट प्रमाण है ।

—प्रबन्ध सम्पादक

श्री मदन मुनि 'पथिक'

श्री मदन मुनि अपने गार्हस्थ्य-जीवन मे, लक्ष्मीलालजी हीगड कहलाते थे। सरदार गढ़ इनका जन्मस्थल है। वि० स० १९८९ जन्म समय है। श्री गमेरमलजी हीगड इनके पूज्य पिता हैं श्री सुन्दरबाई माताजी थी। उनका दीक्षा लेने से पूर्व ही देहावसान हो चुका था।

वि० सवत् २००९ के वर्ष का परम विदुषी महासतीजी श्री रूपवती जी मधुर वक्तृ विदुषी महासतीजी श्री प्रेमवती महाराज आदि का चातुर्मास सरदारगढ़ था।

श्री लक्ष्मीलालजी हीगड को, उसी चातुर्मास मे उक्त महासतीजी का धर्म-सम्पर्क मिला और तभी ये सयम की तरफ उन्मुख हो गये।

वर्ष भर दीक्षा के लिये अनुमति नही मिली, अन्ततोगत्वा अनेको कठिनाइयो के बाद पारिवारिक स्वीकृति मिली और सवत् २०१० कार्तिक कृष्णा नवमी को मोलेला मे दीक्षा सम्पन्न हो गई। दीक्षा पूज्यश्री मोतीलालजी महाराज के सान्निध्य में सम्पन्न हुई। प्रवर्तक श्री अम्बालालजी महाराज को गुरु रूप मे धारण किया।

स्वभाव से सरल श्री मदन मुनि सेवा का विशेष गुण रखते है।

सयम लेने के साथ ज्ञानाराधना का आलम्बन भी लिया और अध्ययन की तरफ अग्रसर हुए, फलत "जैन सिद्धान्त शास्त्री" तक परीक्षाएँ पास की।

साहित्य सृजन की भी विशेष रुचि इनमे लगातार कार्य करती है। फलत "जीवन कण" "प्रेरणा के प्रदीप" आदि दो-तीन इनके निबन्ध सग्रह निकल चुके हैं और भी निबन्धो के सृजन का प्रवाह चल रहा है। अभी-अभी ज्ञात हुआ है कि श्री मदन मुनिजी ने अञ्जना पर एक "नाटक" भी लिखा है जो शीघ्र ही प्रकाश में आएगा। नाटक जैसी विवादास्पद और जटिल साहित्यिक विधा पर चलने वाली कलम साहित्य प्रेम का जीवित परिचय है। आशा है, मेरे लघु गुरु-भ्राता मदन मुनि जी साहित्य के और नवीन 'कुसुम' खिलाते रहेंगे।

दर्शन मुनि

दर्शन मुनि का जन्म स्थान नगावली (मेवाड) है। देवकिशनजी नाहर और चाँदबाई इनके माता पिता हैं। जैन धर्म के सस्कार ठेठ बचपन से पाये हैं। जन्म सवत् १९८८ चैत्र शुक्ला चतुर्थी शनिवार का कहा जाता है। इन्हे ४१ वर्ष की वय मे स्वत ही ससार से उपरति हो गई और सभी कुछ छोडकर गुरुदेव श्री की सेवा में पहुँच गये। अविवाहित होने से इन्हें विरक्त होने मे ज्यादा कठिनाई का सामना नही करना पडा। सासारस्थ भ्राता आदि को स्वीकृति देने के लिए इन्हें मनाना पडा अन्त मे सवत् २०२९ माघ शुक्ला तृतीया को 'छोटा माणूजा' नामक गाँव मे इनकी दीक्षा पूज्य गुरुदेव श्री के हाथो सम्पन्न हुई।

दर्शन मुनि धुन के पक्के और सेवाभावी सन्त हैं। तपश्चर्या की भी अच्छी लगन है।

परमश्रद्धेय श्री माँगीलाल जी महाराज के शिष्यादि का परिचय

प० प्रवर श्री हस्तिमल जी महाराज

पडित प्रवर श्री हस्तिमल जी महाराज का जन्म-स्थान पलाना कलाँ है। सवत् १९७९ की चैत्र शुक्ला त्रयोदशी (महावीर जयन्ति) इनका जन्म दिन है। श्री नानालाल जी दुगड एव जडावबाई इनके माता-पिता थे।

परम श्रद्धेय श्री माँगीलाल जी महाराज साहब के सद्सम्पर्क से इनमे वैराग्यभाव का अभ्युदय हुआ।

जब ये सयम लेने को उत्सुक हुए तो बाधाओं के पहाड खडे हो गये। सम्बन्धित सासारिक-जनों ने कई कष्ट दिये किन्तु ये लगातार सुदृढ बने रहे।

अन्ततोगत्वा दृढ़ निश्चय की ही विजय रही और सवत् १९९६ माघ कृष्णा प्रतिपदा के दिन पलाना मे दीक्षा सम्पन्न हो गई।

प० रत्न श्री हस्तिमल जी महाराज, ज्ञानानुरागी एव स्वाध्यायशील रहे अत शास्त्रीय ज्ञान भी अच्छा अर्जित किया ।

गुरुसेवा का लक्ष्य प्रारम्भ से ही श्रेष्ठ था वह अन्त तक किया ।

परमश्रद्धेय श्री मांगीलाल जी महाराज की सेवा मे रहते हुए भी तथा उनके स्वर्गवास के बाद भी इनका विचरण भारतवर्ष के सुदूर प्रान्तो मे प्राय होता रहा ।

भारत के दक्षिण प्रान्त को छोडकर शेष भारत के अधिकाश हिस्सो मे मुनि श्री का प्रभावशाली विचरण होता रहा ।

इतने व्यापक विचरण के कारण अनेक सन्त महासती जी एव अनेको विचारको, साहित्यकारो, राजनेताओ से मिलना होता रहा फलत इनके पास अनुभवो का सुन्दर खजाना है ।

साहित्यकार

मुनि श्री बडे साहित्यप्रिय हैं । इनकी प्रेरणास्वरूप कुँवारिया पीपली मे साहित्य के भण्डार उपस्थित हैं । ये स्वय भी साहित्य सृजन किया करते हैं ।

आगम के अनमोल रत्न, दिव्य जीवन, तीन किरणें, रोड जी स्वामी का जीवन आदि कई पुस्तकें अब तक प्रकाशित हो चुकी हैं । और भी प्रकाशन के पथ पर आने की सम्भावना है । मुनि श्री निरन्तर-जिन शासन के साहित्य भण्डार को भरे ऐसी हमारी कामना है ।

मुनि श्री के दो शिष्य हैं ।

श्री पुष्कर मुनि जी—ये रायपुर के क्षत्रिय वशावतश है । इन्हे कविता करने की गीत रचने की विशेष रुचि है । श्री कन्हैया मुनि, झाडोल प्रान्त के हैं ।

साधु को वस्त्र के समान सहनशील बनना चाहिए । वस्त्र को साफ करने के लिए आग पर चढाया जाता है । क्षार मे धुलाया जाता है । पीटा जाता है । धूप मे सुखाया जाता है । गर्म इस्त्री से उसे सेका जाता है, फिर तह करके दवा-दबा कर बद करके रखा जाता है । इतना सब कुछ करने पर भी जब मनुष्य उसे शरीर पर धारण करता है तो वह उसकी शोभा ही बढाता है । यही सहिष्णुता साधु को और हर महत्त्वाकाक्षी व्यक्ति को सीखनी है ।

—'अम्बागुरु-सुवचन'
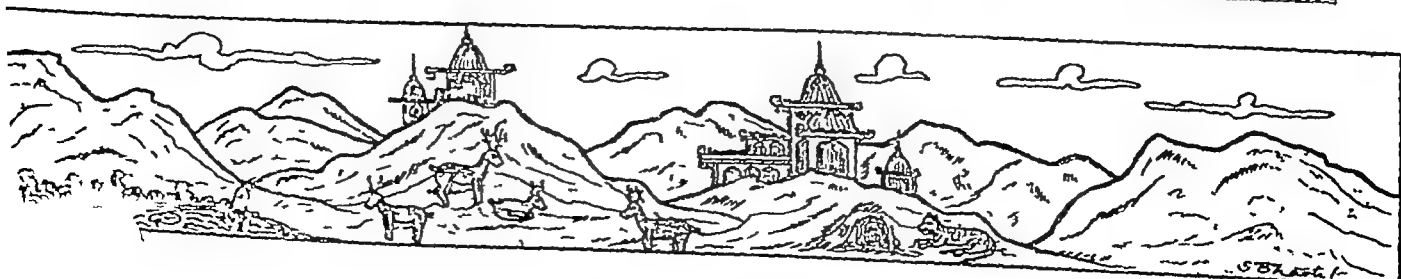
श्री देवेन्द्र मुनि, शास्त्री, साहित्यरत्न
[जैन दशन के प्रसिद्ध विद्वान, लेखक एव अनुसधाता]

श्रमण-सघ की महान विभूति प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज

[व्यक्तित्व-दर्शन]

मझलाकद, गेहूआ वण, विशाल भव्य-भाल, अन्तमन तक पैठने वाली तेजस्वी नेत्र युगल, मुस्कराता सौम्य चेहरा, सीधा-सादा श्वेत परिधान और जन-जन के कल्याण के लिए निरन्तर प्रयत्नशील, गम्भीर व्यक्तित्व को लोग मुनि प्रवर प्रवत्तक अम्बालाल जी महाराज के नाम से जानते-पहचानते हैं। उनका बाह्य व्यक्तित्व जितना आकर्षक और लुभावना है उससे भी कही अधिक गहरा और रहस्यमय है उनका अन्तर व्यक्तित्व जिसमे सागर के समान गम्भीरता है, सूर्य के समान तेज है, सुधाकर के समान शीतलता है, हिमालय के समान अचलता है, वसुन्धरा के समान सर्व सहनता है, ध्रुव के समान धैय है, बालक के समान सरलता है, युवक के समान उत्साह है, और वृद्ध के समान अनुभव सम्पदा है। ऐसा विलक्षण और रगीला व्यक्तित्व एक अबूझ पहेली नहीं तो फिर क्या है ?

मुझे आपके दशनो का सवप्रथम सौभाग्य सन् १६५० मे नाई ग्राम में मिला था। उस समय आप अपने आराध्यदेव पूज्य मोतीलाल जी महाराज के साथ थे। उस युग मे सम्प्रदायवाद का बोलबाला था, एक दूसरे से वार्तालाप करने मे भी लोग कतराते थे और धर्म को खतरे मे समझते थे। एक साथ मे, एक मकान मे ठहरना सम्भव नहीं था अत पृथक्-पृथक् मकानो मे हम ठहरे हुए थे। मैं पूज्य गुरुदेव महास्थविर श्री ताराचन्द जी महाराज व पूज्य गुरुदेव श्री पुष्कर मुनि जी महाराज के साथ था। जहाँ तक मुझे स्मरण है कि शौच के लिए जब बाहर जाते तब दोनो महारथियो मे परस्पर वार्तालाप होता था। पर दर्शन होने पर भी मेरा उनसे व्यक्तिगत परिचय न हो सका। मैंने इतना ही सुना कि अम्बालाल जी महाराज थोकडे व शास्त्रो के एक अच्छे जानकार सन्त हैं।

सन् १६५७ मे पूज्य गुरुदेव श्री पुष्कर मुनि जी महाराज जयपुर का शानदार वर्षावास पूणकर उदयपुर वर्षावास के लिए पधार रहे थे। उस समय आप श्री अपने गुरुदेव के साथ देलवाडा गाँव मे स्थानापन्न थे। श्रमण सघ बन चुका था। पहले के समान अलगाव व दुराव नही रहा था। एक ही मकान मे एक ही साथ ठहरे। इस समय आपको जरा गहराई से देखने का अवसर मिला। मुझे अनुभव हुआ कि आप केवल शास्त्रो के जानकार ही नहीं पक्के सेवानिष्ठ सन्त भी हैं। मन्त्री मुनि श्री मोतीलाल जी महाराज का शरीर अत्यधिक स्थूल था, वे अपना आवश्यक कार्य भी अपने हाथो से उस समय नहीं कर सकते थे। आप बिना किसी भी सकोच के दिन रात उनकी सेवा मे लगे रहते थे। मैंने सहज रूप से आपको कहा—यह कार्य लघु सन्त भी कर सकते हैं आप श्री को अन्य आवश्यक काय करना चाहिए। आपने कहा—देवेन्द्र ! प्रथम काय गुरुओ की सेवा का है। गुरुओ की सेवा से जी चुराना आत्म—वचना है। हम बैठे-बैठे टुगर-मुगर देखते रहे, और अन्य छोटे सन्त सेवा करते रहे यह क्या हमारे लिए उचित है। हमे सेवा का उपदेश देकर नही अपितु सेवा का आचरण कर वह आदश उपस्थित करना चाहिए जिससे वे स्वय भी उस काय में प्रवृत्त हों। अन्य उनके शिष्यो के रहते हुए भी मैंने उन्हें अपने गुरुदेव की शौचादि को परठते और उनसे खराब हुए वस्त्रो को

साफ करते देखा है। आप श्री की प्रस्तुत सेवा निष्ठा को देखकर मेरी स्मृति पटल पर नन्दीषेण मुनि की कथा चमकने लगी। वस्तुत लच्छेदार भाषण देना सरल व सहज है पर सेवा करना अतीव कठिन है।

जिज्ञासा की दृष्टि से आगम साहित्य के सम्बन्ध मे मैंने कुछ जिज्ञासाएँ प्रस्तुत की, उन्होने जो समाधान किया उससे मुझे यह प्रतीत हुआ कि उनके मन के कण-कण मे आगम के प्रति गहरी निष्ठा है। उनमे तर्क की नही किन्तु श्रद्धा की प्रमुखता है। उन्होंने कहा—हम सन्त हैं, हमारे चिन्तन, मनन का मूल स्रोत आगम है। आगम की इस पुनीत धरोहर के कारण ही हम साधु बने हैं, छद्मस्थ होने के कारण आगम के गुरु-गम्भीर रहस्य यदि हमारी समझ मे न आये तो भी हमे उसके प्रति पूर्ण श्रद्धा रखनी है। पण्डितो की भाँति आगम की शल्य-चिकित्सा करना हमारा काम नही है। मुझे उनकी यह बात बहुत ही पसन्द आई।

सन् १९६४ मे अजरामरपुरी अजमेर मे शिखर सम्मेलन का भव्य आयोजन था। उस आयोजन मे सम्मिलित होने के लिए पूज्य गुरुदेव श्री जालोर का वर्षावास पूर्णकर चैनपुरा पधारे। उस समय आप भी अपने शिष्यो सहित वही पर विराज रहे थे। वहाँ से शिखर सम्मेलन मे सम्मिलित होने के लिए आप श्री ने पूज्य गुरुदेव श्री के साथ ही विहार किया। इस समय लम्बे समय तक प० प्रवर श्री अम्बालाल जी महाराज के साथ रहने का अवसर मिला। अत्यन्त निकटता के साथ आपके जीवन को गहराई से देखा, परखा, एक सम्प्रदाय का नेतृत्व करने पर भी आप मे विनय गुण पर्याप्त मात्रा मे देखने को मिला। पूज्य गुरुदेव श्री आपसे दीक्षा मे बडे हैं अत हर प्रकार से उनका अनुनय-विनय करना आप अपना कर्तव्य समझते थे। जब तक साथ मे रहे तब तक कोई भी कार्य बिना पूज्य गुरुदेव श्री की अनुमति के नही किया। जब मैंने इस बात का रहस्य जानना चाहा तब आपने मधुर शब्दो मे कहा—धर्म का मूल विनय है। मूल के अभाव मे शाखा, प्रशाखा का अस्तित्व किस प्रकार रह सकेगा। देखो सामने वृक्ष पर मधुमक्खी का छत्ता है। इसमें शताधिक मक्खियाँ हैं। पर इसमे एक मक्खी जिसका नाम रानी मक्खी है जब तक वह छत्ते मे बैठी रहती है तब तक ये हजारो मक्खियाँ भी उसमे आकर बैठती हैं, ज्यों ही यह मक्खी उडकर अन्य स्थान पर चली जाती है त्यो ही ये सारी मक्खियाँ भी उडकर चली जाती हैं।

मैंने प्रतिप्रश्न किया—इससे आपका क्या तात्पर्य है ?

उन्होंने कहा—रानी मक्खी के समान विनय है। जीवन रूपी छत्ते मे जब तक विनय रूपी रानी मक्खी रहेगी तब तक हजारो अन्य सद्गुण खींचे चले आयेंगे, पर ज्यो ही विनय गुण नष्ट हुआ नही कि अन्य गुण भी मिट जायेंगे अत अभिमान को सन्त तुलसीदास ने पाप का मूल कहा है।

ट्रेन स्टेशन पर आती है किन्तु जब तक सिगनल नीचे न गिरे तब तक वह स्टेशन मे प्रवेश नही करती, वह बाहर ही खडी रहती है। अभिमान का सिग्नल जब तक नही गिरता है तब तक ज्ञान रूपी ट्रेन भी जीवन रूपी स्टेशन मे प्रवेश नहीं कर सकेगी। बाहुबली का प्रसग तो तुम्हें मालूम ही है। बारह महीने तक उग्र ध्यान की साधना करने पर भी उन्हें अभिमान के कारण केवल ज्ञान नहीं हुआ। किन्तु ब्राह्मी और सुन्दरी के उद्बोधन से अपने लघु भ्राताओ को नमन के लिए कदम उठाया त्योंही केवल ज्ञान हो गया, यह है जीवन मे विनय का चमत्कार।

ध्वनि-विस्तारक यत्र के प्रयोग के सम्बन्ध मे मैंने उनके विचार जानने चाहे उन्होंने स्पष्ट शब्दो में कहा—मेरा स्वय का विचार इस जीवन मे उपयोग करने का नही है। जो अपवाद मे इसका उपयोग करते हैं उन्हें जाहिरात मे प्रायश्चित लेना चाहिये। जो स्वच्छन्द रूप से इसका उपयोग करते हैं मैं उस श्रमण मर्यादा की दृष्टि से उचित नहीं मानता।

सन् १९७१ का बम्बई कादावाडी का ऐतिहासिक वर्षावास पूर्ण कर पूज्य गुरुदेव श्री साण्डेराव सन्त-सम्मेलन में पधारे। वर्षों के पश्चात् पुन आपसे वहाँ पर मिलन हुआ। अनेक सामाजिक विषयो मे आपसे खुलकर विचार-चर्चा हुई।

पूज्य गुरुदेव सन् १९७३ का अजमेर वर्षावास पूर्णकर अहमदाबाद वर्षावास के लिए पधार रहे थे, आप श्री भोपाल सागर (मेवाड) में पूज्य गुरुदेव श्री से मिलने के लिए पधारे। सम्वत्सरी की एकता किस प्रकार हो इस प्रश्न
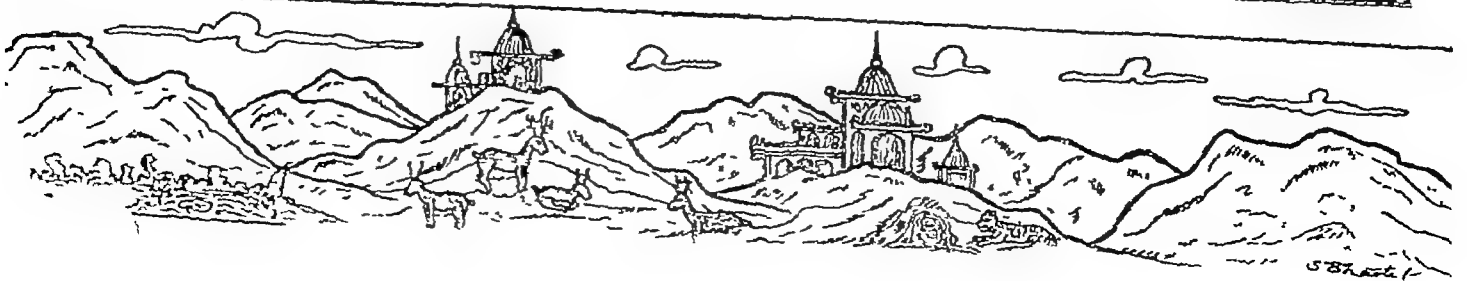
इसी कारण आपको गुरुदेव एव साथी मुनिमण्डल—महासती-वृन्द श्रावक और श्राविकाएँ शास्त्रज्ञाता एव पडित जी महाराज के नाम से सम्बोधित करने लगे।

महाराज श्री को शास्त्रीय ज्ञान इतना प्रिय है कि अन्य कथानको की अपेक्षा शास्त्रीय प्रमाण ही अपने व्याख्यान मे देते रहते हैं। मैंने सैंकडो व्यक्तियो के मुँह से सुना है कि शास्त्रीय व्याख्यान या तो महामना पूज्य श्री मन्नालाल जी महाराज के मुँह से सुना है या फिर आप श्री जी के मुँह से। शास्त्र-स्नेही जनता आपका व्याख्यान अतीव उमग एव एकाग्रता से रसपान करके अपने को धन्य समझती है। अनेक सन्त-सती-वृन्द आपसे शास्त्र-वाचना अधुनापि किया करते हैं। स्वय मैंने भी आप श्री से १००/१२५ थोकड़े का ज्ञान प्राप्त किया है।

चर्चाकार

आप श्री का शास्त्रीय ज्ञान केवल ऊपर-ऊपर का ही नहीं है, जैसाकि बहुधा देखने मे आता है, आपका ज्ञान तो शास्त्रो के रहस्यो तक पहुँचा हुआ है और इसी रहस्य के आधार बल पर मेवाड मे स्थानकवासी समाज पर आक्षेप करने वालों को आप सचोट प्रत्युत्तर प्रदान करते हैं।

कई स्थानो का तो मुझे भी अनुभव है कि कई उद्दाम विचारक एव आक्षेपी लोग आपसे चर्चा करने को आते और आपश्री से समाधान सुनकर निरुत्तर होकर लौटते हुए देखे गये।

कभी-कभी तो आप अपने चालू व्याख्यान मे आक्षेपियो को चर्चा के लिए सिंह-गर्जना से आह्वान भी करते है।

सेवाशील

शास्त्रज्ञान के साथ ही साथ आपके सुन्दर जीवन मे सेवा-भावना तो साकार ही हो गई है। इस सेवा के क्षेत्र मे भले फिर गुरुदेव हो, या अन्य कोई भी सन्त-सती। प्रत्येक की सेवा आप प्रफुल्लित चित्त से करते हैं। मेरा निजी अनुभव तो यहाँ तक है कि सेवा के लिए हाथ का कौर भी मुँह मे नही लेकर वहीं छोडकर सेवा को प्रथम आदर देते हुए आपको देखा है।

आपश्री को सेवारत देखकर कभी-कभी मेवाड आचार्य श्री जी भी फरमा देते थे कि अम्बा तो मानो एक अम्मा ही है।

मेवाड मन्त्री (आचार्य श्री) जी महाराज जब देलवाडा मे ५ वर्ष स्थानापन्न विराजे तो आप श्री को निरन्तर अपनी सेवा मे बनाये रखा। कभी-कभी कोई मुनि आचार्य श्री से विनोद मे निवेदन करते कि प्रभो! अन्य मुनियो की तरह पडित जी महाराज को भी विचरने की आज्ञा प्रदान क्यो नही करते? तो मेवाड गणनायक श्री का उत्तर होता—"पडित सी सेवा अन्य मुनि नही कर पाओगे।"

श्रद्धेयत्व

सेवा गुण के साथ-साथ नम्रता-सरलता-कर्तव्यदक्षता के सद्‌गुण भी आपके जीवन में बढ़ते ही जा रहे हैं। प्रमाद से आप सदैव दूर रहते हैं। दिन मे बिना कारण आप शयन नही करते। रात्रि के प्रथम और अन्तिम प्रहर मे भी आप चिन्तन-मनन-भजन-स्मरण अबाध रूप से करते हैं। इस प्रकार आपकी आत्मसाधना केवल प्रशसनीय नही, अपितु आदरणीय-आचरणीय भी है। इस आत्मसाधना से आप श्री का प्रभाव भी अन्य पर पडे बिना नहीं रहता। कई ग्रामो के, कुटुम्बियो के आपसी वैमनस्य आपके प्रभाव से समाप्त हो गये हैं और होते रहते हैं।

प्रवर्तक

इस गुण-पुंज आत्मा को श्रमण सघ के आचार्य सम्राट् ने पहले तो मेवाड मन्त्री का पद और बाद मे मेवाड प्रवर्तक का पद देकर सम्मानित किया है। इस प्रकार आप प्रवर्तक-मण्डल के सम्मानित सदस्य हैं।

भूतपूर्व मेवाड सम्प्रदाय के नाते तो आपको मेवाड-सघ-शिरोमणि, मेवाड-मुकुट, मेवाड के मूर्धन्य सन्त, मेवाड रत्न, मेवाड गच्छमणि, मेवाड मार्तण्ड आदि मेवाड से सम्बन्धित सब कुछ पदवियाँ समर्पित हैं।

आपकी इस दीक्षा स्वर्णजयन्ती की मगलमय वेला मे आपकी दीर्घायु के साथ-साथ आप श्री का यश-सौरभ दिन दूना रात चौगुना चारो ओर विस्तृत हो, इसी मगलमय कामना के साथ सविनय कोटि-कोटि वन्दन स्वीकृत हो!

□ मदनलाल जैन
[B A, LL B, 'साहित्यरत्न' R J S]

रचनात्मक प्रवृत्तियो के धनी पूज्य प्रवर्तक गुरुदेव श्री

□

सरलता, मृदुता एव सौम्यता के धनी पूज्य प्रवर्तक गुरुदेव श्री का जीवन निर्मल गगा का प्रवाह-सा है जिसके किनारे शान्त लहलहाते उपवन से प्रतीत होते हैं। वैसे सन्तो का जीवन सरित प्रवाह-सा होता है परन्तु यदि पूज्य प्रवर्तक गुरुदेव श्री के लिये मेवाड का गौरव भी कह दिया जावे तो अतिशयोक्ति नही होगी। उनका शात, निश्छल एव पवित्र जीवन भगवान महावीर की उस श्रमण परम्परा की याद दिलाता है जिसके माध्यम से विश्व मे भारत ने जगद्-गुरु का पद प्राप्त किया। सत्य-अहिंसा का मूल मन्त्र फूँकने वाली यह श्रमण परम्परा सदा सर्वदा जनता का उपकार करती आई है। मेवाड भूषण पूज्य श्री की परम्परा का भार निभाने वाले पूज्य गुरुदेव श्री शास्त्रो के प्रकाण्ड पण्डित एव ज्योतिष विद्या-विशारद हैं। उनका जीवन सदा सर्वदा मेवाड की भोली जनता का मार्ग प्रशस्त करने मे बीता है और उनके हृदय में समाज मे व्याप्त कुरुढियो के प्रति तडफ है।

मेवाड-क्षेत्र राजस्थान का काफी पिछडा हिस्सा है। इसका गौरव अरावली की कन्दराओ व बीहड वनो मे छिपा पडा है, जहाँ पर स्वतन्त्रता के उपासक एव रक्षक महाराणा प्रताप ने अपनी वीरता का परिचय दिया था। घास की रोटियाँ खाकर भी जिसने आधीनता स्वीकार नहीं की व अन्तिम क्षणो तक प्रिय 'चेतक' की चेतना से जूझता रहा। इसी क्षेत्र मे भामाशाह जैसे लोहपुरुष ने २५००० सैनिको के २५ वर्षों के जीवन निर्वाह की राशि को महाराणा के चरणो मे रख दी एव पन्ना धाय ने अपने कर्त्तव्य का पालन अपने ही लाल का बलिदान करके किया। यह वही क्षेत्र है जहाँ पर साधनो की कमी से मानव मजदूरी के लिये भटकता है। शिक्षा के अभाव अभियोग से पूरित हमारा यह मेवाड कुरुढ़ियों से ग्रस्त है। हमारे समाज मे रचनात्मक प्रवृत्तियों की भी कमी रही है। मेवाड के अचल मे तो ऐसी कोई भी सस्था नही थी जो समाज को नई दिशा दे सके। यहाँ पर ऐसा सगठित प्रयास कभी नही हुआ कि जिससे सामयिक प्रकाशन के साथ धार्मिक स्कूलो का सचालन हो सके एव गरीब विधवाओ एव छात्रों को भी मदद देकर उन्हें आगे बढाया जा सके। यहाँ पर ऐसे काफी युवक एव विचारक हैं जो रचनात्मक कार्य करना चाहते हैं परन्तु बिना मार्गदर्शन उन्हें गति नही मिली और इसी कारण समाज मे अनेक ऐसे होनहार छात्र अर्थाभाव के विकास से महरूम रहे एव विधवाएँ रो-रो कर अपना जीवन पूरा करने मे लगी रही और हमारा समाज मृत्युभोज, विवाह, दहेज एव होड के हथौडो की मार खाकर भी जीता रहा।

कहा जाता है कि जब प्रकाश की प्रथम किरण भी फूटती है तभी अधकार विलीन होता है और यही बात पूज्य प्रवर्तक गुरुदेव श्री अम्बालालजी महाराज साहब का भीलवाडा चातुर्मास सिद्ध कर बैठा। उनके योग्य शिष्य व्याख्यान विशारद मुनि श्री सौभाग्य जी से मेरी वार्ताएँ चली। पूज्य गुरुदेव श्री से भी विचार हुआ और प्रकाश के मानिन्द सन् १९६७ मे मेवाड के अचल मे देदिप्यमान सस्था "धर्म ज्योति परिषद" का सूर्य जगमगा उठा। कौन जानता था कि
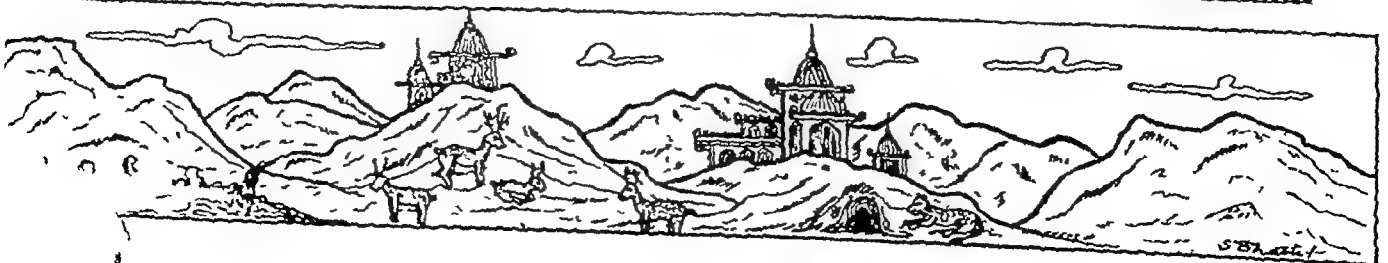
यह बालक अपने शैशव काल मे ही बहुत कुछ कर लेगा परन्तु मैं तो यह मानता हूँ कि पूज्य श्री का वरद हस्त एव उनके सुशिष्य श्री सौभाग्य मुनिजी का मार्गदर्शन हमे उत्साहित करने मे निरन्तर आगे रहा वरना बहुत-सी सस्थाएँ कुछ समय के बाद जिस प्रकार लुप्त होती हैं वैसी यह भी लुप्त हो जाती। इस ८ वर्ष के मामूली से समय मे भी परिषद ने धर्म ज्योति मासिक प्रकाशन को निरन्तर चालू रखकर भगवान महावीर के सिद्धान्तो को जन-जन तक पहुँचाया है। आज इसके ६२५ से अधिक आजीवन ग्राहक हैं एव यह पत्र भारत के सब हिस्सों मे पहुँचता है। वार्षिक ग्राहक भी हैं परन्तु आजीवन ग्राहको का मापदण्ड ही पत्रिका का स्थायित्व होता है। सन् १९६७ के नवम्बर का प्रथम अंक से प्रारम्भ होने वाला "धम ज्योति" मासिक आज मेवाड क्षेत्र का प्रेरणा स्रोत है जिसमे पूज्यश्री का मागदशन आज इसकी काया-पलट कर चुका है। धर्म ज्योति का प्रकाशन ही धर्म ज्योति परिषद का प्रथम चरण है। १९६७ का लोकाशाह जयन्ति का वह पुनीत दिन आज भी हमे स्मरण है जिस दिन पूज्य श्री के मार्गदर्शन से इस पुनीत सस्था "धम ज्योति परिषद" का जन्म हुआ। तब पूज्य श्री ने समाज की स्थिति का दिग्दर्शन कराकर सद्‌काय का सन्देश दिया था।

धम ज्योति परिषद ने सर्वप्रथम 'धम ज्योति' मासिक पत्रिका का प्रारम्भ किया था और यह एक बहुत बडी उपलब्धि है कि इस ८ वर्ष के समय मे कभी कोई अक बन्द नही रहा। पूज्य श्री के मागदर्शन से कायकर्ताओ की सजगता बनी रही। इसी प्रकार धम ज्योति परिषद ने विधवा, अनाथ एव जरूरतमद छात्रो को भी सहयोग दिया। विधवा सहायता हमारे समाज मे अत्यन्त जरूरी है क्योकि ऐसी अनेक बहिनें सहायता के अभाव मे दो समय का खाना भी जुटा नहीं पाती। यद्यपि काफी काम बाकी है फिर भी जो कार्य अब तक हुआ है वह भी हम पूज्य श्री की देन ही मानते हैं। मोलेला मे पूज्य श्री के चातुर्मास के फलस्वरूप १९७२ मे एक उपकेन्द्र की स्थापना हुई एव फिर शाखा के रूप मे काय फैल गया। आज उस क्षेत्र में मोलेला केन्द्र के माध्यम से भी काफी स्कूल चल रहे है व बच्चो में धार्मिक अध्ययन हो रहा है। उधर भी बच्चो की सहायता एव विधवाओ की सहायता के साथ-साथ पूज्य श्री के उपदेश से सामाजिक अभ्युदय को प्रेरणा मिली एव उधर समाज ने ऐसे नियम बनाये जिससे कुरीतियो का अन्त होकर नवनिर्माण की चेतना मिली।

सन् १९६७ के वर्ष से ही इस रचनात्मक कार्य को ऐसी चेतना मिली कि गाँव-गाँव मे नव निर्माण का बिगुल बज उठा। भीलवाडा मे स्वाध्यायशाला का काय, पहुना में सामाजिक फूट का स्वाहा, उदयपुर मे भी रचनात्मक प्रवृत्तियो का श्री गणेश एव सनवाड मे मूक पशुओ की बलि का अन्त भी पूज्य श्री के मार्गदशन एव उपदेश का ही फल है। आमेट मे साहित्य प्रकाशन समिति के माध्यम से भगवान महावीर के उपदेश प्रचार का काय भी पूज्य श्री के ही आह्वान का ही प्रतिफल है। सनवाड मे भगवान महावीर के २५वें निर्वाण शताब्दी के अवसर पर २५०० व्यक्तियों का दारूमास त्याग का भी निश्चय किया गया सो पूण हुआ तथा स्वाध्याय की कमी को पूरा करने के लिये स्वाध्याय शिविर एव स्वाध्यायी तैयार करने के लिये महावीर स्वाध्याय केन्द्र की सनवाड फतहनगर में स्थापना भी पूज्य श्री के रचनात्मक स्नेह का ही प्रतिफल है। पूज्य श्री का ग्राम-ग्राम मे चल रही तमाम ही जन-हितोपयोगी सस्थाओ को आशीर्वाद मिला है। आशा की जाती है कि धर्म ज्योति परिषद मेवाड का एक वटवृक्ष बन जावेगा जिसकी छाव मे बैठकर प्रत्येक महावीर-पुत्र उस महावीर के माग पर बढ़कर आत्मा से महात्मा एव गुरु सेपरमात्मा की सीढ़ी तक पहुँचने को गति करने मे समर्थ होगा।

पूज्य श्री को जिसने भी नजदीक से देखा है, उसने एक नवस्फूर्ती व चेतना पायी है। चाहे बूढा, युवक या बालक हो, स्त्री या पुरुष किसी भी परिस्थिति मे क्यो न हो पूज्य श्री से हर समय सीखा है। घनघोर अन्धकार मे भी प्रकाश देने वाले पूज्य श्री का सब सम्प्रदाय एव धर्मों के प्रति समान भाव है। उन्हे किसी पथ या सम्प्रदाय के प्रति मोह नही है। उन्होंने सर्वजनहिताय की परम्परा को हमेशा निभाई है। थामला जैसे छोटे से ग्राम मे जन्मे पूज्यश्री आज मेवाड ही नही भारत के कोटि-कोटि लोगो की आशाओ के केन्द्र हैं। समाज को गौरव है कि ऐसे पूज्य श्री के सान्निध्य मे मेवाड रचनात्मक प्रवृत्तियों के लिए जगा है। पूज्य श्री का जीवन जन-जन के लिये प्रेरणादायी साबित हुआ है और उनका ५० वर्षो का दीक्षा काल भी स्थानकवासी समाज ही नहीं समस्त जैन धम के लिये भी गौरव की बात है। पूज्य श्री का अभिनन्दन करते हुए हम उनके चिरायु होने की प्रभु से प्रार्थना करते है जिससे कि रचनात्मक कार्य गतिमान रह सके।

☐ डॉ० नरेन्द्र भानावत एम ए पी एच डी
[विश्रुत लेखक एव विचारक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर]

अभिनन्दन . एक ज्योतिवाही साधक का

☐

प्रवर्त्तक पूज्य श्री अम्बालाल जी महाराज साहब श्रमण सस्कृति के आदर्श सन्त, तत्त्वद्रष्टा और प्रभावी व्याख्याता हैं। राजस्थान का मेवाड प्रदेश त्याग, वलिदान, साहित्य, सगीत और कला का प्रमुख केन्द्र रहा है। शक्ति और भक्ति का अद्भुत समन्वय स्थल है यह मेवाड प्रदेश। यहाँ अनेकानेक सन्तो, शूरवीरो, देश-भक्तो और सती-साध्वियो ने जन्म लेकर अपने साधनारत, तपोनिष्ठ, उदात्त जीवन से यहाँ के कण-कण को आलोकित और गौरवान्वित किया है। इसी गौरवमयी परम्परा के जाज्वल्यमान रत्न हैं—पूज्य श्री अम्बा गुरु।

आप सरलता, त्याग, सेवा और साधना के मूर्त्तरूप हैं। भौतिक चकाचौंध और प्रभुता-प्रदर्शन से दूर रहकर एक शात स्वभावी, आध्यात्मिक साधक के रूप मे आप आत्म-कल्याण के साथ-साथ लोक-कल्याण मे गत ५० वर्षों से सेवारत हैं।

आपने धर्म को जागरूक चेतना और प्रगतिशीलता का लक्षण माना है। जब-जब धर्म का यह प्रगतिशील तत्त्व मन्द पड जाता है तब-तब समाज की गति रुक जाती है। उसकी तेजस्विता धूमिल पड जाती है। धर्म के तेजस्वी रूप को सतत बनाये रखने की दृष्टि से ही आपने 'धर्म ज्योति परिषद' जैसे सस्थान को स्थापित करने की प्रेरणा दी। कहना न होगा कि आपके प्रभावकारी उपदेशो से प्रेरित होकर परिषद धर्म के ज्योति स्वरूप को जीवन के विविध पक्षो मे परावर्तित करने का पुण्य कार्य लगातार कई वर्षों से कर रही हैं।

सम्भवत सन् १९७० के दशहरा-अवकाश मे मुझे डूँगला-चातुर्मास मे आपके दर्शन करने का सौभाग्य मिला। उस समय मेरे साथ छोटी सादडी के प० शोभाचन्द्र जी बया व श्रीमती शाता भानावत भी साथ थी। हमे आपका प्रवचन सुनने का अवसर मिला। आपके प्रवचनो मे तत्त्व मीमासा के साथ-साथ समाज को अध-विश्वासो और कुरीतियो से मुक्त करने की मार्मिक अपील रहा करती है। परस्पर बातचीत मे आपने इस बात पर बल दिया कि वर्तमान पाठ्य-क्रम मे धार्मिक शिक्षा अर्थात् सदाचार की शिक्षा का समावेश किया जाना जरूरी है।

उस थोडे से सान्निध्य मे मैंने देखा कि आप सरसमना, आत्मानुशासी, सयमनिष्ठ सन्त हैं। आप पारस्परिक मूल्यो को नयी दृष्टि देकर, उन्हें गतिशील बनाने के पक्षधर हैं। आपका मानना है कि युवा पीढी ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र मे अग्रसर, नये बोध से परिचित हो, यह अच्छी बात है, पर भारतीय उदात्त परम्पराओ की जीवत सस्कृति से वह कट-कर अलग-थलग हो जाये, यह अपने देश के लिये ही नहीं सम्पूर्ण मानवता के लिये हानिकारक है अत समाज को चाहिए कि युवको को अपनी महान सस्कृति और उनकी परम्पराओ का ज्ञान कराने के लिये स्थान स्थान पर शिक्षण सस्थाओ, पुस्तकालयो आदि की व्यवस्था करायें। इसी अवसर पर मुझे आपके प्रबुद्ध शिष्य श्री सौभाग्य मुनिजी 'कुमुद' के दर्शनो का भी सौभाग्य मिला, जो सहज कवि और मधुर व्याख्याता होने के साथ-साथ उदार चिन्तक और विचारक भी हैं।

यह बडे हर्ष और गौरव का विषय है कि ऐसे महान् सन्त के दीक्षाकाल के ५० वर्ष के समापन और ५१वें वर्ष के प्रवेश पर समाज मे उनका सार्वजनिक अभिनन्दन कर, एक अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित करने का निश्चय किया है। यह अभिनन्दन वस्तुत उस धर्म ज्योति वाहक का अभिनन्दन है जिसके प्रकाश और तेज की विश्व को आज सबसे बडी आवश्यकता है। यह ज्योतिवाही साधक शतायु हो और अपनी सहस्र अमृत किरणो से जन-जन का पथ आलोकित करता रहे —इसी भावना के साथ सादर वदनाजलि।
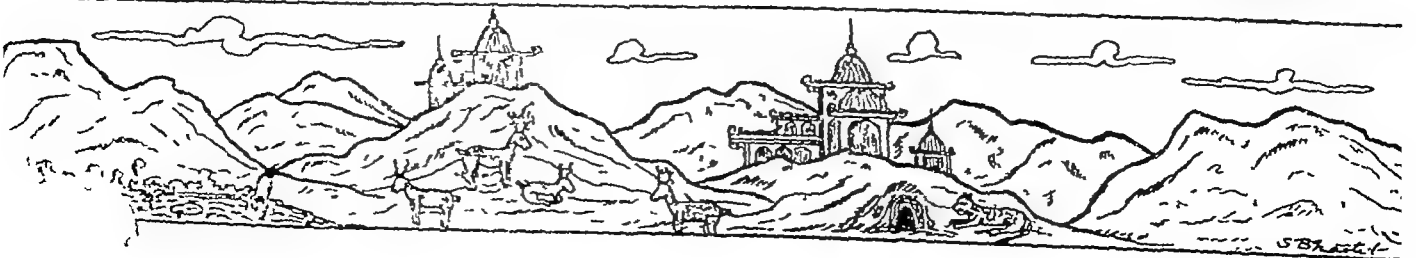
आशीर्वचन एवं शुभकामना

☐ आचार्य सम्राट श्री आनन्द ऋषि जी
[श्री व० स्था० श्रमण सघ के प्रभावक आचार्य]

सहस्र-रश्मि सूर्य जब धरा पर चमकता है तो रात भर मुर्झाये हुये कमल खिल उठते हैं, पक्षी चहकने लगते हैं। नील गगन मे जब सुधा-स्रावी शशि अपनी शुभ्र ज्योत्स्ना विखेरता है तो कमलिनी विहस-विहस जाती है। चकोर नाचने लगता है।

इसी प्रकार ससार मे जब कही भी, कभी भी, श्रमण सतो का त्यागी-तपस्वी आत्म-ध्यानी मुनियो और ऋषियो का अभ्युदय होता है, उनका गुणोत्कीतन होता है। जिन शासन के प्रभावक और सत्य के लिए प्राणोत्सर्ग करने वाले सत्य-अहिंसा के जीवित तपोधनो की महिमा-गरिमा बढती है तो भव्य हृदयो में हर्ष का ज्वार उमडने लगता है, प्रमोद और धर्मानुराग की रस धारा बहने लगती है।

मेवाड सघ के परम आदरास्पद शातमूर्ति आत्मलीन श्री अम्बालाल जी महाराज हमारे श्रमण सघ की एक दिव्य विभूति है। उनके हृदय मे सरलता सौजन्यता एव साधुता की त्रिवेणी वह रही है। मेवाड मे जिन शासन की प्रभावना करते हुये वे जन जीवन की कलुषता को धो रहे हैं। मेवाड की भव्य-धर्म प्राण जनता ने उनका अभिनन्दन करने का जो निश्चय किया है वह परम आल्हाद का विषय है। त्याग-तप-साधना की महिमा का यह विरल प्रसग किसको आल्हादित नही करेगा ?

जब-जब मै साधु-सतों एव आत्मार्थी मुनियो का अभिनन्दन होता देखता हूँ तो मेरा मन उनकी तप पूर्ण साधना और आत्माभिमुख उदात्त वृत्तियो का कोटि-कोटि अभिनन्दन करने लगता है। श्री अम्बालाल जी महाराज अपनी उदात्त साधना के बल पर दीर्घकाल तक जिन शासन की प्रभावना करते रहें, यही मगलकामना।

☐ मरुधरकेसरी मुनि श्री मिश्रीमल जी महाराज
[श्रमण सघ के प्रवर्तक, आशुकवि, प्रभावशाली सत]

स्वामीजी रो स्वभाव गणो आछो ने रलियामणो है, इणरी मैं आछी तरह सु केई वार वानगी देखी हूँ। स्वामी जी मे बडां रो आदर तो अणूतोहीज है। मेलमिलाप रो तो पूछो इज क्यू ? बोली मे मीठापणो ऐरो है के जाणे इमरत ईज गोलियोरो है। सादगी सरावोल भगतां रे चित रा चोर, आचार-विचार रा सिरमोर और सेवा भगति रा झकजोर में तो खाणो पीणोइ भूल जावे। माला स्मरण सज्जाय तो प्राण सुं वतो जाणें। ज्ञान-ध्यान रो कोड तो इतरो है के कइयोडो ही पुरवे नहो। वखाण मे भगवान री वाणी रे सिवाय और वातां सुणावण रो तो सूंस हीज लियोडो है। बोलण मे, चालण में, पलेवण मे, पूजण मे और साधुरी मरियादा मे तो मारवाड रा धोरीयां रा जिसा मजबूत है। कपडा काठा पेरे वे पीण सादगी रा-जोरें आज रा जमाना री किणी तरह की हवा लागीज कोइनी पीण वांरा बरताव सुं पुरा पुराणा साधु हीज लोग केवे। पुनवानी चोखी, सातावेदनी रो उदय आछो, बोली मे सेणीयो। चेला भगती वाले—श्रीचरण में मोटा-मोटा डुंगर ने नाला, धारोइ सघ रा वाल्हा। मेवाड रै धरम रा रखवाला। मेवाड रा केसरी मैवो—सिरोमणो मैवो ने

मलेइ भूषण केवो जी को केवो जीकोइ छाजे है—ओ बावो ने चमत्कारी ने गुदड़ी में गरक है।

एक वार मैं कुसालपुरा मारवाड मे नीचो पडगयो स्वामीजी सुणता पाँण करडो वीहार करने जैतारण सु साता पुछण ने पदार्‍या बठासुं साथ मे वीहार कर चावडीया आहार पाणी कर वठासु आथण रा वीहार करने रामपुरा रे बारे पीआद मे रातर्‍या—माया साथै हा। रात रो मौको हो। एक माई वीरदीचदजी रो सामायक में पेट दुखणो आयो तो एरो आयो के कबूडा री नाई लूटण लागा। हाथ पग ठडा पडग्याने वेहोसी आवण लागी—शरीर मे पसीनो छुटो तो इण भात को छुटो के पु छे जीकोइ कपडो तर हो जावे—माये माये भाया वाता करवा लागा के मामलो तो अवको है—जरे एक मभूतो कु वार बोलीयो के सेठा! थें केवोनी के मारा माराज तो बडा करामाती है—पछे आ करामातकदी काम आवेला—राजी हो चाहे वेराजी हो—मने तो कागद कोइज दीसीयो—ओ सुणताई अम्बालालजी स्वामी मरडके देती मगलीक सुणायी। जीसुं एकदम पेट री पीडा मीट गई ने वीरदीचदजी आपरे गाँव पगे पगे रवाने वेगीया—लोगो ने गणो अचमो आयो ने कुबारडो पीण पर्गा पडीयो ने केवा लागो के वावो परचो जवरो बतायो। दूजे दिन चडावल पोचीया तो १२ वजीया अम्बालाल जी स्वामी कयो के माराज आजइज सोजत पदारो तो ठीक है, नही तो अठे रुकणो पडेला। मैं कयो कियू सा? तो पाछो कयो के वरसाद जोरदार होवण वाली है और नदीयाँ नाला आवे जेरो परसग है—जरा उठा सुं वीहार कर दोरा सोरा सोजत पोच गया ने घन्टा भर सुं बरसाद भी सुरू हो गई। तीन दिन थोडी गणी वरसती ईज रई। ताल तलीया भरीज गया ने नदी नाला भी आ गया। इण दो वातासुं मालम पडी के ओ गुपत तपस्वी है ने माल छाने मेलो करे है आगे भी मेवाडी सम्परदाय मे पुज श्री मानमलजी महाराज काकराभूत तपस्वी ने ववनसिद्धी ही—राज राणा सारा सको मानता ने जगा जगा वाने जाणता हा और सारी मेवाड में वारो डको वाजतो हो—वीणारा चेला श्री वालकृष्ण मुनिजी अणुता पडीयोडा हा ने वखाण भी नामी गीरामी हो, फेरूं कवीवर्य श्री रीखवदासजी महाराज भी कविता करण मे भी कमी राखीनी। वारा वणायोडा गणा सारा ग्रन्थ मौजूद है—महा मदरीक पुरुष ने चमतकारी हा। पुज श्री एकलिंगदासजी महाराज साहेब साँत मुरती ओर पोचीयोडा पुरुष हा। चेलाँरी सम्पदा पीण चोखी ही। मेवाड भूषण पूज श्री मोतीलाल जी महाराज ने तो वीया-खीयान रा मासटर के देवा तो की अर्णूती वात नही। देस दीसावरो मे गणा घुमीया ने आपरो नाम आछो दीपायो। मारी खीमा मुनि श्री मारमलजी महाराज साहव भी अवलीया जोगी हा। सदा चेरा ऊपर खुसी छायोडी रेती। मीठी-मीठी वाणी री गँगा इज वेती ही जीकारा ऐरा ऐरा वडेरा गियान-क्रिया मे टर्णका हुवा हा सो पछे उणारा वसज श्री अम्बालाल जी स्वामी पीण ऊपर लिखी या मुजब नीवडीया तो काई नवी बात है—उण अदभुत योगीराज री पचासवाँ वरस री दीक्षा जयन्ती मेवाड वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक सघ मनावण रो विचार कर रिया है। उण उपर मैं मारी तरफ सुं प्रेम री परसादी भेजू हूं ने हिरदय सुं चाहूं हुं के स्वामी जी श्री अम्बालालजी घणा वरस सयम मे झूजे ने जसरी जाला भरे ने जिन मारग ने दीपावता जयवन्त वरते।

☐ राष्ट्रसंत उपाध्याय श्री अमर मुनि

[विश्रुत विद्वान, सिद्धहस्त लेखक, चिन्तक मनीषी]

श्री अम्वालाल जी महाराज का मेवाड के जन-जीवन पर अद्भुत प्रभाव है। उनके प्रति जनता की बहुत गहरी श्रद्धा है, भावना है और वह उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलने को प्रयत्नशील है। मुनि श्री जी ने मेवाड की भोली-भाली जनता को वर्षों के दीर्घ प्रयत्न से अधविश्वासों और अशिक्षा के कुहरे से मुक्त किया है, उसमे धार्मिक चेतना के नये स्वर फूके हैं, नये विचार और नये सकल्पो की शुभ धारा वहाने मे अथक प्रयत्न किये हैं—यह जानकर किसे प्रसन्नता नही होगी। उनका कर्तृत्व मेवाड-जागरण का साक्षीभूत है।

उनकी दीक्षा के ५० वर्ष की सम्पन्नता पर श्रद्धालु जनता उनकी साधना, सरलता और उनकी तपस्या का अभिनन्दन कर भगवान महावीर की सत्य-दृष्टि का अनुगमन और अनुमोदन कर रही है। महावीर के समता-प्रधान धर्म की गरिमा मे चार चाँद लगा रही है। मैं तपोधन श्री का अभिनन्दन कर हृदय की असीम मगल कामनाएँ सप्रेषित करता हूं। ☐
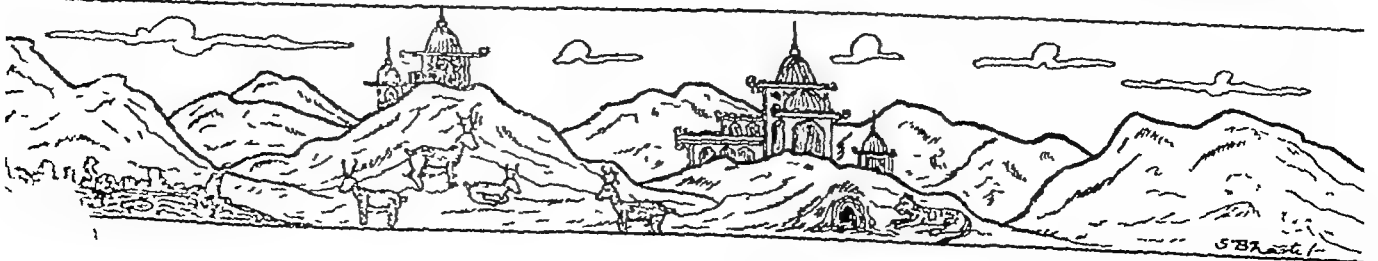
☐ अध्यात्मयोगी श्री पुष्कर मुनि जी

[ओजस्वी वक्ता, शास्त्रवेत्ता तथा ध्यान-साधना रत वरिष्ठ संत]

मुनि प्रवर प्रवर्तक अम्बालाल जी महाराज मेरे स्नेही साथी मुनि हैं। वे मेरे साथ लम्बे समय तक रहे हैं, मैं उन्हें आज से नही अपितु वर्षों से जानता हूँ—खूब अच्छी तरह से जानता हूं। उनका अभिनन्दन ग्रन्थ निकलने जा रहा है, यह एक आह्लाद का विषय है।

अभिनन्दन ग्रन्थ उन्ही व्यक्तियो का निकलता है जिनके जीवन में त्याग-वैराग्य की सुमधुर सौरभ होती है, जो समाज और राष्ट्र के लिए अपने जीवन का बलिदान देता है। यो तो प्रतिदिन हजारो-लाखो व्यक्ति जन्म लेते हैं और मरते हैं। उनका जीवन विकार और वासना से राग-द्वेष से कलुषित होता है। जो जीवन भर अर्धदग्ध कण्डे की तरह विकारो का धुँआ छोड़ते हुए जलते रहते हैं, उनका अभिनन्दन अथवा स्मृति ग्रन्थ नही निकलता।

आम फलो का राजा है, वह उच्च पदाधिकारी से लेकर गरीब व्यक्ति को प्रिय है। वह अपनी भीनी-भीनी सौरभ और मधुरता से जन-जन के मन को आकर्षित करता है। वैसे ही अम्बालाल जी महाराज धनवान से लेकर गरीब सभी को प्रिय हैं। यदि किसी को उनकी लोकप्रियता प्रत्यक्ष देखनी है तो मेवाड के उन नन्हें-नन्हे गाँवों मे जाकर देखें कि एक किसान से लेकर गाँव के सेठ तक उनसे किस प्रकार प्यार करते हैं और वे उन्हें किस प्रकार स्नेह प्रदान करते हैं। वहाँ की पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक आदि समस्याओ को किस प्रकार सुलझाते हैं। वे मेवाड के एक लोकप्रिय सन्त हैं, सभी की जबान पर उनका नाम चमक रहा है। उन्होने मेवाड की ग्राम्य-जनता के हृदय पर शासन किया है। वे मेवाड मे जहाँ भी जाते है वहाँ पर भावुक-भक्तो की टोली उस प्रकार आ जाती है जैसे कमल की सुगन्ध को लेने के लिए भवरे आ जाते है।

मैंने उनके अनेक बार प्रवचन सुने हैं, उनके प्रवचनों में जोश नहीं है किन्तु होश की मात्रा पर्याप्त है। भाषा का लालित्य व चमत्कार नही है, पर भावों का गाम्भीर्य अवश्य है। तर्क की प्रधानता नही किन्तु श्रद्धा की प्रमुखता है। वे प्राय राजस्थानी भाषा मे आगम पर या उससे सम्बन्धित विषयो पर प्रवचन करते हैं। उनके प्रवचन का उद्देश्य है जन-जीवन मे धार्मिक-भावना जाग्रत करना और वे अपने उद्देश्य मे पूर्ण रूप से सफल भी हुए हैं, उन्होने मेवाड के ऐसे प्रान्त मे जहाँ पर धार्मिक-संस्कार का पूर्ण अभाव था, स्वाध्याय किस चिडिया का नाम है? यह भी लोग नही जानते थे वहाँ पर धार्मिक पाठशालाएँ स्थापित कर और युवको मे स्वाध्याय की भावना पैदा कर महान क्रान्ति की है।

यह मेवाड का लोकप्रिय महान सन्त युग युग तक जीवित रहकर जैन धर्म की दिव्य व भव्य ज्योति को जगाता रहे। उनका शिष्य परिवार भी ज्ञान-दर्शन और चारित्र मे निरन्तर प्रगति करता रहे यही मेरी हार्दिक शुभ कामना है।

☐ प्रवर्तक श्री सूर्य मुनि जी

[जैन आगमो के गहन अभ्यासी, वक्ता एव कवि]

प० श्री अम्बालाल जी महाराज अपनी दीक्षा-पर्याय की अर्धशती पूरी कर रहे हैं—यह जानकर प्रसन्नता हुई। विशिष्ट चारित्रात्मा सदैव अभिनन्दनीय होते हैं। आप उनका अभिनन्दन कर रहे हैं—यह अच्छी बात है। वे अपनी चारित्र पर्याय मे लम्बी अवधि तक भव्यात्माओ के अवलम्बन बने रहें और उनकी भक्ति के भाजन बनकर, चारित्र-निर्माण मे असाधारण निमित्त बनें—यही शुभ कामना है।

☐ प्रवर्तक श्री विनय ऋषि जी

[प्रसिद्ध वक्ता, विचारक तथा योगनिष्ठ श्रमण]

जिस व्यक्ति ने अपने जीवन में स्व-पर कल्याण किया हो वह व्यक्ति अभिनन्दन के योग्य माना जाता है।

प्रवर्तक प० मुनि श्री अम्बालाल जी महाराज उन व्यक्तियो मे से एक हैं। आप शास्त्रज्ञ, सुवक्ता, समाज-हितैषी, कमठ-सेवाभावी सन्त हैं। आपने मेवाड-राजस्थान आदि क्षेत्रों मे विचरण करके जनता की सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, शैक्षणिक आदि प्रगति करने मे अच्छा योग दिया है। आप अपनी साधना करते हुए धार्मिक संस्कारो का सिंचन, प्रचार एव प्रसार कर रहे हैं।

आपने अपने गुरुवर्यो के साथ राजस्थान, पजाब, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र आदि क्षेत्रो मे विचरण किया है।

आपकी दीक्षा के ५० वर्ष पूर्ण हुए है। अत शासन-

देव से प्रार्थना है कि आप आरोग्यमय दीर्घायुष्य प्राप्त करें और शासन तथा समाज की अधिकाधिक सेवा करें। यही मगल कामना है।

☐ मालव केसरी श्री सौभाग्यमल जी महाराज

[विद्वान, प्रसिद्ध वक्ता तथा अनेक शिक्षण संस्थाओ के सप्रेरक]

मानव जीवन की सफलता उसके चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। मोक्ष-प्राप्ति के हेतु अनेक प्रयत्न किये जाते हैं, किन्तु साधु-जीवन ही एक ऐसा साधन है जो मोक्ष को प्राप्त कराता है। महान ऋद्धि वाले, सर्वसम्पदा से युक्त तीर्थंकर भगवान ने भी अपने जीवन मे साधु वृत्ति अपनाकर साधना द्वारा मोक्ष प्राप्त किया।

प्र० प० मुनि श्री अम्बालाल जी महाराज एक तपे हुए सन्त हैं। सगठनात्मक शक्ति पर्याप्त है और प्रचारात्मक शक्ति भी। छोटे-छोटे क्षेत्रो को भी पावन करके धर्म का शखनाद फूंकते रहे हैं। उनका जीवन आदर्श और अनुकरणीय है।

उक्त मुनिवर के दीर्घ जीवन की कामना करता हूँ ताकि वे अधिक से अधिक सयमी जीवन व्यतीत कर भव्य-जीवों को ससार रूपी समुद्र से तिरने का प्रशस्त मार्ग-दर्शन करते रहे।

☐ प० मुनि श्री कस्तूरचन्द जी महाराज

[प्रसिद्ध ज्योतिर्विद, स्थविररत्न प्रभावक श्रमण]

यह जानकर अत्यन्त हर्ष हुआ है कि मेवाड़केशरी, प्रिय धर्मोपदेशक, वीर वाणी एव अहिंसा के प्रबल प्रचारक, तपोधनी प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज साहब की अर्द्धशताब्दी भगवती दीक्षा के उपलक्ष मे एक अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है।

प्रवर्तक जी कर्मयोगी, ही नहीं किन्तु दृढ धर्मयोगी भी है। इसके साथ ही आप सुमधुर भाषी, सरल, सौम्य तथा मिलनसार एव महान सेवाभावी मुनि हैं।

इन विगत ५० वर्षो मे मुनि श्री ने गौरवमयी वीर-भूमि मेवाड मे तथा सम्पूर्ण राजस्थान मे भगवान महावीर का पवित्र सन्देश सुनाकर जनमानस को एक अपूर्व आध्यात्मिक प्रेरणा दी और उनका मार्ग-दर्शन किया है।

विश्वास है, आगामी कई वर्षों तक आप निरन्तर धर्म कार्य करते हुए विश्व शान्ति मे सहायक होंगे। मैं आपके यशस्वी सुदीर्घ स्वस्थ जीवन की मगल कामना करता हूँ।

☐ शासनसेवी मुनि श्री बृजलाल जी

[उपप्रवर्तक, स्तोक ज्ञान के गमीरवेत्ता, ज्योतिर्विद सत]

मेवाड की जैन जनता सन्त शिरोमणि प्रवर्त्तक श्री अम्बालाल जी महाराज का अभिनन्दन-समारोह मना रही है, यह जानकर अतीव प्रसन्नता है, मुझे।

मुनि श्री जी के प्रति मेरी सतत् शुभ कामना है—वे चिरायु बनें और जिन-शासन की शोभा बढावें।

☐ मेवाड भूषण श्री प्रतापमल जी महाराज

[सुदक्ष धर्म प्रचारक, प्रवक्ता एव विद्वान श्रमण]

मेवाड सघ शिरोमणि प्रवर्त्तक श्री अम्बालाल जी महाराज साहब से मेरा काफी समय से स्नेह सम्पर्क रहा एव साथ रहने का भी मुझे सुअवसर मिलता रहा है।

आप पूज्य प्रवर श्री एकलिंगदास जी महाराज के परम्परा मे धैर्य-गाम्भीर्य गुणो से युक्त स्व० श्री भारमल जी महाराज के शिष्य रत्न हैं। लघुवय मे दीक्षा स्वीकार कर रत्न-त्रय की आराधना करते हुए जिन शासन की श्लाघनीय सेवा मे मय शिष्य परिवार से सलग्न हैं।

आप सरल-स्वभावी, विमल आचार-विचारी एव सम्प्रदायवाद से निर्लेप रहे हैं।

आप दीर्घायु रहें, यही मेरी शत-शत शुभ कामना है।

●●
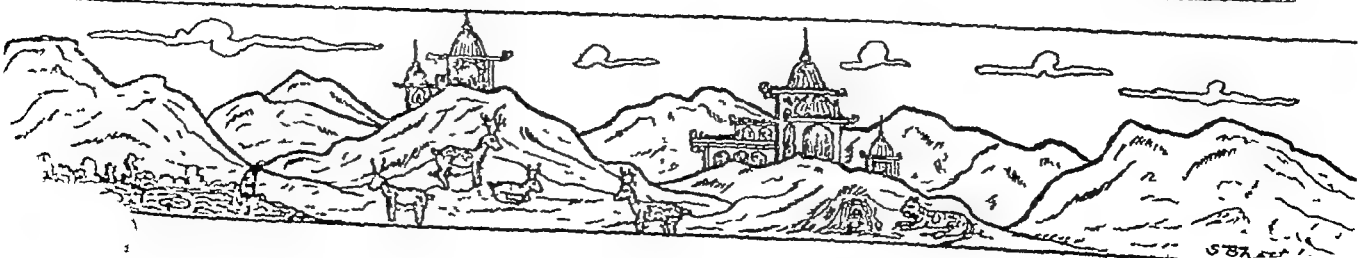
श्रद्धार्चन एवं वन्दना

☐ श्री हीरा मुनि 'हिमकर'

[कवि, गायक एवं सरल आत्मा]

श्रद्धेय परम पूज्य प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज साहब सयम साधना के क्षेत्र में चिरजीवी हो। जैन जीवन प्राप्त होने पर अडतीस वर्षों से मैं आपश्री की गुण गरिमा सुन रहा था, तथा वर्ष भर से सेवा मे रहकर देखा है, दूर की अपेक्षा समीप रहकर सत्सग करने का बहुत आनन्द आता है।

केवल जीव के परिणाम ही अपौद्गलिक क्षायिक सम्यक्त्व है। वेयवी मुनि वही हैं जो उन परिणामो को सम्यक् प्रकार से पहचान सकें। आप श्री वेयवी अर्थात् आगमवेत्ता होने से अपनी साधना मे निरन्तर सावधान रहते हैं। आप श्री को दिनचर्या मे आने वाले अनेक सद्गुणो मे से एक विशेषता है कि दिन में अभी तक सुर्से समाधे शयन नहीं करते हैं। इसी तरह से आप श्री की सरलता, नम्रता आदरणीय है। उनके सद्गुणो के प्रति मैं अपनी श्रद्धा के पुष्प अर्पित करता हूँ।

☐ मदन मुनि 'पथिक'

[लेखक एव कवि, गुरुदेव श्री के शिष्य]

भारतीय समाज के जीवन मे गगा नदी को जो महत्त्व है उसे कौन नही जानता ? पूज्य गुरुदेव श्री भी स्वय मे एक ऐसी ही ज्ञान-गगा है, जिसके तीर पर पहुँच कर और मात्र एक घूँट भर ज्ञान-वारि का आचमन करके ही अज्ञानी जन अपने समस्त जीवन के अज्ञान-कलुष को धो सकते हैं।

आपने जैन शास्त्रो का गम्भीर अध्ययन किया है। ज्योतिष शास्त्र तथा इतिहास के आप प्रकाण्ड-विद्वान हैं। अपने इस समस्त ज्ञान को आप जिस प्रभावशाली मधुर वाणी में उपदेश के रूप मे प्रवाहित करते हैं, उसे सुनकर श्रोता विस्मय विमुग्ध रह जाते हैं, फिर चाहे वे श्रोता जैन हो अथवा अजैन, बालक हो या वृद्ध, पुरुष हो या देवियाँ, ज्ञानी हो या अज्ञानी। यही कारण है कि सैकडो व्यक्ति आपको सदैव घेरे रहते हैं—जन चातको के समान जो मेघ की ओर निर्निमेष दृष्टि से ताकते रहते हैं कि जाने किस क्षण स्वाति बिन्दु प्राप्त हो जाय।

क्या यह विस्मय की तथा साथ ही परम सौभाग्य की बात नहीं है कि आज ७२ वर्ष की आयु मे भी आप सदैव की भाँति समाज की सेवा मे सलग्न हैं ? सच है।

"परोपकाराय सता विभूतय।"

ऐसे महाज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी, त्यागी महानात्मा के पुण्य चरणो मे भागवती दीक्षा के पचास वर्ष सम्पन्न होने के पुनीत अवसर पर हम विशुद्ध अन्त करण से अपने हार्दिक अभिनन्दन एव श्रद्धा-सुमन सादर अर्पित करते हैं।

☐ साध्वी श्री चारित्रप्रभा

[विदुषी लेखिका]

उनका व्यक्तित्व हिमालय की तरह महान है और कृतित्व अनन्त सागर की तरह विराट् हैं। उनके विराट् व्यक्तित्व और कृतित्व को शब्दो की सीमा मे आवद्ध करना क्या सरल कार्य है ? सहिष्णुता की मूर्ति, सरल स्वभावी, शान्त-मूर्ति, श्री १००८ श्रीअम्बालाल जी महाराज के अभिनन्दन-ग्रन्थ का सन्दभ सामने आया तो मैं अपनी विचारधारा को रोक न सकी। श्रद्धेय गुरुवर श्रमण सघ के एक विशिष्ट साधक हैं, उनके सबसे प्रथम दर्शन मुझे देलवाडा मे हुए—उनका सुगठित शरीर, उन्नत ललाट, उन्नत वक्ष, प्रबल मासल भुजाएँ, तेजयुक्त गौर मुख-मण्डल, उनके आन्तरिक सौन्दर्य को प्रकट कर रहा था। मैं उनकी मनमोहन छवि को निहार कर मन मे विचार किया करती थी, कि प्रकृति ने सारा सौन्दर्य समेट कर इनको दे डाला है। जैन श्रमण सघ तथा त्याग साधना व आप अमर कलाकार रहे हैं। वाणी का माधुर्य, व्यक्तित्व का ओज, सत्य का सौन्दर्य तथा सयम की निष्ठा, आपके व्यक्तित्व के अपूर्व गुण रहे हैं। आपकी दृढ निष्ठा, सगठन शक्ति, रचनात्मक कार्य को सफल बना देने की अपूर्व सूझ-

वृक्ष और सत्य को जनता के गले उतार देने का वाग्वैद-गध्य सचमुच अप्रतिहत रहा है।

मुझे यह लिखते हुए प्रसन्नता और गौरव का अनुभव होता है कि उनका जीवन ऐसा ही समर्पित जीवन है। उनके अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रसंग को मैं एक महान् प्रसंग मानती हूँ, मुझे कहना चाहिये कि इस सुअवसर पर यह पंक्तियाँ लिखते हुए मेरा हृदय कृतार्थता का अनुभव कर रहा है।

जितेन्द्रिय साधक! आप श्री जी की धीरता, वीरता, नम्रता, गम्भीरता, शान्ति-प्रियता, निर्भीकता, निष्पक्षता, दयालुता, सेवा भावना, दूरदर्शिता, वाक्पटुता, व्यवहार-कुशलता, संयम-साधना एवं ज्ञानाराधना इत्यादि गुणों की ज्योत्सना भू-मण्डल में जगमगा रही है। आपकी मधुरता की स्मृति होते ही मुझे संस्कृत काव्य की ये पंक्तियाँ याद आ जाती हैं—

अधरं मधुरं वदनं मधुरं,
नयनं मधुरं हसितं मधुरं,
हृदयं मधुरं गमनं मधुरं,
मथुराधिपतेरखिलं मधुरम्,
वचनं मधुरं चरितं मधुरं,
वसनं मधुरं वलितं मधुरं,
चलितं मधुरं भ्रमितं मधुरं,
मथुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥

ठीक इसी प्रकार आपका बोलना, हँसना, चलना सब कुछ मधुर है। आपके नयनों में चातुर्य, माधुर्य-औदार्य और साथ ही साथ दिव्य एवं भव्य जीवन का सत्य भरा हुआ है। आपके चेतनामय वचन मुर्झाये हुए मानव फूलों को नव चेतना और नव स्फुरणा प्रदान करते हैं। सचमुच आपकी वाणी में एक अलौकिक प्रकार का जादू है जो सुनने वालों के समग्र जीवन को आलोकित कर देता है। परम श्रद्धेय जी के पुनित जीवन से कौन परिचित नहीं होगा। उनके विषय में एक पाश्चात्य दार्शनिक हेगेल की युक्ति मुझे याद आ रही है।

"What is well known is not necessarily known merely because it is well-known"

व्यापक एवं विराट है उनकी परिचय प्रशस्ति को शब्द शृंखला की कड़ियों में आबद्ध करना सूर्य को दीपक दिखाने के समान है।

श्रद्धेय श्री गुरुदेव जैन समाज के उपवन में एक फूल बनकर महके। आपकी छत्रछाया में जो भी आता है वह आत्म-विभोर हो जाता है। उनके अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन के इस अवसर पर यद्यपि मैं इस शरीर द्वारा निकट में नहीं हूँ, तथापि शब्दों के द्वारा सन्निकट होकर अपनी तरह से उनका हार्दिक अभिनन्दन करती हूँ और उनके दीर्घ जीवन और आरोग्यता की कामना करती हूँ।

"गुलाब बनकर महक तुझको जमाना जाने,
तेरी भीनी-भीनी महक अपना बेगाना जाने।"
'और की फूल चुने-खूब फिरे दिल शाद रहे,
ऐ बागवाँ "चारित्र" चाहती है गुलशन सदा आबाद रहे।"

□ साध्वी श्री कुसुमवती

महापुरुषों का जीवन ज्योति स्तम्भ सदृश होता है। इनका जीवन संसार भूले-भटके प्राणियों का पथ-प्रदर्शक होता है। उन्हीं महापुरुषों में श्रद्धेय १००८ श्री अम्बा-लाल जी महाराज साहब का नाम भी उल्लेखनीय है। जीवन सौरभमय, पुष्प सदृश है, जिसकी महक समस्त मेवाड़ को महका रही है।

सत्यनिष्ठा, सरलता, निर्भिकता, शान्ति और क्षमा जिनके महान् गुण हैं। इनका जीवन निराला जीवन है, साधना की ज्योति से इनका जीवन ज्योतिर्मय है। संयम की साधना, मानवता की साधना, ज्ञान की साधना से इनका जीवन ओत-प्रोत है। साधना-पथ के पथिक बनकर यह उस पथ को प्रशस्त और उज्ज्वल बना रहे हैं। जीवन में आये हुए विकट संकटों तथा उलझी हुई समस्याओं को सुल-झाने के लिए यह दिव्य विभूति स्वयं भी धैर्य से कार्य करते हुये विश्व के मानवों को भी शान्त धीर-गम्भीर बनने का सन्देश चहुँ ओर प्रसारित कर रहे हैं।

मैंने इनके जीवन को गहराई से देखा, सदा मधुरता का स्रोत ही प्राप्त हुआ। उनकी वैराग्य पीयूष धारा में निमज्जित होकर आत्मा आनन्द से गद्-गद् हो गई। विरोधिता की प्रचण्ड आँधी, कष्टों के, अन्धड़-झंझावात उनको अपने गन्तव्य-पथ से कभी नहीं डिगा सकी। प्रेम का झरना तो प्रवाहित है ही इसके साथ-साथ आप आगम के ज्ञाता भी हैं।

श्रद्धेय श्री अम्बालाल जी महाराज का आगमों का अध्ययन बहुत गहन है। आपने जैन-धर्म, जैन-दर्शन एवं आगम साहित्य का तल-स्पर्शी अध्ययन किया, और उसके

ऊपर उनका गम्भीर चिन्तन भी रहा है। उनके प्रवचनो को सुनने पर उनकी विशाल दृष्टि, उनके विराट् व्यक्तित्व, गम्भीर चिन्तन एव सब धर्मों तथा धर्म पुरुषो के प्रति आदर भाव के स्पष्ट दर्शन होते हैं। उनके जीवन की सबसे बडी विशेषता यह है कि ज्ञान के साथ अभिमान एव अहभाव की कालिमा नही है।

किशोरावस्था मे दीक्षा लेकर सूय के समान प्रकाश, चन्द्रमा के समान शीतलता एव पुष्प के समान सुगन्धि प्राप्त की। आपके महान पाडित्य एव विचार शक्ति के समक्ष महान से महान विचारक एव तार्किक सहसा अपनी तर्क शक्ति को भूल जाते हैं, और पूर्ण रूपेण अपनी शकाओ का समाधान पाकर सन्तुष्ट हो जाते हैं। आपका जीवन केतकी की तरह सुरभित हैं। द्राक्षा की तरह विकसित है। श्रमणसघ का ही नहीं, सम्पूण स्थानकवासी समाज का परम सौभाग्य है जो इस प्रकार की विभूति प्राप्त हुई है—

"तुम सलामत रहो हजार वर्ष,
हर वर्ष के दिन हो पचास हजार।"

मेरी जड लेखनी इनकी अनन्त गुणावली को शब्दो की सीमा मे नहीं बाँध सकती। इनकी महिमा अपरिमित है। मेरी सीमित बुद्धि इन विशाल गुणो का अंकन करने मे असमर्थ है। तो भी भक्ति-भावना से निमज्जित होकर आपके इस अभिनन्दन ग्रन्थ में अपनी तरफ से यही मगल कामना करती हूँ कि आप दीर्घायु हो, आरोग्य हों और जैन समाज की यह पताका इसी प्रकार ऊँची उठी रहे और मैं इनसे सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा ग्रहण कर अपने जीवन को आदशमय बना सकू।

"Let your knowledge be as wide as the horizon, your understanding as deep as the oceans and your ideas high as the heavens above"

"श्रद्धा के अधखिले फूल ये, अनबिधे मोती।
इनमे महक रही है झिलमिल 'कुसुम' हृदय की ज्योति।"

अभिनन्दन—

समता–शुचिता-सत्य समन्वित
पावन जीवन दर्शन।
आगम विचारक! निस्पृह साधक!
लो शत-शत "कुसुम" अभिनन्दन।

☐ साध्वी श्री उमरावकँवर 'अर्चना'

[प्रख्यात विदुषी, वक्तृत्व कला की धनी, चिन्तनशील लेखिका]

परम श्रद्धेय प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज के दर्शनो का सौभाग्य मुझे बहुधा मिला है। जब भी देखा, मैंने उन्हें अपने ज्ञान-ध्यान मे मस्त पाया।

वे मेवाड देश मे ही अधिकतर अपनी विहार यात्रा करते रहते हैं। उधर उनका गौरवपूण वर्चस्व है।

सयम-साधना मे उनके चरण सतत बढते चलें। उनके श्री चरणो में मेरा शत-शत वन्दन-अभिनन्दन हो।

☐ श्री रग मुनि

विश्व के विराट् पुष्पोद्यान मे लाखो पुष्प अपनी सुरभि के द्वारा जनमानस को आनन्दित एव प्रफुल्लित करते हुए जीवन यात्रा व्यतीत करते हैं। उन्ही पुष्पो का जीवन धन्य है जो विकासशील बनकर अपनी कोमलता के द्वारा जनमानस के हृदयपटल पर अपनी अमिट छाप अकित कर देते हैं। पुष्प में तीन गुण होते हैं—कोमलता, सुगन्धि एव कमनीयता। इन्हीं तीन गुणो के द्वारा पुष्प समादरणीय होता है।

मेवाड सघ शिरोमणि पूज्य प्रवर्तक शान्तमूर्ति प० रत्न श्री अम्बालालजी महाराज अपनी शान्त-दान्त कोमल प्रकृति के द्वारा जनमानस को धार्मिक सस्कारो के द्वारा आप्लावित करते हुए मेवाड प्रान्त मे विचरण कर रहे हैं। आपकी सहज प्रतिभा एव सागर सम गम्भीरता से मेवाड प्रान्तीय धार्मिक श्रद्धालु जनता परिचित है। आपका ठोस शास्त्रीय ज्ञान भौतिकवादी चकाचौंध मे पथभ्रान्त मानव के लिए प्रकाश पुञ्ज के समान मार्ग-दर्शक है।

आचाराग सूत्र के अनुसार—"जहा अन्तो तहा बाहिं" आपका जीवन जैसा भीतर वैसा ही बाहर है। आप से कई बार साक्षात् दर्शनो का स्वर्णिम लाभ मिला। आपकी सहज निःसृत निश्छल वाणी एव नवनीत सम कोमल शान्त प्रकृति प्रत्येक मानव मन को बलात धार्मिक क्षेत्र मे आकर्षित करती रहती है। कई बार विवादास्पद विषयो पर गम्भीर चर्चायें करते हुए देखें। आपके नेत्रो मे कभी रोष-मिश्रित मालिमा नहीं देखी।

आपका जीवन सहज एवं आडम्बर रहित है। जैन शास्त्रों के आप प्रकाण्ड विद्वान हैं। आचारनिष्ठा के साथ अपना यशस्वी जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

आप मेवाड़ प्रान्त के दुर्गम पर्वतों एवं ककरीले विषम मार्ग मे अनेक परिषह सहन करते हुए धर्म-प्रचार मे सलग्न हैं।

आपकी दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के पावन प्रसंग पर श्रद्धालु-भक्तों के द्वारा श्रद्धा सुमन अर्पित करने हेतु अभिनन्दन-ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है, उसी अभिप्राय से मैं भी प्रेरणा प्राप्त कर श्रद्धा सुमन समर्पित कर रहा हूँ।

☐ श्री ईश्वर मुनि

जननी जन्मदाता को 'माता' की सज्ञा दी गई है। विश्व मे पुत्रो को जन्म देने वाली असख्य माताएँ हैं। जो पुत्र जन्म पर अपने आप में गौरव का अनुभव करती हैं। तत्त्वज्ञों का कहना है कि केवल जन्म देने से ही उसके सार्थकता की पूर्ति नही हो सकती। अपनी सार्थकता की पूर्ति हेतु, उसे पुत्र को जन्म देने के बाद उसका पालन-पोषण इस प्रकार से करना होगा ताकि उसमे सद्गुण के बीज उत्पन्न हों। इस प्रकार का बालक बड़ा होने के बाद अपने सुकार्यों द्वारा न केवल अपना ही यश अजर-अमर करेगा, किन्तु अपने माता-पिता की स्मृति चिरस्थायी बनाए रख सकेगा। जो सन्तान अपनी माता के दूध को लजाता है वह आत्मघातकी समझा गया है। कहा भी है—

> जननी जणे तो ऐसा जण, के दाता के शूर।
> नहीं तो रहिजे वाझ ही, मती गमाजे नूर ॥

अर्थात्—हे! जन्म देने वाली माता! तुझे यदि किसी सन्तान को उत्पन्न करना है तो ऐसी सुसस्कारी सन्तानों को जन्म दे जो प्रथम दातार हृदय की हो अर्थात् समय आने पर गरीब, अनाथ एव असहाय की आधारभूत बनकर दानी के नाम से प्रसिद्ध होवे, या फिर ऐसे शूरवीर को जन्म देना जो सकट के समय अन्यायी एव अत्याचारियों का मुकाबला कर सके तथा समय आने पर न्याय धर्म की रक्षा हेतु अपने प्राणों की आहुति भी समर्पित कर दे। यदि इस प्रकार के पुत्रों को जन्म देने मे तू असमर्थ है तो इससे तेरा वाझ रहना ही अच्छा है किन्तु तू अपनी आनबान को मत गवाना।

गृहस्थाश्रम का त्याग करना कोई आसान नही है किन्तु जो प्राणी गृहस्थाश्रम से विमुक्त होकर विश्व-कल्याण हेतु अपना सर्वस्व अर्पित करता हुआ विधियुक्त षट्-कर्म करता है वह निश्चित रूप से प्रशसा का पात्र है। जिस मेवाड़ के गौरव की रक्षा हेतु यहाँ की राणी पद्मिनी ने जलती हुई चिता मे सहर्ष प्रवेश कर अपनी आहुति देदी उसी वीर भूमि मे थामला ग्राम मे सवत १९६२ मे एक माता की कोख से ऐसे पुत्र का जन्म हुआ जो आज प्रत्येक श्रावक के अन्त करण मे विराजे हुए हैं। यह भव्यमूर्ति 'पूज्य प्रवर्तक श्री अम्बालालजी महाराज साहब' के नाम से विख्यात हैं, जिन्होने अल्प आयु मे ही मेवाड़भूषण पूज्य श्री मोतीलाल जी महाराज साहब के कर-कमलो से दीक्षा अगीकार कर गृहस्थाश्रम से विमुक्त हुए।

आप श्री ने गुरु के सान्निध्य मे रहकर जैन एव ज्योतिषशास्त्रो का गहन अध्ययन किया। गुरु की आज्ञानुसार तप-सयम की आराधना करते हुए आप धर्म-प्रचार मे सलग्न हो गये। आपका व्यक्तित्व सरल, सौम्य एव मधुर है। जनसाधारण आपके सम्पर्क में आकर बहुत प्रसन्न होते हैं। आप जनसाधारण की भाषा मे ही अपने उपदेशात्मक प्रवचन फरमाते हैं। गहन से गहन तत्त्व भी आप बड़े मार्मिक किन्तु सरल ढग से समझाते है। आपका जीवन आडम्बर एव छलकपट से रहित है। आप अपनी अमृतवाणी से जनता मे धर्म के बीज अकुरित करते हैं, इससे सहज ही में जनसाधारण आपकी ओर आकर्षित हो धर्म लाभ प्राप्त करते हैं।

मेवाड़ मे आपकी सुख्याति के कारण भावुक जनता ने आपको 'मेवाड़ी-पूज्य' की सज्ञा से विभूषित किया है। जनमानस आपको अपना गुरु मानती है। यह सभी आपकी अमृतवाणी का ही परिणाम है। आपकी अमृत-वाणी का श्रवण कर जनता परभव के लिए भी सामग्री सचय करती है, इसी कारण आप जनता मे परोकारी हैं। किसी कवि ने कहा है—

> "सरवर तरवर सतजन चौथा वरसे मेह।
> पर उपकार के कारणे चारो धारा देह ॥"
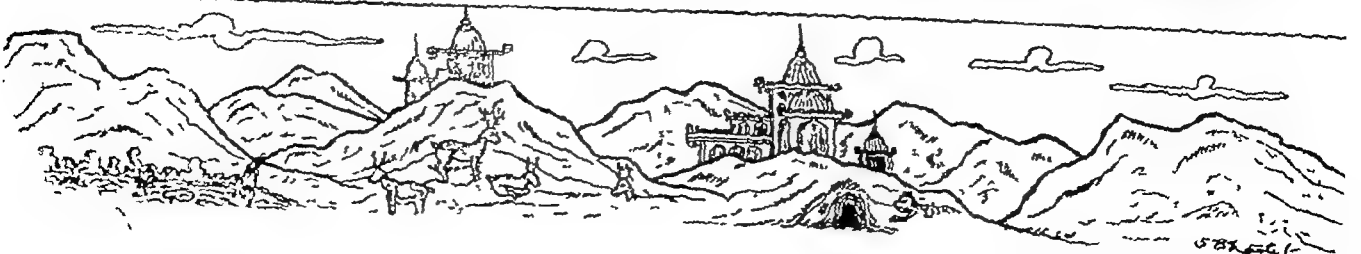
आप भी इसी प्रकार से अविरल गति से विचरण कर रहे हैं। सत जीवन का जो प्रकाश पुञ्ज आपने

ऊपर उनका गम्भीर चिन्तन भी रहा है। उनके प्रवचनों को सुनने पर उनकी विशाल दृष्टि, उनके विराट् व्यक्तित्व, गम्भीर चिन्तन एव सव धर्मों तथा धर्म पुरुषो के प्रति आदर भाव के स्पष्ट दर्शन होते हैं। उनके जीवन की सबसे बडी विशेषता यह है कि ज्ञान के साथ अभिमान एव अहभाव की कालिमा नही है।

किशोरावस्था मे दीक्षा लेकर सूर्य के समान प्रकाश, चन्द्रमा के समान शीतलता एव पुष्प के समान सुगन्धि प्राप्त की। आपके महान पाडित्य एव विचार शक्ति के समक्ष महान से महान विचारक एव तार्किक सहसा अपनी तर्क शक्ति को भूल जाते हैं, और पूर्ण रूपेण अपनी शकाओ का समाधान पाकर सन्तुष्ट हो जाते हैं। आपका जीवन केतकी की तरह सुरभित हैं। द्राक्षा की तरह विकसित है। श्रमणसघ का ही नही, सम्पूर्ण स्थानकवासी समाज का परम सौभाग्य है जो इस प्रकार की विभूति प्राप्त हुई है—

"तुम सलामत रहो हजार वर्ष,
हर वर्ष के दिन हो पचास हजार।"

मेरी जड लेखनी इनकी अनन्त गुणावली को शब्दो की सीमा मे नही बाँध सकती। इनकी महिमा अपरिमित है। मेरी सीमित बुद्धि इन विशाल गुणो का अंकन करने मे असमर्थ है। तो भी भक्ति-भावना से निमज्जित होकर आपके इस अभिनन्दन ग्रन्थ में अपनी तरफ से यही मंगल कामना करती हूँ कि आप दीर्घायु हो, आरोग्य हों और जैन समाज की यह पताका इसी प्रकार ऊँची उठी रहे और मैं इनसे सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा ग्रहण कर अपने जीवन को आदर्शमय बना सकू।

"Let your knowledge be as wide as the horizon, your understanding as deep as the oceans and your ideas high as the heavens above"

"श्रद्धा के अधखिले फूल ये, अनबिंधे मोती।
इनमे महक रही है झिलमिल 'कुसुम' हृदय की ज्योति।"

अभिनन्दन—

समता-शुचिता-सत्य समन्वित
पावन जीवन दर्शन।
आगम विचारक! निस्पृह साधक।
लो शत-शत "कुसुम" अभिनन्दन।

☐ साध्वी श्री उमरावकँवर 'अर्चना'

[प्रख्यात विदुषी, वक्तृत्व कला की धनी, चिन्तनशील लेखिका]

परम श्रद्धेय प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज के दर्शनो का सौभाग्य मुझे बहुधा मिला है। जब भी देखा, मैंने उन्हें अपने ज्ञान-ध्यान मे मस्त पाया।

वे मेवाड देश मे ही अधिकतर अपनी विहार यात्रा करते रहते हैं। उधर उनका गौरवपूर्ण वर्चस्व है।

सयम-साधना मे उनके चरण सतत बढते चलें। उनके श्री चरणो मे मेरा शत-शत वन्दन-अभिनन्दन हो।

☐ श्री रग मुनि

विश्व के विराट् पुष्पोद्यान मे लाखो पुष्प अपनी सुरभि के द्वारा जनमानस को आनन्दित एव प्रफुल्लित करते हुए जीवन यात्रा व्यतीत करते हैं। उन्ही पुष्पो का जीवन धन्य है जो विकासशील बनकर अपनी कोमलता के द्वारा जनमानस के हृदयपटल पर अपनी अमिट छाप अकित कर देते हैं। पुष्प मे तीन गुण होते हैं—कोमलता, सुगन्धि एव कमनीयता। इन्हीं तीन गुणो के द्वारा पुष्प समादरणीय होता है।

मेवाड सघ शिरोमणि पूज्य प्रवर्तक शान्तमूर्ति प० रत्न श्री अम्बालालजी महाराज अपनी शान्त-दान्त कोमल प्रकृति के द्वारा जनमानस को धार्मिक सस्कारों के द्वारा आप्लावित करते हुए मेवाड प्रान्त में विचरण कर रहे हैं। आपकी सहज प्रतिभा एव सागर सम गम्भीरता से मेवाड प्रान्तीय धार्मिक श्रद्धालु जनता परिचित है। आपका ठोस शास्त्रीय ज्ञान भौतिकवादी चकाचौंध में पथभ्रान्त मानव के लिए प्रकाश पुञ्ज के समान मार्ग-दर्शक है।

आचाराग सूत्र के अनुसार—"जहा अन्तो तहा बाहिं" आपका जीवन जैसा भीतर वैसा ही बाहर है। आप से कई बार साक्षात् दर्शनो का स्वर्णिम लाभ मिला। आपकी सहज नि सृत निश्छल वाणी एव नवनीत सम कोमल शान्त प्रकृति प्रत्येक मानव मन को बलात् धार्मिक क्षेत्र मे आकर्षित करती रहती है। कई बार विवादास्पद विषयो पर गम्भीर चर्चायें करते हुए देखें। आपके नेत्रो मे कभी रोष-मिश्रित लालिमा नहीं देखी।

आपका जीवन सहज एव आडम्बर रहित है। जैन शास्त्रो के आप प्रकाण्ड विद्वान हैं। आचारनिष्ठा के साथ अपना यशस्वी जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

आप मेवाड प्रान्त के दुर्गम पर्वतो एव ककरीले विषम मार्ग मे अनेक परिषह सहन करते हुए धर्म-प्रचार में सलग्न हैं।

आपकी दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के पावन प्रसग पर श्रद्धालु-भक्तो के द्वारा श्रद्धा सुमन अर्पित करने हेतु अभिनन्दन-ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है, उसी अभिप्राय से मैं भी प्रेरणा प्राप्त कर श्रद्धा सुमन सर्मापित कर रहा हूँ।

☐ श्री ईश्वर मुनि

जननी जन्मदाता को 'माता' की सज्ञा दी गई है। विश्व मे पुत्रो को जन्म देने वाली असख्य माताएँ हैं। जो पुत्र जन्म पर अपने आप मे गौरव का अनुभव करती हैं। तत्त्वज्ञो का कहना है कि केवल जन्म देने से ही उसके सार्थकता की पूर्ति नही हो सकती। अपनी सार्थकता की पूर्ति हेतु, उसे पुत्र को जन्म देने के बाद उसका पालन-पोषण इस प्रकार से करना होगा ताकि उसमे सद्गुण के बीज उत्पन्न हो। इस प्रकार का बालक बडा होने के बाद अपने सुकार्यो द्वारा न केवल अपना ही यश अजर-अमर करेगा, किन्तु अपने माता-पिता की स्मृति चिरस्थायी बनाए रख सकेगा। जो सन्तान अपनी माता के दूध को लजाता है वह आत्मघातकी समझा गया है। कहा भी है—

जननी जणे तो ऐसा जण, के दाता के शूर।
नही तो रहिजे बाझ ही, मती गमाजे नूर ॥

अर्थात्—हे! जन्म देने वाली माता! तुझे यदि किसी सन्तान को उत्पन्न करना है तो ऐसी सुसस्कारी सन्तानो को जन्म दे जो प्रथम दातार हृदय की हो अर्थात् समय आने पर गरीब, अनाथ एव असहाय की आधारभूत बनकर दानी के नाम से प्रसिद्ध होवे, या फिर ऐसे शूरवीर को जन्म देना जो सकट के समय अन्यायी एव अत्याचारियो का मुकाबला कर सके तथा समय आने पर न्याय-धर्म की रक्षा हेतु अपने प्राणों की आहुति भी सर्मापित कर दे। यदि इस प्रकार के पुत्रो को जन्म देने मे तू असमर्थ है तो इससे तेरा बाझ रहना ही अच्छा है किन्तु तू अपनी आनबान को मत गवाना।

गृहस्थाश्रम का त्याग करना कोई आसान नही है किन्तु जो प्राणी गृहस्थाश्रम से विमुक्त होकर विश्व-कल्याण हेतु अपना सर्वस्व अर्पित करता हुआ विधियुक्त षट्-कर्म करता है वह निश्चित रूप से प्रशसा का पात्र है। जिस मेवाड के गौरव की रक्षा हेतु यहाँ की राणी पद्मिनी ने जलती हुई चिता मे सहर्ष प्रवेश कर अपनी आहुति देदी उसी वीर भूमि मे थामला ग्राम मे सवत १९६२ मे एक माता की कोख से ऐसे पुत्र का जन्म हुआ जो आज प्रत्येक श्रावक के अन्त करण मे विराजे हुए हैं। यह भव्यमूर्ति 'पूज्य प्रवर्त्तक श्री अम्बालालजी महाराज साहब' के नाम से विख्यात है, जिन्होने अल्प आयु मे ही मेवाडभूषण पूज्य श्री मोतीलाल जी महाराज साहब के कर-कमलो से दीक्षा अगीकार कर गृहस्थाश्रम से विमुक्त हुए।

आप श्री ने गुरु के सानिध्य मे रहकर जैन एव ज्योतिषशास्त्रो का गहन अध्ययन किया। गुरु की आज्ञानुसार तप-सयम की आराधना करते हुए आप धर्म-प्रचार मे सलग्न हो गये। आपका व्यक्तित्व सरल, सौम्य एव मधुर है। जनसाधारण आपके सम्पर्क मे आकर बहुत प्रसन्न होते हैं। आप जनसाधारण की भाषा मे ही अपने उपदेशात्मक प्रवचन फरमाते हैं। गहन से गहन तत्त्व भी आप बड़े मार्मिक किन्तु सरल ढग से समझाते हैं। आपका जीवन आडम्बर एव छलकपट से रहित है। आप अपनी अमृतवाणी से जनता मे धर्म के बीज अकुरित करते हैं, इससे सहज ही मे जनसाधारण आपकी ओर आर्कापित हो धर्म लाभ प्राप्त करते हैं।

मेवाड में आपकी सुख्याति के कारण भावुक जनता ने आपको 'मेवाडी-पूज्य' की सज्ञा से विभूषित किया है। जनमानस आपको अपना गुरु मानती है। यह सभी आपकी अमृतवाणी का ही परिणाम है। आपकी अमृत-वाणी का श्रवण कर जनता परभव के लिए भी सामग्री सचय करती है, इसी कारण आप जनता मे परोकारी हैं। किसी कवि ने कहा है—

"सरवर तरवर सतजन चौथा बरसे मेह।
पर उपकार के कारणे चारो धारा देह ॥"

आप भी इसी प्रकार से अविरल गति से विचरण कर रहे हैं। सत जीवन का जो प्रकाश पुञ्ज आपने

उपलब्ध किया उसका अत्यधिक प्रकाश आप सर्वत्र फैलाते रहें। विश्व के अज्ञानी जीवों को आप दिन दूनी एव रात चौगुनी गति से लाभान्वित करते रहे तथा आपके ज्ञान-दर्शन चारित्र्य से जिनशासन उद्योतित होता रहे।

आपकी दीक्षा को ५० वर्ष पूर्ण हो चुके हैं। इस मगलमय अवसर पर मैं अपनी ओर से श्रद्धा कुसुम अर्पित करता हुआ हार्दिक अभिलाषा करता हूँ कि आप अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह के सिद्धान्तो का अविरल गति से प्रचार करें तथा जिनशासन की नींव मजबूत बनाते हुए दीर्घ जीवन प्राप्त करें।

☐ मुनि श्री सुमेरचन्दजी

ससार मे मातृत्व-भाव का बहुत बड़ा महत्त्व है। माता मातृत्व भाव के कारण ही ढेरों सारे कष्टो को सहन करती है एक नन्हें अबोध बच्चे के लिए। अबोध बच्चा माता की गोद में निर्भय बनके रहता है, क्योंकि वह उसकी सुरक्षा करती है। इसीलिए उसके उपकारो से उऋण होना अत्यन्त कठिन है।

"जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" एक अबोध बच्चे की सुरक्षा के कारण उसका इतना बड़ा उपकार माना गया।

जिसने ससार के समस्त प्राणियो को आत्मीय बुद्धि से देखा, समस्त प्राणियो को निर्भय बनाया अर्थात् जिनकी तरफ से समस्त प्राणी निर्भय बन गये उनकी महिमा-गरिमा कैसी व कितनी है इसका माप लेना, इसकी थाह लेना नामुमकिन है।

सरलात्मा श्रद्धेय प्रवर्तक श्री अम्बालालजी महाराज एक ऐसे ही महान् भव्य मना है। "अम्बा" शब्द माता का सूचक है। आप एक दिन, दो दिन नहीं, किन्तु पच्चास-पच्चास वर्ष से इस पद का निर्वाह कर रहे हैं।

आपका स्वभाव बड़ा ही सरल और मिलनसार है। आपने सयम-साधना मे जो कुछ प्राप्त किया उसे 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' समर्पित कर दिया। मेवाड़, मारवाड़, गुजरात, महाराष्ट्र व मालवा आदि अनेक प्रान्तो मे विहरण कर जनसमाज को भगवान महावीर के वीतराग-धर्म का प्रतिबोध दिया। अत इस स्वर्णिम अवसर पर मैं अपनी हार्दिक श्रद्धाजलि समर्पित करता हूँ।

☐ मुनि श्री उदयचन्द जी 'जैन सिद्धान्ताचार्य'

इस परम पावन भारत भूतल पर अनेक महापुरुष हुए हैं जिनमे से अद्भुत प्रतिभा सम्पन्न क्रान्तिकारी धर्म पथ प्रदर्शक प्रवर्त्तक पण्डित श्री अम्बालाल जी महाराज साहब हैं। जिन्होने अपना अधिक अमूल्य समय गुरु-सेवा, सुश्रूषा एव ज्ञान साधना तथा धर्मोद्योत में ही व्यतीत करके आत्म कल्याण कर रहे हैं।

सर्वदा से ही विश्व मे सन्तो का स्थान सर्वोपरि रहा है, क्योंकि सन्तो ने सेवा एव तपस्या से विश्व को आलोकित किया है।

महापुरुषो के अभिनन्दन ग्रन्थ को मानव पढ़कर एव मनन-चिन्तन करके स्वकीय जीवन को सफल बना सकते हैं।

प्रवर्त्तक जी महाराज साहब जब गृहस्थावस्था मे थे तभी से आपको धार्मिक ज्ञान प्राप्ति की बड़ी जिज्ञासा रहती थी क्योंकि आप गृहस्थी में रहते हुए भी परम उदासीन रहकर कवि की कविता—

"गेही पे गृह मे न रचै ज्यो जलतें भिन्न कमल है।"

सार्थक करते थे। निमित्त मिलते ही मेवाड़-भूषण पूज्य श्री मोतीलाल जी महाराज साहब से भागवती दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा लेकर आपने पूज्य महाराज साहब की तथा अपने गुरुदेव व्याख्यानदाता श्री भारमल जी महाराज साहब की बहुत सेवा-सुश्रूषा की।

दीक्षा लेने के समय से अद्यावधि आपने चारो अनुयोगों-शास्त्रों का गहन ज्ञान प्राप्त किया। आपकी शास्त्रो, जैनागमो द्वारा होने वाली तत्त्व विवेचना, व्याख्यान-शैली बहुत ही आकर्षक एव रुचिवर्धक है। आप विद्वानो की सगति मे रहकर तत्त्व निर्णय करते रहने के हमेशा इच्छुक रहे हैं।

आपने केवल मेवाड़ देश में ही विहार नहीं किया अपितु बम्बई, महाराष्ट्र, खानदेश, राजस्थान आदि प्रदेशो मे पाद विहार करके धर्मोद्योत किया।

यद्यपि श्रद्धेय प्रवर्त्तक श्री की सेवा का लाभ मुझे अधिक प्राप्त नहीं हो सका, फिर भी अजमेर सम्मेलन

मे समाज के विघटन को देखकर आप अत्यन्त सन्तप्त देखे जाते थे। उस समय मैंने अल्पावधि मे ही आपके सद्विचारो का सन्निकट से अनुभव किया।

आपके जीवन के विषय में जितना भी कुछ लिखा जाय किंचित् मात्र ही रहेगा। अत मैं श्रद्धेय प्रवर्त्तक जी महाराज साहब के गुणानुवाद करने मे असमर्थ होते हुए आपकी लेखनी को विराम देता हूँ।

☐ साध्वी श्री विमलवतीजी

भारतवर्ष महापुरुषो का देश है। यह अवतारो की जन्मभूमि और सन्तो की पुण्य-भूमि है। वीरो की कर्म-भूमि और विचारको की प्रचार भूमि रही है। यहाँ पर अनेक नव-रत्न, देश-रत्न और समाज-रत्न पैदा हुए हैं। जिन्होंने मानव मन की शुष्क भूमि पर स्नेह की सरस सरिता प्रवाहित की। जन-जन के मन-मन मे अभिनव जागृति का सचार किया और सयम की उज्ज्वल, निर्मल ज्योति जगाई।

सयम क्या है? इन्द्रियो पर रोक लगाना ही सयम है। जो भव्य मन और इन्द्रियो पर नियन्त्रण करता है वही श्रेष्ठ और ज्येष्ठ साधक है। समस्त ससार इन्द्रियो का दास बना हुआ है। आत्मा के अनन्त पराक्रम को इन्द्रियो की दासता छीन लेती है। अनन्त पराक्रम को अक्षुण्ण रखने के लिए इन्द्रिय-निग्रह (सयमनिष्ठा) करना अनिवार्य है।

महापुरुषो का इन्द्रिय-निग्रह अपूर्व ही होता है। वे अपने जीवन को सयमित बनाते हुए दूसरो के जीवन को भी सयमित बनाते हैं। इन्द्रिय-विजेता ही आत्म-साधना कर सकता है। आत्म-साधना के द्वारा सद्गुणो का विकास करना ही उनका परम ध्येय होता है।

इन्द्रिय निग्रह और मनोनिग्रह पर भगवान महावीर ने बड़े ही सुन्दर ढग से फरमाया है—

"जहा कुम्मे स अगाई सए देहे समाहरे,
एव पावाई मेहावी अज्झप्पेण समाहरे।"

विकास की ओर बढने की भावना रखने वाले मानव के लिए सयमीवृत्ति का विकास करना अनिवार्य है। ऐन्द्रिक, शारीरिक और मानसिक शक्तियो का सुकार्यों और परोपकार मे व्यय करना ही सयम है। यह ही सुख का राजमार्ग है।

इसी सुख के राजमार्ग पर चलने वाले मेवाड़-भूषण, पण्डितरत्न, त्यागी, तपोधनी, तत्त्वज्ञ श्री अम्बालाल जी महाराज साहब का हम हार्दिक अभिनन्दन करते है।

आप श्री उदार विचार के धनी और उच्च कोटि के कर्मठ साधक हैं। माधुर्यपूरित भाषा, नम्रवृत्तिमय जीवन और समन्वय सिद्धान्त के माध्यम से सगठन और स्नेह की सरिता प्रवाहित करने मे आप अत्यन्त दक्ष हैं। आपने इस दीर्घ दीक्षावधि मे लाखो श्रोताओ को अपनी माधुर्य पूर्ण वाणी द्वारा अभिभूत एव अभिसिंचित किया है।

ऐसी परम पवित्र विभूति के पाद-पद्मो मे भक्ति भरी पुष्पाञ्जलि के साथ शासन देव से यह प्रार्थना करती हूँ कि आप श्री को दीर्घायु बनावें।

☐ राजेन्द्र मुनि शास्त्री, काव्यतीर्थ
[उदीयमान लेखक]

परमादरणीय प्रवर्तक श्री अम्बालालजी महाराज का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित होने जा रहा है। मुझे उनके सम्बन्ध मे लिखने के लिए कहा गया है। मैं सोचता हूँ, क्या लिखूँ? महापुरुषो के सम्बन्ध में लिखना टेढी खीर है।

प० मुनि श्री अम्बालाल जी महाराज के गृहस्थाश्रम मे मैंने दर्शन भी किये होंगे पर मुझे स्मरण नही। श्रमण बनने के पश्चात् सर्वप्रथम मैंने उनके दर्शन साण्डेराव सम्मेलन मे किये। मैंने उनके सम्बन्ध मे पूज्य गुरुदेव राजस्थान केसरी पुष्कर मुनि जी महाराज व समर्थ साहित्यकार श्री देवेन्द्र मुनिजी महाराज से बहुत कुछ सुन रखा था। जैसा सुना था वैसा ही मैंने उनको पाया। स्वभाव से सरल, मिलनसार और विचारो से उदार।

उनके जीवन में हजार-हजार विशेषताएँ हैं पर सबसे बड़ी विशेषता जो मैंने उनमे पाई वह उनकी दृढ़ सकल्प शक्ति। स्थानकवासी परम्परा मुख्य रूप से आषाढ़ी पूर्णिमा से उनपचास या पचासवें दिन सवत्सरी महापर्व मनाती रही है। गतवर्ष सन् १९७४ मे दो भाद्रपद होने से यह प्रश्न सामने आया। समाज मे बहुमत ४९-५० वें के पक्ष मे। फलत एक तूफान पैदा हो गया। श्रमण सघ के आचार्य सम्राट् आनन्द ऋषिजी महाराज एव श्रमण सघ
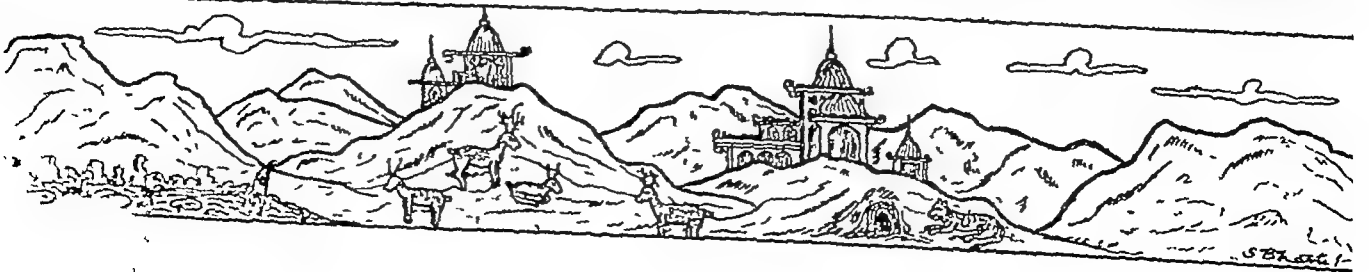
के मूर्धन्य व कर्मठ कार्यकर्ता, मरुधर केसरी जी महाराज भी ४९-५० दिन को मानने वाले थे पर आप श्री की चुनौति के कारण उन्हें घुटने टेकने पड़े और अपने विचारो को सगठन की दृष्टि से वदलना पडा। यह है आपके सत्याग्रह और सकल्प की महान् शक्ति का चमत्कार जिसके कारण अल्पमत की बहुमत पर विजय हुई।

मैं ऐसे दृढ़ सकल्प के धनी-मुनि के चरणो मे शतश वन्दन के साथ यही प्रार्थना करता हूँ कि आप युग युग तक जीते रहे और अपनी सकल्प शक्ति के चमत्कार से विश्व को सत्य का रास्ता दिखाते रहे।

☐ साध्वी श्री चन्द्रावती
[चिन्तनशील लेखिका, कवियित्री]

सफलता का मूल-मन्त्र है—ध्येय सिद्धि। जो व्यक्ति अपने ध्येय की प्राप्ति करते है उनसे सारा विश्व आकृष्ट होता है, जैसे वन मे खिले कमल पर लाख-लाख मधुप निछावर होते हैं। मेवाड के महर्षि सन्त रत्न पूज्य श्री अम्बालाल जी महाराज एक ऐसे ही अध्यात्म योगी हैं। आत्म-साधना ही उनके जीवन का लक्ष्य है। उस लक्ष्य पर वे जीवन के प्रथम चरण अर्थात् अपनी नन्ही सी आयु मे ही चल पड़े और अब ५० वर्ष की दीर्घ आयु तक एक ही लक्ष्य पर एक लगन से निरन्तर बढ रहे हैं। वस्तुत ऐसे पारगत आत्म-साधक कोटि-कोटि बधाई के पात्र हैं। उनकी साधना स्तुत्य है, प्रशसनीय है।

पूज्य प्रवत्तक श्री के ५० वें वर्ष की सफलता मे प्रकाशित अभिनन्दन ग्रन्थ उनके त्याग, साधना व सयम-मय जीवन का समुचित सम्मान है। जो इस भौतिक युग के अन्धकार मे आध्यात्मिक ज्योति की स्वर्ण रश्मियाँ विकीर्ण करेगा। और युग-युग के आत्म-साधको के लिए प्रकाश स्तम्भ बनकर पथ-प्रदर्शन करता रहेगा। इसी अभिलाषा पूर्वक मैं इन तुच्छ शब्द सुमनो की श्रद्धा सुरभित माला से श्रद्धार्चन करती हूँ। वे युग-युग जीएँ और अध्यात्म का आलोक प्रदान करके स्वपर के हित साधक बनें। उनके द्वारा यह मेदपाठ गौरवान्वित है। एक सस्कृत सूक्ति के अनुसार—

> "कुल पवित्र जननी कृतार्था,
> वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
> अपारे ससारे लीन
> परे ब्रह्मणि यस्य चेत ॥"

☐ महासती श्री शीलवती जी

वीतराग भगवान महावीर के शिष्य परम्परा की सतत निर्मलधारा चिरावधि से प्रवाहित हो रही है। जिसमे अनेकानेक आत्माओ ने मज्जन कर स्व व परात्मा को परम रूप दिया है। वे महानता के उच्च शृग पर आज भी ज्योतिपुज के रूप मे समस्त जगत का पथ-प्रदशन कर रहे हैं। इसी परम्परा मे पूज्य प्रवत्तक श्री अम्बालाल जी महाराज साहब को भी गिना जाता है। जिन्होने अत्यन्त अल्पायु मे ही अपने लिए साधना एव सयम का कठोर माग अपनाया और उस माग पर गत् ५० वर्षों से अविरल स्वात्मा व परात्मा के कल्याण हेतु प्रयत्नशील हैं।

इस दीर्घावधि मे पूज्य प्रवत्तक श्री ने न केवल जैन जगत वरन् सम्पूर्ण मानव-जीवन को सम्प्रति-काल की भौतिकवादी विषमताओ से मुक्ति दिलाने का भरसक प्रयत्न किया है। वे विनय के भण्डार हैं, गाम्भीय के समुद्र हैं, ज्ञान-विज्ञान के आगार हैं, सयम के कन्चन हैं, तप के अटल हिमालय हैं और पुण्य के निमल स्रोत हैं।

ऐसी निर्मल आत्मा का अभिनन्दन स्वत प्रशसनीय है। मैं परम पूजनीय प्रवर्तक श्री के इस अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशन के शुभावसर पर कामना करती हूँ कि पूज्य प्रवतक श्री का जीवन चिरायु होकर विश्व की सतप्त मानवता को शान्ति प्रदान करें, हमारा पथ-प्रदशन करता रहे और स्व-कल्याण तथा परहित के परम लक्ष्य का प्राप्त करें।

☐ साध्वी श्री पुष्पवती, 'साहित्यरत्न'

पण्डित प्रवर सन्त-मानस प्रवतक श्री अम्बालाल जी महाराज स्थानकवासी जैन समाज के एक जाने माने और पहचाने हुये सन्त रत्न हैं। उनका व्यक्तित्व एव कृतित्व इन्द्रधनुष के समान मनमोहक है। जिसमे ज्ञान-दशन, चारित्र, तप और त्याग के विविध रग जगमगा रहे है, जिन्हें देखते हुए आँखें अघाती नहीं, मन भरता नहीं। भगवान महावीर के आदर्श सिद्धान्त उनके जीवन के कण कण में मुखरित हो रहे हैं। वे साधुता के शृगार हैं, मानवता के दिव्यहार हैं। ऐसे सन्त का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित होने जा रहा है, यह एक प्रसन्नता की बात है।

जहाँ तक मुझे स्मरण है कि अम्बालाल जी महाराज के सद्गुरुदेव का नाम प० भारमल जी महाराज है।
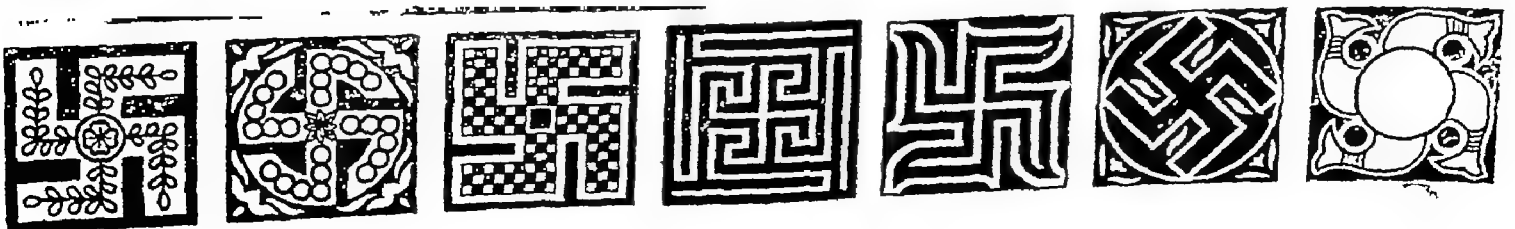
प० मारमल जी महाराज को ससारावस्था मे प्रतिबोध देने वाली त्याग-वैराग्य की जीती-जागती प्रतिमूर्ति परम विदुषी मेरी सद्‌गुरुणी श्री सोहनकुंवर जी महाराज थी। उनके प्रस्तुत उपकार को वे जीवन भर विस्मृत नहीं हुए थे। श्री अम्बालाल जी महाराज से जब भी हम मिले वही स्नेह सद्भावना हमें देखने को मिली।

मुनि श्री अम्बालाल जी महाराज को थोकडे, बोलचाल अधिक प्रिय हैं, मेरी मातेश्वरी महासती प्रभावती जी महाराज को भी बहुत थोकडे कण्ठस्थ हैं। जब प्रश्नोत्तर चलते हैं तो उनकी प्रतिभा का चमत्कार देखते ही बनता है। माता जी महाराज के साथ आपकी अनेक बार चर्चाएँ विचारणाएँ हुई है। आप सच्चे जिज्ञासु की भाँति चर्चा करते हैं, और सत्य-तथ्य को बिना किसी सकोच के स्वीकार कर लेते हैं।

मुझे प्रवर्त्तक मुनिश्री से अनेक बार वार्तालाप करने का अवसर मिला है। कभी-कभी तात्त्विक रहस्य को बताने के लिए आप राजस्थानी छोटी-छोटी कथाओ का प्रयोग करते हैं और उसके माध्यम से उन गम्भीर तथ्यो को प्रकट करते हैं।

आज का श्रमण बडे-बडे शहरो मे रहना पसन्द करता है। जहाँ पर हर प्रकार की सुविधाएँ हैं पर आपको मेवाड के छोटे-छोटे गाँव पसन्द हैं, आप उनमे विचरण करना अधिक पसन्द करते हैं। यही कारण है कि मेवाड की ग्राम्य जनता आपको हृदय से प्यार करती है, आप मेवाड के गाँवो में जहाँ भी जाते हैं वहाँ पर नव चेतना, नव जागृति का सचार हो जाता है।

मेरी तथा मातेश्वरी प्रभावती जी महाराज की यह हार्दिक मगल कामना है कि आप दीर्घकाल तक स्वस्थ व प्रसन्न रहकर खूब जिनशासन की सेवा करें। ज्ञान-दर्शन चारित्र की अभिवृद्धि करते हुए धर्म की प्रभावना करें।

☐ मुनि श्री इन्द्रमल जी

[गुरुदेव श्री के गुरुभ्राता]

छज्जीवकाए ण समारभता,
मोस अदत्त च असेवमाणा।
परिग्गह इत्थिओ माण माय,
एव परिण्णाय, चरति दता॥

—सत्पुरुष छहकाय जीवो की रक्षा करते हुए मृषा, अदत्त मान, माया, परिग्रह, स्त्री आदि दोषो का परित्याग कर विकारो का दमन करते हुये विचरते हैं।

जब-जब मैं इस गाथा की स्वाध्याय करता हूँ, इस पर मनन करता हूँ तो मेरे पूज्य भ्राता परम श्रद्धेय श्री अम्बालाल जी महाराज का तप पूत पवित्र जीवन मेरे अन्तर पट पर उभर आता है। शास्त्रोक्त, इस गरिमा का मूर्त स्वरूप इस युग मे मिल पाना एक कठिनाई है किन्तु आपकी उपस्थिति ही मेरा तत्काल समाधान कर देती है।

सरल, सात्त्विक तथा सुदृढ़ सयमानुरागी मेरे पूज्य गुरु भ्राता के दीर्घ जीवन की मगल कामना के साथ श्रेष्ठ सयम जीवन का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।

☐ साध्वी श्री प्रेमवती जी

परम पूज्य गुरुदेव श्री के प्रति श्रद्धार्पण के लिए, मुनि श्री कुमुदजी महाराज ने मुझे दो शब्द लिखने को कहा तो मैं मन ही मन भावना के एक ऐसे स्तर पर पहुँच गई जिसे अभिभूत होना कहा जा सकता है।

मन की अभिभूतावस्था मे हर्ष और प्रेम के मिश्रित भावो का सचार रहता है और उसी तन्मयता में एक सुदूरवर्ती अतीत मेरे अन्तर नयन मे घूम गया।

अतीत मे जब मैं बहुत छोटी थी। मेरी माँ के साथ प्राय मुनिराज_ महासतीजी के दर्शन करने को जा आया करती थी।

मेवाड सम्प्रदाय के आचार्य प्रवर पूज्य श्री मोतीलाल जी महाराज को हम ही नही हमारा परिवार गाँव यहाँ तक कि हमारे आसपास के सारे गाँवो के नर-नारी बडी श्रद्धा से मान्यता देते थे।

उनका व्यक्तित्व प्रभाव भी बडा जबरदस्त था। वाणी में जादू था और सम्प्रदाय के आचार्य भी थे, इन सभी कारणो से जब आचार्य श्री अपनी शिष्य मण्डली सहित हमारे गाँव कोशीथल की तरफ पधारते तो कई दिनों पहले हमारे यहाँ बडी हलचल मच जाती। कई मील दूर होते, वहीं, हमारे यहाँ से बहुत से भाई-बहन विनती करने को पहुँच जाते, यह क्रम कई दिनों तक चलता।

ऐसी कई विनतियो मे माँ के साथ मैं भी गई, तो मुझे हर बार बडी खुशी होती। ऐसी खुशी जैसे किसी बच्चे को किसी मेले में जाने पर होती। वास्तव मे वह धर्म का
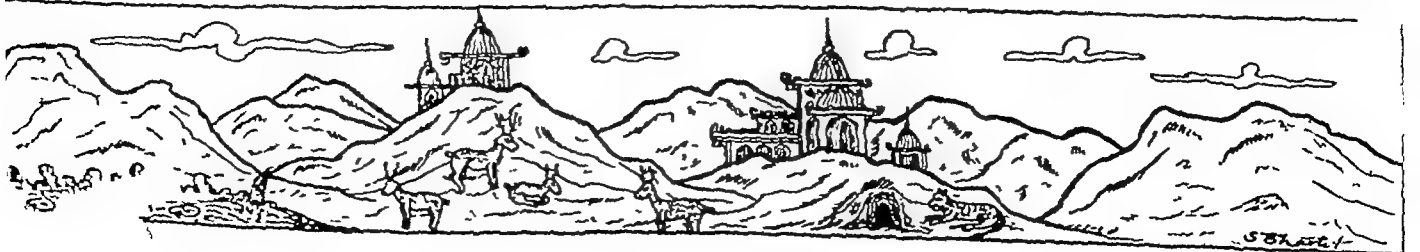
मेला ही होता था। मैंने हर बार ठट्ठ के ठट्ठ नर-नारियों को पूज्य श्री के यहाँ देखे। सभी लोग अपने-अपने गाँवो की विनति रखते, हमारे भाई भी अर्जी करते और मैं सोचती, गुरुदेव हमारी विनति मन्जूर कर लें तो बड़ा आनन्द आये।

और कई बार विनति मन्जूर हुई। आचार्य श्री कोशीथल पधारे हर बार हम फूले नही समाये।

मुझे याद आया, पूज्य श्री की मुनि मण्डली मे एक ऐसे तेजस्वी और सक्रिय मुनिराज थे जो सेवा, ज्ञानाराधना तथा सघ सचालन जैसे कठिन कार्यों को एक साथ निभा रहे थे। पाठक असमजस मे न रहें वे तेजस्वी सन्त रत्न हमारे परम आराध्य पूज्य गुरुदेव श्री अम्बालाल जी महाराज ही थे।

मुनिमण्डली के लिए आहारादि लाकर सेवा करना, प्रवचन करना, दिन में महासती जी को शास्त्रो की वाँचनी देना, बहनो को बोल थोकड़े सिखाना रात्रि को श्रावको को ज्ञान ध्यान देना, आचार्य श्री के नेतृत्व में चतुर्विध सघ को आचार्य श्री की भावना के अनुरूप मर्यादानुसार निर्देशन देना आदि अनेक कार्य बड़ी तत्परता के साथ करते मैंने इन्हें देखा।

पूज्य आचार्य श्री के धर्मोपदेश तथा परमविदुषी महासती जी श्री केरकु वर जी महाराज के पवित्र सानिध्य से मेरी माता के मन मे वैराग्याकुर अकुरित हुआ और साथ ही, वह यह भी चाहती थी कि मैं भी दीक्षित होऊँ तो यह एक कठिन प्रश्न था। कठिन इसलिए कि मैं मेरी माँ को भी सयम नहीं लेने देना चाहती थी, तो मेरा उसके साथ ही जाना तो बडा कठिन था। इस बात को मेरी माँ अच्छी तरह जान चुकी थी, उसने एक नया प्रयोग किया। वह मुझे अपने साथ मुनि दर्शन को ले आती और हर बार वह मुझे गुरुदेव श्री के सामने खडी रखती और उपदेश सुनने का आग्रह करती। मैं विवश खडी तो रहती किन्तु दीक्षा लू इस विषयक कोई उपदेश मुझे नही चाहिए था।

किन्तु मेरे अनचाहे से क्या होना गुरुदेव श्री कुछ न कुछ प्रतिबोधात्मक कह ही जाते।

मैं कुछ दिन तो उपेक्षा ही करती रही किन्तु न मालूम क्यों, कुछ ही दिनों में मेरे अन्तर मे एक नया परिवर्तन आने लगा।

मैं महाराज श्री की बात ध्यान से सुनने लगी। इतना ही नही, वे बातें मुझे प्रिय भी लगने लगी।

कुछ ही दिनो मे गुरुदेव श्री के उपदेश मेरे जीवन के अग बन गये। मैं अनायास ही उधर ढलने लगी।

गुरुदेव श्री के त्याग, तप, सेवा और ज्ञानात्मक व्यक्तित्व का वह असर हुआ कि मैं माँ का अनुसरण करने को उत्सुक हो उठी—इतना ही नही, मेरा सयम के प्रति इतना अधिक आकर्षण जग उठा कि एक-एक दिन की देरी मुझे वर्ष जैसी लगने लगी।

उमगो के साथ कई अवरोध भी खड़े हो जाया करते हैं, मेरे साथ भी यही हुआ किन्तु गुरुकृपा से सारे अवरोध हटे और हम देवरिया गाँव मे एक सुन्दर समारोहपूर्वक सयम के पथ पर बढ चली। यह सवत् १९९६ की बात है।

मैं बहुत दूर अतीत मे चली गई। मैं अपनी आत्मकथा नही लिख रही हूँ—मैं मेरी उस अभिभूतावस्था का सघन कारण बता रही हूँ कि जीवन निर्माता सम्प्रेरक, इस अद्भुत व्यक्तित्व को किन उपाधियो से मन्डित करूँ किन शब्दो से व्यक्त करूँ ? कुछ सूझ भी नही पड रहा है।

मेरी सयम यात्रा के ३६ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। आज सयम मेरा जीवन है। मैं और मेरा सयम हम दो नही होकर एक हैं। मैं देख रही हूँ, दीप शिखा की तरह मेरी अध्यात्म ज्योति ऊर्ध्वगामी बनी और बनती जा रही है, यह सब इस दिव्य व्यक्तित्व का जादू है, जिसका सघ अभिनन्दन करने जा रहा है।

तैल न हो तो दीपक बुझ जाए। मेरे सयम के दीप को तैल चाहिए था और वह मुझे बराबर मिला। सयम के लिए ज्ञान ही तो तैल है। आज मेरा कहा हुआ प्रत्येक शब्द इस दिव्य चेतना का दिया हुआ है। मेरी तो केवल वे त्रुटियाँ हैं जो जहाँ-तहाँ मेरी स्खलना से प्रकट हो जाया करती है। जीवन का सत्य शिव सुन्दरम् जितना भी उपस्थित हो पाया यह सब इन्हीं श्रद्धेय की कृपा का प्रसाद है।

मैं अपनी स्खलनाओ व त्रुटियों को जानती हू—वे घनी हैं, किन्तु अन्तश्चेतना की गहराई के साथ अभिभावना के इन क्षणो मे क्षमा याचना की अभिलाषा पूर्वक मेरे परमाराध्य का एक बार पुन अभिनन्दन वन्दन करती हुई शरणार्पित हो रही हूँ।

नेतृत्व की सघन छाह जो अब तक मिली, अगले शेष जीवन को भी यही नेतृत्व मिलता रहे, आशा के इस मगल दीप को सजो कर अभिवन्दना के इन अद्भुत क्षणो मे बाहर आ रही हूँ। □

□ आर्या श्री उगमवती जी

आनन्द का अमृत सरोवर यदि कही लहराता हुआ नही देखा हो तो मेरे पूज्य गुरुदेव श्री के दर्शन कर कोई भी उसे प्रत्यक्ष देख सकता है।

प्रतिपल मुस्कराता, हँसता चेहरा मिश्री सी मीठी वाणी आत्मीयतापूर्ण सजीव व्यवहार, कुल मिलाकर गुरुदेव श्री के व्यक्तित्व को आनन्द के अमृत सरोवर की उपमा से उपमित करते हुए एक सहज वास्तविकता का बोध होता है।

मेरी सयम यात्रा का प्रारम्भ गुरुदेव श्री की ही सद्-प्रेरणा का फल है। विगत छब्बीस वर्ष से मैं सयम मे हूँ। इस बीच अनेक बार पूज्य गुरुदेव श्री की सेवा का सौभाग्य मुझे मिला। इस दीर्घ सान्निध्यता के सैकडो अनुभव हैं वे प्रेरक सस्मरण बनकर आज भी मेरे जीवन मे काम आ रहे हैं। मैं उन्हें गिनाने बैठूं तो मैं लिखते थक जाऊँगी और पाठक पढ़ते थक जायेंगे। उन अनेको सस्मरणो मे से एकाध यहाँ अकित करना चाहूँगी।

लगभग बारह वर्ष पूर्व की बात है। श्री माताजी महाराज (श्री सौभाग्य मुनिजी और मेरी माता श्री) किसी मानसिक व्याधि से ग्रस्त हो गये थे। हम इनकी इस स्थिति से बड़े चिन्तित थे। माताजी महाराज कुछ भी बात मानने को तैयार नही थे, इलाज भी नहीं ले रहे थे। जो इलाज इन्हें विवश कर किया उसमे सफलता भी नही मिली थी। उस समय मुझे गुरुदेव श्री तथा भाई महाराज साहब की बडी याद आई, किन्तु गुरुदेव श्री भीलवाडा के पास थे। हम गोगुन्दा थे। इतनी लम्बी दूरी थी हमारे बीच मे। मुझे कोई सम्भावना नही थी कि हमे गुरु दर्शन मिल पायेंगे। उस समय एक और कठिनाई यह थी कि गुरुदेव श्री कुल चार ठाणा ही थे। ऐसी स्थिति मे किन्हीं मुनियो के पधारने की सम्भावना भी नही थी, फिर भी माताजी महाराज की बीमारी के समाचार तो हमने भेजे ही।

गुरुदेव श्री के असीम दयालु हृदय का परिचय मुझे तब अनायास मिल गया जब स्वय कठिनाई सहकर भी श्री भाई महाराज और मदन मुनिजी इन दोनो मुनिराजो को हमे दर्शन देने को तुरन्त भेजे। कुल चार-पाँच दिन मे ही मुनिराज गोगुन्दा पहुच गये।

इनके पदार्पण से हमे मानो एक नई मदद मिल गई।

मुनिराजो का श्रम सार्थक हुआ, श्री माताजी महाराज का स्वास्थ्य क्रमश सुधरने लगा। गुरुदेव श्री की कृपा देखिए कि मुनियो को सन्देश भेजा कि श्री माताजी महाराज के स्वास्थ्य के लिए अधिक रुकना पडे तो भी रुकें।

दया करुणा समता और श्रेष्ठता के अमर प्रतीक पूज्य गुरुदेव श्री का मैं हार्दिक अभिनन्दन करती हूँ।

□ श्री दर्शनराम जी महाराज

[अखिल भारतीय स्नेही सम्प्रदाय के भूतपूर्व आचार्य राम द्वारा, केलवाडा]

मुझे यह सुनकर अत्यन्त हर्ष हुआ कि पूज्य अम्बा गुरु अभिनन्दन नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है। वस्तुत यह एक सुसुप्त जन-समाज को जागृत करने का सुप्रयास है। इसमे गुरु-अभिनन्दन शब्द का प्रयोग तो बहुत ही महत्वपूर्ण है। "गु शब्द स्त्वन्ध कार रु शब्द स्तन्निवारक" इस व्याकरण व्युत्पत्ति लभ्यार्थ से गुरुदेव सूर्य की भाँति हृदय का अन्धकार दूर कर देते हैं। इस असार ससार-सागर से पार जाने के लिए गुरु ही एकमात्र अवलम्बन है। कोई भी सम्प्रदाय क्यो न हो यह निर्विवाद सत्य है कि गुरु का आश्रय तो सबं को ग्रहण करना ही पडता है। गुरु की महिमा ईश्वर से भी ज्यादा है (गुरु मिलिया गोविन्द कूं पावे)। गुरु का स्तवन ससार के त्रिदेवो की उपमा से किया जाता है। यदि गुरु मे तामस-पन आता है तो शकर रूप समझना चाहिए। रजोगुण आने पर ब्रह्मा का रूप है। तथा वैसे ही सत्त्वगुण रूप मे विष्णु रूप की उपमा दी है।

युग-युग मे समय-समय पर होने वाले अवतारो व तीर्थकरो ने भी सद्गुरु की महामहिमा का मुक्त कठ से गुणगान किया है। गुरु-शिष्य सवाद परम्परा से ही ससार मे ज्ञान वृद्धि हुई है। उपनिषद्, पुराणादि ग्रन्थो मे भी गुरु-शिष्य सवाद रूप ज्ञान का ही सग्रह है। अत अज्ञान ध्वान्त विनाशक प्रभाकर गुरु का अभिनन्दन उचित व सर्वमान्य एवम् सब पूज्य है।

●●

□ गोटूलाल माडोत 'निर्मल' रायपुर
[विचारक एव सामाजिक कार्यकर्ता]

वि स २०२८ का पूज्य गुरुदेव श्री अम्बालालजी महाराज का वर्षावास कोशीथल (मेवाड) मे था। स्वाध्यायी सघ गुलाबपुरा के सम्पर्क मे रहने से मुझे प्रतिक्रमण कण्ठस्थ था तथा प्रतिदिन सायकाल को प्रतिक्रमण सुनाने का अवसर भी मुझे ही मिलता था।

एक दिन प्रतिक्रमण करते समय मुझे कुछ ऐसा आभास हुआ कि श्रोताओ की विशाल जनमेदिनी मे आपस मे चर्चा चल रही है और नीरवता मे कुछ कमी आ रही है। प्रतिक्रमण के लिये शान्त स्थान अधिक उपयुक्त रहता है, ऐसा सोचकर मैंने स्थान परिवर्तन कर दिया। वातावरण इससे एकदम शान्त हो गया और मेरे दूर बैठने पर भी आवाज दूर तक साफ सुन ली गई। प्रतिक्रमण के ठीक बाद क्षमायाचना का दौर प्रारम्भ हुआ और मैं गुरुदेव श्री के समीप देवसी अपराधों की क्षमा मागने लगा। गुरुदेव मुझे उदास लगे, लगा उनका अन्तर मेरे अपराध से व्यथित हुआ है, भावो को पूज्य श्री रोक नही सके और कहा—"आज तुमने सघ की अशातना की है, सघ की अशातना घोर अपराध है, तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए ।"

नन्दी सूत्र मे वर्णित सघ की स्तुति का वर्णन करते हुए गुरुदेव श्री ने सघ की महिमा मुझे समझाई, मेरे अतर मे प्रकाश की किरण उत्पन्न हो गई और श्रद्धा और भक्ति से मैंने गुरुदेव श्री से अपने अपराध की आलोचना की।

प्रसग पुराना है, किन्तु मुझे लगता है जैसे गुरुदेव श्री आज भी मेरे हृदय मे विराजित हैं और मुझे सघ सेवा की प्रेरणा दे रहे हैं।

□ देलवाडा स्थानकवासी श्रावक सघ, देलवाडा
[मत्री—रतनलाल मेहता]

परम पूज्य प्रात स्मरणीय 'मेवाड-भूपण' गुरुदेव श्री अम्बालाल जी महाराज साहब को आज कौन नहीं जानता? उनके ज्ञान-दर्शन और चारित्र में किसी को सन्देह नहीं। उनकी ज्ञान-दर्शन और चारित्र की महिमा ही है कि आज उनको ऐसी शिष्य-मडली उपलब्ध है—जिनकी प्रखर वाणी से उदयपुर ही नहीं वरन् दूर-दूर के जैन-अजैन समुदाय को अपने जीवन को ऊंचा उठाने और सही मार्गदर्शन पाने का मौका मिला है।

स्वर्गीय मेवाड-भूपण गुरुदेव श्री मोतीलालजी महाराज साहब की असाध्य बीमारी की वजह से उनकी सेवार्थ मुनिश्री का हमारे गाँव देलवाडे मे पाँच साल तक लगातार चातुर्मास होता रहा। अत उनके व्याख्यानो का लाभ स्थानीय स्थानकवासी श्रावक सघ ने जी भरकर उठाया। उनकी प्रखरवाणी, अखण्ड-ज्ञान और पवित्र चारित्र्य का जितना लाभ इस सघ ने उठाया शायद ही उतना किन्हीं और लोगो ने उठाया होगा।

सघ को यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता की अनुभूति हुई है कि परम पूज्य मुनिश्री के तपस्वी जीवन के ५० वष सम्पूर्ण हो जाने के उपलक्ष में उन्हे अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित किया जा रहा है।

एतदर्थ, गुरुदेव के चरण कमलो मे देलवाडा स्थानकवासी श्रावक सघ अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता है।

□ शकरलाल कोठारी
[मन्त्री—मोलेला मण्डल, फोर्ट (बम्बई)]

यह अति प्रसन्नता का विषय है कि मेवाड भूमि में एक महानतम सन्त का उनकी ५० वर्ष की दीक्षा जीवन की सफलता पर अभिनन्दन होने जा रहा है। आज हमारे समाज का इससे बढ़कर और गौरवपूण विषय क्या हो सकता है? इस महानतम सन्त को मेवाड शिरोमणी पूज्य प्रवर्तक गुरुदेव श्री अम्बालाल जी महाराज साहब के नाम से आज सम्पूर्ण समाज जानता है।

यह सत्य है कि जीवन के सत्य, सरलता, समता, मृदुलता, सन्तोष, विनय, विवेक, सहिष्णुता आदि अमर फल हैं। इन अमर फलो का रसास्वादन सन्त के जीवन की पवित्र प्रेरणाओ से ही कर सकते हैं। ये सभी जीवन के अमर फल गुरुदेवश्री मे विद्यमान हैं। वे एक महान सन्त हैं, भक्त हैं, साधक हैं, विद्वान हैं तथा समाज सगठक हैं।

मोलेला मण्डल फोर्ट के सब सदस्यगण शुद्ध हृदय से ऐसे महिमावान सन्त मुनिश्री का अभिनन्दन करते हैं। आपका त्यागमय तपस्वी जीवन उच्चतम शिखर पर पहुँच कर सम्पूर्ण समाज को आलोकित करे। यही हमारी हार्दिक शुभकामना है।

☐ सागरमल कावडिया
☐ देवेन्द्रकुमार 'हिरण'

[अध्यक्ष एवं मंत्री—श्री मेवाड़ जैन श्वेताम्बर तेरापंथी कान्फ्रेंस, राज समन्द, उदयपुर (राज०)]

यह जानकर अतीव प्रसन्नता हुई कि स्थविर तपोधन पूज्य श्री अम्बालालजी महाराज साहब के दीक्षा जीवन के पचास वर्ष की सानन्द सफलता पर मेवाड की धर्मप्राण श्रद्धालु जनता ने स्वामीजी के अभिनन्दन स्वरूप श्रद्धा-सुमन के रूप में "अभिनन्दन-ग्रन्थ" भेंट करने का निश्चय किया है। इसके लिए मेवाड जैन श्वेताम्बर तेरापंथी कान्फ्रेंस हार्दिक शुभ कामना प्रकट करती है।

स्वामीजी सन्त कल्प-तरु के रूप में साधनारत रहे हैं। मेवाड-समाज के निर्माण एवं आध्यात्मिकता के विकास में आपका बड़ा योग रहा है।

ऐसे पुनीत अवसर पर मेवाड कान्फ्रेंस परिवार आपका हार्दिक अभिनन्दन करता है।

☐ भंवरलाल पगारिया

[सहमन्त्री—श्री व० स्था० जैन श्रावका संघ, काकरोली]

आप जैसे व्यक्ति दर्पण की तरह जीते हैं, समाधिस्थ व्यक्ति दर्पण की तरह ही जीता है। कोई गाली देता है तो वह सुनता है—कोई सम्मान करता है तो वह सुनता है—लेकिन जैसे सम्मान विदा हो जाता है ऐसे गाली भी विदा हो जाती है भीतर कुछ पकड़ा नहीं जाता—इसलिए आपके चित्त की अलग-अलग स्थितियाँ नहीं हैं। इतना कहना ही काफी है कि दर्पण के सामने जो भी आता है वह झलकता है, जो चला जाता है—झलक बन्द हो जाती है। ऐसी ही समतामय स्थिति गुरुदेव श्री के चित्त की है। वन्दना करने वाले भी आते हैं और निंदा करने वाले भी। पर आपश्री दोनों के प्रति समचित्त रहते हैं।

एक समता आगई है चित्त की। आपकी पूरी साधना संकल्प की, श्रम की साधना है कि जिसे सत्य पाना है उसे यात्रा पर निकलना होगा, उसे खोज में जाना होगा, उसे जूझना पड़ेगा, उसे चुनौती, साहस, संघर्ष मे उतरना पड़ेगा। ऐसे बैठकर सत्य नहीं मिल जायगा।

सामायिक के मार्ग से वीतरागता की मंजिल तक पहुंचने की अथक साधना में आप लगे हैं यही है मोक्ष गामी मार्ग।

☐ भगवतीलाल तातेड, डूंगला

कहते हैं—पारस होता है जो लोहे को सोना बना देता है। मैंने देखा नहीं, शायद आज के युग में किसी ने भी पारस को नहीं देखा होगा। किन्तु यह मैं सत्य कहता हूं कि मेवाड संघ शिरोमणि पूज्य प्रवर्तक गुरुदेव श्री १००८ श्री अम्बालालजी महाराज सचमुच पारस हैं जो मुझे मिले। मैं सोना बना या नहीं बना यह अलग बात है। यदि सोना मैं बन नहीं पाया तो यह मेरी अपनी ही कमी है। पारस की नहीं। मैं सोना नहीं हुआ न सही, धन्य अवश्य होगया। पूज्य गुरुदेव श्री का डूंगला चातुर्मास मेरे जीवन के लिए स्वर्ण सवेरा लेकर आया। उस चातुर्मास में मैं एक ऐसे व्यक्तित्व से सम्बन्धित हो गया हूं जो मुझे बराबर भटकाव से बचाए हुए हैं।

पूज्य गुरुदेव श्री सरल शान्त तथा संयम के सजग साधक हैं। इनके पवित्र दर्शन प्राप्त होने पर अन्तर में एक विलक्षण भाव-धारा का उदय होता है, उसे मैं शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं कर सकता, क्योंकि तुलसीदासजी ने कहा ही है—"गिरा अनयन, नयन बिनु वाणी"।

गुरुदेव चिरायु होकर हमें धार्मिक नेतृत्व प्रदान करते रहें, इसी शुभकामना के साथ।

☐ रोशनलाल सिंघवी, दरोली

मेवाड केवल कर्मवीरों का ही नहीं धर्मवीरों का भी प्रमुख जन्मस्थल रहा है।

मेवाड के रण-वीरों का एक इतिहास है तो धर्मवीरों की भी यहाँ विशाल गौरव गाथाएँ हैं। मेवाड को अपने दोनों वीरों पर गर्व है।

मेवाड संघ शिरोमणि पूज्य प्रवर्तक गुरुदेव श्री १००८ श्री अम्बालालजी महाराज धर्मवीरों के पंक्ति का एक जीवन्त आदर्श है।

संयम पथ पर आने से पूर्व ही जो जीवन परीक्षा की

☐ गोट्टूलाल माडोत 'निर्मल' रायपुर
[विचारक एव सामाजिक कार्यकर्ता]

वि स २०२८ का पूज्य गुरुदेव श्री अम्बालालजी महाराज का वर्षावास कोशीथल (मेवाड) मे था। स्वाध्यायी सघ गुलाबपुरा के सम्पर्क मे रहने से मुझे प्रतिक्रमण कण्ठस्थ था तथा प्रतिदिन सायकाल को प्रतिक्रमण सुनाने का अवसर भी मुझे ही मिलता था।

एक दिन प्रतिक्रमण करते समय मुझे कुछ ऐसा आभास हुआ कि श्रोताओ की विशाल जनमेदिनी मे आपस में चर्चा चल रही है और नीरवता मे कुछ कमी आ रही है। प्रतिक्रमण के लिये शान्त स्थान अधिक उपयुक्त रहता है, ऐसा सोचकर मैंने स्थान परिवतन कर दिया। वातावरण इससे एकदम शान्त हो गया और मेरे दूर बैठने पर भी आवाज दूर तक साफ सुन ली गई। प्रतिक्रमण के ठीक बाद क्षमायाचना का दौर प्रारम्भ हुआ और मैं गुरुदेव श्री के समीप देवसी अपराधो की क्षमा मागने लगा। गुरुदेव मुझे उदास लगे, लगा उनका अन्तर मेरे अपराध से व्यथित हुआ है, भावो को पूज्य श्री रोक नही सके और कहा—"आज तुमने सघ की अशातना की है, सघ की अशातना घोर अपराध है, तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए' ।"

नन्दी सूत्र में वर्णित सघ की स्तुति का वणन करते हुए गुरुदेव श्री ने सघ की महिमा मुझे समझाई, मेरे अतर मे प्रकाश की किरण उत्पन्न हो गई और श्रद्धा और भक्ति से मैंने गुरुदेव श्री से अपने अपराध की आलो चना की।

प्रसग पुराना है, किन्तु मुझे लगता है जैसे गुरुदेव श्री आज भी मेरे हृदय मे विराजित हैं और मुझे सघ सेवा की प्रेरणा दे रहे हैं।

☐ देलवाडा स्थानकवासी श्रावक सघ, देलवाडा
[मन्त्री—रतनलाल मेहता]

परम पूज्य प्रात स्मरणीय 'मेवाड-भूषण' गुरुदेव श्री अम्बालाल जी महाराज साहब को आज कौन नहीं जानता? उनके ज्ञान-दर्शन और चारित्र मे किसी को सन्देह नही। उनकी ज्ञान-दशन और चारित्र की महिमा ही है कि आज उनको ऐसी शिष्य-मडली उपलब्ध है—जिनकी प्रखर वाणी से उदयपुर ही नहीं वरन् दूर-दूर के जैन-अजैन समुदाय को अपने जीवन को ऊँचा उठाने और सही मार्ग-दर्शन पाने का मौका मिला है।

स्वर्गीय मेवाड-भूषण गुरुदेव श्री मोतीलालजी महाराज साहब की असाध्य बीमारी की वजह से उनकी सेवाथ मुनिश्री का हमारे गाँव देलवाडे मे पाँच साल तक लगातार चातुर्मास होता रहा। अत उनके व्याख्यानो का लाभ स्थानीय स्थानकवासी श्रावक सघ ने जी भरकर उठाया। उनकी प्रखरवाणी, अखण्ड-ज्ञान और पवित्र चारित्र्य का जितना लाभ इस सघ ने उठाया शायद ही उतना किन्हीं और लोगो ने उठाया होगा।

सघ को यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता की अनुभूति हुई है कि परम पूज्य मुनिश्री के तपस्वी जीवन के ५० वष सम्पूर्ण हो जाने के उपलक्ष मे उन्हें अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित किया जा रहा है।

एतदर्थ, गुरुदेव के चरण कमलो मे देलवाडा स्थानकवासी श्रावक सघ अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता है।

☐ शकरलाल कोठारी
[मन्त्री—मोलेला मण्डल, फोर्ट (बम्बई)

यह अति प्रसन्नता का विषय है कि मेवाड भूमि में एक महानतम सन्त का उनकी ५० वर्ष की दीक्षा जीवन की सफलता पर अभिनन्दन होने जा रहा है। आज हमारे समाज का इससे बढकर और गौरवपूर्ण विषय क्या हो सकता है? इस महानतम सन्त को मेवाड शिरोमणी पूज्य प्रवर्तक गुरुदेव श्री अम्बालाल जी महाराज साहब के नाम से आज सम्पूण समाज जानता है।

यह सत्य है कि जीवन के सत्य, सरलता, समता, मृदुलता, सन्तोष, विनय, विवेक, सहिष्णुता आदि अमर फल हैं। इन अमर फलो का रसास्वादन सन्त के जीवन की पवित्र प्रेरणाओ से ही कर सकते हैं। ये सभी जीवन के अमर फल गुरुदेवश्री मे विद्यमान हैं। वे एक महान सन्त हैं, भक्त हैं, साधक हैं, विद्वान हैं तथा समाज सगठक हैं।

मोलेला मण्डल फोर्ट के सब सदस्यगण शुद्ध हृदय से ऐसे महिमावान सन्त मुनिश्री का अभिनन्दन करते हैं। आपका त्यागमय तपस्वी जीवन उच्चतम शिखर पर पहुँच कर सम्पूर्ण समाज को आलोकित करे। यही हमारी हार्दिक शुभकामना है।

☐ **सागरमल कावडिया**
☐ **देवेन्द्रकुमार 'हिरण'**

[अध्यक्ष एव मत्री—श्री मेवाड जैन श्वेताम्बर तेरापथी कान्फ्रेंस, राज समन्द, उदयपुर (राज०)]

यह जानकर अतीव प्रसन्नता हुई कि स्थविर तपोधन पूज्य श्री अम्बालालजी महाराज साहब के दीक्षा जीवन के पचास वर्ष की सानन्द सफलता पर मेवाड की धमप्राण श्रद्धालु जनता ने स्वामीजी के अभिनन्दन स्वरूप श्रद्धा-सुमन के रूप मे "अभिनन्दन-ग्रन्थ" भेंट करने का निश्चय किया है। इसके लिए मेवाड जैन श्वेताम्बर तेरापथी कान्फ्रेंस हार्दिक शुभ कामना प्रकट करती है।

स्वामीजी सन्त कल्प-तरु के रूप मे साधनारत रहे हैं। मेवाड-समाज के निर्माण एव आध्यात्मिकता के विकास मे आपका बडा योग रहा है।

ऐसे पुनीत अवसर पर मेवाड कान्फ्रेंस परिवार आपका हार्दिक अभिनन्दन करता है।

☐ **भवरलाल पगारिया**

[सहमन्त्री—श्री व० स्था० जैन श्रावका सघ, काकरोली]

आप जैसे व्यक्ति दर्पण की तरह जीते हैं, समाधिस्थ व्यक्ति दर्पण की तरह ही जीता है। कोई गाली देता है तो वह सुनता है—कोई सम्मान करता है तो वह सुनता है—लेकिन जैसे सम्मान विदा हो जाता है ऐसे गाली भी विदा हो जाती है भीतर कुछ पकडा नही जाता—इसलिए आपके चित्त की अलग-अलग स्थितियाँ नही हैं। इतना कहना ही काफी है कि दर्पण के सामने जो भी आता है वह झलकता है, जो चला जाता है—झलक बन्द हो जाती है। ऐसी ही समतामय स्थिति गुरुदेव श्री के चित्त की है। वन्दना करने वाले भी आते हैं और निंदा करने वाले भी। पर आपश्री दोनों के प्रति समचित्त रहते है।

एक समता आगई है चित्त की। आपकी पूरी साधना सकल्प की, श्रम की साधना है कि जिसे सत्य पाना है उसे यात्रा पर निकलना होगा, उसे खोज मे जाना होगा, उसे जूझना पड़ेगा, उसे चुनौती, साहस, सघर्ष मे उतरना पडेगा। ऐसे बैठकर सत्य नही मिल जायगा।

सामायिक के माग मे वीतरागता की मजिल तक पहुचने की अथक साधना मे आप लगे हैं यही है मोक्ष गामी माग।

☐ **भगवतीलाल तातेड, डूंगला**

कहते हैं—पारस होता है जो लोहे को सोना बना देता है। मैंने देखा नही, शायद आज के युग मे किसी ने भी पारस को नही देखा होगा। किन्तु यह मैं सत्य कहता हू कि मेवाड सघ शिरोमणि पूज्य प्रवत्तक गुरुदेव श्री १००८ श्री अम्बालालजी महाराज सचमुच पारस हैं जो मुझे मिले। मैं सोना बना या नहीं बना यह अलग बात है। यदि सोना मैं बन नही पाया तो यह मेरी अपनी ही कमी है। पारस की नही। मैं सोना नही हुआ न सही, धन्य अवश्य होगया। पूज्य गुरुदेव श्री का डूगला चातुर्मास मेरे जीवन के लिए स्वण सवेरा लेकर आया। उस चातुर्मास मे मैं एक ऐसे व्यक्तित्व से सम्बन्धित हो गया हूँ जो मुझे बराबर भटकाव से बचाए हुए हैं।

पूज्य गुरुदेव श्री सरल शान्त तथा सयम के सजग साधक हैं। इनके पवित्र दशन प्राप्त होने पर अन्तर मे एक विलक्षण भाव-धारा का उदय होता है, उसे मैं शब्दो द्वारा व्यक्त नहीं कर सकता, क्योंकि तुलसीदासजी ने कहा ही है—"गिरा अनयन, नयन बिनु वाणी"।

गुरुदेव चिरायु होकर हमे धार्मिक नेतृत्व प्रदान करते रहें, इसी शुभकामना के साथ।

☐ **रोशनलाल सिंघवी, दरोली**

मेवाड केवल कर्मवीरो का ही नही धर्मवीरो का भी प्रमुख जन्मस्थल रहा है।

मेवाड के रण-वीरों का एक इतिहास है तो धर्मवीरो की भी यहाँ विशाल गौरव गाथाएँ हैं। मेवाड को अपने दोनो वीरो पर गर्व है।

मेवाड सघ शिरोमणि पूज्य प्रवर्त्तक गुरुदेव श्री १००८ श्री अम्बालालजी महाराज धर्मवीरो के पक्ति का एक जीवन्त आदर्श है।

सयम पथ पर आने से पूर्व ही जो जीवन परीक्षा की

म[illegible] रूपों में घर घर पहुँचा और मगरा उजागर [illegible] नहीं [illegible] ही है।

गुरुदेव श्री के [illegible] जीवन के [illegible] सौरभ से [illegible] और [illegible] किन्तु गुरुदेव का [illegible] [illegible] ही रहा। [illegible] के [illegible] इस शुभावसर पर गुरु की समग्र श्रद्धा के साथ [illegible] करता है।

☐ धर्म ज्योति परिषद (कार्यकारिणी)

मगरा क्षेत्र प्रान्त स्वनामधन्य गुरुदेव पूज्य प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज को उनके भक्तों में [illegible] अनेक रूप में पहचानता और [illegible] में उनकी स्तुतियाँ करता है। किसी के लिए वे आराध्य [illegible] हैं, तो किसी के लिए पथ प्रदर्शक। किसी के लिए [illegible] गुरु हैं तो किसी के लिए गुरु। कोई [illegible] भक्ति भावना रखता है तो कोई धर्मोपदेशक।

जहाँ तक हमारे प्रान्त की जनता का प्रश्न है यह तो इन्हें अपने लिए एक मात्र 'प्रकाश स्तम्भ' समझती है।

अँधेरे में भटकता जहाज भी प्रकाश स्तम्भ से किनारे तक पहुँच सकता है।

हम भी अँधेरे में भटक रहे थे। हमें धर्म, खासकर जैन धर्म जो हमें परम्परागत रूप से उपलब्ध है, के विषय में हमारा ज्ञान नितान्त अँधेरे में था हम भटक रहे थे किधर जायें? तभी मोलेला में पूज्य गुरुदेव श्री का चातुर्मास हुआ, हम निहाल हो गये, हमारी भटकती जीवन नौकाओं का मार्गबोध का अब किनारा मिल पाएगा ऐसा हमें अन्तर में विश्वास हो गया।

उस चातुर्मास में मगरा प्रान्त की जनता ने अपने एक मात्र इस संयम देवता के चरणों में अपने श्रद्धा सुमन समर्पित करते हुए इनके इंगितों पर चलने का निश्चय किया।

गुरुदेव श्री की कृपा स्वरूप तथा गुरुदेव श्री के अन्तेवासी विद्वान शिष्य रत्न श्री सौभाग्य मुनि जी 'कुमुद' की सत्प्रेरणा एवं कृतित्व से 'धर्मज्योतिपरिषद्' से हमारा सम्बन्ध बना।

कुछ ही समय में मगरा प्रान्त के ग्राम-ग्राम में जैन शालाएँ मूर्त रूप लेने लगी। फलस्वरूप हमारे सैकड़ों बच्चे धार्मिक ज्ञानार्जन में लग गये। साथ ही स्वधर्मी सहायता का कार्यक्रम भी चालू [illegible]। पूज्य श्री मोती गुरु ग्रन्था-[illegible] की स्थापना व जागृति [illegible] रूप मूर्त रूप लिया।

मोलेला में शाखा कार्यालय कार्यरत है। गुरुदेव श्री की सत्प्रेरणा से मगरा प्रान्त की चालीसा समिति (५२ गाँव) में सामाजिक [illegible] एवं नयी रूप रेखा बनी, कई अनावश्यक कुरूढ़ियाँ समाप्त हो गईं।

इस तरह मगरा प्रान्त में जागृति का जो भी वातावरण बना वह सब गुरुदेव श्री की ही कृपा का प्रसाद है। अतः गुरुदेव हमारे लिए 'प्रकाश स्तम्भ' स्वरूप ही हैं। अभिनन्दन के शुभावसर पर शतशः वन्दन।

गुरुचरणानुगामी
—मोतीलाल कोठारी 'अध्यक्ष'
—नेमीचन्द लोढ़ा 'उपाध्यक्ष'
—मगनलाल डटोद्या 'मन्त्री'
—हेमराज बोहरा 'कोषाध्यक्ष'
धर्म ज्योति परिषद शाखा कार्यालय—मोलेला

☐ रणजीतसिंह भोजत्या, एम० ए०, एम० कॉम०, बी० एड०

[मन्त्री—मेवाड़ भूषण श्रावक समिति, उदयपुर]

श्रमण संस्कृति के अजस्र-अमर स्रोत की पावन परम्परा में परम श्रद्धेय शान्त मूर्ति, अध्यात्मनिष्ठ, अहिंसा और सरलता के मूर्तिमान प्रतीक, पूज्य प्रवर्तक श्री श्री १००८ श्री अम्बालाल जी महाराज साहब जैसे दिव्य और महान् पुरुष हमें प्राप्त हैं हमारा आध्यात्मिक पथ-दर्शन कर रहे हैं यह वास्तव में हमारा परम सौभाग्य है।

मेवाड़ की यह पावनधरा, जिसका भारत के इतिहास में अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान है, आपके उपदेशों की पवित्र सुरसरी से निरन्तर सिंचित होती आ रही है। यह इस भूमिका, मेवाड़ की धर्मप्राण जनता का सद्भाग्य है। मेवाड़ पूज्य के रूप में परम प्रशस्त पद पर अधिष्ठित जैन शास्त्रों के महान् वेत्ता—अध्यात्मरत साधक-इतनी सब विशेषताओं के होते हुए जो सहजता, ऋजुता आपके जीवन में दृष्टिगत होती है वह हम सभी के लिए प्रेरणास्पद है। हम सबको अत्यन्त सरल और सात्त्विक जीवन अपनाने की प्रेरणा लेनी चाहिए।
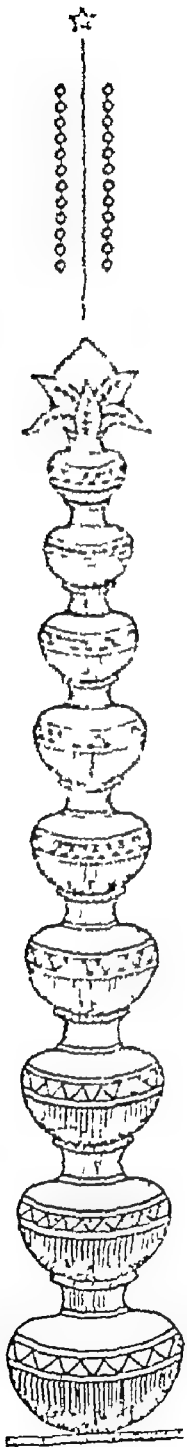
महाराज साहब के पवित्र तथा उदार जीवन की जीवित झलक हमे उनके अन्तेवासी श्रमणो के जीवन मे भी स्पष्ट दिखाई देती है। यह स्वाभाविक ही है। गुरुजनो का, माता-पिता का अपने छोटो पर जैसे उनका (बडो का) जीवन होता है, निश्चय ही प्रभाव पडता है।

पूज्य प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज साहब अध्यात्म जगत् की एक महान् विभूति है। अध्यात्म उत्कर्ष के पवित्र मार्ग पर चलने वाले उपासको के लिए वे एक प्रकाश-स्तम्भ की तरह हैं जिससे अपनी मन्जिल पर पहुँचने मे उन्हें स्फुरणा व चेतना प्राप्त होती है। हमारी समग्र समाज की, यह अन्तर्भावना है कि पूज्य प्रवर्तक महाराज साहब की शतशत वर्षावधिक छत्रछाया हमे प्राप्त रहे ताकि हम अपने समस्या सकुल एव विभ्रान्त जीवन मे अभिनव-शक्ति का सचय करते रह सकें।

☐ सोहनलाल सूरिया

[अध्यक्ष—अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति,
चार भुजा रोड, आमेट (राजस्थान)]

महान् शास्त्रवेत्ता, अध्यात्म-जगत् के पावन प्रकाश-स्तम्भ, उज्ज्वल चारित्र के धनी, पूज्य प्रवर्तक, परम श्रद्धेय गुरुवर्य श्री अम्बालाल जी महाराज साहब ने मेवाड की इस पावन धरा मे धर्म-प्रसार का जो महान् कार्य किया है तथा कर रहे हैं, वह वास्तव मे उनकी मेवाडवासियों पर असीम कृपा है। मेवाड के कोने-कोने मे पाद विहार करते हुए जन-जन को सदाचार, सयम तथा सद्भावना की जो प्रेरणा आप देते आ रहे हैं, हम किन शब्दो में आपका आभार मानें। आपकी सवत्र अत्यन्त प्रतिष्ठा है।

आपके पूर्ववर्ती महान् आचार्यो ने इस मेवाड-भूमि को अपने सदुपदेशो से पावन बनाया तथा बड़े-बड़े आध्यात्मिक चमत्कार दिखाये।

सन्त और साधक के जीवन मे जो सरलता, कोमलता, सहजता एव पवित्रता होती है, आप उसके साक्षात् प्रतीक हैं। हमारा परम सौभाग्य है कि आप जैसे महान् चारित्र्यशील गुरुदेव हमें प्राप्त हुए हैं।

गुरुदेव के सयम-जीवन के पचास वर्षों की सम्पूर्ति के उपलक्ष्य में दीक्षा-स्वर्ण-जयन्ती महोत्सव मानने का जो सुअवसर हमे प्राप्त हो रहा है, यह हमारे लिए अत्यन्त हर्ष और आनन्द का विषय है।

हमारी यह हार्दिक शुभकामना है कि परम पूज्य गुरुदेव की पावन छत्रछाया हमे शत-शत वर्ष पर्यन्त प्राप्त रहे। परम श्रद्धास्पद पूज्य गुरुदेव का जो आध्यात्मिक उपकार हम सब पर, जैन समाज पर, मानव-समुदाय पर है, वह सदा स्मरणीय रहेगा।

☐ ऊकारलाल सेठिया

[अध्यक्ष—श्री व० स्था० जैन श्रावक सघ, मनवाड]

वीर भूमि मेवाड की इस पावन धरा पर, मेवाड पूज्य प्रवतक गुरुदेव श्री अम्बालाल जी महाराज साहब उन महान् पुरुषो मे से हैं जिनकी आलोक किरणें जन-मानस मे गहरे अन्धकार को दूर कर प्रकाशमयी बना रही है।

आपका जीवन बाल्यकाल मे गृहस्थावस्था से लेकर ५० वर्ष की सयमावस्था तक बालब्रह्मचारी अत्यन्त निर्मल एव प्रेरणास्पद आदर्शमय रहा है।

मेवाड का जैन स्थानकवासी समाज हृदय आपको अपने बीच पाकर उल्लास और आनन्द की तरगो से प्रसन्न होता है।

अत आपका सावजनिक अभिनन्दन किया जा रहा है—मैं इसके लिए अत्यन्त हर्ष एव गौरव का अनुभव करता हूँ और जिनदेव से प्रार्थना करता हूँ कि आपको उत्तम स्वास्थ्य व दीर्घ जीवन प्रदान करे।

☐ हरखलाल लोढा

[मत्री—श्री व० स्था० जैन श्रावक सघ, सिन्दु]

रत्न प्रसू मेवाड, अनेक मौलिक तथा आध्यात्मिक रत्नों की खान है। रत्न प्राय पहाडो मे मिला करते हैं। महापुरुष भी प्राय गाँवो मे पैदा हुआ करते हैं। थामला एक गाँव है उदयपुर जिले का। माँ प्यारा देवी की कुक्षी मे एक अद्भुत रत्न आया, जो जन-जीवन के लिए कल्प वृक्ष सिद्ध हुआ।

"श्रेयासि बहु विघ्नानि" अच्छे कार्यों मे प्राय विघ्न आया ही करते हैं।

श्री सौभाग्य मुनि 'कुमुद'
[कवि, लेखक एव राजस्थान के प्रभावशाली विद्वान संत]

गुरु-प्रशस्तिः

जिनेन्द्रपादावतिकोमलौ यौ, विधायभक्त्या हृदयालवाले ।
अह हि सौभाग्यमुनि करोमि, माला गुरोर्गुम्फितवृत्तपुष्पाम् ॥ १ ॥
सा कुत्र या कर्कशवृत्तपुष्पा, जिनेन्द्रपादावतिकोमलौ क्व ।
क्षत विदध्यान्नहि शङ्कमान, नम क्षमायाचनपूर्वक मे ॥ २ ॥

उपेन्द्रवज्राछन्द

भवाब्धिपोतौ चरणौ जिनस्य, मुनीशदेवेन्द्रजनातिवन्द्यौ ।
भवन्ति भक्ता अवलम्ब्य पार, नमोऽस्तु सौभाग्यमुनेर्हि भक्त्या ॥ ३ ॥
अवर्णनीया तव नाथ कान्तिर्यया जिता सूर्यसहस्रकान्ति ।
ददाति सापीन्दुसमान शैत्य नमोऽस्तु तस्मै जगदीश्वराय ॥ ४ ॥
प्रणम्य पादावभिनन्दनञ्च, गुरोर्हि दीक्षाग्रहणे दृढस्य ।
प्रकाशित तत्सहजन्मवृत्त, करोमि सौभाग्यमुनिर्जनेभ्य ॥ ५ ॥
वीराग्रणीर्भारतभूमिभागे, देशोऽस्ति मेवाड इति प्रसिद्ध ।
यत्रास्ति शौर्यं दृढवद्धमूल, चक्रे स्थितिं मूर्ततनु विधाय ॥ ६ ॥
विहाय देश यदि भारतस्य, पूर्वेतिहासोऽपि भवेन्निरर्थं ।
असख्य वीरैर्निजजन्मभूमे,—र्कृतास्ति रक्षा बलिदानपूर्वम् ॥ ७ ॥
विश्वे समस्तेऽपि न कोऽपि देश, लक्षेषुवर्षेष्वितिहासगम्य ।
सहस्रवर्षाधिक यातकाल, देशाधिप यो विदधीत शत्रुम् ॥ ८ ॥
जानन्ति सर्वेऽपि च नाथमूर्ति गोस्वामिपादा अवलम्ब्य यत्र ।
चक्रुर्निवास नगर सुरम्य, द्वार हि नाथप्रथित तु पूर्वम् ॥ ९ ॥
अस्त्यत्र ग्रामो निकटे हि तस्य, अभूतपूर्वोवर थामलाख्य ।
सुशोभितोऽय गुरुजन्मनैव कृतार्थता भूतमलेन यस्य ॥ १० ॥
एकोनविंशत्यधिके शते य, द्विषष्टिवर्षे नृपविक्रमस्य ।
ज्येष्ठस्य मासस्य च शुक्लपक्षे, दिने तृतीये समजायतायम् ॥ ११ ॥

बाल्यकाल के सद्संस्कारो मे पले किशोरी पुत्र आम्रेश को जब वैराग्यानुभूति हुई तो विघ्नो के पहाड मार्ग मे आ खडे हुए। दादी मा ने आम्रेश को वैराग्य मार्ग से विचलित करने मे कोई कसर नही उठा रखी। उसने महाराणा साहब श्रीफतहसिंह जी के सामने जाकर अपना दुखडा रोया। महाराणा बडे दयालु थे, उन्होने आम्रेश को रोकने का आदेश दे दिया।

उस समय पूज्य श्री मोतीलाल जी महाराज हमारे गाँव सिन्दु मे ही विराजित थे। सरकारी आदेश से मुमुक्षु आम्रेश को राज्याधिकारी पूज्य श्री के पास से हटा कर ले गये। राज्याधिकार के सामने किसी का वश नही था, किन्तु मेरे पिता श्री मोतीलाल जी ने राज्याधिकारियो को सारी स्थिति समझाते हुए मुमुक्षु, एक दिव्य आत्मा है इसका बोध दिया।

महाराणा फतहसिंह जी बडे तेजस्वी महाराणा थे उनके सामने उपस्थित होना ही कपा देने वाली बात होती फिर भी श्री आम्रेश निडर हो, सामने उपस्थित ही नही हुए अपितु उनके प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर भी दिया और उससे प्रभावित हो महाराणा ने अपना बन्धन हटा दिया।

"सत्यमेव जयते" इस सिद्धान्त के अनुसार सच्चे वैराग्य की विजय हुई और सम्वत् १९८२ मार्गशीर्ष मास मे श्री आम्रेश मुनिपद पा गये।

दृढ निश्चयी श्री अम्बालाल जी महाराज ज्ञानादि गुणो मे निष्ठापूर्वक लग गये। गुरु सेवा का इनका गुण भी सब विदित है।

पूज्य श्री के साथ संघ संचालन का कार्य, प्राय आपके ही हाथो होता था।

पूज्य श्री के स्वर्गवास के बाद मेवाड संघ की बागडोर आपके सुदृढ हाथो मे सुरक्षित है।

भारत की देदीप्यमान मुनि रत्नमाला के चमकते रत्न पूज्य गुरु देव श्री शतायु होकर हमारा धर्म नेतृत्व करें। अभिनन्दन के शुभ-आयोजन के अवसर पर अनन्त शुभ कामनाओ के साथ हमारा हार्दिक वन्दन!

●●

अगर मन मे प्रभु का विश्वास है तो, सत्य की सडक पर कोई घुमाव नही है।

अगर मन मे सरलता का वास है, तो, प्रेम के पथ पर कोई टकराव नही है।

अगर मन मे उत्साह का निवास है तो, जीवन की यात्रा मे कही कोई अभाव नही है।

—अम्बागुरु—सुवचन

☐ **श्री सौभाग्य मुनि 'कुमुद'**
[कवि, लेखक एव राजस्थान के प्रभावशाली विद्वान संत]

गुरु-प्रशस्तिः

☐

जिनेन्द्रपादावतिकोमलौ यौ, विधायभक्त्या हृदयालवाले ।
अह हि सौभाग्यमुनि करोमि, माला गुरोर्गुम्फितवृत्तपुष्पाम् ॥ १ ॥
सा कुत्र या कर्कशवृत्तपुष्पा, जिनेन्द्रपादावतिकोमलौ क्व ।
क्षत विदध्यान्नहि शङ्कमान, नम क्षमायाचनपूर्वक मे ॥ २ ॥

उपेन्द्रवज्राछन्द

भवाब्धिपोतौ चरणौ जिनस्य, मुनीशदेवेन्द्रजनातिवन्द्यौ ।
भवन्ति भक्ता अवलम्ब्य पार, नमोऽस्तु सौभाग्यमुनेर्हि भक्त्या ॥ ३ ॥
अवर्णनीया तव नाथ कान्तिर्यया जिता सूर्यसहस्रकान्ति ।
ददाति सापीन्दुसमान शैत्य नमोऽस्तु तस्मै जगदीश्वराय ॥ ४ ॥
प्रणम्य पादावभिनन्दनञ्च, गुरोर्हि दीक्षाग्रहणे दृढस्य ।
प्रकाशित तत्सहजन्मवृत्त, करोमि सौभाग्यमुनिर्जनेभ्य ॥ ५ ॥
वीराग्रणीर्भारतभूमिभागे, देशोऽस्ति मेवाड इति प्रसिद्ध ।
यत्रास्ति शौर्यं दृढबद्धमूल, चक्रे स्थिति मूर्ततनु विधाय ॥ ६ ॥
विहाय देश यदि भारतस्य, पूर्वेतिहासोऽपि भवेन्निरर्थ ।
असख्य वीरैर्निजजन्मभूमे,—कृ तास्ति रक्षा बलिदानपूर्वम् ॥ ७ ॥
विश्वे समस्तेऽपि न कोऽपि देश, लक्षेषुवर्षेष्वितिहासगम्य ।
सहस्रवर्षाधिक यातकाल, देशाधिप यो विदधीत शत्रुम् ॥ ८ ॥
जानन्ति सर्वेऽपि च नाथमूर्ति गोस्वामिपादा अवलम्ब्य यत्र ।
चक्रुर्निवास नगर सुरम्य, द्वार हि नाथप्रथित तु पूर्वम् ॥ ९ ॥
अस्त्यत्र ग्रामो निकटे हि तस्य, अभूतपूर्वोवर थामलाख्य ।
सुशोभितोऽय गुरुजन्मनैव कृतार्थता भूतमलेन यस्य ॥ १० ॥
एकोनविंशत्यधिके शते य, द्विषष्टिवर्षे नृपविक्रमस्य ।
ज्येष्ठस्य मासस्य च शुक्लपक्षे, दिने तृतीये समजायतायम् ॥ ११ ॥

प्यारी यदीया जननी सुशीला, किशोरलालोऽस्ति पिता यदीय ।
हम्मीर नामा शुभपुत्ररत्न, स एव चाम्बोत्तरलाल पूज्य ॥ १२ ॥
वात्सल्यमवापदतो गृहीत्वा बालेन, शब्देन च बालभावम् ।
लाभेन चैव मुनिवृत्तिलाभ, हम्मीरनाम्ना परिवर्तित स ॥ १३ ॥
श्री ओसवालाभिधजैनरत्ने, किशोरलालस्य गृहे हि जात ।
हम्मीरमल्ल शुभपुत्ररत्न, भूतश्च य सयममल्लरत्नम् ॥ १४ ॥
हम्मीरमल्लो गतबालकेलि, यावत्प्रविष्टो निजसप्तमाब्दम् ।
तदा हि नामान्तरमाप योऽसौ, पितृव्यपत्न्या परिवर्तित यत् ॥ १५ ॥
यदैकदा द्वादशवार्षिक स, स्नातु तडाग गतवान् समित्र ।
अगाधनीरे महसा निमग्न, आकृष्य रक्षा विहितास्य लोकै ॥ १६ ॥
अन्यास्ति जाता घटना समाना, मृत्योर्मुखादेप हि निर्गतोऽभूत् ।
उत्तुङ्गगेहात्पतितोऽपि गुप्त, भाग्येन लोका अदृशन्विचित्रम् ॥ १७ ॥
अस्माकमेव गुरुवर्यनाम, वृत्त प्रवृत्त परिवर्तितञ्च ।
अनन्तर मातुलधर्मपत्न्या, सहैव वासान्मनसो विरक्ति ॥ १८ ॥
तदा स दीक्षाग्रहणेऽभिलाप, विधाय योग्य गुरुमाप्तुकाम ।
इतस्ततोऽन्वेपणदत्तचित्त, मोतीतिलाल गुरुमाससाद ॥ १९ ॥
यथा हि हसो चिनुते च मुक्ता, तथा स मोती गुरुमाससाद ।
त योग्यशिष्य प्रविलोक्य सोऽपि, प्रसन्नचेता प्रशशस त तु ॥ २० ॥
विलोक्य दीक्षाग्रहणोत्सुक त, गुरुर्बुभूपुर्मुनिवृत्तिदाने ।
शीघ्र प्रवृत्तो मनसोऽनुकूल, तथापि भाग्येन कृतो हि विघ्न ॥ २१ ॥
दीक्षानिपेधोऽपि कृतो हि पत्या, श्री भीण्डरस्याधिपतेश्चवाक्यात् ।
यतो हि भादोड इति प्रसिद्ध, ग्रामोऽस्ति तस्यैव च शासने य ॥ २२ ॥
मातापि नैच्छन्मुनिवृत्तिमस्य, दिदृक्षमाणा निजवशवृद्धिम् ।
तृणाय मत्वा स गृहस्थधर्म, पलायितोऽसौ निशि जन्मभूमे ॥ २३ ॥
मोहेन माता परिवर्तितु त, पूर्ण प्रयत्न विदधीत शीघ्रम् ।
मेवाडनाथ प्रति सा गताभूत्, साहाय्यमैच्छद्विनिवेद्य सर्वम् ॥ २४ ॥
श्रुत्वा च सर्वं जननीसकाशात्, नृपो महाराण फतेहसिंह ।
नरान्स्वकीयान्प्रतिबोधितु त, सम्प्रैषयत्तत्र स यत्र सघ ॥ २५ ॥
राजाज्ञयासौ सनवाडनाम्नो, ग्रामाद्धि राजानुचरै स नीत ।
स्थान समीपे भवतीति यत्र, सम्मेलन वाहन वाष्पमन्या ॥ २६ ॥
विधाय यत्न नहि राजदूता, कर्तुं गृहस्थ प्रति साभिलाषम् ।
नैराश्य दृष्टैर्नृपकिकरैस्तु, बलप्रयोगोऽपि तदा कृतोऽभूत् ॥ २७ ॥
तदोदयाख्ये नगरे स नीत, शीघ्र महाराणनृपस्य पार्श्वे ।
स्थैर्यं न तत्रापि मुनिश्च भावी, तत्याज दृष्ट हि जनैर्विचित्रम् ॥ २८ ॥
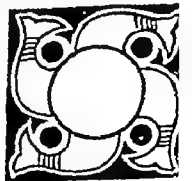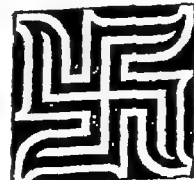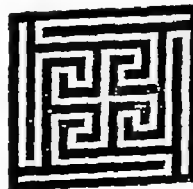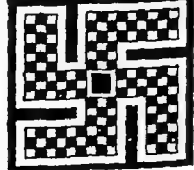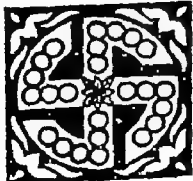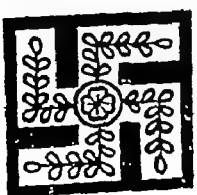
प्रभावयुक्तस्य नृपस्य वाक्य, नाय निषेद्धु पुरत समर्थ ।
इति स्म जानन्ति जना दृढ हि, परञ्च जात विपरीतमत्र ॥ २९ ॥
यत्रास्ति मर्त्यो दृढनिश्चयो यो, तत्रैव साफल्यमुपैति सोऽपि ।
अतो मनुष्यैर्नितरा विधेयो प्रयत्नपूर्व दृढनिश्चयोऽपि ॥ ३० ॥
श्रीमेदपाटेश्वरसम्मुखेऽसौ, सिद्धो हृढो धार्मिकयोग्यतायाम् ।
प्रश्नोत्तराणि स्थिरमानसेन, निवेद्य राणा समतोपयत्स ॥ ३१ ॥
कथ त्वया त्यज्यत एष लोक, नानाविध भोगसुख हि यत्र ।
आजीवन यद्ग्रहणाय यत्न, विधाय मर्त्या न भजन्ति तृप्तिम् ॥ ३२ ॥
अग्रेऽपि वाञ्छन्ति सुराङ्गनाभि, स्वर्गेऽपि सङ्ग सुकृत विधाय ।
यत्रत्यभोगाननुभूय देवा—स्तिष्ठन्ति लालायितकालराशय ॥ ३३ ॥
श्रुत्वा सुख भोगविषस्य भावी, दु ख मुनिर्नाशवतोऽन्वभूच्च ।
विज्ञाय लिप्सा प्रति लोकसौख्यमुवाच मेवाडमहीमहेन्द्रम् ॥ ३४ ॥
शृणोतु राजन्वचन मदीय, भवन्ति भूता मनुजा जगत्याम् ।
दृश्यन्त एते न मया न दृष्टा, ये केऽपि भोगाननुभूय तृप्ता ॥ ३५ ॥
भोगेषु तृप्तिर्भवतीति मिथ्या, नो चेत्कथ नो अधुनापि मुक्ता ।
वय भजामो मतिविभ्रम हि तेनैव भूता भव-भोगिनोऽपि ॥ ३६ ॥
भोगा इमे भो नृप नाशवन्त—स्त्याज्या सदा दु खकरा इहापि ।
सर्वत्र दु ख न सुख परत्र, को मूढ इच्छेन्मृगतृष्णिकाभान् ॥ ३७ ॥
वाताभ्रतुल्य वसुधाधिपत्य, मापातमिष्टा विषयोपभोगा ।
प्राणा नराणा जलबिन्दु तुल्या, धर्मोहि मित्र परलोकमार्गे ॥ ३८ ॥
राजस्तवेय गतराजधानी, आसीच्च नानाविधरत्नयुक्ता ।
तृणाय मेने नगरी सुराणा, किमद्य सा शीर्णतनुर्न जाता ॥ ३९ ॥
यत्रानिश चित्तहराङ्गनाना, गीति सुधा कर्णपुटेष्वषिञ्चत् ।
हा तत्र दृष्टानि दिनेऽपि घूक, घुत्कारकारीणि गृहाणि तानि ॥ ४० ॥
तस्माच्छ्रिय पद्मदलाम्बुलोला, विद्युच्चल जीवनमाकलय्य ।
दृश्य तु सर्वं चलित च दृष्ट्वा—प्यास्था कथ स्याज्जगत स्थिरत्वे ॥ ४१ ॥
न यत्र दु ख न भय न रोग, व्याधिर्जराधिर्न मदो न मोह ।
शश्वन्महासागरवत्प्रशान्त—मादीश्वराङ्घ्रि सतत भजस्व ॥ ४२ ॥
कुर्यामिह किं किमिह न कुर्या त्वयेति शङ्का न कदापि कार्या ।
यथैव भाषास्ति च तण्डुलस्य, चोखा तथा चाँवलमेकमेव ॥ ४३ ॥
धर्मेण केनापि भवाब्धिपार, गच्छेन्मनुष्यो नितरा विचार्य ।
मिलन्ति नद्य सरलाश्च वक्रा यथार्णव दूरतरे वहन्त्य ॥ ४४ ॥
जीवेषु भो भूप दया सदैव, त्वया तु पाल्या भवसयमी त्वम् ।
देहस्य लाभोऽयमभूतपूर्व—स्तस्माद्विधेयोऽस्य च सुप्रयोग ॥ ४५ ॥
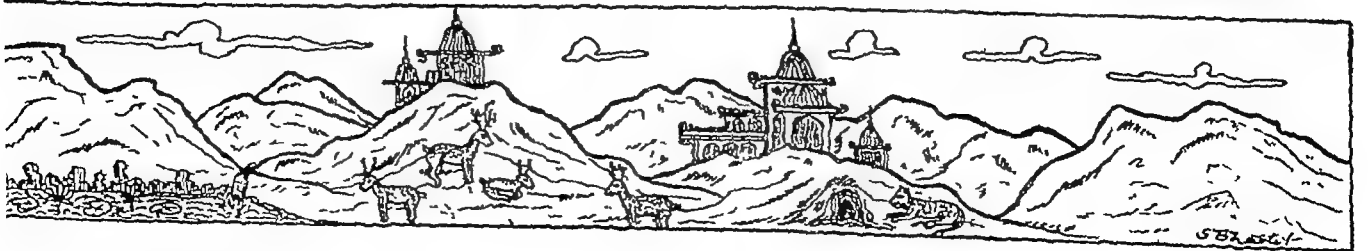
प्रभावयुक्त वचन निशम्य भूपस्य, चित्त परिवर्तित तु।
प्रसारिताज्ञा निजराज्यमध्ये, वधो न चत्वारि दिनानि मासे ॥ ४६ ॥
नवेदमाया न च पूर्णिमाया—मेकादशीकाल दिने निषिद्ध ।
कृत्वा दयापालनकर्म शीघ्र, सघे मुनीना मिलित स भूय ॥ ४७ ॥
राणा प्रसन्नो नितरा बभूव, स्वकीयदोषेण च लज्जितोऽभूत् ।
उत्थाप्य दीक्षाग्रहणेनिषेध, प्रादर्शयद्धाविमुने क्षमा स ॥ ४८ ॥
सम्कारदाढ्यें स गतो हि भूय, गुरु तमेवाहितजैनबोधम् ।
अनन्तर मगलवाडनाम्नि, ग्रामेऽस्य दीक्षा गुरुनिश्चिताभूत् ॥ ४९ ॥
एकोनविशत्यधिकद्व्यशीतौ, भौमे सिते वैक्रममार्गशीर्षे ।
दीक्षाष्टमीश्रेष्ठदिने कृतास्ति, मान्येन मोती गुरुणैव तत्र ॥ ५० ॥
गृहीतदीक्षेण कृतास्ति येन मत्या भविष्योक्तिरभून्व वाल्ये ।
हस्ते हि रेखा विगणय्य पूर्वम्, दृष्टा च या चारणवृद्धपुंसा ॥ ५१ ॥
धन्यो जनो जैनमतावलम्बी, प्राप्त विचित्र मुनिरत्नमेतत् ।
चित्त यदीय रिपुषट्कशून्य, वदन्ति मान्या नरजन्मवित्तम् ॥ ५२ ॥
प्रदर्श्य दीक्षाग्रहणे हठ स, हम्मीरराणा समतामवाप्नोत् ।
स्व जन्मनाम्नश्चरितार्थता य, प्रादर्शयत्स्व दृढमानस च ॥ ५३ ॥
दीक्षा गृहीत्वा मुनयो नवीनास्तिष्ठन्ति वर्षावधि साधनायाम् ।
एव मुनि सयमतत्परोभू—च्छीघ्र गत सयमभूमिका स ॥ ५४ ॥
लालान्त मोतीगुरवो हि पूज्या, स्पष्टा च मत्येक्षणलग्नचित्ता ।
शास्त्रानुसार नियमे दृढास्ते, चतुर्विधश्रावकसघमान्या ॥ ५५ ॥
समादधुस्ते च मिथो विवादम्, सामाजिकाना दृढबद्धमूलम् ।
चातुर्यमूल गुरुकार्यजात, प्रभावितो वीक्ष्य मुनिर्नवीन ॥ ५६ ॥
अध्येतुकाम मुनिवृत्तिलीन, स्तोकेन कालेन कृतप्रयत्नम् ।
शिष्य गुरुर्यो व्यदधाच्च योग्य, विलोक्य धैर्यान्वितसयमी तम् ॥ ५७ ॥
यदा गतोऽम्बाभिधजातदीक्षो, भिक्षा गृहीतु प्रथम मुनीन्द्र ।
तिक्ताम्बु केनापि नरेण दत्त, पीत प्रसन्नेन धियैव तेन ॥ ५८ ॥
क्रोधेन रक्ते नयने न जाते, न द्वेषलेशो मुनिमानसेभूत् ।
परीक्षणे सयमवान् स दृष्ट, प्रारम्भकालेऽपि शुभावहोऽभूत् ॥ ५९ ॥
गुरोर्हि पूज्यस्य समक्षमेव प्रारब्धवाञ्छास्त्रसुवाचन य ।
एकोनविंशत्यधिके त्र्यशीतौ, पुरे जयाख्येऽन्यवसन्मुनीन्द्र ॥ ६० ॥
सामाजिकाना विदुषा समक्ष, मशङ्कमानो जिनधर्मतत्वम् ।
विवेचयन्सूक्ष्मधिया सदैव, चतुर्षु मासेष्वभवत्प्रभावी ॥ ६१ ॥
जिज्ञासुरासीन्नवजातदीक्षो, य श्रावकेभ्योऽपि गृहीतविद्य ।
अग्रे हि वर्षे कृतवान्निवास, चतुर्षु मासेषु तु जोधपुर्याम् ॥ ६२ ॥

सम्मेलन जातमभूतपूर्वं, श्री कानमल्लस्य दिवाकरस्य।
पर्यूषणे पर्वणि निश्चयोऽभू—दुद्घाटन हट्टनिरुद्धमत्र ॥ ६३ ॥
सजायतेऽद्यापि पालन तत्, प्रेम्णा गुरुणा कृतनिश्चयस्य।
शक्या न विस्मर्तुमभूतपूर्वा, यात्मीयताहश्यत तत्र पूर्णा ॥ ६४ ॥
सर्वत्र कीर्तिप्रसृतागुरूणा, निनाय या त नगरे विकास्ये।
तत्रापि योगो मधुरो हि जात, सम्मेलन चाँदमलेन सार्द्धम् ॥ ६५ ॥
पचाधिकेशीतितमे हि वर्षे, पूज्यस्य वर्षासमयो व्यतीत।
श्री सादडी ग्राममतो गत स, यत्राभवद्धैर्यपरीक्षणञ्च ॥ ६६ ॥
पूज्यैकलिंगस्य गुरोश्च रोग, वृद्धिंगतो वल्लभपत्तने हि।
पूज्यस्तदाम्बाभिधलाल एष, प्रतिक्रम कारितवांस्तदानीम् ॥ ६७ ॥
उच्चारणस्यास्य च शुद्धता हि, वाण्या च माधुर्यमभूतपूर्वम्।
निशम्य लोका प्रशसन्ति योग्या, मुक्तेन कण्ठेन तदैव शीघ्रम् ॥ ६८ ॥
भिन्नेषु वर्षेषु तु वृष्टिकाले, ग्रामेषु भिन्नेषु कृतो निवास।
श्री मेदपाटे च मरुस्थलेऽपि धर्मप्रचार कृतवान् मुनीन्द्र ॥ ६९ ॥
आचार्यसेवा गुरुगौरवेणा, भवश्च मुग्धा हि महम्मदीया।
विधाय सद्य लिखिता प्रतिज्ञा न ते विधास्यन्ति च जीवहिंसाम् ॥ ७० ॥
न ते करिष्यन्ति च जीवहिंसामपीह ते ईद महोत्सवेऽपि।
धन्यानवच्छी वदनोर भूमि, यत्रेदृशा भिन्नमतावलम्बा ॥ ७१ ॥
आचार्यपादा सरलाश्च पूज्या, सदैव वाञ्छन्ति समाज सेवाम्।
नाना प्रकारेण समाजदोषा, दूरे कृतास्तैर्जिनपादभक्तै ॥ ७२ ॥
मोतीह लालाभिधपूज्य सगा—दहमदावाद पुरी च मुम्बाम्।
अयञ्च यातो मनवाड देशे, नानाविधान् भारतभूमिभागान् ॥ ७३ ॥
मुम्बापुरी यो गुरुणा तु सार्द्धम्, यदा गतोऽस्य पथि दुर्जनेन।
शीर्षेऽपिधारा क्षतजा हि दृष्टा, पाषाणखण्डेन स आहतोऽभूत् ॥ ७४ ॥
दोषी गृहीतो मनुजैस्तदासौ, क्षमा प्रदत्ता मुनिना च तस्मै।
क्षमाप्रभावेण स क्रन्दितोऽभूत्, तापेन चित्त परिवर्तित तत् ॥ ७५ ॥
श्लाघ्यो मुनेरस्य गुणप्रकर्ष, कोपस्य जेता नितरा प्रशस्य।
दृष्ट्वा मुनि सयमशूरमेन, धन्यस्य वादो न च कस्य जात ॥ ७६ ॥
गुरोश्चपादान् हृदयालवाले, निधाय यत्नात्कुमुद करोमि।
समाजदोषानपनीय शीघ्र, रक्षन्तु ते सगठनस्य भङ्गम् ॥ ७७ ॥
जनैश्च सौभाग्यमुनि सदैवाऽभिधीयतेऽय कुमुदोपनामा।
ग्रन्थे प्रशसा क्रियतेऽभिनन्दे, प्रकाश्यते जीवनवृत्तमेतत् ॥ ७८ ॥
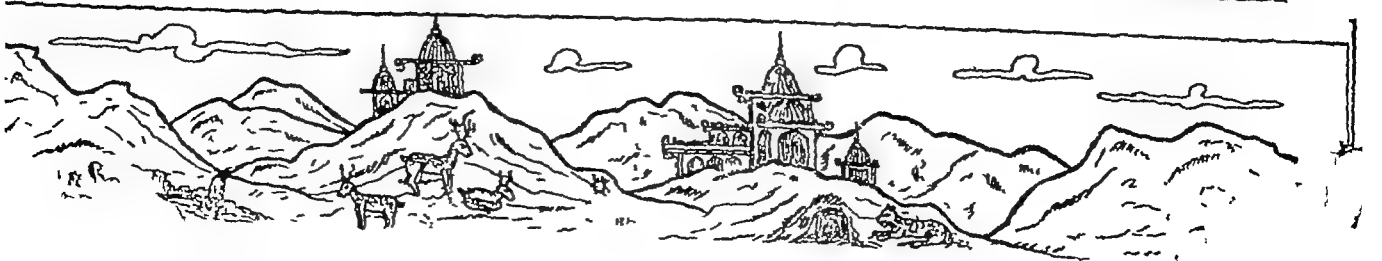
☐ प० श्रीधर शास्त्री
[ज्योतिष आयुर्वेद साहित्याचार्य, अजमेर]

पूज्य प्रवर्तक-पंचकम्

[मन्दाक्रान्ता]

☐

अम्वालालो मृदुलमुदित मेदपाटे प्रसिद्ध ।
ज्ञानाधीश सुकृत-सुशम सघस्वामी विशेष ॥
साध्वाधीनोऽमलछवियुत. शान्तजैनागमस्य ।
जीयाल्लोके रसिकसुमणि जैनशास्त्रार्थदृष्टि ॥१॥

शिष्यास्तस्य 'मगन' रसिको योग्य सौभाग्य दृष्टि ।
लेख्ये साध्ये सफल लिखने "मन्मथो" मोदयुक्तः ॥
शिष्या सर्वेत्रयइतिवरा एकतश्चेकश्रेष्ठ ।
सत्याचार "पुरुहुत" मतिर्बन्धुगु रोरग्रणी ॥२॥

सौम्योमूर्तिर्मधुरवचन देशसेवा विचार ।
ज्ञानान्धाना विकलमनसा तत्वदर्शी वरीष्ठ ॥
दीनार्तानां शरणसुखदो मजुवाक् योगसिद्ध ।
नित्यानद परसुख-सुखी शान्तिवाक् धीरवीरः ॥३॥

श्रद्धा भक्त्या सततसफलोध्यानयोगीमहात्मा ।
विद्यादेशे कथयति सदा सर्वसाधूश्च छात्रान् ॥
नित्याभ्यासे मननमथनात् ज्ञानशक्ति विचिन्त्यु ।
जायन्तेऽस्मिन् निखिलभुवने भव्य देवा सुपूज्या ॥४॥

विद्या प्राण प्रथितविनय सत्कृति सार्वभौम ।
ज्ञानाभ्यासी जयतिमुदित हास्यमानो विवेकी ॥
धैर्याद् ब्रूते प्रथितविकट साधु हेतौ स्थितोऽसौ ।
सर्वेषा वै सुखपथजुषा साधुनां सत्यस्नेही ॥५॥

अभिनंदन

मनहर-छंद

□

चौखी चितवनवारो षट्काय रक्षनारो,
प्राणी मात्र प्यारो वारो हृदय विशाल है।
निजातमा साधनारो, अनेको को तार नारो,
सरल स्वभाव जारो, क्रिया भी कमाल है।
हिय हार सुमतारो कियो कुमता को टारो,
योगी मतवारो सारो, ध्येय जो रसाल है।
चम्पा को दुलारो, श्री हर्ष उजियारो महा,
पूज्य मोती शिष्य गुनि मुनि अम्बालाल है ॥१॥

दृग रस ग्रह विधु[1] ज्येष्ठ शुक्ला तृतीया को,
थाँवला मेवाड जन्म लिनो जयकार है।
चख वसु निधि धारा,[2] अगहन सुदि पाख,
अष्टमी को छोडी अघ, भये अणागार है।
करम करन अस्त, व्यस्त हुए साधना मे,
त्याग के समस्तवाद, स्याद्वाद धार है।
ज्ञान में मगन लगी, लगन अमर होन,
देशना सुदिव्य देत, लेत भव्य सार है ॥२॥

दोहा

पृथ्वी पर पढ़िया प्रवर, मिले घना मुनिराज।
इसो सरल मिलनो कठिन, अम्बा जिसडो आज ॥

१ वि० स० १९६२

२ वि० स० १९८२

श्रद्धा-सुमन

☐ चन्द्रसिंह चौधरी
एम० ए०, एम० एड०

☐

वन्दे पूज्य पदारविन्दयुगल सारल्य-शील क्षमा —
मूर्ति पञ्चमहाव्रतानतिदया तौषैश्च सभासुरम् ।
सद्विद्या शुचिता स्वधर्म परता नालक्षित मूर्ति पराम्,
अम्बालाल गुरु महाव्रतधर श्रीजैन धर्माग्रणीम् ॥१॥
श्रद्धाभक्ति भरोऽभिनन्दन परोऽस्मिन्नुत्सवे सोत्सव ,
श्रीमद्दिव्य गुण-प्रमुग्ध मतिमान् श्रीमत्कृपैकस्पृह ।
विद्वन्! स्नेहनिधे गुणाकर कृपा-सिन्धोऽङ्घ्रि चारिन् गुरो !
अम्बालाल मुनीन्द्र श्री चरणयोश्चन्द्रो मुदा स्त्यानत. ॥२॥
दीक्षा स्वर्ण-जयन्त्या श्री अम्बालाल पदाम्बुजे ।
चौधरी चन्द्रसिंहस्य, श्रद्धा सुमन-सन्तति. ॥३॥

●●

वंदामि

☐ श्री उमेश मुनि 'अणु'
[चिंतनशील लेखक एवं संस्कृत-प्राकृत के अधिकारी विद्वान्]

पहुवीरस्स तित्थमि, 'धम्मदासो' जईसरो ।
धम्म-पभावगो आसी, किवालू भत्तवच्छलो ॥१॥
तप्पय-पुंडरीगाण, महुयरो गुणीवरो ।
लहू सो 'पुहवीराओ', खाओ गुणाण साहगो ॥२॥
साहाए तस्स जाया खु, वहवो य मुणीवरा ।
आराहगा सुधम्मस्स, तवस्सिणो य पाणिणो ॥३॥
अभिग्गहे दढो धीरो, 'रोडजि'-त्ति तवोधणो ।
सरित्ता तग्गुणाण तु धम्मे उप्पज्जए रई ॥४॥
तक्कुले सपई अत्थि, "अबालालो" पवत्तगो ।
पण्णास वरिसा जाया चरित्ते तस्स सोहणे ॥५॥
भत्तजणेहि ण तस्स, कायव्वा अहिणदया ।
पुणो अहपि वदामि त जण-उवगारिण ॥६॥

□ मुनि महेन्द्रकुमार 'कमल'
[कवि और लेखक]

विरल-विभूति गुरु अम्बा

अभिनन्दन अम्वा गुरुवर का श्रमण सघ का अभिनन्दन है।
अभिनन्दन अम्वा गुरुवर का सकल सघ का अभिनन्दन है॥
जगम कल्प फलद वसुधा के सन्त अमर फल देते आए,
देने के हित जीवित रहना इसीलिए कुछ लेते आए॥
नेने मे भी देना ही है।
वृत्ति भ्रामरी को भगवन् ने माना उत्तम हरिचन्दन है
विरल विभूति तपोधन सच्चे जीवन अति गम्भीर ज्ञानमय।
ब्रह्मचर्य का प्रखर तेज है सभी समय मे अम्वा निर्भय॥
वडी अलौकिक महिमा वाले।
वधे हुए सयम से फिर भी जीवन जीते निर्वन्धन है
एक कर्मयोगी जीता है इस वृद्धावस्था मे सच्चा,
अम्बागुरु की परिचर्या से परिचित ही है वच्चा वच्चा॥
जय हो, जय हो अम्बागुरु की।
'मुनि महेन्द्र' तरु कल्प आप हैं श्री जिनशासन वन नन्दन हैं

□ श्री सुकन मुनि
(सेवाभावी सत राजस्थानी के कवि)

श्रद्धा के सुमन

जैनन जगत वीच नाना लतान मीच,
अवनि उद्यान माही, अमराई छाई है।
फूले हैं सुफूल रग सग नाना विधि नीके,
हरि-भरी मनोहारी शोभा अधिकाई है।
वागन वहार ताको नैन हू निहार सारे,
जुर्यो है जगत जैन, देवन वधाई है।
स्याद्वाद सरस अहा सलौने 'सुकन कवि',
विमल विकास और अम्बेश अगवाई है॥ १॥
वानी विनोद विषद विद्युत-सी वेगवान,
मरु अरु मालव भौर कीरत वगराई है।
श्रावक सुजान मतिमान ओ महान जान,
गुनन हिरानो ताकि खोज खबर पाई है।
अति अनुराग और अतुल पुल जानी सवै,
अभिनन्दन आयोजन मे देत वधाई है।
'सुकन' सुकवि सुजस कहलो वखाने हम,
मुनि अगवानी ग्यानी अम्वेश छवि छाई है॥ २॥
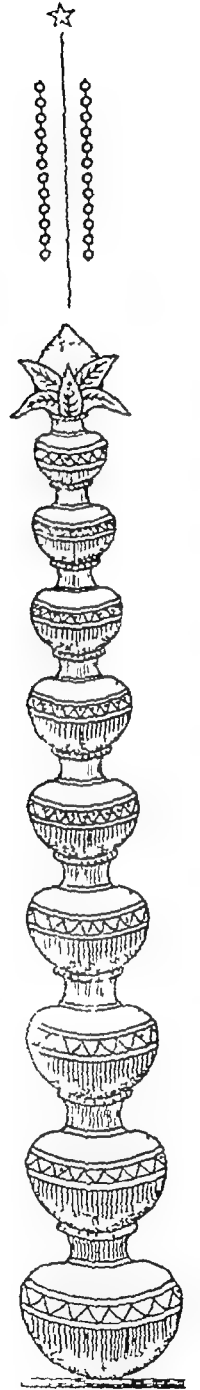
परमल अम्बेश

☐ घोर तपस्वी 'रजत मुनि'

[छन्द—सेणोर—चोसर]

उगणी से वामटे-अम्व मुनि ओतर्यो,
थामला मेवाड मे जोत जागी।
मुक्ता मुनि-आयने ओप उजवाय ने,
ज्ञानी गुरु पायने वैराग पागी ॥ १ ॥

सवत् वयासिये मगसर शुद अष्टमी,
श्रेष्ठवन सयमी-काज सारियो।
दोप दश दूर कर-कर्म चकचूर कर,
भाव भवपूर भर, मोह मारियो ॥ २ ॥

मरु-मेवाड मे मालव-मझार मे,
पुहुमि पहाड मे सिंह घायो।
तपे ज्यु तावडा पलक रा पावडा,
शहर औ 'गामडा' 'अम्व' आयो ॥ ३ ॥

नर अर नारियां सुणे उपदेश जो—
तारिया जारिया कर्म-जाला।
झुक्या नर नाहरा गुण देख ताहरा,
घर अर वाहरा फेर माला ॥ ४ ॥

भगत जिन भावरा भया यूं वावरा,
निव्या नर नावरा अम्व आगे।
चरण रज धूर सूं कर्म भक भूर ह्वै,
सूर नर पूर रा भाग जागे ॥ ५ ॥

जैन अजैन जो समझ ली सैन जो—
झुक्या तेण गुणाने देख दूणा।
कीरत री वेलडी रही ना नेनडी—
गढा-कोटो[1] अगुणा[2] अथूणा[3] ॥ ६ ॥

सघ रा श्रावका भावना भाव का—
समय का दावका, मतो कीनो।
"अभिनन्दन" आदर्यो सुजग वन्दन रो,
सन्त शिर मोडरो स्व पद दीनो ॥ ७ ॥

मगन मदन जी शिष्य सोभाग जी,
सारा ही हरखे है मना माही।
'रजत कवि' राजरा-कांई वखाण करे—
परमल अम्वेश ना जुगा जाही ॥ ८ ॥

---

१ गढकोट, किला २ पूर्व ३ पश्चिम मे

☐ चन्द्रसिंह चौधरी, एम० ए०, एम० एड०

गुरुदेव श्री को वन्दना

—✫✫—

श्रद्धेय मुनीश्वर, हे विद्वद्वर, अम्बा गुरुवर उपकारी,
सच्चे साधक, पूर्ण आराधक, धर्म प्रचारक हितकारी।
ज्ञान-भण्डारी, दया-प्रसारी पादविहारी सुखकारी,
सन्त आत्मा, बने महात्मा, भज परमात्मा हियधारी॥

सब कुछ त्यागी, बन बैरागी, प्रभु अनुरागी हे ज्ञानी,
अनासक्त, जग से विरक्त, प्रभु भक्त बने हे ध्यानी।
दृढ विश्वासी, प्रेम प्रकाशी, भज अविनासी, मृदु भाषी,
प्रेम दिखाते, नेम निभाते, क्षेम फैलाते, गुणदासी॥

अति मृदुवाणी, हिय हर्षाणी फैलाते हो जिन वाणी,
सृजक साधना मण्डल के तुम, पुस्तक आलय लासानी।
हे करुणाकर, ज्ञान उजागर, धर्म दिवाकर व्रतधारी,
दर्शन पावें, गुण-गुण गावें, चित्त हर्षावें नरनारी॥

सत्य-शील-सन्तोष त्रिवेणी, सुखदा वरदा वाणी,
सारल्य सौम्यता समता का हिय बहता है निर्मल पानी।
विषय विवेचन मे अति उद्भट, हे विद्वद्वर मुनि ज्ञानी,
सदा बसो श्रावक मन-मन्दिर, हम अतिशय अज्ञानी॥

अति छबि न्यारी, सतव्रतधारी, हे मुनिश्वर अविकारी,
मेवाड शिरोमणि, चरित्र चूडामणि, प्रीतघणी सब नरनारी।
शरण तिहारी अति सुखकारी हे सुबाल-ब्रह्मचारी,
परमज्ञान से लाभान्वित कर सत्य-अहिंसा व्रतधारी॥
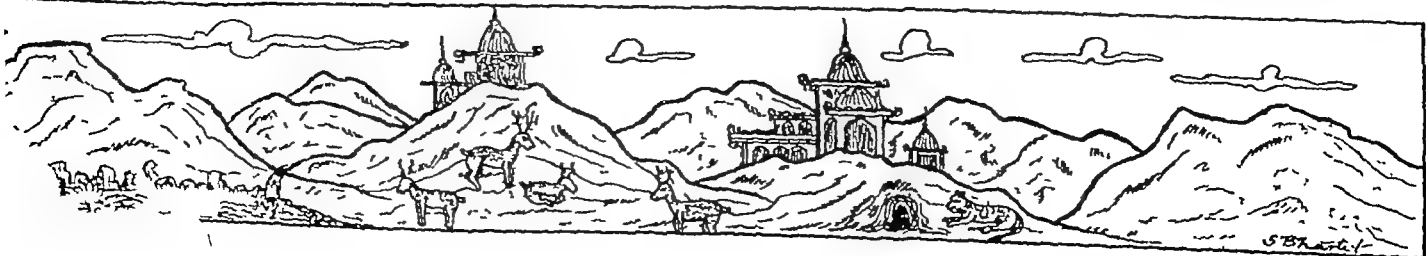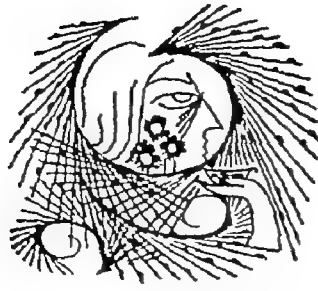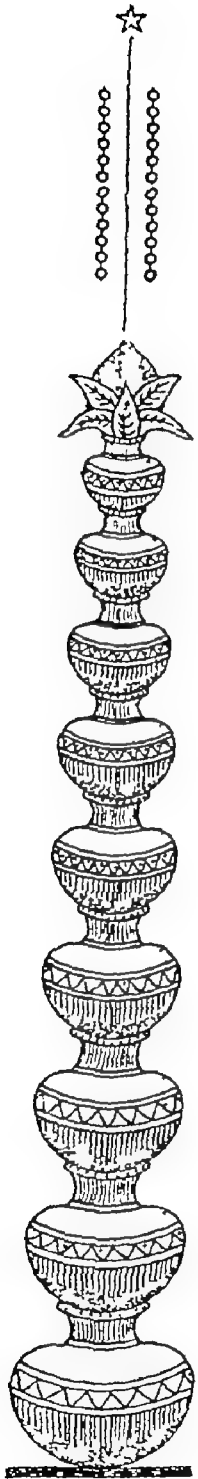
□ श्री विजय मुनि, विशारद

जग भूषण श्री अम्ब मुनि

जय श्रमण प्रवर्त्तक अम्ब मुनि, जय शासन के उजियारे हो।
जय "भार मुनि जी" के प्यारे, मेवाड धरा के तारे हो॥ टेर॥

है जन्म भूमि मेवाड "थामला" सुन्दर अरु सुखकारी है।
है जन्म भूमि जननि प्यारी, जहाँ जन्म लिया गुणधारी है॥
महाभाग्यवान् पूज्य श्रमण शिरोमणि, मुनि मण्डल के सहारे हो॥ १॥

ये बीस वर्ष की आयु मे, निर्मल सयम को धारा है।
पैदल विहार कर गाँव-गाँव को पिलाई अमृत धारा है॥
मेवाड, मालवा, महाराष्ट्र, सौराष्ट्र मे आप पधारे हैं॥ २॥

किया जैन शास्त्र, ज्योतिष ज्ञान भी उज्ज्वल और सुहाना है।
आचार-निष्ठता के हिमायती सेवा गुण को बखाना है॥
है मिलनसार अरु भद्रमना जगति के जैन सितारे हैं॥ ३॥

है मधुर गिरा जो मैत्री भाव की मदाकिनी बहाती हैं।
है आत्मधर्म मन मन्दिर मे सहानुभूति सुहाती है॥
सर्वत्र मान-सम्मान मिले, खुशियो के छाये फव्वारे हैं॥ ४॥

ये मगलमय शुभ अभिनन्दन हम प्रेम भाव से करते हैं।
शुभ लक्ष्य सफलतापूर्ण मिले, यो पवित्र भावना वरते हैं॥
"विजय" विमल आनन्द मिले, जग भूषण शौर्यता धारे हैं॥ ५॥

□ तरुण तपस्वी अभय मुनि
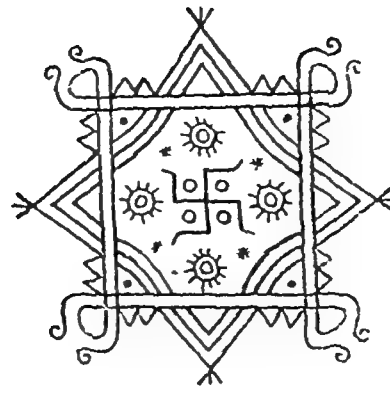
श्री अम्ब मुक्ताष्टक

☆

[१]
जीवन सुमन सुहाना है ये, अम्ब मुनि सुरभित होता।
मेवाड धरा का हर जन मानव, देख-देख हर्षित होता॥

[२]
सस्कार मिले हैं मात-पिता से, जो आगे वृद्धि पाये।
महा प्रतापी "भारमुनि जी", सच्चे गुरु को तुम पाये॥

[३]
बचपन से ही शास्त्र ज्ञान से, समुज्ज्वल प्रकाश किया।
चमक रहे मेवाड धरा मे, सत्य-शिव विकास किया॥

[४]
सयम मे रत रहते मुनिश्वर, वर्ष पचास किये पूरे।
प्रवर्त्तक हैं आप गुणिवर, धर्म वीर अरु हैं शूरे॥

[५]
तपोधनी हैं जैन जगत की, सच मे विरल-विभूति हैं।
मधुर गिरा है प्रसन्न आनन, ब्रह्मचर्य मय ज्योति है॥

[६]
सरल हृदय, सगठन की मुनिवर सतत भावना रखते है।
ज्ञान-भक्ति की अविरल साधना, निर्मल करते रहते हैं॥

[७]
मिलनसार है, रुचिशील, स्वाध्यायी, सघ के सचालक।
दीप्तिमान रहो सदा तुम, श्रमण ग्राम के हो पालक॥

[८]
इन शब्दो से सुखद कामना, करते हैं हर्षित शतवार।
'अभय' बने मेवाड शिरोमणि, धन्य-धन्य अम्बा अणगार॥

☐ बालकवि सुभाष मुनि 'सुमन'

हो कोटिश अभिनन्दन !

[१]
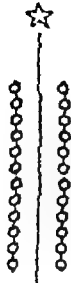
धरातल मेवाड पे, एक जीव जन्मा आई,
विरल विभूति यह, सन्तोष भण्डार है।
धन्य हुआ ग्राम वह, धन्य हुई मातेश्वरी,
प्रियधर्मी पिताजी भी, कुल सिणगार है।
[१]इन्दु [६]तत्त्व [६]षट्काय, [२]युगल मे ज्येष्ठ शुक्ला,
तृतीया का शुभ दिन, धामला मुझार है।
कहत "सुभाष मुनि" सरल-सरल महा,
तपोधनी अम्बा गुरु, विनय अपार है।

[२]

मानवता की प्रतिभा भी, समुज्ज्वल प्रदर्शित,
महान विराट मूर्ति, ज्ञान गुणधारी है।
सरोवर सम आप, जीवन पवित्र महा,
नही है कटुता तव, वाणी प्रिय भारी है।
शुद्ध मोती मोतीलाल, सघ मे रसाल महा,
भद्रमना भारमल, गुरु उपकारी है।
कहत "सुभाष मुनि" सुखकारी हितकारी,
ऐसे महा योगीराज, वन्दना हमारी है।

[३]

खूब किया ज्ञान-ध्यान, गुरु सेवा खूब भरी,
विवेक से ओत-प्रोत, जीवन तुम्हारा है।
दृढता त्याग मय, मिलनसार प्रकृति भी,
करुणा के रत्नाकर, भिक्षुक हमारा है।
मुखाकृति दमके सदा, चमकता तेज अति,
जीवन मे कोप भरा, दया से अपारा है।
कहत "सुभाष मुनि" अनुकम्पा शील मुनि,
भक्त है अटलभारी, महिमा को विस्तारा है।

दोहा

यश कीर्ति चमके सदा, रहे हमेश अविचल।
दीर्घायु हो मुनीन्द्र जी, उपकारी अविरल ॥ १ ॥
जीवन तेरा धन्य है, धन तेरा अवतार।
सफल करी है कूख को, सफल हुवे किरतार ॥ २ ॥
मारवाड-मेवाड में, किया धर्म उत्थान।
मालव ने महाराष्ट्र मे, गुजरात देश महान ॥ ३ ॥
गुण गरिमा फैल रही, चारों ही दिशी माय।
बने यशस्वी जयवन्त, प्रवर्तक सुखदाय ॥ ४ ॥
सयम साधना सफलकारी, पूरे पचास वर्ष।
अभिनन्दन कोटिश 'सुमन', हो रहा जनमन हर्ष ॥ ५ ॥

☐ **श्री गणेश मुनि शास्त्री**
[प्रसिद्ध साहित्यकार एव वक्ता]

देखा ऐसा संत नहीं !

अम्बा गुरु को निज जीवन सम, जग का जीवन है प्यारा ।
इसीलिए अर्हद् उद्घोषित, महाव्रतो को स्वीकारा ॥

भद्रमना गुरुदेव भारमल, भाग्योदय से इन्हें मिले ।
सूर्य-रश्मियो के स्पर्शन से, सूर्य विकासी क्यो न खिले ॥

दर्शन का अध्ययन गहन कर, पढ महनीय लिया सच्चा ।
अपरिग्रह व्रतधारी का है, ज्ञान-निधान यही अच्छा ॥

रुचि स्वाध्याय-ध्यान मे रखते, मिलनसार हैं आप महान ।
सरलात्मा को मिलता ही है, उच्चस्तरीय सदा सम्मान ॥

श्रमण सघ के पूज्य प्रवर्तक, पद को गतमद वहते हैं ।
सचालक मेवाड सघ के, सेवक बन कर रहते है ॥

विरल विभूति दीप्त मुखमुद्रा, गभीरिमा का अन्त नही ।
वर्तमान युग के स्वर हैं ये, देखा ऐसा सन्त नहीं ॥

'धर्म ज्योति' परिषद के प्रेरक, सस्थापक शालाओ के ।
ज्योतिमान मोती होते हैं, कठस्थित मालाओ के ॥

सघ सगठन सेवा श्रद्धा, शिक्षा, दीक्षा सत्साहित्य ।
अम्बा गुरु की पुण्य दृष्टि से, पूर्ण पल्लवन पाते नित्य ॥

जहाँ जहाँ भी घूमे मुनिवर, झूमे श्रावक चरणो मे ।
अभय चाहने वालो को ये, लेते आये शरणो मे ॥

अभिनन्दन अम्बा गुरुवर का, करना है कर्तव्य महान ।
स्थानकवासी जैन सघ का, समझा जाये यह सम्मान ॥

'मुनि गणेश शास्त्री' का वन्दन, अभिनन्दन स्वीकारा जाय ।
सन्तो के अभिनन्दन को भी, माना जाता मोक्षोपाय ॥

●●

☐ **प्रकाश मुनि 'प्रेम'**

गुण-रत्नाकर

मेवाड शिरोमणि पूज्य प्रवर्तक, मुनिवर अम्बालाल महान ।
तेरी गौरव गरिमा से अवगत हैं, सुनिए सकल जहान ॥
श्रमण-श्रेष्ठ, त्यागी-वैरागी, श्रमण सघ के हो शृगार ।
तेरे परम पुनीत चरण मे वन्दन है, मेरा शत बार ॥
गहरे ज्ञाता आगम के, रत्नाकर सा जीवन गम्भीर ।
तेरे दर्शन करके स्वामी, करे पलायन अन्तर पीर ॥
चहुँ दिश मे तब गौरव गरिमा, फैल रही है अपरम्पार ।
गुण गाते हैं सादर गुरुवर, दुनियाँ के लाखो नर-नार ॥
शिष्य समझकर मुझको अपना, रहे कृपा मुझ पर दरबार ।
शुभाशीष पाकर स्वामी का, हो जाऊँ भवसागर पार ॥

☐ जिनेन्द्र मुनि 'काव्यतीर्थ'
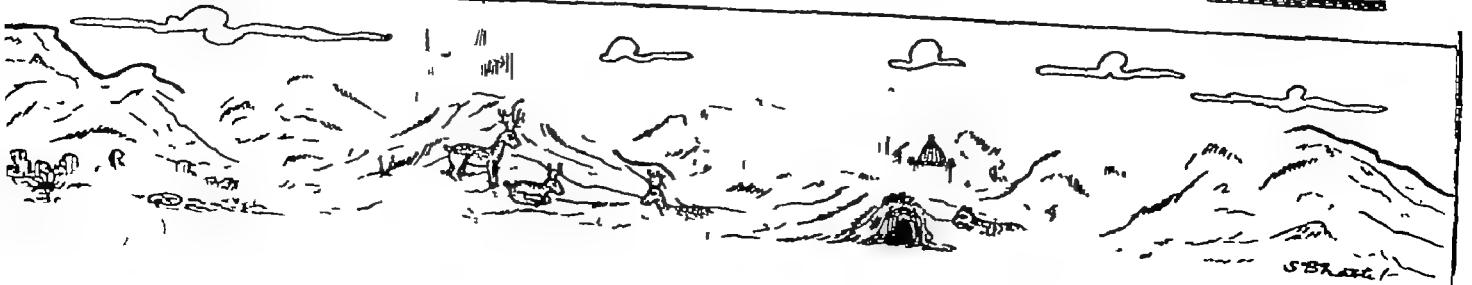
मधुर आम्र-सम जीवन जिनका

मुनि गुणी गुण गाने से—अभिनन्दन उनका करने से,
पावन बनती स्वय आत्मा, तिरे सिन्धु कलि हरने से ।
मेवाड सघ शिरोमणि है ये—और प्रवर्तक ज्ञानी हैं ।
गुणी बडे रत्नाकर जैसे, अम्बालाल जी स्वामी है ।।
यथा नाम गुण तथा आप मे, सहज रूप से पाते हैं ।
मधुर आम्र सम जीवन जिनका, देखा महिमा गाते हैं ।।
दिव्य-साधना जीवन पावन, सतत प्रेरणा-प्रद जग मे ।
ज्ञान-ज्योति को लेकर इनसे, चलो प्रगति के सुमग मे ।।
जैनागम इतिहास सिन्धु मे, गोते गहन लगाते हैं ।
अन्वेषण कर माव रत्न, जीवन को आप सजाते हैं ।।
मगलमय उपदेश आपका, ज्ञानामृत बरसाता है ।
सम्यक्-श्रद्धा श्रवण ग्रहण से, हृदय-कमल विकसाता है ।।
सौम्य चन्द्र धवल चाँदनी को लख कमलिनी खिलती है ।
दर्शन से तत्त्व गुण गरिमा से, जन-मन-शाति मिलती है ।।
शासन साधक ! सजग पथिक तव, चरण मे हो वन्दन ।
दीक्षा-स्वर्ण-जयन्ती आई, करता 'जिनेन्द्र' अभिनन्दन ।।

●❀

☐ भक्त 'राव' (सोन्याणा)

दो कवित्त

[१]

काम अरु क्रोध लोभ तृष्णा से रहित सदा,
वाके ही मे सत गुन आप तन धारी हैं।
अज्ञानिक जीव केहि परे भव बधन मे,
उनके छुडाइवे मे आप उपकारी हैं।।
शीतल सुभाव अरु ज्ञान के समुद्र अति,
सर्व रितु चन्द्र सम किरती तुमारी है।
पूज्य श्री मेवाड हुके ज्ञानी गुरु अम्बालाल,
आप हुँकि भक्ति ताको, कोटि बलिहारी है।।

[२]

मात प्यार बाई हुँ कि कोख से जनम भयो,
पिता श्री किशोर चन्द्र जी के आप जाये हैं।
सोनी बस आप हु को उज्ज्वल विख्यात सदा,
वाके कुल हु मे आप दीपक बनि आये हैं।।
मुनि होय आप फिर रवि ज्यु प्रकाश कीनो,
पूज्य श्री मेवार हुको याते पद पाये हैं।
अज्ञानीक अधकार दूर करि वे कुं एक,
विधना ने आप हुकु मणि ज्युं बनाये हैं।।

☆☆

□ कविरत्न श्री चन्दन मुनि (पजाबी)
[लगभग पचास हिन्दी काव्यो के रचयिता]
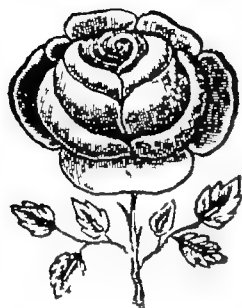
भक्ति-सुमनार्चना

(१)
राज्य उदयपुर के अन्तर्गत,
गाँव थामला प्यारा।
उगनी सौ बासठ मे उसमे,
चमका एक सितारा॥

(२)
उसको ही 'अम्बा गुरु' कहकर,
आदर करती दुनिया।
उनके पावन चरण-कमल मे,
सिर है धरती दुनिया॥

(३)
'भारमल्लजी ज्ञानी गुरु से,
सयम को क्या पाया।
इक आदश श्रमण बन करके,
दुनिया को दिखलाया॥

(४)
वर्ष बयासी मगसिर शुक्ला,
तिथि आठों वड भागी।
सयम को अपनाते ही वस,
किस्मत जग की जागी॥

(५)
मनोमिलाषा पूरी करते,
भक्त जिन्हो से सारे।
पचम आरे के वे प्यारे,
कल्प-वृक्ष है न्यारे॥

(६)
एक दिवस क्या एक घडी के,
सयम की न समता।
वने अभी के साधू को है,
स्वय इन्द्र भी नमता॥

(७)
अर्द्धशती फिर बीती जिनको,
सयम को अपनाए।
क्यो न दुनिया चरण-कमल मे,
सादर शीश झुकाए॥

(८)
देख त्याग वैराग्य आपका,
विस्मित दुनिया वाले।
हर इक के न वश मे ऐसा,
निमल सयम पाले॥

(९)
ज्योतिष के जैनागम के हैं,
भारी ज्ञाता ज्ञानी।
इससे बढकर सबसे चढ़कर,
मिश्री जैसी वानी॥

(१०)
कहें सदा मिथ्यात्व तजे विन,
करनी निष्फल सारी।
तिरना हो तो समकित के बस,
बनिये परम पुजारी॥

(११)

मारवाड, मेवाड, मालवा,
महाराष्ट्र भी घूमे।
गुर्जर और सौराष्ट्र देशने,
चरण आपके चूमे॥

(१२)

श्रमण सघ के बने प्रवर्तक,
शोभा भारी पाई।
मुक्त कठ से भक्त लोग हैं,
करते बहुत बडाई॥

(१३)

सघ सगठन के मतवाले,
साधक सन्त निराले।
मान, बडाई, अहमाव से,
छल से बचने वाले॥

(१४)

बाह्य और अन्तर में अन्तर,
नही आपके देखा।
क्रोध-क्लेश की राग-द्वेष की,
नही कही पर रेखा॥

(१५)

स्थानक वासी जैन जगत की,
दुर्लभ है इक थाती।
देख आपकी त्याग तपस्या,
गज पर होती छाती॥

(१६)

वर्ष बहत्तर के हैं फिर भी,
कहाँ आप में सुस्ती।
जीवन में भी सयम मे भी,
पहले जैसी चुस्ती॥

(१७)

पाँच सात हो तब तो कोई,
गणना कर बतलावे।
नहीं आपके पार गुणो का,
कोई कैसे गावे॥

(१८)

मगलमय स्वाध्याय शास्त्र का,
करते ही हैं रहते।
शास्त्र पठन बिन सयम सूना,
शेर बबर वन कहते॥

(१९)

शास्त्रो के स्वाध्याय-योग का,
जिसने लिया सहारा।
पाप उसे हर खारा लगता,
लगता सयम प्यारा॥

(२०)

बिना भाग्य न शास्त्रों मे रुचि,
कभी किसी को होती।
शास्त्र सिन्धु मे गोते से ही,
मिलते मँहगे मोती॥

(२१)

स्वय रहे तिर साथ विश्व का,
बेडा तार रहे हैं।
भक्त जनो पर अनगिनती ही,
कर उपकार रहे हैं॥

(२२)

ऐसे परम मुनीश्वर हित सब,
यही कामना करते।
रहे विश्व का मगल करते,
लाखों वर्ष विचरते॥

(२३)

सयम उनका सदा सवाई,
दमक दिखाता जाये।
परम पुनीत प्रकाश जगत यह,
जिससे पाता जाये॥

(२४)

जहाँ करें मेवाडी उनके,
सयम का अभिनन्दन।
करता है अभिनन्दन यह भी,
पजाबी "मुनि चन्दन"॥

☐ मगन मुनि 'रसिक'

गुरु - गुण - गौरव - गीत

[तर्ज होली री मोती मंगरी माथे चेटक]

☆

सघ शिरोमणि नाथ आपरी, गौरव गाथा गाऊँ हो।
पद कमलां मे फूल श्रद्धा रा, मेंट चढाऊं हो ॥

चेलो चरणा रो, वावा, चेलो चरणा रो,
म्हने मव सागर सु पार उतारो हो ॥

किशोरचन्द जी प्यार बाई रा, लाला आप कहावो हो।
गाँव थामला सोनी कुल मे, घणा सुहावो हो ॥ चेलो ॥१॥

विक्रम सवत उगणीसो ने, साल बासठ रो आयो हो।
जेठ महिनो पक्ष उजालो, जग मे छायो हो ॥ चेलो ॥२॥

जनम्या गुरुवर तीज रे दन, मगल वेलां माही हो।
घर-घर में जन-जन मे वांटी, हरप बधाई हो। चेलो ॥३॥

दुनियां मे परकाश फैलावा ज्यूं सूरजडो आवे हो।
सतगुरु लाया ज्ञान उजालो, जग चमकावे हो ॥ चेलो ॥४॥

वाल अवस्था माही भणिया, निरमल वुद्धि पाया हो।
धर्म-ध्यान विवेक गुणा में, चित्त लगाया हो ॥ चेलो ॥५॥

मेवाडी पूज्य राज प्रतापी, मोतीलाल जी प्यारा हो।
सरल स्वमावी भार मुनीश्वर, शिष्य सितारा हो ॥ चेलो ॥६॥

गावां नगरां विचरण करता, पूज्य थामले आया हो।
दरशन करतां आपरो, हिवडो हुलपायो हो ॥ चेलो ॥७॥

वाणी सुणता घट-घट माही, वैराग रो रग छायो हो।
सजम लेणो दुनियां सुं, यूं मन पलटायो हो ॥ चेलो ॥८॥

वैरागी वण घर सुं निकल्या, गुरु सेवा में घूम्या हो।
सॅकट झेल्या घणा वणा सु, आप झूंम्या हो ॥ चेलो ॥९॥

नी लेवा दां सजम थाने, भाई सगा यूं बोल्या हो।
ताला मे डाल दीदा पणनी, तल मर डोल्या हो ॥ चेलो ॥१०॥
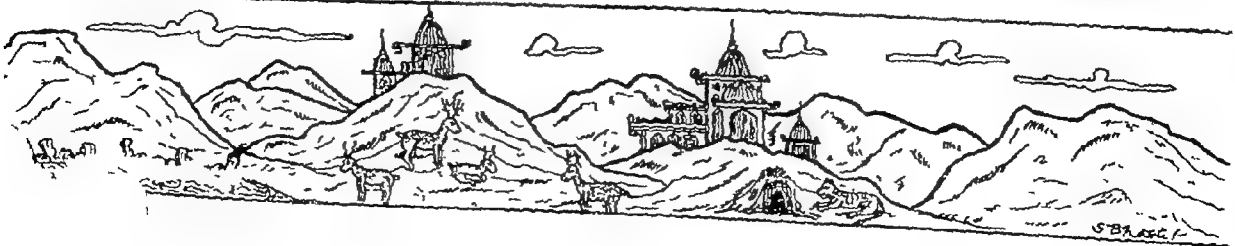
उगणी सौ वरियासी माही, मगसर महिनो लागो हो।
मगलवाड मे सजम लीदो, भाग जागो हो ॥ चेलो ॥११॥

ज्ञान ध्यान सु भर्‌यो खजानो, विनयशील निरमानी हो।
आगम अरथ तत्त्व ने जाण्यो, वण्या सुज्ञानी हो ॥ चेलो ॥१२॥

देलवाडा मे पूज्य गुरुरी, सेवा खूब ही कीनी हो।
अन्तेवासी वणिया पूरी, महिमा लीनी हो ॥ चेला ॥१३॥

पूज्य प्रवतक आप दीपता, आतम कारज सारे हो।
अम्बा गुरुवर-अम्बा गुरुवर, सभी पुकारे हो ॥ चेलो ॥१४॥

वीर भूमि रा वीर धीर हो, नित उठ पगल्या पूजू हो।
गुरुवर री सु किरपा सु, म्हूं निरभय गूंजू हो ॥ चेलो ॥१५॥

मारवाड, मेवाड, मालवो, गुर्जर बम्बई विचर्‌या हो।
ज्ञान सुणायो भव जीवां रा, कारज सुधर्‌या हो ॥ चेलो ॥१६॥

कोमल हिरदो घणो आपरो, बोले मिठी वाणी हो।
मन लुभावणी सूरत प्यारी, ज्ञानी ध्यानी हो ॥ चेलो ॥१७॥

तप सजम मे शूरा पूरा, पाँच महाव्रत पाले हो।
ब्रह्मचर्य रो तेज अनोखो, दूषण टाले हो ॥ चेलो ॥१८॥

उगर विहारी आप बतावो, मुगत पुरी रो गेलो हो।
भीड पड़े भक्तांरी भारी, लागे मेलो हो ॥ चेलो ॥१९॥

तारा बिच मे चन्दो सोवे, नभ मण्डल रे माँही हो।
ज्यू चेलांरी मण्डली मे सोवे, आप सदा ही हो ॥ चेलो ॥२०॥

दिव्य जीवन की जगमग ज्योती, सागर ज्यू गभीरा हो।
मेवाड देश रा असली हो अनमोल हीरा हो ॥ चेलो ॥२०॥

पञ्चास वर्ष रो निरमल सजम, बड भागी ही पावे हो।
हिवड़े हरष हिलोरां उठे, पार न आवे हो ॥ चेलो ॥२२॥

धन्य धरती धन्य जननी गुरुवर, सबने धन्य बणाया हो।
श्रमण सघ में जैन दिवाकर, सब मन भाया हो ॥ चेलो ॥२३॥

जल सुं भरिया सागर मोटा, गागर में नी मावे हो।
घणा गुणारी खान गुरु, गुण गाया न जावे हो ॥ चेलो ॥२४॥

सौ सौ बार करू अभिनन्दन, मगल मोद मनाऊ हो।
जुग जुग रहिजो अमर भावना पल-पल भाऊ हो ॥ चेलो ॥२५॥

भला भाग सु सतगुरु मिलिया, दरशन कर हुलषाऊ हो।
'रसिक' आपरा शरणा मे, बलिहारी जाऊ हो ॥ चेलो ॥२६॥

☆☆

गुण-सागर सद्गुरु प्रभो !

☐ **शिरोमणिचन्द्र जैन**, इन्दोर

गुण सागर सद्गुरु ! प्रभो, वन्दन करूँ अनेक।
तुम सा रक्षक जगत मे, मिला न कोऊ एक ॥१॥

विश्व विनायक देव हो, कृपा सिन्धु करुणेश।
कोटि कोटि मम वन्दना, हे विश्वेश ! महेश ॥२॥

चरण-युगल गुरुदेव के, ऋद्धि-सिद्धि दातार।
अति कोमल भव-भय हरण, भक्ति मुक्ति-मण्डार ॥३॥

काल व्याल है डस रहा, बाल-तरुण अरु वृद्ध।
हो अशान्त सब डोलते, ऋषि-मुनि तापस सिद्ध ॥४॥

सब जग रक्षक आप हैं, हैं अनाथ के नाथ।
मुझ पापी के सीस पर, धरो दया का हाथ ॥५॥

विमल पताका भक्ति की, फहराये ब्रह्माण्ड।
राग-द्वेष छल-छिद्रके, अंत करो सब काण्ड ॥६॥

जे गुरु-पद कूँ नित भजे, सेवे करि करि ध्यान।
जाने आत्तम तत्त्व कूँ, पावे मोक्ष निदान ॥७॥

दीन रहुं निस-दिन सदा, करूँ नही अभिमान।
ध्यान रहे श्री चरण में, पाऊँ पद निर्वान ॥८॥

गुण गाऊँ किस विध प्रभो, महा मूढ़ अति छोट।
करुणा कर अपनाइये, राखो अपनी ओट ॥९॥

जन-जन की हरना सब पीर

☐ **मुनि सुरेश 'प्रियदर्शी'**

(१)

धन्य धन्य है आय भूमि, अरु धन्य धन्य मेवाड धरा।
धन्य धन्य मेवाड शिरोमणि, पूज्य अम्ब मुनि निखरा ॥

(२)

मेवाड मालवा महाराष्ट्र मे, किया आपने धम प्रचार।
घर घर मे फैलाया आपने, शान्त-सुखद प्यारा "जिन सार" ॥

(३)

सरल स्वभावी भद्रमना हो, समतावत मुनि ज्ञानी।
रत्न त्रय की वृद्धि करते, सत्य सत्य तुम हो ध्यानी ॥

(४)

धीर वीर हैं आप मुनि जी, धर्म धुरन्धर अरु गम्भीर।
श्रद्धा-सुमन यह रहे चरण मे, जन जन की हरना सब पीर ॥

□ श्री आनन्द मुनि

चरण वन्दना करो !

□
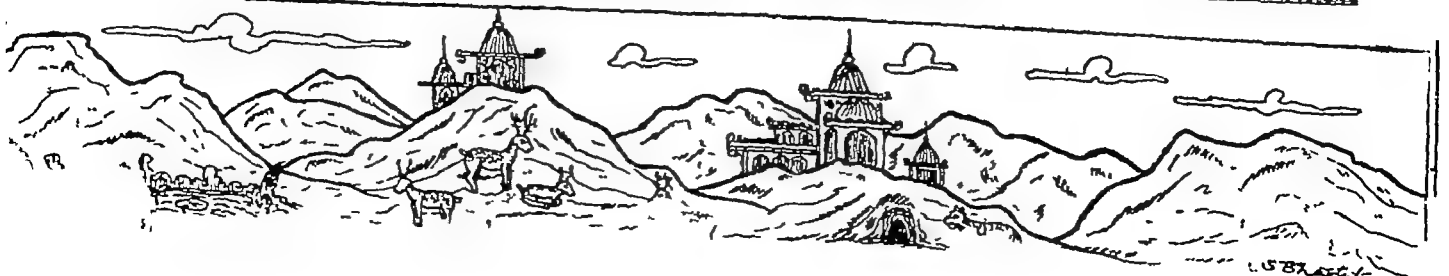
सुदृढ वैरागी वण दीक्षाधारी।
लीनी परीक्षा मेवाडी राणा थारी[1] ॥१॥

पूज्य रोडीदास जी रो शासन भलो।
जिणमे चमको स्वामीजी थें दिवलो ॥२॥

ज्ञानरा पिटारा सौम्यमूर्तिरा धणी।
देश देश मे छाई हैं थारी कीर्ति घणी ॥३॥

शास्त्रीय वखाण सुणे शास्त्र रसिया।
मुख मे वोले धन्य वचन हिया मे वसिया ॥४॥

युक्ति युक्त आपरी मधुर वाणी।
केई गावा रा कुसप मेट्या हित आणी ॥५॥

सरल स्वभावी सम दम वाला।
निरमानी शुभ ध्यानी बहु यश वाला ॥६॥

पूज्य मोतीलाल जी रो पाट दि पायो।
श्रमण सघीय प्रवर्तक पद आप पायो ॥७॥

श्रद्धेय गुरु जी जावा वलिहारी।
आप मेवाडी सुसघ रा छत्तरधारी ॥८॥

जुग जुग जीओ जी अन्दाता तुम्हारा।
करो धर्म उद्योत पग पूजा थारा ॥९॥

किशोरी-किशोर प्यार देवी नन्दना।
झेलो झेलो मुनि शाति री चरण वन्दना ॥१०॥

नाम अम्बालाल जी सुहावणो लागे।
आपरा सुमरण सु हिया मे आतम ज्योति जागे ॥११॥

---

१ आपके वैराग्य की परीक्षा महाराणा भूपालसिंह जी ने की थी।

☐ मुनि नरेन्द्र 'विशारद'

श्रद्धा-सुमन पंचक

(१)

महामुनि पूज्य "अम्बालाल जी" श्रमण प्रवर्तक हैं प्यारे।
नगर थामला मे जन्में हैं, जियें जुग जुग जैन सितारे।।

(२)

मेवाड धरा के सच्चे सपूत हैं, "भारमुनि" गुरु को धारे।
मेवाड के हैं संघ शिरोमणि, श्रमण संस्कृति के सहारे।।

(३)

धर्मवीर हैं आप धुरन्धर' मेवाड भूमि की रखती शान।
अभिनन्दन करता हूँ आपका, श्रद्धा से सुन्दर सन्मान।।

(४)

समय समय पर मुझे आपके, दर्शन का सौभाग्य मिले।
निश्चय मेरे हृदय सरोवर में, अपरिमित आनन्द पुष्प खिले।।

(५)

श्रद्धा के शुभ पंच सुमन, चरणों मे अर्पण करता हूँ।
भक्ति-विभोर इन भावों से, मैं सुखद कामना धरता हूँ।।

☐ श्री विनय मुनि 'विधु'
(मधुकर-शिष्य)

अभिवन्दना

मेरी हो अभिवन्दना,
तव चरणों मे नित्य।
मुनिवर "अम्बालाल !" तुम,
बनो जगत आदित्य।।
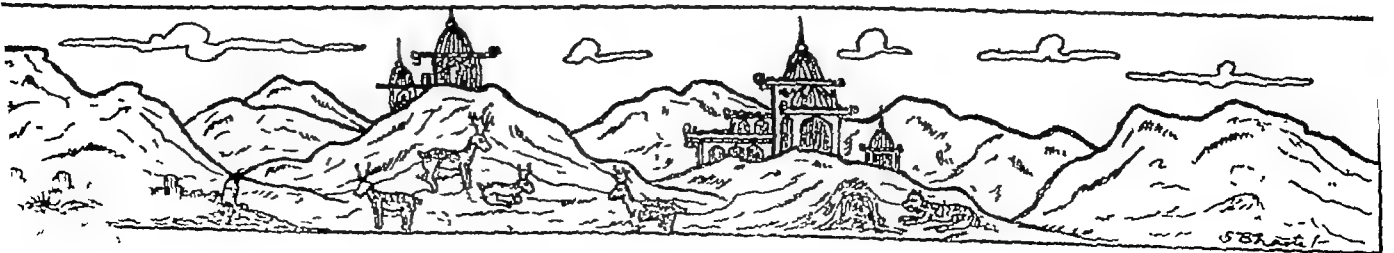
☐ **श्री मधुकर मुनि जी**

[बहुश्रुत विद्वान अनेक पुस्तको के लेखक सस्कृत-प्राकृत आदि भाषाविश]

श्री अम्बालाल जी महाराज साहिब

अ तरंग जिनका हृदय,
बा लकवत अति शुद्ध ।
ला भ सदा देते शुभग,
ल क्ष्य बना कर शुद्ध ।।
जी वन-यश-सौरभ सतत,
म हक रहा सर्वत्र ।
हा स्य मधुर जिनका वदन,
रा जित शोभित अत्र ।।
ज न प्रिय वह मेवाड के,
सा धक सच्चे 'अम्ब' ।
हि त वह भूषण जगत के,
ब ने सदा अविलम्ब ।।

☐

मे दपाटस्य देशस्य,
योहि नेता जन-प्रिय ।
अम्बालाल मुनिर्जीयात्,
सहि सर्वत्र भारते ।।

☐

जस्सत्थि जीवण सुद्ध ।
वाणी जस्सत्थि सोहिया ।।
अम्बालाल मुणी सो हु ।
कस्स णत्थि सुवल्लहो ।।

□ मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
[आगम अनुयोग प्रवर्तक गंभीर विद्वान]

भावांजली

□

श्री जगदम्बा प्रवचन माता के प्रज्ञा-पुत्र श्री अम्बालालजी महाराज मेदपाट के महान् श्रमण साधक हैं।

[१] आप—

अमित अध्यात्मामृत के अनुपम आकर,
सरलता सहृदयता के प्रशान्त महासागर।
परम प्रज्ञा के प्रचण्ड प्रभाकर और,
सत्य, शील, संयम के हैं शान्त सुधाकर ॥

[२] आप—

रत्नत्रय की आराधना मे अविचल अनुरक्त,
शिव पद की साधना मे सतत प्रसक्त।
अर्हन्त की उपासना मे अनवरत आसक्त,
ऐसे मुनि पुङ्गव का है "मुनि कमल" श्रद्धायुत भक्त ॥

[३] आप—

प्रकृति से प्रशान्त,
आकृति से उत्क्रान्त।
विकृति से विरक्त,
और हैं संस्कृति से संसक्त ॥

[४] अब—

दीक्षा अर्धशति के सु अवसर पर,
शिक्षा विकास के हों प्रयत्न नगर-नगर।
समीक्षा हो संघ संगठन के गठन की,
प्रतीक्षा हो आपके शताब्दि अभिनंदन की ॥

□

हमारे आराध्य हैं अर्हन्त अभिनन्दन,
हमारे आदर्श हैं "अम्ब" महा श्रमण।
जय अभिनन्दन, जय अभिनन्दन,
हो अभिनन्दन, हो अभिवन्दन ॥

□ सौ० लीला सुराना, आग

अवसर अभिनंदन का

□

तुम आये जब इस धरती पर शान्त शुभ्र निर्मल नभतल था।
कल-कल करते निर्झर जिनमे बहता शीतल स्वच्छ सलिल था ॥
गिरि शिखरो पर जीवन-दायी औषधियो की विटप लताएँ।
पवन स्पर्श पा पुलक-पुलक कर झूम रही बहती सरिताएँ ॥
शुभ्र चाँदनी छिटक रही थी जैसे चाँदी बिखरी घर-घर।
नन्दनवन मे नाच रही थी किन्नरियाँ सुरबालाए सुर ॥
उसी रात मे जन्म दिया था एक शुक्ति ने उज्ज्वल मुक्ता।
एक मानवी की कुक्षि से प्रकटा तेजस् पु ज दमकता ॥
धर्म ज्योति का पुंज रूप था मानवता का महा मसीहा।
शुचित समता करुणा-रस का वह चिर प्यासा एक पपीहा ॥
प्रकटा जब आलोक धरा पर उसकी ममता जब मुस्काई।
'अम्बा'-'अम्बा' नाम श्रवण कर मुर्झी मानवता हर्षाई ॥

× × ×

अम्बा आज बना जगदम्बा प्राणि-मात्र का हित-सुख-कामी।
परम सन्त वह भक्त तपस्वी अपने इन्द्रिय-मन का स्वामी ॥
वत्सलता उसकी आँखो मे छलक रही है प्रतिपल मृदुतर।
और दमकता तेज साथ ही ब्रह्मचर्य का दिव्य भाल पर ॥
सेवा का असिधारा व्रत ले सेवा का आदर्श सिखाया।
ध्यान-योग के पथ पर बढकर आत्म-विजय का पाठ पढाया ॥
बहती अन्तर मन मे तेरे समता-करुणा की रस धारा।
देता है कर्तव्य बोध तू वाणी के सप्रेषण द्वारा ॥
वन्दन अभिवन्दन हम करते, तेरे तप पूत जीवन का।
आज चेतना पुलक रही है, अवसर पाकर अभिनन्दन का ॥
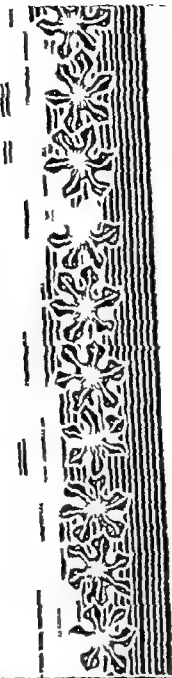
द्वितीय खण्ड

श्रद्धेय गुरुवर की जन्मभूमि मेवाड की
सास्कृतिक एव ऐतिहासिक गरिमा तथा
मेवाड सम्प्रदाय के ज्योतिष्मान मुनिवरो की
धर्म-परम्परा का ऐतिहासिक अवलोकन ।
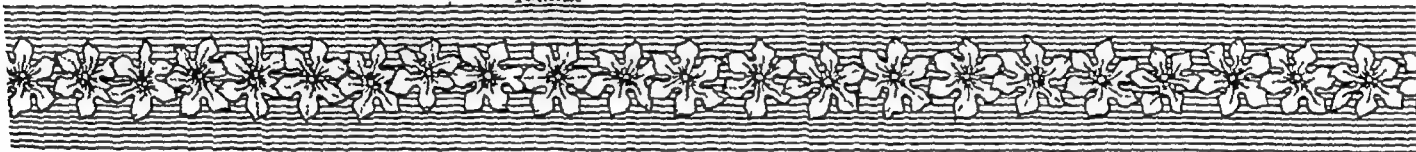
☐ डॉ० वसन्त सिंह
[प्राध्यापक—भूगोल विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर]

गुरुदेव श्री की जन्मभूमि एव साधना-भूमि मेवाड का आन्तरिक आध्यात्मिक स्वरूप सम-झने के पूर्व उसकी महत्त्वपूर्ण भौगोलिक सरचना एव उपलब्धियो का एक लोखा-जोखा विद्वान् लेखक द्वारा प्रस्तुत है।

मेवाड़ · एक भौगोलिक विश्लेषण

☐

स्थिति

अरावली पवत श्रृ खला की गोद मे स्थित यह सकरा एव एकाकी भूभाग अपनी विशिष्ट प्रकार की भौतिक सरचना के कारण राजस्थान के राजपूतो के गौरवमय इतिहास का जनक बना रहा। २३° ४९′ से २५° ५८′ उत्तरी अक्षाशो तथा ७३° १′ से ७५° ४९′ पूर्वी देशान्तरो के मध्य ४७३७२ वर्गमील का यह स्थलखण्ड राजस्थान राज्य के दक्षिण मे स्थित है। उत्तर-दक्षिण १२० मील तथा पूर्व-पश्चिम इसका अधिकतम विस्तार ९० मील है। अत्यन्त प्राचीन काल से यह एक राजनैतिक इकाई के रूप मे विकसित रहा है जिसके पश्चिम मे अरावली पहाडियाँ, दक्षिण मे गुजरात राज्य के बनासकाठा तथा साबरकाठा जनपदो के हिस्से, पूव मे चम्बल एव हाडौती प्रदेश तथा उत्तर मे अँग्रेजो के समय मे गठित एव विशेषाधिकार प्राप्त अजमेर जनपद इसकी सीमायें बनाते हैं। यह मेवाड प्रदेश, उदयपुर डिवीजन के नाम से भी जाना जाता है। जिसमे राजस्थान के पाँच जिले—उदयपुर (१७२६७ व मी), चित्तौडगढ (१०८५८ व मी) भीलवाडा (१०४५० व मी), डूंगरपुर (३७७० व मी) तथा बाँसवाडा (५०३७ व मी) सम्मिलित हैं।

उच्चावचन

इस प्रदेश के भौतिक स्वरूप की सरचना मुख्य रूप से अरावली पहाडियो से होती है। ये पर्वत श्रेणियाँ टरसीयरी युग की बनी एव लगातार पर्वत श्रृ खला के रूप मे पाई जाती हैं। इसमे परतदार एव परिवर्तित चट्टानो की अधिकता है। इनकी अधिकतम ऊँचाई माउण्ट आबू (१७२७ मीटर) मे है। स्थानीय रूप से यह भूभाग मोरट पठार (१२२५ मीटर) के नाम से प्रसिद्ध है। दक्षिण-पूर्व मे उदयपुर के आसपास इन पहाडियो मे अनेक पर्वत प्रक्षेपात एव वक्राकार कटक स्थित हैं। कतिपय चोटियों की ऊँचाई १२२५ मीटर से भी अधिक है और देखने मे दीवार की भाँति प्रतीत होते हैं। अरावली की भौमिकी डकन ट्रैप से मिलती है। उदयपुर, डूगरपुर तथा बाँसवाडा मे अरावली क्रम से सम्बन्धित शिष्ट चट्टानें पाई जाती हैं। चित्तौडगढ एव भीलवाडा मे डकन ट्रैप की चट्टानें, शेष भागो मे बुन्देलखण्ड की नीस, तथा दिल्ली क्रम की चट्टानें पाई जाती हैं। कुछ भागो मे विन्ध्यन चट्टानें भी पाई जाती है।

मेवाड की पहाडियाँ

मावली, राजसन्द तथा वल्लभनगर को छोडकर सम्पूर्ण उदयपुर जनपद, दक्षिण-पूर्वी पाली एव गुजरात राज्य के कुछ भागो मे फैली हुई हैं। भौगोलिक दृष्टि से विचार करने पर सम्पूण पर्वत श्रेणियाँ एक प्रकार के समतल शिखर एव समप्राय भूमि के अवशिष्ट प्रतीत होती हैं। इस प्रदेश के सतह निर्माण मे अनाच्छादन, दैनिक तापान्तर एव बालूभरी हवाओ का अधिक हाथ रहा है। इस पवत श्रृ खला से निकलने वाली नदियों में से बनास माही तथा खारी सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। बनास मध्यवर्ती मैदान से दक्षिण की तरफ प्रवाहित होती हुई अधिकाश भाग के लिए लाभप्रद है। परतन्त्रता के विरोध मे लडा गया ऐतिहासिक हल्दी घाटी का युद्ध इसी नदी के किनारे पर हुआ था। खारी नदी

मेवाड़ और अजमेर मेवाड़ की सीमा बनाती है। इनके अतिरिक्त माही, गम्भीरी, बेराव, चम्बल, गेजाली, वामानी काल्दी, वेगोन, वाकल, चन्द्रभागा, गोमती तथा कुसुम्बी नदियाँ स्थानीय महत्त्व की होती हुई भी उल्लेखनीय हैं। प्राकृतिक जलस्रोतो के अतिरिक्त यह सम्पूर्ण प्रदेश कृत्रिम जलाशयो के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। ऐसी झीलो मे जयसमन्द, राजसमन्द तथा उदयसागर विशेष उल्लेखनीय हैं। विश्व की कृत्रिम झीलों मे जयसमन्द को सबसे बड़ा माना जाता है।

जलवायु

पूर्व मे आर्द्र तथा पश्चिम मे शुष्क जलवायु के प्रदेशों के मध्य स्थित इस प्रदेश की जलवायु यहाँ के मूलनिवासियो के लिए महत्त्वपूर्ण एव लाभप्रद है, जबकि विदेशियो के लिए अपेक्षाकृत प्रतिकूल पडती है। इस प्रकार यहाँ की जलवायु को अर्ध शुष्क कहा जा सकता है। यहाँ का औसत तापमान १५° से० ग्रे० से २०° से० ग्रे० तथा सामान्य वार्षिक वर्षा ६० से० मी० तक होती है। जनवरी मे सबसे अधिक ठण्डक (उत्तर मे ११° से० ग्रे० तथा दक्षिण में १६° से० ग्रे० तापमान) पडती है। जबकि मई तथा जून में सबसे अधिक गर्मी पडती है। और कभी-कभी तापमान ४४° से० ग्रे० तक पहुँच जाता है। जाड़े के दिनो मे कभी-कभी शीत लहरी तथा ग्रीष्म में 'लू' यहाँ की जलवायु के उल्लेखनीय कारक हैं। पूरे देश की भाँति यहाँ भी सम्पूर्ण वर्षा का ९०% भाग तीन महीनों (जुलाई—सितम्बर) मे ही हो जाती है। और यह मात्रा भी, जो मुख्य रूप से दक्षिण-पश्चिम की अरब सागर वाली मानसून शाखा से प्राप्त होती है, पूर्व तथा उत्तर-पूर्व से पश्चिम तथा दक्षिण-पश्चिम की तरफ कम होती जाती है। माउन्ट आबू मे सबसे अधिक वर्षा होती है। वर्षा की मात्रा एव दो प्रकार की जलवायु के मध्य मे स्थित होने के कारण प्राकृतिक वनस्पति में पर्याप्त विविधतायें पाई जाती हैं, फलस्वरूप यहाँ के वनो मे पतझड तथा अर्ध उष्णकटिबन्धीय सदाबहार के मिश्रित वृक्षो की बाहुल्यता है वृक्षो के निरन्तर कटाव, चरागाही तथा चलती-फिरती कृषिक (वलरा कृषि) ने प्राकृतिक वनस्पति को सबसे अधिक नुकसान पहुँचाया है। माउन्ट आबू मे अब भी वन सम्पदा सुरक्षित है। मेवाड़ प्रदेश के वनो मे पाये जाने वाले वृक्षो मे आम, बबूल, बेर, धाक, गूलर, पीपल, महुआ, नीम, सागौन, बरगद, जामुन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन वृक्षो से गोंद, महुआ, शहद तथा मोम आदि पैदा किए जाते हैं, जगली जानवरों मे चीते, तेन्दुए, सूअर तथा हिरन आदि पाये जाते हैं।

इस प्रदेश में मुख्य रूप से लौहमय लाल, मिश्रित लाल और काली मिट्टियाँ पाई जाती हैं। यहाँ की अधिकाश मिट्टियाँ मिट्टी कटाव के अभिशाप से पीडित हैं। राजस्थान के खनिज मानचित्र पर इस प्रदेश का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। अरावली क्षेत्र समस्त राजस्थान के लगभग ७५% खनिज उत्पादन करता है। प्रमुख खनिज पदार्थों मे लौह अयस्क, सोप स्टोन, एस्बेस्ट्स, मैंगनीज, अभ्रक, चूना, पत्थर, बेरील, जस्ता, शीशा, चाँदी, ताँबा तथा बॉक्साइट आदि पाये जाते हैं। उदयपुर, डूँगरपुर तथा चित्तौडगढ खनिज पदार्थों के उत्पादन के लिये सबसे प्रमुख केन्द्र हैं।

धरातलीय बनावट, मिट्टी तथा जलवायु का किसी प्रदेश की कृषि दशा एव कृषि उत्पादनों पर सीधा प्रभाव पडता है। इस प्रदेश का चट्टानी स्वरूप, लाल तथा लौहमय मिट्टी एव मानसून प्रधान जलवायु मिलकर एक विशेष प्रकार की कृषि विशेषता उत्पन्न करती है। मेवाड क्षेत्र में मुख्य रूप से वर्ष मे दो (खरीफ एव रबी) फसलें पैदा की जाती हैं। मक्का मुख्य खाद्यान्न के रूप में लगभग सर्वत्र पैदा किया जाता है। छोटे-मोटे कृत्रिम तालाबो से सिंचाई की सुविधायें प्राप्त होने के कारण गन्ना भी पर्याप्त मात्रा मे पैदा किया जाता है। गन्ना चित्तौड क्षेत्र की प्रथम श्रेणी की फसल है। खरीफ की फसलो में चावल तथा मूँगफली भी पैदा किये जाते हैं। रबी की फसलो मे गेहूँ का स्थान महत्त्वपूर्ण है। एक खेत मे गेहूँ की एक ही (मानसून परली) फसल पैदा की जाती है। परन्तु सिंचाई ससाधनो (कुएँ, नहरें एव तालाबो) के विकसित होने के साथ साथ गेहूँ और भी लोकप्रिय फसल तथा जमीन दो फसली (७% फसली जमीन का) बनती जा रही है। मुख्य रूप से खाद्यान्न ही पैदा करना इस प्रदेश की कृषि की सबसे बड़ी विशेषता है। उपयुक्त सिंचाई ससाधनों का वितरण स्थल रूप के अनुसार अर्थात् मैदानी भागों मे नहरें तथा कुएँ और पठारी भागो मे तालाब पाये जाते हैं। इस समय सम्पूर्ण प्रदेश मे लघु सिंचाई परियोजनाओ का जाल-सा बिछा हुआ है और प्रदेश की लगभग सभी नदियों के जल के लाभप्रद उपयोग की व्यवस्था की जा रही है। माही योजना इस प्रदेश की सबसे प्रधान परियोजनाओ में से एक है।

यह प्रदेश अत्यन्त प्राचीन काल से कृषि और कुटीर उद्योगो के रूप मे प्राचीन दस्तकारी के लिए प्रसिद्ध रहा है। परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् राज्य के वर्तमान प्रशासन की प्रगतिशील नीतियो एव प्रोत्साहनो के कारण प्रदेश में अनेकानेक खनिजो पर आधारित विविध उद्योगो का उदय हो रहा है। उदयपुर औद्योगिक प्रदेश मे जिंक स्मेल्टर, सीमेण्ट फैक्टरी, सूती वस्त्र, ग्लास फैक्टरी तथा शराब एव औषधि बनाने के उद्योग सबसे अधिक उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त लकडी का काम, कपडो की प्रिंटिंग, रग आदि के उद्योग भी काफी प्रगति कर रहे है। इसके साथ-साथ भीलवाडा-चित्तौडगढ औद्योगिक काम्प्लेक्स, सूती वस्त्र, वनस्पति तेल, अभ्रक तथा लकडी कटाई एव चिराई के लिए प्रसिद्ध है।

इस प्रदेश की परिवहन व्यवस्था मे हरेक प्रकार की सडकें, रेलमार्ग तथा वायुमार्ग सम्मिलित ह। फलस्वरूप प्रदेश के अधिकाश नगर—भीलवाडा, चित्तौडगढ, मावली, उदयपुर तथा डूगरपुर रेलमार्ग से जुडे हुए हैं, इस प्रदेश के मध्यवर्ती भाग को रेल, सडक एव वायुयानो की अच्छी सुविधायें प्राप्त है। दिल्ली, अहमदाबाद को मिलाने वाली छोटी लाइन इस प्रदेश के भीतर से होकर गुजरती है। इस प्रदेश को बम्बई, उदयपुर, दिल्ली की दैनिक वायु सेवायें भी सुलभ हैं। इस प्रदेश मे सडक सेवायें अधिक उल्लेखनीय हैं। सभी प्रमुख शहर अब सडक मार्ग से जुड चुके है। इन मार्गो मे भीलवाडा-उदयपुर (२०८ कि० मी०) अजमेर-भीलवाडा (१३३ कि० मी०) भीलवाडा-चित्तौडगढ (११५ कि० मी०) विशेष महत्वपूर्ण हैं। राष्ट्रीय सडक मार्ग न० ८ इस प्रदेश मे उत्तर-दक्षिण बनाई गई है। ग्रामीण इलाको एव पिछडे हुए आन्तरिक क्षेत्रो को अब पक्की सडको से मिलाने की एक वृहद योजना राजस्थान सरकार के विचाराधीन है। परन्तु अभी यहाँ कच्चे मार्ग ही आवागमन के साधन बने हुए हैं। उत्पादन एव वितरण करने वाले केन्द्रो के बीच आवागमन की उच्चकोटि की व्यवस्था अभी भी नही हो पाई है।

मेवाड प्रदेश की कुल जनसख्या लगभग ५० लाख है तथा औसत घनत्व प्र० व० कि० मी० लगभग ११२ है। जिला स्तर पर जनसख्या के वितरण, घनत्व, लैंगिक अनुपात तथा शहरीकरण के प्रतिशत को निम्न तालिका मे दिखाया गया है

जिला का नाम	क्षेत्रफल (००) व० कि० मी०	जनसख्या (०००)	शिक्षित प्रतिशत	घनत्व	लैंगिक अनुपात (हजार) पुरुषो पर	शहरी जनसख्या (०००)
भीलवाडा	१०४	१०५५	१५	१०१	९१०	११६
उदयपुर	१७२	१८०४	१७	१०४	९५७	२२१
चित्तौडगढ	१०८	९४५	१८	८७	९३०	९८
डूंगरपुर	३८	५३०	१४	१४१	१०१५	३१
बाँसवाडा	५०	६५५	१२	१३०	९७८	३३

उपर्युक्त भौगोलिक कारको की सहायता प्राप्त करते हुए एक समय का यह सामरिक एव ऐतिहासिक प्रदेश अब उभरकर ससाधनोपयोग प्रतिरूप की दृष्टि से आमूल परिवर्तन की करवटें बदल रहा है। चम्बल उप-ग्रिड स्टेशन, प्रचुर जल की सुलभता, विविध प्रकार के खनिजो की उपलब्धता, परिवहन की बढ़ती हुई सुविधायें तथा सर्वोपयोगी राजनैतिक सरक्षण के कारण यह एक सबल कृषि-औद्योगिक क्षेत्र के रूप मे बदलता जा रहा है। इसके अतिरिक्त प्रदेश मे अनेक, प्रकार की शिक्षण सस्थायें जैसे विश्वविद्यालय, मेडिकल कालेज, कृषि कालेज, कन्या महाविद्यालय, आयुर्वेद महाविद्यालय तथा प्रमुख नगरो, तहसील प्रधान कार्यालयों एव बडे-बडे गाँवो मे नाना प्रकार के माध्यमिक विद्यालय भविष्य की सम्भावनाओ को उत्तरोत्तर समृद्धिशाली एव आशान्वित बनाने मे दिन-रात जी-तोड प्रयास कर रहे हैं।
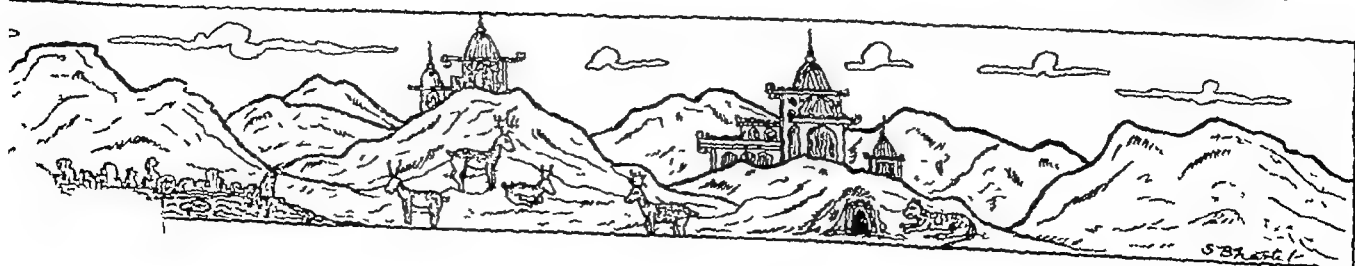
मेवाड के कण-कण मे धार्मिक भावना, श्रद्धा, सदुपदेश, समर्पण एव बलिदान के स्वर मुखरित हो रहे हैं। लोक जीवन के निकटतम पारखी डा० भानावत द्वारा प्रस्तुत ये शब्द-चित्र मेवाड की धार्मिकता की अखण्ड प्रतिमा को अनावृत कर रहे है।

□ डॉ० महेन्द्र भानावत
[उपनिदेशक—भारतीय लोककला मडल, उदयपुर]

मेवाड़ की लोकसंस्कृति में धार्मिकता के स्वर

□

लोक सस्कृति की दृष्टि से मेवाड का अपना गौरवमय इतिहास रहा है, यहाँ के रण बाँकुरो ने जहाँ इसकी वीर सस्कृति को यशोमय बनाया वहाँ यहाँ की लोक सस्कृति भी सदैव समृद्ध और राग-रग से रसपूरित रही है। जिस स्थान की सस्कृति अधिक पारम्परिक होती है वहाँ का जनमानस उतना ही अधिक धर्मप्रिय तथा आध्यात्मिक होता है, इसलिए उसका जीवन शांत, गम्भीर तथा गहराई लिए होता है, उसमे उथला-छिछलापन उतना नहीं रहता। यही कारण है कि ऐसे लोगो मे अधिक पारिवारिकता, भाईचारा, रिश्ते-नाते, सौहार्द सहकार तथा प्रेम सम्बन्ध की जडे अधिक गहरी तथा घनिष्ट होती हैं, जन्म से लेकर मृत्यु पर्यंत तक समग्र जीवन राग-रगो तथा आनन्द उल्लासो से ओत-प्रोत रहता है। परम्परा से पोषित एव पल्लवित होने के कारण ऐसी सस्कृति में अपने जीवन के प्रति पूर्ण आस्था होती है इसलिए ऐसा मनुष्य अपने वतमान से प्रति पूर्ण आस्थावान रहते हुये अगले जन्म को भी सुखद, सुपथगामी बनाने के लिए कल्याणकर्म करने को उत्सुक रहता है। सुविधा की दृष्टि से यहाँ हम निम्नलिखित बिन्दुओ मे इसका वर्गीकरण कर रहे हैं ताकि लोकसस्कृति के व्यापक परिवेश मे जो विविधता विधाएँ हैं उनका समग्र अध्ययन-चिंतन किया जा सके। ये बिन्दु है—

(क) व्रतोत्सवों तथा अनुष्ठानो मे धार्मिकता के स्वर
(ख) लोकनृत्य नाट्यो मे धार्मिकता के स्वर
(ग) मडनो, गोदनो तथा विविध चित्राकनो मे धार्मिकता के स्वर
(घ) लोककथा, गाथा एव भारत मे धार्मिकता के स्वर
(च) धर्मस्थानो के लोकसाहित्य में धार्मिकता के स्वर

(क) व्रतोत्सवों तथा अनुष्ठानो मे धार्मिकता के स्वर

व्रतोत्सव तथा अनुष्ठान यहाँ के लोकजन के वे आधार हैं जिन पर उनके जन्म-जीवन की दृढ भित्तियाँ आश्रित हैं। इनकी शरण पकडकर यह लोक अपने इस भव के साथ-साथ अगले भव—भव-भव को सब पापो से मुक्त निष्कलकमय बनाता है इनका मूल स्वर मानव-जीवन को मोक्षगामी बनाने का होता है इसलिए प्रत्येक कम मे वह मन-वचन-कर्म की ऐसी भूमिका निभाता है कि भले ही स्वय को वह कष्टो मे डाल दे पर उनके कारण कोई अन्य प्राणी दु खी न हो अपने स्वय के गृहस्थ-परिवार, पास-पडोस, गुवाड-गाँव तथा समाज की सुख समृद्धि चाहता हुआ सम्पूर्ण विश्व को वह अपने कुटुम्ब-परिवार में देवता मानता हुआ सबका क्षेम-कुशल-कल्याण चाहता है, सारे के सारे व्रत, उत्सव और अनुष्ठान इन्हीं भावनाओ से भरे-पूरे हैं, *व्यष्टि से प्रारम्भ हुआ* यह मनोरथ समष्टि की ओर बढता है और एकता में अनेकता को वरण करता हुआ अनेकता को एकता में ले चलता है।

चैत्र मे शीतला सप्तमी को चेचक से बच्चो को बचाने के लिए शीतला माता की पूजा की जाती है। शीतला के रूप मे चेचक के ही रगाकार के पत्थर पूजे जाते है। चेचक का एक नाम इधर बोदरी भी है अत शीतला माता को बोदरीमाता कहते हैं। छठ की रात को माता सम्बन्धी जो गीत गाये जाते हैं उनमे *बालूडा की रक्षक माँ को प्रार्थना की*

जाती है कि वह उसे बड़े यत्नपूर्वक खुशहाल रखे । यह शीतला किसी एक जाति की नही होकर सम्पूर्ण गाव की चेचक रक्षिका है । इस दिन प्रत्येक गांव मे शीतला को शीतलाया जाता है । इस दिन ठडा खाया जाता है ।

गणगौर को जहाँ सधवाएँ अपने सुहाग के लिए पूजती हैं वहाँ वालिकाएँ श्रेष्ठ पति की प्राप्ति हेतु प्रति-दिन प्रात होली के वाद से ही इसे पूजना प्रारम्भ कर देती हैं । गणगौर के व्रत के दिन दीवाल पर महिलाएँ थापे का जो अकन करती है उसमे माता गणगौर तक पहुँचने की जो सिढियाँ होती हैं उनको पारकर धर्मात्मा महिला ही उन तक पहुँच सकती है, इसलिए गणगौर के माध्यम से नारियाँ अपने धर्ममय जीवन को सरल, सादगीपूर्ण एव सयमित करती हुई सुफलदायिनी होती हैं ।

श्रावण मे छोटी तीज से लेकर वडी तीज तक मन्दिरो मे झूलोत्सव की देव झाँकियो की छवि देखने प्रतिरात्रि को विशाल जनसमूह उमड पडता है । इन झूलो की अद्‌भुत छटा तथा धार्मिक दृश्यावलियाँ, भजन-कीर्तन तथा धम सगीत प्रत्येक जन-मन को धर्म-कम की ओर प्रेरित करता है, इसी श्रावण में शुक्ल पचमी को जहरीले जीवो से मुक्त होने के लिए साँप की विविधाकृतियाँ बनाकर नागपचमी का व्रतानुष्ठान किया जाता हैं, हमारे यहाँ सप पूजा का पौराणिक दृष्टि से भी बडा धार्मिक महत्त्व है । यो सप ही सर्वाधिक जहरीला जानवर समझा गया है इसलिए दीवालो पर ऐपन के नागो की पूजा तथा चाँदी के नागो का दान बडा महत्त्वकारी माना गया है ।

रक्षाबन्धन का महत्त्व जहाँ भाई-बहन का अगाढ़ स्नेह व्यक्त करता है वहाँ श्रवण के पाठो द्वारा उसकी मातृ-पितृभक्ति का आदर्श स्वीकारते हुये उसे आचरित करने की सीख प्राप्त की जाती है । श्रवण हमारी सस्कृति का एक आदर्शमान उदाहरण है श्रवण सम्बन्धी गीत-आख्यान निम्न से निम्न जातियो तक मे वडी श्रद्धा-निष्ठा लिए प्रचलित हैं, नीमडी की पूजा का भी हमारे यहाँ स्वतन्त्र विधान है । वडी तीज को मिट्टी का कुड व तलाई वनाकर उसमे नीम-आक की डाल लगाई जाती है ये दोनो ही वृक्ष-पौध कड़ुवे हैं परन्तु अनेकानेक वीमारियो के लिए इनका उपयोग रामवाण है । नीमडी के व्रत के लिए सुहागिन का पति उसके पास होना आवश्यक है । इसे सौलह वप बाद उझमाया जाता है ।

भाद्रकृष्णा एकादशी, ओगडा ग्यारस को माताए अपने पुत्र से साडी का पल्ला पकडाकर गोवर के वने कुण्ड से रुपये नारियल से पानी निकालने का रास्ता बनाकर ओगड पूजती हैं इसी प्रकार वत्स द्वादशी, वछवारस को माताएँ अपने पुत्रों के तिलककर उन्हें एक-एक रुपया तथा नारियल देती हैं । माँ-वेटे के पावन पवित्र रिश्तेनाते के प्रतीक ये व्रत हमारी धर्मजीवी परम्परा के कितने बडे सबल और सवक प्रेरित हैं ।

एकम से दशमी तक का समय विशेष धर्म-कम का रहता है । यह 'अगता' कहलाता है । इन दिनो औरतें खाँडने, पीसने, सीले, कातने तथा नहाने-धोने सम्बन्धी कोई कार्य नही कर दशामाता की भक्ति, पूजा-पाठ तथा व्रतकथाओ मे ही व्यतीत करती हैं यह दशामाता गृहदशा की सूचक होती हैं, मेवाड मे इसकी व्यापकता देखते ही वनती है मैंने ऊँच से ऊँच और नीच से नीच घरो में दशामाता को पूजते-प्रतिष्ठाते-थापते देखा है । इन दिनो जो कहानियाँ कही जाती हैं वे सब धार्मिकता से ओतप्रोत असत् पर सत् की विजय लिये होती हैं । सभी कहानियों में आदर्श-जीवन, घर-परिवार, समाज-ससार की मूर्त भावनाओं की मगल-कामनायें सजोई हुई मिलती हैं । वर्षभर महिलाएँ दशामाता की वेल अपने गलो मे धारणकर अपने को अवदशा से मुक्त मानती है ।

यहाँ का मानव अपने स्वय के उद्धार-उत्थान के साथ-साथ अन्यो के कल्याण मगल का कामी रहा है, पशु-पक्षी तथा पेड-पौधादि समस्त चराचर को वह अपना मानता रहा है इसलिए इन सवकी पूजा का विधान भी उसने स्वीकारा है । दशामाता की पूजा मे वह पीपल पूजकर उसकी छाल को सोने की तरह मूल्यवान मानकर उसे अपनी कनिष्ठिका से खरोंचता हुआ बड़े यत्नपूर्वक रत्नों-जवाहरातो की तरह घर मे सम्हाले रहता है । दीयाडी नम को हामा, नामा, खेजडी, बोवडी, आम, बड आदि वृक्षो की डालियाँ पूजकर मागलिक होता है, यो इन वृक्षो को बडा ही पावन पूज्य माना गया है । देव-देवियों का इन पर निवास मानने के कारण इनकी पूजा कर वह अपने को नाना दद-दुखो से हल्का कर हपमग्न होता है ।

श्रावण कृष्णा द्वितीया को बालिकाएँ घल्या घालकर व्रत करती हैं, हरियाली अमावस्या के वाद आने वाले रविवार को भाई की फूली बहिनो द्वारा वाँधी जाती है । इस दिन व्रत किया जाता है और फूली की कथा कही जाती है ।

भाद्रशुक्ला चतुर्थी को गणेश जी के लड्डू तथा चौथमाता को पीढ़ियाँ चढ़ाकर दीवाल पर सिन्दूर की चौथ माडी जाती हैं। ओंकार अष्टमी को कुमारिकाएँ मनवांछित वर प्राप्ति हेतु नीर तथा ओंकार देव का व्रत रखती हैं। यह लगातार आठ वर्ष तक किया जाता है। इन्हीं दिनो श्राद्धपक्ष मे बालिकाएँ पूरे पखवाडे प्रतिदिन सध्या को गोबर की नाना भाँति की साँझी की परिकल्पनाए बनाकर उन्हें विविध फूलो से सजाती सिंगारती हैं, प्रति सध्या को सझ्यामाता की आरती कर उनकी पूजा करती हैं और नाना प्रकार के सझ्या गीत गाती हैं। देवझूलणी एकादशा को प्रत्येक मन्दिर से देव जुलूस-रामरेवाडी निकाली जाती है। अनन्त चतुर्दशी को खीर-कजाकडे बनाकर व्रत किया जाता है। कार्तिक कृष्णा चतुर्थी को करवाचौथ का व्रत कर गेरु का थापा बनाया जाता है। दीवाली के दूसरे दिन खेंकरे को गोबर के गोवर्द्धन जी बनाकर देहली पर उनकी पूजा की जाती है। आमला ग्यारस को इमली की पूजा, तुलसा ग्यारस को तुलसी की पूजा का विधान भी बड़ा मागलिक माना गया है। तुलसा की पूजा के समय दालभात का जीमण, वैकुठ का वास, सीताजी सा चालचलावा और राम लछमण की खाद प्राप्त करने की वाछा की जाती है।

कार्तिक का पूरा महीना, क्या औरतें और क्या पुरुष, नहाते हैं। प्रात उठते ही सरोवर अथवा नदी किनारे नहा-धोकर भक्ति-धार्मिक गीतो से सारा समुदाय भक्तिमय हो उठता है। प्रतिदिन कही जाने वाली कार्तिक कहानियाँ सद् आचरण, सद् विचार, सद् गृहस्थ और सद् जीवन-मरण के विविध घटना-प्रसगो से पूरित होती हैं। ये सभी धार्मिक कहानियाँ देवी-देवताओ तथा उन महापुरुषो से सम्बन्धित होती हैं जो हमारे भारतीय सास्कृतिक जीवन मे एक आदर्श के रूप मे प्रतिष्ठित हैं। इन कहानियो के अतिरिक्त अनेक कहानियाँ उन साधारण से साधारण सामाजिक-पारिवारिक जीवन की घटनाओ को उच्चरित करती हैं जो हमारे प्रतिदिन के जीवन की मुख्य घटक के रूप मे रहती हैं सास-बहू, पति-पत्नी, अडोस-पडोस, सगे-सम्बन्धी आदि को लेकर जो लडाई-झगडे आये दिन छोटे-छोटे भारत खडे करते हैं, उनके कुपरिणामो को लेकर उस नारकीय जीवन को कैसे सुखद वातावरण दिया जा सकता है, इसका प्रायोगिक परिणाम इनमे निहित रहता है ताकि प्रत्येक व्यक्ति अपना आत्म परीक्षण करता हुआ स्वय अपने को खोजे और यदि कही गलत कुछ किया जा रहा हो तो उसे त्याग कर स्वय सही मार्ग का अनुसरण करता हुआ अन्यो को सुपथ दिखाये और एक आदर्श जीवन जीयें।

व्रत करना अपने आप मे आत्म-सयम का सूचक है। आत्मा को सयमित करने वाला कभी भटकता नहीं, भूलता नही, वह स्वय प्रकाशमान होता है और अन्यो को भी प्रकाशित करता है व्रत, कथाओ और थापो के विधानो से व्रतार्थी स्वय अपने इष्टफल की प्राप्ति हुआ देखा जाता है ऐसा मन कभी भी उच्छृ खल और अलटप्पू नही हो सकता इन व्रतानुष्ठानो से चरित्र को बल मिलता है, आत्मा अनुशासित होती है, शरीर सरल, सौम्य और जीवन सात्विक और सदाचारी बनता है इनका असर सुगन्ध की तरह फैलता, फलता हुआ प्रत्येक मनुज को मानवीयता के उज्ज्वल पक्ष का साक्षात्कार देता है। धम, पुण्य, दया, करुणा, अहिंसा, सत्य जैसे भावो का प्रसारण ही इनका मुख्य ध्येय रहा है जो हमारी विराट् परम्पराओ के सुदृढ़ पायो की तरह गतिमान निश्चल हैं।

(ख) लोकनृत्य नाट्यो मे धार्मिकता के स्वर

धार्मिक त्यौहारो, अनुष्ठानो तथा अन्यान्य अवसरो पर नृत्यो, गीतनृत्यो, नाट्यो तथा नृत्य-नाट्यो का प्रदर्शन सामूहिक उल्लास तथा आराध्य के प्रति श्रद्धाभाव प्रगट करने के मुख-भाव रहे हैं माता शीतला की पूजाकर औरतें उसे रिझाने-प्रसन्न करने के लिए उसके सामने नृत्य करती है। माता गणगौर के सामने भी इसी प्रकार सरोवर के किनारे घूमर गीतो के साथ बडे भावपूर्ण नृत्य करती हैं, आदिवासियो के सारे ही नृत्य धार्मिक अनुष्ठानो की पूर्ति मे किये जाते हैं, भीलो का गवरी नाच अपने समग्र रूप मे धार्मिक है। गाँव की खुशहाली, फसल की सुरक्षा तथा व्याधियो से मुक्त होने के लिए सारा भील गाव अपनी देवी गौरज्या की शरण जाकर गवरी लेने की भावना व्यक्त करता है। पूरे सवा महीने तक माता गौरज्या की मान-मनौती मे भील लोग गवरी नाचते रहते हैं। इस बीच ये पूर्ण सयमी तथा सादगी का जीवन व्यतीत करते हैं एक समय भोजन करते हैं, हरी साग-सब्जी से परहेज रखते हैं, अरवाणे पाँव रहते हैं, पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। नहाते-धोते नहीं हैं और न अपने घर ही जाते हैं। गवरी का सम्पूर्ण कथानक शिव पार्वती

के उस पौराणिक धार्मिक आख्यान पर सघटित है जिसमे भस्मासुर अपनी तपस्या द्वारा शिवजी से भस्मी कड़ा प्राप्तकर शिवजी को ही भस्म करना चाहता है तब विष्णु मोहिनी का रूप धारण कर स्वय भस्मासुर को ही भस्मीभूत कर देते हैं। गवरी का नायक बूढ़िया इसी भस्मासुर और शिव का सयुक्त रूप है और दो राइयाँ शिवजी की दो पत्नियाँ शक्ति और पार्वती है। गवरी की यही कथा श्रीमद् भागवत के दशम स्कध मे भी थोड़े भिन्न रूप मे देखने को मिलती है, गवरी के सारे पात्र शिवजी के गण के रूप मे हैं। धार्मिकता से ओतप्रोत आदिवासियो का ऐसा नाट्यरूप विश्व मे अन्यत्र कही देखने को नही मिलता।

उन्नसवीं शताब्दी मे तुर्रा-कलगी के रूप में शिव-शक्ति की प्रतीक एक मान्यधारा की लहर इधर बड़ी वेग रूप मे चली। अलग-अलग स्थानो मे इसके अखाड़े स्थापित हुए और इनके मानने वाले आपस मे लोक छन्दो की विविध गायकियो एव विषयो को लेकर प्रतिस्पर्धा की होड मे अपने-अपने दगलो मे उतर आये। हार-जीत की इस भावना ने एक नई चेतना को उभारा। दोनो पक्ष पुराणो, उपनिषदो, वेद-वेदान्तो, कुरान की आयतो से अनेकानेक उदाहरण लेकर एक छन्द-विषय मे शास्त्रार्थ पर अड जाते, घन्टो बहसबाजी होती, सवाल-जवाब होते और हार-जीत की होडा-होडी मे कई दिन सप्ताह तक ये बैठकें चलती रहती, यही बैठकी दगल आगे जाकर तुर्रा कलगी के ख्यालो के रूप मे परिणत हुआ। लावणीबाजी के ये ख्याल लोक जीवन मे इतने लोकप्रिय हुये कि इन्ही की लावणी-तर्जों पर अनेक धार्मिक ख्यालों की रचनाएँ होनी प्रारम्भ हुई। साधु-सतो ने भी इन लोक छन्दों-धुनो को अपना कर धार्मिक चरित्र-व्याख्यान लिखे जिनका वाचन-अध्ययन धर्मस्थानो मे बड़ा प्रशसित और असरकारी रहा। प्रसिद्ध वक्ता मुनि श्री चौथमलजी ने माच, ख्याल, काजलियो, धूसो, जला, कागसिया, तरकारी लेलो जैसी अति चर्चित-प्रतिष्ठित धुनो मे हँस-वच्छ-चरित्र जैसी कृतियाँ लिखकर धार्मिकता के स्वरो को जो गहन-सौन्दर्य और जनास्था प्रदान की उसका असर आज भी यहाँ के जन-जीवन मे गहराया हुआ है। इनकी देखादेख मुनि श्री नाथूलाल जी, रामलाल जी ने भी चन्द चरित्रादि लिखकर इस धार्मिक बेल को आगे बढ़ाने मे भारी योग दिया।

गन्धव लोग धर्मस्थानो मे अपने धार्मिक ख्यालो को प्रदर्शित कर धार्मिक सस्कारो को जमाने-जगाने का महत्त्वपूर्ण प्रयास करते हैं। पयु षणो में जहाँ-जहाँ जैनियो की बस्ती होती है वहाँ इनका पडाव रहता है, जैनियो के अलावा ये कही नही जाते। ये लोग सात्विक तथा व्रत नियम के बडे पक्के होते हैं। इनके ख्यालो मे मुख्यत श्रीपाल-मैना सुन्दरी, सुर-सुन्दरी, चन्दनबाला, सौमासती, अन्जना, सत्यवान-सावित्री, राजा हरिश्चन्द्र जैसे धार्मिक, शिक्षाप्रद ख्याल मुख्य हैं। इन ख्यालो के माध्यम से जन-जीवन मे धार्मिक शिक्षण का व्यापक प्रचार-प्रसार होता देखा गया है।

रामलीला-रासलीलाओ के भी इधर कई शौकिया दल हैं जो अपने प्रदर्शनो से गाँवो की जनता मे राम-कृष्ण का जीवन-सन्देश देकर स्वस्थ धर्मजीवन को जागृत करते हैं, आश्विन मे त्रयोदशी से पूर्णिमा तक घो-सुडा मे सनकादिको की लीलाएँ प्रदर्शित की जाती हैं। कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को बसी मे गणेश, ब्रह्मा, कालिका, काला-गोरा तथा नृसिंहा-वतार की धार्मिक झाँकियाँ निकाली जाती हैं। नवरात्रा मे रावल लोग देवी के सम्मुख खेडा नचाकर उसका स्वाँग प्रस्तुत करते हैं। भील लोग भी इसी प्रकार माता के सम्मुख कालका व हठिया का स्वाँग लाते हैं।

रासलीला की ही तरह रासधारी नामक ख्याल रूपो मे भगवान राम का सीताहरण का दृश्य अभिनीत किया जाता है, इसे प्रारम्भ करने का श्रेय मेवाड के बरोडिया गाँव के श्री मोतीलाल ब्राह्मण को हैं। यह अच्छा खिलाडी एव ख्याल लेखक था। इसके रचे रामलीला, चन्द्रावल लीला, हरिश्चन्द्र लीला आदि ख्यालो की कभी बडी धूम थी।

(ग) माडनों, गोदनों तथा विविध चित्राकनों मे धार्मिकता के स्वर

हमारे यहाँ माडनो, गोदनो तथा चित्राकनो में अधिकतर रूप धार्मिक भावनाओ की अभिवृद्धि के द्योतक हैं, विवाह-शादियो तथा अन्य प्रसगो पर घरो में लक्ष्मी, गणेश तथा कृष्णलीलाओ के विविध चित्रों मे धार्मिक सस्कृति के दिव्य रूप देखने को मिलते हैं। दरवाजो पर फूलपत्तियाँ, बेलें, पक्षियो के अकन तथा केल पत्तों के झाड, शुभ शकुन के प्रतीक होते हैं, पेडों पिछवाइयो मे भी यही भावना उभरी हुई मिलती है। पिछवाइयाँ वैष्णव मन्दिरों में भगवान को

भाद्रशुक्ला चतुर्थी को गणेश जी के लड्डू तथा चोथमाता को पीडियाँ चढाकर दीवाल पर सिन्दूर की चौथ माडी जाती हैं। ओकार अष्टमी को कुमारिकाएँ मनवाछित वर प्राप्ति हेतु नीर तथा ओकार देव का व्रत रखती हैं। यह लगातार आठ वर्ष तक किया जाता है। इन्ही दिनो श्राद्धपक्ष मे बालिकाएँ पूरे पखवाडे प्रतिदिन सध्या को गोबर की नाना भाँति की साँझी की परिकल्पनाएँ बनाकर उन्हे विविध फूलो से सजाती सिगारती हैं, प्रति सध्या को सझ्यामाता की आरती कर उनकी पूजा करती हैं और नाना प्रकार के सझ्या गीत गाती हैं। देवझुलणी एकादशा को प्रत्येक मन्दिर से देव जुलूस-रामरेवाडी निकाली जाती है। अनन्त चतुर्दशी को गीर-कजाकडे बनाकर व्रत किया जाता है। कार्तिक कृष्णा चतुर्थी को करवाचौथ का व्रत कर गेरु का थापा बनाया जाता है। दीवाली के दूसरे दिन बैकरे को गोबर के गोवद्ध न जी बनाकर देहली पर उनकी पूजा की जाती है। आमला ग्यारस को इमली की पूजा, तुलसा ग्यारस को तुलसी की पूजा का विधान भी बडा मागलिक माना गया है। तुलसा की पूजा के समय दालभात का जीमण, बैंकुठ का बास, सीताजी सा चालचलावा और राम लछमण की साद प्राप्त करने की वाछा की जाती है।

कार्तिक का पूरा महीना, क्या औरतें और क्या पुरुष, नहाते हैं। प्रात उठते ही सरोवर अथवा नदी किनारे नहा-धोकर भक्ति-धार्मिक गीतो से सारा समुदाय भक्तिमय हो उठता है। प्रतिदिन कही जाने वाली कार्तिक कहानियाँ सद् आचरण, सद् विचार, सद् गृहस्थ और सद् जीवन-मरण के विविध घटना-प्रसगो से पूरित होती हैं। ये सभी धार्मिक कहानियाँ देवी-देवताओ तथा उन महापुरुषो से सम्बन्धित होती हैं जो हमारे भारतीय सास्कृतिक जीवन मे एक आदर्श के रूप मे प्रतिष्ठित हैं। इन कहानियो के अतिरिक्त अनेक कहानियाँ उन साधारण से साधारण सामाजिक-पारिवारिक जीवन की घटनाओ को उच्चरित करती हैं जो हमारे प्रतिदिन के जीवन की मुख्य घटक के रूप मे रहती हैं सास-बहू, पति-पत्नी, अडोस-पडोस, सगे-सम्बन्धी आदि को लेकर जो लडाई-झगडे आये दिन छोटे-छोटे भारत खडे करते हैं, उनके कुपरिणामो को लेकर उस नारकीय जीवन को कैसे सुखद वातावरण दिया जा सकता है, इसका प्रायोगिक परिणाम इनमे निहित रहता है ताकि प्रत्येक व्यक्ति अपना आत्म परीक्षण करता हुआ स्वय अपने को खोजे और यदि कहीं गलत कुछ किया जा रहा हो तो उसे त्याग कर स्वय सही मार्ग का अनुसरण करता हुआ अन्यो को सुपथ दिखाये और एक आदर्श जीवन जीये।

व्रत करना अपने आप मे आत्म-सयम का सूचक है। आत्मा को सयमित करने वाला कभी भटकता नहीं, भूलता नही, वह स्वय प्रकाशमान होता है और अन्यो को भी प्रकाशित करता है व्रत, कथाओ और थापो के चित्राकनो से व्रतार्थी स्वय अपने इष्टफल की प्राप्ति हुआ देखा जाता है ऐसा मन कभी भी उच्छृ खल और अलटप्पू नहीं हो सकता इन व्रतानुष्ठानो से चरित्र को बल मिलता है, आत्मा अनुशासित होती है, शरीर सरल, सौम्य और जीवन सात्विक और सदाचारी बनता है इनका असर सुगन्ध की तरह फैलता, फलता हुआ प्रत्येक मनुज को मानवीयता के उज्ज्वल पक्ष का साक्षात्कार देता है। धर्म, पुण्य, दया, करुणा, अहिंसा, सत्य जैसे भावो का प्रसारण ही इनका मुख्य ध्येय रहा है जो हमारी विराट् परम्पराओ के सुदृढ पायो की तरह गतिमान निश्चल हैं।

(ख) लोकनृत्य नाट्यो मे धार्मिकता के स्वर

धार्मिक त्यौहारो, अनुष्ठानो तथा अन्यान्य अवसरो पर नृत्यो, गीतनृत्यो, नाट्यो तथा नृत्य-नाट्यो का प्रदर्शन सामूहिक उल्लास तथा आराध्य के प्रति श्रद्धाभाव प्रगट करने के मुख-भाव रहे हैं माता शीतला की पूजाकर औरतें उसे रिझाने-प्रसन्न करने के लिए उसके सामने नृत्य करती है। माता गणगौर के सामने भी इसी प्रकार सरोवर के किनारे घूमर गीतो के साथ बड़े भावपूर्ण नृत्य करती हैं, आदिवासियो के सारे ही नृत्य धार्मिक अनुष्ठानो की पूर्ति मे किये जाते हैं, भीलो का गवरी नाच अपने समग्र रूप मे धार्मिक है। गाँव की खुशहाली, फसल की सुरक्षा तथा व्याधियो से मुक्त होने के लिए सारा भील गाव अपनी देवी गोरज्या की शरण जाकर गवरी लेने की भावना व्यक्त करता है। पूरे सवा महीने तक माता गोरज्या की मान-मनौती मे भील लोग गवरी नाचते रहते हैं। इस बीच ये पूर्ण सयमी तथा सादगी का जीवन व्यतीत करते हैं एक समय भोजन करते हैं, हरी साग-सब्जी से परहेज रखते हैं, अरवाणे पाँव रहते हैं, पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। नहाते-धोते नहीं हैं और न अपने घर ही जाते हैं। गवरी का सम्पूर्ण कथानक शिव-पार्वती

के उस पौराणिक धार्मिक आख्यान पर सघटित है जिसमे भस्मासुर अपनी तपस्या द्वारा शिवजी से भस्मी कडा प्राप्तकर शिवजी को ही भस्म करना चाहता है तब विष्णु मोहिनी का रूप धारण कर स्वय भस्मासुर को ही भस्मीभूत कर देते हैं। गवरी का नायक बूढिया इसी भस्मासुर और शिव का सयुक्त रूप है और दो राइयाँ शिवजी की दो पत्नियाँ शक्ति और पार्वती है। गवरी की यही कथा श्रीमद् भागवत के दशम स्कध मे भी थोडे भिन्न रूप मे देखने को मिलती है, गवरी के सारे पात्र शिवजी के गण के रूप मे हैं। धार्मिकता से ओतप्रोत आदिवासियो का ऐसा नाट्यरूप विश्व मे अन्यत्र कही देखने को नही मिलता।

उन्नसवी शताब्दी मे तुर्रा-कलगी के रूप मे शिव-शक्ति की प्रतीक एक मान्यधारा की लहर इधर बडी वेग रूप मे चली। अलग-अलग स्थानो मे इसके अखाडे स्थापित हुए और इनके मानने वाले आपस मे लोक छन्दो की विविध गायकियो एव विषयो को लेकर प्रतिस्पर्धा की होड मे अपने-अपने दगलो मे उतर आये। हार-जीत की इस भावना ने एक नई चेतना को उभारा। दोनो पक्ष पुराणो, उपनिषदो, वेद-वेदान्तो, कुरान की आयतो से अनेकानेक उदाहरण लेकर एक छन्द-विषय मे शास्त्राथ पर अड जाते, घन्टो बहसबाजी होती, सवाल-जवाब होते और हार-जीत की होडा-होडी मे कई दिन सप्ताह तक ये बैठकें चलती रहती, यही बैठकी दगल आगे जाकर तुर्रा कलगी के ख्यालो के रूप मे परिणत हुआ। लावणीबाजी के ये ख्याल लोक जीवन मे इतने लोकप्रिय हुये कि इन्ही की लावणी-तर्जों पर अनेक धार्मिक ख्यालो की रचनाएँ होनी प्रारम्भ हुई। साधु-सतो ने भी इन लोक छन्दों-धुनो को अपना कर धार्मिक चरित्र-व्याख्यान लिखे जिनका वाचन-अध्ययन धर्मस्थानो मे बडा प्रशसित और असरकारी रहा। प्रसिद्ध वक्ता मुनि श्री चौथमलजी ने माच, ख्याल, काजलियो, धूँसो, जला, कागसिया, तरकारी लेलो जैसी अति चर्चित-प्रतिष्ठित धुनो मे हँस-वच्छ-चरित्र जैसी कृतियाँ लिखकर धार्मिकता के स्वरो को जो गहन-सौन्दर्य और जनास्था प्रदान की उसका असर आज भी यहाँ के जन-जीवन मे गहराया हुआ है। इनकी देखादेख मुनि श्री नाथूलाल जी, रामलाल जी ने भी चन्द चरित्रादि लिखकर इस धार्मिक बेल को आगे बढाने मे भारी योग दिया।

गन्धव लोग धर्मस्थानो मे अपने धार्मिक ख्यालो को प्रदर्शित कर धार्मिक सस्कारो को जमाने-जगाने का महत्वपूर्ण प्रयास करते हैं। पर्युषणो मे जहाँ-जहाँ जैनियो की बस्ती होती हैं वहाँ इनका पडाव रहता है, जैनियो के अलावा ये कही नही जाते। ये लोग सात्विक तथा व्रत नियम के बडे पक्के होते हैं। इनके ख्यालो मे मुख्यत श्रीपाल-मैना सुन्दरी, सुर-सुन्दरी, चन्दनबाला, सोमासती, अन्जना, सत्यवान-सावित्री, राजा हरिश्चन्द्र जैसे धार्मिक, शिक्षाप्रद ख्याल मुख्य हैं। इन ख्यालो के माध्यम से जन-जीवन मे धार्मिक शिक्षण का व्यापक प्रचार-प्रसार होता देखा गया है।

रामलीला-रासलीलाओ के भी इधर कई शौकिया दल हैं जो अपने प्रदर्शनो से गाँवो की जनता मे राम-कृष्ण का जीवन-सन्देश देकर स्वस्थ धर्मजीवन को जागृत करते हैं, आश्विन मे त्रयोदशी से पूर्णिमा तक घो-सुडा मे सनकादिकों की लीलाएँ प्रदर्शित की जाती हैं। कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को बसी मे गणेश, ब्रह्मा, कालिका, काला-गोरा तथा नृसिहा-वतार की धार्मिक झाँकियाँ निकाली जाती हैं। नवरात्रा मे रावल लोग देवी के सम्मुख खेडा नचाकर उसका स्वाँग प्रस्तुत करते हैं। भील लोग भी इसी प्रकार माता के सम्मुख कालका व हठिया का स्वाँग लाते हैं।

रासलीला की ही तरह रासधारी नामक ख्याल रूपो में भगवान राम का सीताहरण का दृश्य अभिनीत किया जाता है, इसे प्रारम्भ करने का श्रेय मेवाड के बरोडिया गाँव के श्री मोतीलाल ब्राह्मण को हैं। यह अच्छा खिलाडी एव ख्याल लेखक था। इसके रचे रामलीला, चन्द्रावल लीला, हरिश्चन्द्र लीला आदि ख्यालो की कभी बडी धूम थी।

(ग) मांडनों, गोदनों तथा विविध चित्राकनों मे धार्मिकता के स्वर

हमारे यहाँ माडनो, गोदनो तथा चित्राकनो में अधिकतर रूप धार्मिक भावनाओ की अभिवृद्धि के द्योतक हैं, विवाह-शादियो तथा अन्य प्रसगो पर घरो मे लक्ष्मी, गणेश तथा कृष्णलीलाओ के विविध चित्रो मे धार्मिक सस्कृति के दिव्य रूप देखने को मिलते हैं। दरवाजो पर फूलपत्तियाँ, बेलें, पक्षियो के अकन तथा केल पत्तों के झाड, शुभ शकुन के प्रतीक होते हैं, पेडो पिछवाइयो मे भी यही भावना उभरी हुई मिलती है। पिछवाइयाँ वैष्णव मन्दिरो मे भगवान की

मूर्ति के पीछे लगाई जाती हैं, इनमे कृष्ण जीवन की अनेक घटनाएँ चित्रित की हुई मिलती हैं। नाथद्वारा की पिछवाइयाँ विदेशो मे बडे शौक से खरीदी जाती है। पडो मे पाबूजी, रामदला, कृष्णदला, देवनारायण, रामदेव तथा माताजी की पडे बडी प्रख्यात हैं, इन पडो मे चित्रित लोक देवता विषयक उदात्त चरित्रो की महिमा लोकजीवन की आदर्श थाती है। ये पडें चूँकि लोकजीवन मे प्रतिष्ठित-पूजित देवताओ की जीवन-चित्रावलिया होती हैं इसलिए इनकी महत्ता साक्षात् देवतुल्य स्वीकारी हुई है, इसलिए किसी भी प्रकार का सकट आने पर लोग पड बचवाने की बोलमा बोलते हैं और जब रोग सकट से मुक्त हो जाते है तो बडी श्रद्धाभावना से इन पडो के ओपो को अपने गृह-आगन मे आमन्त्रित कर रात-रात भर पड वाचन करवाते हैं।

विविध त्यौहारो तथा शुभ अवसरो पर गृह-आँगन के माडनो मे धार्मिक अभिव्यक्ति के अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं। गणगौर पर गोर का बेसण, दीवाली पर सोलह दीपक, हीड सातिया, गाय के खुर, कलकल पूजन पर कल-फल और पुष्कर की पेडी, ल्होडी दीवाली पर लक्ष्मी जी के पगल्ये, होली पर कलश कूडे जैसे माडनें और नवरात्रा पर पथवारी और माता शीतला सातमा पर माता शीतला एव बालजन्म पर छठी के माडनें हमारे सम्पूर्ण धर्मजीवी आच-रणो की मागलिक खुशहाली और अभिवृद्धि के पूरक रहे है। इनसे हमारा जीवन शुद्ध और आँगन पवित्र होता है ऐसे ही जीवन आँगन मे देवताओ का प्रवेश माना गया है, इसलिए देव निमन्त्रण के ये माडनें विशेष रूपक हैं। रात्रि मे इनके जगमगाहट और भीनी सुगन्धी से देवदेवियो का पदार्पण होता है।

मेहदी के माडनें भी इसी तथ्य के द्योतक है, जवारा, मोरकलश, सुपारी, घेवर, बाजोट, तारापतासा, चाँद-तारा, चूँदडी आदि मागलिक भावनाओ के प्रतीक हैं, जवारा खुशहाली के प्रतीक, सुपारी गणेश की प्रतीक, घेवर भोग के प्रतीक, बाजोट थाल रखने का प्रतीक, चाँदतारा, चूदडी सुखी-सुहागी जीवन के प्रतीक हैं। गोदने भी सुहाग चिन्हो मे से एक हैं। मरने पर शरीर के साथ कुछ नहीं जाता, विश्वास है कि गोदनें ही जाते हैं। इन गोदनो से अगला जन्म पवित्र बनता हैं इसलिए औरतें अपने हाथो, पाँवो, वक्षस्थल, पीडलियो, गाल, ललाट तथा समग्र शरीर पर तरह-तरह के गोदने गुदवाती हैं, इन गोदनो में विविध देवी-देवता, पक्षी, बेल-बूँटें, सातिया, बिंदी तथा आभूषण मुख्य हैं।

जैनचित्रों मे धार्मिक शिक्षणपरक कई दृष्टान्त चित्रो की स्वस्थ परम्परा रही है, इनमे नारकीय जीवन की यातना परक चित्रो की बहुलता मिलती है ताकि उनको देखकर प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को अच्छा बनाने का प्रयत्न करे और अच्छा फल और अच्छी गति प्राप्त करे। नरक जीवन के चित्रो मे मुख्यतया पाप, अन्याय, अत्याचार, छल, कपट, ईर्ष्या, द्वेष, चोरी, कलह तथा अनैतिक कार्यों के फलस्वरूप भुगते जाने वाले कष्टो के चित्र कोरे हुए मिलते हैं। मनोरजन के माध्यम से भी धार्मिक शिक्षण के बोध कराने के कई तरीके हमारे यहाँ प्रचलित रहे हैं, उनमे साप-सीढी का खेल लिया जा सकता है। इस खेल चित्र मे साप-सीढी के साथ साथ विविध खानो के अलग अलग नाम दिये मिलते हैं जो सुकर्म और कुकर्म के प्रतीक हैं, इनमे तपस्या, दयाभाव, परमार्थ, धर्म, उदारता, गगास्नान, देवपूजा, शिव एव माता-पिता भक्ति, ध्यान समाधि, गोदान तथा हरिभक्ति से चन्द्रलोक, सूर्यलोक, अमरापुर, तप, धर्म, ब्रह्म, शिव, गौ, इन्द्र, स्वर्ग यमलोक के साथ-साथ सीढ़ियो के माध्यम से वैकुण्ठ की प्राप्ति बताई गई है। दूसरी ओर झूठ, चोरी, बालहत्या-परनारी-गमन, विश्वासघात, मिथ्यावचन, गौहत्या, अधम आदि बुरे कर्मों के सर्प काटने से क्रोध-रौरवनरक, मोहजाल कुम्भी पाक नरक, पलीतयोनि, बालहत्या-तलातल, रसातल में पडकर जघन्य कष्टो को सहना पडता है। सिढियाँ चढना जीवन के उन्नयन और विकास का प्रतीक तथा सर्प काटने से नीचे उतरना हमारे दुर्दिन, दुर्गति तथा पतितावस्था का बोधक है। जैन पाडुलिपियो, ताडपत्रों तथा मन्दिरो मे दीवालो पर जो चित्र मिलते हैं उनमे नदीश्वरद्वीप, अढाईद्वीप, लोकस्वरूप, तीर्थंकरो के जीवनाख्यान, विविध बरात, स्वप्न, उपसर्ग, समवसरण, आहार दान तथा कर्म सिद्धात जैसे चित्र बहुलता लिए होते हैं।

(घ) लोक-कथा, गाथा एव भारत मे धार्मिकता के स्वर

लोक देवी देवताओ तथा धार्मिक महापुरुषो से सम्बन्धित कथा, गाथाओं, पवाडो, ख्यावलो भजनो तथा भारतो का इस प्रदेश मे बडा जोर रहा है। गाँवो मे दिनभर काम व्यस्त रहने के पश्चात् रात्रि को जब मनोविनोद के

कोई साधन नहीं होते हैं तो समस्त जनता सामूहिक बैठक के रूप मे नाना कथा-गाथाओ द्वारा आनन्द-रस प्राप्त करती है। इनमे लोक देवताओ तथा भक्तो सम्बन्धी कथाओ के वाचन कराये जाते हैं। भजनियो की सगत मे रात-रात भर भजनो के दौर चलते रहते हैं। इन भजनो मे मीरा, चन्द्रसखी, हरजी, कबीर, तोलादे आदि के भजन आध्यात्मिक भावनाओ की दृढभित्ति लिए होते हैं। लोक देवता तेजाजी की कथाओ को रात भर जनता बडी भक्तिनिष्ठा से सुनती है तेजाजी के अलावा रामदेवी जी, हरिश्चन्द्र रामलीला, कृष्णलीला, सत्यनारायण की कथा गाथाओ मे जनता का सहज उमडता भक्तिभाव, कई अभावो, दु खदर्दों को हल्का कर सुख और शाति की श्वास लेता है इसी प्रकार पाबूजी के पवाडे, रामदेवजी के ब्यावले तथा जागरण के गीतो मे इन चमत्कारी पुरुषो के शौय-चरित तथा परमाथ कार्यो से अपने क्षुद्र स्वार्थों को त्यागकर परमार्थ हित कल्याण के सबक सुनने को मिलते है। गाने सुनने वालो पर इनका बडा असर होता है जो जिन्दगी भर आदर्श बनकर नेक इन्सान की असलीयत को बनाये रखते हैं।

लोकदेवी देवताओ से सम्बन्धित गीत गाथाओ का तो कहना ही क्या जीवन के प्रत्येक सस्कार, वार-त्योहार उत्सव, रोग, अनिष्ट की आशका, भावी जीवन की खुशहाली, रक्षा-सुरक्षा, नौकरी, चाकरी, वाणिज्य-व्यापार, फसल आदि सैकडो प्रसग हैं जिनमे पहले बाद मे इन देवी-देवताओ की शरण लेनी पडती है। इन्हें रिझाने के लिए नाना प्रकार के गीत गाये जाते हैं। सप कटो को जब तेजाजी गोगाजी की बाँबी पर ले जाते है तो इन देवताओं के गाथा-भारत उच्चरित किये जाते हैं फलत भोपे के शरीर मे इनका आगमन होता है और जहर चूसकर उस व्यक्ति को चगा कर दिया जाता है। लोक जीवन मे इनके प्रति इतनी गूढ श्रद्धा-आस्था भक्ति रही है कि उनके लिए अन्य सारे साधन उपयोग निरर्थक से है।

नव रात्रा मे इन देवताओ की पूरे नौ ही दिन चौकियाँ लगती हैं। अखड दीप-धूप रहती है, भजनभाव भक्तिमय सारा वातावरण रहता है। इनकी पूजा-प्रतिष्ठा मे सारा गाँव उमड-पडता है। डेरू-ढाक-थाली के सहारे इनके यश-भारत रात-रात भर गाये जाते हैं, इन दिनो कोई गाँव ऐसा नहीं मिलेगा जहाँ इनका देवरा न गाजबाज उठता हो, रेवारी, राडारूपण, माताजी, चावडा, लालाफूला, भेरू, कालका, रामदेव, नारसिंधी, मासीमा, वासक, पूरवज, देव नारायण ताखा, मूणमेढू, आमज, हठिया, रतना, नाथू, रागड्या, केशरिया जी, कौरव, पांडव, मामादेव आदि कितने ही देव-देवियाँ हैं जो सम्पूर्ण लोक की रक्षा करते हैं, धर्मभावना, जगाते हैं और खुशहाली बाँटते हैं। इन सबके भारत, विधि विधान, भोपे और देवरे हैं अलग-अलग रूपो मे इनकी पूजा के विधान हैं। गाँव का हर जन-मन इनका जाना पहचाना होता है।

बिना प्रगटाये, प्रत्यक्ष हुए, ये देव अपराधियों को सजा देते हैं, चोरियो का पता लगाते हैं। वैद्य-हकीम बन हर प्रकार की मनुष्य-जानवरो की बीमारियाँ दूर करते हैं, आगे आने वाले समय का अता-पता देते हैं, प्राकृतिक प्रकोपो से जन-धन की रक्षा करते हैं। ये ही गाँव के सतरी, पुलिस, डाक्टर, अध्यापक, धमगुरु, ईश्वर तथा सद्गति देने वाले होते है।

(च) धर्मस्थानो के लोक-साहित्य मे धार्मिकता के स्वर

धर्मस्थानो का लोकसाहित्य अपने आप मे बडा विविध, विपुल तथा व्यापक है। विविध सपनें, चौबीसियाँ, पखी गीत, साधु-साध्वी सम्बन्धी गीत बधावे, विविध थोकडे, भरमचितारणियाँ, मृत्युपूर्व सुनाये जाने वाले गीत, तपस्या गीत, विविध चौक, ढालें, तवन, भजन, कथाएँ, कहानियाँ, ब्यावले, बरात, सरवण तीर्थकरो, गणधरो तथा सतियो सम्बन्धी गीत धार्मिक सस्कृति के कई रूप उद्घाटित करते हैं।

साधु साध्वियो का किसी गाँव मे पदापण हर सबके लिए बडा आल्हादकारी होता है, इस उल्लास मे जो गीत फूट पडते है उनसे लगता है कि जैसे सारे गाँव का ही भाग्योदय हुआ है सोना रत्नो का सूर्य उदित हो आया है। साधुजी महाराज दीपित हुये से लग रहे हैं। साक्षात् मे जैसे जिनवाणी सूर्य ही प्रगट हो आया है। यह सच भी है, साधु महाराज ही तो जैनियो के सवस्व हैं। इनका पधारना जैसे कुंकुम् केसर के पगल्यो का पदार्पण है।
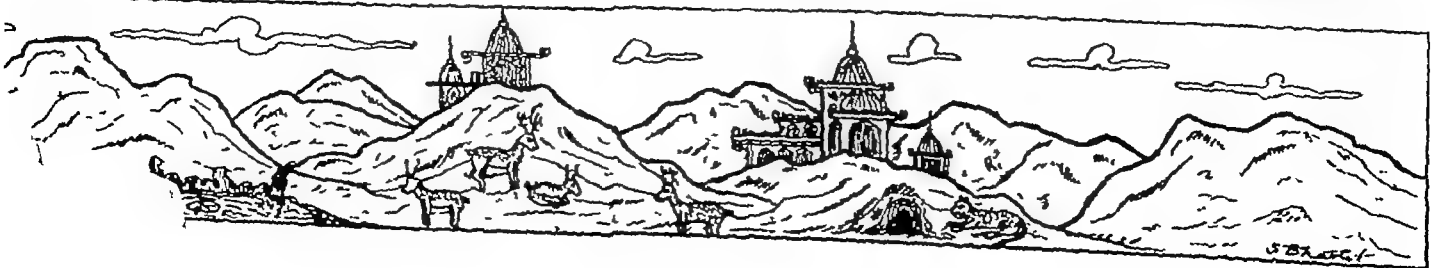
कंकूरे पगल्ये मारासा पधारिया। केसर रे पगल्ये मारासा पधारिया ॥
ओरा गामा हीरा मोती निपजेजी, म्हाणे गामा रतना री खान ॥
थोडी अरज घणी विनतीजी, लुललुल लागूंली पांवजी ॥

स्थानक मे पधारने पर जो वधावे गाये जाते हैं उनमे श्रावक-श्राविकाओ के जनम-जनम के भाग जग गये है और पूर्व जन्म के अन्तराय टूटते हुए नजर आते ह। इस अवसर पर खुशियो का कोई पार नही, कंकू केसर घोटकर मोतियो के चौक पुराये जा रहे हैं। हृदय मे इतनी उमग कि समा नहीं रही है।

सैया गावो ए वधावो हुलेमगे, आज रो दीयाडो जी भलोई सूरज उगियो।
हरखे हिया मे जी उमावो म्हारा अग मे करूँ म्हारा मारासा री सेवा ॥
दरसण पाऊँजी गुण आपरा, गाऊँजी परभवे वाघ्याजी सामीजी अणी भवे।
आज टूटो छै अन्तराय उवर्‌या सैया गावो ए वधावो

कर्म को लेकर जीवन की जडे बहुत खखेरी गई हैं 'जैसा कर्म वैसा फल' जैसे आचार को लेकर आचरण के भांत-भात के मुरब्बे तथा खट्टी-मीठी चटनियो के स्वाद हमारा यह जीव चखता रहता है। विषय वासना के वासतीकुन्ज इसे इतर-फुलेल की फुनगियां दे-देकर बावला किये रहते हैं। कर्मों का जाल-जजाल बडा ही विचित्र और वैविध्य लिए है अपने-अपने कर्म और अपने-अपने धर्म ही तो अन्ततोगत्वा मानव की मूल पूँजी बनते हैं कर्मों की इस दार्शनिकता के कई चौक धर्म-स्थानो की शोभा बने हुए हैं जिनमे जीव को बुरे कार्य तजकर सदैव अच्छे कार्य की ओर प्रवृत्त करने को बाध्य किया जाता है। कर्म चौक की एक छटा द्रष्टव्य है—

'करम नचावे ज्यूं ही नाचे, ऊँचा होवण ने सब करता।
नीचा होवण ने कोई ना गजो नन्द्या विरथा क्यूं करता।
मोय चाख मोटो मद पीवै ओगण पारका थू क्यूं गिणै थारा, ओगण थन नही दीसै,
अनेक ओगण है मारे रे आतमा ग्यानी वचन पकडो रास्ता।'

थोकडो के निराले ठाठो मे आत्मनिन्दा एव आत्मभर्त्सना के साथ-साथ सासारिक मोहमाया, रागद्वेष, मानापमान आदि को तिलाजलि दे जीव के सद्कार्य की ओर लगाया जाता है। मरणासन्न व्यक्ति को मृत्यु से पूर्व भी ये थोकड़े सुनाये जाते हैं। इन थोकडो मे जीवन के श्यामपक्ष को ही अधिक वर्णित किया गया है आत्मालोचन के रूप मे जहाँ एक ओर इन थोकडो ने आत्म-निन्दा भर्त्सना की अमानवीय वृत्तियों का पर्दाफाश किया वहाँ जर्जरे जीवन को झकझोरते हुये बीते जीवन की कारगुजारियो का लेखा-जोखा कर उसका प्रायश्चित्त करते हुए जीव को आस्थावान-आशावान बनाया है। सुपारी, पांचवटाऊ तथा आत्मनिन्दा के थोकडो मे इस भावना की गहराई देखने को मिलती है। उदाहरण के लिए आत्मनिन्दा के थोकड़े का यह अश लिया जा सकता है।

'आठ करमा री एकसो ने अडतालीस प्रकृति ऊठेसण थानक थारा जीव दोरा लागरया छे रे बापडा सीलवरत, गाजो, भाग, तमाखू, दाखरो तजारो हरी लीलोती रा सोगन लेइने भागसी तो थारा जीवरी गरज कठासूँ सरसी रे बापडा थारी जड कतरीक छेरे बापडा, म्हारा म्हारा करीरयोछै म्हारा माता, म्हारा पिता, म्हारा सगा, म्हारा सोई, म्हारा न्याती, म्हारा गोती, म्हारा भाई, म्हारा बन्धव, म्हारा भरतार, म्हारा पुतर, म्हारा दास, म्हारा दासी, म्हारी हाट, म्हारी हवेली, म्हारा-म्हारा करीयो छै थारा कूण छे ने थूँ कडो छेरे बापडा ?'

नाना जीव-योनियो मे भटकते-भटकते जीव जब मानवीय गर्भ धारण करता है, तब एक ओर तो यह लगता हैं कि जीव ने सर्वश्रेष्ठ योनि धारण की है परन्तु दूसरी ओर गर्भावास मे उसे जो यातनाएं सहनी पड़ती हैं उससे यह उद्भासित होता है कि जीव जन्म ही न ले तो अच्छा। गर्भचितारणियो में गर्भस्थ शिशु की चितना के साथ-साथ मानवीय जीवन को सम्यक् दृष्टि से समतावान बनाने की सीख भी मिलती है। आठ कर्मों की कालिमा से बचते हुए पाच महाव्रत धारणकर जीवन को सार्थक बनाने की कला इन चितारणियो मे देखने को मिलती है।

गर्भवती औरतो को इन्हें सुनाने के पीछे यही मूल भावना रही है कि गर्भ मे ही शिशु जीवयोनि का इतिहास, कर्मफल सिद्धान्त, राग-द्वेष, मोह-माया, ईर्ष्या-अह, पाप-पुण्य, रोग-भोग, समता-सयम आदि को जानता हुआ देह धारण करने के बाद अपने जीवन को मानवीय उच्चादर्शों की कसौटी पर कसता हुआ अपना भव सफल सार्थक करे।

एक नमूना देखिये—

'रतना रा प्याला ने सोना री थाल, मूँग मिठाई ने चावल-दाल, भोजन भल-भल भातरा।
गगाजल पाणी दीवो रे ठार, वस्तु मँगावो ने तुरत त्यार, कमी ए नही किणी वातरी।
वडा-वडा होता जी राणा ने राव, सेठ सेनापति ने उमराव, खातर मे नही राखता, जी
नर भोगता सुख भरपूर, देखता-देखता होइग्या धूर, देखो रे गत ससार री।
करे गरव जसी होसी जी वास, देखता देखता गया रे विनास, थूँ चेते उचेते तो मानवी।'

'सयम ग्यान वतावेगा सत, आली एनाद मे रहियो अनन्त, भव-भव माय थूँ भटकियो।
नव-नव घाटी उलागी आय, दुख भव भय नवरो रे पाय, ऊँच नीच घर उपन्यो।
सूतरमें घणी चाली छे वात, यो थारो वाप ने या थारी मात, मो माया माय फसरयो।
माडी मेली घणी सुकी ने वात, धारो रे धारो दया धम सार थूँ चेते उचेते तो मानवी।'

सपनो मे विशेष रूप से तीर्थंकरो से सम्बन्धित गीत मिलते हैं। व्याह-शादियो मे चाक नूतने से लेकर शादी होने के दिन तक प्रतिदिन प्रातःकाल ये सपने गाये जाते हैं, परन्तु पर्यूषण के दिनो मे ये विशेष रूप से गाये जाते हैं इनमे तीर्थकरो के वाल्यजीवन के कई सुन्दर सजीव चित्र मिलते हैं। इन सपनो के अन्त मे इनके गाने का फल वैकुंठ की प्राप्ति तथा नही गानेवालियो को अजगर का अवतार होना वतलाया गया है। यही नही सपने गाने वाली को सुहाग का फल तथा जोडने वाली को फूलता-फलता पुत्र प्राप्त होने जैसे मांगलिक भावनाएँ पिरोई हुई सुनी जाती हैं यथा—

जो रे महावीर रो सपनो जो गावे व्यारो वैकुण्ठ वासो जी
नही रे गावे नी सामे व्यारो अजगर रो अवतारोजी
म्हैं रे गावा जी साभलाजी म्हारो वैकुठवासो जी
गावा वाली ने चूडो चूँदड जोडणवाली ने झोलण पूतोजी।

सपनो के अतिरिक्त विवाह पर सिलोके बोलने की प्रथा रही है, पहले ये सिलोके वर द्वारा बोले जाते थे परन्तु अब ज्ञानी लोग बोलते हैं जब ज्ञानी-मानी एक स्थान पर एकत्र होते हैं। इन सिलोको मे मुख्यत ऋषभदेव, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ, शातिनाथ, महावीर स्वामी के सिलोके अधिक प्रचलित हैं, केशरियाजी, वालाजी, गणपति, सीता रामलखन, कृष्ण, सूरजदेव, रामदेव के सिलोके भी सुनने को मिलते हैं। इन सिलोको के साथ-साथ ढालो का भी हमारे यहाँ वडा प्रचलन रहा है। इन ढालो की राग लय वडी ही मधुर और अपनी विशेष गायकी लिए होती है। इन ढालो मे रावण की ढाल, गजसुकुमार की ढाल, नँद राजा की ढाल वडी लोकप्रिय है।

जीवन मे वुढापा अच्छा नही समझा गया जीवन का यह एक ऐसा रूप है जब इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं और आदमी पराये पर आश्रित हो जाता है, तब वह अपने को कोसता है, वुढापा विषयक गीतो मे वुढापे को वैरी वताकर उससे जल्दी से जल्दी छुटकारा प्राप्त करने की भावनाएँ पाई जाती हैं। जीवन से मुक्त होना मृत्यु है। यह एक अत्यन्त ही रोमाचकारी, कारुणिक तथा वियोगजन्य-प्रसग है। मरने के बाद जो बधावे गाये जाते हैं उनमे आत्मा का परमात्मा से मिलन होना और जीवन की असारता के सकेत मिलते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मेवाड की सम्पूर्ण लोकसस्कृति धर्म और अध्यात्म की ऐसी दृढ भित्तियो पर खडी हुई है जहाँ मनुष्य का प्रत्येक सस्कार धार्मिकता के सान्निध्य मे सम्पूर्ण होता हुआ मृत्यु का अमरत्व प्राप्त करता है। इस प्रदेश मे यदि लोक धर्म की वुनियाद इतनी गहरी, परम्परा पोषित नही होती तो यहाँ का जीवन सयम, धर्म और अध्यात्म का इतना उदात्त रूप नही देता।

●●
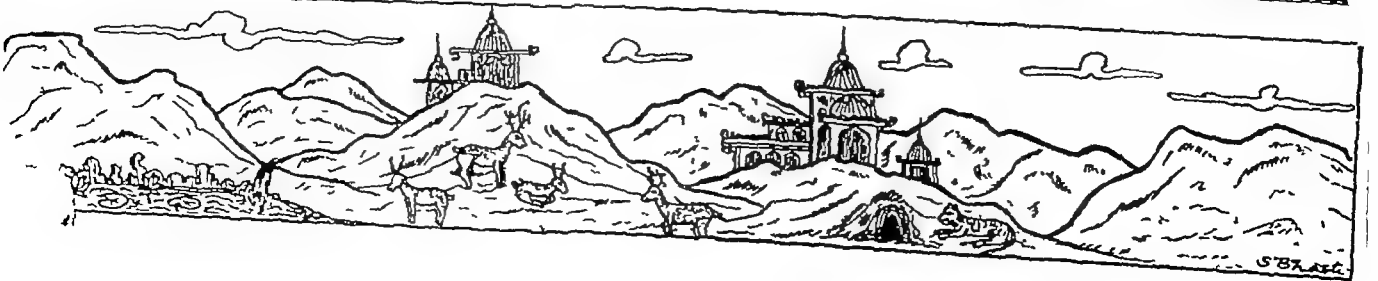
मेवाड सचमुच मे ही रत्नगर्भा है। वीरो की रणभूमि के रूप मे तो वह विश्व प्रसिद्ध है ही किन्तु सतो की साधना भूमि, कवियो की कर्म भूमि तथा भक्तो की आराधना भूमि के रूप मे भी गौरव-मडित है। पढिए प्रस्तुत मे

□ श्री हीरामुनि 'हिमकर'
(तारक गुरु शिष्य)

वीरो, सन्तो और भक्तो की भूमि—

मेवाड़ : एक परिचय

□

मेवाड बहुरत्ना प्रसविनी वसुन्धरा है। भारतमाता का उत्तमांग प्रदेश है। अरावली पवत की श्रेणियो से घिरी हुई यह सुरम्य स्थली जहां एक ओर प्राकृतिक एव ऐतिहासिक दृष्टि से सुन्दरम् की वर्षा करती है वहां दूसरी ओर सन्त और भक्तजनो की सौरभमयी मधुर कल-कल करती वाणी से इसके कण-कण मे सत्य और शिवम् की पावन भावना मुखरित हो उठी है।

सत्यं, शिव और सुन्दरम् से परिपूरित इस मेवाड की धरती ने न केवल राजस्थान, वरन् सम्पूण भारत भूमि के गौरव को चार चांद लगा दिये हैं।

जैन आगमानुसार मानव-जगत के अढ़ाई द्वीप हैं। इन द्वीपों में पांच मेरुपवत हैं। जम्बूद्वीप सर्व द्वीपों मे श्रेष्ठ माना गया है। पांच मेरुपर्वतो मे भी सबसे बडा और सुरम्य पर्वत जम्बू-द्वीप का मेरुपर्वत माना गया है। यह प्रकृति की देन है। प्रकृति स्वभावजन्य वस्तु है। उसकी सरचना कोई नहीं करता वरन् वह स्वत बनने वाला महान् तत्त्व है। सुन्दरम् का निर्माण करने और उसे विकसित करने वाला शुभ कर्म के अतिरिक्त और कोई नहीं है। जैन नियमानुसार शुभ और अशुभ दो प्रकार के कर्म है। यही दो कम प्राकृतिक सौन्दय और असौन्दर्य मे सदा क्रियाशील रहते है। उन कर्मों के कर्ता और कोई नही, हम जगत-जीव ही हैं।

पांच मेरुपर्वतों से सुशोभित यह अढ़ाई द्वीप ही हमारी कमभूमि मानी जाती है। इन सभी द्वीपो के मध्यभाग में जम्बू द्वीप है। वह यही जम्बूद्वीप है जिसके एक भू-भाग का नाम—"भरत-क्षेत्र" है। उसी को भारतवर्ष भी कहते हैं। इसी भारतवर्ष के मध्य-भाग मे मेवाड की उर्वरा भूमि है।

भौगोलिक स्थिति और प्राकृतिक सम्पदा

वर्तमान राजस्थान प्रान्त का उदयपुर, चित्तौड व भीलवाडा जिला मेवाड-क्षेत्र के अन्तगत माना जा सकता है। प्राकृतिक बनावट की दृष्टि से उदयपुर और चित्तौड जिले का अधिकाश भाग पहाडी है और भीलवाड़े का भाग मैदानी। अरावली पर्वत मेवाड का सबसे बडा पर्वत है। और कही-कही यही पहाड मेवाड की प्राकृतिक सीमा का निर्धारण करता है। अरावली पर्वत के मध्य भाग मे जरगा की श्रेणी है। अरावली पर्वत समुद्र की सतह से औसतन २३८३' ऊँचा है। जरगा की श्रेणी तक तो यह पर्वत ४३१५' तक ऊचा हो गया है।

मेवाड के अधिकाश लोग मक्का, गेहूँ, गन्ना, जौ आदि की खेती करते हैं। यहां का मुख्य भोजन मक्का है। यहां की मुख्य सम्पदा विभिन्न प्रकार के खनिज द्रव्य हैं। उदयपुर और उसके आसपास का क्षेत्र खनिज उद्योग की दृष्टि से न केवल भारत का वरन् सम्पूण विश्व के आकर्षण का केन्द्र बन रहा है। इसके आसपास जिंक,

चाँदी, जस्ता, सोप स्टोन, पन्ना, रॉक फास्फेट आदि अनेक बहुमूल्य खनिज पदार्थ की खाने हैं। अन्वेषक वैज्ञानिको का मत है कि नाथद्वारा-हल्दीघाटी से अजमेर के समीप तारागढ तक पन्ने की खान की सम्भावना है। भीलवाडा माईका खनिज द्रव्य के लिए प्रसिद्ध है। इन खनिज-द्रव्यो के कारण बहुत से लोग खानो मे कार्य कर अपना जीवन यापन करते हैं। उदयपुर, चित्तौड, भीलवाडा इन तीनो ही जिलो मे इन खनिज-द्रव्यो के कारण कई छोटे-मोटे कारखाने, फैक्ट्रियाँ शुरू हो गई हैं जिसमे बहुत से लोग कार्यरत हैं।

सिंचाई के लिए यहाँ कुँओ और नहरो के साधन हैं। इतिहासकारो की मान्यता है कि आज से ३०० वर्ष पूर्व यहाँ कुँए और नहरें नही थीं अपितु पहाडी झरनो के पानी से सिंचाई की जाती थी।

इस प्रकार मेवाड की भूमि सामान्यतया ऊबड-खाबड है। इस सम्बन्ध मे एक सत्य-कथा प्रचलित है। एक बार महाराणा फतहसिंह जी से किसी अग्रेज ने मेवाड के मानचित्र (map) की माग की थी। तब महाराणाजी ने एक चने का पापड बनवाकर और उसे अग्नि पर सेक कर दिल्ली भेज दिया और उस पापड के साथ यह सन्देश भेज दिया गया कि यही हमारे मेवाड की रूपरेखा है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

यद्यपि मेवाड के इतिहास का विषय अपने आप मे शोध का विषय है, लेकिन अब तक की जानकारी के आधार पर इतिहासकारो की ऐसी मान्यता है कि मेवाड राज्य की नीव छठी शताब्दी मे गुहिल ने डाली थी। इसी वश मे आगे जाकर बप्पारावल, जो कालभोज भी कहे जाते हैं, हुए हैं। इन्होंने सन् ७३४ ई० मे चित्तौड मे मोरी वश के तत्कालीन राजा मानसिंह को पराजित कर मेवाड को हमेशा के लिए अपने अधिकार मे कर लिया। इसके बाद का इतिहास भी बहुत अधिक स्पष्ट नही है, एक तरह से कोई भी प्रमाणित सामग्री की अभी तक शोध नही हो सकी है। सन् १३०३ मे अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौड पर आक्रमण किया उस समय चित्तौड पर रावल रतनसिंह का राज्य था। किन्तु वे पराजित हो गये और चित्तौड गुहिलवश के हाथ से निकल गया। सन् १३२६ ई० मे हमीर ने जो सिसोदिया वश का प्रमुख था चित्तौड को वापस अपने अधिकार मे लिया तथा उन्हें महाराणा कहा जाने लगा। तभी से आज तक मेवाड पर सिसोदिया-वश का शासन चला आ रहा है। इसी वश में राणा सागा, उदयसिंह, महाराणा प्रताप, महाराणा फतहसिंह, महाराणा भूपालसिंह जैसे तेजस्वी महाराणा हो चुके हैं। सन् १५५९ ई० मे महाराणा उदयसिंह ने उदयपुर की नीव डाली और तभी से मेवाड की राजधानी उदयपुर हो गई।

मेवाड की ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि के सन्दर्भ मे एक बात उल्लेखनीय है कि यहाँ के महाराणाओ के आराध्य देव श्री एकलिंग जी को मानते हैं जिनका भव्य एव कलात्मक मन्दिर उदयपुर से लगभग १३ मील की दूरी पर स्थित है। वे अपने आराध्य देव श्री एकलिंग जी को ही अपना राजा मानते हैं और वे अपने को उनका दीवान मानते हैं।

धर्म-वीर प्रसविनी मेवाड-भू

इस धर्मवीर प्रसविनी मेवाड-भू ने अनेकानेक धर्मवीरो को जन्म दिया है। जिन्होंने धर्म-रक्षा के लिए अपने प्राणो तक की आहुति दे दी। तपस्वी राज श्री मानमल जी महाराज पूज्य श्री मोतीलाल जी म०, स्व० गुरुवर श्रीताराचन्द जी महाराज जैसे एक से एक बढ़कर जैन मुनि राज ने इसी मेवाड भूमि पर जन्म लिया। वहाँ दूसरी ओर अनेक इतिहास पुरुष व नरवीरों से यह भूमि गौरवान्वित हुई है। जिनकी गौरव गाथाएँ आज मेवाड की भूमि के कण-कण से मुखरित होती है।

(१) **पद्मिनी का अग्नि प्रवेश**—जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है कि सन् १३०३ मे अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौड पर आक्रमण किया। उस समय रावल रतनसिंह चित्तौड के राजा था। उन्होंने पूरी शक्ति से औरगजेब का मुकाबला किया, अन्त मे रावल की हार हुई और उनकी विश्व प्रसिद्ध सुन्दर पत्नी ने अपने सतीत्व एव देश की मान-मर्यादा के लिए अपने को हजारो राजपूत वीरागनाओ सहित अग्नि प्रवेश करा दिया। ससार के इतिहास में यही

घटना चित्तौड के प्रथम जौहर के नाम से पुकारा जाता है। पद्मिनी का यह जौहर हमारे भारतीय नारी समाज की उच्चचारित्रिक विशेषता का जीता-जागता उदाहरण है।

महाराणा सांगा—मेवाड के इतिहास मे महाराणा सागा उर्फ महाराणा सग्रामसिह का नाम भी बहुत ही आदर और सम्मान के साथ लिया जाता है। मेवाड की रक्षार्थ इन्होंने अपने जीवन का सम्पूर्ण समय युद्धभूमि मे बिताया और १८ युद्ध लड़े। इन युद्धो मे इनकी एक आँख चली गई और एक हाथ कट गया। कहते हैं—उनके शरीर पर ८० घाव पड गये। अन्तिम युद्ध मे बाबर से लडते हुए सागा घायल होकर गिर पडे और मूर्च्छित हो गये, तब उन्हे सरदार उठाकर ले आये। जब होश आया तो वे लडने को उद्यत हो उठे, सरदारो, परिवार के लोगो ने उन्ह बहुत समझाया किन्तु वे अपनी हठ नहीं छोडते, अन्त मे उन्हे बुरी गति से बचाने के लिए ही परिवार वालो ने उन्हे जहर दे दिया। महाराणा सागा की देशभक्ति और धर्म-परायणता इतिहास की उज्ज्वल घटना के रूप मे अजर-अमर हो गई।

दूसरा जौहर—मेवाड मे चित्तौड का दूसरा जौहर भी बहुत प्रसिद्ध है। महाराणा विक्रमसिंह चित्तौड का शासक था। तब गुजरात के बादशाह बहादुरशाह ने मेवाड पर चढाई कर दी। राजमाता हाडारानी और राजमाता कमवती ने अपनी रक्षार्थ दिल्ली के सम्राट हुमायूँ से सहायता चाही जो उस समय मालवा की ओर शेरशाह से उलझा हुआ था। सहायता देना स्वीकार भी कर लिया किन्तु हुमायूँ ठीक समय चित्तौड नही पहुँच सका फलत राजपूती-सेना के सभी विजय के प्रयत्न निष्फल हो गये। तब हाडी रानी और कमवती ने कई राजपूत स्त्रियो सहित अग्नि-प्रवेश किया। मेवाड के इतिहास मे यह दूसरा जौहर कहा गया।

महाराणा प्रताप—देश-विदेश मे प्रताप के नाम से ही मेवाड को जाना-माना जाता है। धर्म रक्षा, देशभक्ति और स्वतन्त्रता की रक्षार्थ उन्होंने अपने जीवन की आहुति देदी। विक्रम सवत् १५९७ की ज्येष्ठ शुक्ला तृतीया को महाराणा प्रताप का जन्म हुआ। महाराणा उदयसिंह की मृत्यु के बाद वे ३२ वर्ष की आयु मे मेवाड के शासक बने। उस समय दिल्ली का शासक अकबर था। अकबर के सामने राजस्थान के सभी नरेशों ने सिर झुका लिया। मेवाड की स्थिति भी अच्छी नही थी। यद्यपि मेवाड ने दिल्ली की अधीनता स्वीकार नही की किन्तु मेवाड का अधिकाश भू-भाग अकबर के अधिकार मे था। महाराणा प्रताप ने राज्य गद्दी पर आसीन होते ही मेवाड को पूर्ण रूप से स्वतन्त्र कराने की प्रतिज्ञा की। और इस प्रयास मे उन्हें बहुत कष्ट उठाना पडा, राजमहल क्या उन्हें जगल-जगल भटकना पडा, घास-वृक्ष के बिछौने पर सोना पडा और फल-फूल कन्द आदि खाकर गुजारा करना पडा, किन्तु वे स्वतन्त्रता के लिए झूझते रहे। अकबर ने जयपुर के राजा मानसिंह को प्रताप के पास उन्हें समझाने को भेजा। इतिहास प्रसिद्ध उदय सागर की पाल पर प्रताप उन्हे मिले, किन्तु प्रताप ने अधीनता स्वीकार नहीं की, वरन् उन्होंने मानसिंह के साथ बैठकर भोजन करना भी अपना अपमान समझा। मानसिंह दिल्ली गया और वहाँ से शाही फौज को लेकर उसने विक्रम सवत १६३२ की ज्येष्ठ शुक्ला द्वितीया को मेवाड पर आक्रमण कर दिया। यह युद्ध हल्दीघाटी के युद्ध के नाम से प्रसिद्ध हुआ। हल्दीघाटी उदयपुर के पास नाथद्वारा के समीप स्थित है जो आज युद्ध के स्मारक के रूप मे शोभित है। यद्यपि हल्दीघाटी के युद्ध मे मेवाड की हार हुई। अनेक राजपूत सैनिक योद्धा, सरदार मारे गये। प्रताप का स्वामीभक्त घोडा चेटक भी मारा गया और मन्नाजी जैसे स्वामीभक्त सरदार ने अपने स्वामी के प्राणो की रक्षा के लिये अपने प्राणो की आहुति भी देदी। किन्तु महाराणा प्रताप ने अकबर की अधीनता स्वीकार नहीं की। युद्ध मे हार जाने के बाद महाराणा के पास न सेना रही न धन। एक बार तो वे मेवाड छोडकर भी जाने लगे किन्तु धनकुबेर जैन श्रावक भामाशाह ने उन्हें रोक कर अपनी सम्पूर्ण धन और सम्पत्ति को महाराणा की सेवा में भेंट कर दी। महाराणा प्रताप ने इस धन से पुन सेना एकत्रित की और कई लडाइयाँ लडीं और कुछ अन्य किलो को छोडकर सारे मेवाड प्रान्त को उन्होंने स्वतन्त्र कर लिया। इसी बीच वे बीमार हो गये। मरते समय मेवाड के सामन्त सरदारो ने पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करने की प्रतिज्ञा की तभी उनके प्राण निकल सके।

महाराणा प्रताप के सन्दर्भ मे यह बात उल्लेखनीय है कि महाराणा प्रताप द्वारा चलाये गये स्वतन्त्रता अभियान मे यहाँ के मूल आदिवासी भील जाति ने इनका बहुत साथ दिया। आज भी महाराणा का वश इस भील जाति का उपकार मानता है।

इस प्रसग मे यह दोहा बहुत प्रसिद्ध है—

अकबर जासी आप दिल्ली पासी दूसरा।
पुण्य रासी प्रताप सुयश न जासी सूरमा ॥

महाराणा प्रताप के बाद मेवाड के सिंहासन पर राजसिंह, सज्जनसिंह, फतहसिंह, भूपालसिंह जैसे प्रतिभा-सम्पन्न महाराणा हो चुके है।

सन्त और भक्त प्रसविनी-भू

मेवाड की भू द्रव्य रत्न, वीर रत्न के साथ सन्त और भक्त प्रसविनी भूमि भी है। यहाँ की भूमि उस सती-नार बडभागन लक्ष्मी के समान है जिसके विषय मे एक कविता मे कहा गया है—

"सति नार सूरा जणे वड भागन दातार।
भाग्यवान लक्ष्मी जणे सो सारण मे सार ॥
सो सारण मे सार एक पापन की पूठी।
चोर, जुंआरी, चुगलखोर जने नर मडसूरी ॥
रामचरण सांची कहे या मे फेर न फार।
सती नार सूरा जणे वड भागन दातार ॥

भक्त शिरोमणि मीरा—प्रात स्मरणीय महाराणा प्रताप के नाम के साथ भक्त शिरोमणि मीरा का नाम भी उतना ही गौरवशील और लोकप्रिय है मीरा मेवाड की राजरानी थी, उसका सासारिक विवाह मेवाड के युवराज भोज के साथ हुआ। मीरा कृष्ण की परम भक्त थी। मीरा के भक्ति गीतो ने मेवाड की भूमि को पावन कर दिया। उनकी सगुण दाम्पत्य भक्ति पूर्ण वियोग शृंगार के पद हिन्दी काव्य की निधि है।

मुनिराज रोडीदास जी म० साहब—मुनिराज रोडीदास जी महाराज साहब मेवाड के अग्रणी सन्त हुए हैं। उनकी तपशक्ति बहुत ही बढ़ी-चढी थी। उनके तप-बल की एक लोक-कथा बहुत प्रसिद्ध है—एक बार मुनिराज रोडीदास जी ने हाथी से आहार ग्रहण करने का अभिग्रह धारणा किया जब वे आहार ग्रहण करने के लिए बाहर निकले तो मार्ग में उन्हें एक हाथी मिल गया। हाथी ने मुनिराज की तरफ देखा, कुछ समझा और पास की एक मिठाई की दुकान से मिठाई उठाकर उसने आहार मुनिराज की झोली मे डाल दिया।

सन्त मानमल जी महाराज—भक्त और सन्तों की परम्परा मे मेवाडी सन्त मानमलजी महाराज का नाम भी बहुत आदर से लिया जाता है। उनके विषय मे एक आख्यान प्रसिद्ध है। एक बार नाथद्वारा के पास ग्राम खमनोर के एक भेरू के मन्दिर मे इन्होंने रात्रि विश्राम किया है। कहा जाता है उसी रात भेरूदेवता और इस्टापक देवी मुनिराज से बहुत प्रसन्न एव प्रभावित हुए और तभी से उनकी सेवा मे रहने लगे। यह आख्यान आज भी वहाँ की जनता मे बहुत लोकप्रसिद्ध है।

बावजी चतरसिंह जी

उदयपुर के इस सिसोदिया वश में कविराज श्री चतरसिंह जी हो गये हैं इनका मेवाडी भाषा पर अपना अधिकार था। उस युग की चलने वाली प्रत्येक अच्छाइयो-बुराइयो पर रचनाएँ किया करते थे, हिन्दू एव मुसलमानो के बीच शान्ति चाहने वाले थे भगवान पर पूर्ण विश्वास था। जैसे—

अपने कइ कणी रो लेणो, सब सम्प करी ने रहनो।
राम दियो जो लिख ललाट में, वी में राजी रहनो।
हलको-भारी खम लेनो पण कडवो कबहू न केहू नो ॥

इसी प्रकार अपने ही भाई-बन्धुओ मे शराब पीने की बुराइयाँ देखीं, तब तीखे और सीधे शब्दों में सुनाते थे।

अन्दाता ने आन्धा वोया ।
थारा कटे फूट गया कोया ।।
केक नाश से नशा करायो, के राडा मे रोया ।
खमा खमा पेला पे, वी ने लगे लगे घर खोया ।।

इसी तरह से उस युग की शिक्षा प्रणाली पर भी खुलकर लिखते थे । कारण विनय, नम्रता, सरलता, क्षमता की मर्यादा ओझल होती देख वे बोलें ।

मण ने किधी कशी भलाई ।
गाँठ री सामी समझ गमाई ।।
परमारथ रो पाठ भूल किसी याद ठगाई ।
अवली घेठो मेलमाल पे किधी कणी कमाई ।।

विलासी जीवन म दवते हुए जागीरदारो को देखकर जागृति का सदेश दिया । जैसे—

जागो जागो रे भारत रा वीरो जागो,
थारो कटे केसरियो वागो ।
थे हो वणो रा जाया यश सुरगो तक लागो ।
अबे एस आराम वासते मत कुकर ज्यो भागो ।।

मेवाड के चारण भाट कवियों ने भी इस धरती का पानी पीकर शूर वीरता की बिगुल बजाने मे कमी नही रखी । चित्तौड को धाँय-धाँय जलती हुई देखकर वीर सैनिको को आह्वान किया था—

रात्रि के निरव प्रहर मे, चित्तौड तिहारी छाती पर ।
जलती थी जौहर ज्वालाएँ मेवाड तिहारी छाती पर ।।
धूँ धू करते श्मसान मिले, पग पग पर बलिदान मिले ।
धानी अचल मे हरे-भरे, माँ-बहिनो के अरमान मिले ।।

मेवाड भूमि हमेशा के लिए वीरता का परिचय देती आ रही है । जब कभी कायर का पुत्र पैदा हो जाय, मानो या वीर भूमि पुकारती कि मेरी रक्षा करने वाले कहाँ गये ।

माँ जोवे थाँरी आज बाट, धरती रा धणिया जागो रे,
रजपूतण जायो भूल गयो, चित्तौडी जौहर ज्वालो ने ।
थे भूल गया रण राठौडी, अरिदल रा भुखा भालो ने,
जगरा मुरदा भी जाग गया, जुंझारा अब तो जागो रे ।

इस प्रकार हमारी मेवाड भूमि हमेशा के लिए आदरणीय माता जन्मभूमि प्रिय भूमि बनकर रही है । इस देश की वेष-भूषा, भाषा स्वतन्त्र चली आ रही है । यहाँ के सन्त महात्मा तथा देव दर्शन लोक प्रसिद्ध हो चुके हैं । मेवाड का पूरा परिचय दे देना कठिन है, फिर भी मैंने इस छोटे से निबन्ध में थोड़ा-सा परिचय देने का प्रयास किया है ।

●●

□ श्री रामवल्लभ सोमानी, जयपुर
[प्रसिद्ध इतिहास अन्वेषक]

वीर भूमि मेवाड मे धर्म के वीज सस्कार रूप मे जन्म-जात ही है। भले ही वहा का राजधर्म 'भागवतधर्म' रहा हो, किन्तु जैनधर्म के वीज भी उस भूमि मे अत्यत प्राचीन है। प्रस्तुत मे प्रमाणो के आधार पर मेवाड मे जैन धर्म के प्राचीनतम अस्तित्व का वर्णन है।

मेवाड़ मे जैनधर्म की प्राचीनता

□

मेवाड से जैनधम का सम्बन्ध वडा प्राचीन रहा है। वडली के वीर स० ८४ के लेख मे, जिसकी तिथि के सम्बन्ध मे अभी मतैक्य नही है, मध्यमिका नगरी का उल्लेख है। अगर यह लेख वीर सवत का ही है तो मेवाड मे भगवान महावीर के जीवनकाल मे ही जैन धम के अस्तित्व का पता चलता है। मौर्य राजा सम्प्रति द्वारा भी नागदा व कुम्भलगढ के पास जैन मन्दिर वनाने की जनश्रुति प्रचलित है। भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा मे हुए देवगुप्त सूरि का सम्बन्ध मेवाड क्षेत्र से ही था। जैन धर्म का यहाँ व्यापक प्रचार ५वी-छठी शताब्दी मे हुआ। उस समय राजस्थान में सास्कृतिक गतिविधियो मे विशेष चेतना आई। धीरे-धीरे जालोर, भीनमाल, मडोर, पाली, चित्तौड, नागौर, नागदा आदि शिक्षा और व्यापार के प्रमुख केन्द्रो के रूप मे विकसित होने लगे। सिद्धसेन दिवाकर मेवाड मे चित्तौड क्षेत्र मे दीर्घ काल तक रहे थे। इनकी तिथि के सम्बन्ध मे विवाद है। जिनविजयजी ने इन्हें ५३३ ई० के आसपास हुआ माना है। इनके द्वारा विरचित ग्रन्थो मे न्यायावतार प्रमुख है। यह सस्कृत मे पद्यवद्ध है और तर्कशास्त्र का यह प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें की गई तर्कशास्त्र सम्बन्धी कई व्याख्यायें आज भी अखडित है। इन्हें जैन तर्कशास्त्र का आदिपुरुष कहा गया है। इनके अन्य ग्रन्थो मे कल्याणमन्दिर स्तोत्र और द्वात्रिंशिकाए प्रमुख है। हरिभद्रसूरि भी चित्तौड से सम्वन्धित है। ये वहुश्रुत विद्वान थे। इनकी तिथि में भी विवाद रहा है। मुनि जिनविजयजी ने सारी सामग्री को दृष्टिगत रखते हुये इन्हें विक्रम की आठवी शताब्दी में माना जो ठीक प्रतीत होता है। इनके द्वारा विरचित ग्रन्थो मे समराइच्च कहा और धूर्त्ताख्यान कथा साहित्य के रूप मे वडे प्रसिद्ध हैं। दर्शन और योग के क्षेत्र मे भी इनकी देन अद्वितीय है। इनमे षड-दर्शन समुच्चय, शास्त्रवार्ता समुच्चय, अनेकान्त जयपताका, धर्म-सग्रहिणी, योग शतक, योगविंशिका-योग दृष्टि समुच्चय आदि मुख्य हैं। इनकी कृतियो मे अस्पष्टता नही है। ये अपने समय के वडे प्रसिद्ध विद्वान रहे हैं। उस समय चित्तौड पर मौर्य शासको का अधिकार था और पश्चिमी मेवाड में गुहिल वशी शासको का।

वौद्ध इतिहासकार तारानाथ के अनुसार शीलादित्य राज के समय मरुमेत्र मे मृगधर द्वारा मे कला की पश्चिमी शैली का विकास हुआ। शीलादित्य राजा कौन था। इस सम्बन्ध में मतभेद रहते हैं, कार्ल खाडलवाल इसे हृष शीलादित्य (६०६-६४७ ई०) से अथ मानते हैं, जबकि यू पी शाह मैत्रक राजा शीलादित्य मानते हैं किन्तु इन दोनो शासको का मेवाड और मरुप्रदेश पर अधिकार नही था। अतएव यह मेवाड का राजा शीलादित्य था। इसके समय मे वि स ७०३ के शिलालेख के अनुसार जैनक महत्तर ने जावर मे अरण्यवासिनी देवी का मन्दिर वनाया था। कल्याणपुर सामला जी, ऋषभदेवजी, नागदा आदि क्षेत्र पर उस समय निश्चित रूप से गुहिलो का अधिकार था। अतएव कला का अद्भुत विकास उस समय यहाँ हुआ।

चित्तौड और मेवाड का दक्षिणी भारत से भी निकट सम्बन्ध रहा था। कई दिगम्बर विद्वान उस समय चित्तौड मे कन्नड क्षेत्र से आते रहते थे। इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार से पता चलता है कि प्रसिद्ध दिगम्बर विद्वान ऐलाचार्य यहाँ दुग पर रहते थे। इनके पास शिक्षा प्राप्त करने के लिये वीरसेनाचार्य आये थे और यहाँ से वडौदा जाकर धवला टीका पूर्ण की थी। षट्खगम की कुल ६ टीकायें हुई थी, इनमें धवला अन्तिम है। इसमे लगभग ७२,००० श्लोक हैं। वीर सेनाचार्य ने 'कषाय प्राभृत' की 'जय धवला टीका' भी प्रारम्भ की थी। जिसे ये पूर्ण नहीं कर पाये और इनके वाद
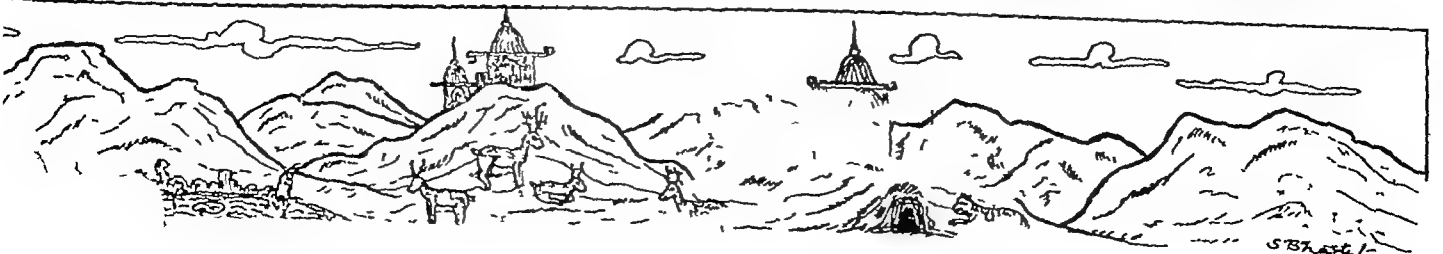
इनके शिष्य जिनसेनाचार्य ने पूर्ण की थी। दिगम्बर ग्रन्थो मे चित्तौड का कई बार उल्लेख आया है। 'पउम चरिउ' में तीन बार उल्लेख हुआ है। दक्षिण भारत मे भी कई शिलालेख मिले हैं जिनमे चित्रकूटान्वय साधुओं का उल्लेख है। ये सूरस्थगण के थे। जैन की त्रिस्तम्भ चित्तौड से सम्बन्धित एक खडित प्रशस्ति हाल ही मे मैंने 'अनेकान्त' मे प्रकाशित की है। इसमे श्रेष्ठि जीजा के पुत्र पूर्णसिंह द्वारा उक्त कीर्ति स्तम्भ की प्रतिष्ठा कराने का उल्लेख है। इस लेख मे जैन साधु विशाल कीर्ति, शुभ कीर्ति, धर्मचन्द्र आदि का उल्लेख है जिन्हे दक्षिण भारत के राजा नारसिंह का सन्मान प्राप्त था। अतएव पता चलता है कि ये साधु भी दक्षिणी भारत से सम्बन्धित थे।

कन्नड का एक अप्रकाशित शिलालेख भी हाल ही मे मुझे चित्तौड के एक जैन मन्दिर मे लगा हुआ मिला था जिसे मैंने श्रद्धेय भुजवली शास्त्रीजी से पढ़वाया था। यह लेख उनके मत से १५वी शताब्दी का है। केवल जिनेश्वर की स्तुति है। महाकवि हरिषेण ने अपने ग्रन्थ 'धम्मपरिक्खा' मे महाकवि "पुष्पदत चतुर्मुख और स्वय भू को स्मरण किया है, अतएव पता चलता है कि इन कवियो की कृतियो को यहाँ बडे आदर से पढा जाता था। इसी समय मेवाड मे महाकवि डड्ढा के पुत्र श्रीपाल हुये। इनका लिखा प्राकृत ग्रन्थ 'पच सग्रह' वडा प्रसिद्ध है।

मेवाड मे ऋषभदेवजी का मन्दिर वडा प्रसिद्ध और प्राचीन है। इसे दिगम्बर, श्वेताम्बर और वैष्णव सब ही वडी श्रद्धा मे मानते हैं। इस मन्दिर मे शिलालेख अधिक प्राचीन नही मिले हैं। मण्डप में लगे शिलालेखो मे एक वि०स० १४३१ का है। इसमे काष्ट सघ के भट्टारक धर्मकीर्ति के उपदेश से शाह वीजा के बेटे हरदान द्वारा जिनालय के जीर्णोद्धार का उल्लेख है। अलाउद्दीन खिलजी गुजरात के आक्रमण के समय इसी भाग से गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने इस मन्दिर को खडित कर दिया हो जिसे कालान्तर मे महाराणा खेता के समय मे जीर्णोद्धार कराया था। इसी मण्डप मे एक अन्य लेख वि०स० १५७२ का है जिसमे भी काष्टा सघ के भट्टारक यशकीर्ति के समय काछल गोत्र के श्रेष्ठि कडिया पोइया आदि द्वारा कुछ जीर्णोद्धार कराने का उल्लेख है। वि०स० १५७२ मे ही महादेव कुलिकाओ के मध्य स्थित ऋषभनाथ का मन्दिर काष्टा सघ के नन्दि तट गच्छ के विद्यागण के भट्टारक सुरेन्द्र कीर्ति के समय बघेरवाल श्रेष्ठि मघी आल्हा ने वनाया था। इसी आगे की देव कुलिकायें वि०स० १५७४ मे उक्त सुरेन्द्र कीर्ति के समय हुँबडजाति के भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति के उपदेश से वनाई थी। मूर्तियो मे अधिकाश पर लेख हैं जो विस० १६११ मे १८६३ तक के हैं। लेख वाली मूर्तियो मे ३८ दिगम्बर सम्प्रदाय की और १८ श्वेताम्बरो की है। महाराणा जवानसिंह के एक बहुत वडा महोत्सव हुआ जिसमे श्वेताम्बरों ने वहाँ विशाल ध्वज दण्ड लगाया था, मन्दिर मराठो की लूट से भी प्रभावित हुआ था।

नागदा मेवाड में प्राचीन नगर है। यहाँ आलोक पार्श्वनाथ का दिगम्बर जैनमन्दिर १०वी शताब्दी का है। यह मन्दिर ऊँची पहाडी पर बना है। इसके आस-पास पहले दिगम्बरो की वस्ती थी। 'मुनिसुन्दर की गुर्वावली' से पता चलता है कि इस तीर्थ को समुद्रसूरि नामक श्वेताम्बर साधु ने दिगम्बरो से लिया था। शीलविजय और मेघ ने अपने तीर्थमालाओ मे इस तीर्थ की वडी प्रशसा लिखी है। यहाँ के पार्श्वनाथ मन्दिर का प्राचीनतम उल्लेख वि०स० १२२६ के बिजोलिया के शिलालेख मे है। इस पार्श्वनाथ मन्दिर मे वि०स०१३५६ और १३५७ के शिलालेख भी लगे हुए हैं जो दिगम्बर साधुओ के हैं। मध्यकालीन मन्दिरो मे विस० १३३१ के आसपास बना देव कुलिकाओं सहित श्वेताम्बर मन्दिर जिसमे वि०स० १४८७ का महाराणा मोकल के राज्यकाल का एक अप्रकाशित शिलालेख भी लगा हुआ है। इसी मन्दिर के पास महाराणा कु भा के राज्यकाल मे बना अद्‌भुत का मन्दिर है। यह मन्दिर अद्‌भुत जी की विशाल काय ९ फीट की पद्मासन काले पत्थर की प्रतिमा के लिए बहुत ही प्रसिद्ध है। यह प्रतिमा श्रेष्ठी सारग ने बनवाई थी जो देलवाडा का रहने वाला था। यहाँ और भी कई खडित मन्दिर हैं। एकलिंग मन्दिर के वि०स० १०२८ के लकुलीश शिव मन्दिर के लेख मे वर्णित है कि उस समय एक शास्त्रार्थ शैवो-बौद्धो और जैनो के मध्य हुआ था। सौभाग्य से इस घटना का उल्लेख काष्ट-सघ की लाट बागड की गुर्वावली मे भी है जिसमे वर्णित किया गया है कि राजा नरवाहन के राज्य मे चित्तौड मे प्रभाचन्द नामक साधु ने विकट शैवों को हराया था। ये प्रभाचन्द नामक साधु कहा के थे, पता नही चला है, किन्तु एकलिंग जी के पास नागदा होने से वहाँ से भी सम्बन्धित होने की कल्पना की जा सकती है।

मध्यकालीन प्राचीन नगरों में देलवाडा (मेवाड) वडा प्रसिद्ध है। इसे जैन ग्रन्थो मे देवकुलपाटक लिखा गया है। यह बडा समृद्ध नगर था और नागदा के खडित होने पर अधिकाश लेख या तो आहड चले गये या यहाँ आ बसे। इसकी समृद्धि का वर्णन सोम सौभाग्य काव्य, गुरु गुण रत्नाकर आदि मध्यकालीन काव्यो मे है। प्रसिद्ध आचार्य सोम सुन्दर सूरि यहाँ कई बार पधारे थे। सबसे पहले वि०स० १४५० में आये थे। उस समय राणा लाषा के मन्त्री रामदेव

और राजकुमार चूंडा ने इनका स्वागत किया था। इसके बाद श्रेष्ठि नीम्बा द्वारा प्रार्थना करने पर आचार्य सोम सुन्दर सूरि यहाँ आये थे। उस समय दीक्षा महोत्सव किया एवं भुवनसुन्दर को वाचक की उपाधि दी गई। यहाँ सहणपाल नामक श्रेष्ठि बहुत ही प्रसिद्ध हुआ है। यह महाराणा मोकल और कुंभा के समय तक मंत्री था। इसकी माता मेलादेवी बड़ी प्रसिद्ध श्राविका थी जिसने कई ग्रन्थ लिखाये थे। ये खरतरगच्छ के श्रावक थे। इस परिवार का सबसे प्राचीनतम उल्लेख वि स १४३१ का करेडा जैन मन्दिर का विज्ञप्ति लेख है। इस लेख के अनुसार वहाँ बडा प्रतिष्ठा महोत्सव किया गया था। उक्त विज्ञप्ति की प्रतिलिपि वि०स० १४६६ मे मेरुनन्दन उपाध्याय द्वारा लिखी हुई मिली है। इसी मेरुनन्दन उपाध्याय की मूर्ति १४६९ मे मेलादेवी ने बनवाई थी जिसकी प्रतिष्ठा जिनवर्द्धन सूरि से कराई थी। जिन वर्द्धन सूरि की प्रतिमा वि०स० १४७६ मे उक्त परिवार ने दोलवाद्य मे स्थापित कराई थी जिसकी प्रतिष्ठा जिनचन्द्र सूरि से कराई थी। वि०स० १४८६ मे सदेह देलवाडा नामक ग्रन्थ भी इस परिवार ने लिखवाया था। वि०स० १४९१ मे आवश्यक वृद्ध वृत्ति ग्रन्थ लिखवाया था। वि०स० १४९१ के देलवाडा के यति जी के लेख के अनुसार धर्मचिन्तमणि पूजा के निमित्त १४ टके दाम देने का उल्लेख है। सहणपाल की बहिन खीमाई का विवाह श्रेष्ठि बीसल के साथ हुआ था। यह ईदर का रहने वाला था। सोम सौभाग्य काव्य और गुरु गुण रत्नाकर काव्यो मे इसके सुसराल पक्ष का विस्तार से उल्लेख मिलता है। बीसल का पिता वत्सराज था जो ईदर के राजा रणमल का मन्त्री था। इसके ४ पुत्र थे (१) गोविन्द, (२) बीसल, (३) अक्रूरसिंह और (४) हीरा। गोविन्द ने सोमसुन्दर सूरि आचार्य के निदेशन में सघ निकाला था। बीसल स्थायी रूप से महाराजा लाखा के कहने पर मेवाड में ही रहने लग गया था। यहाँ का पिछोलिया परिवार बडा प्रसिद्ध था। इनके वि०स० १४९३ और १५०३ के शिलालेख मिले हैं। प० लक्ष्मणसिंह भी यही हुए थे। यहाँ कई ग्रन्थ लिखे गये थे। प्रसिद्ध "सुपासनाह चरिय" वि०स० १४८० मे महाराणा मोकल के राज्य मे यही पूर्ण हुआ था जिसमे पश्चिमी चित्र शैली के कई उत्कृष्ट चित्र है।

करहेडा मेवाड के प्राचीन जैन तीर्थो मे से हैं। यहाँ की एक मूर्ति पर वि०स० १०३९ का का शिलालेख है जिसमे सडेर गच्छ के यशोभद्र सूरि के शिष्य श्यामाचार्य का उल्लेख है। यशोभद्र का उल्लेख वि०स० ९६९ के एक सदर्भ मे पाली नगर मे हुआ है। करेडा के कई मूर्तियो के लेख मिले हैं जो १३वी से १४वी शताब्दी के है। इस विशालकाय मन्दिर की बडी मान्यता मध्यकालीन साहित्य मे रही है। श्रेष्ठि रामदेव नवलखाने वि०स० १४३१ मे खरतरगच्छ के आचार्य जिनोदय सूरि से कराया था। इस समय दीक्षा महोत्सव भी कराया गया। इसमे कई अन्य परिवार की लडकिया और लडको को दीक्षा दी गई। मन्दिर का जीर्णोद्धार रामदेव मन्त्री द्वारा कराया गया। और प्रतिष्ठा महोत्सव भी उसी समय कराया गया। इसी समय लिखा विज्ञप्ति लेख मे इसका विस्तार से उल्लेख है। इसी मन्दिर मे वि० स० १५०६ मे महाराणा कुंभा के शासनकाल मे भी कई मूर्तिया स्थापित कराई गई।

उदयपुर नगर मे सभवत कुछ मन्दिर इस नगर की स्थापना के पूर्व के रहे होंगे। आहड एक सुसम्पन्न नगर था। यहा के जैन मन्दिरो मे लगे लेखो से पता चलता है कि ये मन्दिर सभवत प्रारम्भ मे १०वी शताब्दी के आसपास बने होंगे। महाराणा सागा और रत्नसिंह के समय यहा के जैन मन्दिरो का जीर्णोद्धार हुआ। आहड के दिगम्बर जैन मन्दिर के शिलालेख और भीलवाडे के एक मन्दिर मे रखी के लेख के अनुसार उस समय बडा प्रतिष्ठा महोत्सव हुआ। महाराणा जगतसिंह के समय उदयपुर नगर मे कई जैन मन्दिर बने। महाराणा राजसिंह के समय बडे बाजार का दिगम्बर जैन मन्दिर बना। चौगान का सुप्रसिद्ध मन्दिर महाराणा अरिसिंह के समय बना था। मेवाड मे जैन श्वेताम्बर श्रेष्ठि दीर्घकाल से शासन तन्त्र मे सक्रिय भाग लेते आ रहे थे। अतएव उनके प्रभाव से कई मन्दिर बनाये जाते रहे है।

सबसे उल्लेखनीय घटना मन्दिर की पूजा के विरोध के रूप मे प्रकट बाईस सम्प्रदाय है। मेवाड मे इसका उल्लेखनीय प्रचार भामाशाह के परिवार द्वारा कराया गया था। इसका इतना अधिक प्रभाव हुआ है कि केन्द्रीय मेवाड मे आज मन्दिर मानने वाले अल्प मात्रा मे रह गये। इसी सम्प्रदाय से पृथक होकर आचार्य भिक्षु ने तेरापथ की स्थापना मेवाड मे राजनगर नामक स्थान से की थी। वर्तमान मे इन दोनो सम्प्रदायो का यहा बडा प्रभाव है।
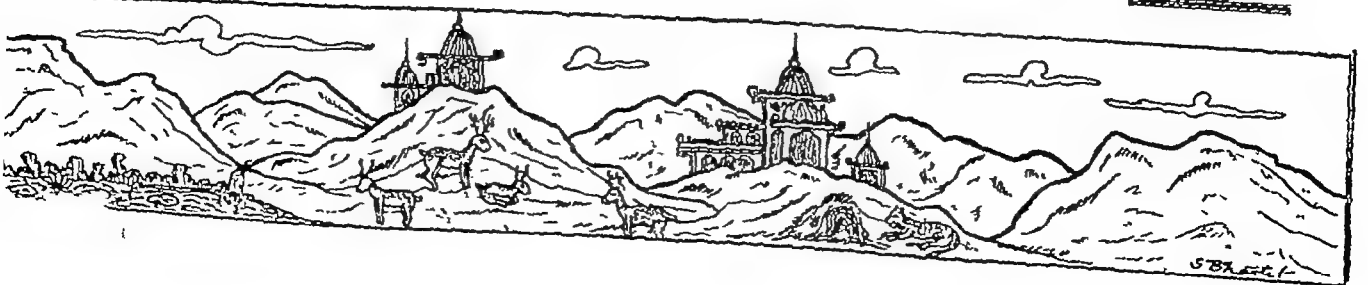
मेवाड की साम्स्कृतिक सपदा के उन्नयन मे जैन-धर्म का अपूर्व योगदान रहा है। शिल्प, स्थापत्य, साहित्य राजनीति एव व्यापार-उद्योग आदि क्षेत्रो मे जैनधर्म की भूमिका का ऐतिहासिक विहगावलोकन यहाँ प्रस्तुत है।

☐ श्री बलवन्तसिंह मेहता
[रैन बसेरा, उदयपुर]

मेवाड़ और जैनधर्म

☐

मेवाड मे जैन धर्म उतना ही प्राचीन है जितना कि उसका इतिहास। मेवाड और जैन धर्म का मणिकाञ्चन का सयोग है। मेवाड आरम्भ ही से जैन धर्म का एक प्रमुख केन्द्र रहा है। मेवाड भारत वर्ष के प्राचीनतम स्थानो मे से है और आरम्भ से ही शौर्य प्रधान रहा है। भारतवर्ष मे सिन्धुघाटी सभ्यता काल के और पूर्व ऐतिहासिक काल के यदि कही नगर मिलेंगे तो मेवाड मे ही पाये जायेंगे और उनके नामकरण भी जैन धर्म की मूल भाषा अर्धमागधी मे और वे भी सुन्दर रूप मे। आयड की सभ्यता महेन्जादोरा के समान प्राचीन और चित्तौड के पास मज्झिमिका महाभारत कालीन नगर पाये गये हैं जो जैन धर्म के बडे केन्द्र रहे हैं। शारदापीठ बसन्तगढ़ जैनियो का प्राचीन सास्कृतिक शास्त्रीय नगर रहा है। ससार के प्रथम सहकार एव उद्योग केन्द्र जावर का निर्माण और उसके सचालन का श्रेय प्रथम जैनियों को ही मेवाड मे मिला है। दशाणपुर जहाँ भगवान महावीर के पदार्पण, आर्य रक्षित की जन्म भूमि और आचार्य महागिरी के तपस्या करने के शास्त्रीय प्रमाण है और नाणादियाणा और नादियो मे भगवान महावीर की जीवन्त प्रतिमाएँ मानी गई हैं वे सब इसी मेवाड की भूमि के अग रहे हैं। आज भी ऋषभदेव केसरियाजी जैसा तीर्थ भारतवर्ष में अन्यत्र कही नहीं मिलेगा। और राणकपुर जैसा गोठवण शिल्पयोजना का भव्य विशाल व कलापूर्ण मन्दिर अन्यत्र कही नहीं मिलेगा। चित्तौडगढ़ जो भारतवर्ष का एकमात्र क्षात्रधर्म का तीर्थ माना जाता है मौर्य जैन राजा चित्राग का बसाया हुआ है और बौद्धो और जैनियो का समान रूप से वन्दनीय तीर्थ स्थान ही नही रहा किन्तु प्राय सब ही जैनाचार्यों की कर्म-भूमि, धर्मभूमि और उनकी विकासभूमि भी रही है। भारत के महानतत्त्व विचारक, समन्वय के आदि पुरस्कर्ता, अद्वितीय साहित्यकार एव महान शास्त्रकार हरिभद्र सूरि और अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति की एकमात्र विदुषी एव तपस्विनी साध्वी याकिनी महत्तरा की यह जन्म भूमि है। जैन जगत के मार्तण्ड सिद्धसेन चित्तौड की साधना के बाद ही दिवाकर के रूप मे प्रगट हुए। जैन धर्म मे फैले हुए अनाचार को मिटा उसे शुद्ध रूप मे प्रकट करने के लिए जिन वल्लभ सूरि ने गुजरात से आकर यही से आन्दोलन आरम्भ किया जो सफल हो, देश मे सर्वत्र फैल गया है। हरिभद्रसूरि और जिनदत्त सूरि ने लाखो व्यक्तियो को प्रति बोधित कर उन्हे अहिंसक बनाया, उसका आरम्भ भी यहीं से हुआ। अशोक के समान बौद्ध धर्म का प्रचार करने वाला यदि जैन धर्म में कोई हुआ तो वह था उसका पौत्र सम्प्रति। मेवाड, मालवा और सम्पूर्ण पश्चिमी भारत उसके हिस्से मे होने से पूर्ण रूप से जीव हिंसा का निषेध था और चित्तौड में ७वीं शताब्दी तक उसी के वशज मौर्यों का ही राज्य रहा है। किन्तु मेवाड के शैव राजाओं पर भी जैन धर्म का प्रभाव बढते-बढते इतना बढ गया था कि चित्तौड के रावल तेजसिंह ने तो परम भट्टारक की जैन पदवी धारण की और उसके पुत्र समरसिंह ने, अचल गच्छ के अमितसिंह सूरि के उपदेश से सम्पूर्ण मेवाड राज्य मे जीव हिंसा निषेध की आज्ञा इसी चित्तौड भूमि से निकाली गई। आयड में घोर तपस्या करने वाले जगतचन्द्र सूरि को तपा का विरुद दे, तपागच्छ की स्थापना करने वाले, महाप्रतापी चित्तौड के ही राजा जैत्रसिंह थे।

सिसोदिया साडेयरा, चौदसिया, चौहान।
चैत्यवासिया चावडा, कुलगुरु एह प्रमाण ॥

सेहरगच्छ को अपना कुल गुरु ही नही माना किन्तु इसके बहुत काल पहले इस राजवश के कई राजपुत्र जैन धर्म मे प्रव्रजित हो धर्म प्रचार मे निकल पड़े जिनमे छठी शताब्दी के समुद्रविजय बहुत ही प्रभावकारी साधु हुए। छठी शताब्दी से १३ शताब्दी तक का काल जैन धर्म का स्वर्णकाल माना जा सकता है। कुभा के समय जैन स्थापत्य कला चरम विकास पर पहुँच चुकी थी। राणकपुर का त्रिलोक्य दीपक के समान कला और गोठत्रण का मन्दिर भारत मे अन्यत्र कही नही मिलेगा। चित्तौड तथा नागदा और एकलिगजी आदि स्थानो मे जितने भी भव्य और विशाल हिन्दू मदिर दिखाई पडेंगे इनमें जैन मूर्ति अकित मिलेगी। कुंभा के समय कुछ ऐसे मन्दिरो और स्थानो के निर्माण हुए हैं जिनके निर्माण कराने मे बडे-बडे राज्य भी कर्नल टाड के अनुसार हिचकते थे। दशवी शताब्दी का जैन कीर्ति स्तम्भ तो भारत-वर्ष मे अपने ढग की एक ही कला कृति है। मेवाड मे आज भी जितने जैन मन्दिर हैं उस परिमाण मे सब धर्मो के मिलाकर भी नही मिलेंगे। कला और भव्यता मे तो इनके सानी के बहुत ही कम मिलेंगे। कुंभा ने तो अपने जैन कुलगुरु के अतिरिक्त एक और जैन साधु को अपना गुरु बनाया। भारत के अन्तिम सम्राट सागा का धमगुरु रत्नसूरि की अगवानी के लिए अपने पूरे लवाजमे के साथ कई कोसो दूर जाना इतिहास प्रसिद्ध घटना है। क्षात्र धम की प्रतिमूर्ति महाराणा फतहसिह का ऋषभदेव को हीरो की, लाखो रुपयो की आगी चढाना ऐतिहासिक तथ्य है। बिजौलिया का चट्टान का उन्नत शिखर प्रमाण भी भारत में एक ही है। मेवाड मानव सभ्यता के आदिकाल से ही शौर्य प्रधान रहा है जिसे जैनधम ने अहिसा की गरिमा से अनुप्राणित कर अपनी मूल मान्यता कम्मेसूरा सो धम्मेसूरा के अनुकूल बना लिया। यही कारण है कि मेवाड मे जैन धर्म के उत्कर्ष का जो वसत खिला, वैसा अन्यत्र मुश्किल से मिलेगा। यहा जैन के सब ही सप्रदायो ने पुर जोर से अहिसा व धर्म-प्रचार मे हाथ बँटाया। तपागच्छ और तेरापथ सम्प्रदाय का तो उद्गम स्थान ही मेवाड रहा। स्थानकवासी समाज का आरम्भ से ही प्रभाव पाया जाता है। श्वेताम्बर समाज मे आज भी सबसे अधिक सख्या उन्हीं की है। उनकी मेवाड शाखा अलग ही एक शाखा रूप मे कार्य कर रही है।

पूज्य श्री रोड जी स्वामी (तपस्वीराज) पूज्य श्री मान जी स्वामी, पूज्य श्री मोतीलाल जी महाराज इसी शाखा के ज्योतिर्मय सत रत्न थे। मेवाड में स्थानकवासी सम्प्रदाय को पल्लवित पुष्पित करने का सर्वाधिक श्रेय इस शाखा को ही है।

जैन मुनि आचाय श्री जवाहरलाल जी व उनके शिष्य प० रत्न श्री घासीलाल जी द्वारा यहाँ काफी साहित्य का निर्माण हुआ और अहिसा धर्म का पालन रहा। जैन दिवाकर मुनि श्री चौथमल जी महाराज ने हजारो व्यक्तियो को मास मदिरा का त्याग करा उनके जीवन को उन्नत किया। भामाशाह और ताराचद लोंकामत के अनुयायी होने से उन्होंने हजारो व्यक्तियो को अहिसा मे प्रवृत्त किया। दिगम्बर सम्प्रदाय का आठवी शताब्दी से १३वी तक बडा प्राबल्य रहा। एलाचाय आदि बडे-बडे मुनियो के यहाँ चित्तौड आ अहिसा व साहित्य साधना के उल्लेख पाये जाते हैं। इसके बाद इनका प्रभाव क्षेत्र बागड बन गया। और वागड को पूरा अहिसक क्षेत्र बना डाला।

जब शैव और जैन, बौद्ध धर्म के बीच इतना विषम वैमनस्य व्याप्त हो गया कि दक्षिण मे शैव बौद्धो के साथ जैनियो की भी हत्या कर रहे थे वहाँ मेवाड मे शैव और जैन धर्म मे इतना आश्चर्यजनक सौमनस्य था कि राजा शैव थे तो उनके हाथ जैनी थे अर्थात् शासन प्रबन्ध के सभी पदों का सचालन जैनियो द्वारा होता था। यही नहीं राजा की आत्मा शैव थी तो देह जैन थी।

मेवाड मे जैन धर्म का इतना वर्चस्व बढा कि राजद्रोही, चोर, डाकू और बदीगृह से भागे कैदी भी यदि जैन उपाश्रय में शरण ले लेते तो उन्हे बदी नही कर सकने की राजाज्ञा थी। वध के लिये ले जाया जा रहा पशु यदि जैन उपाश्रय के सामने आ जाता तो उसे अभयदान दे दिया जाता था।

मेवाड की भूमि ऐसी सौभाग्यशालिनी भूमि रही है जहाँ जैन धम के तीन-तीन तीर्थकरो, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और भगवान महावीर के पद पद्मो से इस भूमि के पावन होने की सम्भावना शोध से फलवती हो सकती है। आवश्यक चूर्णिका के अनुसार महावीर के पट्टधर गौतम स्वामी का अपनी शिष्य मडली सहित मेवाड मे आने का उल्लेख है। जैन धर्म की दूसरी सगति के अध्यक्ष स्कण्डिलाचार्य के पट्टधर सिद्धसेन दिवाकर ने तो अवन्तिका का त्याग कर मेवाड को ही अहिसा धर्म प्रसार की कर्मभूमि बनाया। दूसरी शताब्दी पूव के 'भूतानाम् दयार्थं' के जैन शिलालेख से इस मेवाड भूमि

का अहिंसा की आदि भूमि होना प्रमाणित है। दूसरी सगति मे मेवाड का प्रतिनिधित्व करने वाले जैनाचार्यों को 'मज्झनिया शाखा' से सबोधित कर विशेष सम्मान प्रदान करना और महावीर के निर्वाण के केवल ८४ वर्ष बाद का शिलालेख मज्झनिका मे पाया जाना भी मेवाड के आदि जैन केन्द्र होने के प्रमाण हैं।

तीर्थंकरो के पद पद्म के पावन परस से उपकृत होकर मेवाड की भूमि ने अपनी कोख से ऐसी ऐसी जैन विभूतियो को जन्म दिया जिनके कृतित्व-व्यक्तित्व ने समूचे भारत के जनजीवन को प्रेरित-प्रभावित किया और जैन धर्म की मूल प्राण शक्ति अहिंसा के प्रचार-प्रसार के साथ अपनी चमत्कारिणी धमपरायणता, दशन, साहित्य, कला, काव्य, व्यापार, वाणिज्य, वीरता, शौर्य, साहस व कर्मठता की ऐसी अद्भुत देन दी जिससे उनकी कीर्ति प्रादेशिक सीमाओ के पार पहुँच कर भारतीय इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों की गौरव गाथाएँ बन गयी।

जैन जगत के मार्तण्ड सिद्धसेन ने विक्रमादित्य की राज सभा का नवरत्न पद त्याग कर मेवाड मे जीवन पयन्त के कृतित्व-व्यक्तित्व से जैन जगत द्वारा दिवाकर की पदवी प्राप्त की। आयड मे भारत भर के जैन व्यापारियो ने इसे व्यापार का केन्द्र बना कर कई मन्दिरों के निर्माण से जैन धर्म को लोक धर्म बनाया। प्रद्युम्नसूरि ने आयड के राजा अल्लट से श्वेताम्बर सम्प्रदाय को राज्याश्रय प्रदान करवाया। अल्लट ने सारे राज्य मे विशिष्ट दिनो में जीव हिंसा तथा रात्रि भोजन निषेध कर दिया। उसकी रानी हूण राजकुमारी हरियादेवी ने आयड मे पार्श्वनाथ का विशाल मन्दिर बनवाया। अल्लट के बाद राजा वीरसिंह के समय आयड मे जैन धर्म के बड़े बडे समारोह हुए और ५०० प्रमुख जैनाचार्यों की एक महत्त्वपूर्ण सगति आयोजित हुई। वैरिसिंह के काल मे असख्य लोगों को जैन धम मे दीक्षित कर अहिंसा जीवन की शिक्षा दी तथा सहस्रो विदेशियो को जैन धम में दीक्षित कर उनका भारतीयकरण किया गया। आयड में महारावल जैत्रसिंह के अमात्य जगतसिंह ने ऐसी घोर तपस्या की कि जैत्रसिंह ने उन्हें तपाकी उपाधी दी और यहीं से 'तपागच्छ' निकला है। जिसके आज भी श्वेताम्बर मूर्ति पूजकों के सर्वाधिक अनुयायी हैं।

वसतपुर में आराधना के लिए आये हेमचन्द्राचार्य और विद्यानन्द ने यहाँ सिद्धि प्राप्त की और अपने व्याकरण ग्रन्थ लिखे।

मज्झमिका, आयड, वसतपुर के साथ ही जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र चितौड था। यहाँ श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय के भारत प्रसिद्ध आचार्य आये और इसी भूमि को जैनधर्म के प्रचार-प्रसार का केन्द्र बनाकर कीर्ति अर्जित की।

जैन साहित्य

सर्व दर्शन समुच्चय, शास्त्र वार्ता समुच्चय, समराईच्चकहा, धर्मबिन्दु, योग बिन्दु, अनेकातवाद-प्रवेश, अनेकातजयपताका, प्राकृत मे प्रकरण ग्रन्थ एव सस्कृत के अन्य ग्रन्थ व लेख—हरिभद्रसूरि की महान साहित्यिक देन तथा जैन धर्म के प्रमुख ग्रन्थ हैं। षडशीति सार्द्धशतक, स्वप्न सप्तति, प्रश्नोत्तरैकपष्टिशतक, अष्ट सप्तति आदि जिनदत्त सूरि के प्रमुख ग्रन्थ हैं। प्रत्येक बुद्ध चरित्र, वाग्भटालकार वृत्ति तथा तीथमाला जिनवर्द्धन सूरि के प्रमुख ग्रन्थ हैं।

धर्म प्रचारक साहित्यानुरागी श्रावक

लल्लिग, जिसने हरिभद्रसूरि के कई ग्रन्थों का आलेखन कराया। आशाधर श्रावक बहुत बडे विद्वान थे। लोल्लाक श्रावक ने बिजोलिया मे उन्नत शिखर पुराण खुदवाया। धरणाशाह ने जिवाभिगम सूत्रावली, ओघनिर्युक्ति सटीक, सूर्य प्रज्ञप्ति, सटीक अग विद्या, कल्प भाष्य, सर्व सिद्धान्त विषम पद पर्याय व छदोनुशासन की टीका करवायी। चित्तौड निवासी श्रावक आशा ने 'कर्म स्तव विपाक' लिखा। डूँगरसिंह (श्रीकरण) ने आयड मे "ओघनिर्युक्ति" पुस्तिका लिखी। उद्धरसुनू हेमचन्द्र ने "दशवैकालिक पाक्षिक[सूत्र" व ओघनिर्युक्ति लिखी। वयजल ने आयड में पाक्षिक वृत्ति लिखी।

जैन वीर

अलवर निवासी भारमल जैन [कावड़िया को राणा सागा ने रणथम्भोर का किलेदार व अपने पुत्र
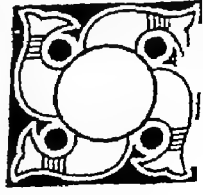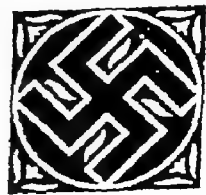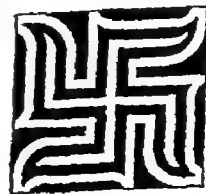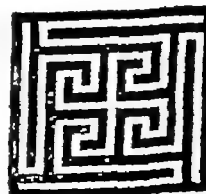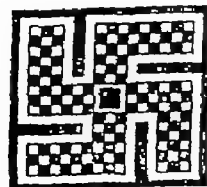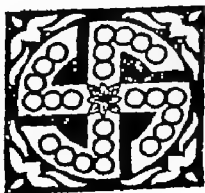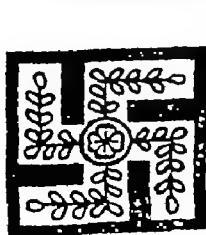
विक्रमादित्य तथा उदयसिंह का अभिभावक नियुक्त किया। इन्होंने बाबर की कूटनीति से मेवाड राज्य के प्रवेश द्वार रणथम्भौर की रक्षा की तथा चित्तौड के तीसरे साके मे वीरगति प्राप्त की। इनके पुत्र भामाशाह राणा प्रताप के सखा, सामत, सेनापति व प्रधानमन्त्री थे। इन्होंने मेवाड के स्वतन्त्रता सग्राम मे तन, मन, धन सवस्व समपण कर दिया। ये हल्दी घाटी व दिवेर के युद्धो मे मेवाड के सेनापति रहे तथा मालवा व गुजरात की लूट से इन्होंने प्रताप के युद्धो का आर्थिक सचालन किया। भामाशाह के भाई ताराचन्द हल्दीघाटी के युद्ध की बांयी हरावल के मेवाड सेनापति थे। इन्होंने जैन ग्राम के रूप मे वर्तमान भीडर की स्थापना की तथा हेमरत्नसूरि से पद्मणि चरित्र की कथा को पद्य मे लिखवाया और सगीत का उन्नयन किया। दयालदास अन्य जैन वीर हुए जिन्होंने अपनी ही शक्ति से मेवाड की स्वतन्त्रता के शत्रुओ का इतिहास मे अनुपम प्रतिशोध लिया। मेहता जलसिंह ने अलाउद्दीन के समय चित्तौड हस्तगत करने मे महाराणा हम्मीर की सहायता की। मेहता चिहल ने बलवीर से चित्तौड का किला लेने में महाराणा उदयसिंह की सहायता की। कोठारी भीमसिंह ने महाराणा सग्रामसिंह द्वितीय द्वारा मुगल सेनापति रणबाज खाँ के विरुद्ध लडे गये युद्ध मे वीरता के उद्भुत जोहर दिखाकर वीरगति प्राप्त की। महता लक्ष्मीचन्द ने अपने पिता मेवाडी दीवाननाथजी मेहता के साथ कई युद्धो मे भाग लेकर वीरता दिखायी और खाचरोल के घाटे के युद्ध मे वीरगति प्राप्त की। माडलगढ के किलेदार महता अगरचन्द ने मेवाड राज्य के सलाहकार व प्रधानमन्त्री के रूप मे सेवा की तथा मराठो के विरुद्ध हुए युद्ध मे सेनापति के रूप मे वीरता के जौहर दिखाये और महाराणा अरिसिंह के विषम आर्थिक काल मे मेवाड की सुव्यवस्था की। इनके पुत्र मेहता देवीचन्द ने मेवाड को मराठों के आतक से मुक्त कर माडलगढ मे उन्हे अपनी वीरता से करारा जवाब दिया। बाद मे ये भी अपने पिता की भाँति मेवाड के दीवान बनाये गये और उन्होंने भी आर्थिक सकट की स्थिति मे राज्य की सुव्यवस्था की। तोलाशाह महाराणा सागा के परम मित्र थे। इन्होंने मेवाड के प्रधानमन्त्री पद के सागा के प्रस्ताव को विनम्रता से अस्वीकार किया किन्तु अपने न्याय, विनय, दान, ज्ञान से बहुत कीर्ति अर्जित की। इन्हे अपने काल का कल्पवृक्ष कहा गया है। इनके पुत्र कर्माशाह सागा के प्रधानमन्त्री थे। इन्होंने शहजादे की अवस्था मे बहादुरशाह को उपकृत कर शत्रुञ्जय के जीर्णोद्धार की आज्ञा प्राप्त की और करोडो रुपया व्यय कर शत्रुञ्जय मन्दिरो का जीर्णोद्धार कराया। इनके अतिरिक्त और कई जैन प्रधानमन्त्री हुए जिन्होंने मेवाड राज्य की अविस्मरणीय सेवाएँ की। महाराणा लाखा के समय नवलाखा गोत्र के रामदेव जैनी प्रधानमन्त्री थे। महाराणा कुम्भा के समय वेला भण्डारी तथा गुणराज प्रमुख धर्मधुरीण व्यापारी व जैन वीर थे। इसी समय रत्नसिंह ने राणपुर का प्रसिद्ध मन्दिर बनवाया। महाराणा विक्रमादित्य के समय कुम्भलगढ के किलेदार आशाशाह ने बाल्य अवस्था में राणा उदयसिंह को सरक्षण दिया। मेहता जयमल बच्छावत व मेहता रतनचन्द सेतावत ने हल्दीघाटी के युद्ध मे वीरता दिखाकर वीरगति प्राप्त की। महाराणा अमरसिंह का मन्त्री भामाशाह का पुत्र जीवाशाह था और महाराणा कर्णसिंह का मन्त्री जीवाशाह का पुत्र अक्षयराज था। महाराणा राजसिंह का मन्त्री दयालशाह था। महाराणा भीमसिंह के मन्त्री सोमदास गाँधी व मेहता मालद मालदास थे। सोमदास के बाद उनके भाई सतीदास व शिवदास मेवाड राज्य के प्रधानमन्त्री रहे। महाराणा भीमसिंह के बाद रियासत के अन्तिम राजा महाराणा भूपालसिंह तक सभी प्रधानमन्त्री जैनी रहे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मेवाड राज्य के आरम्भ से अन्त तक सभी प्रधानमन्त्री जैनी थे। इन मन्त्रियो ने न केवल मेवाड राज्य की सीमा की कार्यवाहियो के सचालन तक अपने को सीमित कर राज्य की सुव्यवस्था की बल्कि अपने कृतित्व-व्यक्तित्व से जन-जीवन की गतिविधियो को भी अत्यधिक प्रभावित किया और इस राज्य में जैन मन्दिरो के निर्माण व अहिंसा के प्रचार प्रसार के भरसक प्रयत्न किये। हम पाते हैं कि जिन थोड़े कालो में दो-चार अन्य प्रधानमन्त्री रहे उन कालो मे मेवाड राज्य मे व्यवस्था के नाम पर बडी विषम स्थितियाँ उत्पन्न हुई। इसलिये मेवाड के इतिहास मे स्वर्णकाल मे महत्त्वपूण भूमिका निभाने वाले जैन अमात्यो के वशधरो को महाराणाओ ने इस पद के लिये पुन आमन्त्रित किया और बाद मे यह परम्परा ही बन गई कि प्रधानमन्त्री जैनी ही हो।

यहाँ जैन लोगो ने इतिहास के निर्माण में भी बडी सही भूमिका निभायी। राजपूताने के मुणहोत नैणसि के साथ कनलटाड के गुरु यति ज्ञानचन्द, नैणसि के इतिहास के अनुवादक डूँगरसिंह व मेहता पृथ्वीसिंह का नाम इतिहासज्ञो मे उल्लेखनीय है, तो अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त पुरातत्त्ववेत्ता मुनि जिनविजयी ने ऐतिहासिक सत्यो-तथ्यो के सग्रह से
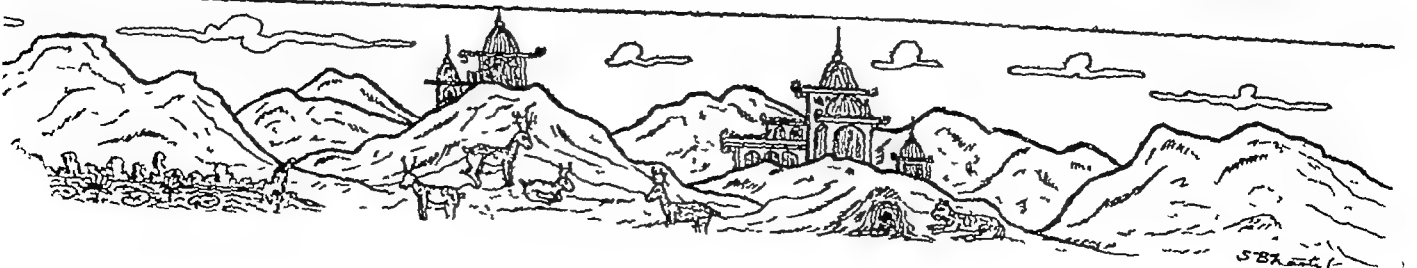
इतिहास के मूल्यो का सुरक्षात्मक मद्यारण कर शोधार्थियो के लिये वरदान स्वरूप महान कार्य किया। आपको गांधीजी ने साग्रह गुजरात विद्यापीठ का प्रथम कुलपति बनाया। आप जमन अकादमी के अकेले भारतीय फेलो हैं। आपकी सेवाओ के उपलक्ष्य मे आपको राष्ट्रपतिजी ने पद्मश्री प्रदान कर समादृत किया। विज्ञान के क्षेत्र मे श्री दौलतसिंह कोठारी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त वैज्ञानिक है। आपने स्वेच्छा से भारत के शिक्षामन्त्री का पद नही स्वीकार किया। आप भारत की सैनिक अकादमी के प्रथम अध्यक्ष बनाये गये और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष पद से आपने अवकाश प्राप्त किया। आपको राष्ट्रपतिजी ने पद्मविभूषण प्रदान कर समादृत किया। डा० मोहनसिंह मेहता को भी विदेशो मे भारतीय प्रशासनिक सेवा व शिक्षा मे सेवाओ के उपलक्ष्य में पद्मविभूषण से समादृत किया गया है। श्री देवीलाल सामर ने भारतीय लोक कलाओ के उन्नयन म महान काय किया है। आपने अन्तर्राष्ट्रीय कठपुतली प्रतियोगिता मे भारत का प्रतिनिधित्व कर विश्व का प्रथम पुरस्कार प्राप्त किया। आप भारतीय लोककला मडल के सचालक एव राजस्थान सगीत नाटक अकादमी के अध्यक्ष हैं।

इस प्रकार हम पाते हैं कि मेवाड के इतिहास व जैन धम तथा मेवाड के जीवन क्षेत्रो व जैनियो की कृषि, वाणिज्य, वीरता व प्रशासन कुशलता की चतुर्मुखी गतिविधियो मे इतना सगुम्फन है कि इन्हे हम पृथक कर ही नही पाते। जैनियों मे मेवाड के धर्म, अर्थ, कर्म, ज्ञान, भक्ति, शक्ति सभी को चरम सीमा तक प्रभावित किया है और अपने अहिंसाजीवी जैन धर्म के प्रचार-प्रसार मे ये लोग पूर्ण पराकाष्ठा पर पहुचे है।

मेवाड ही देश भर मे एक ऐसा राज्य कहा जा सकता है जो पूण अहिंसा राज्य रहा है। यहाँ के राजाओ—महाराणा कुम्भा, महाराणा सागा, महाराणा प्रताप, महाराणा जगतसिंह, महाराणा राजसिंह ने अपने शासनकाल मे अहिंसा के प्रचार-प्रसार व हिंसा की रोकथाम की जैन धर्मानुकूल राजाज्ञायें प्रसारित की हैं। यही नही राजस्थान शासन तक ने विशिष्ट दिनो मे जीव हत्या व हिंसा का निषेध तथा अहिंसा के सम्मान के राजाज्ञायें स्वराज्य के लागू होते ही सन् १६५० में ही प्रसारित की हैं।

अत हम कह सकते हैं कि मेवाड राज्य पूण अहिंसा राज्य था। इसके मूल स्वर शौर्य को जैन धर्म ने अहिंसा की व्यावहारिक अभिव्यक्ति दी। मेवाड न केवल जैन धर्म के कई मतो, पथों, मार्गों व गच्छो का जनक है बल्कि मेवाड मे जैन धर्म के चारो ही सम्प्रदाय इसके समान रूप से सुदृढ़ स्तम्भ हैं।

●●

तुम स्वाद को नही, पथ्य को देखो।
तुम वाद को नही, सत्य को देखो
तुम नाद को नही, कथ्य को देखो,
तुम तादाद को नही, तथ्य को देखो।

—'अम्बागुरु—सुवचन'
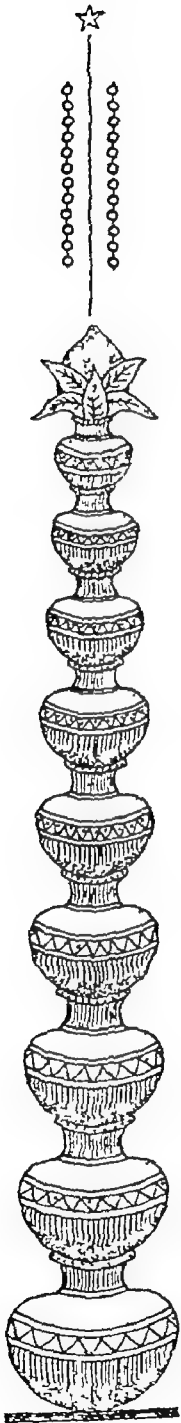
□ डा० देव कोठारी
[उपनिदेशक—साहित्यसस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर]

मेवाड की राजनीति मे जैनो का योगदान अविस्मरणीय है। भामाशाह का विश्वविश्रुत समर्पण तथा अन्य अनेक जैन महामन्त्रियो, वीरो और दानियो का बलिदान मेवाड की गौरवगाथा मे वैसे ही जुडे हैं—जैसे फूल मे सौरभ।

मेवाड़ राज्य की रक्षा मे जैनियों की भूमिका

□

मेवाड मे जैनधम के प्रादुर्भाव का प्रथम उल्लेख ईसा की पाँचवी शताब्दी पूर्व से मिलता है। भगवान महावीर के निर्वाण के ८४ वर्ष पश्चात् ही उत्कीण वडली[1] के शिलालेख मे मेवाड प्रदेश की 'मज्झमिका'[2] नगरी का सन्दम है। मौय सम्राट अशोक के पौत्र एव अवन्ति के शासक सम्प्रति के समकालीन आचार्य आर्य सुहस्ती के द्वितीय शिष्य प्रियग्रन्थ ने ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी मे 'कल्पसूत्र स्थविरावली' के अनुसार जैन श्रमण सघ की 'मज्झमिआ' शाखा की यहीं स्थापना की थी।[3] मथुरा से प्राप्त प्रस्तर लेखो मे मी 'मज्झमिआशाखा' के साधुओ के उल्लेख उपलब्ध होते हैं।[4] मौयकाल मे जैन सस्कृति के सुप्रसिद्ध केन्द्र के रूप मे प्रतिष्ठित यह मज्झमिका नगरी कालान्तर मे विदेशी आक्रमणो से क्रमश ध्वस्त होती गई,[5] किन्तु जैनधम अपने अस्तित्व की रक्षा एव प्रसार के प्रयास मे निरन्तर सघर्षशील रहा, परिणामस्वरूप नागरिक से लेकर शासक वर्ग तक वह विकास और श्री-वृद्धि की श्रेणियो को पार करता गया। नागदा, आहाड, चित्तौडगढ, देलवाडा, कुमलगढ, जावर, धुलेव, राणकपुर, उदयपुर आदि स्थान जैन धर्म और सस्कृति के प्रसिद्ध प्रतीक बन गये। यहाँ का छोटा से छोटा गाँव भी तीर्थ सदृश पूजनीय बन गया तथा मनीषी जैन सन्तों तथा निस्पृही श्रावको ने अपने व्यक्तित्व और कृतित्व के द्वारा मेवाड को जैन धर्म, समाज एव सस्कृति का अग्रणी केन्द्र प्रस्थापित कर दिया। विभिन्न स्थानो से प्राप्त पुरातात्त्विक एव पुराभिलेखीय सामग्री इसका पुष्ट प्रमाण है।

मेवाड के धार्मिक, सामाजिक, सास्कृतिक एव आर्थिक विकास में जैनधम के अमूल्य और अतुल योगदान का तटस्थ सर्वेक्षण एव विश्लेषणात्मक मूल्याकन शोध का एक अलग विषय है, किन्तु जैनधर्मानुयायी श्रावको के राजनीतिक योगदान को ही एकीकृत कर अगर लिपिबद्ध किया जाय तो मेवाड के इतिहास की अनेक विलुप्त शृखलाएं जुड सकती हैं।

मेवाड राज्य के शासको के सम्पर्क मे जैनधम कब आया, इस बारे मे विद्वानो मे मतैक्य नही है। विक्रम सवत् ७९ मे जैनाचार्य देवगुप्तसूरि तथा विक्रम सवत् २१५ मे पू० यज्ञदेवसूरि का इस क्षेत्र मे विचरण करने का उल्लेख उपलब्ध होता है।[6] तत्पश्चात् सिद्धसेनदिवाकर एव आचार्य हरिभद्रसूरि के व्यापक प्रभाव के प्रमाण क्रमश

१ द्रष्टव्य—नाहर जैन लेखसग्रह, भाग-१, पृष्ठ ९७, लेख सख्या ४०२।
२ वर्तमान मे चित्तौडगढ से सात मील उत्तर मे स्थित है। इसे अब 'नगरी' नाम से अभिहित किया जाता है।
३ (१) सेक्रीड बुक्स आव द ईस्ट, वा० २२, पृष्ठ २९३।
(२) समदर्शी आचार्य हरिभद्र सूरि, पृष्ठ ६।
४ विजयमूर्ति जैन लेखसग्रह, भाग-२, लेख सख्या ६६।
५ (१) द्रष्टव्य—पतजलि कृत महाभाष्य ३।२।
(२) मज्झमिका (पत्रिका) पृष्ठ २ (प्रवेशाक)।
६ सोमानी—वीरभूमि चित्तौडगढ, पृष्ठ १५२।
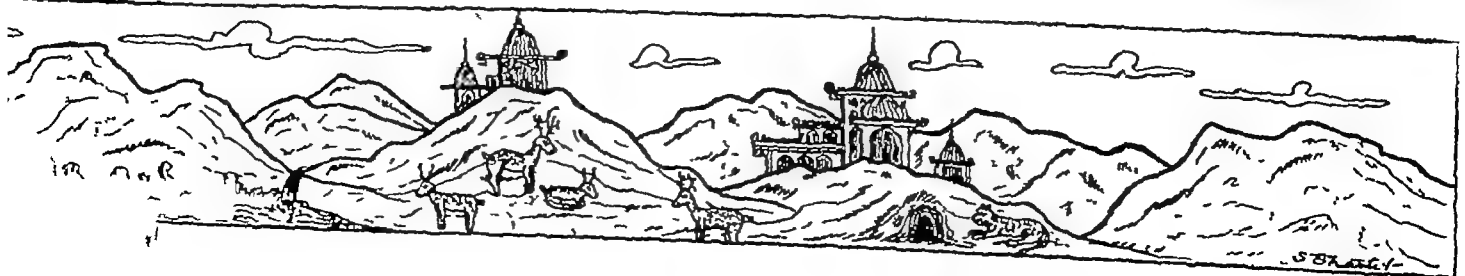
विक्रम की छठी और आठवी शताब्दी मे मिलते हैं।[१] किन्तु जैनधर्म के मेवाड के शासको के सम्पर्क मे आने का सर्वाधिक पुष्ट प्रमाण राणा भर्तृ भट्ट के काल मे मिलता है, जब विक्रम सवत् १००० मे चैत्रपुरीय गच्छ के बूदगणि के द्वारा गुहिल विहार मे आदिनाथ भगवान की मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई गई।[२] उसके बाद तो भर्तृ भट्ट के पुत्र अल्लट,[3] महारावल जैत्रसिंह,[४] महाराणा तेजसिंह[५], समरसिंह[६] आदि के काल मे जैनधर्म यहाँ के शासको के सीधे सम्पर्क मे आया।

राजघराने के सम्पर्क मे आने के पश्चात् जैनधर्म को व्यापक सरक्षण प्राप्त हुआ, फलस्वरूप जैनधर्मानुयायियो ने भी अपने बाहुबल, दूरदर्शिता, कूटनीति और प्रशासन-योग्यता के द्वारा मेवाड राज्य को सुरक्षा और स्थायित्व दिया ऐसे भी अवसर आये जब मेवाड के सूयवशी गुहिल अर्थात् सिसोदिया शासको के हाथ से शासन की बागडोर मुस्लिम शासको के हाथ मे चली गई अथवा अन्य राजनीतिक कारणो से शासन पर उनका प्रभुत्व नही रहा किन्तु जैनमतावलम्बी सपूतो ने खोये हुए शासन-सूत्र अपने कूटनीतिक दाँव-पेच एव बाहुबल के माध्यम से उन्हें पुन दिलाये। वे चाहते तो परिस्थितियो का लाभ उठाकर मेवाड राज्य की सत्ता को स्वय हस्तगत कर और वीर वसुन्धरा मेवाड की गौरवशाली राजगद्दी पर आरूढ हो, अपना राज्य स्थापित कर लेते किन्तु सच्चे देशभक्त, स्वामिभक्त तथा सच्चरित्र जैन नरपुगवो ने ऐसा नही किया। अपने रक्त की नदियाँ बहाकर भी वे मेवाड के परम्परागत राज्य को सुरक्षा, स्थायित्व एव एकता के सूत्र मे आबद्ध करने के लिए प्राण-प्रण से सघर्षशील रहे।

अहिंसा के पुजारी होने के कारण यद्यपि जैनियो पर कायर व धर्मभीरु होने के लाछन लगाये जाते रहे हैं। एक व्यापारिक, सूदखोर तथा सैनिक गुणो से रिक्त होने का आरोप उन पर मढा जाता रहा है, किन्तु यह सब नितान्त एकपक्षीय और अज्ञानता से युक्त है। समय-समय पर तत्कालीन शासको द्वारा उन्हे दिये गये पट्टे-परवाने, रुक्के, ताम्र-पत्र इसके प्रमाण हैं। शिलालेख, काव्य-ग्रन्थ, ख्यात, बात, वशावलियाँ, डिंगल गीत आदि इस तथ्य व सत्य के प्रबल सन्दर्भ हैं।

मेवाड राज्य की रक्षा में जैनियों ने शासन-प्रबन्ध के विभिन्न पदो पर रहकर अपने दायित्वो का निर्वाह किया। इनमे प्रधान, दीवान, फौजबख्शी, मुत्सद्दी, हाकिम, कामदार एव अहलकार पद प्रमुख हैं। इन पदो पर जैन समाज की विभिन्न जातियो के व्यक्ति कार्यरत थे, जिनमें मेहता, कावडिया, गाधी, बोलिया, गलूडिया, कोठारी आदि सम्मिलित हैं। मेवाड राज्य की रक्षार्थ इनमे से अनेक जैनियो ने अपने प्राणो का उत्सर्ग किया। प्रत्येक का विवरण प्रस्तुत करना निबन्ध की कलेवर सीमा के कारण सम्भव नही है। यहाँ कतिपय प्रमुख जैन विभूतियो का अत्यन्त सक्षिप्त वर्णन ही दिया जा रहा है—

जालसी मेहता—अलाउद्दीन खिलजी से हुए युद्ध और महारानी पद्मिनी के जौहर के पश्चात् गुहिलवशी शासको के हाथ से चित्तौड निकल गया और उस पर अलाउद्दीन का अधिकार हो गया। उसने पहले खिज्रखाँ को चित्तौड पर नियुक्त किया किन्तु बाद मे जालौर के मालदेव सोनगरा को चित्तौड का दुर्ग सुपुर्द कर दिया। ऐसी विषम स्थिति मे विक्रम की चौदहवी शताब्दी मे जालसी मेहता मेवाड राज्य के प्रथम उद्धारक एव अनन्य स्वामीभक्त के रूप में प्रकट होता है।

अलाउद्दीन से हुए इस भयकर युद्ध मे सिसोदे गाँव का स्वामी हमीर ही गुहिलवशी शासकों का एकमात्र प्रतिनिधि जीवित बच गया था। हमीर अपने पैतृक दुर्ग चित्तौड को पुन हस्तगत करने के लिए लालायित था, इसी उद्देश्य से वह मालदेव के अधीनस्थ प्रदेश को लूटने व उजाडने लगा। अलाउद्दीन की मृत्यु के पश्चात् जब दिल्ली

---

१ (१) जैन सस्कृति और राजस्थान, पृष्ठ १२७-२८।
  (२) वीरभूमि चित्तौडगढ़, पृष्ठ ११२-१५।
२ जैन सत्यप्रकाश, वर्ष ७, (दीपोत्सवांक), पृष्ठ १४६-४७।
३ डा० कैलाशचन्द्र जैन (जैनिज्म इन राजस्थान), पृष्ठ २६।
४ जैन साहित्यनो सक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ १६३।
५ एन्युअल रिपोर्ट आफ दि राजपूताना म्युजियम, अजमेर (१६२२-२३), पृष्ठ ८।
६ वही, पृष्ठ ६।

सल्तनत की सत्ता कमजोर होने लगी तो मालदेव ने उधर से किसी भी प्रकार की सैनिक मदद की आशा न देख, उसने अपनी पुत्री का विवाह हमीर से कर दिया ताकि वह उसके अधीनस्थ मेवाड़ को लूटना व उजाड़ना बन्द कर दे। हमीर ने अपनी नवविवाहिता पत्नी की सलाह से विवाह के इस शुभ अवसर पर कोई जागीर या द्रव्य नही मांग कर मालदेव से उसके दूरदर्शी कामदार जालसी मेहता को मांग लिया, ताकि जालसी के सहयोग से हमीर की मनोकामना पूरी हो सके।[1]

हमीर की इस राणी से क्षेत्रसिंह[2] नामक पुत्र हुआ। ज्योतिषियो की सलाह के अनुसार चित्तौड़गढ के क्षेत्रपाल की पूजा (बोलवा) के निमित्त महाराणी को अपने पुत्र क्षेत्रसिंह के साथ चित्तौड जाना पड़ा।[3] इस अवसर पर जालसी मेहता भी साथ मे था। मालदेव की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र जैसा सोनगरा चित्तौड का शासक था। जालसी मेहता ने सम्पूर्ण स्थिति का अवलोकन करके कूटनीति एव दूरदर्शिता से वहाँ के सामन्त-सरदारो को जैसा सोनगरा के विरुद्ध उभारना आरम्भ किया। जब उसे विश्वास हो गया कि चितौड का वातावरण हमीर के पक्ष मे है तो हमीर को गुप्त सन्देश भेजकर विश्वस्त सैनिकों के साथ उसे चित्तौड बुलाया। योजनानुसार किले का दरवाजा खोल दिया गया और घमासान युद्ध के पश्चात् हमीर का चित्तौड पर अधिकार हो गया।[4] इस प्रकार जालसी के सम्पूर्ण सहयोग से हमीर वि० स० १३८३ में मेवाड़ का महाराणा बना और उसके बाद देश के स्वतन्त्र होने तक मेवाड़ पर सिसोदे[5] के इस हमीर के वशजो का ही आधिपत्य रहा, जिसमें महाराणा कुभा, सागा, प्रताप और राजसिंह जैसे महान प्रतापी व इतिहास प्रसिद्ध शासक हुए। जालसी मेहता की इस स्वामीभक्ति, कूटनीति एव दूरदर्शिता से प्रभावित होकर महाराणा हमीर ने उसे अच्छी जागीर दी, सम्मान दिया तथा उसकी प्रतिष्ठा बढाई।[6]

रामदेव एव सहनपाल

महाराणा हमीर के बाद क्रमश क्षेत्रसिंह (वि० स० १४२१-१४३६) एव लक्षसिंह अर्थात् लाखा (वि० स० १४३६-१४५४) मेवाड़ के महाराणा बने। इनके राज्यकाल मे देवकुलपाटक (देलवाडा) निवासी नवलखा लाधु का पुत्र रामदेव मेवाड़ का राज्यमन्त्री था।[7] इसकी पत्नी का नाम मेलादेवी था, जिसके दो पुत्र क्रमश सहण एव सारग थे। महाराणा मोकल (स० १४५४-१४९०) एव महाराणा कुम्भा के राज्यकाल (वि० १४९०-१५२५) में इसका पुत्र सहणपाल राज्यमन्त्री था। इसे शिलालेखो में 'राजमन्त्री धुराधौरय' के सम्बोधन से सम्बोधित किया गया है। तत्कालीन जैनाचार्य ज्ञानहसगणि कृत 'सन्देह दोहावली' की प्रशस्ति मे इसकी प्रशसा की गई है।[8] रामदेव एव सहणपाल का लम्बे समय तक मेवाड़ का राज्यमन्त्री रहना निश्चित ही उनके दूरदर्शी व कुशल व्यक्तित्व के कारण सम्भव हुआ होगा। मेवाड़ मे जैनधर्म के उत्थान में दोनो ने महत्त्वपूर्ण योग दिया था। जिसका उल्लेख कई शिलालेखो एव हस्तलिखित ग्रन्थो में मिलता है।

---

१ (क) कर्नल जेम्स टाड—एनल्स एण्ड एण्टिक्विटीज आव राजस्थान (हि० स०) पृष्ठ १५९।
   (ख) कविराजा श्यामलदास ने वीरविनोद, प्रथम भाग, पृष्ठ २९५ पर जालसी का नाम मौजीराम मेहता दिया है, जिसे गो० ही० ओझा ने अशुद्ध बताया है, द्रष्टव्य—ओझा कृत 'राजपूताने का इतिहास', प्रथम भाग, पृष्ठ ५०९।

२ जो हमीर के बाद मेवाड़ का शासक बना और महाराणा खेता के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

३ बाबू रामनारायण दूगड—मेवाड़ का इतिहास, प्रकरण चौथा, पृष्ठ ६८।

४ एनल्स एण्ड एन्टिक्विटीज आव राजस्थान (हिन्दी), पृष्ठ १५९-६०।

५ हमीर, सिसोदे गाँव का रहने वाला था, इसी कारण गुहिलवशी शासक हमीर के समय से ही सिसोदिया कहलाए।

६ ओझा—राजपूताने का इतिहास, द्वितीय भाग (उदयपुर) पृष्ठ १३२४।

७ श्री रामवल्लभ सोमानी कृत (अ) महाराणा कुभा, पृष्ठ ३०५।
   (ब) वीरभूमि चित्तौड, पृष्ठ १६१।

८ (अ) वही, पृष्ठ १५८, १५६ व ३०५ एव
   (ब) वही, पृष्ठ १६२।
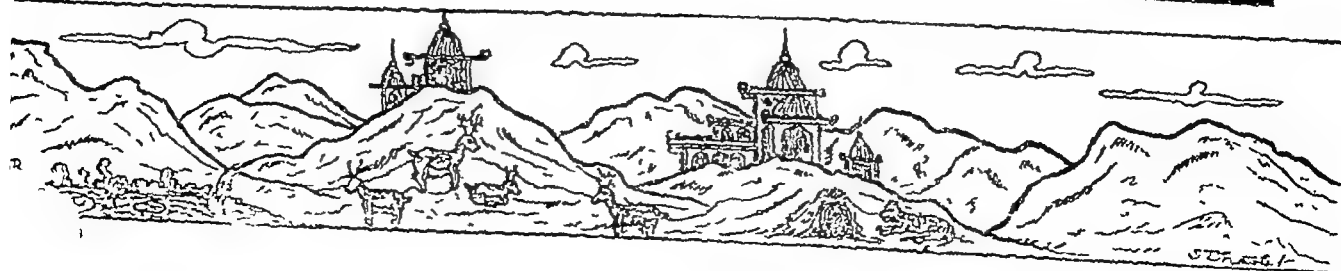
तोलाशाह एव कर्माशाह

तोलाशाह महाराणा सागा (वि० स० १५६६-१५८४) के समय मेवाड का दीवान था।[1] इस पर महाराणा सागा का पूर्ण विश्वास था और वह उसका मित्र भी था।[2] महाराणा सागा द्वारा किये गये मेवाड राज्य के विस्तार मे तोलाशाह के अविस्मरणीय योगदान को भुलाया नही जा सकता। तोलाशाह का पुत्र कर्माशाह महाराणा रत्नसिंह द्वितीय (वि० स १५८४–१५८८) का मन्त्री था।[3] रत्नसिंह के अल्प शासनकाल मे कर्माशाह के कार्यों का सक्षिप्त परिचय शत्रुजय तीर्थ के शिलालेख[4] मे मिलता है।

मेहता चीलजी

जालसी मेहता का वशज मेहता चीलजी महाराणा सागा के समय से ही चित्तौडगढ़ का किलेदार था।[5] उस काल मे स्वामीभक्त एव वीर प्रकृति के दूरदर्शी योद्धा को ही किलेदार बनाया जाता था। बनवीर (वि० स० १५६३–१५६७) के समय में भी यही किलेदार था, किन्तु इसे बनवीर का चित्तौड पर आधिपत्य खटक रहा था। उधर महाराणा उदयसिंह (वि० स० १५६४–१६२८) अपने पैतृक अधिकारो एव दुर्ग को प्राप्त करने के लिए तैयारी कर रहे थे। अवसर देखकर चीलजी मेहता एव कुम्भलगढ़ का किलेदार आशा देपुरा[6] के मध्य उदयसिंह को चित्तौड वापस दिलाने का गुप्त समझौता हो गया। योजनानुसार चीलजी ने बनवीर को सुझाव दिया कि "किले मे खाद्य-सामग्री कम है, रात्रि मे किले का दरवाजा खोलकर मँगाना चाहिए।" बनवीर ने स्वीकृति दे दी। एक दिन रात्रि को किले का दरवाजा खोल दिया गया, कुछ बैलो एव भैंसो पर सामान लादकर उदयसिंह कुछ सैनिको के साथ किले मे घुस आया। छुटपुट लडाई के बाद महाराणा उदयसिंह का किले पर अधिकार हो गया।[7] चीलजी मेहता की इस सूझ-बूझ एव कूटनीति के परिणामस्वरूप ही चित्तौड अर्थात् मेवाड पर उसके वास्तविक अधिकारी उदयसिंह का अधिकार हो सका।

कावडिया भारमल

प्रसिद्ध योद्धा कावडिया भारमल व उसके पूर्वज अलवर के रहने वाले थे। महाराणा सागा भारमल की सैनिक योग्यता एव राजनीतिक दूरदर्शिता से काफी प्रसन्न थे। इसी कारण उसे तत्कालीन सैनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रणथम्भौर के किले का किलेदार नियुक्त किया।[8] बाद में जब बूंदी के हाडा सूरजमल को रणथभौर की किलेदारी मिली,[9] उस समय भी भारमल के हाथ मे एतबारी नौकरी और किले का कुल कारोबार रहा।[10] यह महाराणा की उस पर विश्वसनीयता का द्योतक था। महाराणा उदयसिंह ने भारमल की सेवाओ से प्रसन्न होकर वि० स० १६१० मे उसे

---

१ ओसवाल जाति का इतिहास, पृष्ठ ७०।

२ राजस्थान भारती (त्रैमासिक) भाग-१२, अक-१, पृष्ठ ५३-५४ पर श्री रामवल्लभ सोमानी का लेख—'शत्रु जय तीर्थोद्धार प्रबन्ध मे ऐतिहासिक सामग्री'।

३ ओझा—राजपूताने का इतिहास, भाग-२, पृष्ठ ७०३।

४ एपिग्राफिया इन्डिका, भाग-२, पृष्ठ ४२-४७।

५ कविराजा श्यामलदास—वीर विनोद, द्वितीय भाग, पृष्ठ ६४।

६ आशा देपुरा माहेश्वरी जाति का था एव महाराणा सागा के समय से ही कुम्भलगढ़ का किलेदार था। (द्रष्टव्य—वीर विनोद, द्वितीय भाग, पृष्ठ ६२)।

७ वीर विनोद, द्वितीय भाग, पृष्ठ ६४।

८ वही, पृष्ठ २५२।

९ ओझा—राजपूताने का इतिहास, भाग-२, पृष्ठ ६७२ एव १३०२।

१० वीर विनोद, द्वितीय भाग, पृष्ठ २५२।

अपना प्रमुख सामन्त बनाया और एक लाख का पट्टा दिया।[1] इस प्रकार एक किलेदार के पद से सामन्त के उच्च पद पर पहुँचना भारमल की सैनिक योग्यता, चातुर्य एवं स्वामिभक्ति का प्रमाण था।[2]

भामाशाह एवं ताराचन्द

ये दोनों भाई कावड़िया भारमल के पुत्र थे। हल्दीघाटी के युद्ध में महाराणा प्रताप (वि० सं० १६२८-१६५३) की सेना के हरावल के दाहिने भाग की सेना का नेतृत्व करते हुए लड़े थे एवं अकबर की सेना को शिकस्त दी थी।[3] भामाशाह की राजनैतिक एवं सैनिक योग्यता को देखकर महाराणा प्रताप ने उसे अपना प्रधान बनाया। इसने प्रताप की सैनिक टुकड़ियों का नेतृत्व करते हुए गुजरात, मालवा, मालपुरा आदि इलाकों पर आक्रमण किये एवं लूटपाट कर प्रताप को आर्थिक सहायता की।[4] लूटपाट के प्राप्त धन का ब्यौरा वह एक बही में रखता था और उस धन से राज्य खर्च चलाता था। उसके इस दूरदर्शी एवं कुशल आर्थिक प्रबन्ध के कारण ही प्रताप इतने लम्बे समय तक अकबर के शक्तिशाली साम्राज्य से संघर्ष कर सके थे। महाराणा अमरसिंह (वि० सं० १६५३-१६७६) के राज्यकाल में भामाशाह तीन वर्ष तक प्रधान पद पर रहा और अन्त में प्रधान पद पर रहते हुए ही इसकी मृत्यु हुई।

ताराचन्द भी एक कुशल सैनिक एवं अच्छा प्रशासक था। यह भी मालवा की ओर प्रताप की सेना लेकर शत्रुओं को दबाने एवं लूटपाट कर आतंक पैदा करने के लिए गया था। पुनः मेवाड़ की ओर लौटते हुए उसे व उसके साथ के सैनिकों को अकबर के सेनापति शाहबाज खां व उसकी सेना ने घेर लिया। ताराचन्द इनसे लड़ता हुआ बस्सी (चित्तौड़ के पास) तक आया किन्तु यहाँ वह घायल होकर गिर पड़ा। बस्सी का स्वामी देवड़ा साईंदास इसे अपने किले में ले गया, वहाँ घावों की मरहम पट्टी की एवं इलाज किया।[5] प्रताप ने ताराचन्द को गोड़वाड़ परगने में स्थित सादड़ी गाँव का हाकिम नियुक्त किया, जहां रहकर इसने नगर की ऐसी व्यवस्था की कि शाहबाज खां जैसा खूँखार योद्धा भी नगर पर कब्जा न कर सका। इसी तरह नाडौल की ओर से होने वाले अकबर की सेना के आक्रमणों का भी वह बराबर मुकाबला करता रहा।[6] सादड़ी में इसने अनेक निर्माण कार्य कराये एवं प्रसिद्ध जैन मुनि हेमरत्नसूरि से 'गोरा बादल पद्मिनी चउपई' की रचना कराई।[7]

जीवाशाह

भामाशाह की मृत्यु के बाद उसके पुत्र कावड़िया जीवाशाह को महाराणा अमरसिंह (वि० सं० १६५३-१६७६) ने प्रधान पद पर नियुक्त किया।[8] यह भामाशाह द्वारा लिखी हुई बही के अनुसार गुप्त स्थानों से धन निकाल-निकाल कर सेना का व राज्य का खर्च चलाता था।[9] बादशाह जहाँगीर से जब अमरसिंह की सुलह हो गई, उसके बाद

१ (अ) 'महाराणा प्रताप स्मृति ग्रन्थ' में श्री बलवन्तसिंह मेहता का लेख—'कर्मवीर भामाशाह', पृष्ठ ११४।
(ब) 'ओसवाल जाति का इतिहास' में पृष्ठ ७२ पर भारमल को महाराणा उदयसिंह द्वारा प्रधान बनाने का उल्लेख है।

२ भारमल की योग्यता एवं महत्ता का प्रमाण इस बात से भी मिलता है कि उस समय चित्तौड़ किले की पाडनपोल के सामने उसकी हस्तीशाला थी एवं किले पर बहुत बड़ी हवेली थी। (द्रष्टव्य—प्रताप स्मृति ग्रन्थ—पृष्ठ ११४)।

३ 'महाराणा प्रताप स्मृति ग्रन्थ' में श्री बलवन्तसिंह मेहता का लेख—'कर्मवीर भामाशाह', पृ० ११४।

४ वही, पृ० ११५।

५ ओझा—राजपूताने का इतिहास, द्वितीय भाग, पृ० १३०३।

६ मरुधर केसरी अभिनन्दन ग्रन्थ में श्री रामवल्लभ सोमानी का लेख—'दानवीर भामाशाह का परिवार, पृ० १७५-७६।

७ द्रष्टव्य—हेमरत्नसूरि कृत—'गोरा बादल पद्मिनी चउपई' की प्रशस्ति।

८ वीर विनोद, भाग-२, पृ० २५१।

९ (अ) वीर विनोद, भाग-२, पृ० २५१। (ब) ओझा—राजपूताने का इतिहास, भाग-२, पृ० १३३।
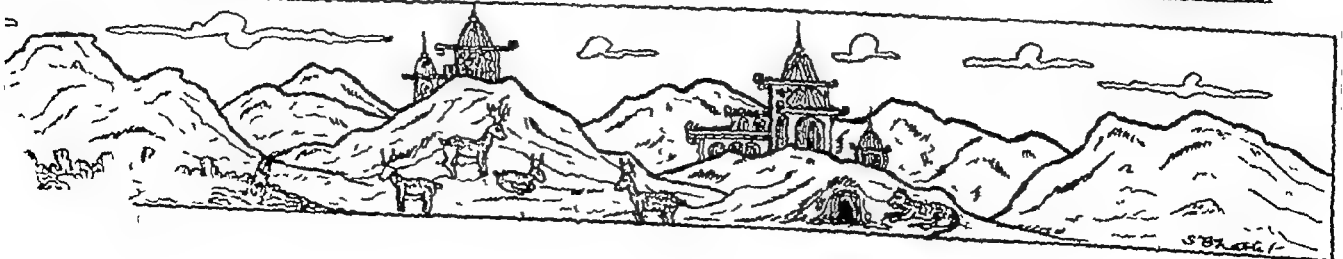
कुँवर कर्णसिंह के साथ जीवाशाह को भी बादशाह के पास अजमेर भेजा गया।[1] ताकि वह मेवाड के स्वाभिमान व राजनीतिक स्थिति का ध्यान रख कर तद्नुकूल कुँवर कर्णसिंह का मार्गदर्शन कर सके।

रगोजी बोलिया

महाराणा अमरसिंह की राज्य सेवा मे नियुक्त रगोजी बोलिया ने अमरसिंह एव बादशाह जहाँगीर के मध्य प्रसिद्ध सन्धि कराने मे प्रमुख भूमिका निभाई तथा मेवाड एव मुगल साम्राज्य के बीच चल रहे लम्बे सघर्ष को सम्मान-जनक ढग से बन्द कराया। सन्धि सम्पन्न हो जाने के बाद महाराणा अमरसिंह ने प्रसन्न होकर रगोजी को चार गाँव, हाथी, पालकी आदि भेंट दिये व मन्त्री पद पर आसीन किया। इस पद पर रहते हुए इसने मेवाड के गाँवो का सीमाकन कराया और जागीरदारो के गाँवों की रेख भी निश्चित की। जहाँगीर ने भी प्रसन्न होकर रगोजी को ५३ बीघा जमीन देकर सम्मानित किया।[2] रगोजी ने मेवाड एव मुगल साम्राज्य के मध्य सधि कराने मे जो भूमिका निभाई, उस सन्दर्भ मे डिंगल गीत तथा हस्तलिखित सामग्री डॉ० ब्रजमोहन जावलिया (उदयपुर) के निजी सग्रह मे विद्यमान है।

अक्षयराज

भामाशाह के पुत्र जीवाशाह की मृत्यु के बाद जीवाशाह के पुत्र कावडिया अक्षयराज को महाराणा कर्णसिंह (वि० स० १६७६-१६८४) ने मेवाड राज्य का प्रधान बनाया।[3] महाराणा जगतसिंह (वि० स० १६८४-१७०६) के शासनकाल मे अक्षयराज के नेतृत्व मे सेना देकर डूगरपुर के स्वामी रावल पूँजा को मेवाड की अधीनता स्वीकार कराने के लिए भेजा गया, क्योकि डूँगरपुर के स्वामी महाराणा प्रताप के समय से ही शाही अधीनता मे चले गये थे। अक्षयराज का ससैन्य डूँगरपुर पहुँचने पर रावल पूँजा पहाडो मे भाग गया। अक्षयराज की आज्ञा से सेना ने डूगरपुर शहर को लूटा, नष्ट-भ्रष्ट किया एव रावल पूँजा के महलो को गिरा दिया।[4]

सिंघवी दयालदास

यह मेवाड के प्रसिद्ध व्यापारी सघवी राजाजी एव माता रयणादे का चतुर्थ पुत्र था। एक बार महाराणा राजसिंह (वि० स० १७०९-१७३७) की एक राणी ने अपने पति (महाराणा राजसिंह) की हत्या करवा कर अपने पुत्र को मेवाड का महाराणा बनाने का षड्यन्त्र रचा। षडयन्त्र का एक कागज दयालदास को मिल गया। उसने तत्काल महाराणा राजसिंह से सम्पर्क कर उनकी जान बचाई। दयालदास की इस वफादारी से प्रसन्न होकर महाराणा ने इसे अपनी सेवा मे रखा तथा अपनी योग्यता से बढते-बढते यह मेवाड का प्रधान बन गया।[5] जब औरगजेब ने वि० स० १७३६ मे मेवाड पर चढाई कर सैंकडों मन्दिर तुडवा दिये[6] और बहुत आर्थिक नुकसान पहुँचाया तो इस घटना के कुछ समय पश्चात् महाराणा राजसिंह ने इसको बहुत-सी सेना देकर बदला लेने के लिए मालवा की ओर भेजा, दयालदास ने अचानक धार नगर पर आक्रमण कर उसे लूटा, मालवे के अनेक शाही थानो को नष्ट किया, आग लगाई और उनके स्थान पर मेवाड के थाने बिठा दिये। लूट से प्राप्त धन को प्रजा में बाँटा एव बहुत सी सामग्री ऊँटो पर लाद कर सकुशल मेवाड लौट आया[7] तथा महाराणा को नजर की।

---

१ (अ) वीर विनोद, भाग-२, पृष्ठ २५१। (ब) ओझा—राजपूताने का इतिहास भाग-२, पृष्ठ १३३।

२ वरदा (त्रैमासिक) भाग-१२, अक ३, पृष्ठ ४१-४७ पर प्रकाशित डा० ब्रजमोहन जावलिया का लेख—'बादशाह जहाँगीर और महाराणा अमरसिंह की सन्धि के प्रमुख सूत्रधार—रगोजी बोलिया।'

३ (अ) वीर विनोद, भाग-२, पृष्ठ २५१ (ब) ओझा—राजपूताने का इतिहास भाग-२, पृष्ठ १३३।

४ (अ) रणछोडभट्ट कृत राजप्रशस्ति महाकाव्यम्, सर्ग ५, श्लोक १८१६।
(ब) जगदीश मन्दिर की प्रशस्ति, श्लोक स० ५४।

५ ओझा—राजपूताने का इतिहास, भाग-२, पृष्ठ १३०५।

६ वही, पृष्ठ ८७०-७१।

७ जती मान-कृत राजविलास (महाकाव्य), विलास-७, छन्द ३८।

महाराणा जयसिंह (वि० स० १७३७-१७५५) के शासनकाल मे वि० स० १७३७ मे चित्तौडगढ के पास शाहजादा आजम एव मुगल सेनापति दिलावर खाँ की सेना पर रात्रि के समय दयालदास ने भीषण आक्रमण किया, किन्तु मुगल सेना सख्या मे अधिक थी, दयालदास बडी बहादुरी से लडा परन्तु जब उसने देखा कि उसकी विजय सम्भव नही है तो मुसलमानो के हाथ पडने से बचाने के लिए अपनी पत्नी को अपने ही हाथो तलवार से मौत के घाट उतार दिया और उदयपुर लौट आया, फिर भी उसकी एक लडकी, कुछ राजपूत तथा बहुत-सा सामान मुसलमानो के हाथ लग गया।[१] मेवाड की रक्षा के खातिर अपने परिवार को ही शहीद कर देने वाले ऐसे वीर पराक्रमी, महान देशभक्त, स्वामिभक्त तथा कुशल प्रशासक दयालदास की योग्यता, वीरता एव कूटनीतिज्ञता का विस्तृत वर्णन राजपूत इतिहास के ग्रन्थो के अतिरिक्त फारसी भाषा के समकालीन ग्रन्थो, यथा—'वाकया सरकार रणथम्भौर' एव 'औरगजेबनामा' मे भी मिलता है। जैनधर्म के उत्थान में भी दयालदास द्वारा सम्पन्न किये गये महान् कार्यों का विशाल वर्णन जैन हस्तलिखित ग्रन्थो व शिलालेखो मे उपलब्ध होता है।[२]

शाह देवकरण

महाराणा सग्रामसिंह द्वितीय (वि० स० १७६७-९०) के शासनकाल मे देवकरण आर्थिक मामलो का मुतसद्दी था। इसके पूर्वज बीकानेर के रहने वाले डागा जाति के महाजन थे। एक बार महाराणा ने ईडर के परगने मे तथा डूंगरपुर व बाँसवाडा के इलाके के भील व मेवासी लोगो मे फैल रही अशान्ति को दबाने के लिए सेना के साथ इसे भेजा। देवकरण ने ईडर पर आक्रमण कर उस पर कब्जा कर लिया तथा वहाँ से पौने पाँच लाख रुपये का खजाना महाराणा सग्रामसिंह द्वितीय के पास भेजा। मेवासी व भील लोगो को भी दबाया।[३] डूगरपुर, बाँसवाडा, देवलिया एव रामपुरा के शासको को भी मेवाड की अधीनता मेवाड के तत्कालीन प्रधान पचोली बिहारीदास के साथ रहकर स्वीकार करवाई।[४] वि० स० १७७५ मे मेवाड में भयकर अकाल पडा, उस समय भी देवकरण एव उसके भाइयो ने महाराणा का काफी सहयोग किया।[५]

मेहता अगरचन्द

महाराणा अरिसिंह द्वितीय (वि० स० १८१७-२९) का शासनकाल मेवाड के इतिहास मे गृहकलह तथा सघर्ष का काल माना जाता है। ऐसे सकटमय समय मे मेहता पृथ्वीराज के सबसे बडे पुत्र मेहता अगरचन्द ने मेवाड राज्य की जो सेवाएँ कीं, वे अद्वितीय हैं। अगरचन्द की दूरदर्शिता, कार्यकुशलता तथा सैनिक गुणो से प्रभावित होकर महाराणा अरिसिंह ने इसे माडलगढ (जिला भीलवाडा) जैसे सामरिक महत्त्व के किले का किलेदार एव उस जिले का हाकिम नियुक्त किया।[६] इसकी योग्यता को देखकर इसे महाराणा ने अपना सलाहकार तथा तत्पश्चात् दीवान के पद पर आरूढ किया और बहुत बडी जागीर देकर सम्मानित किया। मेवाड इस समय मराठो के आक्रमणो से त्रस्त तथा विषम आर्थिक स्थिति से ग्रस्त था। अगरचन्द ने अपनी प्रशासनिक योग्यता व कूटनीति के बल पर इन विकट परिस्थि-

---

१ (अ) वीर विनोद, द्वितीय भाग, पृ० ६५०।
(ब) ओझा—राजपूताने का इतिहास, द्वितीय भाग (उदयपुर), पृ० ८९५।

२ (अ) राजसमन्द की पहाडी पर इसने आदिनाथ का विशाल जैन मन्दिर बनवाया था। दयालशाह के किले के नाम से वह आज भी प्रसिद्ध है।
(ब) द्रष्टव्य—बडोदा के पास आणी गाँव के जिनालय का शिलालेख।
(स) जती मान को भी महाराणा राजसिंह से इसने कुछ गाँव दान में दिलवाये।

३ द्रष्टव्य—शोध पत्रिका, वर्ष १९, अक २, पृ० २९-३५ पर प्रकाशित मेरा लेख—'गुणमाल शाह देवकरण री'।

४ (अ) वही, पृ० २९-३५ (ब) वीर विनोद, भाग-२, पृ० १०१०।

५ शोध पत्रिका, वर्ष १९, अक २, पृ० २९-३५ पर प्रकाशित उपर्युक्त लेख।

६ ओझा—राजपूताने का इतिहास, द्वितीय भाग (उदयपुर), पृ० १३१४।
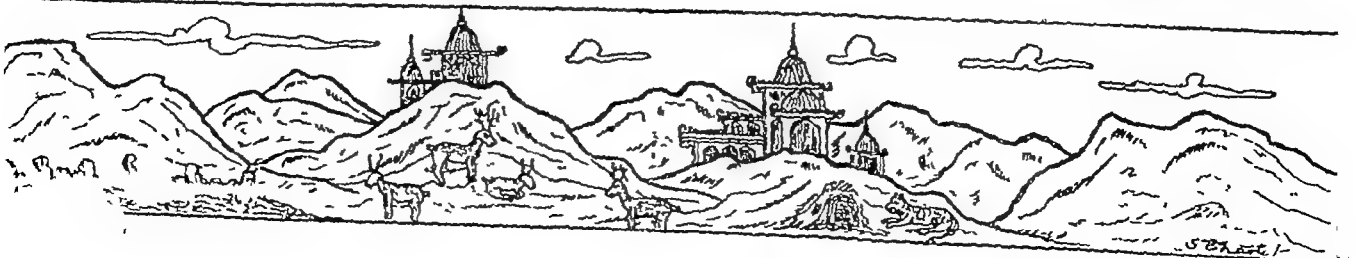
तियो पर बहुत कुछ सफलता प्राप्त की ।[1] महाराणा अरिसिंह की माधवराव सिन्धिया के साथ उज्जन में हुई लडाई मे अगरचन्द वीरतापूर्वक लडता हुआ घायल हुआ एव कैद कर लिया गया । बाद मे रूपाहेली के ठाकुर शिवसिंह द्वारा भेजे गये बावरियों ने उसे छुडवाया । माधवराव सिन्धिया द्वारा उदयपुर को घेरने के समय तथा टोपलमगरी व गगार की लडाइयो मे भी अगरचन्द महाराणा के साथ रहा । अरिसिंह की मृत्यु के पश्चात् महाराणा हमीरसिंह द्वितीय (वि० स १८२९-३४) के समय मेवाड की विकट स्थिति समालने मे यह बडवा अगरचन्द के साथ रहा । महाराणा भीमसिंह (वि० स० १८३४ ८५) ने इसे प्रधान के पद पर नियुक्त किया । अम्बाजी इगलिया के प्रतिनिधि गणेशपन्त के साथ मेवाड की हुई विभिन्न लडाइयो में भी अगरचन्द ने भाग लिया ।[2] अगरचन्द द्वारा मेवाड के महाराणाओ एव लम्बे समय तक मेवाड राज्य के लिए की गई सेवाओ से प्रसन्न होकर उपर्युक्त तीनो महाराणाओ न समय-समय पर अगरचन्द को विभिन्न रुक्के प्रदान किये, उनसे एव मराठो, मेवाड के महाराणाओ एव अन्य शासको से हुए उसके पत्र व्यवहार से तथा 'मेहताओ की तवारीख' से अगरचन्द के सैनिक व राजनीतिक योगदान और मेवाड राज्य की रक्षा हेतु उसकी कुर्बानी की पुष्टि होती है ।

सोमचन्द गांधी

महाराणा भीमसिंह (वि० स० १८३४-८५) का शासनकाल मेवाड राज्य मे भयकर उथल-पुथल एव अराजकता के काल के रूप मे प्रसिद्ध है । एक ओर मराठो के आक्रमणो से मेवाड त्रस्त था तो दूसरी ओर मेवाड के अनेक सामन्त-सरदार महाराणा से बागी हो गये थे । चूंडावतो एव शक्तावतो के मध्य भी पारस्परिक वैमनस्य चरम सीमा पर पहुँच गया था । राज्य कार्य मे चूडावतो का प्रभावी दखल था । सलूम्बर का रावत भीमसिंह, कुराबड का रावत अर्जुनसिंह तथा आमेट का रावत प्रतापसिंह महाराणा भीमसिंह के पास रहकर राजकाज देखते थे ।[3]

इन विषम परिस्थितियो मे राजकोष भी एकदम रिक्त था । राज्य प्रवन्ध एव अन्य साधारण खर्च भी कर्ज लेकर चलाना पडता था । वि० स० १८४१ मे महाराणा के जन्मोत्सव पर रुपयों की आवश्यकता हुई । राजमाता ने उपर्युक्त तीनों चूडावत सरदारो से इसका प्रबन्ध करने के लिए कहा किन्तु इन्होंने टालमटूल की, फलस्वरूप राजमाता काफी अप्रसन्न हुई ।[4]

सोमचन्द गांधी इस समय जनानी ड्योढ़ी पर नियुक्त था । अनुकूल स्थिति देखकर रामप्यारी के माध्यम से उसने राजमाता को कहलाया कि अगर उसे राज्य का प्रधान बना दिया जाय तो वह जन्मोत्सव के लिए रुपयों का प्रबन्ध कर सकता है । राजमाता ने उसके प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और उसे प्रधान बना दिया । सोमचन्द ने शक्तावत सरदारो से मेलजोल बढाया एव रुपयो का प्रबन्ध कर दिया ।[5]

प्रधान बनते ही सोमचन्द का दायित्व बढ़ गया । वह अत्यन्त योग्य, नीति-निपुण एव कार्यकुशल व्यक्ति था । सबसे पहले उसने मेवाड के सरदारो के मध्य व्याप्त आपसी वैमनस्य को समाप्त करने का निश्चय किया । कई असन्तुष्ट सरदारो को खिलअत व सिरोपाव आदि भेजकर उन्हे प्रसन्न करने का प्रयास किया । कोटा का झाला जालिमसिंह उस समय राजस्थान की राजनीति मे सर्वाधिक प्रभावशाली था, सोमचन्द ने बुद्धिमानी से काम लेकर उसे अपनी ओर मिला लिया ।[6] भीण्डर का स्वामी शक्तावत मोहकमसिंह पिछले बीस वर्षों से मेवाड के शासको के विरुद्ध चल रहा था, सोमचन्द की सलाह पर महाराणा स्वय भीण्डर गये, उस समय झाला जालिमसिंह भी पाँच हजार की फौज लेकर भीण्डर पहुँच गया और मोहकमसिंह को समझाकर उदयपुर ले आये ।[7] मेवाड को शोचनीय स्थिति से उबारने के लिए

---

१ शोध पत्रिका, वर्ष १८, अक २, पृ० ८१-८२ ।
२ ओझा—राजपूताने का इतिहास, द्वितीय भाग, (उदयपुर), पृ० १३१४-१५ ।
३ ओझा—राजपूताने का इतिहास, द्वितीय भाग (उदयपुर) पृ० ६८३ ।
४ वीर विनोद, भाग २, पृ० १७०६ ।
५ ओझा—राजपूताने का इतिहास, द्वितीय भाग (उदयपुर) पृ० ६८५ ।
६ ओझा—राजपूताने का इतिहास, द्वितीय भाग (उदयपुर), पृ० ६८८ ।
७ वीर विनोद, भाग-दो, पृ० १७०६ ।

सोमचन्द द्वारा किये जा रहे इन प्रयासों से चूँडावत नाराज हो गये क्योंकि इन घटनाओ से उनका मेवाड की राजनीति मे दखल कम हो गया था।

मराठो के उपद्रवो को रोकने और उनके द्वारा मेवाड के छीने गये भाग को वापस प्राप्त करने के लिए सोमचन्द ने एक योजना बनाई, किन्तु इसकी पूर्ण सफलता के लिए चूंडावतो का सहयोग आवश्यक था, अत उसने रामप्यारी को भेजकर सलूम्बर से भीमसिंह को उदयपुर बुलवाया।[1] इधर सोमचन्द ने जयपुर, जोधपुर आदि के महाराजाओ को मराठो के विरुद्ध तैयार किया। जयपुर व जोधपुर के सम्मिलित सहयोग से वि० स० १८४४ की लालसोट की लडाई मे मराठे पराजित हो गये।[2] इस अवसर का लाभ उठाकर सोमचन्द ने मेहता मालदास की अध्यक्षता मे मेवाड एव कोटा की सयुक्त सेना मराठो के विरुद्ध भेजी। इस तरह निम्बाहेडा, निकुम्भ, जीरण, जावद, रामपुरा आदि भागो पर पुन मेवाड का अधिकार हो गया।[3]

इधर सोमचन्द का ध्यान मेवाड के उद्धार मे व्यस्त था तो उधर मेवाड की राजनीति मे शक्तावतो का प्रभाव बढ जाने से चूँडावत, सोमचन्द से अन्दर ही अन्दर नाराज थे। ऊपर से वे उसके साथ मित्रवत् रहते थे किन्तु अन्त करण से उसे मार डालने का अवसर देख रहे थे। वि० स० १८४६ की कार्तिक सुदि ६ को कुरावड का रावत अर्जुनसिंह और चावड का रावत सरदारसिंह किसी कारणवश महलो मे गये, सोमचन्द उस समय अकेला था, दोनों ने बात करने के बहाने सोमचन्द के पास जाकर कटार घोप कर उसकी हत्या कर दी।[4] इस प्रकार अटल राजभक्त, लोकप्रिय, दूरदर्शी, नीति-निपुण एव मेवाड राज्य का सच्चा उद्धारक सोमचन्द शहीद हो गया। बाद मे उसके भाई सतीदास तथा शिवदास गाधी ने अपने भाई की हत्या का बदला लिया।[5]

मेहता मालदास

मराठो के विरुद्ध मेवाड की सेना का नेतृत्व करने के सन्दर्भ मे मेहता मालदास का उल्लेख ऊपर आ चुका है। इसे ड्योढी वाले मेहता वश मे मेहता मेघराज की ग्यारहवी पीढी मे एक कुशल योद्धा, वीर सेनापति एव साहसी पुरुष के रूप में मेवाड के इतिहास में सदा स्मरण किया जायेगा।[6] महाराणा भीमसिंह के राज्यकाल मे मराठो के आतक को समाप्त करने के लिए प्रधान सोमचन्द गान्धी ने जब मराठो पर चढाई करने का निर्णय लिया तो इस अभियान के दूरगामी महत्त्व को अनुभव कर मेवाड एव कोटा की सयुक्त सेना का सेनापतित्व मेहता मालदास को सौंपा गया। उदयपुर से कूच कर यह सेना निम्बाहेडा, निकुम्भ, जीरण आदि स्थानों को जीतती और मराठों को परास्त करती हुई जावद पहुची, जहाँ पर नाना सदाशिवराव ने पहले तो इस सयुक्त सेना का प्रतिरोध किया किन्तु बाद मे कुछ शर्तों के साथ वह जावद छोड कर चला गया। होल्कर राजमाता अहिल्याबाई को मेवाड के इस अभियान का पता चला तो उसने तुलाजी सिंधिया एव श्रीभाऊ के अधीन पाँच हजार सैनिक जावद की ओर भेजे। नाना सदाशिवराव के सैनिक भी इन सैनिकों से आ मिले। मन्दसौर के मार्ग से यह सम्मिलित सेना मेवाड की ओर बढी। मेहता मालदास के निर्देशन मे बडी सादडी का राजराणा सुल्तानसिंह, देलवाड़े का राजराणा कल्याणसिंह कानोड का रावत जालिमसिंह और सनवाड का बाबा दौलतसिंह आदि राजपूत योद्धा भी मुकाबला करने के लिए आगे बढे। वि०स० १८४४ के माघ माह मे हडक्याखाल के पास भीषण भिडन्त हुई। मालदास ने अपनी सेना सहित मराठो के साथ घमासान सघर्ष किया और अन्त में वीरतापूर्वक लडता हुआ रणागण मे शहीद हो गया।[7] मेहता मालदास के इस

१ ओझा—राजपूताने का इतिहास, द्वितीय भाग, (उदयपुर) पृ० ६८६।
२ वही, पृ० ६८७।
३ वही, पृ० ६८७।
४ वीर विनोद, भाग-२, पृ० १७११।
५ ओझा—राजपूताने का इतिहास, द्वितीय भाग (उदयपुर) पृ० १०११।
६ शोध पत्रिका, वर्ष २३, अक १, पृ० ६५-६६।
७ ओझा—राजपूताने का इतिहास, द्वितीय भाग (उदयपुर), पृ० ६८७-८८।
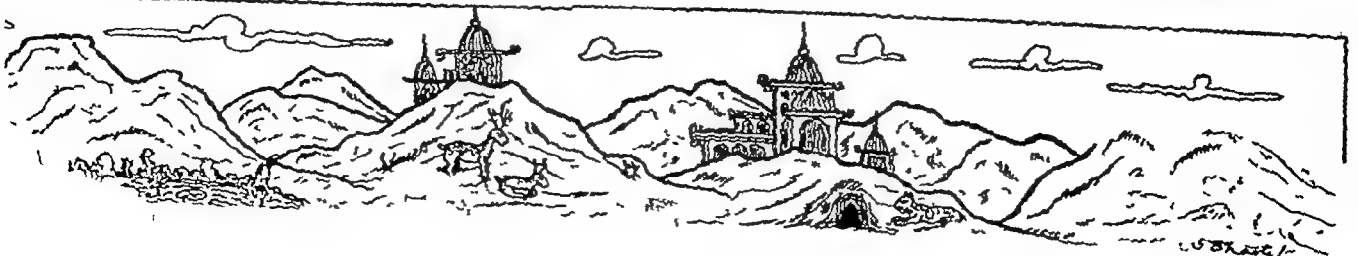
पराक्रम की कथाएँ आज भी मेवाड मे प्रचलित हैं। मालदास अदम्य योद्धा और श्रेष्ठ सेनापति ही नहीं अपितु योग्य प्रशासक भी था।[१] समकालीन कवि किशना आढ़ा कृत 'भीम विलास'[२] तथा पीछोली एव सोमारमा स्थित सुरह व शिलालेख[3] मे मेहता मालदास[४] के कार्यों का उल्लेख उपलब्ध होता है।

मेहता रामसिंह

इतिहास प्रसिद्ध जालसी मेहता की वशपरम्परा मे मेहता ऋषभदास हुआ, मेहता रामसिंह उसी का पुत्र था। यह अपने समय का सर्वाधिक प्रभावशाली, कार्यदक्ष, स्वामीभक्त, नीतिनिपुण, दूरदर्शी एव बुद्धिमान था। इसके इन्ही गुणो से प्रसन्न होकर महाराणा भीमसिंह ने वि०स० १८७५ श्रावणादि मे आषाढ सुदी ३ को बदनौर परगने का आरणा गाँव उसे जागीर मे दिया।[५]

भीमसिंह के काल मे मेवाड मे अँग्रेजो का हस्तक्षेप आरम्भ हो गया था और वि०स० १८७४ मे अंग्रेजों के साथ सन्धि होने के पश्चात् तो वहाँ द्वैध शासन की स्थिति पैदा हो गई, फलस्वरूप मेवाड की प्रजा परेशान हो गई। मेवाड के तत्कालीन पोलिटिकल एजेन्ट कप्तान कॉब ने इस परेशानी का मूल कारण उस समय के प्रधान शिवदयाल गलूंड्या की अकुशल व्यवस्था को माना और उसे इस पद से हटा कर वि०स० १८८५ के भाद्रपद मे मेहता रामसिंह को मेवाड राज्य का प्रधान बना दिया।[६] रामसिंह ने योग्यतापूर्वक व्यवस्था की, जिसके परिणामस्वरूप मेवाड की आर्थिक स्थिति कुछ ही समय मे सुधर गई और खिराज के चार लाख रुपये एव अन्य छोटे-बडे कर्ज अंग्रेजो को चुका दिये। रामसिंह की इस दक्षता से प्रसन्न होकर महाराणा ने चार गाँव क्रमश जयनगर, ककरोल, दौलतपुरा और बलदरखा उसे बख्शीस मे दिये। महाराणा जवानसिंह (वि०स० १८८५-९५) के समय में आर्थिक मामलो मे सन्देह के कारण कुछ समय के लिए इसे प्रधान के पद से हटा दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि राज्य की आर्थिक स्थिति पहले से भी अधिक खराब हो गई, मजबूर होकर इसे पुन प्रधान बनाया गया। इसने अंग्रेज सरकार से लिखा-पढ़ी करके कर्ज के दो लाख रुपये माफ करा दिये और चढ़ा हुआ खिराज भी चुका दिया। इस पर इसकी ईमानदारी की काफी प्रशसा हुई और महाराणा ने इसे सिरोपाव दिया, किन्तु रामसिंह के विरोधी उसके उत्कर्ष को सहन नही कर पा रहे थे, वे महाराणा के पास जाकर रामसिंह के विरुद्ध कान भरने लगे। कप्तान कॉब रामसिंह की योग्यता से काफी प्रभावित था, वह जब तक मेवाड मे रहा, रामसिंह प्रधान बना रहा लेकिन उसके जाने के बाद रामसिंह को इस्तीफा देकर हटना पड़ा।

महाराणा जवानसिंह की वि०स० १८९५ मे मृत्यु होने के बाद उनके उत्तराधिकारी के प्रश्न पर उस समय के प्रधान मेहता शेरसिंह को एक षडयन्त्र के आरोप में अपने पद से हटना पडा और पुन उसे मेवाड का प्रधान बनाया गया। महाराणा भीमसिंह के समय से ही महाराणाओ एव सामन्त सरदारो के मध्य छटूँद व चाकरी के सम्बन्ध मे विवाद चल रहा था और कोई समझौता नहीं हो पा रहा था, रामसिंह ने तत्कालीन पोलिटिकल एजेन्ट रॉबिन्सन से एक नया कौलनामा वि०स० १८९६ मे तैयार करा कर लागू कराया। वि०स० १८९७ मे खेरवाडा मे भीलो की एक सेना सगठित करने मे रामसिंह ने काफी उद्योग किया। इसी वर्ष रामसिंह का पुत्र बख्तावरसिंह जब बीमार हुआ तो महाराणा सरदारसिंह (वि०स० १८९५-९९) उसकी हवेली पर आये एव पूछताछ की। महाराणा सरूपसिंह (वि०स० १८९९-१९१८) भी वि०स० १९०० चैत्र वदी २ को रामसिंह की हवेली पर मेहमान हुए, उसकी मानवृद्धि की, ताजीम दी तथा 'काकाजी' की उपाधि देकर उसे सम्मानित किया। इतना होते हुए भी वि०स० १९०१ में उसके विरोधियों की शिकायत पर उसे प्रधान पद से पुन हटा दिया गया और १९०३ मे तो एक षडयन्त्र के आरोप मे उसे मेवाड छोडकर ही ब्यावर चले जाना पड़ा। उसके जाने के बाद उसकी जायदाद जब्त कर ली गई तथा उसके बाल-

---

१ टाड—एनल्स एण्ड एन्टिक्विटीज आफ राजस्थान, पृ० ३५०।

२ भीम विलास, छन्द स० २९२-९७, साहित्य सस्थान, रा०वि० उदयपुर की हस्त प्रति न० १२३।

३ वीर विनोद, भाग-२, पृ० १७७४-७५ एव १७७७-७८।

४ उदयपुर स्थित 'मालदास जी की सहरी' का नामकरण इसी मालदास की स्मृति मे रखा गया है।

५ ओझा—राजपूताने का इतिहास, द्वितीय भाग (उदयपुर) पृ० १३२४।

६ वही, पृ० १०२८।

बच्चो को भी निकाल दिया गया, यद्यपि बीकानेर महाराजा ने उसे अपने यहाँ ससम्मान आकर वसने का निमन्त्रण दिया, बाद मे महाराणा सरूपसिंह ने भी सही स्थिति ज्ञात होने पर पुन मेवाड मे आने का बुलावा भेजा, किन्तु उसके पहले ही उसकी मृत्यु हो गई।

सेठ जोरावरमल बापना

पटवा गोत्र के सेठ जोरावरमल बापना के पूर्वजो का मूल निवासस्थान जैसलमेर था। इनके पिता गुमानचन्द थे, जिनके पाँच पुत्र थे, जोरावरमल चतुर्थ पुत्र था। मेवाड राज्य के शासन-प्रवन्ध मे जोरावरमल यद्यपि किसी पद पर नही रहा, यह शुद्ध रूप से व्यापारिक प्रवृत्ति का पुरुष था किन्तु कर्नल टाड की सलाह से महाराणा भीमसिंह ने इसे जब इन्दौर से वि०स० १८७५ मे उदयपुर बुलाया एव यहाँ दुकान खोलने की स्वीकृति दी तो उसके पश्चात् इसके कार्यों से मेवाड की रक्षा मे पूर्ण योग मिला। इसकी दुकान से राज्य का सारा खर्च जाता था तथा राज्य की आय इसके यहाँ आकर जमा होती थी।

दुकान खोलने के बाद इसने नये खेडे बसाए, किसानो को आर्थिक सहायता प्रदान की एव चोरो व लुटेरो को राज्य से दण्ड दिलाकर मेवाड मे शांति व व्यवस्था कायम रखने मे पूर्ण सहयोग दिया। जोरावरमल की इन सेवाओ से प्रसन्न होकर वि०स० १८८३ की ज्येष्ठ सुदी १ को महाराणा ने इसको पालकी व छडी का सम्मान दिया, बदनोर परगने का पारसोली गाँव भेंट मे दिया एव 'सेठ' की उपाधि प्रदान की। यह धनाढ्य ही नही अपितु राजनीतिज्ञ भी था। तत्कालीन मेवाड मे प्रधान से भी अधिक सम्मान सेठ जोरावरमल बापना का था।[1]

कोठारी केसरीसिंह

बुद्धि-चातुर्य एव नीति-निपुणता मे प्रवीण कोठारी केसरीसिंह सर्वप्रथम वि०स० १९०२ मे महाराणा सरूपसिंह के समय मे 'रावली दुकान' कायम होने पर उसका हाकिम नियुक्त हुआ। इसकी कार्यदक्षता व चतुरता से प्रसन्न होकर वि०स० १९०८ मे महकमा 'दाण' का इसे हाकिम बनाया गया और महाराणाओ के इष्टदेव एकलिंगजी के मन्दिर का सारा प्रबन्ध भी इसे सुपुर्द किया गया।[2] कुछ समय पश्चात् इसे महाराणा का व्यक्तिगत सलाहकार भी नियुक्त किया। वि०स० १९१६ मे इसे नेतावल गाँव जागीर मे प्रदान किया, इसकी हवेली पर मेहमान होकर महाराणा ने इसका सम्मान बढ़ाया, मेहता गोकुलचन्द के स्थान पर इसे मेवाड का प्रधान बनाया, बोराव गाँव भेंट मे दिया और पैरो मे पहनने के सोने के तोडे प्रदान किये।

महाराणा शम्भूसिंह (वि०स० १९१८-३१) जब तक नाबालिग था, उस स्थिति मे कायम रीजेन्सी कौन्सिल का यह भी एक सदस्य था। स्पष्ट वक्ता एव स्वामीभक्त होने के कारण इस कौन्सिल के सदस्य रहते हुए इसने किसी भी सरदार या सामन्त को किसी जागीर पर गलत अधिकार नहीं करने दिया। यह तत्कालीन पोलिटिकल एजेन्ट को सही सलाह देकर शासन सुधार में भी रुचि लेता था। वि०स० १९२५ मे अकाल पडने पर इसने पूरे राज्य मे अनाज का व्यवस्थित प्रबन्ध किया। महाराणा ने विभिन्न विभागो की व्यवस्था व देखरेख का जिम्मा भी इसे सौंप रखा था। इसका दत्तक पुत्र कोठारी बलवन्तसिंह को भी महाराणा सज्जनसिंह ने वि०स० १९३८ मे देवस्थान का हाकिम नियुक्त किया। महाराणा फतहसिंह ने वि०स० १९४५ में इसे महद्राजसभा का सदस्य बनाया और सोने का लगर प्रदान किया।

मेवाड राज्य की रक्षा मे उपर्युक्त प्रमुख जैन विभूतियो के अतिरिक्त अनेक अन्य महापुरुषो ने भी अपने जीवन का उत्सर्ग किया है, यहाँ सब का उल्लेख करना सम्भव नहीं है, किन्तु उपरिलिखित वर्णन से ही स्पष्ट है कि जैनियो ने निस्पृह होकर किस तरह मातृभूमि व अपने राज्य की अनुपम व अलौकिक सेवा कर जैन जाति को गौरवान्वित किया।

---

१ ओझा—राजपूताने का इतिहास, द्वितीय भाग (उदयपुर) पृ० १३३१-३३।

२ एकलिंगजी के मन्दिर का काम सम्हालने के बाद जैनधर्मानुयायी होते हुए भी केसरीसिंह व उसके उत्तराधिकारी ने एकलिंगजी को अपना इष्ट देव मानना आरम्भ किया।

वीर भूमि मेवाड मे जैन सतो की एक महान् परम्परा लगभग चार सौ वर्ष से चली आ रही है। इस सत परम्परा ने न केवल मेवाड की धार्मिकता को उजागर किया, किन्तु वहाँ के लोक-जीवन को भी, सेवा, समर्पण, त्याग और राष्ट्र-निर्माण के क्षेत्र मे सदा प्रेरित किया है। मेवाड मे स्थानकवासी श्रमणो की इस गरिमामयी परम्परा के अनेक दीप्तिमान-नक्षत्र सतो का ऐतिहासिक परिचय यहाँ प्रस्तुत है—ग्रन्थ के प्रधान सम्पादक श्री सौभाग्य मुनि 'कुमुद' की प्रवाहमयी-लेखिनी से।
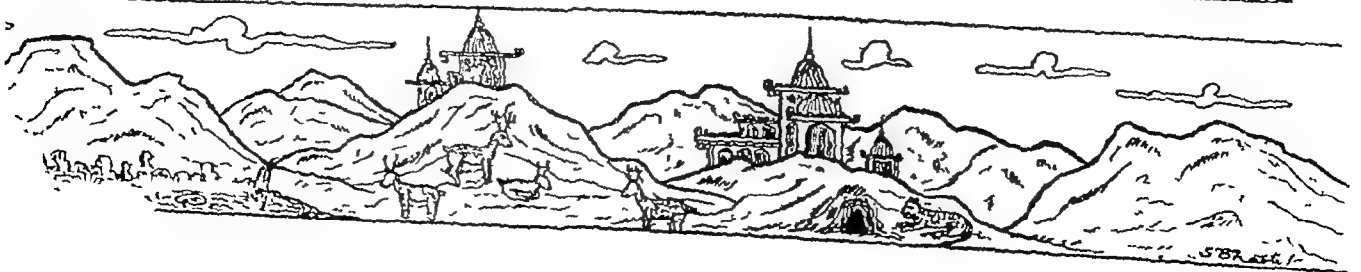
मेवाड़ सम्प्रदाय के ज्योतिर्मय नक्षत्र

☐

उत्सानुबन्ध—श्रमणेश भगवान महावीर द्वारा पुनरुद्धरित श्रमण परम्परा स्वरूप स्रोतस्विनी ने सहस्र धार बनकर-लगभग सम्पूर्ण आर्यावत को अपने तत्त्व नीर से सीचा।

भगवान महावीर के बाद गणधर एव स्थविरो की एक सुदीर्घ सशक्त परम्परा लगभग एक हजार वर्ष तक चली किन्तु उसके तुरन्त बाद ह्रास का एक अध्याय भी प्रारम्भ हुआ। कुछ समय वह भी चला अवश्य किन्तु साथ ही, क्रियोद्धार की एक नयी लहर दे गया।

क्रियोद्धारस्वरूप नव युग के प्रमुख प्रस्तोताओं मे क्रातिकारी वीर लोका शाह, पूज्य श्री लव जी ऋषि, पूज्य श्री जीवराज जी महाराज, पूज्य श्री धर्मसिंह जी, पूज्य श्री हरजी राजजी, पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज गिने जाते हैं।

भगवान महावीर और उनके बाद पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज तक का ऐतिहासिक पर्यवेक्षण पाठक इसी ग्रन्थ के इतिहास एव परम्परा खण्ड मे पढ़ सकते हैं।

एक अप्रिय आवरण

पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज के भारत विश्रुत निन्यानवें शिष्यो मे से पूज्य श्री छोटे पृथ्वीराज जी महाराज पाचवें या छठे शिष्य थे।[1]

पूज्य श्री पृथ्वीराज जी महाराज (छोटे) पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज के ही शिष्य थे ऐसा, कई प्रमाणों से सिद्ध हो चुका है।[2]

---

१ पूज्य श्री छोटा पृथ्वीचन्द जी महाराज —आचार्य चरितावली, पृ० १४८

२ ६५, धर्मदास जी, ६६, पृथ्वीराज जी (छोटी पट्टावली)
(ख) धर्मदास जी ॥५०॥ पृथ्वीराज जी (बडी पट्टावली)

पूज्य श्री पृथ्वीराज जी महाराज मेवाड की यशस्वी सन्त परम्परा के मूल सत रत्न गिने जाते हैं।

मेवाड प्रदेश मे जैन धर्म की मुकुलित कलि को विकसित करने का श्रेय पूज्य श्री पृथ्वीराज जी महाराज को ही दिया जा सकता है। ये मेवाड सप्रदाय के प्रथम आचार्य थे।

इनके बाद पूज्य श्री दुर्गादास जी महाराज, पूज्य श्री हरजी राज जी महाराज, पूज्य श्री गागोजी महाराज, पूज्य श्री रामचन्द्र जी महाराज, पूज्य श्री मनोजी महाराज, पूज्य श्री नारायणदास जी महाराज, पूज्य श्री पूरणमल जी महाराज क्रमश मेवाड सम्प्रदाय मे पट्टालकृत हुए ऐसा, छोटी और बडी दोनो पट्टावलियो से सिद्ध है। एक अन्य पट्टावली के अनुसार, पूज्य श्री पृथ्वीराज जी महाराज के बाद पूज्य श्री दुर्गादास जी, पूज्य श्री नारायण जी, पूज्य श्री पूरणमल जी, पूज्य श्री रामचन्द्र जी महाराज हुए ऐसा क्रम है।

इनमें पूर्व मत छोटी-बडी पट्टावली के अनुरूप है, जो प्राचीन है, यह पट्टावली अर्वाचीन है। अत पहली परम्परा ही समीचीन लगती है।

बडे खेद का विषय है कि उपर्युक्त परम्पराधीन पट्टाचार्यों, महामुनियो के विषय मे हम केवल नाममात्र का परिचय ही दे पा रहे हैं। बहुत शोध करने के उपरान्त भी हमे उक्त पूज्यो के विषय में कोई जानकारी नही मिल पायी।

पूज्य श्री पूरणमल जी महाराज के बाद पट्टानुक्रम से घोर तपस्वी पूज्यश्री रोडजी स्वामी का नाम आता है।

पूज्यी श्री रोड जी स्वामी से ही, मेवाड सम्प्रदाय के महात्माओ की ऐतिहासिकता के कुछ प्रमाण उपलब्ध होते हैं जिन्हें आगे क्रमश देने का प्रयास किया गया है।

●●

दूध का वर्ण तो उज्ज्वल है, व्यवहार भी कितना उज्ज्वल है, जो मथने वालो के हाथ मे स्निग्ध-उज्ज्वल नवनीत देता है।

चन्दन का तन ही नहीं अन्तर मन भी कितना सुगन्धित है, जो घिसने वालो के हाथों को मधुर सौरभ से सुगन्धित कर देता है।

सत का रूप ही नहीं, स्वरूप भी कितना निर्मल और पावन है, जो उसकी चरण-वन्दना करने वाले भी विश्व मे शीर्षस्थ बन जाते हैं।

—अम्बागुरु-सुवचन

१
घोर तपस्वी पूज्यश्री रोड़जी स्वामी

□

परिचय रेखा

मेवाड की पुण्य धरा पर त्याग, तप तथा सयम स्वरूप त्रिपथगामिनी गगा को अवतरित और प्रवाहित करने वाले सत्पुरुषो में पूज्य श्री रोडीदासजी महाराज का नाम सचमुच भागीरथ जैसा है।

घोर तपस्वीजी के नाम से प्रसिद्ध श्री रोडजी स्वामी का जन्म माहोली—नाथद्वारा के मध्य स्थित 'देवर' नामक ग्राम में हुआ। लोढा गोत्रीय श्री डूँगरजी तथा राजीबाई इनके पिता व माता थे। जन्म समय १८०४ के लगभग था।

मेवाड मे कूडा-करकट के इकट्ठे किये ढेर को 'रोडी' कहते है। माता-पिता ने बालक का नाम रोडीलाल रखा। मेवाड मे ऐसा नाम किसी दुर्लभ पुत्र का रखने की पद्धति है।

कई मनौतियो के बाद किसी नि सन्तान को यदि पुत्र मिल जाए तो उसको किसी की कुदृष्टि न लगे, इस विचार से उसका 'कचरामल', 'रोडीलाल', इस तरह के अशोभन नाम रखे जाते हैं। श्री रोडीलालजी भी अपने माता-पिता की दुर्लभ सन्तान होंगे, तभी उनका नाम 'रोडीलाल' रखा गया।

इससे यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि श्री रोडीलालजी अपने माता-पिता की नि सन्देह प्रिय सन्तान थे।

लालन-पालन भी उसी स्तर से हुआ होगा। श्री रोडीलालजी लगभग बीस वय के होंगे। देपुर मे श्री हीरजी स्वामी का पदार्पण हुआ।[1]

श्री हीरजी स्वामी बड़े तपस्वी तथा प्रभावक सन्त थे। उनका यद्यपि बहुत थोडा सम्पर्क श्री रोडजी को मिला, किन्तु रवि-किरण से जैसे कमल अनायास ही खिल जाया करते हैं। ऐसे ही मुनिश्री के तनिक सम्पर्क ने ही रोडजी के अन्तर को एक नई दिशा मे प्रेरित कर दिया, वह नई दिशा वैराग्य की थी।

आग्रह यदि सत्य होता है तो उसमे एक तेजस्विता होती है। सासारिकता और प्रलोभन उसके समक्ष तुच्छ हो क्षीण हो जाया करते हैं।

माता-पिता और पारिवारिकजनो ने उन्हें सासारिकता मे बाँधने का प्रयत्न किया ही होगा, किन्तु वे असफल रहे।

उसी वय अर्थात् अठारह सौ चौबीस मे श्री रोडजी ने श्री हीर मुनिजी के पास सयम ग्रहण किया।

---

१ "प्रेरक जीवनी" के लेखक ने हीरजी महाराज को रोडजी स्वामी का गुरु माना। लेखक के पास इसका क्या प्रमाण है, यह तो ज्ञात नही, किन्तु प्रेरक जीवनी और आगम के अनमोल रत्न मे श्री सुखजी स्वामी का उल्लेख हीरजी के गुरु के रूप मे किया तथा हीरजी को श्री रोडजी स्वामी का गुरु बताया। परम्परागत पट्टावलियो मे कहीं भी उक्त दोनो मुनियो का नाम देखने मे नहीं आया। सवत् १९३८ की गुलाबचन्दजी महाराज द्वारा लिखित पट्टावली मे भी "पूरोजी का रोडीदास" ऐसा लिखा है।

एक छोटी पट्टावली का पत्र रिखवदासजी महाराज तक का लिखा मिला। उसमे भी पट्ट-परम्परा के अनुसार १०३ पर, पूरोजी १०४ पर रोडीदासजी। इस उल्लेख से भी श्री रोडजी स्वामी के गुरु पूरणमलजी महाराज (पूरोजी) होना सिद्ध होता है। प्रस्तुत निबन्ध मे श्री सुखजी स्वामी तथा हीरजी स्वामी का गुरु रूप मे उल्लेख केवल प्रेरक जीवनी के आधार से अंकित किया गया है।

साधना

संयम की पावन भूमिका को प्राप्त कर श्री रोडजी स्वामी को स्वय अपने को ही पावन नही कर दिया अपितु सयम की सर्वोत्कृष्टता को भी मूर्तरूप प्रदान कर दिया।

नितान्त तितिक्षावृत्ति मे विचरने वाले श्री रोडजी स्वामी बडे परिषहजयी तथा धीर मुनिराज थे।

पूज्य श्री नृसिंहदासजी महाराज कृत 'श्री रोडजी स्वामी रा गुण' तपस्वीजी का जीवन परिचय देने वाली एक सशक्त और प्राचीन रचना है।

उसके अनुसार ज्ञात होता है कि श्री रोडजी स्वामी सचमुच बडे कष्ट-सहिष्णु थे। उनकी धीरोदात्त साधना के विषय मे सुनते-सोचते ही एक आश्चर्य का अनुभव होने लगता है।

सर्दी मे वे केवल एक चादर रखते थे। यदि सर्दी कुछ अधिक हो जाती तो वे उस चादर को भी दूर रखकर ध्यान कर लेते।[1]

गर्मी मे तपीस्वीजी किसी गर्म शिला पर सूर्य को सामने रख दोनो बाहुओं को लम्बी कर आतापना लेते हुए ध्यान किया करते।[2]

भयकर से भयकर विपरीत परिस्थितियो मे भी स्वामीजी अविचल सयम-पथ पर दृढतापूर्वक चलते रहे। भयकर विघ्नो के राहु भी उनके सयम चन्द्र को ग्रस नही सके। उनमे सायमिक शैथिल्य नही आ पाया, यह उनकी सतत जागरूकता का प्रमाण है।

नृसिंहदासजी महाराज कहते हैं कि—

पच महाव्रत पालताजी खम्या करी भरपूर।
बावीस परीषह जीतिया जी दोष टाल्या बियालीस पूर॥

आत्म-गवेषणा की इतनी उन्नत दशा मे रमकर रहने वाले श्री रोडजी स्वामी की साधना का परिचय कुछ शब्दो या पक्तियो मे आ सके यह सम्भव नही।

तात्कालिक परिस्थितियाँ

श्री रोडजी स्वामी ने जब १८२४ मे दीक्षा ग्रहण की तब मेवाड मे साधुमार्गी बावीस सम्प्रदाय का प्रभाव व्यापक रूप से फैल चुका था।

यतिवाद, जो कई वर्षों से जमा था, पूर्वाचार्य श्री पृथ्वीराजजी महाराज, श्री दुर्गादास जी, श्री रामचन्द्रजी महाराज श्री नारायणजी स्वामी आदि के त्याग, तप और उत्कृष्ट सयम से मूल से उखड चुका था। यतिवर्ग केवल उपाश्रय और मन्दिरों तक सीमित था। आम जनता जड पूजा के आग्रहो से मुक्त हो चुकी थी। चारो तरफ मुनियो के त्याग-तप का प्रभाव था।

चैतन्योपासना, स्वरूप-साधना, सामायिक व्रत, नियम, पौषध स्वाध्याय आदि धर्मक्रियाएँ उत्थान पर थी। दयाधर्म का चारो तरफ डका बज रहा था। ऐसे वातावरण मे एक विक्षेप भी प्रगति पा रहा था।

केलवा और राजनगर से आचार्य श्री रघुनाथजी के शिष्य श्री भीषणजी के द्वारा जो श्रद्धा-भेद प्रारम्भ हुआ वह धीरे-धीरे बढ रहा था।

जैन धर्म मे दया दान का बडा महत्त्व है। कष्ट-पीडित किसी भी प्राणी को कष्ट-मुक्त करना, मृत्यु के मुँह मे पहुँचे किसी तडपते बेसहारे पडे प्राणी को किसी उपक्रम से बचा लेने की भावना आना और बचा लेना दया है, जो धर्म का महत्त्वपूर्ण अग है। इसी तरह अभावग्रस्त किसी प्राणी को देय वस्तु समर्पित करना अनुकम्पा दान के रूप में प्रतिष्ठित रहा है।

---

१ सियाले एक पछेवडी जी, ध्यान धरे महाराय।
थोडो सी अधको पडे तो, वीने भी देवे टाल॥

२ जेठ तपे रवि आकरो जी, धूप पडे असराल।
स्वामी लेवे आतापना जी, वे तो कर कर लम्बी बाँय॥

१
घोर तपस्वी पूज्यश्री रोड़जी स्वामी

□

परिचय रेखा

मेवाड की पुण्य धरा पर त्याग, तप तथा सयम स्वरूप त्रिपथगामिनी गगा को अवतरित और प्रवाहित करने वाले सत्पुरुषो मे पूज्य श्री रोडीदासजी महाराज का नाम सचमुच भागीरथ जैसा है।

घोर तपस्वीजी के नाम से प्रसिद्ध श्री रोडजी स्वामी का जन्म माहोली—नाथद्वारा के मध्य स्थित 'देवर' नामक ग्राम मे हुआ। लोढ़ा गोत्रीय श्री डूँगरजी तथा राजीबाई इनके पिता व माता थे। जन्म समय १८०४ के लगभग था।

मेवाड मे कूडा-करकट के इकट्ठे किये ढेर को 'रोडी' कहते है। माता-पिता ने बालक का नाम रोडीलाल रखा। मेवाड मे ऐसा नाम किसी दुर्लभ पुत्र का रखने की पद्धति है।

कई मनौतियों के बाद किसी नि सन्तान को यदि पुत्र मिल जाए तो उसको किसी की कुदृष्टि न लगे, इस विचार से उसका 'कचरामल', 'रोडीलाल', इस तरह के अशोभन नाम रखे जाते हैं। श्री रोडीलालजी भी अपने माता-पिता की दुर्लभ सन्तान होंगे, तभी उनका नाम 'रोडीलाल' रखा गया।

इससे यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि श्री रोडीलालजी अपने माता-पिता की नि सन्देह प्रिय सन्तान थे।

लालन-पालन भी उसी स्तर से हुआ होगा। श्री रोडीलालजी लगभग बीस वर्ष के होंगे। देपुर मे श्री हीरजी स्वामी का पदार्पण हुआ।[1]

श्री हीरजी स्वामी बडे तपस्वी तथा प्रभावक सन्त थे। उनका यद्यपि बहुत थोडा सम्पर्क श्री रोडजी को मिला, किन्तु रवि-किरण से जैसे कमल अनायास ही खिल जाया करते हैं। ऐसे ही मुनिश्री के तनिक सम्पर्क ने ही रोडजी के अन्तर को एक नई दिशा मे प्रेरित कर दिया, वह नई दिशा वैराग्य की थी।

आग्रह यदि सत्य होता है तो उसमे एक तेजस्विता होती है। सासारिकता और प्रलोभन उसके समक्ष तुच्छ हो क्षीण हो जाया करते हैं।

माता-पिता और पारिवारिकजनो ने उन्हे सासारिकता मे बाँधने का प्रयत्न किया ही होगा, किन्तु वे असफल रहे।

उसी वर्ष अर्थात् अठारह सौ चौवीस मे श्री रोडजी ने श्री हीर मुनिजी के पास सयम ग्रहण किया।

---

१ "प्रेरक जीवनी" के लेखक ने हीरजी महाराज को रोडजी स्वामी का गुरु माना। लेखक के पास इसका क्या प्रमाण है, यह तो ज्ञात नही, किन्तु प्रेरक जीवनी और आगम के अनमोल रत्न मे श्री सुखजी स्वामी का उल्लेख हीरजी के गुरु के रूप मे किया तथा हीरजी को श्री रोडजी स्वामी का गुरु बताया। परम्परागत पट्टावलियो मे कहीं भी उक्त दोनो मुनियो का नाम देखने मे नही आया। सवत् १९३८ की गुलाबचन्दजी महाराज द्वारा लिखित पट्टावली मे भी "पूरोजी का रोडीदास" ऐसा लिखा है।

एक छोटी पट्टावली का पत्र रिखबदासजी महाराज तक का लिखा मिला। उसमे भी पट्ट-परम्परा के अनुसार १०३ पर, पूरोजी १०४ पर रोडीदासजी। इस उल्लेख से भी श्री रोडजी स्वामी के गुरु पूरणमलजी महाराज (पूरोजी) होना सिद्ध होता है। प्रस्तुत निबन्ध मे श्री सुखजी स्वामी तथा हीरजी स्वामी का गुरु रूप मे उल्लेख केवल प्रेरक जीवनी के आधार से अंकित किया गया है।

साधना

संयम की पावन भूमिका को प्राप्त कर श्री रोडजी स्वामी को स्वयं अपने को ही पावन नहीं कर दिया अपितु सयम की सर्वोत्कृष्टता को भी मूर्तरूप प्रदान कर दिया।

नितान्त तितिक्षावृत्ति मे विचरने वाले श्री रोडजी स्वामी बड़े परिषहजयी तथा धीर मुनिराज थे।

पूज्य श्री नृसिंहदासजी महाराज कृत 'श्री रोडजी स्वामी रा गुण' तपस्वीजी का जीवन परिचय देने वाली एक सशक्त और प्राचीन रचना है।

उसके अनुसार ज्ञात होता है कि श्री रोडजी स्वामी सचमुच बड़े कष्ट-सहिष्णु थे। उनकी धीरोदात्त साधना के विषय मे सुनते-सोचते ही एक आश्चर्य का अनुभव होने लगता है।

सर्दी मे वे केवल एक चादर रखते थे। यदि सर्दी कुछ अधिक हो जाती तो वे उस चादर को भी दूर रखकर ध्यान कर लेते।[1]

गर्मी मे तपोस्वीजी किसी गर्म शिला पर सूर्य को सामने रख दोनों बाहुओ को लम्बी कर आतापना लेते हुए ध्यान किया करते।[2]

भयकर से भयकर विपरीत परिस्थितियो मे भी स्वामीजी अविचल सयम-पथ पर दृढतापूवक चलते रहे। भयकर विघ्नो के राहु भी उनके सयम चन्द्र को ग्रस नही सके। उनमे सायमिक शैथिल्य नहीं आ पाया, यह उनकी सतत जागरूकता का प्रमाण है।

नृसिंहदासजी महाराज कहते हैं कि—

पच महाव्रत पालताजी खम्या करी भरपूर।
बावीस परीषह जीतिया जी दोष टाल्या बियालीस दूर।।

आत्म-गवेषणा की इतनी उन्नत दशा मे रमकर रहने वाले श्री रोडजी स्वामी की साधना का परिचय कुछ शब्दो या पक्तियो मे आ सके यह सम्भव नही।

तात्कालिक परिस्थितियाँ

श्री रोडजी स्वामी ने जब १८२४ मे दीक्षा ग्रहण की तब मेवाड मे साधुमार्गी बावीस सम्प्रदाय का प्रभाव व्यापक रूप से फैल चुका था।

यतिवाद, जो कई वर्षों से जमा था, पूर्वाचार्य श्री पृथ्वीराजजी महाराज, श्री दुर्गादास जी, श्री रामचन्द्रजी महाराज श्री नारायणजी स्वामी आदि के त्याग, तप और उत्कृष्ट सयम से मूल से उखड चुका था। यतिवर्ग केवल उपाश्रय और मन्दिरों तक सीमित था। आम जनता जड पूजा के आग्रहो से मुक्त हो चुकी थी। चारो तरफ मुनियो के त्याग-तप का प्रभाव था।

चैतन्योपासना, स्वरूप-साधना, सामायिक व्रत, नियम, पौषध स्वाध्याय आदि धर्मक्रियाएँ उत्थान पर थी। दयाधर्म का चारो तरफ डका बज रहा था। ऐसे वातावरण में एक विक्षेप भी प्रगति पा रहा था।

केलवा और राजनगर से आचार्य श्री रघुनाथजी के शिष्य श्री भीषणजी के द्वारा जो श्रद्धा-भेद प्रारम्भ हुआ वह धीरे-धीरे बढ रहा था।

जैन धर्म में दया दान का बडा महत्त्व है। कष्ट-पीडित किसी भी प्राणी को कष्ट-मुक्त करना, मृत्यु के मुँह मे पहुँचे किसी तडपते बेसहारे पडे प्राणी को किसी उपक्रम से बचा लेने की भावना आना और बचा लेना दया है, जो धर्म का महत्त्वपूर्ण अग है। इसी तरह अभावग्रस्त किसी प्राणी को देय वस्तु समर्पित करना अनुकम्पा दान के रूप मे प्रतिष्ठित रहा है।

---

१ सियाले एक पछेवडी जी, ध्यान धरे महाराय।
थोडी सी अधको पडे तो, बींने भी देवे टाल।।

२ जेठ तपे रवि आकरो जी, धूप पड़े असराल।
स्वामी लेवे आतापना जी, वे तो कर कर लम्बी बांय।।

सन्त श्री भीखणजी की श्रद्धानुसार ये बातें एकान्त पाप हैं। इनका धम या धर्म से सम्बन्धित किसी साधना के साथ दूर तक भी कोई सम्बन्ध नही।

श्री भीखणजी की यह श्रद्धा, प्ररूपणा जैन धर्म के मान्य सिद्धान्तो के एकदम प्रतिकूल थी। आचाय श्री रघुनाथजी महाराज ने उन्हें अपने विचार वदलने को कहा। किन्तु वे अपने विचारों की पुष्टि और प्रचार करते रहे।

परिणामस्वरूप श्री भीपणजी को पूज्य श्री रघुनाथजी महाराज की सम्प्रदाय से अलग होना पडा।

तेरह व्यक्तियो के प्रारम्भिक सहयोग से एक नये पथ को जन्म दिया गया, जिसका नाम सख्या के आधार पर 'तेरह पथ' (राजस्थानी भाषा मे 'तेरा पथ') रख दिया।

मेवाड तेरापथ का उद्गम-स्थल है। इस पथ के उद्गम मे जहाँ श्री भीखणजी की प्रमुख भूमिका रही, वहाँ राजनगर के कतिपय श्रावको का सहयोग भी कम नही रहा। तेरापथ सम्मत श्रद्धा के प्रचार मे राजनगर के श्रावको ने बडा काम किया।

राजनगर के आस-पास के गाँवों मे प्रचार की यह लहर बढती जा रही थी।

मेवाड मे उस समय मेवाड सम्प्रदाय के अग्रज मुनिराज श्री सुखजी स्वामी, श्री हीरजी स्वामी आदि मुनिराजो का सघ विचरता था।

बढते हुए श्रद्धा-भेद के प्रवाह का तत्कालीन मुनि-मण्डल ने दृढता के साथ प्रतीकार किया ही होगा, तभी वह प्रवाह एक सीमित प्रदेश मे फैलकर रह गया, आगे नही बढ सका। तथापि कुल मिलाकर तेरापथ को अपने प्रचार का जो लाभ मिला वह कम नही था।

पहाडी प्रदेश के लगभग प्रत्येक गाँव मे दो विचारधारा बन चुकी थी, जिससे सामाजिक राग-द्वेष का दावानल भभक उठा था।

राजनैतिक दृष्टि से यह जमाना मेवाड के लिये कोई अच्छा जमाना नहीं था। आसपास के हमलावरो से मेवाड तग था। मुगलों के भयकर आक्रमणो से जर्जर मेवाड वडी कठिनाई मे अपना समय बिता रहा था, चैन नही था। देश मे मुगल साम्राज्य का अन्त होकर अग्रेजी शासन की स्थापना हो रही थी। केन्द्र कमजोर था। अत देश के भीतर कई विग्रह चल रहे थे। आपाधापी के उस युग मे मेवाड बडी हानि उठा रहा था। मेवाड के राज्यसिंहासन पर जो महाराणा समासीन थे वे एक कमजोर राज्य के शासक थे। उन्हे बार-बार छिटपुट आक्रमणों का सामना करना पडता था।

राजनैतिक दृष्टि से कमजोर राज्य के नागरिको का मनोबल भी प्राय कमजोर हुआ करता है। उस स्थिति मे कोई भी प्रवाह उन्हे वहाकर ले जा सकता है।

मेवाड के जनमानस की भी कुछ ऐसी ही स्थिति थी। तभी श्रद्धा-भेद का एक प्रवाह आया, जिसका सचालन कुछ धनाढ्य गृहस्थ कर रहे थे। मेवाड के पहाडी प्रदेश का भोला जनमानस उसमें वहने लगा।

तपस्वी श्री रोडजी स्वामी अपनी तपोसाधना मे निरत थे। उन्होंने दीक्षित होते ही बेले-बेले पारणा करने की प्रतिज्ञा ली। एक माह मे दो अठाई भी कर लिया करते थे।

प्रतिवर्ष दो मास खमण (महीने की तपश्चर्या वर्ष मे दो वार) करने का निश्चय किया। इस तरह उन्होंने लगभग अपने सम्पूर्ण जीवन को तपोसाधना मे समर्पित कर दिया।

तपश्चर्या मे रत रहते हुए भी समाज मे जो कुछ हो रहा था, उससे वे अनजान नही थे। श्रद्धा-भेद के बढते प्रवाह को वे बडी धीरता के साथ देख रहे थे। उस अवसर पर उन्होंने सद्बोध देकर कई भटकते हुओं को स्थिर भी किया।

कुछ वर्षों पहले उदयपुर मे पुरातत्त्ववेत्ता स्व० प० कान्तिसागरजी से मेरा मिलना हुआ। उन्होंने बताया कि तेरापथी आचार्य भारीमलजी तथा श्री रोडजी स्वामी की चर्चा की एक लिखित पाण्डुलिपि मेरे पास है। मैं ढूँढकर आपको बताऊँगा।

मैंने उसे प्राप्त करने का पुन प्रयत्न किया। उन्होंने उसे ढूढा भी, किन्तु वह प्रति मिली नही।

यदि वह प्रति मिल जाती तो कई प्रश्नो का अनायास ही समाधान हो जाता।

प्रति न भी मिली, तथापि हम इतना तो अवश्य मान ही सकते हैं कि श्रद्धा-भेद का बढता प्रवाह घोर तपस्वी श्री रोडजी स्वामी के त्यागपूर्ण तेजस्वी व्यक्तित्व से अवरुद्ध अवश्य हो गया।

उसका बढाव ही नही रुका, कही-कहीं पुनरुद्धार भी हुआ।

महानता के मूर्तस्वरूप

घोर तपस्वी श्री रोडजी स्वामी तपश्चर्या के तो साक्षात् मूर्त स्वरूप थे ही, सहिष्णुता भी उनमे अद्‌भुत थी। पाठक उनके जीवन के विशेष प्रसगो को, जिन्हें आगे उद्धृत किया गया है, पढेंगे तो पायेंगे कि स्वामीजी का जीवन सहिष्णुता का ऐसा विराट् समुद्र था, जिसका कही किनारा ही नही।

अनेको जगह उन्हे पत्थरो से मारा गया, रेत मे दबा दिया गया, फिर भी वे नितान्त अक्षुब्ध रहे।

हमे भगवान महावीर के जीवन में एक निराली क्षमता का चित्र मिलता है जिसका उदाहरण विश्व मे कही भी अन्यत्र नहीं मिलता।

भगवान महावीर के बाद साधको के जीवन मे अनेको उपसर्गों की लम्बी परम्परा है। किन्तु विकट उपसर्गो की घटाओ के मध्य श्री रोडजी स्वामी की अद्‌भुत क्षमता का जो मुस्कुराता स्वरूप उपलब्ध होता है, सचमुच उसकी होड वाला चरित्र अन्यत्र नही मिल सकता।

पाठक स्वय सोचें कि किसी मुनि के कई दिनो का तप हो पारणा करने का अवसर आया हुआ हो और उसे कह दिया जाए कि वह मकान छोडकर निकल जाए। उस स्थिति मे जबकि अन्य स्थान उपलब्ध होने की सम्भावना न हो, मुनि की कैसी स्थिति बने।

सचमुच ऐसी स्थिति श्री रोडजी स्वामी मे बनी थी। ऐसे कठिन प्रसग मे भी अविचल धैर्य बनाए रखना, अकषाय भाव में लीन रहना महानता की सर्वोच्च स्थिति नही तो और क्या है ?

श्री रोडजी स्वामी सहिष्णु ही नही दयालु भी थे। यो तो मुनि मात्र दयालु होते हैं, किन्तु तपस्वीराज की दयालुता की तुलना नही।

कई जगह उपसर्ग खडे करने वाले मूढजनो को अधिकारियो ने पकडकर दण्डित करने का प्रयास भी किया, किन्तु ज्यो ही स्वामीजी को ज्ञात होता, वे तत्काल दयार्द्र हो उठते। वे अपने अपराधी को मुक्त कराने को बेचैन हो जाते। कई बार उन्होंने अपने अपराधियो को कारागार से मुक्त कराने को आहार तक त्याग दिया।

परन्तु करुणा-कातरता का ऐसा मूर्त स्वरूप बहुत कम देखने मे आता है। स्वामीजी "आत्मवत् सर्वभूतेषु" को चरितार्थ करने वाले समभाव सिद्धान्त पर चलने वाले एक सफल पथिक थे।

स्वामीजी साध्वाचार की साधना मे प्रखर थे। निरन्तर आत्म-गवेषणा तथा तप मे रत रहने वाले सत्पुरुष के साध्वाचार की उग्रता के क्या कहने ? उन्हें प्रमाद का स्वल्पांश भी स्वीकृत नही था।

साम्प्रदायिक द्वेष के एक विशेष प्रसग मे किसी द्वेषी ने एक बार स्वामीजी को कलकित करने की असफल कुचेष्टा भी की, किन्तु स्वामीजी सम्पूर्ण निर्णय होने तक आहार त्याग कर बैठे। प्रश्न उनके जीवन का ही नही, मुनि परम्परा के कलकित होने का था। स्वामीजी अन्य उपसर्गों के प्रति जहाँ अतिशय नम्र तथा सहिष्णु थे, उक्त प्रसग के अवसर पर चट्टान से भी अधिक कठोर बन गये। आहार तभी ग्रहण किया जब सच्चाई जनता के सामने आ गई।

एक ही व्यक्ति मे इतने विलक्षण गुणो का सम्मिलित विकास सचमुच उसे महानता के शिखर पर चढा देता है।

स्वामीजी अद्वितीय (=एकाकी) स्थिति में भी कुछ समय विचरे, ऐसा नृसिहदासजी महाराज रचित ढाल से ज्ञात होता है।[1] कठिनाइयो के उस युग में एकाकी विचरण करना सामान्य बात नही थी। बहुत बडे धैर्य और साहस के बिना एकाकी विचरण करना सम्भव नही था।

१ काल कितना इक विचरिया जी एकल विहारी आप।
परीसा तो खम्या अति घणा जारा टल्या सर्व सन्ताप ॥

सन्त श्री भीखणजी की श्रद्धानुसार ये बातें एकान्त पाप हैं। इनका धम या धर्म से सम्बन्धित किसी साधना के साथ दूर तक भी कोई सम्बन्ध नही।

श्री भीखणजी की यह श्रद्धा, प्ररूपणा जैन धर्म के मान्य सिद्धान्तो के एकदम प्रतिकूल थी। आचाय श्री रघुनाथजी महाराज ने उन्हे अपने विचार बदलने को कहा। किन्तु वे अपने विचारो की पुष्टि और प्रचार करते रहे।

परिणामस्वरूप श्री भीपणजी को पूज्य श्री रघुनाथजी महाराज की सम्प्रदाय से अलग होना पडा।

तेरह व्यक्तियो के प्रारम्भिक सहयोग से एक नये पथ को जन्म दिया गया, जिसका नाम सख्या के आधार पर 'तेरह पथ' (राजस्थानी भाषा मे 'तेरा पथ') रख दिया।

मेवाड तेरापथ का उद्गम-स्थल है। इस पथ के उद्गम मे जहाँ श्री भीखणजी की प्रमुख भूमिका रही, वहाँ राजनगर के कतिपय श्रावको का सहयोग भी कम नहीं रहा। तेरापथ सम्मत श्रद्धा के प्रचार मे राजनगर के श्रावको ने बडा काम किया।

राजनगर के आस-पास के गाँवो मे प्रचार की यह लहर बढती जा रही थी।

मेवाड मे उस समय मेवाड सम्प्रदाय के अग्रज मुनिराज श्री सुखजी स्वामी, श्री हीरजी स्वामी आदि मुनिराजो का सघ विचरता था।

बढ़ते हुए श्रद्धा-भेद के प्रवाह का तत्कालीन मुनि-मण्डल ने दृढता के साथ प्रतीकार किया ही होगा, तभी वह प्रवाह एक सीमित प्रदेश मे फैलकर रह गया, आगे नही बढ सका। तथापि कुल मिलाकर तेरापथ को अपने प्रचार का जो लाभ मिला वह कम नहीं था।

पहाडी प्रदेश के लगभग प्रत्येक गाँव मे दो विचारधारा बन चुकी थी, जिससे सामाजिक राग-द्वेष का दावानल भभक उठा था।

राजनैतिक दृष्टि से यह जमाना मेवाड के लिये कोई अच्छा जमाना नही था। आसपास के हमलावरो से मेवाड तग था। मुगलो के भयकर आक्रमणो से जर्जर मेवाड बडी कठिनाई मे अपना समय बिता रहा था, चैन नही था। देश मे मुगल साम्राज्य का अन्त होकर अग्रेजी शासन की स्थापना हो रही थी। केन्द्र कमजोर था। अत देश के भीतर कई विग्रह चल रहे थे। आपाधापी के उस युग मे मेवाड बडी हानि उठा रहा था। मेवाड के राज्यसिंहासन पर जो महाराणा समासीन थे वे एक कमजोर राज्य के शासक थे। उन्हें बार-बार छिटपुट आक्रमणो का सामना करना पडता था।

राजनैतिक दृष्टि से कमजोर राज्य के नागरिको का मनोबल भी प्राय कमजोर हुआ करता है। उस स्थिति मे कोई भी प्रवाह उन्हें बहाकर ले जा सकता है।

मेवाड के जनमानस की भी कुछ ऐसी ही स्थिति थी। तभी श्रद्धा-भेद का एक प्रवाह आया, जिसका सचालन कुछ धनाढ्य गृहस्थ कर रहे थे। मेवाड के पहाडी प्रदेश का भोला जनमानस उसमे बहने लगा।

तपस्वी श्री रोडजी स्वामी अपनी तपोसाधना मे निरत थे। उन्होंने दीक्षित होते ही बेले-बेले पारणा करने की प्रतिज्ञा ली। एक माह मे दो अठाई भी कर लिया करते थे।

प्रतिवर्ष दो मास खमण (महीने की तपश्चर्या वर्ष मे दो बार) करने का निश्चय किया। इस तरह उन्होंने लगभग अपने सम्पूण जीवन को तपोसाधना मे समर्पित कर दिया।

तपश्चर्या मे रत रहते हुए भी समाज में जो कुछ हो रहा था, उससे वे अनजान नहीं थे। श्रद्धा-भेद के बढते प्रवाह को वे बडी धीरता के साथ देख रहे थे। उस अवसर पर उन्होंने सद्बोध देकर कई भटकते हुओ को स्थिर भी किया।

कुछ वर्षों पहले उदयपुर मे पुरातत्त्ववेत्ता स्व० प० कान्तिसागरजी से मेरा मिलना हुआ। उन्होंने बताया कि तेरापथी आचार्य भारीमलजी तथा श्री रोडजी स्वामी की चर्चा की एक लिखित पाडुलिपि मेरे पास है। मैं ढूढ़कर आपको बताऊँगा।

मैंने उसे प्राप्त करने का पुन प्रयत्न किया। उन्होंने उसे ढूढा भी, किन्तु वह प्रति मिली नही।

यदि वह प्रति मिल जाती तो कई प्रश्नो का अनायास ही समाधान हो जाता।

प्रति न भी मिली, तथापि हम इतना तो अवश्य मान ही सकते हैं कि श्रद्धा-भेद का बढ़ता प्रवाह घोर तपस्वी श्री रोडजी स्वामी के त्यागपूर्ण तेजस्वी व्यक्तित्व से अवरुद्ध अवश्य हो गया।

उसका बढ़ाव ही नहीं रुका, कहीं-कहीं पुनरुद्धार भी हुआ।

महानता के मूर्तस्वरूप

घोर तपस्वी श्री रोडजी स्वामी तपश्चर्या के तो साक्षात् मूर्त स्वरूप थे ही, सहिष्णुता भी उनमे अद्भुत थी। पाठक उनके जीवन के विशेष प्रसगो को, जिन्हे आगे उद्धृत किया गया है, पढेंगे तो पायेंगे कि स्वामीजी का जीवन सहिष्णुता का ऐसा विराट् समुद्र था, जिसका कहीं किनारा ही नहीं।

अनेको जगह उन्हें पत्थरो से मारा गया, रेत मे दबा दिया गया, फिर भी वे नितान्त अक्षुब्ध रहे।

हमे भगवान महावीर के जीवन मे एक निराली क्षमता का चित्र मिलता है जिसका उदाहरण विश्व मे कहीं भी अन्यत्र नहीं मिलता।

भगवान महावीर के बाद साधकों के जीवन मे अनेको उपसर्गों की लम्बी परम्परा है। किन्तु विकट उपसर्गों की घटाओ के मध्य श्री रोडजी स्वामी की अद्भुत क्षमता का जो मुस्कुराता स्वरूप उपलब्ध होता है, सचमुच उसकी होड वाला चरित्र अन्यत्र नहीं मिल सकता।

पाठक स्वय सोचें कि किसी मुनि के कई दिनो का तप हो पारणा करने का अवसर आया हुआ हो और उसे कह दिया जाए कि वह मकान छोडकर निकल जाए। उस स्थिति मे जबकि अन्य स्थान उपलब्ध होने की सम्भावना न हो, मुनि की कैसी स्थिति बने।

सचमुच ऐसी स्थिति श्री रोडजी स्वामी मे बनी थी। ऐसे कठिन प्रसग मे भी अविचल धैर्य बनाए रखना, अकषाय भाव मे लीन रहना महानता की सर्वोच्च स्थिति नहीं तो और क्या है?

श्री रोडजी स्वामी सहिष्णु ही नहीं दयालु भी थे। यो तो मुनि मात्र दयालु होते हैं, किन्तु तपस्वीराज की दयालुता की तुलना नहीं।

कई जगह उपसर्ग खडे करने वाले मूढजनो को अधिकारियों ने पकडकर दण्डित करने का प्रयास भी किया, किन्तु ज्यो ही स्वामीजी को ज्ञात होता, वे तत्काल दयार्द्र हो उठते। वे अपने अपराधी को मुक्त कराने को बेचैन हो जाते। कई बार उन्होंने अपने अपराधियो को कारागार से मुक्त कराने को आहार तक त्याग दिया।

पर-दुःख-कातरता का ऐसा मूर्त स्वरूप बहुत कम देखने मे आता है। स्वामीजी "आत्मवत् सर्वभूतेषु" को चरितार्थ करने वाले समभाव सिद्धान्त पर चलने वाले एक सफल पथिक थे।

स्वामीजी साध्वाचार की साधना मे प्रखर थे। निरन्तर आत्म-गवेषणा तथा तप मे रत रहने वाले सत्पुरुष के साध्वाचार की उग्रता के क्या कहने? उन्हें प्रमाद का स्वल्पांश भी स्वीकृत नहीं था।

साम्प्रदायिक द्वेष के एक विशेष प्रसग में किसी द्वेषी ने एक बार स्वामीजी को कलकित करने की असफल कुचेष्टा भी की, किन्तु स्वामीजी सम्पूर्ण निर्णय होने तक आहार त्याग कर बैठे। प्रश्न उनके जीवन का ही नहीं, मुनि परम्परा के कलकित होने का था। स्वामीजी अन्य उपसर्गों के प्रति जहाँ अतिशय नम्र तथा सहिष्णु थे, उक्त प्रसग के अवसर पर चट्टान से भी अधिक कठोर बन गये। आहार तभी ग्रहण किया जब सच्चाई जनता के सामने आ गई।

एक ही व्यक्ति में इतने विलक्षण गुणो का सम्मिलित विकास सचमुच उसे महानता के शिखर पर चढा देता है।

स्वामीजी अद्वितीय (=एकाकी) स्थिति में भी कुछ समय विचरे, ऐसा नृसिंहदासजी महाराज रचित ढाल से ज्ञात होता है।[1] कठिनाइयो के उस युग में एकाकी विचरण करना सामान्य बात नहीं थी। बहुत बडे धैर्य और साहस के बिना एकाकी विचरण करना सम्भव नहीं था।

---

१ काल कितना इक विचरिया जी एकल विहारी आप।
परीसा तो खम्या अति घणा जारा टल्या सर्व सन्ताप ॥

सन्त श्री भीखणजी की श्रद्धानुसार ये बातें एकान्त पाप हैं। इनका धर्म या धर्म से सम्बन्धित किसी साधना के साथ दूर तक भी कोई सम्बन्ध नही।

श्री भीखणजी की यह श्रद्धा, प्ररूपणा जैन धर्म के मान्य सिद्धान्तो के एकदम प्रतिकूल थी। आचार्य श्री रघुनाथजी महाराज ने उन्हे अपने विचार बदलने को कहा। किन्तु वे अपने विचारो की पुष्टि और प्रचार करते रहे।

परिणामस्वरूप श्री भीषणजी को पूज्य श्री रघुनाथजी महाराज की सम्प्रदाय से अलग होना पडा।

तेरह व्यक्तियो के प्रारम्भिक सहयोग से एक नये पथ को जन्म दिया गया, जिसका नाम सख्या के आधार पर 'तेरह पथ' (राजस्थानी भाषा मे 'तेरा पथ') रख दिया।

मेवाड तेरापथ का उद्गम-स्थल है। इस पथ के उद्गम मे जहाँ श्री भीखणजी की प्रमुख भूमिका रही, वहाँ राजनगर के कतिपय श्रावको का सहयोग भी कम नहीं रहा। तेरापथ सम्मत श्रद्धा के प्रचार मे राजनगर के श्रावको ने बडा काम किया।

राजनगर के आस-पास के गाँवो मे प्रचार की यह लहर बढती जा रही थी।

मेवाड मे उस समय मेवाड सम्प्रदाय के अग्रज मुनिराज श्री सुखजी स्वामी, श्री हीरजी स्वामी आदि मुनिराजो का सघ विचरता था।

बढ़ते हुए श्रद्धा-भेद के प्रवाह का तत्कालीन मुनि-मण्डल ने दृढता के साथ प्रतीकार किया ही होगा, तभी वह प्रवाह एक सीमित प्रदेश मे फैलकर रह गया, आगे नही बढ सका। तथापि कुल मिलाकर तेरापथ को अपने प्रचार का जो लाभ मिला वह कम नही था।

पहाडी प्रदेश के लगभग प्रत्येक गाँव मे दो विचारधारा बन चुकी थी जिससे सामाजिक राग-द्वेष का दावानल भभक उठा था।

राजनैतिक दृष्टि से यह जमाना मेवाड के लिये कोई अच्छा जमाना नही था। आसपास के हमलावरो से मेवाड तग था। मुगलो के भयकर आक्रमणो से जर्जर मेवाड बडी कठिनाई मे अपना समय बिता रहा था, चैन नही था। देश मे मुगल साम्राज्य का अन्त होकर अग्रेजी शासन की स्थापना हो रही थी। केन्द्र कमजोर था। अत देश के भीतर कई विग्रह चल रहे थे। आपाधापी के उस युग मे मेवाड बडी हानि उठा रहा था। मेवाड के राज्यसिंहासन पर जो महाराणा समासीन थे वे एक कमजोर राज्य के शासक थे। उन्हे बार-बार छिटपुट आक्रमणो का सामना करना पडता था।

राजनैतिक दृष्टि से कमजोर राज्य के नागरिको का मनोबल भी प्राय कमजोर हुआ करता है। उस स्थिति मे कोई भी प्रवाह उन्हे बहाकर ले जा सकता है।

मेवाड के जनमानस की भी कुछ ऐसी ही स्थिति थी। तभी श्रद्धा-भेद का एक प्रवाह आया, जिसका सचालन कुछ धनाढ्य गृहस्थ कर रहे थे। मेवाड के पहाडी प्रदेश का भोला जनमानस उसमे बहने लगा।

तपस्वी श्री रोडजी स्वामी अपनी तपोसाधना मे निरत थे। उन्होंने दीक्षित होते ही बेले-बेले पारणा करने की प्रतिज्ञा ली। एक माह मे दो अठाई भी कर लिया करते थे।

प्रतिवष दो मास खमण (महीने की तपश्चर्या वर्ष मे दो बार) करने का निश्चय किया। इस तरह उन्होंने लगभग अपने सम्पूण जीवन को तपोसाधना मे समर्पित कर दिया।

तपश्चर्या मे रत रहते हुए भी समाज मे जो कुछ हो रहा था, उससे वे अनजान नही थे। श्रद्धा भेद के बढ़ते प्रवाह को वे बडी धीरता के साथ देख रहे थे। उस अवसर पर उन्होंने सद्बोध देकर कई भटकते हुओ को स्थिर भी किया।

कुछ वर्षों पहले उदयपुर मे पुरातत्ववेत्ता स्व० प० कान्तिसागरजी से मेरा मिलना हुआ। उन्होंने बताया कि तेरापथी आचार्य मारीमलजी तथा श्री रोडजी स्वामी की चर्चा की एक लिखित पाडुलिपि मेरे पास है। मैं ढूढकर आपको बताऊँगा।

मैंने उसे प्राप्त करने का पुन प्रयत्न किया। उन्होंने उसे ढूढ़ा भी, किन्तु वह प्रति मिली नही।

यदि वह प्रति मिल जाती तो कई प्रश्नो का अनायास ही समाधान हो जाता।

प्रति न भी मिली, तथापि हम इतना तो अवश्य मान ही सकते हैं कि श्रद्धा-भेद का बढता प्रवाह घोर तपस्वी श्री रोडजी स्वामी के त्यागपूर्ण तेजस्वी व्यक्तित्व से अवरुद्ध अवश्य हो गया।

उसका बढाव ही नही रुका, कही-कही पुनरुद्धार भी हुआ।

महानता के मूर्तस्वरूप

घोर तपस्वी श्री रोडजी स्वामी तपश्चर्या के तो साक्षात् मूत स्वरूप थे ही, सहिष्णुता भी उनमे अद्भुत थी। पाठक उनके जीवन के विशेष प्रसगो को, जिन्हे आगे उद्धृत किया गया है, पढेंगे तो पायेंगे कि स्वामीजी का जीवन सहिष्णुता का ऐसा विराट् समुद्र था, जिसका कही किनारा ही नही।

अनेको जगह उन्हे पत्थरो से मारा गया, रेत मे दबा दिया गया, फिर भी वे नितान्त अक्षुब्ध रहे।

हमे भगवान महावीर के जीवन मे एक निराली क्षमता का चित्र मिलता है जिसका उदाहरण विश्व मे कही भी अन्यत्र नही मिलता।

भगवान महावीर के बाद साधको के जीवन मे अनेको उपसर्गों की लम्बी परम्परा है। किन्तु विकट उपसर्गों की घटाओ के मध्य श्री रोडजी स्वामी की अद्भुत क्षमता का जो मुस्कुराता स्वरूप उपलब्ध होता है, सचमुच उसकी होड वाला चरित्र अन्यत्र नही मिल सकता।

पाठक स्वय सोचें कि किसी मुनि के कई दिनो का तप हो पारणा करने का अवसर आया हुआ हो और उसे कह दिया जाए कि वह मकान छोडकर निकल जाए। उस स्थिति मे जबकि अन्य स्थान उपलब्ध होने की सम्भावना न हो, मुनि की कैसी स्थिति बने।

सचमुच ऐसी स्थिति श्री रोडजी स्वामी मे बनी थी। ऐसे कठिन प्रसग मे भी अविचल धैय बनाए रखना, अकषाय भाव मे लीन रहना महानता की सर्वोच्च स्थिति नही तो और क्या है?

श्री रोडजी स्वामी सहिष्णु ही नही दयालु भी थे। यो तो मुनि मात्र दयालु होते हैं, किन्तु तपस्वीराज की दयालुता की तुलना नही।

कई जगह उपसग खड़े करने वाले मूढजनो को अधिकारियो ने पकडकर दण्डित करने का प्रयास भी किया, किन्तु ज्यो ही स्वामीजी को ज्ञात होता, वे तत्काल दयार्द्र हो उठते। वे अपने अपराधी को मुक्त कराने को बेचैन हो जाते। कई बार उन्होने अपने अपराधियो को कारागार से मुक्त कराने को आहार तक त्याग दिया।

परदु ख-कातरता का ऐसा मूर्त स्वरूप बहुत कम देखने मे आता है। स्वामीजी "आत्मवत् सर्वभूतेषु" को चरितार्थ करने वाले समभाव सिद्धान्त पर चलने वाले एक सफल पथिक थे।

स्वामीजी साध्वाचार की साधना मे प्रखर थे। निरन्तर आत्म-गवेषणा तथा तप मे रत रहने वाले सत्पुरुष के साध्वाचार की उग्रता के क्या कहने? उन्हें प्रमाद का स्वल्पाश भी स्वीकृत नहीं था।

साम्प्रदायिक द्वेष के एक विशेष प्रसग मे किसी द्वेषी ने एक बार स्वामीजी को कलकित करने की असफल कुचेष्टा भी की, किन्तु स्वामीजी सम्पूण निणय होने तक आहार त्याग कर बैठे। प्रश्न उनके जीवन का ही नही, मुनि परम्परा के कलकित होने का था। स्वामीजी अन्य उपसर्गों के प्रति जहाँ अतिशय नम्र तथा सहिष्णु थे, उक्त प्रसग के अवसर पर चट्टान से भी अधिक कठोर बन गये। आहार तभी ग्रहण किया जब सच्चाई जनता के सामने आ गई।

एक ही व्यक्ति मे इतने विलक्षण गुणो का सम्मिलित विकास सचमुच उसे महानता के शिखर पर चढा देता है।

स्वामीजी अद्वितीय (=एकाकी) स्थिति में भी कुछ समय विचरे, ऐसा नृसिंहदासजी महाराज रचित ढाल से ज्ञात होता है।[1] कठिनाइयो के उस युग मे एकाकी विचरण करना सामान्य बात नहीं थी। बहुत बड़े धैर्य और साहस के विना एकाकी विचरण करना सम्भव नही था।

१ काल कितना इक विचरिया जी एकल विहारी आप।
परीसा तो खम्या अति घणा जारा टल्या सर्व सन्ताप॥

अद्वितीय विचरने का कारण अनुमानत परिस्थिति रही होगी। अन्यथा स्वेच्छया एकाकी विचरण शास्त्र द्वारा निषिद्ध है।

ऐसा लगता है कि अन्य मुनिराजो का देहावसान हो गया होगा और कोई योग्य दीक्षार्थी उपलब्ध नही हुआ होगा। तभी वे एकाकी रहे होगे।

एकाकी रहने की स्थिति मे अधिकतर बे-लगाम घोडे की तरह साधक का पतन होता देखा गया है। किन्तु श्री रोडजी स्वामी के लिये यह पद्धति सत्य सिद्ध नही हो सकी। स्वामीजी एकाकी रहकर भी उत्कृष्ट सयम की साधना मे प्रतिपल रत रहे। शास्त्रोक्त "एगओ वा परिसागओ वा" नामक उक्ति आपके लिये अवश्य चरितार्थ हो गई। अनेक मे और एक मे आपका समान सयमोत्कर्ष बना रहा।

श्री नृसिंहदासजी महाराज रचित ढाल देखने से ज्ञात होता है कि स्वामीजी को ध्यान का सबसे बडा सम्बल था।

एकान्त आपका प्रिय स्थान था। प्राय नगर और बस्ती से दूर एकान्त मे स्वामीजी घण्टो ध्यान साधना किया करते थे। भयकर सर्दी और गर्मी मे भी यह क्रम नही टूटता।

प्रात ही नही, मध्यान्ह और रात्रि मे भी ध्यान साधना चलती रहती।

कहते हैं, रोडजी स्वामी राज करेडा के पास कालाजी का स्थान है। उसके आस पास भी ध्यान किया करते। वहाँ उनकी आँखें जो लगभग अन्धापन से ग्रस्त हो चुकी थी, खुल गईं, ऐसा ढाल से ज्ञात होता है।[1]

रायपुर के पास घणा की घाली को भी स्वामीजी ने ध्यान से पावन किया।

एक जगह स्वामीजी ध्यानस्थ थे। वही एक भयकर नाग निकल आया। वह पाँवो मे लिपट गया। फिर भी तपस्वीजी अडिग रहे। कहते हैं, नाग ने स्वामीजी के चारो तरफ फिरकर परिक्रमा, वन्दना, अभ्यर्थना की और सभी के देखते हुए यथास्थान चला गया।[2]

आत्म-साधना के समर-क्षेत्र मे उतरे सेनानी की तरह श्री रोडजी स्वामी अपनी साधना के प्रति निरन्तर जागरूक रहने वाली अनुपम विभूति थे। एकक्षण के लिये भी उन्हे सयम-शैथिल्य स्वीकार नही था।

राजकरेडा के राजाजी जानते थे कि तपस्वीजी की दृष्टि (नजर) मे ह्रास हो गया। उन्होने अपने यहाँ के काजल के प्रयोग का आग्रह किया। एक दिन तपस्वीजी राजमहलो मे गये। नौकर लोग काजल देने लगे। मर्यादानुसार महाराज ने पूछा कि काजल सूजता (निर्दोष) है? एक नौकर ने कहा महाराज! सारी रात आँखे फोडते हो गई और आप कहते हो सूजता है? नौकर के इतना कहते ही तपस्वीजी जान गये कि काजल मेरे लिये रातो रात तैयार किया गया। यह मेरे लिये निर्दोष नही है। उन्होंने उसे तत्काल त्याग दिया।[3]

मूर्तिमन्त महानता के कुछ अद्भुत चित्र

आँखें खुल गईं

सदोष समझकर तपस्वीजी ने राजाजी का काजल नहीं लिया था और अपने स्थान पर पहुँच कर वे ध्यान के लिए एकान्त विपिन मे चले गये।

---

१ शहर सूं स्वामी पधारियाजी गया विषम उजाड।
तेलो कर स्वामी विराजिया वारी आँख्या खुली तत्काल ॥

२ आतापना लेवे स्वामी रोडजी सिला उपर जाय।
सप निकल्यो तिण अवसरे वो तो कालो डाटक नाग ॥
प्रक्रमा दीनी तिण अवसरे जी राजा वासग नाग।
पगा बीच ऊभो रह्यो उ तो ऊभो करे अरदास ॥

३ राजाजी जब यूं कह्यो स्वामी काजल लो महाराज।
एक दिवस गढ पधारज्यो म्हारा सफल करो काज ॥
स्वामी तो मन मे विचारियोजी सूजतो काजल नाय।
यो तो काजल लेणो नही म्हारे दोष लागे बरता माय ॥

तेले का तप कर स्वामीजी ने वहाँ अखण्ड ध्यान किया। वहीं तपस्वीजी की आँखें खुल गईं। दृष्टि लौट आई।[1]

शिला धर दी

रायपुर की 'घणा की वाली' मे तपस्वीजी ध्यानस्थ थे। एक ग्वाले ने तपस्वीजी के चारो तरफ रेती का ढेर लगाकर ऊपर एक बडा-सा पत्थर रख दिया। बडा जबरदस्त परीषह था। किन्तु स्वामीजी अडिग ध्यानस्थ बैठे रहे।

एक भाई प्राय प्रतिदिन उस मार्ग से आया-जाया करता था। उसने स्वामीजी की यह स्थिति देखी। उसे बडा दु ख हुआ। उसने तुरन्त उपसर्ग उठा दिया। कहते हैं, नगर मे चर्चा होने पर ग्वाला को पकड भी लिया गया। किन्तु स्वामीजी ने आहार त्याग कर उसे छुडा दिया।[2]

सनवाड मे उपसर्ग

सनवाड आज तो जैन समाज का अच्छा केन्द्र है। किन्तु एक युग मे वहाँ किसी जैन मुनि का प्रवेश ही कठिन था। जैन अनुयायियो का निवास नही होगा अथवा अत्यल्प सख्या मे रहा होगा। उस स्थिति मे श्री रोडजी स्वामी सनवाड पधारे

नियमानुसार स्वामीजी ने एकान्त वन मे ध्यान किया। ग्वाले, जो ढोर चरा रहे थे, मुनि को देखकर पहले तो डरे, किन्तु मुनि की शान्त मुद्रा से उनका भय जाता रहा। वे क्रोध और कौतूहल के मिश्रित भावो मे वह कर स्वामीजी को दोनो पाँवो से पकडकर घसीटने लगे। यह भयकर क्लेशप्रद उपसर्ग था, किन्तु सहिष्णुता के मूर्तिमन्त आदर्श स्वामीजी अक्षुब्ध बने रहे। कहते हैं, उन्हे भी अधिकारी दण्ड देने लगे तो स्वामीजी ने मुक्त करा दिया।[3]

सर्प द्वारा अभ्यर्थना

स्वामीजी के अपार धैर्य के प्रसग मे पाठक पहले पढ चुके हैं कि उदयपुर मे नाग ने स्वामीजी का चरण-वन्दन किया।

श्री नृसिहदासजी ने इस प्रसग को अपनी ढाल मे इस तरह ढाला है—

स्वामी वठा सूं पधारियाजी गया उदयपुर माय।
स्वामी तो देवे धर्म देशना वे तो भाया करे अरदास॥
आतापना लेवे स्वामी रोडजी सिला ऊपर जाय।
सर्प निकल्यो तिण अवसरे उ तो कालो डाटक नाग॥
प्रक्रमा दीनी तिण अवसरे राजा वासक नाग।
पगा विचे ऊभो रयो वो तो ऊभो करे अरदास॥

क्षमा का आदर्श

कैलासपुरी (एकलिंगजी) शैवमत के प्रधान पीठो मे से एक है।

एक युग था, जब साम्प्रदायिक द्वेष हवा की तरह जनजीवन मे घुला-मिला था। "हस्तिना ताड्यमानोऽपि

१ स्वामी शहर सूं पधारिया गया विखम उजाड।
तेलो कर स्वामी विराजियाजी वाँकी आँख्या खुली तत्काल॥
२ रायपुर स्वामी आवियाजी घणा की वाली मे जाय।
तपस्या करे स्वामी रोडजी मूरख सिला मेली माथे आय॥
३ सनवाड स्वामी आविया जी तपस्या करे भरपूर।
चरण पकड ग्वाला घीसिया वाँ तो क्षमा आणी मनशूर॥

न गच्छेज्जैनमन्दिरे" जैसी उक्तियाँ चारो तरफ फैली हुई थी। श्री रोडजी स्वामी एक बार कैलासपुरी पधारे। स्वामीजी को वहाँ तीव्र साम्प्रदायिकता का सामना करना पडा।

तपस्वीजी के एकलिंगजी मे प्रवेश करते ही एक तूफान-सा उठ खडा हुआ। मानो तीर्थ अपवित्र हो गया हो। साम्प्रदायिक तत्त्वो ने छोकरो को बहकाया। एक टोली स्वामीजी के पीछे लग गई। बच्चे तो फिर बच्चे ही ठहरे। ठट्ठा-खिल्ली धूल उछालने से भी आगे बढ़कर बच्चो ने पत्थर-वर्षा शुरू कर दी। तपस्वीजी पत्थरो से पिटवाए जा रहे थे और साम्प्रदायिक तत्त्व मुस्कुरा रहे थे। उपसर्ग सीमातीत था। किन्तु तपस्वीजी अपनी धुन मे आनन्दमग्न थे। उन्होने उनके विरुद्ध न कोई शिकायत की न शिकवा।

पूरे पश्चिम को आध्यात्मिकता का सन्देश देने वाले ईसा की भी कभी ऐसी स्थिति हुई थी। पत्थरो की वर्षा के बीच मुस्कुराते ईसा के चरित्र ने पश्चिम को एक नई दिशा प्रदान की थी।

पूर्व ने ऐसे कई चरित्र विश्व को दिये, जो पत्थरो की मार के बीच खिले रहे। श्री रोडजी स्वामी भी तब ऐसे ही चरित्र के मूर्त आदर्श बने खडे थे।

आतक समारोपित होता है तो उसका अन्त है ही। करुणा, दया, शान्ति, सामञ्जस्य ध्रुव हैं। मानवता ध्रुव तत्त्व भावो के सहारे ही टिकी है।

उपसर्ग का अन्त भी आया। अपराधियो की भर्त्सना भी हुई, इतना ही नही, उन्हें दण्डित भी किया गया। किन्तु करुणा के पुण्य-पुंज श्री स्वामीजी ने उन्हे मुक्त कराने को अनशन कर दिया। अपराधी अर्थात् आतक के प्रतिनिधि मुक्त होते ही स्वामीजी के मुक्त चरणो मे नतमस्तक हो गये।

पहली बार शैव सस्कृति के प्रधान पीठ मे श्रमण सस्कृति की आध्यात्मिकता की विजय हुई।[1]

यह भी सहना पडा

मेवाड के कई क्षेत्रो मे उस समय जैन धर्म पल्लवित नही हो पाया था। श्रद्धा-भेद का जो प्रवाह चला, वह भी कहीं-कही अति कटु बनकर उपस्थित हो रहा था।

स्वामीजी नाथद्वारा पधारे। तपस्वीजी के त्याग-तप की उत्कृष्ट साधना का प्रभाव तो चतुर्दिक् था ही। कई कारणो से कई दिनो तक स्वामीजी का नाथ द्वारा मे प्रवेश नही हो सका, ऐसी अनुश्रुति है।

नगर बाहर किसी छत्री मे कई दिनो तक ध्यानस्थ खडे रह गये। कहते हैं, उस समय सिंघवीजी की माता को रोडजी स्वामी का ज्ञात होते ही वह बडी चिन्तित हुई। उसने सिंघवीजी को स्थिति से अवगत कराया। सिंघवीजी ने ठिकाने को सहमत कर सत्ता के सहयोग से स्वामीजी का नगर मे प्रवेश कराया तो साम्प्रदायिक तत्त्व बौखला उठे।

ढाल से ज्ञात होता है कि एक शोभा नामक बनिये ने तपस्वीजी से झगडा ही नही किया, उसने उन पर भयकर कलक भी धर दिया। कहते हैं, तपस्वीजी ने निर्णय तक अनशन ठान लिया। अन्ततोगत्वा सत्व सामने आया। झूठ का भण्डाफोड हो गया। स्वामीजी की समुज्ज्वल यशपताका चतुर्दिक फहराने लगी।[2]

---

१ तपस्या करे स्वामी रोडजी जी एकलिंगजी मे जाय।
जोगी तो आया तिण अवसरे वा तो छोरा ने लिया बुलाय॥
भाटा सूँ मार्या तिण अवसरे जी रोडजी ने तिण वार।
ये बाता राज मे सुणी लिया जोगी ने बुलाय॥
जोग्यॉं ने दरबार बुलायने जी रोक्या छे तिण वार।
स्वामी रोडजी इम कहे यां ने छोडो तो ले सूँ आहार॥

२ नाथद्वारे स्वामी पधारियाजी प्रति बोध्या कितना इक ग्राम।
श्रावक श्राविका अति घणा वे तो लुर लुर लागे पाँवजी॥
सोमा धाण्यो आयने जी बोल्यो वचन करूर।
कूडो आल चढ़ावियो वां तो क्षमा करी भरपूर॥

'विकट अभिग्रह

अभिग्रह विकट तप की एक विधा है। भगवान महावीर ने तेरह बोल का अभिग्रह ग्रेहण कर अभिग्रह को तप के ऊपर मुकुट की तरह उसे सुशोभित कर दिया।

किसी तप के बाद पारणक के अवसर पर किसी विचित्र प्रकार की गुप्त शत निश्चित करना अभिग्रह कहलाता है। यह अभिग्रह की सामान्य परिभाषा है। भगवान महावीर ने तेरह बोल की गुप्त धारणा कर रखी थी जिसकी पूर्ति चन्दनबाला द्वारा हुई। यह विश्व की कई अद्‌भुत बातो मे से एक है। महावीर की वह प्रतिज्ञा 'अभिग्रह' कहलाई।

श्री रोडजी स्वामी तपस्वी ही नही, विकट अभिग्रह के भी बडे प्रेमी थे। अभिग्रह सरल भी होते हैं और कठिन भी। स्वामीजी ने कई अभिग्रह लिये होंगे अपने जीवन मे, किन्तु उनके दो अभिग्रह बडे विकट थे, जो न केवल इतिहास मे अमर हुए, रोडजी स्वामी को भी जिन्होंने अमर कर दिया।

पहला अभिग्रह हाथी का था। उन्होंने निर्णय किया कि हाथी बहराए तो आहार लूंगा। अन्यथा जीवन भर आहार लेने का त्याग। यह बडी विकट प्रतिज्ञा थी और थी एकदम गुप्त। यदि उजागर भी होती तो ऐसी प्रतिज्ञा का पूर्ण होना बिलकुल सम्भव नहीं था।

दृश्य से अदृश्य अधिक सशक्त होता है। आध्यात्मिक शक्ति भी एक सत्य है जिसे स्वीकार करना ही पडता है। स्वामीजी प्रतिदिन आहार के लिये शहर उदयपुर मे घूम आते, किन्तु आहार लेते नही। धर्मप्रेमी बडी चिन्ता मे थे। अन्तत उन्नीसवें दिन तपस्वीजी मध्य बाजार मे होकर निकल रहे थे, तभी 'शिवतिलक' नामक दरबार का प्रधान गज उन्मत्त-सा बन बन्धन तुडवाकर दौडता हुआ बाजार तक आ गया। हाथी की उन्मत्तता से चतुर्दिक् भय और सन्नाटा छा गया। सभी व्यक्ति भयभीत होकर अपने भवनो मे जा छुपे। किन्तु स्वामीजी बडी धीरता से अपने पथ पर अग्रसर थे। दूर खडी जनता सम्भवत यह सोचकर कि अभी यह उन्मत्त गज स्वामीजी को रौंद डालेगा, बडी भय-विह्वल हो चिल्ला रही थी, किन्तु स्वामीजी एक इंच भी पीछे नही हटे।

बच्चा-बच्चा चकित था कि हाथी स्वामीजी के निकट आ अपनी सूंड फैलाकर तपस्वीजी को वन्दन कर रहा है। पास ही हलवाई की दुकान पर लड्डू की थाल में से हाथी ने अपनी सूंड मे एक लड्डू उठाया और स्वामीजी के सामने कर दिया। हलवाई की अनुमति मिलते ही स्वामीजी ने हाथी के द्वारा आहार लिया।

यह अद्‌भुत बात थी। इस पर कई तर्कों की बौछार हो सकती हैं। किन्तु अध्यात्म के क्षेत्र मे एक अति शक्ति काम करती है। उसकी तुलना हम किसी व्यवहार से नहीं बिठा सकते।

एक ऐसा ही अभिग्रह स्वामीजी ने साड का किया। यह अभिग्रह भी उदयपुर मे लिया गया। इकत्तीसवें दिन यह अभिग्रह मण्डी की नाल में फला।

आहार के निमित्त आये स्वामीजी के सामने आकर एक साड ने एक व्यापारी के गुड के कट्टे से अपने सींग में गुड की एक डली टिकाकर स्वामीजी को वहराई।

इन दोनो अभिग्रहो की प्रामाणिकता का आधार ढाल तो है ही, जनश्रुति में भी इन अभिग्रहो की चर्चा इतनी फैली हुई है, कि उसे झुठलाया नहीं जा सकता।[1]

विष भी अमृत बना

स्वामीजी के समुज्ज्वल जीवन की पुण्य प्रभा से लगभग सारा प्रान्त जगमगा रहा था। अभिग्रहो की असभवित

१ अभिग्रह कीनो हाथी तणो जी आणी मन उच्छाय।
फलियो दिन गुणतीसमे ज्यारो जस फैल्यो जग माय॥
साड वेरावे तो वेरणो नहीतर लेणो नाय।
फलियो दिन इकतीसमे ज्या जैन मारग दीपाय जी॥

न गच्छेज्जैनमन्दिरे" जैसी उक्तियाँ चारो तरफ फैली हुई थीं। श्री रोडजी स्वामी एक बार कैलासपुरी पधारे। स्वामीजी को वहाँ तीव्र साम्प्रदायिकता का सामना करना पडा।

तपस्वीजी के एकलिंगजी मे प्रवेश करते ही एक तूफान-सा उठ खडा हुआ। मानो तीर्थ अपवित्र हो गया हो। साम्प्रदायिक तत्त्वो ने छोकरो को बहकाया। एक टोली स्वामीजी के पीछे लग गई। बच्चे तो फिर बच्चे ही ठहरे। ठट्ठा-खिल्ली धूल उछालने से भी आगे बढकर बच्चो ने पत्थर-वर्षा शुरू कर दी। तपस्वीजी पत्थरो से पिटवाए जा रहे थे और साम्प्रदायिक तत्त्व मुस्कुरा रहे थे। उपसग सीमातीत था। किन्तु तपस्वीजी अपनी धुन मे आनन्दमग्न थे। उन्होने उनके विरुद्ध न कोई शिकायत की न शिकवा।

पूरे पश्चिम को आध्यात्मिकता का सन्देश देने वाले ईसा की भी कभी ऐसी स्थिति हुई थी। पत्थरो की वर्षा के बीच मुस्कुराते ईसा के चरित्र ने पश्चिम को एक नई दिशा प्रदान की थी।

पूव ने ऐसे कई चरित्र विश्व को दिये, जो पत्थरो की मार के बीच खिले रहे। श्री रोडजी स्वामी भी तब ऐसे ही चरित्र के मूत आदश बने खडे थे।

आतक समारोपित होता है तो उसका अन्त है ही। करुणा, दया, शान्ति, सामञ्जस्य ध्रुव हैं। मानवता ध्रुव तत्त्व भावो के सहारे ही टिकी है।

उपमग का अन्त भी आया। अपराधियो की भत्सना भी हुई, इतना ही नही, उन्हे दण्डित भी किया गया। किन्तु करुणा के पुण्य-पुंज श्री स्वामीजी ने उन्हें मुक्त कराने को अनशन कर दिया। अपराधी अर्थात् आतक के प्रतिनिधि मुक्त होते ही स्वामीजी के मुक्त चरणो मे नतमस्तक हो गये।

पहली बार शैव सस्कृति के प्रधान पीठ मे श्रमण सस्कृति की आध्यात्मिकता की विजय हुई।[1]

यह भी सहना पडा

मेवाड के कई क्षेत्रो मे उस समय जैन धर्म पल्लवित नही हो पाया था। श्रद्धा-भेद का जो प्रवाह चला, वह भी कही-कही अति कटु बनकर उपस्थित हो रहा था।

स्वामीजी नाथद्वारा पधारे। तपस्वीजी के त्याग-तप की उत्कृष्ट साधना का प्रभाव तो चतुर्दिक् था ही। कई कारणो से कई दिनो तक स्वामीजी का नाथ द्वारा मे प्रवेश नही हो सका, ऐसी अनुश्रुति है।

नगर बाहर किसी छत्री मे कई दिनो तक ध्यानस्थ खडे रह गये। कहते हैं, उस समय सिंघवीजी की माता को रोडजी स्वामी का ज्ञात होते ही वह बडी चिन्तित हुई। उसने सिंघवीजी को स्थिति से अवगत कराया। सिंघवीजी ने ठिकाने को सहमत कर सत्ता के सहयोग से स्वामीजी का नगर मे प्रवेश कराया तो साम्प्रदायिक तत्त्व बौखला उठे।

ढाल से ज्ञात होता है कि एक शोभा नामक बनिये ने तपस्वीजी से झगडा ही नही किया, उसने उन पर भयकर कलक भी धर दिया। कहते हैं, तपस्वीजी ने निणय तक अनशन ठान लिया। अन्ततोगत्वा सत्य सामने आया। झूठ का भण्डाफोड हो गया। स्वामीजी की समुज्ज्वल यशपताका चतुर्दिक फहराने लगी।[2]

---

१ तपस्या करे स्वामी रोडजी जी एकलिंगजी मे जाय।
जोगी तो आया तिण अवसरे वा तो छोरा ने लिया बुलाय॥
भाटा सूँ मार्या तिण अवसरे जी रोडजी ने तिण वार।
ये बाता राज मे सुणी लिया जोगी ने बुलाय॥
जोग्याँ ने दरबार बुलायने जी रोक्या छे तिण वार।
स्वामी रोडजी इम कहे या ने छोडो तो ले सूँ आहार॥

२ नाथद्वारे स्वामी पधारियाजी प्रति बोध्या कितना इक ग्राम।
श्रावक श्राविका अति घणा वे तो लुर लुर लागे पाँवजी॥
सोमा बाण्यो आयने जी बोल्यो वचन करूर।
कूडो आल चढावियो वा तो क्षमा करी भरपूर॥

'विकट अभिग्रह

अभिग्रह विकट तप की एक विधा है। भगवान महावीर ने तेरह बोल का अभिग्रह ग्रहण कर अभिग्रह को तप के ऊपर मुकुट की तरह उसे सुशोभित कर दिया।

किसी तप के बाद पारणक के अवसर पर किसी विचित्र प्रकार की गुप्त शर्त निश्चित करना अभिग्रह कहलाता है। यह अभिग्रह की सामान्य परिभाषा है। भगवान महावीर ने तेरह बोल की गुप्त धारणा कर रखी थी जिसकी पूर्ति चन्दनबाला द्वारा हुई। यह विश्व की कई अद्भुत बातो मे से एक है। महावीर की वह प्रतिज्ञा 'अभिग्रह' कहलाई।

श्री रोडजी स्वामी तपस्वी ही नही, विकट अभिग्रह के भी बडे प्रेमी थे। अभिग्रह सरल भी होते हैं और कठिन भी। स्वामीजी ने कई अभिग्रह लिये होंगे अपने जीवन मे, किन्तु उनके दो अभिग्रह बडे विकट थे, जो न केवल इतिहास मे अमर हुए, रोडजी स्वामी को भी जिन्होंने अमर कर दिया।

पहला अभिग्रह हाथी का था। उन्होंने निर्णय किया कि हाथी बहराए तो आहार लूँगा। अन्यथा जीवन भर आहार लेने का त्याग। यह बडी विकट प्रतिज्ञा थी और थी एकदम गुप्त। यदि उजागर भी होती तो ऐसी प्रतिज्ञा का पूर्ण होना बिलकुल सम्भव नहीं था।

दृश्य से अदृश्य अधिक सशक्त होता है। आध्यात्मिक शक्ति भी एक सत्य है जिसे स्वीकार करना ही पडता है। स्वामीजी प्रतिदिन आहार के लिये शहर उदयपुर मे घूम आते, किन्तु आहार लेते नही। धर्मप्रेमी बडी चिन्ता मे थे। अन्तत उन्तीसवें दिन तपस्वीजी मध्य बाजार में होकर निकल रहे थे, तभी 'शिवतिलक' नामक दरबार का प्रधान गज उन्मत्त-सा बन बन्धन तुडवाकर दौडता हुआ बाजार तक आ गया। हाथी की उन्मत्तता से चतुर्दिक् भय और सन्नाटा छा गया। सभी व्यक्ति भयभीत होकर अपने भवनों मे जा छुपे। किन्तु स्वामीजी बडी धीरता से अपने पथ पर अग्रसर थे। दूर खडी जनता सम्भवत यह सोचकर कि अभी यह उन्मत्त गज स्वामीजी को रौंद डालेगा, बडी भय-विह्वल हो चिल्ला रही थी, किन्तु स्वामीजी एक इच भी पीछे नही हटे।

बच्चा-बच्चा चकित था कि हाथी स्वामीजी के निकट आ अपनी सूँड फैलाकर तपस्वीजी को वन्दन कर रहा है। पास ही हलवाई की दुकान पर लड्डू की थाल मे से हाथी ने अपनी सूँड में एक लड्डू उठाया और स्वामीजी के सामने कर दिया। हलवाई की अनुमति मिलते ही स्वामीजी ने हाथी के द्वारा आहार लिया।

यह अद्भुत बात थी। इस पर कई तर्कों की बौछार हो सकती हैं। किन्तु अध्यात्म के क्षेत्र मे एक अति शक्ति काम करती है। उसकी तुलना हम किसी व्यवहार से नही बिठा सकते।

एक ऐसा ही अभिग्रह स्वामीजी ने साड का किया। यह अभिग्रह भी उदयपुर मे लिया गया। इकत्तीसवें दिन यह अभिग्रह मण्डी की नाल में फला।

आहार के निमित्त आये स्वामीजी के सामने आकर एक साड ने एक व्यापारी के गुड के कट्टे से अपने सींग मे गुड की एक डली टिकाकर स्वामीजी को बहराई।

इन दोनो अभिग्रहो की प्रामाणिकता का आधार ढाल तो है ही, जनश्रुति में भी इन अभिग्रहों की चर्चा इतनी फैली हुई है, कि उसे झुठलाया नहीं जा सकता।[1]

विष भी अमृत बना

स्वामीजी के समुज्ज्वल जीवन की पुण्य प्रभा से लगभग सारा प्रान्त जगमगा रहा था। अभिग्रहो की असभवित

१ अभिग्रह कीनो हाथी तणो जी आणी मन उच्छाय।
फलियो दिन गुणतीसमे ज्यारो जस फैल्यो जग माय॥
साड वेरावे तो वेरणो नहींतर लेणो नाय।
फलियो दिन इकतीसमे ज्या जैन मारग दीपाय जी॥

न गच्छेज्जैनमन्दिरे" जैसी उक्तियां चारो तरफ फैली हुई थी। श्री रोडजी स्वामी एक बार कैलासपुरी पधारे। स्वामीजी को वहाँ तीव्र साम्प्रदायिकता का सामना करना पडा।

तपस्वीजी के एकलिंगजी मे प्रवेश करते ही एक तूफान-सा उठ खडा हुआ। मानो तीर्थं अपवित्र हो गया हो। साम्प्रदायिक तत्त्वो ने छोकरो को बहकाया। एक टोली स्वामीजी के पीछे लग गई। बच्चे तो फिर बच्चे ही ठहरे। ठट्ठा-खिल्ली धूल उछालने से भी आगे बढ़कर बच्चो ने पत्थर-वर्षा शुरू कर दी। तपस्वीजी पत्थरो से पिटवाए जा रहे थे और साम्प्रदायिक तत्त्व मुस्कुरा रहे थे। उपसर्ग सीमातीत था। किन्तु तपस्वीजी अपनी धुन मे आनन्दमग्न थे। उन्होने उनके विरुद्ध न कोई शिकायत की न शिकवा।

पूरे पश्चिम को आध्यात्मिकता का सन्देश देने वाले ईसा की भी कभी ऐसी स्थिति हुई थी। पत्थरो की वर्षा के बीच मुस्कुराते ईसा के चरित्र ने पश्चिम को एक नई दिशा प्रदान की थी।

पूर्व ने ऐसे कई चरित्र विश्व को दिये, जो पत्थरो की मार के बीच खिले रहे। श्री रोडजी स्वामी भी तब ऐसे ही चरित्र के मूर्त आदर्श बने खडे थे।

आतंक समारोपित होता है तो उसका अन्त है ही। करुणा, दया, शान्ति, सामञ्जस्य ध्रुव हैं। मानवता ध्रुव तत्त्व भावो के सहारे ही टिकी है।

उपसर्ग का अन्त भी आया। अपराधियो की भर्त्सना भी हुई, इतना ही नही, उन्हें दण्डित भी किया गया। किन्तु करुणा के पुण्य-पुंज श्री स्वामीजी ने उन्हें मुक्त कराने को अनशन कर दिया। अपराधी अर्थात् आतंक के प्रतिनिधि मुक्त होते ही स्वामीजी के मुक्त चरणो मे नतमस्तक हो गये।

पहली बार शैव संस्कृति के प्रधान पीठ मे श्रमण संस्कृति की आध्यात्मिकता की विजय हुई।[१]

यह भी सहना पडा

मेवाड के कई क्षेत्रो मे उस समय जैन धर्म पल्लवित नही हो पाया था। श्रद्धा-भेद का जो प्रवाह चला, वह भी कही-कही अति कटु बनकर उपस्थित हो रहा था।

स्वामीजी नाथद्वारा पधारे। तपस्वीजी के त्याग-तप की उत्कृष्ट साधना का प्रभाव तो चतुर्दिक् था ही। कई कारणो से कई दिनो तक स्वामीजी का नाथ द्वारा मे प्रवेश नही हो सका, ऐसी अनुश्रुति है।

नगर बाहर किसी छत्री मे कई दिनो तक ध्यानस्थ खडे रह गये। कहते हैं, उस समय सिंघवीजी की माता को रोडजी स्वामी का ज्ञात होते ही वह बडी चिन्तित हुई। उसने सिंघवीजी को स्थिति से अवगत कराया। सिंघवीजी ने ठिकाने को सहमत कर सत्ता के सहयोग से स्वामीजी का नगर मे प्रवेश कराया तो साम्प्रदायिक तत्त्व बौखला उठे।

ढाल से ज्ञात होता है कि एक शोभा नामक बनिये ने तपस्वीजी से झगडा ही नही किया, उसने उन पर भयंकर कलक भी धर दिया। कहते हैं, तपस्वीजी ने निर्णय तक अनशन ठान लिया। अन्ततोगत्वा सत्त्व सामने आया। झूठ का भण्डाफोड हो गया। स्वामीजी की समुज्ज्वल यशपताका चतुर्दिक फहराने लगी।[२]

---

१ तपस्या करे स्वामी रोडजी जी एकलिंगजी मे जाय।
जोगी तो आया तिण अवसरे वा तो छोरा ने लिया बुलाय॥
भाटा सूँ मार्या तिण अवसरे जी रोडजी ने तिण वार।
ये वाता राज मे सुणी लिया जोगी ने बुलाय॥
जोग्यां ने दरवार बुलायने जी रोक्या छे तिण वार।
स्वामी रोडजी इम कहे या ने छोडो तो ले सूँ आहार॥

२ नाथद्वारे स्वामी पधारियाजी प्रति बोध्या कितना एक ग्राम।
श्रावक श्राविका अति घणा वे तो लुर लुर लागे पाँवजी॥
सोमा वाण्यो आयने जी बोल्यो वचन करूर।
कूडो आल चढावियो वा तो क्षमा करी भरपूर॥

विकट अभिग्रह

अभिग्रह विकट तप की एक विधा है। भगवान महावीर ने तेरह बोल का अभिग्रह ग्रहण कर अभिग्रह को तप के ऊपर मुकुट की तरह उसे सुशोभित कर दिया।

किसी तप के बाद पारणक के अवसर पर किसी विचित्र प्रकार की गुप्त शर्तें निश्चित करना अभिग्रह कहलाता है। यह अभिग्रह की सामान्य परिभाषा है। भगवान महावीर ने तेरह बोल की गुप्त धारणा कर रखी थी जिसकी पूर्ति चन्दनबाला द्वारा हुई। यह विश्व की कई अद्भुत बातों में से एक है। महावीर की वह प्रतिज्ञा 'अभिग्रह' कहलाई।

श्री रोडजी स्वामी तपस्वी ही नहीं, विकट अभिग्रह के भी बड़े प्रेमी थे। अभिग्रह सरल भी होते हैं और कठिन भी। स्वामीजी ने कई अभिग्रह लिये होंगे अपने जीवन में, किन्तु उनके दो अभिग्रह बड़े विकट थे, जो न केवल इतिहास में अमर हुए, रोडजी स्वामी को भी जिन्होंने अमर कर दिया।

पहला अभिग्रह हाथी का था। उन्होंने निर्णय किया कि हाथी बहराए तो आहार लूँगा। अन्यथा जीवन भर आहार लेने का त्याग। यह बड़ी विकट प्रतिज्ञा थी और थी एकदम गुप्त। यदि उजागर भी होती तो ऐसी प्रतिज्ञा का पूर्ण होना बिलकुल सम्भव नहीं था।

दृश्य से अदृश्य अधिक सशक्त होता है। आध्यात्मिक शक्ति भी एक सत्य है जिसे स्वीकार करना ही पड़ता है। स्वामीजी प्रतिदिन आहार के लिये शहर उदयपुर में घूम आते, किन्तु आहार लेते नहीं। धर्मप्रेमी बड़ी चिन्ता में थे। अन्तत उन्नीसवें दिन तपस्वीजी मध्य बाजार में होकर निकल रहे थे, तभी 'शिवतिलक' नामक दरबार का प्रधान गज उन्मत्त-सा बन बन्धन तुड़वाकर दौड़ता हुआ बाजार तक आ गया। हाथी की उन्मत्तता से चतुर्दिक् भय और सन्नाटा छा गया। सभी व्यक्ति भयभीत होकर अपने भवनों में जा छुपे। किन्तु स्वामीजी बड़ी धीरता से अपने पथ पर अग्रसर थे। दूर खड़ी जनता सम्भवत यह सोचकर कि अभी यह उन्मत्त गज स्वामीजी को रौंद डालेगा, बड़ी भय-विह्वल हो चिल्ला रही थी, किन्तु स्वामीजी एक इंच भी पीछे नहीं हटे।

बच्चा-बच्चा चकित था कि हाथी स्वामीजी के निकट आ अपनी सूँड फैलाकर तपस्वीजी को वन्दन कर रहा है। पास ही हलवाई की दुकान पर लड्डू की थाल में से हाथी ने अपनी सूँड में एक लड्डू उठाया और स्वामीजी के सामने कर दिया। हलवाई की अनुमति मिलते ही स्वामीजी ने हाथी के द्वारा आहार लिया।

यह अद्भुत बात थी। इस पर कई तर्कों की बौछार हो सकती हैं। किन्तु अध्यात्म के क्षेत्र में एक अति शक्ति काम करती है। उसकी तुलना हम किसी व्यवहार से नहीं बिठा सकते।

एक ऐसा ही अभिग्रह स्वामीजी ने साड का किया। यह अभिग्रह भी उदयपुर में लिया गया। इकत्तीसवें दिन यह अभिग्रह मण्डी की नाल में फला।

आहार के निमित्त आये स्वामीजी के सामने आकर एक साड ने एक व्यापारी के गुड के कट्टे से अपने सींग में गुड की एक डली टिकाकर स्वामीजी को बहराई।

इन दोनों अभिग्रहों की प्रामाणिकता का आधार ढाल तो है ही, जनश्रुति में भी इन अभिग्रहों की चर्चा इतनी फैली हुई है, कि उसे झुठलाया नहीं जा सकता।[1]

विष भी अमृत बना

स्वामीजी के समुज्ज्वल जीवन की पुण्य प्रभा से लगभग सारा प्रान्त जगमगा रहा था। अभिग्रहों की असमवित

---

१ अभिग्रह कीनों हाथी तणो जी आणी मन उच्छाय।
फलियो दिन गुणतीसमे ज्यारो जस फैल्यो जग माय॥
साड बेरावे तो बेरणो नहींतर लेणों नाय।
फलियो दिन इकतीसमे ज्या जैन मारग दीपाय जी॥
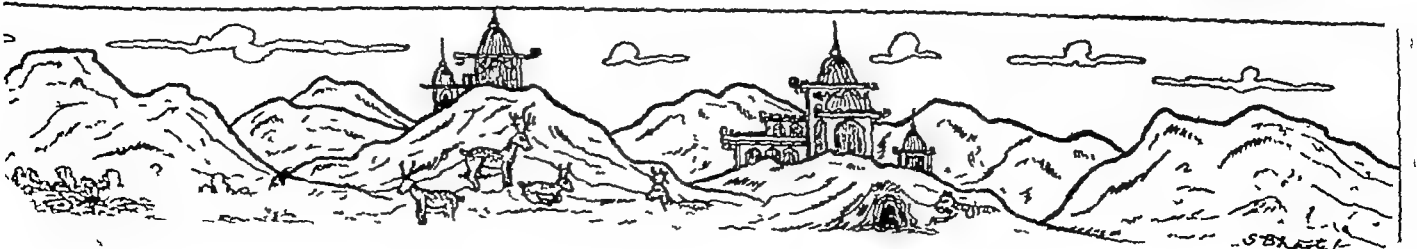
सिद्धि ने उसमे और चार चाँद लगा दिये तो सर्वत्र तपस्वीजी के यशस्वी जीवन के गुणगान होने लगे। यश सुज्ञो के लिये उल्लास का विषय होता है तो विद्वेषियों के लिये क्लेश का विषय भी बन जाया करता है।

नाथद्वारा के शोभा वनिये का आक्रोश लगभग ऐसे ही क्लेश का परिणाम था, जो तीव्र साम्प्रदायिकता के धरातल पर पनपा था।

"गुणे खल मय" की उक्ति के अनुसार यशस्वियो को दुष्टो का सामना प्राय करना पडा।

हमारा इतिहास बताता है कि मीरा को भी विष के प्याले का सामना करना पडा। यह भी ऐतिहासिक सत्य है कि लौकाशाह की मृत्यु विष प्रयोग से ही हुई।

दयानन्द सरस्वती को काँच पिलाया गया था। मानवता का लम्बा इतिहास ऐसे कई कुकर्मों के काले धब्बो को अनचाहे ही उठाए चला आ रहा है, जो मानव के भीतर छुप राक्षस का प्रमाण देते आ रहे हैं।

तपस्वीराज श्री रोडजी स्वामी को भी विष दे दिया गया।

मुनि को विष देना किसी अन्य की अपेक्षा बहुत ही आसान है। मुनि आहार लेकर भोगते ही है। विष देने के बाद उसके टलने की फिर कोई सम्भावना नही रहती। बशर्ते कि विष भोजन मे प्रकट न हो जाए।

श्री रोडजी स्वामी एक बार फिर विद्वेष की लपट मे आ गये। किन्तु अद्भुत बात हुई कि विष अपना काम नही कर सका। तपस्वीजी की प्रचण्ड तप अग्नि मे विष कही जलकर नि शेष हो गया जिसकी कही सूचना तक नही मिली। इतना ही नहीं ढाल के अनुसार विष ने अमृत का काम किया। यह बात असम्भव नही है। भीम का जीवन साक्षी है कि उसे कौरवो द्वारा विष दिया गया, किन्तु परिणामस्वरूप भीम का बल उससे दुगुना हो गया।

स्वामीजी को विष किसने दिया, कहाँ दिया, इसकी कोई जानकारी नहीं मिल पाई। विष अवश्य दिया गया, यह ढाल से स्पष्ट है।[१]

पारणा भी नहीं कर सके

साम्प्रदायिकता बुरी क्यो है, यह एक प्रश्न है। इसका सक्षिप्त उत्तर यह है कि साम्प्रदायिकता विष पैदा करती है। विष, वह जो मानवता को मारदे, महानता को ठुकरादे तथा सच्चाई को नकार दे।

पाठक पढ़ चुके हैं कि उस समय जब श्री रोडजी स्वामी का अभ्युदय काल था, मेवाड मे श्रद्धा भेद की एक लहर चली थी। लहर मे एक विष था। स्वामीजी को कई जगह ऐसे विषपूर्ण व्यवहार का सामना करना पडा।

आमेट स्वामीजी आये। अनजान मे या अन-पहचान मे हाट पर ठहराने को किसी व्यक्ति ने स्थान दिया। किन्तु उसे ज्यो ही ज्ञात हुआ कि ये तो रोडजी स्वामी हैं, हमारी श्रद्धा के नही हैं, उसने उन्हें तुरन्त चले जाने को कह दिया। स्वामीजी को निकलने को कहा। उस समय रात थी, ऐसा सुनन मे आता है। ज्यो-त्यों उसे समझाकर रात तो ठहरे, लेकिन सूर्योदय होते ही, स्वामीजी ने वहाँ से विहार कर दिया। वह पारणे का दिन था। पारणा 'लावा' (सरदार-गढ़) आकर दिया।

इस घटना के साथ कई प्रश्न पैदा होते हैं। आमेट जैसे बड़े क्षेत्र मे टिकने की जगह का न मिलना कम आश्चर्य की बात नही है। इसका समाधान यह हो सकता है कि आमेट मे जैन समाज का बसाव जितना आज है, उतना उस समय नही रहा होगा। जो जैन थे, वे विपरीत हो गये होंगे। भयकर विद्वेष को देखकर स्वामीजी ने ठहरना उचित नही समझा होगा। यह निश्चित है कि स्वामीजी को वहाँ स्थान-कष्ट का अनुभव अवश्य करना पडा।[२]

सिर पर चढ़ बैठा

स्वामीजी कही एकान्त मे ध्यान कर रहे थे। कोई मूर्ख सिर पर पत्थर धर कर उस पर ही चढ़ गया। ऐसे काण्ड प्राय अज्ञानता, कौतूहल या दुष्टता से हो जाया करते हैं।

---

१ कोई खोटो आहार वेरावियो जी नाख्यो नही मुनिराज।
विष अमृत होइ परगम्यो वाकी दया माता कीदी सहायजी॥

२ आमेट स्वामीजी पधारियाजी उतर्या हाटा के माँय।
परीसो तो दीधो अति घणो पारणो कीधो लावे जाय॥

यह घटना कहाँ घटी, यह तो ज्ञात नही, किन्तु वह अपराधी छुप नहीं सका। सज्जनो के द्वारा उसे दडित करने का उपक्रम भी किया गया। किन्तु स्वामीजी की दया-मया यहाँ भी ढाल बनकर उसे बचाने को सक्रिय हो गई। आहार-त्याग की घोषणा के साथ ही अपराधी को अभय मिल गया।[1]

मानवता को अपनी असीम करुणा से अभिसिञ्चित करने वाले ऐसे सत्पुरुषो ने ही भारत के गौरव को मण्डित किया है।

यह सब कैसे सहा ?

स्वामीजी यह सब कैसे सह गये ? इस प्रश्न का उत्तर पाने को हमे जैन धर्म की साध्वाचार-परम्परा के इतिहास मे जाना चाहिए।

भगवान महावीर जब कष्ट सह रहे थे, इन्द्र मदद को आया। भगवान ने मन ही मन उत्तर दिया—"हे इन्द्र ! मेरा कर्जा मुझे ही उतारना है !" कर्म दर्शन के अनुसार कर्ता ही भोक्ता है। इस दर्शन को समझ लेने के बाद व्यक्ति मे सहनशीलता का एक नया स्रोत उमड आता है। यही एक सम्बल होता है, साधको का, जो उन्हें तूफानो मे भी अडिग रहने की क्षमता प्रदान करता है।

श्री रोडजी स्वामी उस परम्परा की एक चमकती हुई कडी थे जिसने केवल सहना सीखा। स्वामीजी सहते रहे, कष्ट भी, प्रहार भी, विष भी, जो भी आया सब कुछ सहा। 'हम विष पायो जनम के' यह साहित्यिक उक्ति समवत ऐसे मुनियो मे ही मूर्त रूप ले पाई।

स्वामीजी कर्म सिद्धान्त के आस्थावान प्रतीक थे। वे 'मेरा किया मैं भोगू' इस सनातन निश्चय के सहारे सब कुछ सह गये।[2]

पवित्र स्थान

श्री रोडजी स्वामी अपने त्याग, तप तथा समुज्ज्वल सयम ज्योति से जगमगाते जिए। जब तक जिए, दैन्य-रहित जिए। निर्दोष जिए, यथार्थ जिए।

कदमो ने साथ दिया, बराबर विचरते रहे। अन्तिम नौ वर्ष उदयपुर मे स्थानापन्न रहे। यह उल्लेख श्रीमानजी स्वामी रचित 'गुरुगुण' में है।[3]

श्री रोडजी स्वामी के जीवन का चढाव बेशक शानदार था, किन्तु ढलाव उससे भी कही अधिक चमकदार रहा।

जीवन की सध्या आध्यात्मिक जीवन का परिपाक काल होता है। यदि यहाँ आकर साधक थोडी भूल कर बैठे तो जीवन के परिपाक में एक विद्रूपता आ जाया करती है। स्वामीजी इस दृष्टि से बड़े सावधान थे।

मृत्यु से पूर्व साढे चार दिन का उन्हें सथारा आया। यह उल्लेख मानजी स्वामी की ढाल मे स्पष्ट है।[4]

---

१ वालू रेत मे काउस्सग करे जी मानवी आयो तिणवार।
 सिला मेली माथा ऊपरे पापी चढ ऊभो तिणवार॥
 मानवी ने रावले बुलावियोजी रोक्यो छे तिणवार।
 स्वामी तो रोडजी इम कहे इण ने छोडो तो लेसू अहार॥
२ स्वामीजी मन में विचारियोजी पूर्वला भव ना पाप।
 म्हारा मने सहना पडसी किणपे नहीं करनो कोप॥
३ पूज्य रोडीदासजी थाणे रह्या रे नव वर्सो लग जोय।
 आतम कारज सारिया रे भवियण उपगार विविध होय॥
४ छेलो अवसर आवियो रे, भ० सथारो कियो उल्लास।
 दिवस साढा चार में कियो सुरग मे वास॥

सस्थारक साधक जीवन की शिखर प्रक्रिया है। मृत्यु से पूर्व मृत्यु को सफल बनाने की एक आध्यात्मिक तैयारी है। सस्थारक मे साधक सम्पूर्ण रूप से बाह्य भावो से अपने आप को हटाकर अपने आपको सम्पूर्ण आध्यात्मिकता मे स्थापित करता है। वह जीवन और मृत्यु के आग्रहो से मुक्त विशुद्ध रूपेण अपने मे पहुच जाता है। स्वामीजी ऐसा साढे चार दिन कर पाये।

स्वामीजी के जीवन के अन्तिम सत्र के ये १०८ घण्टे सचमुच सम्पूर्ण जीवन के हजारों घण्टो मे सबसे अधिक बेहतर थे। सच पूछा जाए तो प्रत्येक सच्चा साधक जीवन भर ऐसी ही घड़ियो की प्रतीक्षा मे रहा करता है। अन्तिम सयम की मगल साधना को सिद्ध करने को ही मानो पूरे जीवन को साधता रहता है।

समत्व के चरमोत्कर्ष की स्थिति मे आई मौत केवल तन को छीन सकती है। साधक का महान् सत्व तो अपनी आत्मज्योत्स्ना से आलोकित सोल्लास गन्तव्य की ओर चल पड़ता है।

श्री स्वामीजी स्वर्गवास से पूर्व नौ वर्ष उदयपुर मे स्थानापन्न रहे। ये नौ वर्ष श्री नृसिहदासजी महाराज, जिनकी दीक्षा १८५२ मे सम्पन्न हुई, के तुरन्त बाद मान लें तो स्वामीजी के स्वर्गवास का समय १८६१ बैठता है, किन्तु यह भी अनुमान मात्र है। निश्चित समय का कही उल्लेख नही मिलने से इस विषय मे निश्चयपूर्वक कुछ कहना बिलकुल सम्भव नही।

स्वामीजी के शिष्य

पाठक यह तो जान ही गये कि श्री रोड़जी स्वामी कुछ समय एकाकी भी विचरे।

कालान्तर मे उनके जो शिष्य हुए उनमे श्री नृसिहदासजी महाराज प्रमुख थे। नृसिहदासजी महाराज के बाद अन्य शिष्य भी हुए, ऐसा श्री मानजी स्वामी की ढाल से ज्ञात होता है।[1]

इसमे नृसिहदासजी महाराज के 'गुरु भायो' का उल्लेख है। अत रोड़जी स्वामी के कई शिष्य होना सिद्ध होता है। कितने शिष्य थे, यह स्पष्ट नही हो सका।

स्वामीजी का तप

स्वामीजी घोर तपस्वी थे। दीक्षा लेकर अन्तिम समय तक बेले-बेले तो पारणा किया ही। प्रतिमास दो-अठाई तथा वर्ष मे दो मास खमण भी तपस्वीजी किया करते थे।[2]

इस बीच कई बार तेले और चोले भी कर लिया करते थे। तप स्वामीजी का सबसे बड़ा सम्बल था। वास्तव में तप से स्वामीजी विभूषित तो तप स्वामीजी जैसे महान को पाकर धन्य हो गया।

स्वामीजी का विचरण-क्षेत्र

तपस्विराज मेवाड़ से बाहर भी पधारे हो, ऐसा कोई उल्लेख नहीं। राज करेड़ा, आमेट, सनवाड़, नाथद्वारा, उदयपुर पधारने का स्पष्ट उल्लेख है। अत मेवाड़ के अधिकाश क्षेत्रो को तपस्वीजी ने पावन किया। इसमे कोई सन्देह नही। उदयपुर को तपस्वीजी ने सर्वाधिक लाभ प्रदान किया। अन्तिम नौ वर्ष तपस्वीजी वही विराजे। उससे पहले भी कई बार पधारे। तभी अभिग्रह फले।

कुछ स्पष्टताएँ

बहुत वर्षों से श्री रोड़जी स्वामी के चातुर्मास की सूची मे सैंतीस चौमासे गिनाते आये है। प्रेरक जीवनी आदि मे भी वैसा ही उल्लेख किया गया। किन्तु पूज्य श्री मानजी स्वामी द्वारा रचित पूज्य श्री नृसिहदासजी महाराज के गुण

---

१ सेवा भक्ति कीदी घणी गुरु गुरुभाया री जोय।
आतपना लीधी घणी कर लाम्बा करी दोय॥

२ बेले बेले स्वामी पारणा जी मास खमण दोय बार।
तेला तो चोला सहेज है वे तो तपस्या रा भण्डार॥

ढालो मे जो उल्लेख आया, उससे स्पष्ट निर्णय हो जाता है कि सोलह चातुर्मास उदयपुर, नौ चातुर्मास नाथद्वारा आदि सैंतीस चौमासे श्री रोडजी स्वामी के नही, नृसिंहदासजी महाराज के थे। ढालो की प्रतिलिपि आगे श्री नृसिंहदासजी महाराज की जीवनी के साथ सलग्न है। उससे पाठक स्वय ही पा जाएँगे कि यह सैंतीस चातुर्मास की सूची पूज्य श्री नृसिंहदासजी महाराज के चातुर्मासो की है।

पूज्य श्री रोडजी स्वामी ने कहाँ कितने चातुर्मास किये, इसका कोई प्रमाण नही मिलता। इनका स्वर्गवास कब हुआ, इसके लिये भी कोई निश्चित प्रामाणिक आधार उपलब्ध नही है।

श्री मानजी महाराज कृत ढालो मे जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, श्री नृसिंहदासजी महाराज का दीक्षा-समय वि० स० १८५२ वर्णित है। उनमे एक जगह श्री रोडजी स्वामी के उदयपुर मे नौ वर्ष स्थानापन्न रहने की बात आई है। इस तरह बावन मे नौ मिलाकर वि० स० १८६१ मे श्री रोडजी स्वामी का स्वर्गवास माना जा सकता है। किन्तु पूज्य श्री नृसिंहदासजी महाराज के दीक्षित होते ही उसी वर्ष श्री रोडजी स्वामी स्थानापन्न रह गये, इसका कोई प्रमाण नही।

इसी तरह पूज्य श्री रोडजी स्वामी के स्वर्गवास की तिथि 'प्रेरक जीवनी' मे फाल्गुन कृष्णा अष्टमी अंकित की गई, इसका भी कोई प्रामाणिक आधार नही मिला।

पूज्य श्री रोडजी स्वामी के विषय मे पूज्य श्री नृसिंहदासजी महाराज कृत जो प्रसिद्ध ढाल है, उसके अन्तिम पद्य मे ढाल बनाने का समय सवत् १८४७ ऐसा प्रसिद्ध है। किन्तु पूज्य श्री मानजी स्वामी कृत ढालो से यह स्पष्ट हो गया कि पूज्य श्री नृसिंहदासजी महाराज जो रोडजी स्वामी की ढाल के रचयिता हैं, उनकी दीक्षा ही १८५२ मे हुई तो सैंतालीस मे ढाल कैसे बनी ? वास्तव मे श्री रोडजी स्वामी के स्वर्गवास के बाद बनी ढाल का समय सवत् १८६७ होना चाहिए न कि १८४७।

उपसहार

तपस्विराज के जीवन के विषय मे जितना प्रामाणिक आधार मिला, तदनुसार जीवन-परिचय की कुछ रेखाएँ अंकित की हैं। अतीत की कडियाँ बहुत विशृंखलित हैं। फिर भी पूज्य श्री नृसिंहदासजी महाराज रचित ढाल तथा श्री मानजी स्वामी विरचित श्री नृसिंहदासजी के गुण की ढालो से अच्छा सहयोग मिल गया।

एक बार एक कृशकाय कौवे ने एक बटेर से पूछा—बन्धु ! तुम इतने मोटे ताजे हो रहे हो, आखिर तुम क्या खाते-पीते हो ?

बटेर ने हसकर कहा—गम खाता हूँ और क्रोध को पीता हूँ।

—अम्बागुरु-सुवचन

२
आचार्यप्रवर श्री नृसिंहदास जी महाराज

□

प्राक्कथन

घोर तपस्वी श्री रोडजी स्वामी का उदयपुर मे स्वर्गवास हुआ। तदनन्तर मेवाड-सम्प्रदाय के यशस्वी आचार्य पद पर श्री नृसिंहदास जी महाराज को समारूढ किया गया।

श्रीनृसिंहदास जी महाराज के सम्पूर्ण जीवन-वृत्त से तो आज भी हम अनजान हैं। किन्तु पूज्य श्रीमानजी स्वामी द्वारा विरचित गुरुगुण की ढालें उपलब्ध हो जाने से कुछ ऐतिहासिक अधेरा हटा। कुछ अनुश्रुतियाँ तथा कुछ ढालो की सूचनाएँ इन सब को मिलाकर जो जानकारी मिली वह नीचे उद्धृत की जा रही है।

जन्म

श्री नृसिंहदासजी महाराज का जन्म-स्थान रायपुर है।[1] भीलवाडा जिले का यह गाँव आज भी जैनधर्म का अच्छा क्षेत्र है। मेवाड मुनि-परम्परा के चातुर्मास यहाँ प्राय होते ही रहते हैं। नागरिकों का मुनियो के प्रति बडा सद्भाव तथा वात्सल्य भाव है।

श्री गुलाबचन्द जी खत्री और उनकी धर्मपत्नी गुमानबाई हमारे चरितनायक के माता-पिता थे।[2] पूज्यश्री का जन्म समय क्या रहा, इसका कुछ भी पता नही। हाँ इतना अवश्य ज्ञात है कि सवत् १८५२ मे जब पूज्यश्री की दीक्षा हुई तब वे जवान ही नही विवाहित भी थे और व्यापार करते थे।

इतनी तैयारी के लिए उस समय उनकी उम्र बीस-पच्चीस वर्ष की होनी ही चाहिए। इससे अनुमान लगता है कि पूज्यश्री का जन्म १८२७-१८३१ के बीच किसी वर्ष का होना चाहिए।

अध्ययन और विवाह

पूज्य श्री गृहावस्था मे भी पढ़े लिखे थे, ऐसा ढाल से ज्ञात होता है।[3] वह युग लगभग अज्ञानता का युग था। ब्राह्मणो और महाजनो के बच्चे अवश्य थोड़े बहुत पढ-लिख लिया करते थे। देश मे उस समय भी विद्वान अवश्य थे, किन्तु वे मात्र अमुक-अमुक थे। आम नागरिको मे इतनी अनक्षरता थी कि होग को हग, मिच को मच तथा दोहा को दुआ लिखकर काम चला लिया करते थे। इसका प्रमाण उस युग की वहियाँ और लिखे-पत्र आदि हैं।

ऐसे उस युग मे श्री नृसिंहदास जी का अच्छा पढ लिख लेना सद्भाग्य और बौद्धिक योग्यता का प्रमाण है।

योग्यावस्था मे विवाह हुआ।[4] विवाह कहाँ हुआ, कन्या का नाम क्या था, उसके माता-पिता कौन थे, इसकी कोई जानकारी नही।

---

१ सेर रायपुर साँभलो रे गढमढ पोल प्रकार।
सेठ सेनापति तिहाँ वसे रे वहुला छे सुखकार॥

२ खत्रीवश मे जाणिये रे गुलाबचन्द जी नाम।
भारज्या गुमानबाई दीपती रे रूपवत अभिराम॥

३ भणे गुणे बुधवन्त थया, जोवन वय मे आय।
वेपार वणज करे घणो, रह्या परम सुखमाय॥

४ परण्या एकज कामणी, सुख विलसे ससार।
धर्म ध्यान हिये सीखिया, जाण्यो अथिर ससार॥

दीक्षा

रायपुर मे धार्मिक वातावरण की प्रधानता थी। पूज्यश्री रोडजी स्वामी का पदार्पण भी प्राय होता रहता था। श्री नृसिंहदास जी भी सात्विक प्रकृति के युवक थे। वड़े धर्मप्रेमी थे। आन्तरिक लगन होने से वचपन मे भी अच्छा धार्मिक ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

सासारिकता के नाते व्यापारिक कार्यो मे भी लगे। वुद्धिमान होने के कारण कुछ ही समय मे व्यापार अच्छा चमक गया।

एक बार किसी व्यापारिक कार्य हेतु श्री नृसिंहदास जी का भीलवाड़ा जाना हुआ। वहाँ से आते समय मार्ग मे लावा (सरदारगढ) आता है। वहाँ पूज्य श्री रोडजी स्वामी का चातुर्मास था। धर्मप्रेमी नृसिंहदास जी महाराज वहाँ पहुँचे।[1] दर्शन-लाभ लेकर उन्हे अतीव प्रसन्नता हुई। वे शीघ्र रायपुर आना चाहते थे। किन्तु श्री रोडजी स्वामी के अद्भुत त्याग-तप तथा मधुर उपदेशो से वे इतने प्रभावित हुए कि वही टिक गये। प्रतिक्रमण, पोषध, सामायिक आदि धर्म-क्रियाएँ करने लगे।

स्वामीजी के उपदेशो का इतना जवरदस्त असर हुआ कि उन्होंने सयम लेने का निश्चय कर लिया। व वही ठहरकर ज्ञानाभ्यास करने लगे।

उन्होंने रायपुर जाने की जरूरत तक नही समझी। कुछ ही दिनो मे नृसिंहदास जी की आन्तरिक भावना का प्रचार दूर-दूर तक हो गया।

रायपुर मे सूचना पहुचते ही वडा आश्चर्य छा गया।

पत्नी ने सुनते ही लावा प्रस्थान कर दिया। वह लगातार रायपुर चलने का आग्रह करती रही। श्री नृसिंहदास जी उसे बरावर ससार की असारता समझाते रहे और अपने दृढ निश्चय का परिचय देते रहे।

ढाल से ज्ञात होता है कि नारी ने वहाँ भयकर क्लेश भी किया।[2] किन्तु मुमुक्षु महोदय के प्रवल निश्चय के सामने उसका क्लेश व्यर्थ ही रहा।

अन्ततोगत्वा वैरागीजी के दृढ निश्चय की ही विजय हुई। नारी को स्वीकृति देनी ही पडी। सत्य-आग्रह की विजय होती ही है।

सभी अवरोध हट जाने पर अर्थात् सम्वन्धित जनों की अनुमति मिलने पर सवत् १८५२ मार्ग शीर्ष कृष्ण नवमी के दिन सच्चे मुमुक्षु नृसिंहदास जी की दीक्षा सम्पन्न हो गई।[3] चातुर्मास उठते ही नवमी को दीक्षा हुई। अत अनुमान यह लगता है कि यह कार्यक्रम लावा में ही सम्पन्न हुआ होगा।

वैराग्य कोई भावुकता का प्रवाह नही होता। वैराग्य आध्यात्मिक धरातल पर उठा एक प्रकाश होता है, जिसमे मुमुक्षु अपने पारमार्थिक ध्येय का स्पष्ट सन्दर्शन पाता है।

सभी प्रकार के आग्रहो से मुक्त, स्पष्ट निर्णीत सत्य से फिर यदि कोई विचलित करना चाहे तो उसे सफलता मिलना कठिन ही नही लगभग असम्भव है।

---

१ पूज्य श्री रोडीदासजी ललणो।
सकल गुणा री खान।
भेट्या पुजजी ना पाय।

२ पाछे आवी अस्त्री क्लेश कीधो आण।
श्रावक श्राविका समझाये तव वचन कियो प्रमाण ॥

३ अष्टादश वावने रे भविकजन मिगसर मास बखाण।
सुगण नर सामलो रे भवियण पूज्य तणा गुण भारी ॥
कृष्ण पक्ष धुर नम कही रे भवियण सजमलीधो जाण।
आज्ञा पाले निरमली रे भवियण करे वचन प्रमाण ॥
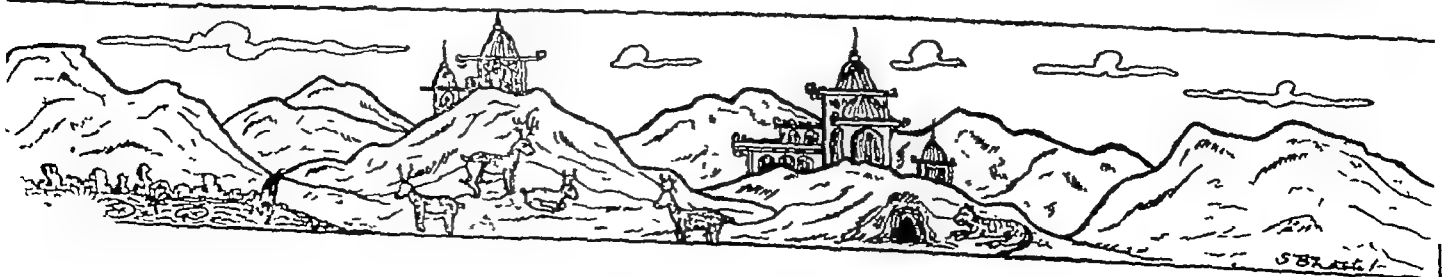
श्री नरसिंहदास जी के सत्य विनिश्चय के अचाञ्चल्य को पाठक उक्त व्याख्या के परिप्रेक्ष्य मे समझने का प्रयास करेंगे तो उन्हे उक्त दृढ निश्चय पर आश्चर्य नही होगा ।

ज्ञानाराधना

मुनिश्री नरसिंहदास जी ज्ञान के सच्चे पिपासु थे । सयमी होते ही उन्होने अपना पूरा ध्यान अध्ययन मे लगा दिया ।

तत्त्व विनिश्चय के लिए शास्त्रो का अध्ययन ही उपयोगी होता है । अत मुनिश्री उसी अध्ययन मे जुट गये । परम्परागत अनुश्रुति है कि उन्हें सात सूत्र तो कण्ठस्थ थे ।

शास्त्रो के इतने सुदृढ अभ्यासी का अध्ययन कितना विस्तृत होगा, पाठक स्वय अनुमान लगाएँ ।

तपस्वी भी

मुनिश्री बडे तपस्वी थे । पूज्य श्री रोडजी स्वामी के विषय मे तो तप के विषय मे बडी विश्रुति है । किन्तु श्री नरसिंहदास महाराज इतने अच्छे तपस्वी थे, इसकी कोई जानकारी नही थी । मानजी स्वामी कृत ढालों का अध्ययन करने से ज्ञात हुआ कि घोर तपस्वी श्री रोडजी स्वामी के शिष्य रत्न भी तप की दृष्टि से उनका अनुकरण करने वाले सच्चे अर्थों मे अनुगामी (शिष्य) थे ।

ढाल के अनुसार मुनिश्री ने मास खमण, तेइस, इकवीस, पन्द्रह के तप तो किये ही, एक कर्मचूर तप भी किया ।[1] फुटकर तपस्या भी प्राय चलती रहती थी ।

मुनिश्री नरसिंहदास जी महाराज का यह तपस्वी रूप अब तक लगभग अप्रकट ही था ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया कि हमारे चरित्रनायक शास्त्रज्ञ ही नही, अच्छे तपस्वी भी थे ।

आचार्य-पदारोहण

मुनिश्री ने यौवनवय मे सयम लेकर भी जितना और जो कुछ किया वह अनुपम था । एक शिल्पकार की तरह उन्होंने अपने जीवन को पूज्य श्री रोडजी स्वामी के नेतृत्व मे तराशा । विनय, विवेक, सेवा और ज्ञानाराधना की एकाग्रोपासना ने उन्हें मुनि ही नही, एक उच्चकोटि का सन्त-रत्न बना दिया ।[2]

पूज्यश्री रोडजी स्वामी के एकाकी रह जाने और सघ मे श्रद्धा विक्षेप के आये प्रवाह आदि अनेक कारणो से मेवाड के धर्म-सघो मे जो एक अनुत्साह जैसा वातावरण छा रहा था, ऐसी स्थिति मे मुनिश्री नरसिंहदासजी मेवाड धर्म-सघ के लिए एक प्रबल आशा की किरण सिद्ध हुए ।

मुनिश्री के अभ्युदय ने बडी तेजी से धर्म-शासन को नवजीवन प्रदान कर दिया ।

मुनिश्री जिस ज्ञानदीप्ति और चारित्रिक ओज से सम्पन्न बनते जा रहे थे, उसे देख मेवाड का जन-जन उनके प्रति न्योछावर था ।

जब पूज्यश्री रोडजी स्वामी उदयपुर मे नव वर्ष स्थानापन्न रहने के बाद साढे चार दिनो का सथारा सिद्ध कर स्वर्गवासी हुए तो चतुर्विध सघ ने स्वर्गीय स्वामी जी के सफल शिष्य-रत्न तथा चतुर्विध सघ के एकमात्र सम्बल मुनि श्री नरसिंहदास जी महाराज को मेवाड सम्प्रदाय के यशस्वी पट्ट पर विराजमान कर दिया ।

---

१ मास खमण धुर जाणिये भवियण तेइस इकवीस जाण ।
कर्मचूर तप आदर्यो भवियण पनरा तक तप आण ।
और तपस्या कीदी घणी रे भवियण कहता नावे पार ॥

२ भणे गुणे पडित थयारे विने विवेक रसाण ।
+ + +
लखण पढन उपदेश नो रे और न वीजो काम ।
+ + +
सेवा भक्ति कीधी घणी रे गुरु गुरुमायां री जोय ॥

यह कार्यक्रम उदयपुर मे ही सम्पन्न हुआ क्योकि रोडजी स्वामी का वहीं स्वर्गवास हुआ था।

पट्टारोहण कब हुआ, इसकी तिथि तो स्पष्ट नही है, किन्तु पूज्य श्री रोडजी स्वामी का स्वर्गवास यदि स० १८६१ स्वीकार करें (यद्यपि यह स्पष्ट नही है) तो उसी वर्ष या उसके आसपास पाटोत्सव होना सगत लगता है।

पट्टोत्सव के अवसर पर मुनिश्री के कई गुरुभाई मुनि अवश्य थे।

पूज्य श्री का आचार्यकाल मेवाड जैन सघ के लिए अभ्युदयपूर्ण स्वर्णकाल था। आपके नेतृत्व मे जैन सघ ने बहुत अच्छा विकास किया।

श्रद्धा भेद का जो विक्षेप था, वह रुका, इतना ही नही, कई अधर्मी धर्म-मार्ग मे प्रवृत्त हुए।[1]

परम्परागत अनुश्रुति के अनुसार पूज्य श्री के सत्तावीस शिष्य बने।

सम्प्रदाय को व्यवस्थित और पल्लवित करने का बहुत कुछ श्रेय आचार्य को जाता है।

आचार्यश्री के सफल और शानदार नेतृत्व को पाकर मेवाड का जैन सघ धन्य हो गया। आचार्य श्री की सुव्यवस्था के कारण तथा सम्प्रदाय के बढते प्रभाव से ही मेवाड सम्प्रदाय 'पूज्य श्री नरसिंहदास जी महाराज की सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध होने लगी।

कवि भी

आचार्य श्री सफल वक्ता ही नहीं, अच्छे कवि भी थे।

आचार्य श्री की रचनाएँ कई रही होगी। किन्तु विगत-परम्परा मे सहेजकर रखने की वृत्ति का लगभग अभाव होने के कारण कई रचनाएँ लुप्त हो गई होगी। लेकिन जो कुछ रचनाएँ उपलब्ध हो सकी उनके आधार से उनका कवित्व प्रकट हुए बिना नही रहता।

आचार्य श्री की एक रचना जो मिली हुई रचनाओ में सम्भवत सबसे प्राचीन है, वह है—'रोडजी स्वामी रा गुण'। उनतीस गाथाओ की इस रचना मे पूज्य श्री ने अपने गुरु श्री रोडजी स्वामी के जीवन के प्रसगों को बहुत ही सरल राजस्थानी ही नही ठेठ मेवाडी मे चित्रित किया।

सुमधुर किसी प्राचीन गीतराग मे रची हुई यह रचना मेवाडी भाषा की एक प्राचीन कृति है, जो भाषा-गवेषकों के लिए तत्कालीन शैली का प्रतिनिधित्व भी करती है।

बिना किसी अलकरण के सीधे भावो को व्यक्त करने वाली यह कृति गेयात्मक होने से बहनो मे अत्यधिक लोकप्रिय है। वर्णनात्मक रचना का एक पद प्रस्तुत है—

पच महाव्रत पालताजी खम्या करी भरपूर।
बाइस परीसा जीतियाजी दोष टाल्या बियालीस पूर ॥

सक्षिप्त मे कई विशेषताओं को लोकशैली में व्यक्त कर देना, इस कृति की विशेषता है। यही कृति एक ऐसी आधारभूत कृति है, जिसमे तपस्वी श्री रोडजी स्वामी का जीवन-वृत्त सुरक्षित रह सका।

आचार्य श्री की एक दूसरी कृति 'भगवान महावीर रा तवन' नामक मिली। इसमे भगवान महावीर के जीवन का सक्षिप्त परिचय प्रभाती राग में दिया गया है। इसमें ग्यारह गाथाएँ हैं। सहज प्रवाह में भावो को अभिव्यक्त करते हुए कवि ने थोड़े मे बहुत कह दिया है। जैसे—

वीर वरस छद्‌मस्त रहीने कठिन कर्म परजारी।
घनघाती चउ कर्म खपावी केवल कमला धारी ॥

आचार्य श्री की एक कृति सुमतिनाथ का स्तवन है। इसमे तेरह गाथाएँ हैं। सुमतिनाथ के गुण करते हुए इसमें एक दृष्टान्त भी गूँथ दिया है। जिनेन्द्र का नाम 'सुमति' क्यो दिया गया, इस पर दृष्टान्त है कि एक सेठ के दो पत्नियाँ थीं। उनमे से एक के एक पुत्र था। दोनो उसे अपना कर मानती थी। सेठजी का देहावसान हो गया।

---

१ ग्राम नगर पुर विचरिया कीदो भव जीवा उपकार।
अनार्य आर्य किया धर्म दिपायो सुध सार ॥
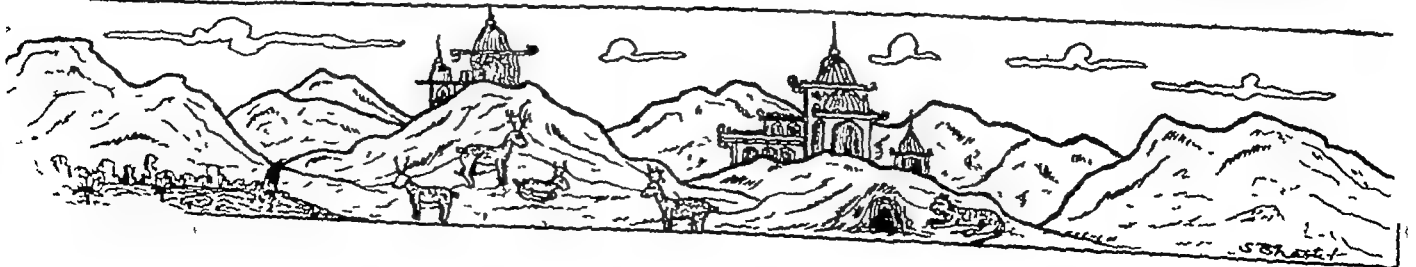
एक दिन किसी वात पर दोनो के बीच अनवन हो गई। उन्होंने सेठजी के सारे वैभव का बँटवारा कर लिया। जब पुत्र पर वात आई तो दोनो उस पर अपना अधिकार जताने लगीं। बच्चा एक था, दोनो के पास तो रह नही सकता था। दोनो बच्चे को अपने पास रखने के लिए तुली थी। अन्तत यह प्रश्न स्थानीय राजा के पास पहुँचा। किन्तु दोनो स्त्रियाँ बच्चे को अपना बता रही थी। अत राजा कोई निणय नही दे सका। महारानी ने जब इस कठिन उलझन को सुना तो उसने निर्णय देने का निश्चय किया। रानी ने दोनो स्त्रियो को अपने पास बुलाया और उसने बच्चे को दो भागो मे बाँटकर उसका एक-एक टुकडा दोनो को देने का निणय दिया। यह सुनकर जो माँ नही थी वह तो प्रसन्न हो गई। क्योकि उसने सोचा—बच्चे की मृत्यु से यह भी नि सन्तान हो जायेगी। किन्तु जो वास्तव मे माँ थी, वह रो पडी। उसने कहा—बच्चा मेरी साथिन के रहने दीजिये। मुझे इसका एक टुकडा नही चाहिए। दोना की बातें सुनकर रानी ने असली माँ को पहचान लिया और बच्चा उसको दिला दिया।

इतना सुन्दर न्याय करने के कारण रानी की बडी प्रशसा हुई। वह रानी उस समय सगर्भा थी। कालान्तर मे उसने जिस सन्तान को जन्म दिया उसका 'सुमति' अर्थात् 'अच्छी बुद्धिवाला' नाम रखा।

वही सुमति नामक शिशु पाँचवें तीर्थंकर भगवान सुमतिनाथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

आचार्य श्री ने केवल तेरह गाथाओ मे यह सब अकित कर दिया।

आचार्य श्री की एक कृति और मिली है। इसमे श्रीमती सती का आख्यान है। ८८ गाथाओ मे कथा के सभी पक्षो को उजागर कर दिया। इसमे वणन-शैली की सुन्दर छटा मिलती है। श्रीमती का परिचय देते हुए कवि लिखते हैं—

श्रीमती नामे बेटी छइ।
गुणमणी केरी पेटी छइ।
सील रतन करने सही ए॥

उपलब्ध कृतियो को देखने पर आश्चर्य होता है कि श्री रोडजी स्वामी की ढाल को छोडकर शेष तीनों कृतियाँ स० १८८५ की मिली। इनमे दो तो रायपुर जहाँ उस वर्ष चातुर्मास था, में लिखी गई। एक उसी वर्ष गगापुर मे लिखी। गगापुर रायपुर से केवल बारह मील पर है।

आचार्य श्री वणनात्मक शैली के अच्छे कवि थे। उनकी और भी कई कृतियाँ रही होंगी। किन्तु खोज करने पर भी, अब तक नही मिली। सम्भवत भविष्य मे मिल सकें।

आचार्य श्री के चातुर्मास

आचाय श्री ने अपने सयमी जीवन मे कुल सैंतीस वप बिताए। तदनुसार कुल चातुर्मास सैंतीस हुए। सोलह चातुर्मास तो केवल उदयपुर मे ही सम्पन्न हुए। इनमे नौ चातुर्मास पूज्य श्री रोडजी स्वामी के साथ और शेष सात चातुर्मास आपने स्वय किये। इनमे अन्तिम चातुर्मास भी गिन लिया गया है।

श्री नाथद्वारा मे नौ चातुर्मास हुए। एक सनवाड, एक पोटला, एक गगापुर, दो लावा (सरदारगढ), एक देवगढ, दो रायपुर, एक कोटा, दो भीलवाडा और एक चित्तौड। इस तरह कुल सैंतीस वप आचाय श्री का संयमी जीवन रहा। इस बीच मेवाड के अधिकाश क्षेत्रो मे विचरण होता रहा। साथ ही अनेको उपकार भी हुए।[1]

---

१ सोले चौमासा उदियापुर माय जी, पुजजी कीदा आप हर्ष उछाय।
हे मारग दिपायो आप जस लियो ऐ, हा ए दर्शन आपरो ए। निवारण पाप रो ए, पुजजी महाराज ॥१॥
श्रीजीदुवारे नव किया चौमास नरनारी हुआ हर्ष हुल्लास। हे।दशन करीने पाप दूरो कियो ए ॥२॥
सनवाड मांहे एक चौमासो जोयजी, पोटला माहे एक हीज होय। हे गगापुर माहे एगज जाणिय है ॥३॥
लावा माहे दोय चौमासो कीय जी, देवगढ माहे एक प्रसिद्ध। हे रायपुर मांह दोय वखाणिमे हे ॥४॥
कोटा माहे चौमासो कियो एकजी, भीलोडा माहे पण दोय। हे चित्तौड मे चामासो किया मन रलिये है ॥५॥
ऐ चौमासा हुआ सेत्रीस, कीधा आप आण जगीस। हे मनना मनोरथ सहु फलि हे ॥६॥
चउथी ढाल कही छे रसालजी भव्यक जन लहे ऐलाद। हे गुणकारी म्हारी नरो मनी है ॥७॥

ढाल के अनुसार, पूज्य श्री की दीक्षा मार्गशीर्ष कृष्णा नवमी, स० १८५२ को हुई। स्वर्गवास फाल्गुन कृष्णा अष्टमी, स० १८८९ को हुआ। इस प्रकार इनके सैंतीस चातुर्मासो का होना नितान्त प्रामाणिक है।

आचार्य श्री नरसिंहदास जी महाराज के चातुर्मासो की ऐसी व्यवस्थित सूची मानजी स्वामी कृत ढाल के द्वारा मिल जाने से अब तक जो इन चातुर्मासो का सम्बन्ध श्री रोडजी स्वामी के साथ बिठाए जाने की जो बात चली आ रही थी, वह समाप्त हो जाती है। ये चातुर्मास पूज्य श्री नरसिंहदास जी महाराज के थे, न कि श्री रोडजी स्वामी के।

पूज्य श्री रोडजी स्वामी के स्वर्गवास की तिथि की अधिकृत जानकारी, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अब तक मिल नही पाई। मानजी स्वामी कृत ढाल से भी उनका उदयपुर में नौ वर्ष थाणापति रहना और साढ़े चार दिन के सथारा युक्त स्वर्गवास होना इतना ही जान पाये। सवत और तिथि नहीं मिल पाई तो सैंतीस चौमासो की उनकी विगत का आधार बैठता ही नहीं। प्रेरकजीवनी कार की प्रेरणा से प्रकाशित 'तीन किरणें' पुस्तक मे श्री रोडजी स्वामी की दीक्षा होना स० १८२४ के वैशाख मास मे लिखा है। तदनुसार यदि स० १८६१ फाल्गुन का स्वर्गवास मान भी लें तो चातुर्मास सैंतीस न होकर ३८ होते हैं। जबकि १८६१ के स्वर्गवास का प्रामाणिक आधार उपलब्ध नही है।

वास्तविक बात यह है कि पूज्य श्री रोडजी स्वामी के सैंतीस चातुर्मास का आधार मिलता नही हैं। पूज्य श्री नरसिंहदास जी महाराज के ही सैंतीस चातुर्मासो की व्यवस्थित सूची है। भूल से उसी सूची को श्रीरोडजी स्वामी की सूची मान बैठे, जिसका निराकरण मानजी स्वामी कृत ढाल से भलीभाँति हो जाता है।

स्वर्गारोहण

पूज्यश्री का अन्तिम चातुर्मास उदयपुर था।[1] पूज्य श्री चातुर्मास हेतु पधारे, उस समय उस चातुर्मास को अन्तिम मानने का कोई आधार नही था।[2]

प्राप्त प्रमाणो से ऐसा लगता है कि वह चातुर्मास स० १८८९ का था। चातुर्मास मे ही पूज्य श्री के स्वास्थ्य मे अस्वस्थता आ गई थी। फलस्वरूप विहार नही हो सका।

उसी वर्ष फाल्गुन कृष्णा अष्टमी के दिन पूज्य श्री का स्वर्गवास हो गया।[3]

स्वर्गवास से पूर्व पूज्य श्री ने व्याधि बढ़ती हुई देखकर सथारा धारण कर लिया जो एक दिन चला।[4]

पूज्य आचार्य श्री नरसिंहदास जी महाराज का स्वर्गवास मेवाड जैनसघ के लिए बडी चिन्ता का विषय रहा। ऐसा लगा मानो, जगमगाता नक्षत्र विलुप्त हो गया।

पूज्य श्री नरसिंहदास जी महाराज अच्छे ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी, वक्ता कवि और ओजस्वी आचार्य रत्न थे। उन्होंने मेवाड सम्प्रदाय का एक तरह से नवीनीकरण किया था।

वे अनेकों आध्यात्मिक प्रतिभाओ के धनी थे। पूज्य श्री के स्वर्गवास से कुछ दिन पूर्व ही लिखे मानजी स्वामी कृत स्तवन मे उल्लेख है कि—

गुरु देवन का देव कही जे, गुरु सम अवर न कोय।
एहवा गुरु मिले जेहने तेहना कारज सिद्ध होय॥

इससे पाठक समझ सकते हैं कि मानजी स्वामी जैसा तेजस्वी तथा प्रबुद्ध व्यक्तित्व जिस व्यक्तित्व के प्रति इतना अधिक अनुरक्त हुआ हो, अवश्य ही वह व्यक्तित्व अनूठा एव प्रतिभा सम्पन्न रहा होगा, इसमे कोई सन्देह नही।

●●

---

१ सेर उदियापुर पधारिया रे कीदो चरम चौमास।
२ विहार करण री आस।
३ फाल्गुन कृष्णा अष्टमी रे सुरलोक मे वास।
४ चउथ भक्त अणसण कियो आणी मन उल्लास।

३
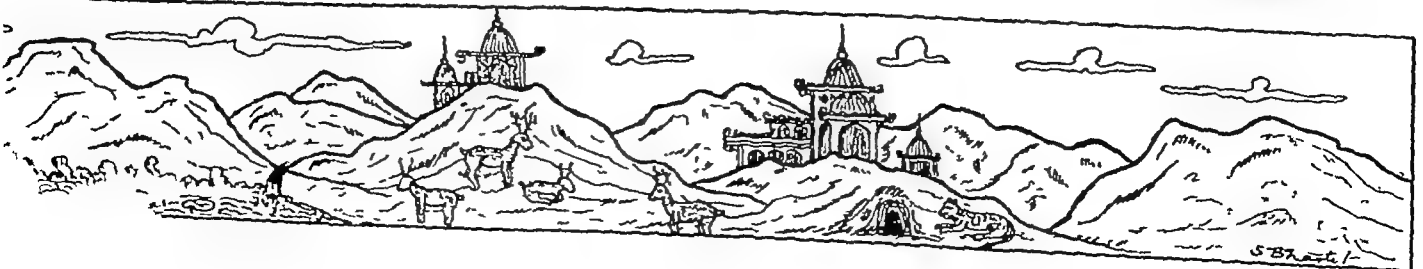
पूज्य आचार्यश्री मानजी स्वामी

□

परिचय रेखाएँ

मेवाड के जैन-जगत मे सर्वाधिक यदि किसी जैन सत का नाम लिया जाता है तो वह है, 'पूज्य श्री मानजी स्वामी ।'

श्री मानजी स्वामी एक ऐसे चमत्कारिक महापुरुषो मे गिने जाते हैं कि जिनके नाम की यहाँ 'आण' लगती है । मेवाड की जनता मे इस व्यक्तित्व के प्रति इतनी आस्था है कि उनके नाममात्र से यहाँ बन्धन टूटते हैं और विपदाएँ हटती हैं । व्याधिग्रस्त उनका स्मरण कर स्वस्थ हो जाता है । ऐसी श्रद्धा केवल जैनो मे ही नही, हजारो अ-जैनो मे भी व्याप्त है ।

श्रद्धा का यह लौकिक स्वरूप इतना गहरा है कि अरिहन्त, सिद्ध या रामकृष्ण के साथ मानजी स्वामी की मालाएँ फेरी जाती हैं, स्तवन गाये जाते हैं, उनकी स्तुतियाँ की जाती हैं ।

श्रीमानजी स्वामी का जन्म स्थान देवगढ मदारिया है । श्री धन्नादेवी माता का नाम था पिताश्री तिलोकचन्द्र जी गाधी थे ।

जन्म समय अठारह सौ तिरसठ कार्तिक शुक्ला पचमी माना जाता है । और यही ठीक लगता है । आगम के अनमोल रत्न के सम्पादकजी ने जन्म अठारह सौ तिरियासी का माना और कुल उम्र अस्सी वर्ष की मानी । इसके अनुसार उनका स्वर्गवास उन्नीस सौ तिरसठ का आता है, जो बिलकुल असगत है, क्योकि उन्नीस सौ सैंतालीस मे पूज्य श्री एकलिंगदास जी महाराज की दीक्षा हुई तो क्या उस समय मानजी स्वामी उपस्थित थे ? मानजी स्वामी का स्वर्गवास १९४२ मे ही हो चुका था । अत उनकी उपस्थिति का प्रश्न ही नहीं ।

अत पूज्य श्री का जन्म समय १८६३ का ही ठीक बैठता है ।

बहुत प्राचीन समय से ही देवगढ जैन धर्म का अच्छा क्षेत्र रहा है । आज भी जैनो के अच्छी सख्या मे परिवार वहाँ हैं । गांधी परिवार एक भी आज अच्छा धर्मप्रेमी और अग्रगण्य है । मानजी स्वामी इसी परिवार की देन हैं । बचपन से ही धार्मिक सस्कार पाने से ज्योही कुछ समझ का विकास होने लगा, मानजी का झुकाव धर्म क्रियाओ की तरफ बढ गया ।

उस समय मेवाड सम्प्रदाय के आचार्य पद पर पूज्य श्री नृसिहदासजी महाराज समासीन थे । व बड़े आत्मानन्दी सत्पुरुष थे । उच्चकोटि के महात्मा थे । देवगढ पधारे । श्री मानजी जो अभी बहुत छोटे बच्चे थे पूज्य श्री के निकट आये ।

आध्यात्मिकता के भी बडे विलक्षण सिद्धान्त होते हैं । उन्हे भौतिक उपादानो से जानना सभव नहीं । न उन्हें इस तरह आँकना ही चाहिए । अतिमुक्तकुमार केवल नौ वर्ष के थे । भगवान महावीर के निकट पहुँचे, यह एक सामान्य बात थी, किन्तु अतिमुक्त मे जो आध्यात्मिक परिवर्तन आया, वह असामान्य था ।

कुछ ऐसा ही परिवर्तन आया था, श्री मानजी मे, पूज्य श्री नृसिहाचार्य के सम्पर्क में । नौ वर्ष की उम्र मे यो मानसिक विकास बहुत थोडा सा हो पाता है किन्तु कुछ चेतनाओ की आध्यात्मिकता ऐसी विलक्षण होती है, जो गागर मे सागर को चरितार्थ करती है । तन छोटा होता है किन्तु भावो की उडान बहुत ऊँची होती है । कुछ ऐसा ही बना श्री मानजी स्वामी के जीवन मे उस समय । वय तो उनकी छोटी थी, किन्तु विचार जो उनके बन रहे थे बड़े क्रान्ति

आचार्य श्री नरसिंहदास जी महाराज की हस्तलिपि   वि० सं० १८३१ से १८८९

आचार्य मानमल जी महाराज की हस्त लिखित प्रति   वि० स० १८८५

आचार्य श्री नरसिंहदास जी महाराज की हस्तलिपि वि० सं० १८३१ से १८८९

आचार्य मानमल जी महाराज की हस्त लिखित प्रति वि० सं० १८८९

आचार्य श्री रिसवदास जी महाराज की हस्तलिपि   समय वि० स० १९११

आचार्य श्री मोतीलाल जी महाराज की हस्तलिपि   समय वि० स० १९६५

कारी थे। वे पूज्य श्री के निकट अपने को अर्पित करना चाहते थे। संयम का आग्रह उनका इतना तीव्र सच्चा, और प्रभावशाली था कि अनेको यत्नो के बावजूद पारिवारिक-जनो को अनुमति देनी ही पड़ी।

स० १८७२ की कार्तिक शुक्ला पंचमी को दीक्षा सम्पन्न हो गई। दीक्षास्थल का परिचय ढूंढने पर भी नहीं मिल सका।

पूज्य श्री मानजी स्वामी एक विद्वान् गुरु के शिष्य थे। सुनने मे आता है कि श्री नृसिंहाचार्य जी को अनेक सूत्र कण्ठस्थ थे।

गुरु के ज्ञानामृत का श्री मान मुनि ने भी भरपूर रसपान किया।

पूज्य आचार्य श्री नृसिंहदासजी महाराज के स्वर्गवास के बाद मेवाड़ के आचार्यत्व के धर्म तख्त पर श्री मानजी स्वामी को समासीन किया गया।

श्री मानजी स्वामी बड़े तेजस्वी आचार्य थे। उन्होंने संघ की प्रतिष्ठा को चतुर्दिक व्याप्त कर दिया। उनके प्रवचन बड़े ओजस्वी और प्रभावक होते थे। उनका देह-वैभव भी बड़ा विशाल और तेजस्वी था।

जेवाणा वाले श्री अम्बालालजी जैन की माताजी, जिनका देहावसान अभी कुछ समय पूर्व ही हुआ, की उम्र नब्बे वर्ष से अधिक थी। उन बूढ़ी माताजी ने बताया कि मेरी गुरुधारणा पूज्य श्री मानजी स्वामी की वाणी से हुई थी। श्री मानजी स्वामी का शरीर पुष्ट और चमक-चमक करता था। इससे ज्ञात होता है कि उनका व्यक्तित्व वास्तव मे प्रभावशाली था।

श्री मानजी स्वामी कवि भी थे। उनकी अधिक रचनाएँ तो उपलब्ध नही हैं, किन्तु जो उपलब्ध हैं, उनसे उनका कवित्व प्रकट होता है। उनके गुरु गुण स्तवन के प्रारम्भिक दोहो मे से एक दोहा है—

गुरु हीरा गुरु कचणा, गुरु ज्ञान दातार।
गुरु पोरस चित्रवेल सम, लीज्यो मन मे धार॥

सीधी सादी राजस्थानी शैली मे कुछ रचनाएँ उपलब्ध हैं।

किंवदन्तियों-चमत्कारों मे श्री मानजी स्वामी

पूज्य मानजी स्वामी, जिस एक बात के लिए सर्वाधिक विख्यात है, वह हैं उनका चमत्कारिक जीवन। मानजी स्वामी के साथ अनगिनत चमत्कारी घटनाएँ जुड़ी हुई हैं।

जिस तरह नाथ सम्प्रदाय में गोरखनाथ जी का जीवन चमत्कार का पर्याय बना हुआ है, [इसी तरह पूज्य मानजी स्वामी भी जैन सम्प्रदाय मे चमत्कार के एक पर्याय हैं।

जैन मुनि चमत्कारो के सृजन को हेय मानकर चलता है, इतना ही नही चमत्कार को एक प्रमाद मानकर उसके सृजन पर प्रायश्चित्त की व्यवस्था भी देता है। ऐसी स्थिति मे किसी जैन मुनि के साथ इतने चमत्कारो का जुड़ जाना सचमुच आश्चर्य की बात है।

यो जैन मुनि चमत्कारों का सृजन नही करता, किन्तु उसके आस-पास भी कभी स्वत ही चमत्कारो की सृष्टि हो जाया करती है। यह आश्चर्य की बात है। फिर भी जैन मुनि की उपस्थिति मे चमत्कार हुए हैं आज से नही, हजारो वर्ष पहले भी, इसमे कोई सन्देह नही।

अप्रयोगित चमत्कार क्यो हुए, इसके उत्तर मे भक्त देवताओ का आगमन और उनकी शक्ति ही इसका समाधान देती आई है। और, अभी भी केवल इसी विकल्प पर तर्कों को निष्क्रिय करना पड़ता है।

आत्मा और जड़ की अनन्त शक्ति है। इसके विविध सन्दर्भों मे आश्चर्यजनक परिणमन भी एक समाधान है, किन्तु यह बहुत दूर का है। यह समाधान अपने आप मे अभी तक और अन्वेषण का आह्वान करता है।

श्रीयुत मानजी स्वामी की सेवा मे एक देवी और दो भैरव उपस्थित रहते थे। ऐसी बहुत पहले से चली आई धारणा है।

अद्भुत निर्भयता

कहते हैं, एक बार मानजी स्वामी, जब नवदीक्षित ही थे, अपने गुरु के साथ सिरोही पधारे थे। एक लोका-

गच्छी उपाश्रय में ठहरे। वहाँ यति विजय-प्रताप यन्त्र साधना कर रहा था। उसके लिए वह अन्तिम दिन था। अर्द्ध-रात्रि के समय अधिष्ठित देवी सिंह का रूप धारण कर दहाड़ मारती गगनमंडल से उतरी। उसका विकराल व्यक्तित्व इतना भयंकर था कि यति अत्यधिक डर गया। अतिभय के कारण कालकवलित हो गया। पास ही मानजी ध्यानस्थ थे। सिंहाकृति दहाड़ मारती उधर लपकी। श्री मानजी मुनि ने निर्भयतापूर्वक हाथ उठाकर दया पालने का सन्देश दिया। कहते हैं, उस देवी ने आधा हाथ अपने मुंह में दबा लिया। किन्तु मानजी स्वामी निर्भय ही रहे। उस महान निर्भयता के समक्ष देवी नतमस्तक हो वन्दन करने लगी। अपने अपराध की क्षमा चाहने के साथ ही उसने आजीवन सेवा करते रहने की प्रतिज्ञा की। कहते हैं, तभी से देवी और उसके अनुयायी दो भैरव मुनिश्री की सेवा में उपस्थित रहने लगे।
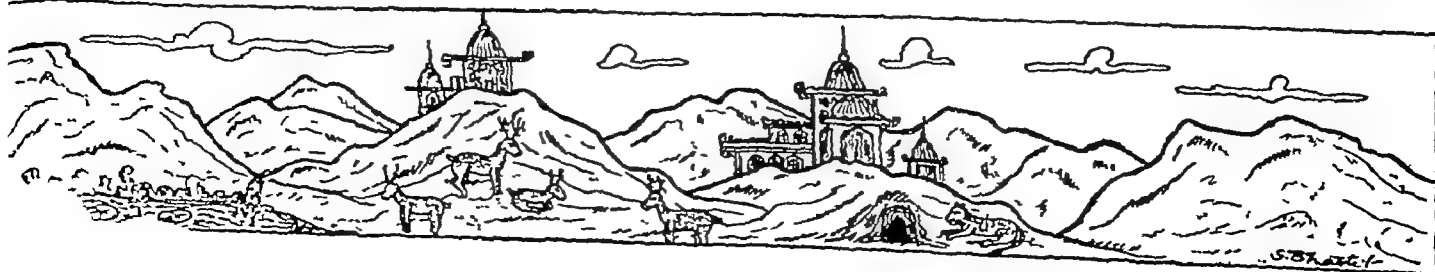
यह बात ठीक वैसी ही बनी कि चन्द्रहास खड्ग साधा शम्बुक ने, किन्तु वह मिला लक्ष्मण को। इसी तरह यन्त्र की साधना की यति ने और उसका लाभ मिला श्री मानजी स्वामी को।

डाकुओं को प्रतिबोध

एक बार पूज्य मानजी स्वामी मारवाड़, मेवाड़ के मध्यवर्ती विकट पहाड़ों में विचर रहे थे। एक जगह कुछ डाकुओं ने मुनिमंडल को घेर लिया। वे कपड़े छीनने लगे। श्री मानजी स्वामी ने बड़े धैर्य से उनको कहा—कपड़े तो तुम्हें और भी कहीं मिल जाएँगे, हम तो तुम्हें धर्म का अद्भुत रत्न देना चाहते हैं। उन्होंने कहा—मृत्यु के मुख में सभी को जाना है, तुम्हें भी जाना है। अपकर्म करके यहाँ अपयश और भय से जी रहे हो। मृत्यु के बाद तुम्हें शान्ति मिल जाएगी, इसकी संभावना नहीं। ऐसा जीवन जो भय और बुराइयों से भरा हुआ है, एक जंजाल है। ऐसा दुष्ट जीवन जीने की अपेक्षा निर्भय विचरने वाले पशुओं का ही जीवन ज्यादा श्रेष्ठ है।

स्वामीजी के मार्मिक उपदेश से डाकू दल एक नई दिशा में सोचने लगा। पूज्य श्री के चेहरे और चक्षुओं की अनुपम प्रभा तथा उनके शानदार व्यक्तित्व से चकित होकर वे डाकू पूज्य श्री को निहारते ही रहे। वे बड़े प्रभावित होकर उपदेश का अमृत पीने लगे।

"पारस परसि कुधातु सुहाई" वाली कहावत के अनुसार पूज्य श्री के पावन प्रसंग से डाकू सच्चे नागरिक बनने को उत्साहित हो गये। उन्होंने डकैजनी का परित्याग करके भावी जीवन में शुद्ध रहने की प्रतिज्ञा ली।

आप रहें, मैं जाता हूँ

एक बार मानजी स्वामी बिजणोल (नाथद्वारा) पधारे थे। वहाँ के माफीदार उन्हें मार्ग में मिले। पूज्य मानजी स्वामी को अपने गाँव पधारते देखकर वे माफीदार आगे जाना बन्द कर स्वामीजी के साथ पुनः अपने गाँव चले आये। माफीदारों की बड़ी पोल के एक चबूतरे पर एक प्रेत ने निवास कर रखा था। उससे पूरा परिवार दुःखी था। माफीदारों ने सोचा—मानजी स्वामी बड़े करामाती हैं। इन्हें उसी चबूतरे पर उतारना चाहिए। अपना उपद्रव टल जाएगा। ऐसा सोचकर उन्हें वहीं ठहराया।

केवल मानजी स्वामी उस चबूतरे पर ठहरे। उनके शिष्य हीरालालजी, पन्नालालजी आदि पास वाले चबूतरे पर बैठे।

चबूतरे पर बैठते ही स्वामीजी ने कहा—अरे! हीरा, पन्ना!! यहाँ तो उपद्रव है। हीरालाल जी महाराज ने कहा—गुरुदेव! इधर पधार जाएँ।

"अब मैं क्या आऊं, रहने वाला ही जाएगा!" ऐसा ज्यों ही मानजी स्वामी ने कहा—एक विकराल प्रेत यह कहते हुए कि "आप रहें, मैं जाता हूँ।" नतमस्तक हो विलीन हो गया।

उसी दिन से वह स्थान निरुपद्रव हो गया। माफीदार परिवार ने भी उस स्थान को धर्म-ध्यान में बरतने के लिए रखा। पधारने वाले साधु-साध्वियाँ प्रायः वहीं ठहरते आये। लेखक को भी वहाँ कई बार ठहरने का अवसर मिला।

मेरे तो देवता आप हैं

मानजी स्वामी का सर्वाधिक प्रसिद्ध चमत्कार 'खेड़ी' का माना जाता है।
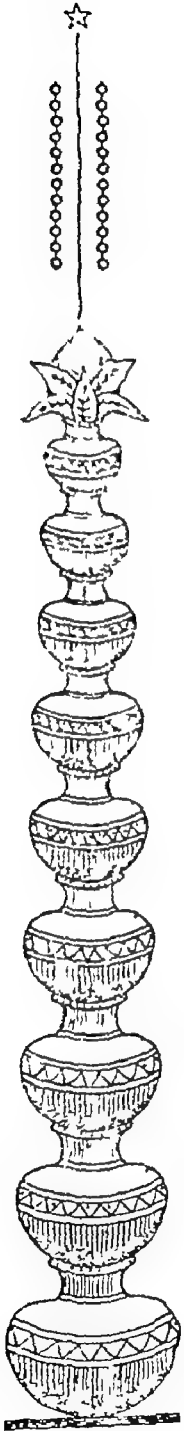
खेडी खमणोर के पास बनास नदी के किनारे बसा एक छोटा-सा गाँव है। वहाँ भैरव का एक स्थान है, जो अपने युग का बडा प्रसिद्ध स्थान रहा है।

एक बार मानजी स्वामी खेडी के पास होकर विचर रहे थे। इतने मे वर्षा आ गई। पावस से बचने को स्वामीजी शिष्यो सहित उस देवस्थान मे ठहर गये।

देवजी भोपा, जो उस देवस्थान की सेवा करता था, पूजा करने को आया। मुनियो को देखते ही आगबबूला हो बकने लगा। उसका कहना था कि तुम लोगो ने मेरे देवरे को अशुद्ध कर दिया।

मानजी स्वामी ने कहा—यहाँ कौन है, जो अशुद्ध हो? भोपा ने कहा—यह भैरू का स्थान है। स्वामीजी ने कहा—क्या तुमने भैरव को देखा है? उसने कहा—भैरू दिखाई नही देते। स्वामीजी ने कहा—वाह! उम्रभर तुमने आरतियाँ उतारी, किन्तु भैरव तुम्हें मिले ही नही! जरा अपने भैरव को बुला तो सही, हम भी देखें।

स्वामीजी की इस विनोद भरी बात से भोपा और तिलमिला गया।

स्वामीजी ने कहा—अच्छा, भैरू तुम्हारे हो तो तुम बुलाओ और यदि हमारे होंगे तो हमारे सामने आएगे!

बिचारा भोपा उस देवशक्ति को कैसे बुला सकता था? वह बडा परेशान था। उसने कहा—क्या आप बुला सकते हो? स्वामीजी ने कहा—साधु किसी को बुलाते नही, साधुओ के पास तो वे स्वत ही आते है।

ऐसा कहा ही था कि कहते हैं, दो भैरव-आकृतियाँ उपस्थित होकर स्वामीजी की चरणोपासना करने लगी। देवजी भोपा चकित थे।

देवो के विलीन होने पर भोपा स्वामीजी के चरणो मे लोट गया और कहने लगा—मेरे तो देवता आप है!

स्वामीजी धर्म सन्देश देकर आगे बढ़े। उस देवस्थान पर जब से चमत्कार हुआ, उस स्थान की प्रशसा दिनोदिन बढती गई।

भोपा परिवार मदिरा-माँस का त्यागी था। उस परिवार के पास एक चादर थी जो बाद मे सलोदा वाले भोपा जगरूपजी के हाथ लगी। आज भी वह चादर भोपाजी दिखाते हैं, जो अति जीर्ण है। उसे मानजी स्वामी की बताते हैं। वे कहते हैं कि यह चादर मानजी स्वामी से मिली। किन्तु मुनि तो चादर देते नही, ऐसी सभावना है कि स्वामीजी ने वह चादर उतार कर सुखाने को धरी होगी। फिर चमत्कार देखकर भोपा ने उसे पवित्र चादर समझकर उठा लिया होगा!

'आगम के अनमोल रत्न' के अनुसार वह चादर मानजी स्वामी के दाह-सस्कार मे से अभग बचकर निकली थी। उसे नाथद्वारा सघ ने लम्बे समय तक अपने यहाँ रखा। बाद मे वह सलोदा वाले भोपा को दे दी गई। किन्तु यह बात ठीक नही बैठती। नाथद्वारा सघ भोपा को चादर क्यो दे? जो चादर इतना चमत्कार अपने साथ रखती है, उसे सघ किसी भोपा को दे दे, यह जँचता नही।

सलोदावाले भोपा जगरूपजी ने कहा कि यह चादर उन्हें खेडी से मिली। उन्होने बताया—मुझे स्वप्न मे दर्शाव हुआ। तदनुसार मैं यह चादर खेडी से ले आया। चादर बहुत ही जीर्ण तार-तार हो रही है। यत्र-तत्र फटी हुई है। इसे धागे से सी रखा है। भोपाजी ने कहा—इसे सुई से नहीं, सूल से सिया करते हैं।

देवी ने इन्कार किया

उदयपुर के पास नखावली एक छोटा-सा गाँव है। वहाँ एक बडा जैन मन्दिर है। ठीक उसके सामने देवी का मन्दिर है। वहाँ बलिदान होता था। जैन मन्दिर के बिलकुल सामने निकट ही खून की धार बहा करती जिसे देख कर धर्मप्रिय जनता बडी दु खी थी।

नखावली के एक बूढ़े ब्राह्मण ने हमको बताया कि एक बार मानजी स्वामी का वहाँ आना हुआ। उन्हें जब यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने देवी के पुजारी और अन्य जनता को बलि बन्द करने के लिए कहा। किन्तु इसके लिए कोई तैयार नही हुआ। वे लोग कहने लगे कि अगर साक्षात देवी मनाई कर दे तो हम बलि बन्द कर देंगे! कहते हैं कि तत्काल ही एक दिव्य आकृति ने प्रस्तुत हो बलि बन्द करने का आदेश दे दिया और वह आकृति विलीन हो गई। सारी जनता और पुजारी चकित से देखते ही रह गये।
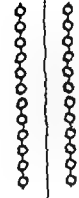
बात अद्भुत हुई। किन्तु उसी दिन से बलिदान वहाँ लुप्त हो गया। अब केवल मीठी पूजा होती है।
उस ब्राह्मण ने बताया कि यह घटना नब्बे से अधिक वय के कई वृद्ध जानते हैं।

महलो मे साधु ही साधु

सुनने मे आया कि एक बार किसी विशेष प्रकरण को लेकर महाराणा ने जैन मुनियो को मेवाड से निष्कासन की आज्ञा देने का निश्चय किया। सारे मेवाड की धर्मप्रिय जनता उद्विग्न थी। चारो तरफ बडी चिन्ता फैली हुई थी। ऐसी स्थिति मे महाराणा के राजमहलो मे एक चमत्कार हुआ।

महाराणा को अपने महलो मे सर्वत्र साधु ही साधु दिखाई देने लगे। उन्हे बडा आश्चर्य हुआ कि जिन्हें मैं देश निकाला देना चाहता हूँ, ये मेरे राजमहलो मे कैसे आ गये। मजे की बात यह थी कि वे साधु की आकृतियाँ केवल महाराणा को ही दिखाई देती थी, अन्य को नही।

महाराणा बड़े हैरान थे। उन्हे कोई समाधान नही मिल रहा था। अन्त मे उन्हे किसी ने मानजी स्वामी का नाम सुझाया। मानजी स्वामी की याद आते ही महाराणा उनके दर्शनो के लिए आतुर हो गये।

इधर पूज्य श्री मानजी स्वामी ने जब यह सुना कि महाराणा जैन मुनियो को मेवाड से बाहर निकालने की आज्ञा देने वाले हैं तो उन्होने दा मेडा (वर्तमान देवारी) मे एक देवडा क्षत्रिय के खेतो पर बनी घास फूस की झोपडी मे तेला (तीन दिनो की तपश्चर्या) कर लिया। चौथे दिन उस देवडा ने खोज करने वालो को पूज्य श्री की जानकारी दी। कहते है, ज्ञात होते ही महाराणा साहब पूज्य श्री की सेवा मे पैदल पहुँचे और अपने विशेष आग्रह से उन्हे उदयपुर मे लाये। जो आज्ञा जारी होने वाली थी, वह जहाँ की तहाँ समाप्त हो गई। जैनधर्म की बडी जबरदस्त प्रभावना हुई।

उपर्युक्त घटना केवल किंवदन्ती तक जीवित है। लिखित आधार इसका कुछ है नहीं, किन्तु जो किंवदन्तियाँ हैं, उनका मूल कही न कहीं तो होता ही है, इसमे कोई सन्देह नही।

जय और क्षय

एक ऐसी ही अनुश्रुति यह भी है कि नाथद्वारा मे तिलोकचन्द जी लोढा थे। बडे अभावग्रस्त थे वे।

एक बार पूज्य मानजी स्वामी वहाँ पधारे हुये थे। तिलोकचन्दजी को यह ज्ञात था कि पूज्य मानजी स्वामी बडे तेजस्वी तपस्वी सत हैं। वे बडे भक्तिभाव से उनकी सेवा करने लगे। तिलोकचन्द जी ने एक दिन अपनी दीनदशा का वर्णन पूज्य श्री के समक्ष किया। पूज्य श्री यन्त्र-मन्त्रवादी तो थे नही वे तो वीतराग मार्ग के प्रचारक थे। उन्होंने ध्यान से उनके दुखदर्द को तो सुना, किन्तु प्रत्युत्तर मे केवल मागलिक सुना दिया।

सयोग की बात थी। कुछ ही दिनो मे तिलोकचन्दजी लोढा के यहाँ वैभव की अपूर्व वृद्धि होने लगी। दो-तीन वर्षों मे ही वे नगर के प्रमुख धनाढ्यों मे गिने जाने लगे। उन्होंने एक विशाल भवन बनवाया जो 'लोढो का महल' कहलाता था।

उनके विशाल वैभव को देखकर श्रावको ने उन्हें एक धर्मस्थान निर्मित करने का भी आग्रह किया। उन्होंने उसे स्वीकार भी किया। किन्तु वैभव की चकाचौंध में वे धर्मस्थान बनाने को टालते ही रहे।

एक बार पुन जब मानजी स्वामी नाथद्वारा ही विराजित थे, कुछ लोगो ने तिलोकचन्द जी से धर्मस्थान के लिए आग्रह किया, किन्तु उन्होंने उपेक्षापूर्ण जवाब दिया। पूज्य श्री मानजी स्वामी को किसी ने जानकारी दी तो उनके मुँह से सहसा ही ऐसा निकला कि स्वार्थियो से परमार्थ कहाँ सधता है! धन का अत्याग्रह भी एक दरिद्रता है।

कहते हैं, उसी दिन से श्री लोढाजी का वैभव कपूर की डली की तरह उड़ने लगा, जो देखते ही देखते विलुप्त हो गया। बिचारे लोढाजी कुछ ही वर्षों मे पूर्ववत् स्थिति को भी पार कर और अधिक दयनीय स्थिति में चले गये तथा वे उसी स्थिति मे एक दिन ससार से भी विदा हो गये।

जो 'लोढो का महल' कहलाता था, वह अब भूतो का महल कहलाने लगा। सारा घराना क्षरित होकर क्रमश: नि शेष हो गया। शेष बचा भवन अभी वल्लभनगर वाले गृहस्थो के पास है।

नियम अभी भी चालू है

सत का प्रभाव अद्भुत होता है। ज्यों-ज्यों सूर्य बढता है, त्यों-त्यों प्रकाश फैलता जाता है। सत भी सूर्य होता है। वह प्रकाश-पुञ्ज होता है। जिधर सत जाता है, जन-जीवन के अन्तर्मन मे प्रकाश भरता रहता।

पूज्य श्री मानजी स्वामी अद्भुत उपकारी महात्मा थे। उनके द्वारा अनेको उपकार सम्पन्न हुये।

'पालका' रायपुर के निकट एक छोटा-सा गाँव है। पूज्य श्री मानजी स्वामी का एकदा वहाँ मगलमय पदार्पण हुआ। नगर के नरनारियो को बडा धर्मलाभ प्राप्त हुआ। स्थानीय तेली समाज 'अमाडी' अधिक बोया करता था। अमाडी को सडाकर रेशे निकाले जाते हैं। इसमे बडी हिंसा होती थी। पूज्य श्री ने तेली समाज को उद्बोधित कर जाग्रत किया। अमाडी के महापाप से उन्हें बचाने का उपदेश दिया। फलत तेली समाज ने सदा सर्वदा के लिए अमाडी बोने और सडाने का त्याग कर दिया। आज भी पालका का तेली समाज उक्त नियम पर दृढ है और वह खुशहाल भी है।

चरणों मे सिंह बैठा देखा

नाथद्वारा मे भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी को लड्डू फेंकने की एक प्राचीन प्रथा है। इस कार्य मे श्री नाथजी की पूजा करने वाले महाराज भी भाग लिया करते थे।

एक बार चतुर्थी के दिन महल से महाराज ने तिल का लड्डू फेंका। वह लड्डू श्री हीरालाल जी हींगड को जाकर लगा। श्री हींगड जी का मकान पास ही था। हींगडजी ने जिधर से लड्डू आया वापस उधर ही फेंक दिया और वह श्री महन्त जी को जा लगा। इस पर वे बड़े कुपित हुये। यह ज्ञात होते देरी नही लगी कि लड्डू हीरालाल जी ने फेंका है। हीरालाल जी को ज्ञात हो ही गया कि मोदक महन्त जी के जा लगा है। वे मारे भय के कांपने लगे, अपने बचाव का कोई मार्ग नही देख, वे सीधे श्री मानजी स्वामी की सेवा मे पहुँच गये। श्री मानजी स्वामी उस समय फौज के नोहरे मे विराजित थे। शरण पहुँच कर सामायिक करके बैठ गये। राज्य आरक्षी दल हीरालालजी को ढूंढता नोहरे मे पहुँचा तो, हीरालाल जी पाट के पास सामायिक मे बैठे थे। श्री मानजी स्वामी पाट पर विराजित थे साथ ही उन्होंने यह भी देखा कि पाट के नीचे एक नौ हत्था केसरी सिंह भी बैठा हुआ है। सिंह देखते ही आरक्षी दल घबराया वह आगे नही बढ सका और कुछ आगे बढ़ने का यत्न किया भी तो सिंह गुर्रा कर सामने आने लगा तो सभी डर कर भाग खडे हुये। दल के अध्यक्ष ने महन्तजी को यह घटना बताई तो महन्तजी ने कहा। हीरालाल मानजी स्वामी की शरण मे चला गया तो अब हम उसका कुछ नहीं बिगाड सकते। मान बाबा बड़े चमत्कारी हैं। हीरालालजी को क्षमा मिल गई।

उपर्युक्त घटना, श्री चौथमल जी सुराणा ने नाथद्वारा मे सुनाई।

एक भविष्यवाणी

महाराणा फतहसिंह राणावशीय एक सामान्य परिवार के युवक थे। वे किसी कार्यवश काकरोली आये थे। मार्ग में पूज्य श्री मानजी स्वामी मिले। फतहसिंह जी नमस्कार करके आगे बढ़े ही थे कि पूज्य श्री ने शिष्यो को कहा—यह युवक मेवाड का महाराणा होने वाला है। गुरु-शिष्य की यह बात जाते हुए फतहसिंह ने सुनी तो उन्होंने उसे अपने प्रति की गई एक व्यग्यात्मक बात समझी। किन्तु अपने घर पहुँचते ही पूज्य श्री की सच्चाई उन्हें मिल गई। उदयपुर सन्देश आया हुआ था कि फतहसिंह मेवाड की राजगद्दी को पाने के लिए शीघ्र आवें।

महाराणा फतहसिंह पूज्य श्री की चमत्कारिक भविष्यवाणी से बड़े प्रभावित हुए। वे पूज्य श्री की सेवाएँ करना चाहते थे। किन्तु अवसर नही मिल सका। कारण यह था कि फतहसिंह जी के सिंहासनारूढ होने के एक वर्ष बाद ही पूज्य श्री का स्वर्गवास हो गया।

स्वर्गवास

पूज्य श्री मानजी स्वामी अपने जीवन मे बड़े प्रखर थे। उन्होने मेवाड के धर्म-शासन को बडी तेजस्विता के साथ चलाया, चमकाया। पूज्य श्री का जीवनकाल धर्मशासन का स्वर्णिम समय रहा। कुल सित्तर वर्ष सयम पालन किया, नौ वर्ष की वय में दीक्षा ग्रहण की। इस तरह कुल गुण्यासी वर्ष की दीर्घ वय पाये।

पूज्य श्री का अन्तिम चातुर्मास नाथद्वारा था। उसी वर्ष किसी छोटे-से गाँव मे उनका स्वास्थ्य नरम हो चला। व्याधि कुछ ज्यादा बढी तो चारो तरफ एक चिन्ता फैल गई।

छोटा-सा गाँव अपनी जिम्मेदारी के अनुरूप तैयारी करने लगा तो पूज्य श्री ने कहा—तुम कोई चिन्ता न करो। मैं नाथद्वारा चातुर्मास के लिए जाऊँगा और वही से मेरा अन्तिम प्रयाण होगा।

वास्तव मे पूज्य श्री नाथद्वारा पधारे और कई दिनो तक धर्मोपदेश देकर जनजीवन को लाभान्वित किया।

चातुर्मास का अन्तिम माह कार्तिक आया। पूज्य श्री के स्वास्थ्य मे शिथिलता आने लगी।

अन्त मे कार्तिक शुक्ला पचमी को जैनेन्द्रीय विधि सहित पूज्य श्री का सुरलोकगमन हुआ।

पूज्य श्री एकलिंगदास जी महाराज के पूज्य पद प्रदान करने के उत्सव की छपी पुस्तक मे पूज्य श्री का स्वर्गवास चैत्र मे लिखा, किन्तु अनुश्रुति और पट्टावली कार्तिकी पचमी का समर्थन करती हैं।

'आगम के अनमोल रत्न' के लेखक के मतानुसार स्वर्गवास का सवत् उन्नीस सौ तिरसठ है। किन्तु यह युक्त नही लगता। कारण यह कि पूज्य श्री एकलिंगदास जी महाराज के गुरु श्री वेणीचन्दजी महाराज का स्वर्गवास उन्नीस सौ इकसठ चैनपुरा मे माना जाता है तो क्या पूज्य श्री मानजी स्वामी से पहले ही वेणीचन्द जी महाराज का स्वर्गवास हो गया? यह सर्वविदित है कि वेणीचन्दजी महाराज के स्वर्गवास के समय मानजी स्वामी उपलब्ध नहीं थे तो १९६३ का स्वर्गवास होना स्वत ही असिद्ध हो जाता है।

●●

कुछ लोग तलवार से मारते हैं।
कुछ लोग वचन-प्रहार से मारते हैं।
कुछ लोग मीठी मनुहार से मारते हैं।
कुछ लोग प्यार से मारते है।
कुछ लोग उपकार के भार से मारते है।

—'अम्बागुरु-सुवचन'

४

तपस्वीराज श्री सूरजमलजी महाराज

जैन मुनि परम्परा का उज्ज्वल इतिहास तब तक अपूर्ण ही रहेगा जब तक विस्मृत किन्तु छिपी हुई विभूतियो का प्रामाणिक इतिहास सामने न आए।

पट्टनायक को ही महत्त्व देने की परम्परा से कई ऐसी सन्त-विभूतियो के नाम तक विस्मृत हो गये हैं जिन्होने अपने उज्ज्वल सयम, प्रखर तेजस्विता के द्वारा शासन को दैदीप्यमान किया था। अनुसधान और खोज प्रधान वर्तमान युग मे भी उन पुण्यात्माओं से परिचय नही हो तो यह एक खेद की बात होगी।

सन्त परम्परा की जो ज्योतिर्मयी कडिया कई कारणो से विशृ खलित हो गई हैं, अब समय आ गया है कि हम उन्हे पुन प्रकाश में लायें और गौरवमयी सत परम्परा से जन-जन को परिचित करें।

राजस्थान के मेवाड प्रदेश मे विचरने वाली प्रमुख सत परम्परा मेवाड सम्प्रदाय के नाम से विख्यात है। उपलब्ध प्रमाण और किवदन्तियो से प्रतीत होता है कि इस सन्त परम्परा मे कई तपोपूत तेजस्वी महात्मा हुए जो इस प्रदेश की राणा-परम्परा के अनुरूप ही गौरवशाली सयम शूरता के अवतार थे।

पुराने हस्तलिखित पत्रो की देखभाल करते हुए एक-पत्र जो धुरन्धर विद्वान् कविवर्य श्री रिखवदास जी महाराज द्वारा रचित स्तवन का मिला जिसमे तपस्वीराज श्री सूरजमल जी महाराज का परिचय दिया हुआ है। पत्र की हस्तलिपि श्री रिखवदास जी महाराज की ही प्रतीत होती है। तपस्वीराज श्री सूरजमल जी महाराज क्या थे ? आज सम्भवत मेवाड में उनके विषय मे कोई कुछ नही जानता किन्तु इस एक स्तवन पत्रक ने उन्हें सन्त परम्परा की एक दैदीप्यमान मणि सिद्ध कर दिया। स्तवन जो परिचय देता है वह सक्षिप्त मे यह है—

तपस्वीराज श्री सूरजमल जी महाराज का जन्म स्थान "कालेरिया" (देवगढ़) था। लोढ़ा गोत्रीय श्री थान जी तथा श्री चन्दूबाई के यहाँ सवत् १८५२ में उनका जन्म हुआ। २० वर्ष की उम्र मे पूज्य आचार्य श्री नृसिंहदास जी महाराज के पास स० १८७२ चैत्र कृष्णा १३ के दिन आपने सयम पर्याय धारण की। दीक्षा-स्थल कौन-सा रहा ? इसका कुछ परिचय नहीं मिल सका। ३६ वर्ष निर्मल सयम पालन कर स० १६०८ ज्येष्ठ शुक्ला अष्टमी को आपका स्वर्गवास हुआ। छत्तीस वर्ष का यह सयमी जीवन घोर तपोसाधना मे गया। स्तवन के निर्देश के अनुसार तपस्वी जी ने अपने जीवन मे दो बार कम धूर तप किया। पाँच माह का दीर्घ तप एक बार किया। सैंतीस, पैंतीस तथा पन्द्रह दिन के तप भी किये।

यह केवल बडी तपश्चर्या की सूचना है। फुटकर तप कितना किया होगा। यह पाठक स्वय अनुमान लगा लें। जिनशासन जो आज पल्लवित पुष्पित दिखाई दे रहा है। वह ऐसी ही तपोपूत आत्माओ की देन है। अन्त मे हम वह स्तवन पूर्ण रूप से उद्धृत करते हैं जो तपस्वी जी के जीवन का परिचायक तो है ही कविराज श्री रिखबदास जी महाराज की कविता का एक अच्छा नमूना भी है—

[देसी-लावणी]

श्री सूरजमल जी, तपसी बडे वैरागी, ज्या ततखिण तज ससार सजम लव लागी।
थांरो वास देस मेवाड, कालेर्या मांही, हुआ लोढा कुल मे परम महा सुखदाई ॥१॥
प्यारा पिता थान जी, माता चन्दूबाई, हुआ बीस वरस मे दिख्या दिल मे आई।
गुरु भेट्या पडित, पूज्य शिरोमणि भारी, पुज नरसिंहदास जी, सघ मणी सुखकारी ॥२॥
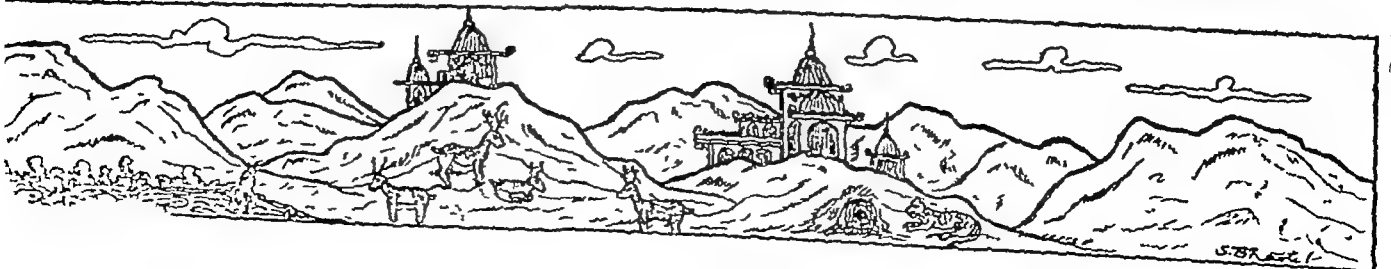
सवत अठारे सितर दोय के माँही, विघ तेरस चेतरमास दिख्या ले वाई।
करे विनो भगति, गुरु देवा मे अति भारी, रहे ज्ञान-ध्यान मे तलालीन गुणधारी ।।३।।

सुध सजम पाल, सुमत गुपत करी सोहे, खिम्या गुण सागर, भवियण ना मन मोहे।
सह्यु भणिया गुणिया, हुवा इगन का पूरा, सजम रग राता करम काटण महा सूरा ।।४।।

ज्या भर जोवन मे, बहु विध तपस्या कीधी, मुनिवर जग माँही सोभा अधकी लीधी।
किया सैंतीस, पैंतीस, पाँच मास वले जाणी, वले करम चूर दोय पनराल तप आणी ।।५।।

ज्या क्रोध लोभादिक उपशम च्यारू ही करिया, ममता नही मछर समता रस गुण भरिया।
वे देश-प्रदेशा गाम नगर पुर माह्यो, मुनिवर विचरिया जिन मारग दीपायो ।।६।।

ज्या छत्तीस वरस लग निरमल सजम पाली, दोखण दूरे कर आतम ने उजवाली।
समत ओगणीसे वरस आँठों के माँही, वले जेठ सुद आठम दिन सुर पदवी पाई ।।७।।

मुझ बुध अलप छे, तुम गुण किण विध गाउँ, गुरु दरिया गुणकर भरिया पार न पाउँ।
तुम रिखव रिसि पर, किरपा करियो स्वामी, सुख सम्पति आपो अरज करू सिर नामी ।।८।।

●●
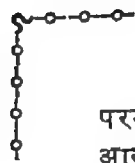
परम आनन्दस्वरूप ज्योति के मगल दर्शन वाहरी आखे मूँदने मात्र से नही, किन्तु अन्तर चक्षु खोलने से होता है।

—'अम्बागुरु-सुवचन'

५
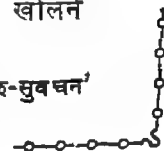
कविराज श्री रिषभदासजी महाराज

□

अठारहवी शताब्दी का अन्त और उन्नीसवी शताब्दी का प्रारम्भ, कोई बहुत पुराना समय नही होता, किन्तु प्रमाण आदि के अभाव से उस समय मेवाड के जैन-जगत को अपनी सुन्दर काव्य-कृतियो एव उत्कृष्ट त्याग-तप से प्रभावित करने वाले कविराज ऋषभदास जी महाराज के विषय मे परिचयात्मक रूप से हम कुछ भी बताने मे समर्थ नहीं हैं।

बहुत प्रयत्न करने पर भी रिखबदासजी महाराज का न तो जन्मस्थान का ही हमे पता लगा और न उनके माता पिता तथा सयम स्वीकृति के समय को ही हम अवगत कर सके।

इसमे कोई सन्देह नही कि वि० स० १६०८ मे कविराज श्री रिखबदासजी महाराज प्रौढावस्था मे विचर रहे होंगे। क्योकि उस समय की लिखी हुई एक लावणी मिली है, जो तपस्वी श्री सूरजमलजी महाराज के गुण के रूप मे लिखी गई है। यदि यह लावणी तीस वर्ष की उम्र के आस-पास लिखी गई हो तो जन्म समय स० १८७८ के लगभग बैठता है। किन्तु यह केवल अनुमान है, जन्म का समय कुछ वर्ष आगे-पीछे हो सकता है। सयम कब लिया, किसके पास लिया, इस विषय मे भी कोई जानकारी नही है।

गुरु

पूज्य आचार्य श्री नृसिहदासजी महाराज के कई शिष्य थे। उनमे पूज्य श्री मानजी स्वामी तो थे ही। तपस्वी श्री सूरजमलजी महाराज भी पूज्य श्री नृसिहाचार्य के शिष्य थे, ऐसा लावणी से सिद्ध होता है।

कविराज श्री रिखबदासजी महाराज के गुरु श्री सूरजमलजी महाराज का होना ही अधिक उपयुक्त लगता है। कविराज ने तपस्वीजी की जो लावणी लिखी, उसमे भी तपस्वीजी के प्रति 'गुरु' विशेषण का प्रयोग किया।[1]

जो पट्टावलियाँ उपलब्ध हैं, उनमें दो पट्टावलियो की परम्परा मे भी पूज्य श्री नृसिहदासजी महाराज श्री सूरजमलजी महाराज, श्री रिखबदासजी महाराज इस तरह का क्रम है।[2]

इनसे ऐसा अनुमान होता है कि श्री रिखबदासजी महाराज श्री सूरजमलजी महाराज के ही शिष्य थे। यदि शिष्य पूज्य श्री नृसिहदासजी महाराज के हुए हो तो भी तपस्वीजी श्री सूरजमलजी महाराज के प्रति वे शिष्यभाव से ही अनन्यवत् बरतते रहे, ऐसा सुनिश्चित अनुमान होता है।

मुनिराज कविराज थे

श्री रिखबदासजी महाराज राजस्थानी भाषा के अच्छे मँजे हुए कवि थे, ऐसा उनकी प्राप्त रचनाओ से स्पष्ट प्रतीत होता है।

एक स्थान पर सगृहीत नही होने के कारण इनकी समस्त रचनाओ का मिलना यद्यपि बडा कठिन है,

---

१ मुझ बुध अलप छे तुम गुण किण विध गाऊँ।
'गुरु' दरिया गुण कर भरिया पार न पाऊँ।।

२ पट्टावली न० १ बडी—नृसिहदासजी।।नर०।। सूरजमलजी।।पूज्य श्री रिखबदासजी।।
पट्टावली न० २ छोटी १०५ नरसिहदासजी, १०६ सूरजमलजी, १०७ रिखबदासजी।

किन्तु जितनी रचनाएँ मिल पाईं, उन्हें देखते हुए लगता है कि कविराज ने सैंकडो रचनाएँ की हैं, जिनमे भजन, स्तवन और चौपाइयाँ (चरित्र) ये प्रमुख हैं। कुछ चरित्र और कुछ भजन मिले हैं। उनसे निष्कर्ष निकलता है कि कविराज की भाषा मेवाडी (राजस्थानी) भाषा का लोकग्राही सुन्दर नमूना है। अभिव्यक्ति मे इतनी सरसता है कि गायक गाता ही रहे और श्रोता सुनता ही रहे तो कोई अघाएगा नहीं। शब्द मानो साँचे मे ढले हो। रचना मे नितान्त स्वाभाविकता तथा अनूठा प्रवाह है। रचनाएँ कई राग-रागनियो मे हैं। रागें मेवाडी गीतो और भजनो की हैं।

चरित्रो मे वर्णनात्मक शैली का प्रयोग तो है, किन्तु संक्षिप्तता का विशेष प्रभाव है। इस वैशिष्ट्य के कारण रचनाऐं इतनी लम्बी नही हुई कि जो गायक और श्रोता उपयोग करता हुआ ऊब जाए।

वर्णन की सहजता और सरसता का एक प्रमाण देखिए —

चतुर नर ले सतगुर सरणा।
लाख चोरासी मे भम आयो
कीया जनम मरणा
सबद करी सतगुर समजावे
सीख हिये धरणा
काल अनत लयो मानव भव
निरफल क्यूं करणा ॥

अभिव्यक्ति की ऐसी सरलता पाठक को तन्मय किये बिना नही रहती।

कविराज जैनमुनि हैं। निरन्तर मोक्षमार्ग की साधना ही उनका लक्ष्य है। वैराग्य रस ही उनका पेय है, निरन्तर उसी मे छके रहना यह साधको की मौज है। मुनिराजों के अखण्ड आनन्द का मूल स्रोत वैराग्य है। उनका बोलना, चलना, लिखना, उपदेश, आदेश सभी वैराग्यपूर्ण होते हैं। रचनाओ मे भी वैराग्य की ही प्रमुख धारा बहती है।

अज्ञानी थे प्रभु न पिछाण्यो रे।
विषय सुख ससार ना किंच माहे खुचाणो रे। तन धन जोवन कारमो जेस्यो दुध उफाणो रे।
सजन सनेही थारो नही नही रूप नाणो रे। काल अवध पूरी हुई कीयो वास मसाणो रे।
पूर्व पुन्ये पामीयो मानव भव टाणो रे। धर्म रतन चितामणी हाथ आय गमाणो रे।
इन्द्र आप वछा करे बेठा अमर विमाणो रे। मनुप थइ करणी करी पावा पद निरवाणो रे।
देव निरजण भेटी यो गुर गुण री पानो रे। धर्म दया मे जाणिये जन्म मर्ण मिटाणो रे।

विषय-वर्णन की शैली तथा शब्द-योजना का सुन्दर निखार रचनाकार की विशेषता के द्योतक हैं। भजनो मे भावो को तुलनात्मक उपमाओ से उपमित करना भी काव्य मे चार चाँद लगाता है। प्रस्तुत भजन में तन-धन यौवन को उफनते दूध की उपमा वस्तुत एक नयी उपमा है जो प्राय रचनाओं मे कही दिखाई नही दी।

कविराजजी की अब तक निम्नांकित रचनाएँ प्राप्त हुई हैं —

(१) **आवे जिनराज तोरण पर आवे**—२४ गाथाओं मे चरित्रात्मक वर्णन, स० १९१२, रतलाम (रतनपुरी) मे रचित।

(२) **अज्ञानी थे प्रभु न पिछाण्यो रे**—६ गाथाओ का वैराग्यप्रद भजन, स० १९१२, फाल्गुन कृष्णा २, खाचरौद में रचित।

(३) **चतुर नर सतगुर ले सरणा**—६ गाथाओं का प्रेरक भजन, रचनाकाल उपर्युक्त, तिथि १, खाचरौद।

(४) **फूलवन्ती नी ढाल**—कुल छह ढालों का चरित्र, रचनाकाल और स्थान नहीं दिया गया।

(५) **वेय विन की दोय ढाल**—अज्ञात—स्थान और समय।

(६) **सागर सेठ नी ढाल**—५ ढालो मे, स० १९०४, आसोजसुदी पचमी, रायपुर (मेवाड) मे रचित। (यह चातुर्मास मारवाड से आकर किया)।

(७) **रूपकुवर नो चोढाल्यो**—चार ढालों मे चरित्र, स० १८६७, उदयपुर में रचित।

(८) **तपस्वीजी सुरजमलजी महाराज रा गुण**—८ गाथाओ में स० १९०८ जेठ सुदी ८ को रचित।

गुरु-शिष्य की सुहानी जोड़ी
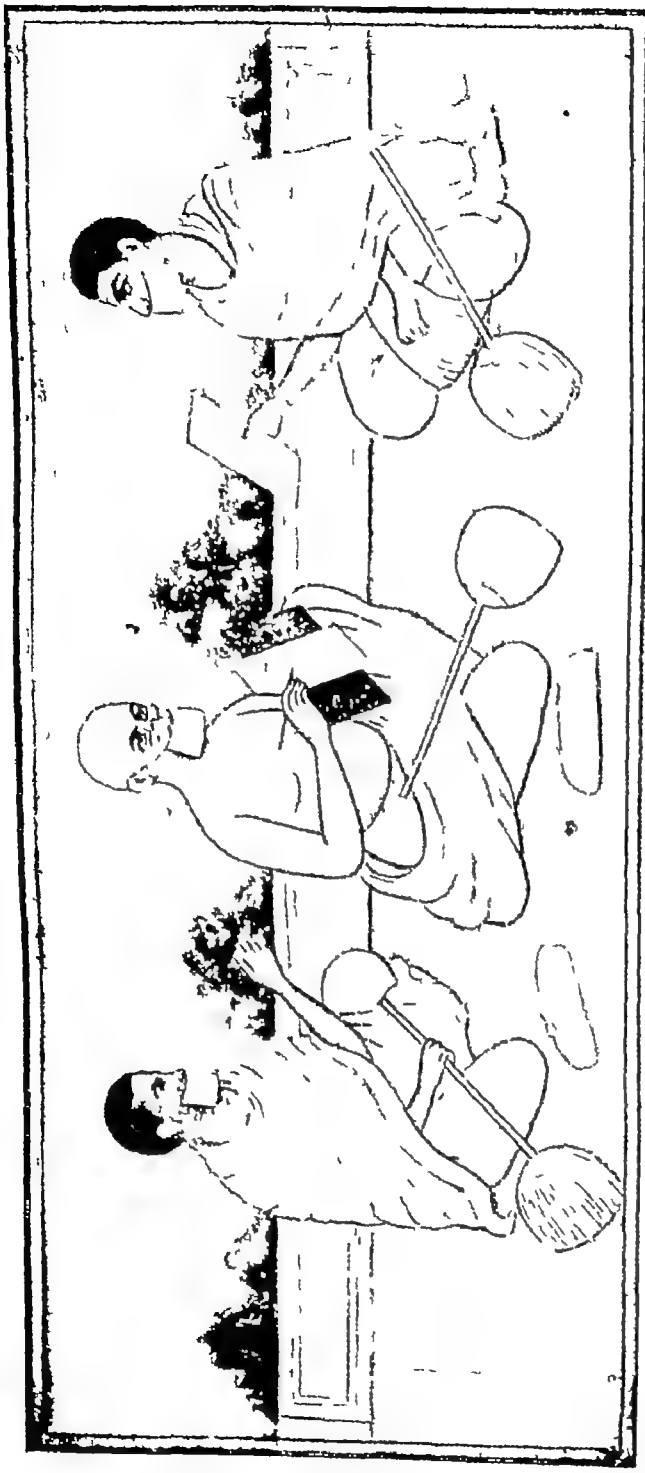
३ १ २

जैसे चन्द्रमा नक्षत्र एवं तारागणों से परिवृत होकर सुशोभित होता है वैसे ही गुरु सुशिष्यो के परिवार के साथ शोभायमान होता है।

१—मध्य में कविराज पंडित प्रवर श्री गिरधरदास जी महाराज। परिचय पृष्ठ १५३

२—सामने तेजस्वी सतरत्न गुरुवर के सुशिष्य श्री बालकृष्ण जी महाराज। परिचय पृष्ठ १५६

३—गुरुदेव के पार्श्व में स्थित सुशिष्य श्री मालचन्द्र जी महाराज। विशेष परिचय अप्राप्त

इनके अतिरिक्त इनके द्वारा लिखित एक रचना और उपलब्ध हुई है—'चार रजपूता री वात'।

श्री रिखवदासजी महाराज की विविध अभिरुचियो तथा प्रवन्धो को देखते हुए लगता है कि साहित्य, काव्य तथा अन्य क्षेत्रो मे इनकी और भी कई उपलब्धियाँ होगी। किन्तु शास्त्र-भण्डारो की अव्यवस्था, रखरखाव की उपेक्षा आदि कारणो से कृतियाँ या तो विनष्ट हो गईं या अज्ञात स्थानो पर पडी है, जो देखने मे नही आ सकी।

अव इस तरफ पर्याप्त ध्यान गया है। अत भविष्य मे इस महामुनि की और कृतियाँ उपलब्ध होने की सम्भावना है।

कविराज श्री रिखवदासजी महाराज का जीवन एक सुन्दर, सक्रिय तथा सारपूर्ण जीवन रहा। ढालो-स्तवनो को देखते हुए उनका विचरण-क्षेत्र मारवाड, मेवाड तथा मालवा तो रहा ही, अन्य क्षेत्रो मे भी उनका विचरण रहा होगा, ऐसा अनुमान है। कविराजजी के शिष्य कितने रहे, इस वारे मे निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता। किन्तु वालकृष्णजी महाराज, वेणीचन्द्रजी महाराज, मालचन्दजी महाराज आदि तो इनके शिष्य रहे ही है—(वालकृष्ण जी और मालचन्दजी का श्री रिखवदासजी के साथ का हस्तलिखित चित्र उपलब्ध है)।

प्रतीत होता है कि पूज्य श्री नृसिहदासजी महाराज के स्वर्गवास के वाद मेवाड मुनिसघ की एकता का सम्भवत वैसा रूप नही रहा, जैसा चाहिए। कारण स्पष्ट है कि कविराज श्री रिखवदासजी महाराज के समय मे लिखी गयी सक्षिप्त और वडी पट्टावलियो मे श्रीमानजी स्वामी का कही नामोल्लेख नही है। ऐसा अनुमान होता है कि पूज्य श्रीमानजी स्वामी और तपस्वी श्री सूरजमलजी महाराज के सिंघाडे अलग-अलग रहे होगे। उस स्थिति मे भी पूज्य श्री मानजी स्वामी का वर्चस्व वहुत वडा और व्यापक था, इसमे कोई सन्देह नही।

जव पूज्य श्रीमानजी स्वामी का स्वर्गवास हो गया तव मेवाड सघ का नेतृत्व कविराज श्री रिखवदासजी महाराज का रहा।

स्वर्गवास

यो तो श्री रिखवदासजी महाराज के स्वर्गवास के विषय मे कोई लिखित उल्लेख ढूँढने पर भी नही मिल पाया। सवत् १९६८ मे छपी एक पुस्तिका अवश्य मिली है—'पूज्य-पद प्रधान करने का ओच्छव'। इसमे श्री रिखवदासजी महाराज का स्वर्गवास सवत् १९४३ मे नाथद्वारा मे होना लिखा है। किन्तु यह विश्वसनीय नही है।

सवत् १९४२ मे मानजी स्वामी का स्वर्गवास और सवत् १९४३ मे श्री रिखवदासजी महाराज का स्वर्गवास यो छोटी-सी अवधि मे दो महामुनिराजों का स्वर्गस्थ हो जाना मेवाड सघ के लिए एक असहनीय वडा धक्का था। किन्तु काल की विचित्रता के समक्ष सभी विवश थे।

जैसे दिनकर के विना दिन नही,
गुल के विना गुलशन नही,
जल के विना नलिन नही,
वैसे ही सम्यकदर्शन के विना सम्यकजीवन नही।

—'अम्बागुरु-सुवचन'

६

श्री बालकृष्ण जी महाराज

□

पूज्यनीय श्री रिखबदासजी महाराज के प्रधान शिष्यो मे श्री बालकृष्णजी मुख्य है। किन्तु श्री रिखबदासजी महाराज के जीवन-वृत्त के समान इनका जीवन-वृत्त भी अतीत की गहराइयो मे छुपा हुआ है। ये श्री रिखबदासजी महाराज के शिष्य थे, इसमे कोई सन्देह नही है।[१]

श्री बालकृष्णजी महाराज का जन्म, दीक्षा आदि के लिए अभी प्रामाणिक तथ्य अपेक्षित हैं। 'ओच्छव' पुस्तिका से ज्ञात होता है कि इनका विचरण गुजरात-काठियावाड मे अधिक रहा। यह बात तर्कसगत भी है। इसका प्रमाण निम्नाकित अनुश्रुति है, जो बडी व्यापक है।

बात रह गई

कहते हैं, एक बार श्री बालकृष्णजी महाराज अपने शिष्यों सहित मोरवी (काठियावाड) मे विराजित थे। उनके प्रवचनो का चतुर्दिक बडा प्रभाव था। उपदेशो मे राजमहलो से झोपडी तक के लगभग सभी वर्गों के व्यक्ति भाग लिया करते थे। मोरवी दरवार मुनिश्री से बडे प्रभावित थे। नगर मे जैन धर्म की जबरदस्त प्रभावना हो रही थी।

साम्प्रदायिक विद्वेष भी एक मानसिक विष है। व्यक्ति को कर्त्तव्यविमूढ़ करने मे यह बडा सशक्त है। धर्मान्धिता के कारण अनेको बार यह धरती रक्त-रजित हुई।

जैन धर्म के प्रबल प्रभाव से प्रभावित मोरवी का जनगण जहाँ अपूर्व ज्ञानामृत का पान कर रहा था, वहीं एक सूबेदार, जो मुस्लिम था, हिन्दू धर्म की यह जाहोजलाली देख मन ही मन जल-भुनकर राख हुआ जा रहा था।

वह यन्त्र-मन्त्रवादी एक क्रूर स्वभाव का व्यक्ति था। वह हिन्दुओ का कट्टर द्वेषी तथा एक उद्दड मुसलमान था। श्री बालकृष्णजी महाराज का प्रबल प्रभाव उसके लिए असह्य था। वह ऐसे अवसर की तलाश मे था, जिसमे उस महान साधु की खिल्ली उडा सके।

एक दिन राजमहलो से दो साधुओ को उसने निकलते देखा तो उसे अपना सपना सच्चा करने का अवसर मिल गया। उसने अपना मन्त्र-प्रयोग करते हुए दोनो साधुओ को रोका।

उसने पूछा—"महाराज इसमे क्या है ?"

"आहार है !" मुनिराज ने सरलता से उत्तर दे दिया।

सूबेदार कहने लगा—"महाराज बड़े चालाक हैं। राजमहलो से माँस लाये हैं और हमे मूख बना रहे हैं। बनियो के यहाँ माँस कहाँ ? माँस तो महलो मे ही मिल सकता है।"

मुनि ने कहा—"झूठा अपवाद मत करो।"

सूबेदार ने कडककर कहा—"महाराज ! झूठे तो तुम हो ! यदि तुम सच्चे हो तो पात्र दिखाओ !"

सूबेदार और मुनि के वार्तालाप के साथ ही कई नागरिक वहाँ जुड आये थे।

---

१ "पूज्य श्री रिखबदासजी तथा सिख बालकृष्णजी" —बडी पट्टावली।
"लिपीकृत पुज श्री श्री १००८ श्री श्री श्री रिखबदासजी महाराज तथ श्री श्री श्री श्री १०७ श्री श्री श्री बालकस्न जी महाराज" —बडी पट्टावली।

मुनि ने तत्काल पात्र खोल दिये। किन्तु यह क्या? पात्रो मे मांस भरा है! मुनि सकपका गये। उनके चेहरे पर हवाइयाँ उडने लगी। जन-समूह जो उपस्थित था, कई तरह की बातें करने लगा। बिजली की तरह यह चर्चा चारों तरफ फैल गई। जैनधर्म की बडी निन्दा होने लगी। मुनि अपने गुरु बालकृष्णजी महाराज के पास पहुचे। सारा वृत्तान्त सुनाया। आहार जगल मे परठ दिया गया। जो कुछ हुआ, सज्जनो को उसका बडा खेद था। धर्म का अपमान था। आनन्द की जो महक फैली हुई थी, इस घटना मे कपूर की डली की तरह उड चुकी थी। मुनि जिधर निकलते उधर मूर्खों की तरह से कटुवाक् वर्षा होती रहती थी।

श्री बालकृष्णजी महाराज धर्म पर आये इस कलक को तुरन्त धो डालना चाहते थे।

मुनिमर्यादा के अनुसार एक दिन निकालकर तीसरे दिन श्री बालकृष्णजी महाराज स्वय अपने शिष्यो के साथ राजमहलो मे गोचरी पधारे।

सूबेदार फिर फजीहत करने को उपस्थित था। आज सैंकडो ही नहीं, हजारो व्यक्ति यह कौतुक देखने को उपस्थित थे। सूबेदार ने तेजी से प्रचार किया था कि देखिए, आज मैं फिर इन साधुओ से मांस बरामद कराऊँगा।

श्री बालकृष्णजी महाराज आहार लेकर ज्यो ही राजद्वार से बाहर आये, सूबेदार ने कडककर कहा—"महाराज! क्या लाये?"

"दाल-बाटी लाया हूँ।"

"नही, तुम झूठ बोले हो, तुम मांस लाये हो!"

"नही, मैं जैनमुनि हूँ, झूठ नहीं बोल सकता!"

"उस दिन भी झूठ बोला था, साधु!"

"नहीं, वह भी सत्य बोला था।"

"तुम सब झूठे हो, मांस लाये हो, और झूठ बोलते हो!"

"साधु से मत टकरा! परिणाम ठीक नही!"

"मैं नही डरता, मैंने कई साधुओ की पोल खोली है!"

"तू भ्रम में है, अब भी चुप हो जा!"

"तुम पात्र खोलो, इसमे मांस है!"

"नहीं, मांस नही, दाल-बाटी हैं।"

"दाल-बाटी नहीं, मांस है!"

मुनि ने कहा—"ले देख! ऐसा कहते ही, ज्योही पात्र खोले, सब ने देखा—वास्तव मे पात्रो मे दाल-बाटी ही थी।"

अब सूबेदारजी के सकपकाने का अवसर था। उसके चेहरे की सुर्खी हवा हो गई। वह घबरा गया। अगल-बगल झांकता हुआ वह वहाँ से चलने को ही था कि उसके पाँव भूमि से चिपक गये।

अरे, यह क्या? सूबेदार गले तक भूमि मे धँस गया।

मुनिराज अपने स्थान पर चले आये।

मोरबी का बच्चा-बच्चा एक अजूबा देखने को उमड पडा। राजमहलों के बाहर विशाल मैदान जनता से पटा हुआ है। सूबेदार का केवल सिर गेंद की तरह भूमि पर दिखाई दे रहा है। आँखें आँसू बरसा रही हैं, जो किये के पश्चात्ताप की सूचना दे रही थी।

जन-समूह मे तरह-तरह की बातें उभर रही हैं—

"नीच, ऐसी ही दुर्गत होनी चाहिए दुष्ट की।"

"अरे, बिचारा अब तो माफ हो जाए तो ठीक।"

"तडफने दो दुष्ट को, बडा शैतान है।"

"अरे, इस तरह तो यह मर जायगा।"

"महाराज ने भी इतना कडा दण्ड दिया।"
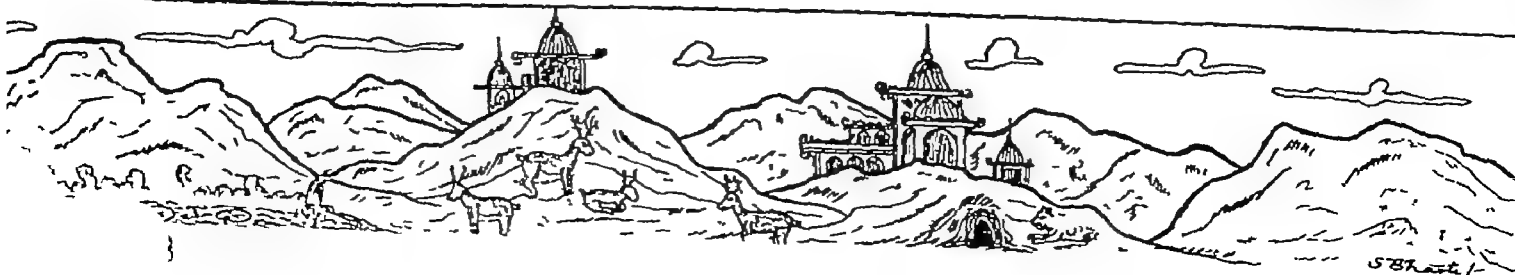
"भई, इसमे महाराज का क्या दोष ! उन्होने पहले ही उसे सावधान किया था।"

"अरे, साधु को सताना बुरा है।"

"सताने की भी हद होती है, सरेआम जलील करना क्या अच्छी बात है ?"

इस तरह सब तरफ कई बातें हो रही थी।

सूबेदार का परिवार और निकटस्थ जन दौड़कर मुनिश्री के द्वार पर पहुँचे और भक्तिपूर्वक अनुनय विनय करने लगे।

मोरबी दरबार भी यह दृश्य देखकर मुनिश्री की सेवा मे पहुचे और सूबेदार की धृष्टता को क्षमा करने का आग्रह करने लगे। मुनिश्री ने कहा—"मैंने तो उसे भूमि मे उतारा नही ! जो कुछ हुआ, यह तो उसकी करनी का ही फल है। धर्मशासन को कलकित करने का एक निम्नतम षड्यन्त्र उसने रचा था। उसकी शैतानी असह्य थी। किसी शासन-रक्षक दैविक शक्ति का ही यह चमत्कार हो सकता है। सरेआम अपराधी दण्डित हो गया ! धर्म के गौरव की रक्षा हो गई।"

दरबार ने कहा—"गुरुदेव ! अब तो वह दण्डित हो चुका है। धर्मशासन की उज्ज्वलता चमक उठी है। पाखण्ड का पर्दा उठ चुका है। अब तो उसका जीवन बच जाना चाहिए। अन्यथा धर्म-शासन नर-हत्या का अपराधी हो जायगा।"

आप तो दया और क्षमा के समुद्र ही है, उस तुच्छ को क्षमा कर दीजिए !

आपकी आज्ञानुसार मैं धर्म-शासन की सेवा करने को तत्पर हूँ।

मुनिश्री ने कहा—"मेरा तो उसके प्रति कोई क्रूर भाव नही है। धर्म-शासन की उज्ज्वलता रह गई, यह अपार आनन्द का विषय है।"

मुनिश्री सूबेदार के मुण्ड के निकट पहुँचे और मांगलिक प्रवचन किया।

अद्भुत बात थी कि तत्काल सूबेदार भूमि पर उभर आया।

सूबेदार ने तत्काल मुनिश्री के दोनो पाँवो मे अपना सिर टेक दिया। अपने विगत अपराधो की क्षमा चाहने लगा। मुनिश्री ने उसे धर्मोपदेश दिया।

सारे नगर मे धर्म और मुनिश्री के जयकार होने लगे।

मोरबी दरबार के पुत्र श्री गुलाबसिंहजी श्री बालकृष्णजी महाराज के परम भक्त थे। मुनिश्री के उपदेशो से उन्हें ससार से उपराग हो रहा था। वे सयम लेने के इच्छुक थे। किन्तु दरबार की आज्ञा का प्रश्न था। दरबार के सामने अपने मन की बात कहने की उनकी हिम्मत नही हो रही थी। उन्हें आज्ञा मिलने की सम्भावना भी नही थी। अत वे मन ही मन बड़े दुखी थे।

सूबेदार के उद्धार से दरबार बड़े हर्षित एव उत्साहित बने हुए थे। उन्होंने मुनिश्री से किसी उपकार के लिए पूछा। मुनिश्री ने बड़ी सरलता से कहा—"गुलाबसिंह जो तुम्हारा पुत्र है, मुझे दे दो !"

यह सुनते ही दरबार कुछ चिन्ता मे पड गये, क्योकि सयम का कार्य आसान कार्य तो था नहीं और फिर गुलाबसिंह के विचारो का भी प्रश्न था। पास ही गुलाबसिहजी थे। उन्होने कहा—"दाता ! आपकी आज्ञा होगी तो मैं गुरु महाराज की सेवा करूँगा। कई दिनो से मेरी इच्छा हो रही है।"

पुत्र प्राणो से भी अधिक प्यारा होता है। सयम के लिए अनायास अनुमति देना प्राय असम्भव होता है। किन्तु धर्मानुरागी विवेकसम्पन्न मोरबी दरबार ने गुलाबसिहजी की इच्छा देखकर तथा गुरु महाराज के आग्रह को देख कर अपनी वाणी की प्रतिपालना करते हुए, गुलाबसिहजी को, सयम के लिए आज्ञा प्रदान कर दी। कहते हैं, उस युग मे एक लाख रुपये खर्च कर मोरबी दरबार ने बड़ा भारी दीक्षा-उत्सव रचा और गुलाबसिहजी की दीक्षा सम्पन्न करवाई। इस कार्यक्रम का निश्चित समय तो कहीं मिला नही, किन्तु विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षो मे इसका होना माना जा सकता है।

उपर्युक्त घटना एक अनुश्रुति पर आधारित है, जो मेवाड की मुनि परम्परा मे बहुत प्रसिद्ध है।

श्री गुलाबचन्दजी महाराज, जो इस घटना के सबसे बडे साक्ष्य थे, सवत् १६४६ से कई वर्ष बाद तक उपस्थित थे। अत घटना के मौलिक अस्तित्व से नकारना आसान नही है।

उपर्युक्त घटना मे एक चमत्कार अवश्य है और वह असम्भव-सा प्रतीत होता है। किन्तु क्या लोक-जीवन चमत्कारो से सर्वथा शून्य भी कभी रहा है? आज का युग वैज्ञानिक युग रहा है। तथ्यात्मकता आज की पहली शर्त है। किन्तु विश्व आज भी ऐसी घटनाओ से रहित नही है, जहाँ वैज्ञानिक शोध स्वय मौन साध लिया करता है।

स्वर्गवास

श्री बालकृष्णजी महाराज का जीवन एक स्फुरित जीवन था। वैभव के विराट् दलदल से आलिप्त मोरवी दरबार को उद्बोधित करना और गुलाबसिंहजी जैसे क्षत्रिय युवक को वैराग्य-प्लावित कर देना अपने आप मे कम महत्त्वपूर्ण बात नही थी। इससे पाठक स्वय अनुमान लगा सकते हैं कि मुनिश्री का जीवन कितना ओज-तेज से परिपूर्ण रहा होगा।

श्री बालकृष्णजी महाराज ने अपने से अनजाने ऐसे गुजरात काठियावाड जैसे दूरस्थ प्रदेशो में जाकर धर्म की अद्भुत ज्योति जगाई। इससे उनकी प्रचार भ्रमण की उत्कृष्ट जिज्ञासा का परिचय मिलता है।

मेवाड मे श्री रिखबदासजी महाराज के पास दीक्षित होकर कितने वर्ष सेवा मे रहे तथा कब और कितने ठाणो से काठियावाड की तरफ गये, उधर कितने वर्ष रहे, कितने शिष्य हुए, ये सारी बातें अज्ञात हैं। श्री गुलाबचन्दजी महाराज उनके अवश्य काठियावाडी शिष्य थे, जो कई वर्षों तक मेवाड मे विचरे, उनकी कई कलाकृतियाँ भी उपलब्ध हैं तथा उनकी सेवा करने वाले कई गृहस्थो ने उनका कई तरह से परिचय भी दिया।

'ओच्छव' की पुस्तक से ज्ञात होता है कि श्री बालकृष्णजी महाराज का स्वर्गवास पालनपुर मे विक्रम सवत् १६४६ मे हुआ। इसकी प्रामाणिकता एक पत्र से मिलती है। पत्र ध्रान्गध्रा से श्री अमरसिंहजी महाराज ठा० ३ ने पालनपुर लिखा था, जिसमे मुनियो के प्रति प्रेम-भाव व्यक्त करते हुए, महाराज के स्वर्गवास के बाद मेवाड जाने के औचित्य को स्वीकार किया।[1]

इससे ज्ञात होता है कि श्री बालकृष्णजी महाराज का स्वर्गवास पालनपुर मे हुआ। वहाँ से चार ठाणा से चातुर्मास कर रहे थे। मुनिश्री के स्वर्गवास के बाद ३ ठाणा रह गये, वे मेवाड साधु-साध्वियो से मिलने आये।

पत्र विक्रम सवत् १६४६ के कार्तिक का लिखा होने से सिद्ध है कि उसी वर्ष चातुर्मास में श्री बालकृष्णजी महाराज का स्वर्गवास हुआ।[2]

---

१ ओर आपने लिखा सो हमने मजूर किया है का हे ते के महाराज सरगवासी हूवा तारे आपने आपका खेत्र मे जाना चाहिए और साधुजी ओर साधवीजी कूँ मिलना चाहिए। —(पत्रांश)

२ स्वत १६४६ ना कारतक सुद ११ ने वार चद्र लखीतग आपने निरतर अभीवदन करनार पुज अमरसीजी नी वती वने पुरवक वदणा —(पत्रांश)

७
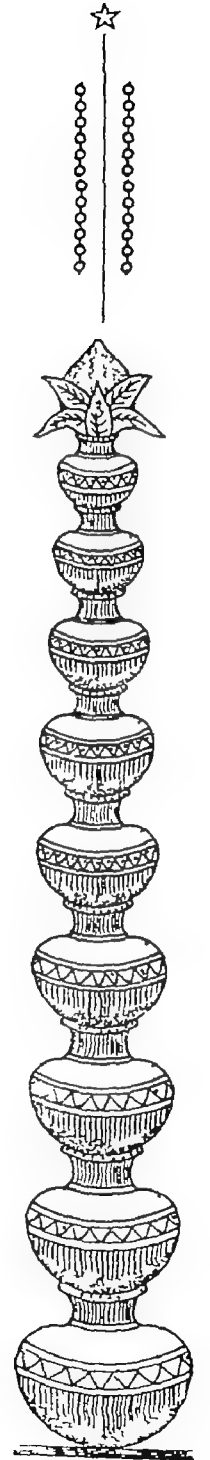
कलाकार श्री गुलाबचद्र जी महाराज

श्री गुलाबचन्द्र जी महाराज काठियावाड बिहारी श्री बालकृष्ण जी महाराज के शिष्य थे।[1] इनका जन्म-स्थान मोरवी (काठियावाड) था। प्राय ऐसी अनुश्रुति है कि ये मोरवी दरवार के पुत्र थे।

श्री बालकृष्ण जी महाराज के तात्त्विक उपदेशो से प्रभावित हो ये दीक्षित होने को तत्पर हुए।

सयम धारण करने की उत्कट अभिलाषा होते हुए भी एक बहुत बडी बाधा अनुमति लेनी थी। अनुमति मोरवी दरवार की अपेक्षित थी, जिसका मिलना लगभग असम्भव था।

एक प्रसग बना

एक ऐसा चमत्कारिक प्रसग बना जो असम्भव-सा लगता है। किन्तु असम्भव घटना भी जब घट जाती है तो वह चमत्कार कहलाने लगती है। एक मुस्लिम सूबेदार ने मुनि के पात्र मे मांस होने का कलक लगाया।

बात यह थी कि वह सूबेदार एक जबरदस्त मत्रवादी था। उसने अपने प्रयोग से राजमहल से गोचरी लेकर लौटते हुए मुनि के आहार को मांस के रूप मे परिणत कर दिया। उसने जनता के समक्ष यह सब दिखाया भी। इससे जैनधर्म की बडी निन्दा हुई। एक दिन बालकृष्ण जी महाराज स्वय महल से गोचरी लेकर आये। मार्ग मे उस सूबेदार ने फिर वही शैतानी शुरू कर दी। किन्तु इस बार उसकी दाल नही गली। उसका प्रयोग असफल गया। सभी लोगो ने पात्र मे शुद्ध आहार देखा। सूबेदार अपने प्रयोग मे असफल होकर उसी समय गले तक भूमि मे धँस गया।

इस घटना से चर्तुदिक् श्री बालकृष्ण जी महाराज और जैनधम की विजय पताका फरफराने लगी।

मोरवी दरवार के आग्रह से स्वामीजी ने सूबेदार को मांगलिक सुनाया और वह स्वस्थ रूप मे बाहर आ गया। इस अवसर पर श्री बालकृष्ण जी महाराज ने श्री गुलाबसिंह को आज्ञा देने का आग्रह किया, जिसे टालना दरबार के लिए असम्भव था।

अद्भुत प्रभाव से प्रभावित हो मोरवी दरवार ने श्री गुलाबसिंह को दीक्षा की अनुमति प्रदान की। कहते हैं, उस समय एक लाख रुपया खर्च कर मोरवी दरबार ने श्री गुलाबसिंह जी का दीक्षा-महोत्सव मनाया।

यह घटना सवत् १९०० के लगभग होना सम्भव लगता है। क्योकि सवत् १९३८ की उनकी हस्तलिखित पट्टावली उपलब्ध है। लिखावट मे अडतीस वर्ष का अनुभव प्रतीत होता है। पुष्ट प्रमाण के उपलब्ध न होने से केवल अनुमान ही तो लगाया जा सकता है।

श्री गुलाबचन्द जी महाराज अपने गुरुजी के साथ कई वर्षों तक काठियावाड-गुजरात मे विचरे, फिर मेवाड मे भी आये।

लिखते हुए खेद होता है कि श्री बालकृष्ण जी महाराज के स्वर्गवास के बाद यह सिंघाडा लगभग विशृखलित हो गया।

श्री गुलाबचन्द जी महाराज एकाकी रह गये। उस स्थिति मे भी कई वर्षों तक वे मेवाड में विचरते रहे।

उनके गुरु की तरह इनके साथ भी कई चमत्कारिक घटनाएँ जुडी हुई हैं।

कहते हैं, एक बार ये खमणोर मे किसी चमत्कारिक विद्या के साधन मे लगे हुए थे। उन्हें लगातार मौन रहना था। किन्तु एक दिन, सम्भवत वह दिन सवत्सरी का था, श्रावको के अति आग्रह से वे व्याख्यान देने लगे।

चालू व्याख्यान मे एक स्त्री एक टोकरी मे कुछ कचरा भरकर लाई और मुनि को देने लगी—"लो!" महाराज सकोच मे पड गये। एक श्रावक ने झोला फैलाकर कहा—"ला, मुझे दे!" और जब स्त्री ने टोकरी औंधी की तो उसमे से फूल गिरे।

वह श्रावक तो थोडे ही दिनो मे धनाढ्य बन गया। किन्तु, कहते हैं, मुनिराज की बुद्धि तभी से भ्रमित हो गई।

तदनन्तर श्री गुलाबचन्द जी महाराज अव्यवस्थित हो गये और उसी स्थिति में वे मेवाड छोडकर कही अन्यत्र चले गये। उनका स्वर्गवास कहाँ और कब हुआ, इस विषय में अब तक कोई जानकारी नही मिल पाई।

---

१ श्री बालकृष्ण जी महाराज तत सिष लपीकृत गुलाबचन्द। —बडी पट्टावली

शलाका पुरुषों के हाथ के शुभ लक्षण-व्यंजन-रेखा आदि का प्राचीन सामुद्रिक शास्त्र पद्धति से अंकन एवं विश्लेषण प्रधान एक दुर्लभ चित्र।

चित्रांकन—कलाकार मुनि श्री गुलाबचन्द जी

८

आत्मार्थी श्री वेणीचदजी महाराज

□

आत्मार्थी श्री वेणीचन्द जी महाराज का जन्मस्थान चाकूडा (जिला उदयपुर) है। ये ओसवशीय मादरेचा कुलोत्पन्न हैं।

कविराज श्री रिखबदास जी महाराज के पास इन्होंने सयम लिया था। जन्म एव सयम के समय के बारे मे विशेष जानकारी नही मिलती।

श्री वेणीचन्द जी महाराज की सयम-रुचि बडी प्रखर थी। उत्कृष्ट क्रिया-पात्र थे। त्याग-तप मे रमण करने वाले उच्चकोटि के सन्त-रत्न थे।

श्री रिखबदास जी महाराज तथा श्री बालकृष्ण जी महाराज के स्वर्गवास के बाद मेवाड सघ को अपने यहाँ मुनिराजो की बडी कमी का सामना करना पडा। मुनिराज बहुत कम थे, जो थे वे विश्रृखलित हो चुके थे। फलत श्री वेणीचन्द जी महाराज को कुछ समय एकाकी भी विचरना पडा। किन्तु उस स्थिति मे भी मुनिश्री की उत्कृष्ट सयम-साधना मे कोई कमी नही आई।

रोग मिट गया

एकाकी श्री वेणीचन्द जी महाराज के पाँवो मे एक बार बडी पीडा हो गई। चलना-फिरना बन्द हो गया। गृहस्थो तथा साध्वियो का अत्याग्रह होते हुए भी उन्होंने किसी अन्य की सेवा स्वीकार नही की। तेला तप स्वीकार कर ध्यानस्थ हो गये।

वास्तव में चौथे दिन महाराज श्री स्वय पारणा लेकर आये। तप के प्रभाव से व्याधि चली गई।

केसर की वृष्टि हुई

तपस्वी जी की सयम-साधना मे अपूर्व तेज था। देव भी दर्शनो को आ जाया करते थे, ऐसी अनुश्रुति है। एक बार आप पर केसर-वृष्टि भी हुई, जो कई उपस्थित श्रावको ने प्रत्यक्ष अनुभव की, ऐसा प्राचीन व्यक्ति कहा करते है।

श्री वेणीचन्द जी महाराज का विचरण-क्षेत्र मुख्यतया मेवाड ही रहा।

श्रावक सघ अडिग रहे

जैसा कि पाठक जान ही चुके हैं, तपस्वी जी का समय मेवाड सघ के लिए बडी कठिनाई का समय था। मेवाड सम्प्रदाय में मुनिराज बहुत कम थे, जो थे वे बिखरे से थे।

स्थानकवासी समाज में मुनिराजों का ही प्रधान सबल होता है। मुनिसघ के क्षीण होने से समाज को धर्म-सबल की हानि उठानी पडती है। मेवाड सघ उस समय कुछ ऐसी ही स्थिति मे था।

मेवाड के धर्म-सघ की इस कमी को देखकर तेरापथी ही नही स्थानकवासी समाज की भी कई पडौसी सम्प्रदायें मेवाड को अपना अनुगामी बनाने का प्रयास करने लगी।

यही वह समय था, जब अन्य सम्प्रदाय के आचार्य और प्रभावशाली सन्त मुनि उदयपुर और मेवाड के गाँवो मे धर्म-प्रचार तो करते ही, साथ ही अपनी 'गुरु आम्नाय' भी देने लगे। स्वसम्प्रदाय मे मुनियो की कमी देखकर कुछ लोगो ने ऐसी धारणाएँ कीं भी, जिसका परिणाम आज मेवाड के कुछ क्षेत्रो का सम्प्रदायवाद है।

आत्मार्थी श्री वेणीचदजी महाराज

आत्मार्थी श्री वेणीचन्द जी महाराज का जन्मस्थान चाकूडा (जिला उदयपुर) है। ये ओसवशीय मादरेचा कुलोत्पन्न हैं।

कविराज श्री रिखबदास जी महाराज के पास इन्होंने सयम लिया था। जन्म एव सयम के समय के वारे मे विशेष जानकारी नही मिलती।

श्री वेणीचन्द जी महाराज की सयम-रुचि वडी प्रखर थी। उत्कृष्ट क्रिया-पात्र थे। त्याग-तप मे रमण करने वाले उच्चकोटि के सन्त-रत्न थे।

श्री रिखबदास जी महाराज तथा श्री बालकृष्ण जी महाराज के स्वर्गवास के बाद मेवाड सघ को अपने यहाँ मुनिराजो की वडी कमी का सामना करना पडा। मुनिराज बहुत कम थे, जो थे वे विश्रृखलित हो चुके थे। फलत श्री वेणीचन्द जी महाराज को कुछ समय एकाकी भी विचरना पडा। किन्तु उस स्थिति मे भी मुनिश्री की उत्कृष्ट सयम-साधना मे कोई कमी नही आई।

रोग मिट गया

एकाकी श्री वेणीचन्द जी महाराज के पाँवो मे एक वार वडी पीडा हो गई। चलना-फिरना वन्द हो गया। गृहस्थो तथा साध्वियो का अत्याग्रह होते हुए भी उन्होंने किसी अन्य की सेवा स्वीकार नहीं की। तेला तप स्वीकार कर ध्यानस्थ हो गये।

वास्तव में चौथे दिन महाराज श्री स्वय पारणा लेकर आये। तप के प्रभाव से व्याधि चली गई।

केसर की वृष्टि हुई

तपस्वी जी की सयम-साधना मे अपूर्व तेज था। देव भी दर्शनो को आ जाया करते थे, ऐसी अनुश्रुति है। एक वार आप पर केसर-वृष्टि भी हुई, जो कई उपस्थित श्रावकों ने प्रत्यक्ष अनुभव की, ऐसा प्राचीन व्यक्ति कहा करते है।

श्री वेणीचन्द जी महाराज का विचरण-क्षेत्र मुख्यतया मेवाड ही रहा।

श्रावक सघ अडिग रहे

जैसा कि पाठक जान ही चुके हैं, तपस्वी जी का समय मेवाड सघ के लिए वडी कठिनाई का समय था। मेवाड सम्प्रदाय में मुनिराज बहुत कम थे, जो थे वे विखरे से थे।

स्थानकवासी समाज मे मुनिराजों का ही प्रधान सबल होता है। मुनिसघ के क्षीण होने से समाज को धर्म-सबल की हानि उठानी पडती है। मेवाड सघ उस समय कुछ ऐसी ही स्थिति मे था।

मेवाड के धर्म-सघ की इस कमी को देखकर तेरापथी ही नही स्थानकवासी समाज की भी कई पडौसी सम्प्रदायें मेवाड को अपना अनुगामी बनाने का प्रयास करने लगीं।

यही वह समय था, जब अन्य सम्प्रदाय के आचार्य और प्रभावशाली सन्त मुनि उदयपुर और मेवाड के गाँवो मे धर्म-प्रचार तो करते ही, साथ ही अपनी 'गुरु आम्नाय' भी देने लगे। स्वसम्प्रदाय मे मुनियो की कमी देखकर कुछ लोगो ने ऐसी धारणाएँ की भी, जिसका परिणाम आज मेवाड के कुछ क्षेत्रो का सम्प्रदायवाद है।

मेवाड के सघो मे सम्प्रदाय-भेद की इन बातो की तीव्र प्रतिक्रिया हुई ।

एक प्रसिद्ध आचार्य कपासन मे आम्नाय दे रहे थे तब दरीबा वाले सुश्रावक श्री जोतमान जी ने बडी दृढता के साथ भरी सभा मे उन्हें टोक भी दिया ।

मेवाड मे मेवाड सम्प्रदाय की गुरुधारणा स्पष्ट थी । फिर भी उस समय अन्य धारणाएँ यत्र तत्र हुई, इसका प्रमाण तो आज भी उपलब्ध है ।

मुनियो के अभाव में स्थिति गम्भीर थी । फिर भी मेवाड के अधिकाश सघो ने दृढता का परिचय देते हुए अन्य आम्नाय को नकारा । परम्परागत आम्नाय पर अडिग रहकर जिस दृढता का परिचय दिया, वह धन्यवादार्ह है ।

यद्यपि श्री वेणीचन्द जी महाराज एकाकी थे, किन्तु मेवाड की जनता उन्हें परम्परागत सम्प्रदाय के सम्बन्ध से आचार्यवत् स्वीकार करती थी ।

कठिनाई का वह समय भी अधिक नही रहा । श्री वेणीचन्द जी महाराज को श्री एकलिंगदास जी महाराज, श्री शिवलाल जी महाराज जैसे सुयोग्य शिष्यो की उपलब्धि हुई, जिनका परिचय आगे दिया जाएगा ।

स्वर्गवास

श्री वेणीचन्द जी महाराज का स्वर्गवास सवत् १९६१ फाल्गुन कृष्णा अष्टमी के दिन चैनपुरा मे हुआ । ऐसा 'आगम के अनमोल रत्न' मे उल्लेख है । श्री वेणीचन्द जी महाराज अपनी धर्मक्रियाओ के सजग साधक थे । यही कारण है कि स्वर्गवास से पूर्व अनशन आदि स्वीकार कर वे समाधिमरण पा सके ।

●●

सम्प्रदाय तो सिर्फ शरीर है, प्राण तो आचार है, धर्म क्रिया है । यदि प्राण की उपेक्षा कर शरीर के ही पीछे पडे रहे तो यह कैसी विडम्बना होगी ।

धर्म एव आचार क्रियाओ की उपेक्षा कर जो व्यक्ति सम्प्रदायवाद फैला रहे हैं, वे एक प्रकार से आत्मा की अवगणना कर शरीर बाद की महत्ता का प्रचार करने वाले अज्ञानी जैसे हैं ।

—'अम्बागुरु-सुवचन'

६
आचार्य श्री एकलिगदासजी महाराज

मेवाड मे जिन-शासन को समलकृत करने वाले सत-रत्नो की ज्योतिर्मयी परम्परा मे पूज्य श्री एकलिग-दासजी महाराज का समुज्ज्वल व्यक्तित्व अपनी विमल सुयश कान्ति से सर्वदा दमकता रहेगा।

मेवाड के सघ को सुव्यवस्थित नवीनता से सुसज्जित करने का श्रेय पूज्य श्री एकलिगदासजी महाराज को देना ही होगा।

जन्म

सगेसरा (जि० चित्तौडगढ) एक छोटा-सा प्राचीन गाँव है, नदी के किनारे बसा है। प्राचीन असली नाम शृगेश्वर होगा। वही आगे चलकर सगेसरा कहलाया। जोगियो का यहाँ बहुत पुराने समय से प्रभुत्व रहा।

श्री शिवलाल जी सहलोत यहाँ के सुप्रतिष्ठित नागरिक थे। पूज्य श्री एकलिगदास जी महाराज इन्ही की सतान थे। माता का नाम सुरताबाई था।

वि० स० १९१७ ज्येष्ठ कृष्णा अमावस की सघन रात्रि मे सुरताबाई ने एक पुत्ररत्न को जन्म दिया। वही शिशु कालान्तर में मेवाड धर्मसघ का शासक सिद्ध हुआ।

कहते हैं, बाल्यावस्था मे ही किसी ज्योतिषी ने जन्माक देखकर बच्चे का उज्ज्वल भाग्य बताया। इतना ही नही, उसने स्पष्ट कहा कि बच्चा इतना भाग्यशाली है कि कभी मेवाड का शासक बने। यद्यपि यह बात उस समय केवल 'बात' मात्र थी, उसके फलित होने की न कोई समावना ही थी, और न विश्वास ही किन्तु फिर भी बच्चे का नाम 'एकलिंग' रख दिया।

यों मेवाड का राज्य एकलिंग जी (महाराणा के इष्ट देवता) का ही माना जाता है।

बालक एकलिंग अच्छे सस्कारों मे था। श्री शिवलालजी जैनधर्म के दृढ अनुगामी पूजनीय श्री वेणीचन्दजी महाराज के अग्रगण्य श्रावक-रत्न थे। श्री सुरताबाई भी उनसे भी दो कदम आगे धर्मानुगामिनी थी। बालक एकलिग ऐसे सस्कारित माता-पिता के सद्सस्कारो को बचपन से ही आत्मसात् करता, गुलाब कुसुम की तरह निरन्तर विकसित होता रहा।

बचपन मे तत्कालीन परम्परा के अनुसार आवश्यक अध्ययन कर श्री एकलिंग अपने पिता के कार्यों मे हाथ बँटाने लगा।

वय की अभिवृद्धि के साथ ही सासारिकता के कई अनुभव श्री एकलिंग को मिलने लगे। यद्यपि गार्हस्थ्य जीवन नितान्त अभावग्रस्त नही था, फिर भी लोक जीवन मे स्वार्थों के भयकर सघर्ष जो चलते थे, उन्हें देखकर युवा एकलिग का हृदय सासारिकता से उपरत होने लगा।

पारलौकिक तथा इहलौकिक सद्सस्कारो के अभ्युदय का ही परिणाम था कि श्री एकलिंग जी को युवावस्था में प्रविष्ट करने के साथ विरक्ति से अनुरक्ति होने लगी।

ससार बाँधता है, इसलिए बन्धन है। श्री एकलिंग जी को भी ससार ने बाँधने मे कोई कोर कसर नही रखी। किन्तु उनकी सुदृढ वैराग्यानुभूति के आगे किसी आग्रह के टिकने और मलने का अवसर ही न था। श्री एकलिंग जी बालब्रह्मचारी ही रहे।
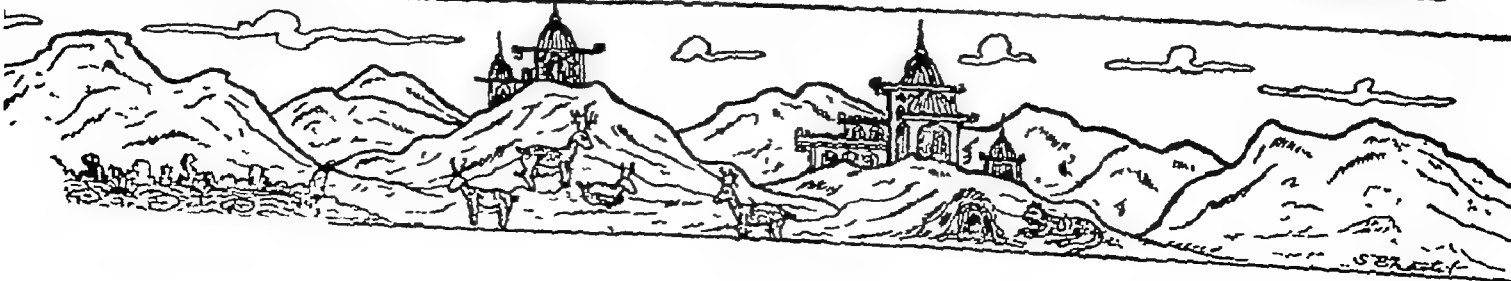
माता-पिता चल बसे, सासारिक अनित्यता का एक और चित्र उभर आया। श्री एकलिंगजी के भावुक हृदय मे वैराग्य का जो पौधा लहलहा रहा था, उसे एक बहार और मिल गई।

उचित समय देखकर श्री एकलिंगजी ने उदात्त विराग की लहर मे लहराते हुये, अपने बडे भाई श्री मोडीलालजी के सामने दीक्षा का प्रस्ताव रखा, जो बडी तेजी के साथ ठुकरा दिया गया।

श्री एकलिंगजी तो यह पहले ही जानते थे, उन्हें आश्चर्य नहीं हुआ।

श्रेष्ठ कार्य मे सर्वदा विघ्न आते ही हैं, इससे श्री एकलिंग जी अनजान नही थे। किन्तु साथ ही वे यह भी जानते थे कि प्रयत्न करते रहने से कार्य सिद्ध हो जाया करते हैं।

श्री मोडीलालजी के निरन्तर विरोध के उपस्थित रहते हुए भी उनका वैराग्य शिथिल नहीं हुआ, दृढ़ ही होता गया।

उन्ही दिनो पूजनीय श्री वेणीचन्द जी महाराज का वहाँ पदार्पण हो गया। महाराज श्री के वैराग्योत्पादक उपदेशो का जनता पर बडा सुन्दर असर होने लगा।

यह अवसर श्री एकलिंगजी के लिए अभीष्ट सिद्धि की सूचना लेकर आया।

मुनिश्री के उपदेशो से श्री मोडीलाल जी को एक नया दिशाबोध हुआ। श्री एकलिंगजी के दीक्षा के आग्रह पर जो उनकी प्रतिक्रिया थी, उस पर उन्होंने नये सिरे से विचार प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने अनुभव किया कि उनका दुराग्रह केवल मोह के कारण है। मोह भव-भ्रमण का मूल है उन्होंने सोचा कि एकलिंग के आध्यात्मिक अभ्युदय को रोकना मेरा उसके प्रति ही नही, समस्त मानव समाज के प्रति अपराध है।

मुझे शीघ्र ही इस अपराध से बचना है। उन्होंने तत्काल ही श्री एकलिंगजी को बुलाकर दीक्षा के लिए सहर्ष अनुमति प्रदान करदी।

वि० स० १९४८ फाल्गुन शुक्ला प्रतिपदा मगलवार वह शुभ दिन था, जब मुमुक्षु-रत्न श्री एकलिंगजी का आकोला में सपना साकार हुआ।

दीक्षा के सात दिन बाद ही बडे भ्राता श्री मोडीलाल जी का देहान्त हो गया। यह भी एक सुयोग ही था कि दीक्षा भाई के अवसान के पूर्व ही सम्पन्न हो गई। यदि ऐसा नही होकर कुछ दिन की भी देरी होती तो जैन-जगत् के भाग्य मे उदित होने वाला यह सितारा उगता या नही भी!

ज्ञानाराधना

मेवाड के मुनि-संघ में इस समय बडी विशृंखलता थी। महान क्रिया पात्र श्री वेणीचन्दजी महाराज के सान्निध्य में श्री एकलिंग जी द्वारा संयम ग्रहण करने से सम्पूर्ण मेवाड जैन संघ में एक नई आशा की लहर व्याप्त हो गई।

तीस वर्ष की उम्र मे दीक्षित होकर भी नये मुनिश्री में ज्ञानाराधना की बडी ललक थी।

तत्कालीन परिस्थितियों मे ज्ञानाराधना का सफल साधन मिलना भी आसान नहीं था।

विदुषी महासतीजी श्री नगीनाजी तत्कालीन महासती मडल में बडी प्रभावशाली विद्वान महासती जी थीं। नवदीक्षित मुनिश्री को शास्त्राभ्यास देने का बीडा उठाया।

तीन वर्ष कल्पानुसार सेवा मे रहकर मुनिश्री को शास्त्रो का सुन्दर अभ्यास करा दिया।

आचार्य-पदोत्सव

प्रस्तुत ऐतिहासिक विवरण से पाठक यह तो अच्छी तरह जान ही चुके हैं कि पूज्य श्री मानजी स्वामी तथा कविराज श्री रिखबदासजी महाराज के स्वर्गवास के बाद मेवाड की मुनि-परम्परा का अभ्युदय रुक-सा गया। जो मुनि थे, वे बहुत ही कम थे और जो थे वे भी बिखरे हुए थे। उस स्थिति मे मेवाड श्रावक संघ बडी निराशा की स्थिति मे चल रहा था। जब से हमारे चरित-नायक ने संयम लिया, संघ मे अभ्युदय की फिर नई लहर चल पडी।
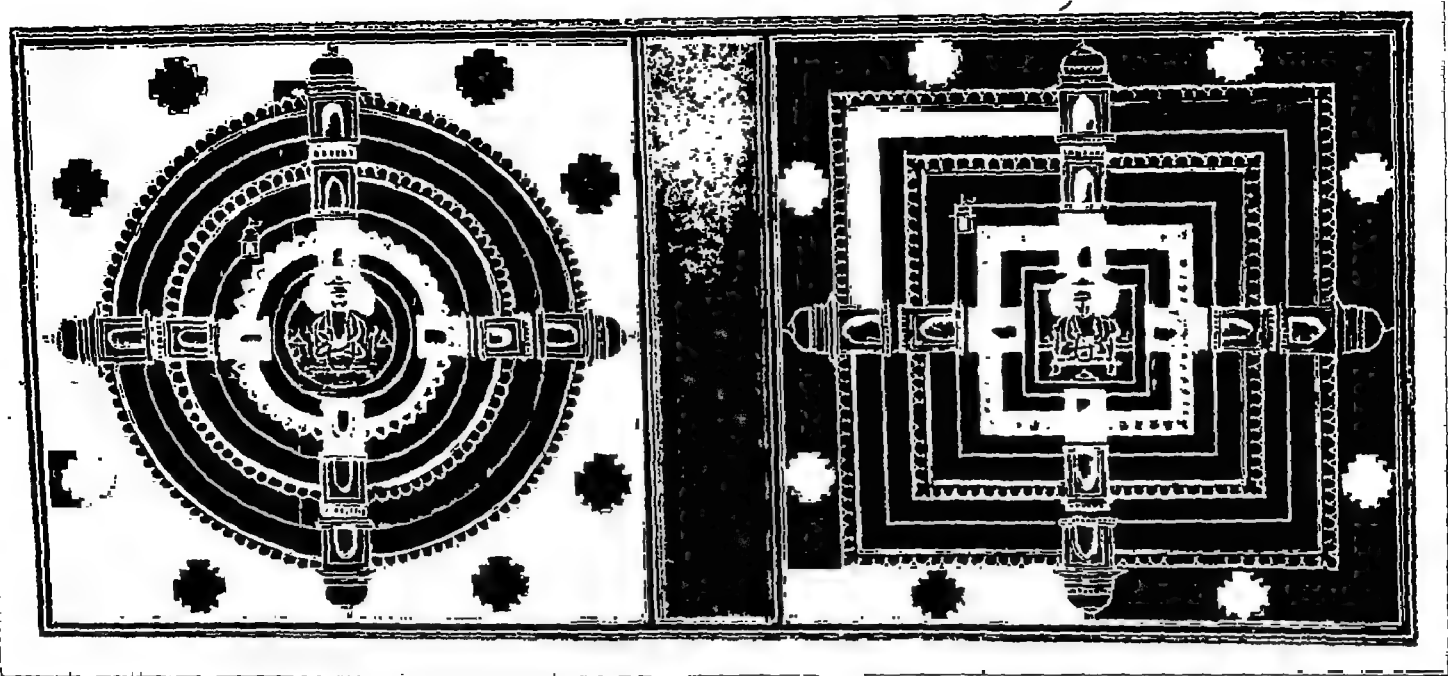
तीर्थंकरो के समवसरण का चित्रांकन— चतुष्कोण समवसरण एव वृत्ताकार समवसरण श्री गुलाबचन्द जी महाराज की कलाकृति।
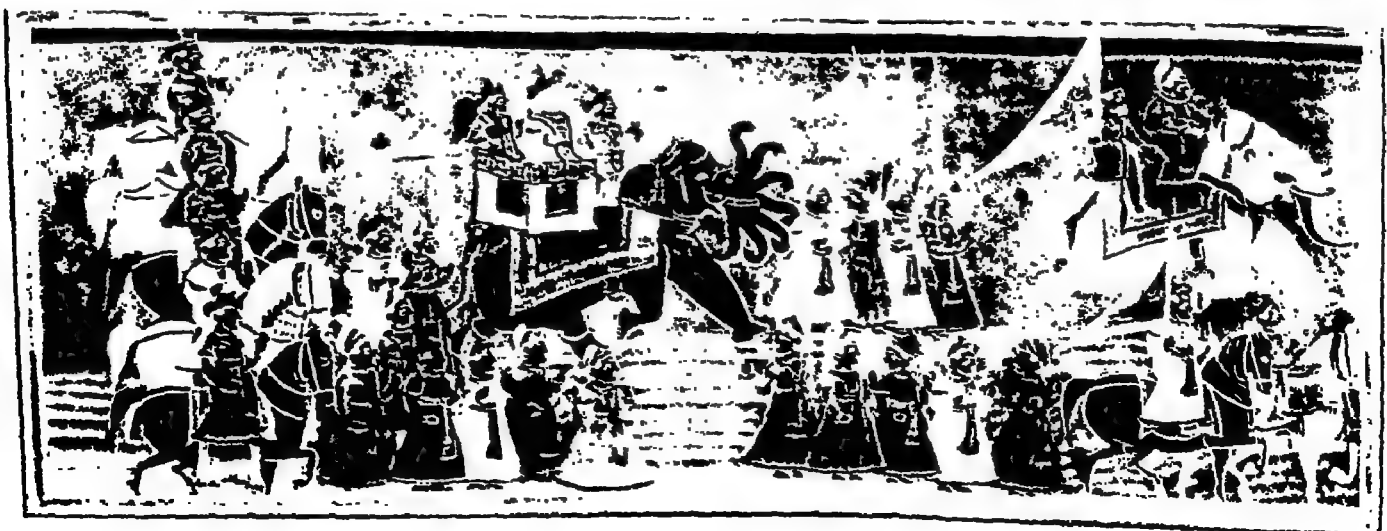
यदुकुलभूषण श्री नमिकुमार (२२व तीर्थंकर) की बरात। राजुल के परिणय हेतु जाते समय। श्री गुलाबचन्द जी महाराज की कलम से चित्रित।

दीक्षा के प्रारम्भिक दस वर्षों मे ही सात-आठ नये शिष्यो की उपलब्धि हो गई। इस तरह मुनि-सघ भी पुष्ट होने लगा।

मुनिसघ मे एक कालूराम जी महाराज थे। ये श्री तेजसिंहजी महाराज के सम्प्रदाय के पडवाई थे। मेवाड सम्प्रदाय के आम्नायानुसार विचरते थे। मेवाड जैन सघ के प्रत्येक जागरूक सदस्य के अनुसार इन्हें भी सघ के नेतृत्व का प्रश्न बडा अखर रहा था।

इनका चातुर्मास राशमी था। ये एकाकी विचरते थे।[1] किन्तु बडे प्रखर और सक्रिय कार्यकर्ता थे।

सम्प्रदाय मे आचाय की कमी से कई विक्षेप और शैथिल्य आ रहे थे। उनका निवारण आचाय की स्थापना से ही हो सकता था।

श्री कालूरामजी महाराज ने श्रावको को प्रेरित किया। श्रावको ने इस समयोचित प्रस्ताव का बडी उमग के साथ समर्थन किया। तत्कालीन स्थानीय हाकिम मगनलाल जी, नायब हाकिम जोधराजजी सिलेदार लालचन्दजी महाशय भी प्रस्तुत उत्सव मे अच्छा सहयोग देने को सहमत हो गये।

चातुर्मास मे समुचित वातावरण तैयार कर उसी वष पौष शुक्ला १० को सनवाड मे मेवाड सघ की बैठक सम्पन्न हुई। उसमे आचार्यपद बालब्रह्मचारी पूजनीय श्री एकलिंगदासजी महाराज को देना निश्चित किया तथा ज्येष्ठ शुक्ल पचमी बृहस्पतिवार को राशमी मे आचार्योत्सव करना निश्चित किया।

मेवाड सघ की बैठक के निश्चयानुसार उपर्युक्त तिथि पर आचार्य-पदोत्सव की राशमी मे बडी तैयारियाँ हुईं। 'ओच्छव' की पुस्तिका के अनुसार उपर्युक्त तिथि पर श्री एकलिंगदास जी महाराज ठा० ६, पडित-रत्न श्री नेमचन्दजी महाराज (अमरसिंहजी महाराज की सम्प्रदाय के) ठा० ४, श्री कालूरामजी महाराज ठा० १ तथा महासती जी श्री ककूजी महाराज ठा० ६, श्री वरदूजी महाराज ठा० १५, इन मुनिराज एव महासतियो के अलावा स्वधर्मी लगभग दो हजार और इतने ही अजैन भाई-बहनो की शानदार उपस्थिति थी।

बहुत ही सुन्दर समारोह के साथ पूज्य श्री मानजी स्वामी के पाट पर श्री एकलिंगदास जी महाराज को आचार्य के रूप मे स्थापित किया।

आचार्यपद चद्दर समर्पण के अवसर पर उपस्थित चतुर्विध सघ ने बडी श्रद्धा के साथ अपने नये आचार्य को स्वीकार किया।

उक्त अवसर पर उपस्थित प्रसिद्ध क्रान्तिकारी, स्पष्ट विचारी, दार्शनिक श्री बाडीलाल मोतीलाल शाह (अहमदाबाद) ने श्रावक सघो को सम्प्रदाय के प्रति श्रद्धावान और समर्पित रहने का आह्वान किया। उन्होने श्रावक सघो से अपील की कि आचाय तो आज हमने स्थापित कर दिये हैं, चादर पूज्यश्री के कन्धो पर धर दी है, किन्तु इसका गौरव कायम रखना चारो तीर्थों का कर्त्तव्य है। आचार्य के महत्त्व को बढ़ाने में प्रत्येक को योगदान देना चाहिए। जहाँ आचार्य श्री पधारें, आसपास के सज्जनो को परिवार सहित वहाँ पहुँचकर सेवा करनी चाहिए। सम्प्रदाय के नियमो की प्रत्येक क्षेत्र मे प्रतिपालना होनी चाहिए।

उस अवसर पर श्रावक-सघो ने सम्प्रदाय के हित मे जो निर्णय लिए उनका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।[2]

१ परम्परागत आम्नाय के अनुसार प्रतिदिन प्रतिक्रमण मे ४ लोगस्स का ध्यान, पक्खी के दिन १२ लोगस्स का ध्यान, बैठती चौमासी, उठती चौमासी, फाल्गुनी चौमासी दो प्रतिक्रमण और २० लोगस्स का ध्यान, सवत्सरी पर दो प्रतिक्रमण और ४० लोगस्स का ध्यान करना चाहिए।

२ दो श्रावण हों तो सवत्सरी भाद्रपद में तथा दो भाद्रपद हो तो सवत्सरी दूसरे भाद्रपद में करनी चाहिए।

३ सत सतीजी के चातुर्मास की विनती आचार्य श्री के पास करनी चाहिए।

४ अपने आचार्य उपस्थित हों तो अन्य साधुओ का व्याख्यान नहीं हो। व्याख्यान आचार्य श्री का ही होना योग्य है।

---

१ मुनि अकेले थे, परन्तु समुदाय की आमनाय मुजब चलते थे।—'ओच्छव' पृष्ठ ३।

२ ओच्छव की पुस्तिका, पृ० ६

५ किसी के आडम्बर के प्रभाव मे आकर अपनी सम्प्रदाय की आम्नाय नही छोडना।

६ दीक्षा लेने के भाव हो तो अपनी ही सम्प्रदाय मे दीक्षा लेना।

इस तरह सम्प्रदाय के हित मे आवश्यक निर्णय लेकर समस्त सघो की उस समय सहमति ले ली गई।

आचार्य पदारोहण से समय निम्नांकित सत महासतीजी आज्ञा मे थे—

पूज्य आचार्य श्री एकलिंगदास जी महाराज ठा० ६। श्री धनराजजी महाराज ठा० ४ (ये सत मालवा मे थे) काठियावाड मे ५ ठाणा मुनिराज थे, किन्तु उनका नामोल्लेख नहीं किया गया।

महासती जी

वि० महासती जी ककूजी महाराज ठा० ६
„ „ सरुपाजी महाराज ठा० ५
„ „ वरदूजी महाराज ठा० ८
„ „ कस्तूराजी महाराज ठा० ५
„ „ केसरजी महाराज ठा० ३
„ „ गुलावजी महाराज ठा० २

इस तरह १६ मुनिजी तथा ५२ महासतीजी महाराज कुल ६८ सत एव महासती जी आचार्यश्री की नेश्राय मे विचरण कर रहे थे।

आचार्यपद के रिक्तस्थान की पूर्ति हो जाने से समस्त सघ मे नवोत्साह का वातावरण फैल गया।

आचार्य श्री के नेतृत्व मे सघ चतुर्मुखी विकास करने लगा। विशृखलित साधु-साध्वी-समाज पुन आज्ञाधीन वरतने लगा।

पूज्य श्री बड़े सरल स्वभावी तथा निराडबरी थे।

बलिदान बन्द

पूज्य श्री के पुण्य प्रताप से मेवाड मे अनेको उपकार सम्पन्न हुए।

वि० स० १९७४ मे राजकरेडा चातुर्मास था। उस समय कालाजी के स्थान पर होने वाली हिंसा बन्द हुई प्रस्तुत काय मे तत्कालीन राजाजी अमरसिंह का सहयोग वडा सराहनीय रहा। उन्होंने अपने अधिकार से अम्मर पट्टा कर दिया।[1]

अभयदान

स० १९७७ के वष मे नाथद्वारा चातुर्मास था। उस चातुर्मास मे लगभग दो हजार बकरो को अभयदान मिला। यह कम उपकार नहीं था।

---

१ ॥ श्री गोपालजी ॥ श्री रामजी ॥

पट्टा न० ३० सावत

सिद्ध श्री राजा वहादुर श्री अमरसिंहजी वचना हेतु कस्वा राजकरेडा समस्त महाजना का पचा कसैं अरच राज और पच मिलकर भैरूजी जाकर पाती मांगी के अठे बकरा व पाडा बलिदान होवे जीरे वजाए अमरिया कीधा जावेगा। बीईरी पाती बगसे—सो भैरूजी ने पाती दीदी के मन्जूर है। इ वास्ते मारी तरफ से आ बात मन्जूर होकर वजाए जीव बलिदान के अमरिया कीधा जावेगा। और दोयम राज और पच मिलकर धरमशाला भैरूजी के वना वणी कीदी सो धरमशाला होने पर ई बात री परस्सती कायम कर दी जावेगा। ता के अमुमन लोगो को भी खयाल रेवेगा के अठे जीव हिंसा नहीं होवे है। और जीव हिंसा न हो बाकि भोपा को भी हुकम देदीदो है। ईवास्ते थानैं आ खातरी लिख देवाणी है। स० १९७४ दुती भादवा सुदी १। द' केसरीमल कोठारी रावला हुकम सूँ खातरी लिख दी है।

तपस्वी भी

आचार्य श्री तप मे भी बहुत आगे थे। आचार्य पदारूढ होने के बाद पाँच वर्ष एकान्तर तप किया। पचोले अठाई सात, नव और ग्यारह के कई थोक किये।

स्वर्गवास

पूज्य आचार्य श्री का आचार्यकाल मेवाड सम्प्रदाय के लिए एक अच्छा युग था। सम्प्रदाय साधु-साध्वियो से अधिक सम्पन्न हुआ। साथ ही श्रावक-समुदाय मे उत्साह और धर्माराधना का नया वातावरण व्याप्त हुआ।

आचार्य श्री का स० १९८७ का चातुर्मास ऊठाला (वल्लभनगर) था। यहीं पूज्य श्री का स्वास्थ्य व्याधि-ग्रस्त हो गया और श्रावण कृष्णा २ को प्रात ६ बजे वे समाधिपूर्वक स्वर्ग सिधार गये।

पूज्य श्री का स्वर्गवास मेवाड सघ के लिए एक आघात था। सघ वियोग से विह्वल अवश्य था, किन्तु इस बात का सभी को सन्तोष था कि पूज्य श्री ने अपने पीछे कई अच्छे मुनिराजो को तैयार किया है, जो मेवाड सघ का नेतृत्व करने मे सक्षम हैं।

पूज्य श्री ने मेवाड को नया वातावरण दिया, व्यवस्था और प्रेरणा दी। सचमुच पूज्य श्री एकलिंगदासजी महाराज का अभ्युदय मेवाड के लिए वरदान सिद्ध हुआ।

अन्त में श्री मेवाडी मुनिजी का यह पद्य, जो पूज्य श्री के लिए बिलकुल उपयुक्त ही है, उद्धृत करता हुआ प्रस्तुत निबन्ध को समाप्त करता हूँ—

महावीर के सत शासन मे शूर वीर गभीर गुनी।
तप सयम कर तेज-पु ज गणनायक महिमावन्त मुनी ॥
धर्म देव योगीन्द्र भद्र तत्त्वागम गुण निष्णात हुए।
मेवाड भूमि भवि भाग्य एकलिंगदास प्रख्यात हुए ॥

●●

गुरु का गौरव शिष्यो के द्वारा ही व्यक्त होता है। जैसे वृक्ष की शोभा उसके मधुर फल है, सरोवर की शोभा शीतल-मधुर जल है, सागर की शोभा उज्ज्वल मुक्ता-फल (मोती) है, उसी प्रकार गुरु की शोभा और महिमा बढाने वाला शिष्य-दल (शिष्य परिवार) होता है।

—'अम्बागुरु-सुवचन'

१०

महिमा-मण्डित मेवाड-भूषण

पूज्य श्री मोतीलालजी महाराज

□

सौभाग्यशाली भारत सर्वदा अनेक धार्मिक राजनैतिक सामाजिक विभूतियो से समलंकृत होता रहा है। जन-चेतना को किसी विशिष्ट दिशा मे सम्प्रेषित करना किसी विशिष्ट व्यक्तित्व के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। समय के दौर मे सब कुछ गुजर जाता है, किन्तु सम्प्रेषण के वे तत्त्व युगो तक अमर रह जाया करते हैं। मेवाड के जैन-समाज को दिशा-निर्देशन करने मे जिन सत्पुरुषो का योग है, उनमे मेवाड-भूषण पूज्य श्री मोतीलाल जी महाराज का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है।

जन्मस्थान

पूज्य श्री मोतीलाल जी महाराज का जन्मस्थान ऊँठाला (वल्लभनगर) है। मेवाड मे ऊँठाला का धार्मिक एव राजनैतिक दृष्टि से एक विशेष महत्त्व रहा है। शाक्त सम्प्रदाय के अनुसार शक्ति का एक मातृस्वरूप है, जो प्रचलित भाषा मे 'माता' कहलाता है। ऊँठाला उसका पीठस्थल है। प्रतिवर्ष हजारो ही नही, लाखो व्यक्ति अपने बच्चो की खुशहाली के लिए 'ऊँठाला माता' की मनौतियाँ मनाते हैं। ऊँठाला माता लोकजीवन मे इस तरह घुल-मिल चुकी है कि उसे कोई भी उपदेश जन-जन की श्रद्धा से नही हटा सकता। राजस्थान के किसी भी हिस्से मे चले जाइये,

आद भवानी ऊँठाला री माता।
वालूडो रखवारी ए माय॥

यह गीत तो आप सुन ही लेंगे। मुख्यतया शीतला सप्तमी के दिन तो यह गीत वायुमण्डल मे लहरा ही जाता है। वर्ष मे एक बार यहाँ मेला भी लगता है।

राजनैतिक दृष्टि से ऊँठाला बडे सघर्ष का स्थान रहा है। मुगल युग मे यहाँ कई लडाइयाँ लडी गई। शक्तावत बल्लूसिह के बलिदान ने ऊँठाला को अमर कर दिया।

महाराणा अमरसिंह के समय मे मेवाड के प्रधान राजवश शक्तावत और चूँडावतो मे हरावल (सेना के अग्र भाग मे रहना) का विवाद पैदा हुआ था। महाराणा के लिए ये दोनो राजवश समान थे। उन्होंने प्रस्ताव रखा कि ऊँठाले के गढ़ में जो पहले प्रवेश करेगा वह हरावल मे रहेगा। ऊँठाला उस समय मुगलो के अधिकार मे था। शक्तावत वल्लूसिह और चूँडावत जैतसिह अपने-अपने दल के अग्रगण्य थे। दोनो दल ऊँठाला पर चढे। शक्तावत द्वार तोडना चाहते थे। किन्तु किवाडो के तीखी कीलियाँ (शूल) लगी थीं, हाथी टक्कर नहीं मारे, द्वार टूटना सम्भव नहीं था, उधर चूँडावत दिवार पर चढ़कर अन्दर उतरने की कोशिश मे लगे थे। दोनो की बाजी दाँव पर थी। दोनो प्रतिस्पर्द्धा में छाये हुए थे। देरी दोनों को असह्य थी। वल्लूसिह ने देखा—हाथी डर रहा है। बहादुर बल्लूसिंह कीलों पर चढ़कर टिक गया और महावत को आदेश दिया कि हाथी को हूल दे! उसने ही नही, सैकडों साथियो ने कहा कि ऐसा नही हो सकता! किन्तु वल्लूसिह ने कहा—इज्जत का प्रश्न है, मेरी आज्ञा है, हूल दो! हाथी हूल दिया गया। हाथी ने कसकर वल्लूसिह, जो कीलो पर झूल रहा था, को टक्कर मारी, द्वार टूट गया। किन्तु वल्लूसिह का शरीर छलनी-छलनी हो गया, बडे-बडे शूल उसके शरीर मे आर-पार हो चुके थे। अपनी बात का दिवाना बल्लूसिह मर गया, किन्तु बहादुरी की एक मिसाल कायम कर गया।

१०

महिमा-मण्डित मेवाड-भूषण

पूज्य श्री मोतीलालजी महाराज

☐

सौभाग्यशाली भारत सर्वदा अनेक धार्मिक राजनैतिक सामाजिक विभूतियो से समलकृत होता रहा है। जन-चेतना को किसी विशिष्ट दिशा मे सम्प्रेषित करना किसी विशिष्ट व्यक्तित्व के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। समय के दौर मे सब कुछ गुजर जाता है, किन्तु सम्प्रेषण के वे तत्त्व युगो तक अमर रह जाया करते हैं। मेवाड के जैन समाज को दिशा-निर्देशन करने मे जिन सत्पुरुषो का योग है, उनमे मेवाड-भूषण पूज्य श्री मोतीलाल जी महाराज का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है।

जन्मस्थान

पूज्य श्री मोतीलाल जी महाराज का जन्मस्थान ऊँठाला (वल्लभनगर) है। मेवाड मे ऊँठाला का धार्मिक एव राजनैतिक दृष्टि से एक विशेष महत्त्व रहा है। शाक्त सम्प्रदाय के अनुसार शक्ति का एक मातृस्वरूप है, जो प्रचलित भाषा में 'माता' कहलाता है। ऊँठाला उसका पीठस्थल है। प्रतिवर्ष हजारो ही नही, लाखो व्यक्ति अपने बच्चो की खुशहाली के लिए 'ऊँठाला माता' की मनौतियाँ मनाते है। ऊँठाला माता लोकजीवन मे इस तरह घुल-मिल चुकी है कि उसे कोई भी उपदेश जन-जन की श्रद्धा से नही हटा सकता। राजस्थान के किसी भी हिस्से मे चले जाइये,

आद भवानी ऊँठाला री माता।
वालूडो रखवारी ए माय॥

यह गीत तो आप सुन ही लेंगे। मुख्यतया शीतला सप्तमी के दिन तो यह गीत वायुमण्डल मे लहरा ही जाता है। वर्ष में एक बार यहाँ मेला भी लगता है।

राजनैतिक दृष्टि से ऊँठाला बडे सघर्ष का स्थान रहा है। मुगल युग मे यहाँ कई लडाइयाँ लडी गई। शक्तावत बल्लूसिंह के बलिदान ने ऊँठाला को अमर कर दिया।

महाराणा अमरसिंह के समय मे मेवाड के प्रधान राजवश शक्तावत और चूँडावतो म हरावल (सेना के अग्र भाग मे रहना) का विवाद पैदा हुआ था। महाराणा के लिए ये दोनो राजवश समान थे। उन्होंने प्रस्ताव रखा कि ऊँठाले के गढ़ मे जो पहले प्रवेश करेगा वह हरावल मे रहेगा। ऊँठाला उस समय मुगलो के अधिकार में था। शक्तावत बल्लूसिंह और चूँडावत जैतसिंह अपने-अपने दल के अग्रगण्य थे। दोनो दल ऊँठाला पर चढे। शक्तावत द्वार तोडना चाहते थे। किन्तु किवाडो के तीखी कीलियाँ (शूल) लगी थी, हाथी टक्कर नहीं मारे, द्वार टूटना सम्भव नहीं था. उधर चूँडावत दिवार पर चढ़कर अन्दर उतरने की कोशिश मे लगे थे। दोनो की बाजी दाँव पर थी। दोनो प्रतिस्पर्द्धा में छाये हुए थे। देरी दोनो को असह्य थी। बल्लूसिंह ने देखा—हाथी डर रहा है। बहादुर बल्लूसिंह कीलों पर चढ़कर टिक गया और महावत को आदेश दिया कि हाथी को हूल दे! उसने ही नही, सैकडो साथियो ने कहा कि ऐसा नही हो सकता! किन्तु बल्लूसिंह ने कहा—इज्जत का प्रश्न है, मेरी आज्ञा है, हूल दो! हाथी हूल दिया गया। हाथी ने कसकर बल्लूसिंह, जो कीलो पर झूल रहा था, को टक्कर मारी, द्वार टूट गया। किन्तु बल्लूसिंह का शरीर छलनी-छलनी हो गया, बडे-बडे शूल उसके शरीर मे आर-पार हो चुके थे। अपनी बात का दिवाना बल्लूसिंह मर गया, किन्तु बहादुरी की एक मिसाल कायम कर गया।

महिमामण्डित मेवाड़ भूषण :-
स्व० पूज्य श्री मोतीलाल जी महाराज

वे सपने सजो रहे थे कि बहुत शीघ्र ही एक वहू मेरे आँगन पर आएगी और उसकी भावभीनी सेवा से मेरा वार्द्धक्य एक विशेष शान्ति को लिए पूर्ण हो जाएगा। किन्तु होना क्या है, इसे कौन जाने!

युवक मोतीलाल जी के विवाह के प्रस्ताव चल ही रहे थे कि अचानक श्री धूलचन्द्र जी का देहावसान हो गया। मातृवियोग तो पहले हो ही चुका था, पिता के भी अनायास इस तरह उठ जाने से श्री मोतीलाल जी का ससार के प्रति रहा-सहा अनुराग भी समाप्त हो गया।

वैराग्य और दीक्षा

पितृवियोग क्या हुआ, मानो मोतीलाल जी को ससार से एक मुक्ति मिल गई। ससार और सासारिकता के प्रति जो एक घृणा बहुत पूर्व बचपन से मन मे पल रही थी, वह अचानक सक्रिय बनकर वैराग्य मार्ग से जीवन के धरातल पर चल पडी। सासारिक लोगो के आग्रहो और प्रलोभनो का पार न था, किन्तु दृढनिश्चयी श्री मोतीलाल जी बराबर उन्हें ठुकराते रहे।

पूज्य श्री एकलिंगदास जी महाराज उस समय मेवाड धर्म सघ के प्रधान मुनिराज थे। वे ऊँठाला पधारे। श्री मोतीलाल जी के लिए मानो स्वर्ण सूर्य का उदय हो गया। उन्होंने अपने को त्याग, तप और ज्ञानाराधना में लगा दिया।

पूज्य श्री एकलिंगदास जी महाराज युवक श्री मोतीलाल जी के इस आध्यात्मिक अभ्युदय से बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने सुपात्र समझ तत्त्वोपदेश दिया।

वैराग्य की उत्तरोत्तर प्रवर्द्धमान लहरो मे झूमते युवाहृदय श्री मोतीलाल जी ने अपने सम्बन्धियो के सामने सयम का प्रस्ताव रखा। पारिवारिक जन बहुत पहले से समझ चुके थे कि इस ऊर्जस्वल व्यक्तित्व को अपने क्षुद्र घेरे मे बाँधना अपने लिए शक्य नही होगा। उन्होंने थोडी-बहुत ननुनच के बाद स्वीकृति दे ही दी।

मुमुक्षु श्री मोतीलाल जी अब एक क्षण भी ससार मे खोना नहीं चाहते थे। स० १९६० मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी के शुभावसर पर सनवाड मे एक बहुत अच्छे सुन्दर समारोह के साथ श्री मोतीलाल जी ने पूज्य श्री के चरणो में सयम प्राप्त कर अपना अभीप्सित प्राप्त किया।

सेवा और साधना

सयम यदि पुष्प है तो सेवा और साधना सुगन्ध है। पुष्प मे यदि सुगन्ध न हो तो वह कितना सार्थक है, पाठक स्वय समझ सकते हैं। श्री मोतीलाल जी चिलचिलाती यौवनावस्था मे मुनि बने। यह अवस्था ससार में प्रवेश-अवस्था है। सशक्त शरीर और सबल इन्द्रियाँ अनायास ही इस उम्र मे विकारो की ओर दौड लगाती हैं। इस उम्र मे सयम लेकर इन्द्रियो के घोडो पर लगाम लगा उन्हें सयम-मार्ग पर प्रवृत्त करना एक ऐसा अभियान है, जिसके लिए बहुत बडी आध्यात्मिक शक्ति की आवश्यकता होती है। श्री मोतीलाल जी महाराज मे यह शक्ति पर्याप्त थी। उन्होंने सयम लेते ही एक समय भोजन वह भी रूखा और ठण्डा लेना प्रारम्भ कर दिया। यह क्रम तेरह वर्षों तक चलता रहा।

साधना केवल आहार-त्याग तक ही सीमित न थी। ज्ञान, दर्शन की तरफ भी उन्मुख थी, शास्त्रीय अध्ययन के साथ अन्य धर्मग्रन्थो का अध्ययन भी साथ-साथ चलता रहा। बहुत जल्दी ही प्रवचन मे प्रवृत्त हो जाने से प्रवचन योग्य आवश्यक ज्ञान के सम्पादन मे भी गहरे श्रम के साथ लगे रहे।

कुछ वर्षों में ही प्रवचन मे चमत्कार-सा प्रतीत होने लगा। हजारो श्रोता मन्त्रमुग्ध बन प्रवचन मे घण्टों लाभ उठाते रहते, यह गहरी ज्ञान-साधना का परिचायक है।

उस युग मे लेखन का बडा महत्त्व था। प्रकाशित पुस्तकें कम थीं। अधिकतर हस्तलिखित पुस्तको का ही प्रयोग होता था। मुनि श्री बडी गम्भीरता के साथ लेखन-कार्य में प्रवृत्त हुए। इसके पीछे भी एक प्रसग था।

एक बार मुनिश्री को 'लोगस्स' की हस्तलिखित प्रति की आवश्यकता हुई। एक साथी मुनि, जो लेखक थे, से उन्होंने कहा—"आप एक 'लोगस्स' की प्रति लिख दें।" लेखक मुनि जी ने हाँ तो की, किन्तु अन्तर मे उपेक्षा के भाव थे, जो साफ झलक रहे थे। मुनिश्री ने एक बार पुन आग्रह किया, उन्होंने समयाभाव बताया। साथ ही कहा—यदि समय मिला तो लिख देंगे। मुनिश्री समझ गये कि इनकी भावना लिखने की कम है।
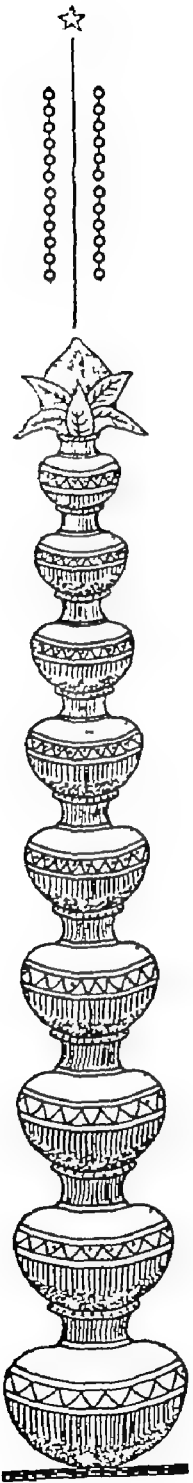
मुनिश्री ने उक्त अवसर पर सोचा—प्रयास करूँ तो क्या मैं नही लिख सकता हूँ। दृढ निश्चय कर उसी दिन से सुलेखन का अभ्यास प्रारम्भ कर दिया। थोडे ही दिनो मे मुनिश्री का लेखन मोती की लडियाँ पिरोने लगा। अब तो मुनिश्री को लिखने का वह चाव जगा कि दिन मे छह घण्टा कभी आठ घण्टा लिखने मे ही चले जाते। यह क्रम वर्षों तक चला। आज भी पूज्य श्री के हस्तलिखित शास्त्र, चरित्र, ढालें वडी भारी मात्रा मे उपलब्ध हैं। उनके इस विशाल लेखन-कार्य को देख उनकी कर्मठता का सिक्का स्वीकार करना ही पडता है। लेखन-कार्य कितना अधिक श्रमसाध्य है, इसे आज केवल वही जान सकता है, जो छह घण्टा लगातार बैठकर लिखे। आज हम किसी लिखित पत्र को तुच्छ-सा समझ फाड या फेंक डालते हैं, किन्तु यह नही सोच पाते कि इसे तैयार करने मे लेखक की कितनी जीवनी शक्ति का व्यय हुआ होगा।

आज हम प्रकाशन परम्परा मे हैं। किन्तु हम लेखन-परम्परा के ऋणी हैं। यदि लेखन-परम्परा भारत मे नही होती तो हमारे हजारो शास्त्र और पूर्वजो की करोडो रचनाए हम तक पहुँच ही नही पाती। हम पशु की नाई निनान्त रीते होते।

उन लेखको को धन्य है, जिन्होने अतीत को लेखन मे जीवित रखा।

आचार्यत्व और उपकार

सवत् १९८७ वें वर्ष मे मेवाड सघ के तत्कालीन आचार्य प्रवर पूज्य श्री एकलिंगदासजी महाराज का ऊँठाला मे स्वर्गवास हो चुका था।

मेवाड सम्प्रदाय के चतुर्विध सघ की हार्दिक इच्छा थी कि आचार्य पद पर श्री मोतीलालजी महाराज को अभिषिक्त कर दिये जाएँ। श्री सघ का आग्रह जबरदस्त था। किन्तु मुनिश्री किसी पद पर जाने को कतई तैयार नही थे। मुनिश्री के व्यक्तित्व मे एक जादू था। निर्दोष क्रिया, अनूठा वक्तृत्व तथा मधुर वाणी का जन-जीवन पर विलक्षण प्रभाव था।

पूज्यश्री के स्वर्गवास के बाद मेवाड की विशाल धर्मप्रेमी जनता की आशा के सम्बल मुनिश्री थे। मुनिश्री के बढते प्रभाव को देखकर कुछ एक तत्त्व ऐसे भी थे, जो मन ही मन ईर्ष्या की आग मे जलते रहते थे। किन्तु सम्प्रदाय मे उनका कोई प्रभाव नहीं था। मुनिश्री भी ऐसे तत्त्वो से परिचित थे। वे यह अच्छी तरह जानते थे कि ऐसे तत्त्व सघ के सामूहिक दबाव से अभी अनुकूलता प्रदर्शित कर रहे हैं। किन्तु भविष्य मे सर्वदा साथ देंगे, इसका कोई विश्वास नही।

मुनिश्री दृढता के साथ आचार्य पद के लिए इन्कार हो गये। चतुर्विध सघ मे गहरी निराशा छा गई। मुनिश्री मेवाड से दूर-दूर तक विहार कर गये।

आचार्य से रहित मेवाड सम्प्रदाय मे एक ऐसी रिक्तता छा गई जो असह्य थे। चारो ओर निराशा का वातावरण था। इमसे सम्प्रदाय और धर्मसघ की बडी हानि हो रही थी।

जो कुछ तत्त्व मुनिश्री के अन्तर्विरोधी थे, जनता का आक्रोश उनके प्रति भी कम नही था। जैसे-जैसे समय बीतता गया, आचाय की अनिवार्यता बढती गई। यत्र-तत्र मेवाड सघ एकत्रित होता रहा और एक मत से निश्चय होता रहा कि किसी भी कीमत पर मुनिश्री मोतीलाल जी महाराज को आचाय पद के लिए मनाया जाए। सघ के डेटेशनप्पू मुनिश्री के पास पहुचने लगे। मेवाड के साधु-साध्वी समाज ने जैसे भी हो आचाय पद देने का निश्चय कर ही लिया। अन्ततोगत्वा मुनिश्री मेवाड मे आये और सघ मे आशा की नई किरण चमकने लगी। सघो के प्रमुख और साधु-साध्वी मुनिश्री के पास एकत्रित होकर आचाय पद के लिए गहरा दबाव डालने लगे।

मुनिश्री ने फिर भी इन्कार किया। किन्तु इस बार आग्रह चरम सीमा का था। आचार्य के अभाव मे सघ की जो स्थिति होती जा रही थी, मुनिश्री ने गहराई से उसे समझा। मुनिश्री ने अनुभव किया कि अब लम्बे समय तक सघ को असहाय स्थिति मे रखना उचित नही।

आचाय जैसे जिम्मेदारी के पद पर आसीन होना, कई कठिनाइयो से परिपूर्ण है। फिर भी मुनिश्री ने अनुभव किया कि अब इस जिम्मेदारी की घडी मे दूर हटना कर्त्तव्यपथ से गिरना है। काँटो का ताज है, किन्तु पहनना ही होगा। अन्यथा मेवाड सघ नेतृत्वहीनता की स्थिति मे अवरुद्ध हो जाएगा। मुनिश्री ने समय की चुनौती को समझकर स्वीकृति
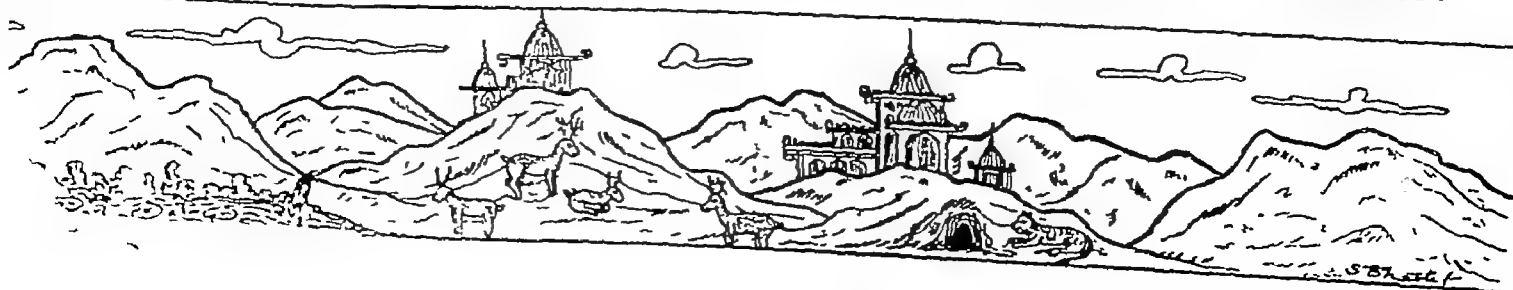
प्रदान कर दी। मेवाड के चतुर्विध सघ मे हर्ष की लहर दौड गई। कई सघ अपने यहाँ आचार्यपदोत्सव कराने को उत्सुक हो गये। अन्त मे सरदारगढ सघ को चतुर्विध सघ की स्वीकृति मिली।

यथासमय मेवाड का चतुर्विध सघ सरदारगढ मे बड़े उत्साह के साथ एकत्रित हुआ। स० १९९३ ज्येष्ठ शुक्ला द्वितीया का दिन था। मेवाड के चतुर्विध सघ ने परमोल्लास के साथ मुनिश्री को आचार्य पद पर अभिषिक्त किया।

मेवाड सघ का नेतृत्व पूज्य श्री के सबल कर-कमलो मे सौंपकर सघ के प्रमुख सज्जनो ने बडे सन्तोष का अनुभव किया।

व्यक्तित्व, वक्तृत्व और उपकार

पूज्य श्री मोतीलाल जी महाराज साहब का व्यक्तित्व अपने आप मे सुदृढ और आकर्षक था। गेहुँए वर्ण मे सुगठित विशाल देह-राशि का एक-एक अग मानो ढला हुआ सा था। विशाल देह के अनुरूप खिले हुए पूर्ण चन्द्र जैसा मुख-मण्डल, चिबुक से हृदय भाग तक चली आई मध्य-रेखाकित प्रलम्बमान अयाल, सुविस्तृत हृदय, विशाल भुजाएँ, ऊर्ध्वरेखाकित यथोचित पद-कमल—इस तरह पूज्य श्री का वपु-वैभव कुल मिलाकर भाग्यशाली था। तन जितना सुन्दर था, मन उससे भी कही ज्यादा सुन्दर था।

स्वभाव से मञ्जुल, व्यवहार में पटु तथा बातचीत मे शालीन पूज्य श्री अपने युग के एक सफल और सुयोग्य आचार्य थे।

आचार्य श्री के व्यक्तित्व मे एक जादू तथा विलक्षण ओज था।

जहाँ उनके व्याख्यानो में तथा दर्शनार्थ हजारो नागरिक उमड़े आते थे वहाँ उनके किसी प्रतिपक्षी को आने तक की हिम्मत नहीं होती थी। आचार्य श्री का युग साम्प्रदायिक सघर्षों का युग था। प्रत्येक सम्प्रदाय के अनुयायी दूसरे को नीचा दिखाने की चेष्टा किया करते थे। किसी को भी आमने-सामने कटु शब्द सुना देना, उस समय बडा आसान था। उस स्थिति में भी आचार्य श्री का ओजस्वी व्यक्तित्व ओछेपन से कोसो दूर था। उनके समक्ष, किसी का साहस नही हो पाता था कि वह आकर कोई विवाद करे।

मारवाड सादडी मे आचार्य श्री का चातुर्मास था। कुछ उपद्रवी तत्त्व एन सावत्सरिक प्रतिक्रमण के अवसर पर द्वार पर नाचने और चिल्लाने लगे। श्रावक वर्ग जो प्रतिक्रमण मे लगा था, इस चिल्लाहट से कुछ उद्वेलित हो गया। श्रावक प्रतिकार को उद्यत हुए तो पूज्यश्री ने रोक दिया। दूसरे दिन वह चमत्कार हुआ कि सारे अपराधी तथा उपद्रवी तत्त्व चरणो मे पहुँच क्षमा-याचना करने लगे।

पूज्य श्री जब कहीं विहार करते, हमने देखा कि जो भी व्यक्ति उन्हें देखता, प्रभावित नतमस्तक हो जाता।

प्राय गाँवो मे अनपढ़ किसान लोग मुनियो को देखकर उनका ठट्ठा कर लिया करते हैं। किन्तु पूज्य श्री को यदि कोई देख लेता तो वह बैठा भी तत्काल खडा हो जाता। पूज्य श्री भी खड़े रहकर उसकी भक्ति को रचनात्मक रूप देने लगते। कुछ त्याग प्रत्याख्यान कराते हुए आगे बढ़ जाते।

प्राय देखा गया कि उन्होने जिसे भी प्रत्याख्यान, त्याग के लिए कहा तो कभी इन्कार नहीं सका। इस तरह पूज्य श्री का ऊर्जस्वल व्यक्तित्व जन-जीवन के लिए बडा उपयोगी सिद्ध होता रहा।

एक बार खमनौर चातुर्मास में ईद का दिन था। वह बकरा ईद थी। एक बकरा शाम को किसी तरह अपने बन्धन से छूट आया जो सीधा पूज्य श्री के पाट के नीचे आकर बैठ गया। रात भर उसी तरह बैठा रहा। प्रात उसके अधिकारी को बुलाया। वह बडा आग-बबूला था, किन्तु पूज्य श्री के दर्शन करते ही पानी-पानी हो गया। उसने तुरन्त वन्दन कर बकरे को अमर करने की घोषणा कर दी। उसने कहा—सन्त का दरबार खुदा का दरबार है। मेरा बकरा यहाँ पहुँच गया तो खुदा के पास ही पहुँचा। जो खुदा से आ मिला, उसे कोई इन्सान कैसे मार सकता है। उसके पास एक बकरा और था। उसे भी उसने अभय दे दिया। ऐसा था पूज्य श्री का अद्भुत व्यक्तित्व।

पूज्य श्री की वाणी केवल हृदय की वस्तु होती थी, जो केवल हृदय से आती थी। वाणी मे ऐसी सरलता एव सहजता थी कि श्रोता उसे तुरन्त हृदयगम कर जाए।

पूज्य श्री की वाणी मे एक जादू-सा असर था। इसके कई प्रमाण हैं।

एक बार गुरुदेव का होली चातुर्मास तिरपाल (मेवाड) था। वहाँ पर रगपचमी को बीच बाजार मे क्षत्रिय बकरों और पाडो का वध किया करते। वहाँ उन्हे पकाकर खाते भी। यह उनका कार्यक्रम कई वर्षो से चला आ रहा था।

बाजार मे लगभग सारी बस्ती अहिंसक समाज की थी। उन्होने सरे आम होने वाले इस कुकृत्य को रोकने का भरपूर यत्न किया, किन्तु सफलता नहीं मिली। उन्होने सरकारी कार्यवाहियाँ भी की। कई बडे-बडे व्यक्तियो ने पूरी ताकत से इसे रोकने की चेष्टा की, परिणाम मे केवल शून्य ही रहा।

होली पर पूज्य श्री वही थे। रगपचमी का समय निकट था। व्याख्यान बाजार मे ठीक उसी सार्वजनिक स्थान पर होता था, जहाँ यह कुकृत्य होने वाला था।

ज्यो-ज्यों पचमी का समय निकट आता जा रहा था, त्यो-त्यो धर्मप्रिय जनता को उस क्रूर घटना की चिन्ता चिन्तित किये जा रही थी।

किसी ने कहा—पचमी को यहाँ व्याख्यान नही हो पाएगा।

पूज्य श्री ने पूछा—क्यो ?

इस 'क्यों' के उत्तर मे पूज्य श्री को सारी वास्तविक जानकारी मिल गई।

पूज्य श्री ने सोचा—आज जिस स्थल पर अहिंसा, दया और करुणा के गीत गाये जा रहे हैं, कुछ ही दिनो मे वहाँ मूक पशुओ की लाशें तडपेंगी। खून के फव्वारे छूटेंगे। ओह! यह तो बडी दुर्घटना होगी। पूज्य श्री ने दूसरे ही दिन अपने प्रवचन मे करुणा की धारा बहाना प्रारम्भ कर दिया। जो भी अ-जैन प्रवचन सुन लेता उसके विचारो मे भारी परिवर्तन हो जाता! श्रोताओ में जैन कम अ-जैन ज्यादा होते थे। प्रवचनो का असर रग लाने लगा।

पचमी के एक दिन पूर्व समस्त क्षत्रिय समाज की एक खुली बैठक हुई और बहुत ही स्पष्ट वातावरण मे उल्लासपूर्वक सभी ने एक मत से उस स्थान पर हिंसा बन्द करने का प्रस्ताव पारित कर दिया। भगवान राम और गुरुदेव श्री की जय बोलते हुए क्षत्रिय-समाज ने गाँव के बीचोबीच खेली जाने वाली खून की होली को सदा के लिए बन्द कर दी। पचमी के दिन जहाँ खून की होली खेली जाती थी, उस स्थान पर समस्त क्षत्रिय और अन्य अहिंसक समाज ने मिलकर मिठाई बाँटी और रग की होली खेलकर अपवित्रता के कलक को सदा के लिए मिटा दिया।

पूज्य श्री के जीवन मे ऐसी सफलताओ के कई अध्याय जुडे हुए हैं।

राजकरेडा[1] के राजाजी श्री अमरसिंहजी पूज्यश्री के उपदेशो से बडे प्रभावित थे। चातुर्मास मे उन्होंने कभी अपने हाथों में कोई शस्त्र धारण नहीं किया।

बराबर खड्ग रखने वाले राजाजी चारो महीने अहिंसक बने रहे। उन्होंने कालाजी के स्थान पर जो हिंसा

---

१ सीध श्री राजा बहादुर श्री श्री अमरसिंह जी वचना हेतु करेडा में श्री कालाजी के स्थान पर बोलमा वाले बकरा चढाते थे। ७४ में श्री जैन बाईस सम्प्रदाय के पूज्य महाराज श्री एकलिंगदासजी का चातुर्मास था जिनके उपदेश से बलिदान नहीं चढाना तय पाया और आम-गाम वालों ने पाली भी माँगी, जानवर बलिदान नहीं होने की दी। जब से ही बन्द है। ई हाल में बी सम्प्रदाय के पूज्य श्री मोतीलालजी का चातुर्मास है, फिर उपदेश हुआ। अब सबकी इच्छानुसार मुरे रूपाई जावे है। सो ई स्थान पर बलिदान नहीं करे। अमरा कर दिवे। भोपा व आम लोग इसकी पाबन्दी रक्खें। लोपे जिसके हिन्दु को गाय मुसलमानों को सुअर का सोगन है।
नोट—ई मुज्ब भुरे खुदा कर रूपा दी जावे। यह पट्टा यहाँ से आम को दिया जावे। २००२ का भादवा सुद ११ मगलवार, जलजुलनी ग्यारस।
द मांगीलाल टुकल्या श्री हजूर का हुकम सूं पट्टो लिखीयो।
यह पट्टा ठिकाना करेडा से इजरा हुआ।
द छगनलाल देपुरा कारकुन।
ठि—करेडा २००२ का भादवा सुदी ११।
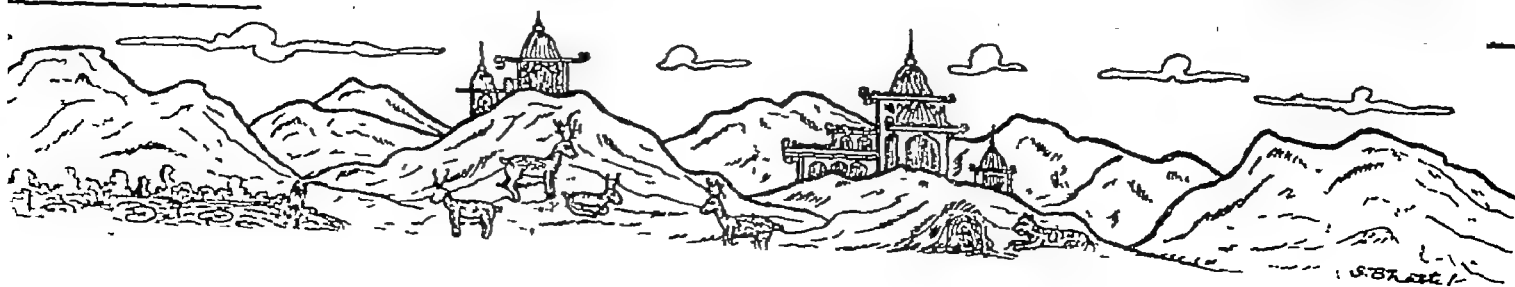
मसूदा मे कुछ राजवर्गीय घरानो मे पर्दे का इतना भयकर बोलबाला था कि बहनें व्याख्यान तक मे वर्जित थी।

उनका ससार केवल चार दिवारी तक सीमित था। किन्तु पूज्यश्री को जब यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने इस कुप्रथा का कडा विरोध किया। दूसरे ही दिन बहनो का व्याख्यान में आना प्रारम्भ हो गया।

गुरुदेव सुधारवादी थे। केवल व्यावहारिक ही नही, आध्यात्मिक सुधार के वे बड़े पक्षधर थे और हजारो व्यक्तियो को इस तरह उन्होंने सुधारा भी।

आकोला के यादवो मे मदिरापान की प्रवृत्ति अधिक थी। पूज्यश्री ने उनमे से कई भाइयों को त्याग करा दिये।

अहिंसा और जीवन-शुद्धि के क्षेत्र मे पूज्यश्री को त्याग लेने वाला कोई न कोई सदस्य प्राय मिल ही जाता था।

कई गाँवो मे तो अष्टमी, एकादशी आदि तिथियो को पूरे गाँव मे अगता रखने की पद्धतियाँ स्थापित की गयी, जो आज भी चल रही हैं।

पूज्यश्री का आध्यात्मिक अभ्युदय बडा प्रभावशाली था। नर ही नहीं, कहीं-कही तो पशुओ तक मे पूज्यश्री के प्रति भक्ति देखी गई।

मसूदा मे पूज्यश्री जगल की ओर पधार रहे थे। मार्ग मे मसूदा दरबार का हाथी बँधा था। पूज्यश्री के पास आते ही हाथी नतमस्तक हो गया। सूंड को भूमि पर लम्बायमान करके उसने नमस्कार किया। सभी मुनिराज यह देखकर आश्चर्य कर रहे थे कि गजराज ने घास का एक पूला पूज्यश्री के पाँवो मे रख दिया। पूज्यश्री ने कहा—गजराज! यह हमारा खाद्य नही है! हाथी ने उस पूले को लेकर अपने सिर पर चढ़ा लिया। पूज्यश्री मुडकर आगे बढ़े तो गजराज उधर ही मुडकर लगातार पूज्यश्री की तरफ देखता रहा।

यह अद्भुत दृश्य था। मुनि तो देख ही रहे थे, साथ ही कई अन्य भाइयो ने भी यह दृश्य देखा।

पूज्यश्री जिस परम्परा के मुनि हैं, उस परम्परा के लिए यह घटना कोई बड़े आश्चय की नही। क्योंकि इसी परम्परा के एक बहुत बड़े तपस्वी रोडजी स्वामी को कभी उदयपुर मे हाथी ने मोदक बहराया। साड ने गुड का दान दिया। जिस परम्परा मे पशुओ तक के प्रति ऐसा एकात्मभाव चला आया हो वहाँ हाथी वन्दन कर अभ्यर्थना करे तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नही।

पूज्यश्री स्थानकवासी जैन सिद्धान्त के प्रति बडे आस्थावान तथा गौरवानुभूति से ओतप्रोत थे। किन्तु अन्य सम्प्रदायो के प्रति उनके मन मे कोई द्वेष नही था।

अपने व्याख्यानो मे वे प्राय कई धर्म ग्रन्थो से कथानक तथा उद्धरण दिया करते थे। वे अन्य धम सम्प्रदायो का कभी तिरस्कार नही करते थे। यथासम्भव सभी के प्रति मेल-जोल के विचारों का प्रचार करते थे।

हाँ, यदि कोई उनकी मान्यता पर प्रहार करता तो वे शिष्ट प्रकार से उसका परिहार अवश्य करते।

एक बार खेरोदा मे पडोसी सम्प्रदाय के एक आचाय का अपने साधु सघ के साथ आगमन हुआ। वहाँ उनके
अनुयायियो का कोई निवास नहीं था। पूज्यश्री वही थे। उन्होंने दो श्रावको को कहा कि आगत साधु सघ की सेवा का
ध्यान करो। श्रावक वहाँ पहुँचकर आवश्यक आग्रह करने लगे।

साधु सघ के आचाय ने पूछा—तुम्हारे यहाँ कौन साधु है ? उपासको ने योग्य उत्तर दे दिया। उन्होंने फिर
पूछा—क्या मोतीलालजी कुछ पढ़े लिखे भी हैं ? उपासको ने कहा—यह परीक्षा तो केवल आप ही कर सकते हैं। हम
तो केवल आहारादि की पृच्छा करने आये हैं। उपासक पुन पूज्यश्री के पास आये और सारा प्रसग कह सुनाया।

पूज्यश्री ने कहा—सद्भावना का यह पुरस्कार दिया। खैर! अब यदि उन्होंने मेरे ज्ञान ध्यान को जानन
का प्रश्न ही कर दिया तो मैं भी चर्चा के लिए आग्रह करता हूँ।

तुम जाकर उन्हें जानकारी दे दो। उपासको ने जाकर कहा तो वे इसके लिए तैयार नही हुए और विहार
कर दिया। पूज्यश्री भी उसी दिशा मे बढ़ गये। यह चर्चाओ का युग था। पूज्यश्री चर्चा करने को आमादा थे। किन्तु
तथाकथित आचाय इसके लिए तैयार नहीं हुए। विहार-क्रम आगे से आगे चलता रहा। अन्ततोगत्वा सादडी मे उन्हीं

के प्रमुख उपासकों ने आकर कहा कि हमारे महाराज चर्चा नही करना चाहते। तभी पूज्यश्री ने पुन मेवाड की ओर विहार किया।

उक्त प्रसग से यदि कोई यह निष्कर्ष निकाले कि पूज्यश्री कट्टर सम्प्रदायवादी थे तो यह सोचना उनके प्रति अन्याय होगा।

यू वे एक सम्प्रदाय के आचार्य थे। फिर भी उनके विचारो मे अन्य सम्प्रदायो के प्रति समादर के भाव थे। तभी अपने उपासको को अन्य सम्प्रदाय के आचार्य की सेवा मे भेजा तथा उनकी आहारादि की पृच्छा कराई। यदि नितान्त कट्टर होते तो ऐसा हो नही सकता।

अपने सिद्धान्तो के प्रति वफादारी उनमे अवश्य थी। किन्तु अन्य के प्रति द्वेष नही था। इतना ही नही। वे पारस्परिक स्नेह भाव के समर्थक थे। साम्प्रदायिक कटुता के वे विरोधी थे।

स्थानकवासी समाज की उपसम्प्रदायो के विषय मे भी उनका कहना था कि सभी को एक-दूसरे का आदर करते हुए प्रेम से रहना चाहिए। शहरो मे होने वाले साम्प्रदायिक भेदभावो से उन्होने मेवाड के समाज को बहुत दूर तक बचाये रक्खा।

उनका अभिमत था कि साधु समाज की एकता के लिए अग्रगण्य मुनियो को स्वय निर्णय करना चाहिए। गृहस्थो की बातो मे आकर चले तो समाज की एकता नही रह सकती।

वनेडिया मे पूज्य उपाचार्य श्री गणेशीलालजी महाराज साहब पूज्यश्री के दर्शनार्थ पधारे। तब श्रमण सघ बना ही था। पूज्यश्री मन्त्री पद पर थे। दोनो का छोटे-बड़े भाई जैसा बड़ा मधुर मिलन रहा।

दो दिन बाद जब पूज्य उपाचार्य श्री विहार करने लगे तो उन्होंने वन्दन करते हुए बड़े ही नम्रभाव से कहा कि मुझे आशीर्वाद दो कि सघ ने जो भार सौंपा वह निभ जाए।

इस पर पूज्यश्री ने कहा कि गणेशलालजी, लाल-पीली पगडियो वालो की बातो मे मत आना। यदि इस बात का ध्यान रखा तो तुम्हारे नेतृत्व में श्रमण सघ फलेगा-फूलेगा।

पाठक इससे समझ गये होंगे कि उनका यह सकेत कितना सार्थक तथा उपयोगी था। आज सघ की जो भी स्थिति बनी उसके पीछे उपासको का सम्प्रदायवाद प्रमुख रहा। इसमे कोई सन्देह नही। मुनिजन भी उस प्रवाह मे बहते गये।

जीवन की उत्क्रान्ति एक वलय लेकर बढ़ती है। उसका अपना प्रभाव होता है। जो भी उस वलय की परिधि मे आ जाता है, प्रभावित हुए बिना नही रहता। कहते हैं, भगवान के समवसरण मे सिंह और बकरी भी निकट बैठकर वाणी रस का पान किया करते थे। ये परस्पर भक्षक और भक्ष्य हैं। किन्तु प्रभु का प्रभावलय इतना उत्कृष्ट प्रभावक होता है कि सिंह भूखा भी बैठा रहेगा, किन्तु अपने भक्ष्य की तरफ लक्ष्य नहीं करेगा।

किसी भी व्यक्तित्व का यह आध्यात्मिक प्रभाव होता है, जो केवल अन्तजगत का विषय है। व्यक्तित्व की अनोखी प्रभविष्णुता पर तर्क किया जा सकता है, इसमें कोई सन्देह नही, किन्तु आश्चर्यजनक जो हो जाता है, वह तो हो ही जाता है, तर्क भी उसे होने से रोक तो नही सकता।

कहते हैं, भगवान शान्तिनाथ के जन्म के पूर्व ही मृगी रोग समाप्त हो गया जो उधर व्यापक रूप से फैला हुआ था।

भगवान तीर्थंकर जिधर निकलते हैं, दूर-दूर तक स्वस्थता का एक नया वातावरण बनता जाता है। पर ऐसा होता क्यो है? इस 'क्यो' का सामान्यतया कोई उत्तर नही। यह अन्तर्जगत का विषय है, बाह्य परिप्रेक्ष्य में जीने वाला साधारण मानव इस अलौकिक-आन्तरिक शक्ति की थाह पा नही सकता।

पूज्यश्री मोतीलालजी महाराज एक बार गिलूंड मे विराजित थे। डाकुओ का एक शक्तिशाली दल गाँव को लूटने के लिए चला आया। किन्तु डाकुओं के सरदार ने ज्यो ही उस गाव में पूज्यश्री को उपस्थित देखा, तत्काल वहाँ से चल पडा। उस दिन उन्होने 'कावरा' गाँव को लूटा।
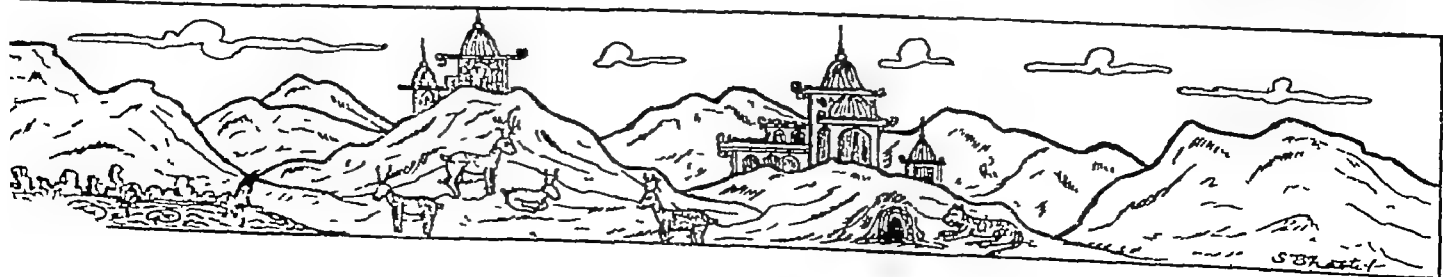
वल्लभनगर के दस बीस सज्जन पूज्यश्री के दर्शनार्थ गिलूड बैलगाडियो द्वारा जा रहे थे। मार्ग मे फावरा गाँव आता है। गाडियो को देखते ही डाकुओ ने घेर लिया। सरदार आया, उसने पूछा—कहाँ जा रहे हो? गाडीवान ने कहा—गिलूंड हम चोथमलजी महाराज साहब के दर्शन करने जा रहे हैं। सरदार ने उसे एक झपट लगा दी। इतने मे गाडी मे से किसी महाजन ने कहा—हम मोतीलालजी महाराज साहब के दर्शन को जा रहे हैं। डाकू ने कहा—तुम्हारा कहना ठीक है। गिलूंड मे पूज्य मोतीलालजी महाराज हैं, मैं देखकर आया हूँ। यह डाका गिलूंड मे पडने वाला था, किन्तु महाराज वहाँ ठहरे हुए हैं इसलिए हम वहाँ से हटकर यहाँ आ गये। सरदार ने आगे कहा—तुम सभी यहाँ रुक जाओ। एक जाजम विछाकर सभी को विठा दिया। महाजन अपने सोने के बटन, कड़े और गोपडोरे छुपाने लगे। डाकू सरदार ने कहा—तुम व्यर्थ क्यो छुपा रहे हो? हम लेना चाहेंगे तो बन्दूक की नोक पर सब निकलवा लेंगे। किन्तु हमे लेना नही है। आप लोग महाराज के दर्शन करने जा रहे हैं। गुरुदेव के दर्शनो को जाने वालो को हम नही लूटा करते। जब डाका पूरा हुआ, बड़े प्रेम से उन्होंने महाजनो को विदा दी।

घटना आश्चर्यजनक लगती है। किन्तु अध्यात्म का भी अपना अलग प्रभाव होता है, जो अचिन्त्य और अमित होता है।

ऐसा ही चमत्कारिक एक उदाहरण तब मिला, जब जयपुर निवासी जौहरी नौरत्नमलजी काशीनाथजी वाले किसी सगीन अपराध के मामले मे फँस गये। उन्हे बचने की कोई आशा नही थी। वे मानते थे कि थोडे ही दिनों मे जब केस का निर्णय सुनाया जायगा, मैं जेल के सीखचो मे बन्द मिलूँगा। वे बड़े सोच मे थे।

निर्णय का दिन था। पूज्यश्री वही विराजमान थे। बड़ा भारी मन लेकर वे मागलिक सुनने को स्थानक आये। मागलिक लेकर अदालत मे पहुँचे। निर्णय जो हुआ, वह कम आश्चर्यजनक नही था। नौरत्नमलजी बाइज्जत बरी कर दिये गये।

नौरत्नमलजी का मन-मयूर नाच उठा। दौडकर वे पूज्यश्री के चरणो मे पहुँचे। चरण चूमने लगे। स्तुति करते हुए उन्होंने सारी बात बताई।

घर जाकर पाँच हजार रुपये लेकर आये और कहने लगे—ये धर्म के लिए निकाले हैं, कहाँ लगाऊँ? पूज्यश्री ने कहा—जहाँ उपकार हो।

नौरत्नमलजी ने पाँच हजार रुपये जैन कन्याशाला जयपुर मे लगाये।

पूज्यश्री की जन्म-भूमि दीक्षा-भूमि और निर्वाण-भूमि यद्यपि मेवाड रही, किन्तु कार्य-क्षेत्र, विचरण-क्षेत्र केवल मेवाड तक सीमित नही था वह व्यक्तित्व ऐसा नही था कि किसी सीमा मे आबद्ध हो सके।

पजाब मे रावलपिण्डी (वर्तमान मे पाकिस्तान), महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा, गुजरात आदि—दक्षिण के कुछ-एक प्रदेशो को छोडकर—लगभग पूरे भारतवर्ष मे पूज्यश्री का बडा सुन्दर विचरण रहा।

पूज्यश्री के विचरण-क्षेत्र को देखते हुए उनकी विशाल घुमक्कड प्रकृति का परिचय मिलता है। सचमुच जैन-समाज के अच्छे से अच्छे उग्र विहारी मुनियो मे पूज्यश्री का नाम अग्रगण्य रहेगा।

जीवन के आखिरी २२ वर्षों तक मेवाड सम्प्रदाय के शासन का बड़े सुन्दर ढग से सचालन किया। इस बीच कई दीक्षाएँ पूज्यश्री के हाथो सम्पन्न हुईं। हजारो उपकार हुए। धर्मसघ पूज्यश्री के नेतृत्व मे फला-फूला। श्रमण सघ बनने पर मन्त्री पद के दायित्व का निर्वाह निर्भीकता से किया।

पूज्यश्री का पूरा जीवन लगभग अप्रमत्त रहा। वर्षों तक एक समय भोजन किया करते और वह भी ठण्डा और रूक्ष। लगभग प्रतिदिन पाँच-छह कभी-कभी सात-सात घण्टे पूज्यश्री लेखन कार्य किया करते। उनके हाथो लिखी सैकडो प्रतियाँ आज उपलब्ध हैं। वे उनके अप्रमत्त जीवन की प्रमाण हैं।

पिछले पृष्ठो मे पूज्यश्री मोतीलालजी महाराज साहब के जीवन के सामान्य परिचय के साथ विशिष्ट घटनाओ का कुछ-एक परिचय दिया है।

वास्तव में किसी महापुरुष का पूर्ण परिचय देना किसी सागर की गहराई की थाह पाने जैसा है। समुद्र केवल लहराता है। पूज्यश्री भी सयम के पचपन वर्ष तक केवल लहराये। अनगिनत व्यक्ति उस विशाल सरोवर के निकट आये और तृषा बुझाकर गये।

जीवन के अन्तिम वर्षों मे देलवाडा पाँच वर्षों तक गुरुदेवश्री स्थानापन्न रहे तो देलवाडा तीथ सा वन गया।

वि० स० दो हजार पन्द्रहवें वष के द्वितीय श्रावण शुक्ला चतुर्दशी को साय पौने सात वजे पूज्यश्री का स्वर्गवास हुआ।

देहावसान के अन्तिम समारोह के अवसर पर लगभग दस हजार जनता की उपस्थिति यह वता रही थी कि पूज्यश्री वास्तव मे मेवाड की धमप्रेमी जनता के श्रद्धेय, पूज्य तथा आराध्य थे।

अन्त मे देलवाडा रावजी राजराणा खुमानसिंहजी के दो श्रद्धा-पुष्प, जो मेरे हार्दिक भावो का भी प्रतिनिधित्व है, प्रस्तुत करता हुआ लेखनी को विश्राम देता हूँ —

काना मोती पहरिया, गले पहरिया लाल।
शब्द हृदय मे धारिया, किम भूलां मोतीलाल॥
और खामी मिट सही, जोड्यां मोती-लाल।
खामी मोटी किम मिटे, था विन मोतीलाल॥

दूसरो को बुरा वताकर खुद को अच्छा सिद्ध करने की चेष्टा करना नादानी है। अपनी अच्छाई से ही स्वय को अच्छा सिद्ध करो। दूसरो की वुराई से कभी अपनी अच्छाई सिद्ध नही हो सकती।

मोटे-ताजे व्यक्ति अपना वजन घटाने की चेष्टा करते हैं, दुवले-पतले व्यक्ति वजन वढाने की। इससे क्या यह पता नही चलता कि जीवन मे अतिभाव और अभाव दोनो ही त्याज्य हैं, समभाव (सम-स्थिति) ही सुखदायी है।

—'अम्वागुरु-सुवचन'

११
परम श्रद्धेय श्री जोधराजजी महाराज

☐

पूज्य आचार्य श्री एकलिंगदासजी महाराज के योग्यतम शिष्य-प्रशिष्यो मे एक नाम परम श्रद्धेय श्री जोधराज जी महाराज का भी आता है।

श्री जोधराजजी महाराज का जन्म देवगढ के निकट तगडिया ग्राम मे स० १६४० के आसपास हुआ था। इनकी माता का नाम चम्पाबाई तथा पिता श्री मोतीसिहजी थे। ये क्षात्रानुवशीय थे। बाल्यावस्था मे ही माता पिता का वरदहस्त उठ जाने से श्री जोधराजजी को ससार की अस्थिरता का भान हो गया।

आत्मकल्याणी सुन्दर भावना के अनुरूप आप किसी सुयोग्य गुरु की खोज में थे।

सयोगवश राजकरेडा मे किसी रामस्नेही सन्त से आपका सम्पर्क हो गया। त्याग की उत्कृष्ट भावना से वहीं राम भजन करने लगे।

वैराग्य के मार्ग मे जो तत्त्व चाहिए, वह उन्हें मिल नही पाया तो सन्तुष्टि नहीं हुई। वैराग्य मे भी एक भूख जगती है, वह जिज्ञासा कहलाती है। निरन्तर मोक्ष माग को जानना और साधना साधक का लक्ष्य रहता है।

रामस्नेही सन्त ने स्वय जोधराज की आन्तरिक भावना को समझा। उन्होंने ऐसा सत् परामर्श दिया, जिसने श्री जोधराज के जीवन में ज्योति जगादी। उन्होंने श्री जोधराजजी को पूज्य श्री एकलिंगदासजी महाराज, जो उन दिनो वही विराजमान थे, के पास जाने के लिये कहा। उन्होंने कहा कि जैन मुनि नितान्त आत्मसाधक होते हैं, वहाँ तुम्हें आत्म लाभ प्राप्त हो सकेगा।

एक रामस्नेही सम्प्रदाय का सन्त एक मुमुक्षु को जैन मुनि के पास भेजे, यह साम्प्रदायिक सद्भाव का अद्भुत नमूना है।

युवक जोधराजजी ने इस योग्य परामर्श का तत्काल अनुपालन किया और पूज्य श्री एकलिंगदासजी महाराज के पास पहुँचे। यहाँ मुनिचर्या और आत्म-साधना का सुन्दर वातावरण देखकर श्री जोधराजजी को बडा आनन्दानुभव हुआ।

श्री जोधराजजी को ऐसा लगा मानो जिसे खोज रहे थे, वह मिल गया। वे तन्मय होकर वहाँ ज्ञानाराधना करने लगे।

मुनिचर्या आदि का समुचित ज्ञान हो जाने पर स० १६५६ मार्गशीर्ष शुक्ला अष्टमी के दिन रायपुर में श्री जोधराजजी ने आत्मकल्याण स्वरूप जैनेन्द्रीया दीक्षा ग्रहण की। आपने श्री कस्तूरचन्दजी महाराज का शिष्यत्व ग्रहण किया। श्री कस्तूरचन्दजी महाराज पूज्य श्री एकलिंगदासजी महाराज के शिष्य थे।

पूज्य श्री के सान्निध्य में ज्ञानाराधना के साथ तपाराधना का क्रम भी चलता रहा। 'अनमोल रत्न' के लेखक के अनुसार स्वामीजी सायकाल को उष्ण आहार नही करते थे। यह क्रम चौदह वर्ष चला। एकान्तर, बेला, तेला, पाँच, आठ आदि तपश्चर्या की आराधनाएँ भी कीं।

श्री जोधराजजी महाराज अच्छे वक्ता और गुरुसेवानिष्ठ थे।

स्व० श्री कन्हैयालालजी महाराज आपके ही शिष्य थे। आपने अनेको आत्माओं को सन्मार्ग मे स्थापित किया।

कुल ४२ वर्ष सयम पालन कर वि० स० १६६८ आश्विन शुक्ला पचमी शुक्रवार को कुवारिया मे आपका समाधिपूर्वक स्वर्गवास हुआ।

●●

१२
सरल-हृदय श्री भारमलजी महाराज

□

आचाय श्रीमानजी स्वामी विरचित एक दोहा है—

"गुरु कारीगर सारखा, टाकी वचन समेत।
पत्थर की प्रतिमा करे, पूजा लहे सहेत॥

पत्थर भी किसी अच्छे कारीगर के हाथो मे पहुंच कर प्रतिमा बन जाया करता है। ठीक यही बात चरितार्थ हुई, सरल आत्मा श्रद्धेय गुरुदेव श्री भारमलजी महाराज साहब के विषय में।

सिन्दु, मावली जक्शन के निकट एक छोटा-सा कस्वा है, यही स्वामीजी का जन्म-स्थान है। सवत् उन्नीस सौ पचासवें वष मे श्री भैरूलालजी वडाला की सुपत्नि श्रीमती हीराबाई ने एक पुत्ररत्न को जन्म दिया। वही छोटा सा अनजाना व्यक्तित्व, कुल बीस वष बाद श्री भारमलजी महाराज साहब के नाम से अभिव्यक्त हुआ।

श्री भारमलजी महाराज का बचपन यद्यपि बहुत बडी सम्पन्नता मे व्यतीत नही हुआ किन्तु श्रमनिष्ठा होने के कारण अभावग्रस्तता उन्हे दीन और अकमण्य नहीं बना सकी।

श्री भारमलजी महाराज, को असमय में माता-पिता का वियोग सहना पडा किन्तु हिम्मती होने के कारण अपने पथ पर अविचल बढते रहे। अपनी सरल प्रकृति के कारण श्री भारमलजी बचपन से ही बडे लोकप्रिय हो गये। उनका हृदय बचपन से ही अत्यन्त उदार था।

वैराग्य

एक युग था जब घोडे और ऊँट ही यातायात के प्रमुख साधन थे। श्री भारमलजी एक ऊँट पर दरोली आये। ऊँट पर ही उनका आना-जाना चलता था। दरोली के एक वृद्ध भाई ने कहा कि ऊँट ही उनके वैराग्य का कारण बना। ऊँट को खिलाने के लिये नीम और अन्य वृक्षो की डालियाँ जुटानी पडतीं। बडा आरम्भ जन्य कार्य था। बडी झझट थी यह, यो तो कई दिनो से यह चलता ही था किन्तु उस दिन न मालूम क्यो, उन्हें बडी परेशानी हुई। उन्होंने कहा—"मैं इन सभी झझटों को छोड दूंगा।" उस भाई ने कहा कि हम उस समय इस वाक्य की गहराई और दिशा को नहीं समझ पाये। हमने देखा, श्री भारमलजी ने उसी दिन ऊँट बेच दिया, बेचा भी बहुत सस्ते में। हमने पूछा, ऐसा क्यो कर रहे हैं? उन्होंने कहा अब नया मार्ग लिया जाएगा। श्री भारमलजी सिन्दु आ गये और शीघ्र ही पूज्य श्री मोतीलालजी महाराज की सेवा में पहुंच गये। आवश्यक ज्ञानाभ्यास करके सवत् उन्नीस सौ सित्तर वर्ष में पूज्य श्री के सान्निध्य में मुनि-धम स्वीकार कर लिया। यह दीक्षा-समारोह बडी चहल-पहल किन्तु सादे रूप में 'थामला' ग्राम में सम्पन्न हुआ।

सयमी जीवन

श्री भारमलजी महाराज का सयमी जीवन सरल, उदार और मिलनसार रहा। ज्ञानान्तराय का क्षयोपशम कम था अत प्राय सभी की यह धारणा थी कि श्री भारमलजी महाराज में प्रवचन की योग्यता का विस्तार होना कठिन है किन्तु श्री भारमलजी महाराज अपनी धुन के इतने पक्के निकले कि सभी देखकर दग रह गये। ज्ञानाभ्यास की ऐसी रट लगाई कि कुछ ही वर्षों मे वे पाट पर बैठकर व्याख्यान देने लगे।

स्वामीजी के व्याख्यान में बडी सरलता थी। ठेठ ग्रामीण व्यक्ति भी महाराज की बात को अच्छी तरह समझ सकता था। प्राय मध्यान्हकालीन व्याख्यान स्वामीजी का होता था। हमने कई बार देखा कि किसान लोग अपने चलते हल और बहते रेहँट-चडस को छोडकर उनके व्याख्यानो में दौड आते। ठठ्ठ के ठठ्ठ किसान स्वामीजी के व्याख्यानो में

११

परम श्रद्धेय श्री जोधराजजी महाराज

☐

पूज्य आचार्य श्री एकलिंगदासजी महाराज के योग्यतम शिष्य-प्रशिष्यो मे एक नाम परम श्रद्धेय श्री जोधराज जी महाराज का भी आता है।

श्री जोधराजजी महाराज का जन्म देवगढ़ के निकट तगड़िया ग्राम मे स० १६४० के आसपास हुआ था। इनकी माता का नाम चम्पाबाई तथा पिता श्री मोतीसिंहजी थे। ये क्षात्रानुवशीय थे। बाल्यावस्था में ही माता-पिता का वरदहस्त उठ जाने से श्री जोधराजजी को ससार की अस्थिरता का भान हो गया।

आत्मकल्याणी सुन्दर भावना के अनुरूप आप किसी सुयोग्य गुरु की खोज मे थे।

सयोगवश राजकरेडा मे किसी रामस्नेही सन्त से आपका सम्पर्क हो गया। त्याग की उत्कृष्ट भावना से वहीं राम भजन करने लगे।

वैराग्य के मार्ग मे जो तत्त्व चाहिए, वह उन्हें मिल नही पाया तो सन्तुष्टि नहीं हुई। वैराग्य मे भी एक भूख जगती है, वह जिज्ञासा कहलाती है। निरन्तर मोक्ष मार्ग को जानना और साधना साधक का लक्ष्य रहता है।

रामस्नेही सन्त ने स्वय जोधराज की आन्तरिक भावना को समझा। उन्होंने ऐसा सत् परामर्श दिया, जिसने श्री जोधराज के जीवन मे ज्योति जगादी। उन्होंने श्री जोधराजजी को पूज्य श्री एकलिंगदासजी महाराज, जो उन दिनो वहीं विराजमान थे, के पास जाने के लिये कहा। उन्होंने कहा कि जैन मुनि नितान्त आत्मसाधक होते हैं, वहाँ तुम्हें आत्म लाभ प्राप्त हो सकेगा।

एक रामस्नेही सम्प्रदाय का सन्त एक मुमुक्षु को जैन मुनि के पास भेजे, यह साम्प्रदायिक सद्भाव का अद्भुत नमूना है।

युवक जोधराजजी ने इस योग्य परामर्श का तत्काल अनुपालन किया और पूज्य श्री एकलिंगदासजी महाराज के पास पहुँचे। यहाँ मुनिचर्या और आत्म-साधना का सुन्दर वातावरण देखकर श्री जोधराजजी को बडा आनन्दानुभव हुआ।

श्री जोधराजजी को ऐसा लगा मानो जिसे खोज रहे थे, वह मिल गया। वे तन्मय होकर वहाँ ज्ञानाराधना करने लगे।

मुनिचर्या आदि का समुचित ज्ञान हो जाने पर स० १६५६ मार्गशीर्ष शुक्ला अष्टमी के दिन रायपुर मे श्री जोधराजजी ने आत्मकल्याण स्वरूप जैनेन्द्रीया दीक्षा ग्रहण की। आपने श्री कस्तूरचन्दजी महाराज का शिष्यत्व ग्रहण किया। श्री कस्तूरचन्दजी महाराज पूज्य श्री एकलिंगदासजी महाराज के शिष्य थे।

पूज्य श्री के सान्निध्य मे ज्ञानाराधना के साथ तपाराधना का क्रम भी चलता रहा। 'अनमोल रत्न' के लेखक के अनुसार स्वामीजी सायकाल को उष्ण आहार नही करते थे। यह क्रम चौदह वर्ष चला। एकान्तर, बेला, तेला, पाँच, आठ आदि तपश्चर्या की आराधनाएँ भी कीं।

श्री जोधराजजी महाराज अच्छे वक्ता और गुरुसेवानिष्ठ थे।

स्व० श्री कन्हैयालालजी महाराज आपके ही शिष्य थे। आपने अनेको आत्माओ को सन्मार्ग मे स्थापित किया।

कुल ४२ वर्ष सयम पालन कर वि० स० १६६८ आश्विन शुक्ला पचमी शुक्रवार को कुवारिया मे आपका समाधिपूर्वक स्वर्गवास हुआ।

●●

१२
सरल-हृदय श्री भारमलजी महाराज

आचार्य श्रीमानजी स्वामी विरचित एक दोहा है—

"गुरु कारीगर सारखा, टाकी वचन समेत।
पत्थर की प्रतिमा करे, पूजा लहे सहेत॥

पत्थर भी किसी अच्छे कारीगर के हाथो मे पहुँच कर प्रतिमा बन जाया करता है। ठीक यही बात चरितार्थ हुई, सरल आत्मा श्रद्धेय गुरुदेव श्री भारमलजी महाराज साहब के विषय मे।

सिन्दु, मावली जक्शन के निकट एक छोटा-सा कस्बा है, यही स्वामीजी का जन्म-स्थान है। सवत् उन्नीस सौ पचासवें वर्ष में श्री भैंरूलालजी वडाला की सुपत्नि श्रीमती हीराबाई ने एक पुत्ररत्न को जन्म दिया। वही छोटा सा अनजाना व्यक्तित्व, कुल बीस वर्ष बाद श्री भारमलजी महाराज साहब के नाम से अभिव्यक्त हुआ।

श्री भारमलजी महाराज का बचपन यद्यपि बहुत बडी सम्पन्नता मे व्यतीत नही हुआ किन्तु श्रमनिष्ठा होने के कारण अभावग्रस्तता उन्हें दीन और अकर्मण्य नही बना सकी।

श्री भारमलजी महाराज, को असमय मे माता-पिता का वियोग सहना पडा किन्तु हिम्मती होने के कारण अपने पथ पर अविचल बढते रहे। अपनी सरल प्रकृति के कारण श्री भारमलजी बचपन से ही बडे लोकप्रिय हो गये। उनका हृदय बचपन से ही अत्यन्त उदार था।

वैराग्य

एक युग था जब घोडे और ऊँट ही यातायात के प्रमुख साधन थे। श्री भारमलजी एक ऊँट पर दरोली आये। ऊँट पर ही उनका आना-जाना चलता था। दरोली के एक वृद्ध भाई ने कहा कि ऊँट ही उनके वैराग्य का कारण बना। ऊँट को खिलाने के लिये नीम और अन्य वृक्षो की डालियाँ जुटानी पडती। बडा आरम्भ जन्य कार्य था। बडी झझट थी यह, यो तो कई दिनों से यह चलता ही था किन्तु उस दिन न मालूम क्यो, उन्हें बडी परेशानी हुई। उन्होंने कहा—"मैं इन सभी झझटो को छोड दूँगा।" उस भाई ने कहा कि हम उस समय इस वाक्य की गहराई और दिशा को नही समझ पाये। हमने देखा, श्री भारमलजी ने उसी दिन ऊँट बेच दिया, बेचा भी बहुत सस्ते में। हमने पूछा, ऐसा क्यो कर रहे हैं? उन्होंने कहा अब नया मार्ग लिया जाएगा। श्री भारमलजी सिन्दु आ गये और शीघ्र ही पूज्य श्री मोतीलालजी महाराज की सेवा मे पहुँच गये। आवश्यक ज्ञानाभ्यास करके सवत् उन्नीस सौ सित्तर वर्ष मे पूज्य श्री के सान्निध्य मे मुनि-धम स्वीकार कर लिया। यह दीक्षा-समारोह बडी चहल-पहल किन्तु सादे रूप में 'थामला' ग्राम मे सम्पन्न हुआ।

सयमी जीवन

श्री भारमलजी महाराज का सयमी जीवन सरल, उदार और मिलनसार रहा। ज्ञानान्तराय का क्षयोपशम कम था अत प्राय सभी की यह धारणा थी कि श्री भारमलजी महाराज मे प्रवचन की योग्यता का विस्तार होना कठिन है किन्तु श्री भारमलजी महाराज अपनी धुन के इतने पक्के निकले कि सभी देखकर दग रह गये। ज्ञानाभ्यास की ऐसी रट लगाई कि कुछ ही वर्षों मे वे पाट पर बैठकर व्याख्यान देने लगे।

स्वामीजी के व्याख्यान मे बडी सरलता थी। ठेठ ग्रामीण व्यक्ति भी महाराज की बात को अच्छी तरह समझ सकता था। प्राय मध्यान्हकालीन व्याख्यान स्वामीजी का होता था। हमने कई बार देखा कि किसान लोग अपने चलते हल और बहते रेहँट-चडस को छोडकर उनके व्याख्यानो में दौड आते। ठठ्ठ के ठठ्ठ किसान स्वामीजी के व्याख्यानो में

आ जुडते थे। गहरी से गहरी धार्मिक तत्त्व की बात भी, बडे ही मीठे मेवाडी तरीके से ये श्रोताओ के दिलो दिमाग मे उतार सकते थे।

स्वामीजी ने अपने आत्म-बल और व्याख्यानो के सहारे कई बडे उपकार सम्पन्न किये। पचासो गाँवो मे एकादशी पूर्णिमा के पूर्ण अगते आज भी पलते हैं, जो स्वामीजी की याद को ताजा करते रहते हैं।

जैन, हरिजन और गाडरी

स्वामीजी ने अनेको अजैन बन्धुओ को जैन धर्म से अनुप्राणित किया। मोखणदा का एक-एक भगी तथा गाडरी प्रतिदिन सामायक की आराधना कर अन्न जल ग्रहण करते थे। एकाजी देलवाडा दर्शनार्थ आये तब हमने देखा कि व्याख्यान मे एक हरिजन बन्धु सामायिक करके बैठा है। पता लगाने पर ज्ञात हुआ कि वह श्री भारमलजी महाराज साहब द्वारा प्रतिबोधित उपासक है। इस तरह एक गाडरी भी बराबर धर्माराधना करता रहता है।

श्री भारमलजी महाराज बडे लोकप्रिय सन्त थे। उनके प्रशसको की सख्या बहुत बडी थी। अधिकतर अपने निकटस्थ भक्तो मे वे "मारू बा" के नाम से प्रसिद्ध थे।

पूज्य श्री मोतीलालजी महाराज साहब ने एक बार बताया कि हम किसी गाँव मे गये तो एक किसान के बालक ने अपने घर की तरफ दौडकर आवाज दी—"बाई! (माँ) मारू बा आया।" यह देखकर मैंने भारमलजी को कहा—"देखो, हमसे भी तुमको जानने वाले ज्यादा हैं।" उन्होने अत्यन्त विनम्र होकर कहा—"यह सब आपकी कृपा का प्रतिफल है।" यह उनकी लोकप्रियता, उदारता एव विनम्रता का अनुकरणीय उद्धरण है। वास्तव म वे एक सरल सन्त थे।

सच्चे गुरु भक्त

स्वामीजी मे एक सबसे बडी विशेषता गुरु-भक्ति की रही। जबसे उन्होंने पूज्य श्री के पास सयम लिया तबसे अन्तिम समय तक उन्होंने बराबर गुरु की आज्ञा का पालन किया। पूज्य श्री मोतीलालजी महाराज मेवाड की मुनि परम्परा के उज्ज्वल रत्न थे। उनका प्रभाव भी गजब का था, किन्तु यह सत्य सिद्धान्त है कि चमकीले चन्द्र सूर्य को ग्रहण लगा ही करते हैं। ऐसे ही पूज्यश्री के आसपास भी विरोधो के कई बवण्डर खड़े हुए, आरोपो की आँधियाँ चली। किन्तु पूज्यश्री अपनो के द्वारा ही चलाये गये उस विरोध मे भी अविचल रहे और दृढता के साथ अपने ध्येय पर बढते रहे। उनकी हिम्मत असीम थी। उस कठिनाई के समय सबसे बडा साथ श्री भारमलजी महाराज साहब ने दिया। वे हर समय उनके साथ बने रहे। पूज्यश्री के साथ उन्होंने भारत के अधिकाश प्रान्तो मे विचरण किया। कई जगह अनेको परिषह दोनो ने एक जुट होकर सहे। लक्ष्मण जिस प्रकार राम की सेवा निभाते रहे। ऐसा ही उदाहरण श्री भारमलजी महाराज साहब ने पूज्य श्री के साथ प्रस्तुत किया।

सेवा-मूर्ति

रुग्ण मुनियो की परिचर्या के विषय मे स्वामीजी सचमुच बेजोड थे। रुग्ण मुनि चाहे किसी भी घृणित दुर्गन्वित स्थिति मे क्यो न हो, ये उन्हें सभी तरह से सम्भाल लेते। यो जीवन के साधारण व्यवहार मे वे अशुचि से दूर रहते। गन्दा रहना उनकी प्रवृत्ति मे नही था किन्तु किसी रुग्ण की परिचर्या के सन्दर्भ मे अशुचि उन्हें रोक नही सकती। वे अशुचि ग्रस्त रुग्ण की अधिक तल्लीनता से सेवा करते थे। सेवा का ऐसा सुन्दर आदर्श अन्यत्र मिलना वास्तव म कठिन होता है।

पूज्य श्री भारमलजी महाराज साहब ने कुल अडतालीस वर्ष सयमी जीवन व्यतीत किया। संवत् दो हजार अठारह मे श्रावण कृष्णा अमावस्या को स्वामीजी का राजकरेडा मे स्वर्गवास हुआ। मारू बा चले गये। जनता गम मे डूब गई।

श्री भारमलजी महाराज साहब सचमुच जनता के सन्त थे। "बहुजन हिताय बहुजन सुखाय" उनका जीवन था। आज उन्हें व्यतीत हुए चौदह वर्ष हुए। किसी भी साधारण व्यक्तित्व को विस्मृति में छुपाने को चौदह वर्ष काफी होते हैं किन्तु आज भी मेवाड का जनमानस यदि उन्हे स्मृति पथ पर लाता है, तो स्वीकार करना पडता है कि ये जन-मानस मे गहराई तक प्रविष्ट थे। □□
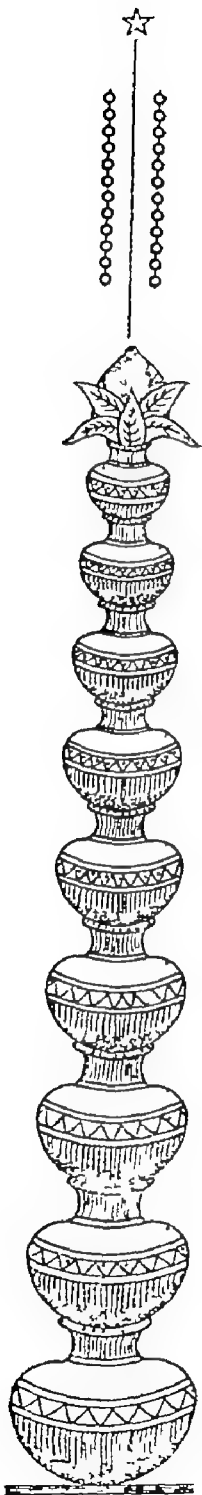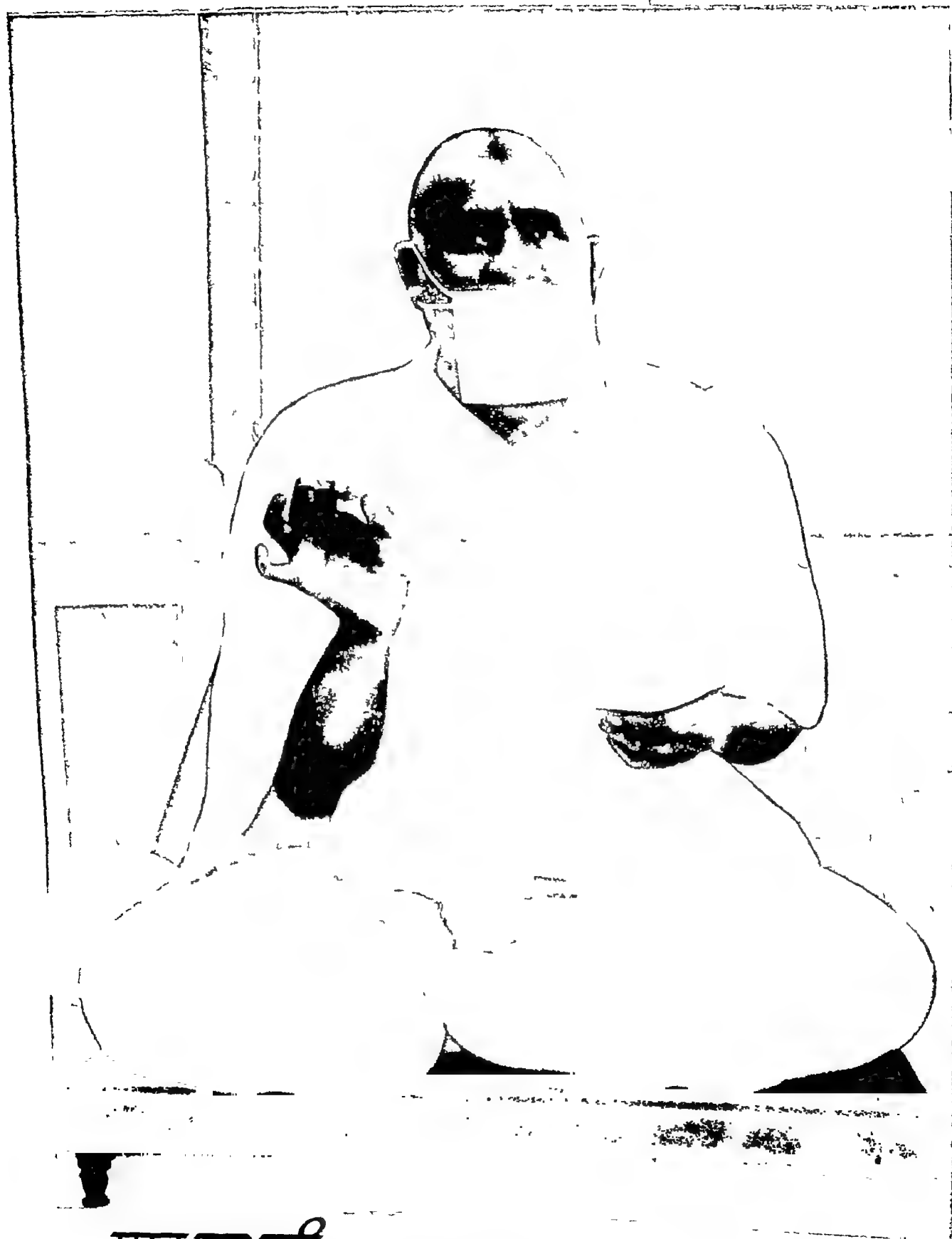
सरलस्वभावी :-

स्व० पूज्य गुरुदेवश्री भारमलजी महाराज

परम श्रद्धेय श्री माँगीलालजी महाराज

पूज्य आचार्य श्री एकलिंगदासजी महाराज के शिष्यपरिवार मे परम श्रद्धेय श्री मागीलालजी महाराज का नाम कई गौरवमय घटनाओ के साथ जुडा हुआ है।

इनका जन्मस्थान राजकरेडा है। श्री गम्भीरमलजी सचेती तथा श्री मगनबाई इनके माता-पिता थे। वि०स० १९६७ पौष कृष्णा अमावस्या गुरुवार इनका जन्म-दिन था।

सयोग और वियोग की अविरल शृखला से आबद्ध इस ससार मे कुछ भी स्थायी नही है। कालचक्र निरन्तर अपना काम करता रहता है। वह कब किसे ग्रस ले, कोई कुछ नहीं कह सकता।

श्री गम्भीरमलजी का असमय मे देहावसान हो गया। अचानक ही शिशु और उसकी माता असहाय स्थिति मे चले गये।

ससार तो स्वार्थ से परिपूर्ण है, नि स्वार्थ कोई किसी की सेवा करे, ऐसे व्यक्ति प्राय दुर्लभ होते हैं।

श्री गम्भीरमल जी के चले जाने के बाद पारिवारिक पक्ष यथोचित सेवा से हटने लगा। बच्चे का ननिहाल पोटला था। वे लोग सस्नेह सेवा साधने को तैयार थे। किन्तु श्री मगनबाई ऐसी न थी कि वह पराश्रित हो जीवन बिताए। कई अभावो के मध्य करेडा ही बच्चे का पालन-पोषण करने लगी।

सुसम्पर्क

उन्ही दिनो परम विदुषी महासती जी श्री फूलकुंवर जी महाराज की सुयोग्य धर्म प्रभाविका महासती श्री शृगारकुंवर जी महाराज आदि ठाणा का राजकरेडा मे पदार्पण हुआ। श्री मगनबाई का महासती जी से यही सुसम्पर्क हुआ जिसने उनके जीवन को नई प्रेरणाओ से भर दिया।

महासतीजी ने सुश्राविका श्री मगनबाई को ससार की नश्वरता तथा स्वार्थपरायणता पर कई उपदेश दिये, जिनका उनके हृदय पर बहुत गहरा असर हुआ। उन्ही दिनो मेवाड सघपति आचार्य श्री एकलिंगदास जी महाराज का भी वही पदार्पण हो गया। इस शुभ योग ने वैराग्य की ओर श्रीवृद्धि ही की।

आचार्य श्री के अन्यत्र विचरण करने पर भी माता पुत्र की वैराग्य-धारा क्षीण नही हुई।

एकदा पूज्य श्री कोशीथल विराजमान थे। वहाँ श्री मगनबाई दर्शनार्थ पहुँची और वहीं श्री मागीलाल जी का आज्ञापत्र पूज्य श्री के चरणों मे भेंट कर दिया।

स्वय श्री मगनबाई भी महासती जी की सेवा मे पहुँचकर ज्ञानाभ्यास करने लगी।

उत्कृष्ट भावनाओं का प्रवाह प्राय अविकल बहता है। रुकावटें आती हैं, निकल जाती हैं। काका छोगालाल जी ने कई अवरोध भी खडे किये, किन्तु उन्हे कोई सफलता नहीं मिली।

अन्ततोगत्वा वि०स० १९७८ वैशाख शुक्ला ३ गुरुवार को रायपुर में माता और पुत्र की दीक्षा सम्पन्न हुई।

श्री मागीलाल जी पूज्य आचार्य श्री के शिष्य तथा श्री मगनबाई वि० महासती जी फूलकुंवर जी महाराज की शिष्या बनीं।
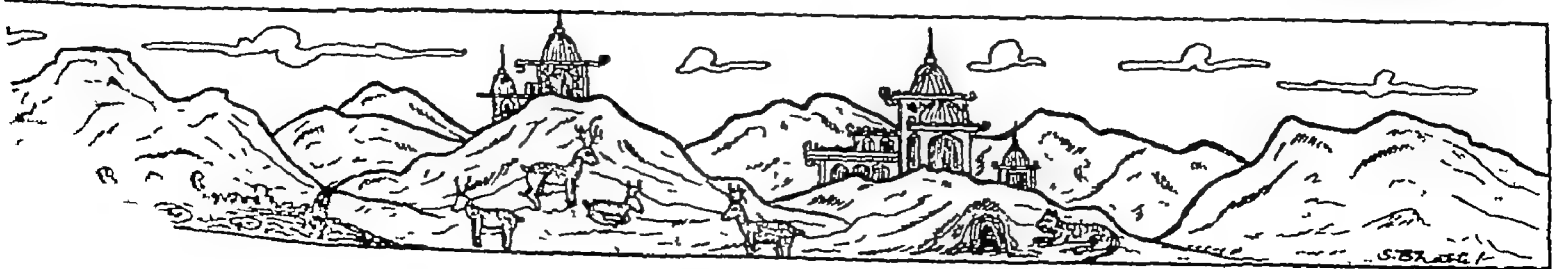
साधना के पथ पर

संयम अपने आप मे एक कसौटी होता है। प्रखर वैराग्य के बिना इस पर कोई खरा उतरे यह संभव नहीं। मुनि श्री मांगीलाल जी, जो केवल ग्यारह वर्ष के होंगे, इतनी लघुवय मे भी, अच्छी लगन के साथ संयम साधना मे उतरे और दृढता के साथ उसमें गति करने लगे।

पं० मुनि श्री जोधराज जी महाराज के पवित्र सान्निध्य मे ज्ञान दर्शनाराधना के साथ साथ अनेको क्षेत्रो का विचरण और अनेको नये अनुभव भी आप पाने लगे।

वि०स० १९८९ मे हुए अजमेर वृहद् साधु सम्मेलन मे भी आप उपस्थित थे।

युवाचार्य पद प्राप्ति और निरस्तता

मेवाड सम्प्रदाय के रिक्त आचार्य-पद की पूर्ति करने के लिए मेवाड के चतुर्विध संघ ने पूज्य श्री मोतीलालजी महाराज को मनोनीत किया तब साथ-साथ युवाचार्यपद के लिए आपका भी मनोनयन हुआ था। तदनुसार सरदारगढ मे पूज्य श्री मोतीलाल जी महाराज को आचार्य पद दिया गया तब आपको भी युवाचार्य पद पर स्थापित किया।

उस समय सम्पूर्ण मेवाड के समाज मे ऐक्य, प्रेम और वात्सल्य का सुन्दर वातावरण बना था। किन्तु पूज्य आचार्य श्री मोतीलाल जी महाराज तथा आपके बीच में अनुशासन के प्रश्न को लेकर मतभेद हो गया। अत पूज्य श्री ने इन्हे सम्प्रदाय का भावी शासक मानने से इन्कार कर दिया। फलत युवाचार्य पद निरस्त कर दिया गया।

ताले खुल गये

मुनि-जीवन उपकारक जीवन होता है। उसके अन्तस्तल मे सेवा की लहरें कल्लोलित होती रहती हैं। श्रद्धेय मुनि श्री भी अपने जीवन मे ऐसे अनेको उपकार कर गये है, उनमे राजकरेडा का भी एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है।

स्थानीय राजाजी ने एक अस्पताल-भवन का निर्माण कराया था। उसे लेकर पंचायत और राजाजी के बीच विवाद खडा हो गया। राजाजी ने भवन पर अपना ताला लगा दिया तो पंचायत ने भी अपना ताला बिठा दिया।

भवन बन्द पडा था। लोकोपकार की एक महान् प्रवृत्ति से जहाँ सेवा स्नेह और प्रेम का वातावरण बनना चाहिए, वहाँ क्लेशपूर्ण वातावरण तैयार होता जा रहा था। मुनि श्री वहाँ पधारे। राजाजी मुनि श्री से प्रभावित थे। उन्होंने मुनि श्री को अधिक ठहरने का आग्रह किया। ठीक अवसर देखकर मुनि श्री ने भी किसी उपकार का आग्रह कर लिया। राजाजी ने कहा—आपका फरमाना होगा, वह उपकार सम्पन्न हो जायगा। इस पर मुनिश्री ने अस्पताल का ताला हटाने को कहा। यद्यपि राजाजी के लिए यह प्रश्न अहं का बना हुआ था, किन्तु मुनिश्री की इच्छा का सम्मान करते हुए अपने अहं को एक तरफ रखकर उन्होंने तुरन्त ताला खोलने का आदेश दे दिया और अस्पताल-भवन जनता को समर्पित कर दिया।

इस तरह राजकरेडा मे जो एक क्लेश की जड थी, वह मूल से काट दी गई। नगर मे शान्ति और प्रेम का साम्राज्य फैल गया।

अभयदान

श्रद्धेय मुनिश्री के हाथो अनेको अभयदान के कार्यक्रम भी सम्पन्न हुए। आकडासादा मे आपके सदुपदेश मे अर्जुन बन्धुओ ने ३९ जीवो को अभयदान प्रदान कर दिया।

अन्य कई जगह देवी-देवताओ के वहाँ होने वाले बलिदानो को भी आपने बन्द कराया।

बारी कदमाल आदि गाँवों मे कुछ ऐसे घर माने जाते थे, जिनमे समाज कोई संबंध नहीं रखता था।

पारिवारिक स्त्रियो पर डायन के कलक थे। जिस परिवार पर ऐसे आक्षेप थे, वे परिवार अत्यन्त दुखी और त्रस्त रहते थे। वे समाज मे निरन्तर अपमानित होते रहते थे।

स्वामीजी ने अपने सद्‌बोध से उक्त गाँवो के उन परिवारो का उद्धार किया। यह उपकार भी किसी अभयदान से कुछ कम नही था।

फूट मिटाई

श्रद्धेय स्वामी जी जहाँ कही पधारते वहाँ समाज मे फूट-तडा आदि होता तो उसे मिटाने का भरसक प्रयास करते।

पडासोली, अडसीपुरा आदि ऐसे मेवाड मे कई गाँव हैं, जहाँ की फूट स्वामी जी के प्रयत्नो से समाप्त हुई।

स्वामी जी की विचारधारा के अनुसार फूट समाज को विनाश की तरफ ले जाने वाला एक पिशाच है। यह जहाँ फैल जाता है, उस समाज का फिर बच रहना सम्भव नही।

श्रमण सघ से अलग

श्रद्धेय स्वामी जी यो तो एकता के प्रबल पक्षधर थे, किन्तु एक समय ऐसा भी आया जब उन्होने श्रमण सघ से त्यागपत्र दे दिया। त्यागपत्र के पीछे कारण माइक 'लाउड स्पीकर' के प्रयोग का बताया गया।

कुछ वर्षों पहले ही लाउडस्पीकर मे धडाधड बोलने वाले मुनिराजो के साथ देहली आदि क्षेत्रो में आपका घनिष्ठ सम्बन्ध रह चुका था। फिर उसी को लेकर त्यागपत्र का कारण समक्ष मे तो नही आया। किन्तु विचारधारा के परिवर्तन के सिद्धान्त को मानते हुए जो कारण बताया गया उसी को तो कहा जा सकता है।

श्रमण सघ से त्यागपत्र देने के बाद आपका लगातार उससे सम्बन्ध विच्छेद रहा।

हर्ष का विषय है कि उन्हीं के मान्य शिष्य श्री हस्तीमल जी महाराज आदि तीन ठाणा पुन श्रमण सघ मे प्रविष्ट हो चुके हैं तथा अभी आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी महाराज के आज्ञानुवर्ती हैं।

विचरण प्रिय

मुनि श्री बड़े विचरण-प्रिय थे। उन्होंने अपने जीवन मे हजारो मील की पदयात्राएँ की। मेवाड, मध्य-भारत, दिल्ली प्रदेश, मारवाड, गुजरात, बम्बई प्रदेश, महाराष्ट्र आदि दूरवर्ती प्रदेशो की यात्राए कर अनेको अनुभव प्राप्त किये।

'दिव्यजीवन' (स्वामी जी के जीवन पर लिखी गई पुस्तक) के अनुसार एक जगह आपको चोरो ने घेर लिया। महाराज के पास जब उन्होंने काष्ठपात्र आदि सामान्य वस्तुएँ देखी तो विस्मित होकर वे नम्रता पूर्वक चले गये।

घुमक्कड जीवन मे कई अनुभव होते है, जिनमें कुछ खट्टे होते हैं तो कुछ मीठे भी।

एक जगह स्वामी जी को ही चोर समझ लिया गया। बात यो हुई कि एक मकान मे किसी वस्तु की याचना करने प्रवेश किया तो भीतर की स्त्री ने "चोर-चोर" कहकर हल्ला किया। पडौसी दौडकर आये किन्तु मुनि श्री को देख चकित हो गये। मुनि जी ने कहा—मैं तो कुछ याचना को आया था।"

जैन मुनि को 'चोर' कहने वाली उस महिला को कई लोगो ने फटकारा। फिर तो वह बहुत दुखी हुई।

अब एक मीठा अनुभव भी सुनिये—स्वामी जी वाघपुरा मे थे। वहाँ एक तेली के यहाँ से चाँदी के कुछ गहने चोरी चले गये। तेली परिवार बडी चिन्ता मे था। उसने सुना कि यहाँ कोई मुनिराज आये हुए हैं। बिचारा तेली वहाँ पहुचा और गिडगिडाने लगा।

मुनिराज क्या कर सकते थे? वे तो धर्मोपदेश देते हैं। उन्होंने कहा—"मद्य-मास आदि पापाचरण का त्याग करो, धर्म की शरण मे जाओ।"

तेली परिवार ने उपदेश को हृदयगम किया। सब को तब अत्यधिक आश्चय हुआ कि तेली के गहनो की पोटली उसके निवास-स्थान पर ही पडी मिल गई।

इस घटना से चतुर्दिक् धर्म के पुण्य-प्रताप की जाहोजलाली फैल गई।

स्वर्गारोहण

उदय के साथ अस्त शब्द जुडा हुआ है, जन्म के साथ मृत्यु भी। श्रद्धेय श्री मांगीलाल जी महाराज अनेको उतार-चढाव के मध्य अपने सयमी जीवन को सुरक्षित रखते हुए वीरशासन की यथाशक्ति सेवा करते रहे।

स० २०२० ज्येष्ठ के शुक्ल पक्ष मे, जब आप सहाडा विराजित थे, आपको अचानक टिटेनस की व्याधि हो गई। हम दो मुनि—सौभाग्य मुनि और मदन मुनि— रायपुर की तरफ से विहारकर पूज्य श्री गुरुदेव की सेवा मे कपासन जा रहे थे। मार्ग मे श्रद्धेय मांगीलाल जी महाराज के व्याधिग्रस्त होने की बात ज्ञात हुई तो सहाडा चले गये। महाराज श्री की व्याधि की भयकरता को देखते हुए वहीं ठहरे। लगभग दिन मे दो बजे महाराज श्री का समाधिपूर्वक देहावसान हो गया।

इस अवसर पर सहाडा सघ ने बडी सूझबूझ तथा तत्परता से काम लिया। अचानक यह परिस्थिति आई थी, फिर भी श्रावक सघ ने यथोचित प्रबन्ध कर अन्तिम समारोह को सफल बनाया।

श्रद्धेय श्री मागीलाल जी महाराज गौरवण और ऊँचाई युक्त एक अच्छे व्यक्तित्व के धनी, उदारमना सत्पुरुष थे। स्वभाव से भद्र और मिलनसार थे। समाज मे रचनात्मक कार्यों के प्रति आपका बडा आग्रह रहा करता था।

प० रत्न श्री हस्तीमल जी महाराज, श्री पुष्कर मुनि जी तथा श्री कन्हैयालाल जी मुनि तीन उनके शिष्य हैं, जो सचरण-विचरण कर उनके गौरव की श्री वृद्धि कर रहे हैं।

□□

सूखी दीवार पर चाहे कोई मुट्ठी भर धूल फेंके या मन भर, वह दीवाल पर नही चिपक कर स्वय ही नीचे गिर जायेगी! क्यो? कारण स्पष्ट है। दीवार मे गीला या चिकनापन नही है।

यदि ससार मे रहते हुए हमारा मन भी इसी प्रकार सूखा (अनासक्त) रहे तो बहुत सघन कर्मबन्धन से अपने आप हम बचते रहेंगे। कर्म-बन्धन का मूल कारण है आसक्ति! राग-द्वेष की परिणति तथा योगो की मोह स्निग्ध स्थिति।

—'अम्बागुरु-सुवचन'

मेवाड़-सम्प्रदाय की साध्वी परम्परा

महासती श्री नगीनाजी

मेवाड़ के साध्वी-समाज के इतिहास को समुज्ज्वल करने वाली प्रधान महासतियो मे 'नगीनाजी' का स्थान महत्त्वपूण है।

ये नन्दूजी महासती जी की सबसे बड़ी शिष्या थी। नन्दूजी अपने युग की महत्त्वपूर्ण साध्वीजी रही होगी। तभी उनके नाम का सिंघाडा कहलाता है। खेद की बात है कि हमे नन्दूजी के विषय मे खोज करने पर भी कोई जानकारी नही मिल सकी।

नन्दूजी के नगीनाजी के अलावा कुन्दनजी और गगाजी इस तरह दो शिष्याएँ और थी। किन्तु उनका परिचय भी अज्ञात है।

नगीनाजी का जो कुछ परिचय मिल पाया, वह इस प्रकार है—

इतिहास रखने की पद्धति का नितान्त अभाव होने के कारण सतियो के विषय मे सामयिक जानकारी मिलना तो नितान्त कठिन है।

नगीनाजी का जन्म कब हुआ, यह सुविदित नही है। किन्तु उनकी एक शिष्या देवकुँवरजी का अवश्य पता चलता है, जिन्होंने वि० स० १९३३ मे तपस्या की थी। महासती नगीनाजी ने वीस वर्ष की आयु मे दीक्षा ली थी। उनके दीक्षा लेने के १०-१२ वर्ष बाद ही देवकुँवरजी उनकी शिष्या हुई होगी। इस आधार पर महासतीजी का जन्म वि० स० १९०० मा १९०२ के आस-पास माना जा सकता है।

इनका जन्मस्थान पोटला था। मोपराजजी पामेचा इनके पिता थे। इनकी माता का नाम गुलाववाई था। तेरह वर्ष की उम्र मे कपासन निवासी मोजीरामजी मारु के छोटे पुत्र पृथ्वीराज जी से इनका ब्याह रच दिया गया। विवाहित जीवन केवल सात वर्ष रहा। पति का देहावसान हो गया।

परम विदुषी महासती जो श्री नन्दूजी के सम्पर्क से नगीनाजी को वैराग्य रस छाया। उन्होने दीक्षा की बात चलाई तो एकमात्र पुत्र धनराज जी तथा उनके काका लोगों ने न केवल कड़ा विरोध किया, प्रत्युत कई कठिन परीषह भी दिये।

नगीनाजी को जब आज्ञा मिलना असमव लगा तो उन्होने अपना जीवन बदल दिया। गृहस्थावस्था मे ही केशो का हाथो से लुंचन करना तथा भिक्षा से आहार लेना प्रारम्भ कर दिया।

नगीनाजी के इन प्रयत्नो से पारिवारिक व्यक्ति बहुत अधिक सख्त हो गए। उन्होंने नगीनाजी को लोहे की जजीरो से बांधकर एक कमरे मे बन्द कर दिया और ऊपर बडा ताला लगा दिया। नगीनाजी भीतर धर्म ध्यान की आराधना मे लगे थे। कहते हैं, जजीरो के बन्धन तडातड टूट गये और द्वार का ताला भी टूट गया।

अनायास ही ऐसा हो जाना, किसी बहुत बड़े चमत्कार से कम नहीं था। पूरा गाँव यह दृश्य देखकर दग रह गया। धर्मप्रेमी सज्जनो ने पारिवारिक-जनो को समझाया कि आज्ञा नहीं देने से तुम्हारा भी कुछ अनिष्ट हो सकता है। अन्त मे सभी सहमत हुए और देलवाडा मे नगीनाजी की दीक्षा सम्पन्न हुई।

श्री नगीनाजी का शास्त्रीय ज्ञान बढ़ा-चढ़ा था। इसका प्रमाण यह है कि आमेट मे शुद्ध स्थानकवासी जैन धर्म की श्रद्धा से हटे चालीस परिवारो को पुन श्रद्धा में स्थापित किया। ऐसा भी प्रमाण मिलता है कि सरदारगढ़ मे,

तेली परिवार ने उपदेश को हृदयगम किया। सब को तब अत्यधिक आश्चय हुआ कि तेली के गहनो की पोटली उसके निवास-स्थान पर ही पडी मिल गई।

इस घटना से चतुर्दिक् धर्म के पुण्य-प्रताप की जाहोजलाली फैल गई।

स्वर्गारोहण

उदय के साथ अस्त शब्द जुडा हुआ है, जन्म के साथ मृत्यु भी। श्रद्धेय श्री मांगीलाल जी महाराज अनेकों उतार-चढाव के मध्य अपने सयमी जीवन को सुरक्षित रखते हुए वीरशासन की यथाशक्ति सेवा करते रहे।

स० २०२० ज्येष्ठ के शुक्ल पक्ष मे, जब आप सहाडा विराजित थे, आपको अचानक टिटेनस की व्याधि हो गई। हम दो मुनि—सौभाग्य मुनि और मदन मुनि—रायपुर की तरफ से विहारकर पूज्य श्री गुरुदेव की सेवा मे कपासन जा रहे थे। मार्ग मे श्रद्धेय मांगीलाल जी महाराज के व्याधिग्रस्त होने की बात ज्ञात हुई तो सहाडा चले गये। महाराज श्री की व्याधि की भयकरता को देखते हुए वहीं ठहरे। लगभग दिन मे दो बजे महाराज श्री का समाधिपूर्वक देहावसान हो गया।

इस अवसर पर सहाडा सघ ने बडी सूझबूझ तथा तत्परता से काम लिया। अचानक यह परिस्थिति आई थी, फिर भी श्रावक सघ ने यथोचित प्रबन्ध कर अन्तिम समारोह को सफल बनाया।

श्रद्धेय श्री मागीलाल जी महाराज गौरवण और ऊँचाई युक्त एक अच्छे व्यक्तित्व के धनी, उदारमना सत्पुरुष थे। स्वभाव से भद्र और मिलनसार थे। समाज मे रचनात्मक कार्यों के प्रति आपका बडा आग्रह रहा करता था।

प० रत्न श्री हस्तीमल जी महाराज, श्री पुष्कर मुनि जी तथा श्री कन्हैयालाल जी मुनि तीन उनके शिष्य हैं, जो सचरण-विचरण कर उनके गौरव की श्री वृद्धि कर रहे हैं।

□□

सूखी दीवार पर चाहे कोई मुट्ठी भर धूल फंके या मन भर, वह दीवाल पर नही चिपक कर स्वय ही नीचे गिर जायेगी। क्यो? कारण स्पष्ट है। दीवार मे गीला या चिकनापन नही है।

यदि ससार मे रहते हुए हमारा मन भी इसी प्रकार सूखा (अनासक्त) रहे तो बहुत सघन कर्मबन्धन से अपने आप हम बचते रहेंगे। कर्म-बन्धन का मूल कारण है आसक्ति। राग-द्वेष की परिणति तथा योगो की मोह स्निग्ध स्थिति।

—'अम्बागुरु-सुवचन'

मेवाड़-सम्प्रदाय की साध्वी परम्परा

महासती श्री नगीनाजी

मेवाड के साध्वी-समाज के इतिहास को समुज्ज्वल करने वाली प्रधान महासतियो मे 'नगीनाजी' का स्थान महत्वपूर्ण है।

ये नन्दूजी महासती जी की सबसे बडी शिष्या थीं। नन्दूजी अपने युग की महत्वपूर्ण साध्वीजी रही होगी। तभी उनके नाम का सिंघाडा कहलाता है। खेद की बात है कि हमे नन्दूजी के विषय मे खोज करने पर भी कोई जानकारी नही मिल सकी।

नन्दूजी के नगीनाजी के अलावा कुन्दनजी और गगाजी इस तरह दो शिष्याएँ और थी। किन्तु उनका परिचय भी अज्ञात है।

नगीनाजी का जो कुछ परिचय मिल पाया, वह इस प्रकार है—

इतिहास रखने की पद्धति का नितान्त अभाव होने के कारण सतियो के विषय मे सामयिक जानकारी मिलना तो नितान्त कठिन है।

नगीनाजी का जन्म कब हुआ, यह सुविदित नही है। किन्तु उनकी एक शिष्या देवकुँवरजी का अवश्य पता चलता है, जिन्होंने वि० स० १६३३ मे तपस्या की थी। महासती नगीनाजी ने बीस वष की आयु मे दीक्षा ली थी। उनके दीक्षा लेने के १०-१२ वष बाद ही देवकुँवरजी उनकी शिष्या हुई होगी। इस आधार पर महासतीजी का जन्म वि० स० १६०० या १६०२ के आस-पास माना जा सकता है।

इनका जन्मस्थान पोटला था। भोपराजजी पामेचा इनके पिता थे। इनकी माता का नाम गुलाबबाई था। तेरह वष की उम्र मे कपासन निवासी मोजीरामजी मारु के छोटे पुत्र पृथ्वीराज जी से इनका ब्याह रच दिया गया। विवाहित जीवन केवल सात वर्ष रहा। पति का देहावसान हो गया।

परम विदुषी महासती जी श्री नन्दूजी के सम्पर्क से नगीनाजी को वैराग्य रस छाया। उन्होंने दीक्षा की बात चलाई तो एकमात्र पुत्र धनराज जी तथा उनके काका लोगो ने न केवल कडा विरोध किया, प्रत्युत कई कठिन परीषह भी दिये।

नगीनाजी को जब आज्ञा मिलना असभव लगा तो उन्होने अपना जीवन बदल दिया। गृहस्थावस्था में ही केशो का हाथो से लुंचन करना तथा भिक्षा से आहार लेना प्रारम्भ कर दिया।

नगीनाजी के इन प्रयत्नो से पारिवारिक व्यक्ति बहुत अधिक सख्त हो गए। उन्होने नगीनाजी को लोहे की जजीरो से बाँधकर एक कमरे मे बन्द कर दिया और ऊपर बडा ताला लगा दिया। नगीनाजी भीतर धर्म ध्यान की आराधना मे लगे थे। कहते है, जजीरो के बन्धन तडातड टूट गये और द्वार का ताला भी टूट गया।

अनायास ही ऐसा हो जाना, किसी बहुत बडे चमत्कार से कम नहीं था। पूरा गाँव यह दृश्य देखकर दग रह गया। धमप्रेमी सज्जनो ने पारिवारिक-जनों को समझाया कि आज्ञा नहीं देने से तुम्हारा भी कुछ अनिष्ट हो सकता है। अन्त मे सभी सहमत हुए और देलवाडा मे नगीनाजी की दीक्षा सम्पन्न हुई।

श्री नगीनाजी का शास्त्रीय ज्ञान बढा-चढा था। इसका प्रमाण यह है कि आमेट मे शुद्ध स्थानकवासी जैन धर्म की श्रद्धा से हटे चालीस परिवारो को पुन श्रद्धा मे स्थापित किया। ऐसा भी प्रमाण मिलता है कि सरदारगढ में,

जहाँ उनका स्वर्गवास हुआ, स्वर्गवास से एक दिन पहले तक तेरापंथियो से चर्चा मे वे लगे। इससे उनके श्रुताभ्यास का विस्तृत और गहन होना पाया जाता है।

नगीनाजी के कई शिष्याएँ थी। उनमे चन्दूजी, मगनाजी, गेंदकुँवरजी, ककूजी, प्याराजी, फूलकुँवरजी, सुन्दरजी, देवकुवरजी और सरेकुवरजी के नाम ज्ञात हुए हैं। चन्दूजी नगीनाजी की बडी शिष्या थी, जिनके इन्द्राजी और वरदूजी नामक दो शिष्याएँ रही।

नगीनाजी के शिष्या-परिवार मे श्री मगनाजी, प्याराजी, ककूजी, देवकुँवरजी, इन्द्राजी (चन्दूजी की शिष्या) अच्छी तपस्विनी सतियाँ थी।

श्री रगलालजी तातेड ने १९३७ मे एक ढाल लिखी, जिसमे इन महासतियो की तपस्या का थोडा परिचय मिलता है। किन्तु उससे यह स्पष्ट नही होता कि किन-किन सतीजी ने कौन कौन-सा तप किया। उन्होंने समुच्चय लिख दिया। किन्तु तप इनमे से ही किसी ने किया, यह तो निश्चित है।

स० १९३३ के कपासन चातुर्मास मे ७५ दिनो का तप हुआ। २४८ छुटकर खद हुए। कहते हैं, केसर की वर्षा हुई।

स० १९३४ मे उदयपुर मे ३४ और ३५ दिनो की तपश्चर्या हुई।

सादडी (मेवाड), पाँच माह और ग्यारह दिनो का दीर्घ तप हुआ। १७५ मूक पशु वलि से बचाये गये। राजाजी ने कार्तिक मास मे जीव-हिंसा के त्याग किये।

स० १९३६ मे खेरोदा मे ६६ दिनो का दीर्घतप हुआ। १२५ खद हुए।

स० १९३७ मे आमेट मे ६१, ४४ तथा ३३ दिनो के तप हुए।

स० १९३८ मे कपासन मे ४९ दिनो का तप हुआ। एक सिंघाडा आकोला था। वहाँ ४६ दिनो का तप हुआ

स० १९३९ मे रतलाम मे ३ माह, ८८ दिन तथा ३३ दिन के वडे तप हुए।

स० १९४१ सलोदा मे ३१ दिन का तप हुआ। इसी तरह उदयपुर चातुर्मास में ३३ दिन की तपस्या हुई। सनवाड और ऊँठाला चातुर्मास मे भी तपाराधनाएं हुई।

उपयुक्त सादडी चातुर्मास के अवसर पर एक सती ने १३ बोल का अभिग्रह किया। उनमे कुमारिका कन्या, खुलेवाल, काँसी (एक धातु) का कटोरा, सच्चा मोती, कोरा वस्त्र, भाल पर विन्दी आदि बोल थे। श्री गोटीलालजी मेहता को स्वप्न मे यह सब ज्ञात हुआ तब अभिग्रह फला।

महासती इन्द्राजी ने सनवाड में अभिग्रह किया कि विवाह के अवसर पर भेप जिसके शरीर पर हो उसके हाथो आहार लेना। कई दिनो के बाद यह अभिग्रह भोपाल सागर वाले कमलचन्दजी बापना के द्वारा फला। उन्होंने जमीकन्द का त्याग किया।

महासती इन्द्राजी अभिग्रह मे सर्वाधिक रुचि रखती थीं। उन्होंने पलाना में ४५ दिन की तपस्या के पारणे पर 'काँटे' का अभिग्रह लिया। इसी तरह रायपुर मे मतीजा मेवे की खिचडी बहराए, ऐसा अभिग्रह लिया। आकोला मे मूँछ के बाल का अभिग्रह लिया।

तप ही जिनके जीवन का अग हो, ऐसी तपस्वी विभूतियाँ कई विचित्रताएँ लेकर चलती हैं, जिन्हें देख-सुनकर सामान्य व्यक्ति आश्चर्य मे डूब जाया करता है।

महासती श्री धन्नाजी

पाठक श्री नगीनाजी की शिष्याओं में एक नाम ककूजी का पढ़ चुके हैं। धन्नाजी उन्हीं की शिष्या हैं। यो ककूजी के चार शिष्याएँ थीं—धन्नाजी, सुहागाजी, सुन्दरजी और सोहनाजी।

धन्नाजी प्रथम शिष्या थीं। ये खारोलवशी भूरजी और भगवतबाई की सतान थीं। इनका जन्मस्थान रायपुर है। स० १९४८ के लगभग इनका जन्म हुआ था। बहुत छोटी नौ वर्ष की उम्र में महासती श्री ककूजी के सम्पर्क से इन्हें वैराग्य हुआ। स० १९५७ वैशाख शुक्ला तृतीया (अखातीज) के दिन कोशीथल में इनकी दीक्षा सम्पन्न हुई।

श्री धन्नाजी जिन-शास्त्रो की अच्छी ज्ञाता, सेवा-विनय-परायणा महासतीजी थी। अनेको वर्ष मेवाड मे विचरण करके ये अन्त के कुछ वर्ष सनवाड मे स्थानापन्न रहे। स० २०२६ मे इनका स्वर्गवास हुआ।

श्री रामाजी, मानाजी, चतरकुँवरजी, सोहनकुँवरजी, सेणाजी इनकी शिष्याएँ हुई। प्रारम्भ की दो महासतियो का स्वर्गवास हो चुका है। शेष तीन विद्यमान हैं। महासती सोहनकुँवरजी की माताजी ने भी दीक्षा ली। उनका स्वर्गवास हो गया। सोहनकुँवरजी की शिष्याएँ श्री नाथकुँवरजी (श्री सौभाग्य मुनिजी की माताजी), श्री उगमवतीजी (श्री सौभाग्य मुनिजी की बहन) और कमलाजी अभी विद्यमान हैं।

महासतीजी मोडाजी पेमाजी आदि

महासती ककूजी की एक शिष्या श्री सुहागाजी थी। मोडाजी उन्ही की शिष्या हैं। नकूम के सहलोत गोत्र मे इनका जन्म हुआ और बडी सादडी मे इनका विवाह हुआ। कुछ वर्षों मे ही ये वैधव्य पा गई। इनकी दीक्षा बडी सादडी मे ही हुई, उस समय बीस वर्ष की उम्र थी।

महासती मोडाजी भद्रपरिणामी, सरल, सात्विक, आचारनिष्ठ महासती जी थीं। सवत् २००३ ज्येष्ठ कृष्णा ११ को हुणुतिया (जिला—अजमेर) मे इनका स्वर्गवास हुआ।

पेपाजी इन्ही की प्रथम शिष्या थी। रतनकुँवरजी, खोडाजी, लेरकुँवरजी, राधाजी, रतनजी ये मोडाजी की कुल शिष्याएँ हुई।

पेपाजी थामला के श्री ताराचन्दजी सलूबाई की सतान थीं। इन्हें ११ वर्ष की उम्र मे नाथद्वारा निवासी नन्दलालजी कोठारी के पुत्र कन्हैयालालजी के साथ विवाहित कर दिया था। कन्हैयालालजी केवल तीन माह जिए।

महासतीजी श्री मोडाजी के सम्पर्क से इन्हें वैराग्योदय हुआ। स० १९८३ मे बडी सादडी मे इनकी दीक्षा सम्पन्न हुई। दीक्षा रतनलाल जी पामेचा के घर से हुई।

श्री पेपाजी सात्विक प्रकृति की थोकडों का ज्ञान रखने वाली तप रुचि वाली महासतीजी थी। इन्होने जावद मे २५ दिन की तपस्या पर पापड का अभिग्रह किया।

स० २०२६ वैशाख सुदी ११ के दिन पलाना मे इनका स्वर्गवास हुआ।

मोडाजी की शिष्याओं मे से अभी श्री रतनकुँवरजी, श्री लहरकुँवरजी दो महासतियाँ विद्यमान हैं।

ससार कैसा अद्भुत जेल खाना है, इसमे बन्दी मनुष्य स्वय को बन्दी न मानकर मुक्त मानता है।

ससार का नाटक विचित्र है। यहाँ पर प्राणी अभिनेता के रूप मे काम करता है, किन्तु वह स्वय को अभिनेता न मानकर 'चरित्र नायक' ही मान बैठता है। यही सबसे बडी भूल है।

—'अम्बागुरु-सुवचन'

१५
प्रवर्तिनी श्री सरूपांजी और उनका परिवार

□

मेवाड से यतिवाद के प्रचण्ड प्रभाव को उखाड कर फेंकने और शुद्ध अध्यात्मवादी साधुमार्ग का घर-घर प्रचार करने के कार्य मे जहाँ घोर तपस्वी, उत्कृष्ट आचारवान, धैर्यशील उग्र विहारी मुनिराजो का प्रमुख हाथ रहा वहाँ, इस प्रदेश मे विचरण करने वाली महासतियो का भी कम सहयोग नही था।

मुनिराजो ही नही महासतियो ने भी उग्र तपश्चरण करके और अध्यात्मवादी शुद्ध जीवन का परिचय देकर जनमानस को जड़वाद से बाहर खींचा।

मेवाड मे आज जो स्थानकवासी समाज लहलहा रहा है। इसका श्रेय इधर की शानदार महासती परम्परा को भी है।

मेवाड की साध्वी परम्परा में मुख्यतया दो धाराएँ बहुत दूर से हैं।

एक धारा की प्रतिनिधि महासती श्री नगीना जी और उनकी परम्परा का परिचय जो मिल पाया अन्यत्र दिया जा चुका है। इस निवन्ध मे हम दूसरी धारा, जिसकी अग्रगण्या महासतीजी श्री सरूपांजी हैं उसका परिचय दे रहे हैं।

प्रवर्तिनी श्री सरूपांजी महाराज

पूज्य श्री एकलिंगदासजी महाराज को आचार्य पद प्रदान किया उसके बाद साध्वी समाज ने मिलकर श्री सरूपा जी को सुयोग्य समझकर प्रवर्तिनी का पद समर्पित किया। श्री सरूपा जी, निश्चय ही उस समय के साध्वी मण्डल मे श्रेष्ठ होगी तभी यह साध्वी समाज का श्रेष्ठ पद उन्हे दिया गया।

खेद की बात

वस्तुत यह बड़े खेद की बात है कि परम विदुषी, अग्रगण्या तथा प्रवर्तिनी पद विभूषिता उस साध्वी रत्न का हम इससे अधिक कुछ भी परिचय देने में समर्थ नही हैं। हमने बहुत कुछ जानने का प्रयास किया। उस परम्परा की महासतियों से और अन्य वृद्धो से भी उनका परिचय पाना चाहा किन्तु इससे अधिक कुछ भी परिचय नही मिल सका।

शिष्याएँ

श्री सरूपा जी महाराज के कई शिष्याएँ थी। उनमे चम्पाजी, सलेकुँवरजी, लेरकुँवरजी, हगामाजी और सरेकुँवरजी मुख्य थी। सरेकुँवरजी आकोला के थे।

कस्तूरांजी और उनका सिंघाडा

श्री कस्तूराजी की केवल इससे अधिक कोई जानकारी नही कि वे एक तपस्विनी थी। उन्होने रायपुर मे इकवीस दिन, धासा मे छब्बीस दिन, देलवाडा मे तेरह दिन आकोला मे उन्नीस की तपश्चर्या की थी। देवगढ मे वेले वेले पारणे किये। परदेशी तप किया और मोलेला मे इगतालीस दिन का दीर्घ तप किया। सरदारगढ़ मे इगतीस दिन का तप किया। इनका जन्मस्थान "मोलेला" था तथा ससुराल नाथद्वारा में था।

शिष्याएँ और प्रशिष्याए

घोर तपस्विनी परम विदुषी महासतीजी श्री कस्तूरा जी की शिष्याओ मे फूलकुंवरजी प्रधान थे।

फूलकुंवरजी की शिष्या परम तेजस्वी महासतीजी श्री शृ गार कुंवरजी थीं।

श्री शृ गार कुवरजी

श्री शृ गार कुंवरजी मेवाड मे सणगारा जी के नाम से प्रसिद्ध थी।

पोटला के ओसवशीय सियाल परिवार से प्रव्रजित हुईं, महासती सिणगारा जी, साध्वी समाज मे सिंहनी जैसी तेजस्वी थी। शास्त्रीय ज्ञान की तो मानो भडार ही थी। श्री सणगाराजी का व्याख्यान, एक ओजस्वी व्याख्यान था। मेवाड का तत्कालीन जैन समाज, इनसे बडा प्रभावित था।

पूज्य श्री एकलिंगदासजी महाराज को स्वर्गवास के वाद मेवाड मे जो भिन्नता आई और उससे जो विशृ खलता पैदा हुई, उसे मिटाने का इन्होंने बडा कडा प्रयत्न किया।

पूज्य श्री मोतीलालजी महाराज आचार्य बनने को तैयार नही थे। प्राय सभी प्रयत्न करके थक गये अन्त मे सणगाराजी ने महाराज को मनाने का बीडा उठाया।

उन्होंने पूज्य श्री मोतीलालजी महाराज को एक वाक्य कहा—"पूत कपूत होते हैं तव वाप की पगडी खूंटी पर टँगी रहती है" बस यह एक वाक्य ही बहुत था। पूज्य श्री ने अपना आग्रह छोड दिया।

महासती सणगारा जी समयज्ञ और प्रभावशाली महासती थी इनके अनेक शिष्याएँ हुई। कुछ का परिचय निम्नानुसार है—

दाखाजी (सहाडा के), क्षमकूजी (पोटला के), सोहन कुंवरजी (नाई के), मदन कुंवरजी। हरकूजी (भीम के) राधाजी, राजकुंवरजी (ओडण के) पान कुंवरजी (नाथद्वारा के) वरदूजी, वलावरजी, किशन कुंवरजी (नाई के) मगनाजी (राज करेडा के) आदि। सभी महासतीजी अच्छे क्रिया पात्र तथा शान्त स्वभावी थे किन्तु खेद का विषय है कि इतने बड़े शिष्या परिवार मे से आज कोई उपलब्ध नहीं है और न इस परम्परा में कोई साध्वी जी ही हैं।

जडावाजी वरदूजी का परिवार

एक महासतीजी थे जडाव कुंवरजी। ये इन्ही सिंघाडो मे से किसी एक कुल के होंगे, इनका कोई परिचय उपलब्ध नहीं है। उनकी शिष्या "वरदू जी" थे।

महासती वरदूजी

महासती वरदूजी उदयपुर के थे। पारिवारिक परिचय ज्ञात नही। कव सयम लिया, कितने वर्ष सयम पाला तथा स्वर्गवास का समय क्या था इस विषय में कोई जानकारी नहीं मिली। जो जानकारी मिली' उसके अनुसार ज्ञात हुआ कि वरदूजी महाराज सरल स्वभावी, सयमप्रिय, तपस्वीनी महासतीजी थी। इन्होंने अपने जीवन-काल मे ग्यारह अठाइयाँ कीं, काली राणी का तप किया, एक लडी पूरी की। बेले बेले पारणे किये। पारणें में आयबिल करते थे।

स्वर्गवास सरदारगढ मे हुआ। स्वर्गवास से पूर्व, सजा-सजाया हाथी देखा और उसी क्षण उनका स्वर्गवास हो गया।

स्वर्गोत्सव के लिये मुख वस्त्रिका उदयपुर से "रजत" की बनकर आई वह और सरदारगढ ठाकुर साहव ने जो चद्दर ओढ़ाई ये दोनो वस्तुएँ आग मे नहीं जलीं। ज्यो की त्यो पाई गईं ऐसा कहा जाता है।

श्री वरदूजी महाराज के कई शिष्याएँ थीं। केर कुंवरजी, नगीनाजी, गेंद कुंवरजी, हगामाजी आदि।

परम विदुषी महासतीजी श्री के'र कुंवरजी

विदुषी महासतीजी श्री केशर कुंवरजी, जो मेवाड भर में के'र कुंवरजी महाराज के नाम से प्रसिद्ध है। श्री वरदूजी महाराज को वडी शिष्या है। रेलमगरा के खानदानी मेहता परिवार मे सवत् १९४० में जन्म पाये। पिता का
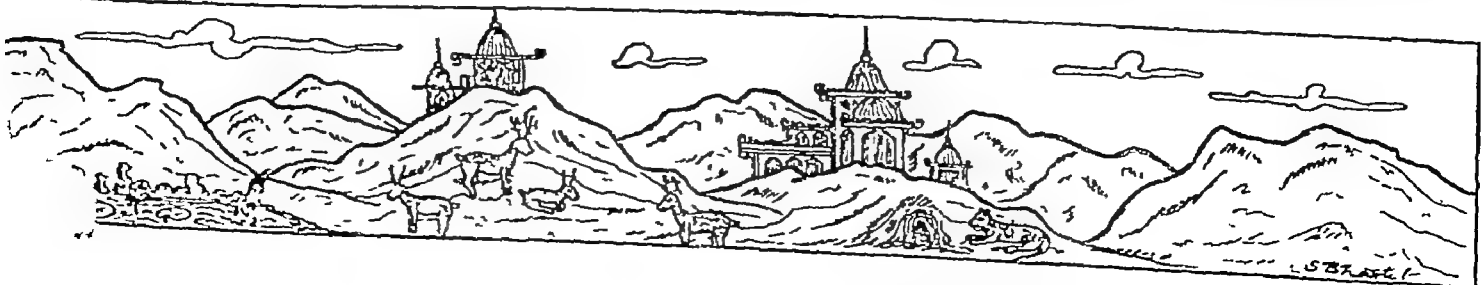
नाम धूकलचन्दजी था, और माता नवलबाई। योग्यावस्था मे भूपालसागर इनका विवाह हुआ। किन्तु दाम्पत्य-जीवन अधिक नही टिका।

परम विदुषी महासतीजी श्री वरदूजी के सम्पर्क से वैराग्य ज्योति जगी। वि सवत् १९५७ मे माघ शुक्ला पचमी नामक शुभ दिन मे इनकी दीक्षा सम्पन्न हुई।

कनक के समान दैदीप्यमान देह राशि से सम्पन्न, महासती के'र कुवरजी महाराज, बड़े मिलनसार, उदार हृदय क्रियापात्र और मिष्ट भाषी थे।

मेवाड के अन्तवर्ति क्षेत्रो मे इनका बडा गहरा प्रचार था। हजारो भाई-बहन आज भी महासतीजी को बडी श्रद्धा के साथ स्मृति करते हैं।

पूज्य आचार्य श्री मोतीलालजी महाराज की सुदृढ आज्ञानुवर्तिनी महासती के'र कुंवरजी समाज के व्यापक हित को लक्ष्य मे रखकर उचित निर्णय करती थी।

विशाल शास्त्रीय ज्ञान से सम्पन्न महासतीजी मे ज्ञान प्रचार की बडी लगन थी। उन्होंने सैंकडो बहनो को बोल थोकडो का गम्भीर ज्ञान प्रदान किया।

पिछले कई वर्षों तक शारीरिक कारण से 'रायपुर' मे स्थानापन्न रहे। रायपुर के धर्मप्रिय भाई-बहनो ने बडे उत्कृष्ट भावो से सेवा-साधी। महासतीजी के मृदुल स्वभाव से उनकी लोकप्रियता इतनी फैली कि बच्चा-बच्चा आज भी उन्हे याद करता है।

महासतीजी अधिकतर ज्ञान-ध्यान मे रत रहा करती थी।

वि सवत् २०११ ज्येष्ठ कृष्णा चौथ शुक्रवार को देवलोक हुए। स्वर्गवास होने से पूर्व सथारा धारण कर लिया था।

इनके नौ शिष्याएँ हुईं। कचन कुंवरजी, दाखाजी, सौभाग्य कुंवरजी, सज्जन कुंवरजी, रूप कुंवरजी, प्रेमकुंवर जी, मोहन कुंवरजी, प्रताप कुंवरजी।

कञ्चन कुंवरजी

कञ्चन कुंवरजी, भद्र परिणामी महासती थे, उनकी शिष्या चांद कुंवरजी अभी पोटला साखोला मे विद्यमान है। दाखाजी की कोई जानकारी नही मिल पाई। महासतीजी श्री सौभाग्य कुंवरजी अभी सकारण रायपुर विराजित है। सरल स्वभावी श्री सौभाग कुंवरजी भीडर के हैं।

महासती रूपकुंवरजी

देवरिया मे पूज्यश्री के नेतृत्व मे तीन दीक्षाएँ एक साथ हुई, महासती रूप कुंवरजी महासती सज्जन कुवरजी, महासती प्रेमवती जी।

श्री रूपकुंवरजी देवरिया के ही कोणरी परिवार के हैं। वाणी से मधुर एव स्वभाव से सरल है। शास्त्रो का ज्ञानाभ्यास भी किया, व्याख्यान की भी अच्छी कला है। इनके दो शिष्याएँ हैं, श्री रतन कुवरजी ये चिकारडा के हैं। और दूसरी शिष्या लाभवती है ये टाटगढ के हैं। इनमे तपश्चर्या का विशेष गुण है।

महासती सज्जन कुंवरजी

इन्होंने कोशीथल मे पूज्य गुरुदेव श्री के सान्निध्य मे महासतीजी श्री केर कुंवरजी के पास सयम ग्रहण किया। साथ मे अपनी पुत्री कुमारी प्रेमवती को भी सयम के लिये प्रेरित किया और उसे सयम दिलाया।

खाखरमाला के श्री गणेशलालजी दक तथा चाँदबाई की सतान सज्जनजी कोशीथल विवाहित किये गये।

वैराग्य की तीव्र भावना से प्रेरित हो, सयम धारण किया और अन्त तक उसे निभाया।

स्वभाव से खरे, महासती सज्जन कुंवरजी बड़े जागरूक विचारों के थे।

सवत् २०२४ दीपावली की रात्रि में स्वर्गवास पाये, उससे पूर्व त्याग प्रत्याख्यान की स्थिति मे थे ।

प्रेमवतीजी जो ससार पक्ष मे इनकी पुत्री थी, वही इनकी शिष्या भी बनी ।

महासती प्रेमवती

पाठक जान ही गये हैं कि प्रेमवती जी कोशीथल के पोखरणा गोत्रीय है। कुमारिका वय मे अपनी माता के साथ ही सवत् १९९६ मे देवरिया मे सयम ग्रहण किया ।

बाल्यावस्था मे सयम ग्रहण करने से इन्हे अपना ज्ञानाभ्यास बढाने का अच्छा अवसर मिला ।

प्रवचन पटुता इनकी अपनी एक अलग विशेषता है ।

जिधर भी विचरते हैं व्याख्यान श्रवण हेतु, जैन-अजैन बडी सख्या मे उमड पडते हैं। वाणी मे ओज और माधुय का एक विलक्षण मिश्रण है ।

समाज सुधार एव प्रगतिशील कार्यक्रमो मे महासतीजी सदा आगे रहती हैं। भगवान महावीर के पच्चीस सौ वीं निर्वाण जयन्ति वर्ष के उपलक्ष मे गुरुदेव श्री ने पच्चीस सौ व्यक्तियो को मद्य मास छुडाने की योजना रक्खी तो, सतीजी ने सैकडो व्यक्तियो को त्याग करा दिये ।

जीव दया के क्षेत्र मे भी ये लगातार कार्य करते रहते हैं ।

मेवाड का जैन समाज, महासती प्रेमवतीजी से बडा प्रभावित है ।

सतीजी प्रगतिशील मधुर वक्तृ तथा ओजस्वी है ।

श्री दमयन्तिजी, (सलोदा वाले) इनकी प्रथम शिष्या है, जो सेवा गुण परायण है। श्री हीराजी (मदार वाले) राजकुंवरजी (देवगढ वाले) इनकी शिष्याएँ हैं ।

महासती श्री मोहन कुंवरजी वल्लभनगर वाले तथा महासतीजी श्री प्रतापकुंवरजी घासावाले श्री केर कुंवरजी महाराज की ही शिष्याएँ हैं। श्री प्रताप कुंवरजी मे सेवा का विशेष गुण है ।

□□

एक अज्ञानी मनुष्य मरते समय दीनता पूर्वक आँखें गीली करके कह रहा था—हाय ! मेरे पीछे मेरे इन प्यारे बाल-बच्चो का क्या हाल होगा ?

ज्ञानी सत ने उसे समझाया—मूढ ! तू क्यो इनकी चिंता मे दुखी हो रहा है। इनका हाल इनके भाग्य पर छोड और अपनी चिंता कर कि अगले जन्म मे तेरे हाल अच्छे हो ! अगला जन्म सुधारने की चिंता कर न कि पीछे वालो की !

—'अम्बागुरु-सुवचन

नाम धूकलचन्दजी था, और माता नवलबाई। योग्यावस्था मे भूपालसागर इनका विवाह हुआ। किन्तु दाम्पत्य-जीवन अधिक नही टिका।

परम विदुषी महासतीजी श्री वरदूजी के सम्पर्क से वैराग्य ज्योति जगी। वि मवत् १६५७ मे माघ शुक्ला पचमी नामक शुभ दिन मे इनकी दीक्षा सम्पन्न हुई।

कनक के समान देदीप्यमान देह राशि से सम्पन्न, महासती के'र कुवरजी महाराज, वडे मिलनसार, उदार हृदय क्रियापात्र और मिष्ट भाषी थे।

मेवाड के अन्तर्वर्ति क्षेत्रो मे इनका बडा गहरा प्रचार था। हजारो भाई-वहन आज भी महासतीजी को वडी श्रद्धा के साथ स्मृति करते हैं।

पूज्य आचार्य श्री मोतीलालजी महाराज की सुदृढ आज्ञानुवर्तिनी महासती के'र कुंवरजी समाज के व्यापक हित को लक्ष्य मे रखकर उचित निर्णय करती थी।

विशाल शास्त्रीय ज्ञान से सम्पन्न महासतीजी मे ज्ञान प्रचार की वडी लगन थी। उन्होंने सैकडो बहनो को बोल थोकडो का गम्भीर ज्ञान प्रदान किया।

पिछले कई वर्षों तक शारीरिक कारण से 'रायपुर' मे स्थानापन्न रहे। रायपुर के धर्मप्रिय भाई-बहनो ने बडे उत्कृष्ट भावो से सेवा-साधी। महासतीजी के मृदुल स्वभाव से उनकी लोकप्रियता इतनी फैली कि बच्चा-बच्चा आज भी उन्हें याद करता है।

महासतीजी अधिकतर ज्ञान-ध्यान मे रत रहा करती थी।

वि सवत् २०११ ज्येष्ठ कृष्णा चौथ शुक्रवार को देवलोक हुए। स्वर्गवास होने से पूर्व सथारा धारण कर लिया था।

इनके नौ शिष्याएँ हुई। कचन कुंवरजी, दाखाजी, सौभाग्य कुंवरजी, सज्जन कुंवरजी, रूप कुंवरजी, प्रेमकुंवर जी, मोहन कुंवरजी, प्रताप कुंवरजी।

कञ्चन कुंवरजी

कञ्चन कुंवरजी, भद्र परिणामी महासती थे, उनकी शिष्या चांद कुंवरजी अभी पोटला लाखोला मे विद्यमान है। दाखाजी की कोई जानकारी नही मिल पाई। महासतीजी श्री सौभाग्य कुंवरजी अभी सकारण रायपुर विराजित है। सरल स्वभावी श्री सौभाग कुंवरजी भीडर के हैं।

महासती रूपकुंवरजी

देवरिया मे पूज्यश्री के नेतृत्व मे तीन दीक्षाएँ एक साथ हुई, महासती रूप कुंवरजी महासती सज्जन कुंवरजी, महासती प्रेमवती जी।

श्री रूपकुंवरजी देवरिया के ही कोठारी परिवार के हैं। वाणी से मधुर एव स्वभाव से सरल है। शास्त्रो का ज्ञानाभ्यास भी किया, व्याख्यान की भी अच्छी कला है। इनके दो शिष्याएँ हैं, श्री रतन कुंवरजी ये चिकारडा के हैं। और दूसरी शिष्या लाभवती है ये टाटगढ़ के हैं। इनमे तपश्चर्या का विशेष गुण है।

महासती सज्जन कुंवरजी

इन्होंने कोशीथल मे पूज्य गुरुदेव श्री के सान्निध्य मे महासतीजी श्री केर कुंवरजी के पास सयम ग्रहण किया। साथ मे अपनी पुत्री कुमारी प्रेमवती को भी सयम के लिये प्रेरित किया और उसे सयम दिलाया।

खाखरमाला के श्री गणेशलालजी ढक तथा चाँदबाई की सतान सज्जनजी कोशीथल विवाहित किये गये।

वैराग्य की तीव्र भावना से प्रेरित हो, सयम धारण किया और अन्त तक उसे निभाया।

स्वभाव से खरे, महासती सज्जन कुंवरजी बडे जागरूक विचारो के थे।

संवत् २०२४ दीपावली की रात्रि में स्वर्गवास पाये, उससे पूर्व त्याग प्रत्याख्यान की स्थिति मे थे ।
प्रेमवतीजी जो ससार पक्ष मे इनकी पुत्री थी, वही इनकी शिष्या भी बनी ।

महासती प्रेमवती

पाठक जान ही गये हैं कि प्रेमवती जी कोशीथल के पोखरणा गोत्रीय है । कुमारिका वय मे अपनी माता के साथ ही सवत् १६६६ मे देवरिया मे सयम ग्रहण किया ।

बाल्यावस्था मे सयम ग्रहण करने से इन्हे अपना ज्ञानाभ्यास बढाने का अच्छा अवसर मिला ।

प्रवचन पटुता इनकी अपनी एक अलग विशेषता है ।

जिधर भी विचरते है व्याख्यान श्रवण हेतु, जैन-अजैन बडी सख्या मे उमड पडते हैं । वाणी मे ओज और माधुर्य का एक विलक्षण मिश्रण है ।

समाज सुधार एव प्रगतिशील कार्यक्रमो मे महासतीजी सदा आगे रहती हैं । भगवान महावीर के पच्चीस सौ वी निर्वाण जयन्ति वर्ष के उपलक्ष मे गुरुदेव श्री ने पच्चीस सौ व्यक्तियो को मद्य मास छुडाने की योजना रक्खी तो, सतीजी ने सैंकडो व्यक्तियो को त्याग करा दिये ।

जीव दया के क्षेत्र मे भी ये लगातार कार्य करते रहते हैं ।

मेवाड का जैन समाज, महासती प्रेमवतीजी से बडा प्रभावित है ।

सतीजी प्रगतिशील मधुर वक्तृ तथा ओजस्वी है ।

श्री दमयन्तिजी, (सलोदा वाले) इनकी प्रथम शिष्या है, जो सेवा गुण परायण है । श्री हीराजी (मदार वाले) राजकुंवरजी (देवगढ वाले) इनकी शिष्याएँ हैं ।

महासती श्री मोहन कुंवरजी वल्लभनगर वाले तथा महासतीजी श्री प्रतापकुंवरजी घासावाले श्री केर कुंवरजी महाराज की ही शिष्याएँ हैं । श्री प्रताप कुंवरजी मे सेवा का विशेष गुण है ।

□□

एक अज्ञानी मनुष्य मरते समय दीनता पूर्वक आँखें गीली करके कह रहा था—हाय ! मेरे पीछे मेरे इन प्यारे बाल-बच्चो का क्या हाल होगा ?

ज्ञानी सत ने उसे समझाया—मूढ ! तू क्यो इनकी चिंता मे दुखी हो रहा है । इनका हाल इनके भाग्य पर छोड और अपनी चिंता कर कि अगले जन्म मे तेरे हाल अच्छे हो ! अगला जन्म सुधारने की चिंता कर न कि पीछे वालो की !

—'अम्बागुरु-सुवचन

मेवाड की सास्कृतिक तथा साहित्यिक समृद्धि के उन्नयन मे जैनो के योग दान का एक गवेषणा-प्रधान विवरण विश्रुत विद्वान डा० कासलीवाल ने प्रस्तुत किया है।

□ डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल
[प्रसिद्ध विद्वान एव अनुसधाता]

जैन साहित्य और सस्कृति की भूमि मेवाड

□

देश के इतिहास मे राजस्थान का विशिष्ट स्थान है और राजस्थान मे मेवाड का स्थान सर्वोपरि है। इस प्रदेश के रणबाकुरो ने अपनी धम, सस्कृति तथा पुरातत्त्व की रक्षा के लिए हँसते-हँसते प्राण दिये और अपनी वीरता एव बलिदान के कारण उन्होंने मेवाड का नाम उज्ज्वल किया। यहाँ के तीथ एव मन्दिर स्थापत्य एव शिल्प कला के उत्कृष्ट केन्द्र हैं तथा साहित्य एव कला की दृष्टि से उन्हें उल्लेखनीय स्थान प्राप्त है।

मेवाड के महाराणाओ ने सभी धर्मों का आदर किया एव उनके विकास मे कभी भी बाधा उत्पन्न नहीं की। जैन धम मेवाड का लोकप्रिय धर्म रहा और यहाँ के शासको, उनके जैन एव जैनेत्तर पत्नियो ने जैन धर्म एव सस्कृति के प्रचार एव प्रसार हेतु मन्दिरो के निर्माण, मूर्तियो की प्रतिष्ठा, अहिंसा-पालन की उद्घोषणा, जैनाचार्यों एव सतो का स्वागत एव उनके मुक्त विहार मे योगदान जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य किये और कभी-कभी तो जैन धर्मावलम्बियो से भी अधिक अहिंसा के पालन मे योग दिया। इस दृष्टि से महाराणा समरसिंह एव उनकी माता जयताल्ला देवी की सेवाएँ उल्लेखनीय हैं जिन्होंने सारे राज्य मे पशु हिंसा का निषेध घोषित करके अहिंसा मे अपना दृढ विश्वास प्रगट किया। चित्तौड के जैन कीर्ति स्तम्भ के विभिन्न लेख मेवाड में जैन धम की लोकप्रियता की शानदार यशोगाथा है। यहा का ऋषभदेव का जैन तीर्थ सारे राजस्थान मे ही नही बल्कि गुजरात एव उत्तर भारत का प्रमुख तीथ माना जाता है तथा जो जैन-जैनेतर समाज की भक्ति एव श्रद्धा का केन्द्र बना हुआ है।

मेवाड प्रदेश जैन साहित्य एव जैन साहित्यकारो का भी केन्द्र रहा है। दिगम्बर परम्परा के महान् आचार्य धरसेन का इस प्रदेश से गहरा सम्बन्ध रहा तथा उन्होने इस प्रदेश की मिट्टी को अपने विहार से पावन किया। इस तरह सातवी शताब्दी में होने वाले आचाय वीरसेन ने चित्तौड मे एलाचाय से शिक्षा प्राप्त करके 'धवला' एव 'जय धवला' जैसी महान ग्रन्थो की टीकाएँ लिखने मे समथ हुए।[1] आठवीं शताब्दी मे जैन दशन के प्रकाड विद्वान हरिभद्रसूरि हुए जिन्होंने मेवाड प्रदेश मे ही नही, किन्तु समस्त भारत मे जैन धर्म की कीर्ति पताका फहरायी। इस प्रदेश में ग्याहरवीं-बारहवीं शताब्दी में अपभ्रश के महाकवि धनपाल एव हरिषेण हुए जिन्होंने अपने काव्यो मे इस प्रदेश की प्रशसा[2] की और अपने अपभ्रश काव्यो के माध्यम से जन-जन मे अहिंसा एव सत्य धर्म का प्रचार किया।

सस्कृत के प्रकाड विद्वान महापडित आशाधर भी मेवाड प्रदेश के ही रहने वाले थे। इसी प्रदेश में भट्टारक सकलकीर्ति ने सर्वप्रथम भट्टारक पद्मनन्दि के पास नैणवां में विद्याध्ययन किया और फिर मेवाड एव वागड प्रदेश में जैन-

---

१ वीर शासन के प्रभावक आचाय

२ इय मेवाड देस जण सकुले गिरि उजपुर धक्कड कुले।

साहित्य एव सस्कृति का महान् प्रचार किया। भट्टारक सकलकीर्ति के पश्चात् जितने भी भट्टारक हुए उन्होने मेवाड प्रदेश में विहार करके अहिंसा एव अनेकात दर्शन का प्रचार किया। अठारहवी शताब्दी मे महाकवि दौलतराम ने उदयपुर मे रहते हुए जीवधर चरित, क्रियाकोश भाषा की रचना की और अपने काव्यो मे महाराणाओ की उदारता एव धर्मप्रियता की प्रशसा की।[1]

ग्रन्थ भडारों का केन्द्र

मेवाड प्रदेश जैन ग्रन्थ-भडारो की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण प्रदेश माना जाता है। मेवाड की राजधानी उदयपुर साहित्य एव सस्कृति का सैकडो वर्षों तक केन्द्र रहा और आज भी उसको उसी तरह से सम्मान प्राप्त है। उदयपुर नगर के सभी दिगम्बर एव श्वेताम्बर मन्दिरो में छोटे-बडे रूप मे शास्त्र भडार हैं जिनमे प्राकृत, अपभ्र श, सस्कृत, हिन्दी एव राजस्थानी भाषा की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ सग्रहीत हैं। ब्रह्म नेमिदत्त द्वारा रचित 'नेमिनाथ पुराण' की उदयपुर में सन् १६९४ एव १७२६ मे प्रतिलिपि की गई जो आमेर शास्त्र भडार, जयपुर मे सुरक्षित हैं। सवत् १७९७ मे लिखित 'स्याद्वादमजरी' की पाडुलिपि जयपुर के ही एक अन्य भडार मे सग्रहीत है। इसी तरह और भी पचासो ग्रन्थो की पाँडुलिपियाँ हैं जो उदयपुर नगर मे लिखी गई थी और जो आज राजस्थान के विभिन्न ग्रन्थ भडारों में सकलित की गई है। अब यहाँ मेवाड के कुछ प्रमुख ग्रन्थ भडारो का सामान्य परिचय दिया जा रहा है।

शास्त्र-भडार सभवनाथ, दि० जैन मन्दिर, उदयपुर

उदयपुर नगर का सभवनाथ जैन मन्दिर प्राचीनतम मन्दिर है। इस मन्दिर मे हस्तलिखित पाडुलिपियो का बहुत अच्छा सग्रह है। यहाँ के शास्त्र भडार मे ५१७ पाडुलिपियाँ हैं जो १५वी शताब्दी से २०वी शताब्दी तक की लिखी हुई हैं। भडार मे प्राचीनतम पाण्डुलिपि भट्टोत्पल के लघु जातक टीका की है, जिसका लेखन काल सव् १४०८ है तथा नवीनतम पाडुलिपि 'सोलहकरण विधान' की है जिसका लिपि सवत् १९६५ है। हिन्दी रचनाओ की दृष्टि से इस मन्दिर का सग्रह बहुत ही उत्तम है तथा २५ से भी अधिक रचनाएँ प्रथम बार प्रकाश मे आयी हैं। भडार मे सग्रहीत कुछ महत्त्वपूर्ण पाँडुलिपियो का परिचय निम्न प्रकार है—

(१) **सीता शीलराम पताका गुणबेलि**—यह आचार्य जयकीर्ति की कृति है जिन्होंने सवत् १६०४ मे निबद्ध की थी। इस भडार मे उसकी मूल पाडुलिपि उपलब्ध है। कोट नगर के आदिनाथ मन्दिर मे इसकी रचना की गई थी। ग्रन्थ का अन्तिम भाग निम्न प्रकार है—

सवत गोल चउ उत्तरि सीता तणी गुण वेकल
ज्येष्ठ सुदी तेरस बुधि रवी भणी करै गैकल।
भाव भगति भणि सुणि सीता सती गुण जैह
जय कीरति सूरी कही सुख सूँ ज्यो पलहि तेह ॥४॥

सुद्ध थी सीता शील पताका, गुण वेकल आचाय जयकीर्ति विरचिता।

सवत् १६७४ वर्षे आषाढ सुदी ७ गुरौ श्री कोट नगरे स्वज्ञानावरणी कर्म क्षयाय आ० श्री जय कीर्तिना स्वहस्ताइयाँ लिखितेंय।

(२) **राजुल पत्रिका**—यह सोमकवि द्वारा विरचित पत्रिका ह, जो राजुल द्वारा नेमीनाथ को लिखी गई है।

(३) **हनुमान चरित रास**—ब्रह्मज्ञान सागर की रचना है जिसे उन्होंने सवत् १६३० मे पालुका नगर के शीतलनाथ मन्दिर मे निबद्ध किया था। कवि हुबड जाति के थे उनके पिता का नाम अकाकुल एव माता का नाम अमरादेवी था।

---

१ रहे राण के पास, राण अति किरपा करई।
जानै नीकी नाहि, भेद भावजु नहि धरई।

(४) भट्टारक सकलकीर्ति रास—यह भट्टारक सकलकीर्ति के शिष्य ब्रह्म सामल की रचना है जिसमें उन्होंने भट्टारक सकलकीर्ति एव भट्टारक भुवनकीर्ति का जीवन-परिचय दिया है। रचना ऐतिहासिक है।

(५) अनिरुद्ध हरण—यह रत्नभूषण सूरि की कृति है। अनिरुद्ध श्रीकृष्ण जी के पौत्र थे और इस रास में उन्ही का जीवन-चरित निबद्ध है। भडार मे सवत् १६९९ की पाडुलिपि सग्रहीत है।

२ अग्रवाल जैन मन्दिर का शास्त्र भडार

यहाँ भी हस्तलिखित ग्रन्थो का अच्छा सग्रह है। ग्रन्थो एव गुटको की सख्यायें ३८८ है जिनमे गुटको की सख्या भी उल्लेखनीय है। भडार में पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि की सबसे प्राचीन पाडुलिपि है जो सवत् १३७० की है। यह ग्रन्थ योगिनीपुर (देहली) मे लिखा गया था। कुछ उल्लेखनीय ग्रन्थो के नाम निम्न प्रकार हैं—

	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकर्ता	भाषा	रचनाकाल
१	चारुदत्त प्रबन्ध	कल्याण कीर्ति	हिन्दी	सवत् १६९२
२	सुदर्शन सेठनी चौपई	लालकवि	,,	सवत् १६३६
३	जीवधर चरित	दौलतराम कासलीवाल	,,	सवत् १८०५
४	अजितनाथ रास	ब्रह्मयजिनराय	,,	१५वी शताब्दी
५	अम्बिकारास	,,	,,	,,
६	पुण्य स्तव कथा कोश	रामचन्द्र	सस्कृत	सवत् १५९०
७	शब्द भेद प्रकाश	महेश्वर कवि	,,	सवत् १५५७

सवत् १५५७ वर्षे आषाढ वदी १४ दिनें लिखित श्री मूलसघे भट्टारक श्री ज्ञानभूषण गुरूपदेशात् हुबड जातीय श्रेष्ठि जइता भार्या पाँच प्रर्मा श्री धर्मार्णे।

८	धर्म परीक्षा रास	सुमति कीर्ति	हिन्दी	सवत् १६४८

३ खडेलवाल जैन मन्दिर का शास्त्र भडार

खडेलवाल जैन मन्दिर मडी की नाल मे स्थित है। इस मन्दिर मे १८५ पाडुलिपियो का सग्रह है। सबसे प्राचीन पाडुलिपि भूपाल स्तवन की है जिसका लेखन काल सवत् १३६३ का है। यहाँ रास, पूजा, स्तोत्र आदि पर पाडुलिपियो का अच्छा सग्रह है। इनमे राजसुन्दर कृत गजसिह चौपाई (रचना काल स० १४९७) रामरास माधवदास विरचित, चम्पावती शील कल्याणक। मुनि राजनन्द तथा कमल विजय का कृत "सीमधर स्तवन" के नाम उल्लेखनीय हैं। यह सवत् १६८२ की रचना है।

४ गौडी जी का उपासरा, उदयपुर

इस उपासरे मे हस्तलिखित ग्रन्थो का अच्छा सग्रह है, जिनकी सख्या ६२५ है। सभी ग्रन्थ आगम, आयुर्वेद, ज्योतिष जैसे विषयो पर आधारित है।

५ यती बालचन्द वैद्य का सग्रह, चित्तौड

श्रीबालचन्द्र वैद्य के निजी सग्रह मे शास्त्रो का उत्तम सग्रह है। ग्रन्थो की कुल सख्या एक हजार है। इनमे मत्र शास्त्र, स्तोत्र, आयुर्वेद, ज्योतिष, आगम से सम्बद्ध विषयो पर अच्छा सग्रह है। यह शास्त्र भडार सवत् १९४१ में पडित विनयचन्द्र द्वारा स्थापित किया गया था। जिसकी प्रशस्ति निम्न प्रकार है—

श्री सद्गुरुगोतम उपाध्याय जी महाराज श्री १००८ श्री शिवचन्द जी तत् शिष्य १००८ ज्ञानविलाश जी तत् शिष्य अमोलखचन्द जी शिष्य प० विनयचन्द जी माह मध्ये सवत् १९४१ मे स्थापित हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची।

भट्टारक यश कीर्ति जैन सरस्वती भवन, रिषभदेव

रिषभदेव मेवाड का प्रसिद्ध जैन तीर्थ है। उदयपुर से अहमदाबाद जाने वाले राष्ट्रीय मार्ग पर यह अवस्थित

है। मन्दिर के विभिन्न भागो मे अनेक लेख अंकित हैं जो इस मन्दिर के विकास की कहानी कहने वाले हैं। सम्पूर्ण मेवाड मे ही नही बल्कि बागड प्रदेश तथा गुजरात मे भगवान रिषभदेव के प्रति गहरी श्रद्धा है और प्रतिवर्ष लाखो की सख्या मे यात्री एव दर्शनार्थी आते हैं।

इसी तीर्थ पर 'भट्टारक यश कीर्ति सरस्वती भवन' भी है जिसमे प्राचीन हस्तलिखित प्रतियो का अच्छा सग्रह है। एक सूची के अनुसार यहाँ लगभग १०७० ग्रन्थ हैं जिनमे काफी अच्छी सख्या मे गुटके भी सम्मिलित हैं। इनमे १५वी एव १६वी शताब्दी मे लिखे हुए ग्रन्थो की अच्छी सख्या है। वैसे चरित, पुराण, काव्य, रास, वेलि, फागु, दर्शन, जैसे विषयो पर यहाँ अच्छा सग्रह मिलता है। सभी ग्रन्थ अच्छी दशा में हैं तथा सुरक्षित हैं। आजकल भडार को देखने वाले प० रामचन्द जी जैन हैं। इस भडार मे सग्रहीत कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ निम्न प्रकार हैं—

(१) **महावीर चरित अथवा महावीर रास**—इसके रचयिता पद्मा कवि है जो भट्टारक शुभचन्द्र के शिष्य थे। रास का रचना काल सवत् १६०६ है।

(२) **नरसिंहपुरा जाति रास**—इसमे नरसिंहपुरा जैन जाति की उत्पत्ति एव उसके विकास की कहानी कही गयी है। रास ऐतिहासिक है।

(३) **शांतिनाथ पुराण**—यह भट्टारक रामचन्द्र की कृति है, जिसमे उन्होंने सवत् १७८३ मे समाप्त की थी। यह पाडुलिपि कवि की मूल पाडुलिपि है।

(४) **श्रेणिक चरित**—यह दौलतराम कासलीवाल की कृति है जिसे उन्होंने सवत् १७८२ मे निबद्ध किया था। इसी भडार मे कवि द्वारा निबद्ध श्रीपाल चरित की प्रति भी सुरक्षित है।

(५) **प्रद्युम्नरास**—यह ब्रह्म गुणराज की कृति है जिसे उन्होने सवत् १६०६ मे निबद्ध किया था।

(६) **लवकुश आख्यान**—यह भट्टारक महीचन्द का १७वी शताब्दी का काव्य है।

उक्त शास्त्र भडारो के अतिरिक्त मेवाड के अन्य नगरों एव गाँवो मे शास्त्र भडार है, जिनका पूरी तरह से अभी सर्वे नही हो सका है, जिसकी महती आवश्यकता है।

मेवाड जैनाचार्यों एव साहित्यकारो की प्रमुख प्रश्रय भूमि रही है। यहा प्रारम्भ से ही जैनाचार्य होते रहे जिन्होंने इस प्रदेश मे विहार किया तथा साहित्य सरचना द्वारा जन-जन तक सत् साहित्य का प्रचार किया। ऐसे जैन आचार्यों मे कुछ का सक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है—

(१) **आचार्य वीरसेन**—आचार्य वीरसेन सातवी शताब्दी के महान् सिद्धान्तवेत्ता थे। वे प्राकृत एव सस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे। सर्वप्रथम उन्होंने चित्रकूट (चित्तौड) मे एलाचार्य के पास रहकर शास्त्रो का गहन अध्ययन किया था और उसके पश्चात् ही धवला की ७२ हजार श्लोक प्रमाण टीका लिख सके थे। उन्होंने दूसरे आगम-ग्रन्थ कषय पाहुड पर भी जय धवला की टीका लिखना प्रारम्भ किया था लेकिन एक-तिहाई रचना होने के पश्चात् उनका स्वर्गवास हो गया। आचार्य वीरसेन का सिद्धान्त, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण, तर्क आदि विषयो पर पूर्ण अधिकार था, जिसका दर्शन हमे धवला टीका मे होता है। उनके शिष्य जिनसेन के कथनानुसार उनका सब शास्त्रो का ज्ञान देखकर सर्वज्ञ के अस्तित्व के विषय मे लोगो की शकाऐं नष्ट हो गई थी।

(२) **आचार्य हरिभद्रसूरि**—आचार्य हरिभद्रसूरि प्राकृत एव सस्कृत के महान् विद्वान थे। इनका भी चित्तौड से गहरा सम्बन्ध था। इन्होंने अनुयोगद्वार सूत्र, आवश्यक सूत्र, दशवैकालिक सूत्र, नन्दी सूत्र तथा प्रज्ञापना सूत्र पर टीकाएँ लिखी थी। अनेकातजय पताका, अनेकातवाद प्रवेश जैसे उच्च दार्शनिक ग्रन्थो की रचना की थी। इनकी समराइच्चकहा प्राकृत की महत्त्वपूर्ण कृति है तथा धूर्ताख्यान एक व्यंग्यात्मक रचना है। हरिभद्र की योगबिन्दु एव योगदृष्टि सम्मुचय में जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य मे पतजलि एव व्यास के दार्शनिक मान्यताओ पर अच्छा वर्णन किया गया है। ये आठवी शताब्दी के विद्वान थे।

(३) **हरिषेण**—अपभ्रश के महान् विद्वान भी चित्तौड के रहने वाले थे। उनके पिता का नाम गोवर्द्धन धक्कड था। एक बार कवि को अचलपुर जाने का अवसर मिला और उसने वही पर सवत् १०४४ मे धम्मपरीक्षा की रचना की। इस कृति मे ११ सधियाँ हैं और १०० कथाओ का समावेश किया गया है। हरिषेण मेवाड प्रदेश का बहुत बडा भक्त था और उसकी सुन्दरता का अपनी कृति में अच्छा वर्णन किया है।
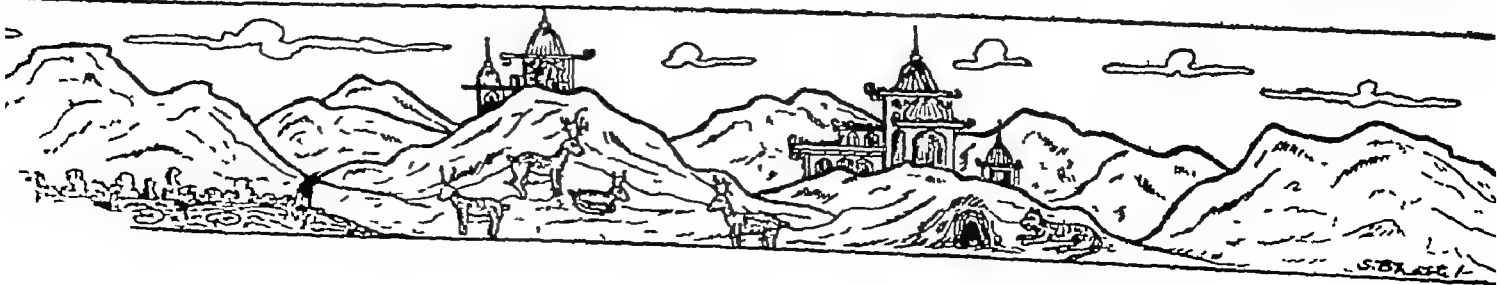
(४) **जिनदत्त सूरि**—जिनदत्त सूरि १२वी शताब्दी के जैनाचार्य थे। सवत् ११६४ मे चित्तौड के वीर जिनालय मे देवेन्द्रसूरि द्वारा खरतरगच्छ के आचार्य पद का भार दिया गया। आप प्रगमधान के पद से भी सुशोभित थे।[1] आपने जैन-साहित्य की अपूर्व सेवा की तथा अपभ्रश मे उपदेशरसायनराय, चर्चरी एव काल स्वरूप कलक की रचना सम्पन्न की। आपके पूर्व जिनवल्लभ सूरि को भी चित्तौड मे ही सवत ११६७ मे खरतरगच्छ पद पर प्रतिष्ठित किया गया।[2]

५ भट्टारक सकल कीर्ति

भट्टारक सकल कीर्ति १५वी शताब्दी के महान जैन सत थे। सस्कृत एव प्राकृत के वे प्रकाण्ड विद्वान थे। आपने सर्वप्रथम मेवाड प्रदेश मे स्थित नैणवा नगर मे भट्टारक पदमनन्दि के पास अध्ययन किया था। आपका जन्म सवत् १४४३ मे और स्वर्गवास सवत् १४९९ मे हुआ। आपकी प्रमुख कृतियो मे आदि पुराण, उत्तरपुराण, शाति पुराण, पार्श्वपुराण, महावीर चरित, मल्लिनाथ चरित, यशोधर चरित, धन्य कुमार चरित, सुकुमाल चरित, कर्मविपाक सूक्ति मुक्तावली के नाम उल्लेखनीय हैं। आपने मेवाड, वागड एव गुजरात मे विहार करके जैन साहित्य एव सस्कृति की अपूर्व सेवा की थी। उन्होने गिरनार जाने वाले एक सघ का नेतृत्व किया और जूनागढ मे आदिनाथ स्वामी की धातु की प्रतिमा की प्रतिष्ठा सम्पन्न की।[3]

उक्त कुछ विद्वान आचार्यों के अतिरिक्त मेवाड मे पचासो जैन साहित्य सेवी हुए जिन्होंने जैन साहित्य के निर्माण के साथ ही उसके प्रचार-प्रसार मे भी अत्यधिक योगदान दिया।

□□

राजनीति का प्रमुख सूत्र है—अविश्वास !
और धर्मनीति का प्रमुख सूत्र है—विश्वास !
अविश्वास-जीवन मे अधिक दूर तक नही चल सकता। जीवन मे कही न कही किसी का विश्वास करना ही होता है।
हा, विश्वास मे भी विवेक रखना चाहिए।
विवेक-शून्य विश्वास 'अध-विश्वास' होता है।

—'अम्बागुरु-सुवचन'

---

१ ऐतिहासिक जैन काव्य सग्रह, पृष्ठ ५
२ वही
३ जैन ग्रन्थ भडारस् इन राजस्थान, पृष्ठ २३९

□ डा० प्रेम सुमन जैन,
एम० ए०, आचार्य, पी-एच० डी०
[विश्रुत भाषाशास्त्री, लेखक तथा सहायक प्रोफेसर, प्राकृत-संस्कृत विभाग, उदयपुर विश्वविद्यालय]

मेवाड-न केवल शौर्य एव देशभक्ति के लिए ही प्रसिद्ध है, किन्तु साहित्य, सस्कृति एव कला की समृद्धि के लिए भी उसका गौरव भारत विश्रुत रहा है। प्राचीन आर्य भाषा-प्राकृत-अपभ्रश एव सस्कृत साहित्य के विकास मे जैन मनीषियो के योगदान का एक रेखाकन प्रस्तुत है यहाँ।

मेवाड़ का प्राकृत, अपभ्रंश एवं संस्कृत साहित्य

□

राजस्थान के इतिहास मे मेवाड जितना शौय और देशभक्ति के लिए प्रसिद्ध है, उतना ही साहित्य और कला की समृद्धि के लिए भी। इस भू-भाग मे प्राचीन समय से विभिन्न भाषाओ के मूघन्य साहित्यकार साहित्य-सर्जना करते रहे हैं। उसमे जैन धर्म के अनुयायी साहित्यकारो का पर्याप्त योगदान है। प्राकृत, अपभ्रश एव सस्कृत भाषा मे कई उत्कृष्ट ग्रन्थ इन कवियो द्वारा लिखे गये हैं। इन भाषाओ के कुछ प्रमुख कवियो की उन कतिपय रचनाओ का मूल्याकन यहाँ प्रस्तुत है, जिनका प्रणयन मेवाड प्रदेश में हुआ है तथा जिनके रचनाकारो का मेवाड से सम्बन्ध रहा है।

प्राकृत साहित्य

राजस्थान का सबसे प्राचीन साहित्यकार मेवाड में ही हुआ है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ५-६वी शताब्दी के बहुप्रज्ञ विद्वान् थे। 'दिवाकर' की पदवी इन्हें चित्तौड मे ही प्राप्त हुई थी।[1] अत इनकी साहित्य-साधना का केन्द्र प्राय मेवाड प्रदेश ही रहा होगा। प्राकृत भाषा मे लिखा हुआ इनका 'सन्मति तक' नामक ग्रन्थ अब तक राजस्थान की प्रारम्भिक रचना मानी जाती है। न्याय और दर्शन का यह अनूठा ग्रन्थ है। इसमे प्राकृत की कुल १६६ गाथाएँ हैं, जिनमे जैन न्याय के विभिन्न पक्षो पर प्रकाश डाला गया है। इस ग्रन्थ के प्रथम काण्ड मे नय के भेदो और अनेकान्त की मर्यादा का वणन है। द्वितीय काण्ड में दर्शन-ज्ञान की मीमासा की गई है। तृतीय काण्ड में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तथा अनेकान्त की दृष्टि से ज्ञेयतत्त्व का विवेचन है। जैन दर्शन के इस प्राचीन ग्रन्थ पर अनेक टीकाएँ लिखी गयी हैं।

आठवीं शताब्दी मे मेवाड मे प्राकृत के कई मूर्घन्य साहित्यकार हुए हैं। उनमे आचार्य हरिभद्र, एलाचार्य, वीरसेन आदि प्रमुख हैं। इन आचार्यों ने स्वय प्राकृत साहित्य की समृद्धि की-है तथा ऐसे अनेक शिष्यों को भी तैयार किया है जो प्राकृत के प्रसिद्ध साहित्यकार हुए हैं।

आचार्य हरिभद्र का जन्म चित्तौड मे हुआ था। ये जन्म से ब्राह्मण थे, तथा राजा जितारि के पुरोहित थे।[2] जैन दीक्षा ग्रहण करने के बाद हरिभद्रसूरि ने जैन वाङ्मय की अपूर्व सेवा की है। प्राचीन आगमो पर टीकाएँ एव स्वतन्त्र मौलिक ग्रन्थ भी इन्होंने लिखे हैं। दशन व साहित्य विषय पर आपकी विभिन्न रचनाओ मे प्राकृत के ये ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध हैं—समराइच्चकहा, धूर्ताख्यान, उपदेशपद, धम्मसगहणी, योगशतक, सबोहपगरण आदि।[3]

---

१ सघवी, सुखलाल, 'सन्मतिप्रकरण', प्रस्तावना, १९६३।
२ सघवी, 'समदर्शी आचार्य हरिभद्र' १९६३।
३ शास्त्री, नेमिचन्द्र, 'हरिभद्र के प्राकृत कथा-साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन', द्रष्टव्य।
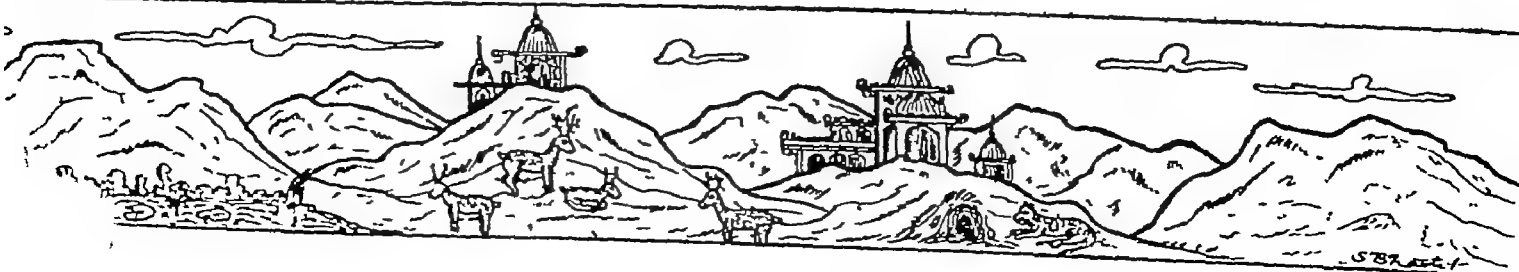
'समराइच्चकहा' प्राकृत कथाओ की अनेक विशेषताओं से युक्त है। इसमे उज्जैन के राजकुमार समरादित्य के नौ भवो की सरस कथा वर्णित है। वस्तुत यह कथा सदाचारी एव दुराचारी व्यक्तियो के जीवन-सघर्ष की कथा है। काव्यात्मक दृष्टि से इस कथा में अनेक मनोरम चित्र हैं। प्राचीन भारत के सास्कृतिक जीवन का जीता-जागता उदाहरण है—समराइच्चकहा। 'धूर्ताख्यान' व्यग्योपहास-शैली मे लिखी गयी अनूठी रचना है। आचार्य हरिभद्र ने इसे चित्तौड मे लिखा था। इस ग्रन्थ मे हरिभद्र ने पुराणो, रामायण, महाभारत आदि की कथाओ की अप्राकृतिक, अवैज्ञानिक, अबौद्धिक मान्यताओ तथा प्रवृत्तियो का कथा के माध्यम से निराकरण किया है। कथा का व्यग्य ध्वशात्मक न होकर रचनात्मक है। 'उपदेशपद' मे प्राकृत की ७० प्राकृत कथाएँ दी गयी हैं। 'दशवैकालिक टीका' मे भी प्राकृत की ३० कथाएँ उपलब्ध होती हैं। इन कथाओ मे नीति एव उपदेश प्रधान कथाएँ अधिक हैं। 'सबोहपगरण' का दूसरा नाम तत्त्व प्रकाश भी है। इसमे देवस्वरूप तथा साधुओ के आचार-विचार का वर्णन है। 'धम्मसगहणी' मे दार्शनिक सिद्धान्तो का विवेचन है।[१] इस प्रकार हरिभद्र ने न केवल अपने मौलिक कथा-ग्रन्थों द्वारा प्राकृत साहित्य को समृद्ध किया है, अपितु टीकाग्रन्थो मे भी प्राकृत के प्रयोग द्वारा मेवाड मे प्राकृत के प्रचार-प्रसार को बल दिया है।

आचार्य हरिभद्र के शिष्यो मे उद्द्योतनसूरि प्राकृत के सशक्त कथाकार हुए हैं। उन्होने हरिभद्र से सिद्धान्त-ग्रन्थो का अध्ययन किया था। यद्यपि उद्द्योतनसूरि ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'कुवलयमालाकहा' की रचना जालौर मे की थी, किन्तु अध्ययन की दृष्टि से उनका मेवाड से सम्बन्ध रहा है। मेवाड के प्राकृत-कथा-ग्रन्थो की परम्परा मे ही उनकी कुवलयमाला की रचना हुई है। यद्यपि वह अपने स्वरूप और सामग्री की दृष्टि से विशिष्ट रचना है।[२] ऐसे ही प्राकृत के दो आचार्य और हैं, जिनका चित्तौड से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, किन्तु उनकी कोई रचना मेवाड मे नही लिखी गयी है। वे हैं—एलाचार्य एव आचार्य वीरसेन।

एलाचार्य मेवाड के प्रसिद्ध विद्वान् थे। वे वीरसेन के शिक्षा गुरु थे। इन्द्रनन्दि ने अपने 'श्रुतावतार' मे एलाचार्य के सम्बन्ध मे लिखा है कि बप्पदेव के पश्चात् कुछ वर्ष बीत जाने पर सिद्धान्तशास्त्र के रहस्य ज्ञाता ऐलाचार्य हुए। ये चित्रकूट (चित्तौड) नगर के निवासी थे। इनके पास मे रहकर वीरसेनाचार्य ने सकल सिद्धान्तो का अध्ययन कर निबन्धन आदि आठ अधिकारों (धवला टीका) को लिखा था।[३] वीरसेन ने धवला टीका शक सम्वत् ७३८ (८१६ ई स) में समाप्त की थी। अत एलाचार्य आठवी शताब्दी में चित्तौड रहते रहे होंगे। इनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। अत ये वाचक गुरु के रूप मे ही प्रसिद्ध थे।

आचार्य वीरसेन ने चित्तौड मे अपना अध्ययन किया था। गुरु एलाचार्य की अनुमति से इन्होंने वाटग्राम (बडोदा) को अपना कार्यक्षेत्र बनाया था। वीरसेन सस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओ के प्रकाण्ड पण्डित थे। इन्होंने ७२००० श्लोक-प्रमाण समस्त षट्खण्डागम की धवला टीका लिखी है। तथा कषायप्राभृत की चार विभक्तियो की २०,००० श्लोक प्रमाण जयधवलाटीका लिखने के उपरान्त इनका स्वर्गवास हो गया था। आचार्य वीरसेन की ये दोनो टीकाएँ उनकी अगाध प्रतिभा और पाण्डित्य की परिचायक हैं। जिस प्रकार 'महाभारत' मे वैदिक परम्परा की समस्त सामग्री ग्रथित है, उसी प्रकार वीरसेन की इन टीकाओ में जैन दर्शन के सभी पक्ष प्रतिपादित हुए हैं। भारतीय दर्शन, शिल्प एव विभिन्न विद्याओ की भरपूर सामग्री इन टीका ग्रन्थो मे है।[४] इनकी भाषा प्राकृत और सस्कृत का मिश्रित रूप है।

---

१ जैन, जगदीशचन्द्र, 'प्राकृत साहित्य का इतिहास', पृ० ३३२।

२ जैन, प्रेमसुमन, 'कुवलयमालाकहा का सास्कृतिक अध्ययन,' वैशाली, १९७५।

३ काले गते कियत्यपि तत पुनश्चित्रकूटपुरवासी।
श्रीमानेलाचार्यो बभूव सिद्धान्ततत्वज्ञ ॥
तस्य समीपे सकल सिद्धान्तमधीत्य वीरसेन गुरु।
उपरितमनिबन्धनाद्याधिकारानष्ट च लिखि ॥

—श्रुतावतार, श्लोक, १७७ ७८।

४ धवला टीका, प्रथम पुस्तक, प्रस्तावना।

मेवाड के प्राकृत-साहित्य की समृद्धि मे पद्मनन्दि (प्रथम) का भी योग है। इनकी तीनो रचनाएँ—'जबूदीव-पण्णत्ति', 'धम्मरसायण', एव 'पचसग्रह' प्राकृत में है। इनके ग्रन्थो से ज्ञात होता है कि ये राजस्थान के प्रमुख कवि थे। 'जबूदीवपण्णत्ति' नामक ग्रन्थ बारा नगर मे लिखा गया था। अत ये कोटा के समीपस्थ प्रदेश के निवासी थे। इनकी जबूदीवपण्णत्ति मे कुल २४२६ गाथाएँ हैं, जिनमे मनुष्य क्षेत्र, मध्यलोक, पाताल लोक और ऊर्ध्वलोक का विस्तार से वर्णन किया गया है। जैन भूगोल की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।[१] 'धम्मरसायण' मे कुल १९३ गाथाएँ है। इस ग्रन्थ मे धर्म का स्वरूप एव सासारिक भोगो से विरक्त होने के लिए नैतिक नियमो का विवेचन है। 'पचसग्रहवृत्ति' कर्म-सिद्धान्त की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।[२]

१२वी शताब्दी मे राजस्थान मे प्राकृत के कथाकार हुए हैं—लक्ष्मणगणि। इन्होंने वि० स० ११९९ (ई० स० ११४२) में माण्डलगढ मे 'सुपासनाहचरियं' की रचना की थी।[३] मेवाड मे इनका विचरण होता रहता था। सुपार्श्वनाथ-चरित्र मे इन्होंने तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ का चरित लिखा है। इस पद्यात्मक ग्रन्थ मे उपदेश की प्रधानता है। अनेक लोक-कथाओ के द्वारा नैतिक आदर्शों को समझाया गया है। यद्यपि यह ग्रन्थ प्राकृत मे लिखा गया है, किन्तु बीच-बीच मे सस्कृत और अपभ्रश का भी प्रयोग हुआ है। यथा—

एहु धम्मु परमात्यु कहिज्जइ। त परपीडि होइ त न हिज्जइ॥

कथाओ के अतिरिक्त इस ग्रन्थ मे कई सुभाषितो का भी सग्रह है। कवि ने कहा है कि ससार रूपी घर के प्रमादरूपी अग्नि से जलने पर मोह रूपी निद्रा मे सोते हुए पुरुष को जो जगाता है वह मित्र है, और जो उसे जगाने से रोकता है वह अमित्र है—

भवगिह मज्झम्मि पमायजलणजलयम्मि मोहनिद्दाए।
जो जगवइ स मित्त वारता सो पुण अमित्त॥

मेवाड मे खरतरगच्छ के आचार्यों का पर्याप्त प्रभाव रहा है। उन्होंने प्राकृत, अपभ्रश एव सस्कृत आदि भाषाओ मे अनेक रचनाएँ लिखी हैं। जिनवल्लभसूरि का कार्यक्षेत्र मेवाड प्रदेश था। इन्हें चित्तौड मे स० ११६७ मे आचार्य पद मिला था। इनकी लगभग १७ रचनाएँ प्राकृत मे लिखी गयी हैं। उनमे 'द्वादश कुलं', 'सूक्ष्मार्थविचारसार', 'पिंड विशुद्धि', 'तीर्थंकर स्तुति' आदि प्रसिद्ध हैं। जिनवल्लभसूरि प्राकृत एव सस्कृत के अधिकारी विद्वान् थे।[४] उन्होंने 'भावारिवारणस्तोत्र' प्राकृत और सस्कृत मे समश्लोकी लिखा है। इनके पट्टधर जिनदत्तसूरि राजस्थान के कल्पवृक्ष माने जाते हैं। इनकी १०-११ रचनाएँ प्राकृत में हैं। उनमे 'गणधरसार्धशतक' एव 'सन्देहदोहावली' उल्लेखनीय है। जैन आचार्यों के जीवन-चरित्र की दृष्टि से ये ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है।[५] चित्तौड के प्राकृत कवियो में जिनहर्षगणि का भी प्रमुख स्थान है। इन्होंने 'रत्नशेखरीकथा' चित्तौड मे प्राकृत मे लिखी थी।[६] इससे सिंहलद्वीप की राजकुमारी रत्नवती की कथा वर्णित है। इस सिंहल की पहचान डा० गौरीशकर ओझा ने चित्तौड से करीब ४० मील पूर्व मे 'सिंगोली' नामक स्थान से की है (ओझा निबन्ध सग्रह, भाग २, पृ० २८१)।

अपभ्रंश-साहित्य

मेवाड मे प्राकृत व सस्कृत की अपेक्षा अपभ्रश के कवि कम हुए हैं। हरिषेण, धनपाल, जिनदत्त एव विमल-कीर्ति मेवाड से सम्बन्धित अपभ्रश के कवि हैं। यद्यपि मेवाड प्रदेश मे अपभ्रश की कई रचनाएँ सुरक्षित हैं, किन्तु उनमे रचना स्थल आदि का उल्लेख न होने से उन्हे मेवाड मे रचित नहीं कहा जा सकता।

१ शास्त्री, नेमिचन्द्र, 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा' भाग ३, पृ० ११०-१२१।
२ शास्त्री, हीरालाल, 'पचसग्रह', प्रस्तावना।
३ देसाई, 'जैन साहित्यनो सक्षिप्त इतिहास', पृ० २७५।
४ 'मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरि स्मृतिग्रन्थ', पृ० २०
५ नाहटा, 'दादा जिनदत्तसूरि'।
६ नाहटा, 'राजस्थानी साहित्य की गौरवपूर्ण परम्परा', पृ० ३२।

हरिषेण एव धम्मपरिक्खा

हरिषेण ने अपनी धम्मपरिक्खा वि० स० १०४४ मे लिखी थी। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि मेवाड देश मे विविध कलाओ मे पारगत एक हरि नाम के व्यक्ति थे। ये श्री ओजपुर के धक्कड कुल के वशज थे। इनके एक गोवर्द्धन नाम का धर्मात्मा पुत्र था। उनकी पत्नी का नाम गुणवती था, जो जैन धर्म मे प्रगाढ़ श्रद्धा रखने वाली थी। उनके हरिषेण नाम का एक पुत्र हुआ, जो विद्वान् कवि के रूप मे प्रसिद्ध हुआ। उसने किसी कारणवश चित्तौड को छोडकर अचलपुर मे निवास किया। वहाँ उसने छन्द-अलकार का अध्ययन कर 'धर्मपरीक्षा' नामक ग्रन्थ लिखा।[1]

हरिषेण ने धर्म परीक्षा की रचना प्राकृत की जयराम कृत धम्मपरिक्खा के आधार पर की थी। इन्होंने जिस प्रकार से पूर्व कवियो का स्मरण किया है, उससे हरिषेण की विनम्रता एव विभिन्न शास्त्रो मे निपुणता प्रगट होती है।

धम परीक्षा ग्रन्थ भारतीय धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसमें वैदिक धम के परिप्रेक्ष्य मे जैन-धर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है। दो समानान्तर धर्मों को सामने रखकर उनके गुण-दोषो का विवेचन प्रस्तुत करना एक प्राचीन मिथक है, जो इन धम परीक्षा जैसे ग्रन्थो के रूप म विकसित हुआ है। हरिषेण ने इस ग्रन्थ मे अवतारवाद, पौराणिक कथानक तथा वैदिक क्रियाकाण्डो का तकसगत खण्डन किया है, साथ ही अनेक काव्यात्मक वर्णन भी प्रस्तुत किये हैं। ११वी सन्धि के प्रथम कडवक मे मेवाड देश का रमणीय चित्रण किया गया है। कहा गया है कि इस देश के उद्यान, सरोवर, भवन आदि सभी दृष्टियो से सुन्दर व मनोहर हैं। यथा—

जो उज्जाणहिं सोहइ खेयर मोहइ वल्ली हरिहिं विसालहिं।
मणि-कचण-कम पुण्णहिं वण्ण खण्णहिं पुरिहिं स गोउर सालहिं॥

धनपाल एव भविसयत्तकहा

धनपाल अपभ्रश के सशक्त लेखको मे से हैं। इन्होंने यद्यपि अपने ग्रन्थ 'भविसयत्तकहा' मे उसके रचना-स्थल का निर्देश नही किया है, किन्तु अपने कुल धक्कड वश का उल्लेख किया है। इनके पिता का नाम मायेश्वर और माता का नाम धनश्री था।[2] यह धक्कड वश मेवाड की प्रसिद्ध जाति है। देलवाडा मे तेजपाल के वि स १२८७ के अभिलेख मे धरकट (धक्कड) जाति का उल्लेख है। अत धक्कड वश मे उत्पन्न होने के कारण धनपाल को मेवाड का अपभ्रश कवि स्वीकार किया जा सकता है।

'भविसयत्तकहा' अपभ्रश का महत्त्वपूण कथाकाव्य है। कवि ने इसमे लौकिक नायक के चरित्र का उत्कष दिखाया है। एक व्यापारी के पुत्र भविसयत्त की सम्पत्ति का वणन करते हुए कवि ने उसके सौतेले भाई, बन्धुदत्त के कपट का चित्रण किया है। भविसयत्त अनेक स्थानों का भ्रमण करता हुआ कुसराज और तक्षशिलाराज के युद्ध मे भी सम्मिलित होता है। कथा के अन्त मे भविसयत्त एव उसके साथियो के पूव जन्म और भविष्य जन्म का वणन है। कवि ने इस ग्रन्थ मे श्रुतपचमीव्रत का माहात्म्य प्रदर्शित किया है। वस्तुत यह कथा साधु और असाधु प्रवृत्ति वाले दो व्यक्तित्वो की

---

१ इय मेवाड-देसि-जण-सकुलि, सिरि उजपुर णिग्गय धक्कडकुलि।
पाव-करिंद-कुम्भ-दारणहरि, जाउ कलाहिं कुसलु णाहरि।
तासु पुत्त पर-णारिसहोयरु, गुण-गण-णिहि-कुल-गयण-दिवायरु।
गोवड्ढणु णामे उप्पणउ, जो सम्मत्तरयण-सपुण्णउ।
तहो गोवड्ढणासु पिय गुणवइ, जो जिणवरपय णिच्चवि पणवइ।
ताए जणिउ हरिषेणे नाम सुउ, जो सजाउ विवुह-कइ-विस्सुउ।
सिरि चित्तउडु चइवि अचलउरहो, गयउ-णिय-कज्जे जिणहरपउरहो।
तहि छदालकार पसाहिय, धम्मपरिक्ख एह तें साहिय। —ध० प० ११, २६

२ धक्कड वणि वैसे माएसरहो समुब्भविण।
धणसिरि हो वि सुवेण विरइउ सरसइ समविण॥ —भ क १, ६

कथा है। यह एक रोमाचक काव्य है। इसमे काव्यात्मक वर्णनो की भी कमी नही है।[1] सुभाषित एव लोकोक्तियो का भी प्रयोग हुआ है। यथा—"किं घिउ होइ विरोलए पाणिए।" —(भ क २, ७, ८)

विमलकीर्ति एव सोखवइविहाणकहा

विमलकीर्ति को रामकीर्ति का शिष्य कहा गया है। जयकीर्ति के शिष्य रामकीर्ति ने वि स १२०७ मे चित्तौड मे एक प्रशस्ति लिखी है।[2] अत विमलकीर्ति का सम्बन्ध भी चित्तौड से बना रहा होगा। विमलकीर्ति की एक ही रचना 'सोखवईविहाणकहा' उपलब्ध है। इसमे व्रत के विधानो का फल निरूपित है।

जिनदत्त एव अपभ्रंशकाव्यत्रयी

जिनदत्तसूरि ने चित्तौड मे अपने गुरु जिनवल्लभसूरि की गद्दी सम्हाली थी। इनका कार्यक्षेत्र राजस्थान के कई भागो मे था। मेवाड के साहित्यकार इन जिनदत्तसूरि की अपभ्रंश की तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं—(१) उपदेशरसायनरास, (२) कालस्वरूप कुलक और (३) चचरी। ये तीनो रचनाएँ अपभ्रंश काव्यत्रयी के नाम से प्रकाशित हैं।

'उपदेशरसायनरास' ८० पद्यो की रचना है। मगलाचरण के उपरान्त इसमे ससार-सागर से पार होने के लिए सद्गुरु की आवश्यकता प्रतिपादित की गयी है। अन्त मे गृहस्थो के लिए भी सदुपदेश हैं। धर्म मे अडिग रहते हुए यदि कोई व्यक्ति धर्म मे विघात करने वाले को युद्ध मे मार भी देता है तो उसका धर्म नष्ट नही होता। वह परमपद को प्राप्त करता है।

> धम्मिउ धम्मुकज्जु साहतउ, परु मारइ कीवइ जज्झतउ।
> तु वि तसु धम्मु अत्थि न हु नासइ, परमपइ निवसइ सो सासइ॥
>
> —(उप २६)

'कालस्वरूप कुलक' मे जिनदत्तसूरि ने धर्म के प्रति आदर करने और अच्छे गुरु तथा बुरे गुरु की पहचान करने को कहा है। गृहस्थो को सदाचार मे प्रवृत्त करना ही कवि का उद्देश्य है। जिनदत्तसूरि ने अपनी तीसरी रचना 'चर्चरी' की रचना व्याघ्रपुर नगर (वागड प्रदेश) मे की थी। इसमे ४७ पद्यो द्वारा उन्होंने अपने गुरु जिनवल्लभसूरि का गुणगान तथा चैत्य-विधियो का विधान किया है।[3]

सस्कृत-साहित्य

मेवाड प्रदेश मे सस्कृत साहित्य का लेखन गुप्तकाल मे ही प्रारम्भ हो गया था। भवर माता का शिलालेख वि स ५४७ का है, जो सस्कृत मे काव्यमय भाषा में लिखा गया है। इसके बाद सस्कृत की कई प्रशस्तियाँ मेवाड मे लिखी गयी हैं, जो ऐतिहासिक और काव्यात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, किन्तु स्वतन्त्र रूप से सस्कृत मे काव्य ग्रन्थ यहा मध्ययुग मे ही लिखे गये हैं। राजाओ के आश्रय मे रहने वाले कवियो ने विभिन्न विषयो पर खण्डकाव्य व मुक्तककाव्य लिखे हैं।[4]

प्राकृत की भाँति सस्कृत मे भी मेवाड मे सर्वप्रथम ग्रन्थ-रचना करने वाले आचार्य सिद्धसेन हैं। इनके बाद अनेक जैन आचार्यो ने यहाँ सस्कृत के ग्रन्थ लिखे है, जिन्हें जैन सस्कृत काव्य के नाम से जाना जाता है। किन्तु केवल तीर्थंकर की स्तुति कर देने अथवा श्रावक व साधु के आचरण का विधान करने से कोई काव्य ग्रन्थ जैन काव्य नही कहा जा सकता। इस प्रकार का विभाजन करना ही गलत है। मेवाड के सस्कृत साहित्य के इतिहास मे इन जैन आचार्यो द्वारा प्रणीत काव्य उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं, जितने अन्य कवियो के। यहाँ जैन परम्परा के पोषक केवल उन प्रमुख कवियो के सस्कृत ग्रन्थो का मूल्याकन प्रस्तुत है, जिनका मेवाड से कोई न कोई सम्बन्ध बना रहा है।

१ शास्त्री, देवेन्द्रकुमार, 'भविसयत्तकहा तथा अपभ्रंश कथाकाव्य'
२ शास्त्री, नेमिचन्द्र, ती म एव उनकी आ प, भाग ४, पृ० २०६
३ कोछड, हरिवश, 'अपभ्रंशसाहित्य', पृ० ३६१
४ द्रष्टव्य—पुरोहित चन्द्रशेखर, 'मेवाड का सस्कृत साहित्य का योगदान' (थीसिस), १९६९

न्यायावतार

सिद्धसेन दिवाकर की प्राकृत रचना 'सन्मतिप्रकरण' के अतिरिक्त उनकी सस्कृत रचनाएँ भी उपलब्ध हैं। ३२ श्लोक वाली इन्होंने इक्कीस द्वात्रिंशिकाएँ तथा न्यायावतार नामक ग्रन्थ सस्कृत मे लिखा था। द्वात्रिंशिकाओ मे स्तुति तथा जैन दर्शन के विभिन्न पक्षो का निरूपण किया गया है।[1] न्यायअवतार मे जैन दृष्टि से पक्ष, साध्य, हेतु, दृष्टान्त, हेत्वाभास आदि के लक्षण हैं तथा अन्त मे नयवाद और अनेकान्तवाद के स्वरूप का स्पष्ट विवेचन है। जैन न्याय का समन्वित स्वरूप प्रगट करने वाला यह सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। सिद्धसेन दिवाकर ने गुप्त युग मे मेवाड मे सस्कृत की ऐसी सशक्त रचनाएँ प्रस्तुत कर न केवल तार्किक जगत मे जैन न्याय की प्रतिष्ठा की, अपितु मेवाड में सस्कृत-रचना की परम्परा को सुस्थिर भी किया। इनके अध्ययन और साहित्य-सृजन के परिणामस्वरूप ही चित्तौड सदियो तक जैन विद्या का अध्ययन-केन्द्र बना रहा।

हरिभद्रसूरि की सस्कृत रचनाएँ

चित्तौड को सस्कृत-साहित्य का प्रधान केन्द्र बनाने मे आचार्य हरिभद्र का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उन्होंने दर्शन और प्रमाण-शास्त्र की अनेक रचनाएँ सस्कृत मे लिखी हैं। प्राकृत मे लिखे आगमों को विद्वान् समाज के सम्मुख व्याख्या सहित प्रस्तुत करने में हरिभद्र अग्रणी हैं। इन्होंने आगमो पर टीकाएँ भी लिखी हैं तथा स्वतन्त्र ग्रन्थ भी। इनकी सस्कृत रचनाओ की सख्या पर मतभेद है। अभी तक उनकी निम्न सस्कृत रचनाएँ उपलब्ध हैं —

१ प्राचीन ग्रन्थो पर टीकाए

१ अनुयोगद्वार विवृत्ति
२ आवश्यक सूत्र निवृत्ति
३ आवश्यक सूत्र वृहत् टीका
४ चैत्यवन्दन सूत्र वृत्ति
५ जीवाजीवाभिगम सूत्र लघु वृत्ति
६ तत्वार्थसूत्र लघु वृत्ति
७ दशवैकालिक वृहद्वृत्ति
८ नन्दी अध्ययन टीका
९ पच सूत्र व्याख्या
१० प्रज्ञापना सूत्र टीका
११ ध्यानशतकवृत्ति
१२ श्रावक प्रज्ञप्ति टीका,
१३ न्याय प्रवेश टीका।

२ मौलिक ग्रन्थ (टीका सहित)

१४ अनेकान्तजयपताका
१५ योगदृष्टि समुच्चय
१६ शास्त्रवार्ता समुच्चय
१७ सर्वज्ञसिद्धि
१८ हिंसाष्टक,
१९ अनेकान्तजयपताकोद्योत दीपिका।

३ टीका रहित स्वरचित ग्रन्थ

२० अनेकान्तवाद प्रवेश
२१ अष्टकप्रकरण
२२ धर्मबिन्दु
२३ भावार्थमात्रवेदिनी
२४ योगबिन्दु
२५ लोकतत्त्व निर्णय
२६ श्रावक धर्मतन्त्र
२७ षड्दर्शन समुच्चय
२८ षोडश प्रकरण
२९ ससारदावानल स्तुति।[2]

---

१ सघवी, सुखलाल, 'सन्मति प्रकरण', प्रस्तावना, पृ० ६५-११३
२ शास्त्री, नेमिचन्द्र, वही, पृ० ५२-५३

इन समस्त रचनाओ का विषय प्रतिपादन यहाँ अपेक्षित नही है।[1] इनसे इतना अवश्य ज्ञात होता है कि हरिभद्रसूरि ने अपने समय मे सस्कृत को धर्म और दर्शन के क्षेत्र मे एक सशक्त भाषा के रूप मे स्वीकार किया था।

जिनसेन

एलाचार्य एव वीरसेन के समय मे चित्तौड जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र बन गया था। अत वीरसेन के प्रमुख शिष्य जिनसेन ने भी चित्तौड मे काव्य-रचना की प्रेरणा ग्रहण की है। उनका सम्बन्ध चित्तौड, बकापुर एव वटग्राम से रहा है।[2] जिनसेन की प्रतिभा और पाण्डित्य अद्वितीय था। वे जितने सिद्धान्तशास्त्रो के ज्ञाता थे उतने ही काव्य-शास्त्र के मर्मज्ञ। उनकी तीन संस्कृत रचनाएँ उपलब्ध हैं—१ पार्श्वाभ्युदय २ आदिपुराण एव ३ जयधवलाटीका। पार्श्वाभ्युदय मे जिनसेन ने कालिदास के मेघदूत की समस्यापूर्ति की है।[3] आदिपुराण मे ऋषभदेव और भरतचक्रवर्ती की कथा के माध्यम से कवि ने प्राचीन इतिहास, धर्म-दर्शन व सस्कृति आदि अनेक विषयो का प्रतिपादन किया है।[4] जयधवलाटीका मे जिनसेन ने अपने गुरु वीरसेन के कार्य को पूरा किया है। ४० हजार श्लोक प्रमाण टीका इन्होंने स्वय लिखी हैं। यद्यपि जिनसेन के ये ग्रन्थ मेवाड मे नही लिखे गये, किन्तु मेवाड भूमि की साहित्यिक परम्परा का पोषण अवश्य इनकी पृष्ठभूमि मे है।

जिनवल्लभसूरि

राजस्थान की एक महान् विभूति के रूप मे जिनवल्लभसूरि को स्मरण किया जाता है। ये सस्कृत प्राकृत के अधिकारी विद्वान थे। खरतरगच्छ की परम्परा मे इन्होंने स्वय साहित्य लिखा है तथा अपने शिष्यो को भी इतना तैयार किया कि वे अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिख गये हैं। जिनवल्लभसूरि के सस्कृत मे निम्न प्रमुख ग्रन्थ उपलब्ध हैं—

१ धर्मशिक्षाप्रकरण, २ सघपट्टक, ३ भावारिवारणस्तोत्र, ४ पचकल्याणस्तोत्र, ५ कल्याणस्तोत्र, ६ सरस्वतीस्तोत्र, ७ सर्वजिनस्तोत्र, ८ पार्श्वजिनस्तोत्र, ९ पार्श्वस्तोत्र, १० शृ गारशतक ११ प्रश्नोत्तरषष्टीशतक, १२ चित्रकूट प्रशस्ति आदि।[5]

इन ग्रन्थो का विषय धार्मिक है। किन्तु सस्कृत भाषा का चमत्कारिक प्रयोग कवि ने किया है। विभिन्न अलकारो और छन्दो से ये रचनाएँ ओत-प्रोत हैं। यद्यपि उनके आकार छोटे हैं, किन्तु विषय की स्पष्टता है।

इन रचनाओ मे 'शृ गारशतक' महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कृति है। भरत के नाट्यशास्त्र और कामतन्त्र के दोहन के बाद सम्भवत इसे लिखा गया है। जैनाचार्यों की यह अकेली शृ गार-प्रधान सस्कृत रचना है। इसमें कुल एक सौ इक्कीस श्लोक हैं। इस कृति मे नायिका के अगोपाग तथा हावभाव का अच्छा वर्णन हुआ है। एक पद्य मे कवि कहता है कि नायिका की दन्त-ज्योत्सना गगन-मण्डल में फैलती हुई अखिल विश्व को अपनी धवलिमा से आप्लावित कर रही है। ऐसी स्थिति में वह अभिसार के लिए चन्द्रोदय की प्रतीक्षा क्यों करे?

मुग्धे दुग्धादिवाशा रचयति तरला ते कटाक्षच्छटाली,
दन्तज्योत्स्नापि विश्व विशदयति वियन् मण्डल विस्फुरन्ती।
उत्फुल्लद् गण्डपाली विपुलपरिलसत् पाण्डिमाडम्बरेण,
क्षिप्तेन्दो कान्तमदाभिसर सरभस किं तवेन्दूदयेन ॥७९॥

जिनवल्लभसूरि के शिष्य जिनदत्तसूरि की भी कुछ रचनाएँ सस्कृत मे मिलती हैं। यथा—वीरस्तुति, सर्वजिन स्तुति, चक्रेश्वरीस्तोत्र, योगिनीस्तोत्र, अजितस्तोत्र आदि। ये सभी रचनाएं भक्ति प्रधान हैं।

---

१ द्रष्टव्य—'समदर्शी हरिभद्रसूरि'।
२ 'आगत्य चित्रकूटात्तत स भगवान् गुरोरनुज्ञात्
३ शास्त्री, नेमिचन्द्र, 'सस्कृत काव्य के विकास मे जैन कवियों का योगदान', पृ० ४०२
४ शास्त्री, नेमिचन्द्र, 'आदिपुराण में प्रतिपादित भारत', द्रष्टव्य।
५ द्रष्टव्य—विनयसागर, 'जिनवल्लभसूरि का कृतित्व एव व्यक्तित्व'

महाकवि आशाधर

आशाधर माण्डलगढ़ (मेवाड) के मूल निवासी थे। किन्तु मेवाड पर शहाबुद्दीन गोरी के आक्रमणो के उपरात वे धारा नगरी (मालवा) मे जा बसे थे। उसी के समीप नलकच्छपुर मे उन्होंने अपनी साहित्य-साधना की थी। ये वि० की तेरहवी शताब्दी के विद्वान थे। सस्कृत म लिखी गयी इनकी लगभग २० रचनाओ के उल्लेख प्राप्त हुए हैं।[1] किन्तु उपलब्ध कम ही हुई हैं। आध्यात्मरहस्य, सागारधर्मामृत, अनागारधर्मामृत, जिनयज्ञकल्प, त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र आदि इनकी प्रसिद्ध सस्कृत रचनाएँ हैं। प० आशाधर का अध्ययन वडा ही विशाल था। वे जैनाचार, अध्यात्म, काव्य, कोष, आयुर्वेद-शास्त्र आदि कई विषयो के प्रकाण्ड पण्डित थे।

भट्टारक कवि

मेवाड प्रदेश मे दिगम्बर परम्परा के अनेक भट्टारको का विचरण हुआ है। चित्तौड, उदयपुर, ऋषभदेव आदि स्थानो पर इन भट्टारको ने ग्रन्थागार भी स्थापित किये हैं। ये भट्टारक धम प्रचारक के साथ-साथ अच्छे कवि भी होते थे। मेवाड के प्रभावशाली भट्टारक कवियो मे भ० सकलकीर्ति, भ० भुवनकीर्ति, भ० ब्रह्मजिनदास, भ० शुभचन्द्र एव प्रभाचन्द्र आदि प्रमुख है। भट्टारक सकलकीर्ति,[2] ने २९ एव ब्रह्म जिनदास ने १२ रचनाएँ सस्कृत मे लिखी हैं। इनके ये ग्रन्थ काव्यात्मक दृष्टि से भी महत्त्वपूण हैं।

आचाय शुभचन्द्र सस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। वि० स० १५३०-४० के बीच इनका जन्म हुआ था। उदयपुर, सागवाडा, डूंगरपुर, जयपुर आदि स्थानो पर इन्होंने मूर्ति प्रतिष्ठा करायी थी। इन्होंने २४ रचनाएँ सस्कृत मे लिखी हैं।[3] इनमे तीर्थंकरो का चरित, पाण्डवकथा, तथा जैन व्रत-विधानो का सुन्दर वर्णन हुआ है। जिनचन्द्र के शिष्य भट्टारक प्रभाचन्द्र का भी मेवाड मे अच्छा प्रभाव रहा है। इन्होंने वि० स० १५७२ मे दिल्ली से अपनी गद्दी को चित्तौड मे स्थानान्तरित कर लिया था।[4] इन्होन प्राचीन साहित्य के उद्धार मे महत्त्वपूण योगदान किया है।

१५वीं शताब्दी के कवि

वि० स० १५वी शताब्दी मे मेवाड मे अनेक जैनाचार्य हुए हैं। उनकी सस्कृत रचनाओ ने यहाँ के साहित्यिक वातावरण को प्रभावशाली बनाया है। सोमसुन्दर तपागच्छ के प्रमुख कवि थे। वि० स० १४५० मे राणकपुर में इनको वाचकपद प्राप्त हुआ था। वाद मे ये देलवाडा आ गये थे।[5] इनकी सस्कृत रचनाओ मे कल्याणकस्तव, रत्नकोश, उपदेश-बालावबोध, भाष्यत्रय अवचूरि आदि प्रमुख हैं।[6]

सोमसुन्दर के शिष्य मुनिसुन्दर भी सस्कृत के विद्वान थे। इन्होने 'शान्तिकर स्तोत्र' देलवाडा मे लिखा था।[7] सोमदेववाचक सोमसुन्दर के दूसर प्रभावशाली शिष्य थे। महाराणा कुम्भा ने इन्हें कविराज की उपाधि प्रदान की थी। देलवाडा इस युग मे सस्कृत साहित्य का प्रधान केन्द्र था। वि०स० १५०१ मे माणिक्य सुन्दरगणि ने 'भवभावनाबालावबोध' नामक ग्रन्थ सस्कृत मे लिखा था। इस युग के प्रतिष्ठित कवि प्रतिष्ठा सोम हुए हैं। ये महाराणा कुम्भा के समकालीन थे। इन्होंने 'सोमसोभाग्यकाव्य' तथा 'गुरुगुणरत्नाकर' जैसे महत्त्वपूण ग्रन्थो की रचना की है। इन ग्रन्थो मे तत्कालीन मेवाड के सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक जीवन की प्रामाणिक सामग्री

---

१ शास्त्री, ती० म० और उनकी आ० प०, भा० ४, पृ० ४१
२ जैन, बिहारीलाल, 'भ० सकलकीर्ति—एक अध्ययन' (थीसिस)
३, शास्त्री, वही, भा० ३, पृ० ३६५
४ जोहरापुरकर, 'भट्टारक सम्प्रदाय' लेखाक २६५
५ 'सोम सौभाग्यकाव्य' पृ० ७५, श्लोक १८
६ शोधपत्रिका, भा० ६, अक २-३, पृ० ५५
७ सोमानी, रामवल्लभ, 'महाराणा कुम्भा' पृ० २१२

संकलित है। संस्कृत की इन रचनाओं मे गुजराती, मेवाड़ी और देशी शब्दो का भी प्रयोग हुआ है, जो भाषा-विज्ञान की अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

१५वीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवि हुए हैं—महोपाध्याय चरित्ररत्नगणि। इन्होंने सं० १४९९ में चित्तौड मे 'दान प्रदीप' नामक ग्रन्थ की रचना संस्कृत मे की थी।[1] ग्रन्थ मे दान के प्रकार एव उनके फलों का अच्छा विवेचन हुआ है। इस ग्रंथ मे अनेक लौकिक कथाएँ भी दी गयी हैं। इसी शताब्दी मे जयचन्द्र सूरि के शिष्य जिनहर्षगणि ने वि०सं० १४९७ मे चित्तौड में 'वस्तुपालचरित' की रचना की थी। यह काव्य ऐतिहासिक और काव्यात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसमे वस्तुपाल एव तेजपाल चरित्र के अतिरिक्त प्रासंगिक रूप से कई दृष्टान्त और कथाएँ भी दी गई हैं।

संस्कृत प्रशस्तियाँ

मेवाड़ राज्य में संस्कृत की अनेक प्रशस्तियाँ व अभिलेख उपलब्ध हैं। इनका केवल ऐतिहासिक ही नहीं, अपितु काव्यात्मक महत्त्व भी है। इस प्रकार की प्रशस्ति-लेखन मे जैनाचार्यों का भी योग रहा है।

१२वीं शताब्दी के दिगम्बर विद्वान् रामकीर्ति ने चित्तौडगढ मे सं० १२०७ म एक प्रशस्ति लिखी थी।[2] जो वहाँ के समिधेश्वर महादेव के मन्दिर में लगी हुई है। कालीशिला पर उत्कीर्ण इस २८ पंक्तियो की प्रशस्ति मे शिव और सरस्वती स्तुति के उपरान्त चित्तौडगढ मे कुमारपाल के आगमन का विवरण दिया गया है। प्रशस्ति छोटी होने पर भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

मेवाड के दूसरे जैन प्रशस्तिकार आचार्य रत्नप्रभसूरि हैं। इन्होंने महारावल तेजसिंह के राज्यकाल मे जो प्रशस्ति लिखी थी वह चित्तौड के समीप 'घाघसे' की बावडी में लगी हुई थी। इसकी रचना वि०सं० १३२२ कार्तिक कृष्णा १ रविवार को हुई थी। इसमें तेजसिंह के पिता जैत्रसिंह द्वारा मालवा, गुजरात, तुरुष्क और साभर के सामन्तो की पराजय का उल्लेख है।[3] रत्नप्रभसूरि की दूसरी महत्त्वपूर्ण प्रशस्ति चीरवा गाव की है। वि०सं० १३३० में लिखित इस प्रशस्ति में कुल संस्कृत के ५१ श्लोक हैं। इसमें चैत्रगच्छ के कई आचार्यों का नामोल्लेख है तथा गुहिल वंशी बापा के वंशजो में समरसिंह आदि के पराक्रम का वर्णन है।[4]

गुणभद्र मुनि ने वि० सं० १२२६ में बिजौलिया के जैन मन्दिर की प्रशस्ति लिखी थी। इसमे कुल ९३ श्लोक हैं। इस प्रशस्ति में पार्श्वनाथ मन्दिर के निर्माताओं के अतिरिक्त साभर के राजा तथा अजमेर के चौहान नरेशो की वंशावली भी दी गयी है।[5] १५वी शताब्दी मे चरित्ररत्नगणि ने महावीर प्रासाद प्रशस्ति लिखी थी। इस प्रशस्ति मे तीर्थंकरों और सरस्वती की स्तुति के उपरान्त मेवाड देश का सुन्दर वर्णन किया गया है। चित्तौड को मेवाड रूपी तरुणि का मुकुट कहा गया है। इसमें मन्दिर के निर्माता गुणराज की वंशावली दी गयी है।[6] इस प्रकार मेवाड के संस्कृत साहित्य के विकास मे इन प्रशस्तिकारों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

मेवाड मे प्राकृत, अपभ्रंश एवं संस्कृत भाषा मे ग्रन्थ लेखन का प्रारम्भ करने वाले जैन मुनियो ने इस परम्परा को बीसवीं शताब्दी तक बराबर अक्षुण्ण बनाये रखा है। आधुनिक युग मे भी अनेक मुनि इस प्रकार के साहित्य लेखन में संलग्न हैं। अतः स्पष्ट है कि मेवाड मे रचित किसी भी भाषा के साहित्य का इतिहास जैन कवियो की रचनाओं को सम्मिलित किये बिना अधूरा रहेगा। इस साहित्य को आधुनिक ढंग से सम्पादित कर प्रकाश में लाने की आवश्यकता है।

१ नवागवार्धिशीतांशु (१४९९) मिते विक्रमवत्सरे।
चित्रकूट महादुर्गे ग्रन्थोऽयं समापयत ॥

—प्रशस्ति, १९

२ श्री जयकीर्तिशिष्येण दिगम्बर गणेशिना।
प्रशस्तिरीदृशीचक्रे—श्री रामकीर्तिना ॥

३ वरदा, वर्ष ५, अंक ३

३ वीरविनोद, भाग १, पृ० ३८९।

५ एपिग्राफिक इण्डिका, भाग २६ मे प्रकाशित।

६ सोमानी, महाराज कु० पृ० ३३८

भारत की स्थापत्य एव शिल्पकला के क्षेत्र मे मेवाड ने योगदान ही नही, किन्तु मूर्तिकला के शिल्पकला को नई दृष्टि और दिशा भी दी है। विद्वान लेखक ने विस्तार से मेवाड के मूर्तिशिल्प पर प्रकाश डाला है।

□ डा० रत्नचन्द्र अग्रवाल
[निर्देशक—पुरातत्व सग्रहालय विभाग
राजस्थान, जयपुर]

प्राचीन भारतीय मूर्तिकला को मेवाड़ की देन

□

पिछले १५–२० वर्षो की शोध, खोज एव पुरातात्त्विक खनन द्वारा मेवाड के प्राचीन इतिहास, कला एव सस्कृति पर पर्याप्त प्रकाश पडा है। उदयपुर-चित्तौड व भीलवाडा क्षेत्र मे प्राचीन 'प्रस्तर युग' के नानाविध उपकरण प्राप्त हुए हैं जिनसे यह सिद्ध हो चुका है कि इस भूमितल पर आदि मानव आज से १ लाख वर्ष पूर्व सक्रिय था, वह पत्थर के हथियार बनाकर जीवन व्यतीत करता था, यद्यपि उस समय तक मूर्ति या मृत्‌भाण्ड कला का आविष्कार नही हुआ था। इस प्रसग मे पुरातत्त्ववेत्ता उस समय के आदि-मानव के अवशेष ढूंढने मे लगे हैं। इस समय के विविधानक प्रस्तरास्त्र हमे चित्तौड की गम्भीरी नदी के किनारे से प्राप्त हो सकते है व अन्य कई स्थानो पर भी। अभी हाल म भीलवाडा जिले मे 'बागोर' की खुदाई द्वारा बाद के युग की सामग्री प्रकाश मे आयी है जिसका सविशेष अध्ययन किया जा रहा है।

सन् १९५५–५६ मे मुझे उदयपुर नगर के पास एव प्राचीन आघाटपुर (वर्तमान आयड या आहाड) की खुदाई करने का सुअवसर मिला था, जिसके लिए मैं राजस्थान-शासन का आभारी हूँ। इस धूलकोट नामक टीले को लोग 'ताँबावती' नगरी के नाम से पुकारते हैं जिसकी पुष्टि खुदाई द्वारा भलीभाँति सम्पन्न हुई है। यहाँ सबसे नीचे का धरातल लगभग ४ हजार वर्ष पुराना है और सिन्धु सभ्यता के बाद की सामग्री प्रस्तुत करता है। मेवाड मे सिन्धु सभ्यता के उपकरणो का प्रभाव इस समय पडा जिसके परिणामस्वरूप यहाँ आयड की मृद्‌भाण्डकला मे 'डिश आन स्टैन्ड' (Dish on stand) सज्ञक पात्र विशेषो का अनुकरण स्थानिक मृद्‌भाण्डकला मे सम्पन्न हुआ। साथ ही ईरानी कला के प्रभाव की द्योतक सामग्री भी मिली जिसमे सफेद धरातल पर काले माडने वाले कुछ मिट्टी के बर्तन के टुकडे भी हैं जो 'सिआल्क' (Sialk) की कला से साम्य रखते ह। आयड के इस धरातल विशेष का काल निर्णय तो 'कार्बन १४' विश्लेषण के आधार पर लगभग ईसा पूर्व १८०० वर्ष सिद्ध हुआ है। इस समय यहाँ 'लाल और काली धरातल' के मृद्‌भाण्डो का प्रयोग होता था जिन पर श्वेत रग के नानाविध माडने बने हुए हैं—यह यहाँ की कला विशेष थी और कई सौ वर्ष तक यहाँ पनपी। कालान्तर मे इस सभ्यता विशेष का आहड की नदी–बेडच–बनास व चम्बल नदियो से सुलभ साधनो द्वारा उत्तर की ओर प्रसार हुआ। भारतीय पुरातत्त्वविदो ने अब इसे सिन्धुसभ्यता की तरह एक पृथक सभ्यता मान कर इसको "आयड सभ्यता" का नाम भी प्रदान कर दिया है। इसके अन्य स्थल 'गिलूण्ड' (रेलमगरा म भगवानपुरा के समीप) नामक खेडे की खुदाई भारतीय पुरातत्त्व विभाग ने कराई थी। यहा के एक मृद्‌भाण्ड पर माँडी गई पुरुषाकृति बहुत महत्त्वपूर्ण है यद्यपि इस प्रकार की सामग्री आयड से नही मिली है। आयड की मिट्टी के मणके तो 'अनोए' व 'ट्रोए' की कला से साम्य रखते हैं और उस समय मेवाड व विदेशो के पारस्परिक सम्बन्धो पर पर्याप्त प्रका

डालते हैं। आयड़ मे उस समय ताँबे का प्रयोग होता है—ऐसे ताम्रपरशु व चाकू मिले हैं और साथ मे तावा गलाने की भट्टी भी। ताँबा तो इस क्षेत्र की समीपवर्ती खानो से प्राप्त किया जाता होगा।

आयड़ की खुदाई से मिट्टी की बनी पशुओ की आकृतिया तो मिली हैं परन्तु पुरुषाकृतिया या प्रस्तर प्रतिमाएँ अद्यावधि अज्ञात हैं। **मेवाड़ मे शु ग काल से पूर्व (ईसा पूर्व प्रथम द्वितीय शती) की कोई मूर्ति अभी तक प्राप्त नहीं हुई है।** चित्तौड़ के पास 'शिवि' जनपद का प्रख्यात केन्द्र 'मध्यमिका' (अर्थात् 'नगरी') इस सम्बन्ध मे विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। खुदाई द्वारा यहाँ शु गयुगीन मृण्मूर्तिया मिली हैं—इनमे से एक फलक पर खड़ी देवी वसुधारा की है जिसने अपने एक हाथ मे 'मत्स्य' (मछली) धारण कर रखा है। इस प्रकार की मृण्मूर्तिया मथुरा क्षेत्र और राजस्थान मे रैढ़ (टोक के पास) नामक स्थानो पर पर्याप्त सख्या मे प्राप्त हुई हैं। नगरी की इस मृण्मूर्ति मे भी मथुरा कला का प्रभाव झलकता है और यह सिद्ध करता है कि मौर्यकाल के बाद इस क्षेत्र के कलाकार भारतीय कला केन्द्रो से सम्बन्ध स्थापित कर रहे थे।

नगरी मे उस समय 'भागवत धर्म' को विशेष महत्त्व प्राप्त था। यहाँ अश्वमेध-यज्ञ करने वाले एक 'सवतात' नामक राजा ने 'नारायणवाटिका' हेतु विशाल परकोटे का निर्माण करा तत्सम्बन्धी लेख को इस प्रस्तर-परकोटे की शिलाओ पर कई स्थानो पर उत्कीर्ण भी कराया था। एक शिलालेख तो आज भी इस परकोटे का अग बना हुआ है और अन्य खण्ड उदयपुर के 'प्रताप सग्रहालय' मे सुरक्षित हैं। इस 'शिला-प्राकार' के बीच सकर्षण-वासुदेव की पूजा होती थी यद्यपि उस समय की कोई भी कृष्ण-बलराम प्रतिमा अभी तक नगरी से प्राप्त नही हुई है। कुछ विद्वानो का यह विचार है कि मध्यमिका की नारायणवाटिका मे लकड़ी की मूर्तियाँ रही होगी जो कालान्तर मे नष्ट हो गई हो या यहा किसी स्थण्डिल पर "आयागपट्ट" के रूप मे उकेरी जाकर पूजान्तर्गत हो। इस सम्बन्ध मे यह स्मरण रहे कि शुग काल मे प्रस्तर प्रतिमाएँ पर्याप्त सख्या मे बनने लगी थी। मथुरा एव विदिशा क्षेत्र मे यक्ष-यक्षियो की पुरुषाकार मूर्तिया शुग काल मे बनायी गयी और प्राय प्रत्येक गाव मे पूजी जाने लगी थी। अपरच, इसी युग मे उष्णीषी 'बलराम' की स्वतत्र मूर्तिया भी विद्यमान थीं। ऐसी एक विशाल प्रतिमा लखनऊ के राज्य सग्रहालय मे सुरक्षित है। जब मेवाड़ के सूत्रधार नगरी मे इतने बड़े प्रस्तर परकोटे का निर्माण करा सकते थे और पत्थर सुलभ था तो लकड़ी की मूर्तिया बनवाने का कोई तात्पर्य समझ मे नहीं आता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यमिका की नारायणवाटिका मे प्रस्तर प्रतिमाए अवश्य रही होगी जो मुसलमानी आक्रामको के द्वारा खण्डित कर दी गई होगी। नगरी पर यवनों का आक्रमण हुआ और बाद मे मुसलमानो ने भी पर्याप्त ध्वस काय किया था। इसके तनिक बाद के मथुरा के 'मोरा कुएँ' वाले शिलालेख मे वृष्णिवीरों की मूर्तियो का उल्लेख किया गया है—वहा कुछ ऐसी मूर्तियाँ भी खण्डितावस्था मे मिली हैं जो मथुरा सग्रहालय मे सुरक्षित हैं। नगरी के शुगकालीन शिलालेख मे 'सकर्षण-वासुदेवाभ्या पूजा शिलाप्राकारो' द्वारा यह आभास होता है कि मध्यमिका के इस वैष्णव भवन मे इन दो वृष्णिवीरो की मूर्तियाँ, किसी स्थण्डिल पर पूजा हेतु प्रतिष्ठित रही होंगीं। ये पञ्चरात्र भाव की द्योतक नही हैं क्योंकि यहाँ पहले सकर्षण का उल्लेख हुआ है—ये तो वृष्णिवीरो की थी। खेद है कि इनके निश्चित स्वरूप की पहचान करना सभव नहीं, परन्तु मथुरा की बलराम प्रतिमा द्वारा कुछ अनुमान तो किया ही जा सकता है।

मेवाड़ क्षेत्र से ईसा की प्रारभिक-शतियो की प्रस्तर प्रतिमाएँ अभी तक तो अज्ञात हैं। आयड़ की खुदाई द्वारा ऊपरी धरातल तो ईसा की प्रथम—तृतीय शती की मानी जा सकती है। उस समय यहा मिट्टी से बनी खपरैलो का प्रयोग होता है। तत्कालीन कुषाण खेड़ों से साम्य रखती हुई मृण्मूर्तिया आयड़ मे मिली हैं जो स्थानिक 'पुरातत्त्व सग्रहालय' में सुरक्षित एव प्रदर्शित हैं। इनमे कुछ 'वोटिव टैंक' के खण्ड शिर विहीन कुम्भोदर कुवेर या गणपति, हाथ उठाकर नृत्यमुद्रा मे प्रस्तुत नर्तकी ये कुछ मृण्मूर्तिया उल्लेखनीय हैं। इनमे कला-सौष्ठव को विशेष महत्त्व नही दिया गया है।

ईसा की तृतीय शती (सवत् २८२—२२७ ईसवी) का बना एक 'यूपस्तम' आज भी गगापुर (भीलवाड़ा) से तीन मील दूरस्थ 'नौंदसा' ग्राम के तालाब के बीच गड़ा हुआ है। इस पर एक शिलालेख खुदा है। यहा के अन्य यूपस्तम का एक खण्ड उदयपुर सग्रहालय मे सुरक्षित है। इन स्तभों द्वारा उस समय मेवाड़ की तक्षणकला का तो आभास होता है परन्तु तत्कालीन मूर्तिया सर्वथा अज्ञात हैं। सम्भव है, खुदाई द्वारा इस युग की कला पर कुछ भी
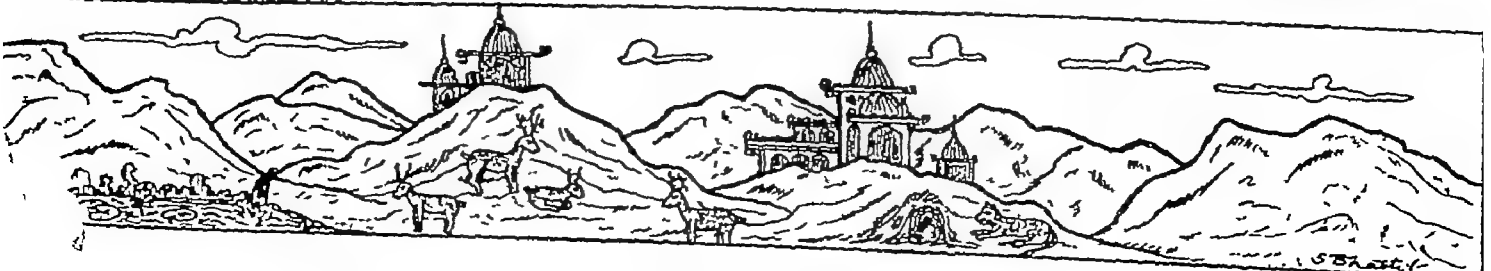
प्रकाश पड़ सके। ईसा की ५वी व छठी शतिया मेवाडी कला के इतिहास का अनोखा युग था। उस समय गुप्तकला का पर्याप्त प्रभाव फैल चुका था और स्थानिक सूत्रकार व स्थपति पूर्णरूप से सक्रिय हो चुके थे। मध्यमिका नगरी के पाचवी शती के शिलालेख मे विष्णु-मदिर का उल्लेख है और छठी शती के लेख मे 'मनोरथस्वामि'–भवन का। यहा एक गुप्तकालीन मदिर के अवशेष भी विद्यमान हैं जो ईंटो का बना था। इस मदिर के बाहरी भागो पर नाना प्रकार की मिट्टी से बनी मूर्तिया जडी थी जिनमे पशु-पक्षी, कमलाकृति अभिप्राय, पुरुष-स्त्री शीर्ष आदि महत्त्वपूर्ण हैं। वास्तव मे वह युग था मिट्टी की ईंटो के मदिरो का। ऐसी कुछ गुप्तकालीन मृण्मूर्तिया अजमेर के राजकीय सग्रहालय मे सुरक्षित हैं और कुछ फलक पूना के दक्कन कॉलिज के पुरातत्त्व विभाग मे प्रदर्शित हैं। इन फलको मे देवी-देवताओ का अकन तभी तक अज्ञात है। परन्तु उसी समय नगरी के मदिर के बाहर सुविशाल मकर-प्रणाली की व्यवस्था की गई थी, ताकि गर्भगृह से पूजा का जल निकल सके। यह कलात्मक प्रस्तर-प्रणाली आज भी तत्रस्थ विद्यमान है। वहा पास में वृषभ-स्तम्भ-शीष व अन्य प्रस्तर शिलाएँ भी सुरक्षित हैं जो मेवाड की गुप्तकला की निधिया हैं। एक विशाल तोरण की व्यवस्था की गयी, जिसके दोनो ओर के आयताकार स्तम्भो पर युगलाकृतिया प्रेममुद्रा मे प्रदर्शित हैं। एक स्तम्भ के सबसे नीचे के भाग पर स्थानक शिव 'त्रिशूल' लिए खडे हैं। सबसे ऊपरी भाग पर 'कीर्त्तिमुख' अभिप्राय खुदा है। इन स्तम्भो के ऊपर एक शिला पर 'किरातार्जुनीय' सवाद पृथक्-पृथक् खण्डो मे उत्कीर्ण है जो भारतीय प्रस्तरकला की अनुपम देन है। समूचे राजस्थान मे यह अभिप्राय-विशेष अन्यत्र उपलब्ध नही हुआ। दिल्ली के राष्ट्रीय सग्रहालय मे भी नगरी से प्राप्त एक शिला खण्ड पर पुरुष-स्त्री की आकृतिया उत्कीण हैं। नगरी की उपर्युक्त शिला मे एक छोर पर *नरेश शिव का अकन बहुत महत्त्वपूण है और यह सिद्ध करता है कि उत्तरी भारत के कलाकारों ने नटराज शिव को* बहुत पहले से ही अपनी कृतियो मे दर्शाया था। नगरी का यह नटराज तो राजस्थानी कला मे नरेश का प्राचीनतम अकन प्रस्तुत करता है। मध्यमिका के शिल्पियो की ये कलाकृतिया भारतीय कला के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण सामग्री मानी जा रही है। नगरी से प्राप्त 'आमलक' खण्ड आजकल स्थानिक पाठशाला के आँगन मे पडा है, जिससे यह आभास होता है कि नगरी के मदिर पर शिखर विद्यमान था और उसके ऊपर था खरबूजे की तरह का मोटा आमलक। पूव-मध्ययुग मे इसकी आकृति तनिक चपटी हो जाती थी। इस दृष्टि से भी मेवाडी कला की यह आमलक-शिला भारतीय स्थापत्य के क्षेत्र मे एक महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण करेगी। नगरी के उपर्युक्त तोरण स्तम्भो पर युगलाकृतिया समीपवर्ती 'दशपुर' (मदसोर) के पास सोदनी एव 'खिलचीपुर' की शिल्पकला से साम्य रखती हैं—ये एक ही कला के अन्तर्गत मानी जा जा सकती हैं। सोदनी से प्राप्त तत्कालीन एक शिलापट्ट आजकल दिल्ली के राष्ट्रीय सग्रहालय मे सुरक्षित है—यहाँ पर विद्याधर स्वप्रेयसी सहित आकाश मे उडते हुए दिखाई देते हैं।

ईसा की ५वी-छठी शतियो मे उदयपुर-डूगरपुर व ईडर (शामलाजी—खेडब्रह्मा) क्षेत्र मे प्रतिमाए प्राय 'पारेवा' (Pareva) पत्थर की बनायी गई, जो नीले-हरे रग की हैं। इनको क्रमश कपडे से रगड कर काला रग दिया जा सकता है और यह पहचानना कठिन हो जाता है कि यह काला सगमरमर है या साधारण पारेवा पत्थर। इस समय मेवाड मे शिव-शक्ति-पूजा को सविशेष महत्त्व दिया गया। शिव के साथ-साथ मातृकाओ की बहुत प्रतिमाएँ पूजा हेतु बनने लगी। जिनमे ये मातृकाएँ प्राय शिशु सहित प्रदर्शित की जाती थी और प्राय स्वतन्त्ररूपेण पूजा हेतु प्रतिष्ठित की जाती थी। इनमे ऐन्द्री, ब्राह्मी, कौमारी, माहेशी, अम्बिका आदि विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं। उदयपुर जिले मे कुरावड के पास 'जगत' नामक ग्राम मे ईसा की छठी शती मे एक मातृका मदिर रहा होगा जो ईंटों का बना था—इसके कुछ अवशेष मुझे खुदाई मे मिले थे। यहाँ से प्राप्त तत्कालीन प्रस्तर प्रतिमाए उदयपुर के प्रताप सग्रहालय की शोभा बढ़ा रही हैं जिनमे शिशुक्रीडा ऐन्द्री व आम्रलुम्बिधारिणी अम्बिका प्रमुख है। एन्द्री के एक हाथ मे वज्र स्पष्ट है, परन्तु सिर पर मुकुट खटकता है जबकि उनके प्रियदेव 'इन्द्र' के सिर पर किरीट मुकुट का होना परमावश्यक है। उदयपुर जिले मे ही 'परसाद' ग्राम के पास 'तनेसर' का एक आधुनिक शिव-मदिर पहाडी की तलहटी मे बना हुआ है। यहा एक चबूतरे पर प्राचीन प्रतिमाएँ तो मेवाड की ५वी-छठी शती की अनुपम निधियां थी। सर्वप्रथम गणपति का शीर्षभाग है जहा गणेश के सिर पर अलकरण का अभाव उनकी प्राचीनता का सूचक है। द्वितीय मूर्ति है 'शक्ति एव कुक्कुट धर–स्कद कार्त्तिकेय' की, जो शामलाजी से प्राप्त व बडोदा सग्रहालय में सुरक्षित तत्कालीन स्कंद मूर्ति से पूण साम्य रखती है। इस स्कद मूर्ति के पास, तनेसर ग्राम में ही, अन्य मूर्तिया मातृभाव की द्योतक हैं, कही माता ने गोद

में शिशु को धारण किया है, अन्यत्र शिशु माता का हाथ पकड़ रहा है, कही माता उसे स्तन-पान करा रही है या अन्यत्र वह माता का हाथ पकड कर खेलना चाहता है। इस वर्ग की मूर्तियो मे प्रत्येक मातृका के सिर के पीछे प्रभा-मण्डल बना है। क्या इन्हे साधारण मातृका प्रतिमाएँ समझना चाहिए ?—नही, ये तो स्कद सहित ६ कृत्तिकाओ के नानाविध स्वरूपो का प्रदर्शन करती हैं जिन्होंने जन्म के उपरान्त शिवपुत्र स्कद का पालन-पोषण किया था और जिनके ही कारण उसका नाम **कार्त्तिकेय** पडा था। ये प्रतिमाएँ मूर्त्तिविज्ञान की दृष्टि से बहुत उपयोगी हैं और पहली बार भारतीय मूर्त्तिकला मे **'स्कद व कृत्तिका'** अभिप्राय का अकन प्रस्तुत करती हैं। ये सब प्रतिमाए तनेसर के तत्कालीन 'स्कद-मदिर' मे पूजार्थ रक्खी गई होंगी। इनसे स्कद के साथ-साथ कृत्तिका-मातृकाओ का स्वतत्र-पूजन एव प्रतिमा-निर्माण सिद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से भी मेवाड की ये मूर्तिया अति विलक्षण हैं।

उदयपुर नगर के पास 'वेदला' ग्राम के बाहर एक आधुनिक मदिर के अन्दर की **'हरिहर'** प्रतिमा भी विवेच्य है। यह लगभग ४ फुट ऊँची होकर गुप्तोत्तरयुगीन कला मे विष्णु व शिव के एक रूप की अभिव्यक्ति करती है। राजस्थान की अद्यावधि ज्ञात हरिहर-मूर्तियो की श्रेणी में प्राचीनतम होनी चाहिए। यह भी पारेवा पत्थर की बनी है। शिव की बाईं ओर का अर्धभाग विष्णु का सूचक है जहाँ उन्होंने ऊपर के हाथ मे चक्र को प्रयोग-मुद्रा मे धारण कर रक्खा है और नीचे के हाथ मे शख, शिवभाग मे पुरुषाकार त्रिशूल ऊपरी दाहिने हाथ मे विद्यमान है। सिर के आधे भाग मे विष्णु का किरीट मुकुट व दूसरी ओर चन्द्रमौलि लाछन सहित जटाजूट भी प्रतिमा के सौष्ठव मे वृद्धि कर रहे हैं।

तनेसर से प्राप्त एक मातृका प्रतिमा अभी राष्ट्रीय सग्रहालय, दिल्ली, हेतु प्राप्त हुई है—यह राजस्थान शासन से भेंट-स्वरूप मिली है—यहाँ देवी कुछ झुकी मुद्रा में दिखाई देती है और भारतीय शिल्प-कला की असाधारण कृति है। चित्तौड क्षेत्र मे पूर्वमध्ययुगीन कला के स्वरूप चित्तौड दुर्गस्थ कुम्भश्याम-मदिर व कालिका-मदिर विशेष रूपेण उल्लेखनीय हैं। कुम्भश्याम-मदिर का बाहरी जघा भाग ८वीं शती का है—पीछे प्रधान ताक मे नीचे शिव-पार्वती-विवाह प्रतिमा जडी है व बाईं ओर जघाभाग पर स्थानक एव जटाधारी द्विबाहु लकुलीश। इस आशय की लकुलीश मूर्तिया अत्यल्प सख्या मे मिली हैं, जहा उन्हें खडे दिखाया गया हो। चित्तौड दुर्ग की अन्य शिव-प्रतिमा मे भी यही भाव झलकता है, परन्तु वहाँ शिव-लकुलीश के एक साथ में परशु भी है और जघा पर सिंहचर्म प्रदर्शित है। चित्तौड का कालिका-मदिर प्रारभ मे (अर्थात् मूलत) **सूर्यमंदिर** था जिसके निजगर्भ-गृह-द्वार-ललाट-बिम्ब पर आसनस्थ सूर्य-प्रतिमा जडी है और तथैव बाहरी ताको मे। गर्भगृह के चारो ओर प्रदक्षिणा-पथ की व्यवस्था की गई है और गर्भगृह जघा-भाग पर दिक्पाल प्रतिमाए जडी हैं। यहाँ पूर्वपरम्परानुसार सोम (चद्र) की प्रतिमा भव्य है। इसके सिर के पीछे अर्धचन्द्राकृति खुदी है। यह राजस्थान की मूर्तिकला मे प्राचीनतम चन्द्र-प्रतिमा स्वीकार की जा सकती है। इसके पास 'अश्वमुख अश्विन' प्रतिमा जडी है और इसी प्रकार दूसरी ओर भी अन्य 'अश्विन' की। इस मदिर के बाहर 'अश्विनी कुमारो' व 'चन्द्र' की ये शिल्पाकृतिया मूर्तिविज्ञान की महत्त्वपूर्ण निधिया हैं। इस सूर्य-मदिर के प्रदक्षिणापथ से बाहर भी बाह्य-जघा की व्यवस्था की गई है जहा क्रमश नानाविध प्रतिमाए मूलत जडी गई थी। इनमे बाईं ओर मध्यवर्ती प्रतिमा समुद्रमथन-भाव की अभिव्यक्ति करते हुए विष्णु के कच्छपावतार का भी प्रदर्शन कर रही है। यहा कच्छप की पीठ पर मथानी रखकर मन्थन-क्रिया सम्पन्न की जा रही है। इस सूर्य-मदिर के बाहर एक विशाल कुण्ड के बीच बना लघु मदिर देवी-भवन था और सम्भवत ८वी शती मे बनाया गया था।

भीलवाडा जिले मे मेनाल (महानाल का मध्ययुगीन महानालेश्वर नामक शिवालय तो चाहमान-कला का महत्त्वपूर्ण स्मारक है और पास ही १२वी शती का तत्कालीन शैवमठ, जिसकी दीवार पर सवत् १२२५ का शिलालेख खुदा है। मठ के स्तम्भो पर घटपल्लव अभिप्राय अकित हैं। निजमदिर मे प्रवेश करने से पहले एक पक्ति मे तीन लघु देवकुलिकाए पूर्व मध्ययुगीन प्रतीत होती हैं—वे चित्तौड के सूर्य-मदिर व ओसिया के प्रतिहार कालीन स्थापत्य व शिल्प से सम्बन्धित हैं। मेनाल की इन दो देवकुलिकाओ के पार्श्व भाग मे नटराज शिव की मूर्तिया जडी हैं और अतिम देवकुलिका के बाहर अर्धनारीश्वर शिव की। इसी युग की जैन कला की एक भव्य कुबेर प्रतिमा भीण्डर क्षेत्र के 'बासी' नामक स्थान पर मिली थी और आजकल 'प्रताप सग्रहालय' उदयपुर मे सुरक्षित है। भारतीय शिल्प-कला की यह अलौकिक सुन्दर एव सुघड मूर्ति है—पारेवा पत्थर की इस प्रतिमा मे वाहन सहित आसनस्थ धनपति कुबेर के एक हाथ मे 'नकुलक' (रुपये की थैली) है और दूसरे में बिजोरा फल। कुबेर के सिर पर जिन-तीर्थंकर की लघुमूर्ति खुदी है और
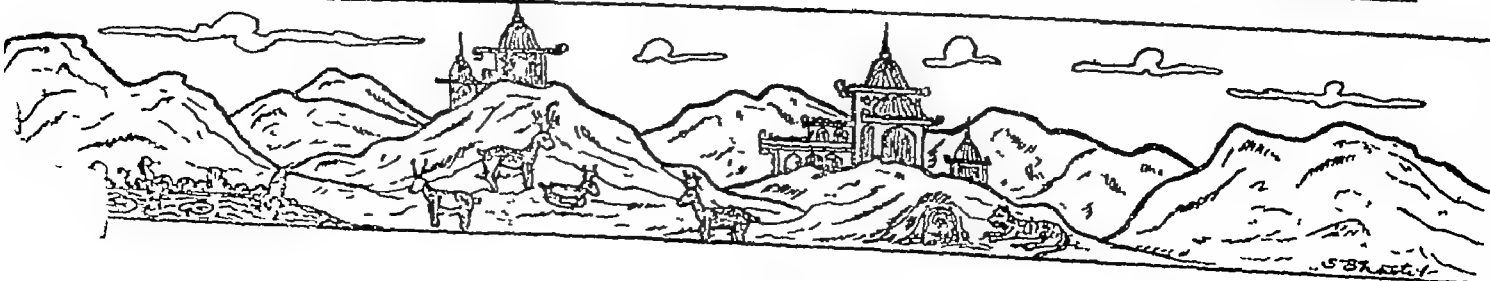
तथैव अन्य जिनाकृति मुकुट के बीच भी विद्यमान है। तक्षणकार ने इस अभिप्राय-विशेष की पुनरुक्ति कर इसे सर्वथा जैन-कुबेर बना दिया है। इसके अभाव मे यह सर्वसाधारण कुबेर की मूर्ति मानी जाती। वासी के प्राचीन स्थल के खण्डहर कई मील की दूरी तक बिखरे पड़े हैं जहाँ पर बड़ी-बड़ी ईंटें प्राय मिलती रहती हैं। यह स्थलविशेष निश्चित ही गुप्तोत्तर-युग में पर्याप्त समृद्धिशाली रहा होगा। इसी प्रकार धुलेव-केसरियाजी से लगभग ८ मील दूरस्थ 'कल्याणपुर' का प्राचीन स्थल भी अवशेष प्रस्तुत करता है। इस स्थान से प्राप्त कई शैव प्रतिमाए आजकल उदयपुर के महाराणा भूपाल कॉलिज मे सुरक्षित की गई है। कल्याणपुर ग्राम के बाहर आधुनिक शिवालय के अन्दर एक 'चतुर्मुख शिवलिंग' पूजान्तर्गत है। यह भी पारेवा पत्थर का बना है और ७–८ वीं शती की मोहक कलाकृति है। यहाँ ऊपरी भाग के चारो ओर शिवमस्तक बने हैं और उनके नीचे ब्रह्मा-विष्णु-महेश व सूर्य की स्थानक मूर्तियाँ खुदी हैं। यहाँ सूर्य व उनके अनुचरो को ईरानी वेशभूषा मे प्रस्तुत किया गया है। कल्याणपुर से प्राप्त एक विशाल शिवमस्तक प्रताप सग्रहालय, उदयपुर, की शोभा बढ़ा रहा है। यह मध्ययुगीन प्रतिमा यूरोप के सग्रहालयो मे भारतीय-कला-प्रदर्शिनी मे भी भेजी गयी थी। यहा शिव-कुण्डलो मे लक्ष्मी व सरस्वती की आकृतियाँ इस अभिप्राय विशेष की दृष्टि से अनोखी हैं। यह मूर्ति भी पारेवा पत्थर की बनी है। कल्याणपुर से प्राप्त दो प्रस्तर प्रतिमाए नाग-नागी एव नागी अभिप्राय को अभिव्यक्त करती हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि उस समय मेवाड मे नागपूजा को पर्याप्त मान्यता दी जाती थी। उदयपुर नगर के पास 'नागदा' नामक ग्राम आज तक विद्यमान है जिसका प्राचीन नाम 'नागह्रद' तो वि० सवत् ७१८ के शिलालेख मे उपलब्ध है।

पूवमध्ययुगीन धातुकला की दृष्टि से आयड ग्राम से प्राप्त कास्य-मूर्ति बहुत उपयोगी है। यह लगभग पुरुषाकार है और जिन तीर्थंकर को ध्यानावस्था मे प्रस्तुत करती है। अभी तक इतनी पुरानी धातु प्रतिमा मेवाड मे अन्यत्र नही मिली है। आजकल यह आयड के पुरातत्त्व-सग्रहालय की शोभा बढा रही है। मध्ययुग में आयड व्यापार एव कला का भी एक प्रमुख केन्द्र बन गया था। यह गुहिल नरेशो की राजधानी था। यहा कई प्राचीन मदिर मेवाड की गुहिल कला व स्थापत्य के ज्वलन्त प्रतीक रूप में आज भी विद्यमान हैं। आयड की महासतियो के अहाते के बाहर 'गगोद्‌भेद' कुण्ड का निर्माण गुहिल नृपति भर्तृभट्ट के राज्य काल मे सवत् १००१ मे कराया गया। तत्सम्बन्धी शिलालेख आजकल उदयपुर के महाराजा भूपाल कॉलिज मे सुरक्षित है। इस लेख मे 'आदिवराह' नामक किसी व्यक्ति द्वारा आदि-वराह-विष्णु-मदिर मे 'आदि-वराह-प्रतिमा' की प्रतिष्ठा का उल्लेख किया गया है। कुण्ड के पास ही दो प्राचीन मदिर हैं—बडा मदिर बहुत ऊँचा है, इसके गर्भगृह के बाहर दाहिनी ओर शिव—लकुलीश-की मूर्ति जडी है। निज गगोद्‌भेद कुण्ड के अन्दर ताको मे जडी हुई कई दजन प्राचीन प्रतिमाएँ मेवाड की मध्ययुगीन शिल्प का बखान करती हैं। इनमें से सप्ताश्वरथ मे विराजमान सूर्य व चौदह हाथ वाले नृसिंह-वराह-विष्णु की दो भव्य मूर्तियाँ आयड सग्रहालय मे सुरक्षित कर दी गई हैं। मेवाड मे सूर्य-पूजा को भी पर्याप्त मान्यता प्राप्त थी। मध्ययुग मे यहाँ कई सूर्य-मदिरो का निर्माण हुआ था जिनमे से नावेसमा (गोगूंदा के पास) का सूर्य-मदिर तो प्राय नष्ट हो चुका है परन्तु उदयपुर से १३ मील दूरस्थ व दारोली ग्राम के पास का सूर्य-मदिर बहुत भव्य है—यह बेडच नदी के बायें किनारे पर पूर्वोन्मुख होकर बना है। मदिर के सभा-मण्डप मे सुरसुन्दरी-प्रतिमाएँ जुडी है व जघा-भागो पर भी। गर्भगृह की प्रधान ताको मे सूर्य भगवान की कई प्रतिमाएँ आज भी सुरक्षित है। यह मध्ययुगीन सूर्य-मदिरो की श्रेणी मे सर्वोत्तम माना जा सकता है, यद्यपि मन्दिर के शिखर भाग का सर्वथा जीर्णोद्धार हो चुका है।

आयड ग्राम के अन्दर कई जैन मन्दिर पूजान्तर्गत हैं। इनमे पुलिस स्टेशन के सामने व ग्राम के बीच के मन्दिर लगभग ११वी शती की शिल्पकला का परिचय देते हैं। आयड पुलिस चौकी के पीछे खेत मे विद्यमान मन्दिर भी उल्लेखनीय है—इसका शिखर तो प्राय आधुनिक है—इसे 'मीरां-मन्दिर' कहा जाता है, परन्तु यह ठीक नही। इससे मीरा का कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि यह ईसा की १०वी शती में बना होगा। मन्दिर के पीछे प्रधान ताक मे लक्ष्मीनारायण मूर्ति तत्कालीन है और नीचे बसी बजाते 'कीचक' को, जिसे भ्रमवश लोग कृष्ण समझकर मदिर को मीरां से सम्बन्धित मान लेते हैं। यह अभिप्राय राजस्थान मे सिरोही क्षेत्रान्तर्गत 'वर्माण' के स्तम्भ-शीर्ष द्वारा भी प्रस्तुत किया गया है। आयड के मीरा-मदिर के जघाभागो मे दिक्पाल व सुर-सुन्दरी प्रतिमाओं के साथ कुछ अन्य महत्वपूर्ण फलकों का विवेचन करना बहुत आवश्यक है क्योंकि ये मेवाड के मूर्ति विज्ञान की दृष्टि से असाधारण हैं। एक स्थल पर

नन्दबाबा गौ-बैल सहित प्रदर्शित हैं व दूसरी ओर यशोदा मैया दधि मथन कर रही हैं और पास खड़े कृष्ण माखन चुरा रहे हैं। दूसरे फलक मे कुछ वणिक् 'तराजू' से सामान तोलते हुए दिखाई देते है—इस प्रकार की तराजू आज भी 'पसारी' लोग प्रयोग मे लाते हैं। तृतीय शिला पर 'लोहकार' धौंकनी द्वारा अग्नि प्रज्वलित कर लोहे के टुकड़े को गर्म कर रहा है और पास बैठा अन्य लोहार हाथ मे हथौडा लिए उस लोहे के टुकडे को एक 'ठिये' पर रखकर पीट रहा है। ये प्रस्तर फलक तत्कालीन मेवाड (१०वी शती) के सामाजिक एव आर्थिक जीवन की आकर्षक झाकी प्रस्तुत करते हैं।

मेवाड के सास्कृतिक जीवन मे १०वी शती को स्वर्णिम-युग समझना अनुचित न होगा। यह पर्याप्त समृद्धिशाली समय था जबकि यहाँ बहुत से देवभवनो का निर्माण हुआ और नये-नये अभिप्राय शिल्पियो के माध्यम से कला मे अभिव्यक्त किये गये। उदयपुर जिले के कई मदिरो का उल्लेख किया ही जा चुका है। उदयपुर नगर से केवल १३ मील दूरस्थ व गोगुन्दा रोड पर 'ईसवाल' का विष्णु-मदिर पञ्चायतनशैली का है। मध्यवर्ती मदिर के बाह्य भागों पर जडी दिक्पाल प्रतिमाएँ प्राचीन परम्परानुसार द्विबाहु हैं। प्रवेश करते समय दाहिनी ओर गणेश-मदिर है व उसके सामने कुबेर का। पीछे सूर्य व देवी के लघु मन्दिर बनाकर 'पचायतन' भाव को पूरा किया गया।। ईसवाल से आगे खमणोर रोड पर जाकर, खमणोर से ३ मील दूर 'ऊनवास' का पिप्पलाद माता का मदिर सवत् १०१६ मे बना था—सम्भवत गुहिल अल्लट के राज्यकाल मे। निज मदिर के पीछे प्रधान ताक मे गौरी-पार्वती की मूर्ति जडी है। यह बहुत साधारण-सा दुर्गाभवन है—यहाँ दिक्पाल व सुरसुन्दरी प्रतिमाओ का सर्वथा अभाव है।

उदयपुर-कैलाशपुरी-नाथद्वारा रोड पर उदयपुर से १३ मील दूरस्थ कैलाशपुरी अर्थात् श्री **एकलिंगजी** के निजमदिर से ऊपर की पहाडी पर विक्रम सवत् १०२८ का बना **लकुलीश-मदिर** भारतीय स्थापत्य की महत्त्वपूर्ण निधि है। यह शिलालेख लकुलीश सम्प्रदाय के इतिहास की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। निजमदिर के गर्भगृह मे काले पत्थर की बनी पुरुषाकार लकुलीश मूर्ति शिव को ऊर्ध्वरेतस् स्वरूप मे प्रस्तुत करती है। प्रवेश के बायी ओर शिलालेख जडा है व दूसरी ओर की ताक मे शारदा-सरस्वती की भव्य प्रतिमा। इसके नीचे चौकी पर एक पक्ति का लघुलेख खुदा है। प्रस्तुत मदिर के सभा-मण्डप के दोनो ओर वायु व धूप प्रवेश हेतु जालियो की व्यवस्था की गई है, परन्तु समूचा जघा-भाग व पार्श्वभाग सर्वथा मूर्ति विहीन है— यहाँ मूलत किसी भी प्रकार की सुरसुन्दरी या दिक्पाल मूर्तियाँ नही जडी गयी थी। अत १० वी शती के स्थापत्य की दृष्टि से यह देवभवन भारतीय मध्ययुगीन कला की एक महत्त्वपूर्ण देन है।

कैलाशपुरी के पास ही, एक मील की दूरी पर, नागदा ग्राम के प्राचीन मदिर के अवशेष भी इस सन्दर्भ मे विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं। यह स्थान ७वी शती मे वैष्णव सम्प्रदाय का केन्द्र था जैसा कि इस स्थान से प्राप्त सवत् ७१८ के शिलालेख द्वारा आभास होता है। सवत् १०८३ के अन्यलेख मे भी इस स्थान का नाम 'नागह्रद' अकित है। नागद्रा के तालाब के किनारे पर एक ओर बडे चबूतरे पर दो बडे मदिर बने हैं जिन्हें **सास-बहू** मदिर नाम से पुकारा जाता है। इन दोनो ही मदिरो के गर्भगृह के बाहर ताको में ब्रह्मा विष्णु व शिव की प्रतिमाएँ जडी हैं—दोनो ही के पीछे प्रधान जघा के ऊपर बलराम मूर्ति भागवत-भाव की पुष्टि करते हैं और इसी शृखला में बाजू की एक ओर **दाशरथिराम** व दूसरी ओर **परशुराम** की लघु प्रतिमाएँ जडी हैं। तक्षणकार ने राम भाव (सकर्षण बलराम-दशरथपुत्र राम, परशुराम) को प्रधानता दी है। मूर्ति-विज्ञान की दृष्टि से ये दोनों प्रधान मन्दिर व पास की लघुदेवकुलिकाएँ बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं—इनके में एक पृथक् पुस्तक लिखी जा सकती है। यहाँ सक्षेप मे कुछ ही विलक्षण मूर्तियो का उल्लेख सम्भव होगा। सास-बहू मदिर के बीच पीछे की ओर एक लघु मन्दिर के पीछे की ताक मे आसनस्थ देव प्रतिमा मे **शिव व सूर्य के एक रूप** को दर्शाया गया है—इसे **'मार्त्तण्ड भैरव'** की सज्ञा दी जानी चाहिए। चतुर्बाहु एव आसनस्थ देव ने छाती पर सूर्य का कवच पहन रक्खा है, ऊपर के हाथों मे धारण किए गए आयुध (शूल व खट्वाग) शिव के प्रतीक हैं व नीचे के दोनो हाथो मे 'कमल' सूय के। देवता के सिर पर मुकुट सूर्य का सूचक है। इस आशय की स्वतन्त्र प्रतिमाएँ अभी तक अन्यत्र नही मिली हैं, यद्यपि 'मार्त्तण्ड भैरव' एक लम्बाकृति एक अलकृत शिलापट्ट पर खुदी है जो आजकल अमरीका के लॉस-एन्जल्स की प्रदर्शनी मे रक्खी गई थी। वह भी राजस्थानी कलाकृति प्रतीत होती है। नागदा के सास-मदिर मे सभा-मण्डप के बाहर दाहिनी ओर एक मूर्ति **गजेन्द्रमोक्ष** सवाद की सूचक है। यहाँ विष्णु के अतिरिक्त पास मे 'गज' प्रदर्शित है जिसे जलग्राह ने सताया था। राजस्थान की मूर्तिकला मे यह अभिप्राय अन्य किसी स्थान पर

अभी तक नही देखा गया है, यद्यपि भारतीय गुप्तयुगीन कला मे देवगढ़ की प्रस्तर शिला इस सदर्भ की अद्‌भुत अभिव्यक्ति करती है।

मध्ययुग मे नृसिंह-वराह विष्णु की नानाविध प्रतिमाएँ मेवाड़ मे ही नहीं अपितु समूचे राजस्थान व मध्य-प्रदेश मे बनायी गयी थी। खजुराहो के लक्ष्मण-मदिर के अन्दर तो इसी भाव की प्राचीन प्रतिमा आज भी पूजान्तर्गत है। इस आशय की मूर्तियाँ ८–६ वी शती में काश्मीर-चम्बा-कुल्लू व कागडा मे बहुत लोकप्रिय हो चुकी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर मे यह अभिप्राय विशेष राजस्थान मे बहुत लोकप्रिय हो गया। अपराजितपृच्छा, देवतामूर्तिप्रकरण व रूपमण्डन आदि ग्रथो मे विष्णु की इस वर्ग की बहुत सी मूर्तियो का उल्लेख हुआ है जिनकी हाथो की सख्या ४, ८, १०, १२, १४, १६, १८, २० तक है। मेवाड मे इस वर्ग की मूर्तियाँ १६ वी शती तक बनती रहीं, जैसा कि राजसमद-काकरोली की पाल पर बनी नौ चौकी के एक मण्डप की छत द्वारा स्पष्ट हो जाता है। कैलाशपुरी के एकलिगजी के मदिर के पास निर्मित मीरा-मदिर के बाहरी ताको मे भी ऐसी प्रतिमाएँ जडी हैं—इनमे मध्यवर्ती भाग विष्णुवासुदेव का है व बाजू के मुखसिंह व वराह के। नागदा के पास मदिर के बाहर बायी ओर ऐसी गरुडारूढ मूर्ति जडी है और एक आयड सग्रहालय की शोभा बढा रही है। भीलवाडा जिले मे 'बिजोलिया' के १२वी शती के प्राचीन मदिर भी ऐसे सदर्भ प्रस्तुत करते हैं, परन्तु अतिविलक्षण स्वरूप मे। एक प्रतिमा तो वैकुण्ठ विष्णु की है और दूसरी उनकी शक्ति की, जहाँ मध्यवर्ती भाग अश्व का है और बाजू के मुख सिंह व वराह के। वैकुण्ठ की शक्ति तो अलौकिक है। इसी वर्ग की एक विष्णु-मूर्ति चित्तौड दुर्ग पर पुरातत्त्व विभाग के कार्यालय मे सुरक्षित है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन मेवाडी कला-कृतियो में विष्णु के 'हयग्रीव' स्वरूप को प्रधानता दी गयी है। खजुराहो की वैकुण्ठ प्रतिमा स्थानिक सग्रहालय मे भी सुरक्षित है जहाँ पीछे की ओर चौथा मुख उकेरा गया है और अश्व का है। खजुराहो के लक्ष्मण मदिर के गर्भगृह की ताकों में क्रमश वराह-नृसिंह व हयग्रीव की प्रतिमाएँ इसी भाव की द्योतक प्रतीत होती हैं। श्रीनगर सग्रहालय की एक अपूर्व-मूर्ति मे सिंह-मुख के स्थान पर अश्वाकृति बनी है। ये सब प्रतिमाएँ मेवाडी कला का अन्य क्षेत्रो से आदान-प्रदान सिद्ध करती हैं।

मेवाड क्षेत्र मे कुरावड के पास 'जगत' ग्राम का **'अम्बिका मन्दिर'** तो राजस्थान का 'खजुराहो' है—यह १०वी शती में विद्यमान था जैसा कि स्तम्भ पर के सवत् १०१७ के शिलालेख द्वारा स्पष्ट हो चुका है। कलाकौशल की दृष्टि से भी यह बहुत भव्य है। यह ग्राम के बाहर स्थानिक माध्यमिक पाठशाला के सामने विद्यमान है। पूर्व की ओर से प्रवेश करते ही प्रवेश-मण्डप आता है जिसके द्वार-स्तम्भो पर मातृका-प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। इनमे 'वराही' के एक हाथ मे 'मत्स्य' विद्यमान है जो तान्त्रिक विचारधारा का सूचक है। प्राचीन भारतीय साहित्य मे 'वाराही रोहित-मत्स्यकपालधरा' उल्लेख द्वारा मत्स्य की पुष्टि होती है। इस प्रवेश-मण्डप की छत पर **समुद्र-मथन** अभिप्राय खुदा है और बाहरी दीवारो पर प्रेमालाप-मुद्रा मे नर-नारी। यहीं कुछ व्यक्ति कधो पर 'कावड' (बहगी) रखकर बोझ उठाते हुए प्रदर्शित हैं। आगे आगन है और फिर सुविशाल अम्बिका-भवन। मदिर के बाहरी भागो पर महिषमर्दिनी दुर्गा की नानाविध भव्य मूर्तियाँ विद्यमान हैं। निज गर्भगृह के पीछे की प्रधान ताक मे भी देवी महिष (राक्षस का वध करती दिखाई देती है–उसके पास कशु (Parrot) की विद्यमानता द्वारा **'शुकप्रिया अम्बिका'** भाव की पुष्टि होती है। सभा मण्डप के बाहर की एक अन्य मूर्ति मे देवी पुरुष रूप मे प्रस्तुत। राक्षस से युद्ध कर रही है जो प्राय बहुत ही कम स्थानो पर उपलब्ध है। महा बलिपुरम् व उडीसा की कला म महिष राक्षस को पुरुष रूप मे अवश्य बताया गया है परन्तु वहाँ उसका मुख महिष का है और सींग भी। जगत की इस मूर्ति में राक्षस पूर्णरूपेण पुरुष विग्रह मे प्रस्तुत है–वहाँ सींगो का भी सर्वथा अभाव है। इसी क्रम मे जगत की अन्य ताकें सरस्वती, गोधासना गौरी, चामुण्डा व द्विबाहु दिक्पालो की प्रतिमाओ के साथ-साथ सुरसुन्दरी प्रतिमाएँ नानाविध मुद्राओ मे प्रस्तुत करती हैं। कही अलस कन्या है तो कही शिशु को हाथो पर उठाए रमणी, अन्यत्र वह सद्यस्नाता व रूठी हुई रमणी के रूप मे विद्यमान है। उनकी भावभगिमा व वेशभूषा तो खजुराहो की कला की तुलना मे किसी भी प्रकार कम आकर्षक नहीं है। इस मदिर के प्रवेश व सभा-मण्डप के ऊपर बाहर की ओर भी कुछ देवी-प्रतिमाएँ जड़ी हैं जो दुर्गा के अन्य स्वरूपो की अभिव्यक्ति करती है। उत्तरी-भारत मे इस वर्ग के अन्य दुर्गा भवन की सतत प्रतीक्षा बनी रहेगी। जगत के अम्बिका मदिर के गर्भगृह के बाहर बाईं ओर अधिष्ठान की ताक मे नारायणी दुर्गा प्रतिमा विद्यमान है। इस प्रेतासना देवी के हाथो मे विष्णु के सभी

आयुध विद्यमान हैं। प्राचीन पौराणिक साहित्य के नारायणी-दुर्गा भाव को चरितार्थ करने वाली यह राजस्थानी प्रतिमा अपने वर्ग की बहुमूल्य कृति है, यद्यपि उडीसा मे भुवनेश्वर की कला मे भी कुछ ऐसी मूर्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। जगत के अम्बिका-मदिर के सभा-मण्डप मे 'नृत्यगणपति' की भव्य प्रतिमा सफेद पत्थर की बनी है और गणेश को 'चतुर' मुद्रा मे प्रदर्शित करती है। मेवाड की यह गणेश मूर्ति भी अपने वर्ग की महत्त्वपूर्ण कला-निधि है। ऐसी स्वतन्त्र प्रतिमाएँ बहुत ही कम सख्या मे मिलती हैं। निश्चित ही जगत की शिल्प-कला व प्रस्तर-प्रतिमाएँ मध्यकालीन राजस्थानी कला के गौरव की सामग्री है।

आयड ग्राम के मीरा-मदिर के बाहर जुडे हुए कृष्णलीला फलक का उल्लेख किया जा चुका है। मेवाड की प्राचीन मूर्तिकला मे (१५वी शती से पूर्व) कृष्ण-जीवन सम्बन्धी सदर्भ अत्यल्प सख्या मे उपलब्ध हैं। नागदा के सास-मदिर के सभा-मण्डप के स्तम्भो पर रामायण सम्बन्धी दृश्य खुदे हैं परन्तु मेवाडी मदिर के बाहरी भागो में इस प्रकार की शिलाएँ प्राय नगण्य हैं। बहू-मदिर के गर्भगृह के बाहर एक लघु मूर्ति रावणानुग्रह भाव को चरितार्थ करती है। यहाँ कैलाश पर्वत पर विराजमान शिव-पार्वती को लकेश रावण ने उठा रखा है। कला की दृष्टि से यहाँ तक्षण बहुत ही कम रोचक है।

मेवाड की प्राचीन मूर्तिकला की यह सक्षिप्त झाकी समूचे राजस्थान की ही नही अपितु भारत की शिल्पकला में अपना महत्त्वपूर्ण अस्तित्व रखने में पूर्णतया समर्थ है। विदेशी आक्रमणो के थपेडे खाकर भी इस प्रदेश के देवभवन व प्रस्तर प्रतिमाएँ आज भी पर्याप्त मात्रा में बचे हैं। यह कलात्मक धारा ११वी शती के उपरान्त भी मेवाड में बहती रही। १५वी शती में महाराणा कुम्भा ने समय-समय पर प्रोत्साहन प्रदान किया था। इतना ही नही उनके समय के दो राजशिल्पी-परिवार बहुत सक्रिय बने रहे। चित्तौड दुर्ग पर सूत्राधार जइता व उसके पुत्रो ने कीर्तिस्तम्भ का निर्माण किया और दूसरी ओर खेती पुत्र सूत्रधार 'मण्डन' नागदा एव कु भलगढ के शिल्प-कार्यों की देख-रेख करता था। दोनो ही परिवार कुशल कलाकार थे। पर्याप्त मात्रा में प्रेरणा लेकर सूत्रधार मण्डन ने अनेको शिल्प एव स्थापत्य विषयक ग्रथो की रचना भी की जिनमें रूप मण्डन, देवतामूर्तिप्रकरण, राजवल्लभ, राजाप्रासाद आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मण्डन के उत्तराधिकारियो ने उदयपुर के महलो, जगदीश मदिर व राजसमुद्र की नौचौकी के निर्माण कार्य में अतुल सहयोग प्रदान कर मेवाड के प्राचीन शिल्प व हस्तकला-कौशल को अक्षुण्ण बनाए रखा। उनकी अनेक कृतियाँ भारतीय मूर्तिकला की महत्त्वपूर्ण निधि के रूप में आज तक सुरक्षित हैं।

☆☆

साधना की पगडडी पहाड की चढाई के समान है, यह इतनी सकडी है कि इसके दोनो ओर गहरी खाइया हैं, एक ओर राग की गहरी खाई है दूसरी ओर द्वेष की।

साधक वह है जो सभल-सभल कर कदम धरता है, और साव-धानी पूर्वक चलता हुआ अपने गतव्य पर पहुँच जाता है।

—'अम्बागुरु सुवचन'
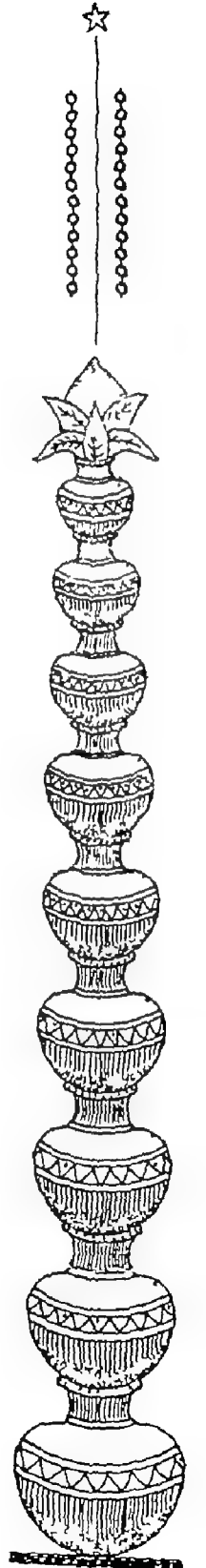
जैनो की धर्म-भक्ति नही, किन्तु देश-भक्ति भी इतिहास प्रसिद्ध है। देश एव समाज की सेवा के लिए स्वय को समर्पित करने वाले भीलो के बेताज बादशाह एक जैन गृहस्थ का परिचय पढ़िए।

□ श्री शोभालाल गुप्त
अध्यक्ष, राजस्थान लोक सेवा सघ
[भू पू सपादक—दैनिक हिन्दुस्तान]

मेवाड का एक जैन भील नेता

श्री मोतीलाल तेजावत

□

जैन समाज न अनेक देशभक्तो को जन्म दिया, जिन्होने देश के राजनीतिक और सामाजिक जीवन पर अपनी अमिट छाप छोडी है। देश के स्वतन्त्रता-सग्राम मे उनके योग को कभी भुलाया नही जा सकता। महात्मा गाधी ने हमारे स्वतन्त्रता सग्राम को अहिंसक मोड दिया और उन्होने अहिंसा की शक्ति का विराट् प्रदर्शन किया। जैन समाज को अहिंसा जन्म घुट्टी के रूप मे प्राप्त हुई और उसकी प्रकृति का मूलभूत अग बन चुकी है। अत जैन देशभक्तो के लिए अहिंसा का अनुसरण सहज साध्य था। गाधीजी कहा करते थे कि अहिंसा कायरो का नही वीरो का शस्त्र है और कोई निर्भय व्यक्ति ही अहिंसा के पथ पर चलने का साहस कर सकता है। अहिंसा का अनुयायी अन्याय का प्रतिकार करते हुए भी अन्यायकर्त्ता के प्रति अपने हृदय मे द्वेष की भावना नही रखता और स्वय कष्ट सहकर अन्यायकर्ता के हृदय-परिवर्तन की चेष्टा करता है। शान्ति और सयम, त्याग और बलिदान जैसे मानवी गुणो का जैन-परम्परा मे खूब विकास हुआ और देश के स्वतन्त्रता-सग्राम मे गाधीजी ने इन गुणो पर सर्वाधिक बल दिया। कोई आश्चर्य नही कि जैन समाज गाधी जी द्वारा सचालित अहिंसक सग्राम की ओर आकर्षित हुआ और उसने देश की स्वतन्त्रता के लक्ष्य की पूर्ति मे अपनी योग्य भूमिका का निर्वाह किया।

राजस्थान के जैन देशभक्तो मे मेवाड के स्वर्गीय मोतीलाल जी तेजावत का नाम विशेष आदर के साथ लेना होगा। श्री तेजावत ने जीवन भर अन्याय, अत्याचार और शोषण के विरुद्ध सघर्ष किया और सच्चाई की खातिर वह कोई भी कुर्बानी देने मे पीछे नही रहे। उन्होने आज की तथाकथित उच्च शिक्षा प्राप्त नही थी, किन्तु उन्होंने जगलो और पहाडियो मे रहने वाले लाखो आदिवासियो का प्रेम और विश्वास प्राप्त किया और एक प्रकार से उनके मसीहा ही बन गये। भील उन्हें अपने प्राणो से भी अधिक प्यार करते थे और उनके इशारे पर मर मिटने को प्रस्तुत रहते थे।

भूतपूर्व मेवाड रियासत के कोलियारी नामक एक अज्ञात गाव मे ओसवाल कुल मे श्री तेजावत का जन्म हुआ। उनकी शिक्षा दीक्षा गाव मे ही हुई और बडे होने पर उन्होंने समीप के झाडोल ठिकाने की नौकरी के साथ अपने जीवन की शुरूआत की। किन्तु उन्होंने शीघ्र ही अनुभव कर लिया कि वह सामन्तवाद के पुर्जे बन कर नही रह सकते। उन्हें झाडोल के जागीरदार के साथ मेवाड के महाराणा के शिकार—दौरो मे जाने का मौका मिला और उन्होंने बेगार प्रथा के राक्षसी स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन किया। जहाँ भी महाराणा पडाव डालते, महाजनो को रसद पहुँचानी पडती और इन व्यापारियो को उनकी सामग्री का एक चौथाई मूल्य भी नहीं दिया जाता। ग्रामीणो को हर प्रकार के काम बिना किसी मजदूरी के मुफ्त करने पडते। आना-कानी करने पर जूतो से पिटाई होती और खोड़े

जैनो की धर्म-भक्ति नही, किन्तु देश-भक्ति भी इतिहास प्रसिद्ध है। देश एव समाज की सेवा के लिए स्वय को समर्पित करने वाले भीलो के बेताज बादशाह एक जैन गृहस्थ का परिचय पढिए।

□ श्री शोभालाल गुप्त
अध्यक्ष, राजस्थान लोक सेवा सघ
[भू पू सपादक—दैनिक हिन्दुस्तान]

मेवाड का एक जैन भील नेता
श्री मोतीलाल तेजावत

□

जैन समाज ने अनेक देशभक्तो को जन्म दिया, जिन्होने देश के राजनीतिक और सामाजिक जीवन पर अपनी अमिट छाप छोडी है। देश के स्वतन्त्रता-सग्राम मे उनके योग को कभी भुलाया नहीं जा सकता। महात्मा गाधी ने हमारे स्वतन्त्रता सग्राम को अहिंसक मोड दिया और उन्होने अहिंसा की शक्ति का विराट् प्रदशन किया। जैन समाज को अहिंसा जन्म-घुट्टी के रूप मे प्राप्त हुई और उसकी प्रकृति का मूलभूत अग वन चुकी है। अत जैन देशभक्तो के लिए अहिंसा का अनुसरण सहज साध्य था। गाधीजी कहा करते थे कि अहिंसा कायरो का नहीं वीरो का शस्त्र है और कोई निभय व्यक्ति ही अहिंसा के पथ पर चलने का साहस कर सकता है। अहिंसा का अनुयायी अन्याय का प्रतिकार करते हुए भी अन्यायकर्त्ता के प्रति अपने हृदय मे द्वेष की भावना नही रखता और स्वय कष्ट सहकर अन्यायकर्त्ता के हृदय परिवर्तन की चेष्टा करता है। शान्ति और सयम, त्याग और बलिदान जैसे मानवी गुणो का जैन-परम्परा मे खूब विकास हुआ और देश के स्वतन्त्रता-सग्राम मे गाधीजी ने इन गुणो पर सर्वाधिक बल दिया। कोई आश्चय नही कि जैन समाज गाधी जी द्वारा सचालित अहिंसक सग्राम की ओर आकर्षित हुआ और उसने देश की स्वतन्त्रता के लक्ष्य की पूर्ति मे अपनी योग्य भूमिका का निर्वाह किया।

राजस्थान के जैन देशभक्तो मे मेवाड के स्वर्गीय मोतीलाल जी तेजावत का नाम विशेप आदर के साथ लेना होगा। श्री तेजावत ने जीवन भर अन्याय, अत्याचार और शोपण के विरुद्ध सघर्ष किया और सच्चाई की खातिर वह कोई भी कुर्बानी देने मे पीछे नहीं रहे। उन्होंने आज की तथाकथित उच्च शिक्षा प्राप्त नही थी, किन्तु उन्होंने जगलो और पहाडियो मे रहने वाले लाखो आदिवासियो का प्रेम और विश्वास प्राप्त किया और एक प्रकार से उनके मसीहा ही बन गये। भील उन्हें अपने प्राणो से भी अधिक प्यार करते थे और उनके इशारे पर मर मिटने को प्रस्तुत रहते थे।

भूतपूर्व मेवाड रियासत के कोलियारी नामक एक अज्ञात गांव मे ओसवाल कुल मे श्री तेजावत का जन्म हुआ। उनकी शिक्षा दीक्षा गाव मे ही हुई और बडे होने पर उन्होने समीप के झाडोल ठिकाने की नौकरी के साथ अपने जीवन की शुरूआत की। किन्तु उन्होंने शीघ्र ही अनुभव कर लिया कि वह सामन्तवाद के पुर्जे बन कर नहीं रह सकते। उन्हें झाडोल के जागीरदार के साथ मेवाड के महाराणा के शिकार—दौरो मे जाने का मौका मिला और उन्होने बेगार प्रथा के राक्षसी स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन किया। जहाँ भी महाराणा पडाव डालते, महाजनो को रसद पहुँचानी पडती और इन व्यापारियो को उनकी सामग्री का एक चौथाई मूल्य भी नहीं दिया जाता। ग्रामीणो को हर प्रकार के काम बिना किसी मजदूरी के मुफ्त करने पडते। आना-कानी करने पर जूतो से पिटाई होती और खोडे

मे पाँव दे दिये जाते। उनकी जागृत आत्मा ने इस अन्याय के सामने विद्रोह किया और वह ठिकाने की नौकरी से त्याग पत्र देकर अलग हो गये।

सवत् १६७७ की वैशाख शुक्ला पूर्णिमा को चित्तौड जिले के मातृकुण्डिया नामक स्थान मे आस-पास के किसान बडी सख्या मे एकत्र हुए। किसान राजकीय शोषण से बुरी तरह सतप्त थे और नाना प्रकार के टैक्स वसूल किये जाते थे। राज्य कर्मचारियो के सामने किसी की भी इज्जत सुरक्षित नही थी। जूतो से पिटाई एक आम बात थी। किसान अपनी कष्टगाथा सुनाने हजारो की सख्या में उदयपुर पहुचे और श्री तेजावत उनके अगुआ बने। उन्होने महाराणा को २७ सूत्री मागो का एक ज्ञापन दिया और किसानो ने राजधानी मे डेरा डाल दिया। महाराणा ने किसानो को २१ मे से १८ मागें मान ली। किन्तु जगलात के कष्ट दूर नही हुए। वन्य पशु खेती को उजाड देते थे, किन्तु उन्हें निवारण की इजाजत नही मिली और बैठ-वेगार पूववत जारी रही। किन्तु अपनी अधिकाश माँगें पूरी हो जाने से किसान अपने घरो को लौट गये। किसानो की सगठित शक्ति की यह पहली विजय थी, जिसने उनके हौसलो को बढा दिया।

श्री तेजावत को एक नयी राह मिल गयी। उन्होंने भील क्षेत्र मे जन्म लिया था। भीलो की अवस्था से वह अच्छी तरह परिचित थे। भीलो को न भरपेट खाना मिलता था और न तन ढकने को कपडा। अपने श्रम से पहाडी धरती से जो थोडा बहुत उपजाते थे, उसका खासा भाग राज्यकर्त्ता और उनके सामन्त छीन लेते थे। श्री तेजावत ने भील क्षेत्र मे घूमना शुरू कर दिया। उन्होंने भीलो को समझाना शुरू किया कि वे सगठित होंगे तो ही उनके शोषण का अन्त हो सकेगा। इस प्रकार भीलो मे 'एकी' अर्थात् एकता आन्दोलन का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने शपथ ली कि वे न बढ़ा-चढा लगान देंगे और न बैठ-वेगार करेंगे। सामन्त इस आन्दोलन से चौंके और जब श्री तेजावत आकड गाव में ठहरे हुए थे तो झाडोल के जागीरदार ने श्री तेजावत को जान से मार देने का प्रयास किया, किन्तु वह सफल नहीं हुआ और श्री तेजावत भीलों की सेवा करने के लिए बच गये।

श्री तेजावत का 'एकी आन्दोलन' दावानल की तरह फैलने लगा। वह मेवाड की सीमाओ को लाघ कर सिरोही, जोधपुर और गुजरात की दाता, पालनपुर, ईडर और विजयनगर आदि रियासतो मे भी फैल गया। इन रियासतो की आदिवासी प्रजा समान रूप से शोषित और पीडित थी। उसने समझा कि श्री तेजावत के रूप मे एक नया मसीहा उसके उद्धार के लिए प्रकट हुआ है। उसने एकता के मन्त्र को अपना लिया और अन्याय को चुपचाप बर्दास्त करने से इन्कार कर दिया।

रियासती सत्ताधीश घबराये और उन्होंने दमन का आश्रय लिया। मेवाड के भोमट इलाके में फौजकशी की गई और फौज ने मशीनगन से गोलियाँ चलाई। करीब १२०० भील जान से मारे गये। श्री तेजावत के पाँव मे भी गोली और छर्रे लगे, किन्तु भील अपनी मुक्तिदाता को उठा ले गये और अज्ञात स्थान में छिपा दिया। इसके साथ ही श्री तेजावत का फरारी जीवन प्रारम्भ हो गया। वह आठ वर्ष तक भूमिगत रहे। रियासती शासक उनकी खोज मे रहते थे, किन्तु उनका पता नही लगा पाये। भील उन्हें प्राणो से भी अधिक प्यार करते थे और उनकी सुरक्षा के लिए सदा सतर्क और चिन्तित रहते थे। जिस प्रकार भीलो ने राणा प्रताप का साथ दिया, उसी प्रकार उन्होंने श्री तेजावत को भी अपना आराध्य माना और पूरी निष्ठा के साथ उनकी सेवा की। किन्तु दीर्घकालीन फरारी जीवन मे उन्हें जिन अभावो और कठिनाइयों का सामना करना पडा, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है।

ब्रिटिश भारत मे गाँधी जी का असहयोग आन्दोलन चल रहा था, तो रियासतो मे उसके साथ-साथ भील आन्दोलन की लहर चल रही थी। उस समय सिरोही रियासत के दीवान महामना मालवीय जी के पुत्र रमाकान्त मालवीय थे। उन्होंने श्री तेजावत से मिल कर आन्दोलन को शान्त करने की इच्छा प्रकट की। इस कार्य मे उन्होंने राजस्थान सेवा सघ के अध्यक्ष श्री विजयसिंह पथिक की सहायता चाही। श्री पथिक जी मोतीलाल जी तेजावत से उनके अज्ञात निवास-स्थान पर मिले। श्री तेजावत से सिरोही के दीवान रमाकान्त जी मालवीय की भेंट का आयोजन किया गया। भीलो ने यह आश्वासन माँगा कि उनके तथा उनके नेता के साथ कोई विश्वासघात नहीं होगा। श्री मालवीय को तलवारो के साये मे श्री तेजावत के शिविर तक पहुँचाया गया। इस शिविर मे आने वाले प्रत्येक
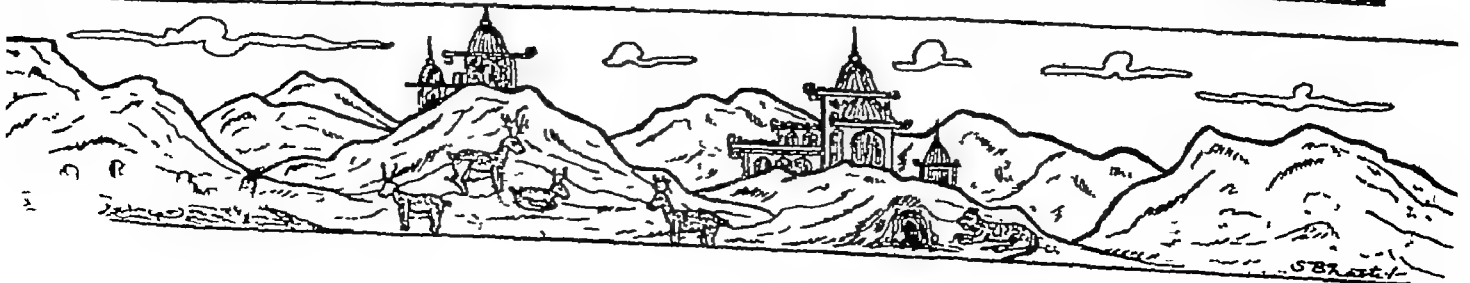
व्यक्ति को मिट्टी की कुण्डी मे भरे हुए जल मे से एक घूँट पानी पीकर इस आशय की शपथ लेनी पड़ती थी कि वह विश्वासघात नही करेगा। श्री मालवीय को भी शपथ लेने की यह प्रक्रिया पूरी करनी पडी। उन्होंने भीलो को कुछ रियायतें देना स्वीकार किया।

किन्तु भील-आन्दोलन शान्त नहीं हुआ। श्री मालवीय त्यागपत्र देकर सिरोही से चले गये। अंग्रेज सरकार भील-आन्दोलन को कुचल देना चाहती थी। अत भीलो को दबाने के लिए अंग्रेज अफसर की देखरेख मे सेना भेजी गयी। भीलो पर मशीनगन से गोलिया चली। इस हत्याकाण्ड म अनेक व्यक्ति हताहत हुए। फौज ने भीलो के भूला और वालोलिया नामक दो गांवो को जला कर राख कर दिया। भीलो के अन्न गोदाम और कपडे-लत्ते सब स्वाहा हो गये। पशु भी आग की लपटो मे नही बचे। सिरोही के इस भील हत्याकाण्ड की ब्रिटिश ससद मे भी चर्चा हुई और भारतीय लोकमत क्षुब्ध हो उठा।

श्री तेजावत जी ने केवल राजाशाही और सामन्ती शोषण एव अत्याचारो का ही विरोध नही किया बल्कि उन्होंने भीलो को शराबखोरी और मास-सेवन की बुराइयो से भी विरत किया। उनके प्रभाव से लाखो भीलों ने उन बुराइयो को छोडने की शपथ ली और सदाचारी जीवन बिताने का सकल्प लिया। भीलो ने चोरी करना अथवा डाके डालना छोड दिया। समाज-सुधार की इस लहर ने लाखो भीलो को प्रभावित किया।

जब गाधीजी को श्री तेजावत के इस सुधारवादी कार्य का पता चला तो उनकी स्वाभाविक इच्छा हुई कि उन्हे खुले रूप मे सुधार कार्य जारी रखने का अवसर दिया जाए। भील आन्दोलन की लहर तब शान्त हो चुकी थी। श्री मणिलाल जी कोठारी गाधी जी के विश्वस्त साथियो म थे। उनका राजनीतिक विभाग के ब्रिटिश अधिकारियों से मिलना-जुलना होता था। उन्होंने उनसे यह आश्वासन प्राप्त करने की कोशिश की कि श्री तेजावत पर उनकी पिछली कारवाइयो के आधार पर कोई मुकदमा नही चलाया जायगा। अन्त मे गाधी जी के परामर्श पर श्री तेजावत ने ईडर रियासत के खेड ब्रह्मा गाँव मे अपने आपको पुलिस के हवाले कर दिया, और कोई रियासत श्री तेजावत पर मुकद्दमा चलाने के लिए राजी नही हुई, किन्तु मेवाड रियासत ने उनको मांग लिया। श्री तेजावत को ईडर रियासत ने मेवाड रियासत के अनुरोध पर उसके हवाले कर दिया।

मेवाड रियासत श्री तेजावत से बहुत भयभीत थी। उसने उन्हें ६ अगस्त, १९२९ से २३ अप्रैल, १९३६ तक लगभग सात वर्ष उदय सेण्ट्रल जेल मे बन्द रखा। श्री तेजावत भीलो मे समाज-सुधार का काम करें, गाँधी जी की इस इच्छा को मेवाड रियासत ने पूरा नहीं होने दिया। इस प्रकार श्री तेजावत को राजाओ की स्वेच्छाचारिता और सामन्ती शोषण का विरोध करने का दण्ड भुगतना पडा। किन्तु यह लम्बा कारावास भी गरीबो की सेवा करने के उनके सँकल्प को ढीला नही कर पाया। अन्त मे हार कर मेवाड रियासत ने श्री तेजावत को जेल से तो रिहा कर दिया, किन्तु उन पर यह प्रतिबंध लगा दिया कि वह उदयपुर शहर की सीमा से बाहर नही जायेंगे। उनके लिए यह भी एक प्रकार की कैद ही थी। एक बार जब भोमट का भील क्षेत्र दुष्कालग्रस्त हुआ तो श्री तेजावत ने राजकीय प्रतिबंध की परवाह न करते हुए भील क्षेत्र के लिए प्रस्थान किया, किन्तु उन्हें पुन गिरफ्तार करके उदयपुर मे नजरबन्द कर दिया गया।

मेवाड मे प्रजामण्डल की स्थापना के लिए सत्याग्रह हुआ तो श्री तेजावत उसमे कूद पड़े। उन्हें गिरफ्तार किया गया और कुछ समय बाद रिहा कर दिया गया। सन् १९४२ मे देश मे 'अंग्रेजो, भारत छोडो' आन्दोलन की शुरूआत हुई। मेवाड प्रजामण्डल ने महाराणा से मांग की कि वह ब्रिटिश ताज से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर ले और अपने राज्य को स्वतन्त्र घोषित कर दे। श्री तेजावत मेवाड प्रजामण्डल के हिमायती थे, अत उनकी सीमित स्वतन्त्रता भी छीन ली गयी। उन्हे अगस्त १९४२ मे गिरफ्तार कर लिया गया और सन् १९४५ तक पूरे तीन वर्ष जेल में नजरबन्द कैदी के रूप में रखा गया। उसके बाद जब उन्हें जेल से रिहा किया गया, तो उन पर पहले की भाँति उदयपुर शहर की सीमाओं के भीतर रहने का प्रतिबंध लगा दिया गया। इस नजरबन्दी से उन्हें तभी मुक्ति मिली, जब सन् १९४७ मे देश स्वतन्त्र हुआ।

श्री तेजावत जी का जीवन सतत संघर्षों का जीवन रहा। उन्हे अपने जीवन के लगभग तीस वर्ष फरारी, जेल और नजरबन्दी मे बिताने पड़े। उन्होने अपनी युवावस्था मे सेवा क्षेत्र मे जो कदम रखा तो कभी पीछे मुड़ कर नही देखा। विपदाओ की चट्टानें उनके सिर से आकर टकराती रहीं और उनकी दृढता के आगे चूर-चूर होती रही। उनकी एकमात्र साध यही रही कि गरीबो को शोषण और अत्याचारो से मुक्ति मिले और वे मानवोचित जीवन बिता सकें। देश की स्वतन्त्रता के साथ राजस्थान भी राजाशाही और सामन्ती नागपाश से मुक्त हुआ और इस लक्ष्य को सिद्ध करने मे श्री तेजावतजी जैसे अनेक देशभक्तो ने अपने जीवन को तिल-तिल करके खपाया है। उन्हें जिन्दा शहीद कहा जाये तो कोई अत्युक्ति नही होगी।

श्री तेजावत जी सादगी और विनय की साक्षात मूर्ति थे। उन्होंने अपने जीवन मे वह चमत्कार कर दिखाया, जो कोई विरला ही दिखा सकता है। वह लाखो भीलो के बेताज बादशाह थे, जो उनके संकेत पर मर-मिटने को उद्यत रहते थे। ७७ वर्ष की अवस्था मे, ५ दिसम्बर, सन् १६६३ को उन्होंने अपना यह नश्वर शरीर छोड़ा, किन्तु वह अपने पीछे त्याग, बलिदान और कष्ट सहन की ऐसी कहानी छोड़ गये हैं, जो देश के स्वतन्त्रता-संग्राम में स्वर्णाक्षरो मे लिखी जानी चाहिए। श्री तेजावत जी का जीवन आने वाली पीढियो को सदा सर्वदा प्रेरणा देता रहेगा।

●●

तुम सुस्त होकर क्यो बैठे हो! जो समय बीत रहा है वह लौट-कर वापस नही आयेगा। जो कीमती घड़ियाँ गुजर रही हैं, उनका मूल्य आज नही, किन्तु बीत जाने के बाद तुम्हें पता लगेगा, कि इन घड़ियो का सदुपयोग तुम्हारे भाग्य पुष्प को खिलाने में कितना महत्वपूर्ण होता।

जो समय का महत्व समझता है, वह चतुर है, जो समय का सदु-पयोग करता है वह जीवन मे अवश्य सफल होता है।

—'अम्बागुरु-सुवचन'

जैन धर्म मूलत जातिवाद-विरोधी रहा है। आचार की श्रेष्ठता के गज से ही उसने मानव की श्रेष्ठता नापी है। मेवाड मे हिंसा-प्रधान व्यवसाय करने वाली खटीक जाति को अहिंसा-व्यवसायी बनाकर उसने अपने ऐतिहासिक-विरुद को साकार बना दिया है। यहाँ पढिए वीरवाल प्रवृत्ति के सदर्भ मे अहिंसक समाज रचना की प्रवृत्तियो का दिग्दर्शन।

☐ श्री नाथूलाल चण्डालिया, कपासन
[प्रमुख सामाजिक कार्यकर्ता]

अहिंसक समाज रचना का एक प्रयोग
मेवाड मे वीरवाल प्रवृत्ति

☐

जैन धर्म के मौलिक सिद्धान्तो मे अहिंसा का सर्वोपरि स्थान है।

अहिंसा को यदि हटा दिया जाए तो जैन धम का अस्तित्व भी समाप्त हो जाएगा, हिंसा मानव का निजी स्वभाव नही होते हुए भी वैकारिक वातावरण तथा कई तरह के लालचो के सन्दर्भ मे मानव हिंसक बन जाता है।

भारत मे कई जातियाँ तो केवल ऐसी बन चुकी हैं कि जिनका दैनिक व्यवसाय ही हिंसा है।

अस्वाभाविक हिंसा भी निरन्तरता तथा लगाव के कारण स्वभाव सी बन बैठी है, जिन जातियो का व्यवसाय नितान्त हिंसा से ओत-प्रोत है उनमे खटीक जाति का नाम प्रमुख है। खटीकों मे हिंसा व्यावसायिक रूप धारण कर बैठी है।

जैनधम दया और अहिंसा का सन्देश देता है। जिनका खटीक जाति के मौलिक सस्कारो से कोई मेल नहीं किन्तु यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि उपचार सर्वदा उपरि ही हो सकता है। चाहे वह कितना ही घुलमिल क्यो न जाए, हिंसा मानव स्वभाव मे उप चरित है। आरोपित है, यह स्वभाव नही चाहे वह फिर कितनी ही क्यो नही फैल जाए। एक मनस्वी सत ने इस तथ्य को पहचाना। उनका नाम श्री समीर मुनिजी है। उन्होंने खटीक समाज मे अहिंसा का बिगुल बजाने का निश्चय किया।

अथक श्रम तथा कार्यकर्त्ताओ एव कान्फ्रेन्स के सतयोग से प्रवृत्ति का बीजारोपण हुआ।

खटीको मे अहिंसा का प्रचार मेवाड के गाँवो से प्रारम्भ हुआ, श्रम और सहयोग के बल पर निरन्तर बढता चला गया। उभरते हुए सूय की तरह एक नयी जाति का अभ्युदय हुआ उसका नामकरण भगवान महावीर जिनका नाम अहिंसा का प्रतीक बन चुका है, उन्ही के नाम पर "वीरवाल" किया गया। आज मेवाड में हजारों की तादाद में वीरवाल बन्धु हैं जिन हाथो में छुरियां रहा करती थी उन हाथो मे आज पू जणिया हैं, माला हैं।

वीरवाल समाज के अपने नये रीति-रिवाज हैं, जो अहिंसा पूर्ण है। हजारों खटीको के बीच वीरवाल समाज का यह उदयमान सूर्य बादलो की रुकावटो से कब रुका है।

ओसवाल जैन और वीरवाल समाज ने अपने प्रगतिशील कदम आगे बढाने को एक सस्था का गठन किया जिसका नाम अखिल राजस्थान स्थानकवासी अहिंसा प्रचारक जैन सघ है। इसका प्रधान कार्यालय चितौडगढ़ है।

इसके निर्देशन में आज वीरवाल प्रवृत्ति गतिमान है, सस्था ने वीरवाल बच्चो को सुसस्कारित बनाने को एक छात्रावास की भी स्थापना की, छात्रावास अहिंसा नगर में चल रहा है।

वीरवाल समाज को समस्त प्रवृत्तियों को गतिमान करने को चितौडगढ़ से चार मील दूर निम्बाहेड राजमार्ग

पर सैंतीस बीघा भूमि पर अहिंसा नगर बनाया गया । भवन निर्माण पर दो लाख रुपये खर्च किये गये । छात्रावास वहीं प्रवृत्तमान है।

'अहिंसा नगर' जैन समाज और वीरवाल समाज की एक विलक्षण उपलब्धि है इसे मूर्त रूप देने मे जिन सहयोगियों का मुख्य हाथ रहा उनमे कुशालपुरा के सेठ हेमराजजी सिघवी प्रमुख हैं। श्री हेमराजजी ने एक लाख की राशि सघ को देने दिलाने का वचन दिया। तैंतीस हजार मद्रास से दिलाये, शेष रुपया अपनी तरफ से मिला कर एक लाख पूरा कर दिया।

अहिंसा नगर का शिलान्यास तत्कालीन मुख्यमन्त्री श्रीयुत मोहनलाल जी सुखाडिया द्वारा हुआ । यह घटना ३ अप्रेल, सन् १६६६ की है।

वीरवाल जाति अपने नाम के अनुरूप ही बहादुर है। इसने खटीको के साथ अपने सारे सम्बन्ध तोड दिये। पाठक सोचें कि यह कार्य कितना दुष्कर है। कहीं-कही तो पिता पुत्र से अलग हैं, पुत्र वीरवाल और पिता खटीक है तो दोनो का कोई सम्बन्ध नही, अहिंसा के लिए इतना बडा कदम उठाने वाले वीर नही तो और क्या है।

वीरवाल अपने स्वीकृत सिद्धान्तो के प्रति सच्चे और अडिग हैं। १ मई, सन् १६५८ का वह स्वर्ण दिन वीरवालो के लिए ऐतिहासिक दिन है क्योंकि उस दिन इस जाति की स्थापना हुई है।

विश्व मे मई दिवस मजदूरो की मुक्ति के रूप मे मनाया जाता है तो वीरवालो के लिए १ मई अपने नवजागरण का सन्देश लेकर आता है।

वीरवाल समाज को सगठित और सुशिक्षित करने हेतु प्राय पर्यूषण मे आठ दिनो का शिक्षण शिविर आयोजित किया जाता है जिसमे प्राय अधिक से अधिक वीरवाल भाग लेते हैं और त्याग, तप, व्रत पौषध, सामायिक प्रतिक्रमण उन्ही का शिक्षण ग्रहण करते हैं। सस्था वीरवाल समाज के अभ्युदय के लिए छात्रवृत्ति, शिक्षण तथा व्यवसाय का भी यथा शक्ति व्यवस्था करती है। वीरवाल समाज के क्षेत्र में आज कई कार्यकर्ता सक्रिय हैं उनमे इन्दौर वाले कमला माताजी का नाम सर्वोपरि है। श्री कमला माताजी ने अपना पूरा जीवन ही वीरवाल सेवा मे अर्पित कर रक्खा है। पूरे समाज मे माताजी के नाम से प्रख्यात माताजी बडी विदुषी और कमठ कार्य कर्त्री है। आज उन्ही से दिशा निर्देशन प्राप्त हो रहा है।

वीरवाल समाज एक नवांकुर है, इसे समाज के स्नेह की आवश्यकता है। सत मुनिराज तथा समाज के धनी एव कार्यकर्ताओ का समुचित सहयोग मिले तो यह समाज भारत मे अहिंसा का निराला प्रतीक बन सकता है।

●●

अगर कभी मूर्ख का सग हो जाये तो पहली बात उसके साथ बातचीत मत करो। बातचीत करनी पडे तो उसकी बात का उत्तरमात्र दो, बहसबाजी या खण्डन-मण्डन मत करो। क्योकि मूर्ख की बात का समर्थन किया नही जा सकता और विरोध करने से वे रूठ जायेंगे, सभवत विरोधी व शत्रु भी बन जाये।

इसलिये नीतिकारो ने कहा है—मूर्ख के साथ 'मौन' ही सर्वोत्तम व्यवहार है।

—'अम्बागुरु-सुवचन'

□ मदनलाल पीतल्या, गगापुर

मेवाड के प्रसुप्त धार्मिक तेज को पुन प्रदीप्त कर उसमे नव चेतना फूंकने का कार्य एक ऐतिहासिक कार्य है। बिखरी हुई युवा शक्ति एव सामाजिक चेतना को सगठित एव कार्यशील करने वाली एक जीवत सँस्था का परिचय यहाँ दिया गया है।

मेवाड का कल्पवृक्ष

धर्मज्योति परिषद

□

सामाजिक सरचना मानवीय सभ्यता की सबसे बडी उपलब्धि है। व्यक्ति समस्याओ से ग्रस्त है और जब अनेको व्यक्ति ही समाज के अगभूत होते हैं तो समस्याएँ सामाजिक रूप धारण कर लेती है। सामाजिक समस्याओ का निराकरण सामाजिक स्तर पर करना होता है।

समय पर सामाजिक समस्याओ का समाधान नही होता है तो पीडाएँ घनीभूत हो जाया करती हैं।

कुछ विरल विभूतियाँ उन घनीभूत पीडाओ को समझ पाते हैं।

उद्गम और विकास

जब पूज्य प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज साहब का भूपालगज (भीलवाडा) में चातुर्मास था उस अवसर पर क्रान्तदृष्टा प्रवतक श्री के शिष्यरत्न मुनि श्री कुमुदजी ने समाज के कतिपय प्रगतिशील विचारको के समक्ष समाज की अन्तर्पीडा की ओर कान्तिकारी सकेत दिया। बस धर्मज्योति परिषद् के उद्गम का यही मूल था।

एक छोटा-सा सविधान बना, एक रूपरेखा खडी हुई और एक सस्था का बीज वपन हो गया।

आर्थिक पृष्ठ भूमिका का जहाँ तक प्रश्न है वह बिलकुल नही थी, जो उग भी नही गई, ऐसी सस्था में कोई पैसा लगाना नही चाहता था। प्रारम्भिक सहयोग के रुप में श्री मूलचन्द जी कोठारी रायपुर वाले का नाम उल्लेखनीय है। उन्होने सस्था को पाँच सौ रुपया प्रारम्भ में कर्ज स्वरूप नि शुल्क दिया जो दो-तीन वर्षों बाद भेंट ही नहीं कर दिये अपितु पाँच सौ रुपये और मिलाकर एक हजार के दान की घोषणा कर दी।

काय प्रारम्भ होते ही चारो तरफ से आर्थिक एव भावात्मक सहयोग की बहार आ गई।

प्रवृत्तियाँ—सस्था की मौलिक प्रवृत्तियाँ चार हैं।

(१) जैन शालाओ का सचालन
(२) पत्रिका का प्रकाशन
(३) अभाव-ग्रस्तो को सहयोग
(४) सत्साहित्य का प्रकाशन।

पहुँना, हमीरगढ़ और उसके आगे बहने वाली विशाल बनास नदी को देखकर कु भलगढ के पहाडो में बनास के उद्गम को कोई देखे तो उसे विश्वास नही हो सकता कि यह छोटा-सा स्रोत इतना विशाल रूप भी धारण कर सकता है। यही बात धर्म ज्योति परिषद के लिये है।

आज जो धर्म ज्योति परिषद का रूप है। इसके उद्गम के समय इसका कोई अनुमान नहीं कर सकता था। अधिकतर तो ऐसी आशकाएँ ही व्यक्त किये करते कि ऐसी सस्थाएँ क्या टिकेंगी ?

विपरीत दिशाओ से आने वाली ऐसी ध्वनि के विरुद्ध कायकर्ताओ ने भी सुदृढ़ निश्चय कर रक्खा था कि हर हालत मे सस्था को स्थिर करना ही है। पूज्य गुरुदेव श्री का आशीर्वाद, मुनि श्री कुमुदजी का दिशा निर्देशन और प्रेरणा महासती श्री प्रेमवती जी का उपदेशात्मक योगदान, साथियो और कार्यकर्ताओ की लगन मेवाड के धर्मप्रेमी सज्जनो का सहयोग सभी ने मिलकर सस्था को स्थिर भी नहीं अपितु उसे विस्तृत भी कर दिया।

'धर्म ज्योति परिषद' आज बीस से अधिक जैनशालाओं का सचालन कर रही है। कई अभावग्रस्त भाई-बहनों को मासिक सहयोग कर रही है। सस्थाने अपने लक्ष्य के अनुरूप कुछ पुस्तकें भी प्रकाशित की हैं। इस दिशा मे अभी निकट भविष्य मे बहुत अच्छा साहित्य प्रकाशित करने की योजना है। धर्म ज्योति मासिक पत्रिका जो प्रारम्भ मे केवल ७० व्यक्तियों को मिल पाती आज एक हजार से अधिक निकलती है। निष्पक्ष शुद्ध सात्विक धार्मिक विचार देना पत्रिका का ध्येय है, जिसमे यह नितान्त सफल रही है। समय-समय पर इसके विशेषाक भी प्रकट होते रहे हैं। मेवाड मे जो भी सामाजिक परिवर्तन हो रहे हैं उनके मूल मे पत्रिका का शानदार योगदान है।

धम ज्योति परिषद मेवाड में एक कल्पतरू के रूप मे विकसित होने वाली सस्था है। मेवाड के जन जन का प्यार इसे उपलब्ध है, आशा है कुछ ही वर्षों मे यह सस्था और अधिक विराट विस्तार के आयाम स्थापित करेगी। □

डा० भँवर सुराणा
[प्रसिद्ध पत्रकार]

स्वतंत्रता सग्राम में मेवाड़ के जैनियो का योगदान

देश की सास्कृतिक, साहित्यिक एव औद्योगिक प्रवृत्तियो मे अग्रणी रहने वाले मेवाडी जैन, स्वतत्रता सग्राम मे भी पीछे नही रहे हैं। देश को पराधीनता की जजीरो से मुक्त करने मे मेवाड के जैनो के योगदान की एक सक्षिप्त झाँकी यहा प्रस्तुत है।

गरीबी की अत्यन्त निम्नस्तरीय सीमा-रेखा को स्पर्श करते हुए अशिक्षित, कूपमण्डूक, तिहरी गुलामी से त्रस्त बेगार और कारसरकार मे मुफ्त पकडे जाने की अजीव जिन्दगी के बीच जीते भीलो को एक नया जीवन मिला, श्री मोतीलाल तेजावत के रूप मे। ठाकुरो के अन्याय और मनमानी के वीभत्स दृश्यो ने तेजावतजी को उनके विरुद्ध उठ खडे होने को शक्ति, साहस और सामर्थ्य प्रदान किया।

उन्होंने जुल्मो के प्रतिरोध में ठिकाने की नौकरी छोड दी और 'एकी'—एकता सगठन का कार्य प्रारम्भ कर किसानो एव गरीब भीलो मे जन-जागरण का आन्दोलन आरम्भ किया। मातृकुडियाँ का विशाल किसान-सम्मेलन, महाराणा फतहसिंह को ज्ञापन और किसानो की माँगो का निपटारा उनकी सगठन-क्षमता का अपूर्व सयोजन था। अनेक वार ठाकुरों और उनके कारिन्दो ने उन पर प्राणघातक हमले किये। सिरोही, दाता, पालनपुर, ईडर, विजयनगर राज्यों मे तेजावतजी ही एकछत्र नेता थे। विजयनगर राज्य के नीमडा ग्राम मे बातचीत करते-करते राज्य की सेना ने षड्यन्त्र-पूवक अचानक गोलियाँ चलाकर १२०० लोगो को मार डाला। स्वय तेजावतजी गोली व छर्रों से घायल हो गये। उनके रक्षक भीलो ने उनको घायल अवस्था मे राज्य की कोप दृष्टि से बचाकर उन्हे गुप्तवास मे रखा।

तेजावतजी से इन राज्यो के शासक कितना डरते थे, यह इस बात से ज्ञात होता है कि एक अन्य निर्दोष व्यक्ति का सिर काटकर प्रचार किया गया कि तेजावतजी मार डाले गये, ताकि आन्दोलन कमजोर हो जाए। उनकी खोज मे सैकडो गाँव के गाँव जला दिये गये। पुलिस और फौज उनकी खोज में लगी रहती थी, पर वे हाथ नहीं आये। गाधीजी के आह्वान पर उन्होंने आत्म-समपण कर दिया। तव १९२९ से १९३६ तक जेल मे और उसके बाद नजरवन्दी मे दिन गुजारते तेजावतजी १९४७ तक कई बार जेलो की यात्रा कर आये।[1]

जोधपुर मे प्रजामण्डल और देशी राज्य लोक-परिषद् की अलख जगाने वाले श्री आनन्दराज सुराणा पुलिस के चगुल से बचने हेतु उदयपुर मे फरारी अवस्था मे काफी समय तक छिपकर रहे। श्री शोभालाल गुप्त (काकाजी) 'तरुण राजस्थान' के सम्पादक ने राजद्रोही के रूप में कई बार सजा काटी। गाधीजी के आश्रम से सम्बद्ध काकाजी को अजमेर मे राजद्रोहात्मक भाषण देने पर जेल भेजा गया। १९४२ के आन्दोलन मे भी उनको जेल जाना पडा। उनकी पत्नी श्रीमती विजयादेवी भी आन्दोलनो में जेल जाती रही।

मेवाड प्रजामडल के अध्यक्ष श्री बलवन्तसिंह मेहता दीवान परिवार मे बागी बने। उन्होंने लाहौर करांची में कांग्रेस अधिवेशनो में भाग लिया और नौजवान भारत सभा, अनुशीलन समिति आदि से सम्बद्ध रहे। प्रजामडल, कर-विरोधी आन्दोलनो में अनेक बार श्री मेहता गिरफ्तार हुए और जेल काटी।

---

१ तेजावतजी के सम्बन्ध मे एक स्वतन्त्र लेख इसी खण्ड मे प्रकाशित किया गया है—'एक जैन भील नेता श्री मोतीलाल तेजावत'। लेखक हैं—श्री शोभालाल गुप्त।
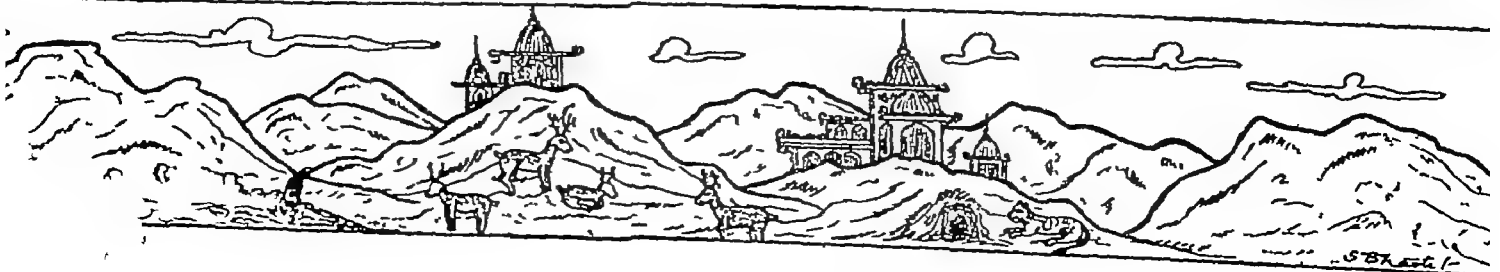
राजस्थान के रचनात्मक कार्यकर्ताओ मे श्री भूरेलाल बया का नाम सदैव आगे रहेगा । उन्होंने नमक सत्याग्रह मे भाग लिया और उसके पश्चात् गाधीजी के सान्निध्य मे बम्बई मे काग्रेस के कायकर्ता रहे। प्रजामण्डल के भागीदार श्री बया आदिवासियो और किसानो के सत्याग्रहो मे निरन्तर भाग लेते रहे और आजादी के बाद राजस्थान के दो मन्त्रिमण्डलो मे मन्त्री बने ।

मोतीलालजी तेजावत के पुत्र मोहनलालजी तेजावत बयाजी के साथ रहे हैं । श्री रोशनलालजी बोरदिया ने १६३२ के कर-विरोधी आन्दोलन, १६३८ के प्रजामडल आन्दोलन और १६४२ के भारत छोडो आन्दोलन मे भाग लिया तथा उत्तरदायी शासन की माँग को लेकर १६४८ के आदोलन मे पुलिस की गोली से आहत हुए । उदयपुर के ही श्री चिम्मनलाल बोरदिया ने इन सब आन्दोलनो म भाग लिया ।

कानोड के श्री उदयजैन, मेवाट प्रजामण्डल के सक्रिय कार्यकर्ता के रूप मे सामन्तशाही से लोहा लेते हुए जन-जागरण के काय मे सलग्न रहे । भारत छोडो आन्दोलन मे उन्हें जेल की सजा दी गई । मेवाड प्रजामण्डल के श्री हीरालाल कोठारी को गाधी जयन्ती का समारोह आयोजित करने पर छह महीनो के लिए नजरबन्द कर दिया गया । नाथद्वारा के श्री कञ्जूलाल एव फूलचद पोरवाल को ६-६ महीने नजरबन्द रखा गया । श्री रतनलाल कर्णावट को १३ महीने जेलो मे रखा गया । छोटी सादडी के श्री पूनमचन्द नाहर को १६३८ एव १६४२ मे आन्दोलनों मे भाग लेने पर जेल मे रखा गया । श्री सूर्यभानु पोरवाल को भी १६४२ के आन्दोलन के समय नजरबन्द रखा गया ।

बनेडा के श्री उमरावसिंह ढाबरिया मेवाड प्रजामन्डल के सक्रिय कार्यकर्ता रहे हैं और १६४२ के आन्दोलन मे नजरबन्द कर दिये गये थे । आजादी से पहले और आजादी के बाद दर्जनो बार वे जेल भोग आये हैं । समाजवादी दल और राजस्थान विधान सभा के सक्रिय सदस्य के रूप मे उन्होंने प्रान्तीय प्रशासन मे व्याप्त भ्रष्टाचार के विरुद्ध जिहाद खडा किया था ।

कानोड़ के श्री तरुनसिंह बाबेल, सुखलाल उदावत, माधवलाल नन्दावत, भवरलाल डूंगरवाल, चाँदमल मनावत १६४२ के भारत छोडो आन्दोलन और उसके बाद प्रजामडल के आन्दोलनो तथा कार्यालयो से सम्बद्ध रहे। कुशलगढ़ के श्री डाडमचन्द दोसी, छगनलाल कावडिया, उच्छबलाल मेहता, भैरोलाल तलेसरा, खेमराज श्रीमाल, कन्हैयालाल मेहता, बापूलाल लखावत, कान्तिलाल शाह, पन्नालाल शाह, शान्तिलाल सेठ, गुमानमल लखावत, सुजानमल शाह, किशनलाल दोसी, सौभागमल दोसी आदि प्रजामडल के प्रमुख कार्यकर्ता थे ।

भीलवाडा के श्री मनोहरसिंह मेहता, रोशनलाल चोरडिया, उदयपुर के हुकमराज मेहता, भगवत भडारी, चित्तौडगढ के श्री फतहलाल चडालिया, भीमराज घडोलिया, हमीरगढ के श्री राजमल बोहरा आदि अनेक लोगों ने आजादी की लडाई मे अपना-अपना योगदान किया है । श्री यशवन्तसिह नाहर, श्री सज्जनसिंह नाहर, श्री रिखबचन्द धारीवाल आदि के नाम इस क्षेत्र मे उल्लेखनीय हैं ।

प्रशासन

स्वतन्त्रता के पश्चात् राजस्थान मे प्रशासन का मार्ग प्रशस्त करने वालो मे पद्मश्री भगवतसिंह मेहता का नाम सदैव अग्रगण्य रहेगा । भारतीय विदेश-सेवा मे श्री के० एल० मेहता, श्री जगत मेहता, डॉ० मोहनसिंह मेहता को नहीं भुलाया जा सकता । यो डॉ० मेहता शिक्षाविद् के रूप मे देश मे प्रख्यात हैं और राजस्थान विश्वविद्यालय उनके अपने ही सपनो का साकार रूप है । श्री सत्यप्रसन्नसिंह भडारी, श्री गोकुललाल मेहता, श्री जगन्नाथसिंह मेहता, रणजीतसिंह कुम्भट, अनिल बोरदिया, ओतिमा बोरदिया, मीठालाल मेहता, जसवन्तसिंह सिंघवी, बालूलाल पानगडिया, हिम्मतसिंह गर्लूडिया, साहिबलाल अजमेरा मनोहरसिंह मोगरा आदि अपने-अपने क्षेत्र मे अपनी छाप छोडने वाले अधिकारी हैं । न्यायाधीशो में श्री लहरसिंह मेहता का नाम उल्लेखनीय है ।

☆☆
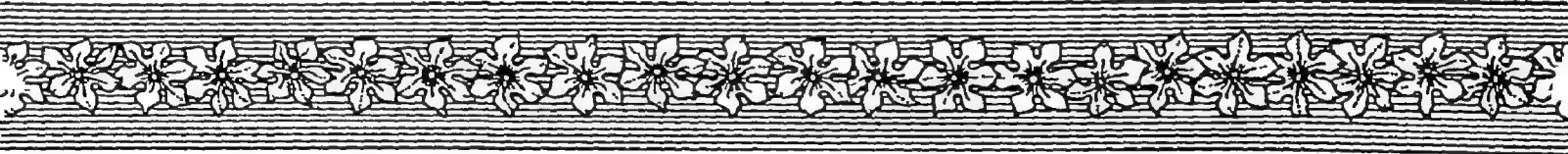
जैन तत्वज्ञान, आत्मा, कर्मवाद, गुणस्थान, मोक्ष
स्यादवाद, नय-निक्षेप आदि पर गवेषणा-प्रधान
चिन्तन और विश्लेषण
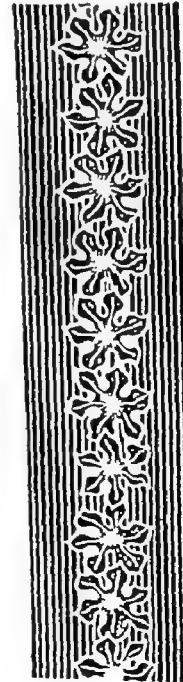
तृतीय खण्ड

□ डा० हुकुमचन्द सगवे

हमारी समस्त तत्वविद्या का विकास एव विस्तार आत्मा को केन्द्र मानकर ही हुआ है। आत्मवादी एव अनात्मवादी दोनों ही दर्शनों मे आत्मा के विषय मे गहरी विचारणा हुई है। प्रस्तुत मे विद्वान लेखक ने आत्मतत्त्व पर विभिन्न दृष्टिविन्दुओं से एक पर्यवेक्षण किया है।

आत्मतत्त्व · एक विवेचन

□

आत्मतत्त्व की धारणा

भारतीय चिन्तको ने विश्व के समस्त पदार्थों को चेतन और अचेतन दो रूपो मे विभाजित किया है। चेतन में ज्ञान, दर्शन, सुख, स्मृति, वीर्य आदि गुण पाये जाते हैं और अचेतन मे स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, गुण आदि। वैदिक काल मे भी आत्मा अर्थात् चेतन तत्त्व की जानने की जिज्ञासा हुई थी—'यह मैं कौन हूं? मुझे इसका पता नही चलता[1]।' अचेतन तत्त्व के सम्बन्ध मे भी जिज्ञासा थी—'विश्व का वह मूल तत्त्व सत् है या असत्? उस तत्त्व को इन्हीं नाम से कहने को वे तैयार नही हैं।[2] इसके अनन्तर ब्राह्मणकाल की अपेक्षा उपनिषद्काल मे आत्मा के स्वरूप पर महत्त्वपूर्ण विचार हुआ। जैन वाङ्मय मे आत्मचर्चा की प्रमुखता आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थो मे प्रस्तुत की। इस दार्शनिक तत्त्व पर विचार किया जाय तो वैदिक युग मे आत्मा के स्वरूप का उतना अधिक चिन्तन नहीं हुआ, जितना बाद मे हुआ। भारतीय दशन में पराविद्या, ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या, मोक्षविद्या इस प्रकार के विद्याओ के विवेचन प्रसग मे आत्मविद्या का स्थान है।

आत्मा ससार के समस्त पदार्थों से नित्य और विलक्षण है। आत्मा का अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को स्वत अपने मे होता है। उपनिषदो मे वर्णित आत्मा का स्वरूप जैन दाशनिक स्वीकार करते हैं परन्तु सुख-दु ख की अवस्था को उप-निषद् मे मिथ्या कहा गया है जबकि जैन दशन मे सुख-दु खादि कर्मसयोग से[3] आत्मा के आनन्द गुण को विकृत रूप मे अनुभव किये जाने की मान्यता है। उपनिषद् मे जहाँ आत्मा को ब्रह्माश स्वीकार किया है वहाँ जैन दर्शन मे आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व माना है। "चेतन आत्मा न तो उत्पन्न होता है, न मरता है, न यह किसी का कार्य है और न स्वत ही अभाव रूप मे से भावरूप मे आया है, वह जन्म-मरण रहित नित्य, शाश्वत, पुरातन है। शरीर नष्ट होने पर आत्मा नष्ट नही होता। आत्मा मे कर्तृत्व-भोक्तृत्व शक्ति है। वह अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अरस, नित्य, गधरहित है, जो अनादि, अनन्त, महत्तत्व से परे और ध्रुव है, उस आत्म तत्त्व को प्राप्त कर मनुष्य मृत्यु के मुख से छुटकारा प्राप्त करता है।" उपनिषद[4] के इस विचार से आचार्य कुन्दकुन्द सहमत हैं।

आत्मा का अस्तित्व

भारतीय दशन का विकास और विस्तार आत्मतत्त्व को केन्द्र मानकर ही हुआ। अनात्मवादी तथा आत्मवादी दशन मे भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया है, भले ही उनमे स्वरूप-भिन्नता हो।

---

१ ऋग्वेद १।१६४।३७।
२ वही १०।१२६।
३ पचाध्यायी २।३५ 'यथा अनादि स जीवात्मा ।'
४ कठोपनिषद १।२।१८, १।३।१५।
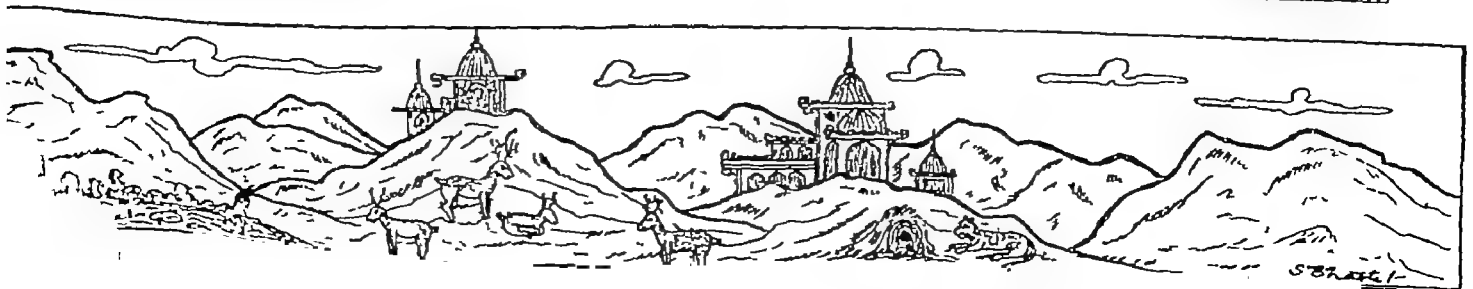
जब किसी भी वस्तु के स्वरूप, भेद का विचार करते हैं तब सर्वप्रथम उसके अस्तित्व पर विचार करना आवश्यक है। कोई शरीर को, कोई बुद्धि को, कोई इन्द्रिय या मन को और कोई संघात को आत्मा समझता है। कुछ ऐसे व्यक्ति भी है जो इन सबसे पृथक आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।[१] आत्म-विषयक मान्यता में दो प्रमुख धाराएँ चल पड़ीं। अद्वैत मार्ग मे किसी समय अनात्मा की मान्यता थी और धीरे-धीरे आत्माद्वैत की मान्यता चल पड़ी। चार्वाक जैसे दार्शनिकों के मत मे आत्मा का मौलिक स्थान नही था जबकि जैन, बौद्ध, सांख्य दर्शन मे आत्मा के चेतन और अचेतन दोनों रूपों का मौलिक तत्त्वों मे स्थान है। पंचाध्यायी[२] मे कहा है कि स्वसंवेदन द्वारा आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि होती है। संसार के जितने चेतन प्राणी हैं सभी अपने को सुखी, दुःखी, निर्धन आदि के रूप मे अनुभव करते हैं। यह अनुभव करने का कार्य चेतन आत्मा मे ही हो सकता है।

आत्मा के अस्तित्व के विषय मे संशय[३] होना स्वाभाविक है। आत्मा अमूर्त है। शास्त्रों का आलोडन करके भी उसे पहचानना असम्भव है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा उसका अस्तित्व सिद्ध नही होता। घटपटादि पदार्थ प्रत्यक्ष मे दिखलाई देते हैं उसी प्रकार आत्मा का प्रत्यक्ष नही होता। जो प्रत्यक्ष सिद्ध नही, उसकी अनुमान प्रमाण से सिद्धि नही होती। कारण अनुमान का हेतु प्रत्यक्षगम्य होना चाहिए। धुआ और अग्नि का अविनाभावी हेतु हम प्रत्यक्ष पाकशाला मे देखते हैं। अतः अन्यत्र धुएँ को देखकर स्मरण के बल पर परोक्ष-अग्नि का अनुमान द्वारा ज्ञान कर सकते हैं। परन्तु आत्मा का ऐसा कोई अविनाभावी सम्बन्ध हमे पहले कभी देखने मे नही आया। अतः आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण से नही है। चार्वाक तो जो दिखलाई पड़ता है उसी को मानता है।[४] आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व उसे मान्य नही। भूत समुदाय से विज्ञानघन उत्पन्न होता है। भूतों के विलय के साथ ही वह नष्ट होता है पर-लोक नाम की कोई वस्तु है ही नही।[५] इसके विरोध मे उपनिषद मे[६] विचार प्रस्तुत किये हैं। आत्मा को कर्त्ता, भोक्ता और चेतनस्वरूपी माना है।

कहीं-कहीं पर शरीर को ही आत्मा माना है।[७] यदि शरीर से भी भिन्न आत्मा है तो मरणोपरान्त बन्धु-बान्धवों के स्नेह से आकृष्ट होकर लौट क्यों नही आता? इन्द्रियातीत कोई आत्मा है ही नही। शरीर से ही दुःख-सुख प्राप्त होते हैं। मरने के बाद आत्मा का अस्तित्व कहाँ है? शरीर ही आत्मा है।[८] आत्मा प्रत्यक्षादि प्रमाण से सिद्ध है और शरीर से भिन्न है। यहाँ कहते हैं आत्मा का अस्तित्व प्रत्यक्ष से सिद्ध हैं। 'जीव है या नही?' यह संशय चेतना का ही रूप है। चेतना और उपयोग आत्मा का स्वरूप[९] है, शरीर का नही। संशय आत्मा मे ही उत्पन्न हो सकता है, शरीर मे नही। विज्ञान का प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है अतः यही आत्मा का प्रत्यक्ष है। आत्मा प्रत्यक्ष से सिद्ध होता हो तो अन्य प्रमाण की क्या आवश्यकता? शरीर के ही विज्ञान गुण को माना तो मैंने किया, मैं कर रहा हूँ और मैं करूँगा, इसी अहंरूप ज्ञान से प्रत्यक्ष आत्मानुभूति नही होती? शरीर ही मैं हूँ तो 'मेरा शरीर' इस प्रकार का शब्द प्रयोग नहीं होता। मृत्यु के बाद शरीर को नही कहा जाता कि अमुक शरीर मर गया परन्तु संकेत जीव की ओर रहता है। सभी लोकों में आत्मा के अस्तित्व की प्रतीति है। 'मैं नही हूँ' ऐसी प्रतीति किसी को भी नही है—यदि आत्मा को अपना

---

१ न्यायवार्तिक पृ० ३६६।
२ पंचाध्यायी २।५।
३ विशेषा० गा० १५४६।
४ षट्दर्शन पृ० ८१ 'एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः'।
५ बृहदारण्यक २।४।१२।
६ छान्दोग्य उप० ८।१२।१, मैत्रायणी उप० ३।६।३६।
७ परमानन्द महाकाव्य। ३।१२४।
८ धर्मशर्माभ्युदय ४।६४-६५।
९ तत्त्वार्थसूत्र २/८, उपयोगो लक्षणम्।

अस्तित्व अज्ञात होता तो 'मैं नही हूँ' ऐसी प्रतीति होनी चाहिए।[१] परन्तु होती नही। अह प्रत्यय को ही आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान कहा है।[२]

सशय स्वय ज्ञान रूप है। ज्ञान आत्मा का गुण है। गुण के बिना गुणी नही रह सकता। कपडा और कपडे का रग, कपडा ग्रहण किया कि रग का भी ग्रहण होगा। ज्ञान गुण देह का मानना व्यथ है, कारण देह मूर्त है। ज्ञान अमूर्त है, बोध रूप है। गुण अनुरूप गुणी मे ही रह सकते हैं। जैसा गुणी होगा वैसा गुण होगा। विचारणीय यह है कि गुण और गुणी भिन्न है या अभिन्न ? न्याय-वैशेषिक दोनो मे भेद मानते हैं। साख्य ने गुण-गुणी मे अभेद स्वीकार किया है तथा जैन और मीमासक मत मे गुण-गुणी मे कथचित् भेद कथचित् अभेद माना है। गुण-गुणी से अभिन्न माना तो गुण दर्शन से गुणी का दशन मानना होगा, भिन्न माना तो घट-पटादिक का भी प्रत्यक्ष नहीं होगा, कारण घट-पटादि गुणी हैं। वे गुण के अभाव मे ग्रहण करने योग्य नही होते। जहाँ गुण है वहाँ गुणी है। गुण प्रत्यक्ष है अत गुणी को भी प्रत्यक्ष होना चाहिए। स्मरणादि गुण प्रत्यक्ष हैं उसी का गुणी आत्मा का प्रत्यक्ष ग्रहण होगा। यहाँ शका होनी स्वाभाविक है कि शब्द का प्रत्यक्ष होता है, आकाश का नही। शब्द आकाश का गुण माना है। यह वैशेषिक का अनुभव अयुक्त है, कारण शब्द पौद्गलिक है, मूर्त है। अमूर्त का गुण मूत नही है, यह हम पहले कह आये। स्मरणादि को शरीर के गुण मानना इष्ट नहीं। खिडकी से हम देखते हैं परन्तु खिडकी देख नही सकती। उसे ज्ञान नही होता। शरीर खिडकी के सदृश्य है। आत्मा, ज्ञान, चेतन गुण युक्त है। प्रत्यक्ष प्रमाण से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हुआ कि आत्मा है, अत अब यह जानना आवश्यक है कि उसका स्वरूप क्या है ?

आत्मा का स्वरूप

आचाय देवसेन ने आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व, अमूर्तत्व ये छ गुण बतलाये हैं।[3] आचार्य नेमिचन्द्र[४] ने जीव का उपयोगमयी, अमूर्तिक, कर्त्ता, स्वदेह परिमाण, भोक्ता, ऊर्ध्वगमन, सिद्ध और ससारी, इस तरह नौ प्रकार से कथन किया है।

जहाँ उपयोग है, वहाँ जीवत्व है, जहाँ उपयोग नही, वहाँ जीवत्व का अभाव है। उपयोग, ज्ञान जीव का ऐसा लक्षण है जो सभी जीवो मे चाहे ससारी हो या सिद्ध, सब मे पाया जाता है। ज्ञान भी जीव के अतिरिक्त अन्यत्र नही है। 'ज्ञान आत्मा' ऐसा 'समयसार' मे कहा है। मूल स्वभाव ज्ञान है। ज्ञान गुण मे ज्ञानावरणादि से विकृति भले ही आ जाये परन्तु सर्वथा ज्ञान गुण का नाश नही होता। ज्ञान पाँच माने हैं। प्रथम चार ज्ञान क्षायोपशमिक हैं और केवल ज्ञान क्षायिक है। क्षायोपशमिक अवस्था में कर्म का सद्भाव रहता है।

गुण दो प्रकार के हैं—(१) स्वाभाविक, और (२) वैभाविक। जल की शीतलता, अग्नि की उष्णता—ये उनके स्वाभाविक गुण हैं। अग्नि के निमित्त से जल मे उष्णता आती है। यही उष्णता जल का विभाव गुण है। अग्नि हट गई तो उष्णता भी हट जाती है। पानी मे आई हुई उष्णता पर के निमित्त से है। ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है।

छान्दोग्य उपनिषद[५] मे एक कथा आती है। असुरो मे से विरोचन और देवो का प्रतिनिधि इन्द्र ये दोनो प्रजापति के पास आत्म-ज्ञान के लिये गये हैं। प्रजापति से पूछा आत्मस्वरूप क्या है ? प्रजापति ने जलमय शात सरोवर में देखने को कहा और पूछा कि क्या देख रहे हो ? उन्होंने उत्तर मे कहा—हम अपने प्रतिबिम्ब को देख रहे हैं। बस ! यही आत्मा है। विरोचन का तो समाधान हुआ परन्तु इन्द्र चिंतित था।

यही से चिंतन शुरू हुआ। इन्द्रिय और शरीर का सचालक मन है। 'मन' को आत्मा माना। मन भी जब तक प्राण हैं तब तक कार्य करता है। प्राण-पखेरू उड जाने के बाद मन का चिंतन बन्द हो जाता है अत मन नही,

१ ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य १।१।१।
२ न्यायमजरी पृ० ४२९, न्यायवार्तिक पृ० ३४१।
३ आलाप पद्धति, प्रथम गुच्छक पृ० १६५-६६।
४ द्रव्यसग्रह १।२।
५ छान्दोग्योपनिषद ८।८।
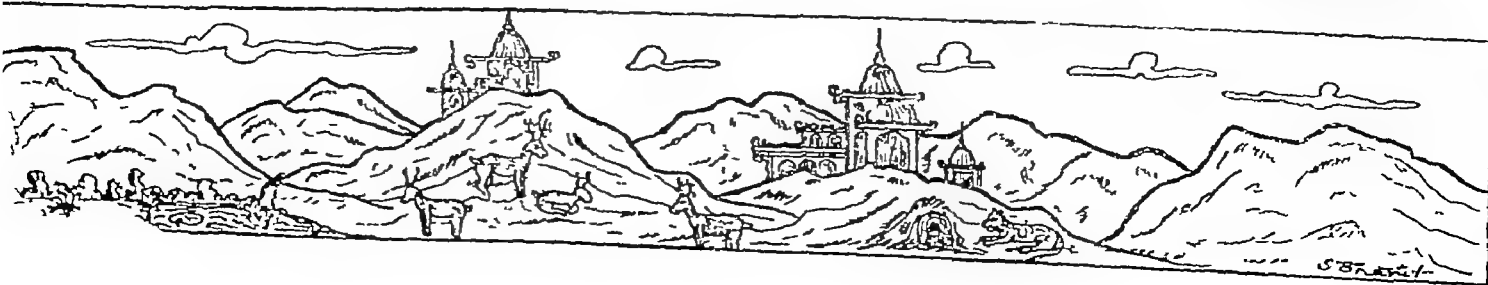
'प्राण' आत्मा है। शरीर, मन और प्राण को आत्मा मानने की प्रक्रिया से और चिंतन के गहराई मे उतरने के बाद मनन करते-करते परिज्ञान हुआ कि शरीर आत्मा नही, इन्द्रिय आत्मा नही, मन आत्मा नही, प्राण आत्मा नही। ये सब भौतिक हैं, नाशवत हैं। परन्तु आत्मा शाश्वत है। इसी चिंतन से भौतिक की ओर से अभौतिक का चिंतन होने लगा। आत्मा भौतिक नही, अभौतिक है, यह सिद्ध हुआ। 'समयसार'[1] मे कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—'न आत्मा में रूप है, न रस है, न स्पर्श है और न गन्ध है। यह सस्थान और सहनन से रहित है। राग, द्वेष, मोह आत्मा के स्वरूप नही। (जीव मे न आस्रव है, न वर्ण है, न वर्गणायें हैं, न स्पर्धक हैं, और न अनुभाग स्थान, न क्लेश स्थान हैं। यह आत्मा शुद्ध, बुद्ध और ज्ञानमय है। 'ज्ञानमय' स्वरूप तक आत्मा के बारे मे जानकारी है। कर्म बध और उससे मुक्ति का भी विचार हुआ है।

आत्मा के प्रदेश और विस्तार

जैन दर्शन मे षट्द्रव्य माने गये हैं। काल द्रव्य के अतिरिक्त पाँच द्रव्य अस्तिकाय है। काल-द्रव्य[2] अनस्तिकाय है। प्रदेशो के समूह को अस्तिकाय कहते है और एक ही प्रदेश हो, प्रदेशो का समूह न हो, उसे अनस्तिकाय कहते हैं।[3] जैन दर्शन की मान्यता है कि जिस द्रव्य मे एक प्रदेश हो, वह एक प्रदेशी और जिसमे दो आदि, सख्यात, असख्यात, अनत प्रदेश हो वह बहुप्रदेशी द्रव्य है। जीव, धर्म, अधर्म, द्रव्य असख्यात प्रदेशी हैं।[4] यहाँ शका होती है कि प्रदेश किसे कहा जाय ? 'एक अविभागी पुद्गल परमाणु जितने आकाश को स्पर्श करता है, उतने देश को प्रदेश कहा है।[5] जीव द्रव्य के प्रदेश की विशेषता यह है कि, वह बड़े या लघु जिस प्रकार का शरीर प्राप्त हुआ हो, उसी के अनुलक्षुन जीव के प्रदेश सकोचित या विस्तृत होते है। जीव का स्वभाव शरीर-परिमाण है, यह हम पहले कह आये। 'तत्त्वार्थ सूत्र'[6] मे दीपक का उदाहरण दिया है। क्या सचमुच आत्मा शरीर-परिमाण है ? कारण अन्यत्र आत्मा के परिमाण के बारे मे अनेक कल्पनाएँ उपलब्ध होती हैं।

भगवान महावीर से इन्द्रभूति गौतम पूछते हैं—"आत्मा चेतना लक्षण युक्त है, मगर उसका क्या रूप है, व्यापक या अनेकरूप है।" आत्मा आकाश की भाँति अखण्ड, एक रूप, व्यापक नही है। जीव प्रति शरीर भिन्न है। आकाश का लक्षण सर्वत्र एक है। प्रति शरीर प्रति जीव मे सुख-दुख का अनुभव भिन्न-भिन्न है। एक सुखी होने पर सबको सुखी होना चाहिए और एक को दुःखी होने पर सबको दुखी होना चाहिए, परन्तु ऐसा नही होता। सर्वगत्व आकाश की भाँति एक माना तो बध, मोक्ष मे अव्यवस्था उत्पन्न होगी। आत्मा व्यापक नही। न्याय, वैशेषिक, साख्य-योग, मीमांसक आदि आत्मा को व्यापक मानते हैं। रामानुजाचार्य के अनुसार ब्रह्मात्मा व्यापक है और जीवात्मा अनु-परिमाण। चार्वाक आत्मा को अर्थात् उसी के मतानुसार चैतन्य को देह-परिमाण मानता है। उपनिषद मे आत्मा को मानने की यही परम्परा है। कौपीतकी उपनिषद मे[7] आत्मा को देह-प्रमाण बताते हुए कहा है कि, 'जिस प्रकार तलवार म्यान मे व्याप्त है और अग्नि अपने कुड मे व्याप्त है, उसी प्रकार आत्मा शरीर मे नख से लेकर शिखा तक व्याप्त है। तैत्तिरीय[8] उपनिषद् मे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय आत्मा को शरीर-प्रमाण बताया। बृहदारण्यक मे[9] उसे चावल या जौ समान बताया है। कठोपनिषद्[10] तथा श्वेताश्वेतरोपनिषद्[11] मे आत्मा को अगुष्ठ परिमाण माना है। मैत्रेयी उपनिषद्[12] मे अणुमात्र माना है। जैनो ने उसे देह परिमाण माना परन्तु केवलज्ञान की अपेक्षा से उसे व्यापक भी माना[13], अथवा समुद्घात की अवस्था मे आत्मा के प्रदेशो का विस्तार होता है, उसकी अपेक्षा से उसे व्यापक माना है। ससारी आत्मा देह-परिमाण रूप है।

---

१ समयसार ५०-५१।
२ तत्त्वार्थसूत्र ५।१, द्रव्य सग्रह २३।
३ भगवती सू० १३८।
४ तत्त्वार्थसूत्र ५।८।
५ भगवती सूत्र १८।७।
६ तत्त्वार्थसूत्र ५।१६।
७ कौपीतकी उपनिषद ४।२०।
८ तैत्तिरीय उपनिषद १।२।
९ बृहदारण्यक ५।६।१।
१० कठोपनिषद २।२।१२।
११ श्वेताश्वेतरोपनिषद ३।१३।
१२ मैत्रेयी उपनिषद ६।३८।
१३ ब्रह्मदेवकृत द्रव्यसग्रह टी० १०।

जीव अपने कार्मण शरीर के साथ उन स्थानो मे गमन करता है, जहाँ नूतन शरीर धारण करना हो। नूतन शरीर मे जब आत्मा प्रवेश करता है, उसी के अनुरूप वह अपने प्रदेशों का विस्तार या सकोचन कर लेता है। यही बात द्रव्यसग्रह मे कही है।[1]

ससारावस्था मे आत्मा शरीर प्रमाण है और मुक्तावस्था मे जिस शरीर से आत्मा मुक्ति को प्राप्त करता है, उससे कुछ न्यून परिमाण मे सिद्धशिला पर स्थित रहता है। यह मान्यता जैनदर्शन की अपनी है।

आत्माएँ अनत हैं। सभी आत्माएँ अपनी अपनी कर्त्तृत्व शक्ति से कर्मों का अर्जन करते हुए भोग भोगते हैं। ससार मे अनेक जीव दिखाई पडते हैं, अत उन्ही का निषेध करते हुए एक मानना और यह कहना कि नाना शरीर के कारण आत्माएँ भिन्न-भिन्न मालूम पडते, जबकि आत्मा एक है। यह मत इष्ट नही। अनेक आत्माओ को जैनदर्शन, बौद्ध न्याय, वैशेषिक और पूर्व मीमासा दर्शन ने स्वीकार किया है। वेदान्त मे मात्र एक आत्मा को मौलिक माना है। अन्य का स्वतन्त्र अस्तित्व नही माना। अनेक-एक भिन्न-भिन्न मानने मे शकराचाय से लेकर वल्लभाचार्य तक ऊहापोह हुआ है।

आत्मा के भेद

'स्थानाग सूत्र' मे 'एगे आया' 'आत्मा एक है' कहा है। स्वरूप के दृष्टिकोण से आत्मा मे भेद नही। जो स्वरूपसिद्ध जीव का है वही ससारी जीव का है। परन्तु इसी आगम मे आठवें स्थान मे आठ प्रकार के आत्मा कहे हैं—(१) द्रव्य आत्मा, (२) कषायात्मा, (३) योगात्मा, (४) उपयोगात्मा, (५) ज्ञानात्मा, (६) दर्शनात्मा, (७) चारित्रात्मा और (८) वीर्यात्मा। प्रथम जो कथन किया गया है वह निश्चय दृष्टि से, और दूसरा कथन व्यवहार दृष्टि से है। ससारी आत्मा कषायसहित है और सिद्धात्मा उससे रहित। 'योगसार'[2] मे आत्माओ के तीन भेद किये हैं—१ बहिरात्मा, २ अन्तरात्मा, ३ परमात्मा। बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि से युक्त होता है और उसका ससार से उद्धार होना कठिन होता है। जिन आत्माओ में अन्तरात्मा और परमात्मा रूप प्रकट होने की योग्यता नही, उन आत्माओ को अभव्य कहा है और जिनमे योग्यता है, उनको भव्य। अन्तरात्मा के तीन भेद किये हैं—उत्तम, मध्यम और जघन्य। रागद्वेष की तरतमता की अपेक्षा ये तीन भेद किये हैं। 'समाधि-शतक'[3] मे अन्तरात्मा के विषय मे बडे विस्तार से विवेचन है। परमात्मा के दो भेद किये हैं—१ सकल परमात्मा और निकल परमात्मा। सकल परमात्मा अर्हत् है और विकल परमात्मा सिद्ध परमेष्ठी। द्रव्य सग्रह[4] मे इन्हीं की व्याख्या दी है।

सभी जीव अनादिकाल से कर्म बधन से युक्त हैं और इसी कारण वे ससार मे परिभ्रमण कर रहे हैं। कर्म बधन की चार अवस्थाएँ हैं—१ प्रकृति बध, २ प्रदेश बध, ३ स्थिति बध और ४ अनुभाग बध। योग और कषाय के सम्बन्ध से आत्मा कर्म बधन में पड जाता है।[5] शक्ति की अपेक्षा प्रत्येक आत्मा सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान, अगुरुलघुत्व, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व, वीर्य, अव्याबाध इन आठ गुणो से युक्त है, परन्तु अभिव्यक्ति की अपेक्षा तारतम्य रहने से आत्मा के उक्त तीन भेद किये गये हैं।

इसके अतिरिक्त आगम में सर्वसामान्य जीव के दो भेद किये हैं—(१) सिद्ध और (२) ससारी। फिर ससारी जीव के दो भेद किये हैं—(१) त्रस और (२) स्थावर। त्रस के दो भेद हैं—(१) लब्धित्रस, (२) गतित्रस। स्थावर के पाँच भेद हैं—पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु और वनस्पति। इसके अतिरिक्त गति, इन्द्रिय, पर्याप्ति, सज्ञादि के भेद से जीवो के अनेक भेद हो सकते हैं। आगम में जीव के ५६३ भेद भी देखने में आते हैं।

---

१ द्रव्यसग्रह गा० १०, ३३, योगसार गा० ६।
२ योगसार गा० ६।
३ समाधि शतक ३१, ६०।
४ द्रव्यसग्रह गा० १४।
५ स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा० १०२-१०३।
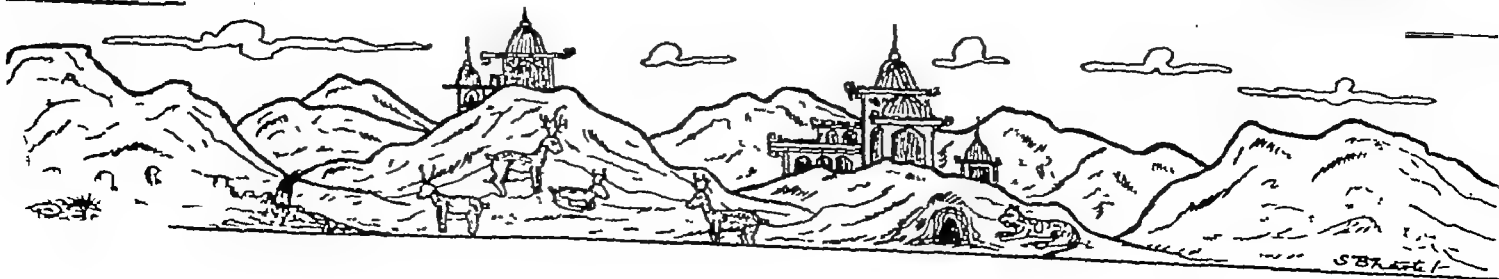
अमूर्त आत्मा और निराकार चेतना सुख-दुःख का भागी क्यों होता है? जन्म-पुनर्जन्म का कारण क्या है? सृष्टिक्रम एक व्यवस्थित ढंग से क्यों गतिमान है—इन सब का समाधान—'कर्म-सिद्धान्त' मे निहित है। कर्म-सिद्धान्त जैनदर्शन का मूलाधार तो है ही, किन्तु प्रत्येक भारतीय दर्शन ने उसे कहाँ, कैसे, किस रूप मे स्वीकार किया है—इसका विश्लेषण प्रस्तुत प्रबंध मे पढ़िए।

□ साध्वी संघमित्रा
[जैन श्वे० तेरापंथ संघ की प्रसिद्ध विदुषी श्रमणी]

कर्म-सिद्धान्त : मनन और मीमांसा

□

कर्म-सिद्धान्त भारत के उर्वर मस्तिष्क की उपज है। ऋषियो के दीर्घ तपोबल से प्राप्त नवनीत है। यथार्थ मे आस्तिक दर्शनो का भव्य प्रासाद कर्म-सिद्धान्त पर ही टिका हुआ है। कर्म के स्वरूप-निर्णय मे भले विचारैक्य न रहा हो, पर अध्यात्म-सिद्धि कर्म-विमुक्ति[1] के बिन्दु पर फलित होती है—इसमे कोई दो मत नही है। प्रत्येक दर्शन ने किसी न किसी रूप में 'कर्म' की मीमांसा की है। पर जैन दर्शन ने इसका चिन्तन विस्तार व सूक्ष्मता से प्रस्तुत किया है।

कर्म का शाब्दिक रूप

लौकिक भाषा मे 'कर्म' कर्तव्य है। कारक की परिधि मे [2] कर्ता का व्याप्य कर्म है। पौराणिकों ने व्रत-नियम को कर्म कहा। सांख्य दर्शन मे पाँच[3] सांकेतिक क्रियाएँ 'कर्म' अभिधा से व्यवहृत हुई। जैन दृष्टि मे कर्म वह तत्त्व है, जो आत्मा से विजातीय-पौद्गलिक होते हुए भी उससे संश्लिष्ट होते हैं और उसे प्रभावित करते हैं।

कर्मों की सृष्टि

सद्-असद् प्रवृत्ति से प्रकम्पित आत्म-प्रदेश पुद्गल-स्कंध को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। आकृष्ट पुद्गल स्कन्धो मे से कुछ आत्म-प्रदेशो पर चिपक जाते हैं शेष विसर्जित हो जाते हैं। चिपकने वाले पुद्गल स्कन्ध[4] 'कर्म' कहलाते हैं।

---

१ (क) उत्तराध्ययन ३२/२ "रागस्स दोसस्स य संखएणं—एगंत सोक्खं समुवेइ मोक्खं।"
(ख) हरिभद्रसूरि—षड्दर्शन, श्लोक ४३—प्रकृति वियोगो मोक्ष।
(ग) जयन्त न्याय-मंजरी—पृष्ठ ५०८—"तदुच्छेदे च तत्काय शरीराद्यनुपप्लवात् नात्मनः सुख दुःखेस्त—इत्यसौ मुक्त उच्यते।"
(घ) धर्मबिन्दु पृ० ७६—चित्तमेव ही संसारो—रागादिक्लेश वासितम्।
तदेव तैः विनिर्मुक्तं—भवान्त इति कथ्यते।

२ कालु कौमुदी—कारक-सू-३ कर्तुर्व्याप्यं कर्म।
३ हरिभद्र सूरि—षड्दर्शन, श्लोक ६४।
४ आचार्य श्री तुलसी—जैन-सिद्धान्त दीपिका, प्रकाश ४/१

ये छओ[1] दिशाओ से गृहीत जीव प्रदेश के क्षेत्र मे स्थित, अचल, सूक्ष्म, चतु स्पर्शी कर्म प्रायोग्य अनन्तानन्त परमाणुओं से बने होते हैं। आत्मा सब प्रदेशो से कर्मों को आकृष्ट करती है। हर कर्म-स्कन्ध[2] का सभी आत्म-प्रदेशो पर बन्धन होता है और वे कर्मस्कन्ध ज्ञानावरणत्व आदि भिन्न-भिन्न प्रकृतियों मे निर्मित होते हैं।

प्रत्येक आत्म-प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्म पुद्‌गल स्कन्ध चिपके रहते हैं। कर्मों का वेदन काल उदयावस्था है। कर्मोदय दो प्रकार का है—१ प्रदेशोदय[3],२ विपाकोदय।

जिन कर्मों का भोग केवल प्रदेशो मे ही होता है वह प्रदेशोदय है। जो कर्म शुभ-अशुभ फल देकर नष्ट होते हैं वह विपाकोदय है। कृषक अनेक बीजो को बोता है पर सभी बीज फलित नही होते। उनके फलित होने में भी अनुकूल सामग्री अपेक्षित रहती है।

कर्मों का विपाकोदय ही आत्मगुण को रोकता है और नवीन[4] कर्मों को बाँधता है। प्रदेशोदय मे न नवीन कर्मों को सृजन करने की क्षमता है और न आत्मगुणो को रोकने की ही। आत्मगुण कर्मों की विपाक अवस्था से कुछ अशो मे सदा अनावृत्त रहता है। इसी अनावृत्ति से आत्मदीप की लौ सदा जलती रहती है। कर्मों के हजार-हजार आवरण होने पर भी किसी भी आवरण मे ऐसी क्षमता नही है जो उसकी ज्योति को सर्वथा ढाक ले। इसी शक्ति के आधार पर आत्मा कभी अनात्मा नही बनता।

कर्म बन्धन की प्रक्रिया

बन्धन की प्रक्रिया चार प्रकार[5] की है।

१ प्रकृतिबन्ध, २ स्थितिबन्ध, ३ अनुभागबन्ध, ४ प्रदेशबन्ध।

१ ग्रहण के समय कर्म-पुद्‌गल एक रूप होते हैं पर बन्धकाल मे उनमे आत्मा के ज्ञान, दर्शन आदि भिन्न-भिन्न गुणो को रोकने का भिन्न-भिन्न स्वभाव हो जाता है, यह प्रकृतिबन्ध[6] है।

२ उनमे काल का निर्णय स्थितिबन्ध[7] है।

३ आत्म परिणामो की तीव्रता और मन्दता के अनुरूप कर्म-बन्धन में तीव्र-रस और मन्द रस का होना अनुभागबन्ध[8] है।

४ कम-पुद्‌गलो की सख्या निर्णिति या आत्मा और कर्म का एकीभाव प्रदेशबन्ध[9] है।

कर्मग्रन्थ मे बन्धन की यह प्रक्रिया मोदक के उदाहरण से समझाई गई है। मोदक पित्त नाशक है या कफ वधक, यह उसके स्वभाव पर निर्भर है।

वह कितने काल तक टिकेगा, यह उसकी स्थिति का परिणाम है। उसकी मधुरता का तारतम्य रस पर

---

१ तत्त्वार्थसूत्र ८/२५—नाम प्रत्यया सर्वतो योग विशेषात् सूक्ष्मैक क्षेत्रावगाढस्थिता सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्त-प्रदेशा।

२ (क) आचार्य भिक्षु—नव सद्‌भाव निणय (ढाल ८।४) सघला प्रदेश आस्रव द्वार है सघला प्रदेश कर्म प्रवेश।
(ख) भगवती १।३।११३

३ स्थानाङ्ग स्था २

४ मोह और नाम इन दो कर्मो के विपाक से ही कर्म बँधते हैं। अन्य कम बन्धन नहीं करते।

५ मूलाचार—१२२१ पयडि ठिदि अणुभागप्पदेशबधो य चउविहो होइ।

६ (क) कर्म काण्ड, प्रकृति समुत्कीर्तनाधिकार—१-२
(ख) आचार्य श्री तुलसी—जैन सिद्धान्त दीपिका ४-७

७ आचार्य श्री तुलसी—जैन सिद्धान्त दीपिका ४-१०

८ वही ४-११

९ वही १२
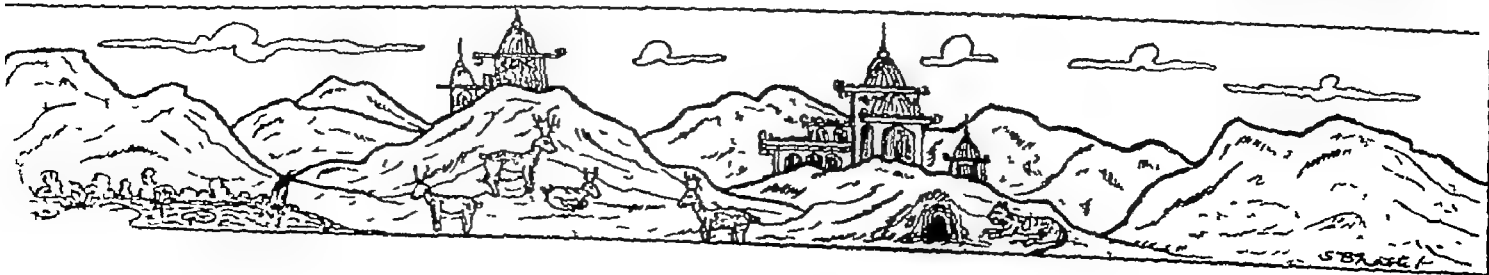
अवलम्बित है। मोदक कितने दानो से बना है, यह सख्या पर स्थित है। मोदक की यह[१] प्रक्रिया ठीक कम-बन्धन की प्रक्रिया का सुन्दर निदर्शन है।

कम दो प्रकार के हैं—द्रव्य कर्म और भाव कर्म।

कर्म प्रायोग्य पुद्‌गल स्कन्ध द्रव्यकम है। उन द्रव्य कर्मों के तदनुरूप परिणत आत्म-परिणाम भाव कम है।

बन्धन के हेतु

बन्धन सहेतुक होता है निर्हेतुक नही। आत्मा और कम का सम्बन्ध भी निर्हेतुक नही है। पवित्र सिद्धात्माएँ कभी कम का बन्धन नही करती, क्योकि वहाँ बन्धन के हेतु नही है। मलिन आत्मा ही कम का बन्धन करती है।

कम बन्धन के दो हेतु हैं—राग और द्वेष। इन दोनो का ससारी आत्मा पर एक ऐसा चेप है जिस पर कम-प्रायोग्य पुद्‌गल स्कन्ध पर चिपकते है। आगम की भाषा मे रागद्वेष कम के[२] बीज हैं। सघन बन्धन सकषायी के होता है अकषायी के पुण्य बन्धन केवल दो स्थिति के होते हैं।

राग-द्वेष को कर्मों का बीज मानने मे भारतीय इतर दशन भी साथ रहे है।

पातञ्जल योगदशन मे—कर्माशय का मूल[३] क्लेश हैं। जब तक क्लेश[४] हैं तब तक जन्म, आयु, भोग होते है।

व्यास ने लिखा है —क्लेशो[५] के होने पर ही कर्मों की शक्ति फल दे सकती है। क्लेश के उच्छेद होने पर यह नही होता। छिलके युक्त चावलो से अकुर पैदा हो सकते हैं। छिलके उतार देने पर उनमे प्रजनन शक्ति नही रहती।

अक्षपाद कहते है—जिनके[६] क्लेश क्षय हो गये हैं उनकी प्रवृत्ति बन्धन का कारण नही बनती।

जैनदर्शन ने कहा—बीज के[७] दग्ध होने पर अकुर पैदा नही होते। कर्म के बीज दग्ध होने पर भवाकुर पैदा नही होते।

बन्धन हेतुओ की व्याख्या मे भिन्न-भिन्न सकेत मिलते हैं मूलाचार मे चार हेतुओ[८] का उल्लेख है। तत्त्वार्थ सूत्र मे पाँच[९] हेतु आये है। किसी ने कषाय और योग इन दो को ही माना। भगवती सूत्र मे[१०] मे प्रमाद और योग का सकेत है। सख्या की दृष्टि से तात्त्विक मान्यता मे प्राय विरोध पैदा नहीं होता। व्यास मे अनेक भेद किए जा सकते हैं, समास की भाषा मे सक्षिप्त भी। किन्तु मीमासनीय यह है कि–कषाय और योग इन दो हेतुओ से कर्म बन्धन की प्रक्रिया मे दो विचारधारा हैं। एक परम्परा यह है कि—कषाय और योग इन दोनो के सम्मिश्रण से कर्म का बन्धन होता है। कषाय से स्थिति और अनुभाग का बन्धन होता है और योग से प्रकृति और प्रदेश का। दूसरी परम्परा मे दोनो स्वतत्र भिन्न-भिन्न रूप से कम की सृष्टि करते हैं। पाप का बन्धन कषाय या अशुभ योग से होता है। पुण्य का बन्ध केवल शुभ योग से होता है। पहली परम्परा मे मन्द कषाय से पुण्य का बधन मानते हैं। दूसरी परम्परा में सकषायी के पुण्य का बन्धन हो सकता है पर कषाय से कभी पुण्य का बधन नही होता। भले वह मन्द हो,या तीव्र।

---

१ कर्मग्रन्थ २, पयइठिइरसपएसा त चउहा मोयगस्स दिट्ठ ता।
२ अ० ३२।७—रागो य दोसो विय कम्मबीय।
३ यो० सू० २-१२ "क्लेशमूल कर्माशयो दृष्टादृष्ट जन्म वेदनीय"
४ यो० सू० २-१३ सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगा
५ व्यास भाष्य २-१३
६ गौतम सूत्र ४-१-६४ "न प्रवृत्ति प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य"
७ तत्वार्थाधिगम भाष्य—१०-७
८ मिच्छा दसण अविरदि कषाय जोगा हवति बधस्स"—मूलाचार १२ १६
९ तत्वार्थसूत्र ८-१ मिथ्या दर्शनाविरति प्रमाद कषाय योगा बन्ध हेतव।
१० भगवती १।३।१२७—पमाद पच्चया जोग निमित्तच।

तत्त्वार्थ सूत्र मे पहली परम्परा[1] मान्य रही है। तर्क की दृष्टि से दूसरी परम्परा अधिक उपयुक्त दिखाई देती है, और वह इस दृष्टि से कि प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश तो एक ही बधन की प्रक्रिया है। अत पुण्य बन्धन के समय शुभ योग और कषाय इनकी एक साथ विसङ्गति दिखाई देती है। क्योकि कषाय अधर्म है शुभ योग धर्म है। पूर्व और पश्चिम की तरह ये दोनो एक कार्य की सृष्टि मे विरुद्ध हेतु जान पड़ते हैं, अत इन दोनो से एक काय का जन्म मानने मे विरोधाभास दोष आता है।

कर्म बधन दो प्रकार का होता है—साम्परायिक[2] बन्ध, ईर्यापथिक बन्ध। सकषायी का कर्म बध साम्परायिक बध है और अकषायी का कर्मबध ईर्यापथिक। ईर्यापथिक[3] की स्थिति दो समय की है।

बधन की चार और पांच की परम्परा मे पहला हेतु मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व सम्यक्त्व का प्रतिपक्षी है। यह आत्मा की मूढ़ दशा है। दर्शनमोह का आवरण है। कर्म के बीज दो ही हैं—राग और द्वेष, ये चारित्रमोह के अश है अत चारित्रमोह ही बधन करता है इस दृष्टि से मिथ्यात्व पाप का हेतु नही बनता। पर वह बधन का हेतु इसलिए बन जाता है कि—चारित्रमोह के कुटुम्बी अनन्तानुबधी कषाय चतुष्क हर क्षण मिथ्यात्व मे साथ रहता है इनके साहचर्य से ही मिथ्यात्व बध का हेतु न होते हुए भी सबसे पहला हेतु यह माना जाता है। इस हेतु से सबसे अधिक और सघन कर्म प्रकृतियो का बधन होता है।

मिथ्यात्व को कर्म बधन का हेतु मानने से अन्य दर्शनो के साथ भी बहुत सामञ्जस्य किया जा सकता है। जैसे—नैयायिक वैशेषिक मिथ्याज्ञान को, साख्य दर्शन मे प्रकृति पुरुष के अभेद ज्ञान को, वेदान्त अविद्या को, कर्म बधन का कारण मानते हैं।

अविरति, प्रमाद और योग ये चारित्रमोह के ही अश है। अत बध हेतु स्पष्ट ही है।

व्यवहार की दृष्टि से बधन के दो हेतु हैं—राग और द्वेष। निश्चय दृष्टि से दो हेतु हैं—कषाय और योग। गुणस्थानो में कर्म बधन की तरतमता के कारण या विस्तार की भाषा मे बधन के चार या पांच हेतु हैं। जिस गुणस्थान में बन्धन के हेतु जितने अधिक होते हैं बधन उतना ही अधिक स्थितिक और सघन होता है।

समग्र चिंतन का निचोड यह है कि—आस्रव बध का हेतु है। सवर विघटन का हेतु है। यही जैन दृष्टि है और सब प्रतिपादन इसके विस्तार हैं।

कर्म की अवस्थाएँ

कर्म की प्रथम अवस्था बध है, अन्तिम अवस्था वेदन है। इनके बीच में कर्म की विभिन्न अवस्थाएँ बनती हैं। उनमे प्रमुख रूप से दश अवस्थाएँ हैं बध, उद्वर्तन, अपवर्तन, सत्ता, उदय, उदीरणा, सक्रमण, उपशम, निधत्त, निकाचना,।

१—बध—कर्म और आत्मा के सम्बन्ध से एक नवीन अवस्था पैदा होती है यह बध अवस्था है। आत्मा की बध्यमान स्थिति है। इसी अवस्था को अन्य दर्शनो ने क्रियमाण अवस्था कहा है। बधकालीन अवस्था के पन्नवणा[4] सूत्र मे तीन भेद हैं और कही अन्य ग्रन्थों मे चार भेद भी किए गए हैं।

बद्ध, स्पृष्ट, बद्ध-स्पर्श-स्पृष्ट है और चार की सख्या में एक निधत्त और है।

१—कर्म प्रायोग्य पुद्गलो की कर्म रूप मे परिणति बद्ध-अवस्था है।

२—आत्म प्रदेशो से कर्म पुद्गलो का सश्लेष होना 'स्पृष्ट' अवस्था है।

३—आत्मा और कर्म पुद्गल का दूध पानी की तरह सम्बन्ध जुड़ना बद्ध स्पर्श-स्पृष्ट अवस्था है।

४—दोनो मे गहरा सम्बन्ध स्थापित होना 'निधत्त' है।

---

१ तत्त्वार्थसूत्र पृ० २८४
२ तत्त्वार्थ ६-५ सकषायाकषाययो साम्परायिकेर्यापथयो ।
३ पन्नवणा पद २३-२
४ पन्नवणा पद २३-१
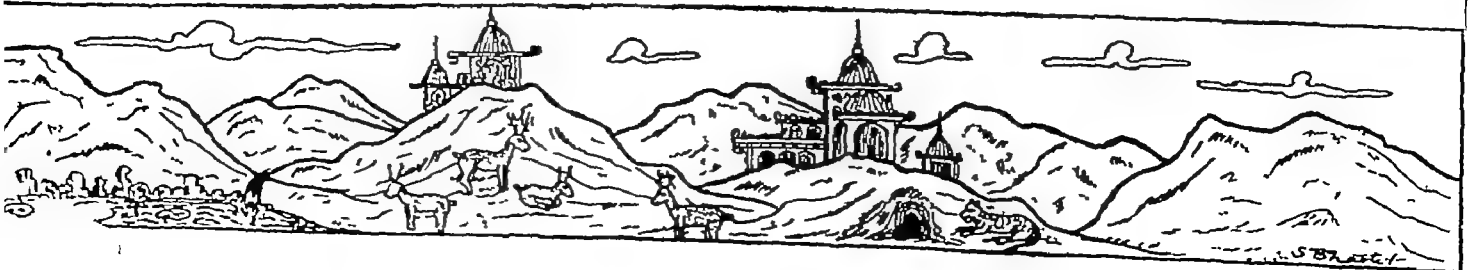
सुइयो को एकत्र करना, धागे से बांधना, लोह के तार से बांधना और कूट-पीटकर एक कर देना, अनुक्रम से बद्ध आदि अवस्थाओ का प्रतीक है।

२—उद्‌वर्तन—कर्मों की स्थिति और अनुभाग बध मे वृद्धि उद्‌वर्तन अवस्था है।

३—अपवतन—स्थिति और अनुभाग बध मे ह्रास होना अपवतन अवस्था है।

४—सत्ता—पुद्‌गल स्कध कर्म रूप मे परिणत होने के बाद जब तक आत्मा से दूर होकर कर्म-अकर्म नहीं बन जाते तब तक उनकी अवस्था सत्ता कहलाती है।

५—उदय—कर्मों का सवेदन काल उदयावस्था है।

६—उदीरणा—अनागत कर्मदलिको का स्थितिघात कर उदय प्राप्त कर्मदलिको के साथ भोगना उदीरणा है।

किसी के उभरते हुए क्रोध को व्यक्त करने के लिए भी शास्त्रो मे उदीरणा शब्द का प्रयोग आया है। पर दोनो स्थान पर प्रयुक्त उदीरणा एक नही है। उक्त उदीरणा मे निश्चित अपवर्तन होता है। अपवर्तन मे स्थितिघात और रस घात होता है। स्थिति व रस का घात कभी शुभ योगो के बिना नहीं होता। कषाय की उदीरणा मे क्रोध स्वय अशुभ प्रवृत्ति है। अशुभ योगो से कर्मों की स्थिति अधिक बढती है कम नही होती। यदि अशुभ योगो से स्थिति ह्रास होती तो अधर्म से निजरा धर्म भी होता पर ऐसा होता नही है। अत कषाय की उदीरणा का तात्पय यह है कि—प्रदेशो मे जो उदीयमान कषाय थी उसका बाह्य निमित्त मिलने पर विपाकीकरण होता है। उस विपाकीकरण को ही कषाय की उदीरणा कह दिया है।

आयुष्य कर्म की उदीरणा शुभ-अशुभ दोनो योगो से होती है। अनशन आदि के प्रसङ्गो पर शुभ योग से और अपघात आदि के अवसरो पर अशुभ योग से उदीरणा होती है, पर इससे उक्त प्रतिपादन मे कोई बाधा नही है क्योंकि आयुष्य कर्म की प्रक्रिया मे सात कर्मों से काफी भिन्नता है।

७—सक्रमण—प्रयत्न विशेष[1] से सजातीय प्रकृतियो मे परस्पर परिवर्तित होना सक्रमण है।

८—उपशम—अन्तर्मुहूर्त तक मोहनीय कर्म की सर्वथा अनुदय अवस्था उपशम[2] है।

९—निधत्त—निधत्त अवस्था कर्मों की सघन अवस्था है। इस अवस्था मे आत्मा और कर्म का ऐसा दृढ़ सम्बन्ध जुडता है जिसमे उद्‌वर्तन-अपवतन के सिवाय कोई परिवतन नही होता।

१०—निकाचित—निकाचित कर्मों का सम्बन्ध आत्मा के साथ बहुत ही गाढ है। इसमें भी किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता। सब करण अयोग्य ठहर जाते हैं।

निकाचित के लिए एक धारणा यह है कि—इसको विपाकोदय मे भोगना ही पडता है। बिना विपाक में भोगे निकाचित से मुक्ति नहीं होती। किन्तु यह परिभाषा भी अब कुछ गम्भीर चिन्तन मांगती है क्योकि निकाचित को भी बहुधा प्रदेशोदय से क्षीण करते हैं। यदि यह न माने तो सैद्धान्तिक प्रसङ्गों पर बहुधा बाधा उपस्थित होती है जैसे—नरक गति की स्थिति कम से कम १००० सागर के सातिय दो भाग अर्थात् २०५ सागर के करीब है और नरकायु की स्थिति उत्कृष्ट ३३ सागर की है। यदि नरक गति का निकाचित बध है तो करीब २०५ सागर की स्थिति को विपाकोदय मे कहाँ कैसे भोगेंगे जबकि नरकायु अधिक से अधिक ३३ सागर का ही है जहाँ विपाकोदय भोगा जा सकता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि निकाचित से भी हम बिना विपाकोदय मे भोगे मुक्ति पा सकते हैं। प्रदेशोदय के भोग से निर्जरण हो सकता है।

निकाचित और दलिक कर्मों मे सबसे बडा अन्तर यह है कि दलिक मे उद्‌वर्तन-अपवर्तन आदि अवस्थाएँ बन सकती हैं पर निकाचित मे ऐसा कोई परिवर्तन नहीं होता।

आर्हत दर्शन दीपिका मे निकाचित के परिवर्तन का भी संकेत मिलता है।

शुभ परिणामों की तीव्रता से दलिक कर्म प्रकृतियों का ह्रास होता है और तपोबल से निकाचित का भी।[3]

---

१ आचार्य श्री तुलसी जैन सिद्धान्त दीपिका ४।४

२ वही ४।४

३ आहृत दर्शन दीपिका, पृ० ८९

—सव्व पगई मेव परिणाम वसादवक्कमो होज्जा पापमनिकाईयाण तवसाओ निकाइयाणापि।

एक प्रश्न उठता है कि जब निकाचित मे सब करण अयोग्य ठहर जाते हैं। दश अवस्थाओ मे से कोई भी अवस्था इसे प्रभावित नही कर सकती। तब निकाचित के परिवर्तन का रहस्य क्या हो सकता है। विपाकोदय का अनाभोग तो तप विशेष से नही बनता, वह तो सहज परिस्थितियो के निमित्त मिलने पर निर्भर है। अत यहाँ निकाचित के परिवर्तन का हार्द यह सम्भव हो सकता है कि—हर कर्म के साथ प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश का बधन होता है। इन चार मे जिसका निकाचित पडा है उसमे तो किसी प्रकार से परिवतन नही होता शेष मे हो सकता। यदि स्थिति का निकाचित है तो प्रकृति बन्ध मे परिवर्तन हो सकता है। और ऐसा मानने से अन्य प्रसङ्गो से कोई बाधा भी दिखाई नही देती। कर्म की ये दश अवस्थाएँ पुरुषार्थ की प्रतीक हैं, मानस की अकर्मण्य वृत्ति पर करारी चोट करती है।

कर्म की भौतिकता

कर्म[1] भौतिक है। जड है। क्योकि वह एक प्रकार का बधन है। जो बधन होता है वह भौतिक होता है। बेडी मनुष्य को बांधती है। तट नदी को घेरते है। बडे-बडे बाँध पानी को बांध लेते हैं। महाद्वीप समुद्रो से आवद्ध रहते हैं। ये सब भौतिक हैं। इसीलिए बधन हैं।

आत्मा की वैकारिक अवस्थाएँ अभौतिक होती हुईं भी बधन की तरह प्रतीत होती हैं, पर वास्तव में बधन नही हैं, बधजनित अवस्थाएँ हैं। पौष्टिक भोजन से शक्ति सचित होती है। पर दोनो एक नही हैं। शक्ति भोजनजनित अवस्था है। एक भौतिक है, इतर अभौतिक है।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव ये पाँच द्रव्य अभौतिक हैं इसीलिए किसी के बधन नही हैं।

भारतीय इतर दर्शनो मे कम को अभौतिक माना है।

योग दर्शन मे अदृष्ट आत्मा का विशेष गुण है। साख्य दर्शन मे कम प्रकृति का विकार है, बौद्ध दर्शन मे वासना है और ब्रह्मवादियो मे अविद्या रूप है।

कर्म को भौतिक मानना जैन दर्शन का अपना स्वतन्त्र और मौलिक चिन्तन है।

कर्म-सिद्धान्त यदि तात्विक है तो पाप करने वाले सुखी और पुण्य करने वाले दु खी क्यो देखे जाते हैं यह प्रश्न भी कोई उलझन भरा नही है। क्योकि बधन और फल की प्रक्रिया भी कई प्रकार से होती है। जैन दर्शन मे चार भग आये हैं—

'पुण्यानुबंधी पाप' 'पापानुबधी पुण्य' 'पुण्यानुबधी पुण्य' 'पापानुबधी पाप' भोगी मनुष्य पूर्वकृत पुण्य का उपभोग करते हुए पाप का सर्जन करते हैं। वेदनीय को समभाव से सहने वाले पाप का भोग करते हुए पुण्य का अर्जन करते हैं। सर्व सामग्री से सम्पन्न होते हुए भी धर्मरत प्राणी पुण्य का भोग करते हुए पुण्य का सचय करते हैं। हिंसक प्राणी पाप का भोग करते हुए पाप को जन्म देते हैं। इन भगों से यह स्पष्ट है कि—जो कर्म मनुष्य आज करता है उसका फल तत्काल ही नहीं मिलता। बीज बोने वाला फल को लम्बे समय के बाद पाता है। इस प्रकार कृत कर्मों का कितने समय तक परिपाक होता है फिर फल की प्रक्रिया बनती है। पाप करने वाले दु खी और पुण्य करने वाले सुखी इसीलिए हैं कि वे पूर्वकृत पाप-पुण्य का फल भोग रहे हैं।

अमूर्त पर मूर्त का प्रभाव

कर्म मूर्त है। आत्मा अमूत है। अमूत आत्मा पर मूर्त का उपघात और अनुग्रह कैसे हो सकता है जबकि अमूर्त आकाश पर चन्दन का लेप नही होता और न मुष्टिका प्रहार भी। यह तर्क ठीक है, पर एकान्त नही है। क्योंकि ब्राह्मी आदि पौष्टिक तत्त्वो के आसेवन से अमूर्त[2] ज्ञान शक्ति मे स्फुरण देखते है। मदिरा आदि के सेवन से समूछना भी।

यह मूर्त का अमूर्त पर स्पष्ट प्रभाव है। यथार्थ में ससारी आत्मा कथञ्चिद् मूत भी है। मल्लिषेणसूरि ने लिखा है —

१ योगश० ५४ "कम्म च चित्त पोग्गल रूव जीवस्स भणाइ सवद्ध"

२ योगशतक ४६ मुत्तेण ममुत्तिओ उवघायाणुग्गहा विजुज्जनि-जह विनाणस्स इह मइरा पाणो सहाईहिं।

ससारी आत्मा[१] के प्रत्येक प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्म परमाणु चिपके हुए हैं। अग्नि के तपाने और घन से पीटने पर सुइयो का समूह एकीभूत हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा और कर्म का सम्बन्ध सश्लिष्ट है। यह सम्बन्ध जड चेतन को एक करने वाला तादात्म्य सम्बन्ध नहीं किन्तु क्षीर-नीर का सम्बन्ध है। अत आत्मा अमूर्त है यह एकांत नही है। कर्मबध की अपेक्षा से आत्मा कथञ्चिद् मूर्त भी है।

आत्मा के अनेक पर्यायवाची[२] नामो मे से एक नाम पुद्‌गल भी है। यह पुद्‌गल अभिधा भी आत्मा का मूर्तत्व प्रमाणित करती है। अत कर्म का आत्मा पर प्रभाव मूर्त पर मूत का प्रभाव है।

सम्बन्ध का अनादित्व

जैन दर्शन मे आत्मा निर्मल तत्त्व है। वैदिक दर्शन मे ब्रह्म तत्त्व विशुद्ध है। कर्म के साहचर्य से यह मलिन बनता है। पर इन दोनो का सम्बन्ध कब जुडा ? इस प्रश्न का समाधान अनादित्व की भाषा मे हुआ है। क्योकि आदि मानने पर बहुत-सी विसङ्गतियाँ आती हैं। जैसे—सम्बन्ध यदि सादि है तो पहले आत्मा है या कम हैं या युगपद् दोनों का सम्बन्ध है। प्रथम प्रकार मे पवित्र आत्मा कम करती नही। द्वितीय भग मे कम कर्ता के अभाव मे बनते नही। तृतीय भग मे युगपद् जन्म लेने वाले कोई भी दो पदाथ परस्पर कर्ता कर्म नही बन सकते। अत कम और आत्मा का अनादि सम्बन्ध ही अकाट्य सिद्धान्त है।

हरिभद्रसूरि ने अनादित्व को समझाने के लिए बहुत ही सुन्दर उदाहरण देते हुए कहा—वतमान[३] समय का अनुभव करते हैं। फिर भी वर्तमान अनादि है क्योकि अतीत अनन्त है और कोई भी अतीत वतमान के बिना नहीं बना फिर भी वतमान का प्रवाह कब से चला इस प्रश्न के उत्तर मे अनादित्व ही अभिव्यक्त होता है। इसी प्रकार कम और आत्मा का सम्बन्ध वैयक्तिक दृष्टि से सादि होते हुए भी प्रवाह की दृष्टि से अनादि है। धर्मबिन्दु[४] में भी यही स्वर गूंज रहा है। आकाश और आत्मा का सम्बन्ध अनादि अनन्त है। पर कर्म और आत्मा का सम्बन्ध स्वर्ण मृत्तिका[५] की तरह अनादि सान्त है। अग्नि के ताप से मृत्तिका को गलाकर स्वण को विशुद्ध किया जा सकता है। शुभ अनुष्ठानों से कम के अनादि सम्बन्ध को तोडकर आत्मा को शुद्ध किया जा सकता है।

बाह्य वस्तुओं की प्राप्ति मे कर्म का सम्बन्ध

कर्म दो प्रकार के हैं घाती कर्म, अघाती[६] कर्म। ज्ञानावरण, दशनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार आत्मगुणो की घात करते हैं अत इन्हें घाती कम कहते हैं। इनके दूर होने से आत्म-गुण प्रकट होते हैं। शेष चार अघाती कर्म हैं। क्योकि ये मुख्यत आत्म-गुणो की घात नहीं करते।

अघाती कर्म बाह्यर्थापेक्षी हैं। भौतिक तत्त्वों की प्राप्ति इनसे होती है। सामान्यत एक प्रचलित विचारधारा है कि जब किसी बाह्य पदार्थ की उपलब्धि नही होती तब सोचते हैं यह कर्मों का परिणाम है। अन्तराम कम टूटा नहीं है। पर यथार्थ मे यह तथ्य सगत नहीं है। अन्तराय कर्म का उदय तो इसमे मूल ही नही है क्योकि यह घाती कर्म है। इससे आत्म-गुणो का घात होता है। इसके टूटने से आत्म-गुण ही विकसित होते हैं। अन्य कर्मजनित परिणाम भी नही है क्योंकि किसी कर्म का परिणाम बाह्य वस्तु का अभाव हो तो सिद्धावस्था मे सभी सामग्री उपलब्ध होनी चाहिए क्योंकि उनके किसी कम का आवरण नहीं है और यदि किसी के उदय-जनित परिणाम पर ही बाह्य सामग्री निर्भर है

---

१ स्याद्वाद मञ्जरी, पृ० १७४
२ भग श २०।२
३ योग शतक श्लो० ५५
४ धर्मबिन्दु २-५२ प्रवाह तोऽनादिमानिति।
५ योगशतक श्लो० ५७
६ कर्मकाण्ड ११६ आवरण मोह विग्घघादी-जीव गुण घादणात्तादो। आउणाम गोदं वेयणिय अघादित्ति।

तो भगवान महावीर का आज यश फैल रहा है वह नहीं होना चाहिए क्योकि उनके किसी शुभ कर्म का उदय भी नहीं है अत किसी पदार्थ की प्राप्ति कर्मजनित हो सकती है। अभाव कर्मजनित परिणाम नही है। पदार्थ की प्राप्ति के लिए भी प्राचीन साहित्य मे दो मान्यताएँ उपलब्ध रही हैं। एक विचारधारा मे समग्र बाह्य पदार्थ की प्राप्ति कर्मजनित ही है। दूसरी विचारधारा मे बाह्य सामग्री केवल सुख-दुःखादि के सवेदन मे निमित्त मात्र बनती है। तर्क की कसौटी पर दोनो का सामञ्जस्य ही उपयुक्त है।

आत्मा जिन देहादि पदार्थों का सृजन करती है वह कर्मजनित परिणाम हैं। शेष भौतिक उपलब्धि कर्म वेदन मे निमित्त है। शेष को निमित्त न मानकर यदि कर्मजनित परिणाम ही माना जाये तो अनेक स्थलो पर बाधा उपस्थित होती है। क्योकि जो निर्जीव पदार्थ हैं उनमें भी सुन्दर वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श देखे जाते हैं। ये अचेतन बादल कितने सुन्दर आकारो को धारण करते हैं किन्तु इनका यह सौन्दर्य किसी कर्म का परिणाम नही होता। अत मानना पड़ता है कि बाह्य सामग्री कर्मजनित परिणाम भी है और निमित्त भी।

आत्मा का स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य

साधारणतया कहा जाता है आत्मा कर्तृत्व काल मे स्वतन्त्र है और भोक्तृत्व काल मे परतन्त्र। उदाहरण की भाषा मे विष को खा लेना हाथ की बात है। मृत्यु से बचना हाथ मे नहीं है। यह स्थूल उदाहरण है क्योकि विष को भी विष से निर्विष किया जाता है। मृत्यु से बचा जा सकता है। आत्मा का भी कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनो अवसरो पर स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य दोनों फलित होते हैं।

सहजत आत्मा कर्म करने मे स्वतन्त्र है। वह चाहे जैसे भाग्य का निर्माण कर सकती है। कर्मों पर विजय प्राप्त कर पूर्ण उज्ज्वल बन सकती है। पर कभी कभी पूर्व जनित कर्म और बाह्य निमित्त को पाकर ऐसी परतन्त्र बन जाती है कि वह चाहे जैसा कर्म भी नही कर सकती। जैसे कोई आत्मा सन्मार्ग पर बढ़ना चाहती है, पर चल नही सकती। पैर फिसल जाते हैं। यह है आत्मा का कर्तृत्व काल मे स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य।

कर्म करने के बाद आत्मा कर्माधीन ही बन जाती है ऐसा भी नही है। उसमे भी आत्मा का स्वातन्त्र्य सुरक्षित है। वह चाहे तो अशुभ को शुभ मे परिवर्तित कर सकती है। स्थिति और रस का ह्रास कर सकती है। विपाक का अनुदय कर सकती है। यही तो कर्मों की 'उद्वर्तन' 'अपवर्तन' और 'सक्रमण अवस्थाएँ' हैं। इनमे आत्मा की स्वतन्त्रता बोल रही है। परतन्त्र वह इस दृष्टि से है कि—जिन कर्मों का उसने सर्जन किया है उन्हें बिना भोगे मुक्ति नहीं होती। भले लम्बे काल तक भोगे जाने वाले कर्म थोडे समय मे भोग लिए जाएँ, विपाकोदय न हो, पर प्रदेशो[1] मे तो सबको भोगना ही पडता है।

कर्म क्षय की प्रक्रिया

कर्म क्षय को प्रक्रिया जैन दर्शन मे गहराई लिए हुए है। स्थिति का परिपाक होने पर कर्म उदय में आते हैं और झड जाते हैं यह कर्मों का सहज क्षय है। कर्मों को विशेष रूप से क्षय करने के लिए विशेष प्रयत्न करने पडते हैं। वह प्रयत्न स्वाध्याय, ध्यान, तप आदि मार्ग से होता है। इन मार्गों से सप्तम गुणस्थान तक कर्म क्षय विशेष रूप से होते हैं। अष्टम गुणस्थान से आगे कर्म क्षय की प्रक्रिया बदल जाती है। वह इस प्रकार है—१ अपूर्व स्थिति घात, २ अपूर्व रस घात, ३ गुणश्रेणी, ४ गुण-सक्रमण ५ अपूर्व स्थिति बध।

कर्मग्रन्थ मे इन पाचो का सामान्य विवेचन उपलब्ध है। इसके[2] अनुसार सर्वप्रथम आत्मा अपवर्तन करण के माध्यम से कर्मो को अन्तर्मुहूर्त मे स्थापित कर गुण श्रेणी का निर्माण करती है। स्थापना का क्रम यह है—उदयकालीन समय को लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त एक उदयात्मक समय को छोडकर शेष जितने समय हैं उनमे कर्म दलिकों को स्थापित किया जाता है। प्रथम समय में स्थापित कर्म दलिक सबसे कम होते हैं। दूसरे समय में स्थापित कर्म दलिक उससे

१ भग० १।४।१५५, उत्त० ४।३
२ कर्मग्रन्थ—द्वितीय भाग, पृ० १७
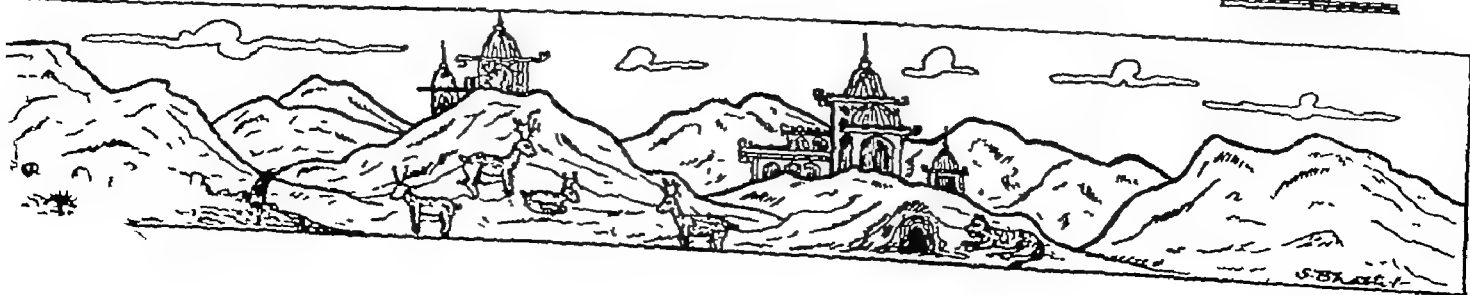
असख्यात गुण अधिक होते हैं। तृतीय समय के उससे भी असख्यात गुण अधिक, यही क्रम अन्तर्मुहूर्त के चरम समय तक चलता रहता है। इस प्रकार हर समय पर असख्यात गुण अधिक होने के कारण इसे गुणश्रेणी कहा जाता है।

गुण सक्रमण म अशुभ कर्मों की शुभ मे परिणति होती जाती है। स्थापना का क्रम गुण श्रेणी की तरह ही है।

अष्टम गुणस्थान से लेकर चतुर्दश गुणस्थान तक ज्यो-ज्यो आत्मा आगे बढती है त्यो-त्यो समय स्वल्प और कर्म दलिक अधिक मात्रा मे क्षय होते जाते हैं। कम क्षय की प्रक्रिया यह कितनी सुन्दर है।

इस अवसर पर आत्मा अतीव स्वल्प स्थिति के कर्मों का बधन करती है जैसा उसने पहले कभी नही किया है अत इस अवस्था का बन्ध अपूव स्थिति बध कहलाता है।

स्थिति घात और रस घात भी इस समय मे अपूर्व ही होता है अत यह अपूर्व शब्द सबके पीछे जुड जाता है।

इस उत्क्रान्ति की स्थिति मे बढती हुई आत्मा जब परमात्मा-शक्ति को जागृत करने के लिए अत्यन्त उग्र हो जाती है, आयु स्वल्प रहता है, कम अधिक रहते हैं तब आत्मा और कर्मों के बीच भयकर युद्ध होता है। आत्म प्रदेश कर्मों से लोहा लेने के लिए देह की सीमा को तोड रणभूमि मे उतर आते हैं। आत्मा बडी ताकत के साथ लडती है। यह युद्ध कुछ माइल तक ही सीमित नही रहता। सारे लोक-क्षेत्र को घेर लेता है। इस महायुद्ध मे कम बहु सख्या मे शहीद हो जाते हैं। आत्मा की बहुत बडी विजय होती है। शेष रहने वाले कम बहुत थोडे रहते हैं और वे भी इतने दुर्बल और शिथिल हो जाते हैं कि अधिक समय तक टिकने की इनमे शक्ति नहीं रहती। इनकी जड इस प्रकार से हिलने लगती है कि फिर उनको उखाड फैंकने के लिए छोटा-सा हवा का झोका भी काफी है।

कर्म क्षय की यह प्रक्रिया जैन दर्शन मे केवलि समुद्घात[1] की सज्ञा से अभिहित है।

इस केवलि समुद्घात की क्रिया से पातञ्जल योग दर्शन की बहुकाय निर्माण क्रिया बहुत कुछ साम्य रखती है। वहाँ बताया है—[2]"यद्यपि सामान्य नियम के अनुसार बिना भोगे हुए कर्म करोडो कल्पो मे भी क्षय नही होते परन्तु जिस प्रकार गीले वस्त्र को फैलाकर सुखाने मे वस्त्र बहुत जल्दी सूख जाता है अथवा अग्नि और अनुकूल हवा के सहयोग मिलने से बहुत जल्दी जलकर भस्म हो जाता है। इसी प्रकार योगी एक शरीर से कर्मों के फल को भोगने मे असमथ होने के कारण सकल्प मात्र से बहुत से शरीरो का निर्माण कर ज्ञानाग्नि से कर्मों का नाश करता है। योग शास्त्र में इसी को बहुकाय निर्माण से सोपक्रम आयु का विपाक कहा है।"

वायुपुराण[3] मे भी यही प्रतिध्वनि है—जैसे सूय अपनी किरणों को प्रत्यावृत्त कर लेता है इसी प्रकार योगी एक शरीर से बहुत शरीरो का निर्माण कर फिर उसी शरीर मे उनको खीच लेता है।

साख्य और प्रकृति

जैन दर्शन मे जो स्थान आत्मा और कम का रहा, साख्य दशन मे वही स्थान प्रकृति और पुरुष का रहा है। पुरुष[4], अपूर्व, चेतन, भोगी, नित्य, सर्वगत, अक्रिय, अकर्ता, निर्गुण, सूक्ष्म स्वरूप हैं।

सत्त्व, रज और तम इन तीनो गुणो[5] की साम्यावस्था प्रकृति है। प्रकृति पुरुष का सम्बन्ध पगु[6] और अधे

---

१ पन्नवणा पद ३६।
२ स्याद्वाद मञ्जरी से उद्धृत पृ० ३६६।
३ वायुपुराण ६६—१५२।
४ स्याद्वाद म० से उद्धृत पृ० १८६।
५ हरिभद्रसूरि कृत षड्दर्शन, श्लोक ३६।
६ वही पृ० ४२।

का सम्बन्ध है। प्रकृति जड है, पुरुष चेतन है। कर्मों की कर्ता प्रकृति है। पुरुष कर्म जनित फल का भोक्ता है। पुरुष के कर्म-फल-भोग की क्रिया बड़ी विचित्र है। "प्रकृति और पुरुष[1] के बीच मे बुद्धि है। इन्द्रियो के द्वार से सुख-दु ख बुद्धि में प्रतिबिम्बित होते हैं। बुद्धि उभयमुख दर्पणाकार है इसलिए उसके दूसरे दर्पण की ओर चैतन्य का प्रतिबिम्ब पडता है। दोनो का प्रतिबिम्ब बुद्धि मे पडने के कारण बुद्धि मे प्रतिबिम्बित सुख-दु ख को आत्मा अपना सुख-दु ख समझती है। यही पुरुष का भोग है किन्तु बाह्य पदार्थों के प्रतिबिम्ब से उसमे विकार पैदा नही होता।"

व्यवहार की भाषा मे प्रकृति पुरुष को बाधती है। पुरुष मे भेद-ज्ञान हो जाने से वह प्रकृति से मुक्त हो जाता है। यथार्थ मे नाना[2] पुरुषो का आश्रय लेने वाली प्रकृति ही बन्धन को प्राप्त होती है वही भ्रमण करती है। वही मुक्त होती है। पुरुष मे केवल उपचार है।

जैसे नर्तकी[3] रगमच पर अपना नृत्य दिखाकर निवृत्त हो जाती है। इसी प्रकार पुरुष भेद-ज्ञान प्राप्त होने पर वह अपना स्वरूप दिखाकर निवृत्त हो जाता है।

बौद्ध दर्शन और वासना

बौद्ध दशन प्रत्येक पदार्थ को क्षणिक मानता है फिर भी उन्होंने कर्मवाद की व्यवस्था सुन्दर ढग से दी है। बुद्ध ने कहा—

> आज से ६१ वें वर्ष[4] पहले मैंने एक पुरुष का वध किया था। उसी कर्म के फलस्वरूप मेरे पैर विध गए है।
>
> मैं जो जैसा अच्छा[5] या बुरा कर्म करता हूं उसी का भागी होता हूं।
>
> समग्र प्राणी कर्म[6] के पीछे चलते है जैसे रथ पर चढे हुए रथ के पीछे चलते हैं।

बौद्ध दर्शन मे कर्म को वासना रूप मे माना है। आत्मा को क्षणिक मानने पर कर्म सिद्धान्त मे, कृतप्रणाश, अकृतकर्मभोग[7], भव-प्रमोक्ष, स्मृतिभग आदि दोष आते हैं। इन दोषो के निवारण के लिए इन्होने सुन्दर युक्ति दी है। डा० नलिनाक्ष दत्त लिखते हैं—"प्रत्येक[8] पदार्थ मे एक क्षण की स्थिति नष्ट होते ही दूसरे क्षण की स्थिति प्राप्त होती है। जैसे एक बीज नष्ट होने पर ही उससे वृक्ष या अकुर की अवस्था बनती है। बीज से उत्पन्न अकुर बीज नही है किन्तु वह सर्वथा उससे भिन्न भी नही है। क्योकि बीज के गुण अकुर मे सक्रमित हो जाते हैं।"

ठीक यही उदाहरण बौद्धों का कर्म सिद्धान्त के विषय में है। उनके विचारो में बीज की तरह प्रत्येक क्षण के कृत कर्मों की वासना दूसरे क्षण मे सक्रमित हो जाती है। इसीलिए कृत प्रणाशादि दोष उत्पन्न नहीं होते। बौद्ध दर्शन का यह प्रसिद्ध श्लोक है—

> **यस्मिन्नेवहि[9] सन्ताने आहिताकर्म वासना।**
> **फल तत्रैव सधत्ते कार्पासे रक्तता यथा॥**

---

१ स्याद्वाद म० से उद्धृत पृ० १८६
२ स्याद्वाद मञ्जरी से उद्धृत, पृ० १८७
३ वही, पृ० १६२
४ वही, पृ० २४७
५ कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, पृ० १३ मे उद्धृत—"य कम्म करिस्सामि कल्याण वा पापक तस्स दायाद भविस्सामि।"
६ सुत्तनिपात वीसठ सुत्त ६१
७ अन्ययोग व्यवच्छेद द्वात्रिंशिका, श्लोक १८
८ "उत्तर प्रदेश मे बौद्ध धर्म का विकास", पृ० १५२
६ स्याद्वाद मञ्जरी से उद्धृत, पृ० २४७
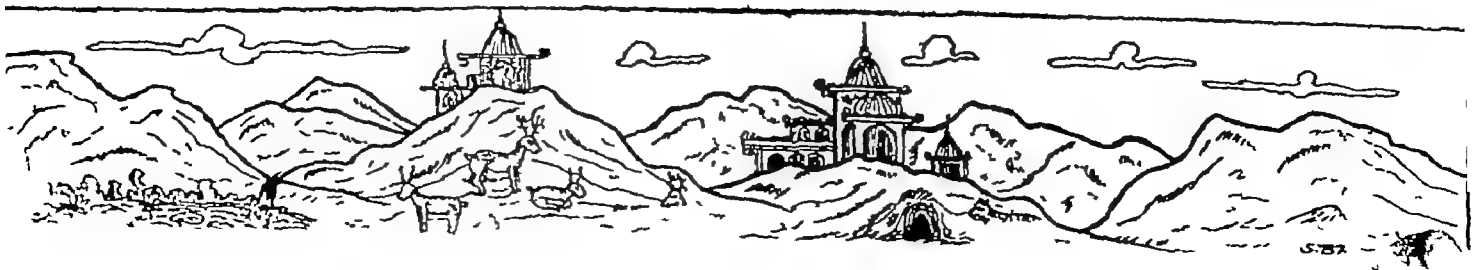
भारतीय अन्य दर्शनों में भी कर्म के स्थान पर अन्य विभिन्न अभिधाएँ अपनी-अपनी व्यवस्था लिए हुए हैं। कर्मग्रन्थ मे इनका शब्दग्राही उल्लेख हुआ है—

"माया, अविद्या,[1] प्रकृति, वासना, आशय, धर्माधम, अदृष्ट, संस्कार, भाग्य, मलपाश, अपूर्व, शक्ति, लीला आदि आदि।

माया, अविद्या, प्रकृति ये तीन वेदान्त के शब्द हैं। अपूर्व शब्द मीमांसक दर्शन का है। वासना बौद्ध धर्म मे प्रयुक्त है। आशय विशेषतः योग और सांख्य दर्शन मे हैं। धर्माधर्म, अदृष्ट, संस्कार विशेषकर न्याय वैशेषिक दर्शन में व्यवहृत है। दैव, भाग्य, पुण्य, पाप प्रायः सब मे मान्य रहे हैं।

इस प्रकार कर्म सिद्धान्त वैज्ञानिक निरूपण है। इसने अनेक उलझी गुत्थियों का सुन्दर सुलझाव दिया है। विभिन्न गम्भीर अनुद्घाटित रहस्यो को उद्घाटित किया था। कर्म-सिद्धान्त आत्म-स्वातन्त्र्य का बल भरता है। नवीन उत्साह जगाता है।

गुलामी जीवन मे कुंठा पैदा करती है फिर चाहे वह विशिष्ट शक्ति के प्रति हो या साधारण के प्रति। इस कुंठा को तोडकर कर्म-सिद्धान्त आत्म शक्ति के जागरण का मार्ग प्रशस्त करता है।

जाणं करेति एक्को, हिंसमजाणमपरो अविरतो य।
तत्थ वि बंधविसेसो, महंतरं देसितो समए॥

—बृहत्कल्पभाष्य ३९३८

एक अविरत (असंयमी) जानकर हिंसा करता है और दूसरा अनजान मे। शास्त्र में इन दोनों के हिंसाजन्य कर्मबंध में महान् अन्तर बताया है। अर्थात् तीव्र भावों के कारण जानकर हिंसा करने वाले को अपेक्षाकृत कर्मबंध तीव्र होता है।

---

१ कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, पृ० २३
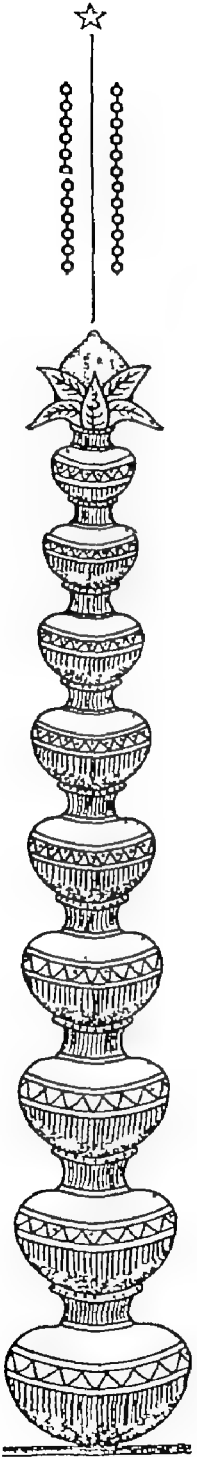
☐ डा० महावीर राज गेलडा
[प्रवक्ता—श्री डूंगर कालेज बीकानेर,
सम्पादक—अनुसधान पत्रिका, जैनदर्शन एव
विज्ञान के समन्वयमूलक अध्ययन मे सलग्न]

चेतन, शुद्ध, निर्मल आत्मा का जड कर्मों के साथ मिलन क्यों होता है—इसकी शास्त्रीय व्याख्या के साथ-साथ वैज्ञानिक व्याख्या एव विश्लेषण भी बडा मननीय है। भौतिक-रसायन विद्या के विद्वान डा० गेलडा का समन्वय-मूलक यह लघु निबध गम्भीरतापूर्वक पढिए।

लेश्या : एक विवेचन

☐

जैनदर्शन के कर्म-सिद्धान्त को समझने मे लेश्या का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रत्येक ससारी आत्मा की प्रति-समय होने वाली प्रवृत्ति से सूक्ष्म पुद्गलों का आकर्षण-विकर्षण होता रहता है। आत्मा के साथ अपनी स्निग्धता व रूक्षता को लिए ये सूक्ष्म पुद्गल जब एकीभाव हो जाते हैं तो वे कम कहलाते हैं। जैनदर्शन की 'कर्म' की परिभाषा अन्य दर्शनो से भिन्न है।

मन, वाणी और काय योग से होने वाली प्रवृत्ति तो स्थूल होती है लेकिन इस प्रवृत्ति के कारण आत्मा के साथ एकीभाव होने वाले कर्म-पुद्गल अति सूक्ष्म होते हैं। ये प्रतीक के रूप मे होते हैं। कर्म-बन्धन प्रक्रिया मे, एक अन्य प्रकार के पुद्गल जो अनिवाय रूप से सहयोगी होते हैं, स्थूल पुद्गलो का प्रतीक (कर्म) निश्चित करते हैं, वे द्रव्य लेश्या कहलाते है। द्रव्य लेश्या के अनुरूप आत्मा के परिणाम भाव लेश्या कहलाते हैं। द्रव्य लेश्या पुद्गल हैं, अत वैज्ञानिक उपकरणो के माध्यम से भी जाने जा सकते हैं और प्राणी मे योग प्रवृत्ति के अनुरूप होने वाले भावो को भी समझा जा सकता है। द्रव्य लेश्या के पुद्गल वर्ण-प्रभावी अधिक होते हैं। ये पुद्गल कर्म, द्रव्य कषाय, द्रव्य मन, द्रव्य भाषा के पुद्गलो से स्थूल हैं लेकिन औदारिक शरीर, वैक्रिय शरीर, शब्द आदि से सूक्ष्म हैं। ये आत्मा के प्रयोग मे आने वाले पुद्गल हैं, अत ये प्रायोगिक पुद्गल कहलाते हैं। ये आत्मा से नही बधते लेकिन कर्म-बन्धन प्रक्रिया भी इनके अभाव मे नही होती।

'लिश्यते-श्लिष्यते आत्मा कर्मणा सहानयेति लेश्या'—आत्मा जिसके सहयोग से कर्मों से लिप्त होती है वह लेश्या है। लेश्या योग परिणाम है। योगप्रवृत्ति के साथ मोह कर्म के उदय होने से लेश्या द्वारा जो कर्म बन्ध होता है वह पाप कहलाता है, लेश्या अशुभ कहलाती है। मोह के अभाव में जो कम बन्ध होता है वह पुण्य कहलाता है, लेश्या शुभ कहलाती है। लेश्या छ हैं—कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म, शुक्ल। प्रथम की तीन अशुभ कहलाती है, वह शीत-रूक्ष स्पर्श वाली हैं। पश्चात् की तीन लेश्या शुभ है, उष्ण-स्निग्ध स्पश वाली है।

प्राचीन जैन आचार्यो ने लेश्या का गहरा विवेचन किया है और वर्ण के साथ आत्मा के भावो को सम्बन्धित किया है। नारकी व देवताओं की द्रव्य लेश्या को उनके शरीर के वर्ण के आधार पर वर्गीकरण किया है। द्रव्य लेश्या पौद्गलिक है, अत वैज्ञानिक अध्ययन से इसे भली-भाँति समझा जा सकता है।

आधुनिक विज्ञान के सन्दर्भ मे लेश्या को समझने के लिए इसके दो प्रमुख गुणों को समझना आवश्यक होगा—
(१) वण,
(२) पुद्गल की सूक्ष्मता।
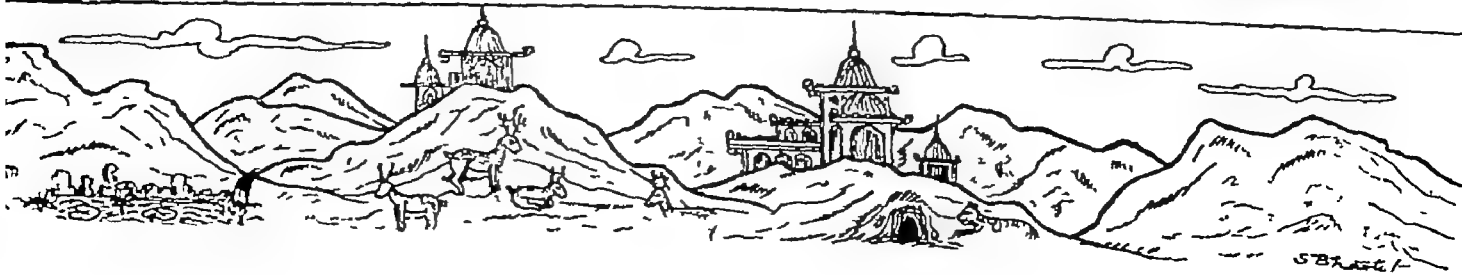
भौतिक विज्ञान की दृष्टि मे सामान्य पदार्थ की तुलना मे विद्युत चुम्बकीय तरगें अत्यन्त सूक्ष्म हैं जो कि समस्त विश्व मे गति कर रही हैं। विद्युत चुम्बकीय स्पैक्ट्रम का साधारण विभाजन निम्न प्रकार से है—

रेडियो तरगें	सूक्ष्म तरंगें	अवरक्त	दृश्यमान	परा-वैंगनी	एक्सरे गामा किरणें

$१०^{६}$ $१०^{२}$ १ $१०^{-२}$ $१०^{-४}$ $१०^{-८}$ $१०^{-१०}$ तरग दैर्घ्य

इस तालिका से स्पष्ट है कि समस्त विकिरणो की तुलना मे दृश्यमान विकिरणो का स्थान नगण्य-सा है, लेकिन ये विकिरणें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। दृश्यमान विकिरणें वर्णवाली हैं। उनके सात वर्ण त्रिपार्श्व (Prism) के माध्यम से देखे जा सकते हैं। जिसका क्रम निम्न प्रकार से है (सप्त रग)—

(१) वैंगनी, (२) नील, (३) नीला, आकाश-सा (४) हरा, (५) पीला, (६) नारगी, (७) लाल।

इन विकिरणो की विशेषता यह है कि बैंगनी से लाल की ओर क्रमिक इनकी आवृत्ति (Frequency) घटती है लेकिन तरगदैर्घ्य (wave length) बढती है। वैंगनी के पीछे की विकिरणें अपराबैंगनी व लाल के आगे की विकिरणें अवरक्त कहलाती हैं। यह वर्गीकरण वर्ण की प्रमुखता से किया गया है। लेकिन समस्त विकिरणों के लक्षण उनकी आवृत्ति एव तरंग लम्बाई हैं।

अब लेश्या पर विज्ञान के सन्दर्भ मे विचार करें। ऐसा लगता है कि छ लेश्या के वर्ण दृश्यमान स्पैक्ट्रम (वर्णपट) की तुलना मे निम्न प्रकार से हैं—

दृश्यमान स्पैक्ट्रम	लेश्या
१ अपरा बैंगनी से वैंगनी तक	कृष्णलेश्या
२ नील	नीललेश्या
३ नीला आकाश-सा	कापोतलेश्या
४ पीला	तेजोलेश्या
५ लाल	पद्मलेश्या
६ अवरक्त तथा आगे की विकिरणें	शुक्ललेश्या

उपरोक्त तुलना मे ऐसा समझ मे आता है कि—

(१) जैन साहित्य मे तेजोलेश्या को हिंगुल के समान रक्त तथा पद्यलेश्या को हल्दी के समान पीला माना है, लेकिन उपरोक्त तुलना मे तेजोलेश्या पीले वर्ण वाली तथा पद्मलेश्या लाल वर्ण की होनी चाहिए।

(२) प्रारम्भ की विकिरणें छोटी तरग लम्बाई वाली, बार-बार आवृत्ति करने वाली हैं। इनकी तीव्रता इतनी अधिक है कि तीव्रता से प्रहार करती हुई परमाणु के भीतर की रचना के चित्र प्राप्त करने में सहयोगी होती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि प्रथम की लेश्यायें गहरे कर्मबन्ध मे सहयोगी होनी चाहिए। अधिक तीव्रता तथा आवृत्ति के कारण प्राणी को भौतिक ससार से लिप्त रखनी चाहिए। यह चेतना के प्रतिकूल कार्य है अत ये लेश्याएँ अशुभ होनी चाहिए और कर्मबन्ध पाप होना चाहिए।

विज्ञान के स्पैक्ट्रम प्रकाशमापी प्रयोगों से स्पष्ट है कि ये विकिरणें, पदार्थ के सूक्ष्म कणों को ऊर्जा प्रदान करती हैं और परमाणु के भीतर की जानकारी मे सहायक हुई हैं।

(३) पश्चात् की विकिरणो की तरग लम्बाई अधिक है, आवृत्ति कम है। अत इनके अनुरूप वाली लेश्या भी गहरे कर्मबन्ध नही करनी चाहिए। ये शुभ होनी चाहिए।

यह एक स्थूल तुलना है। फिर भी इससे ज्ञात होता है कि लेश्या की पहचान वर्ण प्रधान है, लेकिन इसके मुख्य लक्षण प्रति सेकण्ड आवृत्ति तथा तरग लम्बाई हैं। पुद्गल जितनी अधिक आवृत्ति करेगा चेतना के लिए अशुभ होगा। ध्यान एव योग की प्रक्रिया मे पुद्गल की आवृत्ति रोकने का प्रयत्न होना चाहिए। द्रव्य मन के पुद्गल कम से कम आवृत्ति करें, वाणी एव शरीर भी पुद्गल ग्रहण और छोडने के काल को बढ़ायें। इससे आवृत्ति कम होगी और शुभ लेश्या का प्रयोग होगा। अत लेश्या मे वर्ण को परिभाषित करने वाले तीन तत्त्व हैं—(१) पौद्गलिकता, (२) आवृत्ति, (३) तरग-लम्बाई।

सूक्ष्मता—अणु, परमाणु तथा अन्य सूक्ष्म कणो के सम्बन्ध मे विज्ञान के क्षेत्र मे जो अनुसधान हुए हैं उसमे प्रकाश की विकिरणो के प्रयोग सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। तत्त्व के परमाणुओ पर प्रकाश की विभिन्न तरगदैर्घ्य वाली विकिरणो की प्रक्रिया से परमाणु रचना के ज्ञान मे उत्तरोत्तर विकास हुआ है। प्रत्येक तत्त्व का स्पैक्ट्रम मे एक निश्चित सकेत होता है।

आत्मा की योगात्मक प्रवृत्ति से उसके फलस्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म पुद्गल सकेत के रूप मे बध जाते हैं जो कि कर्म हैं। ये कर्मवर्गणायें सूक्ष्म हैं—चार स्पर्श वाली हैं, इनमे हल्का तथा भारीपन नहीं होता है। योग की प्रवृत्ति स्थूल है इसमे आठ स्पर्श वाले पुद्गल-स्कध का प्रयोग होता है। स्थूल पुद्गलो (योग) द्वारा होने वाली क्रिया के सूक्ष्म सकेत (कर्म) के लिए अनिवार्य है कि प्रकाश की विकिरणो का प्रयोग हो, अन्यथा विज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त सूक्ष्म सकेत प्राप्त नही किये जा सकते, अर्थात् कर्मबन्ध नही हो सकता। अत लेश्या, प्रकाश की विकिरणें होनी चाहिए और कर्म पुद्गल प्रकाश पुञ्ज से सूक्ष्म होने चाहिए। स्पैक्ट्रम प्रकाशमापी विज्ञान ज्यो-ज्यो विकसित होता जा रहा है स्थूल पुद्गलो के सूक्ष्म सकेत विभिन्न विकिरणो के माध्यम से प्राप्त किये जा सकेंगे और जैनदर्शन के कर्मबन्ध का सिद्धान्त लेश्या की समझ के साथ अधिक स्पष्ट हो जायेगा।

इच्छा बहुविहा लोए, जाए बद्धो किलिस्सति।
तम्हा इच्छामणिच्छाए, जिणित्ता सुहमेघति॥

—ऋषिभाषित ४०।१

ससार मे इच्छाएँ अनेक प्रकार की हैं, जिनसे बधकर जीव दु खी होता है। अत इच्छा को अनिच्छा से जीतकर साधक सुख पाता है।
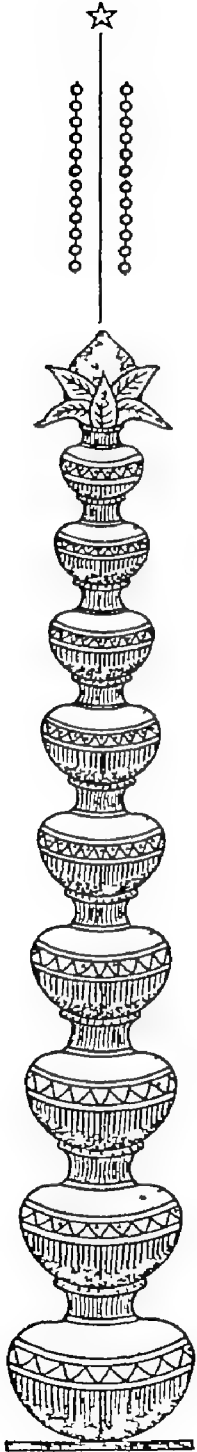
जैन मनोविज्ञान को समझने के लिए 'गुणस्थान' को समझना आवश्यक है। मनोदशाओं का आध्यात्मिक विश्लेषण, उतार-चढाव और भावधारा का प्रवाह 'गुणस्थान-क्रम' समझ लेने पर सहज ही समझ मे आ सकता है। प्रस्तुत लेख 'गुणस्थान-विश्लेषण' मे लेखक प्राचीन सन्दर्भो के साथ नवीन मनोवैज्ञानिक शैली लिए चला है।

☐ हिम्मतसिंह सरूपरिया
R A S, B Sc M A, LL B
साहित्यरत्न, जैनसिद्धान्ताचार्य

जैन मनोविज्ञान का एक गभीर पक्ष

गुणस्थान-विश्लेषण

☐

परिभाषा

गुणस्थान—यह जैन वाङ्मय का एक पारिभाषिक शब्द है—गुणो अर्थात् आत्मशक्तियो के स्थानो—विकास की क्रमिक अवस्थाओ (Stages) को गुणस्थान कहते हैं, अपर शब्दो मे—ज्ञान-दर्शन-चारित्र के स्वभाव, स्थान—उनकी तरतमता। मोहनीय कर्म के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम व योग के रहते हुए जिन मिथ्यात्वादि परिणामो के द्वारा जीवों का विभाग किया जावे, वे परिणाम-विशेष गुणस्थान कहे जाते हैं।[1] जिस प्रकार ज्वर का तापमान थर्मामीटर से लिया जाता है उसी प्रकार आत्मा का आध्यात्मिक विकास या पतन नापने के लिए गुणस्थान एक प्रकार का Spirituometer है।

आत्मिक शक्तियो के आविर्भाव की—उनके शुद्ध कार्य रूप मे परिणत होते रहने की तरतमभावापन्न अवस्थाओ का सूचक यह गुणस्थान है। साधारणतया प्रत्येक जीवन में गुण और अवगुण के दोनो पक्ष साथ चलते हैं। जीवन को अवगुणो से मोडकर गुण-प्राप्ति की ओर उन्मुख किया जावे व जीवन अभी कहाँ चल रहा है यह जानकर उसको अन्तिम शुद्ध अवस्था मे पहुँचाया जावे यही लक्ष्य इन गुणस्थानो का है।[2]

आत्मा के क्रमिक विकास का वर्णन वैदिक व बौद्ध प्राचीन दर्शनो मे उपलब्ध होता है। वैदिक दर्शन के योगवाशिष्ठ, पातजलयोग मे भूमिकाओ के नाम से वर्णन है—जबकि बौद्धदर्शन मे ये अवस्थाओं के नाम से प्रसिद्ध है। परन्तु गुणस्थान का विचार जैसा सूक्ष्म, स्पष्ट व विस्तृत जैनदर्शन मे है वैसा अन्य दर्शनो मे नहीं मिलता। दिगम्बर साहित्य मे सक्षेप, ओघ, सामान्य व जीवसमास इसके पर्याय शब्द पाये जाते हैं[3]। आत्मा का वास्तविक स्वरूप (Genuine Nature) शुद्ध चेतना पूर्णानन्दमय (*Full Knowledge, Perception, Infinite Beatitude*) है, परन्तु इस पर जब तक कर्मों का तीव्र आवरण छाया हुआ है, तब तक उसका असली स्वरूप (Potential Divinity) दिखाई नहीं देता। आवरणो के क्रमश शिथिल व नष्ट होते ही इसका असली स्वरूप प्रकट होता है (Realisation of self)। जब तक इन आवरणों की तीव्रता गाढ़तम (Maximum) रहे तब तक वह आत्मा प्राथमिक—अविकसित (unevolved) अवस्था मे पडा रहता है। जब इन आवरणों का कृत्स्नतया सम्पूर्ण क्षय (Total Annihilation) हो जाता है तब आत्मा चरम-अवस्था (Final Stage) शुद्ध स्वरूप की पूर्णता (Puremost Divinity) मे वर्तमान हो जाता है। जैसे-जैसे आवरणो की तीव्रता कम होती जाती है वैसे-वैसे आत्मा भी प्राथमिक अवस्था को छोडकर धीरे-धीरे शुद्धि लाभ करता हुआ चरम विकास की ओर उत्क्रान्ति करता है। परन्तु प्रस्थान व चरम अवस्थाओं के बीच अनेक नीची-ऊँची अवस्थाओ का अनुभव करता है। प्रथम अवस्था अविकास की निकृष्ट व चरम अवस्था विकास की पराकाष्ठा है। विकास की ओर अग्रसर आत्मा वस्तुत उक्त प्रकार की सख्यातीत आध्यात्मिक भूमिकाओ का

अनुमव करता है पर जैनशास्त्रों में सक्षेप से वर्गीकरण करके उनके चौदह विमाग (Stages or Ladders) किये हैं। जो चौदह गुणस्थान कहाते हैं।

सब आवरणो मे मोह का आवरण प्रधान (Dominant) है। जब तक मोह बलवान व तीव्र हो तब तक अन्य सभी आवरण बलवान व तीव्र बने रहते हैं। मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोटाकोटी सागरोपम की है, जबकि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, अन्तराय की ३० कोटाकोटी सागरोपम, आयु की ३३ सागरोपम व नाम, गोत्र की प्रत्येक की उत्कृष्ट स्थिति २० कोटाकोटी सागर है। मोहनीय कर्म के आवरण निर्बल होते ही अन्य आवरण भी शिथिल पड जाते हैं। अत आत्मा के विकास मे मुख्य बाधक मोह की प्रबलता व मुख्य सहायक मोह की शिथिलता (मदता) समझें। इसी हेतु गुणस्थानो—विकास क्रमगत अवस्थाओ की कल्पना (Gradation) मोह-शक्ति की उत्कटता, मदता, अमाव पर अवलबित है।

मोह की प्रधान शक्तियाँ दो हैं—(१) दर्शनमोहनीय, (२) चारित्रमोहनीय। इसमे से प्रथम शक्ति आत्मा का दर्शन अर्थात् स्वरूप-पररूप का निर्णय (Discretion) किंवा जड-चेतन का विवेक नहीं करने देती। दूसरी शक्ति आत्मा को विवेक प्राप्त कर लेने पर भी तदनुसार प्रवृत्ति अर्थात् अभ्यास—पर-परिणति से छूटकर स्वरूपलाभ नहीं करने देती। चारित्र—आचरण मे बाधा पहुँचाती है। दूसरी शक्ति पहली की अनुगामिनी है। पहली शक्ति के प्रबल होते दूसरी निर्बल नही होती—पहिली शक्ति के क्रमश मन्द, मन्दतर, मन्दतम होते ही दूसरी शक्ति भी क्रमश वैसी ही होने लगती है। अपर शब्दो में, एक बार आत्मा स्वरूप दर्शन कर पावे तो उसे स्वरूप लाम करने का मार्ग प्राप्त हो जाता है।

गुणस्थानो का विभागीकरण

(१) **मिथ्यादृष्टि गुणस्थान**—मिथ्यात्व मोहनीय कर्मोदय से जिस जीव की दृष्टि (श्रद्धा—प्रतिपत्ति-Faith) मिथ्या (उलटी, विपरीत) हो जाती है,[४] वह तीव्र मिथ्यादृष्टि कहलाता है। जो वस्तु तत्त्वार्थ है उसमे श्रद्धान नही करता विपरीत श्रद्धान रखता है—अतत्त्व में तत्त्वबुद्धि—जो वस्तु का स्वरूप नही उसको यथार्थ मान लेना—जो अयथार्थ स्वरूप है उसको यथार्थ मान लेना।[५] जड मे चेतन मान लेना, भौतिक सुखो मे आसक्ति रखना (Hedonism), आत्मा नाम का पदार्थ ही नही स्वीकारना, देव-गुरु-धर्म मे श्रद्धा नही रखना। जिस प्रकार पित्त ज्वर से युक्त रोगी को मीठा रस भी रुचता नही—उसी प्रकार मिथ्यात्वी को भी यथार्थ धर्म अच्छा नही मालूम होता है।[६] इसके विस्तृत भेद होते हैं।[७] जो नितान्त भौतिकवादी हो।

प्रश्न—मिथ्यात्वी जीव की जबकि दृष्टि अयथार्थ है तब उसके स्वरूप विशेष को गुणस्थान क्यो कहा ?

उत्तर—यद्यपि मिथ्यात्वी जीव की दृष्टि सर्वथा अयथार्थ नहीं होती तथापि वह किसी अश मे यथार्थ भी होती है। वह मनुष्य, स्त्री, पशु, पक्षी, आदि को इसी रूप में जानता तथा मानता है। जिस प्रकार बादलो का घना आच्छादन होने पर भी सूर्य की प्रभा सर्वथा नहीं छिपती—किन्तु कुछ न कुछ खुली रहती है जिससे दिन-रात का विभाग किया जा सके, इसी प्रकार मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का प्रबल उदय होने पर भी जीव का दृष्टिगुण सर्वथा आवृत नही होता। किसी न किसी अश मे उसकी दृष्टि यथार्थ होने से उसके स्वरूप विशेष को गुणस्थान कहा, किसी अश मे यथार्थ होने से ही उसको सम्यग्दृष्टि भी नही कह सकते। शास्त्रो मे तो ऐसा कहा गया है कि सर्वज्ञ प्रोक्त १२ अगो मे से किसी एक भी अक्षर पर भी विश्वास न करे तो उसकी गणना भी मिथ्यादृष्टि मे की गई है। इस गुणस्थान में उक्त दोनो मोहनीय की शक्तियो के प्रबल होने से आत्मा की आध्यात्मिक शक्ति नितान्त गिरी हुई होने से इस भूमिका मे आत्मा चाहे आधिभौतिक उत्कर्ष कितना ही प्राप्त कर ले पर उसकी प्रवृत्ति तात्त्विक लक्ष्य से सर्वथा शून्य होने से मिथ्यादृष्टि ही कहा जाता है। पर-वस्तु के स्वरूप को न समझकर उसी को पाने की उधेड़बुन मे वास्तविक सुख (मुक्ति) से वचितरहता है। इस भूमिका को 'बहिरात्मभाव' वा 'मिथ्यादर्शन' कहा है। इस भूमिका में जितने आत्मा वर्तमान होते हैं उन सबो की भी आध्यात्मिक स्थिति एक-सी नही होती। किसी पर मोह का प्रभाव गाढतम, किसी पर गाढतर, किसी पर अल्प होता है। विकास करना प्राय आत्मा का स्वभाव है अत जानते-अजानते जब उस पर मोह का प्रभाव कम होने लगता है तब वह विकासोन्मुख होता

हुआ तीव्रतम रागद्वेष को मन्द करता हुआ मोह की प्रथम शक्ति को छिन्न-भिन्न करने योग्य (ग्रन्थिभेद) आत्मबल प्रकट कर लेता है। जिसका वर्णन आगे करेंगे।

(२) **सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान**—जो जीव औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त कर चुका है परन्तु अनन्तानुबंधी कषाय के उदय से सम्यक्त्व को वमन कर मिथ्यात्व की ओर झुक रहा है परन्तु मिथ्यात्व को अभी तक स्पर्श नही किया, इस अन्तरिम अवस्था (जिसकी स्थिति जघन्य १ समय, उत्कृष्ट ६ आवलिका प्रमाण है) को सासादन सम्यग्दृष्टि कहा है। यद्यपि इस जीव का झुकाव मिथ्यात्व की ओर होता है तथापि जैसे खीर खाकर वमन करने वाले मनुष्य को खीर का 'आस्वादन' आने से इस गुणस्थान को 'सास्वाद'[८] सम्यक्दृष्टि गुणस्थान कहा है। यद्यपि इस गुणस्थान में प्रथम गुणस्थान की अपेक्षा आत्मशुद्धि अवश्य कुछ अधिक होती है परन्तु यह उत्क्रान्ति स्थान नही कहा जाता—क्योकि प्रथम स्थान को छोड़कर उत्क्रान्ति करने वाला आत्मा इस दूसरे गुणस्थान को सीधे तौर से प्राप्त नही करता अपितु ऊपर के गुणस्थान से गिरने वाला (Somersault) आत्मा ही इसका अधिकारी बनता है—अधःपतन मोह के उद्रेक से तीव्र कषायिक शक्ति के आविर्भाव से पाया जाता है—स्वरूप बोध को प्राप्त करके भी मोह के प्रबल थपेडो से आत्मा पुनः अधोगामिनी बनती है।

(३) **सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान**—मिथ्यात्व के जब अर्द्धविशुद्ध पुज (आगे वर्णन आवेगा) का उदय होता है तब जैसे गुड़ से मिश्रित दही का स्वाद कुछ खट्टा, कुछ मधुर—मिश्र होता है। उसी प्रकार जीव की दृष्टि कुछ सम्यक् (शुद्ध), कुछ मिथ्या (अशुद्ध)—मिश्र हो जाती है।[९] इस गुणस्थान के समय मे बुद्धि मे दुर्बलता-सी आ जाती है जिससे जीव सर्वज्ञ प्रोक्त तत्त्वो मे न तो एकान्त रुचि रखता है न एकान्त अरुचि बल्कि नालिकेर द्वीपवासीवत् मध्यस्थभाव रखता है। इस गुणस्थान मे न तो केवल सम्यग्दृष्टि न केवल मिथ्यादृष्टि किन्तु दोलायमान स्थिति वाला जीव बन जाता है। उसकी बुद्धि स्वाधीन न होने से सदेहशील हो जाती है, न तो तत्त्व को एकान्त अतत्त्वरूप समझता है, न अतत्त्व को तत्त्वरूप—तत्त्व-अतत्त्व का वास्तविक विवेक नही कर सकता है। इसकी दूसरे गुणस्थान से यह विशेषता है कि कोई आत्मा प्रथम गुणस्थान से निकलकर सीधा ही तीसरे गुणस्थान को पहुँचता है—कोई अपक्रान्ति करने वाला आत्मा चतुर्थादि गुणस्थान से पतन कर इस गुणस्थान को प्राप्त करता है। उत्क्रान्ति व अपक्रान्ति करने वाले दोनो प्रकार के आत्माओ का आश्रय यह तीसरा गुणस्थान है।

सम्यक्त्व प्राप्ति की पूर्व भूमिकाएँ

जीव अनादि काल से ससार मे पर्यटन कर रहा है और तरह-तरह के दुःखो को पाता है। जिस प्रकार पर्वतीय नदी का पत्थर इधर-उधर टकराकर गोल-चिकना बन जाता है उसी प्रकार जीव अनेक दुःख सहते हुए कोमल शुद्ध परिणामी बन जाता है। परिणाम इतने शुद्ध हो जाते है कि जिसके बल से जीव आयु को छोड़ शेष सात कर्मों की स्थिति को पल्योपमासख्यातभागन्यून कोटाकोटी सागरोपम प्रमाण कर देता है। इस परिणाम का नाम शास्त्रीय भाषा मे यथाप्रवृत्तिकरण कहा गया है। जब कोई अनादि मिथ्यादृष्टि जीव प्रथम बार सम्यक्त्व ग्रहण करने के उन्मुख होता है तो वह तीन[१०] उत्कृष्ट योग लब्धियो से युक्त—करणलब्धि (दिगम्बर मत से चार[११] लब्धि से युक्त करणलब्धि) करता है। करण—'परिणाम लब्धि—शक्ति प्राप्ति। उस जीव को उस समय ऐसे उत्कृष्ट परिणामो की प्राप्ति होती है जो अनादि काल से पड़ी हुई मिथ्यात्व रूपी रागद्वेष की ग्रन्थि—गूढ गाँठ को भेदने मे समर्थ होते हैं वे परिणाम तीन प्रकार के हैं—१ यथाप्रवृत्तिकरण[१२] २ अपूर्वकरण, ३ अनिवृत्तिकरण। यह क्रमश होते हैं, प्रत्येक का काल अन्तर्मुहूर्त है।

यथाप्रवृत्तिकरण—इस करण (परिणामो) द्वारा जीव रागद्वेष की एक ऐसी मजबूत गाँठ, जो कि कर्कश, दृढ, दुर्भेद होती है वहाँ तक आता है, उसी को ग्रन्थिदेश[१३] प्राप्ति कहते हैं। अभव्यजीव[१४] भी ग्रन्थिदेश को प्राप्त कर सकते हैं अर्थात् कर्मों की बहुत बडी स्थिति को घटाकर अन्त कोटाकोटी सागरोपम प्रमाण कर सकते है। परन्तु राग-द्वेष की दुर्भेद ग्रन्थि को वे तोड नही सकते। कारण उनको विशिष्ट अध्यवसाय की न्यूनता है—मोहनीय कर्म की सर्वोपशमना नही कर सकने से उनको औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति नही होती। इस ग्रन्थिप्रदेश मे सख्येय, असख्येय

काल पडा रहकर अभव्य होने से उसके अध्यवसाय मलिन होने से पुन अध पतन करता है। अभव्य को भी दश पूर्व ज्ञान से कुछ न्यून द्रव्यश्रुत सभव है[१५] क्योकि कल्प भाष्य के उल्लेख का आशय है कि जब १४ पूव से लेकर १० पूर्व का पूर्ण ज्ञान हो तो मम्यक्त्व सभव है—न्यून होने पर भजना है। कोई एक आत्मा ग्रन्थि भेद योग्य बल लगाने पर भी अन्त में रागद्वेष के तीव्र प्रहारो से आहत होकर अपनी मूल स्थिति मे आ जाते हैं—कोई चिरकाल तक उस आध्यात्मिक युद्ध में जूझते रहते हैं। कोई भव्य आत्मा यथाप्रवृत्ति परिणाम से विशेष शुद्ध परिणाम पाकर रागद्वेष के दृढ सस्कारो को छिन्न-भिन्न कर आगे बढता है। शास्त्र मे अटवी मे चोरो को देखकर एक पुरुष तो भाग गया, दूसरा पकडा गया, तीसरा उनको हराकर आगे बढा, इस दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है। इसी प्रकार तीनो करण हैं[१६]।

अपूर्वकरण—जिस विशेष शुद्ध परिणाम से भव्य जीव इस रागद्वेष की दुर्भेद ग्रन्थि को लाँघ जाता है, उस परिणाम को शास्त्रीय भाषा मे अपूर्वकरण कहा। इस प्रकार का परिणाम कदाचित् ही होता है बार-बार नही अत अपूर्व कहा[१७]। यह अनिवृत्तिकरण का कारण है।[१८] यथाप्रवृत्तिकरण तो एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय को सभव है परन्तु अपूर्वकरण का अधिकारी पर्याप्त पचेन्द्रिय होता है जो देशोनअर्द्धपुद्गल परावर्तन काल मे तो अवश्य मुक्ति मे जाने वाला है। इस जीव को आत्म-कल्याण करने की तीव्र अभिलाषा रहती है। ससार के खट पट से दूर रहना चाहता है। ईर्ष्या-द्वेष-निन्दा के दोष उस पर कम प्रभाव डालते हैं। सत्पुरुषो के प्रति बहुमान भक्ति दिखाता है, यो कहें कि ये जीव आध्यात्म की प्रथम भूमिका पर है। उसके मिथ्यात्व का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध रुक जाता है[१९] यथाप्रवृत्तिकरण मे स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी प्रवर्तन को कोई स्थान नहीं परन्तु अपूर्वकरण मे द्विस्थानक रस वाले अशुभ कर्म को उससे भी प्रति समय हीन हीनरस को व शुभकर्म का द्विस्थान से चतु स्थानक प्रतिसमय अनन्तगुण अधिक अनुभाग को बाँधता है।[२०] इसमें स्थिति-घात, रसघात, गुणसक्रमण, अभिनव स्थितिबन्ध कार्य होता है।

अनिवृत्तिकरण[२१]—अपूर्वकरण परिणाम से जब रागद्वेष की ग्रन्थि छिन्न भिन्न हो जाती है, तब तो जीव के और भी अधिक शुद्ध परिणाम होते हैं। जिस शुद्ध परिणाम को अनिवृत्ति कहते हैं। 'अनिवृत्ति' से अभिप्राय इस परि-णाम के बल से जीव सम्यक्त्व को प्राप्त कर ही लेता है। उसको प्राप्त किये बिना पीछे नही हटता। वह दर्शन मोहनीय पर विजय पा लेता है। इस परिणाम की स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त की है। 'निवृत्ति' का अर्थ 'भेद' भी होता है। इस करण मे समसमय वाले त्रिकालवर्ती जीवों के परिणाम विशुद्ध समान होते हैं भेद नही होता यद्यपि एक जीव के उत्तरोत्तर समयो मे अनन्तगुणी विशुद्धि होती है। इस करण में भी स्थिति, अनुभागादि घात के चारों कार्य प्रवर्तते हैं। इस अनिवृत्तिकरण के बल से अन्तरकरण बनता है।

अन्तरकरण (Interception Gap)—अनिवृत्तिकरण के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति मे जब कई एक भाग व्यतीत हो जाते हैं व एक भाग मात्र शेष रह जाता है तब अन्तरकरण क्रिया प्रारम्भ होती है। वह भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही होती है। अन्तर्मुहूर्त के असख्यात भेद होते हैं अत अनिवृत्तिकरण के अन्तर्मुहूर्त काल से अन्तरकरण काल का अन्तर्मुहूर्त छोटा होता है। अनिवृत्तिकरण के अन्तिम भाग मे जो मिथ्यात्व मोहनीय कर्म उदयमान है, उसके उन दलिको को जो अनिवृत्तिकरण के बाद अन्तर्मुहूर्त तक उदय मे आने वाले हैं, आगे-पीछे कर लेना अर्थात् उन दलिको में से कुछ को अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय पर्यन्त उदय मे आने वाले दलिको मे स्थापित कर देना (प्रथम स्थिति) व कुछ दलिको को उस अन्तर्मुहूर्त के बाद उदय मे आने वाले दलिकों के साथ मिला देना (द्वितीय स्थिति), इस तरह जिसका आबाधा काल पूरा हो चुका है ऐसे मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के दो भाग किये जाते हैं। एक भाग तो वह है जो अनिवृत्ति-करण के चरम समय तक उदयमान रहता है और दूसरा जो अनिवृत्तिकरण के बाद एक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल व्यतीत हो चुकने पर उदय मे आता है। इस प्रकार मध्य भाग मे रहे हुए कर्म दलिको को प्रथम स्थिति व द्वितीय स्थिति मे स्थापित करने के कारण रूप क्रिया विशेष के अध्यवसाय अन्तरकरण कहलाते हैं। इस तरह अनिवृत्तिकरण का अन्तिम समय व्यतीत हो जाने पर अन्तरकरण काल मे कोई भी मोहनीय कर्म के दलिक ऐसे नहीं रहते जिनका प्रदेश व विपा-कोदय सभव हो। सब दलिक अन्तरकरण क्रिया से आगे-पीछे उदय में आने योग्य कर दिये गये हैं। अत अनिवृत्तिकरण काल व्यतीत हो जाने पर जीव को औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है जिसका काल 'उपशान्ताद्धा' अन्तर्मुहूर्त कह चुके हैं। इस उपशान्ताद्धा काल मे मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का अल्पाश भी उदय न रहने से व अति दीर्घ स्थिति वाले तादृश कर्मों को अध्यवसाय के बल से दबा देने से रागद्वेष के उपशम होने से अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को औपशमिक प्रादुर्भाव

हुआ तीव्रतम रागद्वेष को मन्द करता हुआ मोह की प्रथम शक्ति को छिन्न भिन्न करने योग्य (ग्रन्थिभेद) आत्मबल प्रकट कर लेता है। जिसका वर्णन आगे करेंगे।

(२) सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान—जो जीव औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त कर चुका है परन्तु अनन्तानुबंधी कषाय के उदय से सम्यक्त्व को वमन कर मिथ्यात्व की ओर झुक रहा है परन्तु मिथ्यात्व को अभी तक स्पर्श नहीं किया, इस अन्तरिम अवस्था (जिसकी स्थिति जघन्य १ समय, उत्कृष्ट ६ आवलिका प्रमाण है) को सासादन सम्यग्दृष्टि कहा है। यद्यपि इस जीव का झुकाव मिथ्यात्व की ओर होता है तथापि जैसे खीर खाकर वमन करने वाले मनुष्य को खीर का 'आस्वादन' आने से इस गुणस्थान को 'सास्वाद'[८] सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहा है। यद्यपि इस गुणस्थान मे प्रथम गुणस्थान की अपेक्षा आत्मशुद्धि अवश्य कुछ अधिक होती है परन्तु यह उत्क्रान्ति स्थान नहीं कहा जाता—क्योंकि प्रथम स्थान को छोड़कर उत्क्रान्ति करने वाला आत्मा इस दूसरे गुणस्थान को सीधे तौर से प्राप्त नहीं करता अपितु ऊपर के गुणस्थान से गिरने वाला (Somersault) आत्मा ही इसका अधिकारी बनता है—अधःपतन मोह के उद्रेक से तीव्र कषायिक शक्ति के आविर्भाव से पाया जाता है—स्वरूप बोध को प्राप्त करके भी मोह के प्रबल थपेड़ों से आत्मा पुनः अधोगामिनी बनती है।

(३) सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान—मिथ्यात्व के जब अर्द्धविशुद्ध पुंज (आगे वर्णन आवेगा) का उदय होता है तब जैसे गुड से मिश्रित दही का स्वाद कुछ खट्टा, कुछ मधुर—मिश्र होता है। उसी प्रकार जीव की दृष्टि कुछ सम्यक् (शुद्ध), कुछ मिथ्या (अशुद्ध)—मिश्र हो जाती है।[९] इस गुणस्थान के समय मे बुद्धि मे दुर्बलता-सी आ जाती है जिससे जीव सर्वज्ञ प्रोक्त तत्त्वो मे न तो एकान्त रुचि रखता है न एकान्त अरुचि अपितु नालिकेर द्वीपवासीवत् मध्यस्थभाव रखता है। इस गुणस्थान में न तो केवल सम्यग्दृष्टि न केवल मिथ्यादृष्टि किन्तु दोलायमान स्थिति वाला जीव बन जाता है। उसकी बुद्धि स्वाधीन न होने से संदेहशील हो जाती है, न तो तत्त्व को एकान्त अतत्त्वरूप समझता है, न अतत्त्व को तत्त्वरूप—तत्त्व-अतत्त्व का वास्तविक विवेक नही कर सकता है। इसकी दूसरे गुणस्थान से यह विशेषता है कि कोई आत्मा प्रथम गुणस्थान से निकलकर सीधा ही तीसरे गुणस्थान को पहुचता है—कोई अपक्रान्ति करने वाला आत्मा चतुर्थादि गुणस्थान से पतन कर इस गुणस्थान को प्राप्त करता है। उत्क्रान्ति व अपक्रान्ति करने वाले दोनो प्रकार के आत्माओ का आश्रय यह तीसरा गुणस्थान है।

सम्यक्त्व प्राप्ति की पूर्व भूमिकाएँ

जीव अनादि काल से ससार मे पर्यटन कर रहा है और तरह-तरह के दुःखो को पाता है। जिस प्रकार पर्वतीय नदी का पत्थर इधर-उधर टकराकर गोल-चिकना बन जाता है उसी प्रकार जीव अनेक दुःख सहते हुए कोमल शुद्ध परिणामी बन जाता है। परिणाम इतने शुद्ध हो जाते हैं कि जिसके बल से जीव आयु को छोड शेष सात कर्मों की स्थिति को पल्योपमासंख्यातभागन्यून कोटाकोटी सागरोपम प्रमाण कर देता है। इस परिणाम का नाम शास्त्रीय भाषा मे यथाप्रवृत्तिकरण कहा गया है। जब कोई अनादि मिथ्यादृष्टि जीव प्रथम बार सम्यक्त्व ग्रहण करने के उन्मुख होता है तो वह तीन[१०] उत्कृष्ट योग लब्धियो से युक्त—करणलब्धि (दिगम्बर मत से चार[११] लब्धि से युक्त करणलब्धि) करता है। करण—'परिणाम लब्धि—शक्ति प्राप्ति। उस जीव को उस समय ऐसे उत्कृष्ट परिणामो की प्राप्ति होती है जो अनादि काल से पडी हुई मिथ्यात्व रूपी रागद्वेष की ग्रन्थि—गूढ गांठ को भेदने में समर्थ होते हैं वे परिणाम तीन प्रकार के हैं—१ यथाप्रवृत्तिकरण[१२] २ अपूर्वकरण, ३ अनिवृत्तिकरण। यह क्रमश होते हैं, प्रत्येक का काल अन्तर्मुहूर्त है।

यथाप्रवृत्तिकरण—इस करण (परिणामो) द्वारा जीव रागद्वेष की एक ऐसी मजबूत गाँठ, जो कि कर्कश, दृढ, दुर्भेद होती है वहाँ तक आता है, उसी को ग्रन्थिदेश[१३] प्राप्ति कहते हैं। अभव्यजीव[१४] भी ग्रन्थिदेश को प्राप्त कर सकते हैं अर्थात् कर्मों की बहुत बडी स्थिति को घटाकर अन्तः कोटाकोटी सागरोपम प्रमाण कर सकते हैं। परन्तु राग द्वेष की दुर्भेद ग्रन्थि को वे तोड नही सकते। कारण उनको विशिष्ट अध्यवसाय की न्यूनता है—मोहनीय कर्म की सर्वोपशमना नही कर सकने से उनको औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति नही होती। इस ग्रन्थिप्रदेश मे संख्येय, असंख्येय

काल पड़ा रहकर अभव्य होने से उसके अध्यवसाय मलिन होने से पुन अध पतन करता है। अभव्य को भी दश पूर्व ज्ञान से कुछ न्यून द्रव्यश्रुत सभव है[१५] क्योकि कल्प भाष्य के उल्लेख का आशय है कि जब १४ पूर्व से लेकर १० पूर्व का पूर्ण ज्ञान हो तो सम्यक्त्व सभव है—न्यून होने पर भजना है। कोई एक आत्मा ग्रन्थि भेद योग्य बल लगाने पर भी अन्त में रागद्वेष के तीव्र प्रहारो से आहत होकर अपनी मूल स्थिति मे आ जाते हैं—कोई चिरकाल तक उस आध्यात्मिक युद्ध में जूझते रहते हैं। कोई भव्य आत्मा यथाप्रवृत्ति परिणाम से विशेष शुद्ध परिणाम पाकर रागद्वेष के दृढ सस्कारो को छिन्न-भिन्न कर आगे बढता है। शास्त्र मे अटवी में चोरो को देखकर एक पुरुष तो भाग गया, दूसरा पकडा गया, तीसरा उनको हराकर आगे बढा, इस दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है। उसी प्रकार तीनो करण हैं[१६]।

अपूर्वकरण—जिस विशेष शुद्ध परिणाम से भव्य जीव इस रागद्वेष की दुर्भेद ग्रन्थि को लांघ जाता है, उस परिणाम को शास्त्रीय भाषा में अपूर्वकरण कहा। इस प्रकार का परिणाम कदाचित् ही होता है बार-बार नही अत अपूर्व कहा[१७]। यह अनिवृत्तिकरण का कारण है।[१८] यथाप्रवृत्तिकरण तो एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय को सभव है परन्तु अपूर्वकरण का अधिकारी पर्याप्त पचेन्द्रिय होता है जो देशोनअर्द्धपुद्गल परावर्तन काल मे तो अवश्य मुक्ति मे जाने वाला है। इस जीव को आत्म-कल्याण करने की तीव्र अभिलाषा रहती है। ससार के खट-पट से दूर रहना चाहता है। ईर्ष्या-द्वेष-निन्दा के दोष उस पर कम प्रभाव डालते हैं। सत्पुरुषो के प्रति बहुमान भक्ति दिखाता है, यो कहें कि ये जीव आध्यात्म की प्रथम भूमिका पर है। उसके मिथ्यात्व का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध रुक जाता है[१९] यथाप्रवृत्तिकरण मे स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी प्रवर्तन को कोई स्थान नहीं परन्तु अपूर्वकरण मे द्विस्थानक रस वाले अशुभ कर्म को उससे भी प्रति समय हीन हीनरस को व शुभकर्म का द्विस्थान से चतु स्थानक प्रतिसमय अनन्तगुण अधिक अनुभाग को बाँधता है।[२०] इसमें स्थिति-घात, रसघात, गुणसक्रमण, अभिनव स्थितिबन्ध कार्य होता है।

अनिवृत्तिकरण[२१]—अपूर्वकरण परिणाम से जब रागद्वेष की ग्रन्थि छिन्न-भिन्न हो जाती है, तब तो जीव के और भी अधिक शुद्ध परिणाम होते हैं। जिस शुद्ध परिणाम को अनिवृत्ति कहते हैं। 'अनिवृत्ति' से अभिप्राय इस परि-णाम के बल से जीव सम्यक्त्व को प्राप्त कर ही लेता है। उसको प्राप्त किये बिना पीछे नही हटता। वह दर्शन मोहनीय पर विजय पा लेता है। इस परिणाम की स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त की है। 'निवृत्ति' का अर्थ 'भेद' भी होता है। इस करण में समसमय वाले त्रिकालवर्ती जीवो के परिणाम विशुद्ध समान होते हैं भेद नही होता यद्यपि एक जीव के उत्तरोत्तर समयो मे अनन्तगुणी विशुद्धि होती है। इस करण मे भी स्थिति, अनुभागादि घात के चारो कार्य प्रवर्तते हैं। इस अनिवृत्तिकरण के बल से अन्तरकरण बनता है।

अन्तरकरण (Interception Gap)—अनिवृत्तिकरण के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति मे जब कई एक भाग व्यतीत हो जाते हैं व एक भाग मात्र शेष रह जाता है तब अन्तरकरण क्रिया प्रारम्भ होती है। वह भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही होती है। अन्तर्मुहूर्त के असख्यात भेद होते हैं अत अनिवृत्तिकरण के अन्तर्मुहूर्त काल से अन्तरकरण काल का अन्तर्मुहूर्त छोटा होता है। अनिवृत्तिकरण के अन्तिम भाग मे जो मिथ्यात्व मोहनीय कर्म उदयमान है, उसके उन दलिको को जो अनिवृत्तिकरण के बाद अन्तर्मुहूर्त तक उदय मे आने वाले हैं, आगे-पीछे कर लेना अर्थात् उन दलिको मे से कुछ को अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय पर्यन्त उदय मे आने वाले दलिको में स्थापित कर देना (प्रथम स्थिति) व कुछ दलिको को उस अन्तर्मुहूर्त के बाद उदय मे आने वाले दलिकों के साथ मिला देना (द्वितीय स्थिति), इस तरह जिसका आबाधा काल पूरा हो चुका है ऐसे मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के दो भाग किये जाते हैं। एक भाग तो वह है जो अनिवृत्ति-करण के चरम समय तक उदयमान रहता है और दूसरा जो अनिवृत्तिकरण के बाद एक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल व्यतीत हो चुकने पर उदय मे आता है। इस प्रकार मध्य भाग मे रहे हुए कर्म दलिको को प्रथम स्थिति व द्वितीय स्थिति मे स्थापित करने के कारण रूप क्रिया विशेष के अध्यवसाय अन्तरकरण कहलाते हैं। इस तरह अनिवृत्तिकरण का अन्तिम समय व्यतीत हो जाने पर अन्तरकरण काल में कोई भी मोहनीय कर्म के दलिक ऐसे नहीं रहते जिनका प्रदेश व विपा-कोदय सभव हो। सब दलिक अन्तरकरण क्रिया से आगे-पीछे उदय मे आने योग्य कर दिये गये हैं। अत अनिवृत्तिकरण काल व्यतीत हो जाने पर जीव को **औपशमिक सम्यक्त्व** प्राप्त होता है जिसका काल 'उपशान्ताद्धा' अन्तर्मुहूर्त कह चुके हैं। इस उपशान्ताद्धा काल में मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का अल्पाश भी उदय न रहने से व अति दीर्घ स्थिति वाले तादृश कर्मों को अध्यवसाय के बल से दबा देने से रागद्वेष के उपशम होने से अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को औपशमिक प्रादुर्भाव

होने से एक अवर्णनीय आल्हाद अनुभव होता है। उसकी पर-रूप में स्वरूप की जो भ्रान्ति थी—इस काल में दूर हो जाती है। वह अन्तरात्मा में परमात्म भाव को देखने लगता है। धाम से परितापित पथिक को शीतल छाया का सुख—जन्मान्ध रोगी को नेत्र लाभ, असाध्य व्याधि से मुक्त रोगी को जो सुख अनुभव होता है उससे भी अधिक सुख यह जीव सम्यक्त्व प्राप्ति से अनुभव करता है।[२२] उपशान्ताद्धा के पूर्व समय में (प्रथम स्थिति के चरम समय में) जीव विशुद्ध परिणाम से उस मिथ्यात्व के तीन पुंज करता है, जो उपशान्ताद्धा के पूरे हो जाने पर उदय में आने वाले हैं। कोद्रव धान की शुद्धि विशेषवत् कुछ भाग विशुद्ध, कुछ अर्द्धशुद्ध, कुछ अशुद्ध ही रहता है। उपशान्ताद्धा पूर्ण होने पर उक्त तीनों पुन्जों में से कोई एक पुन्ज परिणामानुसार उदय में आता है।[२३] विशुद्ध पुन्ज के उदय होने से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्रकट होता है जो सम्यक्त्व मोहनीय होकर सम्यक्त्व का तो घात नहीं करता परन्तु देशघाती रसयुक्त होने से विशिष्ट श्रद्धानुरूप देश को रोकता है। किंचित् मलिनता रहती है, चल दोष (रत्नत्रय की प्रतीति रहे—परन्तु यह स्वकीय है, यह अन्य है) मल दोष (शंकादि मल लगावे) अगाढ़दोष (सम्यक्त्व में स्थिरता न रहे) आदि दोष रहते हैं। यदि जीव के परिणाम अर्द्धशुद्ध उदय में आवे तो मिश्रमोहनीय (३ गुणस्थान) व यदि परिणाम अशुद्ध उदय में आवे तो मिथ्यात्व मोहनीय (मिथ्यादृष्टि) हो जाता है। उपशान्ताद्धा जिसमें जीव शान्त, प्रशान्त, स्थिर व पूर्णानन्द हो जाता है उसका जघन्य १ समय और उत्कृष्ट ६ आवलिका काल जब बाकी रहे तब किसी-किसी औपशमिक सम्यक्त्वी को विघ्न आ पड़ता है। शान्ति में भंग पड़ जाता है। अनन्तानुबंधी कषाय का उदय होते ही जीव सम्यक्त्व परिणाम को वमन कर मिथ्यात्व की ओर झुकता है जब तक मिथ्यात्व को स्पर्श नहीं करता, उस समय वह सासादन सम्यग्दृष्टि कहाता है (जिसका कथन दूसरे गुणस्थान में किया है)। जब क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी क्षायिक सम्यक्त्व के सन्मुख हो मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय प्रकृति का तो क्षय कर दे परन्तु सम्यक्त्व मोहनीय के काण्डकघातादि क्रिया नहीं करता उसको कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि नाम दिया गया है क्योंकि वह मोहनीय कर्म के अन्तिम पुद्गल का वेदन कर रहा है। इसका जघन्य व उत्कृष्ट काल १ समय है। जिसके अनन्तर ही क्षायिक सम्यक्त्व का आविर्भाव हो जाता है।

क्षायिक सम्यक्त्व—जब दर्शन मोहनीय की ३ प्रकृतियों का सर्वथा रूप सब निषेकों का क्षय हो जावे व अनन्तानुबंधी चतुष्क का भी सर्वथा क्षय हो जावे तब अत्यन्त निर्मल तत्त्वार्थ श्रद्धान जो प्रकट हो, वह क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है। इस तरह से सम्यक्त्व के ५ भेद—औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, वेदक व सास्वादन होते हैं और भी प्रकार नीचे बतलायेंगे।

सम्यक्त्व क्या है—पहचानें कैसे? सम्यक् यह प्रशंसा वाचक शब्द है (अञ्चते क्वौ समञ्चतीति सम्यगिति। अस्यार्थः प्रशंसा)[२४] सम्यग् जीव सद्भाव, विपरीताभिनिवेश रहित मोक्ष के अविरोधि परिणाम संवेगादि युक्त आत्मा का सद्बोध रूप परिणाम विशेष सम्यक्त्व कहलाता है जो मोहनीय प्रकृति के अनुवेदन बाद उपशम व क्षय से उत्पन्न होता है। दर्शन मोहनीय की ३ प्रकृतियों के क्षय व उपशम के सहचारी अनन्तानुबंधी प्रकृतियों का भी क्षय व उपशम है।[२५] तत्त्वार्थ-श्रद्धान् उसका लक्षण है। शम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा, आस्तिक्य इसकी पहचान है।

प्रकार १ तत्त्व व उसके अर्थ में श्रद्धान रूप (तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं)

प्रकार २ (क) निश्चय सम्यक्त्व—अनन्तगुणों के पुंज रूप मुख्य गुण ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि जिसके हैं—उस अखण्ड आत्मा में यथार्थ प्रतीति करना[२६] उसका ज्ञायक स्वभाव है। जिससे 'स्व' 'पर' दोनों को जानकर अपने से विभावावस्था से हटकर स्वभाव में स्थित होता है। निश्चय नय में आत्मा ही ज्ञान-दर्शन-चारित्र है—जो आत्मा में ही रत है वह सम्यग्दृष्टि है।[२७] निश्चयानुसार आत्मविनिश्चिति ही सम्यग्दर्शन है। आत्मज्ञान ही सम्यक्बोध, आत्मस्थिति ही सम्यक्चारित्र है। यह सत्य की पराकाष्ठा है, आत्मदर्शन की स्वयं अनुभूति है।

(ख) व्यवहार सम्यक्त्व—परन्तु उपरोक्त स्थिति तो उच्च चारित्रधारी महात्माओं की तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में होती है। उस लक्ष्य को पहुँचने के लिए उसमें सहायक निमित्त कारण देव, गुरु, धर्म होते हैं जिनमें प्रतीति-रुचि रख जिनसे ज्ञात नवतत्त्वादि पदार्थों में श्रद्धान रखना व्यवहार सम्यक्त्व कहाता है। अभेद वस्तु को भेद रूप से उपचार से व्यवहृत करना व्यवहार है।[२८] विपरीताभिनिवेश रहित जीव को जो आत्म-श्रद्धान हुआ उसके निमित्त देव-गुरु-धर्म[२९] नवतत्त्वादि हुए उनमें श्रद्धान होने से इस निमित्त को

व्यवहार सम्यक्त्व कहा।[३०] दोनो मे से निश्चय सम्यक्त्व को भाव सम्यक्त्व व अपौद्गलिक, व्यवहार को द्रव्य सम्यक्त्व, पौद्गलिक भी कहा।

प्रकार ३ औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक (उदयप्राप्त मोहनीय का क्षय, अनुदय का उपशम)।

प्रकार ४ (क) कारक—जिसके प्राप्त होने पर जीव सदनुष्ठान मे श्रद्धा रखता है। स्वय आचरे दूसरो का पलावे।

(ख) रोचक—जिसके प्राप्त होने पर जीव सदनुष्ठान मे रुचि रखता है परन्तु आचरण नही कर सकता (श्रीकृष्ण, श्रेणिक)।

(ग) दीपक—जो मिथ्यादृष्टि स्वय तो तत्त्वश्रद्धान से शून्य हो परन्तु उपदेशादि द्वारा दूसरो मे तत्वश्रद्धा उत्पन्न करे। उसका उपदेश दूसरो में समकित का कारण होने से कारण मे कार्य का उपचार कर 'दीपक' कहा।

प्रकार ५ औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, सास्वादन, वेदक। ऊपर व्याख्या की गई है। ये पाँचो प्रकार के सम्यक्त्व निसग (स्वभाव) व उपदेश से उत्पन्न होते हैं।

प्रकार १० निसर्गरुचि, उपदेशरुचि, आज्ञारुचि, सूत्ररुचि, बीजरुचि, अधिगमरुचि, विस्ताररुचि, क्रियारुचि, सक्षेपरुचि, धर्मरुचि (उत्तरा, २८।१६)।

प्र०—सम्यग्दर्शनी व सम्यग्दृष्टि मे क्या अन्तर है?

उ०—सम्यग्दृष्टि के दो भेद हैं—सादि सपर्यवसान, सादि अपर्यवसान। सादि सपर्यवसान वाले सम्यक्दर्शनी हैं। उनका सम्यक्दशन ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षयोपशम से जन्य है (अपाय सद्द्रव्यवर्तिनी—अपाय, मतिज्ञान का भेद)[३१], जबकि केवली को मोहनीय कर्म के क्षय से सम्भव है—केवली को मतिज्ञान का अपायापगम अभाव है। अत सयोगि अयोगि केवली व सिद्धो के जीव सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं व चार से बारहवें गुणस्थानी जीव को सम्यग्दर्शनी कहा। सम्यग्दर्शनी की स्थिति जघन्य अतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट ६६ सागरोपम से कुछ अधिक है। सम्यग्दर्शनी असख्येय हैं जबकि सम्यग्दृष्टि अनन्त होते हैं (सिद्ध भी सम्मिलित हैं)। सम्यग्दर्शनी का क्षेत्र लोक का असख्यातवा भाग है जबकि सम्यग्दृष्टि का क्षेत्र समस्त लोक है।

(४) **अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान**[३२]—सावद्यव्यापारो को छोड देना अर्थात् पापजनक कार्यों से अलग होना विरति कहलाता है। चारित्र वा व्रत विरति का ही नाम है। जो सम्यक्दृष्टि होकर भी किसी प्रकार के व्रत नियम धारण नही कर सकता, उसको अविरत सम्यग्दृष्टि, उसका स्वरूप अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहलाता है। व्रत नियम में बाधक उसके अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क का उदय है। परन्तु यहाँ सद्‌बोध रुचि, श्रद्धा प्राप्त हो जाने से आत्मा का विकासक्रम यहीं से प्रारम्भ हो जाता है। इस गुणस्थान को पाकर आत्मा शान्ति का अनुभव करता है। इस भूमिका मे आध्यात्मिक दृष्टि यथाथ (आत्मस्वरूपोन्मुख) होने से विपर्यास रहित होती है। पातजल योग में जो अष्ट भूमिकाएँ (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि) बनाईं व यशोविजयजी ने हरिभद्रजी के योग-दृष्टि समुच्चय के आधार पर सज्झायो की रचना की उनमें से (मित्रा, बला, तारा, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभापरा) प्रत्याहार तदनुसार स्थिरा[३३] से समकक्ष यह सम्यक्त्व की दृष्टि है। चतुर्थ गुणस्थान मे आत्मा के स्वरूप दर्शन से जीव को विश्वास हो जाता है कि अब तक जो मैं पौद्गलिक बाह्य सुख में तरस रहा था वह परिणाम विरस, अस्थिर व परिमित है। सुन्दर व अपरिमित सुख स्वरूप की प्राप्ति मे है। तब वह विकासगामी स्वरूप स्थिति के लिए प्रयत्नशील बनता है। कृष्ण पक्षी से शुक्ल पक्षी बनता है। अन्तरात्मा कहा जाता है व चारित्रमोह की शक्ति को निर्बल करने के लिए आगे प्रयास करता है।

(५) **देशविरति गुणस्थान**[३४]—प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय के कारण जो जीव पापजनक क्रियाओ से सम्पूर्णतया नही अपितु अश से विरक्त हो सकते है वे देशविरत या श्रावक कहे जाते हैं। उनका स्वरूप विशेष देशविरत गुणस्थान कहलाता है। कोई एक व्रतधारी व अधिक से अधिक १२ व्रतधारी व ११ प्रतिमाधारी होते हैं तो कोई अनुमति सिवाय (प्रतिसेवना, प्रतिश्रवणा, सवासानुमति) न सावद्यवृति करते हैं न कराते हैं। इस गुणस्थान मे विकासगामी आत्मा को यह अनुभव होने लगता है कि यदि अल्पविरति से भी इतना अधिक शान्तिलाभ हुआ तो सर्व विरति—जड पदार्थो के सर्वथा परिहार—से कितना लाभ होगा? सर्वविरति के लिए आगे बढता है।

होने से एक अवर्णनीय आल्हाद अनुभव होता है। उसकी पर-रूप मे स्वरूप की जो भ्रान्ति थी—इस काल मे दूर हो जाती है। वह अन्तरात्मा मे परमात्म भाव को देखने लगता है। घाम से परितापित पथिक को शीतल छाया का सुख—जन्मान्ध रोगी को नेत्र लाभ, असाध्य व्याधि से मुक्त रोगी को जो सुख अनुभव होता है उससे भी अधिक सुख यह जीव सम्यक्त्व प्राप्ति से अनुभव करता है।[२२] उपशान्ताद्धा के पूर्व समय मे (प्रथम स्थिति के चरम समय मे) जीव विशुद्ध परिणाम से उस मिथ्यात्व के तीन पुज करता है, जो उपशान्ताद्धा के पूरे हो जाने पर उदय मे आने वाले हैं। कोद्रव धान की शुद्धि विशेषवत् कुछ भाग विशुद्ध, कुछ अर्द्ध शुद्ध, कुछ अशुद्ध ही रहता है। उपशान्ताद्धा पूर्ण होने पर उक्त तीनों पुन्जों में से कोई एक पुन्ज परिणामानुसार उदय मे आता है।[२३] विशुद्ध पुन्ज के उदय होने से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्रकट होता है जो सम्यक्त्व मोहनीय होकर सम्यक्त्व का तो घात नही करता परन्तु देशघाती रसयुक्त होने से विशिष्ट श्रद्धानुरूप देश को रोकता है। किंचित् मलिनता रहती है, चल दोष (रत्नत्रय की प्रतीति रहे—परन्तु यह स्वकीय है, यह अन्य है) मल दोष (शकादि मल लगावे) अगाढदोष (सम्यक्त्व मे स्थिरता न रहे) आदि दोष रहते हैं। यदि जीव के परिणाम अर्द्धशुद्ध उदय मे आवे तो मिश्रमोहनीय (३ गुणस्थान) व यदि परिणाम अशुद्ध उदय मे आवे तो मिथ्यात्व मोहनीय (मिथ्यादृष्टि) हो जाता है। उपशान्ताद्धा जिसम जीव शान्त, प्रशान्त, स्थिर व पूर्णानन्द हो जाता है उसका जघन्य १ समय और उत्कृष्ट ६ आवलिका काल जब बाकी रहे तब किसी-किसी औपशमिक सम्यक्त्वी को विघ्न आ पडता है। शान्ति मे भग पड जाता है। अनन्तानुबधी कषाय का उदय होते ही जीव सम्यक्त्व परिणाम को वमन कर मिथ्यात्व की ओर झुकता है जब तक मिथ्यात्व को स्पश नही करता, उस समय वह सासादन सम्यग्दृष्टि कहाता है (जिसका कथन दूसरे गुणस्थान मे किया है)। जब क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी क्षायिक सम्यक्त्व के सन्मुख हो मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय प्रकृति का तो क्षय कर दे परन्तु सम्यक्त्व मोहनीय के काण्डकछातादि क्रिया नही करता उसको कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि नाम दिया गया है क्योंकि वह मोहनीय कर्म के अन्तिम पुद्गल का वेदन कर रहा है। इसका जघन्य व उत्कृष्ट काल १ समय है। जिसके अनन्तर ही क्षायिक सम्यक्त्व का आविर्भाव हो जाता है।

क्षायिक सम्यक्त्व—जब दशन मोहनीय की ३ प्रकृतियो का सर्वथा रूप सब निषेको का क्षय हो जावे व अनन्तानुबधी चतुष्क का भी सवथा क्षय हो जावे तब अत्यन्त निर्मल तत्त्वाथ श्रद्धान जो प्रकट हो, वह क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है। इस तरह से सम्यक्त्व के ५ भेद—औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, वेदक व सास्वादन होते हैं और भी प्रकार नीचे बतलायेंगे।

सम्यक्त्व क्या है—पहचानें कैसे? सम्यक् यह प्रशसा वाचक शब्द है (अचते क्वौ समचतीति सम्यगिति। अस्यार्थ प्रशसा)[२४] सम्यग् जीव सद्भाव, विपरीताभिनिवेश रहित मोक्ष के अविरोधि परिणाम सवेगादि युक्त आत्मा का सद्बोध रूप परिणाम विशेष सम्यक्त्व कहलाता है जो मोहनीय प्रकृति के अनुवेदन वाद उपशम व क्षय से उत्पन्न होता है। दशन मोहनीय की ३ प्रकृतियो के क्षय व उपशम के सहचारी अनन्तानुबधी प्रकृतियो का भी क्षय व उपशम है।[२५] तत्त्वार्थ-श्रद्धान् उसका लक्षण है। शम, सवेग, निर्वेद, अनुकपा, आस्तिक्य इसकी पहचान है।

प्रकार १ तत्त्व व उसके अर्थ मे श्रद्धान रूप (तत्त्वाथश्रद्धान सम्यग्दशन)

प्रकार २ (क) निश्चय सम्यक्त्व—अनन्तगुणो के पुज रूप मुख्य गुण ज्ञान-दशन-चारित्रादि जिसके हैं—उस अखण्ड आत्मा मे यथाथ प्रतीति करना[२६] उसका ज्ञायक स्वभाव है। जिससे 'स्व' 'पर' दोनो को जानकर अपने से विभावावस्था से हटकर स्वभाव मे स्थित होता है। निश्चय नय मे आत्मा ही ज्ञान-दशन-चारित्र है—जो आत्मा मे ही रत है वह सम्यग्दृष्टि है।[२७] निश्चयानुसार आत्मविनिश्चिति ही सम्यग्दशन है। आत्मज्ञान ही सम्यक्‌बोध, आत्मस्थिति ही सम्यकचारित्र है। यह सत्य की पराकाष्ठा है, आत्मदशन की स्वय अनुभूति है।

(ख) व्यवहार सम्यक्त्व—परन्तु उपरोक्त स्थिति तो उच्च चारित्रधारी महात्माओ की तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान मे होती है। उस लक्ष्य को पहुँचने के लिए उसमे सहायक निमित्त कारण देव, गुरु, धम होत हैं जिनम प्रतीति-रुचि रख जिनसे ज्ञात नवतत्त्वादि पदार्थों मे श्रद्धान रखना व्यवहार सम्यक्त्व कहाता है। अभेद वस्तु को भेद रूप से उपचार से व्यवहृत करना व्यवहार है।[२८] विपरीताभिनिवेश रहित जीव को जो आत्म-श्रद्धान हुआ उसके निमित्त देव-गुरु-धम[२९] नवतत्त्वादि हुए उनमे श्रद्धान होने से इस निमित्त को

व्यवहार सम्यक्त्व कहा।[३०] दोनो मे से निश्चय सम्यक्त्व को भाव सम्यक्त्व व अपौद्गलिक, व्यवहार को द्रव्य सम्यक्त्व, पौद्गलिक भी कहा।

प्रकार ३ औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक (उदयप्राप्त मोहनीय का क्षय, अनुदय का उपशम)।

प्रकार ४ (क) कारक—जिसके प्राप्त होने पर जीव सदनुष्ठान मे श्रद्धा रखता है। स्वय आचरे दूसरो का पलावे।

(ख) रोचक—जिसके प्राप्त होने पर जीव सदनुष्ठान मे रुचि रखता है परन्तु आचरण नही कर सकता (श्रीकृष्ण, श्रेणिक)।

(ग) दीपक—जो मिथ्यादृष्टि स्वय तो तत्वश्रद्धान से शून्य हो परन्तु उपदेशादि द्वारा दूसरो मे तत्वश्रद्धा उत्पन्न करे। उसका उपदेश दूसरो मे समकित का कारण होने से कारण मे कार्य का उपचार कर 'दीपक' कहा।

प्रकार ५ औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, सास्वादन, वेदक। ऊपर व्याख्या की गई है। ये पाँचो प्रकार के सम्यक्त्व निसर्ग (स्वभाव) व उपदेश से उत्पन्न होते हैं।

प्रकार १० निसर्गरुचि, उपदेशरुचि, आज्ञारुचि, सूत्ररुचि, बीजरुचि, अधिगमरुचि, विस्ताररुचि, क्रियारुचि, सक्षेपरुचि, धर्मरुचि (उत्तरा, २८।१६)।

प्र०—सम्यग्दर्शनी व सम्यग्दृष्टि मे क्या अन्तर है ?

उ०—सम्यग्दृष्टि के दो भेद हैं—सादि सपर्यवसान, सादि अपर्यवसान। सादि सपर्यवसान वाले सम्यक्दर्शनी है। उनका सम्यक्दर्शन ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षयोपशम से जन्य है (अपाय सद्द्रव्यवर्तिनी—अपाय, मतिज्ञान का भेद)[३१], जबकि केवली को मोहनीय कर्म के क्षय से सम्भव है—केवली को मतिज्ञान का अपायापगम अभाव है। अत सयोगि अयोगि केवली व सिद्धो के जीव सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं व चार से बारहवें गुणस्थानी जीव को सम्यग्दर्शनी कहा। सम्यग्दर्शनी की स्थिति जघन्य अतर्मुहूत, उत्कृष्ट ६६ सागरोपम से कुछ अधिक है। सम्यग्दर्शनी असख्येय हैं जबकि सम्यग्दृष्टि अनन्त होते हैं (सिद्ध भी सम्मिलित हैं)। सम्यग्दर्शनी का क्षेत्र लोक का असख्यातवा भाग है जबकि सम्यग्दृष्टि का क्षेत्र समस्त लोक है।

(४) **अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान**[३२]—सावद्यव्यापारो को छोड देना अर्थात् पापजनक कार्यों से अलग होना विरति कहलाता है। चारित्र वा व्रत विरति का ही नाम है। जो सम्यक्दृष्टि होकर भी किसी प्रकार के व्रत नियम धारण नही कर सकता, उसको अविरत सम्यग्दृष्टि, उसका स्वरूप अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहलाता है। व्रत नियम में बाधक उसके अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क का उदय है। परन्तु यहाँ सद्बोध रुचि, श्रद्धा प्राप्त हो जाने से आत्मा का विकासक्रम यही से प्रारम्भ हो जाता है। इस गुणस्थान को पाकर आत्मा शान्ति का अनुभव करता है। इस भूमिका मे आध्यात्मिक दृष्टि यथार्थ (आत्मस्वरूपोन्मुख) होने से विपर्यास रहित होती है। पातजल योग मे जो अष्ट भूमिकाएँ (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि) बनाई व यशोविजयजी ने हरिभद्रजी के योग-दृष्टि समुच्चय के आधार पर सज्झायो की रचना की उनमें से (मित्रा, बला, तारा, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभापरा) प्रत्याहार तदनुसार स्थिरा[३३] से समकक्ष यह सम्यक्त्व की दृष्टि है। चतुर्थ गुणस्थान मे आत्मा के स्वरूप दर्शन से जीव को विश्वास हो जाता है कि अब तक जो मैं पौद्गलिक बाह्य सुख में तरस रहा था वह परिणाम विरस, अस्थिर व परिमित है। सुन्दर व अपरिमित सुख स्वरूप की प्राप्ति मे है। तब वह विकासगामी स्वरूप स्थिति के लिए प्रयत्नशील बनता है। कृष्ण पक्षी से शुक्ल पक्षी बनता है। अन्तरात्मा कहा जाता है व चारित्रमोह की शक्ति को निर्बल करने के लिए आगे प्रयास करता है।

(५) **देशविरति गुणस्थान**[३४]—प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय के कारण जो जीव पापजनक क्रियाओ से सम्पूर्णतया नही अपितु अश से विरक्त हो सकते हैं वे देशविरत या श्रावक कहे जाते हैं। उनका स्वरूप विशेष देशविरत गुणस्थान कहलाता है। कोई एक व्रतधारी व अधिक से अधिक १२ व्रतधारी व ११ प्रतिमाधारी होते हैं तो कोई अनुमति सिवाय (प्रतिसेवना, प्रतिश्रवणा, सवासानुमति) न सावद्यवृत्ति करते हैं न कराते हैं। इस गुणस्थान मे विकासगामी आत्मा को यह अनुभव होने लगता है कि यदि अल्पविरति से भी इतना अधिक शान्तिलाभ हुआ तो सर्व विरति—जड पदार्थों के सर्वथा परिहार—से कितना लाभ होगा ? सर्वविरति के लिए आगे बढ़ता है।
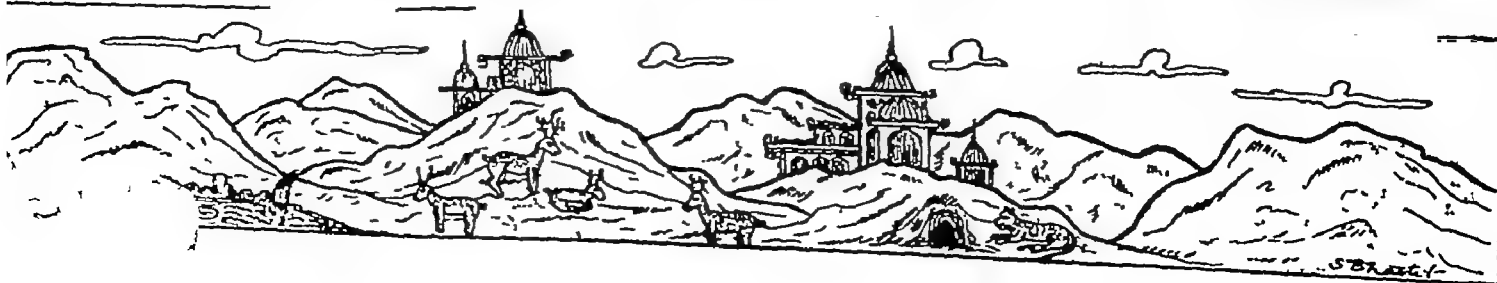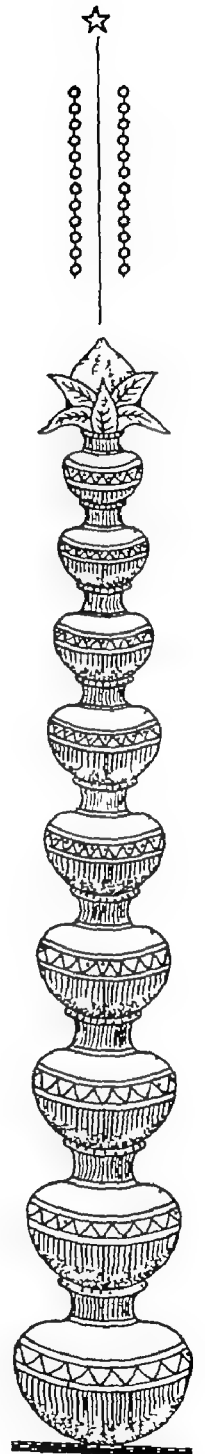
(६) **प्रमत्तसयत गुणस्थान**[३५]—जो जीव पापजनक व्यापारो से विधिपूर्वक सर्वथा निवृत्त हो, सयत मुनि हो जाता है। सयत भी जब तक प्रमाद (मद्य, विषय, कषाय, निद्रा, विकथा) का सेवन करते हैं, प्रमत्तसयत कहलाते हैं। प्रत्याख्यानावरणीय का तो इनके क्षयोपशम हो चुका है परन्तु उस सयम के साथ सज्वलन व नोकषाय का उदय रहने से मल को उत्पन्न करने वाला जो प्रमाद है (इसके अनेक भेद हैं[३६])। अतएव प्रमत्तसयत गुणस्थान कहा। औदयिक भाव की अपेक्षा चारित्र क्षायोपशमिक भाव है परन्तु सम्यक्त्व की अपेक्षा औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक कोई भी सम्यक्त्व सम्भव है। सयम से शान्ति तो है परन्तु प्रमाद से कभी शान्ति में बाधा होती है।

(७) **अप्रमत्तसयत गुणस्थान**[३७]—जब सज्वलन और नोकषाय का मन्द उदय होता है तब सयत मुनि के प्रमाद का अभाव हो जाता है, किसी प्रमाद का सेवन नही करता, इसका स्वरूप विशेष अप्रमत्तसयत गुणस्थान कहा। वह मूलगुण व उत्तरगुणो मे अप्रमत्त महात्मा निरन्तर अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति के चिन्तन-मनन मे रत रहता है। ऐसा मुनि जब तक उपशमक व क्षपक श्रेणी का आरोहण नहीं करता[३८] तब उसको अप्रमत्त व निरतिशय अप्रमत्त कहते हैं। इस स्थिति मे एक ओर तो मन अप्रमादजन्य उत्कृष्ट सुख का अनुभव करते रहने के लिए उत्तेजित करता है तो दूसरी ओर प्रमादजन्य वासनाएँ उसको अपनी ओर खीचती हैं। इस तुमुल युद्ध मे विकासगामी आत्मा कभी छठे, कभी सातवें गुणस्थान मे अनेक बार आता-जाता है। शुद्ध अध्यवसायो से आगे बढ़ता है।

(८) **नियट्टि बादर (अपूर्वकरण) गुणस्थान**—नियट्टि का अर्थ भिन्नता, बादर—बादर कषाय, इस गुणस्थान मे भिन्न समयवर्ती जीवो के परिणाम विशुद्धि की अपेक्षा सदृश नही होते अत नियट्टि नाम[३९] रखा तथा उन जीवो के परिणाम ऐसे विशुद्ध होते हैं जो पहले कभी नही हुए थे अत अपूर्वकरण[४०] भी कहा। इस गुणस्थान मे त्रिकालवर्ती जीवो के अध्यवसाय स्थान असख्यात लोकाकाशो के प्रदेश समान होते हैं व समसमयवर्ती जीवो के अध्यवसाय स्थान असख्यात लोकाकाशो के प्रदेश समान होते हैं। इस गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त है—असख्यात के असख्यात भेद हैं। पूर्ववर्ती जीवो के अध्यवसाय स्थान से अन्तिमवर्ती जीवो के अध्यवसाय अनन्त गुण अधिक शुद्ध व समसमयवर्ती के भी एक दूसरे की अपेक्षा षट् स्थानगत (अनन्त भाग अधिक, असख्य भाग अधिक, सख्यात भाग अधिक, सख्यात गुण अधिक, असख्यात गुण अधिक व अनन्त गुण अधिक) विशुद्धि लिए हुए होते हैं। इसी प्रकार प्रथम समय से अन्तिम समय के अधिक विशुद्ध जानो। इस आठवें गुणस्थान के समय जीव पाँच विधान प्रक्रियायें करते हैं—स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी, गुणसक्रमण, अपूर्वस्थितिबन्ध।

स्थितिघात—जैसा कि ऊपर कह आये हैं—जो कर्म दलिक आगे उदय मे आने वाले हैं, उनको अपवर्तनाकरण द्वारा अपने उदय के नियत समय से हटा देना अर्थात् बड़ी स्थिति को घटा देना।

रसघात—बधे हुए ज्ञानावरणादि कर्मों के प्रचुर रस को अपवर्तनाकरण से मद रस वाले कर देना।

गुणश्रेणी[४१]—उदय क्षण से लेकर प्रति समय असख्यात गुणे, असख्यात गुणे कर्म दलिको की रचना करना अर्थात् जिन कर्मदलिको का स्थितिघात किया जाता है—उनको उदय समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त जितने समय होते हैं—उनमें उदयावलिका के समय को छोड़ शेष समय रहें उनमे प्रथम समय मे जो दलिक स्थापित किये जावें उनसे असख्यात गुणे अधिक दूसरे समय मे, उनसे असख्यात गुणे अधिक तीसरे समय में इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त के चरम समय तक स्थापित कर निर्जरित करना गुणश्रेणी कहलाता है।

गुणसक्रमण—पहले बाधी हुई अशुभ प्रकृतियो का बध्यमान शुभ प्रकृतियो मे परिणत करना।

अपूर्वस्थितिबंध—पहले की अपेक्षा अल्प स्थिति के कर्मों को बाधना। यद्यपि इन स्थितिघातादि का वर्णन समकितपूर्व भी कहा परन्तु वहाँ अध्यवसाय की जितनी शुद्धि है उससे अधिक इन गुणस्थानों में होती हैं। वहाँ अल्प स्थिति अल्प रस का घात होता है—यहाँ अधिक स्थिति, अधिक रस का। वहाँ दलिक अल्प होते हैं व काल अधिक लगता है यहाँ काल अल्प, दलिक अधिक, वहाँ अपूर्वकरण मे देशविरति, सर्वविरति प्राप्त्यर्थ गुणश्रेणि की रचना नही होती—यह रचना सर्वविरति की प्राप्ति बाद होती है। आठवें गुणस्थान मे वर्तमान जीव चारित्र मोहनीय के उपशमन व क्षपण के योग्य होने से उपशमक व क्षपक योग्यता की अपेक्षा कहलाता है। चारित्र मोहनीय का उपशमन क्षपण तो नवमें गुण-स्थान मे ही होता है।

(९) **अनिवृत्ति बादर सपराय गुणस्थान**[४२]—अन्तर्मुहूर्त काल मात्र अनिवृत्तिकरण गुणस्थान मे त्रिकालवर्ती

जीवो में समसमयवर्ती जीवो के अध्यवसाय स्थान सदृशपरिणाम वाले होने से उस स्थान को अनिवृत्ति (भिन्नता का अभाव, सदृश) बादर (कषाय) कहा। यद्यपि उनके शरीर अवगाहनादि बाह्य कारणो मे व ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षयोपशमादि अन्तरग कारणो में भेद भी है—परन्तु परिणामो के निमित्त से परस्पर भेद नही है। इसमे अध्यवसायो के उतने ही वर्ग हैं जितने कि उस गुणस्थान के समय होते हैं—प्रथमवर्गीय के अध्यवसायस्थान से दूसरे समय वाले के अध्यवसाय अनन्तगुण विशुद्ध होते हैं। आठवें से इसमे अध्यवसाय की भिन्नताएँ बहुत कम हैं, वग कम हैं। इस स्थान को प्राप्त करने वाले जीव या तो उपशमक (चारित्रमोहनीय कर्म का उपशमन करने वाले) या क्षपक (चारित्रमोहनीय का क्षय करने वाले) होते हैं।

(१०) **सूक्ष्मसपराय गुणस्थान**[४३]—इस गुणस्थान मे सपराय अर्थात् लोभ के सूक्ष्म खण्डो का उदय होने से इसका नाम सूक्ष्मसपराय पड़ा। जिस प्रकार धुले हुए कसूमी वस्त्र मे लालिमा का अश रह जाता है उसी प्रकार जीव सूक्ष्म राग (लोभ कषाय)से युक्त है। चारित्रमोहनीय की अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, सज्वलन, नोकषाय =२१ प्रकृतियो मे से उपरोक्त तीन करणो के परिणामो से २० प्रकृतियो के क्षय व उपशम होने पर भी सूक्ष्म कृष्टि को प्राप्त लोभ का ही यहाँ उदय है-मोहनीय कम की शेष कोई प्रकृति नही जिसका उपशम व क्षय किया जाय।

(११) **उपशान्त कषाय (वीतराग छद्मस्थ) गुणस्थान**[४४]—निर्मली (कतक) फल से युक्त जल की तरह अथवा शरद् ऋतु मे ऊपर से स्वच्छ हो जाने से सरोवर के जल की तरह सम्पूण मोहनीय कर्म के उपशम से उत्पन्न होने वाले निर्मल परिणामो को उपशान्त कषाय गुणस्थान कहा। जिनके कषाय उपशम हो गये हैं, जिनको राग का भी (माया या लोभ का) सर्वथा उदय नही है (सत्ता मे अवश्य है), जिनकी छद्मस्थ अवस्था है (घाती कर्मों का आवरण लगा हुआ है) उनका स्वरूप विशेष। इस गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय व उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त की है। इस गुणस्थान को प्राप्त जीव आगे गुणस्थानो को प्राप्त नही कर सकता क्योकि इसके मोहनीय कर्म सत्ता मे हैं। ऐसा जीव उपशम श्रेणि वाला है। आगे के लिए क्षपक श्रेणी चाहिए। उसी गुणस्थान मे आयु पूर्ण हो तो अनुत्तर विमान मे देव होकर चौथे गुणस्थान को प्राप्त करता है—आयुक्षय न हो तो जैसे चढा वैसे ही गिरता-गिरता दूसरे गुणस्थान यदि वहाँ से न सँभले तो प्रथम गुणस्थानवर्ती भी हो जाता है। फिर वह एक बार और उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी कर सकता है, यह कर्मग्रन्थ की मान्यता है। सिद्धान्त का कहना है कि जीव एक जन्म मे एक बार ही श्रेणी कर सकता है अत जो एक बार उपशम श्रेणी कर चुका वह फिर उसी जन्म मे क्षपक श्रेणी नही कर सकता।

उपशम श्रेणी आरोहण क्रम[४५]—चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सप्तम तक पहले अनन्तानुबधी कषाय का उपशम करता है, तदनन्तर दर्शन मोहनीय का, फिर नवम गुणस्थान मे क्रमश नपुसक वेद, स्त्री वेद, छह नोकषाय और पुरुष वेद का उपशम करता है (यदि स्त्री वेद के उदय से श्रेणी करे तो पहले नपुसक वेद का, फिर क्रम से पुरुष वेद का, हास्यादि षट्क का फिर स्त्री वेद का उपशम करता है। यदि नपुसक वेद के उदय वाला उपशम श्रेणी चढता है तो पहले स्त्री वेद का उपशम करता है। इसके बाद क्रमश पुरुष वेद व हास्यादि षट्क का व नपुसक वेद का उपशम करता है)[४६]। इसके अनन्तर अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण क्रोध का उपशम कर सज्वलन क्रोध का फिर अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण मान का उपशम कर सज्वलन मान का, फिर अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण माया का उपशम कर सज्वलन माया का फिर अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण लोभ का उपशम कर सज्वलन लोभ का (दसवें गुणस्थान मे) उपशम करता है।

क्षपक श्रेणी आरोहण क्रम[४७]—अनन्तानुबधी चतुष्क व दर्शनत्रिक इन सातो प्रकृतियो का क्षय (४ से ७ गुणस्थान तक) करता है। आठवें गुणस्थान मे अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क व प्रत्याख्यानावरण चतुष्क का क्षय प्रारम्भ करता है। यह ८ प्रकृतिया पूर्ण क्षय नही होने पाती कि बीच मे नवम गुणस्थान मे स्त्यानर्द्धित्रिक, नरकद्विक, तियग्द्विक, जातिचतुष्क, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण फिर अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क व प्रत्याख्यानावरण चतुष्क के शेष भाग का क्षय करता है—तदनन्तर नवमे गुणस्थान मे अन्त मे क्रमश नपुसक वेद, स्त्री वेद, हास्यषट्क व पुरुष वेद (यदि स्त्री श्रेणी आरूढ होवे तो पहले नपुसक वेद, का फिर क्रमश पुरुष वेद, छह नोकषाय फिर स्त्री वेद का क्षय, यदि नपुसक श्रेणी पर चढ़े तो पहिले स्त्री वेद का, फिर पुरुष वेद, छह नोकषाय फिर नपुसक वेद का क्षय करता है)। सज्वलन क्रोध, मान, माया का क्षय करता है। १० वें गुणस्थान में सज्वलन लोभ का क्षय करता है।

(१२) **क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान**[४८]—जिन्होंने मोहनीय कर्मों का सर्वथा क्षय कर दिया परन्तु शेष घाती कर्मों का छद्म (आवरण) विद्यमान है वे क्षीणकषाय वीतराग (माया लोभ का अभाव) कहाते हैं। इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। इसमे वर्तमान जीव क्षपक श्रेणि वाले ही होते हैं। इस गुणस्थान के द्विचरम समय मे निद्रा, निद्रानिद्रा का क्षय व अन्तिम समय मे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अतराय प्रकृतियो का क्षय हो जाता है। १२वें गुणस्थानवर्ती निर्ग्रन्थ का चित्त स्फटिकमणिवत् निर्मल हो जाता है, क्योंकि मोहनीय कर्मों का सर्वथा अभाव है।

(१३) **सयोगिकेवली गुणस्थान**[४९]—जिन्होंने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय व अन्तराय इन चार घाति कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त किया है। जिस केवलज्ञान रूपी सूर्य से किरण-कलाप से अज्ञान अन्धकार सर्वथा नष्ट हो गया है जिनको नव केवल लब्धियाँ (क्षायिक समकित, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तचारित्र, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य उदय भाग) प्रकट होने से परमात्मा का व्यपदेश प्राप्त हो गया है—इन्द्रिय व आलोकादि की अपेक्षा न होने से केवली व योग युक्त होने से योगी हैं उनके स्वरूप विशेष को सयोगिकेवली गुणस्थान कहा। जिस समय कोई मनपर्यव ज्ञानी वा अनुत्तर विमान वासी देव मन से ही भगवान से प्रश्न करते हैं उस वक्त भगवान मन का प्रयोग करते हैं।[५०] मन से उत्तर देने का आशय मनोवर्गणा के पर्याय—आकार को देखकर प्रश्नकर्ता अनुमान से उत्तर जान लेता है। केवली भगवान उपदेश देने मे वचनयोग का प्रयोग व हलन-चलन मे काययोग का प्रयोग करते हैं।[५०]

(१४) **अयोगिकेवली गुणस्थान**[५१]—केवली सयोगि अवस्था में जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट कुछ कम करोड पूर्व तक रहते हैं। इसके बाद जिन केवली भगवान के वेदनीय नाम व गोत्र तीनो कर्मों की स्थिति व पुद्गल (परमाणु) आयु कर्म की स्थिति व परमाणुओ की अपेक्षा अधिक होते हैं वे समुद्घात[५२] के द्वारा वेदनीय व नाम गोत्र की स्थिति व परमाणु आयु कर्म की स्थिति व परमाणुओ के बराबर कर लेते हैं। जिनके इन तीनो कर्मों की स्थिति, परमाणु आयु की स्थिति व परमाणुओ से अधिक न हो वे समुद्घात नही करते। अपने सयोगि अवस्था के अन्त मे ऐसे ध्यान के लिये योगो का निरोध करते हैं जो परम निर्जरा का कारणभूत व लेश्या रहित अत्यन्त स्थिरता रूप होते हैं।

योग निरोध का क्रम—पहले बादर काययोग से बादर मनोयोग और बादर वचनयोग को रोकते हैं—इसी सूक्ष्म काययोग से क्रमश सूक्ष्म मनोयोग व सूक्ष्म वचनयोग को रोकते हैं। फिर सूक्ष्म क्रियाऽनिवृत्ति ध्यान (शुक्ल ध्यान का तीसरा भेद) के बल से सूक्ष्म काययोग भी रोक देते हैं—व अयोगि बन जाते हैं। इसी ध्यान की सहायता से अपने शरीर के अन्तर्गत पोले भाग मुख-उदर आदि को आत्म प्रदेशो से पूर्ण कर देते हैं—प्रदेश सकुचित हो $\frac{2}{3}$ भाग रह जाते हैं। फिर वे अयोगि केवली समुच्छिन्न क्रियाऽप्रतिपाति (शुक्लध्यान का चौथा भेद) ध्यान से मध्यमगति से अ इ उ ऋ लृ पाँच अक्षर उच्चारण करें जितने काल तक शैलेशीकरण (पर्वत समान अडोल) वेदनीय, नाम, गोत्र को गुणश्रेणि से आयु कर्म को यथास्थितिश्रेणि से निर्जरा कर अन्तिम समय मे इन अघाति कर्मों को सर्वथा क्षय कर एक समय मे ऋजुगति से मुक्ति मे चले जाते हैं।[५३]

तुलनात्मक पर्यवेक्षण—जैनशास्त्र मे मिथ्यादृष्टि या बाह्यात्मा (१ से ३ गुणस्थान) नाम से अज्ञानी जीव का लक्षण कहा। जो अनात्म जड में आत्म बुद्धि रखता है—योगवाशिष्ठ व पातजल मे अज्ञानी जीव का वही लक्षण कहा।[५४] अज्ञानी का ससार पर्यटन दु ख फल योगवाशिष्ठ मे भी कहा।[५५] जैनशास्त्र मे मोह को ससार का कारण कहा—योगवाशिष्ठ मे दृश्य के प्रति अभिमान अध्यास को कहा। जैनशास्त्र मे ग्रन्थि-भेद कहा वैसे ही योगवाशिष्ठ में कहा।[५६] वैदिक ग्रन्थो मे ब्रह्म माया के ससग से जीवत्व धारण करता है—मन के सकल्प से सृष्टि रचता है। जैन मतानुसार ऐसे समझा सकते हैं—आत्मा का अव्यवहार राशि से व्यवहार राशि में आना ब्रह्म का जीवत्व धारण करना है। वैदिक ग्रन्थो मे विद्या से अविद्या व कल्पना का नाश करना कहा[५७]—जैनशास्त्र मे मतिज्ञानादि क्षायोपशमिक ज्ञान व क्षायिकभाव से मिथ्याज्ञान का नाश समान है। जैनदर्शन म सम्यक्त्व से उत्थान क्रम कहा वैसे ही योग के आठ अगो से प्रत्याहार से उत्थान होता है।[५८] (देखो लेखक का ध्यान लेख श्रमणो०) योगवाशिष्ठ मे तत्त्वज्ञ, समदृष्टि पूर्णाशय मुक्त पुरुष[५९] के वर्णन से जैन दर्शन की चौथे गुणस्थान से १३ तक जानो। योगवाशिष्ठ में ७ अज्ञान की, ७ ज्ञान की भूमिकाएँ कहीं[६०] वैसे ही जैनदर्शन मे १४ गुणस्थान वर्णित हैं (१-३) अज्ञानी, ४-१२ अतर्-

आत्मा, १३-१४ परमात्मा सिद्ध। वैदिक दर्शन मे पिपीलका मार्ग से गिर सकता[६१] व विहगम मार्ग से[६२] मुक्ति कही जो जैनदर्शन की उपशम—क्षपक श्रेणी से मिलती सी हैं परन्तु जैनदर्शन मे स्पष्ट विस्तृत वर्णन है।

उपसहार—यह है गुणस्थान का सक्षिप्त चित्रण। विषय गहन व अन्वेषणात्मक होने से स्थानाभाव के कारण विस्तृत भेद-प्रभेद, विचारो मे जो गहनताएँ हैं उनका वर्णन नही किया। परन्तु निकृष्ट अवस्था निगोद (मिथ्यात्व) से लेकर किस प्रकार आत्मा नारायण अवस्था (पूर्ण परमात्मपद) प्राप्त कर सकता है—इसमे अनेक जन्म-मरण करने पडते हैं—इसको जानकर-समझकर भव्य जीवो को इसके प्रति प्रयास करना नितान्त आवश्यक है। एक वक्त सम्यक्त्व स्पर्श कर लिया तो क्षायोपशमिक अधिकतम अर्द्धपुद्गल परावर्तन में, औपशमिक ७।८ भव मे, क्षायिक १ (चरमशरीरी) ३ भव (नरक व देव अपेक्षा से), ४ भव (असख्यातवर्षायु जुगलिया—फिर देव, फिर मनुष्य) मे मुक्ति प्राप्त कर ही लेगा।

---

१ (अ) जेहिं दु लक्खिज्जते उदयादिसु सभवेहिं भावेहिं।
जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरिसीहिं ॥ (गोम्मट०जी० ८, धवला १०४)
(आ) अनेन (गुणेशब्दनिरुक्तिप्रधानसूत्रेण) मिथ्यात्वादयोऽयोगिकेवलिपर्यन्ता जीवपरिणामविशेषास्त एव गुणस्थानानीति प्रतिपादित भवति, (जी०प्र०)। यैर्भावै औदायिकादिभिर्मिथ्यादर्शनादिभि परिणामै जीवा गुण्यन्ते—ते भावा गुणसज्ञा सर्वदर्शिभि निर्दिष्टा। (म०प्र०)

२ समता दर्शन और व्यवहार, पृ० १०४

३ सखेओ ओघोत्ति य, गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा। —गो०जी० ३
चउदस जीवसमासा कमेण सिद्धा य णादव्वा।—गो०जी० १०

४ मिथ्यात्वमोहनीयकर्म पुद्गलसाचिव्यविशेषादात्मपरिणामविशेषस्वरूप मिथ्यात्वस्य लक्षणम्।
—आर्हत०दर्श०प० ६७८

५ (अ) मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहण तु तच्च अत्थाण। एयत विवरीय, विणय ससयिदमण्णाण ॥ (गो०जी० १५)
(आ) मिथ्या वि तथा व्यलीका असत्या दृष्टिर्दर्शन विपरीतैकान्तविसशया ज्ञानरूपम्। (धवला १-१६२)

६ मिच्छत वेदतो जीवो विवरीयदसणो होदि।
णय धम्म रोचेदि हु, महुर खु रस जहा जरिदो ॥—(गो०जीव० १७)

७ अभिगृहीतमिथ्यात्व, अनभिगृहितामि०, अभिनिवेशिकमि०,सशयितमि०, अनाभोगिकमि०, लौकिकमि०, लोकोत्तरमि० कुप्रावचनिकमि०, अविनयमि०, अक्रियामि०, अशातनामि०, आह्यामि० (आत्मा को पुण्य-पाप नहीं लगता)। मि०, जिनवाणी से न्यून प्ररूपणा, जिनवाणी से अधिक प्र०, जिनवाणी से विपरीत प्र०, धर्म को अधर्म, अधर्म को धर्म, साधु को असाधु, असाधु को साधु, जीव को अजीव, अजीव को जीव, मोक्षमार्ग को ससारमार्ग, ससार को मोक्षमार्ग, मुक्त को अमुक्त, ससारी को मुक्त कहे। २५ भेद।

८ (क) सह आस्वादनेन वर्तते इति सास्वादनम्। (रत्नशेखर—गुणस्थान, ११)
(ख) आयम् औपशमिक सम्यक्त्व लाभ लक्षण सादयति-अपनयतीति आसादन, अनन्तानुबन्धी कषायवेदनमिति, नैरुक्तोर्य शब्दलोप। आ-समन्तात् शातयति—स्फोटयति औपशमिक सम्यक्त्वमिति आशातन अनन्तानुबन्धी कषाय वेदनमिति (हेमचद्रवृत्ति ओ० टी० पृ० ११६)

९ दहिगुडमिव वामिस्स, पुहभाव णेव कारिदु सक्क। एव मिस्सयभावो, सम्मामिच्छोत्ति नायव्वे ॥—गो०जीव० २२

१० उपशमलब्धि, उपदेशश्रवणलब्धि, प्रायोग्यलब्धि।

११ (I) क्षयोपशमलब्धि—जिस लब्धि के होने पर तत्त्व विचार हो सके—ज्ञानावरणादि कर्मों के उदयप्राप्त सर्वघाती निषेको के उदय का अभाव—क्षय, अनुदय प्राप्त योग्य का सत्ता रूप रहना।
(II) विशुद्धिलब्धि—मोह का मन्द उदय होने पर मद कषाय के भाव हो।
(III) देशनालब्धि—जिनोक्त तत्त्वो का धारण एव विचार हो (नरक में पूर्व सस्कार से)
(IV) प्रायोग्य—जब कर्मों की सत्ता अन्त कोटाकोटी सागर प्रमाण रह जावे व नवीन कर्मों का बन्ध अन्त कोटाकोटी प्रमाण से सख्यातवें भाग मात्र हो—आगे-आगे घटता जाये, किसी का बन्ध भी घटे। (लब्धिसार ३५)

(१२) क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान[४८]—जिन्होंने मोहनीय कर्मों का सर्वथा क्षय कर दिया परन्तु शेष घाती कर्मों का छद्म (आवरण) विद्यमान है वे क्षीणकषाय वीतराग (माया लोभ का अभाव) कहाते हैं। इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। इसमें वर्तमान जीव क्षपक श्रेणि वाले ही होते हैं। इस गुणस्थान के द्विचरम समय में निद्रा, निद्रानिद्रा का क्षय व अन्तिम समय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय प्रकृतियों का क्षय हो जाता है। १२वें गुणस्थानवर्ती निर्ग्रन्थ का चित्त स्फटिकमणिवत् निर्मल हो जाता है, क्योंकि मोहनीय कर्मों का सर्वथा अभाव है।

(१३) सयोगिकेवली गुणस्थान[४९]—जिन्होंने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय व अन्तराय इन चार घाति कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त किया है। जिन केवलज्ञान रूपी सूर्य से किरण-कलाप से अज्ञान अन्धकार सर्वथा नष्ट हो गया है जिनको नव केवल लब्धियाँ (क्षायिक समकित, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तचारित्र, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य उदय भाग) प्रकट होने से परमात्मा का व्यपदेश प्राप्त हो गया है—इन्द्रिय व आलोकादि की अपेक्षा न होने से केवली व योग युक्त होने से योगी है उनके स्वरूप विशेष को सयोगिकेवली गुणस्थान कहा। जिस समय कोई मनपर्यव ज्ञानी वा अनुत्तर विमान वासी देव मन से ही भगवान से प्रश्न करते हैं उस वक्त भगवान मन का प्रयोग करते हैं।[५०] मन से उत्तर देने का आशय मनोवर्गणा के पर्याय—आकार को देखकर प्रश्नकर्ता अनुमान से उत्तर जान लेता है। केवली भगवान उपदेश देने में वचनयोग का प्रयोग व हलन-चलन में काययोग का प्रयोग करते हैं।[५०]

(१४) अयोगिकेवली गुणस्थान[५१]—केवली सयोगि अवस्था में जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट कुछ कम करोड़ पूर्व तक रहते हैं। इसके बाद जिन केवली भगवान के वेदनीय नाम व गोत्र तीनों कर्मों की स्थिति व पुद्गल (परमाणु) आयु कर्म की स्थिति व परमाणुओं की अपेक्षा अधिक होते हैं वे समुद्घात[५२] के द्वारा वेदनीय व नाम गोत्र की स्थिति व परमाणु आयु कर्म की स्थिति व परमाणुओं के बराबर कर लेते हैं। जिनके इन तीनों कर्मों की स्थिति, परमाणु आयु की स्थिति व परमाणुओं से अधिक न हो वे समुद्घात नहीं करते। अपने सयोगि अवस्था के अन्त में ऐसे ध्यान के लिये योगों का निरोध करते हैं जो परम निर्जरा का कारणभूत व लेश्या रहित अत्यन्त स्थिरता रूप होते हैं।

योग निरोध का क्रम—पहले बादर काययोग से बादर मनोयोग और बादर वचनयोग को रोकते हैं—इसी सूक्ष्म काययोग से क्रमशः सूक्ष्म मनोयोग व सूक्ष्म वचनयोग को रोकते हैं। फिर सूक्ष्म क्रियाऽनिवृत्ति ध्यान (शुक्ल ध्यान का तीसरा भेद) के बल से सूक्ष्म काययोग भी रोक देते हैं—व अयोगि बन जाते हैं। इसी ध्यान की सहायता से अपने शरीर के अन्तर्गत पोले भाग मुख-उदर आदि को आत्म प्रदेशों से पूर्ण कर देते हैं—प्रदेश संकुचित हो ⅔ भाग रह जाते हैं। फिर वे अयोगि केवली समुच्छिन्न क्रियाऽप्रतिपाति (शुक्लध्यान का चौथा भेद) ध्यान से मध्यमगति से अ इ उ ऋ लृ पाँच अक्षर उच्चारण करें जितने काल तक शैलेशीकरण (पर्वत समान अडोल) वेदनीय, नाम, गोत्र को गुणश्रेणि से आयु कर्म को यथास्थितिश्रेणि से निर्जरा कर अन्तिम समय में इन अघाति कर्मों को सर्वथा क्षय कर एक समय में ऋजुगति से मुक्ति में चले जाते हैं।[५३]

तुलनात्मक पर्यवेक्षण—जैनशास्त्र में मिथ्यादृष्टि या बाह्यात्मा (१ से ३ गुणस्थान) नाम से अज्ञानी जीव का लक्षण कहा। जो अनात्म जड़ में आत्म बुद्धि रखता है—योगवाशिष्ठ व पातंजल में अज्ञानी जीव का वही लक्षण कहा।[५४] अज्ञानी का संसार पर्यटन दुःख फल योगवाशिष्ठ में भी कहा।[५५] जैनशास्त्र में मोह को संसार का कारण कहा—योगवाशिष्ठ में दृश्य के प्रति अभिमान अध्यास को कहा। जैनशास्त्र में ग्रन्थि-भेद कहा वैसे ही योगवाशिष्ठ में कहा।[५६] वैदिक ग्रन्थों में ब्रह्म माया के संसर्ग से जीवत्व धारण करता है—मन के संकल्प से सृष्टि रचता है। जैन मतानुसार ऐसे समझा सकते हैं—आत्मा का अव्यवहार राशि से व्यवहार राशि में आना ब्रह्म का जीवत्व धारण करना है। वैदिक ग्रन्थों में विद्या से अविद्या व कल्पना का नाश करना कहा[५७]—जैनशास्त्र में मतिज्ञानादि क्षायोपशमिक ज्ञान व क्षायिकभाव से मिथ्याज्ञान का नाश समान है। जैनदर्शन में सम्यक्त्व से उत्थान क्रम कहा वैसे ही योग के आठ अंगों से प्रत्याहार से उत्थान होता है।[५८] (देखो लेखक का ध्यान लेख श्रमणो०) योगवाशिष्ठ में तत्त्वज्ञ, समदृष्टि पूर्णाशय मुक्त पुरुष[५९] के वर्णन से जैन दर्शन की चौथे गुणस्थान से १३ तक जानो। योगवाशिष्ठ में ७ अज्ञान की, ७ ज्ञान की भूमिकाएँ कहीं[६०] वैसे ही जैनदर्शन में १४ गुणस्थान वर्णित हैं (१-३) अज्ञानी, ४-१२ अतर्-

आत्मा, १३-१४ परमात्मा सिद्ध । वैदिक दर्शन मे पिपीलका मार्ग से गिर सकता[६१] व विहगम मार्ग से[६२] मुक्ति कही जो जैनदर्शन की उपशम—क्षपक श्रेणी से मिलती सी हैं परन्तु जैनदर्शन मे स्पष्ट विस्तृत वर्णन है ।

उपसहार—यह है गुणस्थान का सक्षिप्त चित्रण । विषय गहन व अन्वेषणात्मक होने से स्थानाभाव के कारण विस्तृत भेद-प्रभेद, विचारो मे जो गहनताएँ हैं उनका वर्णन नही किया । परन्तु निकृष्ट अवस्था निगोद (मिथ्यात्व) से लेकर किस प्रकार आत्मा नारायण अवस्था (पूण परमात्मपद) प्राप्त कर सकता है—इसमे अनेक जन्म-मरण करने पडते हैं—इसको जानकर-समझकर भव्य जीवो को इसके प्रति प्रयास करना नितान्त आवश्यक है । एक वक्त सम्यक्त्व स्पर्श कर लिया तो क्षायोपशमिक अधिकतम अर्द्धपुद्गल परावर्तन मे, औपशमिक ७।८ भव मे, क्षायिक १ (चरमशरीरी) ३ भव (नरक व देव अपेक्षा से), ४ भव (असख्यातवर्षायु जुगलिया—फिर देव, फिर मनुष्य) मे मुक्ति प्राप्त कर ही लेगा ।

१ (अ) जेहिं दु लक्खिज्जते उदयादिसु सभवेहिं भावेहिं ।
जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरिसीहिं ॥ (गोम्मट०जी० ८, धवला १०४)
(आ) अनेन (गुणेशब्दनिरुक्तिप्रधानसूत्रेण) मिथ्यात्वादयोऽयोगिकेवलिपर्यन्ता जीवपरिणामविशेषास्त एव गुणस्थानानीति प्रतिपादित भवति, (जी०प्र०) । यैर्भावै औदायिकादिभिर्मिथ्यादर्शनादिभि परिणामै जीवा गुण्यन्ते—ते भावा गुणसज्ञा सर्वदर्शिभि निर्दिष्टा । (म०प्र०)

२ समता दशन और व्यवहार, पृ० १०४

३ सखेओ ओघोत्ति य, गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा । —गो०जी० ३
चउदस जीवसमासा कमेण सिद्धा य णादव्वा ।—गो०जी० १०

४ मिथ्यात्वमोहनीयकम पुद्गलसाचिव्यविशेषादात्मपरिणामविशेषस्वरूप मिथ्यात्वस्य लक्षणम् ।
—आर्हत०दर्श०प० ६७८

५ (अ) मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहण तु तच्च अत्थाण । एयत विवरीय, विणय ससयिदमण्णाण ॥ (गो०जी० १५)
(आ) मिथ्या वि तथा व्यलीका असत्या दृष्टिदर्शन विपरीतैकान्तविसशया ज्ञानरूपम् । (धवला १–१६२)

६ मिच्छत वेदतो जीवो विवरीयदसणो होदि ।
णय धम्म रोचेदि हु, महुर खु रस जहा जरिदो ॥—(गो०जीव० १७)

७ अभिगृहीतमिथ्यात्व, अनभिगृहितामि०, अभिनिवेशिकमि०,सशयितमि०, अनाभोगिकमि०, लौकिकमि०, लोकोत्तरमि० कुप्रावचनिकमि०, अविनयमि०, अक्रियामि०, अशातनामि०, आडयामि० (आत्मा को पुण्य-पाप नही लगता) । मि०, जिनवाणी से न्यून प्ररूपणा, जिनवाणी से अधिक प्र०, जिनवाणी से विपरीत प्र०, धर्म को अधर्म, अधम को धर्म, साधु को असाधु, असाधु को साधु, जीव को अजीव, अजीव को जीव, मोक्षमार्ग को ससारमार्ग, ससार को मोक्षमार्ग, मुक्त को अमुक्त, ससारी को मुक्त कहे । २५ भेद ।

८ (क) सह आस्वादनेन वतते इति सास्वादनम् । (रत्नशेखर—गुणस्थान, ११)
(ख) आयम् औपशमिक सम्यक्त्व लाभ लक्षण सादयति-अपनयतीति आसादन, अनन्तानुबन्धी कपायवेदनमिति, नैरुक्तोयं शब्दलोप । आ-समन्तात् शातयति—स्फोटयति औपशमिक सम्यक्त्वमिति आशातन अनन्तानुबन्धी कपाय वेदनमिति (हेमचद्रवृत्ति ओ० डी० पृ० ११६)

९ दहिगुडमिव वामिस्स, पुहभाव णेव कारिदु सक्क । एव मिस्सयभावो, सम्मामिच्छोत्ति नायव्वे ॥—गो०जीव० २२

१० उपशमलब्धि, उपदेशश्रवणलब्धि, प्रायोग्यलब्धि ।

११ (i) क्षयोपशमलब्धि—जिस लब्धि के होने पर तत्त्व विचार हो सके—ज्ञानावरणादि कर्मों के उदयप्राप्त सर्वघाती निषेको के उदय का अभाव—क्षय, अनुदय प्राप्त योग्य का सत्ता रूप रहना ।
(ii) विशुद्धिलब्धि—मोह का मन्द उदय होने पर मद कषाय के भाव हो ।
(iii) देशनालब्धि—जिनोक्त तत्त्वो का धारण एव विचार हो (नरक मे पूर्व सस्कार से)
(iv) प्रायोग्य—जब कर्मों की सत्ता अन्त कोटाकोटी सागर प्रमाण रह जावे व नवीन कर्मों का बन्ध अन्त कोटा-कोटी प्रमाण से सख्यातवें भाग मात्र हो—आगे-आगे घटता जाये, किसी का वन्ध भी घटे । (लब्धिसार ३५)

१२ प्र०—यथाप्रवृत्तिकरण, नन्वनाभोगरूपकम् भवत्यनाभोगतश्च, कथ कर्मक्षयोऽङ्गिनाम् ?
उ०—यथा मिथो घर्षणेन, ग्रावाणेऽद्रि नदीगता, स्युश्चित्राकृतयोज्ञान-शून्या अपि स्वभावत । तथा तथा प्रवृत्तास्यु रप्यनाभोगलक्षणात् लघुस्थिति कर्माणा, जन्तवोऽत्रान्तरेऽथ च । (६०७-६०९ लोक प्र० ३)

१३ गठित्ति सुदुब्भेतो कक्खड घण रूढगूढ गण्ठिव्व ।
जीवस्स कम्म जणितो घण रागद्दोस परिणामो ॥—वि० भाष्य० ११९२

१४ तित्थकरातिपूअ दट्ठूणेणवाविकज्जेण, सुतसामाइयलाभो होजाऽभवूस्स गण्ठिम्मि—वि० भा० १२१९
अभव्यस्यापि कस्यचित् यथाप्रवृत्तिकरणतो ग्रन्थिमासाद्य अर्हतादि विभूति दर्शनता प्रयोजनान्तरतो वा वर्तमानस्य श्रुत सामयिक लाभोभवति । —आ० सूत्र टी०

१५ चउदसदसय अभिन्नै, नियमा सम्म, तु सेसरा भयणा ।—कल्प भाष्य

१६ अडवीभवो मणुसा जीवा कम्मट्ठिति पघोदीहो, गठीयभयत्थाण, राग दोसाय दो चोरा ।
भग्गो ट्ठिति परिवड्ढीगहीतो पुणगठितो गतो ततियो । सम्मत पुर एव जोएज्जा तिण्णिकरणाणि । वि०भा० १२१०-११

१७ तीव्रधार पर्श कल्पाऽपूर्वाख्य करणेन हि ।
अविष्कृत्य पर वीर्य, ग्रन्थि भिन्दति केचन ॥ (६१८ लोक प्र० स० ३)

१८ अपुव्वेण तिपुञ्ज मिच्छत्तकुणति कोद्दवोवमया ।
अणियट्टि करणेण तु सो सम्मद्दस ण लभति ॥ (वि० भा० १२१५)

१९ आर्हतदर्शन दीपका पृष्ठ ९६

२० वही, कम्मपयडी, पृ० १६३

२१ अथानिवृत्तिकरणेनातिस्वच्छाशयात्मना ।
करोत्यन्तरकरणमन्तर्मुहूर्त ममितम् । ६२७ लोक प्र०स० ३

२२ जात्यन्धस्य यथा पुसश्चक्षुर्लाभे शुभोदये ।
सद्दर्शन तथैवास्य, सम्यक्त्वे सति जायते ॥
आनन्दो जायतेऽत्यन्त, तात्विकोऽस्य महात्मन ।
सद्व्याध्यपगमे यद्वद्, व्याधितस्य तदौषधात् ॥२ ॥ —मलयटीकाकम्मचमू

२३ त काल बीयठिह, तिहाऽणुभागेण देसघाइत्थ ।
सम्मत समिस्र मिच्छत्त सव्वघाइओ । —कम्मप० उपशमनाक० १९
टीका—चरम समय मिच्छादिट्ठि ते काले उवसमसम्मदिट्ठि होइहि ताहे विइयठिइ तिहाणुभाग करेइ त सम्म, सम्ममिच्छत्त, मिच्छत्त चेति ।

२४ सर्वार्थसिद्धि पृ० २ ।

२५ मोक्षोऽविरोधी वा प्रशम सवेगादि लक्षण आत्मधर्म । (अह० दी० ७०) ।
से असमत्ते परत्थ समत्त मोहणीयकम्माणुव अणोवसमक्षयसमुत्थे परमसवेगाइ लिंगे आय परिणामे पराणत्ते, —भद्रबाहु० पृ० ७१ ।

२६ निश्चय नयस्तु द्रव्याश्रित्वात् केवलस्य जीवस्यभावमवलम्ब्य परभाव सर्वमेव प्रतिषेधयति । (तत्त्वचर्चा खनिया २।७१२) ।

२७ अप्पा अप्पमि रओ समाइट्ठीहवेइ जीवो, अप्पाण एव सम्मत्त (भावना पाहुड दर्शन पाहुड) । जो चरदिणादि मिच्छादि अधाण अधरता अण्णन्न । सो चरित णाण देसण सिदि णिच्छिदो होइ ॥—प० काय १३८

२८ धर्मधर्मिणो समावतोऽभेदेपि व्यपदेशतो भेदमुत्पाद्य व्यवहारमात्रेणैव ज्ञान दर्शन चारित्र इत्यमुपदेश (सम० ७) ।

२९ देव का स्वरूप—परमेष्ठी पर ज्योतिर्विरागो विमल कृती ।
सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्त सार्व शास्तोपलाल्यते (प्रतिपाद्यते) ।
गुरु—विषयाशावशातीतो निरारम्भो परिग्रह ।
ज्ञानध्यान तपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥
धर्म—धारयति रक्षयति आत्मान दुर्गति पतनात् यो धरत्युत्तमे सुखे ।

३० तहियाण तु भावाण सब्भावे उवएसणं। भावेण सद्दहतस्स सम्मत्त त विहाइय।—उत्तरा० २८-१५।

३१ तत्त्वार्थाधिगम, भाष्य पृ० १०-१४।

३२ सत्तण्हं उवसमदो, उवसमसम्मो खया दु खइयो य।
विदियकसायुदयादो असजदो होइ सम्मो य॥—गो० जी० २६

३३ स्थिरायां दर्शनं नित्य, प्रत्याहारवदेव च।
कृत्यमभ्रान्तमनवद्य सूक्ष्म बोध समन्वित॥ (योगदृष्टि स० ५२ हरिभद्र)

३४ जो तसबहाउ विरदो अविरदओ तहय थावरबहादो।
एक्कसमयम्हि जीवो, विरदाविरदो जिणेक्कमई॥—गो० जी० ३१

३५ सजलण णोकसायाणुदयादो सजमो हवे जम्हा।
मलजणण पमादो वि य, तम्हाहु पमत्त विरदो सो॥—गो० जी० ३२

३६ विकहा तहा कसाया इदियणिद्दा तहेव पणयो (प्रणयस्नेह) य।
चदु चदु पणगेग होति पमादा हु पण्णरस॥—गो० जी० ३४
वा अज्ञान, सशय, मिथ्याज्ञान, मतिभ्रश, धर्म मा अनादर राग, द्वेषयोगकादुष्प्रणिधान।

३७ सजलणणो कसायाणुदओ मदो जदा तदा होदि।
अपमत्त गुणो तेणय, अपमत्तो सजदो होदि॥—गो० जी० ४५

३८ णट्ठासेसपमादो, वयगुणसीलेलि मडिओ णाणी।
अणुवसमओ अखवओ झाणणिलोणोहु अपमत्तो॥४५॥—गो० जी०

३९ भिण्णा समयट्ठियेहिंदु, जीवेहिं ण होदि सव्वदासरिसो।
करणेहिं एक्कसमयट्ठियेहिं सरिसोविसरिसो वा॥—गो० जी० ५२

४० एदह्नि गुणट्ठाणे विसरिससमयट्ठियेहिं जीवेहिं।
पुव्वमपत्ता जह्ना, होंति अपुव्वा हु परिणामा॥—गो० जी० ५१

४१ (अ) गुणसेढीदलरयणाऽणु समयमुदयादसख गुणणाए।
एय गुणापुण कमसो असखगुण निज्जरा जीवा॥—कर्मग्रन्थ, देवेन्द्र सूरि, भाग ५।८३

(आ) उवरिल्लिओ ढ्रितिउ पोग्गलघेत्तूण उदयसमये थोवा।
पक्खिवति, वितियसमये असखेज्ज गुणा जीव अन्तोमुहुत्त॥

(इ) टीका यशोविजय—अधुनागुणश्रेणिरूपमाह यत्‌लिस्थिति कण्डक घातयति तन्मध्याद्‌दलिक गृहीत्वा उदयसमयाद्यार-भ्यानन्तर्मुहूर्तं समय यावत् प्रतिसमयमसख्येय गुणनयाभतिक्षिपति।—कम्मपयडि—उपशमनद्वार।

४२ एकाह्निकाल समये सठाणादीहिं जहणिवट्टति ण। णिवट्टन्ति तहावियपरिणामेहिंमिहो जेहिं॥
होति अणियट्टिणो ते अडिसमय जोसिमेक्क परिणामा।
विमलवर झाण हुयवह सिहाहिंसद्दिकम्मवणा॥—गो० जी० ५६–५७

४३ धुदकोसुमयवत्थ, होदि जहा सुहमराय सजुत्त। एव सुहुम कसालो, सुहुम-सरागोति णादव्वो।—गो० जी० ५८

४४ कदक्क फलजुदजल वा सहरासरवाणिय व णिम्मलय।
सयलोवसतमोहो, उवसत कसायओहोदि॥—गो० जी० ५६

४५ अण दसणपुसगइत्यि वेद छक्क च पुरिस वेत च।
दो दो एगतरिते सरिसेसरिस उवसमेति॥—वि० भा० १२८५

४६ तत्तो य दसण तिग तओऽणुइण्ण जहन्नखेय।
ततोवीय छक्क तओय वेय सयमुदिन्त॥—वि० भा० १२८५

४७ अणमिच्छमीससम्म तिआउइग विगल थीणतिगुज्जोव।
तिरिनिरयथावरदुग साहारायवअड नपुत्थिए॥—कर्मग्रन्थ, देवेन्द्र सूरि ५।९९

४८ णिस्सेसखीणमोहो, फलिहामलमायणुदयसमचित्तो।
खीण कसाओ भण्णदि णिगथो वीय रायेहिं ॥—गो०जी० ६२

४६ केवलणाणदिवायरकिरण, कलावप्पणा सियएण्णाणो।
णवकेवलद्धुग्गम सुजणियपरमप्पववएसो ॥—गो०जी० ६३
असहायणाणदसणसहिओ इदि केवली हु जोगेण।
जुत्तो ति सजोगजिणो अणाइणिहणारिसे उत्तो ॥—गो०जी० ६४

५० द्रष्टव्य भगवतीशतक ५, तत्त्वाथ सूत्र १ अध्याय, पृ० ४६

५१ सीलेसिं सपत्ता, णिरुद्धणिस्सेस आसवो जीवो।
कम्मरय विप्पमुक्को, गय जोगो केवली होदि ॥—गो०जी० ६५

५२ समुद्घात=समित्येकीभावे, उत्=प्राबल्ये, हनन=घात =एकीभावेन प्राबल्येन घातो=निजरा अष्टसामयिका क्रियाविशेष ।

५३ जया जोगे निरु भित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ।
तया कम्म खवित्ताण सिद्धि गच्छइ नीरओ ॥—दशवै० ४/२४

५४ (अ) यस्याऽज्ञानात्मनो ज्ञान, देह एवात्म भावना।
उदितेति रुपैवक्षि, रिपवोऽभिभवन्ति तम् ॥—नि०प्र०५स०६
(आ) अनित्याऽशुद्धि दु खा नात्मसुनित्यशुचि सुखात्मख्यातिरविद्या। (पातजल यो०५)

५५ अज्ञानात्प्रसूता यस्याज्जगतपण परपरा ।
यस्मितिष्ठन्ति राजन्ते, विशन्ति निलसन्ति च ॥५३॥

५६ ज्ञप्तिर्हि ग्रन्थिविच्छेदस्तमिन् सति हि मुक्तना।
मृगतृष्णाम्बु बुध्यादि, शान्तिमात्रात्मकत्वसा ॥—२३ प्र० स० ११

५७ मिथ स्वान्ते तयोरन्त श्छायातपनयोरिव।
अविद्याया विलीनाया क्षीणेद्वे एव कल्पन्ते ॥—२३ स० ६

५८ यम नियमासन प्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाध्योऽष्टागानि ॥—२६ साधनापाद पात० ॥

५६ क्लेशकमविपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुषविशेष ईश्वर । तत्र निरतिशय सर्वज्ञ बीजम् ॥—२४-२५ साधनापाद पा०

६० अज्ञान भू सप्तपदा, ज्ञभू सप्तपदेव हि।
पदान्तराण्य सख्यानि, भवन्यात्ययेतयो ॥—उपशम प्र०२

६१ यमाद्यासनजाया सहठाभ्यासात्पुन पुन ।
विघ्न बाहुल्य सजात अणिमादि वशादिह।
अलब्धापि फल सम्यक् पुनर्भूत्वा महाकुले,
पूर्ववास नैवाय योगाभ्यास पुनश्चरन्।
अनेक जन्माभ्यासेन वामदेवेन वै पथा,
सोऽपि मुक्ति समाप्नोति तद्विष्णो परम पदम्। (क्रममुक्ति) योगाक प० ६३

६२ अतद् व्यावृत्तिरूपेण साक्षाद्विधिमुखेन वा,
महावाक्यविचारेण साख्ययोग समाधिना।
विदित्वा स्वात्मनो रस सप्रज्ञात समाधि,
शुक्ल मार्गेण विरजा प्रयान्ति परम पदम् ॥

□□

---

१ लेख की टकित प्रति काफी अस्पष्ट व अशुद्ध होने के कारण सशोधन का यथाशक्य प्रयत्न करने पर भी यदि कोई अशुद्धि ध्यान में आये तो कृपापूर्वक प्रबुद्ध पाठक सूचित करें। —प्रबध सपादक

□ श्री सूरजचन्द शाह 'सत्यप्रेमी' (डांगीजी)
[जैनदर्शन के प्रखर विद्वान व चिन्तक वक्ता]

दो अक्षर का 'जिन' शब्द अपने भीतर कितना अर्थ-गांभीर्य समेटे हुए है कि आत्म-विकास की प्रथम सीढी से शिखर तक की सम्पूर्ण यात्रा इसमे परिव्याप्त है। सरस और भाव-प्रधान विवेचन किया है—मनीषी श्री डांगीजी ने।

जिन-शासन का हार्द

□

जीव का शिव, नर का नारायण, आत्मा का परमात्मा और ईश्वर का परमेश्वर बनाना ही जिन-शासन का हार्द है। 'जन' का 'जिन' कैसे होता है ? इसे समझें—'जन' शब्द पर ज्ञान और दर्शन की दो मात्राएँ चढ जायें तो वह 'जैन' है और चारित्र की 'इ' शक्ति प्राप्त हो जाय तो 'जिन'। पहले मिथ्यात्व का प्रत्याख्यान होता है अर्थात् उल्टी समझ का त्याग किया जाता है। फिर जितना-जितना सयम या चारित्र्य का परिवर्द्धन होता है उतना-उतना 'जिन' कहलाता है अर्थात् जितना-जितना 'अव्रत' का त्याग होता है उतना-उतना 'जिन' होता है। प्रमाद का त्याग होते ही वह उत्कृष्ट 'जिन' है। कषाय का त्याग होते ही उत्कृष्टतर 'जिन' है और अशुभ योग का त्याग करते ही उत्कृष्टतम 'जिन'। इस प्रकार अपने **"सिद्धि गइ नामधेय"** सिद्ध स्थिति नाम वाले ठिकाने पर पहुँचते ही वह सम्पूर्ण 'जिन' कहलाता है। जितना-जितना जीना उतना-उतना 'जिन' होता गया। जब सम्पूर्ण 'जिन' हो गया उसे सिद्ध कहते हैं। उसी के शासन को सिद्धानुशासन यानी जिन-शासन कहते हैं। सम्पूण लोक पर छत्र के समान वे विराजमान हैं इसी कारण लोकस्थिति है। उस शासन को चलाने के लिये क्षत्रियोत्तम तीर्थंकर तीर्थ की स्थापना करते हैं। उन्ही के अनुशासन मे गणधर भगवान 'गण' तत्र का निर्माण करते है। उसी के अनुसार आचार्य देव 'गच्छो' का सचालन करते हैं। स्वय जिन-शासन मे चलते हैं और हम सबको चलाते हैं। 'सम्प्रदाय' समत्व प्रदान करने के लिये स्थापित होते हैं। ममता को दूर करते हैं इसीलिये 'मम्+गल'=मङ्गल कहलाते है। जो किसी ममता मे रहते है वे सम्प्रदायो की मर्यादाएँ भग करते हैं। पतित होते हैं और भ्रष्ट होकर जन मानस को गन्दा करते हैं। जिस प्रकार जाति-सम्पन्नता 'पुण्य' का लक्षण है और जाति-मद 'पाप' का लक्षण है उसी प्रकार सम्प्रदाय-सम्पन्नता 'तप' का लक्षण है और तप का मद 'पाप' का लक्षण है। कुल-ऐश्वय और रूप-सम्पन्नता 'पुण्य' का लक्षण है और उनका मद 'पाप' का लक्षण है। 'कु-भाव' को पाप कहते हैं और 'सु-भाव' को पुण्य कहते हैं। इसी कारण तीर्थंकर प्रभु का उत्तम प्रभाव होता है। 'प्रभाव' को जीव का स्वभाव और अजीव का 'परभाव' समझना 'मिथ्यात्व' है। वह अलग भाव है जो तीर्थंकर के प्रशस्त भाव का तत्त्व है। जो 'सिद्ध-जिन' के स्वभाव की ओर बढाता है। 'मम-भाव' को ही आस्रव तत्त्व कहा है। 'सम-भाव' को ही 'सवर तत्त्व' कहा है जो आचाय देव का भाव है। 'शुद्ध भाव' को ही 'निर्जरा तत्त्व' कहा है जो उपाध्याय का 'वाङ्मय विग्रह' है। मोक्ष सिद्धि का भाव परम भाव है जो ससार के बधनरूप विभाव को दूर कर सकता है। यह 'सर्व साधु' का उत्कृष्टतम भाव है। उसी की आराधना करना साधु मार्ग है जो सिद्धानुशासन जिन-शासन का 'हार्द' कहलाता है। इससे इधर-उधर हो जाना 'भटकना' है। यही 'मिथ्यात्व-मोह' है। मध्य मे 'लटकना' मिश्र मोह है और सम्यक्त्व मे अटक' जाना और चारित्र्य की आवश्यकता नही समझना 'सम्यक्त्व मोह' है। सत्त्व का अह है जो 'दर्शन-मोह' कहलाता है। अनन्तानुबधी कषाय को नष्ट करना हो तो यह दर्शन-मोह 'खटकना' चाहिए। तब सम्यग्दर्शन का प्रकाश होता है। यही 'सुदर्शन चक्र' है। यही 'तीसरा नेत्र' है, जिसके बिना 'ब्रह्म-साक्षात्कार' या परम शाति का दर्शन ही असम्भव है तो
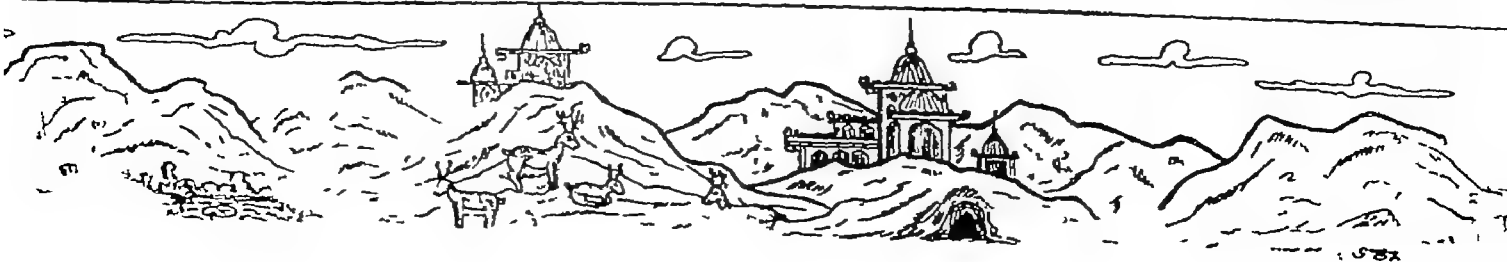
वहाँ तक पहुंचना कैसे हो ? 'हिया-फूटा' व्यवहार भी ठीक-ठीक नही निभा सकता तो निश्चय परमार्थ रूप जिन शासन मे कैसे विकास कर सकता है।

आत्म साक्षात्कार या सम्यग्दर्शन होने के बाद ही हम 'चटक-मटक' को छोड़ते हैं। बाहरी चटक मे भटकते रहते हैं। अकड की पकड मे जकड़े हैं। 'अव्रत' का प्रत्याख्यान प्रारम्भ किया कि चटक-मटक छूटी और जब वैषयिक द्वन्द्वो से छटक जाते हैं तब 'प्रमाद' को छोडकर अशुभ योग की प्रवृत्ति से दूर रहते हैं। शुभ योग भी निवृत्त होता है तब, निर्वाण, मुक्ति, सिद्धि और सम्पूर्ण जिन-शासन का लक्ष्य सम्पन्न होता है। पक्षी का पक्ष-पात हो गया कि उडना 'बद' उसी प्रकार सन्यासी, त्यागी, साधु यति और सत्पुरुष-सती व्यवहार या निश्चय दोनो मे से किसी एक पक्ष को छोड देता है तो पतित हो जाता है और अपने स्थान पर नही पहुंच सकता। अगर आपको जिन-शासन का 'हार्द' समझना हो तो इन बारह पक्तियो का मननपूर्वक अनुप्रेक्षण करें, द्वादशागरूप जिनवाणी का रहस्य हृदयगम हो जायगा। यह 'तत्त्व तात्पर्यामृत' महाग्रन्थ का एक छोटा सा 'अश' है—

पक्षपात ज्यो ही हुआ, रुकी द्वि-जन्मा दौड।
उभय पक्ष पक्षी उडे, पहुँचे अपनी ठौड ॥
पहुँचे अपनी ठौड तपश्चारित्र्य से।
ज्ञान सुदर्शन नयन परम पावित्र्य से ॥
'अटकन' 'भटकन-लटकन' छोड सिधायगा।
'सूर्य चन्द्र' 'खटकन' से प्रभुपद पायगा ॥
'चटक-मटक' को छोडकर 'झटक' मोह अज्ञान।
प्राप्त वीर्य सुख भोग सब निर्मल निश्छल ज्ञान ॥
निर्मल निश्चल ध्यान वेदना दूर हो।
'शम' जीवन सौन्दर्य मधुर भरपूर हो ॥
'सूर्य-चन्द्र' तन का भी मटका पटका जा।
'गटक' स्वयभू स्वरस द्वन्द्व से छटक जा ॥

तन का मटका धर्मध्यान, शुक्लध्यान द्वारा पटककर द्वन्द्व से छटक जाना और निरन्तर स्वयभू स्वरस का भोगोपभोग करते रहना ही 'जिन-शासन' का 'हार्द' है। भोगोपभोग की अन्तराय दूर करना ही ध्येय है। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग को भी दूर करना है पर भोगोपभोग की उपलब्धि ही सिद्धि है।

'सल्ल कामा विष कामा'

काम भोग शल्य रूप विष है, परन्तु स्वयभू स्वरस का भोगोपभोग ध्येय है। पुण्य का फल 'साता', पाप का फल 'असाता'। आस्रव का फल 'दुःख', 'सवर' का फल 'सुख'। निर्जरा का फल 'शाति' और 'मोक्ष' का फल सिद्धि है। सभी तत्त्वो का भिन्न भिन्न फल है। जीव तत्त्व का दर्शन कर अजीव तत्व का ज्ञान करके सभी तत्त्वो के उत्तम फल को यथार्थ विधि से प्राप्त करना ही जिन-शासन का 'हार्द' है। अर्हत के पुण्य तत्त्व का उपकार, सिद्ध के जीव तत्त्व का आधार, आचार्य के सवर तत्व का आचार, उपाध्याय के निर्जरा तत्त्व का विचार, सर्वसाधु के मोक्ष तत्त्व का सस्कार ही जीवन का उद्धार है। जिन-शासन का सार है। सम्यग्दृष्टि के व्यवहार से अजीव तत्त्व को छोडो, सम्यग्ज्ञानी के सुधार से पाप तत्त्व का नाश करो। सम्यक्चारित्र के विहार से आस्रव रोको और सम्यक्तप के स्वीकार से बध तोडो। तभी—

ऐसो पचनमुक्कारो सव्व पावप्पणासणो।
मगलाण च सव्वेसिं, पढम हवइ मगलम् ॥

क्रमश आनन्द, मगल, सुख-चैन और शाति होगी।

●●

☐ देवेन्द्र मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न
[प्रसिद्ध विद्वान, अनुसधाता एव पचासो ग्रन्थो के लेखक]

जन्म, जरा, मरण, आधि-व्याधि एव उपाधि से मुक्त होने की जिज्ञासा जब जगी तो दर्शन की यात्रा प्रारम्भ हुई और 'मोक्ष' पर उसे अन्तिम मजिल मिली।

'मोक्ष' प्राप्ति के विषय मे भारतीय चिन्तक कितनी गहराई तक पहुँचे और कितनी ऊँचाई को स्पर्श कर पाये, इसका प्रमाण-पुरस्सर विवेचन यहाँ प्रस्तुत है।

भारतीय चिन्तन मे—

मोक्ष और मोक्षमार्ग

☐

दशनशास्त्र के जगत मे तीन दर्शन मुख्य माने गये है—यूनानी दर्शन, पश्चिमी दशन और भारतीय दर्शन। यूनानी दशन का महान चिन्तक अरिस्टोटल (अरस्तु) माना जाता है। उसका अभिमत है कि दर्शन का जन्म आश्चर्य से हुआ है।[1] इसी बात को प्लेटो ने भी स्वीकार किया है। पश्चिम के प्रमुख दार्शनिक डेकार्ट, काण्ट, हेगल प्रभृति ने दर्शनशास्त्र का उद्भावक तत्त्व सशय माना है।[2] भारतीय दर्शन का जन्म जिज्ञासा से हुआ है[3] और जिज्ञासा का मूल दु ख मे रहा हुआ है। जन्म, जरा, मरण, आधि-व्याधि और उपाधि से मुक्त होकर समाधि प्राप्त करने के लिए जिज्ञासाएँ जागृत हुई। अन्य दर्शनो की भाँति भारतीय दशन का ध्येय ज्ञान प्राप्त करना मात्र नही है अपितु उसका लक्ष्य दु खो को दूर कर परम व चरम सुख को प्राप्त करना है। भारतीय दर्शन का मूल्य इसलिए है कि वह केवल तत्त्व के गम्भीर रहस्यो का ज्ञान ही नही बढाता अपितु परम शुभ मोक्ष को प्राप्त करने मे भी सहायक है। भारतीय दर्शन केवल विचार प्रणाली नही किन्तु जीवन प्रणाली भी है। वह जीवन और जगत के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण प्रदान करता है।

मोक्ष भारतीय दर्शन का केन्द्र-बिन्दु है। श्री अरविन्द मोक्ष को भारतीय विचारधारा का एक महान् शब्द मानते हैं। भारतीय दर्शन की यदि कोई महत्त्वपूर्ण विशेषता है जो उसे पाश्चात्य दर्शन से पृथक् करती है तो वह मोक्ष का चिन्तन है। पुरुषार्थ चतुष्टय मे मोक्ष को प्रमुख स्थान दिया गया है। धर्म साधन है तो मोक्ष साध्य है। मोक्ष को केन्द्र-बिन्दु मानकर ही भारतीय दर्शन[4] फलते और फूलते रहे हैं।

मैं यहाँ पर मोक्ष और मोक्ष मार्ग पर तुलनात्मक दृष्टि से चिन्तन प्रस्तुत कर रहा हूँ।

भारतीय आत्मवादी परम्परा को वैदिक, जैन, बौद्ध और आजीविक इन चार भागो मे विभक्त कर सकते हैं। वर्तमान मे आजीविक दर्शन का कोई भी स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नही है, अत आजीविक द्वारा प्रतिपादित मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध मे चिन्तन न कर शेष तीन की मोक्ष सम्बन्धी विचारधारा पर चिन्तन करेंगे।

न्याय, वैशेषिक, साख्य, योग, पूवमीमासा और उत्तरमीमासा, ये छह दर्शन वैदिक परम्परा मे आते हैं। पूवमीमासा मूल रूप से कर्म मीमासा है, भले ही वह वतमान मे उपनिषद् या मोक्ष पर चिन्तन करती हो, पर प्रारम्भ मे उसका चिन्तन मोक्ष सम्बन्धी नही था।[5] किन्तु अवशेष पाँच दशनो ने मोक्ष पर चिन्तन किया है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि इन वैदिक दर्शनो मे आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध मे जैसा विचार भेद है वैसा मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध मे भी चिन्तन-भेद है। यहाँ तक कि एक-दूसरे दर्शन की कल्पना पृथक्-पृथक् ही नही अपितु एक-दूसरे से बिलकुल विपरीत भी है। जिन दर्शनो ने उपनिषद् ब्रह्मसूत्र आदि को अपना मूल आधार माना है उनकी
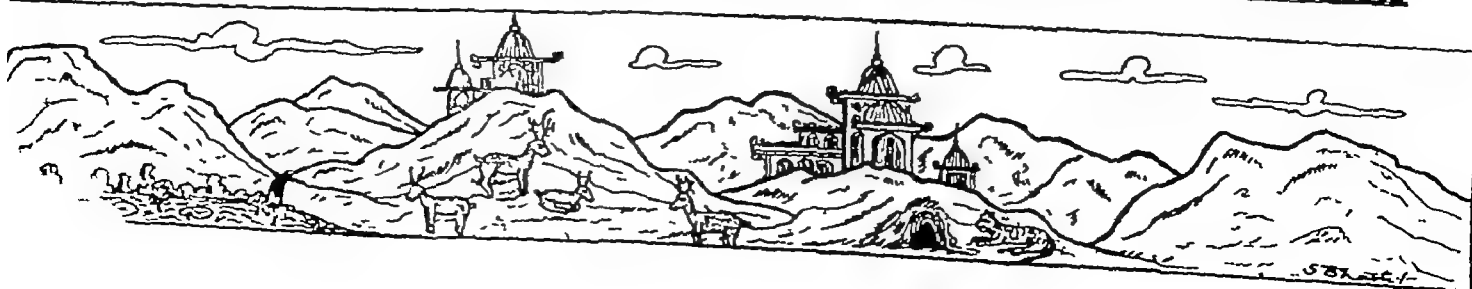
कल्पना मे भी एकरूपता नही है । कोई परम्परा जीवात्मा और परमात्मा मे भेद मानती है, कोई सवथा अभेद मानती है और कोई भेदाभेद मानती है । कोई परम्परा आत्मा को व्यापक मानती है[६] तो कोई अणु मानती है,[७] कोई परम्परा आत्मा को अनेक मानती है तो कोई एक मानती है, पर यह एक सत्य-तथ्य है कि वैदिक परम्परा के सभी दार्शनिकों ने किसी न किसी रूप मे आत्मा को कूटस्थ नित्य माना है ।

न्याय-वैशेषिक दर्शन

वैशेपिकदशन के प्रणेता कणाद और न्यायदशन के प्रणेता अक्षपाद ये दोनो आत्मा के सम्बन्ध मे एकमत है । दोनो ने आत्मा को कूटस्थ नित्य माना है । इनकी दृष्टि मे आत्मा एक नही अनेक हैं, जितने शरीर हैं उतनी आत्माएँ है । यदि एक ही आत्मा होती तो हम विराट विश्व मे जो विभिन्नता देखते हैं वह नहीं हो सकती थी ।

न्याय और वैशेपिक दशन ने आत्मा को चेतन कहा है । उनके अभिमतानुसार चेतन आत्मा का स्वाभाविक गुण नही अपितु आगन्तुक (आकस्मिक) गुण है । जब तक शरीर, इन्द्रिय और सत्त्वात्मक मन आदि का सम्बन्ध रहता है तब तक उनके द्वारा उत्पन्न ज्ञान आत्मा मे होता है । ऐसे ज्ञान को धारण करने की शक्ति चेतन मे है, पर वे ऐसा कोई स्वाभाविक गुण चेतन मे नहीं मानते हैं जो शरीर, इन्द्रिय, मन आदि का सम्बन्ध न होने पर भी ज्ञान गुण रूप मे या विपय ग्रहण रूप मे आत्मा मे रहता हो । न्याय-वैशेपिक दशन की प्रस्तुत कल्पना अन्य वैदिक दर्शनों के साथ मेल नही खाती है । सास्य दशन, योग दर्शन एव आचाय शकर, रामानुज, मध्व, वल्लभ प्रभृति जितनी भी वेद और उपनिषद् दशन की धारायें हैं वे इस बात को स्वीकार नही करती ।[८] न्याय-वैशेपिक की दृष्टि से मोक्ष की अवस्था मे आत्मा सभी प्रकार के अनुभवो को त्यागकर केवल सत्ता मे रहता है । वह उस समय न शुद्ध आनन्द का अनुभव कर सकता है और न शुद्ध चैतन्य का ही । आनन्द और चेतना ये दोनो ही आत्मा के आकस्मिक गुण हैं और मोक्ष अवस्था मे आत्मा सभी आकस्मिक गुणो का परित्याग कर देता है, अत निर्गुण होने से आनन्द और चैतन्य भी मोक्ष की अवस्था मे उसके साथ नही रहते ।

न्याय-वैशेपिक दशन ने मोक्ष का स्वरूप बताते हुए कहा—यह दु खो को आत्यन्तिक निवृत्ति है ।[९] दुःखो का ऐसा नाश है कि भविष्य मे पुन उनके होने की सम्भावना नष्ट हो जाती है ।

न्यायसूत्र पर भाष्य[१०] करते हुए वात्स्यायन लिखते हैं कि जब तत्त्वज्ञान के द्वारा मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है तब उसके परिणामस्वरूप सभी दोप भी दूर हो जाते है । दोप नष्ट होने से कम करने की प्रवृत्ति भी समाप्त हो जाती है । कर्म प्रवृत्ति समाप्त हो जाने से जन्म-मरण के चक्र रुक जाते हैं और दु खो की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है ।[११] न्यायवातिककार ने उसे सभी दु खो का आत्यन्तिक अभाव कहा है ।[१२] मोक्ष मे बुद्धि, सुख, दु ख इच्छा, द्वेप, सकल्प, पुण्य, पाप तथा पूव अनुभवो के सस्कार इन नौ गुणो का आत्यन्तिक उच्छेद हो जाता है ।[१३] उनकी दृष्टि से मोक्ष इसलिए परम पुरुषार्थ है कि उसमे किसी भी प्रकार का दु ख और दु ख के कारण का अस्तित्व नहीं है । वे मोक्ष की साधना इसलिए नही करते कि उसके प्राप्त होने पर कोई चैतन्य के सुख जैसा सहज और शाश्वत गुणो का अनुभव होगा ।

स्याद्वाद मञ्जरी मे मल्लिषेण ने लिखा है—न्याय-वैशेपिको के मोक्ष की अपेक्षा तो सासारिक जीवन अधिक श्रेयस्कर है, चूँकि सासारिक जीवन मे तो कभी-कभी सुख मिलता भी है, पर न्याय-वैशेपिको के मोक्ष में तो सुख का पूण अभाव है ।[१४]

कमयोगी श्रीकृष्ण का एक भक्त तो न्याय-वैशेपिकों के मोक्ष की अपेक्षा वृन्दावन मे सियार बनकर रहना अधिक पसद करता है ।[१५] श्री हर्ष भी उपहास करते हुए उनके मोक्ष को पापाण के समान अचेतन और आनन्दरहित बताते हैं ।[१६]

न्याय वैशेपिक व्यावहारिक अनुभव के आधार पर समाधान करते हैं कि सच्चा साधक पुरुपार्थी, मात्र अनिष्ट के परिहार के लिए ही प्रयत्न करता है । ऐसा अनिष्ट परिहार करना ही उसका सुख है । मोक्ष स्थिति मे

भावात्मक चैतन्य या आनन्द मानने के लिए कोई आधार नही है। उनके मन्तव्यानुसार मोक्ष नित्य या अनित्य ज्ञान, सुख रहित केवल द्रव्य रूप से आत्म तत्त्व की अवस्थिति है।

सांख्य और योगदर्शन

साख्य और योग ये दोनो पृथक्-पृथक् दर्शन हैं, पर दोनो मे अनेक बातो मे समानता होने से यह कहा जा सकता है कि एक ही दार्शनिक सिद्धात के ये दो पहलू हैं। एक सैद्धान्तिक है, तो दूसरा व्यावहारिक है। साख्य तत्त्व मीमासा की समस्याओ पर चिन्तन करता है तो योग कैवल्य को प्राप्त करने के लिए विभिन्न साधनो पर बल देता है।

साख्य पुरुष और प्रकृति के द्वैत का प्रतिपादन करता है। पुरुष और प्रकृति ये दोनो एक-दूसरे से पूर्ण रूप से भिन्न है। प्रकृति सत्व, रज और तम इन तीनो की साम्यावस्था का नाम है। प्रकृति जब पुरुष के सान्निध्य मे आती है तो उस साम्यावस्था मे विकार उत्पन्न होते हैं जिसे गुण-क्षोभ कहा जाता है। ससार के सभी जड पदार्थ प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं पर प्रकृति स्वय किसी से उत्पन्न नही होती। ठीक इसके विपरीत पुरुष न किसी पदार्थ को उत्पन्न करता है और न वह स्वय किसी अन्य पदार्थ से उत्पन्न है। पुरुष अपरिणामी, अखण्ड, चेतना या चैतन्य मात्र है। बध और मोक्ष ये दोनो वस्तुत प्रकृति की अवस्था हैं।[१७] इन अवस्थाओ का पुरुष मे आरोप या उपचार किया जाता है। जैसे अनन्ताकाश में उडान भरता हुआ पक्षी का प्रतिबिम्ब निर्मल जल मे गिरता है, जल मे वह दिखाई देता है, वह केवल प्रतिबिम्ब है, वैसे ही प्रकृति के बध और मोक्ष पुरुष मे प्रतिबिम्बित होते हैं।

साख्य और योग पुरुष को एक नही किन्तु अनेक मानता है, यह जो अनेकता है वह सख्यात्मक है, गुणात्मक नहीं है। एकात्मवाद के विरुद्ध उसने यह आपत्ति उठाई है कि यदि पुरुष एक ही है तो एक पुरुष के मरण के साथ सभी का मरण होना चाहिए। इसी प्रकार एक के बध और मोक्ष के साथ सभी का बध और मोक्ष होना चाहिए। इसलिए पुरुष एक नही अनेक है। न्याय वैशेषिको के समान वे चेतना को आत्मा का आगन्तुक धर्म नही मानते हैं। चेतना पुरुष का सार है। पुरुष चरम ज्ञाता है। स्वरूप की दृष्टि से पुरुष, वैष्णव वेदान्तियो की आत्मा, जैनियो के जीव और लाई-बनित्स के चिद् अणु के सदृश है।

साख्य दृष्टि से बधन का कारण अविद्या या अज्ञान है। आत्मा के वास्तविक स्वरूप को न जानना ही अज्ञान है। पुरुष अपने स्वरूप को विस्मृत होकर स्वय को प्रकृति या उसकी विकृति समझने लगता है, यही सबसे बडा अज्ञान है। जब पुरुष और प्रकृति के बीच विवेक जागृत होता है—'मैं पुरुष हूं, प्रकृति नही,' तब उसका अज्ञान नष्ट हो जाता है और वह मुक्त हो जाता है।

कपिल मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध मे विशेष चर्चा नहीं करते। वे तथागत बुद्ध के समान सासारिक दुःखों की उत्पत्ति और उसके निवारण का उपाय बतलाते हैं किन्तु कपिल के पश्चात् उनके शिष्यो ने मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध मे चिन्तन किया है। बन्धन का मूल कारण यह है—पुरुष स्वय के स्वरूप को विस्मृत हो गया। प्रकृति या उसके विकारो के साथ उसने तादात्म्य स्थापित कर लिया है, यही बधन है। जब सम्यग्ज्ञान से उसका वह दोषपूर्ण तादात्म्य का भ्रम नष्ट हो जाता है तब पुरुष प्रकृति के पजे से मुक्त होकर अपने स्वरूप मे स्थित हो जाता है, यही मोक्ष है। साख्यदर्शन मे मोक्ष की स्थिति को कैवल्य भी कहा है।

साख्य दृष्टि से पुरुष नित्य मुक्त है। विवेक ज्ञान के उदय होने से पहले भी वह मुक्त था, विवेक ज्ञान उदय होने पर उसे यह अनुभव होता है कि वह तो कभी भी बधन में नही पडा था, वह तो हमेशा मुक्त ही था, पर उसे प्रस्तुत तथ्य का परिज्ञान न होने से वह अपने स्वरूप को भूलकर स्वय को प्रकृति या उसका विहार समझ रहा था। कैवल्य और कुछ भी नहीं उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान है।

साख्य-योगसम्मत मुक्ति स्वरूप मे एव न्याय-वैशेषिकसम्मत मुक्ति स्वरूप मे यह अन्तर है कि न्याय-वैशेषिक के अनुसार मुक्ति दशा में आत्मा का अपना द्रव्य रूप होने पर भी वह चेतनामय नहीं है। मुक्ति दशा मे चैतन्य के स्फुरणा या अभिव्यक्ति जैसे व्यवहार को अवकाश नही है। मुक्ति में बुद्धि, सुख आदि का आत्यन्तिक उच्छेद होकर आत्मा केवल कूटस्थ नित्य द्रव्य रूप से अस्तित्व धारण करता है। साख्य-योग की दृष्टि से आत्मा सर्वथा निर्गुण है, स्वत प्रकाशमान चेतना रूप है और सहज भाव से अस्तित्व धारण करने वाला है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार मुक्ति

दशा मे चैतन्य और ज्ञान का अभाव है तो साख्य-योग की दृष्टि से उसका सद्भाव है। यह दोनो मे बहुत बडा अन्तर है किन्तु जब हम दोनो पक्षो की पारिभाषिक प्रक्रिया की ओर ध्यान केन्द्रित करते हैं तो तात्त्विक दृष्टि से दोनो पक्षो की मान्यता मे विशेष कोई महत्त्व का अन्तर नही है। न्याय-वैशेषिक दर्शन ने शरीर, इन्द्रिय आदि सम्बन्धो की दृष्टि से बुद्धि, सुख दु ख, इच्छा, द्वेष आदि गुणो का मोक्ष मे आत्यन्तिक उच्छेद माना है और ससार दशा मे वे उन गुणो का अस्तित्व आत्मा में स्वीकारते है। साख्य और योग दर्शन सुख-दु ख, ज्ञान-अज्ञान, इच्छा-द्वेष आदि भाव पुरुष में न मानकर अन्त करण के परिणाम रूप मानते है और उसकी छाया पुरुष मे गिरती है, वही आरोपित ससार है, एतदर्थ वे मुक्ति की अवस्था मे जब सात्विक बुद्धि का उसके भावो के साथ प्रकृति का आत्यन्तिक विलय होता है तब पुरुष के व्यवहार मे सुख-दु ख, इच्छा, द्वेष प्रभृति भावो की और कर्तृत्व की छाया का भी आत्यन्तिक अभाव हो जाता है। साख्य-योग आत्म-द्रव्य मे गुणो का उपादान कारणत्व स्वीकार कर उस पर चिन्तन करता है। वह द्रव्य और गुण के भेद को वास्तविक मानता है। जबकि न्याय-वैशेषिक पुरुषो मे ऐसा कुछ भी न मानकर प्रकृति के प्रपच द्वारा ही ये सभी विचार-व्यवहार होते हैं, ऐसे भेद को वह आरोपित गिनता है।

चौवीस तत्त्ववादी प्राचीन साख्य परम्परा की बध मोक्ष प्रक्रिया पच्चीस तत्त्ववादी साख्य परम्परा से पृथक है। वह मोक्ष अवस्था मे बुद्धि सत्त्व और उसमे समुत्पन्न होने वाले सुख-दु ख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान-अज्ञान प्रभृति भावो का मूल कारण प्रधान मे आत्यन्तिक विलय मानकर मुक्त स्वरूप का वर्णन करता है किन्तु वह यो नही कहता कि मुक्त आत्मा यानि चेतना, चूकि प्रस्तुत वाद मे प्रकृति से भिन्न ऐसी चेतना को अवकाश नही है। चौवीस तत्त्ववादी सांख्य और न्याय-वैशेषिक की विचारधारा मे बहुत अधिक समानता है। प्रथम पक्ष की दृष्टि से मोक्ष अवस्था मे प्रकृति के काय प्रपच का अत्यन्त विलय होता है और द्वितीय पक्ष मुक्ति दशा मे आत्मा के गुणप्रपच का अत्यन्त अभाव स्वीकार करता है। प्रथम ने जिसे कायप्रपच कहा है उसे ही दूसरे ने गुणप्रपच कहा। दोनो के आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध मे यत्किचित् अन्तर है, वह केवल परिणामीनित्यत्व और कूटस्थनित्यत्व के एकान्तिक परिभाषा भेद के कारण से है।

ज्ञान, सुख-दु ख, इच्छा, द्वेष प्रभृति गुणो का उत्पाद और विनाश वस्तुत आत्मा मे होता है। यह मानने पर भी न्याय-वैशेषिक दर्शन आत्मा को कुछ अवस्थान्तर के अतिरिक्त अथ मे कूटस्थनित्य वर्णित करता है। यह कुछ विचित्र-सा लगता है पर उसका रहस्य उसके भेदवाद मे सन्निहित है।

न्याय-वैशेषिकदर्शन ने गुण-गुणी मे अत्यन्त भेद माना है। जब गुण उत्पन्न होते हैं या नष्ट होते हैं तब उसके उत्पाद और विनाश का स्पर्श उसके आधारभूत गुणी द्रव्य को नही होता। जो यह अवस्थाभेद है वह गुणी का नहीं, अपितु गुणो का है। इसी प्रकार वे आत्मा को कर्त्ता, भोक्ता, बद्ध या मुक्त वास्तविक रूप मे स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त अवस्था भेद की आपत्ति युक्ति, प्रयुक्ति से पृथक् कर कूटस्थनित्यत्व की मान्यता से चिपके रहते हैं। साख्य योग दर्शन न्याय वैशेषिक के समान गुण-गुणी का भेद नही मानता है। न्याय-वैशेषिक के समान गुणों का उत्पाद-विनाश मानकर पुरुष का कूटस्थनित्यत्व का रक्षण नहीं किया जा सकता, अत उसने निर्गुण पुरुष मानने की पृथक् राह अपनाई।[१८]

उन्होंने कर्तृत्व, भोक्तृत्व, बध, मोक्ष आदि अवस्थाएँ पुरुष मे उपचरित मानी है और कूटस्थ नित्यत्व पूणरूप से घटित किया है।

केवलाद्वैती शकर या अणुजीववादी रामानुज तथा वल्लभ ये सभी मुक्ति दशा मे चैतन्य और आनन्द का पूर्ण प्रकाश या आविर्भाव अपनी-अपनी दृष्टि से स्वीकार कर कूटस्थनित्यता घटित करते हैं। एक दृष्टि से देखें तो औपनिषद् दर्शन की कल्पना न्याय-वैशेषिक दशन के साथ उतनी मेल नही खाती जितनी साख्य-योग के साथ मेल खाती है। सभी औपनिषद् दर्शन मुक्ति अवस्था मे सांख्य-योग के समान शुद्ध चेतना रूप मे ब्रह्म तत्त्व या जीव तत्त्व का अवस्थान स्वीकार करते हैं।[१९]

बौद्धदर्शन

अन्य दर्शनो मे जिसे मोक्ष कहा है उसे बौद्धदर्शन ने निर्वाण की सज्ञा प्रदान की है। बुद्ध के अभिमतानुसार जीवन का चरम लक्ष्य दु ख की आत्यन्तिक निवृत्ति है, अथवा निर्वाण है। क्यो कि समस्त दृश्य सत्ता अनित्य है, क्षणभगुर

है, एव अनात्म है, एकमात्र निर्वाण ही साध्य है।[२०] निर्वाण बौद्धदर्शन का महत्त्वपूर्ण शब्द है। प्रो० मूर्ति ने बौद्ध दर्शन के इतिहास को निर्वाण का इतिहास कहा है।[२१] प्रोफेसर यदुनाथ सिन्हा निर्वाण को बौद्ध शीलाचार का मूलाधार मानते हैं।[२२]

अभिधम्म महाविभाषा शास्त्र मे निर्वाण शब्द की अनेक व्युत्पत्तियाँ बताई हैं। जैसे वाण का अर्थ पुनर्जन्म का रास्ता और निर् का अर्थ छोडना है अत निर्वाण का अर्थ हुआ स्थायी रूप से पुनर्जन्म के सभी रास्तो को छोड देना।

वाण का दूसरा अर्थ दुर्गन्ध और निर् का अर्थ 'नहीं' है अत निर्वाण एक ऐसी स्थिति है जो दु ख देने वाले कर्मों की दुगन्ध से पूणतया मुक्त है।

वाण का तीसरा अर्थ घना जगल है और निर् का अर्थ है स्थायी रूप से छुटकारा पाना।

वाण का चतुर्थ अर्थ बुनना है और निर् का अर्थ नही है अत निर्वाण ऐसी स्थिति है जो सभी प्रकार के दु ख देने वाले कर्मों रूपी धागो से जो जन्म-मरण का धागा बुनते हैं उनसे पूर्ण मुक्ति है।[२३]

पाली टेक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित पाली-अंग्रेजी शब्द कोष में 'निव्वान' शब्द का अर्थ बुझ जाना किया है। अमर कोष मे भी यही अर्थ प्राप्त होता है।

रीज डेविड्स थॉमस, आनन्द कुमार—स्वामी, पी० लक्ष्मीनरसु, दाहल मेन, डा० राधाकृष्णन्, प्रो० जे० एन० सिन्हा, डा० सी० डी० शर्मा प्रभृति अनेक विज्ञो का यह पूर्ण निश्चित मत है कि निर्वाण व्यक्तित्व का उच्छेद नही है अपितु यह नैतिक पूर्णत्व की ऐसी स्थिति है जो आनन्द से परिपूण है।

डा० राधाकृष्णन लिखते हैं—निर्वाण न तो शून्य रूप है और न ही ऐसा जीवन है जिसका विचार मन मे आ सके, किन्तु यह अनन्त यथार्थ सत्ता के साथ ऐक्यभाव स्थापित कर लेने का नाम है, जिसे बुद्ध प्रत्यक्षरूप से स्वीकार नही करते हैं।[२४]

बुद्ध की दृष्टि से 'निव्वान' उच्छेद या पूर्ण क्षय है परन्तु यह पूर्ण क्षय आत्मा का नही है। यह क्षय लालसा, तृष्णा, जिजीविषा एव उनकी तीनो जडें राग, जीवन धारण करने की इच्छा और अज्ञान का है।[२५]

प्रो० मेक्समूलर लिखते हैं कि यदि हम धम्मपद के प्रत्येक श्लोक को देखें जहाँ पर निर्वाण शब्द आता है तो हम पायेंगे कि एक भी स्थान ऐसा नही हैं जहाँ पर उसका अर्थ उच्छेद होता हो। सभी स्थान नही तो बहुत अधिक स्थान ऐसे हैं जहाँ पर हम निर्वाण शब्द का उच्छेद अर्थ ग्रहण करते हैं तो वे पूर्णत अस्पष्ट हो जाते हैं।[२६]

राजा मिलिन्द की जिज्ञासा पर नागसेन ने विविध उपमायें देकर निर्वाण की समृद्धि का प्रतिपादन किया है।[२७] जिससे यह स्पष्ट होता है कि बुद्ध का निर्वाण न्याय-वैशेषिको के मोक्ष के समान केवल एक निषेधात्मक स्थिति नहीं है।

तथागत बुद्ध ने अनेक अवसरों पर निर्वाण को अव्याकृत कहा है। विचार और वाणी द्वारा उसका वर्णन नही किया जा सकता। प्रसेनजित के प्रश्नो का उत्तर देती हुई खेमा भिक्षुणी ने कहा—जैसे गगा नदी के किनारे पड़े हुए रेत के कणो को गिनना कथमपि सम्भव नही है, या सागर के पानी को नापना सम्भव नहीं है उसी प्रकार निर्वाण की अगाधता को नापा नही जा सकता।[२८]

बुद्ध के पश्चात् उनके अनुयायी दो मार्गों मे बट गये, जिन्हें हीनयान और महायान कहा जाता है। अन्य सिद्धान्तों के साथ उनके शिष्यो में इस सम्बन्ध में मतभेद हुआ कि हमारा लक्ष्य हमारा ही निर्वाण है या सभी जीवो का निर्वाण है? बुद्ध के कुछ शिष्यो ने कहा—हमारा लक्ष्य केवल हमारा ही निर्वाण है। दूसरे शिष्यो ने उनका प्रतिवाद करते हुए कहा—हमारा लक्ष्य जीवन मात्र का निर्वाण है। प्रथम को द्वितीय ने स्वार्थी कहा और उनका तिरस्कार करने के लिए उनको हीनयान कहा और अपने आपको महायानी कहा। स्वय हीनयानी इस बात को स्वीकार नहीं करते, वे अपने आपको थेरवादी (स्थविरवादी) कहते हैं।

सक्षेप में सार यह है कि बुद्ध ने स्वय निर्वाण के स्वरूप के सम्बन्ध मे अपना स्पष्ट मन्तव्य प्रस्तुत नही किया, जिसके फलस्वरूप कतिपय विद्वानो ने निर्वाण का शून्यता के रूप में वर्णन किया है तो कतिपय विद्वानो ने निर्वाण को प्रत्यक्ष आनन्ददायक बताया है।[२८]
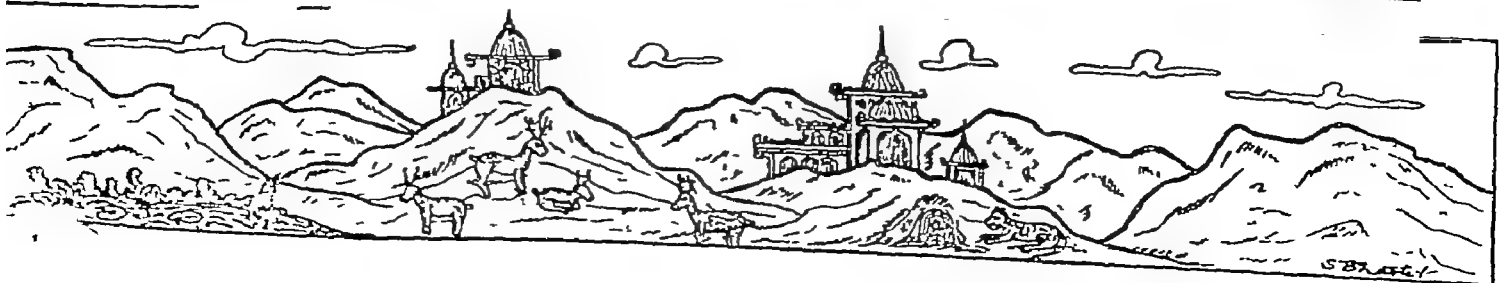
जैनदर्शन

वैदिकदर्शन व बौद्धदर्शन मे जिस प्रकार मोक्ष और निर्वाण के सम्बन्ध मे विभिन्न मत हैं, वैसे जैनदर्शन मे किसी भी सम्प्रदाय मे मतभेद नही है। मेरी दृष्टि से इसका मूल कारण यह है कि वेदो के मोक्ष के सम्बन्ध मे कोई चर्चा नही की गई और वैदिक आचार्यों ने उसे आधार बनाकर और अपनी कमनीय कल्पना की तूलिका से उसके स्वरूप का चित्रण किया है।

बौद्ध साहित्य का पर्यवेक्षण करने से यह स्पष्ट परिज्ञात होता है कि तथागत बुद्ध ने अपने आपको सर्वज्ञ नहीं कहा है। उन्होंने अपने शिष्यो को यह आदेश दिया कि तुम मेरे कथन को भी परीक्षण-प्रस्तर पर कस कर देखो कि वस्तुत वह सत्य तथ्ययुक्त है या नहीं, किन्तु भगवान महावीर ने अपने आपको सर्वज्ञ बताकर और सर्वज्ञ के वचनो पर पूर्ण विश्वास रखने की प्रबल प्रेरणा प्रदान की। जिसके कारण जैनधर्म मे श्रद्धा की प्रमुखता रही। सर्वज्ञ के वचन के विपरीत तर्क करना बिलकुल ही अनुचित माना गया, जिससे तत्त्वो के सम्बन्ध मे या मोक्ष के सम्बन्ध मे किसी भी प्रकार का मतभेद नही हो सका।

जैनदर्शन परिणामी नित्यता के सिद्धान्त को मान्य करता है किन्तु प्रस्तुत सिद्धान्त सांख्य-योग के समान केवल जड अर्थात् अचेतन तक ही समर्पित नही है। उसका यह वज्र आघोष है कि चाहे जड हो या चेतन सभी परिणामी नित्य है। यहाँ तक कि यह परिणामी नित्यता द्रव्य के अतिरिक्त उसके साथ होने वाली शक्तियों (गुण पर्यायो) को भी व्याप्त करता है।

जैनदर्शन आत्म द्रव्य को न्याय-वैशेषिक के समान व्यापक नही मानता और रामानुज के समान आत्मा को अणु भी नही मानता किन्तु वह आत्म-द्रव्य को मध्यम परिणामी मानता है। उसमे सकोच और विस्तार दोनो गुण रहे हुए हैं, जो जीव एक विराट्काय हाथी के शरीर म रहता है वही जीव एक नन्ही-सी चीटी मे भी रहता है। द्रव्य रूप से जीव शाश्वत है किन्तु परिणाम की दृष्टि से उसकी अवस्थाओ में परिवर्तन होता है। परिणामी सिद्धान्त को मानने के कारण जैनदर्शन ने स्पष्ट रूप से यह माना है कि जिस शरीर से जीव मुक्त होता है, उस शरीर का जितना आकार होता है उससे तृतीय भाग न्यून विस्तार सभी मुक्त जीवो का होता है।[२६]

स्मरण रखना चाहिए कि आत्मा मे जो सकोच और विस्तार होता है वह कर्मजन्य शरीर के कारण से है। मुक्तात्माओ में शरीराभाव होने से उसमें सकोच और विस्तार नही हो सकता। मुक्तात्माओ मे जो आकृति की कल्पना की गई है वह अन्तिम शरीर के आधार से की गई है। मुक्त जीव मे रूपादि का अभाव है तथापि आकाश प्रदेशो मे जो आत्म प्रदेश ठहरे हुए हैं उस अपेक्षा से आकार कहा है।

प्रस्तुत जैनदर्शन की मान्यता सम्पूर्ण भारतीय दर्शन की मान्यता से पृथक है। यह जैनदर्शन की अपनी मौलिक देन है। इसका मूल कारण यह है कि कितने ही दर्शन आत्मा को व्यापक मानते है तो कितने ही दर्शन आत्मा को अणु मानते हैं। इस कारण मोक्ष मे आत्मा का परिणाम क्या है उसे वे स्पष्ट नही कर सके हैं, किन्तु जैनदर्शन की मध्यम परिणाम की मान्यता होने से मुक्ति दशा मे आत्मा के परिणाम के सम्बन्ध मे एक निश्चित मान्यता है।

जैनदर्शन के अनुसार मुक्त आत्म द्रव्य मे सहभू—चेतना, आनन्द आदि शक्तियाँ अनावृत्त होकर पूर्ण विशुद्ध रूप से ज्ञान, सुख आदि रूप मे प्रतिपल प्रतिक्षण परिणमन करती रहती हैं, वह मात्र कूटस्थनित्य नही अपितु शक्ति रूप से नित्य होने पर प्रति समय होने वाले नित्य नूतन सदृश परिणाम प्रवाह के कारण परिणामी है। यह जैनदर्शन का मोक्षकालीन आत्मस्वरूप अन्य दर्शनो से अलग-अलग है। उसमे अन्य दर्शनो के साथ समानता भी है। द्रव्य रूप से स्थिर रहने के सम्बन्ध मे न्याय-वैशेषिक दर्शनो के साथ उसका मेल बैठता है और सांख्य-योग एव अद्वैत दर्शनो के साथ सहभू गुण की अभिव्यक्ति या प्रकाश के सम्बन्ध मे समानता है। यद्यपि योगाचार या विज्ञानवादी बौद्ध शाखा के ग्रन्थो से यह बहुत स्पष्ट रूप से फलित नही होता तथापि यह ज्ञात होता है कि वह मूल मे क्षणिकवादी होने से मुक्ति काल मे आलय विज्ञान को विशुद्ध मानकर उसका निरन्तर क्षण प्रवाह माने तभी बौद्धदर्शन की मोक्ष कालीन मान्यता सगत बैठ सकती है। यदि वे इस प्रकार मानते हैं तो जैनदर्शन की मान्यता के अत्यधिक सन्निकट हैं।

मुक्ति-स्थान

मुक्त ब्रह्मभूत या निर्वाण प्राप्त आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध मे चिन्तन के पश्चात् यह प्रश्न है कि विदेह मुक्ति प्राप्त करने के पश्चात् आत्मा कौनसे स्थान पर रहता है क्योकि चेतन या अचेतन जो द्रव्य रूप है उसका स्थान अवश्य होना चाहिए।

दार्शनिको ने प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर मान्यता भेद होने से विविध दृष्टियो से दिया है।

न्याय-वैशेषिक, साख्य और योग जिस प्रकार आत्मा को व्यापक मानते हैं उसी प्रकार अनेक आत्मा मानते हैं, वे आत्म विभुत्ववादी भी हैं और आत्मबहुत्ववादी भी हैं। उनकी दृष्टि से मुक्त अवस्था का क्षेत्र सासारिक क्षेत्र से पृथक् नही है। मुक्त और ससारी आत्मा मे अन्तर केवल इतना ही है कि जो सूक्ष्म शरीर अनादि अनन्तकाल से आत्मा के साथ लगा था, जिसके परिणामस्वरूप नित्य-नूतन स्थूल शरीर धारण करना पडता था, उसका सदा के लिये सम्बन्ध नष्ट हो जाने से स्थूल शरीर धारण करने की परम्परा भी नष्ट हो जाती है। जीवात्मा या पुरुष परस्पर सर्वथा भिन्न होकर मुक्ति दशा मे भी अपने-अपने भिन्न स्वरूप मे सर्वव्यापी हैं।

केवलाद्वैतवादी ब्रह्मवादी भी ब्रह्म या आत्मा को व्यापक मानते हैं किन्तु न्याय-वैशेषिक, साख्य और योग के समान जीवात्मा का वास्तविक बहुत्व नही मानते। उनका मन्तव्य है कि मुक्त होने का अर्थ है सूक्ष्म शरीर या अन्त करण का सर्वथा नष्ट होना, उसके नष्ट होते ही उपाधि के कारण जीव की ब्रह्मस्वरूप से जो पृथकता प्रतिभासित होती थी, वह नहीं होती। तत्त्व रूप से जीव ब्रह्म स्वरूप ही था, उपाधि नष्ट होते ही वह केवल ब्रह्मस्वरूप का ही अनुभव करता है। मुक्त और सासारी आत्मा मे अन्तर यही है कि एक मे उपाधि है, दूसरे मे नही है। उपाधि के अभाव मे परस्पर भेद भी नही है, वह केवल ब्रह्मस्वरूप ही है।

अणुजीवात्मवादी वैष्णव परम्पराओं की कल्पनायें पृथक्-पृथक् हैं रामानुज विशिष्टाद्वैती हैं। वे वस्तुत जीव-बहुत्व को मानते हैं। किन्तु जीव का परब्रह्म वासुदेव से सर्वथा भेद नही है। जब जीवात्मा मुक्त होता है तब वासुदेव के धाम वैकुण्ठ या ब्रह्मलोक मे जाता है, वह वासुदेव के सान्निध्य मे उसके अश रूप से उसके सदृश होकर रहता है।

मध्व जो अणुजीववादी हैं, वे जीव को परब्रह्म से सर्वथा भिन्न मानते हैं किन्तु मुक्त जीव की स्थिति विष्णु के सन्निधान में अर्थात् लोकविशेष मे कल्पित करते हैं।

शुद्धाद्वैती वल्लभ भी अणुजीववादी हैं किन्तु साथ ही वे परब्रह्म परिणामवादी हैं। उनका मन्तव्य है कि कुछ भक्त जीव ऐसे हैं जो मुक्त होने पर अक्षर ब्रह्म मे एक रूप हो जाते हैं और दूसरे पुष्टि भक्ति जीव ऐसे हैं जो परब्रह्म स्वरूप होने पर भी भक्ति के लिए पुन अवतीर्ण होते हैं और मुक्तवत् ससार मे विचरण करते हैं।

बौद्धदृष्टि से

बौद्धदर्शन की दृष्टि से जीव या पुद्गल कोई भी शाश्वत द्रव्य नही है, अत पुनर्जन्म के समय वे जीव का एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना नही मानते हैं। उनका अभिमत यह है कि एक स्थान पर एक चित्त का निरोध होता है और दूसरे स्थान पर नये चित्त की उत्पत्ति होती है।

राजा मिलिन्द ने आचार्य नागसेन से प्रश्न किया कि पूर्वादि दिशाओ मे ऐसा कौन-सा स्थान विशेष है जिसके सन्निकट निर्वाण स्थान की अवस्थिति है।

आचार्य ने कहा—निर्वाण स्थान कहीं किसी दिशा विशेष मे अवस्थित नहीं है, जहाँ पर जाकर यह मुक्तात्मा निवास करती हो।

प्रतिप्रश्न किया गया—जैसे समुद्र मे रत्न, फूल में गध, खेत मे धान्य आदि का स्थान नियत है वैसे ही निर्वाण का स्थान भी नियत होना चाहिए। यदि निर्वाण का स्थान नही है तो फिर यह क्यो नही कहते कि निर्वाण भी नही है।

नागसेन ने कहा—राजन्! निर्वाण का नियत स्थान न होने पर भी उसकी सत्ता है। निर्वाण कहीं पर बाहर नहीं है। उसका साक्षात्कार अपने विशुद्ध मन से करना पडता है। जैसे दो लकडियों के सघर्ष से अग्नि पैदा होती है यदि

कोई यह कहे कि पहले अग्नि कहाँ थी तो यह नहीं कहा जा सकता वैसे ही विशुद्ध मन से निर्वाण का साक्षात्कार होता है किन्तु उसका स्थान बताना सम्भव नहीं है।

राजा ने पुन प्रश्न किया—हम यह मान लें कि निर्वाण का नियत स्थान नहीं है, तथापि ऐसा कोई निश्चित स्थान होना चाहिए जहाँ पर अवस्थित रहकर पुद्गल निर्वाण का साक्षात्कार कर सके।

आचार्य ने उत्तर देते हुए कहा—राजन्! पुद्गल शील मे प्रतिष्ठित होकर किसी भी आकाश प्रदेश मे रहते हुए निर्वाण का साक्षात्कार कर सकता है।[३०]

जैनदर्शन

जैनदर्शन की दृष्टि से आत्मा का मूल स्वभाव ऊर्ध्वगमन है।[३१] जब वह कर्मों से पूर्ण मुक्त होता है तब वह ऊर्ध्वगमन करता है और ऊर्ध्वलोक के अग्रभाग पर अवस्थित होता है क्योकि आगे धर्मास्तिकाय का अभाव है अत वह आगे जा नही सकता। वह लोकाग्रवर्ती स्थान सिद्धशिला के नाम से विश्रुत है। जैन साहित्य मे सिद्धशिला का विस्तार से निरूपण है, वैसा निरूपण अन्य भारतीय साहित्य मे नहीं है।

एक बात स्मरण रखनी चाहिए कि जैन दृष्टि से मानव लोक ४५ लाख योजन का माना गया है तो सिद्ध क्षेत्र भी ४५ लाख योजन का है। मानव चाहे जिस स्थान पर रहकर साधना के द्वारा कर्म नष्ट कर मुक्त हो सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मोक्ष आत्मा का पूर्ण विकास है और पूर्ण रूप से दुःख-मुक्ति है।

मोक्षमार्ग

अब हमे मोक्षमार्ग पर चिन्तन करना है। जिस प्रकार चिकित्सा पद्धति मे रोग, रोगहेतु, आरोग्य और भैषज्य इन चार बातो का ज्ञान परमावश्यक[३२] वैसे ही आध्यात्मिक साधना पद्धति मे (१) ससार, (२) ससार हेतु, (३) मोक्ष, (४) मोक्ष का उपाय, इन चार का ज्ञान परमावश्यक है।[३३]

वैदिक परम्परा का वाङ्मय अत्यधिक विशाल है। उसमे न्याय, वैशेषिक, साख्य, योग, पूर्वमीमांसा, उत्तर-मीमासा प्रभृति अनेक दार्शनिक मान्यतायें हैं। किन्तु उपनिषद् एव गीता जैसे ग्रन्थरत्न हैं जिन्हें सम्पूर्ण वैदिक परम्पराएँ मान्य करती हैं। उन्ही ग्रथो के चिन्तन-सूत्र के आधार पर आचार्य पतञ्जलि ने साधना पर विस्तार से प्रकाश डाला है। उसमे हेय[३४], हेयहेतु[३५], हान[३६] और हानोपाय[३७] इन चार बातो पर विवेचन किया है। न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन ने भी इन चार बातो पर सक्षेप मे प्रकाश डाला है।[३८]

तथागत बुद्ध ने इन चार सत्यो को आर्यसत्य कहा है। (१) दुःख (हेय), (२) दुःखसमुदय (हेयहेतु) (३) दुःखनिरोध (हान), (४) दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद् (हानोपाय)[३९]।

जैनदर्शन ने इन चार सत्यों को (१) बन्ध, (२) आस्रव, (३) मोक्ष (४) और सवर के रूप में प्रस्तुत किया है।

बध—शुद्ध चैतन्य के अज्ञान से राग-द्वेष प्रभृति दोषों का परिणाम है, इसे हम हेय अथवा दुःख भी कह सकते हैं।

आस्रव का अर्थ है जिन दोषो से शुद्ध चैतन्य बधता है या लिप्त होता है इसे हम हेयहेतु या दुःखसमुदय भी कह सकते हैं।

मोक्ष का अर्थ है—सम्पूर्ण कर्म का वियोग। इसे हम हान या दुःखनिरोध कह सकते हैं।

सवर—कर्म आने के द्वार को रोकना यह मोक्षमार्ग है। इसे हम हानोपाय या निरोधमार्ग भी कह सकते हैं।

सामान्य रूप से चिन्तन करें तो ज्ञात होगा कि सभी भारतीय आध्यात्मिक परम्पराओं ने चार सत्यों को माना है। सक्षेप में चार सत्य भी दो में समाविष्ट किये जा सकते हैं—

(१) बध—जो दुःख या ससार का कारण है और

(२) उस बध को नष्ट करने का उपाय।

प्रत्येक आध्यात्मिक साधना में ससार का मुख्य कारण अविद्या माना है। अविद्या से ही अन्य राग-द्वेष, कषाय-क्लेश आदि समुत्पन्न होते हैं। आचार्य पतञ्जलि ने *अविद्या, अस्मिता, रागद्वेष और अभिनिवेश* इन पांच क्लेशो

का निर्देश कर अविद्या मे सभी दोषो का समावेश किया है। उन्होंने अविद्या को सभी क्लेशो की प्रसवभूमि कहा हैं।[४०] इन्ही पाँच क्लेशो को ईश्वरकृष्ण ने साख्यकारिका मे पाच विपर्यय के रूप मे चित्रित किया है।[४१] महर्षि कणाद ने अविद्या को मूल दोष के रूप मे बताकर उसके कार्य के रूप मे अन्य दोषो का सूचन किया है।[४२] अक्षपाद अविद्या के स्थान पर 'मोह' शब्द का प्रयोग करते हैं। मोह को उन्होंने सभी दोषों मे मुख्य माना है। यदि मोह नही है तो अन्य दोषो की उत्पत्ति नही होगी।[४३]

कठोपनिषद्[४४] श्रीमद् भगवद्गीता[४५] और ब्रह्मसूत्र मे भी अविद्या को ही मुख्य दोष माना है।

मज्झिमनिकाय आदि ग्रन्थो मे तथागत बुद्ध ने ससार का मूल कारण अविद्या को बताया है। अविद्या होने से ही तृष्णादि दोष समुत्पन्न होते हैं।[४६]

जैनदशन ने ससार का मूल कारण दर्शनमोह और चारित्रमोह को माना है। अन्य दार्शनिको ने जिसे अविद्या, विपर्यय, मोह या अज्ञान कहा है उसे ही जैनदर्शन ने दर्शनमोह या मिथ्यादर्शन के नाम से अभिहित किया है। अन्य दर्शनो ने जिसे अस्मिता, राग, द्वेष या तृष्णा कहा है उसे जैनदर्शन ने चारित्रमोह या कषाय कहा है। इस प्रकार वैदिक, बौद्ध और जैन परम्परा ससार का मूल अविद्या या मोह को मानती हैं और सभी दोषो का समावेश उसमे करती हैं।

ससार का मूल अविद्या है तो उससे मुक्त होने का उपाय विद्या है। एतदथ कणाद ने विद्या का निरूपण किया है। पतजलि ने उस विद्या को विवेकख्याति कहा है। अक्षपाद ने विद्या और विवेकख्याति के स्थान पर तत्त्वज्ञान या सम्यग्ज्ञान पद का प्रयोग किया है। बौद्ध साहित्य मे उसके लिए मुख्य रूप से 'विपस्सना' या प्रज्ञा शब्द व्यवहृत हुए हैं। जैनदर्शन मे भी सम्यग्ज्ञान शब्द का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार सभी भारतीय दर्शनों की परम्पराएँ विद्या तत्त्वज्ञान, सम्यग्ज्ञान, प्रज्ञा आदि से अविद्या या मोह का नाश मानती हैं और उससे जन्म परम्परा का अन्त होता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से अविद्या का अर्थ है अपने निज स्वरूप के ज्ञान का अभाव। आत्मा, चेतन या स्वरूप का अज्ञान ही मूल अविद्या है। यही ससार का मूल कारण है।

वैदिक परम्परा ने साधना के विविध रूपो का वणन किया है किन्तु सक्षेप मे गीता मे ज्ञान, भक्ति और कर्म, इन तीनो अगो पर प्रकाश डाला है।

तथागत बुद्ध ने (१) सम्यग् दृष्टि, (२) सम्यक् सकल्प, (३) सम्यक् वाक्, (४) सम्यक् कर्मान्त (५) सम्यक् आजीव (६) सम्यक् व्यायाम, (७) सम्यक् स्मृति और (८) सम्यक् समाधि को आय अष्टाङ्गिक मार्ग कहा है।[४८] और मार्गों मे उसे श्रेष्ठ बताया है।[४९] बुद्धघोष ने सक्षेप मे उसे शील, समाधि और प्रज्ञा कहा है।[५०]

जैनदशन ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्षमार्ग कहा है।[५१]

इस प्रकार समन्वय की दृष्टि से देखा जाये तो ज्ञान, भक्ति और कर्म, शील, समाधि और प्रज्ञा, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र यह मोक्षमाग है। शब्दो मे अन्तर होने पर भी भाव सभी का एक जैसा है। शब्दजाल में न उलझकर सत्य तथ्य की ओर ध्यान दिया जाये तो भारतीय दर्शनो मे मोक्ष और मोक्ष मार्ग मे कितनी समानता है, यह सहज ही परिज्ञात हो सकेगा।

---

१ फिलॉसफी बिगिन्स इन वण्डर
२ दर्शन का प्रयोजन, पृ० २९—डा० भगवानदास
३ (क) अथातो धर्मजिज्ञासा—वैशेषिकदर्शन ९
(ख) दु ख त्रयाभिघाताज् जिज्ञासा—साख्यकारिका १, ईश्वरकृष्ण
(ग) अथातो धमजिज्ञासा—मीमासासूत्र १, जैमिनी
(घ) अथातो ब्रह्मजिज्ञासा—ब्रह्मसूत्र १।१
४ देखिए, भगवती आदि जैन आगम
५ अध्यात्म विचारणा, पृ० ७४, प० सुखलालजी सघवी, गुजरात विद्या सभा, अहमदावाद
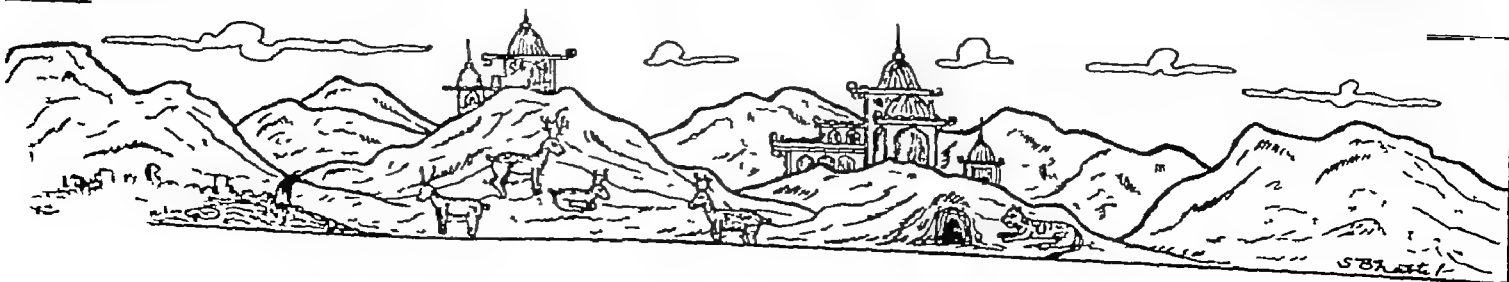
६ (क) मुण्डकोपनिषद् १।१।६ (ख) वैशेषिकसूत्र ७।१।२२ (ग) न्यायमञ्जरी (विजयनगरम्) पृ० ४६८
(घ) प्रकरण पजिका, पृ० १५८
७ (क) वृहदारण्यक उपनिषद् ५।६।१ (ख) छान्दोग्य उपनिषद् ५।१८।१ (ग) मैत्री उपनिषद् ६।३८
८ अध्यात्म विचारणा पृ० ७५
९ (क) आत्यन्तिकी दु ख निवृत्ति (मोक्ष), (ख) (मोक्ष) परम दु खध्वस —तर्कदीपिका
१० न्यायसूत्र १।१।२ पर भाष्य ।
११ तदभावे सयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्ष ।—वैशेपिकसूत्र ५।२।१८
१२ (मोक्ष) आत्यन्तिको दु खाभाव ।—न्यायवार्त्तिक
१३ (क) तदेव धिषणादीना नवानामपि मूलत ।
गुणानामात्मनोध्वस सोपवर्ग प्रतिष्ठित ॥ —न्यायमञ्जरी, पृष्ठ ५०८
(ख) तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्ग ।—सभाष्य न्यायसूत्र १।१।२२
१४ स्याद्वादमञ्जरी, पृ० ६३
१५ वर वृन्दावने रम्ये क्रोष्टृत्वमभिवाञ्छितम् ।
नतु वैशेषिकी मुक्ति गौतमो गन्तुमिच्छति । —स्याद्वादमञ्जरी मे उद्धृत, पृ० ६३
१६ भारतीय दर्शन मे मोक्ष-चिन्तन, एक तुलनात्मक अध्ययन—डा० अशोककुमार लाड, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, ९७ मालवीय नगर, प्र० सस्करण १९७३
१७ तस्मान्नबध्यतेनाऽपि मुच्यते नाऽपि ससरति कश्चित ।
ससरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृति । —साख्यकारिका ६२
१८ अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्यय ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥
यथा सर्वगत सौक्ष्म्यादाकाश नोपलिप्यते ।
सर्वत्राऽवस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते ॥ —गीता १३।३१–३२
१९ अध्यात्म विचारणा के आधार से, पृ० ८४
२० भारतीय दशन—डा० बल्देव उपाध्याय
२१ हिस्ट्री ऑफ फिलासफी—ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न, वोल्यूम, पृ० २१२
२२ हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी, पृ० ३२८
२३ सिस्टम्स आफ बुद्धिस्टिक थॉट, पृ० ३१
२४ भारतीय दर्शन, भाग—१, पृ० ४११–१४
२५ (क) धम्मपद १५४
(ख) देखें—सयुक्त निकाय के ओघतरण सुत्त, निमोक्ख सुत्त, संयोजनसुत्त तथा बधन सुत्त ।
२६ एन० के० भगत पटना युनिवर्सिटी रीडरशिप, लेक्चर्स १९२४–२५ पृ० १६५
२७ सयुक्त निकाय खेमाथेरी सुत्त
२८ भारतीय दशन, भाग—१, पृ० ४१६–४१७ —डा० राधाकृष्णन, द्वि सस्करण
२९ उस्सेहो जस्स जो होइ भवम्मि चरिमम्मि उ ।
तिभागहीणा तत्तो य सिद्धाणोगाहना भवे ॥—उत्तराध्ययन ३६।६५
३० मिलिन्द प्रश्न ४।८।९२—९४
३१ (क) उड्ढ पक्कमई दिस—उत्तराध्ययन १९।८२
(ख) प्रशमरति प्रकरण २९४ का भाष्य
(ग) तदनन्तरमेवोर्ध्वमालोकान्तात् स गच्छति पूर्वप्रयोगासङ्गत्वबन्धच्छेदोर्ध्वगौरवे कुलालचक्रदोलाया सिद्ध-गति स्मृता ।—तत्त्वार्थराजवार्तिक ।

३२ चरकसहिता स्थान अ० १ श्लो० १२८—३०

३३ यथा चिकित्साशास्त्र चतुर्व्यूंह रोगो रोगहेतु आरोग्य भैषज्यमिति एवमिदमपि शास्त्र चतुर्व्यूंहमेव । तद्यथा—ससार, ससार हेतु मोक्षो मोक्षोपाय इति —योगदर्शन भाष्य २१–१५

३४ हेय दु:खमनागतम् ।—योगदर्शन साधन पाद १६

३५ द्रष्टृ दृश्ययो सयोगो हेयहेतु ।—वही १७

३६ तदभावात् सयोगाभावो हान तद्दृशे कैवल्यम् ।—वही २५

३७ विवेकाख्यातिरविप्लक हानोपाय ।—वही २६

३८ हेय तस्य निर्वर्तक हानमत्यन्तिक तस्योपायोऽधिगन्तव्य इत्यतानि चत्वार्यर्थपदानि सम्यग् बुद्ध्वा नि श्रेयसमधिगच्छति—न्यायभाष्य १, १, १,

३९ मज्झिमनिकाय—भयभेख सुत्त ४

४० अविद्यास्मिता रागद्वेषाभिनिवेशा पञ्च क्लेशा ।
अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्त तनु विच्छिन्नो दाराणाम् ।—योगदशन २।३-४

४१ साख्यकारिका ४७-४८

४२ देखिए प्रशस्तपाद भाष्य, ससारापवग

४३ (क) दु खजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्ग —न्यायसूत्र १।१।२
तत्त्रै राश्य रागद्वेष मोहान्तर भावात् ।—न्यायसूत्र ४।१।३
तेषा मोह पापीयान्नामूढस्येतरोत्पत्ते·—न्यायसूत्र ४।१।६
(ख) न्यायसूत्र का भाष्य भी देखे ।

४४ अविद्यायामन्तरेवर्तमाना· स्वय धीरा पडित मन्यमाना
दन्द्रम्यमाणा· परियन्ति मूढाअन्धेनैवनीयमाना यथा अन्धा ।—कठोपानिषद् १।२।५
अज्ञानेनावृत्त ज्ञान तेन मुह्याति जन्तव
ज्ञानेन तु तदज्ञान यषा नाशितमात्मन ॥

४५ तेषामादित्यवज्ज्ञान प्रकाशयति तत्परम् ।—श्रीमद्भगवद्गीता ५।१५

४६ मज्झिम निकाय महा तन्हा सखय सुत्त ३८

४७ विशुद्धि मग्ग १।७

४८ मज्झिम निकाय सम्मादिट्ठि सुत्तन्त ९

४९ मग्गान अट्ठङ्गिको सेट्ठो ।

५० विशुद्धि मार्ग ।

५१ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग ।—तत्त्वार्थ सूत्र १।१

●●

तत्त्व क्या है—इस प्रश्न पर हजारों वर्षों से चिन्तन चला आया है। यही चिन्तन 'दर्शन' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

जैन तत्त्वविद्या के सर्वांगीण तर्कपुरस्सर स्वरूप का संक्षिप्त एवं सरल विश्लेषण यहाँ प्रस्तुत है—प्रसिद्ध दार्शनिक मुनिश्री नथमल जी द्वारा।

□ **मुनिश्री नथमल**
[विश्रुत विद्वान एवं प्रसिद्ध लेखक]

भगवान महावीर का तत्त्ववाद

□

इस जगत् मे जो है वह तत्त्व है, जो नही है वह तत्त्व नही है। होना ही तत्त्व है, नही होना तत्त्व नहीं है। तत्त्व का अर्थ है—होना।

विश्व के सभी दार्शनिको और तत्त्ववेत्ताओ ने अस्तित्व पर विचार किया। उन्होंने न केवल उस पर विचार किया, उसका वर्गीकरण भी किया। दर्शन का मुख्य कार्य है—तत्त्वो का वर्गीकरण।

नैयायिक, वैशेषिक, मीमासा और अद्वैत—ये मुख्य वैदिक दर्शन हैं। नैयायिक सोलह तत्त्व मानते हैं। वैशेषिक के अनुसार तत्त्व छह हैं। मीमासा कर्म-प्रधान दर्शन है। उसका तात्त्विक वर्गीकरण बहुत सूक्ष्म नहीं है। अद्वैत के अनुसार पारमार्थिक तत्त्व एक परम ब्रह्म है। सांख्य प्राचीनकाल मे श्रमण-दर्शन था और वर्तमान मे वैदिक दर्शन मे विलीन है। उसके अनुसार तत्त्व पच्चीस है। चार्वाक दर्शन के अनुसार तत्त्व चार हैं।

मालुकापुत्र भगवान बुद्ध का शिष्य था। उसने बुद्ध से पूछा—मरने के बाद क्या होता है? आत्मा है या नही? यह विश्व सान्त है या अनन्त?

बुद्ध ने कहा—यह जानकर तुम्हें क्या करना है?

उसने कहा—क्या करना है, यह जानना चाहते हैं? मुझे आप उनका उत्तर दें और यदि उत्तर नहीं देते हैं तो मैं आपके दर्शन को छोड दूसरे दर्शन मे जाने की बात सोचूं। या तो आप कहें कि मैं इन विषयों को नही जानता और यदि जानते हैं तो मुझे उत्तर दें। मैं सत्य को जानने के लिए आपके शासन मे दीक्षित हुआ था। किन्तु मुझे मेरी जिज्ञासा का उत्तर नही मिल रहा है।

बुद्ध ने कहा—मैंने कब कहा था कि मैं सब प्रश्नो के उत्तर दूगा और तुम मेरे मार्ग मे चले आओ।

मालुकापुत्र बोला—आपने कहा तो नही था।

बुद्ध ने कहा—फिर, तुम मुझे आँखें क्यो दिखा रहे हो? देखो, एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति ने बाण मारा। वह बाण से विध गया। अब कोई व्यक्ति आता है, वैद्य आता है और कहता है बाण को निकालें और घाव को ठीक करें। किन्तु वह व्यक्ति कहता है कि मैं तब तक बाण नहीं निकलवाऊँगा जब तक कि यह पता न लग जाये कि बाण किसने फेंका है? फेंकने वाला कितना लम्बा-चौडा है? वह कितना शक्तिशाली है? वह किस वर्ण का है? बाण क्यो फेंका गया? किस धनुष्य से फेंका गया? वह धनुष्य कैसा है? तूणीर कैसा है? प्रत्यचा कैसी है? ये सारी बातें मुझे जब तक ज्ञात नहीं हो जातीं, तब तक मैं इस बाण को नही निकलवाऊँगा। बोलो, इसका अर्थ क्या होगा?

मालुकापुत्र बोला—वह मर जाएगा। बाण के निकलने से पहले ही मर जाएगा। वह जीवित नहीं रह सकेगा।

बुद्ध ने कहा—इसीलिए मैं कहता हूं कि बाण को निकालने की जरूरत है। बाण किसने बनाया, कहाँ से आया, किस प्रकार से फेंका गया, किस धनुष्य से फेंका गया, इन कल्पनाओ में उलझने की तुम्हें कोई जरूरत नही है। जिन बातो मे उलझने की जरूरत है, उन्ही मे उलझो। दुख क्या है? दुख का हेतु क्या है? निर्वाण क्या है और निर्वाण का हेतु क्या है? ये चार आर्य-सत्य हैं। इन्ही को जानने का प्रयत्न करो।

पूर्व प्रतिपादित वर्गीकरणो और मीमासाओ के सन्दर्भ मे मैं भगवान महावीर के तात्त्विक वर्गीकरण का विश्लेषण करूंगा। प्रारम्भ मे एक धारा की ओर मैं इंगित करना चाहता हूं। वर्तमान युग के कुछ इतिहासज्ञ और कुछ दार्शनिक जैनदर्शन को वैशेषिक, साख्य आदि दर्शनो का ऋणी मानते हैं। कुछ विद्वान् लिखते हैं कि परमाणुवाद महर्षि कणाद की देन है। जैनदर्शन ने उसका अनुसरण किया है। कुछ विद्वान् लिखते हैं, जैनदर्शन साख्यदर्शन का ही रूपान्तर है। उसका तत्ववाद मौलिक नही है। ये धारणाएँ क्यों चलती हैं? इनका रहस्य खोजना जरूरी है। वे विद्वान् लेखक या तो इतिहास के कक्ष तक पहुंचने का तीव्र प्रयत्न नही करते या वे साम्प्रदायिक भावना को पुष्ट करने का प्रयत्न कर रहे हैं। दोनो मे से एक बात अवश्य है।

मालिक ने नौकर से कहा—जाओ, बगीचे मे पानी सीच आओ। नौकर बोला—महाशय! इसकी जरूरत नहीं है। वर्षा हो रही है तब पानी सींचकर क्या करूं? मालिक ने कहा—वर्षा से डरते हो तो छाता ले जाओ। पानी तो सीचना ही होगा। अब आप देखिए, वर्षा हो रही है, फिर पानी सीचने की क्या जरूरत है? कोई नही। किन्तु मालिक कह रहा है कि वर्षा हो रही है तो होने दो। भीगने का डर लगता है तो छाता ले जाओ। पर पानी सींचना ही होगा। उसके सामने छाते की उपयोगिता है। वह उसी को समझ रहा है। वर्षा से जो सहज सिंचन हो रहा है, उसे या तो वह समझ नहीं पा रहा है या जान-बूझकर नकार रहा है। मुझे लगता है कि यह एक प्रवाह है कि छाते की बात सुझाई जा रही है और पानी स्वय सिंचित हो रहा है, उसे स्वीकृत नहीं किया जा रहा है।

महर्षि कणाद ने वैशेषिक सूत्र भगवान महावीर के बाद लिखा था। साख्यदर्शन का विकास भगवान पार्श्व के बाद और भगवान महावीर के आस-पास हुआ। किन्तु तत्त्व के विषय में साख्य और जैनदर्शन का दृष्टिकोण स्वतन्त्र है। इसलिए तत्त्व के वर्गीकरण मे साख्यदर्शन जैनदर्शन का आभारी है या जैनदर्शन साख्यदर्शन का आभारी है, यह नही कहा जा सकता। साख्यदर्शन सृष्टिवादी है और सृष्टिवाद की कल्पना उसके तात्त्विक वर्गीकरण के साथ जुडी हुई है। जैनदशन द्रव्य-पर्यायवादी है। उसके वर्गीकरण मे कुछ तत्त्व ऐसे हैं जो साख्य के प्रकृति और पुरुष इन दोनो से सर्वथा भिन्न हैं।

भगवान महावीर ने पाँच अस्तिकायो का प्रतिपादन किया। राजगृह के बाहर गुणशिलक नाम का चैत्य था। उसकी थोडी दूरी पर परिव्राजको का एक 'आवसथ' था। उसमें कालोदायी आदि अनेक परिव्राजक रहते थे। एक बार भगवान महावीर राजगृह पधारे, गुणशिलक चैत्य मे ठहरे। राजगृह में 'मद्दुक' नामका श्रमणोपासक रहता था। वह भगवान को वदन करने के लिए आ रहा था। परिव्राजको ने उसे देखा, अपने पास बुलाया और कहा—तुम्हारे धर्माचार्य श्रमण महावीर पाँच अस्तिकायो का प्रतिपादन करते हैं। तुम जानते हो, देखते हो?

मद्दुक ने कहा—जो पदार्थ कार्य करता है, उसे हम जानते हैं, देखते हैं और जो पदार्थ कार्य नहीं करता, उसे हम नहीं जानते, नहीं देखते हैं।

परिव्राजक बोले—तुम कैसे श्रमणोपासक हुए जो तुम तुम्हारे धर्माचार्य के द्वारा प्रतिपादित अस्तिकायों को नही जानते, नहीं देखते।

उनका व्यग सुन मद्दुक बोला—आयुष्मान्! क्या हवा चल रही है?

हाँ चल रही है।

क्या चलती हुई हवा का आप रूप देख रहे हैं?

नही।

आयुष्मान्! हम हवा को नहीं देखते किन्तु हिलते हुए पत्तों को देखकर हम जान लेते हैं कि हवा चल रही है।

फूलो की भीनी सुगन्ध आ रही है?

हाँ, आ रही है।
सुगन्ध के परमाणु हमारी नासा मे प्रविष्ट हो रहे हैं ?
हाँ, हो रहे हैं।
क्या आप नासा मे प्रविष्ट सुगन्ध के परमाणुओ का रूप देख रहे हैं ?
नही।
आयुष्मान् ! अरणि की लकडी मे अग्नि है ?
हाँ, है।
क्या आप अरणि मे छिपी हुई अग्नि का रूप देख रहे हैं ?
नही।
आयुष्मान् ! क्या समुद्र के उस पार रूप है।
हाँ, है।
क्या आप समुद्र के पारवर्ती रूपो को देख रहे हैं ?
नही।

आयुष्मान् ! मैं या आप, कोई भी परोक्षदर्शी सूक्ष्म, व्यवहित और दूरवर्ती वस्तु को नही जानता, नहीं देखता किन्तु वह सब नही होता, ऐसा नही है। हमारे ज्ञान की अपूर्णता द्रव्य के अस्तित्व को मिटा नही सकती। यदि मैं पाँचो अस्तिकायो को साक्षात् नही जानता-देखता, इसका अर्थ यह नही होता है कि वे नही हैं। भगवान महावीर ने प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा उनका साक्षात् किया है, उन्हें जाना-देखा है, इसीलिए वे उनका प्रतिपादन कर रहे हैं।

इस प्रसग से जाना जा सकता है कि पचास्तिकाय का वर्गीकरण अन्य तीर्थिको के लिए कुतूहल का विषय था। इस विषय मे वे जानते नही थे। उन्होने इस विषय मे कभी सुना-पढा नही था। यह उनके लिए सर्वथा नया विषय था। मद्दुक के तर्कपूर्ण उत्तर से भी वे अस्तिकाय का मर्म समझ नही पाये।

कुछ दिन बाद फिर परिव्राजको की गोष्ठी जुडी। उसमे कालोदायी, शैलोदायी, शैवालोदायी आदि अनेक परिव्राजक सम्मिलित थे। उनमे फिर महावीर के पचास्तिकाय पर चर्चा चली। कालोदायी ने कहा—श्रमण महावीर पाँच अस्तिकायो का प्रतिपादन करते हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय। वे कहते हैं कि चार अस्तिकाय अजीवकाय हैं। एक जीवास्तिकाय जीव है। चार अस्तिकाय अमूर्त्त हैं। एक पुद्गलास्तिकाय मूर्त्त है। यह कैसे हो सकता है ? उस समय भगवान महावीर के ज्येष्ठ शिष्य गौतम राजगृह से गुणशिलक चैत्य की ओर जा रहे थे। उन परिव्राजको ने गौतम को देखा और वे परस्पर बोले—देखो, वे गौतम जा रहे हैं। महावीर का इनसे अधिक अधिकृत व्यक्ति कौन मिलेगा ? अच्छा है हम उनके पास चलें और अपनी जिज्ञासा को उनके सामने रखें। उस समय एक सन्यासी दूसरे सन्यासी के पास मुक्तभाव से चला जाता, बुला लेता, अपने स्थान मे आमन्त्रित कर लेता—इसमे कोई कठिनाई नहीं थी। मुक्तभाव और मुक्त वातावरण था। इसलिए परिव्राजको को गौतम के पास जाने मे कोई कठिनाई नहीं हुई। वे सब उठे और गौतम के पास पहुच गये। उन्होने कहा—तुम्हारे धर्माचार्य ने पचास्तिकाय का प्रतिपादन किया है। क्या यह युक्तिसगत है ?

गौतम ने उनसे कहा—आयुष्मान् परिव्राजको ! हम अस्ति को नास्ति नही कहते और नास्ति को अस्ति नही कहते। हम सम्पूर्ण अस्तिभाव को अस्ति कहते हैं और सम्पूर्ण नास्तिभाव को नास्ति कहते हैं। तुम स्वय इस पर मनन करो और इसे ध्यान से देखो।

गौतम परिव्राजको को सक्षिप्त उत्तर देकर आगे चले गये। कालोदायी ने सोचा—पचास्तिकाय के विषय मे हमने मद्दुक को पूछा, फिर गौतम को पूछा। उन्होने अपने-अपने ढग से उत्तर भी दिये। पर जब महावीर स्वयं यहाँ उपस्थित हैं, तब क्यो न हम महावीर से ही उस विषय मे पूछें। कालोदायी के पैर भी महावीर की दिशा मे बढ गये। उस समय भगवान् महावीर महाकथा कर रहे थे। कालोदायी वहाँ पहुँचा। भगवान् ने उसे देखकर कहा—कालोदायी ! तुम लोग गोष्ठी कर रहे थे और उस गोष्ठी मे मेरे द्वारा प्रतिपादित पचास्तिकाय के विषय मे चर्चा कर रहे थे। क्यों यह ठीक है न ?

हाँ, भन्ते ! वैसा ही है, जैसा आप कह रहे हैं।

कालोदायी ! तुम्हारी जिज्ञासा है कि मैं पचास्तिकाय का प्रतिपादन करता हूँ, वह कैसे ? कालोदायी ! तुम्ही बताओ, पचास्तिकाय हैं या नहीं ? यह प्रश्न किसको होता है, चेतन को या अचेतन को ? आत्मा को या अनात्मा को ?

भन्ते ! आत्मा को होता है।

कालोदायी ! जिसे तुम आत्मा कहते हो उसे मैं जीवास्तिकाय कहता हूँ। जीव चेतनामय प्रदेशो का अविभक्त काय है, इसलिए मैं उसे जीवास्तिकाय कहता हूँ।

कालोदायी ! तुम मेरे पास आये हो, कैसे आये ?
भन्ते ! चलकर आया हूँ।
क्या तुम जानते हो कि मछली पानी मे तैरती है ?
हाँ, भन्ते ! जानता हूँ।
तैरने की शक्ति मछली मे है या पानी मे ?
भन्ते ! तैरने की शक्ति मछली मे है।
तो क्या वह पानी के बिना तैर सकती है ?
नही भन्ते ! ऐसा नही होता।

मछली को तैरने के लिए पानी की अपेक्षा है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल को गति करने के लिए गति तत्त्व की अपेक्षा है। जो द्रव्य जीव और पुद्गल की गति मे अपेक्षित सहयोग करता है, उसे मैं धर्मास्तिकाय कहता हूँ। मछली पानी के बाहर आती है और भूमि पर आ स्थिर हो जाती है। स्थिर होने की शक्ति मछली मे है किन्तु भूमि उसे स्थिर होने में सहारा देती है। जीव और पुद्गल मे स्थिति की शक्ति है पर उनकी स्थिति मे जो अपेक्षित सहयोग करता है, उस स्थिति तत्त्व को मैं अधर्मास्तिकाय कहता हूँ।

गति तत्त्व और स्थिति तत्त्व दोनो अस्तिकाय हैं। इनकी अविभक्त प्रदेश-राशि आकाश के बृहद् भाग मे फैली हुई है। आकाश के जिस खण्ड मे ये हैं, वहाँ गति है, स्पदन है, जीवन है और परिवर्तन है। इस आकाश-खण्ड को मैं लोक कहता हूँ। इससे परे जो आकाश-खण्ड है, उसे मैं 'अलोक' कहता हूँ। लोक का आकाश-खण्ड सान्त है, ससीम है। अलोक का आकाश-खण्ड अनन्त है, असीम है।

तुम देख रहे हो कि यह पेड, यह मनुष्य, यह मकान कही न कही टिके हुए हैं। तुमने देखा है कि पानी घड़े में टिकता है। घडा फूट जाता है, पानी ढुल जाता है। पानी को टिकने के लिए कोई आधार चाहिए। इसी प्रकार द्रव्यों को भी आधार की अपेक्षा होती है। एक द्रव्य अस्तित्व में है, उसमे आधार देने की क्षमता है, उसे मैं आकाशास्तिकाय कहता हूँ।

तुम देख रहे हो सामने एक पेड है। क्या देख रहे हो ?
भन्ते ! उसका हरा रग देख रहा हूँ।
क्या उसकी सुगन्ध नहीं आ रही है ?
भन्ते ! आ रही है।
क्या इसमे रस नही है ?
भन्ते ! है।
इसकी कोमल पत्तियो का स्पर्श मन को आकर्षित नही करता ?
भन्ते ! करता है।

कालोदायी ! जिसमे वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श होता है, उसे मैं पुद्गलास्तिकाय कहता हूँ।

मैंने अस्तिकायो को जाना है, देखा है। इसीलिए मैं पाँच अस्तिकायो का प्रतिपादन करता हूँ। इनका प्रतिपादन में किसी शास्त्र के आधार पर नही कर रहा हूँ, किन्तु अपने प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर कर रहा हूँ।

महावीर का तात्त्विक प्रवचन सुनकर कालोदायी का मन समाहित हो गया।

यह पचास्तिकाय का वर्गीकरण मौलिक है। भारतीय दर्शनो के तात्त्विक वर्गीकरण को सामने रखकर उनका तुलनात्मक अध्ययन करने वाला यह कहने का साहस नही करेगा कि यह वर्गीकरण दूसरो से ऋण प्राप्त है। कुछ विद्वान् स्वल्प अध्ययन के आधार पर विचित्र-सी धारणाएँ बना लेते हैं और उन्हें आगे बढाते चले जाते हैं। यह बहुत ही गम्भीर चिन्तन का विषय है कि विद्वद् जगत् मे ऐसा हो रहा है।

कही न कही कोई आवरण अवश्य है। आवरण के रहते सचाई प्रगट नही होती। मुझे एक घटना याद आ रही है। एक राजकुमारी को सगीत की शिक्षा देनी थी। वीणा-वादन और सगीत के लिए राजकुमार उदयन का नाम सूर्य की भाँति चमक रहा था। राजा ने कूट-प्रयोग से उदयन को उपलब्ध कर लिया। राजा राजकुमारी को सगीत सिखाना चाहता था और दोनो को सम्पर्क से बचाना भी चाहता था। इसलिए दोनो के बीच मे यवनिका बाँध दी। दोनो के मनो मे भी यवनिका बाँधने की चेष्टा की। उदयन से कहा गया—राजकुमारी अन्धी है। वह तुम्हारे सामने बैठने मे सकुचाती है। अत वह यवनिका के भीतर बैठेगी। राजकुमारी से कहा गया—उदयन कोढ़ी है। वह तुम्हारे सामने बैठने मे सकुचाता है। अत वह यवनिका के बाहर बैठेगा। शिक्षा का क्रम चालू हुआ और कई दिनो तक चलता रहा। एक दिन उदयन सगीत का अभ्यास करा रहा था। राजकुमारी बार-बार स्खलित हो रही थी। उदयन ने कई बार टोका, फिर भी राजकुमारी उसके स्वरो को पकड नही सकी। उदयन कुछ क्रुद्ध हो गया। उसने आवेश मे कहा—जरा सँभल कर चलो। कितनी बार बता दिया, फिर भी ध्यान नही देती हो। आखिर अन्धी जो हो। राजकुमारी के मन पर चोट लगी। वह बौखला उठी। उसने भी आवेश मे कहा—कोढी! जरा समलकर बोलो! उदयन ने सोचा, कोढी कौन है? मैं तो कोढी नही हूँ। फिर राजकुमारी ने कोढ़ी कैसे कहा? राजकुमारी ने भी इसी प्रकार सोचा—मैं तो अन्धी नही हूँ। फिर उदयन ने अन्धी कैसे कहा? सचाई को जानने के लिए दोनों तडप उठे। यवनिका को हटाकर देखा—कोई अन्धी नही है और कोई कोढी नही है। बीच का आवरण यह धारणा बनाये हुए था कि यवनिका के इस पार अन्धापन है और उस पार कोढ़। आवरण हटा और दोनो बातें हट गईं। मुझे लगता है जैन दर्शन की मौलिकता को समझने मे भी कोई आवरण बीच मे आ रहा है। अब उसे हटाना होगा।

परमाणुवाद का विकास वैशेषिकदर्शन से हुआ है, फिर जैनदर्शन ने उसे अपनाया है। चेतन और अचेतन—इस द्वैत का प्रतिपादन साख्यदर्शन ने किया है, फिर जैनदर्शन ने उसे अपनाया है। यह सब ऐसे प्रस्तुत किया जा रहा है कि मानो जैनदर्शन का अपना कोई मौलिक रूप है ही नही। वह सारा का सारा ऋण लेकर अपना काम चला रहा है। सत्य यह है कि परमाणु और पुद्गल के बारे मे जितना गम्भीर चिन्तन जैन आचार्यों ने किया है, उतना किसी भी दर्शन के आचार्यों ने नहीं किया। साख्यदर्शन की प्रकृति और उसका विस्तार एक पुद्गलास्तिकाय की परिधि मे आ जाता है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व उससे सर्वथा स्वतन्त्र है। जैनदर्शन की प्राचीनता की अस्वीकृति, उसके आधारभूत आगम-सूत्रों के अध्ययन की परम्परा के अभाव और जैन विद्वानों की उपेक्षावृत्ति ने ऐसी स्थिति का निर्माण किया है कि जैनदर्शन का देय उसी के लिए ऋण के रूप मे समझा जा रहा है।

भगवान महावीर ने वस्तु-मीमासा और मूल्य-मीमासा—दोनो दृष्टियो से तत्त्व का वर्गीकरण किया। वस्तु-मीमासा की दृष्टि से उन्होने पचास्तिकाय का प्रतिपादन किया और मूल्य-मीमासा की दृष्टि से उन्होंने नौ तत्त्वो का निरूपण किया।

चार्वाक का तात्त्विक वर्गीकरण केवल वस्तु-मीमासा की दृष्टि से है। उसके अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु—ये चार तत्त्व हैं। उनसे निर्मित यह जगत् भौतिक और दृश्य है। अदृश्य सत्ता का कोई अस्तित्व नहीं है।

न्यायदर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम का तात्त्विक वर्गीकरण एक प्रकार से प्रमाण-मीमासा है। वैशेषिक-दर्शन का तात्त्विक वर्गीकरण नैयायिकदर्शन की अपेक्षा वास्तविक है। उसमे गुण, कर्म, सामान्य और विशेष की व्यवस्थित व्याख्या मिलती है। जैनदर्शन की दृष्टि से इनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। ये द्रव्य के ही धर्म हैं। सांख्य-दर्शन का तात्त्विक वर्गीकरण सृष्टिक्रम का प्रतिपादन करता है। इनके पच्चीस तत्त्वों में मौलिक तत्त्व दो हैं—प्रकृति और पुरुष। शेष तेईस तत्त्व प्रकृति के विकार हैं। उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। पचास्तिकाय के वर्गीकरण मे पाँचों

द्रव्यो का स्वतन्त्र अस्तित्व है। कोई भी द्रव्य किसी का गुण या अवान्तर विभाग नही है। गति, स्थिति, अवगाह, चैतन्य तथा वर्ण, गध, रस और स्पर्श—ये विशिष्ट गुण हैं। इन्ही के द्वारा उनकी स्वतन्त्र सत्ता है। इस वर्गीकरण मे न प्रमाण-मीमासा है, न गुणो की स्वतन्त्र सत्ता की स्वीकृति और न सृष्टि का क्रम। इसमे दृश्य और अदृश्य, भौतिक और अभौतिक अस्तित्वो का प्रतिपादन है। इस दृष्टि से यह वर्गीकरण मौलिक और वास्तविक है।

वस्तु-मीमासा और मूल्य-मीमासा का वर्गीकरण एक साथ किया होता तो वह नैयायिक, वैशेषिक और साख्य दर्शन जैसा मिला-जुला वर्गीकरण होता। उसकी वैज्ञानिकता समाप्त हो जाती। पचास्तिकाय के कार्य के विषय मे सक्षिप्त चर्चा हो चुकी है। फिर भी उस विषय मे महावीर और गौतम का एक सवाद मैं प्रस्तुत करना चाहूँगा। गौतम ने पूछा—भते! धर्मास्तिकाय से क्या होता है? भगवान ने कहा—गौतम! आदमी चल रहा है, हवा चल रही है, श्वास चल रहा है, वाणी चल रही है, आँखें पलक झपका रही हैं। यह सब धर्मास्तिकाय के सहारे से हो रहा है। यदि वह न हो तो निमेष और उन्मेष नही हो सकता। यदि वह न हो तो आदमी बोल नहीं सकता। यदि वह न हो तो आदमी सोच नही सकता। यदि वह नहीं होता तो सब कुछ पुतली की तरह स्थिर और स्पन्दनहीन होता।

उपनिषद् के ऋषियो ने कहा कि यदि आकाश नही होता तो आनन्द नही होता। आनन्द कहाँ होता है? आकाश है, तभी तो आनन्द है। ठीक इसी भाषा मे भगवान महावीर ने कहा—धर्मास्तिकाय नही होता तो स्पन्दन भी नही होता। तुम पूछ रहे हो और मैं उत्तर दे रहा हूँ, यह इसीलिए हो रहा है कि धर्मास्तिकाय है। यदि वह नही होता तो न तुम पूछ सकते और न मैं उत्तर दे सकता। हम मिलते भी नही। जो जहाँ है, वह वही होता। हमारा मिलन, वाणी का मिलन, शरीर का मिलन, वस्तु का मिलन जो हो रहा है, एक वस्तु एक स्थान से दूसरे स्थान पर आ-जा रही है, यह सब उसी गति-तत्त्व के माध्यम से हो रहा है। वह अपना सहारा इतने उदासीन भाव से दे रहा है कि किसी को कोई शिकायत नही है। उसमे चेतना नही है, इसलिए न उपकार का अहकार है और न कोई पक्षपात। वह स्वाभाविक ढग से अपना कार्य कर रहा है।

गौतम ने पूछा—भते! अधर्मास्तिकाय से होता है?
भगवान ने कहा—तुम अभी ध्यान कर आए हो। उसमे तुम्हारा मन कहाँ था?
भते! कही नही। मैंने मन को निरुद्ध कर दिया था।

भगवान बोले—यह निरोध, एकाग्रता, स्थिरता अधर्मास्तिकाय के सहारे होता है। यदि वह नही होता तो न मन एकाग्र होता, न मौन होता और न तुम आँख मूँदकर बैठ सकते। तुम चलते ही रहते। इस अनन्त आकाश में अविराम चलते रहते। जिस बिन्दु से चले उस पर फिर कभी नही पहुँच पाते। अनन्त आकाश मे खो जाते। किन्तु गति के प्रतिकूल हमारी स्थिति है, इसीलिए हम कही टिके हुए हैं। इस कार्य मे अधर्मास्तिकाय वैसे ही उदासीन भाव से हमारा सहयोग कर रहा है, जैसे गति में धर्मास्तिकाय।

गौतम ने पूछा—आकाश में क्या होता है?

भगवान ने कहा—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय—इन सबका अस्तित्व आकाश के अस्तित्व पर निर्भर है। वह उन सबको आधार दे रहा है। जिस आकाश-खण्ड में धर्मास्तिकाय है, उसी मे अधर्मास्तिकाय है, उसी मे जीवास्तिकाय और उसी में पुद्गलास्तिकाय है। आकाश को यह अवकाश देने की क्षमता नही होती तो ये एक साथ नहीं होते। उसके अभाव मे इन सबका सद्भाव नही होता।

गौतम ने पूछा—भते! जीव क्या करता है?

भगवान ने कहा—वह ज्ञान करता है, अनुभव करता है। उसके पास इन्द्रियाँ हैं। वह देखता है, सुनता है, सूँघता है, चखता है और छूता है। सामने हरा रग है। आँख ने देखा, उसका काम हो गया। पत्तियो की सनसनाहट हो रही है। कान ने सुना, उसका काम समाप्त। हवा के साथ आने वाली सुगध का नाक ने अनुभव किया, उसका काम समाप्त। जीभ ने फल का रस चखा और उसका काम पूरा हो गया। हाथ ने तने को छुआ और उसका काम पूरा हो गया। किन्तु कुल मिलाकर वह क्या है? यह न आँख जानती है और न कान। इनके बिखरे हुए अनुभवो

को समेट कर सकलन करने वाला जो है, वह है मन। उसके लिए हरा रग, पत्तियाँ, पुष्प, फल और छाल—ये अलग अलग नही हैं किन्तु एक ही पेड के विभिन्न रूप हैं। इन्द्रियो के जगत् में वे अलग-अलग होते हैं और मन के जगत् में वे सब अभिन्न होकर पेड बन जाते हैं। मन सोचता है, मनन करता है, कल्पना करता है और स्मृति करता है। जीव के पास बुद्धि है। वह मन के द्वारा प्राप्त सामग्री का विवेक करती है, निर्णय देती है और उसमे कुछ अद्भुत क्षमताएँ हैं। वह इन्द्रिय और मन से सामग्री प्राप्त किये विना ही कुछ विशिष्ट बातें जान लेती है। ये (इन्द्रिय, मन और बुद्धि) सब जीव की चेतना के भौतिक सस्करण हैं। इसलिए ये पुद्गलों के माध्यम से एक को जानते हैं। ये ज्ञेय का साक्षात्कार नही कर सकते। शुद्ध चेतना ज्ञेय का साक्षात्कार करती है। वह किसी माध्यम से नहीं जानती। इसीलिए हम उसे प्रत्यक्ष ज्ञान या अतीन्द्रिय ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान का सम्पूण क्षेत्र जीव के अधिकार मे है।

गौतम ने पूछा—भते ! पुद्गल का क्या कार्य है ?

भगवान् ने कहा—आदमी श्वास लेता है, सोचता है, बोलता है, खाता है—यह सब पुद्गल के आधार पर हो रहा है। श्वास की वगणा (पुद्गल समूह) है, इसलिए वह श्वास लेता है। मन की वगणा है इसलिए वह सोचता है। भाषा की वर्गणा है, इसलिए वह बोलता है। आहार की वर्गणा है, इसलिए वह खाता है। यदि ये वगणाएँ नहीं होतीं तो न कोई श्वास लेता, न कोई सोचता, न कोई बोलता और न कोई खाता। जितने दृश्य तत्त्व हैं, वे सब पुद्गल की वर्गणाएँ हैं। पुद्गलास्तिकाय का स्वरूप एक है, फिर भी कार्य के आधार पर उसकी अनेक वर्गणाए हैं। उसे एक उदाहरण के द्वारा समझा जा सकता है। एक ग्वाला भेडों को चराता था। वे अनेक लोगों की थी। उसे गिनती करने मे कठिनाई होती थी। उसने एक रास्ता निकाला। एक-एक मालिक की भेडो का एक-एक वग बना दिया और उन्हें एक-एक रग से रग दिया। उसे सुविधा हो गई। यह वर्गणाओ का विभाजन भी कार्य-बोध की सुविधा के आधार पर किया गया है। जीव की जितनी भी प्रवृत्ति होती है, वह पुद्गल की सहायता से होती है। यदि वह नही होता तो कोई प्रवृत्ति नहीं होती। सब कुछ निष्क्रिय और निर्वीर्य होता।

□□

विणएण णरो, गधेण चदण सोमयाइ रयणियरो।
महुररसेण अमय, जणपियत्त लहइ भुवणे॥

—धर्मरत्नप्रकरण, १ अधिकार

जैसे सुगन्ध के कारण चदन, सौम्यता के कारण चन्द्रमा और मधुरता के कारण अमृत जगत्प्रिय हैं, ऐसे ही विनय के कारण मनुष्य लोगो मे प्रिय बन जाता है।

□ डा० नन्दलाल जैन
[प्राध्यापक, रसायनशास्त्र विभाग,
गृह विज्ञान महाविद्यालय, जबलपुर]

ज्ञान, योग-सापेक्ष है, विज्ञान प्रयोग-सापेक्ष। वर्तमान युग प्रायोगिक सत्यापन का युग है। जैनदर्शन की आत्म-ज्ञान-सापेक्ष धारणाएँ विज्ञान की कसौटी पर कसने का एक स्वतन्त्र विचार-प्रधान प्रयत्न प्रस्तुत लेख मे किया गया है।

आधुनिक विज्ञान और जैन मान्यताएँ

□

समीचीनता के अवयव विचार और परीक्षण

परीक्षाप्रधानी स्वामी समतभद्र ने ससार के दु खो से त्राण देने वाले, उत्तम सुख को धारण कराने वाले तथा कर्म-मल को दूर करने वाले समीचीन साधन को धर्म बतलाया है। यद्यपि सुख-दुःख और कर्म-अकर्म के विषय मे बुद्धि-जीवियो ने साधारण जन को अपने तर्क-वितर्कों से सदैव भूल-भूलैया मे डालने का प्रयास किया है, पर समतभद्र की उक्त परिभाषा का विश्लेषण बताता है कि विभिन्न गुणो से युक्त समीचीन माध्यम ही धर्म है। वस्तुत समीचीन वह है जो मुक्तिप्रवण हो, सहज बोधगम्य हो एव परीक्षणीय हो। पिछले तीन हजार वर्षों में वैचारिक पद्धति ही समीचीनता को निर्धारित करने का प्रमुख माध्यम रही है। धर्म और जीवन-सम्बन्धी विभिन्न तत्त्वो और प्रक्रियाओ के शास्त्रोक्त विवरणों में पर्याप्त सत्यान्वेषण-क्षमता, सूक्ष्म-दृष्टि एव गहन-विचारपरता पाई जाती है। वास्तव में पाश्चात्य विचारको ने जैनो को वर्गीकरण-विशारद एव तीक्ष्ण बौद्धिक माना है। वैचारिक पद्धति मे एक ओर जहाँ ज्ञान की गहनता पाई जाती है, वही दूसरी ओर कल्पना-शक्ति की सूक्ष्मता भी होती है। इस सूक्ष्मता की स्थूल परीक्षा सभव नही रही है, फलत शास्त्रों को सर्वोच्च प्रमाण मानने की प्रवृत्ति का उदय हुआ। तत्त्वज्ञान के लिए आवश्यक प्रमाणो मे शास्त्र-प्रमाण एक प्रमुख अवयव माना जाने लगा।

पिछले पाँच सौ वर्षों में सत्यान्वेषण का एक नया माध्यम सामने आया है, जिसमें तथ्यों एव विचारो का प्रयोगो द्वारा सत्यापन किया जाता है। इनके विषय मे प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने के लिए सूक्ष्मदर्शी, दूरदर्शी एव अन्य सुग्राही उपकरणो की सज्जा की गई है। वस्तुत वर्तमान युग प्रायोगिक सत्यापन का युग ही माना जाता है। इस युग मे वैचारिक पद्धति की एकमात्र सत्यता पर काफी टीका-टिप्पणी हुई है और अब यह माना जाने लगा है कि वस्तुत ये दोनो पद्धतियाँ एक दूसरे की पूरक हैं। जहाँ वैचारिक पद्धति मे बुद्धि-चक्षु ही निपुण होते हैं, वहाँ प्रायोगिक पद्धति मे चर्म-चक्षु या यन्त्र-चक्षु अपना करिश्मा प्रदर्शित करते हैं। ये यन्त्र-चक्षु अदृश्य या अमूर्त जगत् सम्बन्धी विचारो की समीचीनता की परीक्षा के लिए तो प्रयुक्त किये ही जा सकते हैं।

ज्ञान और दर्शन का समन्वय

वास्तव मे, जैनदर्शन मे जीव या चेतन को ज्ञान-दर्शन द्वारा अभिलक्षणित करने की बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। लेकिन ज्ञान और दर्शन की शास्त्रोक्त परिभाषायें व्यावहारिक मान्यताओं से एकदम मेल नहीं खाती हैं। वस्तुत हमें ज्ञान को निराकार और दर्शन को साकार मानना चाहिए। इस दृष्टि से जहाँ ज्ञान वैचारिक पद्धति को निरूपित करता है वहाँ दर्शन प्रयोगात्मक पद्धति को निरूपित करेगा। फलत वस्तु तत्त्व का ज्ञान इन दोनों पद्धतियो के समन्वय

से प्राप्त होता है। यदि शास्त्रोक्त 'ज्ञान' की परिभाषा ही सही मानी जावे, तो भी दर्शन बौद्धिक पद्धति को निरूपित करेगा और 'ज्ञान' प्रयोगात्मक पद्धति को। इस दृष्टि से जैनदर्शन का 'ज्ञान' शब्द आज के 'विज्ञान' शब्द का पर्याय-वाची बन जाता है। लेकिन धर्मसम्मत 'ज्ञान' को त्रैकाल्य प्रामाणिकता दी गई है, जो विज्ञान नही मानता है।

अन्तर्द्वन्द्व और वैज्ञानिक कसौटी

धार्मिक मान्यता के अनुसार हम अवसर्पिणी युग में चल रहे हैं और हमारी प्रगति नकारात्मक हो रही है। यह तथ्य आध्यात्मिकता की दृष्टि से ही सही बैठना है, भौतिक दृष्टि से तो यह युग प्रगति की सीमाओ को स्पर्श करता प्रतीत होता है। पिछले पाँच हजार वर्ष का इतिहास इसका साक्षी है कि हम कैसे जगलो से निकलकर नगरी-जीवन मे आये। आज का साधारण-जन भी इस दुविधा मे है कि वह अपने इस विकास को प्रगति कहे या अवनति ? तभी उसे ध्यान आता है—साकार ज्ञान। वास्तविक ज्ञान तो वह है जो प्रयोगसिद्ध तथ्यो के आधार पर किया जाये। हमारे शास्त्रोक्त ज्ञान की प्रामाणिकता भी आज प्रायोगिक कसौटी पर खरे उतरने पर निर्भर हो गई है। वस्तुत जो दार्श निक सिद्धान्त प्रायोगिक तथ्यो के जितने ही निकटतम होंगे, वे उतने ही प्रामाणिक माने जायेंगे।

वैज्ञानिक वृद्धि और प्रयोगकला के विकास के समय ऐसे बहुत से तथ्यो का पता चला जो पूर्व और पश्चिम के दर्शनो से मेल नही खाते थे। उदाहरणार्थ, 'चतुर्भूतमय जगत्' का सिद्धान्त लेवोशिये के समय मे पूर्णत असत्य सिद्ध हो गया—जब यह पता चला कि जल तत्त्व नही है, हाइड्रोजन और आक्सीजन का यौगिक है। वायु तत्त्व नहीं है, वह नाइट्रोजन, आक्सीजन आदि का मिश्रण है। अग्नि तत्त्व नहीं है, वह तो रासायनिक क्रियाओ मे उत्पन्न ऊष्मा है। पृथ्वी भी तत्त्व नहीं है, यौगिक और मिश्रणो का विविध प्रकार का समुच्चय है। सूर्य-पृथ्वी की सापेक्ष-गति के विषय मे भी पूर्व-प्रचलित मत भ्रामक सिद्ध हुआ है और अब यह माना जाता है कि पृथ्वी आदि ग्रह सूर्य के चारो ओर घूमते हैं (जैनमत के अनुसार सूर्य आदि ग्रह मेरु (पृथ्वी) की प्रदक्षिणा करते हैं)। अजीव से जीव की उत्पत्ति सम्बन्धी समूर्च्छन जन्मवाद भी पाश्चर के प्रयोगो से समाप्त हो गया है। बीसवी सदी के पूर्वार्द्ध मे परमाणुओ की अविभागित्व एव अविनाशित्व सम्बन्धी मान्यतायें भी त्रुटिपूर्ण प्रमाणित हो गई। इन वैज्ञानिक तथ्यो से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि प्रयोग-प्रमाणित विचार ही समीचीनता के निदर्शक हो सकते हैं। अन्य विचारो को हमे तत्कालीन तथ्यो एव मान्यताओ के रूप मे ही स्वीकार करना होगा, समीचीन ज्ञान के रूप मे नही।

उपर्युक्त उदाहरण प्राय भौतिक जगत् से सम्बन्धित हैं जो प्रयोगसिद्ध नही पाये गये हैं। इनसे यह निष्कर्ष नही निकालना चाहिए कि हमारे शास्त्रो का भौतिक जगत्-सम्बन्धी समस्त विवरण ही त्रुटिपूर्ण है। जैनदर्शन के बहुत से सिद्धान्त ऐसे हैं जो विज्ञान की कसौटी पर आज भी खरे उतर रहे हैं और सभवत वे त्रिकालाबाधित सत्य बने रहेंगे। वस्तुत जीवन या जगत् के दो मूलभूत पक्ष होते हैं—नैतिक और भौतिक। धर्म के भी दो पक्ष हैं—आचार और विचार। नैतिक विचारो की त्रिकालाबाधितता सभव हो सकती है, पर भौतिक तत्त्वो और आचारो मे देशकालादि की अपेक्षा सदैव परिवर्तन, परिवर्द्धन एव रूपान्तरण होता रहता है। इन तत्त्वो को त्रिकालाबाधित रूप मे सत्य नही माना जा सकता। महावीर के उपदेशो मे अवक्तव्यवाद, परमाणु और उनका बन्ध, जीववाद आदि कुछ ऐसी मान्यताएँ हैं जिनसे हमे उनकी गहन चिन्तन शक्ति एव सूक्ष्म निरीक्षणक्षमता का भान होता है। ये मान्यताएँ पच्चीस सौ वर्ष बाद भी प्रयोग-सिद्ध बनी हुई हैं। इनके कारण हमे अपनी अन्य मान्यताओ को परखने के लिए प्रोत्साहन मिलता है।

ज्ञान और उसकी प्राप्ति के उपाय

शास्त्रोक्त मान्यता के अनुसार ज्ञान दो प्रकार का होता है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। आध्यात्मिक दृष्टि से तो केवल आत्मसापेक्ष ज्ञान ही प्रत्यक्ष माना जाता है। इन्द्रियों एव मन की सहायता से होने वाला ज्ञान परोक्ष कहलाता है। वस्तुत नन्दीसूत्र मे इन्द्रिय ज्ञान को भी प्रत्यक्ष माना गया है जो लौकिक दृष्टि से उचित ही है। वैज्ञानिक दृष्टि से आज विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म, अर्द्धसूक्ष्म एव अन्य सूक्ष्मदर्शी, दूरदर्शी आदि उपकरण भी ज्ञान प्राप्त करने मे सहायक हो रहे हैं। चूकि इन उपकरणो का शास्त्रो मे नगण्य उल्लेख मिलता है, अत शास्त्र-निर्माण-काल मे उपकरणो के अभाव का अनुमान सहज हो जाता है। चूँकि इन्द्रियाँ तो स्थूलग्राही हैं, अत सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान मन की सहायता से ही किया गया होगा। किसी भी ज्ञान की प्रामाणिकता उसके अविसवादित्व, अपूर्वार्थग्राहित्व या गृहीतग्राहित्व आदि गुणो के

कारण होती है, जिसमे प्रत्यक्ष, अनुमान एव आगम (परोक्ष) सहायक होते हैं। आज उपकरणो के द्वारा प्रस्तुत ज्ञान के कारण प्राचीन ज्ञान मे काफी विसवाद प्रतीत होने लगा है, अतएव उसकी प्रामाणिकता मे सन्देह होना अस्वाभाविक नहीं है।

शास्त्रों मे इन्द्रियो द्वारा ज्ञान की प्राप्ति की जो प्रक्रिया बताई गई है, वह नितान्त वैज्ञानिक है। अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा वैज्ञानिक पद्धति मे भी प्रारम्भ मे प्रयोग किये जाते हैं। उनमे विभिन्न प्रकार से सूक्ष्म और स्थूल निरीक्षण किये जाते हैं। पुरातनकाल मे प्रयोगो की परम्परा तो नहीं रही, पर प्रकृति निरीक्षण खूब होता था। इन निरीक्षणो को अवग्रह कहा जा सकता है। इन निरीक्षणो में नियमिततायें देखना और अनुमान करना 'ईहा' ही है। इन नियमितताओ को सकल्पना कहा जाता है। इन नियमितताओ की व्यापकता का ज्ञान इन्हें सिद्धान्त या अवाय बना देता है। जब ये नियमिततायें सार्वत्रिक होती हैं, तो वे नियम बन जाती हैं। विज्ञान की प्रक्रिया मे स्वय के समान दूसरो के प्रयोग और निरीक्षण भी महत्त्वपूर्ण होते हैं। वस्तुत विज्ञान की प्रगति का मूल कारण दूसरो के प्रयोगो, निरीक्षणो व निष्कर्षों की प्रामाणिकता ही है, जिसके आधार पर आगे के प्रयोग किये जाते हैं। कभी-कभी नये प्रयोगो मे पुराने निष्कर्षों का अविसवादित्व भी खतरे में पड जाता है। फलत नये तथ्यपूर्ण परिणामों के अनुरूप निष्कर्ष स्थिर किये जाते हैं। इस प्रकार वैज्ञानिक प्रक्रिया पूर्व ज्ञान को समुचित महत्त्व देती हुई ज्ञान की मशाल को नित नये क्षितिजो मे पहुँचाती है।

आध्यात्मिक ज्ञान के अतिरिक्त अन्य शास्त्र-वर्णित ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से ही प्राप्त किया प्रतीत होता है। उपकरणो की सहायता से इन्द्रियज्ञान के निष्कर्षों मे काफी परिवर्तन की आवश्यकता हुई है। हम यहाँ एक सामान्य उदाहरण ले सकते हैं, इन्द्रियों की प्राप्यकारिता। यह माना जाता है कि चक्षु को छोडकर सभी इन्द्रियो का ज्ञान प्राप्यकारित्व के कारण होता है। वस्तुत चक्षु और श्रोत्र इन्द्रिय की स्थिति लगभग एक-सी है। जैसे चक्षु दृश्य पदार्थ के पास पहुँचकर उसका ज्ञान नही करती, वैसे ही श्रोत्र भी शब्दोत्पत्ति के स्थान तक पहुँचकर उसका ज्ञान नही करता। जैसे कोलाहल के समय शब्दो के श्रवण की अस्पष्टता होती है, वैसे ही अगणित दृश्य पदार्थों की उपस्थिति मे चक्षु भी यथार्थ रूप से सभी पदार्थ नहीं देख पाती। सूक्ष्मान्तरित दूरार्थ वस्तुओ की चक्षुग्राहिता जैसे भिन्न-भिन्न कोटि की होती है, वैसे ही शब्दो की स्थिति है। जैसे कान मे शब्दोत्पत्ति कान में विद्यमान झिल्लियो के अनुरूपी कम्पनो के कारण होती है, वैसे ही चक्षु द्वारा रूपादि का ज्ञान भी पदार्थ द्वारा व्यवहित किरणो के चाक्षुष केमरे पर पडने के बाद ही होता है। आतरिक कम्पनो के बिना न शब्द सुनाई पड सकता है और वस्तु द्वारा प्रक्षिप्त प्रकाश किरणो के बिना न रूपादि का ज्ञान हो सकता है। इस प्रकार चक्षु और श्रोत्र की प्रक्रिया बिलकुल एक-सी है। फिर भी, एक को प्राप्यकारी माना गया है और दूसरे को अप्राप्यकारी। इसका कारण स्पष्ट है कि शब्द के सम्बन्ध मे कानो मे होने वाले कम्पन किंचित् अनुभवगम्य हैं। वे भौतिक हैं, अत इन्द्रिय-ग्राह्य हैं। रूपादि के ज्ञान मे प्रकाश किरण का प्रभाव सापेक्षत सूक्ष्मतर कोटि का होता है, अत अनुभव या प्रतीतिगम्य नहीं होता। इसलिए इसे अप्राप्यकारी कह दिया गया।

ज्ञान की प्रामाणिकता का आधार अविसवादिता को माना गया है। यह दो प्रकार से आ सकती है—स्वत और परत। जैनदर्शन का यह मत समीचीन लगता है कि ज्ञान की मूल प्रामाणिकता परत ही होती है। इसके लिए पुरातन ज्ञान एव अन्य स्रोतो से प्राप्त निष्कर्ष सहायक होते हैं। इस तथ्य का फलितार्थ यह है कि मानसिक एव मात्र बौद्धिक विचारो को प्रयोग (परत) सपुष्ट होने पर ही प्रामाणिकता प्राप्त होनी चाहिए। ज्ञान और प्रमाणों के सम्बन्ध में जैन मान्यतायें अन्य मान्यताओ से प्रगतिशील अवश्य हैं, फिर भी उनके पुनर्मूल्याकन का काम अत्यावश्यक है। आगे के पृष्ठो में प्रयोग सपुष्ट तथ्यो के आलोक में कुछ शास्त्रीय मान्यताओ के सम्बन्ध में चर्चा की गई है।

ससार के मूल तत्त्व

जैन मान्यता के अनुसार ससार के मूलत सात तत्त्व हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष। तत्त्वों का यह वर्गीकरण जीवन के नैतिक विकास के दृष्टिकोण से किया गया है। वही धर्म का लक्ष्य है। यह वर्गीकरण वस्तुत तीन मूल तत्त्वो के विस्तार के कारण है जीव, अजीव और जीव-विकास (मोक्ष)। आस्रव और बन्ध जीव-विकास के बाधक तत्त्व हैं और सवर एव निर्जरा जीव-विकास के साधक तत्त्व हैं। विकास के साधक और बाधक
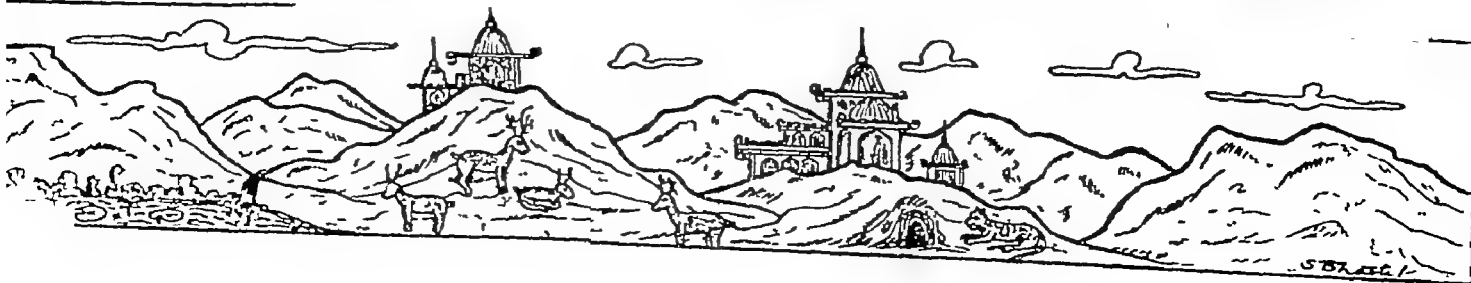
तत्त्वो के विषय मे जैनो की मूल मान्यता वस्तुत अचरजकारी है, लेकिन ऐसा लगता है कि विज्ञान उसे सिद्ध करता प्रतीत होता है। मस्तिष्क-लहरियो के ज्ञान ने कर्म-परमाणुओ की भौतिकता की बात को सिद्ध कर दिया है। अब केवल इस प्रश्न का उत्तर देना है कि ये कर्म परमाणु कणात्मक हैं या ऊर्जात्मक हैं। ऊर्जा सूक्ष्मतर होती है। ये परमाणु ही विकास के निरोधक और साधक हैं। जीव सम्बन्धी भौतिक वर्गीकरण और निरूपण वर्तमान तथ्यो की तुलना मे काफी विसवादी लगने लगा है। इसी प्रकार अजीव के सम्बन्ध मे भी यह स्पष्ट है कि अमूर्त द्रव्यो की बात तो काफी वैज्ञानिक सिद्ध हुई है, पर मूर्त जगत् की बातो मे आज की दृष्टि से पर्याप्त अपूर्णता या त्रुटिपूर्णता लक्षित हो रही है। हम पहले जीव और अजीव सम्बन्धी मान्यताओ पर विचार करेंगे।

वस्तु और द्रव्यमान सरक्षण नियम

जैनदर्शन मे वस्तु को उत्पाद, व्यय एव ध्रौव्यत्व से युक्त माना गया है। इनमे उत्पाद-व्यय उसके परिवर्तन शील गुणो को निरूपित करते हैं और ध्रौव्यत्व वस्तु मे विद्यमान द्रव्य की अविनाशिता को व्यक्त करता है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु मे दो प्रकार के गुण पाये जाते हैं। मूल द्रव्य अविनाशी या नित्य रहता है, उसकी सयोगवियोगादि से पर्याय बदलती रहती है। मूल द्रव्य का यह अविनाशित्व लोमन्सोफ और लेवोशिये के द्रव्यमान-सरक्षण नियम का ही एक रूप है। जैनदशन की मान्यता के अनुसार ऊर्जायें (ऊष्मा, प्रकाश आदि) भी पौद्गलिक हैं। अत द्रव्य के ध्रौव्यत्व के अन्तर्गत द्रव्यमान एव ऊर्जा—दोनो के ही सरक्षण की बात स्वयमेव समाहित हो जाती है, लेकिन लेवोशिये के नियम मे इन दोनो के सयुक्त सरक्षण की बात आइन्स्टीन के ऊर्जा-द्रव्यमान रूपान्तरण-सिद्धान्त की प्रस्तावना के बाद ही (बीसवी सदी के द्वितीय दशक मे) आई है। इस सरक्षण नियम मे भी यही बताया गया है कि निरन्तर परिवर्तनो के बावजूद भी मूल द्रव्य के द्रव्यमान और ऊर्जा मे कोई परिवर्तन नही होता। वर्तमान मे परमाणविक विखण्डन क्रियाओ एव तीव्रगामी किरणो की बमबारी की क्रियाओ मे यह देखा गया है कि यूरेनियम या रेडियम आदि तत्त्व-द्रव्य द्रव्यान्तरित होकर नये तत्त्वो मे परिणत हो जाते हैं। यह तथ्य 'समयसार' के उस मतव्य से मेल नहीं खाता जिसमे यह कहा गया है कि प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होता है, दूसरे द्रव्य से उत्पन्न नही हो सकता। इसके बावजूद भी यदि द्रव्य ध्रौव्यत्व से हम द्रव्यमान (भार) के ध्रौव्यत्व का अर्थ ग्रहण करें, तो उसकी अविनाशिता तो बनी ही रहती है। यह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यत्व-वाद, सत्कार्यवाद या कारण-कार्यवाद का ही एक अनुगत फल है, जिसे वैज्ञानिक सपोषण प्राप्त है।

वस्तुस्वरूप का कारण—परमाणुवाद

जैनमत मे दृश्यमान भौतिक जगत् को परमाणुमय एव पौद्गलिक माना है। परमाणु की प्रकृति पर अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया है और उसके कार्यों पर भी विशद प्रकाश डाला गया है। परमाणु अविभागी, अविनाशी, अशब्द, मूर्तिक (पचगुणी), विविक्त एव इन्द्रिय-अग्राह्य होते हैं। वे लघुतम कण सदा गतिशील होते हैं। इनमें भार एव कठोरता का गुण नही पाया जाता।

इन लक्षणो मे परमाणु की विविक्तता या खोखलापन, गतिशीलता एव मूर्तिकता वैज्ञानिक तथ्यों से सिद्ध हो चुके हैं। यद्यपि सामान्य इन्द्रियो से परमाणु अब भी अग्राह्य है, फिर भी यात्रिक इन्द्रियो एव उपकरणो से उसे भली प्रकार जाँच लिया गया है। अब परमाणु मे अविभाजित्व, अविनाशित्व एव भारहीनता नही मानी जाती। कुछ लेखकों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि परमाणु के वर्तमान मौलिक अवयवो को जैनो का परमाणु मानना चाहिए, लेकिन यह ठीक नहीं प्रतीत होता। परमाणुवाद की धारणायें ईसापूर्व सदियों मे विश्व के विभिन्न कोनो मे व्याप्त थीं और सभी मे इन्द्रिय-अग्राह्य अति सूक्ष्म द्रव्य को परमाणु माना गया है। उस समय इससे अधिक की बात नहीं सोची जा सकती थी। हाँ जैनसम्मत परमाणु मे कुछ अन्य विशेषतायें मानी गई हैं जैसे परमाणु का ठोस न होकर खोखला होना और सकुचन-प्रसारगुणी होना। गतिशीलता भी ऐसा ही विशिष्ट गुण है। परमाणुओ मे शीत-उष्णता एव स्निग्ध-रुक्षता उनकी गतिशील प्रकृति के परिणाम हैं। ये उन्हें वैद्युत-प्रकृति देते हैं जो उनके विविध सयोगो का मूल है। परमाणु के ये गुण जैन दार्शनिको की तीक्ष्ण निरीक्षण एव चिन्तन शक्ति को प्रकट करते हैं।

स्कध-निर्माण के नियम तीन प्रकार की सयोजकतायें

परमाणुओ के विविध प्रकार के सयोगो से स्कधो का निर्माण होता है। ये स्कध वर्तमान अणु के पर्यायवाची हैं। वस्तुत' परमाणुओ के अतिरिक्त बडे स्कधो के वियोजन (भेद) से भी छोटे स्कध बनते हैं। छोटे स्कधो के सयोजन (सघात) से बडे स्कध बनते हैं। सयोजन और वियोजन की इस प्रक्रिया की प्रवृत्ति के विषय मे जैन दार्शनिको के विचार सयोजकता-सिद्धान्त के पूर्णत अनुरूप हैं। परमाणुओ की प्रकृति वैद्युत होती है और अपनी स्निग्धता और रूक्षता (धनात्मकता या ऋणात्मकता) के कारण वे परस्पर मे सयोग करते हैं। इस सम्बन्ध मे तत्त्वार्थ-सूत्र के पाँचवे अध्याय के निम्न सूत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं—

(१) **स्निग्धरूक्षत्वात्बध** —'सर्वार्थसिद्धि' मे स्निग्ध और रूक्षत्व को विद्युत का मूल माना है। परमाणुओ का सयोग विषम वैद्युत प्रकृति के कारण होता है।

(२) **न जघन्यगुणानाम्**—जघन्य या शून्य वैद्युत-प्रकृति के परमाणुओ मे बध नही होता। आज की अक्रिय गैसो की अक्रियता जघन्य प्रकृति के कारण ही मानी जाती है। हाँ, यदि इन्हें सक्रिय कर दिया जावे, तो ये अल्प-सक्रिय हो सकती हैं।

(३) **गुणसाम्ये सदृशानां**—इस सूत्र के अर्थ के विषय मे विवाद है। इसके अनुसार समान विद्युत प्रकृति के एक ही प्रकार के परमाणुओ मे बध नहीं होता। वस्तुत यह देखा गया है कि हाइड्रोजन आदि तत्त्वो के दो परमाणु मिलकर उनके अणुओ का निर्माण करते हैं। वर्तमान मान्यता के अनुसार ऐसे सयोग दो परिस्थितियो मे होते हैं (१) सदृश-परमाणुओ का चक्रण या गतिशीलता विरुद्ध दिशा मे हो और (२) इन परमाणुओ की वैद्युत-प्रकृति मे साझेदारी की प्रवृत्ति पाई जावे। श्वेताम्बर परम्परा मे तो बराबर वैद्युत प्रकृति के दो विसदृश परमाणुओ मे बध की मान्यता है, लेकिन दिगम्बर परम्परा इसे नही मानती। वस्तुत यह बात स्निग्ध-रूक्षत्व के कारण होने वाले बध-सिद्धान्त के भी प्रतिकूल है।

(४) **द्वयधिकादिगुणाना तु**—जब तुल्य या अतुल्य जातीय परमाणुओ की वैद्युत-प्रकृति मे दो भागो का अन्तर होता है, तो उनमे बध होता है। यह बध पर्याप्त स्थायी होता है।

(५) **बधेऽधिकौ पारिणामिकौ च**—बध मे अधिक विद्युतीय परमाणु अल्पविद्युतीय परमाणुओ को आत्मसात् कर नया पदार्थ बनाते हैं। वस्तुत नये पदार्थ मे न तो सफेद काले ततुओ से बने वस्त्र के समान भिन्नता पाई जावेगी और न ही जल-सत्तू के समान एकता पाई जावेगी क्योकि ये दोनो ही उदाहरण भौतिक बधो को निरूपित करते हैं, अणु-बध को नही। भौतिक बध के अवयव बडी सरल विधियो से पृथक् किये जा सकते हैं, अणु-बन्धो के अवयव अणुओं को भजित किये बिना पृथक् नही हो सकते।

आधुनिक विज्ञान बध के तीन प्रकार मानता है। विद्युत-सयोगी बध स्निग्ध-रूक्षत्व-जन्म बध का ही पर्याय है। द्वयधिकादिगुण-जन्य बध उप-सहयोगी बध का पर्यायवाची है, जिसमे विद्युत-गुण-युग्म सयोग का कारण माना जाता है। तीसरे प्रकार के बध को सह-सयोजक बध कहा जाता है। इसमे समान विद्युतीय परमाणुओ मे अथवा विसदृश परमाणुओ मे एक विद्युत-गुण की साझेदारी सयोग का कारण मानी जाती है। यदि 'गुणसाम्ये सदृशाना बधो भवति' माना जाये, तभी यह तीसरे प्रकार का बध सही बैठता है। यदि यह न भी माना जावे, तो भी आज से बारह सौ वर्ष पूर्व परमाणुओ की वैद्युत प्रकृति की कल्पना और उसके आधार पर परमाणु-सयोगो का निरूपण जैन दार्शनिको की प्रचण्ड तथ्यान्वेषण क्षमता का परिचायक है।

स्थूल रूप मे यह बताया गया है कि अणुओं का निर्माण भेद (वियोजन और अपघटन), सघात (सयोजन) और भेद-सघात नामक तीन प्रक्रियाओ से होता है। इन तीनो को उपर्युक्त तीन प्रकार की सयोजनताओ के अनुरूप प्रदर्शित किया गया है जो तथ्य को अतिरजित रूप मे प्रस्तुत करने के समान है। वस्तुत इस स्थूल निर्माण प्रक्रिया मे वस्तुओ की मूल प्रकृति का कही भी उल्लेख नही मिलता।

अनिश्चायकता और अवक्तव्यवाद

आइन्स्टीन के सापेक्षवाद के सिद्धान्त ने जैन-दार्शनिको के अनेकान्तवाद को पर्याप्त बल प्रदान किया है।
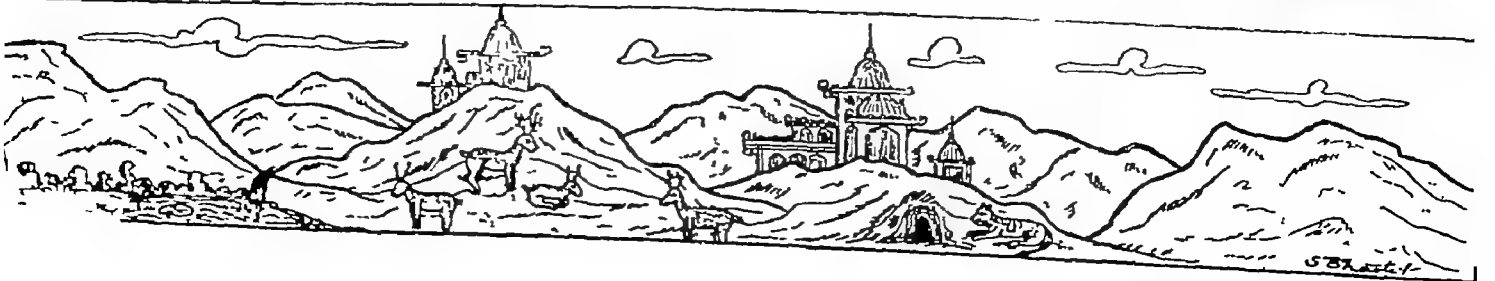
यह सही है कि अनेकान्तवाद की प्रस्तावना दार्शनिक क्षेत्र में तत्त्व-विवेचन के लिए हुई थी, लेकिन वह भौतिक जगत् के मूलरूप की सही व्याख्या प्रस्तुत करने मे सक्षम है। विज्ञान अब यह मानता है कि निरपेक्ष कुछ भी नहीं है, सभी ज्ञान सापेक्ष है। अत सापेक्षता के लिए कुछ मानक स्थिर किये जाते हैं। यह सापेक्षता सामान्य लोक-व्यवहार की सीमा को लाघ कर गणितीय रूप मे सूक्ष्म तथ्यो के विवेचन मे न केवल प्रयुक्त ही की गई है, अपितु इसकी सहायता से बहुत से अव्याख्यात तत्त्वो की व्याख्या भी की जा चुकी है। वस्तुत वैचारिक पद्धति से विकसित अनेकान्तवाद बौद्धों के शून्यवाद एव वैज्ञानिको के सापेक्षवाद से भी श्रेष्ठतर तत्त्वज्ञानोपाय है। दृष्टिकोणो या मानको की सख्या इतनी है कि वस्तु का स्वरूप परस्पर विरोधी धर्म-समागम के रूप मे लक्षित होता है एव निरपेक्ष रूप से उसे निरूपित करना कठिन हो जाता है। इसीलिए अनेकान्त के सात भगों में अवक्तव्यता का समावेश हुआ है।

सापेक्षवाद पर आधारित विज्ञान ने वस्तु के मूल कण—इलैक्ट्रान—के स्वरूप-निर्धारण के सम्बन्ध मे जितने भी प्रयोग किये, उससे उसके अभिलक्षणन की जटिलता ही बढ़ी। उदाहरणार्थ, पहले जहाँ उसे कण माना जाता था, वहाँ वह तरग माना जाने लगा। उसमें कण और तरग दोनो के गुण पाये जाते हैं, अत उसे तरग-कण कहा जाने लगा। इतने पर भी उसका अभिलक्षण नही किया जा सका, क्योकि वह इतना लघु है कि उस पर आँख की पलक मारने का भी प्रभाव पडता है। उसका भार $१०^{-२७}$ ग्राम है और आकार $१०^{-१७}$ से०मी० है। फलत प्रायोगिक दृष्टि से उसका रग, रूप, स्पर्श, स्थिति आदि कुछ भी नही निर्धारित किये जा सकते। अत जर्मन-वैज्ञानिक हीसेनवग ने अनिश्चायकतावाद की प्रस्तावना की, जिसके अनुसार वस्तु का मूल स्वरूप निश्चित रूप से नहीं निर्धारित किया जा सकता। जैनदर्शन का अवक्तव्यवाद इससे आगे जाता है। उसके अनुसार वस्तु को विभिन्न विवक्षाओं से निरूपित किया जा सकता है लेकिन निरपेक्ष रूप से वह अवक्तव्य ही है। उसका सही स्वरूप वचनो की सीमा मे नही आता।

अवक्तव्यवाद के विषय मे जगत् को बहुत कम ज्ञान है फिर भी इसका महत्त्व भौतिकशास्त्र की दृष्टि से बहुत व्यापक है। इस पर यह आरोप लगाया जा सकता है कि एक बार अवक्तव्यत्व के अध्यारोपण से प्रयोग-सरणि की परम्परा मे निराशावाद आ सकता है, लेकिन यह तो अनिश्चायकतावाद पर भी लागू होता है। वस्तुत 'अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति' की विवक्षायें तो प्रयोग-सरणि को प्रोत्साहन ही देती हैं।

अवक्तव्यवाद न केवल भौतिक तत्त्वो पर ही प्रयुक्त होता है, नैतिक मूल्यो की प्रतिष्ठा के लिए भी इसका सामाजिक और राष्ट्रीय उपयोग है। वस्तुत यह सर्व-धर्म-समभाव एव उदार दृष्टिकोण का प्रतीक है। यह एक-दूसरे के प्रति समादर एव सद्भावना को जन्म देता है। ससार के विभिन्न दर्शनो मे, विभिन्न प्रकरणो में, वस्तुओ मे परस्पर विरोधी धर्मों का अस्तित्व तो प्रतिपादित किया गया है, लेकिन ऐसे सहअस्तित्व को जीवन मे उतारने के लिए प्रेरणा नहीं दी गई है। जैनदर्शन इस क्षेत्र मे अकेला ही दीपशिखा का काम करता है।

धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य

बीसवीं सदी की अप्रत्याशित वैज्ञानिक प्रगति के युग में कोई इस बात की कल्पना भी नही कर सकता कि आज जैसे वैज्ञानिक सिद्धान्त पच्चीस सौ वर्ष पूर्व ही विकसित कर लिये गये थे। विश्व मे गति एव स्थिति के माध्यम के रूप मे धर्म और अधर्म द्रव्य की बात इसी कोटि मे आती है। ये माध्यम स्वय निष्क्रिय हैं, अरूपी हैं और शाश्वत हैं लेकिन ये वस्तुओ के गमन और स्थगन मे सहायक होते हैं। वस्तुत वैज्ञानिकों ने देखा कि ध्वनि आदि प्राकृतिक ऊर्जायें किसी न किसी माध्यम में ही चलती हैं, शून्य मे नहीं। लेकिन आकाश मे कुछ ऊँचाई पर जाने के बाद वायु नहीं रहती। वह निर्वात स्थान है। फिर वहाँ कैसे इनका सचलन होगा? इसके लिए एक अक्रिय ईथर माध्यम की कल्पना की गई जो धर्म द्रव्य का अनुरूपी है। इसी प्रकार गुरुत्वाकर्षण एव जडता के सिद्धान्त अधर्म द्रव्य के अनुरूपी है। इन द्रव्यो के अस्तित्व के लिए जल-मछली और छाया-पथिक का दृष्टान्त दिया जाता है जो बहुत ही उपयुक्त है। लेकिन इन दृष्टान्तो से इन द्रव्यो को मूर्तिक नही माना जाता। ये वस्तुत अरूपी और अमूर्त हैं। ये बातें मिलर, माइकोलसन, न्यूटन और आइन्स्टीन के विचारो और प्रयोगों से सत्य सिद्ध हुई हैं। यह सही है कि गति माध्यम के रूप मे ईथर को जिस प्रकार मान्यता मिली है, स्थिति माध्यम के रूप मे गुरुत्वाकर्षण को उतनी स्पष्ट मान्यता नहीं मिली है, फिर भी सापेक्षवादी विचारधारा के अनुसार गुरुत्वाकर्षण ही अधर्म द्रव्य का अनुरूपी हो सकता

है। इस सम्बन्ध मे किये जाने वाले प्रयोग निश्चित स्थिति-माध्यम के अस्तित्व को प्रतिष्ठित करते हैं। वर्तमान मे गति-माध्यम के रूप मे प्रस्तावित ईथरवाद क्वान्टम सिद्धान्त के कारण तेजोहीन होता जा रहा है। इसलिए आज का वैज्ञानिक निश्चित रूप मे इन माध्यमो को स्वीकृति देने मे अपने को असमर्थ पाता है।

आकाश और काल द्रव्य

जैनदर्शन मे प्रतिपादित छ मूल द्रव्यो मे आकाश और काल की भी गणना है। समस्त द्रव्यो को अवगाहन देने वाला आकाश द्रव्य दो प्रकार का है—अन्य द्रव्यविहीन अलोकाकाश और द्रव्य-युक्त लोकाकाश। तिलो मे तेल के समान धर्म-अधर्मादि द्रव्य लोकाकाश मे औपचारिक रूप से व्याप्त रहते हैं। आधुनिक विज्ञान लोकाकाश को तो मान्यता देता प्रतीत होता है लेकिन अलोकाकाश के विषय मे उसका निष्कर्ष नकारात्मक है।

प्रारम्भ मे आकाश द्रव्य को गति-माध्यम के ईथर के समकक्ष मानने की वात चली थी क्योकि उसे भी अमूर्तिक ही माना गया है। लेकिन अव यह स्पष्ट है कि आकाश और ईथर दो अलग द्रव्य हैं। आकाश मे ईथर व्याप्त रहता है। जैन मान्यता के अनुसार आकाश अनन्त है लेकिन लोकाकाश सान्त है। विज्ञान के अनुसार लोक प्रसरणशील होते हुए भी सान्त है और उसके बाहर कुछ नही है। जैन मान्यता मे विश्व की प्रसरणशीलता भी समाहित नही होती। लेकिन यदि प्रसरणशीलता की वात सत्य है, तो आकाश के जिस क्षेत्र मे प्रसरण होता है, वही अलोकाकाश होगा। इस प्रकार आकाश-द्रव्य के सम्बन्ध मे वैज्ञानिक तथ्यो के आलोक मे पुर्नविचार की आवश्यकता है।

व्यवहार और निश्चय के रूप मे काल भी एक स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है। वस्तुत वस्तुओ के उत्पाद, व्यय एव ध्रौव्यत्व का परिचायक काल ही है। अपने दैनिक जीवन मे हम समय के महत्त्व से परिचित हैं। शास्त्रो के अनुसार काल केवल सहकारी कारण है, उपादान या निमित्त नही। यह स्वय अक्रिय, अनेक एव अपरिणामी है। अमूर्त होने के वावजूद भी लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश मे काल-परमाणु विद्यमान है। एक परमाणु दूसरे परमाणु के समीप जाने मे जितना समय लेता है, वह काल का यूनिट कहलाता है। वस्तुत कई दर्शनो और दार्शनिको ने काल को स्वतन्त्र द्रव्य नही माना है, वह सूर्य-चन्द्रादि की गति पर आधारित एक व्यवहार है। भूत, भविष्य और वर्तमान भी व्यवहार मात्र हैं। लेकिन जैन मान्यता काल को ऊर्ध्वप्रचयी आयाम के रूप मे निरपेक्ष रूप मे स्वीकृत करती है। चार आयामों के विश्व में चौथा आयाम काल ही माना गया है। वैज्ञानिक दृष्टि से काल की द्रव्य रूप मे सत्ता स्वीकार नही की जाती, यद्यपि सभी प्रकार के व्यवहारो मे काल के उपयोग के विना काम नही चलता। 'कालाणु' की वात तो और भी जटिल प्रतीत होती है। वस्तुत निश्चय काल को मान्यता नही है, व्यवहार काल को अवश्य ही मान्यता प्राप्त है। काल-द्रव्य सम्बन्धी समस्त विवरण के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा सही निष्कर्ष निकालने की वडी आवश्यकता है। यह अध्ययन इसलिए भी आवश्यक है कि श्वेताम्बर परम्परा मे काल द्रव्य के स्वतन्त्र अस्तित्व पर विवाद है।

जीव-विज्ञान

त्रिलोक प्रज्ञप्ति के अनुसार चौरासी लाख योनियो मे एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक जीव पाये जाते हैं। विज्ञान सभी योनियो या स्पीशीज की सख्या वीस लाख तक ला पाया है। कुछ लोगों ने स्पीशीज की सख्या एक करोड तक होने का अनुमान किया है। इससे अधिक योनियाँ वनस्पतिकायिको की मानी गई हैं।

जीव को दो प्रकार से अभिलक्षणित किया गया है—पौद्गलिक और अपौद्गलिक। पौद्गलिक लक्षणो मे असख्यात प्रदेशिकता, गतिशीलता, परिवर्तनशीलता, देहपरिमाणकता, कर्म-बध और नानात्व समाहित है। अभौतिक लक्षणों मे अविनाशित्व, अमूर्तत्व और चैतन्य का समावेश है। आधुनिक विज्ञान सभी भौतिक लक्षणों को स्वीकार करता है और वह तो चैतन्य को भी भौतिक ही मानता प्रतीत होता है। उसका कारण यह है कि रूस, अमरीका ब्रिटेन और इटली के वैज्ञानिको ने प्रयोगशालाओ मे जीवित कोशिकाओ का सश्लेषण कर लिया है और उनके विकास व विनाश की सारी प्रक्रिया का सूक्ष्म निरीक्षण किया है। परखनली मे तैयार किये जाने वाले जीवो से भी चैतन्य की भौतिकता सत्यापित होती दिखती है। वस्तुत ऐसा प्रतीत होता है जैसे चैतन्य एक प्रकार की क्रान्तिक ऊर्जा हो जो जीवन की जटिल सरचना के फलस्वरूप उत्पन्न होती हो। जीवन की प्रक्रिया अगणित भौतिक एव रासायनिक प्रक्रियाओ
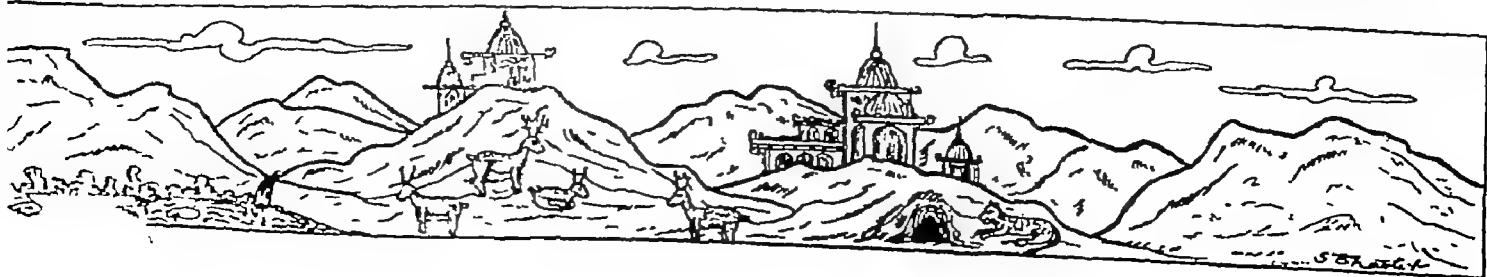
का समुच्चय है जिनमे आवश्यक ऊर्जा उत्पन्न होती है। बहुत से वैज्ञानिक अपने द्वारा अन्वेषित इन तथ्यो पर स्वय भी स्तब्ध हैं, क्योकि उन्हे चैतन्य की भौतिकता पर विश्वास नहीं हो पा रहा है। यही नहीं, चैतन्य का अमूत अस्तित्व प्रमाणित करने के लिए अमरीका ने एक करोड रुपयो के पुरस्कार की घोषणा भी अभी हाल मे की है।

चैतन्य भौतिक हो या अभौतिक, लेकिन वह जीवन का एक लक्षण माना जाता है। चैतन्य का विकास क्रमिक होता है और मानव सबसे उन्नत चेतन प्राणी है। चौदह कुलकरो का प्रकरण पढने पर यह ज्ञात होता है कि ससार मे जीवन क्रमश विकसित हुआ है। परिस्थितियो के अनुरूप विभिन्न प्रकार के प्राणियो ने भूतल पर अवतार पाया है। विज्ञानियो का विकासवादी सिद्धान्त भी यही प्रदर्शित करता है। जैन-ग्रन्थो मे निरूपित प्राणी और पर्याप्तियों का स्वरूप भी विकासवाद से मेल खाता है।

पचेन्द्रिय जीवो को समनस्क और अमनस्क के रूप मे दो प्रकार का बताया जाता है। वस्तुत मन मस्तिष्क का कार्य है। यह देखा गया है कि प्राय एकेन्द्रिय जीवो के मन नहीं होता, लेकिन अन्य जीवो मे विभिन्न अवस्थाओ मे मस्तिष्क पाया जाता है। फलत विकलेन्द्रिय एव पचेन्द्रिय सभी जीव समनस्क होते हैं, केवल एकेन्द्रिय ही असज्ञी और अमनस्क होते हैं। वस्तुत वैज्ञानिक यह मानते हैं कि इद्रिय और मन का विकास युगपत् ही होता है। जिन जीवों की इद्रियाँ जितनी ही विकसित होगी, उनका मन भी उतना ही विकसित होगा।

जीवो की आयु के विषय मे शास्त्रो मे बहुत चर्चा की गई है। प्रत्येक जीव आयु पूण होने पर मृत्यु को प्राप्त होता है। वस्तुत यह जीव की मृत्यु नही, अपितु शरीर का नाश है। जैनदर्शन के अनुसार जीव तो अनादि अनन्त है। शरीर धारण के कारण उसम पर्यायान्तर मात्र होते रहते हैं। वैज्ञानिक लोग अभी तक जीवन को सादि और सात मानते रहे हैं। लेकिन आनुवशिकता की समस्या ने उसको परेशान कर रखा था। नवीन अनुसधानो से पता चला है कि जीवन तत्त्व की कुछ कोशिकायें प्रजनन-प्रक्रिया में अगली पीढ़ी को बीज रूप मे मिलती हैं। ये उत्तरोत्तर विकसित होकर उत्तरोत्तर पीढ़ियो मे भी जाती हैं। क्या इन स्थानान्तरणीय कोशिकाओ को जैनमत में वर्णित सूक्ष्म-सस्कारी कर्म-परमाणु माना जा सकता है? कर्म-परमाणु भी कोशिकाओ के समान पौद्गलिक होते हैं। शास्त्रो मे इन्हें इद्रिय अग्राही होने से अदृश्य एव अति सूक्ष्म कहा गया है लेकिन सूक्ष्मदर्शियो से इन्हे देखा जा सकता है या नही, यह विचारणीय है और कोशिकायें तो दृश्य हैं। यदि कर्म-परमाणुओ को तरग-कणिकता की सीमा मे रखा जावे, तो उत्तेजनशीलता के कारण होने वाले परिस्पन्द जीव के साथ सयोग-वियोग का कारण बन सकते हैं। विज्ञान के अनुसार अतीन्द्रिय ज्ञान उक्त कोशिकाओ के फलस्वरूप ही सम्भव होता है। फलत साधारण शरीर की तुलना में आनुवशिक शरीर दीर्घकालिक होता है लेकिन यह दीर्घकाल अनत नहीं है।

जैनदर्शन का नीतिशास्त्र

प्राय सभी विद्वान यह मानते हैं कि धर्मों का प्रमुख लक्ष्य जीवन मे नैतिक गुणो का विस्तार करना है। इन गुणो मे ही व्यक्तित्व का पूण विकास होता है और उत्तम सुख प्राप्त होता है। धर्म को समग्र जीवन के समस्त अगो की पद्धति मानने के कारण धर्मानुयायियों के जीवन में पर्याप्त दुरूहता आ गई है। जीवन के सभी अगो मे बीज रूप मे धर्म सूत्र पिरोया रहे, यह बात सही है, पर जीवन गौण हो जावे और धर्म प्रमुख हो जावे, यह मानकर चलना ससारी जीवो के लिए बडी समस्या रही है। यह सही है कि जीवन के शुभोपयोग के लिए ही धर्म का महत्व है। भूगोल-खगोल आदि के ज्ञान का धम से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है। शुभोपयोग के लिए जहाँ एक ओर विचारो की उत्तमता एव सार्वभौमिकता अपेक्षित है, वहीं दूसरी ओर तदनुरूप प्रवर्तन भी उससे अधिक महत्त्वपूर्ण है। फलत धर्म का प्रथम लक्ष्य स्व या व्यक्ति ही है। जो अपने विकास से अन्य व्यक्तियो या समाज को विकसित करने मे सहायक होता है। सपुष्ट विचार ही क्रिया को प्रेरित करते हैं। फलत नैतिक जीवन की आधारशिला के रूप मे बौद्धिक विचार-सरणि ही प्रमुख है। इस विचार-सरणि के क्षेत्र मे जैनदर्शन का अनूठा स्थान है इसे विश्व के विभिन्न दार्शनिको ने भी स्वीकृत किया है। यह अत्यत युक्तियुक्त और मनोवैज्ञानिक है। इसमे पर्याप्त समीचीनता है।

जैनधर्म का सर्वोदयी भव्य प्रासाद अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह के शक्तिशाली स्तम्भो पर खडा किया गया है, जो गणितीय रूप मे निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

उत्तम जीवन = अहिंसा + अनेकान्त + अपरिग्रह = $अ^3$

इस सूत्र का फलितार्थ यह है कि जीवन के तीन कार्यकारी अग हैं—मन, वचन और काया। इन तीनो की एकरूप परिणति साधक जीवन प्रदान करती है। विचारो मे अहिंसा, वचनों मे परस्पर विरोधी समागम की वाणी और क्रियाओं मे स्वावलम्बनमूलक समुचित रूप से नियन्त्रित प्रवृत्तियाँ, एक दूसरे की पूरक और ससाधक हैं। इन तीनो से जीवन मे जो पूर्णता आती है, वह इनके योग के बराबर नही, अपितु गुणनफल के बराबर होती है, क्योकि पूणता सामान्य योग से कई गुणी होती है। जैनधर्म का कमवाद मन, वचन, काय की प्रवृत्तियो पर ही आधारित है। इन प्रवृत्तियो से जो परिस्पन्द होते हैं, उनसे कर्म-परमाणुओं का आस्रव व बध होता है। इद्रिय, कषाय और अव्रतो से उत्पन्न होने वाली दर्शन स्पशनादि पच्चीस प्रकार की प्रवृत्तियाँ ही ससार के शुभाशुभ रूपो को प्रदर्शित करती है। अशुभ प्रवृत्तियो को कम करने या नियन्त्रित करने के लिये अहिंसा आदि व्रतो एव वाह्य एव आभ्यन्तर तपो की प्रक्रिया अपनाई जाती हैं। वस्तुत ये प्रक्रियायें शरीर शुद्धि के माध्यम से भाव शुद्धि करती हैं और जीवन मे उदारता एव समता के भाव विकसित करती हैं। 'तत्त्वार्थसूत्र' के अन्तिम पाच अध्यायो मे जीवन के नैतिक विकास के बाधक एव साधक कारणो का सागोपाग विवरण देखकर सहज ही पता चलता है कि जैनदर्शन मे इस प्रक्रिया को कितने सूक्ष्मतम धरातल से विचार कर व्यक्त किया गया है। इस विवरण मे भक्ति, ज्ञान एव कर्म की त्रिवेणी के सगम मे व्यक्ति स्नान करता है और जीवन को कृतकृत्य बनाता है।

जीवन के नैतिक विकास मे कर्मवाद व्यक्ति को स्वावलम्बी बनाता है और अनेकातवाद उसे उदार और सवधर्म-समभावी बनाता है। अपरिग्रहवाद व्यक्ति को इस प्रकार के प्रवर्तनो के लिए प्रेरित करता है जो समाज के सुख, समृद्धि व विकास के हित मे हो। अपनी आवश्यकताओ को समाज के स्तर के अनुरूप सीमित रखना ही सच्चा अपरिग्रहवाद है। इस प्रकार जैनधर्म की विचार-सरणि व्यक्ति के सवतोमुखी विकास को प्रतिबिम्बित करती है जिमसे अभिनवतम सिद्धान्तो के दशन होते हैं। वस्तुत विश्व सघ का आदर्श लक्ष्य इन्ही तीन अकारो पर आधारित है।

नये चिन्तन की आवश्यकता

यह प्रश्न स्वाभाविक है कि ऐसे श्रेष्ठतर विचार-सरणि से अनुस्यूत धर्म के अग के रूप मे उन बातो का सामजस्य कैसे होता है जो प्रयोगसिद्ध नही बन सकी हैं। इसके उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि धर्म-ग्रन्थो में नैतिक विचार और प्रक्रियाओं के अतिरिक्त जिन अन्य बातो का विवरण है, उसका समावेश धर्म की प्रतिष्ठा एव महत्त्व को बढाने के लिए किया गया होगा। वैज्ञानिक युग मे धार्मिक आस्था को दृढ़ बनाने एव मानव को नैतिक मूल्यो के प्रति जागरूक बनाये रखने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि इस बात को स्पष्ट रूप से कहा जावे कि नैतिक प्रक्रिया के अतिरिक्त अन्य चर्चायें धर्म की अग नही हैं। वे केवल तत्कालीन ज्ञान को प्रदर्शित करती हैं और प्रसगवश ही धर्मग्रन्थो का अग बन गई हैं। आज आधुनिक परिवेश मे धर्मग्रन्थो के विवेचन की आवश्यकता है, जिनमे जीवन-विकास के सिद्धान्तो का निरूपण हो। ऐसा होने पर ही आज के व्यक्ति और समाज मे धर्म के प्रति अभिरुचि उत्पन्न हो सकेगी।

●●

नोट—लेख मे चर्चित सभी प्रश्नो एव विचारो से सम्पादक मण्डल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। स्वतन्त्र चिन्तन के क्षेत्र मे लेखक का आह्वान मननीय है।
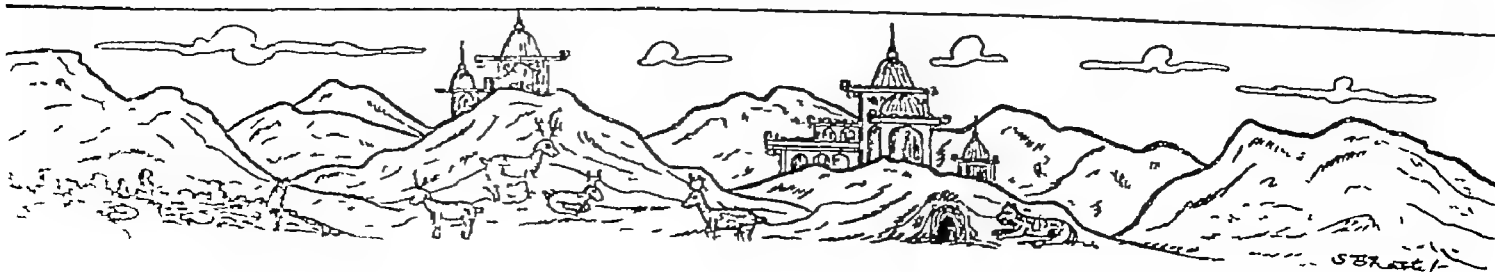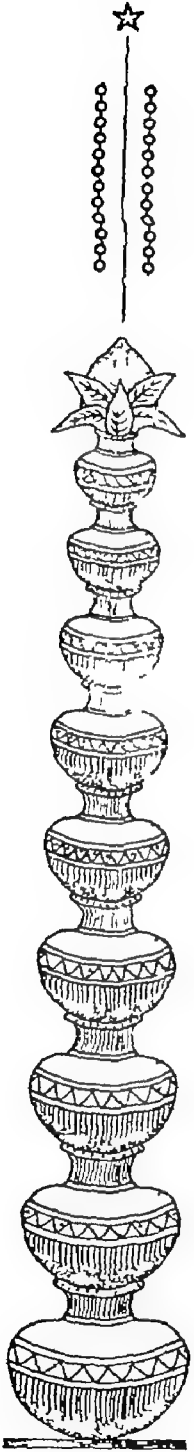
स्याद्वाद का अर्थ है —सत्य की खोज।
स्याद्वाद का फलित है—समन्वय।

□ श्री दलसुख भाई मालवणिया
[अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त जैन विद्या के मनीषी]

स्याद्वाद का सही अर्थ

□

भारत मे अनेक दर्शन हैं। वस्तु के दर्शन के जो विविध पक्ष है, उन्ही को लेकर ये दर्शन उत्थित हुए हैं। जब इनका उत्थान होता है, तो किसी खास दृष्टि या आग्रह को लेकर होता है। यदि यह दृष्टि या आग्रह कदाग्रह का रूप ले ले तब ही इन्हे मिथ्या कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं। अन्य दृष्टि को मिथ्या कहने का प्रघात प्राय सभी दर्शनो मे देखा जाता है। जैनो ने भी, अनेकातवादी दर्शन होते हुए भी "तमेव सच्चं ज जिणेहिं पवेइयं" यह उद्घोष किया। तब उसमे भी अन्य दर्शनो को मिथ्या बताने की सूचना छिपी हुई है, ऐसा लगेगा। किन्तु वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो इस उद्घोष मे भी अन्य दर्शनो को एकातिक रूप से मिथ्या बताना यह अनेकातवादी दर्शन के लिये असम्भव होने से उसका तात्पर्य इतना ही करना पड़ेगा कि यदि अन्य दर्शन अपनी बात का एकातिक आग्रह रखते हैं तब ही वे मिथ्या होते हैं। यदि वस्तु दर्शन के एक पक्ष को उपस्थित करते हैं तब वे मिथ्या नही होंगे। नय के अन्तर्गत होंगे। इसी वजह से नय और दुर्नय का भेद किया गया है। सत्य सम्पूर्ण रूप से भाषा मे व्यक्त नहीं किया जा सकता। उसके किसी अश को ही भाषा व्यक्त कर सकती है। यही कारण है कि सर्वज्ञ सब कुछ जानकर भी उसके अश को ही भाषा में व्यक्त कर सकते हैं। इसीलिये किसी की बात को मिथ्या कह देना बड़ा अपराध होगा और अनेकातवादी तो वैसा करेगा नही। अतएव "तमेव सच्चं" इस वाक्य का अर्थ करने मे कदाग्रह करके जैनधर्म को ही सत्य मानना और अन्य सभी दर्शन और धर्मों को मिथ्या मानना यह जैन विचारधारा के, अनेकात विचारधारा के सर्वथा विपरीत है और केवल कदाग्रह का परिणाम है। उस कदाग्रह से जैनो के लिये बचना अनिवार्य है। अन्यथा वे अनेकातवादी हो नही सकते।

इसी दृष्टि से आचार्य जिनभद्र ने "तमेव सच्चं" यह मानकर भी कहा कि ससार मे जितने भी मिथ्यादर्शन हैं, उनका जोड ही जैनदर्शन है। यदि ये तथाकथित मिथ्यादर्शन सर्वथा मिथ्या होते तो उनका जोड सम्यग्दर्शन कैसे बनता? अतएव मानना यह आवश्यक है कि तथाकथित मिथ्यादर्शन सर्वथा मिथ्या नही, किन्तु कदाग्रह के कारण ही मिथ्या कहे जा सकते हैं। उनकी बात का जो सत्याश है, उन्हीं का जोड पूर्ण सत्य होता। मिथ्या को भी सत्य बनाने वाली यह दृष्टि स्याद्वाददृष्टि है, अनेकातदृष्टि है। यही दर्शनों की सजीवनी है, जो मिथ्या को भी सत्य बना देती है।

तात्पर्य इतना ही है कि सत्य की ओर ही दृष्टि जाये, मिथ्या की ओर नही। तब सर्वत्र सत्य ही सत्य नजर आयेगा और मिथ्या ही ढूँढ़ते जायेंगे तो सर्वत्र मिथ्या ही मिलेगा। हमे अनेकातवादी होना हो तो हमारी दृष्टि सत्यपरक होनी चाहिए। गुण और दोष तो सर्वत्र रहते हैं। गुण देखने वाले की दृष्टि में गुण आयेगा और दोषदर्शी को दोष ही दिखेगा। अतएव मिथ्यादर्शन से बचना हो तो स्याद्वाद की शरण ही एकमात्र शरण है। अतएव हमे सत्य की खोज मे प्रवृत्त होने की आवश्यकता है। यह प्रवृत्ति ऐसी होगी, जिसमे विवाद का कोई प्रश्न ही नहीं होगा, समन्वय ही समन्वय दिखेगा। जीवन मे यदि समन्वय आ जाए तो व्यावहारिक और पारमार्थिक दोनों जीवन की सफलता सुनिश्चित है।

☆☆

□ डा० अमरनाथ पाण्डेय एम ए, डी फिल
[अध्यक्ष, सस्कृत-विभाग,
काशी विद्यापीठ, वाराणसी]

अनेकान्त एक बौद्धिक व्यायाम नहीं है, वह समता का दर्शन है। समता के बीज से ही अहिंसा का कल्पवृक्ष अकुरित हुआ है। अत अनेकान्तदर्शन एक जीवत अहिंसा-समता का दर्शन है। विद्वान दार्शनिक डा० पांडेय की सार पूर्ण शब्दावली मे पढिए।

अनेकान्तदर्शन—अहिंसा की परमोपलब्धि

□

जैनदर्शन मे आचार का विशेष महत्त्व रहा है, इसीलिए जीवन मे अहिंसा के पालन का उपदेश स्थल-स्थल पर विन्यस्त किया गया है। जैन मुनियो के जीवन मे अहिंसा व्याप्त रही है। उन्होंने अहिंसा की सूक्ष्म व्याख्या की है और उसके सभी पक्षो का सम्यक् उन्मीलन किया है। सारी परिस्थितियो के समाधान के लिए अहिंसा के मार्ग का निर्देश किया गया है।

मनुष्य जो काम शरीर से नहीं करता, उसके सम्बन्ध मे भी चिन्तन करता रहता है। मन मे अनेक प्रकार के सकल्प-विकल्प उठते हैं, जिनसे हम आदोलित होते रहते हैं। हमारा चित्त सदा अशात रहता है। ऐसा क्यो है? हमारे जीवन मे अनेक सम्बन्ध हैं। उनका प्रभाव हमारे चित्त पर पडता है। प्रभाव के कारण चित्त मे हलचल होती है। इससे चित्त का शात, गम्भीर स्वभाव विकृत होता है। ऐसी स्थिति में चित्त अपनी निर्मल-शात प्रकृति मे समाहित नही रहता। यही कारण है कि हम परम शाति का दर्शन नही कर पाते।

साधक प्रयत्न करता है कि उसका जीवन ऐसा हो जाय कि उसके मानस का निर्मल स्वरूप विकृत न हो। उसका मन अगाध शात सागर की भाँति अवस्थित हो। इस स्थिति की प्राप्ति के लिए निरन्तर साधना करनी पडती है। अहिंसा का सम्बल लेकर चलने वाला साधक अपने लक्ष्य तक पहुँचता है। अहिंसा का स्वरूप बडा ही सूक्ष्म है। इसके सभी परिवेशो को समझना पडता है। कोई किसी जीव को पैर से दबा देता है, कोई किसी पशु को पीट देता है, कोई किसी के शरीर पर प्रहार करता है, कोई किसी की हत्या कर देता है—इस प्रकार की अनेक हिंसायें होती रहती हैं। इनसे हिंसक का चित्त आदोलित होता है, चित्त का शात-निर्मल स्वभाव विकृत हो जाता है। जितनी बार इस प्रकार की घटनायें होती हैं, उतनी बार चित्त पर उसी प्रकार के प्रभाव पडते हैं। इससे हिंसक के जीवन मे भय, हलचल, उद्वेग आदि व्याप्त हो जाते हैं। मुनियो ने इन सारे प्रसङ्गों का आकलन किया और घोषणा की कि अहिंसा जीवन का लक्ष्य है। अहिंसा के पथ पर चलने वाला साधक पहले बडी कठिनाई का अनुभव करता है। वह धीरे-धीरे उन सभी कर्मों से विरत होने का प्रयत्न करता है, जिनसे किसी भी जीव की किसी प्रकार की क्षति होती है। व्यक्ति मे उस समय क्रोध उत्पन्न होता है, जब कोई उसे धक्का दे देता है या उसके लिए अपशब्द का प्रयोग करता है। वह धक्का देने वाले व्यक्ति को धक्का देना चाहता है या अपशब्द का प्रयोग करने वाले व्यक्ति के लिए अपशब्द का प्रयोग करना चाहता है। यदि व्यक्ति इन कार्यों से विरत रहे, तो अहिंसा का प्रारम्भ हो जाता है। उद्वेजक प्रसङ्गों से चित्त में किसी प्रकार का विकार नहीं उत्पन्न होना चाहिए। जब कर्म, वचन और मन इन तीनों मे अहिंसा की प्रतिष्ठा होती है, तभी अहिंसा का सच्चा स्वरूप प्रस्तुत होता है। कर्म की अहिंसा से वचन की अहिंसा सूक्ष्म है और वचन की अहिंसा से मन की अहिंसा सूक्ष्म है। मनुष्य प्राय ऐसे वचन का प्रयोग करता रहता है, जिससे किसी की हानि हो जाती है, किसी का मन खिन्न हो जाता है। यह भी हिंसा है। इसी प्रकार मनुष्य जब मन मे सोचता है कि किसी की हानि हो जाय, तब मानसिक हिंसा होती है। आचार्यों ने हिंसा के इन पक्षों पर विचार किया और बार-बार चेतावनी दी है कि हिंसा न कर्म में आये, न वचन मे और न मन मे ही। जीवन में कर्म की हिंसा के प्रसङ्ग कम होते हैं, वचन और मन की हिंसा के प्रसङ्ग अनेक। मनुष्य प्रतिदिन वाचनिक और मानसिक हिंसा करता है। वह किसी को डाँटता है, किसी के लिए अपशब्द का प्रयोग
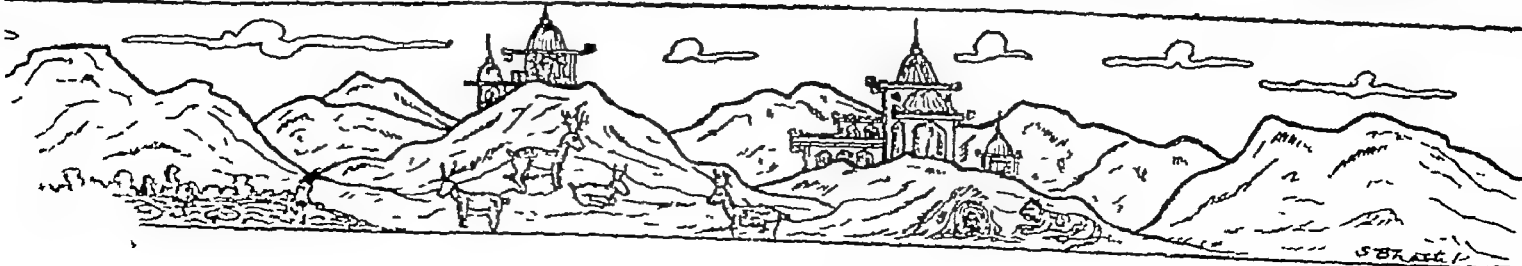
करता है, किसी के विचारो का खण्डन करता है, मन मे द्रोह चिन्तन करता है, दूसरो को क्षति पहुँचाने के उपायों की खोज करता रहता है। इससे हिंसा व्याप्त होती है और समाज पीडित होता है। मनुष्य अपने वचन से दूसरे का प्रीणन-आह्लादन करे और मन मे मानव कल्याण की भावना करे। यही सन्तो की दृष्टि है, उनकी वाणी का अमृतद्रव है।

'स्याद्वाद' से वचन-शुद्धि और 'अनेकांतदशन' से मानस-शुद्धि होती है। मैं जो कह रहा हूँ, वही सत्य है और दूसरा जो कहता है, वह सत्य नही है, यह दृष्टि तात्त्विक नही है। हमे वस्तु के जो धम दिखायी पडते हैं, उन्ही के आधार पर हमारा निणय होता है। यत वस्तु के अनन्त धर्म हैं और उनमे से कुछ को ही हमने देखा है, अत वस्तु के सम्बन्ध मे हमारी धारणा विशेष परिधि मे सत्य है। दूसरे ने वस्तु के जिन धर्मों को देखा है, उनके आधार पर अपनी धारणा बनायी है, अत उसकी धारणा भी विशेष स्थिति मे सत्य है। अनेकातदशन से मानसशुचिता—अहिंसा की सप्राप्ति होती है, अत अनेकातदशन मे अहिंसा की चरम परिणति है।

अनेकांतदर्शन और जीवन

अनेकातदृष्टि का सम्बन्ध जीवन से है। जीवन की सारी समस्याओ और हलचलो की विभावना के बाद ही इस दृष्टि का उदय हुआ है। अनेकातदशन को केवल चिंतन के स्तर पर रखना भ्रम है। यह जीवन के विषय मे निमल दृष्टि है। इसको जीवन से मिलाकर संवारना पडेगा। जब अनेकातदृष्टि से निर्मित जीवन का साक्षात्कार होगा, तभी अनेकातदृष्टि सार्थक होगी, उसकी सभी आकृतियो की स्पष्ट रूपरेखा अङ्कित की जा सकेगी। अनेकातदृष्टि जब तक जीवन मे उतरेगी नही, तब तक वह अरूप रहेगी। यह जीवनदृष्टि जब कम के धरातल पर आती है, तब कुछ क्षेत्रो को प्रभावित करती है, जब वचन के धरातल पर आती है, तब उससे अधिक क्षेत्रो को प्रभावित करती है, जब मानस के धरातल पर आती है, तब सारा विश्व प्रभावित होता है। मन मे सभी के विचारो के प्रति सद्भाव, सभी प्राणियो के प्रति मङ्गल-भावना के उदय से दिव्य आलोक फैलता है। इसका अभ्यास करके इसके परिणामो को देखा जा सकता है। यदि किसी शत्रु के कल्याण के लिए मन मे चिन्तन किया जाय, तो वह मित्र के रूप मे परिणत हो जाता है। साधको ने अपने जीवन मे इसे उतारा है।

अनेकान्तदर्शन और मानव-कल्याण

अनेकान्तदशन मे जो उत्कृष्ट रहस्य सन्निहित है, वह है मानव का परम कल्याणसाधन। दूसरे के विचारो की अवहेलना से अनेक समस्यायें उत्पन्न होती हैं। विश्व मे अनेक वाद प्रचलित हैं और प्रत्येक वाद की घोषणा है कि केवल उसी से मानव का कल्याण हो सकता है। इन वादो के समर्थको मे सघर्ष उत्पन्न होता है। एक वाद का समर्थक दूसरे वाद को तुच्छ समझता है और उसे वर्तमान सन्दर्भ मे अनुपादेय बताता है। इस प्रकार पारस्परिक सघर्ष से व्यक्ति-व्यक्ति मे, समुदाय-समुदाय मे, राष्ट्र-राष्ट्र मे दरारें पड जाती हैं। इससे बडी भयकर स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिससे मानव का बहुत बडा अहित होता है, पृथ्वी हिंसा का केन्द्र बन जाती है।

यह बात निश्चित ही निवेदनीय है कि किसी दर्शन के किसी वैशिष्ट्य के कारण समाज मे परिवर्तन नही हो सकता। समाज के लिए आधार प्रस्तुत किया गया है। व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह निर्दशित माग का अनुगमन करे।

अनेकान्तदशन मे मानव-कल्याण की भावना निहित है। इससे मानससमता की भूमि का उदय होता है। जब मन मे भावना स्थिर हो जाती है कि वस्तुओ के अनन्त धम हैं, तब मनुष्य मे दूसरे के विचारो के प्रति सद्भावना का उदय होता है। दूसरे के मन की अनुभूतियो को ठीक समझ लेने पर वाणी के द्वारा उसका खण्डन नही होगा और न उसके विपरीत कार्य। मन के दूषित हो जाने से वचन दूषित हो जाता है और फिर उससे कम दूषित हो जाता है। इससे सारे राष्ट्र मे दूषण व्याप्त हो जाता है। मानस-समता की सम्प्राप्ति से वचन-समता की सम्प्राप्ति होती है और वचन-समता की सम्प्राप्ति से कम-समता की सम्प्राप्ति। फिर विघटन होगा क्यो ?

अनेकान्तदशन के रूप मे जैनदशन की देन प्रशसनीय है। जिस दृष्टि से जैनदशन मे अनेकान्तदशन का स्वरूप रखा गया है, उसी दृष्टि से उसके सम्बन्ध मे विचार करना चाहिए। सबमङ्गलकामना, शान्ति की स्थापना के मूल का अन्वेषण किया गया है। यह मूल अनेकान्तदशन है। इसकी सारी भङ्गिमाओ को समझना चाहिए और फिर प्रयत्न करना चाहिए कि जीवन मे उसकी परिणति हो। तकजाल से अनेकान्तदशन की व्याप्ति को नहीं समझा जा सकता। मेरी दृष्टि मे इसको समझने के लिए आधारभूत तत्त्व हैं—श्रद्धा, मङ्गलकामना, दया आदि।

☆☆

☐ श्री श्रीचंद गोलेचा
☐ श्री कन्हैयालाल लोढा एम० ए०

गहन-गम्भीर जैन तत्त्वविद्या को समझने की कुंजी है—'नय'। विभिन्न दृष्टियों से वस्तुतत्त्व के परीक्षण की यह विद्या जैन आगमों मे पूर्ण विकसित हुई है। अनुयोग-द्वार एवं षट्खडागम के आधार पर नय का विवेचन यहाँ प्रस्तुत है।

आगमकालीन नय-निरूपण

☐

जैनदर्शन मे श्रुतज्ञान को समझने-समझाने की विशेष विधा है। इस विधा का निरूपण करने वाला आगम कालीन शास्त्र अनुयोगद्वार है। इसमे उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय इन चार अनुयोगो द्वारा 'श्रुत' के अभिप्राय को यथार्थ रूप मे समझने की विधि का विशद रूप से वर्णन है।

इन चार अनुयोगो मे निक्षेप और नय का वर्णन मुख्य रूप से केवल अनुयोगद्वार सूत्र मे ही पाया जाता है और इनका उपयोग मुख्य रूप से षट्खडागम मे हुआ है। भाषा को समझने के लिए कोष और व्याकरण का जो स्थान है, वही स्थान श्रुत (आगम) को समझने के लिए निक्षेप और नय का है।

अनुयोगद्वार और षट्खडागम के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'नय' शब्द अर्थात् वाच्य द्वारा प्रतिपादित 'अर्थ' की अवस्था का वास्तविक व निश्चयात्मक ज्ञान कराने का साधन मात्र है। यह अवस्था द्रव्य, गुण, क्रिया और पर्याय मे से किसी से भी सम्बन्धित हो सकती है।

प्रस्तुत लेख मे अनुयोगद्वार एव षट्खडागम इन्ही दो ग्रन्थो के आधार से नय के स्वरूप का विचार किया जाता है।

'अनुयोगद्वार' मे सात नयो का विधान है। परन्तु मुख्यतया पाँच ही नयो का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार षट्खडागम में भी इन्ही पाँच नयो के आधार पर ही वर्णन है। शब्द नय के दो भेद समभिरूढ तथा एवभूत नय का इसमे कही नाम भी नहीं आया है। किन्तु इसमे कोई सैद्धान्तिक अन्तर नही है। कारण कि इन दोनों नयो का समावेश शब्द नय मे ही हो जाता है। 'तत्त्वार्थसूत्र' मे भी इन्ही पाँच नयो का उल्लेख है।

अनुयोगद्वार मे सात नय इस प्रकार हैं—१, नैगम नय, २ सग्रह नय, ३ व्यवहार नय, ४ ऋजुसूत्र नय, ५ शब्द नय, ६ समभिरूढ नय और ७ एवभूत नय।

नैगम नय—वह कथन जिससे एक से अधिक रूपो, अवस्थाओ का बोध हो अर्थात् शब्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ जहाँ भेद-प्रभेद को लक्षित करता हो। जहाँ किसी भी द्रव्य, गुण, क्रिया के भेद-उपभेद का अभिप्राय लक्षित हो।

सग्रह नय—वह वर्णन जिससे अनेक रूपो, अवस्थाओ का एकरूपता मे कथन हो अर्थात् अपने वर्ग रूप मे अर्थ का प्रतिपादन करता हो। द्रव्य, गुण, क्रिया, पर्याय आदि के अनेक रूपो या भेदों के समूह का अभिप्राय लक्ष हो।

व्यवहार नय—वह कथन जिसका बोध किसी अन्य के आश्रय, अपेक्षा, आरोप से सम्बन्धित होने से प्रयास पूर्वक हो।

ऋजुसूत्र नय—वह कथन जिसका आशय सरलता से अनायास समझ मे आ जावे। अर्थात् कथन का लक्ष्य सरल सहज अवस्था मे हो।

शब्द नय—वह कथन जिसमे शब्द के अर्थ की प्रधानता से बोध हो।

समभिरूढ नय—वह कथन जिसमे शब्द का अर्थ किसी विशेष रूप, व्यक्ति, वस्तु आदि मे रूढ हो।
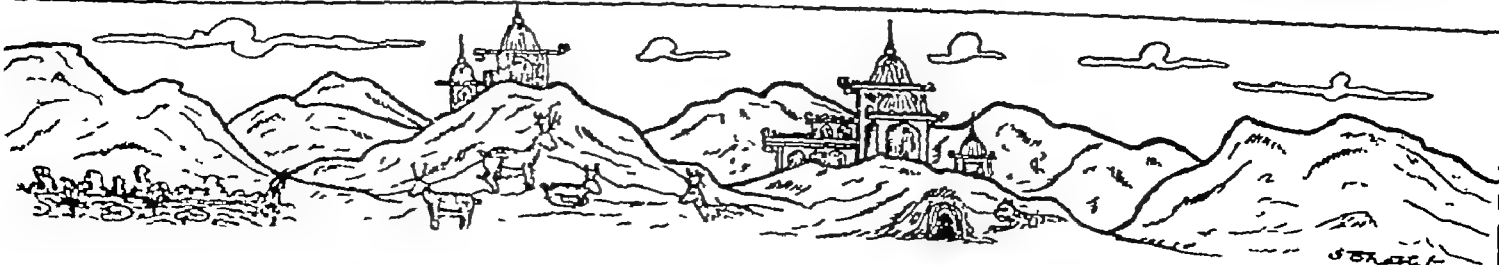
एवभूत नय—वह कथन जिसमे शब्द के अर्थ के अनुरूप क्रिया भी हो।

प्रथम चार नय प्रधानत रूप या वस्तु की अवस्था पर आधारित होने से द्रव्यार्थिक नय कहलाते हैं और अन्तिम तीन नय शब्द के अथ अर्थात् भाव या पर्याय पर आधारित होने से भावार्थक या पर्यायार्थिक नय कहे जाते हैं।

सक्षेप मे कहा जा सकता है कि १ वस्तु का अनेक भेदोपभेद रूप कथन नैगम नय है। २ वग रूप कथन सग्रह नय है। ३ उपचरित कथन व्यवहार नय है। ४ विद्यमान यथारूप कथन ऋजुसूत्र नय है। ५ शब्द के अथ के आशय पर आधारित कथन शब्द नय है। ६ शब्द के व्युत्पत्तिरूप अर्थ का सीमित अथवा किसी रूप विशेष का द्योतक कथन समाभिरूढ नय है और ७ शब्द के व्युत्पत्तिपरक अर्थ का अनुसरण करने वाला एवभूत नय है।

प्रथम यहाँ अनुयोगद्वार सूत्र मे नय के निरूपण हेतु आए तीन दृष्टान्त—१ प्रस्थक, २ वसति एव ३ प्रदेश को प्रस्तुत करते हैं।

१ प्रस्थक का दृष्टान्त

नैगम नय—कोई पुरुष प्रस्थक (अनाज नापने का पात्र) बनाने को लकडी लाने के लिये जाने से लेकर प्रस्थक बनाने की सब क्रियाओ को 'मैं प्रस्थक बनाता हूँ', ऐसा कहकर व्यक्त करता है। यहाँ प्रस्थक की अनेक अवस्थाओ का वणन 'प्रस्थक' से होना नैगम नय का कथन है। कारण कि इस कथन से प्रस्थक बनाने की क्रियाओ—लकडी लाने जाना, लकडी काटना, छीलना, साफ करना आदि अनेक रूपो (भेदो अथवा अवस्थाओं) का बोध होता है।

एक ही कथन से भेद, उपभेद, अवस्थाएँ आदि रूप में अथवा अन्य किसी भी प्रकार से अनेक बोध हो (आशय प्रकट हों), वह नैगम नय का कथन कहा जाता है।

व्यवहार नय—नैगम नय मे वर्णित उपयुक्त सब कथन व्यवहार नय भी है। कारण कि लकडी लाने जाना, लकडी छीलना आदि सब क्रियाएँ जो प्रस्थक बनाने की कारण रूप हैं उनका यहाँ प्रस्थक बनाने रूप काय पर आरोपण (उपचार) किया जा रहा है। यद्यपि यहाँ प्रत्यक्ष लकडी लाने जाने की क्रिया हो रही है न कि प्रस्थक लाने की, क्योकि अभी तो प्रस्थक बना ही नही है और जो अभी बना ही नही है, है ही नहीं, उसे कैसे लाया जा सकता है? फिर भी व्यवहार में लकडी लाने जाने को प्रस्थक लाने जाना कहना सही है। अत यह कथन व्यवहार नय है।

सग्रह नय—अनाज नापने मे उद्यत अर्थात् नापने के लिये जो पात्र तैयार हो गये हैं, उन विभिन्न पात्रो को प्रस्थक कहना सग्रह नय है।

ऋजुसूत्र नय—'उज्जुसुयस्स पत्थओऽवि पत्थओ मेज्जपि पत्थओ' अर्थात् प्रस्थक शब्द से जहाँ नापने का पात्र अभिप्रेत है या नापी हुई वस्तु अभिप्रेत है वह ऋजुसूत्र नय है। कारण कि यहाँ प्रस्थक शब्द से ये अर्थ सरलता से समझ मे आ जाते हैं। अर्थ समझने के लिये न किसी प्रकार का प्रयास करना पडता है और न किसी अन्य प्रकार का आश्रय लेना पडता है।

शब्द नय—तिण्ह सद्दनयाण पत्थयस्स अत्याहिगार जाणओ जस्स वा वसेण पत्थओ निप्फज्जइ सेतं पत्थय दिक्खुसेण।

अर्थात् तीनो शब्द नय से प्रस्थक का अर्थाधिकार ज्ञात होता है अथवा जिसके लक्ष्य से प्रस्थक निष्पन्न होता है वह शब्द नय है। प्रस्थक के प्रमाण व आकार-प्रकार के भाव के लिये प्रयुक्त प्रस्थक शब्द, शब्द नय का कथन है।

२ वसति का दृष्टान्त

नैगम नय—आप कहाँ रहते हैं? इस प्रश्न के उत्तर मे यह कहना कि मैं (१) लोक मे, (२) तिर्यक् लोक में, (३) जम्बू द्वीप मे, (४) भारतवष मे, (५) दक्षिण भारत मे, (६) अमुक प्रान्त मे, (७) अमुक नगर मे, (८) अमुक मोहल्ले मे, (९) अमुक व्यक्ति के घर मे, (१०) घर के अमुक खड मे रहता हूँ। ये सब कथन या इनमे से प्रत्येक कथन नैगम नय है। कारण कि यहाँ बसने विषयक दिये गये प्रत्येक उत्तर से उस स्थान के अनेक भागो मे कहाँ पर बसने का बोध होता है, अर्थात् बसने के अनेक स्थानो का बोध होता है। अत नैगम नय है।

व्यवहार नय—उपयुक्त सब कथन व्यवहार नय भी है। कारण कि जिस क्षेत्र में वह अपने को बसता

मानता है, उसमे सब जगह व सब समय वह नही रहता है। फिर भी उसका यह कथन व्यवहार मे सही माना जाता है। यह कथन उपचार रूप होने से व्यवहार नय है।

सग्रह नय—शैय्या पर आरूढ़ अवस्था को बसता हुआ कहना सग्रह नय है। इस कथन मे शैय्या शब्द से अनेक जगह बसने का अर्थ व्यक्त होता है। कारण कि कोई जहाँ कही भी बसता है, शैय्या पर आरूढ़ कहा जाता है। अत सग्रह नय है।

ऋजुसूत्र नय—वह वर्तमान मे जिस आकाश क्षेत्र मे स्थित है, अर्थात् जहाँ पर उपस्थित है, अपने को वहीं पर बसता कहना ऋजुसूत्र नय है। कारण कि उसका यह कथन सामने सदा विद्यमान अवस्था का होने से अनायास सरलता से समझ मे आता है। अत ऋजुसूत्र नय है।

शब्द नय—'अपने को अपने शरीर (आत्मभाव) मे बसता हुआ कहना' यह कथन तीनो शब्द नयो का है। कारण कि बसने शब्द का अर्थ या भाव है आत्मा का निवास। शरीर मे या अपने आप मे अपना निवास है। यह कथन शब्द के अर्थ, रूढार्थ रूप अवस्था तथा तदनुसार क्रियावान अवस्था का द्योतक है। अत शब्द नय, समभिरूढ़ नय तथा एवभूत नय है।

३ प्रदेश का दृष्टान्त

नैगम नय—छ प्रदेश है। यथा—१ धर्मास्तिकाय का प्रदेश, २ अधर्मास्तिकाय का प्रदेश, ३ आकाश का प्रदेश, ४ जीव का प्रदेश, ५ स्कध का प्रदेश और ६ देश का प्रदेश। इस कथन से प्रदेश के अनेक रूपो (भेद ज्ञान रूप) का बोध होता है। अत नैगम नय है।

सग्रह नय—पच प्रदेश हैं। कारण कि उपर्युक्त स्कध का प्रदेश और देश का प्रदेश अलग-अलग न होकर एक ही है। अत इन दोनो के एकत्व के मानने वाला कथन सग्रह नय है।

व्यवहार नय—पच प्रदेश से पाँचों का एक ही प्रदेश है। ऐसा अभिप्राय झलकता है—ऐसा प्रतीत होता है। यह कथन व्यवहार मे ठीक नही है। अत पच प्रदेश न कहकर पचविध प्रदेश कहना चाहिए। यह कथन भी उपचरित है। कारण कि धर्मास्ति, अधर्मास्ति आदि किसी के भी पाँच प्रकार के प्रदेश नही होते हैं। यहाँ आशय मे 'पचविध' के स्थान पर 'पाँच के' लेना होगा। अत यह उपचरित कथन होने से व्यवहार नय है।

ऋजुसूत्र नय—पचविध प्रदेश कहने से धर्मास्ति आदि प्रत्येक के पाँच-पाँच प्रकार के प्रदेश हो जाने से पच्चीस प्रकार के प्रदेश हो जाएँगे जो उचित नही है। जिस स्थान में धर्मास्तिकाय का प्रदेश है उसी मे अधर्मास्ति आदि शेप चार के भी प्रदेश हैं। अत यह कहना कि यह स्यात् धर्मास्तिकाय का प्रदेश है, स्यात् अधर्मास्तिकाय का प्रदेश है। इसी प्रकार आकाश, जीव आदि के साथ भी स्यात् लगाकर कहा गया कथन सरलता से समझ मे आ जाता है। अत ऋजुसूत्र नय है।

सप्रति शब्द नय—पाँचो के साथ स्यात् शब्द लगाने से भी प्रदेश एकमेक हो जाएँगे। सभी स्थानो पर सभी के प्रदेशो के होने का प्रसग उत्पन्न हो जाएगा और कहने के अभिप्राय को प्रकट करने की कोई अवस्था ही न बन सकेगी। अनवस्था दोप उत्पन्न हो जाएगा। अत वहाँ स्थित धर्मास्तिकाय के प्रदेश को धर्मास्तिकाय का प्रदेश कहो। इसी प्रकार शेप चार को भी कहो। यह कथन अर्थप्रधान होने से शब्द नय है।

समभिरूढ नय—'धम्मे पएसे से पएसे धम्मे' इस वाक्य से तत्पुरुष और कर्मधारय इन दो समासो की अभिव्यक्ति होती है। तत्पुरुष समास मे धम्मे शब्द अधिकरण कारक मे लेने से धर्म मे प्रदेश हो जाएगा अर्थात् धर्म और प्रदेश दो भिन्न-भिन्न हो जाएँगे। कर्मधारय समास मे धर्म शब्द प्रदेश का विशेषण बन जाएगा। ये दोनो ही अर्थ यहाँ भ्रमोत्पादक होने से इष्ट नहीं हैं। अत यह कहना चाहिए कि यह प्रदेश धर्मास्तिकाय है। इसी प्रकार शेप अधर्मास्तिकाय आदि के साथ भी जानना चाहिए। यह कथन धर्मास्तिकाय आदि विशेष में रूढ़ होने से समभिरूढ नय है।

एवभूत नय—धर्मास्तिकाय आदि से उनके देश प्रदेश भिन्न हैं ही नही। अत धर्मास्तिकाय और उसका प्रदेश पर्यायवाची अर्थात् एक ही हुए। धर्मास्तिकाय से उसका प्रदेश अलग वस्तु है ही नही। यह कथन एवभूत नय है।
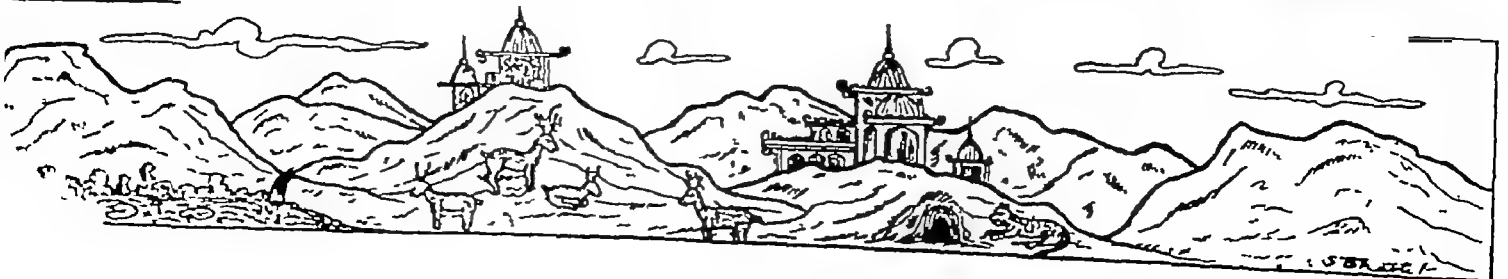
पट्खण्डागम के चतुर्थ वेदनाखण्ड मे नयो का प्रयोग हुआ है। वेदनाखण्ड के सोलह द्वार हैं। उनमे सात द्वारों मे नय से कथन हुआ है। उसे यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

वेदना नय विभाषणता द्वार

वेदना का निक्षेप चार प्रकार का है—१ नाम वेदना, २ स्थापना वेदना, ३ द्रव्य वेदना और ४ भाव वेदना।

वेदना नय विभाषणता के अनुसार कौन नय किन वेदनाओ की इच्छा करता है? उत्तर में कहा है—

णेगम-ववहार-सगहा सव्वाओ। उजुसुवो ट्ठवण णेच्छदि। सद्दणओ णामवेयण भाववेयण च इच्छदि॥

अर्थात् नैगम, व्यवहार और सग्रह ये तीन नय सभी वेदनाओ को स्वीकार करते हैं। ऋजुसूत्र नय स्थापना वेदना को स्वीकार नही करता है। शब्द नय नाम वेदना व भाव वेदना को स्वीकार करता है।

विवेचन

उपर्युक्त चारों वेदनाएँ भेद-रूप अनेक अवस्थाओ का बोध कराती हैं। इस अपेक्षा से नैगम नय हैं। इन चारों वेदनाओ में से प्रत्येक वेदना मे अपनी जाति की अनेक वेदनाओ का समावेश है। अत सग्रह नय है। चारो वेदनाएँ अन्य पर आधारित हैं। अत आरोप या उपचार रूप होने से व्यवहार नय है।

ऋजुसूत्र नय मे स्थापना वेदना के कथन का समावेश नही होने का कारण यह है कि स्थापना वेदना का बोध उपचार या आरोप से होता है। सहज सरलता से नही होता है। शेष नाम वेदना, द्रव्य वेदना और भाव वेदना का बोध सामने विद्यमान होने पर अनायास सरलता से हो जाने की अपेक्षा से ऋजुसूत्र नय है।

शब्द नय का उपयोग केवल नाम और भाव वेदना मे होता है। कारण कि वेदना शब्द से अभिप्रेत अर्थ की अनुभूति सामने विद्यमान नाम वेदना और भाव वेदना मे ही घटित होती है। स्थापना वेदना और द्रव्य वेदना नहीं होती। अत शब्द नय से उनका कथन नही हो सकता।

वेदना-नाम-विधान द्वार

वेयणाणाम विहाणेत्ति। णेगम-ववहाराण णाणावरणीय वेयणा, दसणावरणीय वेयणा, वेयणीय वेयणा, आउव वेयणा, णाम वेयणा, गोय वेयणा, अतराइ वेयणा ॥१॥ सगहस्स अट्ठण्णा पि कम्माण वेयणा ॥२॥ उजुसुवस्स णो णाणावरणीय वेयणा, णो मोहणीय वेयणा, णो आउव वेयणा, णो णाम वेयणा, णो गोय वेयणा, णो अतराइ वेयणा, वेयणीय चेव वेयणा ॥३॥ सद्दणयस्स वेयणा चेव वेयणा ॥४॥

अर्थ—वेदना नाम विधान अधिकार के अनुसार नैगम और व्यवहार नय की अपेक्षा ज्ञानावरणीय वेदना, दर्शनावरणीय वेदना, वेदनीय वेदना, मोहनीय वेदना, आयु वेदना, नाम वेदना, गोत्र वेदना और अतराय वेदना, इस प्रकार वेदना आठ भेद रूप है। यह नैगम और व्यवहार का कथन है ॥१॥ आठो ही कर्मों का एक वेदना शब्द द्वारा कथन सग्रह नय है ॥२॥ ऋजुसूत्र नय से वेदनीय ही वेदना है, शेष ज्ञानावरणीय आदि सात कर्मों की वेदना का कथन नहीं है ॥३॥ शब्द नय से वेदना ही वेदना है ॥४॥

विवेचन—ज्ञानावरणीय की वेदना, दर्शनावरणीय की वेदना इस प्रकार आठो ही कर्मों की वेदना रूप वेदना के आठ भेद या प्रकार हैं। यह कथन भेद रूप होने से नैगमनय का कथन है। इन आठों ही वेदनाओ का कथन प्राणी में वेदन रूप होने से उपचार या आरोप रूप कथन है, इस अवस्था में ये व्यवहार नय है। वेदना कथन से आठो कर्मों की सर्व वेदनाओ का समावेश हो जाता है। अत यह कथन सग्रह नय का है।

ऋजुसूत्र नय से केवल वेदनीय कर्मजनित वेदना ही वेदना है। कारण कि साता व असाता रूप वेदना का बोध सरलता से होता है। शेष सात कर्मों के वेदन का बोध अनायास सरलता से नहीं होता है।

वेदन करना ही वेदना है। यह कथन नाम और भाव प्रधान होने से शब्द नय है।

वेदना-प्रत्यय-विधान अधिकार

वेयण पच्चय विहाणेत्ति ॥१॥ णेगम-ववहार-सगहाणि णाणावरणीय वेयणा पाणाविवावपच्चए ॥२॥ मुसा-

वाव पच्चए ।।३।। अदत्तादाण पच्चए ।।४।। मेहुण पच्चए ।।५।। परिग्गह पच्चए ।।६।। रादिभोयण पच्चए ।।७।। एव कोह-माण-माया-लोह-राग-दोस-मोह-पेम्म पच्चए ।।८।। णिदाणपच्चए ।।६।। अब्भक्खाण-कलह-पेसुण्ण-अरइ-उवहि-णियदि माण-माय-मोस-मिच्छणाण-मिच्छदसण-पओ अपच्चए ।।१०।। एव सत्तण्ण कम्माण ।।११।। उज्जुसुदस्स णाणावरणीय वेयणा जोग पच्चए पयडि-पदेसग्गं ।।१२।। कसाय पच्चए ट्ठिदि— अणुभाग वेयणा ।।१३।। एव सत्तण्ण कम्माण ।।१४।। सद्दणयस्स अवत्तव्व ।।१५।। एव सत्तण्ण कम्माणं ।।१६।।

अर्थात् वेदना प्रत्यय विधान के अनुसार नैगम-व्यवहार-सग्रह नय के कथन की अपेक्षा ज्ञानावरणीय की वेदना प्राणातिपात प्रत्यय (कारण) से होती है। मृषावाद प्रत्यय से होती है। अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, रात्रि-भोजन, क्रोध, मान, माया, लोम, राग, द्वेष, मोह, प्रेम, निदान, अभ्याख्यान, कलह, पैशुन्य, रति-अरति, उपाधि, निकृति, मान, मेय, मोष, मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और प्रयोग इन प्रत्ययो से ज्ञानावरणीय की वेदना होती है। इसी प्रकार सात कर्मों की वेदना के प्रत्ययो की प्ररूपणा करनी चाहिए।

ऋजुसूत्र नय से ज्ञानावरणीय की वेदना योग प्रत्यय से प्रकृति व प्रदेशाग्र (प्रदेश समूह) रूप होती है और ज्ञानावरणीय की स्थिति वेदना और अनुभाग वेदना कषाय प्रत्यय से होती है। इसी प्रकार ऋजुसूत्र नय से शेष सातो कर्मों के प्रत्ययो की प्ररूपणा करनी चाहिए।

शब्द नय से ज्ञानावरणीय की वेदना अवक्तव्य है। इसी प्रकार शब्द नय से शेष सात कर्मों की वेदना के विषय मे भी प्ररूपणा करनी चाहिए।

विवेचन—ऊपर ज्ञानावरणीय की वेदना के प्रत्यय प्राणातिपात, मृषावाद आदि से लेकर 'प्रयोग' तक अनेक हैं। ये अनेक भेदरूप प्रत्ययो का कथन होने से नैगम नय है। ये ही प्रत्यय प्राणी की क्रिया या व्यवहार से सम्बन्धित कथन रूप होने पर व्यवहार नय का कथन होगा तथा भेद रूप प्रत्येक प्रत्यय अनेक उपभेदो का सचय होने से सग्रह नय का कथन है। ज्ञानावरणीय के वेदना के प्रत्ययो को इसी प्रकार नैगम, व्यवहार और सग्रह नय से शेष सात कर्मों की वेदना के प्रत्ययो की भी प्ररूपणा समझनी चाहिए।

ऋजुसूत्र नय—ज्ञानावरणीय की वेदना योग प्रत्यय से प्रकृति व प्रदेश रूप एव कषाय प्रत्यय से स्थिति और अनुभाग वेदना होती है। विद्यमान वेदना और प्रत्यय मे यह सीधा-सरल सबध होने से ऋजुसूत्र नय का कथन है। शेष सात कर्मो के प्रत्ययो की भी प्ररूपणा ऋजुसूत्र नय से इसी प्रकार होती है।

शब्द नय—ज्ञानावरणीय वेदना अवक्तव्य है। क्योकि ये प्रत्यय अनुभूतिपरक हैं। शब्दो मे वेदना प्रत्ययो की अभिव्यक्ति नही हो सकती है। अत शब्द के अर्थरूप से इन प्रत्ययों का कथन शक्य नहीं है।

वेदना-स्वामित्व विधान

वेयण सामित्त विहाणेत्ति ।।१।। णेगम ववहाराणि णाणावरणीय वेयणा सिया जीवस्स वा ।।२।। सिया णोजीवस्स वा ।।३।। सिया जीवाण वा ।।४।। सिया णोजीवाण वा ।।५।। सिया जीवस्स च णोजीवस्स च ।।६।। सिया जीवस्स च णोजीवाण च ।।७।। सिया जीवाण च णोजीवस्स च ।।८।। सिया जीवाण च णोजीवाण च ।।६।। एव सत्तण्ण कम्माण ।।१०।। सग्गहणयस्स णाणावरणीय वेयणा जीवस्स वा ।।११।। जीवाण वा ।।१२।। एव सत्तण्ण कम्माण ।।१३।। सद्दुजुसुदाण णाणावरणीय वेयणा जीवस्स ।।१४।। एव सत्तण्ण कम्मास ।।१५।।

अर्थात् वेदना स्वामित्व विधान के अनुसार नैगम और व्यवहार नय की अपेक्षा ज्ञानावरणीय की वेदना कथचित् जीव के होती है। कथचित् नोजीव के होती है। कथचित् बहुत जीवो के होती है। कथचित् बहुत नोजीवो के होती है। कथचित् एक जीव के और एक नोजीव इन दोनो के होती है। कथचित् एक जीव के और बहुत नोजीवो के होती है। कथचित् बहुत जीवों के और एक नोजीव के होती है। कथचित् बहुत जीवो और बहुत नोजीवों के होती है। इसी प्रकार के प्रभेद नैगम और व्यवहार नय से शेष सात कर्मों की वेदना के सम्बन्ध मे भी कथन जानना चाहिए। संग्रह नय की अपेक्षा ज्ञानावरणीय की वेदना एक जीव के या बहुत जीवों के होती है। इसी प्रकार सग्रह नय से शेष सात कर्मों की वेदना के विषय में भी कथन जानना चाहिए। शब्द और ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा ज्ञानावरणीय की वेदना जीव के होती है। इसी प्रकार इन दोनो नय से शेष सात कर्मों की वेदना के विषय मे भी जानना चाहिए।

विवेचन—यहाँ वेदना का स्वामी कौन है, इस अधिकार का कथन किया गया है। वेदना का स्वामी जीव है और नोजीव (पुद्गलमय शरीर) है। इन दोनो के एक और बहुत सख्या के सयोग रूप अनेक भेद प्रकार वेदना के स्वामी के बनते हैं। स्वामित्व का भेदरूप अनेक बोधकारी कथन नैगम नय है। ये ही भेदरूप कथन जब प्राणी पर उपचरित होते हैं, व्यवहृत होते हैं तब व्यवहार नय के विषय बन जाते है। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि वेदना का स्वामी जीव है या नोजीव है। यह कथन सग्रह नय का है।

ऋजुसूत्र नय से वेदना का स्वामी वह जीव है, जिस जीव को वह वेदना हो रही है। अनेक जीवो की वेदना मिलकर एक नही होती है। अत ऋजुसूत्र नय मे अनेक जीव या नोजीव वेदना के स्वामी नही होते हैं। कारण कि ऋजुसूत्र नय मे यथाभूत रूप कथन ही अपेक्षित होता है। शब्द नय मे शब्दार्थ की प्रधानता होती है। अत इस नय से वेदना शब्द का अर्थ वेदन करना होता है और वेदन प्रत्येक जीव अलग-अलग करता है। नोजीव शरीरादि वेदन नही करते हैं और न अनेक जीव सम्मिलित वेदना का अनुभव ही करते हैं। अत शब्द नय से वेदना जीव के होती है, यह कथन ही उपयुक्त है।

यहाँ वेदना स्वामित्व विधान पर घटित उपयु क्त नयो को उदाहरण द्वारा प्रस्तुत करते हैं—

किसी रेल दुघटना मे अनेक व्यक्तियो के चोटें लगी। कोई पैर की चोट की वेदना से पीडित है, कोई हाथ की, कोई सिर की, कोई ज्वर की, कोई पेट की आदि भिन्न-भिन्न वेदना से पीडित हैं।

उपर्युक्त दुर्घटनाग्रस्त व्यक्तियो की वेदना को अनेक प्रकार से कहा जा सकता है। यथा—

१ राम को वेदना हो रही है, उसके हाथ को वेदना हो रही है, उसका पैर वेदनाग्रस्त है। पुरुषो को वेदना हो रही है, स्त्रियो को वेदना हो रही है, बच्चो को वेदना हो रही है। हाथ-पैर, उदर मे वेदना हो रही है। इस प्रकार के कथन नैगम नय हैं। यहाँ राम जीव है, हाथ नोजीव है, पुरुष बहुत से जीव है। हाथ-पैर-उदर नोजीव हैं। इस प्रकार से वेदना के विविध रूप कथन नैगम नय के विषय हैं।

२ पेट को वेदना हो रही है, हाथ वेदनाग्रस्त है, वह जीव वेदना से मर गया आदि कथन व्यवहार नय से है। वेदना वास्तव मे तो जीव को होती है, हाथ-पैर-पेट को नही। ये तो उस वेदना के होने मे निमित्त मात्र हैं। परन्तु व्यवहार मे हम यही अनुभव करते हैं या यही कथन करते हैं। यह कथन कारण रूप (निमित्त) मे वेदना रूप कार्य का आरोप होने से है अर्थात् उपचार से है। अत व्यवहार नय का कथन है। इसी प्रकार वेदना से जीव मर गया यह कथन भी वास्तविक नहीं है। जीव तो अमर है, जीव से शरीर छूटने को अथवा शरीर नाश को व्यवहार मे जीव का मरना कहा जाता है। यहाँ कार्य में कारण का आरोप है। अत व्यवहार नय से कथन है।

३ किसी यात्री की हाथ, पैर, सिर दर्द आदि विविध या अनेक वेदनाओं का अलग-अलग उल्लेख न कर सक्षेप मे यह कहना कि यात्री को वेदना हो रही है, इसी प्रकार अनेक वेदनाओ से ग्रस्त अनेक यात्रियो का अलग-अलग उल्लेख न कर समुच्चय रूप से यह कहना कि यात्रियो को वेदना हो रही हैं। यह सक्षिप्त या सारभूत कथन सग्रह नय कहा जाता है।

४ *'यह राम अपने हाथ की वेदना से पीडित है।' इस कथन से आशय एकदम सीधा समझ मे आता है। यह यथाभूत विद्यमान कथन ऋजुसूत्र नय कहा जाता है।*

५ *'वेदना जीव के होती है।'* यहाँ इस वाक्य मे केवल यह कथन किया जा रहा है कि वेदना का स्वामी वेदन करने वाला जीव ही होता है, अन्य कोई नही। इस कथन मे अर्थ की ही प्रधानता है। किसी जीव या व्यक्ति विशेष से प्रयोजन नहीं है। अत केवल अर्थ प्रधान होने से यह शब्द नय का कथन है।

वेदना वेदन विधान

आठ प्रकार के कर्म पुद्गल स्कन्धो का जो वेदन (अनुभवन) होता है, यहाँ उसका विधान प्ररूपणा है। वह तीन प्रकार की है—कर्म बँधते समय होने वाली वेदना बध्यमान वेदना है। कर्मफल देते समय होने वाली वेदना उदीर्ण वेदना है और इन दोनो से भिन्न कर्म वेदना की अवस्था उपशान्त है।

नैगम नय से ज्ञानावरणीय की वेदना कथचित् १ बध्यमान है, २ उदीर्ण वेदना है, ३ उपशान्त वेदना है,

४ बध्यमान वेदनाएँ हैं, ५ उदीर्ण वेदनाएँ हैं, ६ उपशान्त वेदनाएँ हैं। ये ६ भग एक-एक हैं—१ एक बध्यमान और एक उदीर्ण वेदना है। २ एक बध्यमान और अनेक उदीर्ण ३ अनेक बध्यमान और एक उदीर्ण और ४ अनेक बध्यमान और अनेक उदीर्ण वेदनाएँ हैं। ये चार भग बध्यमान और उदीर्ण इन दोनो के द्विसयोगी हैं। इसी प्रकार चार भग बध्यमान और उपशान्त के तथा चार भग उदीर्ण और उपशान्त के द्विसयोगी बनते हैं। इस प्रकार द्विसयोगी कुल बारह भग बनते हैं। एक बध्यमान, एक उदीर्ण और एक उपशान्त यह त्रिसयोगी भग है। इन तीनों मे एक और अनेक विशेषण लगाने से कुल आठ भग त्रिसयोगी बनते हैं। इस प्रकार कुल २६ भग बनते हैं। भेदरूप होने से अनेक का बोध कराने वाला प्रत्येक भेद रूप यह कथन नैगमनय है। शेष सात कर्मों का वेदना वेदन भी इसी प्रकार समझना चाहिए।[1]

व्यवहार नय मे बध्यमान अनेक वेदनाएँ कथनीय नही होने से इसके ९ भग उपर्युक्त २६ भग में से कम होकर शेष १७ भग ही कथनीय हैं। कारण बध्यमान वेदना राग भाव या द्वेष भाव रूप एक ही होती है। ज्ञानावरणीय आदि आठो कर्मों की वेदना वेदन मे से प्रत्येक के साथ उपर्युक्त १७ भग का ही विधान जानना चाहिए।

सग्रह नय मे अनेक वेदना भी वेदना मे भी गर्भित होती है। अत ज्ञानावरणीय की वेदना कथचित् १ बध्यमान, २ उदीण, ३ उपशान्त, ४ बध्यमान और उदीर्ण, ५ बध्यमान और उपशान्त, ६ उदीर्ण और उपशान्त और ७ बध्यमान, उदीर्ण और उपशान्त ये कुल सात भग बनते हैं। शेष सात कर्मों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार समझना चाहिए।

ऋजुसूत्र नय—ज्ञानावरणीय की उदीर्ण फल प्राप्त विपाक वाली वेदना है। यह ऋजुसूत्र नय का कथन है। कारण कि वेदना से सीधा, सरल, सहज बोध कर्मफल देते समय अनुभव होने वाली वेदना का होता है। शेष सात कर्मों के बन्धन में भी इसी प्रकार जानना चाहिए।

शब्द नय—ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों की वेदना वेदन अवक्तव्य है। यह कथन शब्द नय का है। कारण कि वेदना वेदन का अनुभव ही होता है, उसे शब्द से व्यक्त नही किया जा सकता है।

वेदना-गति विधान

नैगम, व्यवहार और सग्रह नय से ज्ञानावरणीय की वेदना कथचित् १ अस्थित है, २ स्थित-अस्थित है। इसी प्रकार शेष दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन तीन घाति कर्मों की वेदना के सम्बन्ध मे जानना चाहिए। अघाति कर्म वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र की वेदना कथचित् १ स्थित, २ अस्थित और ३ स्थित-अस्थित है। यहाँ भेद रूप अनेक बोधकारी कथन होने से नैगम नय, उपचरित कथन होने से व्यवहार नय और वेदना की अनेक अवस्थाओ का एकरूप कथन होने से सग्रह नय है।

ऋजुसूत्र नय से आठों ही कर्मों मे से प्रत्येक कर्म की वेदना कथचित् स्थित है और कथचित् अस्थित है। कारण कि सीधे अनुभव मे एक ही प्रकार का परिवर्तनशील अवस्था का या स्थिर अवस्था का ही वेदन होता है। दोनो एक साथ वर्तमान में अनुभव-वेदन नही हो सकते है। अत यह कथन ऋजुसूत्र नय है।

शब्द नय से अवक्तव्य है। कारण कि वेदना अनुभवगम्य है। कथनीय नहीं है। उसे भोक्ता ही जानता है।

वेदना-अन्तर विधान

नैगम और व्यवहार नय से आठो ही कर्मो की वेदना—१ अनन्तर बन्ध है, २ परम्परा बन्ध है और ३ तदुभय बन्ध है। यह कथन भेद रूप होने से नैगम नय है। उपचरित होने से व्यवहार नय है। सग्रह नय से अनन्तर बन्ध है और परम्परा बन्ध है। कारण इन दोनों प्रकार के बन्ध मे ही बन्ध के सब रूप आ जाते हैं। अत सगृहीत होने से यह कथन सग्रह नय है।

ऋजुसूत्र नय से परम्परा बन्ध है। कारण कि यह सीधा-सा बोध सभी को है कि नवीन कर्मों का बन्धन पुराने कर्मों के विपाक की अवस्था मे ही सभव है।

[1] अनुयोगद्वार में भी भग समुत्कीर्तन मे इसी प्रकार नैगमनय मे २६ भेदो का व सग्रहनय मे ७ भेदों का वर्णन है।
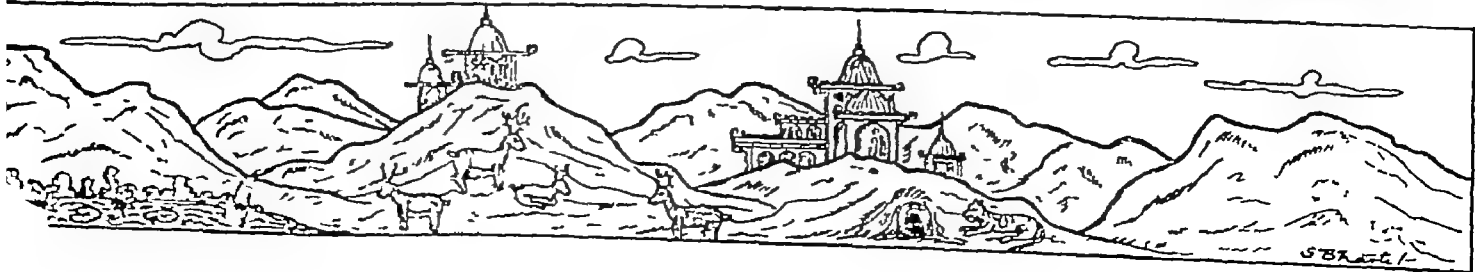
शब्द नय अवक्तय है। बन्ध किस प्रकार से हो रहा है, यह प्राणी के अनुभव की बात हैं। कथन से उसे नही जाना जा सकता।

अनुयोगद्वार सूत्र और षट्खडागम के उपर्युक्त विवेचन देखने के पश्चात् नयो के विषय मे सहज ही निम्नाकित निष्कर्ष प्रकट होता है—

नैगम नय

१ प्रस्थक के दृष्टान्त मे प्रस्थक बनाने की अनेक क्रियाओ मे से कोई भी क्रिया।

२ वसति के दृष्टान्त मे बसने के अनेक स्थानो मे से कोई भी स्थान।

३ प्रदेश के दृष्टान्त मे प्रदेश की ६ की सख्या।

४ वेदना-नय विभाषणता मे निक्षेप का प्रत्येक भेद अथवा अनेक भेद।

५ वेदना-नाम विधान मे आठो कर्मों की वेदनाएँ।

६ वेदना-प्रत्यय विधान मे वेदना का प्राणातिपात आदि प्रत्येक प्रत्यय।

७ वेदना-स्वामित्व विधान मे जीव व नोजीव व इनके बहुवचनान्त बनने वाले भेद।

८ वेदना-वेदन विधान मे आठो ही कर्मो मे से प्रत्येक कर्म वेदना की बध्यमान, उदीण, उपशान्तदशा के २६ भगो मे से प्रत्येक भग।

९ वेदना-गति विधान मे आठो ही कर्मो मे से प्रत्येक कर्म वेदना की स्थित, अस्थित व स्थित अस्थित अवस्था

१० वेदना-अन्तर विधान मे आठो ही कर्मों मे से प्रत्येक कम की वेदना अनन्तर, परम्परा तथा तदुभय रूप भेद नैगम नय है।

उपर्युक्त कथनो से स्पष्ट प्रतीत होता है कि नैगम नय अनेक भेदो व उन भेदो मे से प्रत्येक भेद का कथन है, अर्थात् विकल्प रूप कथन नैगम नय है।

व्यवहार नय

उपर्युक्त नैगम नय के कथन के साथ प्राय सभी स्थलो पर व्यवहार नय का भी वैसा ही कथन है। केवल कुछ कथनो मे अन्तर हैं, वे निम्नाकित हैं—

१ प्रदेश के दृष्टान्त मे पाँच प्रदेश के स्थान पर पचविध प्रदेश कथन है।

२ वेदना-वेदन विधान मे नैगम नय मे २६ भग व व्यवहार नय मे ६ भग कम हैं। कारण कि वे ६ भग तो बनते हैं, परन्तु व्यवहार मे वैसा कहीं भी होता नही है। इससे इस परिणाम पर पहुँचा जाता है कि जब नैगम नय मे वर्णित भेद व भग या विकल्प का उपचार व्यवहार मे होता है, तब वह व्यवहार नय का कथन होता है। इसे समझने के लिये कुछ जोडना या आरोपण करना पडता है।

सग्रह नय

नैगम व व्यवहार मे कथित भेदो, भगो व विकल्पो मे से जो एक जाति के या एक वग के है अर्थात् जिनमे समानता पाई जाती है, उनका यहाँ एकत्व रूप सक्षेप मे कथन सग्रह नय कहा गया है।

ऋजुसूत्र नय

ऐसा कथन जिसकी कथनीय विषय-वस्तु प्रत्यक्ष हो और सुनते ही उसका आशय सरलता से सीधा अनायास समझ मे आ जाय अर्थात् जिसे समझने के लिए अलग से कुछ जोडने का, आरोपण का प्रयास न करना पडे। यहाँ ऐसा कथन ऋजुसूत्र नय कहा गया है।

शब्द नय

शब्द के भाव (अर्थ) के रूप मे आशय को व्यक्त करने वाला कथन शब्द नय कहा गया है।

समभिरूढ नय

शब्द के अनेक अर्थों मे से एक रूढ अर्थ के रूप मे आशय ग्रहण करने वाला कथन समभिरूढ नय कहा गया है।

एवभूत नय

शब्द के अर्थ रूप क्रिया का अनुसरण करने वाले कथन को एवभूत नय कहा गया है।

नयो के प्रसग मे अनुयोगद्वार और षट्खडागम के उपर्युक्त अनुशीलन से ऐसा लगता है कि आगमकाल मे वर्णित नयो का न्याय के ग्रन्थो मे वर्णित प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमा आदि प्रमाणो से कोई सम्बन्ध नही था और न नयो का स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति आदि भेद रूप स्याद्वाद या अनेकान्त से ही कोई सम्बन्ध था। न नय किसी मत, पथ या सम्प्रदाय विशेष के दर्शन का प्रतिपादक ही था। पदार्थ के अनन्त गुणो मे से नय किसी एक गुण अथवा दृष्टि को अपनाता है, इस रूप मे न नय प्रमाण का अश था और नयो का समुदाय मिलकर प्रमाण बनता है, ऐसा भी कुछ नहीं था। न शुद्ध नय, अशुद्ध नय या दुर्नय का ही वहाँ वर्णन है। वास्तविकता तो यह है कि आगमकाल मे चार प्रमाण माने गये हैं। यथा—१ द्रव्य प्रमाण, २ क्षेत्र प्रमाण, ३ काल प्रमाण और ४ भाव प्रमाण। इनमे भाव प्रमाण के तीन भेद—गुण, नय और सख्या कहे गये हैं। इस प्रकार चारो प्रमाणो मे से मात्र एक भाव प्रमाण से नय *का सम्बन्ध है और वह भी मात्र एक भेद के रूप मे। आगम सिद्धान्त के आशय को स्पष्ट करने के लिये चार अनुयोगो* का उपयोग करने की प्रणाली रही है, उन चार अनुयोगो मे नय भी एक अनुयोग है, जिसका कार्य यह जानना है कि आगम मे प्रयुक्त कथन (शब्द) से प्रतिपादित विषय की कौन-सी अवस्था अभिप्रेत है।

प्रस्तुत लेख लिखने के पीछे भावना यह है कि तत्वज्ञ व विद्वद्गण नयो के स्वरूप पर विचार करें और यथार्थ रूप को प्रस्तुत करें।

●●

इच्छा बहुविहा लोए, जाए बद्धो किलिस्सति।
तम्हा इच्छामणिच्छाए, जिणित्ता सुहमेधति॥

—ऋषिभाषित ४०।१

ससार मे इच्छाए अनेक प्रकार की हैं, जिनसे बधकर जीव दुःखी होता है। अत इच्छा को अनिच्छा से जीतकर साधक सुख पाता है।

शब्द नय अवक्तव्य है। बन्ध किस प्रकार से हो रहा है, यह प्राणी के अनुभव की बात हैं। कथन से उसे नही जाना जा सकता।

अनुयोगद्वार सूत्र और षट्खडागम के उपर्युक्त विवेचन देखने के पश्चात् नयो के विषय मे सहज ही निम्नाकित निष्कर्ष प्रकट होता है—

नैगम नय

१ प्रस्थक के दृष्टान्त मे प्रस्थक बनाने की अनेक क्रियाओ मे से कोई भी क्रिया।
२ वसति के दृष्टान्त मे वसने के अनेक स्थानो मे से कोई भी स्थान।
३ प्रदेश के दृष्टान्त मे प्रदेश की ६ की सख्या।
४ वेदना-नय विभाषणता मे निक्षेप का प्रत्येक भेद अथवा अनेक भेद।
५ वेदना-नाम विधान मे आठो कर्मों की वेदनाएँ।
६ वेदना-प्रत्यय विधान मे वेदना का प्राणातिपात आदि प्रत्येक प्रत्यय।
७ वेदना-स्वामित्व विधान मे जीव व नोजीव व इनके बहुवचनान्त बनने वाले भेद।
८ वेदना वेदन विधान मे आठो ही कर्मों मे से प्रत्येक कर्म वेदना की बध्यमान, उदीर्ण, उपशान्तदशा के २६ भगो मे से प्रत्येक भग।
९ वेदना-गति विधान मे आठो ही कर्मो मे से प्रत्येक कर्म वेदना की स्थित, अस्थित व स्थित अस्थित अवस्था
१० वेदना-अन्तर विधान मे आठो ही कर्मों मे से प्रत्येक कम की वेदना अनन्तर, परम्परा तथा तदुभय रूप भेद नैगम नय है।

उपर्युक्त कथनो से स्पष्ट प्रतीत होता है कि नैगम नय अनेक भेदो व उन भेदो मे से प्रत्येक भेद का कथन है, अर्थात् विकल्प रूप कथन नैगम नय है।

व्यवहार नय

उपर्युक्त नैगम नय के कथन के साथ प्राय सभी स्थलो पर व्यवहार नय का भी वैसा ही कथन है। केवल कुछ कथनो मे अन्तर हैं, वे निम्नाकित हैं—

१ प्रदेश के दृष्टान्त मे पाँच प्रदेश के स्थान पर पचविध प्रदेश कथन है।

२ वेदना-वेदन विधान मे नैगम नय मे २६ भग व व्यवहार नय मे ९ भग कम हैं। कारण कि वे ९ भग तो बनते हैं, परन्तु व्यवहार मे वैसा कही भी होता नही है। इससे इस परिणाम पर पहुँचा जाता है कि जब नैगम नय मे वर्णित भेद व भग या विकल्प का उपचार व्यवहार मे होता है, तब वह व्यवहार नय का कथन होता है। इसे समझने के लिये कुछ जोडना या आरोपण करना पडता है।

सग्रह नय

नैगम व व्यवहार मे कथित भेदो, भगो व विकल्पो मे से जो एक जाति के या एक वर्ग के है अर्थात् जिनमे समानता पाई जाती है, उनका यहाँ एकत्व रूप सक्षेप मे कथन सग्रह नय कहा गया है।

ऋजुसूत्र नय

ऐसा कथन जिसकी कथनीय विषय-वस्तु प्रत्यक्ष हो और सुनते ही उसका आशय सरलता मे सीधा अनायास समझ मे आ जाय अर्थात् जिसे समझने के लिए अलग से कुछ जोडने का, आरोपण का प्रयास न करना पडे। यहाँ ऐसा कथन ऋजुसूत्र नय कहा गया है।

शब्द नय

शब्द के भाव (अर्थ) के रूप मे आशय को व्यक्त करने वाला कथन शब्द नय कहा गया है।

समभिरूढ़ नय

शब्द के अनेक अर्थों मे से एक रूढ अर्थ के रूप मे आशय ग्रहण करने वाला कथन समभिरूढ नय कहा गया है।

एवभूत नय

शब्द के अर्थ रूप क्रिया का अनुसरण करने वाले कथन को एवभूत नय कहा गया है।

नयो के प्रसग मे अनुयोगद्वार और षट्खडागम के उपर्युक्त अनुशीलन से ऐसा लगता है कि आगमकाल मे वर्णित नयों का न्याय के ग्रन्थो मे वर्णित प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमा आदि प्रमाणो से कोई सम्बन्ध नही था और न नयो का स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति आदि भेद रूप स्याद्वाद या अनेकान्त से ही कोई सम्बन्ध था। न नय किसी मत, पथ या सम्प्रदाय विशेष के दर्शन का प्रतिपादक ही था। पदार्थ के अनन्त गुणो मे से नय किसी एक गुण अथवा दृष्टि को अपनाता है, इस रूप मे न नय प्रमाण का अश था और नयो का समुदाय मिलकर प्रमाण बनता है, ऐसा भी कुछ नहीं था। न शुद्ध नय, अशुद्ध नय या दुर्नय का ही वहाँ वर्णन है। वास्तविकता तो यह है कि आगमकाल मे चार प्रमाण माने गये हैं। यथा—१ द्रव्य प्रमाण, २ क्षेत्र प्रमाण, ३ काल प्रमाण और ४ भाव प्रमाण। इनमे भाव प्रमाण के तीन भेद—गुण, नय और सख्या कहे गये हैं। इस प्रकार चारो प्रमाणो मे से मात्र एक भाव प्रमाण से नय का सम्बन्ध है और वह भी मात्र एक भेद के रूप मे। आगम सिद्धान्त के आशय को स्पष्ट करने के लिये चार अनुयोगो का उपयोग करने की प्रणाली रही है उन चार अनुयोगो मे नय भी एक अनुयोग है, जिसका कार्य यह जानना है कि आगम मे प्रयुक्त कथन (शब्द) से प्रतिपादित विषय की कौन-सी अवस्था अभिप्रेत है।

प्रस्तुत लेख लिखने के पीछे भावना यह है कि तत्त्वज्ञ व विद्वद्गण नयो के स्वरूप पर विचार करें और यथार्थ रूप को प्रस्तुत करें।

●●

इच्छा बहुविहा लोए, जाए बद्धो किलिस्सति।
तम्हा इच्छामणिच्छाए, जिणित्ता सुहमेघति ॥

—ऋषिभाषित ४०।१

ससार में इच्छाए अनेक प्रकार की हैं, जिनसे बधकर जीव दुखी होता है। अत इच्छा को अनिच्छा से जीतकर साधक सुख पाता है।
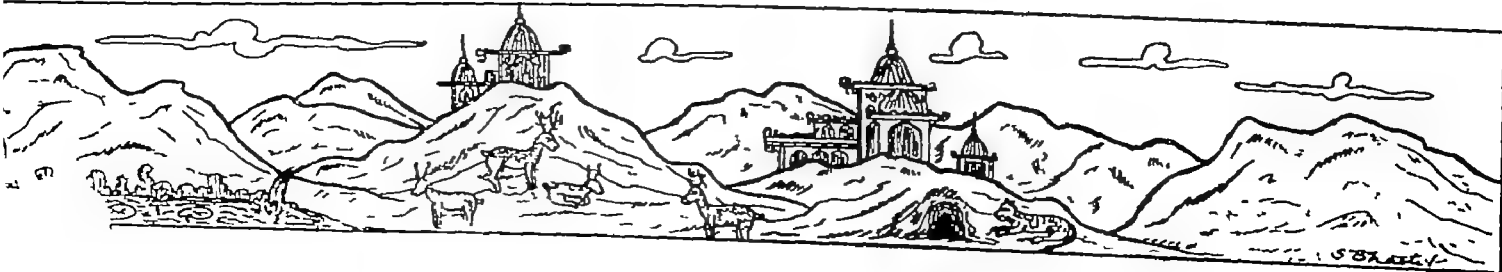
मोक्ष (निर्वाण) के सम्बन्ध मे जैनदर्शन का चिन्तन सर्वोत्कृष्ट माना गया है। उसने अत्यत गहराई व विविध दृष्टियों से उस पर ऊहापोह किया है, मनन किया है, विश्लेषण किया है। आगमों के पृष्ठ पर इतस्तत विकीर्ण उस व्यापक चिन्तन-कणों को एक धारा के रूप मे निबद्ध किया है—प्रसिद्ध आगम अनुसधाता मुनिश्री कन्हैयालाल जी 'कमल' ने।

☐ मुनि कन्हैयालाल 'कमल'
[आगम अनुयोग प्रवर्तक]

जैनागमों में मुक्ति मार्ग और स्वरूप

☐

जैनागम, त्रिपिटक, वेदो एव उपनिषदों मे मुक्ति के मार्गों (साधनो) का विशद दार्शनिक विवेचन विद्यमान है, किन्तु प्रस्तुत प्रवन्ध की परिधि में केवल जैनागमों मे प्रतिपादित तथा उद्धृत मुक्तिमार्गों का सकलन किया गया है।

यह सकलन मुक्तिमार्गानुयायी स्वाध्यायशील साधकों के लिए परम प्रसादरस परिपूर्ण पाथेय बने और इसकी अहर्निश अनुप्रेक्षा करके वे परम साध्य को प्राप्त करें।

मुक्ति श्रेष्ठ धर्म है

इस विश्व मे धम शब्द से कितने व कैसे-कैसे कर्मकाण्ड अभिहित एव विहित हैं और कितने मत-पथ धम के नाम से पुकारे जाते हैं। उनकी इयत्ता का अनुमान लगा सकना भी असम्भव-सा प्रतीत हो रहा है।

इस विपम समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हुए जिनागमो मे कहा गया है—

"निव्वाण सेट्ठा जह सव्वधम्मा"

ससार के समस्त धर्मों मे निर्वाण अर्थात् मुक्ति ही सबसे श्रेष्ठ धर्म है।

जिस धर्म की आराधना से आत्मा कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त हो जाए वही धर्म सब धर्मो मे श्रेष्ठ है।

मुक्तिवादी महावीर

भगवान महावीर के युग मे कितने वाद प्रचलित थे—यह तो उस युग के दशनो का ऐतिहासिक अध्ययन करके ही जाना जा सकता है। किन्तु यह निश्चित है कि उस युग मे अनेकानेक वाद प्रचलित थे और इन वादो में मुक्तिवाद भी एक प्रमुख वाद था।

समकालीन मुक्तिवादियों मे भगवान महावीर प्रमुख मुक्तिवादी थे। और अपने अनुयायी विनयी अन्तेवासियों को भी कर्मबन्धनो से मुक्त होने की उन्होंने प्रबल प्रेरणा दी तथा मुक्ति का माग-दशन किया।

मुक्ति किसलिये ?

प्राणिमात्र सुखैषी है किन्तु मानव उन सबमे सब से अधिक सुखैषी है। सुख के लिए वह सब कुछ कर लेना चाहता है।

उग्र तपश्चरण, कष्टसाध्य अनुष्ठान और प्रचण्ड परीषह सहना सुखैषी के लिए सामान्य कार्य हैं। पर सुख तो भुक्ति (भोग्य पदार्थों के उपभोग) से भी प्राप्त होता है।

भुक्ति से प्राप्त सुख क्षणिक होता है—इसलिए उसे पाकर प्राणी कभी तृप्त नहीं होता अपितु तृष्णा की ज्वाला मे ही अहर्निश झुलसता रहता है।

'शाश्वत सुख' मुक्ति से ही मिलता है। उसे पाकर आत्मा असीम आनन्द की अनुभूति भी करता है पर भुक्ति की अपेक्षा मुक्ति का मिलना जरा मुश्किल है।

भुक्ति और मुक्ति का द्वन्द्व

"भ" और "म" वर्णमाला के पवर्ग मे जनम-जनम के साथी हैं। भोग प्रवृत्ति का "भ" और भोग निवृत्ति का "म" प्रतीक है। भुक्ति एव मुक्ति का शाब्दिक प्रादुर्भाव "भ" और "म" की प्रसूति का परिणाम है।

भुक्ति और मुक्ति की व्याप्ति व्यतिरेकव्याप्ति है। लौकिक जीवन मे भुक्ति का, लोकोत्तर जीवन मे मुक्ति का साम्राज्य है। अत भुक्ति का भगत मुक्ति का उपासक और मुक्ति का उपासक भुक्ति का भगत नही बन सकता।

आत्मा अनादिकाल से भुक्ति के लिए भटकता रहा है। मुक्ति का सकल्प अब तक मन मे उदित नही हुआ है। क्योंकि वह अनन्तकाल से "तमसावृत" रहा है। अत अपूर्वकरण के अपूर्व क्षणो मे आत्मा का मोहावरण सम्यक्त्व सूर्य की प्रखर रश्मियों से जब प्रतनुभूत हुआ तो उसमे अमित ज्योति की आभा प्रस्फुटित हुई है और उसी क्षण वह भुक्ति से विमुख होकर मुक्ति की ओर मुडा है।

भुक्ति आत्मा को अपनी ओर तथा मुक्ति आत्मा को अपनी ओर आकृष्ट करती रहती है। यही स्थिति भुक्ति एव मुक्ति के द्वन्द्व की सूचक है।

मुक्ति की अनुभूति

(१) रत्नजटित स्वर्णपिंजर मे पालित शुक बादाम-पिश्ते आदि खाकर भी सुखानुभव से शून्य रहता है। वह चाहता है—पिंजरे से मुक्ति और अनन्त आकाश मे उन्मुक्त विहार।

(२) पुगी की मधुर स्वरलहरी से मुग्ध एव पयपान से तृप्त पन्नगराज पिटारी मे पडकर पराधीनता की पीडा से अहर्निश पीडित रहता है। वह चाहता है—पिटारी की परिधि से मुक्ति और स्वच्छन्द सचरण।

(३) नजर कैद मे श्रम किये बिना ही कोमल शय्या, सरस आहार एव शीतल सरस सलिल आदि की अनेकानेक सुविधाएँ पाकर भी मानव अन्तर्वेदना से अनवरत व्यथित रहता है। वह चाहता है—स्वतन्त्रता एव स्वैर विहार।

कठोर परिश्रम के बाद भले ही उसे निवास के लिए पर्णकुटी, शयन के लिए भू-शय्या और भोजन के लिए अपर्याप्त अरस-विरस आहार भी क्यों न मिले, वह इतने से ही सन्तुष्ट रहेगा।

पिंजर से मुक्त पक्षी, पिटारी से मुक्त पन्नग एव नजरकैद से मुक्त नर मुक्ति के आनन्द की झलक पाकर शाश्वत सुख का स्वर समझ सकता है।

न ससार रिक्त होगा और न मुक्ति भरेगी

मुक्तिक्षेत्र मे अनन्तकाल से अनन्त आत्माएँ स्थित हैं। मानव क्षेत्र में से अनेक आत्माएँ कर्म-मुक्त होकर प्रतिक्षण मुक्ति-क्षेत्र मे पहुँचती रहती हैं किन्तु मुक्त आत्माएँ मुक्ति क्षेत्र से परावर्तित होकर मानव क्षेत्र मे कभी नही आती हैं। क्योकि कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त आत्मा के पुन बद्ध होकर मानव क्षेत्र मे लौट आने का कोई कारण नही है।

अल्पज्ञ मन मे यदा-कदा यह आशका उभर आती है कि अनन्तकाल से मुक्त आत्माएँ मुक्ति क्षेत्र में जा रही हैं और लौटकर कभी कोई आत्मा आएगी ही नहीं तो क्या यह विश्व इस प्रकार आत्माओ से रिक्त नही हो जाएगा ?

जैनागमो मे इस आशका का समाधान इस प्रकार दिया गया है—
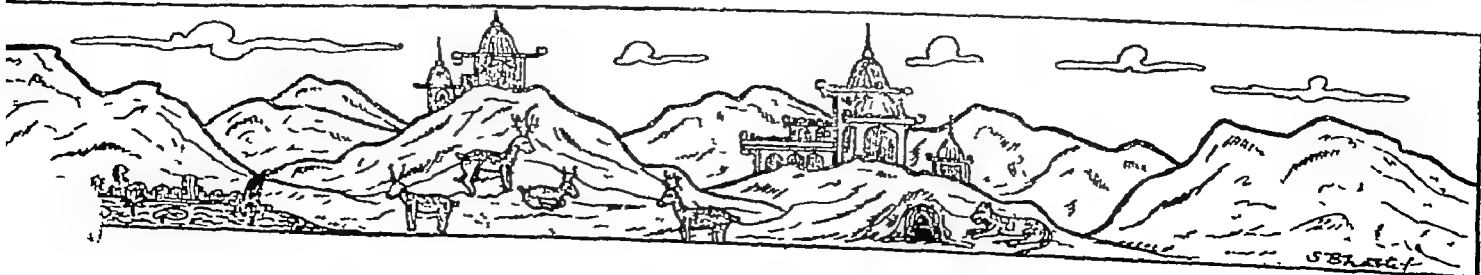
काल अनन्त है। अतीत भी और अनागत भी। आत्माएँ अनन्त हैं। अनन्त अतीत मे भी यह विश्व आत्माओं से रिक्त नहीं हुआ तो अनन्त भविष्य मे भी यह रिक्त कैसे होगा।

जिस प्रकार भविष्य का एक क्षण वतमान बनकर अतीत बन जाता है, पर भविष्य ज्यो का त्यो अनन्त बना हुआ रहता है। वह कभी समाप्त नही होता। उसी प्रकार विश्वात्माएँ भी अनन्त हैं, अत यह विश्व कभी रिक्त नही होगा।

मुक्ति की जिज्ञासा कैसे जगी ?

अनन्तकाल से यह आत्मा भवाटवी मे भटक रही है। पर इसे सवत्र दुख ही दुख प्राप्त हुआ है।[१] सुख कही नहीं मिला।

'कभी इसने नरक मे निरन्तर कठोर यातनाएँ भोगी हैं[२] तो कभी तिर्यग्योनि मे दारुण दुख सहे हैं।[3] कभी मनुज जीवन में रुग्ण होने पर रुदन किया है तो कभी स्वर्गीय सुखो के वियोग से व्याकुल भी हुई है।' इस प्रकार अनन्त जन्म-मरण से सन्त्रस्त आत्मा को एकदा अनायास अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ—यह था इस आत्मा का नैसर्गिक उदय।

इस उदय से आत्मा का आर्य क्षेत्र एव उत्तम कुल में जन्म, स्वस्थ शरीर, स्वजन-परिजन का सुखद सम्बन्ध, अमित वैभव के साथ-साथ सद्गुरु की सगति एव सद्धर्म-श्रवण-अभिरुचि भी उसमें जाग्रत हुई।

एक दिन उसने धर्मसभा मे श्रवण किया—

'आत्मा ने अतीत के अनन्त जन्मो में अनन्त दुख भोगे हैं—जब तक इस आत्मा की कर्मबन्धनो से सवथा मुक्ति नही हो जाती तब तक यह आत्मा शाश्वत सुख प्राप्त नहीं कर सकती।'

इस प्रकार प्रवचन-श्रवण से अतीत की अनन्त दुखानुभूतियाँ उस आत्मा की स्मृति मे साकार हो गई, अत उसकी अन्तश्चेतना मे मुक्ति-मार्गों की जिज्ञासा जगी।

मुक्ति का अभिप्रेतार्थ

मुक्ति भाववाचक सज्ञा है—इसका वाच्यार्थ है—बन्धन आदि से छुटकारा पाने की क्रिया या भाव।

आध्यात्मिक साधना मे मुक्ति शब्द का अभिप्रेतार्थ है—आत्मा का कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त होना।[४]

मुक्ति के समानार्थक

मोक्ष—किसी से छुटकारा प्राप्त करना। आध्यात्मिक साधना मे आत्मा का कमबन्धनो से सवथा मुक्त होना अभिप्रेत है।[५]

निर्वाण—इस शब्द का अथ है—समाप्ति। यहाँ अभिप्रेत अर्थ है—कमबन्धनो का सवथा समाप्त होना।[६]

बहिर्विहार—इसका वाच्यार्थ है—बाहर गमन करना। यहाँ इष्ट अथ है—जन्म-मरण रूप ससार स्थान से बाहर जाना। मुक्त होने पर पुन ससार में आवागमन नही होता।[७]

सिद्धलोक—मुक्तात्मा अपना अभीष्ट सिद्ध (प्राप्त) कर लेता है अत मुक्तात्माओं का निवास स्थान 'सिद्धलोक' कहा जाता है।[८]

आत्मवसति—मुक्तात्माओ की वसति (शाश्वत स्थिति का स्थान) 'आत्मवसति' कही जाती है।[९]

अनुत्तरगति—कर्मबन्धनो से बद्ध आत्मा नरकादि चार गतियों मे आवागमन करती है और कमबन्धनों से सर्वथा मुक्त आत्मा इस 'अनुत्तरगति' को प्राप्त होती है। क्योकि आत्मा की यही अन्तिम गति है अत यह 'अनुत्तरगति' कही जाती है।[१०]

प्रधानगति—बद्धात्मा चार गतियो को पुन-पुन प्राप्त होती है और मुक्तात्मा इस गति को प्राप्त होती है। विश्व मे इस गति से अधिक प्रधान अन्य गति नहीं है, इसलिए यह 'प्रधानगति' कही गई है।[११]

सुगति—देवगति और मनुष्यगति भी सुगति कही गयी है किन्तु यह कथन नरक और तिर्यग् गति की अपेक्षा से किया गया है। वास्तव मे मुक्तात्माओ की जो गति है, वही सुगति है।[१२]

वरगति—विश्व मे इस गति से अधिक श्रेष्ठ कोई गति नही है। यह गति मुक्तात्माओ को प्राप्त होती है।[१३]

ऊर्ध्वदिशा—आत्मा का निज स्वभाव ऊर्ध्वगमन करने का है। मुक्तात्माओ की स्थिति लोकाग्रभाग मे होती है, वह ऊर्ध्वदिशा में है, अत यह नाम सार्थक है।[१४]

दुरारोह—मुक्ति प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है। मुक्त होने की साधना जितनी कठिन है उतना ही कठिन मुक्ति प्राप्त करना है।[१५]

अपुनरावृत्त—मुक्तात्मा की ससार मे पुनरावृत्ति नही होती है अत मुक्ति का समानार्थक नाम 'अपुनरावृत्त' है।[१६]

शाश्वत—मुक्तात्मा की मुक्ति ध्रुव होती है। एक वार कर्मवन्धन से सवथा मुक्त होने पर आत्मा पुन वद्ध नही होती है, इसलिए मुक्ति और मुक्ति क्षेत्र दोनो शाश्वत हैं।[१७]

अव्यावाध—आत्मा के मुक्त होने पर जो उसे शाश्वत सुख प्राप्त होता है, वह समस्त वाधाओ से रहित होता है, इसलिए मुक्ति अव्यावाध है।[१८]

लोकोत्तमोत्तम—तीन लोक मे मुक्ति ही सर्वोत्तम है।[१९]

मुक्तिक्षेत्र

मुक्तिक्षेत्र ऊपर की ओर लोक के अग्रभाग मे है।[२०] इस क्षेत्र मे अनन्त मुक्तात्माएँ स्थित हैं। अतीत, वर्तमान और अनागत इन तीन कालो मे मुक्त होने वाली आत्माएँ इसी मुक्तिक्षेत्र मे आत्म (निज) स्वरूप मे अवस्थित हैं।

मानव क्षेत्र मध्यलोक मे है और मुक्ति क्षेत्र ऊर्ध्वलोक मे है।

मानव क्षेत्र और मुक्ति क्षेत्र का आयाम विष्कम्भ समान है। दोनो की लम्वाई-चौडाई पैंतालीस लाख योजन की है। मानव क्षेत्र के ऊपर समश्रेणी मे मुक्तिक्षेत्र अवस्थित है। मुक्तिक्षेत्र की परिधि मानव क्षेत्र के समान लम्वाई-चौडाई से तिगुनी है।

मुक्तिक्षेत्र की मोटाई मध्य भाग मे आठ योजन की है और क्रमश पतली होती-होती अन्तिम भाग मे मक्खी की पाख से भी अधिक पतली है।

मुक्तिक्षेत्र शख, अकरत्न और कुन्द पुष्प के समान श्वेत स्वर्णमय निर्मल एव शुद्ध है। यह उत्तान (सीधे खुले हुए) छत्र के समान आकार वाला है।

मुक्तिक्षेत्र सर्वार्थसिद्ध विमान से वारह योजन ऊपर है और वहाँ से एक योजन ऊपर लोकान्त है।[२१]

मुक्तिक्षेत्र के बारह नाम

(१) **ईषत्**—रत्नप्रमादि पृथ्वियों की अपेक्षा यह (मुक्तिक्षेत्र की) पृथ्वी छोटी है, इसलिए इसका नाम ईषत् है।

(२) **ईषत् प्राग्भारा**—रत्नप्रभादि अन्य पृथ्वियो की अपेक्षा इसका ऊँचाई रूप (प्राग्भार) अल्प है।

(३) **तन्वी**—अन्य पृथ्वियो से यह पृथ्वी तनु (पतली) है।

(४) **तनुतन्वी**—विश्व मे जितने तनु (पतले) पदार्थ हैं, उन सबसे यह पृथ्वी अन्तिम भाग में पतली है।

(५) **सिद्धि**—इस क्षेत्र मे पहुँचकर मुक्त आत्मा स्व-स्वरूप की सिद्धि प्राप्त कर लेती है।

(६) **सिद्धालय**—मुक्तात्माओं को "सिद्ध" कहा जाता है। क्योकि कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त होने का कार्य मुक्तात्माओ ने सिद्ध कर लिया है, इसलिए इस क्षेत्र का नाम "सिद्धालय" है।

(७) **मुक्ति**—जिन आत्माओ की कर्मवन्धन से सर्वथा मुक्ति हो चुकी है, उन आत्माओ का ही आगमन इस क्षेत्र में होता है, इसलिए यह क्षेत्र मुक्ति-क्षेत्र है।

(८) **मुक्तालय**—यह क्षेत्र मुक्तात्माओं का आलय (स्थान) है।

(९) **लोकाग्र**—यह क्षेत्र लोक के अग्र भाग मे है।

(१०) **लोकाग्र-स्तूपिका**—यह क्षेत्र लोक की स्तूपिका (शिखर) के समान है।
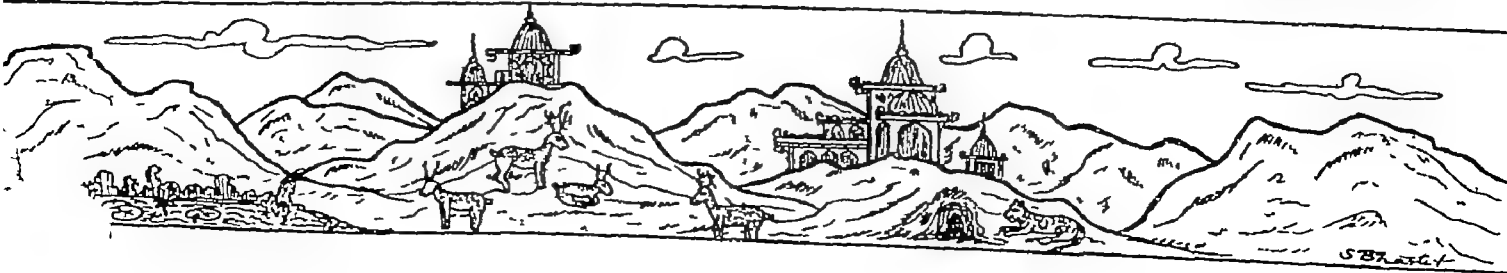
(११) **लोकाग्र-प्रतिवाहिनी**—लोक के अग्र भाग ने जिस क्षेत्र (पृथ्वी) का वहन किया है।

(१२) **सर्व प्राण-भूत-जीव-सत्व सुखावहा**—चतुर्गति के जीव एक भव या अनेक भव करके इस मुक्तिक्षेत्र को प्राप्त होते हैं और वे शाश्वत सुख को प्राप्त होते हैं।[२२]

मुक्ति के प्रकार

मुक्ति दो प्रकार की है—एक द्रव्यमुक्ति और दूसरी भावमुक्ति।

द्रव्यमुक्ति अनेक प्रकार की है—ऋण चुका देने पर जो ऋण से मुक्ति मिलती है, वह ऋणमुक्ति द्रव्यमुक्ति है।

कारागार से मुक्ति मिलने पर जो हथकडी, वेडी आदि बन्धनों से मुक्ति मिलती है, वह बन्धनमुक्ति भी द्रव्यमुक्ति है।

इसी प्रकार अभियोगमुक्ति, देहमुक्ति आदि अनेक प्रकार की द्रव्यमुक्तियाँ हैं।

औदयिक भावों से मुक्त होने पर आत्मा की जो कर्मबन्धनों से मुक्ति होती है। अथवा औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिक भावों के आने पर जो कर्मबन्धनों से मुक्ति होती है वह "भावमुक्ति" कही गई है। इस प्रकार भावों द्वारा प्राप्त "भावमुक्ति" ही वास्तविक मुक्ति है। ये भेद व्यवहारनय की अपेक्षा से किए गए हैं। सग्रहनय की अपेक्षा से तो मुक्ति एक ही प्रकार की है।[२३]

मुक्ति के मूल कारण

(१) काल, (२) स्वभाव, (३) नियति, (४) पूर्वकृत कर्मक्षय और (५) पौरुष। ये मुक्ति के प्रमुख पाँच हेतु हैं।

इन पाँचों के समुदाय से आत्मा मुक्त होती है। इनमें से एक का अभाव होने पर भी आत्मा मुक्त नहीं हो सकती है।

(१) **काल**—आत्मा के कर्मबंधन से मुक्त होने में काल की अपेक्षा है। कुछ मुक्तात्माओं का साधना काल अल्प होता है और कुछ का साधना काल अधिक। अर्थात् कुछ आत्माएँ एक भव की साधना से और कुछ आत्माएँ अनेक भव की साधना के बाद मुक्त होती हैं। इसलिए काल मुक्ति का प्रमुख हेतु है।

(२) **स्वभाव**—मुक्ति का प्रमुख हेतु केवल काल ही नहीं है। आत्मा के कर्मबन्धन से मुक्त होने में स्वभाव की भी अपेक्षा है। केवल काल ही यदि मुक्ति का हेतु होता तो अभव्य भी मुक्त हो जाता, किन्तु मुक्त होने का स्वभाव भव्य का ही है, अभव्य का नहीं। इसलिए स्वभाव भी मुक्ति का प्रमुख हेतु है।

(३) **नियति**—काल और स्वभाव—केवल ये दो ही मुक्ति के दो प्रमुख हेतु नहीं हैं। आत्मा के कर्मबन्धन से मुक्त होने में नियति की भी अपेक्षा है। यदि काल और स्वभाव—ये दो ही मुक्ति के प्रमुख हेतु होते तो सभी भव्य आत्माएँ मुक्त हो जाती, किन्तु जिन भव्य आत्माओं के मुक्त होने की नियति होती है वे ही मुक्त होती हैं। इसलिए नियति भी मुक्ति का प्रमुख हेतु है।

(४) **पूर्वकृत कर्मक्षय**—काल, स्वभाव और नियति—केवल ये तीन ही मुक्ति के प्रमुख हेतु नहीं है। आत्मा के कर्मबन्धन से मुक्त होने में पूर्वकृत कर्मक्षय भी अपेक्षित है। काल, स्वभाव और नियति ही यदि मुक्ति के प्रमुख हेतु होते तो राजा श्रेणिक भी मुक्त हो जाते किन्तु उनके पूर्वकृत कर्म जब तक क्षय नहीं हुए तब तक वे मुक्त कैसे होते? इसलिए पूर्वकृत कर्मक्षय भी मुक्ति का प्रमुख हेतु है।

(५) **पौरुष**—पूर्वकृत कर्मों का क्षय पौरुष के बिना नहीं होता, इसलिए पूर्वोक्त चार हेतुओं के साथ पौरुष भी मुक्ति का प्रमुख हेतु है।

यद्यपि मरुदेवी माता के मुक्त होने में बाह्य पुरुषार्थ परिलक्षित नहीं होता है किन्तु क्षपक श्रेणी और शुक्लध्यान का अतरंग पुरुषार्थ करके ही वह मुक्त हुई थी।

मुक्ति के अन्य मूल कारण

१ त्रसत्व—गमनागमन शक्ति सम्पन्नता,
२ पञ्चेन्द्रिय सम्पन्न,
३ मनुष्यत्व
४ आर्यदेश

५ उत्तम कुल
६ उत्तम जाति
७ स्वस्थ शरीर
८ आत्मबल-सम्पन्न
६ दीर्घायु
१० विज्ञान
११ सम्यक्त्व
१२ शील-सम्प्राप्ति
१३ क्षायिक भाव
१४ केवलज्ञान
१५ मोक्ष

उक्त कारणो मे तेरहवाँ क्षायिक भाव है, उसके ६ भेद हैं—

१ केवलज्ञान, २ केवलदर्शन, ३ दानलब्धि, ४ लाभलब्धि, ५ भोगलब्धि, ६ उपभोगलब्धि ७ वीर्य-लब्धि, ८ क्षायिक सम्यक्त्व और ६ यथाख्यात चारित्र ।

घातिकर्म चतुष्टय के सर्वथा क्षय होने पर जो आत्म-परिणाम होते हैं वे क्षायिक भाव कहे जाते हैं । ये क्षायिक भाव सादि अपर्यवसित हैं । एक बार प्राप्त होने पर ये कभी नष्ट नही होते हैं ।

मुक्ति सूचक स्वप्न

(१) स्वप्न मे अश्व, गज यावत् वृषभ आदि की पक्ति देखे तथा मैं अश्व आदि पर आरूढ हूँ—ऐसा स्वय अनुभव करता हुआ जागृत हो तो स्वप्नद्रष्टा उसी भव से सिद्ध, बुद्ध—यावत्—सर्व दु खो से मुक्त होता है ।

(२) स्वप्न मे समुद्र को एक रज्जू से आवेष्टित करे और 'मैंने ही इसे आवेष्टित किया है'—ऐसा स्वय अनुभव करता हुआ जागृत हो तो स्वप्नद्रष्टा उसी भव से मुक्त होता है ।

(३) स्वप्न मे इस लोक को एक बडे रज्जू से आवेष्टित करे और 'मैंने ही इसे आवेष्ठित किया है'—ऐसा स्वय अनुभव करता हुआ जागृत हो तो स्वप्नद्रष्टा उसी भव से मुक्त होता है ।

(४) स्वप्न मे पाँच रग के उलझे हुए सूत को स्वय सुलझाए तो स्वप्नद्रष्टा उसी भव से मुक्त होता है ।

(५) स्वप्न मे लोह, ताम्र, कथीर और शीशा नामक धातुओ की राशियो को देखे तथा स्वय उन पर चढे तो स्वप्नद्रष्टा दो भव से मुक्त होता है ।

(६) स्वप्न मे हिरण्य, सुवर्ण, रत्न एव वज्र(हीरे)की राशियो को देखे और स्वय उन पर चढे तो स्वप्नद्रष्टा उसी भव से मुक्त होता है ।

(७) स्वप्न में घास यावत् कचरे के बहुत बडे ढेर को देखे और स्वय उसे बिखेरे तो स्वप्नद्रष्टा उसी भव से मुक्त होता है ।

(८) स्वप्न में शर वीरण वशीमूल या वल्लीमूल स्तम्भ को देखे और स्वय उसे उखाडे तो स्वप्नद्रष्टा उसी भव से मुक्त होता है ।

(९) स्वप्न मे क्षीर, दधि, घृत और मधु के घट को देखे तथा स्वय उठाए तो स्वप्नद्रष्टा उसी भव से मुक्त होता है ।

(१०) स्वप्न मे सुरा, सौवीर तेल या वसा भरे घट को देखकर तथा स्वय उसे फोडकर जागृत हो तो स्वप्नद्रष्टा दो भव से मुक्त होता है ।

(११) स्वप्न मे असख्य उन्मत्त लहरो से व्याप्त पद्म सरोवर को देखकर स्वय उसमे प्रवेश करे तो स्वप्नद्रष्टा उसी भव से मुक्त होता है ।

(१२) स्वप्न में महान् सागर को भुजाओं से तैरकर पार करे तो स्वप्नद्रष्टा उसी भव से मुक्त होता है ।

(१३) स्वप्न में रत्नजटित विशाल भवन मे प्रवेश करे तो स्वप्नद्रष्टा उसी भव से मुक्त होता है ।

(१४) स्वप्न मे रत्नजटित विशाल विमान पर चढे तो स्वप्नद्रष्टा उसी भव से मुक्त होता है ।

ये चौदह स्वप्न पुरुष या स्त्री देखे और उसी क्षण जागृत हों तो उसी भव से मुक्त होते हैं ।

पाँचवा और दसवाँ स्वप्न देखने वाले दो भव से मुक्त होते हैं ।[२४]

मुक्तात्मा के मौलिक गुण

अष्ट गुण—(अष्ट कर्मों के क्षय से ये अष्ट गुण प्रगट होते हैं ।)

१ अनन्त ज्ञान, २ अनन्त दर्शन, ३ अव्याबाध सुख, ४ क्षायिक सम्यक्त्व,
५ अक्षय स्थिति, ६ अमूर्तपना, ७ अगुरुलघु, ८ अनन्त शक्ति।

इकतीस गुण—(आठ कर्मों की मूल प्रकृतियो के क्षय की अपेक्षा से ये गुण कहे गए हैं।)

१ ज्ञानावरण कर्म के क्षय से प्रगटे पांच गुण—
(क) क्षीण आभिनिबोधिक ज्ञानावरण, (ख) क्षीण श्रुतज्ञानावरण, (ग) क्षीण अवधिज्ञानावरण,
(घ) क्षीण मन पर्यव ज्ञानावरण, (ङ) क्षीण केवलज्ञानावरण।

२ दर्शनावरण कर्म के क्षय से प्रगटे नौ गुण—
(क) क्षीण चक्षुदर्शनावरण, (ख) क्षीण अचक्षुदशनावरण, (ग) क्षीण अवधिदर्शनावरण,
(घ) क्षीण केवलदशनावरण, (ङ) क्षीण निद्रा, (च) क्षीण निद्रानिद्रा,
(छ) क्षीण प्रचला, (ज) क्षीण प्रचलाप्रचला, (झ) क्षीण स्त्यानर्द्धि,

३ वेदनीय कर्म के क्षय से प्रगटे दो गुण—
(क) क्षीण सातावेदनीय, (ख) क्षीण असातावेदनीय।

४ मोहनीय कर्म के क्षय से प्रगटे दो गुण—
(क) क्षीण दर्शनमोहनीय (ख) क्षीण चारित्रमोहनीय।

५ आयु कर्म के क्षय से प्रगटे चार गुण—
(क) क्षीण नैरयिकायु, (ख) क्षीण तिर्यचायु (ग) क्षीण मनुष्यायु, (घ) क्षीण देवायु।

६ नाम कर्म के क्षय से प्रगटे दो गुण—
(क) क्षीण शुभ नाम, (ख) क्षीण अशुभ नाम।

७ गोत्र कर्म के क्षय से प्रगटे दो गुण—
(क) क्षीण उच्चगोत्र, (ख) क्षीण नीचगोत्र।

८ अन्तराय कर्म के क्षय से प्रगटे पांच गुण—
(क) क्षीण दानान्तराय, (ख) क्षीण लाभान्तराय, (ग) क्षीण भोगान्तराय, (घ) क्षीण उपभोगान्तराय,
(ङ) क्षीण वीर्यान्तराय।

अन्य प्रकार से इकतीस गुण

मुक्तात्मा के पाच वर्ण, दो गन्ध, पाच रस, आठ स्पर्श, पाच सस्थान, तीन वेद, काय, सग और रूह—इन इकतीस के क्षय से इकतीस गुण प्रगट होते हैं।

मुक्तात्मा वर्ण गन्ध, रस, स्पश, सस्थान और वेद रहित होते हैं।
मुक्तात्मा के औदारिकादि काय (शरीर) न होने से "अकाय" हैं।
बाह्याभ्यन्तर सग रहित होने से "असग" हैं।
मुक्त होने के बाद पुन ससार मे जन्म नहीं लेते, अत "अरूह" है।

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्त, प्रादुर्भवति नांकुर।
कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवांकुर॥

बीज के जल जाने पर जिस प्रकार अकुर पैदा नही होता उसी प्रकार कम रूप बीज के क्षय हो जाने पर भव (जन्म) रूप अकुर पैदा नहीं होता।

मुक्तात्मा की अविग्रह गति

मुक्तात्मा स्थूल (औदारिक) शरीर और सूक्ष्म (तैजस-कामण) शरीर छोडकर मुक्तिक्षेत्र मे अविग्रह (सरल) गति से पहुँचता है। इस गति मे केवल एक समय (काल का अविभाज्य अश) लगता है। क्योकि मनुष्य क्षेत्र मे आत्मा जिस स्थान पर देहमुक्त होता है उस स्थान से सीधे ऊपर की ओर मुक्तिक्षेत्र मे मुक्त आत्मा स्थित होती है। इसलिए मुक्तात्मा की ऊर्ध्वगति मे कही विग्रह नही होता।

अविग्रह गति के चार कारण

(१) **पूर्व प्रयोग**—पूर्वबद्ध कर्मों से मुक्त होने पर जो वेग उत्पन्न होता है उससे मुक्तात्मा ऊर्ध्वगति करता है। जिस प्रकार कुलाल चक्र दण्ड द्वारा घुमाने पर तीव्र वेग से फिरता है। दण्ड के हटा लेने पर भी वह पूर्व प्रयोग से फिरता ही रहता है। इसी प्रकार मुक्तात्मा भी पूर्व प्रयोगजन्य वेग से ऊर्ध्वगति करता है।

(२) **सग का अभाव**—प्रतिबधक कर्म का सग-सम्बन्ध न रहने से मुक्तात्मा ऊर्ध्वगति करता है जिस प्रकार अनेक मृत्तिकालेपयुक्त तुम्ब जलाशय के अधस्तल मे पडा रहता है और मृत्तिका के लेपो से मुक्त होने पर अपने आप जलाशय के उपरितल पर आ जाता है इसी प्रकार मुक्तात्मा भी प्रतिबधक कर्मबध से मुक्त होने पर लोक के अग्रभाग पर अवस्थित होता है।

(३) **बध छेद**—कर्मबध के छेदन से आत्मा ऊर्ध्वगति करता है। जिस प्रकार एरडबीज कोश से मुक्त होने पर स्वतन्त्र ऊर्ध्व गति करता है इसी प्रकार मुक्तात्मा भी ऊर्ध्वगति करता है।

(४) **गति परिणाम**—आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगति करने वाला है। जहा तक धर्मास्तिकाय है वहा तक मुक्तात्मा गति करता है। धर्मास्तिकाय लोक के अग्रभाग तक ही है इसलिए अलोक मे मुक्तात्मा नही जाती।

उक्त चार कारणो से मुक्तात्मा की लोकान्तपर्यन्त अविग्रह गति होती है।[२५]

मुक्तात्मा का अमूर्तत्व

मुक्तात्मा के न स्थूल शरीर होता है और न सूक्ष्म शरीर। जब तक आत्मा शरीरयुक्त रहता है तब तक उसका परिचय किसी एक प्रकार की विशिष्ट आकृति मे दिया जाता है किन्तु शरीर रहित (अमूर्त) आत्मा का परिचय निषेधपरक शब्दो के अतिरिक्त शब्दो द्वारा दिया जाना सभव नही है।

यहा ये बत्तीस वाक्य अमूर्त आत्मा के परिचायक हैं।

मुक्त आत्मा—(१) न दीर्घ है, (२) न ह्रस्व है, (३) न वृत्त है, (४) न तिकोन है, (५) न चतुष्कोण है, (६) न परिमण्डल है, (७) न काला, (८) न हरा, (९) न लाल, (१०) न पीला और, (११) न श्वेत है, (१२) न सुगन्ध रूप है और (१३) न दुर्गन्ध रूप है, (१४) न तीक्ष्ण, (१५) न कटुक, (१६) न कषाय, (१७) न अम्ल और (१८) न मधुर है, (१९) न कठोर, (२०) न कोमल, (२१) न गुरु, (२२) न लघु, (२३) न शीत, (२४) न उष्ण, (२५) न स्निग्ध और (२६) न रुक्ष है, (२७) न काय, (२८) न सग और (२९) न रूह है, (३०) न स्त्री (३१) न पुरुष, और (३२) न पु सक है।

वैदिक परम्परा मे मुक्तात्मा के अमूर्तत्व को "नेति-नेति" कहकर व्यक्त किया है।

मुक्तात्माओ का अनुपम सुख

मुक्तात्मा को जैसा सुख होता है वैसा सुख न किसी मनुष्य को होता है और न किसी देवता को—क्योकि उनके सुख मे यदाकदा विघ्न-बाधा आती रहती है किन्तु मुक्तात्मा का सुख अव्याबाध (बाधा रहित) होता है।

यदि कोई समस्त देवों की स्वर्गीय सुखराशि को अनन्त काल के अनन्त समयो से गुणित करे और गुणित सुख राशि को अनन्त बार वर्ग करे फिर भी मुक्तात्मा के सुख की तुलना नही हो सकती।

एक मुक्तात्मा के सर्वकाल की सचित सुखराशि को अनन्त वर्गमूल से विभाजित करने पर जो एक समय की सुखराशि शेष रहे—वह भी सारे आकाश में नही समाती है।[२६]

इस प्रकार मुक्तात्माओं का सुख शाश्वत एव अनुपम सुख है। विश्व मे एक भी उपमेय ऐसा नही है जिसकी उपमा मुक्तात्मा के सुख को दी जा सके, फिर भी असाधारण सादृश्य दर्शक एक उदाहरण प्रस्तुत है।

जिस प्रकार एक पुरुष सुधा समान सर्वरस सम्पन्न सुस्वादु भोजन एव पेय से अत्यन्त सन्तुष्ट होकर सुखानुभव करता है—इसी प्रकार अनुपम निर्वाण सुख प्राप्त मुक्तात्मा सर्वदा निराबाध शाश्वत सुख सम्पन्न रहता है।

अनुपम सुख का प्रज्ञापक एक उदाहरण

एक राजा शिकार के लिए जगल मे गया। वहा वह अपने साथियो से बिछुड गया। कुछ देर बाद उसे क्षुधा और तृषा लगी। पानी की तलाश में इधर-उधर घूमते हुए उसे किसान की एक कुटिया दिखाई दी।

राजा वहा गया। किसान ने राजा को शीतल एव मधुर जल पिलाया और भोजन कराया।

राजा ने किसान से कहा—एक दिन तू मेरे यहा आ—मैं भी तुझे अच्छा-अच्छा भोजन खिलाउँगा। यह कहकर राजा अपने नगर को चला आया।

एक दिन किसान राजा के पास गया। राजा ने उसे राजमहलो मे रखा। अच्छे वस्त्र पहनाए, मिष्ठान्न खिलाए। पर किसान का मन महलो मे नहीं लगा। एक दिन वह उकताकर राजा से कहने लगा—मैं अपने घर जाना चाहता हूँ।

राजा ने कहा—जा सकता है।

किसान अपने घर चला आया।

किसान के कुटुम्बियों ने उससे पूछा—राजा के यहाँ तू कैसे रहा?

किसान राजा के महल का, वस्त्रो का और भोजन का यथार्थ वर्णन नही कर सका।

किसान ने कहा—वहाँ का आनन्द तो निराला ही था। मैं तुम्हें क्या बताऊँ। वहाँ जैसी मिठाइयाँ मैंने कभी नही खाईं। वहाँ जैसे वस्त्र मैंने कभी नहीं पहने। वहाँ जैसे बिछौनो पर मैं कभी नही सोया।

किसान जिस प्रकार राजसी सुख का वर्णन नहीं कर सका इसी प्रकार मुक्तात्मा के सुख का वर्णन भी मानव की शब्दावली नहीं कर सकती।[२७]

मार्ग का अभिप्रेतार्थ

मार्ग भी भाववाचक संज्ञा है—इसका वाच्यार्थ है—दो स्थानो के बीच का क्षेत्र।

जिस स्थान से व्यक्ति गन्तव्य स्थान के लिए गमन-क्रिया प्रारम्भ करता है। वह एक स्थान और जिस अभीष्ट स्थान पर व्यक्ति पहुँचना चाहता है—वह दूसरा स्थान। ये दोनो स्थान कही ऊपर या नीचे। कहीं सम या विषम स्थल पर अथवा किसी दिशा या विदिशा मे होते हैं।

इन दो स्थानों के मध्य का क्षेत्र कही अल्प परिमाण का और कही अधिक परिमाण का भी होता है।

आध्यात्मिक साधना मे मार्ग शब्द का अभिप्रेतार्थ है—मुक्ति के उपाय। अर्थात् जिन उपायों (साधनो) से आत्मा कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त हो सके। ऐसे उपाय आगमो मे "मुक्ति के मार्ग" कहे गये हैं।

मार्ग के समानार्थक[२८]

(१) पन्थ

(क) द्रव्य विवक्षा—जिस पर चलकर किसी ग्राम या नगर से इष्ट ग्राम या नगर को पथिक पहुंच जाय वह द्रव्य पन्थ है।

(ख) भाव विवक्षा—जिस निमित्त से या उपदेश से मिथ्यात्व से मुक्त होकर सम्यक्त्व प्राप्त हो जाय वह भाव पन्थ है।

(२) मार्ग

(क) द्रव्य विवक्षा—जो मार्ग सम हो और कन्टक, बटमार या श्वापदादि से रहित हो।

(ख) भाव विवक्षा—जिस साधना से आत्मा अधिक शुद्ध हो।

(३) न्याय

(क) द्रव्य विवक्षा—ऐसा सद् व्यवहार जिससे विशिष्ट पद या स्थान की प्राप्ति हो।

(ख) भाव विवक्षा—सम्यग्ज्ञान-दर्शन से सम्यग्चारित्र की प्राप्ति हो।

(४) विधि

(क) द्रव्य विवक्षा—ऐसे सत् कार्य जिनके करने से इष्ट पद या स्थान की निर्विघ्न प्राप्ति हो।

(ख) भाव विवक्षा—जिस साधना से सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र की निर्विघ्न आराधना हो।

(५) धृति

(क) द्रव्य विवक्षा—अनेक विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी धैर्य से इष्ट पद या स्थान प्राप्त हो जाय।

(ख) भाव विवक्षा—अनेक परीषह एव उपसर्गों के होते हुए भी धैर्य से रत्नत्रय की आराधना करते हुए कर्मबन्धन से आत्मा मुक्त हो जाय।

(६) सुगति

(क) द्रव्य विवक्षा—सुख से (कष्ट के बिना) इष्ट स्थान को पहुंच जाय।

(ख) भाव विवक्षा—किसी प्रकार की कठोर साधना किए बिना रत्नत्रय की सामान्य आराधना करते हुए आत्मा का कर्मबन्धन से मुक्त होना।

(७) हित

(क) द्रव्य विवक्षा—जिस मार्ग पर चलना हितकर हो।

(ख) भाव विवक्षा—रत्नत्रय से आत्म-स्वरूप की प्राप्ति हो क्योंकि आत्मा का वास्तविक हित यही है।

(८) सुख

(क) द्रव्य विवक्षा—जिस मार्ग पर चलने में सुखानुभूति हो वह सुखकर मार्ग है।

(ख) भाव विवक्षा—रत्नत्रय की आराधना से आत्मिक सुख की प्राप्ति हो।

(९) पथ्य

(क) द्रव्य विवक्षा—जिस मार्ग पर चलने से स्वास्थ्य का सुधार हो।

(ख) भाव विवक्षा—रत्नत्रय की आराधना से कषायों का उपशमन हो।

(१०) श्रेय

(क) द्रव्य विवक्षा—जो मार्ग गमन करने वाले के लिए श्रेयस्कर हो।

(ख) भाव विवक्षा—रत्नत्रय की साधना से मोह का उपशमन हो।

(११) निर्वृत्ति

(क) द्रव्य विवक्षा—जिस मार्ग पर चलने से मानसिक अशान्ति निर्मूल हो।

(ख) भाव विवक्षा—रत्नत्रय की साधना से मोह का सर्वथा क्षय हो।

(१२) निर्वाण

(क) द्रव्य विवक्षा—जिस मार्ग पर चलने से शारीरिक एवं मानसिक दुखों से निवृत्ति मिले।

(ख) भाव विवक्षा—रत्नत्रय की साधना से घाति कर्म चतुष्टय का निर्मूल होना।

(१३) शिव

(क) द्रव्य विवक्षा—जिस मार्ग पर चलने से किसी प्रकार का अशिव (उपद्रव) न हो।

(ख) भाव विवक्षा—रत्नत्रय की साधना से शैलेषी (अयोग) अवस्था प्राप्त हो।

मार्ग के प्रकार

लौकिक लक्ष्य-स्थान के मार्ग तीन प्रकार के हैं—१ जलमार्ग, २ स्थलमार्ग, और ३ नभमार्ग।

इन मार्गों द्वारा अभीष्ट स्थान पर पहुंचने के लिए तीन प्रकार के साधनों का उपयोग किया जाता है।

१ गमन क्रिया करने वाले के पैर, २ यान और ३ वाहन।

इसी प्रकार लोकोत्तर लक्ष्य-स्थान "मुक्ति" के मार्ग भी तीन प्रकार के हैं। १ ज्ञान, २ दर्शन और ३ चारित्र। **सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।**[२६]

मार्ग के प्रकार

मार्ग छह प्रकार के है—१ नाम मार्ग, २ स्थापना मार्ग, ३ द्रव्य मार्ग, ४ क्षेत्र मार्ग, ५ काल मार्ग और ६ भाव मार्ग।

(१) **नाम मार्ग**—एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाने वाला मार्ग जिस नाम से अभिहित हो—वह नाम मार्ग है। यथा—यह इन्द्रप्रस्थ जाने वाला मार्ग है।

(२) **स्थापना मार्ग**—एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाने के लिए जिस मार्ग की रचना की गई हो—वह स्थापना मार्ग है। यथा—पगदण्डी, सडक, रेलमार्ग आदि।

(३) द्रव्य मार्ग—यह मार्ग अनेक प्रकार का है।

(क) फलक मार्ग—जहाँ पंक अधिक हो वहाँ फलक आदि लगाकर मार्ग बनाया जाय।

(ख) लता मार्ग—जहाँ लताएँ पकडकर जाया जाय।

राजा वहा गया। किसान ने राजा को शीतल एव मधुर जल पिलाया और भोजन कराया।

राजा ने किसान से कहा—एक दिन तू मेरे यहा आ—मैं भी तुझे अच्छा-अच्छा भोजन खिलाउँगा। यह कहकर राजा अपने नगर को चला आया।

एक दिन किसान राजा के पास गया। राजा ने उसे राजमहलो मे रखा। अच्छे वस्त्र पहनाए, मिष्ठान्न खिलाए। पर किसान का मन महलो मे नही लगा। एक दिन वह उकताकर राजा से कहने लगा—मैं अपने घर जाना चाहता हूँ।

राजा ने कहा—जा सकता है।

किसान अपने घर चला आया।

किसान के कुटुम्बियो ने उससे पूछा—राजा के यहाँ तू कैसे रहा ?

किसान राजा के महल का, वस्त्रो का और भोजन का यथार्थ वर्णन नही कर सका।

किसान ने कहा—वहाँ का आनन्द तो निराला ही था। मैं तुम्हें क्या बताऊँ। वहाँ जैसी मिठाइयाँ मैंने कभी नही खाई। वहाँ जैसे वस्त्र मैंने कभी नही पहने। वहाँ जैसे बिछौनो पर मैं कभी नही सोया।

किसान जिस प्रकार राजसी सुख का वर्णन नही कर सका इसी प्रकार मुक्तात्मा के सुख का वर्णन भी मानव की शब्दावली नही कर सकती।[२७]

मार्ग का अभिप्रेतार्थ

मार्ग भी भाववाचक सज्ञा है—इसका वाच्यार्थ है—दो स्थानो के बीच का क्षेत्र।

जिस स्थान से व्यक्ति गन्तव्य स्थान के लिए गमन-क्रिया प्रारम्भ करता है। वह एक स्थान और जिस अभीष्ट स्थान पर व्यक्ति पहुँचना चाहता है—वह दूसरा स्थान। ये दोनो स्थान कही ऊपर या नीचे। कहीं सम या विषम स्थल पर अथवा किसी दिशा या विदिशा मे होते हैं।

इन दो स्थानो के मध्य का क्षेत्र कही अल्प परिमाण का और कही अधिक परिमाण का भी होता है।

आध्यात्मिक साधना मे मार्ग शब्द का अभिप्रेतार्थ है—मुक्ति के उपाय। अर्थात् जिन उपायों (साधनो) से आत्मा कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त हो सके। ऐसे उपाय आगमो मे "मुक्ति के मार्ग" कहे गये हैं।

मार्ग के समानार्थक[२८]

(१) पन्थ

(क) **द्रव्य विवक्षा**—जिस पर चलकर किसी ग्राम या नगर से इष्ट ग्राम या नगर को पथिक पहुच जाय वह द्रव्य पन्थ है।

(ख) **भाव विवक्षा**—जिस निमित्त से या उपदेश से मिथ्यात्व से मुक्त होकर सम्यक्त्व प्राप्त हो जाय वह भाव पन्थ है।

(२) मार्ग

(क) **द्रव्य विवक्षा**—जो मार्ग सम हो और कन्टक, बटमार या श्वापदादि से रहित हो।

(ख) **भाव विवक्षा**—जिस साधना से आत्मा अधिक शुद्ध हो।

(३) न्याय

(क) **द्रव्य विवक्षा**—ऐसा सद् व्यवहार जिससे विशिष्ट पद या स्थान की प्राप्ति हो।

(ख) **भाव विवक्षा**—सम्यग्ज्ञान-दर्शन से सम्यग्चारित्र की प्राप्ति हो।

(४) विधि

(क) **द्रव्य विवक्षा**—ऐसे सत् कार्य जिनके करने से इष्ट पद या स्थान की निर्विघ्न प्राप्ति हो।

(ख) **भाव विवक्षा**—जिस साधना से सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र की निर्विघ्न आराधना हो।

(५) धृति

(क) **द्रव्य विवक्षा**—अनेक विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी धैर्य से इष्ट पद या स्थान प्राप्त हो जाय।

(ख) **भाव विवक्षा**—अनेक परीषह एव उपसर्गों के होते हुए भी धैर्य से रत्नत्रय की आराधना करते हुए कर्मबन्धन से आत्मा मुक्त हो जाय।

(६) सुगति

(क) द्रव्य विवक्षा—सुख से (कष्ट के विना) इष्ट स्थान को पहुंच जाय।

(ख) भाव विवक्षा—किसी प्रकार की कठोर साधना किए विना रत्नत्रय की सामान्य आराधना करते हुए आत्मा का कर्मबन्धन से मुक्त होना।

(७) हित

(क) द्रव्य विवक्षा—जिस मार्ग पर चलना हितकर हो।

(ख) भाव विवक्षा—रत्नत्रय से आत्म-स्वरूप की प्राप्ति हो क्योकि आत्मा का वास्तविक हित यही है।

(८) सुख

(क) द्रव्य विवक्षा—जिस माग पर चलने मे सुखानुभूति हो वह सुखकर माग है।

(ख) भाव विवक्षा—रत्नत्रय की आराधना से आत्मिक सुख की प्राप्ति हो।

(९) पथ्य

(क) द्रव्य विवक्षा—जिस माग पर चलने से स्वास्थ्य का सुधार हो।

(ख) भाव विवक्षा—रत्नत्रय की आराधना से कषायो का उपशमन हो।

(१०) श्रेय

(क) द्रव्य विवक्षा—जो मार्ग गमन करने वाले के लिए श्रेयस्कर हो।

(ख) भाव विवक्षा—रत्नत्रय की साधना से मोह का उपशमन हो।

(११) निर्वृत्ति

(क) द्रव्य विवक्षा—जिस माग पर चलने से मानसिक अशान्ति निर्मूल हो।

(ख) भाव विवक्षा—रत्नत्रय की साधना से मोह का सवथा क्षय हो।

(१२) निर्वाण

(क) द्रव्य विवक्षा—जिस मार्ग पर चलने से शारीरिक एव मानसिक दुखो से निवृत्ति मिले।

(ख) भाव विवक्षा—रत्नत्रय की साधना से घाति कर्म चतुष्टय का निर्मूल होना।

(१३) शिव

(क) द्रव्य विवक्षा—जिस माग पर चलने से किसी प्रकार का अशिव (उपद्रव) न हो।

(ख) भाव विवक्षा—रत्नत्रय की साधना से शैलेषी (अयोग) अवस्था प्राप्त हो।

मार्ग के प्रकार

लौकिक लक्ष्य-स्थान के मार्ग तीन प्रकार के हैं—१ जलमाग, २ स्थलमार्ग, और ३ नभमाग।

इन मार्गों द्वारा अभीष्ट स्थान पर पहुचने के लिए तीन प्रकार के साधनो का उपयोग किया जाता है।

१ गमन क्रिया करने वाले के पैर, २ यान और ३ वाहन।

इसी प्रकार लोकोत्तर लक्ष्य-स्थान "मुक्ति" के माग भी तीन प्रकार के हैं। १ ज्ञान, २ दर्शन और ३ चारित्र। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग।[२६]

मार्ग के प्रकार

मार्ग छह प्रकार के है—१ नाम माग, २ स्थापना माग, ३ द्रव्य माग, ४ क्षेत्र माग, ५ काल माग और ६ भाव माग।

(१) **नाम मार्ग**—एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाने वाला माग जिस नाम से अभिहित हो—वह नाम माग है। यथा—यह इन्द्रप्रस्थ जाने वाला मार्ग है।

(२) **स्थापना मार्ग**—एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाने के लिए जिस मार्ग की रचना की गई हो—वह स्थापना मार्ग है। यथा—पगदण्डी, सडक, रेलमार्ग आदि।

(३) **द्रव्य मार्ग**—यह माग अनेक प्रकार का है।

(क) **फलक मार्ग**—जहाँ पक अधिक हो वहाँ फलक आदि लगाकर मार्ग बनाया जाय।

(ख) **लता मार्ग**—जहाँ लताएँ पकडकर जाया जाय।

(ग) आन्दोलन मार्ग—जहाँ झूले से आन्दोलित (ऊपर की ओर उठकर) होकर पहुंचा जाय।
(घ) वेत्र मार्ग—वेंत के पौधे को पकडकर नदी पार की जाय।
(ङ) रज्जु मार्ग—जहाँ रस्सियाँ बाँधकर जाया जाय।
(च) यान मार्ग—जहाँ किसी यान (रेल, मोटर, तागा, रथ आदि) द्वारा जाया जाए।
(छ) बिल मार्ग—जहाँ सुरग द्वारा जाया जाय।
(ज) पाश मार्ग—जहाँ जाने के लिए पाश (जाल) बिछाया गया हो।
(झ) कील मार्ग—रेतीले प्रदेश मे कीलें गाडकर बनाया मार्ग।
(ञ) अज मार्ग—जहाँ बकरो पर बैठकर जाया जाए।
(ट) पक्षि मार्ग—भारण्ड पक्षी आदि पक्षियो पर बैठकर जहाँ जाया जाय।
(ठ) छत्र मार्ग—जहाँ छत्र लगाकर जाया जाय।
(ड) नौका मार्ग—जहाँ नौका द्वारा जाया जाय।
(ढ) आकाश मार्ग—विद्याधर या देवताओं का मार्ग। अथवा वायुयान द्वारा जाने का मार्ग।

(४) क्षेत्र मार्ग—यह मार्ग दो प्रकार का है।
(क) शालि आदि धान्य के क्षेत्र को जाने वाला मार्ग।
(ख) ग्राम नगर आदि को जाने वाला मार्ग।

(५) काल मार्ग—यह मार्ग दो प्रकार का है।
(क) शिशिर, वसन्त आदि किसी एक ऋतु विशेष मे जाने योग्य मार्ग।
(ख) प्रात, साय, मध्याह्न या निशा में जाने योग्य मार्ग।

(६) भाव मार्ग—यह मार्ग दो प्रकार का है। १ प्रशस्त और २ अप्रशस्त।
(क) प्रशस्त भाव मार्ग—इस मार्ग का अनुसरण करने से आत्मा सुगति को प्राप्त होता है।
(ख) अप्रशस्त भाव मार्ग—इस मार्ग का अनुसरण करने से आत्मा दुर्गति को प्राप्त होता है।

इसी प्रकार भाव मार्ग के कुछ अन्य प्रकार भी हैं।
(क) १ सत्य मार्ग और २ मिथ्या मार्ग।
(ख) १ सुमार्ग और २ कुमार्ग।
(ग) १ सन्मार्ग और २ उन्मार्ग।

द्रव्य मार्ग के अन्य और चार प्रकार

१ क्षेम है और क्षेम रूप है।
जो मार्ग सम है और बटमार या श्वापदो से रहित है।

२ क्षेम है किन्तु अक्षेम रूप है।
मार्ग सम है किन्तु बटमार या श्वापदो से युक्त है।

३ अक्षेम है किन्तु क्षेम रूप है।
मार्ग विषम है किन्तु बटमार या श्वापदो से रहित है।

४ अक्षेम है और अक्षेम रूप है।
मार्ग भी विषम है और बटमार या श्वापदों से भी युक्त है।
मार्ग के समान मार्गगामी भी दो प्रकार के होते हैं। यथा—१ सुमार्गगामी और २ कुमार्गगामी।

भाव मार्गगामी के चार प्रकार

१ क्षेम है और क्षेम रूप है।
जो सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रय से युक्त है और साधुवेष (स्वलिंग) से भी युक्त है।

२ क्षेम है किन्तु अक्षेम रूप है।

जो सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रय से तो युक्त है किन्तु साधु वेष (स्वलिंग) से युक्त नही है।

३. अक्षेम है किन्तु क्षेम रूप है।

जो सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रय से तो युक्त नही है किन्तु साधुवेष (स्वलिंग) से युक्त है।

४ अक्षेम है और अक्षेम रूप है।

जो सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रय से भी युक्त नही है और साधु वेष से भी युक्त नहीं है।

प्रथम भग मे मुक्ति मार्ग का पूर्ण आराधक है।

द्वितीय भग मे मुक्ति मार्ग का देश आराधक है।

तृतीय भग मे मुक्ति मार्ग का देश विराधक है।

चतुर्थ भग मे मुक्ति मार्ग का पूर्ण विराधक है।

मुक्ति के कितने मार्ग ?

मानव क्षेत्र से मुक्ति क्षेत्र मे पहुँचने का मार्ग एक ही है या अनेक है ?

इस जिज्ञासा का समाधान इस प्रकार है।

मुक्ति मार्ग के सम्बन्ध मे जैनागमो मे दो विवक्षाएँ हैं।

(१) सक्षेप मे मुक्ति का मार्ग एक है "क्षायिक भाव।"

(२) विस्तृत विवक्षा के अनुसार मुक्ति के अनेक मार्ग हैं।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र की समवेत साधना ही मुक्ति का एकमात्र मार्ग है।

तपश्चर्या चारित्र का ही एक अग है। इसलिए आचार्य उमास्वति ने—"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग" कहा है।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र के साथ जो "सम्यक्" विशेषण का प्रयोग है वह विलक्षण प्रयोग है। इस प्रकार का प्रयोग केवल जैनागमो में ही देखा गया है।

यहाँ मुक्ति का मार्ग केवल दर्शन नही अपितु सम्यग्दर्शन है। इसी प्रकार मुक्ति के मार्ग ज्ञान और चारित्र नहीं अपितु सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र हैं।

जिसकी दृष्टि सम्यक् (आत्मस्वरूप चिन्तन परक) है उसे सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। उस सम्यग्दृष्टि का दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र है। इनकी सयुक्त साधना ही एकमात्र मुक्ति का मार्ग है।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र की जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट साधना करने वाले भव भ्रमण से मुक्त होकर मुक्ति क्षेत्र में शाश्वत स्थिति को प्राप्त होते हैं।[३०]

मुक्ति कब और कैसे ?

आत्मा कर्मबन्धन से बद्ध कब हुई और मुक्त कब होगी ?

यह भी एक जिज्ञासा है। समाधान इस प्रकार है।

आत्मा अनादिकाल से कर्मों से बद्ध है किन्तु कर्मक्षय होने पर मुक्त होगी।

जिस प्रकार स्वर्ण की खान में स्वर्ण अनादिकाल से मिट्टी से मिश्रित है। विधिवत् शुद्ध करने पर स्वर्ण शुद्ध हो जाता है। इसी प्रकार कर्म-रजबद्ध आत्मा तपश्चर्या से कर्म रज मुक्त होती है।

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि सान्त है। इसलिए आत्मा कर्म रज से मुक्त होकर मुक्ति क्षेत्र मे स्थित हो जाती है।

अन्य दर्शनमान्य मुक्तिमार्ग

जैनागम सूत्रकृताङ्ग मे अन्य दर्शनमान्य जिन मुक्ति मार्गों का निर्देश है—यहाँ उनका सक्षिप्त सकलन प्रस्तुत है।

तारागण आदि ऋषियो ने सचित्त जल के सेवन से मुक्ति प्राप्त की है।

(ग) आन्दोलन मार्ग—जहाँ झूले से आन्दोलित (ऊपर की ओर उठकर) होकर पहुँचा जाय।
(घ) वेत्र मार्ग—वेंत के पौधे को पकड़कर नदी पार की जाय।
(ङ) रज्जु मार्ग—जहाँ रस्सियाँ बाँधकर जाया जाय।
(च) यान मार्ग—जहाँ किसी यान (रेल, मोटर, तांगा, रथ आदि) द्वारा जाया जाए।
(छ) बिल मार्ग—जहाँ सुरंग द्वारा जाया जाय।
(ज) पाश मार्ग—जहाँ जाने के लिए पाश (जाल) बिछाया गया हो।
(झ) कील मार्ग—रेतीले प्रदेश मे कीलें गाड़कर बनाया मार्ग।
(ञ) अज मार्ग—जहाँ बकरो पर बैठकर जाया जाए।
(ट) पक्षि मार्ग—भारण्ड पक्षी आदि पक्षियो पर बैठकर जहाँ जाया जाय।
(ठ) छत्र मार्ग—जहाँ छत्र लगाकर जाया जाय।
(ड) नौका मार्ग—जहाँ नौका द्वारा जाया जाय।
(ढ) आकाश मार्ग—विद्याधर या देवताओ का मार्ग। अथवा वायुयान द्वारा जाने का मार्ग।

(४) क्षेत्र मार्ग—यह मार्ग दो प्रकार का है।
(क) शालि आदि धान्य के क्षेत्र को जाने वाला मार्ग।
(ख) ग्राम नगर आदि को जाने वाला मार्ग।

(५) काल मार्ग—यह मार्ग दो प्रकार का है।
(क) शिशिर, वसन्त आदि किसी एक ऋतु विशेष मे जाने योग्य मार्ग।
(ख) प्रातः, सायं, मध्याह्न या निशा मे जाने योग्य मार्ग।

(६) भाव मार्ग—यह मार्ग दो प्रकार का है। १ प्रशस्त और २ अप्रशस्त।
(क) प्रशस्त भाव मार्ग—इस मार्ग का अनुसरण करने से आत्मा सुगति को प्राप्त होता है।
(ख) अप्रशस्त भाव मार्ग—इस मार्ग का अनुसरण करने से आत्मा दुर्गति को प्राप्त होता है।

इसी प्रकार भाव मार्ग के कुछ अन्य प्रकार भी हैं।
(क) १ सत्य मार्ग और २ मिथ्या मार्ग।
(ख) १ सुमार्ग और २ कुमार्ग।
(ग) १ सन्मार्ग और २ उन्मार्ग।

द्रव्य मार्ग के अन्य और चार प्रकार

१ क्षेम है और क्षेम रूप है।
जो मार्ग सम है और बटमार या श्वापदो से रहित है।

२ क्षेम है किन्तु अक्षेम रूप है।
मार्ग सम है किन्तु बटमार या श्वापदों से युक्त है।

३ अक्षेम है किन्तु क्षेम रूप है।
मार्ग विषम है किन्तु बटमार या श्वापदो से रहित है।

४ अक्षेम है और अक्षेम रूप है।
मार्ग भी विषम है और बटमार या श्वापदों से भी युक्त है।
मार्ग के समान मार्गगामी भी दो प्रकार के होते हैं। यथा—१ सुमार्गगामी और २ कुमार्गगामी।

भाव मार्गगामी के चार प्रकार

१ क्षेम है और क्षेम रूप है।
जो सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रय से युक्त है और साधुवेष (स्वलिंग) से भी युक्त है।

२ क्षेम है किन्तु अक्षेम रूप है।

जो सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रय से तो युक्त है किन्तु साधु वेप (स्वलिंग) से युक्त नही है।

३. अक्षेम है किन्तु क्षेम रूप है।

जो सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रय से तो युक्त नही है किन्तु साधुवेप (स्वलिंग) से युक्त है।

४ अक्षेम है और अक्षेम रूप है।

जो सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रय से भी युक्त नही है और साधु वेप से भी युक्त नही है।

प्रथम भग मे मुक्ति मार्ग का पूर्ण आराधक है।

द्वितीय भग मे मुक्ति मार्ग का देश आराधक है।

तृतीय भग मे मुक्ति मार्ग का देश विराधक है।

चतुर्थ भग मे मुक्ति मार्ग का पूर्ण विराधक है।

मुक्ति के कितने मार्ग ?

मानव क्षेत्र से मुक्ति क्षेत्र मे पहुँचने का मार्ग एक ही है या अनेक हैं ?

इस जिज्ञासा का समाधान इस प्रकार है।

मुक्ति मार्ग के सम्बन्ध मे जैनागमो मे दो विवक्षाएँ हैं।

(१) सक्षेप मे मुक्ति का मार्ग एक है "क्षायिक भाव।"

(२) विस्तृत विवक्षा के अनुसार मुक्ति के अनेक मार्ग हैं।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र की समवेत साधना ही मुक्ति का एकमात्र मार्ग है।

तपश्चर्या चारित्र का ही एक अग है। इसलिए आचार्य उमास्वति ने—"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग" कहा है।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र के साथ जो "सम्यक्" विशेषण का प्रयोग है वह विलक्षण प्रयोग है। इस प्रकार का प्रयोग केवल जैनागमों मे ही देखा गया है।

यहाँ मुक्ति का मार्ग केवल दर्शन नहीं अपितु सम्यग्दर्शन है। इसी प्रकार मुक्ति के मार्ग ज्ञान और चारित्र नहीं अपितु सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र हैं।

जिसकी दृष्टि सम्यक् (आत्मस्वरूप चिन्तन परक) है उसे सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। उस सम्यग्दृष्टि का दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र है। इनकी सयुक्त साधना ही एकमात्र मुक्ति का मार्ग है।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र की जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट साधना करने वाले भव भ्रमण से मुक्त होकर मुक्ति क्षेत्र में शाश्वत स्थिति को प्राप्त होते हैं।[३०]

मुक्ति कब और कैसे ?

आत्मा कर्मबन्धन से बद्ध कब हुई और मुक्त कब होगी ?

यह भी एक जिज्ञासा है। समाधान इस प्रकार है।

आत्मा अनादिकाल से कर्मों से बद्ध है किन्तु कर्मक्षय होने पर मुक्त होगी।

जिस प्रकार स्वर्ण की खान मे स्वर्ण अनादिकाल से मिट्टी से मिश्रित है। विधिवत् शुद्ध करने पर स्वर्ण शुद्ध हो जाता है। इसी प्रकार कर्म-रजबद्ध आत्मा तपश्चर्या से कर्म रज मुक्त होती है।

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि सान्त है। इसलिए आत्मा कर्म रज से मुक्त होकर मुक्ति क्षेत्र में स्थित हो जाती है।

अन्य दर्शनमान्य मुक्तिमार्ग

जैनागम सूत्रकृताङ्ग मे अन्य दर्शनमान्य जिन मुक्ति मार्गों का निर्देश है—यहाँ उनका सक्षिप्त सकलन प्रस्तुत है।

तारागण आदि ऋषियों ने सचित्त जल के सेवन से मुक्ति प्राप्त की है।

नमि (विदेह) ने आहार का उपभोग करके मुक्ति प्राप्त की है।
रामगुप्त ने भी नमि के समान आहार का उपभोग करके मुक्ति प्राप्त की है।
'बाहुक' ने सचित्त जल के सेवन से मुक्ति प्राप्त की है।
नारायण ऋषि ने अचित्त जल के सेवन से मुक्ति प्राप्त की है।
असिल, देवल, द्वैपायन और पाराशर ऋषि ने सचित्त जल, बीज और हरितकाय के सेवन से मुक्ति प्राप्त की है।[३१]
नमक न खाने से मुक्ति प्राप्त होती है।
शीतल जल के सेवन से मुक्ति प्राप्त होती है।
होम करने से मुक्ति प्राप्त होती है।[३२]
क्रियावादी केवल क्रिया से ही मुक्ति मानते हैं। ज्ञान का निषेध करते हैं।
अक्रियावादी केवल ज्ञान से ही मुक्ति मानते हैं। क्रिया का निषेध करते हैं।
विनयवादी केवल विनय से ही मुक्ति मानते हैं। ज्ञान-क्रिया आदि का निषेध करते हैं।[३३]

अन्य दर्शनमान्य मुक्ति मार्गों का अन्य दर्शनो के किन-किन ग्रन्थो मे उल्लेख है—यह शोध का विषय है। सूत्रकृताङ्ग के व्याख्या ग्रन्थो मे भी मुक्ति विषयक वर्णन वाले अन्य दर्शनमान्य ग्रन्थो का उल्लेख नही है इसलिए नवीन प्रकाश्यमान सूत्रकृताङ्ग के व्याख्या ग्रन्थो के सम्पादको का यह कर्त्तव्य है कि उक्त मुक्ति मार्गों का प्रमाण पूर्वक निर्देश करें। श्रुतसेवा का यह महत्त्वपूर्ण कार्य कब किस महानुभाव द्वारा सम्पन्न होता है? यह भविष्य ही बताएगा।

जैनदर्शन-सम्मत मुक्ति मार्ग

जो ममत्व से मुक्त है वह मुक्त है।[३४]
जो मान-बड़ाई से मुक्त है वह मुक्त है।[३५]
जो वैर-विरोध से मुक्त है वह मुक्त है।[३६]
जो रागद्वेष से मुक्त है वह मुक्त है।[३७]
जो मोह से मुक्त है वह मुक्त है।[३८]
जो कषाय-मुक्त है वह मुक्त है।[३९]
जो मदरहित है वह मुक्त है।[४०]
जो मौन रखता है वह मुक्त होता है।[४१]
जो सम्यग्दृष्टि है वह मुक्त होता है।[४२]
जो सदाचारी है वह मुक्त होता है।[४३]
अल्पभोजी, अल्पभाषी, जितेन्द्रिय, अनासक्त क्षमाश्रमण मुक्त होता है।[४४]
आरम्भ-परिग्रह का त्यागी ही मुक्त होता है चाहे वह ब्राह्मण, शूद्र, चाण्डाल या वर्णशङ्कर हो।[४५]
हिताहित के विवेक वाला उपशान्त गर्वरहित साधक मुक्त होता है।[४६]
हिंसा से सर्वथा निवृत्त व्यक्ति ही मुक्त होता है।[४७]
निदानरहित अणगार ही मुक्त होता है।[४८]
सावद्य दान के सम्बन्ध मे मौन रखने वाला मुक्त होता है।[४९]
प्रत्याख्यान परिज्ञा वाला मुक्त होता है।[५०]
कषाय-मुक्त संवृत दत्तैषणा वाला मुनि ही मुक्त होता है।[५१]
आचार्य की आज्ञानुसार प्रवृत्ति करने वाला मुक्त होता है।[५२]
गुरु की आज्ञा का पालक मुक्त होता है।[५३]
कमल के समान अलिप्त रहने वाला मुक्त होता है।[५४]
विवेकपूर्वक वचन बोलने वाला मुक्त होता है।[५५]

निग्रन्थ प्रवचन का पालक मुक्त होता है।[५६]
जो दीर्घदर्शी लोक के स्वरूप को जानकर विषय-भोगों को त्याग देता है वह मुक्त होता है।[५७]
जो दृढ़तापूर्वक सयम का पालन करता है वह मुक्त होता है।[५८]
जो लोभ पर विजय प्राप्त कर लेता है वह मुक्त होता है।[५९]
शुद्ध चारित्र का आराधक सम्यक्त्वी मुक्त होता है।[६०]
मृषाभाषा का त्यागी मुक्त होता है।[६१]
काम-भोगों मे अनासक्त एव जीवन-मरण से निष्पृह मुनि ही मुक्त होता है।[६२]
अन्त-प्रान्त आहार करने वाला ही कर्मों का अन्त करके मुक्त होता है।[६३]
विषय-भोग से विरत जितेन्द्रिय ही मुक्त होता है।[६४]
शुद्ध धर्म का प्ररूपक और आराधक मुक्त होता है।[६५]
रत्नत्रय का आराधक मुक्त होता है।[६६]
शल्यरहित सयमी मुक्त होता है।[६७]

त्रिपदज्ञ ज्ञानी (हेय, ज्ञेय और उपादेय का ज्ञाता) त्रिगुप्तसवृत जो जीव-रक्षा के लिए प्रयत्नशील है वह मुक्त होता है।[६८]

शुद्ध अध्यवसाय वाला, मानापमान मे समभाव रखने वाला और आरम्भ-परिग्रह का त्याग करने वाला अनासक्त विवेकी व्यक्ति ही मुक्त होता है।[६९]

जिस प्रकार पक्षी पाखो को कम्पित कर रज दूर कर देता है उसी प्रकार अहिंसक तपस्वी भी कर्मरज को दूर कर देता है।[७०]

जिस प्रकार धुरी टूटने पर गाडी गति नही करती उसी प्रकार कर्ममुक्त चतुर्गति मे गति नही करता।[७१]
शुद्धाशय स्त्री-परित्यागी मुक्त होता है।[७२]
जो सयत विरत प्रतिहत प्रत्याख्यात पापकर्म वाला सवृत एव पूर्ण पण्डित है वह मुक्त होता है।[७३]
जो सुशील, सुव्रती, सदानन्दी सुसाधु होता है वह मुक्त होता है।[७४]
जो घातिकर्मों को नष्ट कर देता है वह मुक्त होता है।[७५]
जो हिंसा एव शोक सताप से दूर रहता है वह मुक्त होता है।[७६]
जो आत्म-निग्रह करता है वह मुक्त होता है।[७७]
जो सत्य (आगमोक्त) आज्ञा का पालन करता है वह मुक्त होता है।[७८]
ज्ञान और क्रिया का आचरण करने वाला मुक्त होता है।[७९]

सयम मे उत्पन्न हुई अरुचि को मिटाकर यदि कोई किसी को स्थिर करदे तो वह शीघ्र ही मुक्त होता है।[८०]

तेरहवें क्रियास्थान—ऐर्यापथिक क्रिया वाला अवश्य मुक्त होता है।[८१]
सावद्य योग त्यागी अणगार ही मुक्त होता है।[८२]
जो परमार्थ द्रष्टा है वह मुक्त होता है।[८३]
लघु और रुक्ष आहार करने वाला मुक्त होता है।[८४]
जो उग्रतपस्वी उपशान्त-दान्त एव समिति-गुप्ति युक्त होता है वह मुक्त होता है।[८५]
जो आगमानुसार सयमपालन करता है वह मुक्त होता है।[८६]
जो सम्यग्दृष्टि सहिष्णु होता है वह मुक्त होता है।[८७]

जिस प्रकार अनुकूल पवन से नौका पार पहुँचती है उसी प्रकार उत्तम भावना से शुद्धात्मा मुक्त होता है।[८८]

आचार्य और उपाध्याय की मुक्ति

जो आचार्य-उपाध्याय शिष्यो को अग्लान भाव (रुचिपूर्वक) से सूत्रार्थ का अध्ययन कराते हैं और अग्लान भाव से ही उन्हें सयम-साधना में सहयोग देते हैं। वे एक, दो या तीन भव से अवश्य मुक्त होते हैं।[८९]
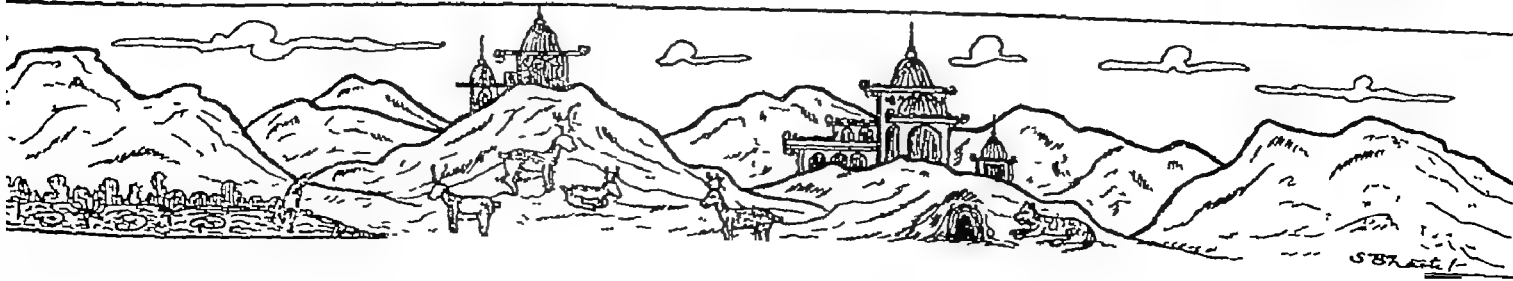
धर्मदेव और देवाधिदेव की मुक्ति

धर्म देव अणगार को कहते हैं। यदि वह समाधिमरण करे तो देवगति या मुक्ति को प्राप्त होता है किन्तु देवाधिदेव तो (तीर्थङ्कर) मुक्ति को ही प्राप्त करते हैं।[६०]

आत्मा की क्रमिक मुक्ति

(१) जीव-अजीव का ज्ञान।
(२) जीव की गतागत का ज्ञान।
(३) पुण्य-पाप और बन्ध-मोक्ष का ज्ञान।
(४) ज्ञान से दैविक और मानुषिक भोगो की विरक्ति।
(५) विरक्ति से आभ्यन्तर और बाह्य सयोगो का परित्याग।
(६) बाह्याभ्यन्तर सयोग परित्याग के बाद अनगारवृत्ति की स्वीकृति।
(७) सवरात्मक अनुत्तर धर्म का आराधन।
(८) मिथ्यात्व दशा मे अर्जित कमरज का क्षरण।
(९) केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति।
(१०) योगो का निरोध और शैलेषी अवस्था की प्राप्ति।
(११) कमरज मुक्त-मुक्त।[६१]

मुक्ति का एक और क्रम

प्रश्न—तथारूप (आगमोक्त ज्ञानदर्शनचारित्रयुक्त) श्रमण ब्राह्मण की पर्युपासना का क्या फल है?
उत्तर—सेवा का सुफल शास्त्र श्रवण है।
प्रश्न—शास्त्र श्रवण का फल क्या है?
उत्तर—शास्त्र श्रवण का फल ज्ञान है।
प्रश्न—ज्ञान का क्या फल है?
उत्तर—ज्ञान का फल विज्ञान है।
प्रश्न—विज्ञान (सार-असार का विवेक) का क्या फल है?
उत्तर—विज्ञान का फल प्रत्याख्यान (हिंसा आदि पाप कर्मों से निवृत्त होने का सकल्प) है।
प्रश्न—प्रत्याख्यान का क्या फल है?
उत्तर—प्रत्याख्यान का फल सयम है।
प्रश्न—सयम का फल क्या है?
उत्तर—सयम का फल अनास्रव (सवर-पाप कर्मों के करने से रुकना) है।
प्रश्न—अनास्रव का फल क्या है?
उत्तर—अनास्रव का फल तप है।
प्रश्न—तप का क्या फल है?
उत्तर—तप का फल व्यपदान (पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय) है।
प्रश्न—व्यपदान का क्या फल है?
उत्तर—व्यपदान का फल अक्रिया (मन, वचन, काया के योगो—व्यापारो का निरोध) है।
प्रश्न—अक्रिया का फल क्या है?
उत्तर—अक्रिया का फल निर्वाण (कमरज से आत्मा की मुक्ति) है।
प्रश्न—निर्वाण का फल क्या है?
उत्तर—निर्वाण का फल मुक्त होना है।[६२]

आरम्भ-परिग्रह के त्याग से ही मुक्ति

आरम्भ और परिग्रह का त्याग किए बिना यदि कोई केवल ब्रह्मचर्य, सयम और सवर की आराधना से मुक्त होना चाहे तो नहीं हो सकेगा तथा उसे आभिनिबोधिक ज्ञान यावत् केवलज्ञान भी नही होगा।[६३]

मुक्तात्मा के प्राणो का प्रयाण

मुक्तात्मा के प्राण (देहावसान के समय) सर्वांग से निकलते हैं।

देवगति मे जाने वाले के प्राण शिर से निकलते हैं।

मनुष्य, तिर्यञ्च और नरक गति मे जाने वालो के प्राण क्रमश वक्षस्थल (मध्यमाग) से, पिण्डलियो से और पैरो से (अधोमाग से) निकलते हैं।[६४]

चार प्रकार की अन्तक्रिया-मुक्ति[६५]

प्रथम अन्तक्रिया—कोई अल्पकर्मा व्यक्ति मनुष्य भव मे उत्पन्न होता है। वह मुण्डित होकर गृहस्थावस्था से अनगार धर्म मे प्रव्रजित होने पर उत्तम, सयम, सवर, समाधि युक्त रूक्ष भोजी, स्वाध्यायी, तपस्वी, भवसागर पार करने की भावना वाला होता है। न उसे कुछ तप करना पडता है और न उसे परीषह सहने पडते है, क्योकि वह अल्पकर्मा होता है।

ऐसा पुरुष दीर्घायु की समाप्ति के वाद सिद्ध-बुद्ध मुक्त होकर निर्वाण को प्राप्त होता है और सब दु खो का अन्त करता है, यथा—**भरत चक्रवर्ती**।

द्वितीय अन्तक्रिया—कोई अधिक कर्म वाला मनुष्य भव पाकर प्रव्रजित होता है। सयम, सवर युक्त यावत् तपस्वी होता है उसे उग्र तप करना पडता है और असह्य वेदना सहनी पडती है।

ऐसा पुरुष अल्पायु भोग कर सिद्ध बुद्ध मुक्त होता है यावत् सब दु खो का अन्त करना है, यथा—गजसुकुमार अणगार।

तृतीय अन्तक्रिया—कोई महाकर्मा मनुष्य मुण्डित-यावत्-प्रव्रजित होकर अनगार धर्म की दीक्षा लेता है। वह उग्र तप करता है और अनेक प्रचण्ड परीषह सहता हुआ दीर्घायुभोग कर सिद्ध बुद्ध मुक्त होता है यावत् सब दु खो का अन्त करता है, यथा—**सनत्कुमार चक्रवर्ती**।

चतुर्थ अन्तक्रिया—कोई अल्पकर्मा व्यक्ति केवल भाव चारित्र से सिद्ध बुद्ध और मुक्त होता है। न उसे तप करना पडता है और न परीषह सहने पडते हैं, यथा—**मरुदेवी माता**।

मुक्ति के दो प्रमुख हेतु

(१) **बन्धहेतुओं का अभाव**—१ मिथ्यात्व, २ अविरति, ३ प्रमाद, ४ कषाय और ५ योग ये पाच हेतु कर्म-बन्ध के हैं। इनके अभाव में क्रमश पाच सवर के हेतु प्राप्त होते हैं।

१ सम्यक्त्व, २ विरति, ३ अप्रमाद, ४ अकषाय और ५ योग गुप्ति—ये पाच हेतु आत्मा को कर्मबन्ध से बचाते हैं। अर्थात् नवीन कर्मों का बन्ध नही होता।

(२) **निर्जरा**—१–६ अनशन आदि ६ बाह्य तप और ७–१२ प्रायश्चित्त आदि ६ आभ्यन्तर तप—ये बारह भेद निर्जरा के है। इनसे पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय होता है।

केवल अनशनादि ६ बाह्य तपों के आचरण से सकाम निर्जरा (विवेकपूर्वक कर्म क्षय) नही होती साथ मे प्रायश्चित्तादि ६ आभ्यन्तर तपो की आराधना भी आवश्यक है।

बाह्य तपो की आराधना किए बिना यदि कोई केवल आभ्यन्तर तपो की ही आराधना करे तो उसके सकाम निर्जरा हो जाती है। केवल बाह्य तपो की आराधना से तो अकाम (अविवेकपूर्वक) निर्जरा होती है।[६६]

कर्म निर्जरा का एक रूपक

जिस प्रकार किसी बडे तालाब का जल, आने के मार्ग को रोकने से और पहले के जल को उलीचने से सूर्य-ताप द्वारा क्रमश सूख जाता है उसी प्रकार सयमी के करोडों भवों के सचित कर्म पापकर्म के आने के मार्ग को रोकने से तथा तप करने से नष्ट होते हैं।[६७]
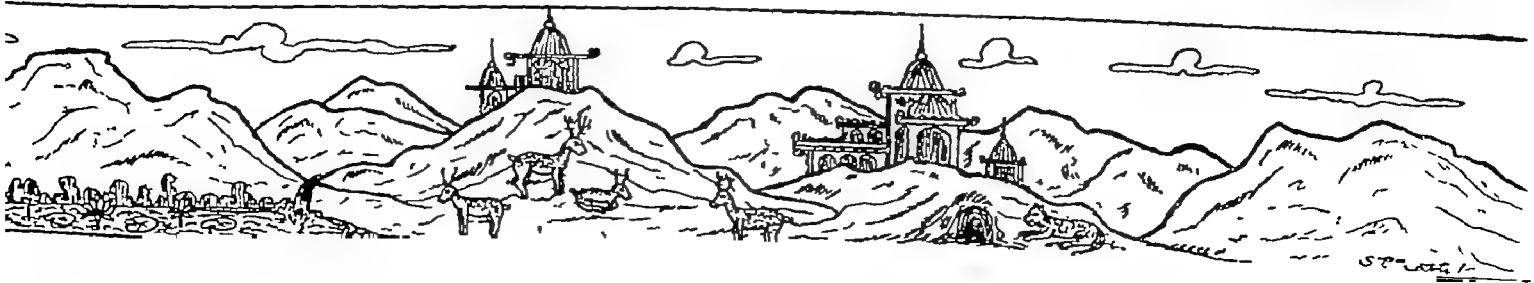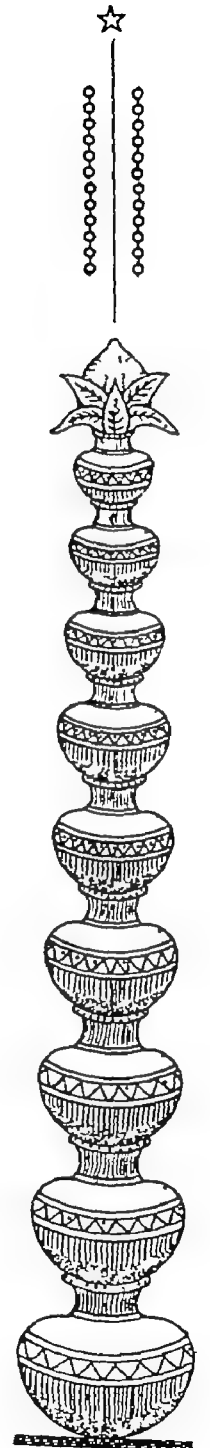
शान्तितीर्थ मे मुक्ति स्नान

सोमदेव के तीन प्रश्न—
१ आपका नद कौन-सा है ?
२ आपका शान्तितीर्थ कौन सा है ?
३ आप कहा स्नान करके कर्मरज धोते हैं ?
मुनि हरिकेशबल के क्रमश उत्तर—
१ सरल आत्मा के प्रशान्त परिणाम वाला धर्म मेरा नद है ।
२ ब्रह्मचर्य मेरा शान्तितीर्थ है ।
३ उसमे स्नान करके मैं विमल-विशुद्ध होकर मुक्ति को प्राप्त करूँगा ।
अनेक महर्षि इस शान्तितीर्थ मे स्नान करके उत्तम स्थान (मुक्ति) को प्राप्त हुए हैं ।[९८]

मानव-सेवा से मुक्ति

अज्ञान मिटाने के लिए जन-जन मे ज्ञान का प्रचार करने से, मोह मिटाकर प्रेम बढाने से और राग-द्वेष का क्षय करने से एकान्त सुखमय मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

गुरुजनो और वृद्धो की सेवा करने से, अज्ञानियो का ससर्ग न करने से, स्वाध्याय एकान्तवास एव सूत्रार्थ का चिन्तन करने से तथा धैर्य रखने से मुक्ति की प्राप्ति होती है ।[९९]

मानव देह से मुक्ति

केशीमुनि—महाप्रवाह वाले समुद्र मे नौका तीव्र गति से चली जा रही है । गौतम ! तुम उस पर आरूढ हो । उस पार कैसे पहुँचोगे ?

गौतम—जो सछिद्र नौका होती है वह उस पार नही पहुँचती है । किन्तु जो सछिद्र नौका नही होती वह उस पार पहुँच जाती है ।

केशी—गौतम ? नौका किसे कहते हो ?

गौतम—शरीर को नौका, जीव को नाविक और ससार को समुद्र कहा गया है । महर्षि उसे पार कर मुक्ति पहुँचते हैं ।[१००]

दुर्लभ चतुरग और मुक्ति

मनुष्यत्व, धर्मश्रवण, श्रद्धा और सयम मे पुरुषार्थ । ये चार अग प्राणियो के लिए दुर्लभ हैं ।

यह जीव स्वकृत कर्मों से कभी देवलोक मे, कभी नरक और कभी तिर्यंच मे जन्म लेता है । काल क्रम से कर्मों का अशत क्षय होने पर यह जीवात्मा मनुष्यत्व को प्राप्त होता है ।

मनुष्य शरीर प्राप्त होने पर भी धर्म का श्रवण दुर्लभ है ।

कदाचित् धर्म का श्रवण हो भी जाए फिर भी उस पर श्रद्धा का होना परम दुर्लभ है ।

श्रुति और श्रद्धा प्राप्त करके भी सयम में पुरुषार्थ होना अत्यन्त दुर्लभ है ।

मनुष्यत्व प्राप्त कर जो धर्म को सुनता है, उसमें श्रद्धा करता है—वह तपस्वी सयम में पुरुषार्थ कर सवृत होता है और कर्मरज को दूर कर निर्वाण (मुक्ति) को प्राप्त होता है ।[१०१]

मुक्ति पथ के पथिक

(१) अरिहन्त भगवान के गुणों की स्तुति एव विनय-भक्ति करने वाले ।
(२) सिद्ध भगवान के गुणगान करने वाले ।
(३) जिन प्रवचन के अनुसार आराधना करने वाले ।
(४) गुणवन्त गुरु का सत्कार-सन्मान करने वाले ।

(५) स्थविर महाराज का सत्कार-सन्मान करने वाले ।
(६) बहुश्रुत की विनय-भक्ति करने वाले ।
(७) तपस्वी की विनय-भक्ति करने वाले ।
(८) निरन्तर ज्ञानाराधना करने वाले ।
(९) निरन्तर दर्शनाराधना करने वाले ।
(१०) ज्ञान और ज्ञानी का विनय करने वाले ।
(११) भावपूर्वक षडावश्यक करने वाले ।
(१२) निरतिचार शीलव्रत का पालन करने वाले ।
(१३) क्षण भर भी प्रमाद न करने वाले ।
(१४) यथाशक्ति निदान रहित तपश्चर्या करने वाले ।
(१५) सुपात्र को शुद्ध आहार देने वाले ।
(१६) आचार्य यावत् सघ की वैयावृत्य—सेवा करने वाले ।
(१७) समाधि भाव रखने वाले ।
(१८) निरन्तर नया-नया ज्ञान सीखने वाले ।
(१९) श्रुत की भक्ति करने वाले ।
(२०) प्रवचन की प्रभावना करने वाले ।[१०२]

मुक्ति की मजिलें

(१) सवेग—मुक्ति की अभिरुचि ।
(२) निर्वेद—विषयो से विरक्ति ।
(३) गुरु और स्वधर्मी की सेवा ।
(४) अनुप्रेक्षा—सूत्रार्थ का चिन्तन-मनन करना ।
(५) व्यवदान—मन, वचन और काय योग की निवृत्ति ।
(६) विविक्त शय्यासन—जन-सम्पर्क से रहित एकान्तवास ।
(७) विनिवर्तना—मन और इन्द्रियो को विषयो से अलग रखना ।
(८) शरीर-प्रत्याख्यान—देहाध्यास से निवृत्ति ।
(९) सद्भाव-प्रत्याख्यान—सर्व सवर रूप शैलेशी भाव ।
(१०) वैयावृत्य—अग्लान भाव से सेवा करना ।
(११) काय समाधारणा—सयम की शुद्ध प्रवृत्तियो में काया को भली-भाँति सलग्न रखना ।
(१२) चारित्र-सम्पन्नता—निरतिचार चारित्राराधन ।
(१३) प्रेय—राग-द्वेष और मिथ्यादर्शन विजय ।

ये त्रयोदश मुक्ति के सूत्र हैं । इनकी सम्यक् आराधना से आत्मा अवश्य कर्मबन्धनो से मुक्त होता है ।[१०३]

मुक्ति के सोपान

आत्मा की मिथ्यात्वदशा एक निकृष्ट दशा है । उस दशा से उत्क्रान्ति करता हुआ आत्मा शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त होता है ।

उत्क्रान्तिकाल मे आत्मा को एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी, इस प्रकार क्रमिक अवस्थाओ से पार होना पडता है । इन अवस्थाओ को जैनागमो मे 'गुणस्थान' कहा है । ये चौदह हैं ।

१ मिथ्यादृष्टि गुणस्थान

मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के तीव्रतम उदय से जिस जीव की दृष्टि (श्रद्धा या प्रतिपत्ति) मिथ्या—विपरीत हो जाती है—वह मिथ्यादृष्टि गुणस्थान वाला कहा जाता है ।
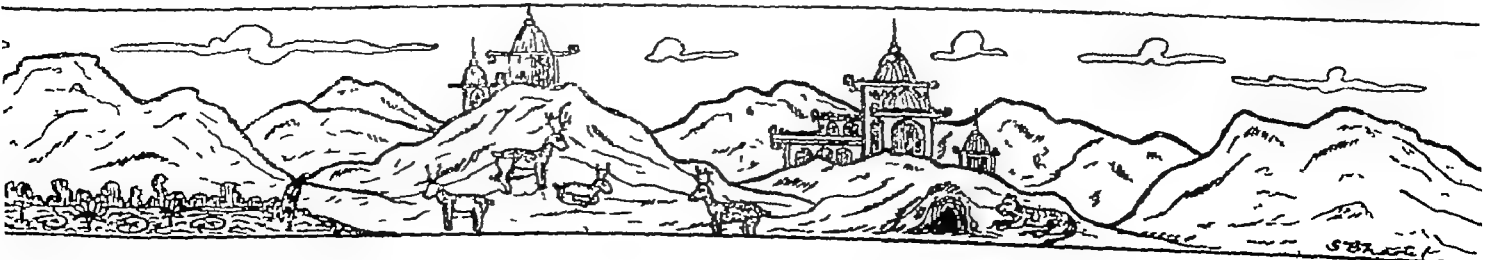
२ सास्वादान सम्यग्दृष्टि गुणस्थान

औपशमिक सम्यक्त्व वाला आत्मा अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से सम्यक्त्व को छोड़कर मिथ्यात्व की ओर झुकता है जब तक वह आत्मा मिथ्यात्व को प्राप्त नही होता तब तक सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान वाला कहा जाता है।

३ सम्यग्‌मिथ्यादृष्टि गुणस्थान

जिसकी दृष्टि कुछ सम्यक् और कुछ मिथ्या होती है वह सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान वाला कहा जाता है।

४ अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान

जो जीव सम्यग्दृष्टि होकर भी किसी प्रकार के व्रत-प्रत्याख्यान नहीं कर पाता वह अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान वाला कहा जाता है।

५ देशविरत गुणस्थान

प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से जो जीव सावद्य क्रियाओ से सर्वथा विरत नहीं हो पाता, किन्तु देश (अश) से विरत होता है। वह देशविरत गुणस्थान वाला 'श्रावक' कहा जाता है।

६ प्रमत्त सयत गुणस्थान

जो जीव प्रत्याख्यानावरण कषाय के अभाव मे सभी प्रकार की सावद्य क्रियाओ का त्याग करके सर्वविरत तो हो जाता है लेकिन प्रमाद का उदय उसे रहता है, वह प्रमत्त सयत गुणस्थान वाला कहलाता है।

७ अप्रमत्तसयत गुणस्थान

जो सयत मुनि निद्रा, विषय, कषाय, विकथा आदि प्रमादो का सेवन नही करता वह अप्रमत्तसयत गुणस्थान वाला कहा जाता है।

८ निवृत्ति बादर सपराय गुणस्थान

जिस जीव के बादर (स्थूल) सपराय (कषाय) की सत्ता मे से भी निवृत्ति प्रारम्भ हो गई है वह निवृत्ति बादर सपराय गुणस्थानवाला कहा जाता है।[१०४]

९ अनिवृत्ति बादर सपराय गुणस्थान

जिस जीव के स्थूल कषाय सर्वथा निवृत्त नहीं हुए हैं अर्थात् सत्ता मे जिसके सज्वलन लोभ विद्यमान है। वह अनिवृत्ति बादर सपराय गुणस्थान वाला कहा जाता है।

१० सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान

जिस जीव के लोभकषाय के सूक्ष्म-खण्डों का उदय रहता है, वह सूक्ष्मसपराय गुणस्थान वाला कहा जाता है।

११ उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान

जिस जीव के कषाय उपशान्त हुए हैं और राग का भी सर्वथा उदय नही है। वह उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान वाला कहा जाता है।

१२ क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान

जिस जीव के मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय हो चुका है किन्तु ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय ये तीन घातिकर्म अभी निर्मूल नही हुए हैं। अत वह क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान वाला कहा जाता है।

१३ सयोगिकेवली गुणस्थान

चारो घातिकर्मों का क्षय होकर जिसको केवलज्ञान प्राप्त हो गया है किन्तु मन, वचन और काय योग का व्यापार होता है अत वह सयोगिकेवली गुणस्थान वाला कहा जाता है।

१४ अयोगिकेवली गुणस्थान

तीनो योगो का निरोध कर जो अयोगि अवस्था को प्राप्त हो गए हैं वे अयोगि केवली गुणस्थान वाले हैं।

मुक्तात्माओं के दो वर्ग

आठवें गुणस्थान मे मुक्तात्माओ के दो वर्ग बन जाते हैं। एक उपशमक वर्ग और दूसरा क्षपक वर्ग।

उपशमक वर्ग वाले दर्शनमोह की तीन[१०४] और चारित्रमोह की चार[१०५]—इन सात प्रकृतियो का उपशमन करते हैं। वे अष्टम, नवम, दशम और एकादशम गुणस्थान को प्राप्त कर पुन प्रथम गुणस्थान को प्राप्त हो जाते हैं।

क्षपक वर्ग वाले दशवें गुणस्थान से सीधे बारहवें गुणस्थान को प्राप्त होने हैं। बाद मे तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान का स्पर्श कर मुक्त हो जाते हैं।

यहाँ गुणस्थानो का अति सक्षिप्त परिचय दिया है। विशेष जिज्ञासा वाले 'गुणस्थान क्रमारोहण' नाम का ग्रन्थ देखें।

मुक्त होने की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया

अन्तर्मुहूर्त मे मुक्त होने वाले केवली के समुद्घात को 'केवली समुद्घात' कहा जाता है।

सभी केवली "केवली समुद्घात" नही करते हैं। केवल वे ही केवली "केवली समुद्घात" करते हैं जिनके आयु कर्म के दलिक एक अन्तर्मुहूर्त मे समाप्त होने योग्य हो और वेदनीय, नाम एव गोत्र के दलिक इतने अधिक हो जिनकी अन्तर्मुहूर्त में समाप्ति सभव न हो।

केवली समुद्घात में आठ समय लगते हैं।

प्रथम समय मे केवली आत्म-प्रदेशो के दण्ड की रचना करते हैं। वह मोटाई मे स्वशरीर प्रमाण और लम्बाई मे ऊपर और नीचे से लोकान्तपर्यन्त विस्तृत होता है।

द्वितीय समय मे केवली उसी दण्ड को पूर्व-पश्चिम और दक्षिण-उत्तर मे फैलाते हैं। फिर उस दण्ड का लोक-पर्यन्त फैला हुआ कपाट बनाते हैं।

तृतीय समय में दक्षिण-उत्तर अथवा पूर्व-पश्चिम दिशा मे लोकान्तपर्यन्त आत्म-प्रदेशो को फैलाकर उसी कपाट को "मथानी" रूप बना देते हैं। ऐसा करने से लोक का अधिकाश भाग आत्म-प्रदेशो से व्याप्त हो जाता है। किन्तु मथानी की तरह अन्तराल प्रदेश खाली रहते हैं।

चतुर्थ समय मे मथानी के अन्तरालों को पूर्ण करते हुए समस्त लोकाकाश को आत्म-प्रदेशो से भर देते हैं क्योकि लोकाकाश और जीव के प्रदेश बराबर हैं।

पाँचवें, छठे, सातवें और आठवें समय में विपरीत क्रम से आत्म-प्रदेशो का सकोच करते है। इस प्रकार आठवें समय मे सब आत्म-प्रदेश पुन शरीरस्थ हो जाते हैं।

मुक्ति के द्वार

यहाँ मुक्त आत्माओ के सम्बन्ध मे क्षेत्रादि द्वादश द्वारो (विषयो) का सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है।

(१) **क्षेत्र**—(क) जन्म की अपेक्षा पन्द्रह कर्म-भूमियों में उत्पन्न मानव मुक्त होते हैं।
(ख) सहरण की अपेक्षा सम्पूर्ण मानव क्षेत्र से "मानव" मुक्त हो सकता है।
(२) **काल**—(क) जन्म की अपेक्षा अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी तथा अनवसर्पिणी। अनुत्सर्पिणी मे जन्मा हुआ मानव मुक्त होता है।
(ख) सहरण की अपेक्षा भी पूर्वोक्त कालों में जन्मा हुआ मानव मुक्त हो सकता है।
(३) **गति**—(क) अन्तिम भव की अपेक्षा मानव गति से आत्मा मुक्त होती है।
(ख) पूर्व भव की अपेक्षा चारो गतियो से आत्मा मुक्त हो सकती है।
(४) **लिंग**—(क) लिंग अर्थात् वेद या चिन्ह। वर्तमान की अपेक्षा वेद-विमुक्त आत्मा मुक्त होती है।
(ख) अतीत की अपेक्षा स्त्रीवेद, पुरुषवेद या नपु सक वेद से भी आत्मा मुक्त हो सकती है।
चिन्ह—(क) वर्तमान की अपेक्षा लिंग रहित आत्मा मुक्त होती है।
(ख) अतीत की अपेक्षा भाव लिंग आत्मिक योग्यता—वीतराग भाव से स्वलिंग धारी आत्मा की मुक्ति होती है।

(ग) द्रव्य लिंग की अपेक्षा स्वलिंग (जैन लिंग), परलिंग और गृहस्थलिंग इन तीनो लिंगो से मुक्ति हो सकती है।

(५) **तीर्थ**—(क) कोई तीर्थंकर रूप से और कोई अतीर्थंकर रूप से मुक्त होते हैं।

(ख) तीर्थंकर के अभाव मे यदि तीर्थंकर का शासन चल रहा हो या शासन विच्छिन्न हो गया हो—दोनो समयो मे आत्मा मुक्त हो सकती है।

(६) **चारित्र**—(क) वर्तमान काल की अपेक्षा यथाख्यात चारित्र युक्त आत्मा मुक्त होती है।

(ख) अतीत की अपेक्षा तीन, चार या पाँचो चारित्र युक्त आत्मा मुक्त हो सकती है। यथा—

तीन चारित्र—१ सामायिक चारित्र, २ सूक्ष्मसम्पराय चारित्र, और ३ यथाख्यात चारित्र।

तीन चारित्र—१ छेदोपस्थापनीय, २ सूक्ष्मसम्पराय, और ३ यथाख्यात चारित्र।

चार चारित्र—१ सामायिक चारित्र, २ परिहारविशुद्धि चारित्र, ३ सूक्ष्मसम्पराय चारित्र, और ४ यथाख्यात चारित्र।

पांच चारित्र—१ सामायिक चारित्र, २ छेदोपस्थापनीय चारित्र, ३ परिहारविशुद्धि चारित्र, ४ सूक्ष्मसम्पराय चारित्र, और ५ यथाख्यात चारित्र।

(७) **प्रत्येक-बुद्ध बोधित**—(क) प्रत्येक बुद्ध बोधित आत्मा मुक्त होती है।

(ख) बुद्ध बोधित आत्मा भी मुक्त होती है।

(ग) स्वय बुद्ध मुक्त होते हैं।

(८) **ज्ञान**—(क) वतमान काल की अपेक्षा एक केवलज्ञानी मुक्त होता है।

(ख) अतीत काल की अपेक्षा-दो—मति और श्रुत ज्ञानी, तीन—मति-श्रुत और अवधिज्ञानी, अथवा मति श्रुत और मनपर्यवज्ञानी, चार—मति, श्रुत, अवधि और मनपर्यवज्ञानी मुक्त होते हैं।

(९) मुक्तात्मा की अवगाहना

मुक्तात्मा के आत्म-प्रदेश देहावसान के समय जितनी ऊँचाई वाले देह मे व्याप्त होते हैं उतनी ऊँचाई मे से तृतीय भाग न्यून करने पर जितनी ऊँचाई शेष रहती है, मुक्तिक्षेत्र मे उतनी ही ऊँचाई मे मुक्तात्मा के आत्म-प्रदेश व्याप्त रहते हैं।

मुक्तिक्षेत्र मे मुक्तात्मा के आत्म-प्रदेश तीन प्रकार की ऊँचाइयो मे विभक्त हैं।

१ उत्कृष्ट, २ मध्यम, और ३ जघन्य।

(१) **उत्कृष्ट ऊँचाई**—मुक्तात्मा के देह की ऊँचाई ५०० धनुष की होती है तो मुक्ति क्षेत्र मे उसके आत्म-प्रदेश ३३३ धनुष और ३२ अगुल की ऊँचाई मे व्याप्त रहते हैं।

(२) **मध्यम ऊँचाई**—मुक्तात्मा के देह की ऊँचाई सात हाथ की होती है तो मुक्ति क्षेत्र मे उसके आत्म-प्रदेश चार हाथ और सोलह अगुल की ऊँचाई मे व्याप्त रहते हैं।

(३) **जघन्य ऊँचाई**—मुक्तात्मा के देह की ऊँचाई यदि दो हाथ की होती है तो मुक्ति क्षेत्र मे उसके आत्म-प्रदेश एक हाथ और आठ अगुल की ऊँचाई मे व्याप्त रहते हैं।

उत्कृष्ट और जघन्य ऊँचाई वाले मुक्तात्माओ के आत्मप्रदेशो की मुक्ति क्षेत्र मे जितनी ऊँचाई होती है, उतनी ही ऊँचाइयो का कथन किया जाता तो पर्याप्त था। उत्कृष्ट और जघन्य के मध्य में समस्त मध्यम ऊँचाइयो का कथन स्वत हो जाता है, फिर भी यहाँ एक मध्यम ऊँचाई का कथन है। इसका अभिप्राय यह है कि जघन्य सात हाथ की ऊँचाई वाले तीर्थंकर ही मुक्त होते हैं। उनकी यह ऊँचाई तृतीय भाग न्यून होने पर चार हाथ सोलह अगुल शेष रहती है। मुक्ति क्षेत्र मे आत्मप्रदेशो की यह मध्यम ऊँचाई तीर्थंकरो की अपेक्षा से ही कही गई है।

सामान्य केवलज्ञानियों की अपेक्षा से तो मुक्तिक्षेत्र मे मुक्तात्माओ के आत्मप्रदेशो की मध्यम अवगाहना (ऊँचाइयाँ) अनेक प्रकार की हैं।

(१०) **अन्तर**—(क) निरन्तर मुक्त—जघन्य दो समय और उत्कृष्ट आठ समय पर्यन्त मुक्त होते हैं।

(ख) सान्तर मुक्त—जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छ मास वाद मुक्त होते हैं।

(११) सख्या—एक समय मे जघन्य एक और उत्कृष्ट एक सौ आठ मुक्त होते हैं।

(१२) अल्पबहुत्व—(क) क्षेत्र मुक्त—सहरण मुक्त सवसे अल्प होते हैं।

(ख) उनसे जन्म-मुक्त सख्येय गुण हैं।

लोक-मुक्त—(क) सवसे अल्प उर्ध्वलोक से मुक्त होते हैं।

(ख) अधोलोक से मुक्त होने वाले उनसे सख्येय गुण हैं।

(ग) तिर्यग्लोक से मुक्त होने वाले उनसे सख्येय गुण हैं।

(घ) समुद्र से मुक्त होने वाले सबसे अल्प हैं। द्वीप से मुक्त होने वाले सख्येय गुण हैं। विस्तृत विवरण जानने के लिए लोक प्रकाश आदि ग्रन्थ देखने चाहिए।

प्रस्तुत निवन्ध मे मुक्ति मार्ग से सम्बन्धित अनेक विषय सकलित किए गए हैं। किन्तु अवशिष्ट भी अनेक रह गए हैं।

यदि मुक्ति विषयक सारी सामग्री सकलित करने का प्रयत्न किया जाता तो समय एव श्रम साध्य होता और विशालकाय निबन्ध बन जाता। जो इस ग्रन्थ के लिए अनुपयुक्त होता।

यदि कही अल्पश्रुत होने के कारण अनुचित या विपरीत लिखा गया हो तो, "मिथ्या मे दुष्कृतम्।"

बहुश्रुत सशोधनीय स्थलो की सूचना देकर अनुग्रहीत करें। यही अभ्यर्थना है।

---

१ उत्त० अ० २९, गा० ४५, ४६, ७४।

२ उत्त० अ० २९, गा० ४७–७४।

३ उत्त० अ० ७, गा० १ से ३।

४ मोचन मुक्ति। कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्ष। अथवा मुच्यते सकल कर्मभिर्यस्यामिति मुक्ति।

५ उत्त० अ० ६, गाथा १०।

६ उत्त० अ० २८, गा० ३०।

७ जाईजरा मच्चुभयाभिभूया,
बहिं विहाराभिनिविट्ठ चित्ता।
ससार चक्कस्स विमोक्खणट्ठा।
दट्ठूण ते कामगुणे विरत्ता॥
—उत्त० अ० १४, गा० ४।

८ उत्त० अ० १० गाथा ३५।

९ उत्त० अ० १४।

१० उत्त० अ० १७, गाथा ३८।

११ उत्त० अ० १९, ९७।

१२ उत्त० अ० २८, गाथा ३।

१३ उत्त० अ० ३६, गाथा ६७।

१४ उत्त० अ० १९, गाथा ८३।

१५ उत्त० अ० २३, गाथा ८१।

१६ उत्त० अ० २९, सूत्र ४४।

१७ उत्त० अ० २३, गाथा ८१।

१८ उत्त० अ० २३, गाथा ८३।

१९ उत्त० अ० ९, गाथा ५८।

२० उत्त० अ० २३, गाथा ८३।

२१ उत्त० अ० ३६, गाथा ५७–६१।

२२ प्रज्ञापना पद २, सू० २११।

२३ ठाणाग अ० १, सू० १० और सू० ४६।

२४ भग० श० १६, उ० ६, सूत्र १८ से ३१।

२५ पूर्वप्रयोगादसगत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागति परिणामाच्च तद्गति। तत्वार्थ० अ० १० सूत्र ६।

२६ प्रज्ञापना पद २, सूत्र २११।

२७ प्रज्ञापना पद २।

२८ सूत्रकृताङ्ग अ० ११ टीका।

२९ तत्त्वार्थसूत्र अ० १, सू० १।

३० भग० श० ८, उ० १०।

३१ सूत्रकृताङ्ग श्रु० १, अ० ३, उ० ४

३२ सूत्रकृताङ्ग श्रु० २, अ० ७।

३३ सूत्रकृताङ्ग श्रु० १, अ० ६।

३४ आचा० १, अ० २, उ० ६।

३५ आचा० १, अ० ५, उ० ६।

३६ आचा० १, अ० ३, उ० १।

३७ आचा० १, अ० ६, उ० ३।

३८ सूत्र० श्रु० १, अ० १५, गा० १४।

३९ सूत्र० श्रु० १, अ० ८, गा० १०।

४० सूत्र० श्रु० १, अ० १३, गा० १५–१६।
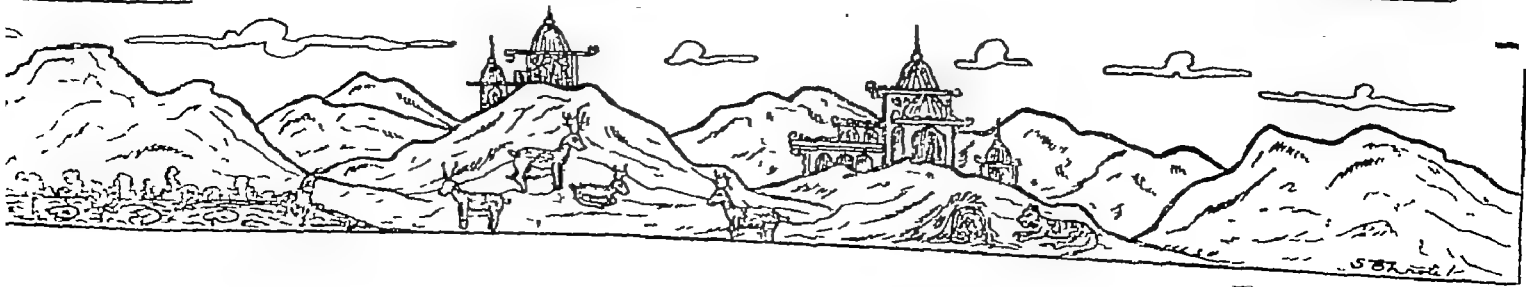
४१ आचा० श्रु० १, अ० ५, उ० ३।
४२ आचा० श्रु० १, अ० ३, उ० २।
४३ आचा० श्रु० १, अ० ३, उ० २।
४४ सूत्र० श्रु० १, अ० ८, गा० २३।
४५ सूत्र० श्रु० १, अ० ६, गा० २-३।
४६ सूत्र० श्रु० २, अ० ६, गा० ३६।
४७ सूत्र० श्रु० १, अ० ११, गा० ११।
४८ सूत्र० श्रु० १, अ० ११, गा० ६।
४९ सूत्र० श्रु० १, अ० ११, गा० २१।
५० सूत्र० श्रु० १, अ० ११, गा० ३४।
५१ सूत्र० श्रु० १, अ० ११, गा० ३८।
५२ सूत्र० श्रु० १, अ० १४, गा० १५।
५३ सूत्र० श्रु० १, अ० १४, गा० २७।
५४ सूत्र० श्रु० २ अ० १, सू० १।
५५ सूत्र० श्रु० २, अ० ५, गा० ३३।
५६ सूत्र० श्रु० २, अ० २, गा० १५।
५७ आचा० श्रु० १, अ० २, उ० ६।
५८ आचा० श्रु० १, अ० २, उ० २।
५९ आचा० श्रु० १, अ० २, उ० २।
६० सूत्र० श्रु० १, अ० ८, गा० २३।
६१ सूत्र० श्रु० १, अ० १०, गा० २२।
६२ सूत्र० श्रु० १, अ० १२, गा० २२।
६३ सूत्र० श्रु० १, अ० १५, गा० १५।
६४ सूत्र० श्रु० १, अ० १५, गा० १२।
६५ सूत्र० श्रु० १, अ० १५, गा० १९।
६६ सूत्र० श्रु० १, अ० १५, गा० २५।
६७ सूत्र० श्रु० १, अ० १५, गा० २४।
६८ सूत्र० श्रु० १, अ० २, उ० ३, गा० १५।
६९ सूत्र० श्रु० १, अ० २, उ० १, गा० ८-११।
७० सूत्र० श्रु० १, अ० २, उ० १, गा० १४-१५।
७१ सूत्र० श्रु० १, अ० ७, गा० ३०।
७२ सूत्र० श्रु० १, अ० ४ उ० २ गा० २२।
७३ सूत्र० श्रु० २ अ० ४, सू० ११।
७४ सूत्र० श्रु० २, अ० २, सू० ३५।
७५ आचा० श्रु० १, अ० ३, उ० २।
७६ आचा० श्रु० १, अ० ३, उ० १।
७७ आचा० श्रु० १, अ० ३, उ० ३।
७८ आचा० श्रु० १, अ० ३, उ० ३।
७९ आचा० श्रु० १, अ० २, उ० ६।
८० आचा० श्रु० १, अ० २, उ० २।
८१ सूत्र० श्रु० २, अ० २, सू० ४८।
८२ सूत्र० श्रु० १, अ० २, उ० ३।
८३ आचा० श्रु० १, अ० २, उ० ६।
८४ आचा० श्रु० १, अ० ५, उ० ३।
८५ आचा० श्रु० १, अ० ४, उ० ४।
८६ आचा० श्रु० १, अ० ६, उ० ४।
८७ सूत्र० श्रु० १, अ० ३, उ० ४, गा० २२।
८८ सूत्र० श्रु० १, अ० १५, गा० ५।
८९ भग० श० ५, उ० ६।
९० भग० श० १२, उ० ९।
९१ दश० अ० ४, गाथा १४–२५।
९२ सवणे णाणे विण्णाणे, पच्चक्खाणे य सयमे।
अणण्हए तवे चेव, वोदाणे अकिरिया सिद्धि ॥
(ख) स्थानाग अ० ३, उ० ३, सू० १९०।
९३ ठाणाग—अ० २, उ० २, सू० ६३।
९४ ठाणांग—अ० ५, उ० ३, सू० ४६२।
९५ ठाणांग। अ० ४, उ० १, सू० २३५।
९६ तत्वार्थ० अ० १०, सू० २।
९७ उत्त० अ० ३०, गाथा ५-६।
९८ उत्त० अ० १२, गा० ४५-४७।
९९ उत्त० अ० ३२, गा० २, ३।
१०० उत्त० अ० २३, गा० ७०-७३।
१०१ उत्त० अ० ३।
१०२ ज्ञाता धर्म कथा अ० ८।
१०३ उत्तराध्ययन के उनतीसवें अध्ययन मे बहत्तर सूत्र हैं उनमें से यहाँ केवल त्रयोदश सूत्रो का सार सक्षेप मे लिखा है। क्योंकि इन सूत्रों मे ही मुक्ति की प्राप्ति का स्पष्ट निर्देश है।
१०४ यहाँ "पहिज्जमाणे पहीणे" भग० श० १, उ० १, सूत्र के अनुसार बादर कषाय की निवृत्ति का प्रारम्भ होना भी निवृत्ति माना गया है।
१०५ (१) सम्यक्त्वमोहनीय, (२) मिथ्यात्वमोहनीय, (३) मिश्र मोहनीय।
१०६ (१) क्रोध, (२) मान, (३) माया, (४) लोभ।

●●

☐ श्री भवरलाल सेठिया एम० ए०

मोक्ष की पूर्व भूमिका 'वीतरागता' है। यही जैन तत्त्व-विद्या का प्राण है और इसे ही वैदिक तत्त्वज्ञान मे 'स्थित प्रज्ञ' नाम से जाना गया है। दोनों विचारधाराओं के आलोक मे 'स्थितप्रज्ञ' और 'वीतराग' के स्वरूप एव साधना पक्ष पर तुलनात्मक विश्लेषण यहाँ प्रस्तुत है।

ब्राह्मण व श्रमण परम्परा के सन्दर्भ मे—

स्थितप्रज्ञ और वीतराग : एक समीक्षात्मक विश्लेषण

☐

भारत के दार्शनिक साहित्य में 'प्रज्ञा' शब्द एक विशेष गरिमा लिए हुए है। वैदिक, जैन और बौद्ध—तीनों परम्पराओ मे इसका विशेष रूप से विभिन्न स्थानों मे प्रयोग हुआ है। गीता के दूसरे अध्याय मे 'स्थितप्रज्ञ' के रूप में यह शब्द गम्भीर अर्थ-सपदा लिए हुए है। गीता को सब उपनिषदों का सार कहा गया[1] है। उपनिषद् वैदिक वाङ्मय के महत्त्वपूर्ण भाग हैं, जिनमे जीवन के गहनतम विषयो का अत्यन्त सूक्ष्मता तथा गम्भीरता के साथ विश्लेषण है। भारतीय दार्शनिक चिन्तन-धारा की अपनी यह विशेषता है कि विभिन्न गति क्रमो मे प्रवाहित होते हुए भी, अनेक ऐसे विश्वजनीन पहलू हैं, जिनमे हमें वहाँ सामरस्य (समरसता) के दर्शन होते हैं। गीता मे 'स्थितप्रज्ञ' की जो विराट कल्पना है, वह नि सन्देह तत्त्व-चिन्तन के क्षेत्र मे अपना अनुपम स्थान लिए हुए है। जैनदर्शन मे 'वीतराग' का जो विवेचन है, लगभग उसी दिशा मे स्थितप्रज्ञ का गति-प्रवाह है। प्रस्तुत लेख मे स्थितप्रज्ञ और वीतराग का तात्त्विक तथा साधनात्मक दृष्टि से सक्षेप मे विश्लेषण करने का प्रयास है।

जीवन की धारा अध गमन—ऊर्ध्वगमन

प्रत्येक आत्मा विराट् शक्ति का देदीप्यमान पुञ्ज है। ईश्वरत्व या परमात्मभाव वहिर्गत नही है, उसी मे है। विजातीय द्रव्य—जैनदर्शन की भाषा में जिन्हें कर्म-पुद्गल कहा गया है, वेदान्त की भाषा मे जो माया-आवरण के रूप मे प्रतिपादित हैं—से उसका शुद्ध स्वरूप आवृत्त है। इस आवरण का मुख्य प्रेरक राग है। राग गुणात्मक दृष्टि से आत्मा की विराट् सत्ता को सकीर्ण बनाता है। वह सकीर्णता जब उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, तब जीवन का स्रोत अधोमुखी बन जाता है। फलत आकाक्षा, एषणा, लिप्सा और वासना मे मानव इस प्रकार उलझ जाता है कि उसे सही मार्ग सूझता नहीं। गति जो राह पकडती है, उसी मे उसकी प्रगति होती है। पतनोन्मुखता का परिणाम उत्तरोत्तर अधिकाधिक निम्नातिनिम्न गर्त मे गिरते जाना है।

अब हम इसके दूसरे पक्ष को लें, जब साधक आत्मा पर छाये रागात्मक केंचुल को उतार फेंकने के लिए कृत-सकल्प होता है। ज्यो-ज्यों यह प्रयत्न मानसिक और कार्मिक—दोनो दृष्टियों से गति पाने लगता है, त्यो त्यो जीवन का स्रोत ऊर्ध्वगामी बनने लगता है। ऊर्ध्वगामी का आशय अपने स्वरूप को अधिगत करते जाने की दृष्टि से उन्नत होते जाना है। ज्यो-ज्यों यह ऊर्ध्वगामिता बल पकड़ने लगती है, साधक के मन मे एक दिव्य ज्योति उजागर होने लगती है। अन्तत बाह्य आवरण या माया से विच्छेद हो जाता है और प्राप्य प्राप्त हो जाता है।

स्थितप्रज्ञ का सन्देश

जैसा कि सुविदित है, गीता महाभारत के भीष्म पर्व का एक भाग है। इसे जो गीता कहा गया है, इसमे भी एक विशेष तथ्य है। 'गीता' का अर्थ है जो गाया गया। गान केवल स्वरलयात्मकता का ही द्योतक नही है, तन्मयता का सूचक भी है। एक ओर रण-भेरियो का गर्जन था, दूसरी ओर श्रीकृष्ण द्वारा एक प्रकार का सगान यह एक विचित्र सयोग की बात है। युद्ध-क्षेत्र, क्रोध, क्षोभ, असहिष्णुता आदि के उभार का सहज कारण है। उसमे चैतसिक स्थिरता सध पाना कम सभव है। इसलिए ये दो विपरीत बातें हैं। इन दो विपरीत स्थितियो की सगति बिठाना ही गीता के दर्शन का सार है। महाकवि कालिदास ने एक बड़े महत्त्व की बात कही है। कुमारसभव का प्रसग है। भगवान शकर हिमाद्रि पर तपस्या मे रत थे। देवताओ का अभियान था—उन्हें तप से विचलित किया जाय। तदर्थं काम-राग का उद्दीपन करने वाले, सभी मोहक उपक्रम रचे गये। पर शकर अडिग रहे। उस प्रसग पर महाकवि द्वारा उद्गीण निम्नांकित शब्द बड़े महत्त्व के हैं—

विकार हेतौ सति विक्रियन्ते येषा न चेतासि त एव धीरा ।"

विकार के अनेकानेक हेतु या साधन विद्यमान हो, फिर भी जो उनके कारण अपने पथ से विचलित न हो, वे ही धैर्यशाली हैं। कृष्ण को यही तो बताना था कि मानव किसी भी प्रतिकूल स्थिति मे हो, यदि वह चाहे, प्रयत्न करे तो स्थिर रह सकता है। यही से गीता के दर्शन का प्रारम्भ होता है।

स्थितप्रज्ञ का गीताकार ने जो स्वरूप व्याख्यात किया है, वह अपने मे सस्थित साधक के जीवन का जीवित चित्र है, जिसे जगत के झझावात जरा भी हिला नही सकते, डिगा नहीं सकते।

जैनदर्शन मे आत्म-विकास की विश्लेषण परम्परा मे इस तथ्य को विशेष रूप से स्पष्ट किया गया है कि साधक को रागात्मक, द्वेषात्मक परिस्थितियो से क्रमश ऊँचे उठते-उठते उस मन स्थिति को पा लेना होगा, जो न कभी विचलित होती है और न प्रकम्पित ही। इसके लिए एक बड़ा सुन्दर शब्द आया है—शैलेशीकरण। शैल का अर्थ पर्वत होता है, शैलेश का अर्थ पर्वतों का अधीश्वर या मेरु। इस उन्नत मनोदशा को स्थिरता और दृढ़ता की अपेक्षा से मेरु से उपमित किया गया है। इस स्थिति तक पहुँचने के बाद साधक कभी नीचे गिरता नही। इस तक पहुँचने का जो तात्त्विक क्रम जैनदर्शन मे स्वीकृत है, वह अनेक दृष्टियो से स्थितप्रज्ञ की साधना से तुलनीय है।

उपनिषदो मे आत्म-ज्ञान, परमात्म-साधना, मानसिक मल के अपगम, अपने सत्यात्मक, शिवात्मक व सौन्दर्यात्मक स्वरूप के साक्षात्कार के सन्दर्भ मे जो विवेचन हुआ है, बाह्य शब्दावली मे न जाकर यदि उसके अन्तस्तल मे जाए तो यह स्पष्ट प्रतिभासित होगा कि वहाँ का विवेचन जैन तत्त्व चिन्तनधारा के साथ काफी अश तक सामजस्य लिये हुए है।

आसक्ति का परिणाम विनाश

परम ध्येय या अन्तिम लक्ष्य की ओर अग्रसर होने के लिए साधना-पथ के पथिक को जो सबसे पहले करना होता है, वह है—मार्ग मे आने वाले विघ्नों तथा उनके दुष्परिणामो का बोध, स्थितप्रज्ञ-दर्शन के निम्नाकित दो श्लोको की गीताकार ने इस सन्दर्भ में जो व्याख्या की है, वह विशेष रूप से मननीय है—

"ध्यायतो विषयान् पुस, सङ्गस्तेषूपजायते।
सगात् सजायते काम, कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद् भवति समोह, समोहात् स्मृतिविभ्रम ।
स्मृतिभ्र शाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥"[२]

व्यक्ति और विषय—भोग्य पदार्थ—इन दो को सामने रखकर गीताकार अपने चिन्तन को अग्रसर करते हैं। जब-जब व्यक्ति की दृष्टि बाह्य सौन्दर्य, माधुर्य एव सारस्य, जो भोग्य पदार्थों का आकर्षक रूप है, पर होती है, तब बार-बार वे ही याद रहते हैं। उसका ध्यान एकमात्र उनमे ही लग जाता है। उनके अतिरिक्त उसे कुछ भी नहीं सूझता। ऐसी मन स्थिति हो जाने पर, गीताकार कहते हैं कि उसके मन मे आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। आसक्ति का

तात्पर्य वह भावनात्मक चिपकाव है, जिसके सट जाने पर व्यक्ति का उधर से हटना बहुत कठिन होता है। उसका परिणाम कामना के रूप मे आता है। व्यक्ति चाहता है कि जिस भोग्य पदार्थ का वह ध्यान करता रहा है, जिसमे उसका मन तन्मय है, वह उसे प्राप्त हो। कामना का जगत् अपरिसीम है, वह व्यक्ति के आत्मसात् हो जाय, यह कैसे सभव है? कामना की अपूर्ति मन मे क्रोध उत्पन्न करती है। क्रोध का मूल तमस् या तमोगुण है। तमस् अन्धकार का वाचक है। अन्धकार मे जिस प्रकार कुछ दीख नही पडता, उसी प्रकार क्रोधावेश मे यथार्थ का दर्शन या अवलम्बन असम्भव नही तो दु सम्भव अवश्य हो जाता है। क्रोध मे विवेक लुप्त हो जाता है। इसीलिए गीताकार ने क्रोध से सम्मूढता पैदा होने की बात कही है। मोह शब्द से पहले जो 'सम्' उपसर्ग लगा है, वह मोह या मूढता के व्यापक व सघन रूप का परिचायक है। अर्थात् तब मूढता भी बहुत भारी कोटि की आती है, साधारण नही। मूढता मानव के आन्तरिक अध पतन का बहुत बडा हेतु है।

मानव मे स्मृति नाम का एक विशेष आन्तरिक गुण है, जिसमे अतीत के विशिष्ट ज्ञान का सचय रहता है, अनुभूतियो का सकलन रहता है। जब कोई वाञ्छित, अवाञ्छित प्रसग बनता है, तब जो आन्तर्मानसिक प्रतिक्रिया होती है, उसका उत्तर स्मृति से मिलता है। स्मृति सत् या असत् वैसे विचार या उदाहरण प्रस्तुत कर देती है, जो सन्मार्ग या दुर्मार्ग पर गतिशील होने मे प्रेरक बनते हैं। अर्थात् स्मृति यदि सत् को आगे करती जाय तो व्यक्ति में सत्योन्मुखता का भाव जागता है, पनपता है। यदि वह असत् का रूप उपस्थित करती जाती है तो भावना और तत्पश्चात् कर्म का जगत् असत् की ओर अग्रसर होता है। सम्मूढता से स्मृति विनष्ट हो जाती है। आगे गीताकार का कहना है कि जब स्मृति नष्ट हो गई तो फिर बुद्धि कहाँ रही? बुद्धि का नाश तो एक प्रकार से सर्वनाश ही है।

गीताकार ने यह पतन के क्रम का जो वैज्ञानिक विश्लेषण किया है, नि सन्देह अनेक दृष्टियो से गवेष्य है। इसके बाद गीताकार ने इससे बचने का जो मार्ग बताया है वह इस प्रकार है—

"रागद्वेष वियुक्तैस्तु, विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा, प्रसादमधिगच्छति ॥"[3]

इस श्लोक मे राग, द्वेष, विषय, इन्द्रिय और आत्मवश्य—इन शब्दों का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है। मन मे विषयो के प्रति लिप्सा जागती है। उस लिप्सा की पूर्ति इन्द्रिया करती है। इन्द्रियो के साथ रागात्मकता या द्वेषात्मकता—जो भी भाव जुडा रहता है, उन (इन्द्रियो) की प्रवृत्ति तदनुरूप होती है। यह बन्धन या पारवश्य की दशा है। इसमे आत्मा का स्वरूप आच्छन्न रहता है। उस पर माया या अज्ञान का आवरण छा जाता है। इसका परिणाम अपने स्वरूप से अध पतित होने मे आता है। इसलिए गीताकार ने यहाँ बडी मार्मिक बात कही है। जब तक इन्द्रिया हैं, तब तक उनके द्वारा अपने-अपने विषय गृहीत होंगे ही। इन्द्रियों के होते विषय-शून्यता की दशा नहीं आ सकती। इसलिए गीताकार ने जिस करणीयता पर विशेष जोर दिया है, वह है राग और द्वेष से वियुक्तता। जब इन्द्रियो का रागात्मक व द्वेषात्मक भाव से यथार्थत वियोग हो जायेगा, तब उनका विषय-ग्रहण वैसा बहिर्गामी नही रहेगा, जैसा राग-द्वेष सयुक्तता मे था। सहज ही इन्द्रिया आत्मा के वशगत हो जायेंगी, जो पहले राग या द्वेष के अधीन थीं। यथार्थ की भाषा मे दु ख तो तब होता है, जब व्यक्ति निज स्वरूप से हटकर पर-रूप मे चला जाता है। जब इन्द्रियों की आत्मवश्यता सध जाती है, तब गीताकार के शब्दो मे व्यक्ति प्रसाद का लाभ करता है। प्रसाद का अर्थ प्रसन्नता, उल्लसित भाव या आनन्द है।

स्नेह-बन्धन का उच्छेद करें

गीता मे कर्म-ससार के उत्तरोत्तर विस्तार पाते जाने के मूल मे सग या आसक्ति का जो विशेष रूप से चित्रण किया गया है, वैसा ही भाव बहुत ही प्रेरक रूप में हमे उत्तराध्ययन सूत्र की निम्नाकित गाथा मे प्राप्त होता है—

"वोच्छिन्द सिणेहमप्पणो, कुमुय सारइय व पाणिय।
से सव्व सिणेहवज्जिए, समय गोयम! मा पमायए॥"[4]

इस गाथा मे 'सिणेह' या स्नेह शब्द आसक्ति के अर्थ में आया है। स्नेह का अर्थ चिकनाई भी है। आसक्ति

स्थितप्रज्ञ का सन्देश

जैसा कि सुविदित है, गीता महाभारत के भीष्म पर्व का एक भाग है। इसे जो गीता कहा गया है, इसमें भी एक विशेष तथ्य है। 'गीता' का अथ है जो गाया गया। गान केवल स्वरलयात्मकता का ही द्योतक नहीं है, तन्मयता का सूचक भी है। एक ओर रण-भेरियो का गर्जन था, दूसरी ओर श्रीकृष्ण द्वारा एक प्रकार का सगान यह एक विचित्र सयोग की वात है। युद्ध-क्षेत्र, क्रोध, क्षोभ, असहिष्णुता आदि के उभार का सहज कारण है। उसमे चैतसिक स्थिरता सध पाना कम सभव है। इसलिए ये दो विपरीत वातें हैं। इन दो विपरीत स्थितियो की सगति बिठाना ही गीता के दर्शन का सार है। महाकवि कालिदास ने एक वड़े महत्त्व की वात कही है। कुमारसभव का प्रसग है। भगवान शकर हिमाद्रि पर तपस्या मे रत थे। देवताओ का अभियान था—उन्हे तप से विचलित किया जाय। तदर्थ काम-राग का उद्दीपन करने वाले, सभी मोहक उपक्रम रचे गये। पर शकर अडिग रहे। उस प्रसग पर महाकवि द्वारा उद्‌गीर्ण निम्नाकित शब्द वडे महत्त्व के हैं—

विकार हेतौ सति विक्रियन्ते येपा न चेतासि त एव धीरा ।"

विकार के अनेकानेक हेतु या साधन विद्यमान हो, फिर भी जो उनके कारण अपने पथ से विचलित न हों, वे ही धैर्यशाली हैं। कृष्ण को यही तो वताना था कि मानव किसी भी प्रतिकूल स्थिति मे हो, यदि वह चाहे, प्रयत्न करे तो स्थिर रह सकता है। यही से गीता के दर्शन का प्रारम्भ होता है।

स्थितप्रज्ञ का गीताकार ने जो स्वरूप व्याख्यात किया है, वह अपने मे सस्थित साधक के जीवन का जीवित चित्र है, जिसे जगत के झझावात जरा भी हिला नही सकते, डिगा नहीं सकते।

जैनदर्शन मे आत्म-विकास की विश्लेषण परम्परा मे इस तथ्य को विशेष रूप से स्पष्ट किया गया है कि साधक को रागात्मक, द्वेषात्मक परिस्थितियो से क्रमश ऊँचे उठते-उठते उस मन स्थिति को पा लेना होगा, जो न कभी विचलित होती है और न प्रकम्पित ही। इसके लिए एक वडा सुन्दर शब्द आया है—शैलेशीकरण। शैल का अथ पर्वत होता है, शैलेश का अर्थ पवतो का अधीश्वर या मेरु। इस उन्नत मनोदशा को स्थिरता और दृढ़ता की अपेक्षा से मेरु से उपमित किया गया है। इस स्थिति तक पहुंचने के वाद साधक कभी नीचे गिरता नही। इस तक पहुँचने का जो तात्त्विक क्रम जैनदर्शन मे स्वीकृत है, वह अनेक दृष्टियो से स्थितप्रज्ञ की साधना से तुलनीय है।

उपनिषदो मे आत्म-ज्ञान, परमात्म-साधना, मानसिक मल के अपगम, अपने सत्यात्मक, शिवात्मक व सौन्दर्यात्मक स्वरूप के साक्षात्कार के सन्दर्भ मे जो विवेचन हुआ है, वाह्य शब्दावली मे न जाकर यदि उसके अन्तस्तल मे जाए तो यह स्पष्ट प्रतिभासित होगा कि वहाँ का विवेचन जैन तत्त्व चिन्तनधारा के साथ काफी अश तक सामजस्य लिये हुए है।

आसक्ति का परिणाम विनाश

चरम ध्येय या अन्तिम लक्ष्य की ओर अग्रसर होने के लिए साधना-पथ के पथिक को जो सबसे पहले करना होता है, वह है—मार्ग में आने वाले विघ्नो तथा उनके दुष्परिणामो का बोध, स्थितप्रज्ञ-दशन के निम्नाकित दो श्लोकों की गीताकार ने इस सन्दर्भ में जो व्याख्या की है, वह विशेष रूप से मननीय है—

"ध्यायतो विषयान् पुस, सङ्गस्तेषूपजायते।
सगात् सजायते काम, कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति समोह, समोहात् स्मृतिविभ्रम।
स्मृतिभ्र शाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥"[२]

व्यक्ति और विषय—भोग्य पदार्थ—इन दो को सामने रखकर गीताकार अपने चिन्तन को अग्रसर करते हैं। जव-जव व्यक्ति की दृष्टि वाह्य सौन्दर्य, माधुर्य एव सारस्य, जो भोग्य पदार्थों का आकषक रूप है, पर होती है, तब वार-वार वे ही याद रहते हैं। उसका ध्यान एकमात्र उनमें ही लग जाता है। उनके अतिरिक्त उसे कुछ भी नहीं सूझता। ऐसी मन स्थिति हो जाने पर, गीताकार कहते हैं कि उसके मन मे आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। आसक्ति का

तात्पर्य वह भावनात्मक चिपकाव है, जिसके सट जाने पर व्यक्ति का उधर से हटना बहुत कठिन होता है। उसका परिणाम कामना के रूप मे आता है। व्यक्ति चाहता है कि जिस भोग्य पदार्थ का वह ध्यान करता रहा है, जिसमे उसका मन तन्मय है, वह उसे प्राप्त हो। कामना का जगत् अपरिसीम है, वह व्यक्ति के आत्मसात् हो जाय, यह कैसे सभव है? कामना की अपूर्ति मन मे क्रोध उत्पन्न करती है। क्रोध का मूल तमस् या तमोगुण है। तमस् अन्धकार का वाचक है। अन्धकार मे जिस प्रकार कुछ दीख नही पडता, उसी प्रकार क्रोधावेश मे यथार्थ का दर्शन या अवलम्बन असम्भव नही तो दु सम्भव अवश्य हो जाता है। क्रोध मे विवेक लुप्त हो जाता है। इसीलिए गीताकार ने क्रोध से सम्मूढता पैदा होने की बात कही है। मोह शब्द से पहले जो 'सम्' उपसर्ग लगा है, वह मोह या मूढता के व्यापक व सघन रूप का परिचायक है। अर्थात् तब मूढ़ता भी बहुत भारी कोटि की आती है, साधारण नही। मूढता मानव के आन्तरिक अध पतन का बहुत बडा हेतु है।

मानव मे स्मृति नाम का एक विशेष आन्तरिक गुण है, जिसमे अतीत के विशिष्ट ज्ञान का सचय रहता है, अनुभूतियो का सकलन रहता है। जब कोई वाञ्छित, अवाञ्छित प्रसग बनता है, तब जो आन्तर्मानसिक प्रतिक्रिया होती है, उसका उत्तर स्मृति से मिलता है। स्मृति सत् या असत् वैसे विचार या उदाहरण प्रस्तुत कर देती है, जो सन्मार्ग या दुर्मार्ग पर गतिशील होने मे प्रेरक बनते हैं। अर्थात् स्मृति यदि सत् को आगे करती जाय तो व्यक्ति में सत्योन्मुखता का भाव जागता है, पनपता है। यदि वह असत् का रूप उपस्थित करती जाती है तो भावना और तत्पश्चात् कर्म का जगत् असत् की ओर अग्रसर होता है। सम्मूढता से स्मृति विनष्ट हो जाती है। आगे गीताकार का कहना है कि जब स्मृति नष्ट हो गई तो फिर बुद्धि कहां रही ? बुद्धि का नाश तो एक प्रकार से सर्वनाश ही है।

गीताकार ने यह पतन के क्रम का जो वैज्ञानिक विश्लेषण किया है, नि सन्देह अनेक दृष्टियो से गवेष्य है। इसके बाद गीताकार ने इससे बचने का जो मार्ग बताया है, वह इस प्रकार है—

> "रागद्वेष वियुक्तैस्तु, विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
> आत्मवश्यैर्विधेयात्मा, प्रसादमधिगच्छति ॥"[३]

इस श्लोक मे राग, द्वेष, विषय, इन्द्रिय और आत्मवश्य—इन शब्दों का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है। मन मे विषयों के प्रति लिप्सा जागती है। उस लिप्सा की पूर्ति इन्द्रिया करती है। इन्द्रियो के साथ रागात्मकता या द्वेषात्मकता—जो भी भाव जुडा रहता है, उन (इन्द्रियो) की प्रवृत्ति तदनुरूप होती है। यह बन्धन या पारवश्य की दशा है। इसमें आत्मा का स्वरूप आच्छन्न रहता है। उस पर माया या अज्ञान का आवरण छा जाता है। इसका परिणाम अपने स्वरूप से अध पतित होने मे आता है। इसलिए गीताकार ने यहाँ बडी मार्मिक बात कही है। जब तक इन्द्रियां हैं, तब तक उनके द्वारा अपने-अपने विषय गृहीत होंगे ही। इन्द्रियों के होते विषय-शून्यता की दशा नहीं आ सकती। इसलिए गीताकार ने जिस करणीयता पर विशेष जोर दिया है, वह है राग और द्वेष से वियुक्तता। जब इन्द्रियो का रागात्मक व द्वेषात्मक भाव से यथार्थत वियोग हो जायेगा, तब उनका विषय-ग्रहण वैसा बहिर्गामी नही रहेगा, जैसा राग-द्वेष सयुक्तता में था। सहज ही इन्द्रिया आत्मा के वशगत हो जायेंगी, जो पहले राग या द्वेष के अधीन थीं। यथार्थ की भाषा में दु ख तो तब होता है, जब व्यक्ति निज स्वरूप से हटकर पर-रूप मे चला जाता है। जब इन्द्रियो की आत्मवश्यता सध जाती है, तब गीताकार के शब्दो मे व्यक्ति प्रसाद का लाभ करता है। प्रसाद का अर्थ प्रसन्नता, उल्लसित भाव या आनन्द है।

स्नेह-बन्धन का उच्छेद करें

गीता मे कर्म-ससार के उत्तरोत्तर विस्तार पाते जाने के मूल मे सग या आसक्ति का जो विशेष रूप से चित्रण किया गया है, वैसा ही भाव बहुत ही प्रेरक रूप में हमे उत्तराध्ययन सूत्र की निम्नांकित गाथा मे प्राप्त होता है—

> "वोच्छिन्द सिणेहमप्पणो, कुमुय सारइय व पाणिय।
> से सव्व सिणेहवज्जिए, समय गोयम ! मा पमायए ॥"[४]

इस गाथा मे 'सिणेह' या स्नेह शब्द आसक्ति के अर्थ मे आया है। स्नेह का अर्थ चिकनाई भी है। आसक्ति

स्थितप्रज्ञ का सन्देश

जैसा कि सुविदित है, गीता महाभारत के भीष्म पर्व का एक भाग है। इसे जो गीता कहा गया है, इसमें भी एक विशेष तथ्य है। 'गीता' का अर्थ है जो गाया गया। गान केवल स्वरलयात्मकता का ही द्योतक नही है, तन्मयता का सूचक भी है। एक ओर रण-भेरियो का गर्जन था, दूसरी ओर श्रीकृष्ण द्वारा एक प्रकार का सगान यह एक विचित्र सयोग की बात है। युद्ध-क्षेत्र, क्रोध, क्षोभ, असहिष्णुता आदि के उभार का सहज कारण है। उसमे चैतसिक स्थिरता सध पाना कम सभव है। इसलिए ये दो विपरीत बातें हैं। इन दो विपरीत स्थितियो की सगति बिठाना ही गीता के दर्शन का सार है। महाकवि कालिदास ने एक बड़े महत्त्व की बात कही है। कुमारसभव का प्रसग है। भगवान शकर हिमाद्रि पर तपस्या मे रत थे। देवताओ का अभियान था—उन्हें तप से विचलित किया जाय। तदर्थ काम-राग का उद्दीपन करने वाले, सभी मोहक उपक्रम रचे गये। पर शकर अडिग रहे। उस प्रसग पर महाकवि द्वारा उद्गीर्ण निम्नाकित शब्द बड़े महत्त्व के हैं—

विकार हेतौ सति विक्रियन्ते येषा न चेतासि त एव धीरा ।"

विकार के अनेकानेक हेतु या साधन विद्यमान हो, फिर भी जो उनके कारण अपने पथ से विचलित न हो, वे ही धैर्यशाली हैं। कृष्ण को यही तो बताना था कि मानव किसी भी प्रतिकूल स्थिति मे हो, यदि वह चाहे, प्रयत्न करे तो स्थिर रह सकता है। यही से गीता के दर्शन का प्रारम्भ होता है।

स्थितप्रज्ञ का गीताकार ने जो स्वरूप व्याख्यात किया है, वह अपने मे सस्थित साधक के जीवन का जीवित चित्र है, जिसे जगत के झझावात जरा भी हिला नही सकते, डिगा नहीं सकते।

जैनदर्शन मे आत्म-विकास की विश्लेषण परम्परा मे इस तथ्य को विशेष रूप से स्पष्ट किया गया है कि साधक को रागात्मक, द्वेषात्मक परिस्थितियो से क्रमश ऊँचे उठते-उठते उस मन स्थिति को पा लेना होगा, जो न कभी विचलित होती है और न प्रकम्पित ही। इसके लिए एक बड़ा सुन्दर शब्द आया है—शैलेशीकरण। शैल का अर्थ पर्वत होता है, शैलेश का अर्थ पर्वतो का अधीश्वर या मेरु। इस उन्नत मनोदशा को स्थिरता और दृढता की अपेक्षा से मेरु से उपमित किया गया है। इस स्थिति तक पहुँचने के बाद साधक कभी नीचे गिरता नही। इस तक पहुँचने का जो तात्त्विक क्रम जैनदर्शन मे स्वीकृत है, वह अनेक दृष्टियो से स्थितप्रज्ञ की साधना से तुलनीय है।

उपनिषदो मे आत्म-ज्ञान, परमात्म-साधना, मानसिक मल के अपगम, अपने सत्यात्मक, शिवात्मक व सौन्दर्यात्मक स्वरूप के साक्षात्कार के सन्दर्भ मे जो विवेचन हुआ है, बाह्य शब्दावली मे न जाकर यदि उसके अन्तस्तल में जाए तो यह स्पष्ट प्रतिभासित होगा कि वहाँ का विवेचन जैन तत्त्व चिन्तनधारा के साथ काफी अश तक सामजस्य लिये हुए है।

आसक्ति का परिणाम विनाश

परम ध्येय या अन्तिम लक्ष्य की ओर अग्रसर होने के लिए साधना-पथ के पथिक को जो सबसे पहले करना होता है, वह है—मार्ग में आने वाले विघ्नों तथा उनके दुष्परिणामो का बोध, स्थितप्रज्ञ-दर्शन के निम्नाकित दो श्लोकों की गीताकार ने इस सन्दर्भ में जो व्याख्या की है, वह विशेष रूप से मननीय है—

"ध्यायतो विषयान् पुस, सङ्गस्तेषूपजायते।
सगात् सजायते काम, कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद् भवति समोह, समोहात् स्मृतिविभ्रम ।
स्मृतिभ्रशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥"[२]

व्यक्ति और विषय—भोग्य पदार्थ—इन दो को सामने रखकर गीताकार अपने चिन्तन को अग्रसर करते हैं। जब-जब व्यक्ति की दृष्टि बाह्य सौन्दर्य, माधुर्य एव सारस्य, जो भोग्य पदार्थों का आकर्षक रूप है, पर होती है, तब बार-बार वे ही याद रहते हैं। उसका ध्यान एकमात्र उनमें ही लग जाता है। उनके अतिरिक्त उसे कुछ भी नहीं सूझता। ऐसी मन स्थिति हो जाने पर, गीताकार कहते हैं कि उसके मन में आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। आसक्ति का

होता है कि उसका निष्कासन हो। आयुर्वेद मे इस सम्बन्ध मे पच कर्मों के रूप मे बडा वैज्ञानिक विवेचन है। पच कर्मों मे वमन का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। वमन द्वारा अपरिपक्व, विकृत तथा विपाक्त पदार्थ जब पेट से निकल जाते हैं, तब सहज ही एक सुख का अनुभव होता है। आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति के अनुसार प्राचीन काल मे प्रचलन भी ऐसा ही था। पहले वमन, विरेचन, स्नेहन, स्वेदन, उद्वासन द्वारा दोषो का निष्कासन हो जाता, तब फिर स्वास्थ्यवर्द्धन, शक्तिवर्द्धन आदि के लिए औषधि दी जाती। वह विशेष प्रभावक सिद्ध होती। यूनान के सुप्रसिद्ध दार्शनिक तथा काव्य-शास्त्री अरस्तू ने काव्य-रसास्वादन के सन्दर्भ मे भी इस पद्धति को स्वीकार किया है। अरस्तू के अनुसार रस-बोध के लिए अवसाद तथा कुण्ठाजनित विषण्ण भावो का विरेचन, जिसे कैथेर्गसिस या कैथेसिस कहा गया है, नितान्त आवश्यक है।

सूत्रकार ने यहाँ क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चारो को वमन की तरह निकाल फेंकने का निर्देश किया है। इनके साथ जुडा हुआ 'पाववड्ढण' विशेषण इस बात का द्योतक है कि इनसे विकार की धारा उत्तरोत्तर बढती जाती है। इन चारो के लिए दोष शब्द का भी प्रयोग हुआ है। दोष का व्योत्पत्तिक अर्थ है—"दूपयतीति दोष" अर्थात् जो दूषित—म्लान या गन्दा बना दे, वह दोष है। सूत्रकार का आशय यह है कि क्रोध, अहकार, माया-प्रवचना, लोभ-लिप्सा या लालसा का उग्र भाव अपने भीतर से उसी प्रकार निकाल दिया जाना चाहिए, जिस प्रकार वमन द्वारा विकृत पदार्थ निकाल दिए जाते हैं। गाथा का अन्तिम पद है—'इच्छन्तो हियमप्पणो' अर्थात् यदि अपना हित चाहते हो तो ऐसा करो। शाब्दिक अर्थ के साथ-साथ हम शब्दगत लयात्मकता की ओर जाएँ तो अनुभव होगा, इस पद मे उद्बोधन तथा पुरुषार्थ जागरण का एक जीवित सन्देश है। अर्थात् इनको वमन की तरह फेंके बिना आत्मा का हित किसी भी तरह सध नहीं सकता।

अब हम जरा दूसरी गाथा की ओर आएँ। सूत्रकार ने इसमे उपर्युक्त विकारो को अपगत करने के लिए एक बहुत सुन्दर पथ-दर्शन दिया है, जो बडा मनोवैज्ञानिक है। जीवन मे दो पक्ष हैं—विधि और निषेध। धर्मशास्त्रो मे प्राय निषेधमुखी व्याख्याएँ अधिक मिलती हैं। यहाँ कुछ सोचना होगा। निषेधमुखी व्याख्या का आधार 'पर' है क्योकि निषेध या वर्जन पर का किया जाता है। विधिमुखी व्याख्या का आधार 'स्व' है। निश्चय की भाषा मे तो विधिमुखी व्याख्या ही श्रेयस्कर है, निषेधमुखी औपचारिक। आत्मा जब अपने भाव, गुण या स्वरूप को स्वीकार करता है, तब 'पर-भाव', तथा 'पर-स्वरूप' का स्वत निषेध सधता है। उदाहरणार्थ यदि हम घर मे प्रवेश करते हैं तो सहज ही सडक छूटती है। वहाँ यदि यह भाव बने कि हमने सडक को छोडा तो वह यथार्थ नही होगी। गृह मे प्रवेश किया, यह विधि-मुखता ही तात्त्विक होगी। इस और स्पष्ट रूप में समझें। यदि ज्ञान का प्रकाश आत्मसात् होगा तो अज्ञान स्वत ही मिटेगा यह होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से निषेध पर विशेष जोर दिया जाता रहा है। इसका कारण यह है कि सामान्यत अधिक लोग सूक्ष्मदर्शी नहीं हैं, स्थूलदर्शी हैं। वे पर से अधिक प्रभावित हैं। उनका दृष्टिबिन्दु 'पर' पर अधिक टिका है। इसलिए 'पर' के वर्जन या निषेध द्वारा उन्हें दिशा-बोध देना आवश्यक होता है।

सूत्रकार ने प्रस्तुत गाथा में विधि और निषेध दोनो विधाओं को स्वीकार करते हुए इन वासनात्मक अन्त-र्वृत्तियो से वियुक्त होने का पथ दर्शन किया है। उन्होंने कहा है कि उपशम या शान्ति से क्रोध का हनन करो। 'हनन' शब्द वीर्य—पुरुषार्थ या वीरत्व को जगाने की दृष्टि से है। उपशम क्रोध का परिपन्थी (विरोधी) है और क्रोध शान्ति का। यदि उपशम या शान्त भाव का स्वीकार होगा तो क्रोध स्वय ही अस्तित्व शून्य हो जायेगा। परन्तु शान्त भाव, जो आत्मा का स्व-भाव है, को जगाने के लिए अन्त स्फूर्ति, पुरुषार्थ, अध्यवसाय अपेक्षित होता है। उपशम द्वारा क्रोध-विजय का सन्देश उद्घोषित कर मार्दव से मान को जीतने की बात कही गई है। मार्दव 'मृदु' विशेषण से बना (मृदोर्भाव—मार्दवम्) भाववाचक शब्द है। इसका अर्थ सहज मृदुता या कोमलता है। यह मान या अहकार का विलोम (प्रतिपक्षी) है। मृदुता के आ जाने पर अहकार स्वय ही चला जाता है। इसलिए प्रयत्न अपने मे मृदुता लाने का होना चाहिए।

आगे माया को आर्जव से और लोभ को सतोष से जीतने की बात कही गई है। आर्जव ऋजु से (ऋजोर्भाव-आर्जवम्) से बना है। मार्दव जैसे मृदुगत भाव का द्योतक है, उसी तरह आर्जव ऋजुगत भाव का द्योतक है। इसका अर्थ सरलता है। सरलता सहज भाव है, जिसमें बनाव नहीं होता। माया प्रवञ्चना है ही। उसे छलना भी कहा जाता है क्योंकि वह व्यक्ति को छलती है, धोखा देती है, उसे विभ्रान्त करती है। उसमें जितना हो सकता है, बनाव ही बनाव

मे भावना को वस्तु-विशेष या विषय-विशेष में अटका लेने का जो स्वभाव है, वह भी एक तरह की चिकनाई या चेप ही तो है। इसीलिए सूत्रकार ने साधक को सम्बोधित करते हुए कहा है कि तुम स्नेह का उच्छेद कर डालो। उच्छेद शब्द का भी अपने आप मे एक विशेष महत्त्व है। उच्छेद (उत्+छेद) का अर्थ है बिल्कुल मिटा देना। सूत्रकार ने बडी सुन्दर कल्पना की है कि यदि स्नेह या आसक्ति का बन्धन टूट गया तो साधक वैसा ही निर्मल बन जायेगा, जैसा शरद् ऋतु के निर्मल जल मे तैरता हुआ कमल, जो जल से सर्वथा अलिप्त रहता है। भारतीय सस्कृति में कमल निर्मलता और पवित्रता का प्रतीक है। आत्मा मे वैसी निर्मलता आने का अर्थ है, उसका वासना-प्रसूत विजातीय भावो से मुक्त होना। गीताकार ने 'प्रसादमधिगच्छति' इन शब्दो द्वारा जो बात कही है, यदि हम उसकी प्रस्तुत प्रसग से तुलना करें अतोवडी अच्छी सगति प्रतीत होगी। इसी प्रकार का एक दूसरा प्रसग है—

"कह नु कुज्जा सामण्ण, जो कामे न निवारए।
पए पए विसीयतो, सकप्पस्स वसगओ ॥"[५]

यहा सूत्रकार ने श्रमण-धर्म, जो जीवन का निर्विकार, आत्म-सर्मपित साधना-पथ है, के प्रतिपालन के सन्दर्भ में कहा है कि जो काम-राग का निवारण नहीं कर सकता, वह कदम-कदम पर विषाद पाता है। क्योकि काम-रागी पुरुष मे मन स्थिरता नही आ पाती। वह अपने आपको सकल्प-विकल्प मे खोये रखता है, उससे श्रामण्य—श्रमण-धर्म का पालन कैसे हो सकता है? कहने का अभिप्राय यह है कि कामराग, गीताकार के अनुसार विषय-ध्यान, सग तथा काम के भाव का उद्बोधक है। गीताकार इस विकार-त्रयी से फलने वाले जिस विनाश की बात कहते हैं, दशवैकालिककार सक्षेप में उसी प्रकार का भाव काम-राग और सकल्प-विकल्प से निष्पन्न होना बतलाते हैं। सकल्प विकल्प स्मृति-भ्रश से ही उद्भूत होते हैं, जो बुद्धि के चाञ्चल्य के परिचायक हैं। बुद्धि-विनाश का यही अर्थ है कि उससे जो विवेक-गर्भित चिन्तनमूलक निष्कर्ष आना चाहिए, वह नही आता—विपरीत आता है, जिसका आश्रयण मानव को सद्य विपथगामी बना देता है।

एक और प्रसग है, साधक कहता है—

"रागद्दोसादओ तिव्वा, नेहपासा भयकरा।
ते छिन्दित्तु जहानाय, विहरामि जहक्कम ॥"[६]

अर्थात् तीव्र राग-भाव, द्वेष-भाव तथा और भी जो स्नेहात्मक भयावह पाश हैं, मैं यथोचित रूप से उन्हें उच्छिन्न कर अपने स्वभाव मे विहार करता हूँ।

यहाँ दो प्रकार के भाव हैं। एक पक्ष यह है कि तीव्र राग, तीव्र द्वेष, आसक्त भाव—ये बडे भयजनक बन्धन हैं। अर्थात् इनसे मानव स्वार्थी, कुण्ठित तथा सकीर्ण बनता है। ये आत्म-विमुख भाव हैं। इसीलिए इन्हें बन्धन ही नहीं, भयानक बन्धन कहा है। यहाँ प्रयुक्त पाश शब्द बन्धन से कुछ विशेष अर्थ लिये हुए है। यह फन्दे या जाल का बोधक है, जिसमे फँस जाने या उलझ जाने पर प्राणी का निकलना बहुत ही कठिन होता है। दूसरा पक्ष यह है कि अपनी सुषुप्त आत्म-शक्ति को जगाकर मनुष्य यदि इन्हें वशगत कर लेता है, जीत लेता है, दूसरे शब्दों मे इन्हें विध्वस्त कर देता है तो असीम आनन्द पाता है। 'विहरामि जहक्कम' और 'प्रसादमधिगच्छति' का कितना सुन्दर सादृश्य है, जरा चिन्तन करें।

साधक को विकार के पथ पर धकेलने वाली इन वासनात्मक अन्तर्वृत्तियो की विजय के लिए जैन आगम वाङ्मय मे अनेक प्रकार से मार्ग-दर्शन दिया गया है, इनके प्रत्याख्यान या परित्याग की आवश्यकता पर बहुत बल दिया गया है। जैसे कहा है—

"कोह माण च माय च, लोभ च पाववड्ढण।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छन्तो हियमप्पणो ॥
उवसमेण हणे कोह, माण मद्दवया जिणे।
माय चाज्जवभावेण, लोभ सतोसओ जिणे ॥"[७]

जब किसी व्यक्ति के उदर में, जो शारीरिक स्वास्थ्य का केन्द्र है, विकार उत्पन्न हो जाता है तो यह आवश्यक

होता है कि उसका निष्कासन हो। आयुर्वेद मे इस सम्बन्ध मे पच कर्मों के रूप मे बडा वैज्ञानिक विवेचन है। पच कर्मों मे वमन का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। वमन द्वारा अपरिपक्व, विकृत तथा विषाक्त पदार्थ जब पेट से निकल जाते हैं, तब सहज ही एक सुख का अनुभव होता है। आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति के अनुसार प्राचीन काल मे प्रचलन भी ऐसा ही था। पहले वमन, विरेचन, स्नेहन, स्वेदन, उद्वासन द्वारा दोपो का निष्कासन हो जाता, तब फिर स्वास्थ्यवर्द्धन, शक्तिवर्द्धन आदि के लिए औषधि दी जाती। वह विशेष प्रभावक सिद्ध होती। यूनान के सुप्रसिद्ध दार्शनिक तथा काव्य-शास्त्री अरस्तू ने काव्य-रसास्वादन के सन्दर्भ मे भी इस पद्धति को स्वीकार किया है। अरस्तू के अनुसार रस-त्रोध के लिए अवसाद तथा कुण्ठाजनित विषण्ण भावो का विरेचन, जिसे कैथेरसिस या कैथेसिस कहा गया है, नितान्त आवश्यक है।

सूत्रकार ने यहाँ क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चारो को वमन की तरह निकाल फेंकने का निर्देश किया है। इनके साथ जुडा हुआ 'पाववड्ढण' विशेषण इस बात का द्योतक है कि इनसे विकार की धारा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। इन चारों के लिए दोष शब्द का भी प्रयोग हुआ है। दोष का व्योत्पत्तिक अर्थ है—"दूषयतीति दोष" अर्थात् जो दूषित—म्लान या गन्दा बना दे, वह दोष है। सूत्रकार का आशय यह है कि क्रोध, अहकार, माया-प्रवचना, लोभ—लिप्सा या लालसा का उग्र भाव अपने भीतर से उसी प्रकार निकाल दिया जाना चाहिए, जिस प्रकार वमन द्वारा विकृत पदार्थ निकाल दिए जाते हैं। गाथा का अन्तिम पद है—'इच्छन्तो हियमप्पणो' अर्थात् यदि अपना हित चाहते हो तो ऐसा करो। शाब्दिक अर्थ के साथ-साथ हम शब्दगत लयात्मकता की ओर जाएँ तो अनुभव होगा, इस पद मे उद्बोधन तथा पुरुषार्थ जागरण का एक जीवित सन्देश है। अर्थात् इनको वमन की तरह फेंके बिना आत्मा का हित किसी भी तरह सध नहीं सकता।

अब हम जरा दूसरी गाथा की ओर आएँ। सूत्रकार ने इसमे उपर्युक्त विकारो को अपगत करने के लिए एक बहुत सुन्दर पथ-दर्शन दिया है, जो बडा मनोवैज्ञानिक है। जीवन मे दो पक्ष हैं–विधि और निषेध। धर्मशास्त्रो मे प्राय निषेधमुखी व्याख्याएँ अधिक मिलती हैं। यहाँ कुछ सोचना होगा। निषेधमुखी व्याख्या का आधार 'पर' है क्योकि निषेध या वर्जन पर का किया जाता है। विधिमुखी व्याख्या का आधार 'स्व' है। निश्चय की भाषा मे तो विधिमुखी व्याख्या ही श्रेयस्कर है, निषेधमुखी औपचारिक। आत्मा जब अपने भाव, गुण या स्वरूप को स्वीकार करता है, तब 'पर-भाव', तथा 'पर-स्वरूप' का स्वत निषेध सधता है। उदाहरणार्थ यदि हम घर में प्रवेश करते हैं तो सहज ही सडक छूटती है। वहाँ यदि यह भाव बने कि हमने सडक को छोडा तो वह यथार्थ नहीं होगी। गृह में प्रवेश किया, यह विधि-मुखता ही तात्त्विक होगी। इस और स्पष्ट रूप मे समझें। यदि ज्ञान का प्रकाश आत्मसात् होगा तो अज्ञान स्वत ही मिटेगा यह होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से निषेध पर विशेष जोर दिया जाता रहा है। इसका कारण यह है कि सामान्यत अधिक लोग सूक्ष्मदर्शी नही हैं, स्थूलदर्शी हैं। वे पर से अधिक प्रभावित हैं। उनका दृष्टिबिन्दु 'पर' पर अधिक टिका है। इसलिए 'पर' के वर्जन या निषेध द्वारा उन्हे दिशा-बोध देना आवश्यक होता है।

सूत्रकार ने प्रस्तुत गाथा में विधि और निषेध दोनों विधाओं को स्वीकार करते हुए इन वासनात्मक अन्त-र्वृत्तियो से वियुक्त होने का पथ दर्शन किया है। उन्होंने कहा है कि उपशम या शान्ति से क्रोध का हनन करो। 'हनन' शब्द वीर्य—पुरुषार्थ या वीरत्व को जगाने की दृष्टि से है। उपशम क्रोध का परिपन्थी (विरोधी) है और क्रोध शान्ति का। यदि उपशम या शान्त भाव का स्वीकार होगा तो क्रोध स्वय ही अस्तित्व शून्य हो जायेगा। परन्तु शान्त भाव, जो आत्मा का स्व-भाव है, को जगाने के लिए अन्त स्फूर्ति, पुरुषार्थ, अध्यवसाय अपेक्षित होता है। उपशम द्वारा क्रोध-विजय का सन्देश उद्घोषित कर मार्दव से मान को जीतने की बात कही गई है। मार्दव 'मृदु' विशेषण से बना (मृदोर्भाव—मार्दवम्) भाववाचक शब्द है। इसका अर्थ सहज मृदुता या कोमलता है। यह मान या अहकार का विलोम (प्रतिपक्षी) है। मृदुता के आ जाने पर अहकार स्वय ही चला जाता है। इसलिए प्रयत्न अपने मे मृदुता लाने का होना चाहिए।

आगे माया को आर्जव से और लोभ को सतोष से जीतने की बात कही गई है। आर्जव ऋजु से (ऋजोर्भाव - आर्जवम्) से बना है। मार्दव जैसे मृदुगत भाव का द्योतक है, उसी तरह आर्जव ऋजुगत भाव का द्योतक है। इसका अर्थ सरलता है। सरलता सहज भाव है, जिसमे बनाव नहीं होता। माया प्रवञ्चना है ही। उसे छलना भी कहा जाता है क्योंकि वह व्यक्ति को छलती है, धोखा देती है, उसे विभ्रान्त करती है। उसमें जितना हो सकता है, बनाव ही बनाव

मे भावना को वस्तु-विशेष या विषय-विशेष मे अटका लेने का जो स्वभाव है, वह भी एक तरह की चिकनाई या चेप ही तो है। इसीलिए सूत्रकार ने साधक को सम्बोधित करते हुए कहा है कि तुम स्नेह का उच्छेद कर डालो। उच्छेद शब्द का भी अपने आप मे एक विशेष महत्त्व है। उच्छेद (उत्+छेद) का अर्थ है बिल्कुल मिटा देना। सूत्रकार ने बडी सुन्दर कल्पना की है कि यदि स्नेह या आसक्ति का बन्धन टूट गया तो साधक वैसा ही निर्मल बन जायेगा, जैसा शरद् ऋतु के निर्मल जल मे तैरता हुआ कमल, जो जल से सर्वथा अलिप्त रहता है। भारतीय सस्कृति मे कमल निर्मलता और पवित्रता का प्रतीक है। आत्मा मे वैसी निर्मलता आने का अर्थ है, उसका वासना-प्रसूत विजातीय भावो से मुक्त होना। गीताकार ने '**प्रसादमधिगच्छति**' इन शब्दो द्वारा जो बात कही है, यदि हम उसकी प्रस्तुत प्रसग से तुलना करें अतीवडी अच्छी सगति प्रतीत होगी। इसी प्रकार का एक दूसरा प्रसग है—

"कह नु कुज्जा सामण्ण, जो कामे न निवारए।
पए पए विसीयतो, सकप्पस्स वसगओ ॥"[५]

यहा सूत्रकार ने श्रमण-धर्म, जो जीवन का निर्विकार, आत्म-समर्पित साधना-पथ है, के प्रतिपालन के सन्दर्भ में कहा है कि जो काम-राग का निवारण नही कर सकता, वह कदम-कदम पर विषाद पाता है। क्योंकि काम रागी पुरुष मे मन स्थिरता नहीं आ पाती। वह अपने आपको सकल्प-विकल्प मे खोये रखता है, उससे श्रामण्य—श्रमण-धर्म का पालन कैसे हो सकता है? कहने का अभिप्राय यह है कि कामराग, गीताकार के अनुसार विषय-ध्यान, सग तथा काम के भाव का उद्बोधक है। गीताकार इस विकार-त्रयी से फलने वाले जिस विनाश की बात कहते हैं, दशवैकालिककार सक्षेप मे उसी प्रकार का भाव काम-राग और सकल्प-विकल्प से निष्पन्न होना बतलाते हैं। सकल्प विकल्प स्मृति भ्रश से ही उद्भूत होते हैं, जो बुद्धि के चाञ्चल्य के परिचायक हैं। बुद्धि-विनाश का यही अर्थ है कि उससे जो विवेक-गर्भित चिन्तनमूलक निष्कर्ष आना चाहिए, वह नही आता—विपरीत आता है, जिसका आश्रयण मानव को सद्य विपथगामी बना देता है।

एक और प्रसग है, साधक कहता है—

"रागद्दोसादओ तिव्वा, नेहपासा भयकरा।
ते छिन्दित्तु जहानाय, विहरामि जहक्कम ॥"[६]

अर्थात् तीव्र राग-भाव, द्वेष-भाव तथा और भी जो स्नेहात्मक भयावह पाश हैं, मैं यथोचित रूप से उन्हें उच्छिन्न कर अपने स्वभाव मे विहार करता हूँ।

यहाँ दो प्रकार के भाव हैं। एक पक्ष यह है कि तीव्र राग, तीव्र द्वेष, आसक्त भाव—ये बडे भयजनक बन्धन हैं। अर्थात् इनसे मानव स्वार्थी, कुण्ठित तथा सकीर्ण बनता है। ये आत्म-विमुख भाव हैं। इसीलिए इन्हें बन्धन ही नहीं, भयानक बन्धन कहा है। यहाँ प्रयुक्त पाश शब्द बन्धन से कुछ विशेष अर्थ लिये हुए है। यह फन्दे या जाल का बोधक है, जिसमे फँस जाने या उलझ जाने पर प्राणी का निकलना बहुत ही कठिन होता है। दूसरा पक्ष यह है कि अपनी सुषुप्त आत्म-शक्ति को जगाकर मनुष्य यदि इन्हें वशगत कर लेता है, जीत लेता है, दूसरे शब्दों मे इन्हें विध्वस्त कर देता है तो असीम आनन्द पाता है। 'विहरामि जहक्कम' और 'प्रसादमधिगच्छति' का कितना सुन्दर सादृश्य है, जरा चिन्तन करें।

साधक को विकार के पथ पर धकेलने वाली इन वासनात्मक अन्तर्वृत्तियों की विजय के लिए जैन आगम वाङ्मय मे अनेक प्रकार से मार्ग-दर्शन दिया गया है, इनके प्रत्याख्यान या परित्याग की आवश्यकता पर बहुत बल दिया गया है। जैसे कहा है—

"कोह माण च माय च, लोभ च पाववड्ढण।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छन्तो हियमप्पणो ॥
उवसमेण हणे कोह, माण मद्दवया जिणे।
माय चाज्जवभावेण, लोभ सतोसओ जिणे ॥"[७]

जब किसी व्यक्ति के उदर में, जो शारीरिक स्वास्थ्य का केन्द्र है, विकार उत्पन्न हो जाता है तो यह आवश्यक

होता है कि उसका निष्कासन हो। आयुर्वेद मे इस सम्बन्ध मे पच कर्मों के रूप मे बडा वैज्ञानिक विवेचन है। पच कर्मो मे वमन का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। वमन द्वारा अपरिपक्व, विकृत तथा विषाक्त पदार्थ जब पेट से निकल जाते हैं, तब सहज ही एक सुख का अनुभव होता है। आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति के अनुसार प्राचीन काल मे प्रचलन भी ऐसा ही था। पहले वमन, विरेचन, स्नेहन, स्वेदन, उद्वासन द्वारा दोषो का निष्कासन हो जाता, तब फिर स्वास्थ्यवर्द्धन, शक्तिवर्द्धन आदि के लिए औषधि दी जाती। वह विशेष प्रभावक सिद्ध होती। यूनान के सुप्रसिद्ध दार्शनिक तथा काव्य-शास्त्री अरस्तू ने काव्य-रसास्वादन के सन्दर्भ मे भी इस पद्धति को स्वीकार किया है। अरस्तू के अनुसार रस-बोध के लिए अवसाद तथा कुण्ठाजनित विषण्ण भावो का विरेचन, जिसे कैथेरसिस या कैथेसिस कहा गया है, नितान्त आवश्यक है।

सूत्रकार ने यहाँ क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चारो को वमन की तरह निकाल फेंकने का निर्देश किया है। इनके साथ जुडा हुआ 'पाववड्ढण' विशेषण इस बात का द्योतक है कि इनसे विकार की धारा उत्तरोत्तर बढती जाती है। इन चारों के लिए दोष शब्द का भी प्रयोग हुआ है। दोष का व्युत्पत्तिक अर्थ है—"दूषयतीति दोष" अर्थात् जो दूषित—म्लान या गन्दा बना दे, वह दोष है। सूत्रकार का आशय यह है कि क्रोध, अहकार, माया-प्रवचना, लोभ-लिप्सा या लालसा का उग्र भाव अपने भीतर से उसी प्रकार निकाल दिया जाना चाहिए, जिस प्रकार वमन द्वारा विकृत पदार्थ निकाल दिए जाते हैं। गाथा का अन्तिम पद है—'इच्छन्तो हियमप्पणो' अर्थात् यदि अपना हित चाहते हो तो ऐसा करो। शाब्दिक अर्थ के साथ-साथ हम शब्दगत लयात्मकता की ओर जाएँ तो अनुभव होगा, इस पद मे उद्बोधन तथा पुरुषार्थ जागरण का एक जीवित सन्देश है। अर्थात् इनको वमन की तरह फेंके बिना आत्मा का हित किसी भी तरह सध नही सकता।

अब हम जरा दूसरी गाथा की ओर आएँ। सूत्रकार ने इसमे उपर्युक्त विकारो को अपगत करने के लिए एक बहुत सुन्दर पथ-दर्शन दिया है, जो बडा मनोवैज्ञानिक है। जीवन मे दो पक्ष हैं—विधि और निषेध। धर्मशास्त्रो मे प्राय निषेधमुखी व्याख्याएँ अधिक मिलती हैं। यहाँ कुछ सोचना होगा। निषेधमुखी व्याख्या का आधार 'पर' है क्योकि निषेध या वर्जन पर का किया जाता है। विधिमुखी व्याख्या का आधार 'स्व' है। निश्चय की भाषा मे तो विधिमुखी व्याख्या ही श्रेयस्कर है, निषेधमुखी औपचारिक। आत्मा जब अपने भाव, गुण या स्वरूप को स्वीकार करता है, तब 'पर-भाव', तथा 'पर-स्वरूप' का स्वत निषेध सधता है। उदाहरणार्थ यदि हम घर मे प्रवेश करते हैं तो सहज ही सडक छूटती है। वहाँ यदि यह भाव बने कि हमने सडक को छोडा तो वह यथार्थ नहीं होगी। गृह मे प्रवेश किया, यह विधि-मुखता ही तात्त्विक होगी। इस और स्पष्ट रूप में समझें। यदि ज्ञान का प्रकाश आत्मसात् होगा तो अज्ञान स्वत ही मिटेगा यह होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से निषेध पर विशेष जोर दिया जाता रहा है। इसका कारण यह है कि सामान्यत अधिक लोग सूक्ष्मदर्शी नहीं हैं, स्थूलदर्शी हैं। वे पर से अधिक प्रभावित हैं। उनका दृष्टिबिन्दु 'पर' पर अधिक टिका है। इसलिए 'पर' के वर्जन या निषेध द्वारा उन्हें दिशा-बोध देना आवश्यक होता है।

सूत्रकार ने प्रस्तुत गाथा में विधि और निषेध दोनों विधाओ को स्वीकार करते हुए इन वासनात्मक अन्त-वृंत्तियो से वियुक्त होने का पथ दर्शन किया है। उन्होंने कहा है कि उपशम या शान्ति से क्रोध का हनन करो। 'हनन' शब्द वीर्य—पुरुषार्थ या वीरत्व को जगाने की दृष्टि से है। उपशम क्रोध का परिपन्थी (विरोधी) है और क्रोध शान्ति का। यदि उपशम या शान्त भाव का स्वीकार होगा तो क्रोध स्वय ही अस्तित्व शून्य हो जायेगा। परन्तु शान्त भाव, जो आत्मा का स्व-भाव है, को जगाने के लिए अन्त स्फूर्ति, पुरुषार्थ, अध्यवसाय अपेक्षित होता है। उपशम द्वारा क्रोध-विजय का सन्देश उद्घोषित कर मार्दव से मान को जीतने की बात कही गई है। मार्दव 'मृदु' विशेषण से बना (मृदोर्भाव—मार्दवम्) भाववाचक शब्द है। इसका अर्थ सहज मृदुता या कोमलता है। यह मान या अहकार का विलोम (प्रतिपक्षी) है। मृदुता के आ जाने पर अहकार स्वय ही चला जाता है। इसलिए प्रयत्न अपने मे मृदुता लाने का होना चाहिए।

आगे माया को आर्जव से और लोभ को सतोष से जीतने की बात कही गई है। आर्जव ऋजु से (ऋजोर्भाव-आर्जवम्) से बना है। मार्दव जैसे मृदुगत भाव का द्योतक है, उसी तरह आर्जव ऋजुगत भाव का द्योतक है। इसका अर्थ सरलता है। सरलता सहज भाव है, जिसमे बनाव नहीं होता। माया प्रवञ्चना है ही। उसे छलना भी कहा जाता है क्योंकि यह व्यक्ति को छलती है, धोखा देती है, उसे विभ्रान्त करती है। उसमें जितना हो सकता है, बनाव ही बनाव

होता है। पर, यहाँ भी यह ज्ञातव्य है कि सहज सरल भाव के आते ही माया टिक नही पाती। इसलिए निश्चय की भाषा यहाँ भी यही बनती है कि सरलता को अपनाओ, माया स्वय अपगत होगी। लोभ और सतोष के सन्दर्भ मे यही वास्तविकता है।

शान्ति, मृदुता, ऋजुता तथा सन्तोष का जीवन मे ज्योही समावेश होगा, आत्मा मे एक अभिनव चेतना तथा सस्फूर्ति का सचार होगा। सूत्रकार जिसे आत्म-हित सधना कहते है, वह यही तो है। ऐसा होने से ही आत्म प्रसाद अधिगत होता है जिसकी गीता के सन्दर्भ मे ऊपर चर्चा हुई है।

मन कामनाएँ सवरण

गीता मे जहाँ स्थितप्रज्ञ का प्रकरण प्रारम्भ होता है, वहाँ अर्जुन द्वारा योगिराज कृष्ण से निम्नाकित शब्दो मे प्रश्न किया गया था—

"स्थितप्रज्ञस्य का भाषा, समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधी किं प्रभाषेत, किमासीत व्रजेत किम् ॥"[८]

अर्जुन ने पूछा—भगवन्! समाधिस्थ—समता भाव मे अवस्थित स्थितप्रज्ञ की क्या परिभाषा है? वह कैसे बोलता है, कैसे बैठता है, कैसे चलता है?

लगभग इसी प्रकार की जिज्ञासा दशवैकालिक मे अन्तेवासी अपने गुरु से करता है—

कह चरे कह चिट्ठे, कहमासे कह सए।
कह भुजन्तो भासन्तो पावकम्म न बन्धइ ॥[९]

वह कहता है—मैं कैसे चलूँ, कैसे खडा होऊँ, कैसे बैठूँ, कैसे सोऊँ, कैसे खाऊँ, कैसे बोलूँ, जिससे मैं निर्मल, उज्ज्वल रह सकूँ।

दोनो ओर के प्रश्नो की चिन्तन-धारा मे कोई अन्तर नही है। ठीक ही है, मोक्षार्थी जिज्ञासु के मन मे इसके अतिरिक्त और आयेगा ही क्या! जहाँ गीता के इस प्रश्न के समाधान मे, जैसा ऊपर विवेचन हुआ है, स्थितप्रज्ञ का दर्शन विस्तार पाता है, उसी प्रकार जैन आचार-शास्त्र का विकास भावत इसी जिज्ञासा का समाधान है।

स्थितप्रज्ञ वीतराग अन्तर्दर्शन

अर्जुन द्वारा किये गये प्रश्न पर श्रीकृष्ण ने स्थितप्रज्ञ की जो परिभाषा या व्याख्या की वह निम्नाकित रूप मे है—

दुखेष्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृह।
वीतरागभयक्रोध स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥
य सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
यदा सहरते चाय, कूर्मोऽङ्गानीव सर्वश।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥[१०]

गीताकार कहते हैं कि दुखो के आने पर जो उद्वेग नहीं पाता, सुखो के आने पर जिसकी स्पृहा या आकाक्षा उद्दीप्त नही होती, जिसे न राग, न भय और न क्रोध ने ही अपने वशगत कर रखा है अर्थात् जो इन्हें मिटा चुका है, उसकी बुद्धि स्थित या अचञ्चल होती है, वह स्थितप्रज्ञ है—स्थिरचेता उच्च साधक है।

जिसके स्नेह—रागानुरञ्जित आसक्तता या ससार मिट गया है, जो शुभ या प्रेयस् का अभिनन्दन नहीं करता, अशुभ या अप्रेयस् से द्वेष नही करता, उसकी बुद्धि सम्यक् अवस्थित रहती है वह स्थितप्रज्ञ है।

जिस प्रकार कछुआ अपने सब अगो को सम्पूर्णत अपने मे समेट लेता है उसी प्रकार जो अपनी इन्द्रियो को उनके विषयो से खीच लेता है। उसकी प्रज्ञा अविचल होती है, सम्यक् प्रतिष्ठित होती है, वह स्थितप्रज्ञ है।

जब तक इन्द्रियाँ और उनका प्रेरक मन वैषयिक वृत्ति से सर्वथा परे नहीं हटता, तब तक वह दुःखों की सीमा को लांघ नहीं सकता। ज्योंही वैषयिक वृत्ति क्षीण हो जाती है, दुःख स्वयं ध्वस्त हो जाते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में इस सन्दर्भ में बड़ा सुन्दर विवेचन है—

> एविंदियत्था य मणस्स अत्था, दुक्खस्स हेउ-मणुयस्स रागिणो।
> ते चेव थोवंपि कयाइ दुक्खं न वीयरागस्स करेन्ति किंचि॥
> सद्दे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोहपरंपरेण।
> न लिप्पए भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं॥
> न कामभोगा समयं उवेन्ति, न यावि भोगा विगइं उवेन्ति।
> जे तप्पओसी य परिग्गही य, सो तेसु मोहा विगइं उवेइ॥[११]

जो मनुष्य रागात्मकता से ग्रस्त है, इन्द्रियां और उनके विषय उसे दुःखी बनाते रहते हैं, किन्तु जिसकी राग भावना विनिर्गत हो गई है उसे ये जरा भी दुःख नहीं पहुँचा सकते।

जो पुरुष शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि विषयों से विरक्त होता है, वह शोक-संविग्न नहीं होता। वह संसार के मध्य रहता हुआ भी उससे लिप्त नहीं होता, जैसे पुष्करिणी में रहते हुए भी पलाश जल से अलिप्त रहता है।

उत्तराध्ययनकार ने यहाँ एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात कही है कि कामनाएँ और भोग न समता या उपशम के हेतु हैं और न वे विकार के ही कारण हैं। जो उनमें राग-भाव या द्वेष-भाव रखता है, वही विकार प्राप्त करता है। इसका आशय यह है कि विषय या भोग्य पदार्थ अपने आप में अपने सत्तात्मक स्वरूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। विकृति तो व्यक्ति की अपनी मनोभावना पर निर्भर है। मनोभावना में जहाँ पवित्रता है, वहाँ वैषयिक पदार्थ बलात् कुछ भी नहीं कर सकते। विकार या शुद्धि मूलतः चेतना का विषय है, जो केवल जीव में होती है।

स्थितप्रज्ञ की परिभाषा में ऊपर अनभिस्नेह शब्द का प्रयोग हुआ है। 'अभिस्नेह' स्नेह का कुछ अधिक सघन रूप है। यह अधिक सघनता ही उसे तीव्र राग में परिणत कर देती है। राग में तीव्रता आते ही द्वेष का उद्भव होगा ही। क्योंकि राग प्रेयस्कता के आधार पर एक सीमांकन कर देता है। उस अंकन सीमा से परे जो भी होता है, अनभीप्सित प्रतीत होता है। अनभीप्सा का उत्तरवर्ती विकास द्वेष है। यों राग और द्वेष ये एक ही तथ्य के मधुर और कटु—दो पक्ष हैं। इस जंजाल से ऊपर उठने पर साधक की जो स्थिति बनती है, उत्तराध्ययनकार के निम्नांकित शब्दों में उसका अन्तःस्पर्शी चित्रण है—

> "निम्ममो निरहंकारो, निस्संगो चत्तगारवो।
> समो अ सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु अ॥
> लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
> समो निन्दापसंसासु, तहा माणावमाणओ॥
> गारवेसु कसाएसु, दण्डसल्लभएसु य।
> निअत्तो हाससोगाओ, अनियाणो अबन्धणो॥
> अणिस्सिओ इहं लोए, परलोए अणिस्सिओ।
> वासीचन्दणकप्पो अ, असणे अणसणे तहा॥"[१२]

जो ममता और अहंकार से ऊँचा उठ जाता है, अनासक्त हो जाता है, जंगम तथा स्थावर—सभी प्राणियों के प्रति उसमें समता का उदार भाव परिव्याप्त हो जाता है। वह लाभ या अलाभ, सुख या दुःख, जीवन या मृत्यु, निन्दा या प्रशंसा, मान या अपमान में एक समान रहता है। लाभ, सुख, जीवन, प्रशंसा एवं मान उसे आनन्द-विभोर नहीं कर सकते तथा अलाभ, दुःख, मृत्यु, निन्दा एवं अपमान उसे शोकान्वित नहीं करते। वह न ऐहिक सुखों की कामना करता है, न पारलौकिक सुखों की ही। चाहे उसे बसोले से काटा जाता हो या चन्दन से लेपा जाता हो, चाहे उसे भोजन मिलता हो, चाहे नहीं मिलता हो, उसके भीतर का समभाव मिटता नहीं, सदा सुस्थिर रहता है।

ऐसा होने पर उत्तराध्ययनकार के शब्दों मे—

"सो तस्स सव्वस्स दुहस्स मुक्को, ज बाहई सयय जतुमेय ।
दीहामय विप्पमुक्को पसत्थो, तो होइ अच्चत सुहीकयत्थो।।"[१३]

वह (साधक), जो जीव को सतत पीडा देते रहते हैं, उन दीर्घ रोगो से विप्रमुक्त हो जाता है। दीर्घ रोग से यहाँ उन आन्तरिक कषायात्मक ग्रन्थियो का सूचन है, जो मानव को सदा अस्वस्थ (आत्म भाव से बहि स्थ) बनाये रखती हैं। जब ऐसा हो जाता है तो आत्मा अत्यन्त सुखमय हो जाती है। यह उसकी कृतकृत्यता की स्वर्णिम घडी है। तभी "दु खेस्वनुद्विग्नमना" ऐसा जो गीता मे कहा गया है, फलित होता है।

यो आत्म-उल्लास मे प्रहर्षित साधक की भावना म अप्रतिम दिव्यता का कितना सुन्दर समावेश हो जाता है, उत्तराध्ययनकार के निम्नाकित शब्दो से सुप्रकट है—

"ते पासे सव्वसो छित्ता, निहतूण उवायओ। मुक्कपासो लहुब्भूओ, विहरामि अह मुणी ।।
अन्तोहिअयसभूया, लया चिट्ठइ गोयमा। फलेइ विसभक्खीणि, स उ उद्धरिया कह ।।
त लय सव्वसो छित्ता, उद्धरित्ता समूलिय। विहरामि जहानाय, मुक्कोमि विसभक्खण ।।
भवतण्हा लया वुत्ता, भीमा भीमफलोदया। तमुच्छित्तु जहानाय विहरामि महामुणी ।।[१४]

साधक ! जो (रागात्मक) पाश सासारिक प्राणियो को बाँधे रहते हैं, मैं उनका छेदन और निहनन कर मुक्तपाश हो गया हूँ, हल्का हो गया हूँ, सानन्द विचरता हूँ।

भव-तृष्णा—सासारिक वासना की विष-लता—हृदय मे उद्भूत होने वाली विषय-वासना की शृ खला को मैं उच्छिन्न कर चुका हूँ। यही कारण है कि मैं सर्वथा आनन्दित एव उल्लसित हूँ।

इसी सन्दर्भ मे सूत्रकृताग मे बहुत स्पष्ट शब्दो मे कहा है—

"लद्धे कामे न पत्थेज्जा, विवेगे एवमाहिए।
आयरियाइ सिक्खेज्जा, बुद्धाण अंतिए सया ।।"[१५]

यदि काम-भोग सुलभ हो, आसानी से प्राप्त हों तो भी साधक को चाहिए कि वह उनकी वाञ्छा न करे। विवेक का ऐसा ही तकाजा है। इस प्रकार की निर्मल अन्तर्वृत्ति को सदीप्त करने के लिए साधक को चाहिए कि वह प्रबुद्ध जनो के सान्निध्य मे रहकर ऐसी शिक्षा प्राप्त करे।

इस प्रसग मे औपनिषदिक साहित्य के कुछ सन्दर्भ यहाँ उपस्थित किये जा रहे हैं, जो उपर्युक्त विवेचन से तुलनीय हैं। प्रश्नोपनिषद् मे ब्रह्मलोक अर्थात् आत्म-साम्राज्य की अवाप्ति के प्रसग में कहा है—

जिसमे साधक, अपने समग्र क्रियाकलाप मे परिष्कार कैसे आए, निबन्धावस्था कैसे रहे, की जिज्ञासा करता है। वहाँ सूत्रकार थोड़े से शब्दो मे बड़ा सुन्दर समाधान देते हैं—

जय चरे जय चिट्ठे, जयमासे जय सए।
जय भुंजतो भासतो, पावकम्म न बधइ ॥"[१८]

साधक यत्न—जागरूकता या विवेकपूर्वक चले, खड़ा हो, बैठे, सोए, बोले तथा खाए। इस प्रकार यत्न या जागरूक भाव से इन क्रियाओ को करता हुआ वह पाप-कर्म से बँधता नही।

इस सन्दर्भ मे आचारागसूत्र का एक प्रसग है, जिसे प्रस्तुत विषय के स्पष्टीकरण के हेतु उपस्थित करना उपयोगी होगा—

"ण सक्का ण सोउ सद्दा, सोतविसयमागया।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए॥
ण सक्का रुवमद्दट्ठु, चक्खुविसयमागय।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए॥
ण सक्का गधमग्घाउ, णासाविसयमागय।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए॥
ण सक्का रसमस्साउ, जीहाविसयमागय।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए॥
ण सक्का फासमवेएउ, फास विसयमागय।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए॥"[१९]

जब तक श्रोत्रेन्द्रिय है, चक्षु इन्द्रिय है, घ्राणेन्द्रिय है, रसनेन्द्रिय है, स्पर्शनेन्द्रिय है, शब्द, रूप, गन्ध, रस व स्पर्श का ग्रहण न किया जाए, यह सम्भव नही है। पर इन सबके साथ रागात्मक या द्वेषात्मक भाव नही जुड़ना चाहिए। यह स्थिति तब बनती है, जब श्रवण, दर्शन, आघ्राण-रसन तथा स्पर्शन मन पर छाते नही, मन इनमे जब न रस ही लेता है और न उलझता ही है। गीताकार ने कच्छप के इन्द्रिय-सकोच के उपमान से इन्द्रियों को तत्सम्बद्ध विषयो से विनिवृत्त करने की जो बात कही है, वह प्रस्तुत विवेचन से तुलनीय है। इन्द्रियो की इन्द्रियार्थ से विनिवृत्ति का तात्पर्य यह है कि इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य में सचरणशील रहते हुए तन्मय नही होती, उनमे रमती नही। यही अनासक्तता या निर्लेप की अवस्था है।

उत्तराध्ययन सूत्र में एक दृष्टान्त से इसे बड़े सुन्दर रूप मे समझाया है—

"उल्लो सुक्खो य दो छूढा, गोलया मट्टियामया।
दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सोऽत्थ लग्गई॥
एव लग्गन्ति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा।
विरत्ता उ न लग्गन्ति, जहा से सुक्क गोलए॥[२०]

मिट्टी के दो गोले हैं—एक सूखा, दूसरा गीला। दोनो यदि दीवाल पर फेंके जाएँ तो गीला गोला दीवाल पर चिपक जायेगा और सूखा गोला नहीं चिपकेगा। इसी प्रकार जो कलुषित बुद्धि के व्यक्ति कामनाओ व एषणाओ मे फँसे हैं, गीले गोले की तरह उन्ही के बन्ध होता है। जो विरक्त हैं—काम-लालसा से अनाकृष्ट हैं, उन्मुक्त हैं, वे सूखे गोले की तरह नही चिपकते, नही बँधते।

आचार्य पूज्यपाद ने बड़े उद्बोधक शब्दों में कहा है—

"रागद्वेषादिकल्लोलैरलोल यन्मनो जलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्व तत्त्ववित् नेतरो जन ॥"

ऐसा होने पर उत्तराध्ययनकार के शब्दो मे—

"सो तस्स सव्वस्स दुहस्स मुक्को, ज वाहई सयय जतुमेय ।
दीहामय विप्पमुक्को पसत्थो, तो होइ अच्चत सुहीकयत्थो।।"[१३]

वह (साधक), जो जीव को सतत पीडा देते रहने है, उन दीघ रोगो से विप्रमुक्त हो जाता है। दीर्घ रोग से यहाँ उन आन्तरिक कषायात्मक ग्रन्थियो का सूचन है, जो मानव को सदा अस्वस्थ (आत्म भाव से बहिर्मुख) बनाये रखती है। जब ऐसा हो जाता है तो आत्मा अत्यन्त सुखमय हो जाती है। यह उसकी कृतकृत्यता की स्वर्णिम घडी है। तभी "दु खेस्वनुद्विग्नमना" ऐसा जो गीता मे कहा गया है, फलित होता है।

यो आत्म-उल्लास मे प्रहर्षित साधक की भावना म अप्रतिम दिव्यता का कितना सुन्दर समावेश हो जाता है, उत्तराध्ययनकार के निम्नाकित शब्दो से सुप्रकट है—

"ते पासे सव्वसो छित्ता, निहतूण उवायओ। मुक्कपासो लहुब्भूओ, विहरामि अह मुणी ॥
अन्तोहिअयसभूया, लया चिट्ठइ गोयमा। फलेइ विसभक्खीणि, स उ उद्धरिया कह ॥
त लय सव्वसो छित्ता, उद्धरित्ता समूलिय। विहरामि जहानाय, मुक्कोमि विसभक्खण ॥
भवतण्हा लया वुत्ता, भीमा भीमफलोदया। तमुच्छित्तु जहानाय विहरामि महामुणी ॥"[१४]

साधक ! जो (रागात्मक) पाश सासारिक प्राणियो को बाँधे रहते हैं, मैं उनका छेदन और निहनन कर मुक्तपाश हो गया हूँ, हल्का हो गया हूँ, सानन्द विचरता हू।

भव-तृष्णा—सासारिक वासना की विष-लता—हृदय मे उद्भूत होने वाली विषय-वासना की शृ खला को मैं उच्छिन्न कर चुका हूँ। यही कारण है कि मैं सर्वथा आनन्दित एव उल्लसित हूँ।

इसी सन्दर्भ मे सूत्रकृताग मे बहुत स्पष्ट शब्दो मे कहा है—

"लद्धे कामे न पत्थेज्जा, विवेगे एवमाहिए।
आयरियाइ सिक्खेज्जा, बुद्धाण अंतिए सया ॥"[१५]

यदि काम-भोग सुलभ हो, आसानी से प्राप्त हो तो भी साधक को चाहिए कि वह उनकी वाञ्छा न करे। विवेक का ऐसा ही तकाजा है। इस प्रकार की निर्मल अन्तर्वृत्ति को सदीप्त करने के लिए साधक को चाहिए कि वह प्रबुद्ध जनो के सान्निध्य मे रहकर ऐसी शिक्षा प्राप्त करे।

इस प्रसग मे औपनिषदिक साहित्य के कुछ सन्दर्भ यहाँ उपस्थित किये जा रहे हैं, जो उपर्युक्त विवेचन से तुलनीय हैं। प्रश्नोपनिषद् मे ब्रह्मलोक अर्थात् आत्म-साम्राज्य की अवाप्ति के प्रसग मे कहा है—

"तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृत न माया चेति।"[१६]

अर्थात् जिनमे कुटिलता नही है, अनृत आचरण नही है, माया या प्रवञ्चना नही है, आत्मा का परम विशुद्ध, विराट् साम्राज्य उन्ही को प्राप्त होता है।

जब तक ऐसी स्थिति नही होती, तब तक उपनिषद् की भाषा मे मनुष्य अविद्या मे वर्तमान रहता है और उसका दुष्परिणाम भोगता रहता है।[१७]

अविद्या से उन्मुक्त होकर साधक किस प्रकार अमृतत्व पाता है, ब्रह्मानन्द का लाभ करता है, कठोपनिषद् मे जो कहा है, मननीय है—

"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिता।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

जो कामना प्रसूत लुब्ध मनोवृत्तियाँ हृदय मे आश्रित है, जब वे छूट जाती हैं तो मर्त्य—मरणधर्मा मानव अमृत—मरण से अतीत—परमात्म-भाव में अधिष्ठित हो जाता है। वह ब्रह्मानन्द या परमात्म-भाव की अनुभूति की वरेण्य वेला है।

अब हम उस प्रश्न पर आते हैं, जिसकी पहले 'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' श्लोक सन्दर्भ मे चर्चा की है,

जिसमे साधक, अपने समग्र क्रियाकलाप मे परिष्कार कैसे आए, निर्बन्धावस्था कैसे रहे, की जिज्ञासा करता है। वहाँ सूत्रकार थोड़े से शब्दो मे बड़ा सुन्दर समाधान देते हैं—

जय चरे जय चिट्ठे, जयमासे जय सए।
जय भुंजतो भासतो, पावकम्म न बधइ ॥"[१८]

साधक यत्न—जागरूकता या विवेकपूर्वक चले, खड़ा हो, बैठे, सोए, बोले तथा खाए। इस प्रकार यत्न या जागरूक भाव से इन क्रियाओ को करता हुआ वह पाप-कर्म से बँधता नही।

इस सन्दर्भ मे आचारागसूत्र का एक प्रसग है, जिसे प्रस्तुत विषय के स्पष्टीकरण के हेतु उपस्थित करना उपयोगी होगा—

"ण सक्का ण सोउ सद्दा, सोतविसयमागया।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए॥
ण सक्का रुवमद्दट्ठु, चक्खुविसयमागय।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए॥
ण सक्का गधमग्घाउ, णासाविसयमागय।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए॥
ण सक्का रसमस्साउ, जीहाविसयमागय।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए॥
ण सक्का फासमवेएउ, फास विसयमागय।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए॥"[१६]

जब तक श्रोत्रेन्द्रिय है, चक्षु इन्द्रिय है, घ्राणेन्द्रिय है, रसनेन्द्रिय है, स्पर्शनेन्द्रिय है, शब्द, रूप, गन्ध, रस व स्पर्श का ग्रहण न किया जाए, यह सम्भव नही है। पर इन सबके साथ रागात्मक या द्वेषात्मक भाव नहीं जुड़ना चाहिए। यह स्थिति तब बनती है, जब श्रवण, दर्शन, आघ्राण-रसन तथा स्पर्शन मन पर छाते नही, मन इनमे जब न रस ही लेता है और न उलझता ही है। गीताकार ने कच्छप के इन्द्रिय-सकोच के उपमान से इन्द्रियो को तत्सम्बद्ध विषयो से विनिवृत्त करने की जो बात कही है, वह प्रस्तुत विवेचन से तुलनीय है। इन्द्रियो की इन्द्रियार्थ से विनिवृत्ति का तात्पर्य यह है कि इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य मे सचरणशील रहते हुए तन्मय नही होती, उनमे रमती नही। यही अनासक्तता या निर्लेप की अवस्था है।

उत्तराध्ययन सूत्र मे एक दृष्टान्त से इसे बड़े सुन्दर रूप में समझाया है—

"उल्लो सुक्खो य दो छूढा, गोलया मट्टियामया।
दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सोऽत्थ लग्गई॥
एव लग्गन्ति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा।
विरत्ता उ न लग्गन्ति, जहा से सुक्क गोलए॥[२०]

मिट्टी के दो गोले हैं—एक सूखा, दूसरा गीला। दोनो यदि दीवाल पर फेंके जाएँ तो गीला गोला दीवाल पर चिपक जायेगा और सूखा गोला नही चिपकेगा। इसी प्रकार जो कलुषित बुद्धि के व्यक्ति कामनाओ व एषणाओ मे फँसे हैं, गीले गोले की तरह उन्ही के बन्ध होता है। जो विरक्त हैं—काम-लालसा से अनाकृष्ट हैं, उन्मुक्त हैं, वे सूखे गोले की तरह नही चिपकते, नहीं बँधते।

आचार्य पूज्यपाद ने बड़े उद्बोधक शब्दो में कहा है—

"रागद्वेषादिकल्लोलैरलोल यन्मनो जलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्व तत्त्ववित् नेतरो जन॥"

राग, द्वेष आदि की तरगो से जिसका मन-रूपी जल चञ्चल नही होता, वही तत्त्ववेत्ता—वस्तु-स्वरूप को यथावत् रूप मे जानने वाला आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार करता है, दूसरा नही।

मुण्डकोपनिषद् मे एक बहुत सुन्दर रूपक है—

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया,
समान वृक्ष परिषस्वजाते।
तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽ-
नीशया शोचति मुह्यमान ।
जुष्ट यदा पश्यत्यन्यमीश-
मस्य महिमानमिति वीतशोक ॥"[२१]

दो पक्षी थे। एक साथ रहते थे। दोनो मित्र थे। एक ही वृक्ष पर बैठे थे। उनमे से एक उस पेड का स्वादिष्ट फल खा रहा था। पर आश्चय है कि दूसरा (पक्षी) कुछ भी नही खा रहा था, केवल आनन्दपूर्वक देख रहा था। अर्थात् कुछ भी न खाते हुए भी वह परम आह्लादित था। यहाँ ये दोनो पक्षी जीवात्मा और परमात्मा के प्रतीक हैं पहला जीवात्मा का और दूसरा परमात्मा का। यहाँ इस पद्य का आशय यह है कि जीवात्मा शरीर की आसक्ति मे डूबा हुआ कर्मों के फल का उपभोग कर रहा है, अविद्या के कारण उसमे सुख, जिसे सुखाभास कहना चाहिए, मान रहा है। परमात्मा स्वय आनन्दस्वरूप है। कर्मों के फल-भोग से उसका कोई नाता नही।

इसी प्रसग मे आगे कहा गया है कि जीवात्मा शरीर की आसक्ति मे डूबा रहने से दैन्य का अनुभव करता है जब वह परमात्मा को देखता है, परमात्म-भाव की अनुभूति मे सविष्ट होता है, तब उसको उनकी महिमा का भान होता है और वह शोक-रहित बन जाता है।

इन पद्यो मे उपनिषद् के ऋषि ने आसक्ति और अनासक्ति का अपनी भाषा मे अपनी शैली मे निरूपण किया है। जीवात्मा और परमात्मा व्यक्तिश दो नही हैं। जब तक वह अविद्या के आवरण से आवृत है, उसकी सज्ञा जीवात्मा है। ज्योही वह आवरण हट जाता है, शुद्ध स्वरूप, जो अब तक अवगुण्ठित था, उन्मुक्त हो जाता है। तब उसकी सज्ञा परमात्मा हो जाती है।

यहाँ बहुत उत्सुकता से फल को चखने, खाने और उसमें आनन्द मानने की जो बात ऋषि कहता है, उसका अभिप्राय सासारिक भोग्य पदार्थों मे आसक्त हो जाना या उनमे रम जाना है। चिन्तन की गहराई में डुबकी लगाने पर अज्ञान से दुख में सुख मानने की भ्रान्ति अपगत होने लगती है, परमात्मता अनुभूत होने लगती है। पर पदार्थ निरपेक्ष परमात्म-भाव की गरिमा उसे अभिभूत कर लेती है। परमात्म-भाव की उज्ज्वलता, दिव्यता, सतत सुखमयता, चिन्मयता जीवात्मा में एक सजग प्रेरणा उत्पन्न करती है। अविद्या का पर्दा हटने लगता है, शोक मिटने लगता है, जीवात्मा की यात्रा परमात्म-भाव की ओर और तीव्र होने लगती है।

इन्द्रियों की दुर्जेयता आत्म-शक्ति की अवतारणा

आसक्ति-वर्जन, इन्द्रिय-सयम आदि के सन्दर्भ में ऊपर विस्तार से चर्चा की गई है। पर, जीवन में वैसा सध पाना कोई सरल कार्य नहीं है। यही कारण है, गीताकार ने कहा है—

"यततो ह्यपि कौन्तेय ! पुरुषस्य विपश्चित ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि, हरन्ति प्रसभं मन' ॥
इन्द्रियाणा हि चरता, यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञा, वायुर्नावमिवाम्भसि ॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य, न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयत शान्तिरशान्तस्य कुत सुखम् ॥[२२]

अर्जुन ! इन्द्रियो को जीत पाना वास्तव मे बडा कठिन है । इन्द्रियाँ प्रमथनशील है—इतनी वेगशील हैं कि मानव के विचारो को मथ डालती हैं, विचलित कर देती है । साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या, वे ज्ञानी का भी मन हर लेती हैं ।

मन स्वच्छन्दतापूर्वक विचरने वाली इन्द्रियो का अनुगमन करने लगे तो और अधिक सकट है । जिस प्रकार वायु जल मे बहती (तैरती) नौका को डुबा देता है, उसी प्रकार वह इन्द्रियानुगत मन प्रज्ञा का हरण कर लेता है ।

ऐसी स्थिति मे जो, गीताकार के अनुसार अयुक्त—योगविरहित, अजागरूक या अनवस्थित दशा है, बुद्धि और भावना का अपगम हो जाता है । तब फिर कहाँ शान्ति और कहाँ सुख ?

इन्द्रियाँ और मन को वशगत करने के लिए आत्म-शक्ति को जगाना होता है । आत्मा अपरिसीम, विराट शक्ति का सस्थान है पर जब तक शक्ति सुषुप्त रहती है, तब तक उससे कुछ निष्पन्न नही होता ।

मुण्डकोपनिषद् का ऋषि बडे प्रेरक शब्दो मे कहता है—

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो, न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात् ।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥

आत्मा को—आत्मा के शुद्ध एव निर्मल भाव को बलहीन पुरुष नही पा सकता, प्रमादी नही पा सकता, अयथावत् तप करने वाला भी नही पा सकता । जो ज्ञानी यथावत् रूप मे ज्ञानपूर्वक तप करता है, उसकी आत्मा ब्रह्म-सारूप्य पा लेती है ।

शक्ति-जागरण के सन्दर्भ मे स्वामी विवेकानन्द ने लन्दन मे अपने एक भाषण मे कहा था—

"अपने मे वह साहस लाओ, जो सत्य को जान सके, जो जीवन में निहित सत्य को दिखा सके, जो मृत्यु से न डरे, प्रत्युत उसका स्वागत करे, जो मनुष्य को यह ज्ञान करा दे कि वह आत्मा है और सारे जगत् मे ऐसी कोई भी वस्तु नहीं, जो उसका विनाश कर सके । तब तुम मुक्त हो जाओगे । तब तुम अपनी प्रकृत आत्मा को जान लोगे ।

तुम आत्मा हो, शुद्ध स्वरूप, अनन्त और पूर्ण हो । जगत् की महाशक्ति तुम्हारे भीतर है । हे सखे ! तुम क्यो रोते हो ? जन्म-मरण तुम्हारा भी नहीं है और मेरा भी नही है । क्यो रोते हो ? तुम्हें रोग-शोक कुछ भी नहीं है ।[२३]

उत्तराध्ययन सूत्र का प्रसग है, जहाँ साधक का आत्म-बल जगाते हुए प्रमाद से ऊपर उठने की प्रेरणा देते हुए कहा गया है—

अबले जह भारवाहए, मा मग्गे विसमेऽवगाहिया ।
पच्छा पच्छाणुतावए, समय गोयम मा पमायए ॥

जैसे निबल भारवाहक विषम—ऊबड-खाबड मार्ग मे पडकर फिर पछताता है, तुम्हारे साथ कही वैसा न हो । सबल भारवाहक के लिए वैसा नही होता । क्योकि अपने बल या शक्ति से सारी विषमताओ को वह पार कर सकता है । पर, दुबल वैसा नही कर सकता । दुर्बलता—आत्म-दौर्बल्य निश्चय ही एक अभिशाप है । उसके कारण मानव अनेकानेक विषमताओं में ग्रस्त होता जाता है, जीवन का प्रकाश धूमिल हो जाता है । इसीलिए सूत्रकार ने इस गाथा के अन्तिम पद मे कहा है कि साधक ! तू क्षणभर भी प्रमाद न कर ।

साधक मे आत्म-बल जागे, अपने अन्तरतम मे सन्निहित शक्ति-पुञ्ज से वह अनुप्राणित हो, इस अभिप्रेत से जैन आगमो मे अनेक स्थानो पर बडा महत्त्वपूर्ण उद्बोधन है ।

उत्तराध्ययन सूत्र मे साधक को सम्बोधित कर कहा गया है—

"जो सहस्स सहस्साण, सगामे दुज्जए जिए ।
एग जिणेज्ज अप्पाण, एस से परमो जओ ॥

अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण वज्झओ।
अप्पाणमेवमप्पाण, जइत्ता सुहमेहए ॥[२४]
अप्पाचेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ य ॥"[२५]

दुर्जेय सग्राम मे सहस्रो योद्धाओ को जीत लेना समव है पर, उससे भी वडी बात यह है कि साधक अपनी आत्मा को जीते। यह जय परम जय है। सहस्रो व्यक्तियो को शस्त्र-बल से जीतने वाले अनेक लोग मिल सकते हैं पर आत्म-विजेता आत्मबल के धनी कोई विरले ही होते हैं।

साधक ! तुम अपने आपसे जूझो, वाहर से जूझने पर क्या बनेगा। आत्मा द्वारा आत्मा को जीत लोगे तो वास्तव मे सुखी वन पाओगे।

तुम आत्मा का—अपने आपका दमन करो। अपने आपका दमन करना ही कठिन है। जो आत्म-दमन साध लेता है, वह इस लोक मे और पर लोक मे सुखी होता है।

आचाराग सूत्र मे भी इसी प्रकार के शब्दो में साधक को प्रेरित किया गया है—

"इमेण चेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण वज्झओ।
जुद्धारिह खलु दुल्लभ।"[२६]

अर्थात् मुमुक्षो ! इसी आत्मा से तुम युद्ध करो, वाहरी युद्ध से तुम्हारा क्या सधेगा। यह आत्मा ही युद्ध योग्य है। क्योकि इसे वशगत करना वहुत कठिन है।

सूत्रकृताग सूत्र मे यह सन्देश निम्नाकित शब्दो मे मुखरित हुआ है—

"सबुज्झह किं न बुज्झह सबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
नो हूवणमन्ति राइयो, नो सुलभ पुणरावि जीविय ॥"[२७]

साधक ! तुम जरा समझो, क्यो नही समझ रहे हो ! यदि यह मनुष्य जीवन गवा दिया तो फिर सम्बोधि-सद्‌बोध—सम्यक्‌ज्ञान प्राप्त करना ही कठिन होगा। स्मरण रखो, जो रातें बीत जाती है, वे लौटकर नहीं आती। यह मानव-भव बार-बार नही मिलता।

अपनी शक्ति को जगाने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति सवसे पहले यह अनुभव करे कि वह वस्तुत दुर्वल नही है। जैसा कि स्वामी विवेकानन्द ने कहा है, मानव मे असीम शक्तियो का निधान भरा है। गल्ती यही है कि वह उन्हें भूले रहता है। शक्ति-वोध के साथ-साथ करणीयता-वोध भी आवश्यक है। ऊपर उद्‌धृत गाथाओ मे आत्म-जागरण के इन दोनो पक्षो को जैन-तत्त्वदर्शियों ने जिस सशक्त व ओजपूर्ण शब्दावली में उपस्थित किया है, वह नि सन्देह मानव के भावो मे उत्साह और स्फूर्ति का सचार करते हैं।

आनन्द की स्वर्णिम वेला

कामना, लालसा, लिप्सा और आसक्ति के परिवर्जन से जीवन में सहज भाव का उद्‌भव होता है। तव साधक जिस पर-पदार्थ-निरपेक्ष, आत्म-प्रसूत असीम सुख का अनुभव करता है, न उसके लिए कोई उपमान है और न शब्द-व्याख्येयता की सीमा मे ही वह आता है। तब साधक इतना आत्माभिरत हो जाता है कि जगत् के विभ्रामक जीवन से स्वय उसमें पराङ्‌मुखता आ जाती है। तभी तो गीताकार ने कहा है—

या निशा सर्वभूताना, तस्या जागर्ति सयमी।
यस्या जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुने ॥[२८]

सब प्राणियो के लिए जो रात है, सयमानुरत साधक उसमे जागता है। अर्थात् जिस आत्म-सस्मृति, स्वभाव रमण रूप काय मे ससार सुपुप्त है—अक्रियाशील है, अप्रवुद्ध है, साधक उसमे सतत उद्‌वुद्ध एव चरणशील-गतिशील है। जिस अनाध्यात्मिक एषणा व आसक्तिमय कायकलाप मे सारा जगत जाग्रत है, वहाँ वह सुपुप्त है।

जब साधक कामनाओ को पी जाता है, अपने मे लीन कर लेता है तो पर्वत की तरह स्थिर-अडिग हो जाता है, समुद्र की तरह गम्भीर और विराट् हो जाता है । गीता में उसका वडा सुन्दर शब्द चित्र है—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं, समुद्रमाप प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा य प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।।[२९]

नदियाँ बहती-बहती समुद्र मे पहुँचती जाती हैं, उसकी विराट्ता मे विलीन होती जाती हैं । फिर उनका कोई अस्तित्व रह नही जाता उसी तरह जिस साधक की कामनाओ की सरिताएँ विलीन हो जाती हैं उसके लिए शान्ति, का निर्मल निझर प्रस्फुटित हो जाता है ।

ऐसी दशा, जहाँ जीवन मे शान्त भाव परिव्याप्त होता है, एक निराली ही स्थिति होती है । अध्यात्मयोगी श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है—

देह छता जेहनी दशा, वरते देहातीत ।
ते ज्ञानीना चरणमा, हो वदन अगणीत ।।

श्रीमद् राजचन्द्र के कथन का आशय यह है कि देह विद्यमान रहता है, रहेगा ही—जब तक सयोग है । ज्ञानी देह मे देहभाव मानता है, आत्म-भाव नहीं । इसलिए उसे देहातीत कहा जाता है । वैसा ज्ञानी सबके लिए वद्य और नमस्य है । पहले अनेक प्रसगो मे यह चर्चित हुआ है कि पदार्थ का अस्तित्व एक वात है और राग भाव से ग्रहण, दूसरी वात । राग भाव से जब पदार्थ गृहीत होता है, तब गृहीता पर पदार्थ-भाव हावी हो जाता है, उसका अपना स्व-भाव विस्मृत या विलुप्त हो जाता है । थोडे से शब्दो मे श्रीमद् राजचन्द्र ने बडे मर्म की बात कही है ।

गीताकार ने ऐसी दशा को ब्राह्मी दशा के नाम से व्याख्यात किया है । वहाँ लिखा है—

"एषा ब्राह्मी स्थिति पार्थ ! नैना प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ।।"[३०]

स्थितप्रज्ञ दर्शन का यह अन्तिम श्लोक है । प्रज्ञा की स्थिरता के सम्बन्ध मे सब कुछ कह चुकने के अनन्तर योगिराज कृष्ण कहते हैं कि अर्जुन ! मैंने प्रज्ञा के स्थिरीकरण, अनासक्तीकरण, स्वायत्तीकरण के सम्बन्ध मे जो व्याख्यात किया है, उसकी परिणति ब्राह्मी स्थिति मे होती है । ब्रह्म शब्द परमात्मा या विराट्ता का वाचक है । अनासक्तता आने से वैयक्तिक सकीर्णता टिक नहीं पाती वहाँ व्यष्टि और समष्टि में तादात्म्य हो जाता है । वेदान्त की भाषा में जीवात्मा मायिक आवरणों को ज्ञान द्वारा अपगत कर ब्रह्म की विराट् सत्ता में इस प्रकार एकीभूत हो जाता है कि फिर भिन्नता या भेद जैसी स्थिति रहती ही नही । जैन-दर्शन इस राग-वर्जित, आसक्ति शून्य दशा का आत्मा के परम शुद्ध स्वरूप के अनावृत या उद्घाटित होने के रूप में आख्यान करता है । दूसरे शब्दो मे इसे यो समझा जा सकता है कि आत्मा की ज्ञान, दर्शन, चारित्रात्मक विराट्ता, जो कर्मों के आवरण से ढकी रहती है, राग का अपगमन हो जाने से अनावृत हो जाती है । वहाँ न विकार रहता है और न कोई दोष । ऐहिक सुख-दु खात्मकता वैकारिक है । इस दशा मे पहुँची हुई आत्मा वैकारिकता से सर्वथा ऊँची उठ जाती है । यह स्थिति गीता की ब्राह्मी स्थिति से तुलनीय है । गीताकार कहते हैं कि ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाय तो फिर साधक विमोह मे नही जाता । क्योंकि विमूढता के हेतुभूत सस्कार वहाँ विद्यमान नहीं रहते ।

स्वरूपाववोध के बाद लौकिकता का परिवेश स्वय उच्छिन्न हो जाता है । केवल अपने शुद्ध स्वरूप की अनुभूति रहती है । आचार्य शकर के शब्दो में वह इस प्रकार है—

न मृत्युर्न शका न मे जातिभेद,
पिता नैव मे नैव माता न जन्म ।
न वन्धुर्न मित्र गुरुर्नैव शिष्य-
श्चिदानन्दरूप शिवोऽह शिवोऽहम् ।।

जब अपने आपका बोध हो जाता है, तब जन्म व मृत्यु जिनका सम्वन्ध केवल देह से है, माता-पिता, भाई,

मित्र, गुरु, शिष्य आदि जिनके सम्बन्ध बाह्य एव औपचारिक हैं, स्वय विस्मृत हो जाते हैं। भय और शका का फिर स्थान ही कहाँ ? आत्मा का चिदानन्दात्मक, शिवात्मक रूप ही समक्ष रहता है, चिन्तन मे, अनुभूति मे, परिणति में।

उत्तराध्ययन सूत्र मे ऐसे वीतराग-स्वरूपगत साधक को कृतकृत्य कहा है—

स वीयरागो कयसव्वकिच्चो खवेइ नाणावरण खणेण।
तहेव ज दसणमादरेइ ज चतराय पकरेइ कम्म ॥

वह वीतराग सर्वथा कृतकृत्य हो जाता है—जो करने योग्य है, वह सब कर चुका, जो साधने योग्य है, वह साध चुका। शुद्ध आत्मा के लिए जागतिक दृष्ट्या कुछ करणीय रहता ही नही। अपने अव्याबाध-आनन्दात्मक स्वरूप मे परिणति, चिन्मयानुभूति ही उसका करणीय होता है, जो किया नही जाता, सहजतया होता रहता है। यह सहजावृत्ति ही साधना की पराकाष्ठा है।

सूत्रकार जैनदर्शन की भाषा मे आगे इसका विस्तार इस प्रकार करते हैं—यो वीतराग-भाव को प्राप्त साधक अपने ज्ञानावरणीय (ज्ञान को आवृत करने वाले) कम का क्षणभर मे क्षय कर देता है। दशन को आवृत करने वाले दर्शनावरणीय कर्म को भी वह क्षीण कर डालता है, आत्म-सुख के परिपन्थी अन्तराय कम को भी मिटा देता है।

उत्तराध्ययनकार एक दूसरे प्रकार से इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

"विरज्जमाणस्स य इदियत्था,
सद्दाइया तावइयप्पगारा।
न तस्स सव्वे वि मणुन्नय वा,
निव्वत्तयमेती अमणुन्नय वा ॥"[३२]

जब राग का अस्तित्व नहीं रहता अर्थात् वीतरागता प्राप्त हो जाती है, तब शब्द आदि विषय उस (वीतरागदशा प्राप्त साधक) को मनोज्ञ—सुन्दर, अमनोज्ञ—असुन्दर नही लगते।

इस प्रकार राग-जनित, एषणा-प्रसूत मन स्थिति से ऊपर उठते जाते साधक मे परमात्म भाव की अनुभूति होने लगती है तो उसका आत्म-परिणमन एक नया ही मोड लेने लगता है। आचार्य पूज्यपाद ने इष्टोपदेश मे कहा है—

"य परात्मा स एवाह योऽह स परमस्तत।
अहमेव मयोपास्यो, नान्य कश्चिदिति स्थिति ॥"

अर्थात् जो परमात्मा है, वही मैं हूँ। जो मैं हूँ, वही परमात्मा है। मैं ही मेरे द्वारा उपास्य हूँ, दूसरा कोई नहीं। आचार्य पूज्यपाद की शब्दावली मे वीतराग और स्थितप्रज्ञ—दोनो के प्रकर्ष का सुन्दर समन्वय स्वय सध गया है। स्थितप्रज्ञ की भूमिका जहाँ से प्रारम्भ होती है, वीतराग पथ पर आरूढ साधक लगभग वहीं से अपनी मजिल की ओर बढ़ना शुरू करता है। मजिल तक पहुँचने के पूर्व जो वैचारिक उद्वेलन, परिष्करण, सम्मार्जन की स्थितियाँ हैं, उनमे भी शब्द-भेद, शैली-भेद तथा निरूपण-भेद के अतिरिक्त तत्त्व-भेद की स्थिति लगभग नही आती।

खूब गहराई तथा सूक्ष्मता मे जाने पर ऐसा प्रतिभासित होता है कि आत्मजनीन या परमात्मजनीन चिन्तन की स्रोतस्विनियाँ यहाँ जो बहीं, उनमे भीतर ही-भीतर परस्पर सदृश वैचारिक स्फुरणा है, जो भिन्नता मे अभिन्नता तथा अनेकता मे एकता की अवतारणा करती है। आज यह वाछनीय है कि विभिन्न परम्पराओ के शास्त्रो का इसी दृष्टि से गम्भीर, तुलनात्मक अध्ययन किया जाय। विशेषत जैन विचारधारा तथा औपनिषदिक विचार-प्रवाह गीता जिसका नवनीत है, इस अपेक्षा से विशेषरूप से अध्येतव्य हैं।

---

१ सर्वोपनिषदो गावो, दोग्धा गोपालनन्दन। पार्थो वत्स सुधीर्भोक्ता, दुग्ध गीतामृत महत् ॥
—गीतामाहात्म्य ६

२ गीता अध्याय २, श्लोक ६२, ६३।
३ गीता अध्याय २, श्लोक ६४।
४ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन १०, गाथा २८।

५ दशवैकालिक सूत्र अध्ययन २, गाथा १।
६ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २३, गाथा ४३।
७ दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ८, गाथा ३७, ३९।
८ गीता अध्याय २, श्लोक ५४।
९ दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ४, गाथा ७।
१० गीता अध्याय २, श्लोक ५५-५७।
११ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ३२, गाथा १००, ४७, १०१।
१२ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन १९, गाथा ८९-९२।
१३ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ३२, गाथा ११०।
१४ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २३, गाथा ४१, ४५, ४६, ४८।
१५ सूत्रकृताग सूत्र श्रुत स्कन्ध १, अध्ययन ९ गाथा ३२।
१६ प्रश्नोपनिषद् प्रश्न १, पाठ १६।
१७ अविद्यायामन्तरे वर्तमाना
स्वयं धीरा पण्डितम्मन्यमाना।
दन्द्रम्यमाणा परियन्ति मूढा
अन्धेनेव नीयमाना यथान्धा॥
—कठोपनिषद् अध्याय १, वल्ली २, श्लोक ५।
अविद्यायामन्तरे वर्तमाना
स्वयंधीरा पण्डितम्मन्यमाना।
जङ्घन्यमाना परियन्ति मूढा
अन्धेनेव नीयमाना यथान्धा॥
—मुण्डकोपनिषद् मुण्डक १, खण्ड २, श्लोक ८।
१८ कठोपनिषद् अध्याय २, वल्ली ३ श्लोक १४।
१९ आचारागसूत्र अध्ययन २३, गाथा १–५।
२० उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन २५, गाथा ४२, ४३।
२१ (क) मुण्डकोपनिषद् मुण्डक ३, खण्ड १, श्लोक १, २।
(ख) श्वेताश्वतरोपनिषद् अध्याय ४, श्लोक ६, ७।
२२ गीता अध्याय २, श्लोक ६०, ६७, ६६।
२३ ज्ञानयोग पृष्ठ ६७।
२४ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ६, गाथा ३४, ३५।
२५ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन १, गाथा १५।
२६ आचारांग सूत्र अध्ययन ५ उद्देशक ३ गाथा १५३।
२७ सूत्रकृताग सूत्र श्रुतस्कन्ध १, अध्ययन २, उद्देशक १, गाथा १।
२८ गीता अध्याय २, श्लोक ६६।
२९ गीता अध्याय २, श्लोक ७०।
३० गीता अध्याय २, श्लोक ७२।
३१ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ३२, गाथा १०८।
३२ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ३२, गाथा १०९।

मित्र, गुरु, शिष्य आदि जिनके सम्बन्ध बाह्य एव औपचारिक हैं, स्वय विस्मृत हो जाते हैं। भय और शका का फिर स्थान ही कहाँ ? आत्मा का चिदानन्दात्मक, शिवात्मक रूप ही समक्ष रहता है, चिन्तन मे, अनुभूति मे, परिणति मे।

उत्तराध्ययन सूत्र मे ऐसे वीतराग-स्वरूपगत साधक को कृतकृत्य कहा है—

स वीयरागो कयसव्वकिच्चो खवेइ नाणावरण खणेण ।
तहेव ज दसणमादरेइ ज चतराय पकरेइ कम्म ॥

वह वीतराग सवथा कृतकृत्य हो जाता है—जो करने योग्य है, वह सब कर चुका, जो साधने योग्य है, वह साध चुका। शुद्ध आत्मा के लिए जागतिक दृष्ट्या कुछ करणीय रहता ही नही। अपने अव्याबाध-आनन्दात्मक स्वरूप मे परिणति, चिन्मयानुभूति ही उसका करणीय होता है, जो किया नही जाता, सहजतया होता रहता है। यह सहजावृत्ति ही साधना की पराकाष्ठा है।

सूत्रकार जैनदर्शन की भाषा मे आगे इसका विस्तार इस प्रकार करते हैं—यो वीतराग-भाव को प्राप्त साधक अपने ज्ञानावरणीय (ज्ञान को आवृत करने वाले) कर्म का क्षणभर मे क्षय कर देता है। दर्शन को आवृत करने वाले दर्शनावरणीय कर्म को भी वह क्षीण कर डालता है, आत्म-सुख के परिपन्थी अन्तराय कर्म को भी मिटा देता है।

उत्तराध्ययनकार एक दूसरे प्रकार से इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

"विरज्जमाणस्स य इंदियत्था,
सद्दाइया तावइयप्पगारा।
न तस्स सव्वे वि मणुन्नय वा,
निव्वत्तयमेती अमणुन्नय वा॥"[3२]

जब राग का अस्तित्व नही रहता अर्थात् वीतरागता प्राप्त हो जाती है, तब शब्द आदि विषय उस (वीतरागदशा प्राप्त साधक) को मनोज्ञ—सुन्दर, अमनोज्ञ—असुन्दर नही लगते।

इस प्रकार राग-जनित, एषणा-प्रसूत मन स्थिति से ऊपर उठते जाते साधक मे परमात्म भाव की अनुभूति होने लगती है तो उसका आत्म-परिणमन एक नया ही मोड लेने लगता है। आचार्य पूज्यपाद ने इष्टोपदेश मे कहा है—

"य परात्मा स एवाह योऽह स परमस्तत ।
अहमेव मयोपास्यो, नान्य कश्चिदिति स्थिति ॥"

अर्थात् जो परमात्मा है, वही मैं हूँ। जो मैं हूँ, वही परमात्मा है। मैं ही मेरे द्वारा उपास्य हूँ, दूसरा कोई नहीं। आचार्य पूज्यपाद की शब्दावली मे वीतराग और स्थितप्रज्ञ—दोनो के प्रकर्ष का सुन्दर समन्वय स्वय सध गया है। स्थितप्रज्ञ की भूमिका जहाँ से प्रारम्भ होती है, वीतराग पथ पर आरूढ साधक लगभग वही से अपनी मजिल की ओर बढ़ना शुरू करता है। मजिल तक पहुँचने के पूर्व जो वैचारिक उद्वेलन, परिष्करण, सम्मार्जन की स्थितियाँ हैं, उनमे भी शब्द-भेद, शैली-भेद तथा निरूपण-भेद के अतिरिक्त तत्त्व-भेद की स्थिति लगभग नहीं आती।

खूब गहराई तथा सूक्ष्मता मे जाने पर ऐसा प्रतिभासित होता है कि आत्मजनीन या परमात्मजनीन चिन्तन की स्रोतस्विनियाँ यहाँ जो वही, उनमे भीतर ही भीतर परस्पर सदृश वैचारिक स्फुरणा है, जो भिन्नता मे अभिन्नता तथा अनेकता मे एकता की अवतारणा करती है। आज यह वाञ्छनीय है कि विभिन्न परम्पराओं के शास्त्रो का इसी दृष्टि से गम्भीर, तुलनात्मक अध्ययन किया जाय। विशेषत जैन विचारधारा तथा औपनिषदिक विचार-प्रवाह गीता जिसका नवनीत है, इस अपेक्षा से विशेषरूप से अध्येतव्य ह।

---

१ सर्वोपनिषदो गावो, दोग्धा गोपालनन्दन । पार्थो वत्स सुधीर्भोक्ता, दुग्ध गीतामृत महत् ॥
—गीतामाहात्म्य ६

२ गीता अध्याय २, श्लोक ६२, ६३।
३ गीता अध्याय २, श्लोक ६४।
४ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन १०, गाथा २८।

५ दशवैकालिक सूत्र अध्ययन २, गाथा १।
६ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २३, गाथा ४३।
७ दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ८, गाथा ३७, ३६।
८ गीता अध्याय २, श्लोक ५४।
६ दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ४, गाथा ७।
१० गीता अध्याय २, श्लोक ५५-५७।
११ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ३२, गाथा १००, ४७, १०१।
१२ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन १६, गाथा ८६-६२।
१३ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ३२, गाथा ११०।
१४ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २३, गाथा ४१, ४५, ४६, ४८।
१५ सूत्रकृताग सूत्र श्रुत स्कन्ध १, अध्ययन ६ गाथा ३२।
१६ प्रश्नोपनिषद् प्रश्न १, पाठ १६।
१७ अविद्यायामन्तरे वतमाना
स्वय धीरा पण्डितम्मन्यमाना।
दन्द्रम्यमाणा परियन्ति मूढा
अन्धेनेव नीयमाना यथान्धा॥
—कठोपनिषद् अध्याय १, वल्ली २, श्लोक ५।
अविद्यायामन्तरे वर्तमाना
स्वयधीरा पण्डितम्मन्यमाना।
जङ्घन्यमाना परियन्ति मूढा
अन्धेनेव नीयमाना यथान्धा॥
—मुण्डकोपनिषद् मुण्डक १, खण्ड २, श्लोक ८।
१८ कठोपनिषद् अध्याय २, वल्ली ३ श्लोक १४।
१६ आचारागसूत्र अध्ययन २३, गाथा १—५।
२० उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन २५, गाथा ४२, ४३।
२१ (क) मुण्डकोपनिषद् मुण्डक ३, खण्ड १, श्लोक १, २।
(ख) श्वेताश्वतरोपनिषद् अध्याय ४, श्लोक ६, ७।
२२ गीता अध्याय २, श्लोक ६०, ६७, ६६।
२३ ज्ञानयोग पृष्ठ ६७।
२४ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ६, गाथा ३४, ३५।
२५ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन १, गाथा १५।
२६ आचारांग सूत्र अध्ययन ५ उद्देशक ३ गाथा १५३।
२७ सूत्रकृताग सूत्र श्रुतस्कन्ध १, अध्ययन २, उद्देशक १, गाथा १।
२८ गीता अध्याय २, श्लोक ६६।
२६ गीता अध्याय २, श्लोक ७०।
३० गीता अध्याय २, श्लोक ७२।
३१ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ३२, गाथा १०८।
३२ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ३२, गाथा १०६।

चेतनावादी जैनदर्शन ने चेतन (जीव) के विषय मे जितना गहरा चिन्तन किया है, अचेतन (जड-पुद्गल) के विषय मे भी उतनी ही गम्भीरता से अन्वेषण किया है।

पुद्गल (Matter) के सम्बन्ध मे जैन तत्त्वविद्या का यह चिन्तन पाठकों को व्यापक जानकारी देगा।

☐ आचार्य श्रीआनन्द ऋषि
[श्रमण सघ के प्रभावक आचार्य]

जैनदर्शन में अजीव द्रव्य

☐

जैनदर्शन यथार्थवादी और द्वैतवादी है। स्पष्ट है कि वह चैतन्य मात्र को ही एक मात्र तत्त्व के रूप में स्वीकार न करके अजीव द्रव्य को भी स्वीकार करता है। अजीव वह द्रव्य है जो तीनो प्रकार की चेतनाओ-चेतना (Consciousness), अर्ध-चेतना (Sub-Consciousness) और अलौकिक चेतना (Super-Consciousness) से रहित है। अर्थात् जिसमे चेतनागुण का पूर्ण अभाव है। जिसे सुख-दु ख की अनुभूति नहीं होती है वह अजीव द्रव्य है।[1] पर यह भावात्मक तत्त्व है, अभावात्मक नहीं। इसके चार भेद हैं—अजीवकाया, धर्माधर्माकाशपुद्गला।[2]

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय पुद्गलास्तिकाय[3] ये चार अजीवकाय हैं। इन्हें अस्तिकाय कहने का तात्पर्य है कि ये विस्तार युक्त है अर्थात् ये तत्त्व सिर्फ एक प्रदेश रूप या अवयव रूप नहीं है किन्तु प्रदेशो के समूह रूप है। यद्यपि पुद्गल मूलत एक प्रदेश रूप है लेकिन उसके प्रत्येक परमाणु मे प्रचय रूप होने की शक्ति है। काल की गणना इन अस्तिकायो मे नहीं की गयी है। क्योकि कुछ जैनाचार्य उसको स्वतन्त्र द्रव्य के रूप मे नही स्वीकार करते हैं और जो उसे द्रव्य मानते हैं। वे भी उसे प्रदेशात्मक ही मानते हैं। प्रदेश प्रचय रूप नही।

आकाश और पुद्गल ये दो तत्त्व न्याय सांख्य आदि दर्शनो मे माने गये हैं परन्तु धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय जैन-दर्शन की देन है। इनके अस्तित्व की पुष्टि विज्ञान से भी होती है। विज्ञान तेजोवाही ईथर, क्षेत्र (Field) और आकाश (Space) इन तीनों को मानता है। उसकी दृष्टि में तेजोवाही ईथर सम्पूर्ण जगत में व्याप्त है तथा विद्युत चुम्बकीय तरगो की गति का माध्यम है। प्रो० मैक्सवान ने लिखा है कि ईथर सामान्य पार्थिव वस्तुओं से भिन्न होना चाहिए। वैज्ञानिक सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र आदि की स्थिरता का कारण गुरुत्वाकर्षण को मानते हैं। सभव है वे आगे जाकर इसकी अपौद्गलिकता को स्वीकार कर लें।

अब हम साधर्म्य व वैधर्म्य के दृष्टिकोण से इन द्रव्यो पर विचार करेंगे। अपने सामान्य तथा विशेष स्वरूप से च्युत न होना नित्यत्व है और अपने से भिन्न तत्त्व के स्वरूप को प्राप्त न करना अवस्थितत्व है। ये दोनो धर्म सभी द्रव्यो मे समान हैं। इससे स्पष्ट है कि जगत अनादि निधन है तथा इसके मूल तत्त्वो की सख्या एकसी है। पुद्गल को छोडकर अन्य कोई द्रव्य मूर्त नहीं है क्योकि वे द्रव्य इन्द्रियो से ग्राह्य नही है, अतएव अरूपित्व पुद्गल को छोडकर शेष चार द्रव्यो का साधर्म्य है। धर्म, अधर्म, आकाश ये द्रव्य सख्या मे एक व्यक्ति हैं और ये निष्क्रिय भी है अत व्यक्तित्व और निष्क्रियत्व ये दोनो उक्त द्रव्यों का साधर्म्य तथा जीव और पुद्गल का वैधर्म्य है। यहाँ निष्क्रियत्व से तात्पर्य गतिक्रिया से है न कि परिणमन से, क्योकि प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील है। आकाश के जितने स्थान को एक अविभागी पुद्गल-परमाणु रोकता है, वह प्रदेश है। परमाणु जबकि अपने स्कन्ध से अलग हो सकता है पर प्रदेश नही। प्रदेश की अपने स्कन्ध से विमुक्त होने की कल्पना सिर्फ बुद्धि से की जाती है। धर्म, अधर्म, आकाश एक ऐसे अखण्ड स्कन्ध रूप हैं जिनके असख्यात अविभाग्य सूक्ष्म अश सिर्फ बुद्धि से कल्पित किये जा सकते हैं। इनमे से धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय प्रदेशी हैं। आकाश अन्य द्रव्यो से बडा होने के कारण अनन्त प्रदेशी है। इस प्रकार अखण्डता पुद्गल को छोडकर बाकी

तीन द्रव्यो का साधर्म्य है। निश्चयनय की दृष्टि से यो तो सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठित हैं पर व्यवहारनय की दृष्टि से आकाश इतर द्रव्यो का आधार है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय आदि द्रव्यो के सम्बन्ध के कारण आकाश के दो भेद हो जाते हैं—(१) लोकाकाश, (२) अलोकाकाश। आइन्स्टाइन ने कहा है कि आकाश की सीमितता उसमे रहने वाले Matter के कारण है अन्यथा आकाश अनन्त है। इसी तरह जैनदर्शन की भी मान्यता है कि जहाँ तक धर्म, अधर्म आकाश से सम्बन्धित है वहाँ तक लोकाकाश है, उसके परे अलोकाकाश है जो कि अनन्त है। धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनो द्रव्य अमूर्त होने के कारण इन्द्रियगम्य न होने के कारण लौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा इनकी सिद्धि नही हो सकती। आगम प्रमाण से और उनके कार्यों को देखकर किये गये अनुमान प्रमाण से उनकी सिद्धि की जाती है।

जीव और पुद्गल की गति एव स्थिति के उपादान कारण तो वे स्वय है लेकिन निमित्त कारण, जो कार्य की उत्पत्ति मे अवश्य अपेक्षित है एव जो उपादान कारण से भिन्न है, धर्म-अधर्म द्रव्य हैं। इस प्रकार इन द्रव्यो की गति मे निमित्त कारण धर्मास्तिकाय है तो अधर्मास्तिकाय उनकी स्थिति में निमित्त कारण है। ये दोनो उदासीन हेतु हैं—जैसे मछली की गति मे जल और श्रान्त पथिक को विश्राम के लिए वृक्ष[३]। इन सब द्रव्यो को आश्रय देने वाला आकाश है। आधुनिक विज्ञान में स्थिति, गति और गति निरोध को Space के कार्यों के रूप मे माना गया है लेकिन जैन दर्शन मे इन तीन द्रव्यो के ये तीन स्वतन्त्र कार्य हैं। Locality की दृष्टि से ये तीनो द्रव्य समान हैं पर कार्यों की दृष्टि से उनमे भेद है।

अब हम काल द्रव्य को भी देख लें। "वर्त्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वे च कालस्य"[४] वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व काल के ही कारण सभव है। फ्रास के प्रसिद्ध वैज्ञानिक बर्गसन् ने सिद्ध किया है कि काल एक Dynamic reality है। काल भी उपयुक्त द्रव्य की तरह अनुमेय है। भिन्न भिन्न क्षणो के वर्तमान रहना वर्तना है। परिणाम अर्थात् अवस्थाओ का परिवर्तन भी बिना काल के सम्भव नही है। कोई कच्चा आम समय पाकर पक जाता है। आम की दोनो विभिन्न अवस्थायें एक समय मे एक साथ नही हो सकती। क्रिया व गति तब भी सम्भव होती है जब कोई वस्तु पूर्वापर क्रम से भिन्न अवस्थाओ को धारण करती है और यह बिना काल के सम्भव नही है। प्राचीन व नवीन, पूर्व और पाश्चात्य आदि व्यवहार भी काल के बिना सम्भव नही हो पाते हैं। काल के दो भेद हैं—(१) पारमार्थिक काल, (२) व्यावहारिक काल। इनमे से पारमार्थिक काल नित्य, निराकार, अनन्त है एव इसे ही भिन्न-भिन्न उपाधियो से सीमित करने से या विभक्त करने से दण्ड, दिन, मास, वर्ष आदि समय के रूप बनते हैं जो कि व्यावहारिक काल हैं। व्यावहारिक काल का प्रारम्भ और अन्त होता है।

दृश्यात्मक अखिल जगत् पुद्गलमय है।[५] तत्त्वार्थ-सूत्र के अनुसार इसकी परिभाषा है—"स्पर्शरसगन्धवर्णवन्त पुद्गला" तथा सर्वदर्शनसग्रह के अनुसार "पूरयन्ति गलन्ति च पुद्गला।" वैशेषिक के पृथ्वी, जल, अग्नि आदि तत्त्वो का अन्तर्भाव पुद्गल द्रव्य में हो जाता है। विज्ञान में Matter को ठोस, तरल एव गैस (Gases) के रूप मे माना गया है। इस दृष्टि से पृथ्वी, जल तथा वायु पुद्गल द्रव्य मे अन्तर्भूत हो जाते हैं। विज्ञान जिसको Matter और न्याय वैशेषिक जिसे भौतिक तत्त्व या साख्य जिसे प्रकृति कहते हैं, जैनदर्शन मे उसे पुद्गल की सज्ञा दी गई है। यद्यपि पुद्गल शब्द का प्रयोग बौद्ध-दर्शन मे भी हुआ है लेकिन वह भिन्न अर्थ मे—आलयविज्ञान, चेतना-सतति के अर्थ मे हुआ है। वैशेषिक आदि दर्शन मे पृथ्वी को चतुर्गुणयुक्त, जल को गन्धरहित अन्य तीन गुणो वाला, तेज को गन्ध और रस रहित अन्य दो गुणो वाला तथा वायु को मात्र स्पर्श युक्त माना गया है, परन्तु जैन-दर्शन में पृथ्वी, जल, तेजस्, वायु का भेद मौलिक और नित्य नहीं है अपितु व्युत्पन्न और गौण है, क्योंकि पृथ्वी जल आदि सभी के पुद्गलो मे वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श ये चारो गुण पाये जाते हैं। विज्ञान भी मानता है कि वर्ण, गन्ध, रस व स्पर्श इन चतुष्कोटि मे से किसी एक के प्राप्त होने पर शेष गुण भी उस वस्तु मे व्यक्त या अव्यक्त रूप से रहते हैं। गन्धवहन की प्रक्रिया से सिद्ध हुआ है कि अग्नि मे भी गन्ध पायी जाती है।

वर्ण के पाँच, गन्ध के दो, रस के पाँच तथा स्पर्श के आठ प्रकार हैं—

वर्ण—(१) काला, (२) नीला, (३) लाल, (४) पीला, (५) सफेद,

गन्ध—(१) सुगन्ध, (२) दुर्गन्ध,

रस—(१) तिक्त, (२) कडुआ, (३) कषैला, (४) खट्टा, (५) मीठा,

स्पर्श—(१) कठिन, (२) मृदु, (३) गुरु, (४) लघु, (५) शीत, (६) उष्ण, (७) रूक्ष, (८) स्निग्ध।[६]
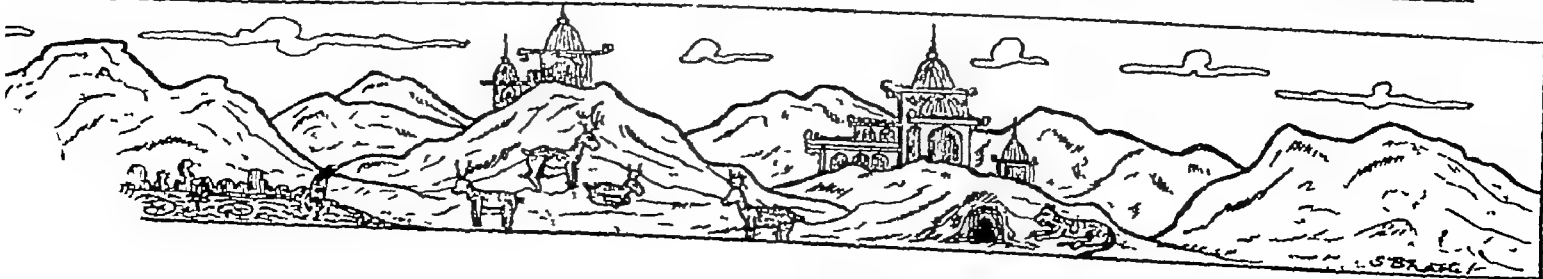
यह सब वीस, पुद्गल के असाधारण गुण हैं जो तारतम्य एव सम्मिश्रण के कारण सख्यात, असख्यात और अनन्त रूप ग्रहण करते हैं। शब्द, छाया, आतप और उद्योत को भी पौद्गलिक माना गया है। शब्द आकाश का गुण नही है, पर भाषा वर्गणा के पुद्गलो का विशिष्ट परिणाम है। छाया प्रकाश के ऊपर आवरण आ जाने से पैदा होती है। विज्ञान मे भी तमरूप एव ऊर्जा का रूपान्तरण रूप छाया दो प्रकार की मानी गई है और प्रो० मैक्सवान् के अनुसार ऊर्जा और Matter अनिवार्य रूप से एक ही है। अत स्पष्ट है कि छाया भी पौद्गलिक ही है। तम (अन्धकार) जो दर्शन मे बाधा डालने वाला एव प्रकाश का विरोधी परिणाम है, को विज्ञान भी भावात्मक मानता है क्योंकि उसमे अदृश्य तापकिरणो का सद्भाव पाया जाता है।

पुद्गल अणुरूप और स्कन्धरूप होते ह। पुद्गल के सख्यात, असख्यात और अनन्त प्रदेश होते हैं। साधारणतया कोई स्कन्ध बादर और कोई सूक्ष्म होते हैं। बादर स्कन्ध इन्द्रियगम्य और सूक्ष्म इन्द्रिय अगम्य होते हैं (अनुयोग द्वार)। इनको छ भागो मे विभक्त किया गया है—

बादर-बादरस्कन्ध—जो टूटकर जुड न सके, जैसे लकडी, पत्थर।

बादर स्कन्ध—प्रवाही पुद्गल जो टूटकर जुड जात हैं।

सूक्ष्म बादर—जो देखने मे स्थूल किन्तु अकाट्य हो, जैसे—धूप।

बादर सूक्ष्म—सूक्ष्म होने पर भी इन्द्रियगम्य हो, जैसे—रस, गध, स्पश।

सूक्ष्म—इन्द्रियो से अगोचर स्कन्ध तथा कमवगणा।

सूक्ष्म-सूक्ष्म—अत्यन्त सूक्ष्म स्कन्ध यथा कमवगणा से नीचे के द्व्यणुक पयन्त पुद्गल।

पुदगल का वह अश जो एक प्रदेशी (एक प्रदेशात्मक) है। जिसका आदि, मध्य व अन्त नही पाया जाता, या दूसरी भाषा मे कहें तो जो स्वय अपना आदि, मध्य व अन्त है।[७] जो अविभाज्य सूक्ष्मतम है, परमाणु कहलाता है। यह सृष्टि का मूल तत्त्व है। उपनिषदो की तरह जैन-दशन भी भौतिक जगत के विश्लेषण को पृथ्वी इत्यादि तत्त्वो मे पहुँचकर नही रोक देता बल्कि वह विश्लेषण की प्रक्रिया को और पीछे पहुँचा देता है। ग्रीक दार्शनिक डेमोक्रिट्स और ल्युपिकस के समान वह परमाणुओ मे गुणात्मक भेद नहीं मानता। विज्ञान की मान्यता है कि मूलतत्त्व अणु (atom) अपने चारो ओर गतिशील इलेक्ट्रॉन, प्रोट्रॉन के सख्या भेद से चाँदी, ताँबा, लोहा, ऑक्सीजन आदि अवस्थाओ को धारण करता है। जैन-दर्शन का परमाणु भी विभिन्न सयोगो द्वारा भिन्न-भिन्न तत्त्वो को बनाता है। परमाणु स्वभावत गतिशील है—इनमें स्निग्धता और रूक्षता होने के कारण परस्पर बन्ध होता है। इस तरह द्वयणुक, त्र्यणुक स्कन्ध आदि बनते हैं। सृष्टि की प्रक्रिया में सृष्टिकर्ता ईश्वर की आवश्यकता नहीं है।

पुद्गल परमाणु जब तक अपनी सम्बन्ध शक्ति से शिथिल या घने रूप से परस्पर जुड़े रहते हैं तब वे स्कन्ध कहलाते हैं। स्कन्ध की उत्पत्ति सघात और भेद दोनों से होती है। उत्पत्ति प्रक्रिया के आधार पर स्कन्ध के भेद यो हैं—(१) स्कन्धजन्य स्कन्ध (२) परमाणुजन्य स्कन्ध (३) स्कन्धपरमाणुजन्य स्कन्ध।

साख्य प्रकृति को अनित्य व पुरुष को नित्य, तो वेदान्त परम तत्त्व को एकान्तत नित्य और बौद्ध यथार्थ को क्षणिक मानते हैं, पर जैन-दशन की दृष्टि मे सभी द्रव्य स्पष्ट हैं कि पुद्गल भी द्रव्यार्थिक दृष्टि से नित्य व पर्यायार्थिक दृष्टि से अनित्य हैं। चूँकि पुद्गल इस तरह अविनाशी ध्रुव है अत शून्य में से सृष्टि का निर्माण सभव नहीं है, सिर्फ परिवर्तन होता, न तो पूणत नयी उत्पत्ति संभव है और न पूर्णत विनाश ही। वैज्ञानिक लैव्हाइजर के शब्दो में सृष्टि में कुछ भी निर्मेय नहीं सिर्फ रूपान्तर होता है।

---

१ पञ्चास्तिकाय, २।१२४-१२५
२ तत्त्वार्थसूत्र, अ० ४
३ व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र श० १३, उद्देश्य ४, सू ४८१
४ तत्त्वार्थसूत्र अ० ५, सूत्र २३
५ भगवती सूत्र श० १३, उद्देश्य ४, सूत्र ४८१
६ भगवती सूत्र श० १२ उद्देश्य ४, सूत्र ४५०
७ राजवार्तिक ५।७५

चतुर्थ खण्ड

जैनधर्म की साधनाविधि, श्रमणाचार, ध्यान, योग, तप, श्रावक-धर्म, साहित्य सर्जक विशिष्ट विभूतियाँ एवं जैन संस्कृति तथा पर्वों का पर्यवलोकन

जैन साधना साहित्य एवं संस्कृति
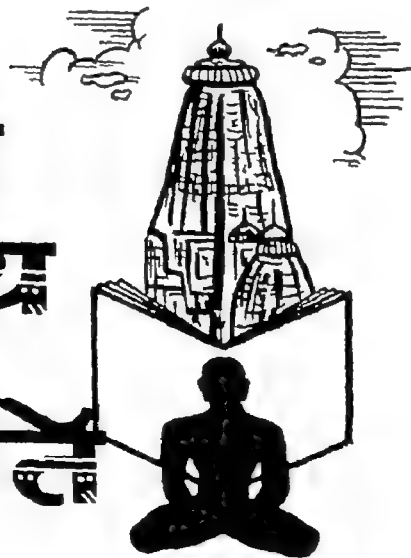
☐ डा० मुक्ताप्रसाद पटैरिया

शक्ति का मूल स्रोत साधना है। साधना के द्वारा ही जीवन व मृत्यु पर नियन्त्रण प्राप्त किया जा सकता है। आत्म-विकास के चरम शिखर पर चढने का मार्ग साधना ही है। प्रस्तुत मे 'जैन साधना-पद्धति' का एक तुलनात्मक विश्लेपण पढिए।

जैन-साधना-पद्धति एक विश्लेषण

☐

भारतीय इतिहास की सास्कृतिक पृष्ठभूमि मे साधना का महात्म्य प्रारम्भ से ही रहा है। ऐहिक-सुखो की सहज सुलमता तथा चरम पुरुषार्थ-'मोक्ष' (कर्मविमुक्ति) की उपलब्धि समान रूप मे साधना से सम्भव होती है। श्राप और वरदान, मुक्ति व भुक्ति की सनातन परम्परा का मूल केन्द्र साधना-शक्ति ही रही है। जीवन और मृत्यु के झूले मे दोलायमान मानव का चिन्तनशील मन सदा से ही यह समाधान ढूंढने मे सलग्न रहा है। भारतीय सस्कृति का मूल अध्यात्मपरक है। इसकी दृष्टि मे जीवन और मृत्यु भी एक विशिष्ट कला रूप है। इस कला मे भी निपुणता प्राप्ति का मूल साधन 'साधना' है, जिसके बल पर मानव इन दोनो-'जीवन व मृत्यु', पर नियन्त्रण प्राप्त कर सकता है।

इस परिप्रेक्ष्य मे शक्ति के मूल स्रोत के अन्वेषक तत्त्वद्रष्टा ऋषियो एव मुनियो ने तर्क की अपेक्षा-'श्रद्धा' और वहिर्दर्शन की अपेक्षा 'अन्तदर्शन' को महत्त्वपूर्ण सिद्ध करते हुए कहा कि—'जहाँ पर काय वाक एव मनोवृत्तियो की चरम सीमा है, वहाँ से अन्तर्दर्शन की प्रवृत्ति का शुभारम्भ होता है। सत्य की उपलब्धि को इन्होंने 'अन्तदर्शन' के रूप मे स्वीकारा है। यहाँ 'सत्य' से तात्पर्य शक्ति के स्रोत 'आत्मा' से है। आत्मा के दर्शन-'अन्तर्दर्शन' का साधन जैन परिभाषा मे 'मोक्षमार्ग' के रूप मे प्रतिपादित मिलता है। जैनेतर दार्शनिक भाषा मे इसे 'योग' तथा जनसाधारण की भाषा मे 'साधना' भी कह सकते हैं। यहाँ 'साधना' का स्पष्ट तात्पर्य है—'इन्द्रियनिग्रह'। जैन-दर्शन मे इसका नामान्तर 'सवर'[1] शरीर, मन और वाणी की प्रवृत्तियो का पूर्ण निरोध, कहा गया है। महर्षि पतञ्जलि ने इन्द्रियनिग्रह को 'योग' तथा बौद्धाचार्यों ने 'विशुद्धि मार्ग' के नाम से सम्बोधित किया है किन्तु जैनाचार्यों ने 'मोक्षमार्ग'[2] के साथ-साथ 'योग'[3] नाम से भी इसे अभिहित किया है।

योग का अर्थ—'युज्' धातु और 'घञ्' प्रत्यय से योग शब्द सम्पन्न होता है। सस्कृत व्याकरण मे युज् धातु दो हैं। एक का अर्थ है—'जोडना'[4]—सयोजित करता और दूसरी का अर्थ हैं—'समाधि'[5]—मन की स्थिरता। भारतीय दर्शन मे योग शब्द का प्रयोग दोनो ही अर्थों मे हुआ है। चित्तवृत्ति के निरोध रूप में महर्षि पतञ्जलि ने, 'समाधि' के रूप मे बौद्ध विचारको ने योग को माना है। जबकि जैनाचार्यों ने योग को कई अर्थों मे प्रयुक्त किया है। आचार्य हरिभद्र ने उन समस्त साधनो को योग माना है जिनसे आत्म-विशुद्धि होती है, कर्ममल का नाश होता है और मोक्ष के साथ[6] सयोग होता है। उपाध्याय यशोविजय जी ने भी यही[7] व्याख्या की है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार आध्यात्मिक भावना और समता का विकास करने वाला, मनोविकारों का क्षय करने वाला तथा मन, वचन और कर्म को सयत रखने वाला 'धर्म व्यापार'[8] ही श्रेष्ठ योग है।

इस प्रकार साधना के सन्दर्भ मे 'योग' की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ दार्शनिको ने की हैं। जिनके विश्लेषण के सन्दर्भ में अनेको ग्रन्थो की रचना की गयी। जैनेतर दार्शनिको मे योग के प्रमुख आचार्य महर्षि पतञ्जलि की यौगिक व्याख्याओ के आधार पर दर्शन की एक प्रमुख शाखा ही प्रादुर्भूत हो गयी। इसी परम्परा मे जैनाचार्यों ने भी अनेक ग्रथो
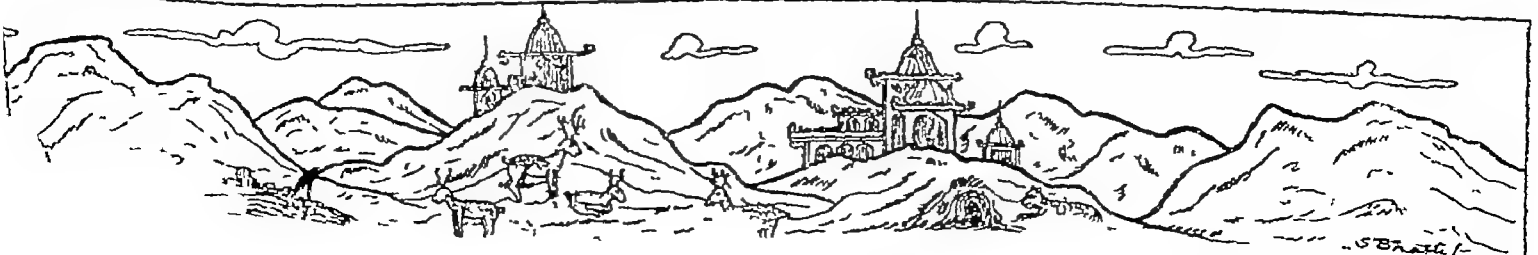
की रचना अपनी मान्यताओ के आधार पर की है। इन ग्रथो मे विश्लेषण की यह एक विशेषता है कि अन्य दार्शनिको ने जहाँ एकमात्र बाह्य प्रवृत्तियो के निग्रह को विश्लेपण का प्रमुख विपय बनाया, वहाँ जैन दार्शनिको ने इसके साथ-साथ अन्त प्रवृत्तियो का भी विश्लेषण किया है। यही 'अन्त प्रवृत्ति' ही आत्मोपलब्धि–'मोक्ष' का प्रमुख साधन है। इसी को 'धर्म' कहा जाता है। इस धर्म का जितना परिशुद्ध व्यापार होगा, वह सारा का सारा योग मे अन्तर्हित[९] होता है।

योग की व्यावहारिकता और पारमार्थिकता—योग एक साधना है। इसके दो रूप होते हैं—१ बाह्य और २ आभ्यन्तर। 'एकाग्रता' इसका बाह्य स्वरूप है और अहभाव, ममत्व आदि 'मनोविकारो का न होना' आभ्यन्तर स्वरूप है। एकाग्रता योग का शरीर और अहभाव एव ममत्व आदि का परित्याग इसकी आत्मा है। क्योकि मनोविकारो के परित्याग के अभाव मे काय-वाक् एव मन मे स्थिरता नही आ सकती और न ही इनमे 'समता' का स्वरूप प्रस्फुटित हो सकता है। 'समत्व' के बिना योग-साधना नहीं हो सकती। जिस साधना मे मात्र एकाग्रता है, अहत्व, ममत्व आदि का परित्याग नही है, वह साधना मात्र 'व्यावहारिक' या 'द्रव्य-साधना' है। किन्तु जिसमें एकाग्रता और स्थिरता के साथ मनोविकारो का परित्याग भी है, वही साधना 'पारमार्थिक' या 'भावयोग साधना' होती है।

योग की पञ्चाङ्ग व्यवस्था—सामान्यत जैन दार्शनिको ने जगत के समस्त पदार्थों एव समस्त प्रक्रियाओं को दो रूपो से स्वीकारा है—१ व्यवहार दृष्टि, २ निश्चय दृष्टि। योग के विश्लेषण मे इस परम्परा का यथावत् पालन किया गया है। फलत योग को मूल दो भेदो मे विभाजित किया गया है। व्यावहारिक दृष्टि से स्थान-आसन आदि एकाग्रता के विशेष प्रयोग को 'कर्मयोग' तथा निश्चय दृष्टि से मोक्ष से सम्बन्ध-योग, कारक-पद्धति विशेष को 'ज्ञानयोग' माना गया है। इनमे 'कर्मयोग' दो प्रकार का तथा 'ज्ञानयोग' तीन[१०] प्रकार का है। इस प्रकार आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार योग के पाँच[११] प्रकार है—

कर्मयोग—(१) **स्थानयोग**—पयङ्कासन, पद्मासन आदि के माध्यम से काय-वाङ्-मन की चञ्चलता का निरोध।

(२) **ऊर्णयोग**—मन्त्र-जाप आदि के द्वारा शब्दो के उच्चारण से काय-वाङ् मन की चञ्चलता का निरोध।

ज्ञानयोग—(३) **अर्थ योग**—नेत्रादि पदार्थों के वाच्यार्थ चिन्तन मे एकाग्रता।

(४) **आलम्बन योग**—पदार्थ विशेष (पुद्गलमात्र) मे मन को केन्द्रित करना।

(५) **रहितयोग**—समस्त पदार्थों के आलम्बन से रहित होकर मात्र आत्मचिन्तनात्मक निर्विकल्प समाधि।

साधना मे आहार की अपेक्षा

आचार्य हरिभद्र की यह पञ्चाङ्ग व्यवस्था आधुनिक है। प्राचीन परम्परा जैन साधना पद्धति मे द्वादशाङ्ग योग की व्यवस्था रही है। इस द्वादशाग व्यवस्था को 'तप' के नाम से भी व्यवहृत किया गया है। यद्यपि जैनयोगाचार्यों ने पतञ्जलि की अष्टाग योग व्यवस्था का अनुसरण अक्षरश नही किया है, फिर भी उनके प्रथम पांच 'अतरग' और बाद के 'तीन बहिरग' भेदो का सादृश्य इन द्वादशागो की बाह्याभ्यन्तर भेद कल्पना मे स्पष्ट परिलक्षित होता है। इन द्वादशागो मे से प्रथम चार बाह्यागो का सम्बन्ध आहार से है। जन-साधारण की अपेक्षा साधक को आहार की अपेक्षा अधिक होती है। फिर भी साधना पद्धति मे स्वस्थता का स्थान शरीर मे कम, मन मे अधिक रहता है। मन की स्वस्थता मे आहार का 'ग्रहण और परित्याग' समान रूप से महत्त्वपूर्ण है। जैनेतर योग-साधको ने आहार की उपयोगिता के समर्थन में अनाहार का जहाँ निषेध[१२] किया है, वहाँ जैन-साधकों ने अनाहार पर विशेष बल दिया है। जैनाचार्यों का मत है कि उपवास से शरीर मे रासायनिक परिवर्तन होते हैं और इन परिवर्तनो से 'संकल्पसिद्धि' सहज या सुलभ हो जाती है। वर्तमान युग मे जैन धर्म एव साधना के प्रवर्तक भगवान महावीर ने इस तत्त्व का बोध होने के उपरान्त दीर्घकालीन उपवास लगातार छ[१३] महीनो तक के किए हैं। इसीलिए जैन सिद्धान्त मे उपवास का लक्ष्य 'सकल्पसिद्धि' माना गया है, न कि 'शरीरशोषण', जैसी कि प्राय लोगों की सामान्य धारणा बनी रहती है। ऊनोदरी, अल्पाहार सीमिताहार को प्राय सभी साधकों ने समान[१४] रूप से महत्त्वपूर्ण माना है। आहार के सन्दर्भ में साधक को 'अस्वादवृत्ति की व्याख्या करते हुए जैनाचार्यों ने कहा है कि 'साधक को मनोज्ञ आहार ग्रहण करते हुए भी उसका चिन्तन और स्मरण आदि नही करना चाहिए'। यहाँ पर 'अस्वादवृत्ति' से तात्पर्य है—'विकारवर्द्धक रसो का परित्याग'। यह वृत्ति साधक योगी के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है।

साधना मे सहयोगी शरीर का सयम—शरीर का योगसाधना मे एक विशिष्ट स्थान है। इसका सयम, इसकी उपेक्षा, साधना मे अत्यन्त सहयोगी सिद्ध होते हैं किन्तु शरीर की सुरक्षा और सज्जा आदि अत्यन्त बाधक होते हैं। फलत इस बाधा को सदा के लिए साधनापथ से दूर रखने के निमित्त से "कायक्लेश" नामक पचम योगाग की व्यवस्था जैन साधना पद्धति में निर्धारित की गई है। इसके चार प्रमुख[१५] भेद हैं—१ **आसन** २ **आतापना** ३ **विभूषा** तथा ४ **परिकर्म वर्जना**।

साधना मे आसन का स्थान—चित्त की एकाग्रता तथा धैर्य की प्राप्ति के लिए साधना पद्धति मे आसनो का अपना एक विशिष्ट स्थान है। जैनाचार्यों ने आसनो के तमाम भेदो को मूलत दो भेदो मे विभाजित किया है—१ शरीरासन २ ध्यानासन। इनमे से प्रथम प्रकार के आसन चित्त की एकाग्रता के निमित्त होते हैं तथा द्वितीय प्रकार के आसन धैर्यप्राप्ति के साधन होते हैं। जैन आगमो मे प्रमुखत सात[१६] प्रकार के आसनो का विश्लेषण उपलब्ध होता है—

(१) **स्थानस्थिति**—दोनो भुजाओ को फैलाकर तथा पैर की दोनो एडियो को परस्पर मिलाकर, अथवा एक बालिस्त जितना अन्तर रखकर, सीधे खड़ा होना।

(२) **स्थान**—स्थिर रूप में शान्त होकर बैठना।

(३) **उकड**—पैर और नितम्ब दोनो भूमि से लगाकर[१७] बैठना।

(४) **पद्मासन**—बायीं जाघ पर दाया, दायी जाघ पर बाया पैर रखकर हथेलियो को नाभि के नीचे एक दूसरे के ऊपर सीधा रखकर बैठना।

(५) **वीरासन**—इसके कई प्रकारो का उल्लेख जैन आगमो मे मिलता है। जैसे—बाया पैर दायी साथल पर, दाया पैर बायी साथल पर रखकर दोनो हाथो को नाभि के नीचे रखना। अथवा सिंहासन पर बैठकर पैरो को नीचे भूमि पर टिकाकर रखना। अथवा एक पैर से दोनो अण्डकोषो को दबाकर दूसरे पैर को दूसरी जाघ पर रखकर सरल भाव से बैठना।

(६) **गोदोहिका**—गोदोहन के समय जैसी स्थिति मे बैठना।

(७) **पर्यङ्कासन**—दोनो जाघो के अधोभाग को पैरो पर टिकाकर, दोनो हाथो को नाभि के सामने दक्षिणोत्तर रखकर बैठना।

जैन परम्परा मे वीरासन आदि कठोर आसनो तथा पद्मासन प्रभृति आसनो को सुखावह[१८] माना गया है तथा इन दोनो को ध्यान के निमित्त उपयोगी स्वीकारा गया है। इनमें से पद्मासन आदि को चित्त की एकाग्रता के लिए तथा वीरासन आदि को धैर्य की प्राप्ति में सहयोगी माना गया है।

साधना में मनोविकारों का अभाव—साधना के मार्ग मे शरीर को सुखी बनाना और विभूषित करना जिस प्रकार निषिद्ध है उसी तरह से मनोविकारो का भाव भी निषिद्ध माना गया है। दोनों के सद्भाव में साधकयोगी साधना पथ पर अग्रगामी नहीं हो सकता। इसलिए जैन पद्धति ने 'आतापना' के अन्तर्गत सूर्य की प्रखर किरणो के ताप, शीत आदि को सहन करना विधियुक्त माना है। शरीर के लिए साज-सज्जा आदि का परित्याग 'विभूषा' तथा शृगार आदि का निषेध 'परिकर्म' के अन्तगत व्यवहित किया गया है। इन तीनो प्रक्रियाओ के साथ कायक्लेश के चारों प्रकार शरीर को सयमित रखने एव उससे निर्मोह स्थिति उत्पन्न करने के साधन होते हैं।

शरीर के इस नियन्त्रणपूर्वक सयम की ही तरह मनोनियन्त्रण की विधि का भी जैनागमो मे विधान किया गया है। मन के नियन्त्रण से पचेन्द्रियो का नियन्त्रण भी स्वाभाविक रूप मे सम्पन्न हो जाता है। इसके अनन्तर मानसिक विकारो क्रोध, मान, माया और लोभ आदि मनोविकारों का नियन्त्रण कर सकना भी सरल हो जाता है। मन चूंकि स्वभावत चञ्चल है इसलिए एक बार उसका नियन्त्रण कर लेने पर यह आवश्यक हो जाता है कि वह निरन्तर बना रहे। अन्यथा कारावास से छूटे हुए अपराधी की भाँति वह अपनी पूर्ण सामर्थ्य से विषयाभिमुख होकर भागने लग जाता है और फिर उसका नियन्त्रण कर पाना असम्भव हो जाता है। इस प्रक्रिया का जैन साधको ने स्वय अनुभव किया और उन्होंने यह विशेष रूप से विधान किया कि इन्द्रियो और मनोविकारों पर निग्रह प्राप्त करने के बाद साधक स्वय को शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्तियों से सुरक्षित रखे तथा विविक्त स्थान में ही अपना शयन, बैठना आदि किया करे।
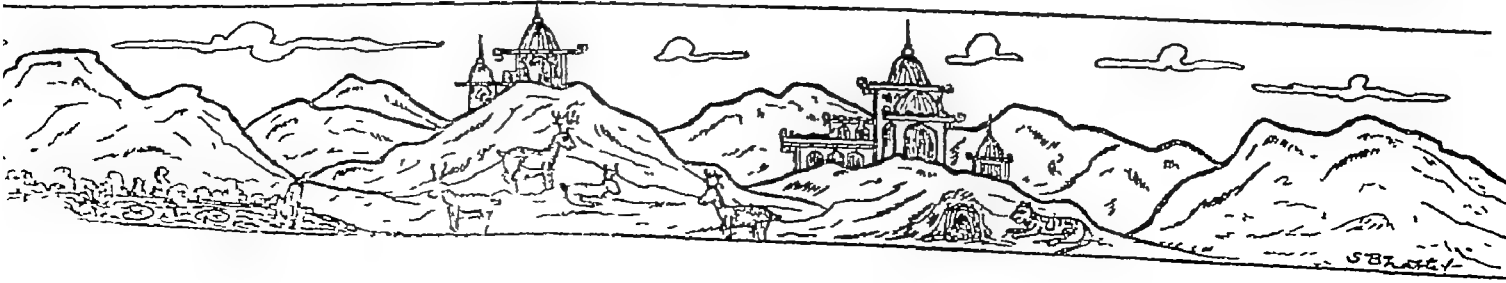
इस चार प्रकार की प्रक्रिया को इस परम्परा मे 'सलीनता' के नाम से सम्बोधित किया गया है और इन प्रक्रियाओ के आधार पर सलीनता को चार भागो मे विभाजित किया है। ये भेद[19] हैं—**१ इन्द्रिय सलीनता, २ कषाय सलीनता, ३ योग सलीनता,** तथा **४ विविक्त शयनासन संलीनता**। यहाँ पर विविक्त शयनासन को स्पष्ट करते हुए जैनागम ने यह निर्देश किया है कि साधक को श्मशान, शून्यागार और वृक्षमूल आदि स्थानो पर रहना, बैठना, सोना आदि करना[20] चाहिए।

आत्मिक विकारो का अभाव—आभ्यन्तर तप—जैनसस्कृति श्रमणसस्कृति, मूलत आध्यात्मिक सस्कृति है। इस सस्कृति ने जीव के जगत बन्धनो की मुक्ति के लिए जिस प्रकार शरीर, इन्द्रियो और मन के विकारो का अभाव अपेक्षित माना है उसी प्रकार आत्मिक विकारो का अभाव भी 'मोक्षप्राप्ति' मे विशिष्ट स्थान रखता है। फलत जैन पद्धति मे योग की जो प्राचीन द्वादशाग परम्परा प्रचलित है, इसकी प्रथम छ विधाएँ **१ अनशन, २ ऊनोदरी, ३ भिक्षाचरिका, ४ रसपरित्याग, ५ कायक्लेश** तथा **६ सलीनता,** बाह्य तप के रूप मे स्वीकार की गई हैं। यह छहो विधाएँ विषयो से व्यावृत्ति की निमित्तभूत हैं। इसलिए इन्हें 'बाह्य तप' कहा गया है। किन्तु शेष ६ विधाएँ—**१ प्रायश्चित्त, २ विनय, ३ वैयावृत्य, ४ स्वाध्याय ५ ध्यान** और **६ व्युत्सर्ग,** आत्मा के आन्तरिक विकारो को शुद्ध बनाने में निमित्तभूत होती हैं, इसलिए इन्हे 'आभ्यन्तर तप' की सज्ञा से विभूषित किया गया है। इसकी प्रथम विधा (प्रायश्चित्त) को पूर्वकृत दोषो को शुद्ध करने का निमित्त होने के कारण साधना पथ के लिए प्रशस्त माना गया है। जबकि दूसरी विधा (विनय) सयम या शुद्धि के साधनो का अवलम्बन होती है। इस विधा के सात प्रकार होते हैं जिन्हें क्रमश—**१ ज्ञान विनय, २ दर्शन विनय, ३ चारित्र विनय ४ मन-विनय, ५ वाग्विनय, ६ काय विनय** तथा **७ लोकोपचार विनय** कहा गया है। तीसरी विधा—'*वैयावृत्य*' मे साधक को दूसरे सभी साधको को यथासम्भव हर प्रकार का सहयोग देने का विधान किया गया है।

जैन योगसाधना मे स्वाध्याय का महत्त्व—आभ्यन्तर तप की चतुर्थ एव पञ्चम विधाओ मे परस्पराश्रयभाव जैन साधना मे माना गया है। साधक योगी के लिए दोनो विधाएँ परमात्मभाव के साधन[21] रूप में स्वीकार की गई हैं। स्वाध्याय रहित ध्यान और ध्यान रहित स्वाध्याय को साधना-पथ मे असहयोगी सिद्ध किया गया है। इस प्रकार स्वाध्याय अपने से अनन्तरभावी साधना स्थिति की पोषक एक महत्त्वपूर्ण विधा है। इसे भी पञ्चागी रूप से स्वीकार किया गया है। ये पञ्चाग हैं—**१ वाचना**—आध्यात्मिक ग्रन्थों, आगमो आदि का पढ़ना, **२ प्रच्छना**—आगमो के अध्ययनोपरान्त उनके मर्मस्थलो के सन्दर्भ मे प्रश्न पूछना, **३ परिवर्तना**—पठित आगम ग्रथो के उपदेशो के अविस्मरण हेतु उनकी बार-बार अनुवृत्ति करना, **४ अनुप्रेक्षा**—अनुवर्तन के समय प्रत्येक उपदेश पर मानसिक चिन्तन तथा मनन करना, तथा **५ धर्मकथा**—साधुमण्डल अथवा भक्त जनसमूह के मध्य शास्त्रो का प्रवचनपूर्वक धार्मिक कथाओ को कहना, अर्थात् स्वोपार्जित अध्ययनजन्य ज्ञान का मानव-मात्र के कल्याण के निमित्त प्रवचन करना। जैनागमो के इस स्वाध्याय स्वरूप का सादृश्य 'स्वाध्याय प्रवचनाभ्या न प्रमदितव्यम्' वेद वाक्य से कितना है, यह विद्वज्जन स्वयं अनुमान लगा सकते हैं। इस पचागी स्वाध्याय को 'मोक्ष प्राप्ति का चरम साधन' माना गया है। क्योकि इससे 'ज्ञानावरणीय कर्म' का क्षय[22] होता है और इसके क्षय होने से आत्मा मे स्वाभाविक ज्ञान की विमलता प्रस्फुटित होती है। ज्ञान का प्रस्फुटीकरण दर्शनपूर्वक होता है और मोक्ष प्राप्ति मे 'ज्ञानदर्शन' का अपना एक वैशिष्ट्य है।

ध्यान और जैन साधना—यद्यपि स्वाध्याय और ध्यान एक-दूसरे के पूरक है। एक के अभाव मे दूसरे की सफलता अथवा सार्थकता सदिग्ध मानी गई है, किन्तु जैन साधना पद्धति मे ध्यान से पूर्व 'एकाग्रमन सन्निवेशना' को स्थान दिया गया है। आलम्बन विशेष मे मन की स्थापना इसकी विशेष प्रक्रिया है और इसका उद्देश्य है—चित्त[23] का निरोध'। यही ध्यान का प्रथम स्वरूप है। 'चल-अध्यवसाय' को चित्त तथा अचल स्थिर अध्यवसाय को 'ध्यान'[24] कहा गया है। चित्त की स्थिरता ही ध्यान का प्रारम्भिक प्रथम स्वरूप है और द्वितीय स्वरूप है काय-वाक् और मन की प्रवृत्तियो की सर्वथा स्थिरता। सामान्य दृष्टि से ध्यान का यही रूप द्वैविध्य है। किन्तु साधना की दृष्टि से ध्यान के दूसरे प्रकार से दो भेद माने गए हैं, जिन्हें **१ धर्मध्यान** और **२ शुक्लध्यान** की सज्ञाओ से व्यवहृत किया गया है। चित्त-चाञ्चल्य के निरोध के लिए प्रारम्भिक अभ्यास रूप 'धर्मध्यान' को माना है। इन्द्रियाँ स्वभावत अपने विषय ग्रहण की प्रवृत्ति मे सलग्न रहती हैं। वे अपनी इस प्रक्रिया की सफलता के लिए चित्त को अपनी ओर आकर्षित करती रहती हैं और उस

भी अपने साथ चञ्चल बनाए रखती हैं। फलत स्वय चचलशील चित्त की चचलता चित्त मे और अधिक वृद्धि हो जाती है। जिससे वह जगत के चतुर्दिक अपेक्षाकृत तीव्र गति से सक्रमण करने लगता है। इस सक्रमणशील चित्त को जगत की विषय परिधि से हटाकर किसी एक विषय-विशेष पर केन्द्रित करना ध्यान का धम है। यह केन्द्रीयकरण ज्यो-ज्यो वृद्धिशील होता है, चित्त की चचलता भी शान्ति मे परिवर्तित होने लगती है और वह शनै-शनै निष्कम्प-स्थिति के समीप पहुँचता जाता है। अभ्यास की यह स्थिति धर्मध्यान मे प्रारम्भिक अवस्था मे रहती है, किन्तु शुक्लध्यान मे परिपक्वता को प्राप्त होने लगती है तथा क्रमश शुक्लध्यान के चतुर्थ चरण मे चित्त प्रवृत्तियो का सवथा निरोध अर्थात् 'समाधि' की प्राप्ति हो जाती है।

ध्यान के विशेष भेद—१ **धमध्यान**—'समाधि' साधना की पूणता लक्ष्य है। साधनापथिक इस लक्ष्य तक विभिन्न स्थितियो को पार करता हुआ अन्त मे पहुचता है। लक्ष्य प्राप्ति और साधनारम्भ की स्थितियो के मध्य मूल दो विशिष्ट स्थितियाँ मानी गयी हैं जिन्हे 'धर्मध्यान' और शुक्लध्यान' कहा गया है। इन दोनो स्थितियो को ही पृथक्-पृथक् भेदो मे विभाजित किया गया है, जिन्हें चरण भी कहा जा सकता है। इस प्रकार 'ध्यान' के 'विभेद' कई प्रकार के हो जाते हैं।

धर्मध्यान की चार विशेष स्थितियाँ चरण—मानी गई हैं। जैनागमो के अनुसार इनका यह स्वरूप निर्धारित किया गया है—१ सूक्ष्म पदार्थों का चिन्तन '**आज्ञाविचय**', २ इस चिन्तन के उपरान्त पदार्थों की हेयोपादेयता का चिन्तन '**अपायविचय**' ३ तत्पश्चात् हेय पदार्थों के ग्रहणोपरान्त तज्जन्य अनभीप्सित अनुपादेय परिणामो का चिन्तन '**विपाकविचय**', और ४ लोक एव पदार्थों की आकृति तथा स्वरूपो का चिन्तन '**सस्थानविचय**' कहा गया है। इन चारों स्थितियो मे विभिन्न चिन्तन का परिणाम निर्देश करते हुए जैनागमो मे कहा गया है कि आज्ञाविचय के चिन्तन से वीतराग भाव, अपायविचयात्मक चिन्तन से राग, द्वेष, मोह तथा तज्जन्य दु खो से मुक्ति, विपाकविचयात्मक चिन्तन से दु'ख हेतुओ, उनकी उदयादि अवस्थाओ तथा परिणामों का ज्ञान एव सस्थानविचयात्मक चिन्तन से विश्व की उत्पाद, व्यय और ध्रुवता तथा इसके नाना परिणामो का ज्ञान कर लिया जाता है। इन विभिन्न परिणामो के ज्ञान से साधक को जगत से घृणा होने लगती है। फलत हास्य, शोक आदि विकारो से उसका मन दूर हटने लगता है।

इन चिन्तनो की सज्ञा 'ध्येय' भी है। जिस प्रकार साधक को किसी सूक्ष्म या स्थूल पदार्थविशेष पर आलम्बन मानकर चित्त की एकाग्रता अपेक्षित होती है, उसी प्रकार इन ध्येय विषयो पर भी साधक को चित्त की एकाग्रता आवश्यक होती है। क्योकि इन ध्येय विषयो के चिन्तन से चित्त निरुद्ध होकर शुद्ध हो जाता है। अत इस चिन्तन पद्धति को 'धमध्यान' के रूप में स्वीकार किया गया है।

धर्मध्यान के लक्षण, आलम्बन एव अनुप्रेक्षायें—ध्यान का लक्षण सामान्यत मन और इन्द्रियो की बहिर्मुखी प्रवृत्ति को अन्तर्मुखी बनाने के सामान्यहेतुओ का स्वरूप है, इसी सिद्धान्त के अनुसार धर्मध्यान जिन-जिन हेतुओ के माध्यम से प्रस्फुटित होता है उन-उन हेतुओ के आधार पर इसके लक्षणों के चार स्वरूपों का प्रतिपादन जैन शास्त्रों में उपलब्ध होता है। ये चतुर्विध लक्षण हैं—१ **आज्ञारुचि**—शास्त्रो में धर्मोपदेष्टाओ की आज्ञानुसार राग, द्वेष एव मोह का नाश हो जाने से मिथ्या-आग्रह का अभाव, २ **निसर्गरुचि**—मिथ्या-आग्रह के अभाव से उत्पन्न स्वाभाविक आत्मकान्ति रूप, ३ **सूत्ररुचि**—सूत्रों और आगमो के अध्ययन से उत्पन्न ज्ञान रूप तथा ४ **अवगाढ़रुचि**—तत्वचिन्तन के उपरान्त तत्त्वावगाहना से उत्पन्न रूप। इस प्रकार इन चारों लक्षणों मे धर्मध्यान सयुक्त होता है।

इन चार लक्षणों की ही तरह धमध्यान के आलम्बन के भी चार प्रकार हैं। आगमो में स्वाध्याय और ध्यान को परस्परापेक्षी निर्दिष्ट किया गया है। धर्मध्यान ध्यान का प्रारम्भिक स्वरूप है। अत इसका आलम्बन भी स्वाध्याय-परक होना स्वाभाविक है। ये प्रकार हैं १ **वाचना**, २ **प्रच्छना**, ३ **परिवर्तना** और ४ **अनुप्रेक्षा**। इनका यहाँ पर भी वही अभिप्राय है जोकि स्वाध्याय के अग रूप में है।

धर्मध्यान की अनुप्रेक्षाओ का भी चातुर्विध्य योग साधको ने माना है। ये हैं—१ **एकत्वानुप्रेक्षा**—मैं अकेला हूँ, स्त्री, पुत्र, पिता आदि कोई भी दूसरा मेरा नही है, इत्यादि भावना। २ **अनित्यानुप्रेक्षा**—सयोग, सम्बन्ध, सभी अनित्य हैं। कोई भी किसी का साथ स्थायी नही देता इत्यादि भावना। ३ **अशरणानुप्रेक्षा**—दु खों की स्थिति में कोई भी मुझे शरण देने वाला नही है, मैं स्वय ही अपनी शरण हूँ, इत्यादि भावना तथा चतुर्थ अनुप्रेक्षा है—४ **ससारानुप्रेक्षा**
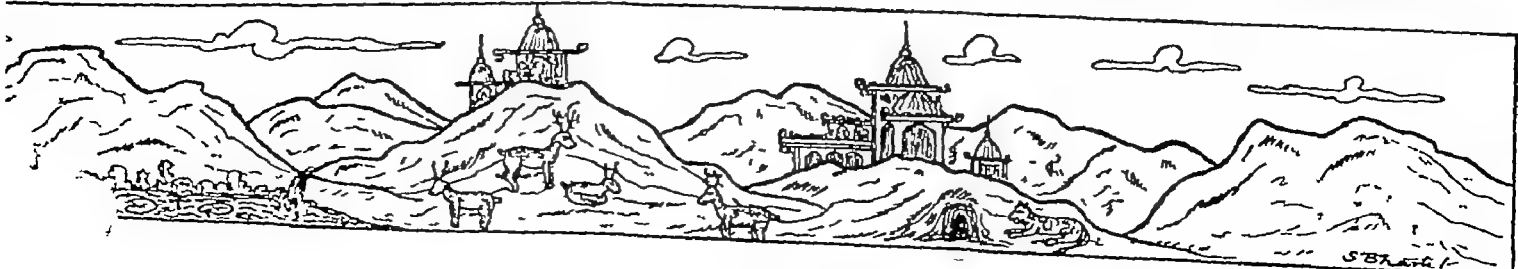
मैं ससार में परिभ्रमण कर रहा हूँ। यह ससार अनित्य है। जब तक मैं इससे बधा हूँ, तब तक ही मैं ससारी हूँ, इत्यादि भावना का होना। धर्मध्यान के लक्षण, आलम्बन एव अनुप्रेक्षाओ को दृष्टिगत करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि इसके लिए श्रद्धा (दशन) स्वाध्याय एव भावना की विशेष अपेक्षा होती है।

२ **शुक्लध्यान**—धर्मध्यान की तरह शुक्लध्यान की भी चार विशेष स्थितियाँ (चरण) हैं। इस ध्यान की इन स्थितियो को पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध (शुक्लध्यान) के रूप मे दो युग्मो मे भी विभाजित किया जा सकता है। क्योकि इन दोनो युग्मो की दोनो स्थितियां परस्परापेक्षित स्वभाववाली हैं। इन चारो प्रकार की स्थितियो का स्वरूप जैनागम के अनुसार इस प्रकार माना गया है—

(१) **पृथक्त्ववितर्क—(सविचारी)**—शुक्लध्यान सामान्यत विशिष्टज्ञानी (पूवधर) मुनि को होता है। यह मुनि पूवश्रुत के अनुसार द्रव्य विशेष के आलम्बन से ध्यान करता है किन्तु उसकी किसी भी एक परिणति पर या किसी भी एक स्थिति पर स्थिर नही रहता है। उस द्रव्य की विविध परिणतियो पर परिभ्रमण करता हुआ शब्द से अथ एव अथ से शब्द पर तथा काय-वाड्-मन में एक से दूसरी प्रवृत्ति पर सक्रमण करता हुआ भिन्न-भिन्न दृष्टियो से उन पर चिन्तन करता है। ऐसे मुनि को 'पृथक्त्ववितक'—सविचारी, माना गया है। जैनपद्धति मे 'वितक' को 'श्रुतावलम्बी विकल्प' तथा 'विचार' को 'परिवतन' के रूप मे माना गया है, जबकि योगदशन मे शब्द, अर्थ तथा ज्ञान के विकल्पो से सकीर्ण समापत्ति को 'सवितर्का' की सज्ञा दी गयी है। यह मुनि पूवश्रुत के अनुसार जब किसी एक द्रव्य विशेष का आलम्बन लेकर उसके किसी एक परिणाम विशेष पर अपने चित्त को स्थिर करता है, अर्थात् उसका मन शब्द, अथ, वाणी तथा ससार मे सक्रमण नही करता है तब ऐसे ध्यान को (२) **एकत्ववितर्क—(अविचारी)** कहा जाता है।

इन दोनों प्रकारो मे स्थूल और सूक्ष्म दोनो प्रकार के पदाथ आलम्बन रूप होते हैं। इन दोनों के ही अभ्यास से मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म क्षीण होते हैं। ततश्च आत्मा सवज्ञ, सवदृष्टा, तथा अनन्तशक्ति से सम्पन्न एव विरक्त हो जाता है। इस स्थिति के उपरान्त साधक तब तक 'जीवनक्रिया' या 'जीव-पर्याय' से सयुक्त रहता है जब तक कि उसका 'आयुकर्म' शेष रहता है।

(३) **सूक्ष्म क्रिय—(अप्रतिपाती)**—इस ध्यानस्थिति मे साधक के मन, वाणी और काय का क्रमश निरोध होता है। अत योगी के एकमात्र सूक्ष्मक्रिया—'श्वासोच्छ्वास' शेष रह जाती है। किन्तु (४) **समुच्छिन्नक्रिय (अनिवृत्ति)** ध्यानस्थिति मे इस क्रिया का भी निरोध हो जाता है। इस प्रक्रिया के निरोध के तुरन्त पश्चात् 'पञ्चमात्राकालमात्र' **(अ, इ, उ, ऋ, लृ, पांच ह्रस्व स्वरों के उच्चारणकाल मात्र)** तक ही साधक सशरीरी रहता है। तत्पश्चात् मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।

अर्थात् साधक योगी 'एकत्ववितर्क' शुक्लध्यान तक 'सयोगिकेवली' की स्थिति मे रहता है किन्तु 'सूक्ष्मक्रिय' ध्यान की स्थिति से उसकी 'अयोगिकेवली-अवस्था' प्रारम्भ होती है और 'समुच्छिन्नक्रिय' शुक्लध्यान की स्थिति मे उसे पूर्णता प्राप्त हो जाती है। इसी स्थिति मे 'तपोयोग' के बारहवें तथा 'आभ्यन्तर तप' के छठवें तप व्युत्सग की सत्ता स्पष्ट हो जाती है जिसका अथ है—'देहाध्यास से मुक्ति।'

शुक्लध्यान के लक्षण, आलम्बन एव अनुप्रेक्षाए—धमध्यान की तरह शुक्लध्यान के भी लक्षण, आलम्बन एव अनुप्रेक्षाओ का चातुर्विध्य स्वीकार किया गया है। लक्षण चातुर्विध्य का प्रारम्भ इस प्रकार है—

१ **अव्यथ**—जिससे व्यथा का अनुभव न हो अर्थात् कष्टो के सहन करने मे अचल धैय की प्राप्ति। २ **असम्मोह**—जगत के स्थूल सूक्ष्म उभयविध पदार्थों के प्रति मोह का अभाव अर्थात जगत के माया जाल मे मौढ्य का न होना। ३ **विवेक**—ज्ञान के साक्षात्कार के उपरान्त देह और आत्मा मे स्पष्टत भेदबुद्धि, तथा ४ **व्युत्सर्ग**—शरीर तथा इसके सुख-शृगारदि के उपकरणभूत साधनो के प्रति निर्लिप्तभाव।

आलम्बन चातुर्विध्य का स्वरूप इस प्रकार जैनागमो में उपलब्ध होता है—(१) **क्षमा—(अक्रोध)**—क्रोध रहित होकर कटु, अपमान सूचक प्रसङ्गो मे शब्दो एव व्यवहारो को उपेक्षाभाव से देखना, (२) **मुक्ति (लोभराहित्य)**—जगत के सर्वविध पदार्थों के प्रति अनुपादेय बुद्धि से सम्बन्धविच्छेद। (३) **मार्दव (अभिमान शून्यता)**—जगत के प्रति विरक्त भाव होने पर 'यह मुझ मे भाव है' 'अत मैं अन्य जगत जीवो से विशिष्ट हूँ अथवा 'मैं इन्द्रियनिग्रही हूँ' इत्यादि

सभी प्रकार के अभिमानो से शून्य होकर मृदुस्वभाव ग्रहण करना। (४) आर्जव (सहजता)—समस्त आचार एव व्यवहार मे सहज स्वाभाविकता की स्वीकृति। इन्ही चार विधाओ को शुक्लध्यान का आलम्बन माना गया है।

अनुप्रेक्षाओ की चतुर्विधता निम्न प्रकार है—

(१) अनन्तवृत्ति अनुप्रेक्षा—यह भव परम्परा कभी भी समाप्त नही होने वाली है। इसलिए यह अनुपादेय है इत्यादि भावना, (२) विपरिणामानुप्रेक्षा—सभी पदार्थ नित्य परिणमनशील है और इनका विपरीत परिणाम आत्मा पर होता है, इत्यादि भावना। (३) अशुभानुप्रेक्षा—जगत के सभी प्रकार के सम्बन्ध आत्मप्राप्ति के लिए अकल्याण कारी हैं, इत्यादि भावना, (४) अपायानुप्रेक्षा—जगत सम्बन्धानुसार समस्त कर्मों के आस्रव बन्ध के हेतु है, अत ये सभी कर्म हेय या अनुपादेय हैं, इत्यादि भावना।

शुक्लध्यान के लक्षण आदि के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि इसके लिए आत्म स्वभाव मे अवगाहना तथा आत्मिक भावनाओ की विशेष अपेक्षा होती है। अनित्य-अशरण आदि भावनाओ के बारह प्रकार हैं। इनमे से प्रथम की चार भावनाए धर्मध्यान की अनुप्रेक्षाओ के रूप मे स्वीकार की गयी है।

ध्यान की प्रमुख स्थितियाँ—जैन साधना पद्धति पर विशेष दृष्टिपात करने पर यह तत्त्व निष्कर्ष रूप मे प्रकट होता है कि जैन साधना पद्धति की परम्परा मोक्ष प्राप्ति तक एक निर्धारित क्रम के अनुसार चलती है जिसे साधक की 'सासारिक स्थिति' से लेकर 'मोक्ष-प्राप्ति' पर्यन्त तक ग्यारह[२४] प्रमुख अवस्थाओ मे विभाजित किया जा सकता है। इन अवस्थाओ की सज्ञा 'भूमिका' भी स्वीकार की गयी है। ये अवस्थाएँ हैं—१ सम्यक्दृष्टि, २ देशव्रती, ३ महाव्रती ४ अप्रमत्त, ५ अपूर्वकरण, ६ अनिवृत्ति, बादर ७ सूक्ष्मलोभ, ८ उपशान्तमोह, ९ क्षीणमोह, १० सयोगि केवली और ११ अयोगि केवली।

इनमे से प्रथम तीन स्थितियो मे धर्मध्यान मात्र होता है। किन्तु चतुर्थ स्थिति में धर्मध्यान के साथ-साथ अशत शुक्लध्यान[२५] भी होता है। यहाँ से प्रारम्भ कर ७वीं स्थिति-सूक्ष्म लोभ तक शुक्ल ध्यान का मात्र प्रथम चरण होता है। क्षीणमोह वीतराग नामक ९वी स्थिति मे शुक्लध्यान का द्वितीयचरण पुर्णता को प्राप्त[२७] हो जाता है। १०वी सयोगि केवलि स्थिति के अन्त में शुक्लध्यान का तृतीयचरण पूर्ण होता है। क्योंकि इस अवस्था मे केवली योगी के शरीर की सत्ता[२८] वर्तमान रहती है। जबकि ११वी स्थिति में यह ध्यान चतुर्थ चरण के साथ-साथ स्वय भी पूर्णता[२९] को प्राप्त कर लेता है।

ध्यान का उद्देश्य—आत्मा सूक्ष्म और स्थूल द्विविध शरीरो से वेष्ठित है। इस सामान्य सासारिक स्थिति मे बद्ध आत्मा के ज्ञान के साधन मन और इन्द्रियाँ होती हैं। इनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति बाह्य विषयो की जानकारी मे होती है। ध्यान की प्रारम्भिक अवस्था मे इस बाह्य प्रवृत्ति को अन्त की ओर अग्रसर करने का अभ्यास किया जाता है। इसलिए ध्यान का सामान्य उद्देश्य है—"लब्धि" किन्तु इस प्रारम्भिक स्थिति को ही अन्त नही माना जा सकता। ध्यान का अन्त होता है ११वीं अयोगि केवली स्थिति मे और इस स्थिति का दूसरा रूप होता है—'परमात्मभाव'। अत ध्यान का चरम उद्देश्य भी जैन परम्परा में यही स्वीकार किया गया है। जीव की सामान्य बाह्य-बहिर्दशन-प्रवृत्ति को जब तक समाप्त नही किया जाता और परमात्मभाव-अन्तर्दर्शन की ओर अभिमुख नही हुआ जा सकता। फलत ध्यान के स्वभावत मुख्य एव गौण, दो सामान्य भेद बन जाते हैं। ध्यान की चरम स्थिति मे पदार्पण करने पर साधक योगी मे जगत के तमाम जीवों को कमबन्धन से मुक्त कर सकने की सामर्थ्य[३०] सुलभ हो जाती है भले ही इसका प्रयोग वे कभी न करे।

ध्यान का महत्त्व—जैनागमो मे ध्यान का महत्त्व इसी से जाना जा सकता है कि जैन मुनियों के लिए यह आवश्यक विधान किया गया है—"जैनमुनि दिन के प्रथम प्रहर मे स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर मे ध्यान, तृतीय प्रहर मे आहार और चतुर्थ प्रहर मे पुन[३१] स्वाध्याय करे। इसी प्रकार रात्रि के प्रथम प्रहर मे स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर मे ध्यान, तृतीय प्रहर मे निद्रा तथा चतुर्थ पहर मे पुन[३२] स्वाध्याय करे। किन्तु काल-क्रमानुसार मुनियो के इस विधान में काफी परिवर्तन हुआ है। फलत जैनमुनियो एव साधु, साध्वियों मे ज्ञान-दर्शन की क्षति हुई है।

श्रमण साधना का लक्ष्य—विश्व की किसी भी वस्तु को पूर्ण बनाने के लिए पदार्थ विषयक ज्ञान एव क्रिया
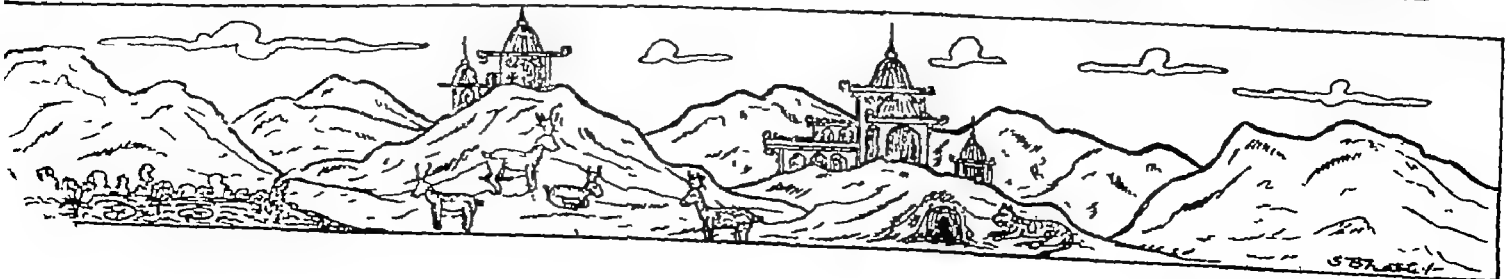
दोनो की परम अपेक्षा होती है। लौकिक एव पारलौकिक उभयविध कार्यों की सिद्धि मे भी इन दोनो का समन्वय परम आवश्यक होता है। योग साधन भी एक क्रिया है। इस साधना मे प्रवृत्त होने वाले के लिए आत्मा, योग, साधना आदि आध्यात्मिक तत्त्वो का ज्ञान होना आवश्यक है।

जैन परम्परा-श्रमणपरम्परा के मूल ग्रन्थ आगम हैं। उनमें वर्णित साध्वाचार का अध्ययन करने से यह स्पष्टत परिज्ञात होता है कि पाँच महाव्रत, समिति, गुप्ति, तप, ध्यान और स्वाध्याय आदि जो योग के मुख्य अग हैं, उनको श्रमण-साधना के अनुयायी साधु जीवन का प्राण[३४] माना है। वस्तुत आचार साधना-श्रमण साधना का मूल, प्राण और जीवन है। आचार के अभाव मे श्रमणत्व की साधना मात्र ककाल एव शवस्वरूप होकर निष्प्राण रह जाएगी।

जैनागमो मे 'योग' शब्द 'समाधि' या 'साधना' के अर्थ मे प्रयुक्त नही हुआ है। यहाँ इसका अर्थ है—'मन, वचन एव काय की प्रवृत्ति' यह दो प्रकार का है शुभ और अशुभ। दोनो का ही निरोध करना श्रमण साधना का ध्येय है। अत जैनागमो मे साधु को आत्मचिन्तन के अतिरिक्त अन्य कार्य करने की आज्ञा नही दी गयी है। यदि साधु के लिए अनिवार्य रूप से प्रवृत्ति करना आवश्यक है तो आगम द्वारा निवृत्तिपरक प्रवृत्ति करने की अनुमति दी गई है। इस प्रवृत्ति को आगमिक भाषा मे 'समिति गुप्ति' कहा जाता है। इसे 'अष्ट प्रवचन माता' भी कहा जा सकता है।

श्रमण साधना का मुख्य लक्ष्य है—योग=काय-वाक्, मन की चञ्चलता का पूर्ण निरोध। किन्तु इसके लिए हठयोग की साधना को बिल्कुल महत्त्व नही दिया गया है। क्योकि इससे बलात्-हठपूर्वक, रोका गया मन कुछ क्षणो के अनन्तर ही सहसा नियन्त्रण मुक्त होने पर स्वाभाविक वेग की अपेक्षा तीव्रगति से प्रवाहित होने लगता है। और सारी साधना को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। जैनागमो मे 'योगसाधना के अर्थ मे 'ध्यान' शब्द का प्रयोग हुआ है। जिसका अभिप्राय है अपने योगो को 'आत्मचिन्तन मे प्रवृत्त करना'। इसमे कायिक स्थिरता के साथ-साथ मन और वचन को भी स्थिर किया जाता है। जब मन चिन्तन मे सलग्न हो जाता है, तब उसे यथार्थ में 'ध्यान' एव 'साधना' कहते हैं।

---

१ उत्तराध्ययन २६।२५-२६।
२ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग। —तत्त्वार्थ० १।१
३ मोक्षोपायो योग ज्ञान-श्रद्धान-चरणात्मक। —अभिधानचिन्ता० १।७७
४ युजृपी योगे—हेमचन्द्र धातुपाठ—गण ७
५ युजिच समाधौ ,, ,, —गण ४
६ मोक्खेण जोयणाओ जोगो —योगविंशिका १
७ मोक्षेण योजनादेव। योगो ह्यत्र निरुच्यते —द्वात्रिंशिका।
८ अध्यात्मभावनाध्यान समतावृत्ति सक्षय।
मोक्षेण योजनाद्योग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम् ॥ —योगबिन्दु ३१ ॥
६ योगविंशिका—१ (व्याख्या)
१० दुगमित्थ कम्मजोगो, तहा तिय नाणजोगो उ—योगविंशिका २
११ ट्ठाणुन्नत्थालबण-रहिओ त तम्हि पचहाएसो— ,, २
१२ प्रात स्नानोपवासादिकायक्लेशविधि विना।
एकाहार निराहार यामन्ते च न कारयेत ॥ —घेरण्ड स० ५।३० ॥
१३ आवश्यकनिर्युक्तिपत्र-२३६।३०० ॥
१४ (क) दशवैका०—८
(ख) मिताहार विना यस्तु योगारम्भ तु कारयेत।
नाना रोगो भवेत्तस्य कश्चित् योगो न सिध्यति ॥ —घेरण्ड स० ५।१६।
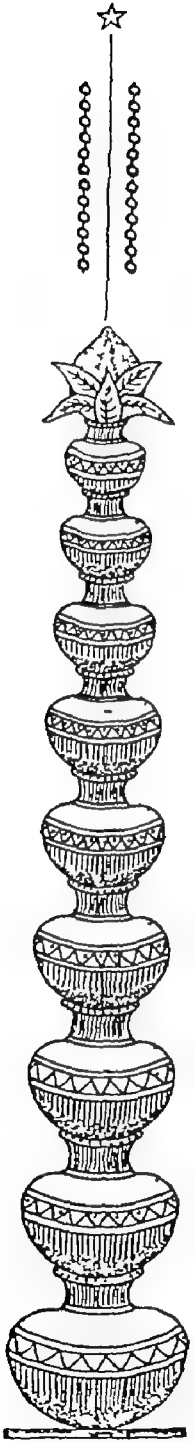
१५ औपपातिक० तपोऽधिकार।
१६ वही।
१७ अगुष्ठाम्यामवष्टम्य धरा गुल्फे च खेगतौ।
तत्रोपरि गुद न्यस्य विधेयमुत्कटासनम् ॥
१८ ठाणाग०, उत्तरा० ३०।२७
१९ औपपातिक तपोऽधिकार।
२० सुस्साणे सुन्नगारे वा रुक्खमूले वा एगओ। —औपपा० तपोऽधिकार।
२१ स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्ता, ध्यानात्स्वाध्यायमामनेत्।
ध्यानस्वाध्यायसम्पत्या परमात्मा प्रकाशते। —सम०
२२ सज्झाएण नाणावरणिज्ज कम्म खवेइ —उत्तरा० २९।१८
२३ एगग्गमणसन्निवेसणाए ण चित्तनिरोह करेइ —उत्तरा० २९।२५
२४ एकाग्रचिन्तायोगनिरोधो वा ध्यानम्—जैन सिद्धान्तदीपिका ॥
२५ समवायाग-१४।
२६ धर्मध्यान भवत्यत्र मुख्यवृत्या जिनोदितम्।
रूपातीत तथा शुक्लमपि स्यादशमाग्रत ॥ —गुणस्थान क्रमारोह-३५ ॥
२७ गुणस्थान क्रमारोह ५१ तथा ७४
२८ वही-१०१
२९ वही-१०५
३० क्षपक श्रेणिपरगत स समर्थ सर्वकर्मिणा कर्म।
क्षपयितुमेको यदि कर्मसक्रम स्यात्परकृतस्य ॥ —प्रशमरति० २६४ ॥
३१ पढम पोरिसिं सज्झाय, बीय झाण झियायइ। तइयाए भिक्खायरिय, पुणोचउत्थीए सज्झाय। —उत्तरा० २६।१२ ॥
३२ पढम पोरिसिं सज्झाय, बीय झाण झियायइ। तइयाए निद्दमोक्ख तु, चउत्थी भुज्जो वि सज्झाय ॥
—उत्तरा० २६।१८॥
३३ आचाराग, सूत्रकृताग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि।
३४ अट्ठपवयणमायाओ, समीए गुत्ती तहेव य।
पचेव य समिईओ तओ गुत्ती उ आहिया ॥ —उत्तरा० २४।१ ॥

> साधक का साध्य-मोक्ष है। मोक्ष प्राप्ति का उपाय-साधन-योग है। आत्मा से परमात्मा के रूप में मिलन की प्रक्रिया (—योग) पर जैन मनीषियों के चिन्तन का तुलनात्मक अध्ययन यहाँ प्रस्तुत है।

☐ विद्यामहोदधि डा० छगनलाल शास्त्री
[एम० ए०, हिन्दी, संस्कृत व जैनोलोजी, स्वर्णपदक समाहृत, पी एच० डी० काव्यतीर्थ]

जैन योग . उद्‌गम, विकास, विश्लेषण, तुलना

☐

चरम ध्येय

भारतीय दर्शनों का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है। दुःखों की ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक निवृत्ति को मोक्ष कहा गया है। मोक्ष शब्द, जिसका अर्थ छुटकारा है, से यह स्पष्ट है। यदि गहराई में जायें तो इसकी व्याख्या में थोड़ा अन्तर भी रहा है, ऐसा प्रतीत होता है। कुछ दार्शनिकों ने दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति के स्थान पर शाश्वत तथा सहज सुख-लाभ को मोक्ष कहा है।

इस प्रकार के सुख की प्राप्ति होने पर दुःखों की आत्यन्तिक और ऐकान्तिक निवृत्ति स्वयं सध जाती है। वैशेषिक, नैयायिक, सांख्य, योग और बौद्ध दर्शन प्रथम पक्ष के समर्थक हैं और वेदान्त तथा जैन दर्शन दूसरे पक्ष के। वेदान्त दर्शन में ब्रह्म को सच्चिदानन्द स्वरूप माना है, इसलिए अविद्यावच्छिन्न ब्रह्म-जीव में अविद्या के नाश द्वारा नित्य सुख की अभिव्यक्ति ही मोक्ष है। जैन दर्शन में भी आत्मा को अनन्त सुख-स्वरूप माना है, अतः स्वाभाविक सुख की अभिव्यक्ति ही उसका अभिप्रेत है, जो उसका मोक्ष के रूप में अन्तिम लक्ष्य है।

ध्येय साधना-पथ

मोक्ष प्राप्ति के लिए विभिन्न दर्शनों ने अपनी-अपनी दृष्टि से ज्ञान, चिन्तन, मनन, अनुशीलन, निदिध्यासन, तदनुकूल आचरण या साधना आदि के रूप में एक व्यवस्था-क्रम दिया है, जिसका अपना-अपना महत्त्व है। उनमें महर्षि पतञ्जलि का योग दर्शन एक ऐसा क्रम देता है, जिसकी साधना या अभ्यास-सरणि बहुत ही प्रेरक और उपयोगी है। यही कारण है, योग मार्ग को सांख्य, न्याय, वैशेषिक आदि के अतिरिक्त अन्यान्य दर्शनों ने भी बहुत कुछ स्वीकार किया है। यों कहना अतिरंजन नहीं होगा कि किसी न किसी रूप में सभी प्रकार के साधकों ने योग निरूपित अभ्यास का अपनी अपनी परम्परा, बुद्धि, रुचि और शक्ति के अनुरूप अनुसरण किया है, जो भारतीय संस्कृति और विचार-दर्शन के समन्वयमूलक झुकाव का परिचायक है।

जैन परम्परा और योग-साहित्य

भारतीय चिन्तन-धारा वैदिक, बौद्ध और जैन वाङ्मय की त्रिवेणी के रूप में बही है। वैदिक ऋषियों, बौद्ध-मनीषियों, जैन तीर्थंकरों और आचार्यों ने अपनी निःसंग साधना के फलस्वरूप ज्ञान के वे दिव्यरत्न दिये हैं, जिनकी आभा कभी धुंधली नहीं होगी। तीनों ही परम्पराओं में योग जैसे महत्त्वपूर्ण, व्यावहारिक और विकास-प्रक्रिया से सम्बद्ध विषय पर उत्कृष्ट कोटि का साहित्य रचा गया।

यद्यपि बौद्धों की धार्मिक भाषा पालि, जो मागधी प्राकृत का एक रूप है तथा जैनों की धार्मिक भाषा अर्द्ध-मागधी[1] और शौरसेनी[2] प्राकृत रही है पर दोनों का लगभग सारा का सारा दर्शन सम्बन्धी साहित्य संस्कृत में लिखा

गया है। गम्भीरतापूर्ण विशाल भाव-राशि को संक्षिप्ततम शब्दावली मे अत्यन्त स्पष्टता और प्रभावशालिता के साथ व्यक्त करने की संस्कृत की अपनी अनूठी क्षमता है। दोनो परम्पराओ मे योग पर भी प्राय अधिकाश रचनाएँ संस्कृत-भाषा मे ही हुई।

जैन योग पर लिखने वाले मुख्यत चार आचार्य हैं—हरिभद्र, हेमचन्द्र, शुभचन्द्र और यशोविजय। ये चारो विभिन्न विषयो के प्रौढ विद्वान् थे, जो इन द्वारा रचित ग्रन्थों से प्रकट है।

आचार्य हरिभद्र (ई० ८वी शती) ने योग पर संस्कृत मे योगबिन्दु और योगदृष्टि समुच्चय, आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र, आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव तथा उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्म-सार, अध्यात्मोपनिषद् व सटीक द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिकाओ की रचना की है। आचार्य हेमचन्द्र का समय ई० १२वीं शती है। आचार्य शुभचन्द्र भी इसी आसपास के हैं। उपाध्याय यशोविजय का समय १८वी ई० शती है।

आचार्य हरिभद्र ने प्राकृत भाषा मे भी योग पर योगशतक और योग विंशिका नामक दो पुस्तकें लिखी। उनका संस्कृत मे रचित षोडशक प्रकरण भी प्रसिद्ध है जिसके कई अध्यायो मे उन्होने योग के सम्बन्ध मे विवेचन किया। उपाध्याय यशोविजय ने आचार्य हरिभद्र रचित योग विंशिका तथा षोडशक पर संस्कृत मे टीकाएँ लिखकर प्राचीन गूढ तत्त्वों का बड़ा विशद विश्लेषण किया इतना ही नही उन्होने पतञ्जलि के योगसूत्र पर भी एक छोटी-सी वृत्ति लिखी। कलेवर मे छोटी होने पर भी तात्त्विक दृष्टि से उसका बड़ा महत्त्व है।

योगसार नामक एक और ग्रन्थ भी श्वेताम्बर जैन साहित्य में उपलब्ध है, जिसके रचयिता का उसमे उल्लेख नही है। उसमे प्रयुक्त दृष्टान्त आदि से अनुमित होता है कि आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र के आधार पर ही किसी श्वेताम्बर जैन आचार्य ने उसकी रचना की हो।

जैन तत्त्वज्ञान का मुख्य स्रोत अर्द्ध मागधी प्राकृत मे ग्रथित अग, उपाग, मूल, छेद, चूलिका एव प्रकीर्णक सूत्र हैं।

इन आगम-सूत्रो पर प्राकृत तथा संस्कृत मे निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका आदि के रूप मे व्याख्या और विश्लेषणमूलक साहित्य निर्मित हुआ। संस्कृत-प्राकृत के मिश्रित रूप के प्रयोग की जैनों मे विशेष परम्परा रही है, जिसे वे 'मणि-प्रवाल' न्याय के नाम से अभिहित करते हैं। आचार्य भूतबलि और पुष्पदत्त (लगभग प्रथम-द्वितीय शती) द्वारा रचित षट् खण्डागम पर ई० ८वी ६वी शती मे वीरसेन और जिनसेन ने इसी शैली मे (मणि-प्रवाल न्याय से) संस्कृत प्राकृत-मिश्रित धवला नामक अतिविशाल व्याख्या लिखी।

मूल आगम और उन पर रचित उपयुक्त निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि आदि व्याख्या साहित्य मे जैन दर्शन के विभिन्न अगो पर हमें विशद और विस्तृत निरूपण उपलब्ध है। योग के सम्बन्ध में मूल आगमो में सामग्री तो प्राप्त है और पर्याप्त भी, पर है विकीर्णरूप में। व्याख्या-ग्रन्थो मे यत्र-तत्र उसका विस्तार है, जो मननीय है। पर वह सामग्री क्रमबद्ध या व्यवस्थित नही है। जिस प्रसग मे जो विवेचन अपेक्षित हुआ, वह कर दिया गया और उसे वहीं छोड दिया गया।

ई० ६ठी ७वी शती में जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण एक बहुत ही समर्थ और आगम-कुशल विद्वान हुए। उनका 'विशेषावश्यक भाष्य' नामक ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। उसमे अनेक स्थानो पर योग सम्बन्धी विषयो का विवेचन है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण की 'समाधि-शतक' नामक एक और पुस्तक भी है, जो योग से सम्बद्ध है। पर उन्होंने आगम और निर्युक्ति आदि मे वर्णित विषय से कुछ अधिक नही कहा है। शैली भी आगमिक जैसी है।

साधक-जीवन के लिए अत्यन्त अपेक्षित योग जैसे महत्त्वपूर्ण विषय पर जैन परम्परा में सबसे पहले व्यवस्थित रूप में सामग्री उपस्थित करने वाले आचार्य हरिभद्र सूरि हैं। जैन साधक के जीवन का मूल वैचारिक आधार जैन आगम हैं। आचार्य हरिभद्र ने जैन आगम-गत योग-विषयक तत्त्व तो दृष्टि मे रखे ही, साथ ही साथ इस सम्बन्ध में अपना मौलिक चिन्तन भी दिया।

आचार्य शुभचन्द्र और हेमचन्द्र के माध्यम से वह परम्परा और आगे बढ़ी। इन दोनो आचार्यों के आदर्श एकमात्र आचार्य हरिभद्र नहीं थे। इनकी अपनी सरणि थी। फिर भी हरिभद्र के विचारो की जहाँ उन्हें उपयोगिता लगी, उन्होंने रुचिपूर्वक उन्हें ग्रहण किया। हेमचन्द्र और शुभचन्द्र यद्यपि जैन परम्परा के श्वेताम्बर और दिगम्बर दो भिन्न सम्प्रदायो से सम्बद्ध थे, पर योग के निरूपण मे दोनों एक दूसरे से काफी प्रभावित प्रतीत होते हैं।
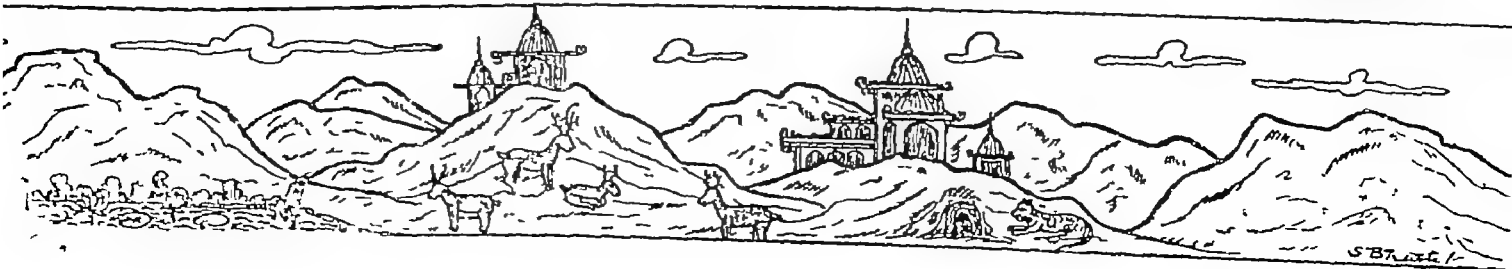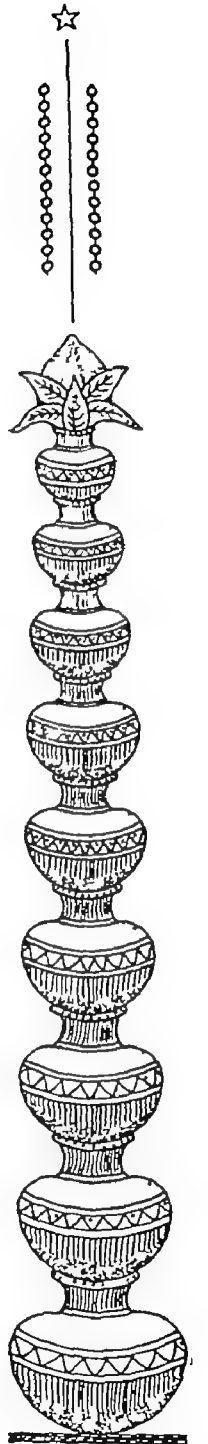
उपाध्याय यशोविजय, जो अपने समय के बहुत अच्छे विद्वान थे, उन्होंने जैन योग की परम्परा को और अधिक पल्लवित तथा विकसित किया।

पतञ्जलि का अष्टांग योग तथा जैन योग-साधना

"योगश्चित्तवृत्ति निरोध"³—चित्त की वृत्तियों का सम्पूर्णत निरोध योग है, यह पतञ्जलि की परिभाषा है। वस्तुत चित्त वृत्तियाँ ही ससार है, बन्धन है। जब तक वृत्तियाँ सवथा निरुद्ध नही हो पाती, आत्मा को अपना शुद्ध स्वरूप विस्मृत रहता है। उसे मिथ्या सत्य जैसा प्रतीत होता है। यह प्रतीति ध्वस्त हो जाय, आत्मा अपना शुद्ध स्वरूप अधिगत करले, अथवा दूसरे शब्दो मे अविद्या का आवरण क्षीण हो जाय, आत्मा परमात्म-स्वरूप बन जाय यही साधक का चरम ध्येय है। यही बन्धन से छुटकारा है। यही सत्‌चित् आनन्द की प्राप्ति है।

इस स्थिति को पाने के लिए चैतसिक वृत्तियो को सवथा रोक देना, मिटा देना आवश्यक है। इस आवश्यकता की पूर्ति का मार्ग योग है। महर्षि पतजलि ने योग के अगो का निम्नाकित रूप में उल्लेख किया। "यम नियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।"⁴ अर्थात यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणाध्यान तथा समाधि—पतञ्जलि ने योग के ये आठ अग बताये है। इनका अनुष्ठान करने से चैतसिक मल अपगत हो जाता है। फलत साधक या योगी के ज्ञान का प्रकाश विवेकख्याति तक पहुँच जाता है। दूसरे शब्दो मे उसे बुद्धि, अहकार और इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न आत्मस्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। यही "तदा द्रष्टु स्वरूपेवस्थानम्"⁵ की स्थिति है। तब द्रष्टा केवल अपने स्वरूप मे अवस्थित हो जाता है।

जैन दर्शन के अनुसार केवल ज्ञान, केवल दशन, आत्मिक सुख, क्षायिक सम्यक्त्व आदि आत्मा के मूल गुण हैं, जिन्हें ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय आदि कर्मों ने अवरुद्ध या आवृत्त कर रखा है। आत्मा पर आच्छन्न इन कर्मावरणो के सवथा अपाकरण से आत्मा का शुद्ध स्वरूप प्रकट हो जाता है। उसी परम शुद्ध निरावरण आत्म-दशा का नाम मोक्ष है।

योग-साधना मे आचार्य हरिभद्र का मौलिक चिन्तन

आचार्य हरिभद्रसूरि अपने युग के परम प्रतिभाशाली विद्वान् थे। वे बहुश्रुत थे, समन्वयवादी थे, माध्यस्थ वृत्ति के थे। उनकी प्रतिभा उन द्वारा रचित अनुयोग-चतुष्टयविषयक धर्मसंग्रहणी (द्रव्यानुयोग), क्षेत्रसमास टीका (गणितानुयोग), पञ्चवस्तु, धर्म बिन्दु (चरणकरणानुयोग), समराइच्चकहा (धमकथानुयोग) तथा अनेकान्त जय पताका (न्याय) व भारत के तत्कालीन दर्शन आम्नायो से सम्बद्ध षड्दर्शन समुच्चय आदि ग्रन्थो से प्रगट है।

योग के सम्बन्ध मे जो कुछ उन्होने लिखा, वह केवल जैन-योग साहित्य मे ही नहीं, बल्कि आर्यों की समग्र योग-विषयक चिन्तन-धारा मे एक मौलिक वस्तु है। जैन शास्त्रो में आध्यात्मिक विकास-क्रम का वर्णन चतुर्दश गुणस्थान तथा बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा—इन आत्म-अवस्थाओं आदि को लेकर किया गया है। आचाय हरिभद्र ने उसी अध्यात्म-विकास क्रम को योगरूप मे निरूपित किया है। उन्होंने ऐसा करने मे जिस शैली का उपयोग किया है, वह समवत अब तक उपलब्ध योग विषयक ग्रन्थो मे प्राप्त नही है। उन्होंने इस क्रम को आठ योग दृष्टियो के रूप मे विभक्त किया है। योग दृष्टि समुच्चय मे उन्होंने निम्नाकित प्रकार से आठ दृष्टियाँ बताई हैं—

> "मित्रा¹ तारा² बला³ दीप्रा⁴, स्थिरा⁵ कान्ता⁶ प्रभा⁷ परा⁸।
> नामानि योगदृष्टीना, लक्षण च निबोधत ॥

इन आठ दृष्टियो को आचाय हरिभद्र ने ओघदृष्टि और योग-दृष्टि के रूप में दो भागो मे बाँटा है। ओघ का अर्थ प्रवाह है। प्रवाह-पतित दृष्टि ओघ-दृष्टि है। दूसरे शब्दो मे अनादि ससार-प्रवाह मे ग्रस्त और उसी मे रस लेने वाले भवाभिनन्दी प्रकृत जनो की दृष्टि या लौकिक पदाथ विषयक सामान्य दशन ओघ-दृष्टि है।

योग-दृष्टि ओघ-दृष्टि का प्रतिरूप है। ओघ-दृष्टि जहाँ जागतिक उपलब्धियो को अभिप्रेत मानकर चलती है, वहाँ योग-दृष्टि का प्राप्य केवल बाह्य जगत् ही नहीं आन्तर जगत् भी है। उत्तरोत्तर विकास-पथ पर बढ़ते-बढ़ते अन्तत केवल आन्तर जगत् ही उसका लक्ष्य रह जाता है।

बोध ज्योति की तरतमता की दृष्टि से उन्होने इन आठ[६] दृष्टियो को क्रमश तृण, गोमय व काष्ठ के अग्नि-कणो के प्रकाश, दीपक के प्रकाश तथा रत्न, तारे, सूर्य एव चन्द्रमा की आभा से उपमित किया है। इन उपमानो से ज्योति का क्रमिक वैशद्य प्रकट होता है।

यद्यपि इन आरम्भ की चार दृष्टियो का गुणस्थान प्रथम (मिथ्यात्व) है, पर क्रमश उनमे आत्म-उत्कर्ष और मिथ्यात्व-अपकर्ष बढता जाता है। गुणस्थान की शुद्धिमूलक प्रकर्ष-पराकाष्ठा-तद्गत उत्कर्ष की अन्तिम सीमा चौथी दृष्टि मे प्राप्त होती हैं। अर्थात् मित्रा आदि चार दृष्टियो मे उत्तरोत्तर मिथ्यात्व का परिमाण घटता जाता है और उसके फलस्वरूप उत्पन्न होते आत्म-परिष्कार रूप गुण का परिमाण बढता जाता है। यो चौथी दृष्टि मे मिथ्यात्व की मात्रा कम से कम और शुद्धिमूलक गुण की मात्रा अधिक से अधिक होती है अर्थात् दीप्रा दृष्टि मे कम से कम मिथ्यात्व वाला ऊँचे से ऊचा गुणस्थान होता है। इसके बाद पाचवी-स्थिरा दृष्टि मे मिथ्यात्व का सर्वथा अभाव होता है। सम्यक्त्व प्रस्फुटित हो जाता है। साधक उत्तरोत्तर अधिकाधिक विकास-पथ पर बढता जाता है। अन्तिम (आठवी) दृष्टि मे अन्तिम (चतुर्दश) गुणस्थान-आत्म—विकास की सर्वोत्कृष्ट स्थिति अयोग केवली के रूप मे प्रकट होती है। इन उत्तरवर्ती चार दृष्टियो मे योग-साधना का समग्ररूप समाहित हो जाता है।

योगविंशिका मे योग की परिभाषा

आचार्य हरिभद्र ने प्राकृत मे रचित योगविंशिका नामक अपनी पुस्तक मे योग की व्याख्या निम्नाकित रूप मे की है—

मोक्खेण जोयणाओ, जोगो सव्वो वि धम्मवावारो।
परिसुद्धो विन्नेओ, ठाणाइगओ विसेसेण ॥१॥

सस्कृत छाया—मोक्षेण योजनातो योग सर्वोपि धर्म-व्यापार
परिशुद्धो विज्ञेय स्थानादिगतो विशेषेण ॥

हरिभद्र का आशय यह है कि यह सारा व्यापार साधनोपक्रम, जो साधक को मोक्ष से जोडता है, योग है। उसका क्रम वे उसी पुस्तक की निम्नाकित गाथा मे लिखते हैं—

ठाणुन्नत्थालवणरहिओ, ततम्मि पचहा एसो।
दुगमित्थ कम्मजोगो, तहा तिय नाणजोगो उ ॥२॥

सस्कृत छाया—स्थानोर्णार्थालिम्बन रहितस्तन्त्रेषु पञ्चधा एष ।
द्वयमत्र कर्मयोगस्तथा त्रय ज्ञानयोगस्तु ॥

स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलम्बन और निरालम्बन योग के ये पाँच प्रकार हैं। इनमे पहले दो अर्थात् स्थान और ऊर्ण क्रिया योग के प्रकार हैं और बाकी के तीन ज्ञान योग के प्रकार है।

स्थान का अर्थ—आसन, कायोत्सर्ग, ऊर्ण का अर्थ—आत्मा को योग-क्रिया में जोडते हुए प्रणव प्रभृति मन्त्र-शब्दो का यथा विधि उच्चारण, अर्थ-ध्यान और समाधि आदि के प्रारम्भ मे बोले जाने वाले मन्त्र आदि। तत्सम्बद्ध शास्त्र उनकी व्याख्याएँ—आदि मे रहे परमार्थ एव रहस्य का अनुचिन्तन, आलम्बन—बाह्य प्रतीक का आलम्बन लेकर ध्यान करना, निरालम्बन—मूर्तद्रव्य बाह्य प्रतीक के आलम्बन के बिना निर्विकल्प, चिन्मात्र, सच्चिदानन्दस्वरूप का ध्यान करना।

हरिभद्र द्वारा योग विंशिका में दिये गयें इस विशेष क्रम के सम्बन्ध मे यह इगित मात्र है, जिस पर विशद गवेषणा की आवश्यकता है।

जैन वाङ्मय मे योग-साधना के रूप आचार्य हेमचन्द्र प्रभृति विद्वानों की देन

आचार्य हेमचन्द्र ने योग की परिभाषा निम्नांकित रूप से की है—

चतुर्वर्गेऽग्रणी मोक्षो योगस्तस्य च कारणम्।
ज्ञान-श्रद्धान चारित्ररूप रत्नत्रय च स ॥[७]
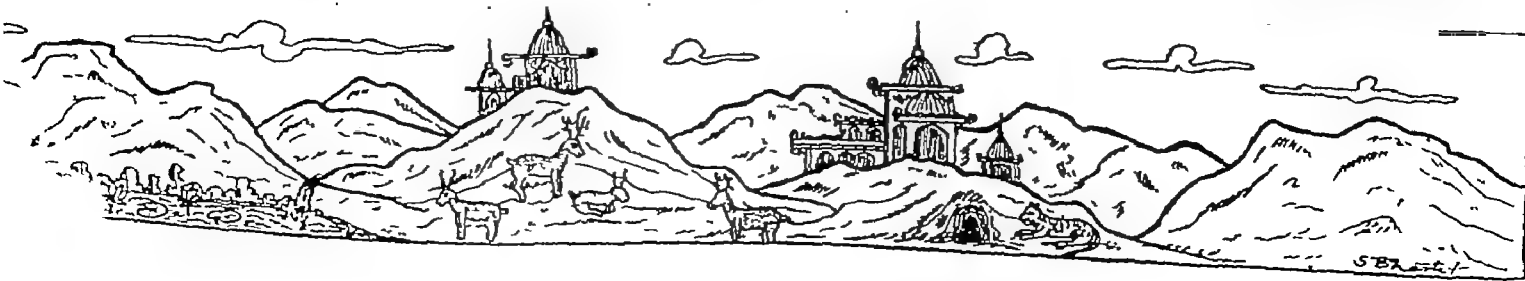
धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों मे मोक्ष अग्रणी या मुख्य है। योग उस (मोक्ष) का कारण है अर्थात् योग-साधना द्वारा मोक्ष लभ्य है। सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् चारित्र्य रूप रत्नत्रय ही योग है। ये तीनो जिनसे सधते हैं, वे योग के अग हैं। उनका आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योग शास्त्र के बारह प्रकाशो मे वर्णन किया है।

योग के अग

महर्षि पतञ्जलि ने योग के जो आठ अग माने है, उनके समकक्ष जैन परम्परा के निम्नांकित तत्त्व रखे जा सकते हैं—

१ यम	महाव्रत
२ नियम	योग-सग्रह
३ आसन	स्थान, काय-क्लेश
४ प्राणायाम	भाव प्राणायाम
५ प्रत्याहार	प्रतिसलीनता
६ धारणा	धारणा
७ ध्यान	ध्यान
८ समाधि	समाधि

महाव्रतो के वही पाँच नाम हैं, जो यमो के हैं। परिपालन की दृष्टि से महाव्रत के दो रूप होते हैं—महाव्रत, अणुव्रत। अहिंसा आदि का निरपवाद रूप मे सम्पूर्ण परिपालन महाव्रत हैं, जिनका अनुसरण श्रमणो के लिए अनिवार्य है। जब उन्ही का पालन कुछ सीमाओ या अपवादो के साथ किया जाता है, तो वे अणु अपेक्षाकृत छोटे व्रत कहे जाते हैं। स्थानाग (५/१) समवायाग (२५) आवश्यक, आवश्यक निर्युक्ति आदि मे इस सम्बन्ध मे विवेचन प्राप्त है।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र के प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय प्रकाश मे व्रतो का विस्तृत वर्णन किया है। गृहस्थो द्वारा आत्म-विकास हेतु परिपालनीय अणुव्रतो का वहाँ बडा मार्मिक विश्लेषण हुआ है। जैसाकि वर्णन प्राप्त है, आचार्य हेमचन्द्र ने गुर्जरेश्वर कुमारपाल के लिए योग-शास्त्र की रचना की थी। कुमारपाल साधना-परायण जीवन के लिए अति उत्सुक था। राज्य-व्यवस्था देखते हुए भी वह अपने को आत्म-साधना मे लगाये रख सके, उसकी यह भावना थी। अतएव गृहस्थ-जीवन मे रहते हुए भी आत्म-विकास की ओर अग्रसर हुआ जा सके, इस अभिप्रेत से हेमचन्द्र ने गृहस्थ जीवन को विशेषत दृष्टि मे रखा।

आचार्य हेमचन्द्र ऐसा मानते थे कि गृहस्थ मे भी मनुष्य उच्च साधना कर सकता है, ध्यान-सिद्धि प्राप्त कर सकता है। उनके समक्ष उत्तराध्ययन का वह आदर्श था जहाँ "सति एगेहिं भिक्खूहिं गारत्था सजमुत्तरा" इन शब्दो मे त्यागनिष्ठ, सयमोन्मुख गृहस्थो को किन्ही २ साधुओ से भी उत्कृष्ट बताया है। आचार्य शुभचन्द्र ऐसा नही मानते थे। उनका कहना था कि बुद्धिमान और त्याग-सम्पन्न होने पर भी साधक, गृहस्थाश्रम, जो महा दु:खो से भरा है, अत्यन्त निन्दित है, उसमें रहकर प्रमाद पर विजय नहीं पा सकता चञ्चल मन को वश मे नही कर सकता। अत आत्म-शान्ति के लिए महापुरुष गार्हस्थ्य का त्याग ही करते हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने तो और भी कडाई से कहा कि किसी देश विशेष और समय विशेष मे आकाश-कुसुम और गदभ-शृग का अस्तित्व मिल भी सकता है परन्तु किसी काल और किसी भी देश मे गृहस्थाश्रम मे रहते हुए ध्यान-सिद्धि अधिगत करना शक्य नहीं है।

आचार्य शुभचन्द्र ने जो यह कहा है, उसके पीछे उनका जो तात्त्विक मन्तव्य है, वह समीक्षात्मक दृष्टि से विवेच्य है।

सापवाद और निरपवाद व्रत-परम्परा तथा पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित यमो के तरतमात्मक रूप पर विशेषत ऊहापोह किया जाना अपेक्षित है। पतञ्जलि यमो के सार्वभौम रूप को महाव्रत[८] शब्द मे अभिहित करते हैं, जो विशेषत जैन परम्परा से तुलनीय है। योगसूत्र के व्यास-भाष्य मे इसका तल स्पर्शी विवेचन हुआ है।

नियम

यमो के पश्चात् नियम आते हैं। नियम साधक के जीवन मे उत्तरोत्तर परिस्कार लाने वाले साधन है। समवायाग सूत्र के बत्तीसवें समवाय मे योग-सग्रह के नाम से बत्तीस नियमो का उल्लेख है, जो साधक की व्रत-सम्पदा की वृद्धि करने वाले हैं। आचरित अशुभ कर्मों की आलोचना, कष्ट मे धर्म-दृढता, स्वावलम्बी, तप, यश की अस्पृहा, अलोभ, तितिक्षा, सरलता, पवित्रता, सम्यक् दृष्टि, विनय, धैर्य, सवेग, माया-शून्यता आदि का उनमे समावेश है।

पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित नियम तथा समवायाग के योग-सग्रह परस्पर तुलनीय हैं। सब मे तो नही पर, अनेक बातो में इनमे सामजस्य है। योग-सग्रह मे एक ही बात को विस्तार से अनेक शब्दो में कहा गया है। इसका कारण यह है—जैन आगमो मे दो प्रकार के अध्येता बताये गये हैं—सक्षेप-रुचि और विस्तार-रुचि। सक्षेप-रुचि अध्येता बहुत थोड़े मे बहुत कुछ समझ लेना चाहते हैं और विस्तार-रुचि अध्येता प्रत्येक बात को विस्तार के साथ सुनना-समझना चाहते हैं। योग-सग्रह के बत्तीस भेद इसी विस्तार-रुचि-सापेक्ष निरूपण-शैली के अन्तर्गत आते हैं।

आसन

प्राचीन जैन परम्परा मे आसन की जगह 'स्थान' का प्रयोग हुआ है। ओघ निर्युक्ति-भाष्य (१५२) मे स्थान के तीन प्रकार बतलाये गये हैं—ऊर्ध्व-स्थान, निषीदन-स्थान तथा शयन-स्थान।

स्थान का अर्थ गति की निवृत्ति अर्थात् स्थिर रहना है। आसन का शाब्दिक अर्थ है बैठना। पर, वे (आसन) खड़े, बैठे, सोते—तीनो अवस्थाओ मे किये जाते हैं। कुछ आसन खडे होकर करने के हैं, कुछ बैठे हुए और कुछ सोये हुए करने के। इस दृष्टि से आसन शब्द की अपेक्षा स्थान शब्द अधिक अर्थ-सूचक है।

ऊर्ध्व-स्थान—खड़े होकर किये जाने वाले स्थान—आसन ऊर्ध्व-स्थान कहलाते हैं। उनके साधारण, सविचार, सन्निरुद्ध, व्युत्सर्ग, समपाद, एकपाद तथा गृद्धोड्डीन—ये सात भेद हैं।

निषीदन-स्थान—बैठकर किये जाने वाले स्थानों—आसनों को निषीदन-स्थान कहा जाता है। उसके अनेक प्रकार हैं—निषद्या, वीरासन, पद्मासन, उत्कटिकासन, गोदोहिका, मकरमुख, कुक्कुटासन आदि।

आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र मे चतुर्थ प्रकाश के अन्तर्गत पर्यंकासन, वीरासन, वज्रासन, पद्मासन, भद्रासन, दण्डासन, उत्कटिकासन या गोदोहासन व कायोत्सर्गासन का उल्लेख किया है।

आसन के सम्बन्ध मे हेमचन्द्र ने एक विशेष बात कही है—जिस-जिस आसन के प्रयोग से साधक का मन स्थिर बने, उसी आसन का ध्यान के साधन के रूप में उपयोग किया जाना चाहिए।

हेमचन्द्र के अनुसार अमुक आसनो का ही प्रयोग किया जाय, अमुक का नही, ऐसा कोई निबन्धन नही है।

पातञ्जल योग के अन्तर्गत तत्सम्बद्ध साहित्य जैसे शिवसहिता, घेरण्डसहिता, हठयोगप्रदीपिका आदि ग्रन्थो मे आसन, बन्ध, मुद्रा, षट्कर्म, कुम्भक, रेचक, पूरक आदि बाह्य योगागो का अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णन किया गया है।

काय-क्लेश

जैन-परम्परा मे निर्जरा[१०] के बारह भेदो[११] मे पाँचवाँ काय-क्लेश है। काय-क्लेश के अन्तर्गत अनेक दैहिक स्थितियाँ भी आती हैं तथा शीत, ताप आदि को समभाव से सहना भी इसमे सम्मिलित है। इस उपक्रम का काय-क्लेश नाम सम्भवत इसलिए दिया गया है कि दैहिक दृष्टि से जन-साधारण के लिए यह क्लेश कारक है। पर, आत्म-रत साधक, जो देह को अपना नही मानता, जो क्षण-क्षण आत्माभिरुचि में सलग्न रहता है, ऐसा करने मे कष्ट का अनुभव नहीं करता। औपपातिक सूत्र के बाह्य तप प्रकरण मे तथा दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र की सप्तम दशा मे इस सम्बन्ध मे विस्तृत विवेचन है।

प्राणायाम

जैन आगमो मे प्राणायाम के सम्बन्ध में विशेष वर्णन नही मिलता। जैन मनीषी, शास्त्रकार इस विषय मे उदासीन से प्रतीत होते हैं। ऐसा अनुमान है, आसन और प्राणायाम को उन्होंने योग का बाह्याग मात्र माना, अन्तरग
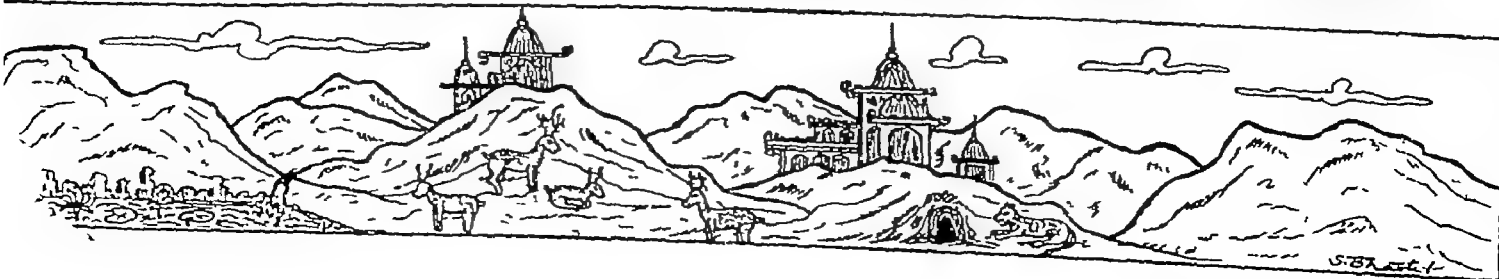
नही । वस्तुत ये हठयोग के ही मुख्य अग हो गये । (लगभग छठी शती के पश्चात्) भारत मे एक ऐसा समय आया, जब हठयोग का अत्यन्त प्राधान्य हो गया । वह केवल साधन नही रहा, साध्य वन गया । तभी तो हम देखते हैं, घेरण्ड-सहिता मे आसनो को चौरासी से लेकर चौरासी लाख तक पहुँचा दिया गया ।

हठयोग की अतिरजित स्थिति का खण्डन करते हुए योगवासिष्ठकार ने लिखा है—

इस प्रकार की (चिन्तन-मननात्मक) युक्तियो—उपायो के होते हुए भी जो हठयोग द्वारा अपने मन को नियन्त्रित करना चाहते हैं, वे मानो दीपक को छोडकर (काले) अजन से अन्धकार को नष्ट करना चाहते हैं ।

जो मूढ हठयोग द्वारा अपने चित्त को जीतने के लिए उद्यत हैं, वे मानो मृणाल-तन्तु से पागल हाथी को बाँध लेना चाहते हैं ।"[१२]

आचार्य हेमचन्द्र और शुभचन्द्र ने प्राणायाम का जो विस्तृत वर्णन किया है, वह हठयोग-परम्परा से प्रभावित प्रतीत होता है ।

भाव-प्राणायाम

कुछ जैन विद्वानो ने प्राणायाम को भाव-प्राणायाम के रूप मे नई शैली से व्याख्यात किया है । उनके अनुसार बाह्य भाव का त्याग-रेचक, अन्तर्भाव की पूर्णता—पूरक तथा सममाव मे स्थिरता कुम्भक है । श्वास प्रश्वास मूलक अभ्यास-क्रम को उन्होंने द्रव्य (बाह्य) प्राणायाम कहा । द्रव्य-प्राणायाम की अपेक्षा भाव-प्राणायाम आत्म दृष्ट्या अधिक उपयोगी है, ऐसा उनका अभिमत था ।

प्रत्याहार

महर्षि पतञ्जलि ने प्रत्याहार की व्याख्या करते हुए लिखा है—

"अपने विषयो के सम्बन्ध से रहित होने पर इन्द्रियो का चित्त के स्वरूप मे तदाकार-सा हो जाना प्रत्याहार है ।"[१३]

जैन-परम्परा मे निरूपित प्रतिसलीनता को प्रत्याहार के समकक्ष रखा जा सकता है । प्रतिसलीनता जैन वाङ्मय का अपना पारिभाषिक शब्द है । इसका अर्थ है—अशुभ प्रवृत्तियो से शरीर, इन्द्रिय तथा मन का सकोच करना । दूसरे शब्दो मे इसका तात्पर्य अप्रशान्त से अपने को हटाकर प्रशस्त की ओर प्रयाण करना है । प्रतिसलीनता के निम्नाकित चार भेद हैं—

१ इन्द्रिय-प्रतिसलीनता—इन्द्रिय-सयम ।
२ मन प्रतिसलीनता—मन -सयम ।
३ कषाय-प्रतिसलीनता—कषाय-सयम ।
४ उपकरण-प्रतिसलीनता—उपकरण-सयम ।

स्थूल रूपेण प्रत्याहार तथा प्रतिसलीनता मे काफी दूर तक समन्वय प्रतीत होता है । पर दोनो के आभ्यन्तर रूप की सूक्ष्म गवेषणा अपेक्षित है, जिससे तद्गत तत्त्वो का साम्य, सामीप्य अथवा पार्थक्य आदि स्पष्ट हो सकें । औपपातिक सूत्र बाह्य तप अधिकार तथा व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र (२५-७-७) आदि मे प्रतिसलीनता का विवेचन है । निर्युक्ति, चूर्णि तथा टीका-साहित्य मे इसका विस्तार है ।

धारणा, ध्यान, समाधि

धारणा, ध्यान, समाधि—ये योग के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अग हैं । पातञ्जल व जैन—दोनो योग-परम्पराओ मे ये नाम समान रूप मे प्राप्त होते हैं । आचार्य हरिभद्र, हेमचन्द्र, शुभचन्द्र, यशोविजय आदि विद्वानो ने अपनी-अपनी शैली द्वारा इनका विवेचन किया है ।

धारणा के अर्थ मे एकाग्र मन सन्निवेशना शब्द भी प्रयुक्त हुआ है । धारणा आदि इन तीन अगों का अत्यधिक महत्त्व इसलिए है कि योगी इन्ही के सहारे उत्तरोत्तर दैहिकता से छूटता हुआ आत्मोत्कर्ष की उन्नत भूमिका पर आरूढ़
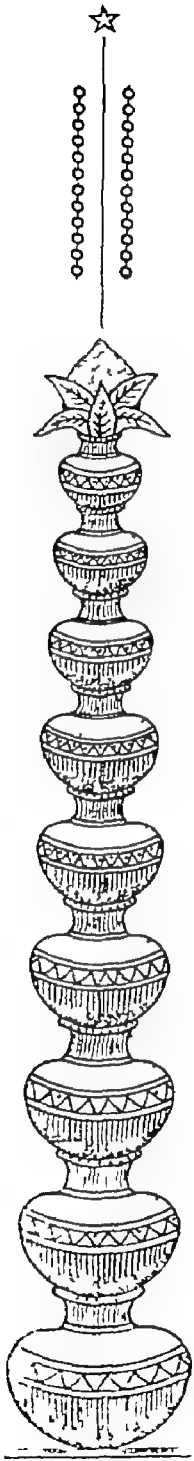
होता जाता है। प्रश्न व्याकरण सूत्र के सम्वर द्वार तथा व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र के पच्चीसवें शतक के सप्तम उद्देशक आदि अनेक आगमिक स्थलों में ध्यान आदि का विशद विश्लेषण हुआ है।

महर्षि पतञ्जलि ने बाहर—आकाश, सूर्य, चन्द्र आदि, शरीर के भीतर नाभिचक्र, हृत्कमल आदि मे से किसी एक देश मे चित्त-वृत्ति लगाने को धारणा[१४] कहा है। उसमे—ध्येय-वस्तु मे वृत्ति की एकतानता अर्थात् उसी वस्तु मे चित्त का एकाग्र हो जाना ध्यान[१५] है। जब केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीति हो तथा चित्त का अपना स्वरूप शून्य जैसा हो जाय, तब वह ध्यान समाधि[१६] हो जाता है। धारणा, ध्यान और समाधि का यह सक्षिप्त वर्णन है। भाष्यकार व्यास ने इनका बड़ा विस्तृत तथा मार्मिक विवेचन किया है।

आन्तरिक परिष्कृति, आध्यात्मिक विशुद्धि के लिए जैन साधना मे भी ध्यान का बहुत बडा महत्त्व रहा है। अन्तिम तीर्थंकर महावीर का अन्यान्य विशेषणो के साथ एक विशेषण ध्यान-योगी भी है। आचाराग सूत्र के नवम अध्ययन मे जहाँ भगवान महावीर की चर्या का वर्णन है, वहाँ उनकी ध्यानात्मक साधना का भी उल्लेख है। विविध आसनो से विविध प्रकार से, नितान्त असग भाव से उनके ध्यान करते रहने के अनेक प्रेरक प्रसग वहाँ वर्णित है। एक स्थान पर लिखा गया है कि वे सोलह दिन-रात तक सतत ध्यानशील रहे। अतएव उनकी स्तवना मे वही पर कहा गया है कि वे अनुत्तर ध्यान के आराधक हैं। उनका ध्यान शख और इन्दु की भाति परम शुक्ल है।

वास्तव मे जैन-परम्परा की जैसी स्थिति आज है, महावीर के समय मे सर्वथा वैसी नही थी। आज लम्बे उपवास, अनशन आदि पर जितना जोर दिया जाता है, उसकी तुलना के मानसिक एकाग्रता, चैतसिक वृत्तियो का नियन्त्रण, ध्यान, समाधि आदि गौण हो गये हैं। फलत ध्यान सम्बन्धी अनेक तथ्यो का लोप हो गया है।

स्थानाग सूत्र अध्ययन चार उद्देशक एक, समवायाग सूत्र समवाय चार, आवश्यक-निर्युक्ति कायोत्सग अध्ययन मे तथा और भी अनेक आगम-ग्रन्थो मे एतत्सम्बन्धी सामग्री पर्याप्त मात्रा मे बिखरी पड़ी है

आचार्य हेमचन्द्र और शुभचन्द्र ने ध्याता की योग्यता व ध्येय के स्वरूप का विवेचन करते हुए ध्येय को पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत—यो चार प्रकार का माना है। उन्होंने पार्थिवी, आग्नेयी, वायवी, वारुणी और तत्त्व भू के नाम से पिण्डस्थ ध्येय की पाँच धारणाएँ बताई हैं, जिनके सम्बन्ध मे ऊहापोह की विशेष आवश्यकता है। इसी प्रकार पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान का भी उन्होंने विस्तृत विवेचन किया है, जिनका सूक्ष्म अनुशीलन अपेक्षित है।

आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र के सप्तम, अष्टम, नवम, दशम और एकादश प्रकाश मे ध्यान का विशद वर्णन है।

धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान, जो आत्म नैर्मल्य के हेतु हैं, का उक्त आचार्यों (हरिभद्र, हेमचन्द्र, शुभचन्द्र) ने अपने ग्रन्थों में सविस्तार वर्णन किया है। ये दोनो आत्मलक्षी हैं। शुक्ल[१७] ध्यान विशिष्ट ज्ञानी साधको के होता है। वह अन्त स्थैर्य या आत्म-स्थिरता की पराकाष्ठा की दशा है। धर्म-ध्यान उससे पहले की स्थिति है, वह शुभ मूलक है। जैन-परम्परा में अशुभ, शुभ और शुद्ध इन तीन शब्दो का विशेष रूप से व्यवहार हुआ है। अशुभ पापमूलक, शुभ पुण्यमूलक तथा शुद्ध पाप-पुण्य से अतीत निरावरणात्मक स्थिति है।

धर्म-ध्यान के चार भेद[१८] हैं—आज्ञा-विचय, अपाय-विचय, विपाक-विचय तथा सस्थान-विचय। स्थानाग, समवायाग, आवश्यक आदि अर्द्धमागधी आगमों में विकीर्ण रूप मे इनका वर्णन मिलता है।

आज्ञा, अपाय, विपाक और सस्थान—ये ध्येय हैं। जैसे स्थूल या सूक्ष्म आलम्बन पर चित्त एकाग्र किया जाता है। वैसे ही इन ध्येय विषयो पर चित्त को एकाग्र किया जाता है। इनके चिन्तन से चित्त की शुद्धि होती है, चित्त निरोध दशा की ओर अग्रसर होता है, इसलिए इनका चिन्तन धर्म-ध्यान कहलाता है।

धर्म-ध्यान चित्त-शुद्धि या चित्त-निरोध का प्रारम्भिक अभ्यास है। शुक्ल-ध्यान मे यह अभ्यास परिपक्व हो जाता है।

मन सहज ही चञ्चल है। विषयो का आलम्बन पाकर वह चञ्चलता बढती जाती है। ध्यान का कार्य उस चचल एव भ्रमणशील मन को शेष विषयो से हटा, किसी एक विषय पर स्थिर कर देना है।

ज्यो-ज्यो स्थिरता बढती है, मन शान्त और निष्प्रकम्प होता जाता है। शुक्ल-ध्यान के अन्तिम चरण मे मन
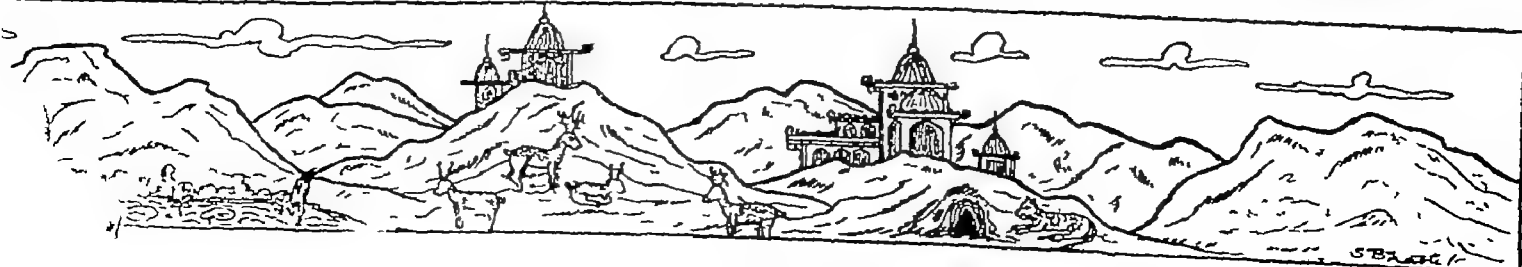
की प्रवृत्ति का पूर्ण निरोध—पूर्ण सम्वर हो जाता है अर्थात् समाधि अवस्था प्राप्त हो जाती है। आचार्य उमास्वाति ने शुक्ल-ध्यान के चार भेद[१९] बतलाये हैं—

१ पृथक्त्व-वितर्क-सविचार, २ एकत्व-वितर्क-अविचार, ३ सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाति, ४ व्युपरत-क्रिया-निवृत्ति।

आचार्य हेमचन्द्र ने शुक्ल-ध्यान के स्वामी, शुक्ल ध्यान का क्रम, फल, शुक्ल ध्यान[२०] द्वारा घाति-अघाति कर्मों का अपचय आदि अनेक विषयो का विश्लेषण किया है, जो मननीय है।

जैन परम्परा के अनुसार वितर्क का अर्थ श्रुतावलम्बी विकल्प है। पूर्वधर-विशिष्ट ज्ञानी मुनि पूर्व श्रुत-विशिष्ट ज्ञान के अनुसार किसी एक द्रव्य का आलम्बन लेकर ध्यान करता है किन्तु उसके किसी एक परिणाम या पर्याय (क्षण-क्षणवर्ती अवस्था विशेष) पर स्थिर नही रहता। वह उसके विविध परिणामो पर सचरण करता है—शब्द से अर्थ पर, अर्थ से शब्द पर तथा मन, वाणी एव देह मे एक दूसरे की प्रकृति पर सक्रमण करता है—अनेक अपेक्षाओ से चिन्तन करता है। ऐसा करना पृथक्त्ववितर्क-शुक्ल-ध्यान है। शब्द, अर्थ, मन, वाक् तथा देह पर सक्रमण होते रहने पर भी ध्येय द्रव्य एक ही होता है, अत उस अश मे मन की स्थिरता बनी रहती है। इस अपेक्षा से इसे ध्यान कहने में आपत्ति नही है।

महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र मे सवितर्क-समापत्ति[२१] (समाधि) का जो वर्णन किया है, वह पृथक्त्व-वितर्क-सविचार शुक्ल ध्यान से तुलनीय है। वहाँ शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनो के विकल्पो से सकीर्ण—मिलित समापत्ति-समाधि को सवितर्क-समापत्ति कहा है। इन (पातञ्जल और जैन योग से सम्बद्ध) दोनो की गहराई मे जाने से अनेक दार्शनिक तथ्य स्पष्ट होंगे।

पूर्वधर विशिष्ट ज्ञानी पूर्वश्रुत—विशिष्ट ज्ञान के किसी एक परिणाम पर चित्त को स्थिर करता है। वह शब्द, अर्थ, मन, वाक् तथा देह पर सक्रमण नही करता। वैसा ध्यान एकत्व विचार-अवितर्क कहा जाता है। पहले मे पृथक्त्व हैं अत वह सविचार है, दूसरे मे एकत्व है अत वह अविचार है। दूसरे शब्दो मे यो कहा जा सकता है कि पहले मे वैचारिक सक्रम है, दूसरे मे असक्रम। आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र[२२] मे इन्हें पृथक्त्व-श्रुत-सविचार तथा एकत्व-श्रुत अविचार के नाम से अभिहित किया है।

महर्षि पतञ्जलि द्वारा वर्णित निर्वितर्क-समापत्ति एकत्व-विचार अवितर्क से तुलनीय है। पतञ्जलि लिखते हैं कि जब स्मृति परिशुद्ध हो जाती है अर्थात् शब्द और प्रतीति की स्मृति लुप्त हो जाती है, चित्तवृत्ति केवल अर्थमात्र का। ध्येय मात्र का निर्भास कराने वाली ध्येय मात्र के स्वरूप को प्रत्यक्ष कराने वाली हो, स्वय स्वरूप-शून्य की तरह बन जाती है, तब वैसी स्थिति निर्वितक समापत्ति के नाम से अभिहित होती है।

यह विवेचन स्थूल ध्येय पदार्थों की दृष्टि से है। जहाँ ध्येय पदार्थ सूक्ष्म हो, वहाँ उक्त दोनो की सज्ञा सविचार और निर्विचार समाधि[२४] है, ऐसा पतञ्जलि कहते हैं।

निर्विचार-समाधि मे अत्यन्त वैशद्य—नैमल्य रहता है, अत योगी को उसमे अध्यात्म-प्रसाद-आत्म-उल्लास प्राप्त होता है। उस समय योगी की प्रज्ञा ऋतम्भरा होती है। ऋतम् का अर्थ सत्य है। वह प्रज्ञा या बुद्धि सत्य को ग्रहण करने वाली होती है। उसमे सशय और भ्रम का लेश भी नहीं रहता। उस ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न सस्कारो के प्रभाव से अन्य सस्कारो का अभाव हो जाता है। अन्तत ऋतम्भरा प्रज्ञा से जनित सस्कारो मे भी आसक्ति न रहने के कारण उनका भी निरोध हो जाता है। यो समस्त सस्कार निरुद्ध हो जाते हैं। फलत ससार के बीज का सवथा अभाव हो जाने से निर्बीज-समाधि-दशा प्राप्त होती है।

इस सम्बन्ध मे जैन दृष्टिकोण कुछ भिन्न है। जैसाकि पहले उल्लेख हुआ है, जैन दशन के अनुसार आत्मा पर जो कर्मावरण छाये हुए हैं, उन्हीं ने उसका शुद्ध स्वरूप आवृत्त कर रखा है। ज्यो-ज्यो उन आवरणों का विलय होता जायेगा, आत्मा की वैभाविक दशा छूटती जायेगी और वह (आत्मा) स्वाभाविक दशा प्राप्त करती जायेगी। आवरणों के अपचय का नाश के जैन दशन में तीन क्रम हैं—क्षय, उपशम और क्षयोपशम। किसी कार्मिक आवरण का सवथा निर्मूल या नष्ट हो जाना क्षय, अवधि-विशेष के लिए मिट जाना या शान्त हो जाना उपशम तथा कम की कतिपय प्रकृतियो का सर्वथा क्षीण हो जाना और कतिपय प्रकृतियों का समय विशेष के लिए शान्त हो जाना क्षयोपशम कहा जाता है। कर्मों के उपशम से जो समाधि-अवस्था प्राप्त होती है, वह सबीज है, क्योंकि वहाँ कर्म-बीज का सवथा उच्छेद

नहीं हुआ है, केवल उपशम हुआ है। कार्मिक आवरणों के क्षय से जो समाधि-अवस्था प्राप्त होती है, वह निर्बीज है, क्योंकि वहाँ कर्म-बीज सम्पूर्णत दग्ध हो जाता है। कर्मों के उपशम से प्राप्त उन्नत दशा फिर अवनत दशा मे परिवर्तित हो सकती है, पर कर्म-क्षय से प्राप्त उन्नत दशा मे ऐसा नही होता।

पातञ्जल और जैन योग के इस पहलू पर गहराई से विचार करने की आवश्यकता है।

कायोत्सर्ग

कायोत्सग जैन परम्परा का एक पारिभाषिक शब्द है। इसका ध्यान के साथ विशेष सम्बन्ध है, कायोत्सर्ग का शाब्दिक अर्थ है—शरीर का त्याग—विसजन। पर जीते जी शरीर का त्याग कैसे समव है? यहाँ शरीर के त्याग का अर्थ है शरीर की चचलता का विसर्जन—शरीर का शिथिलीकरण, शारीरिक ममत्व का विसर्जन—शरीर मेरा है, इस भावना का विसर्जन। ममत्व और प्रवृत्ति मन और शरीर मे तनाव पैदा करते हैं। तनाव की स्थिति मे ध्यान कैसे हो? अत मन को शान्त व स्थिर करने के लिए शरीर को शिथिल करना बहुत आवश्यक है। शरीर उतना शिथिल होना चाहिए, जितना किया जा सके। शिथिलीकरण के समय मन पूरा खाली रहे, कोई चिन्तन न हो, जप भी न हो, यह न हो सके तो ओम् आदि का ऐसा स्वर-प्रवाह हो कि बीच मे कोई अन्य विकल्प आ ही न सके। उत्तराध्ययन सूत्र, आवश्यक-निर्युक्ति, दशवैकालिक-चूर्ण आदि मे विकीर्ण रूप मे एतत्सम्बन्धी सामग्री प्राप्य है। अमितगति-श्रावकाचार और मूलाचार में कायोत्सर्ग के प्रकार, काल-मान आदि पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। कायोत्सर्ग के काल-मान मे उच्छ्वासो की गणना[२५] एक विशेष प्रकार वहाँ वर्णित है, जो मननीय है।

कायोत्सर्ग के प्रसग मे जैन आगमो मे विशेष प्रतिमाओं का उल्लेख है। प्रतिमा अभ्यास की एक विशेष दशा है। भद्रा प्रतिमा, महा भद्रा प्रतिमा, सर्वतोभद्रा प्रतिमा तथा महाप्रतिमा में—कायोत्सर्ग की विशेष दशाओ मे स्थित होकर भगवान महावीर ने ध्यान किया था, जिनका उन उन आगमिक स्थलो मे उल्लेख है, जो महावीर की साधना से सम्बद्ध हैं। स्थानाग सूत्र मे सुभद्रा प्रतिमा का भी उल्लेख है। इनके अतिरिक्त समाधि-प्रतिमा, उपधान-प्रतिमा, विवेक-प्रतिमा, व्युत्सर्ग-प्रतिमा, क्षुल्लिकामोद-प्रतिमा, यवमध्या प्रतिमा, वज्रमध्या प्रतिमा आदि का भी आगम-साहित्य में उल्लेख मिलता है। पर इनके स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ विशेष प्राप्त नही है। प्रतीत होता है, यह परम्परा लुप्त हो गई। यह एक गवेषणा-योग्य विषय है।

आलम्बन, अनुप्रेक्षा, भावना

ध्यान को परिपुष्ट करने के लिए जैन आगमो मे उनके आलम्बन, अनुप्रेक्षा आदि पर भी विचार किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र मे इनकी विशेष चर्चा की है। उदाहरणार्थ—उन्होंने क्षान्ति, मुक्ति, मार्दव तथा आर्जव को शुक्ल-ध्यान का आलम्बन कहा है। अनन्तवृत्तिता अनुप्रेक्षा, विपरिणाम-अनुप्रेक्षा, अशुभ-अनुप्रेक्षा तथा उपाय-अनुप्रेक्षा मे शुक्ल ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ हैं।

ध्यान के लिए अपेक्षित निर्द्वन्द्वता के लिए जैन आगमों में द्वादश भावनाओं का वर्णन है। आचार्य हेमचन्द्र, शुभचन्द्र आदि ने भी उनका विवेचन किया है। वे भावनाएँ निम्नाकित हैं—

अनित्य, अशरण, भव, एकत्व, अन्यत्व, अशौच, आस्रव, सम्वर, निर्जरा, धर्म, लोक एव बोधि-दुर्लभता।

इन भावनाओं के विशेष अभ्यास का जैन परम्परा में एक मनोवैज्ञानिकता पूर्ण व्यवस्थित क्रम रहा है। मानसिक आवेगों को क्षीण करने के लिए भावनाओ के अभ्यास का बडा महत्त्व है।

आलम्बन, अनुप्रेक्षा, भावना आदि का जो विस्तृत विवेचन जैन (योग के) आचार्यों ने किया है, उसके पीछे विशेषत यह अभिप्रेत रहा है कि चित्त-वृत्तियो के निरोध के लिए अपेक्षित निर्मलता, विशदता एव उज्ज्वलता का अन्तर्मन में उद्भव हो सके।

आचार्य हेमचन्द्र का अनुभूत विवेचन

आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र का अन्तिम प्रकाश (अध्याय) उनके अनुभव पर आधृत है। उसका प्रारम्भ करते हुए वे लिखते हैं—

"शास्त्र रूपी समुद्र से तथा गुरु मुख से जो मैंने प्राप्त किया, वह पिछले प्रकाशों (अध्यायों) में मैंने भली-भाँति विवेचित कर ही दिया है। अब, मुझे जो अनुभव से प्राप्त है, वह निर्मल तत्त्व प्रकाशित कर रहा हूँ[20]।"

इस प्रकार से उन्होंने मन का विशेष रूप से विश्लेषण किया है। उन्होंने योगाभ्यास के प्रसंग में विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट तथा सुलीन—यों मन के चार भेद किये हैं। उन्होंने अपनी दृष्टि से इनकी विशद व्याख्या की है। योग-शास्त्र का यह अध्याय साधकों के लिए विशेष रूप से अध्येतव्य है।

हेमचन्द्र ने विविध प्रसंगों में बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा औदासीन्य, उन्मनीभाव, दृष्टि-जय, मनोजय आदि विषयों पर भी अपने विचार उपस्थित किये हैं। बहिरात्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा के रूप में आत्मा के जो तीन भेद किये जाते हैं वे आगमोक्त हैं। विशेषावश्यक भाष्य में इनका सविस्तार वर्णन है।

इस अध्याय में हेमचन्द्र ने और भी अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों की चर्चा की है, जो यद्यपि संक्षिप्त हैं पर विचार-सामग्री की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

करणीय

योग-ध्यान, साधना और अभ्यास के मार्ग का उद्घोषक है। उसकी वैचारिक पृष्ठ-भूमि या तात्त्विक आधार प्रायः सांख्य दर्शन है। अतएव दोनों को मिलाकर सांख्य-योग कहा जाता है। दोनों का सम्मिलित रूप ही एक समग्र दर्शन बनता है, जो ज्ञान और चर्या जीवन के उभय पक्ष का समाधायक है। सांख्य दर्शन अनेक पुरुषवादी है। पुरुष का आशय यहाँ आत्मा से है। जैन दर्शन के अनुसार भी आत्मा अनन्त हैं। जैन दर्शन और सांख्य दर्शन के अनेकात्मवाद पर गवेषणात्मक दृष्टि से गम्भीर परिशीलन वाञ्छनीय है।

इसके अतिरिक्त पातञ्जल योग तथा जैन योग में अनेक ऐसे पहलू हैं, जिन पर गहराई में तुलनात्मक अध्ययन किया जाना चाहिए। क्योंकि इन दोनों परम्पराओं में काफी सामंजस्य है। यह सामंजस्य केवल बाह्य है या तत्त्वतः उनमें कोई ऐसी सूक्ष्म आन्तरिक समन्विति भी है, जो उनका सम्बन्ध किसी एक विशेष स्रोत से जोड़ती हो, यह विशेष रूप से गवेषणीय है।

---

१ श्वेताम्बर जैनों का आगम-साहित्य अर्द्धमागधी प्राकृत में है।

२ दिगम्बर जैनों का साहित्य शौरसेनी प्राकृत में है।

३ योगसूत्र १-२

४ योगसूत्र २, २९

५ योगसूत्र १, ३।

६ तृणगोमयकाष्ठाग्निकण दीपप्रभोपमा।
रत्नताराकचन्द्राभा सद्दृष्टेर्दृष्टिरष्टधा ॥—योगदृष्टि समुच्चय १५

७ योगशास्त्र १, १५

८ जाति देशकाल समयानवच्छिन्ना सार्वभौमा महाव्रतम्।—योगसूत्र २,३१

९ जायते येन येनेह, विहितेन स्थिरं मनः।
तत्तदेव विधातव्यमासनं ध्यानसाधनम् ॥—योगशास्त्र ४-१३४

१० शुभ प्रवृत्ति से होने वाली आत्मा की आंशिक उज्ज्वलता निर्जरा कहलाती है।

११ १ अनशन, २ अनोदरी (अवमौदर्य), ३ भिक्षाचरी, ४ रस-परित्याग, ५ काय-क्लेश, ६ प्रतिसंलीनता, ७ प्रायश्चित्त, ८ विनय, ९ वैयावृत्त्य (सेवा), १० स्वाध्याय, ११ ध्यान, १२ कायोत्सर्ग।

१२ सतीषु युक्तिस्वेतासु, हठान्नियमयन्ति ये।
चेतस्ते दीपमुत्सृज्य, विनिघ्नन्ति तमोऽञ्जनैः ॥
विमूढाः कर्तुमुद्युक्ता, ये हठाच्चेतसो जयम्।
ते निबध्नन्ति नागेन्द्रमुन्मत्तं बिसतन्तुभिः ॥ —योगवासिष्ठ उपशम प्रकरण ९, ३७-३८
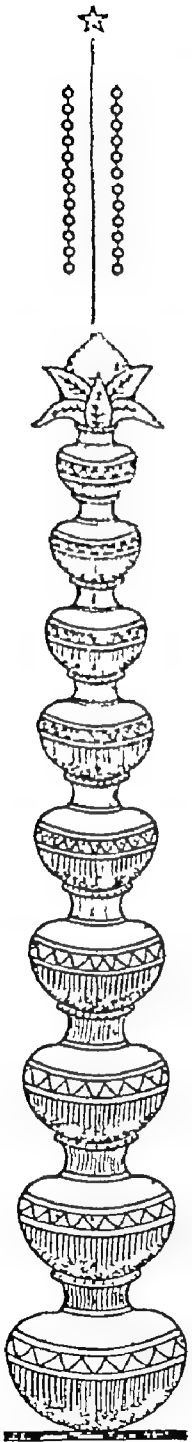
१३ स्वविषया सम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणा प्रत्याहार ।—योगसूत्र २-५४
१४ देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।—योगसूत्र ३, १
१५ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।—योगसूत्र ३, २
१६ तदेवार्थमात्रनिर्भास स्वरूपशून्यमिव समाधि ।—योगसूत्र ३, ३
१७ शुच क्लमयतीति शुक्लम्—शोक ग्लपयतीत्यर्थ ।—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १
१८ आज्ञाऽपायविपाकसस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसयतस्य ।—तत्त्वार्थसूत्र ६ ३७
१९ पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवृतीनि ।—तत्त्वार्थसूत्र ६ ४१
२० आत्मा के मूल गुणो का घात करने वाले ।
२१ तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पै सकीर्णा सवितर्का समापत्ति ।—योगसूत्र १ ४२
२२ ज्ञेय नानात्व श्रुतविचारमैक्य श्रुताविचार च ।
सूक्ष्मक्रियमुत्सन्नक्रियमिति भेदैश्च चतुर्धा तत् ॥ ११५
२३ स्मृति परिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्र निर्भासा निर्वितर्का ।—योगसूत्र १ ४३
२४ एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ।—योगसूत्र १ ४४
२५ अष्टोत्तरशतोच्छ्वास कायोत्सर्गं प्रतिक्रमे ।
सान्ध्ये प्राभातिके चाध-मन्यस्तत्सप्तविंशति ॥
सप्तविंशतिरुच्छ्वासा ससारोन्मूलनक्षमे ।
सन्ति पञ्च नमस्कारे, नवधा चिन्तिते सति ॥—अमितिगति श्रावकाचार ६ ६८-६९
२६ श्रुतसिन्धोर्गुरुमुखतो, यदधिगत तदिह दर्शित सम्यक् ।
अनुभवसिद्धमिदानी, प्रकाश्यते तत्त्वमिदममलम् ॥—योगशास्त्र १२ १

जीवदया दम सच्च अचोरिय बभचेर सतोसे ।
सम्मद्दसण-णाणे तओ य सीलस्स परिवारो ॥

—शीलपाहुड १९

जीव दया, दम, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और तप—यह सब शील का परिवार है। अर्थात् शील-सदाचार के अग हैं।
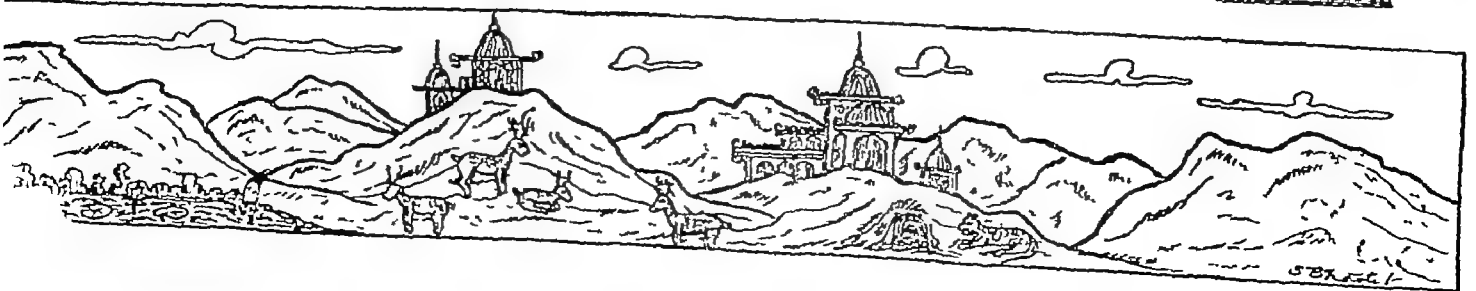
"शास्त्र रूपी समुद्र से तथा गुरु मुख से जो मैंने प्राप्त किया, वह पिछले प्रकाशो (अध्यायो) मे मैंने भली-भाँति विवेचित कर ही दिया है। अब, मुझे जो अनुभव से प्राप्त है, वह निर्मल तत्त्व प्रकाशित कर रहा हूँ।[२०]"

इस प्रकाश मे उन्होंने मन का विशेष रूप से विश्लेषण किया है। उन्होंने योगाभ्यास के प्रसग मे विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट तथा सुलीन—यो मन के चार भेद किये हैं। उन्होने अपनी दृष्टि से इनकी विशद व्याख्या की है। योग-शास्त्र का यह अध्याय साधको के लिए विशेष रूप से अध्येतव्य है।

हेमचन्द्र ने विविध प्रसगो म बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा, औदासीन्य, उन्मनीभाव, दृष्टि-जय, मनो जय आदि विषयो पर भी अपने विचार उपस्थित किये हैं। बहिरात्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा के रूप मे आत्मा के जो तीन भेद किये जाते हैं, वे आगमोक्त ह। विशेषावश्यक भाष्य मे उनका सविस्तार वणन है।

इस अध्याय मे हेमचन्द्र ने और भी अनेक महत्त्वपूण विषयो की चर्चा की है, जा यद्यपि सक्षिप्त है पर विचार-सामग्री की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

करणीय

योग-दशन, साधना और अभ्यास के माग का उद्‌बोधक है। उसकी वैचारिक पृष्ठ भूमि या तात्त्विक आधार प्राय साख्य दर्शन है। अतएव दोनो को मिलाकर साख्य-योग कहा जाता है। दोनो का सम्मिलित रूप ही एक समग्र दर्शन बनता है, जो ज्ञान और चर्या जीवन के उभय पक्ष का समाधायक है। साख्य दर्शन अनेक पुरुषवादी है। पुरुष का आशय यहाँ आत्मा से है। जैन दर्शन के अनुसार भी आत्मा अनेक हैं। जैन दशन और साख्य दर्शन के अनेकात्मवाद पर गवेषणात्मक दृष्टि से गम्भीर परिशीलन वाञ्छनीय है।

इसके अतिरिक्त पातञ्जल योग तथा जैन योग के अनेक ऐसे पहलू है, जिन पर गहराई मे तुलनात्मक अध्ययन किया जाना चाहिए। क्योकि इन दोनो परम्पराओ मे काफी सामजस्य है। यह सामजस्य केवल बाह्य है या तत्त्वत उनमे कोई ऐसी सूक्ष्म आन्तरिक समन्विति भी है, जो उनका सम्बन्ध किसी एक विशेष स्रोत से जोडती हो, यह विशेष रूप से गवेषणीय है।

---

१ श्वेताम्बर जैनो का आगम-साहित्य अर्द्धमागधी प्राकृत मे है।

२ दिगम्बर जैनो का साहित्य शौरसेनी प्राकृत मे है।

३ योगसूत्र १-२

४ योगसूत्र २, २६

५ योगसूत्र १, ३।

६ तृणगोमयकाष्ठाग्निकण दीपप्रभोपमा।
रत्नतारार्कचन्द्राभा सद्दृष्टेर्दृष्टिरष्टधा ॥—योगदृष्टि समुच्चय १५

७ योगशास्त्र १, १५

८ जाति देशकाल समयानवच्छिन्ना सार्वभौमा महाव्रतम्।—योगसूत्र २,३१

९ जायते येन येनेह, विहितेन स्थिर मन।
तत्तदेव विधातव्यमासन ध्यानसाधनम् ॥—योगशास्त्र ४-१३४

१० शुभ प्रवृत्ति से होने वाली आत्मा की आशिक उज्ज्वलता निर्जरा कहलाती है।

११ १ अनशन, २ अनोदरी (अवमौदय), ३ भिक्षाचरी, ४ रस-परित्याग, ५ काय-क्लेश, ६ प्रतिसलीनता, ७ प्राय श्चित्त, ८ विनय, ९ वैयावृत्य (सेवा), १० स्वाध्याय, ११ ध्यान, १२ कायोत्सग।

१२ सतीषु युक्तिस्वेतासु, हठान्नियमयन्ति ये।
चेतस्ते दीपमुत्सृज्य, विनिघ्नन्ति तमोऽञ्जनै ॥
विमूढा कर्तुमुद्युक्ता, ये हठाच्चेतसो जयम्।
ते निबध्नन्ति नागेन्द्रमुन्मत्तं बिसतन्तुभि ॥ —योगवासिष्ठ उपशम प्रकरण ९, ३७-३८

१३ स्वविषया सम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणा प्रत्याहार ।—योगसूत्र २-५४
१४ देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।—योगसूत्र ३, १
१५ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।—योगसूत्र ३, २
१६ तदेवार्थमात्रनिर्भास स्वरूपशून्यमिव समाधि ।—योगसूत्र ३, ३
१७ शुच क्लमयतीति शुक्लम्—शोक ग्लपयतीत्यथ ।—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १
१८ आज्ञाऽपायविपाकसस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसयतस्य ।—तत्त्वार्थसूत्र ९ ३७
१९ पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवृतीनि ।—तत्त्वार्थसूत्र ९ ४१
२० आत्मा के मूल गुणो का घात करने वाले ।
२१ तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पै सकीर्णा सवितर्का समापत्ति ।—योगसूत्र १ ४२
२२ ज्ञेय नानात्व श्रुतविचारमैक्य श्रुताविचार च ।
सूक्ष्मक्रियमुत्सन्नक्रियमिति भेदैश्च चतुर्धा तत् ॥ ११५
२३ स्मृति परिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्र निर्भासा निर्वितर्का ।—योगसूत्र १ ४३
२४ एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ।—योगसूत्र १ ४४
२५ अष्टोत्तरशतोच्छ्वास कायोत्सर्गं प्रतिक्रमे ।
सान्ध्ये प्राभातिके वाध-मन्यस्तत्सप्तविंशति ॥
सप्तविंशतिरुच्छ्वासा ससारोन्मूलनक्षमे ।
सन्ति पञ्च नमस्कारे, नवधा चिन्तिते सति ॥—अमितिगति श्रावकाचार ६ ६८-६९
२६ श्रुतसिन्धोगुरुमुखतो, यदधिगत तदिह दर्शित सम्यक् ।
अनुभवसिद्धमिदानी, प्रकाश्यते तत्त्वमिदममलम् ॥—योगशास्त्र १२ १

जीवदया दम सच्च अचोरिय बमचेर सतोसे ।
सम्मद्दसण-णाणे तओ य सीलस्स परिवारो ॥

—शीलपाहुड १९

जीव दया, दम, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और तप—यह सब शील का परिवार है । अर्थात् शील-सदाचार के अग हैं ।

□ आर्या चन्द्रावती 'जैन सिद्धान्ताचार्य'
[विदुषी लेखिका तथा साधनानिष्ठ श्रमणी]

साधना पथ के दृढव्रती साधक—जैन श्रमण की आचार-विधि का आगम-सम्मत एवं सर्वांगीण-सरल विवेचन विदुषी आर्या चन्द्रावती जी ने यहाँ प्रस्तुत किया है।

श्रमणाचार : एक अनुशीलन

□

आर्य संस्कृति का मौलिक तत्त्व—आचार

आर्य संस्कृति मे एक ऐसा मौलिक महत्त्व है जिसके आधार पर भारत के गौरव की प्राण प्रतिष्ठा हुई है। उसका नाम है 'आचार'। 'आचार' भारत का ऐसा चमचमाता सितारा है जिसकी अत्युज्वल यशोरश्मियाँ विराट्-विश्व मे यत्र-तत्र सर्वत्र परिव्याप्त हो रही हैं। आचार आर्य संस्कृति की महिमा का मूलाधार है, और जन-जीवन की प्रतिष्ठा का प्राण है। आचार के बल पर ही मानव-महामानव एवं आत्मा-परमात्मा के चरमोत्कृष्ट गौरव के गगनचुम्बी शिखर पर चढकर अत्युच्च पद पर प्रतिष्ठित होता है। भारतीय संस्कृति से यदि आचार जैसा मौलिक तत्त्व निकाल दिया जाय तो वह नवनीत-विहीन दुग्धवत निस्सार है, जीवशून्य देहवत मृतक है, एवं अंक रहित शून्यवत शून्य है। 'आचार' ही भारत को जगद्गुरु बनाने की योग्यता का उपहार दिलाने का सर्वथा समर्थ साधन है। इसीलिए महान श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु ने कहा है—अगाण किं सारो—आयारो!—अगो (श्रुतज्ञान) का सार क्या है? आचार!

भारत देश जितना कृषि प्रधान है उतना ही अधिक ऋषि प्रधान भी है। यहाँ जहाँ नीलाचल फहराती अन्न की फसलें झूमती हैं तो वहीं उनके चारो ओर चक्कर लगाती रंग-बिरंगे वसन पहने कोकिल कठी कृषक वधुएँ एवं कृषक कन्याएँ ऋषि-मुनियो की अमर यशोगाथाएँ अपने स्वर्गीय सगीतो से मुखर करती रहती हैं।

विराट् हृदय भारत के पुण्य प्रागण मे अनेक धर्मों की संस्कृतियो का उद्गम, सरक्षण एवं सवर्द्धन हुआ है। जैन, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम, पारसी, सिक्ख इत्यादि। किन्तु शत सहस्र लक्षाधिक धर्म संस्कृतियो मे भारत की अति-प्राचीन एवं अपनी निजि दो मौलिक संस्कृतियाँ हैं एक है श्रमण संस्कृति, दूसरी है ब्राह्मण संस्कृति। दोनो संस्कृतियो मे कही एकरूपता है, तो कहीं अनेकरूपता भी है। फिर भी दोनो एक-दूसरे के समीप हैं। दोनो के तुलनात्मक सशोधन करने मे अतीव-गभीर अध्ययन व श्रम अपेक्षित है। अत यहाँ एकमात्र श्रमण संस्कृति के एक महान् तत्त्व 'श्रमणाचार' पर विवेचन कर रहे हैं।

श्रमण साधना मे आचार का स्थान—परिभाषा व प्रभाव

अध्यात्म विज्ञान के आविष्कार का फल है धर्म और धर्म के आविष्कर्त्ता या सशोधक है धर्म-गुरु। भौतिक-विज्ञान के आविष्कर्त्ता वैज्ञानिक होते हैं और उसका फल है बाहर के जड परिवतन, वायुयान, पखे, रेडियो, सिनेमा, विद्युत, प्रेस, टेलीफोन, टेलिविजन, रेफरीजरेटर इत्यादि लाखो यान्त्रिक साधन भौतिक विज्ञान के प्रतीक हैं। और आत्म-विज्ञान के आविष्कर्त्ता होते हैं धर्म गुरु। जो बाहर के समस्त साधनो को सीमित कर एकमात्र शुद्धात्मा की खोज मे लग जाते हैं। यद्यपि भौतिक विज्ञान एवं आत्म-विज्ञान दोनो का एकमात्र उद्देश्य है सुख, किन्तु दोनो से प्राप्त हुए सुख मे दिन-रात अथवा आकाश पाताल का अन्तर है। एक अशाश्वत है तो दूसरा शाश्वत। एक की प्राप्ति सरक्षण एवं

विनाश। तीनो मे दु ख है, श्रम है, किन्तु दूसरा सहज है और उसकी प्राप्ति भी सरल एव स्वाभाविक है। आत्म-विज्ञान का उद्देश्य भी विश्व की सुख-शान्ति है किन्तु विश्व शान्ति आत्म-शान्ति के बिना असम्भव है। अत धर्मगुरु आत्म-शान्ति के प्रमुख साधन से ही विश्व शान्ति का अमृत झरना प्रवाहित करता है।

विश्व के प्रत्येक धर्मगुरु का जीवन आचार पर अवलम्बित है किन्तु आधुनिक विश्व मे सर्वोत्कृष्ट स्वावलम्बन एव स्वतन्त्रता की कसौटी पर परीक्षण करने पर जैन श्रमण का आचार सर्वोच्च माना जाता है। जैनश्रमण की आचार पद्धति इतनी महान् है कि जन-जन ही नही विश्व-विजेता चक्रवर्ती सम्राट् भी उसके समादर मे सहज नत हो जाता है। श्रमणाचार की परिभाषा से उसका वास्तविक मूल्याकन निर्धारित होता है।

'श्रमण' और 'आचार' इन दोनो शब्दो के समन्वय से श्रमणाचार की निष्पत्ति हुई है। सस्कृत भाषा के अनुसार 'आ' उपसर्गपूर्वक 'चर' धातु से 'आचार' शब्द बनता है उसका तात्पर्य है **'आ-समन्तात् चर्यत इति आचार** "जीवन की प्रत्येक क्रिया मे जो ओतप्रोत हो वह आचार है। उसमे क्या खाना, कैसे खाना ऐसे ही चलना, बोलना, सोना, बैठना, चिन्तन करना इत्यादि जीवन की समस्त आन्तरिक एव बाह्य क्रियाओ का समावेश हो जाता है। आचार से पूर्व इसमें 'श्रमण' शब्द सयुक्त है। श्रमण शब्द की अनेक शास्त्रीय व्याख्याएँ हैं। 'श्रम' शब्द अनेक तात्पर्यों से विभूषित हैं जैसे श्रम, सम, शमन, सुमन, आदि-आदि उसमे एक अर्थ है **"श्राम्यतीति श्रमण"** अर्थात् जो मोक्ष के लिए श्रम पुरुषाथ करता है वह श्रमण है। द्वितीय तात्पर्य है "समता से श्रमण" होता है। "जो शत्रु और मित्र को समान भाव से देखता है वह श्रमण है। जो विश्व के सभी भूत अर्थात् जीवात्माओ को अपनी आत्मा के समान समझकर आत्मवत व्यवहार करता है वह श्रमण है।[1] यही बात वैदिक दशन मे भी है। उत्तराध्ययन सूत्र के उन्नीसवें अध्याय मे श्रमण की बहुत सुन्दर व्याख्या की गई, वह है—"जो लाभ एव हानि मे, सुख व दु:ख मे, जीवन तथा मृत्यु मे निन्दा व प्रशसा मे, मान तथा अपमान मे समभाव रखता है वह श्रमण है। "जो इस लोक मे अनिश्रित है, परलोक मे अनिश्रित है अर्थात् किसी भी आशा तृष्णा के प्रतिबन्ध से मुक्त है तथा जो चन्दन के वृक्ष समान काटे जाने पर भी सौरभ प्रदान करने के समान अपना अहित करने वाले पर भी समभाव की सुधा वर्षाता है तथा भोजन मे भिक्षा देने और नही देने वाले पर भी प्रसन्न रहता है वह श्रमण है।"[2] यह है 'श्रमणाचार' शब्द की एक शास्त्रीय व्याख्या। अब उसके उद्देश्य एव बाह्य अन्तर के आचार पर विविध दृष्टियो से विवेचन किया जावेगा।

श्रमणाचार का शास्त्रीय स्वरूप

श्रमणत्व का जन्म—मानवमात्र कोई जन्मजात श्रमण नही होता किन्तु श्रमणत्व एक साधना विशेष है जिसे समझपूर्वक स्वीकृत किया जाता है। अथवा श्रमण एक विशिष्ट पद विशेष है जिसे पुरुषार्थ से प्राप्त किया जाता है। जैसे एक मानव शिशु-विद्यालय मे प्रविष्ट होकर अपने विशेष श्रम से बी० ए०, एम०ए०, डाक्टर, इन्जिनियर, वैज्ञानिक इत्यादि एक विषय मे निष्णात होकर बाहर आता है, इसी प्रकार श्रमण भी आत्मसाधना के केन्द्र मे प्रवेश करके सर्वोच्च आत्म-विकास की स्थिति को प्राप्त करता है। इसीलिए श्रमण का जन्म माता के गर्भ से नही किन्तु गुरु के समीप होता है जैसे श्रमण भगवान् महावीर प्रभु के समीप गौतम स्वामी सुधर्मा आदि चौदह सहस्र साधको ने श्रमण-दीक्षा स्वीकार की थी। उन साधको के लिए शास्त्रो मे यत्र-तत्र-सर्वत्र 'अणगारे जाए' शब्द प्रयुक्त है अर्थात् श्रमण अनगार का जन्म हुआ।

श्रमण का उद्देश्य

प्रत्येक साधना का कोई न कोई उद्देश्य अवश्य होता है वह साधना चाहे लौकिक हो या लोकोत्तर। ऐसे विश्व मे चार पुरुषाथ विशिष्ट माने जाते हैं, वे हैं—**धर्म**, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमे दो लौकिक हैं, दो लोकोत्तर। प्रथम में अर्थ साधन है तो काम साध्य। द्वितीय लोकोत्तर पुरुषाथ मे धर्म साधन है और मोक्ष साध्य। श्रमण एक साधक है तो उसके भी साधन व साध्य अवश्य है। क्योकि निरुद्देश्य कोई प्रवृत्ति नही होती। श्रमण का साध्य है मोक्ष। अर्थात् आत्मा को ससार के दु खो से मुक्त करने के लिए ही श्रमणत्व की साधना की जाती है। महात्मा बुद्ध भी ससार को दु खमय मानकर अपने अबोध शिशु राहुल, प्रिय पत्नी यशोधरा एव विशाल राज्य को त्याग कर निकल
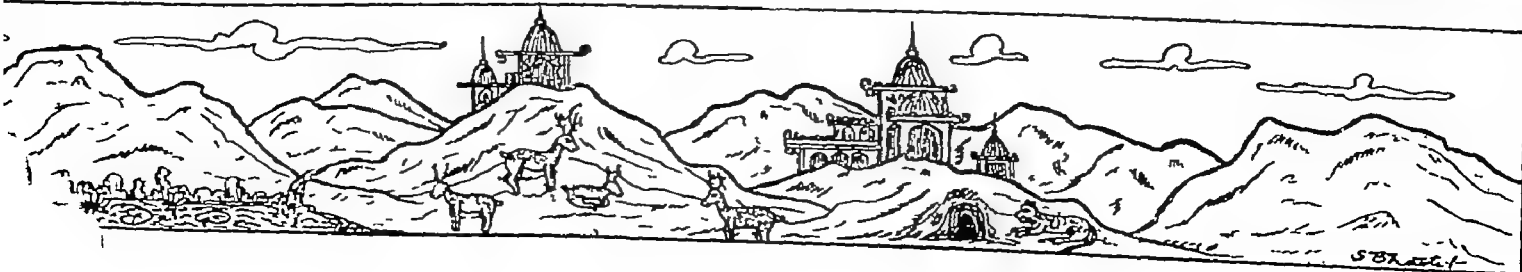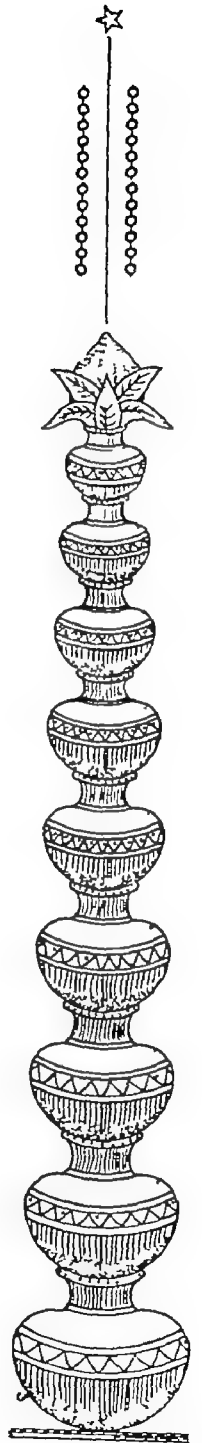
पड़े थे और भगवान महावीर भी विराट् साम्राज्य एव विलखते प्रिय परिवार के ममत्व बन्धन को तोड कर निकल पड़े थे श्रमण साधना के लिए। उनका एकमात्र उद्देश्य था आत्मा की दु ख से मुक्ति। अतएव श्रमण का उद्देश्य है आत्मा। आत्मा के लिए ही श्रमणत्व की साधना मे प्रवेश होता है। सूत्रकृताग मे बताया है 'एकमात्र आत्मा के लिये प्रव्रज्या है।[3] 'आत्मा के लिए सवृत होते हैं,[४] ससार दु ख से व्याप्त है, आत्मा जब तक ससार के किनारे नही पहुँचती तब तक दु ख से मुक्त नही होती।' उत्तराध्ययन सूत्र मे श्रमणत्व को एक नौका के समान बताया है। 'जो नौका सछिद्र होती है वह समुद्र के तट पर नही पहुच पाती। और जो नौका निश्छिद्र होती है वह सागर पार हो जाती है।' तात्पर्य यह है कि जीवन नौका-रूप है, उसमे पाप-रूप छिद्र है जिनसे कर्मरूप पानी आता है किन्तु जिसने सयम के द्वारा वे छिद्र ढक दिये हैं तो वह आत्मा ससार के पार मोक्ष के किनारे पहुँच जाती है। इससे आगे चलकर शास्त्रकार ने शरीर को नौका की उपमा दी है। जैसे—'शरीर नौका है, आत्मा नाविक है ससार एक महासागर है, जिसे महर्षिगण अपने श्रमणत्व की साधना से पार करके मुक्ति पा लेते है।"[५]

श्रमण का अन्तराचार

एक श्रमण की पहचान क्या गृहस्थ का वेश छोडकर श्रमण का वेश पहन लेना है। मुख पर पट्टी, रजोहरण, एव काष्ट पात्र रखना, भिक्षाचर्या से उदरपूर्ति एव केशों का लुचन करना ये सभी श्रमण के बाह्याचार हैं। एकमात्र बाह्यलक्षण से ही कोई श्रमण नही कहला सकता, इसीलिए भगवान महावीर स्वामी ने कहा "सिर का मुडन करने से कोई श्रमण नही हो सकता, ओकार जप से ब्राह्मण, अरण्यवास से मुनि एव वल्कल चीर पहनने से कोई तापस नहीं हो सकता। अपितु समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, मौन से मुनि एव तप से ही तापस कहलाता है।[६] इसीलिए किसी अनुभवी ने कहा है—"बाना बदले सौ-सौ बार बदले बान तो बेडा पार" तात्पर्य यह है कि बान अर्थात् आदत, अभ्यास एव सस्कारो मे परिवर्तन होना चाहिये। ठाणाग सूत्र मे श्रमण के लिए दस प्रकार का मुंडन बतलाया है। वह है श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षु, घ्राण, रसना एव स्पर्शेन्द्रिय के विषयो पर रागद्वेष का निग्रह करना एव क्रोध, मान, माया तथा लोभ पर विजय करना, इन नौ प्रकार के आन्तरिक कुसस्कारो पर पहले विजय करने पर दसवा सिर के बालो का मुडन करना सार्थक होता है।[७]

श्रमण धर्म की दस विशेषताएँ

श्रमण के लक्षणो को श्रमण धर्म कहा जाता है। श्रमण के प्रमुख दस धर्म इस प्रकार हैं—१, **क्षमा**—शत्रुमित्र पर समभाव, २ **मुक्ति**—निर्लोभ वृत्ति, ३ **आर्जव**—सरलता, मन, वचन, काय योग की एकरूपता, ४ **मार्दव**—मृदुलता निरभिमानता, ५ **लाघव**—परिग्रह एव ममत्व मोहरहित, ६ **सत्य**, ७ **सयम**, ८ **तप**—द्वादशविध बाह्य-भ्यान्तर तप, ९ **त्याग**, १० **ब्रह्मचर्य**।

श्रमण, अनगार के सत्ताईस मूल गुण

श्रमण साधना के सहस्रो गुण होते हैं किन्तु उनमें कुछ प्रमुख गुणो का वर्णन करने से उनमे सभी गुणो का समावेश हो जाता है। श्रमणाचार के नियमो को लेकर जैन वाङ्मय में अपार सामग्री यत्र-तत्र-सर्वत्र बिखरी पडी है, यदि उन्हे सम्यक् प्रकार से व्यवस्थित किया जाय तो 'श्रमणाचार' के एक ही विषय पर बहुत बडी पुस्तक तैयार हो सकती है। किन्तु इस छोटे से निबन्ध में भी यथाशक्ति 'गागर मे सागर' भरने की उक्ति चरितार्थ हो सकती है। समवायाग सूत्र मे अनगार के २७ गुण हैं वे इस प्रकार हैं—

"प्राणातिपात विरमण" ऐसे ही सर्वथा प्रकार से मृषावाद का त्याग, अदत्तादान त्याग, मैथुन त्याग, परिग्रह त्याग, श्रोत्रेन्द्रियनिग्रह आदि ५वीं स्पर्शनेन्द्रिय निग्रह, क्रोधविवेक, मानविवेक, माया-विवेक, लोभ विवेक, भावसत्य, करणसत्य, योगसत्य, क्षमा, वैराग्य, मन समाधारणता, वचन समाधारणता, काय समाधारणता, ज्ञान-सपन्नता, दर्शन-सपन्नता, चरित्र-सपन्नता, वेदना सहन एव मृत्यु सहिष्णुता।[८]

इन २७ गुणो को श्रमण के मूलगुण कहते हैं। प्राय जैन समाज की सभी सम्प्रदायो एव शाखाओ को श्रमण के ये २७ मूलगुण मान्य हैं उनमे मूर्तिपूजक, स्थानकवासी, तेरह पन्थ, सभी सम्प्रदायें सम्मत हैं, किन्तु दिगम्बर जैन शाखा

श्रमण के २८ मूलगुण मानती है। उनके नियमो मे कुछ भिन्नता है। वह इस प्रकार है—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये ५ महाव्रत एव पाँच इन्द्रियो का निग्रह, पच समिति, ६ आवश्यक, स्नान त्याग, शयनभूमि का शोधन, वस्त्रत्याग, केशलुंचन, एक वार भोजन, दन्तधावन त्याग, खडे-खडे भोजन करना। इन गुणो मे ५ महाव्रत एव ५ इन्द्रिय निग्रह हैं। दस गुण श्वेताम्बरो से मिलते हैं। शेष १८ गुण बाह्याचार से सम्बन्धित हैं।

सत्रह प्रकार का नियम

जैन श्रमण १७ प्रकार से सयम साधता है, वह इस प्रकार है—पृथ्वीकाय सयम, अपकाय सयम, तेजस (अग्नि) काय सयम, वायुकाय सयम, वनस्पतिकाय सयम, वेइन्द्रिय सयम, त्रीन्द्रिय सयम, चतुरिन्द्रिय सयम, पचेन्द्रिय सयम, अजीवकाय सयम, प्रेक्षा सयम—सोते, वैठने समय, वस्त्रादि उपकरण लेते रखते हुए अच्छी तरह से देखना, उपेक्षा सयम—सासारिक कार्यों की उपेक्षा अपहृत्य सयम—श्रमण-धर्म का अध्ययन करना व कराना तथा आहार, शरीर, उपाधि, मलमूत्रादि परिष्ठापन करते हुए जीवरक्षा करना। प्रमार्जना सयम—जिन वस्त्र, पात्र, मकान, शरीर का उपयोग करते हैं उन्हें प्रमार्जनी, गुच्छक विशेष से पूजना। मन सयम—मन सक्लेश कपायरहित प्रसन्न रखना। वचन सयम—हिंसाकारी असत्य, मिश्र, सिद्धान्त विरुद्ध वचन न वोलना, काय सयम—सोने, वैठने, खाने, पीने, चलने आदि शारीरिक क्रिया के समय जीवरक्षा का विवेक रखना।[९]

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो सयम एक ही प्रकार का है और वह है असयम से निवृत्ति और सयम मे प्रवृत्ति।[१०]

असयम क्या है? इसकी व्याख्या अत्यन्त विस्तृत है। सूत्रकार कहते हैं कि—राग व द्वेष जनित वृत्ति ही असयम है। इससे असयम के दो भेद हुए, उन पर विजय करना सयम है। इस तरह एक से लगाकर तेतीस बोल तक असयम से सयम की व्याख्या की गई है—जैसे तीन दण्ड हैं—मन, वचन, काया। तीन शल्य हैं—माया शल्य, निदान शल्य, मिथ्यादर्शन शल्य। तीन उपसर्ग हैं—देव, मनुष्य, तिर्यंच कृत। ऐसे चार कषाय, चार सज्ञा, चार ध्यान मे से दो ध्यान हेय हैं। ५ इन्द्रिया ५ समिति, ५ क्रिया, लेश्याषटक, कायाषटक, सप्तभय, सप्तप्रतिमा, अष्ट मदस्थान, ब्रह्मचर्य रक्षा की ६ वाडें, दस यतिधर्म, एकदश उपासक प्रतिमा, द्वादश भिक्षुप्रतिमा, त्रयोदश क्रियास्थान, चतुर्दश भूतग्राम, पचदश परमाधार्मिक, षोडष गाथा, सप्तदश असयम, उन्नीस ज्ञात अध्याय, बीस असमाधि स्थान, इक्कीस सबल दोष, २२ परीषह, २३ सूत्रकृत, २४ देवकृत, २५ भावना, २६ दशाश्रुत स्कन्ध, २७ अनगारगुण, २८ आचारकल्प, २९ पापसूत्र, ३० महामोह, ३१ सिद्धातिशय, ३२ योग सग्रह, ३३ आशातना। इस प्रकार अनेको आन्तरिक विकृतियाँ हैं, उन पर विजय करके आत्मा को पूर्ण समाधिस्थ, प्रसन्न एव स्वस्थावस्था मे ले जाने का पुरुषार्थ करने वाला श्रमण पद से अलकृत हो सकता है। श्रमणत्व एक महौषधी है जो आत्मा की अनेक आन्तरिक व्याधियो का उपशमन करके आत्मा को स्वस्थ व प्रसन्न बना देती है।

श्रमणत्व का अधिकारी

श्रमण साधना के केन्द्र में प्रविष्ट होने वाले को सर्वप्रथम सम्यक्ज्ञान एव सम्यक्दर्शन से सम्पन्न होना चाहिये। जो जीव एव अजीव का स्वरूप नही जानता है वह सयम का अधिकारी कैसे हो सकता है। जो जीव और अजीव का ज्ञाता है वही सयम का सच्चा अधिकारी है। जीवादि तत्वो का सम्यक्ज्ञान होने पर ही जीवो की दया-रक्षा रूप सयम मे स्थित रह सकता है।

दशवैकालिक सूत्र[११] मे सयम का क्रम ज्ञान से आरम्भ करके श्रमणत्व के साध्य सिद्धत्व पर्यन्त पहुँचाया गया है। यथा—"जो जीवाजीव का ज्ञाता है वह जीवों की रक्षा व दयारूप सयम का ज्ञाता है। जो सयम को जानता है वह जीवो की बहुविध दुर्गति सद्गति को जानेगा। जो जीवो की गति का ज्ञाता है वह पुण्य-पाप भी जानेगा, क्योकि पाप से जीव की दुर्गति व पुण्य से सुगति होती है। जो पुण्य-पाप का ज्ञाता है तो बन्ध-मोक्ष भी समझेगा और बध-मोक्ष समझने पर देव, मनुष्य सम्बन्धी भोगो से निर्वेद अर्थात् अनासक्ति या वैराग्य भाव करेगा और जब विरक्त साधक बाहर-भीतर के सयोगो से विरक्त होगा तब सयोग से मुक्तात्मा मुडित होकर उत्कृष्ट सवर-आत्मरमण को स्पर्श करेगा। सवर होने पर अवोध-अज्ञान कृत कलुष कर्मरज को दूर करता है। जो अज्ञानकृत कलुषित कमरज को दूर कर देता है

वह सम्पूर्ण ज्ञान, दर्शन का अधिकारी होता है। जब सम्पूर्ण ज्ञानदर्शन प्राप्त होता है तब उस ज्ञान के महाप्रकाश में अखिल लोक एवं अलोक के स्वरूप को जानता है। जब अखिल लोकालोक के स्वरूप को जानता है तब वह राग-द्वेष का विजेता वीतराग एवं जिन हो जाता है तथा केवली कहलाता है। जब जिन केवली होता है तब मन, वचन, काया के योगों का निरुधन करके शैल-पर्वतवत स्थिरता को प्राप्त कर शैलेशी अवस्था को पाता है। जब शैलेशी अवस्था पाता है तब नीरज, निरंजन होकर सिद्धि को पाता है और जब सिद्धि अर्थात् योग में सफलता मिलती है तब लोक अर्थात् विश्व के मस्तक समान लोक के अत्युच्च स्थान पर स्थित होकर शाश्वत सिद्ध हो जाता है।" तात्पर्य यह है कि श्रमणत्व का जो साध्य सिद्धावस्था प्राप्त होती है, उसकी सर्वप्रथम श्रेणी एवं मूल भूमिका ज्ञान एवं दर्शन है। जैन वाङ्मय के संक्षिप्त सूत्रकार आचार्य श्री उमास्वाति ने भी अपने तत्त्वार्थ सूत्र के प्रथम सूत्र में यही सिद्धान्त रखा है कि—

"सम्यक् दर्शन ज्ञानपूर्वक चारित्र ही मुक्ति का साधन है।"[१२]

वैसे ही उन्होंने वैराग्योत्पत्ति का कारण भी ज्ञान को ही माना है, जब विश्व एवं देह की अनित्यता के स्वभाव का ज्ञान होता है तब संवेग एवं वैराग्य की उत्पत्ति सहज ही होती है।[१३] ज्ञान को निश्चय, विश्वास एवं श्रद्धा को दर्शन कहते हैं। दर्शन के बिना ज्ञान मिथ्याज्ञान अर्थात् अज्ञान माना जाता है अतः श्रद्धापूर्वक ज्ञान ही सम्यक ज्ञान है। दर्शन के बिना ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती और ज्ञान के बिना चारित्र नहीं तथा चारित्र के अभाव में मुक्ति नहीं होती।[१४] इसीलिए साधक के हृदय में यह लोक है, यह अलोक है, जीव है, अजीव है पुण्य है, पाप है, बन्धन है, मोक्ष है, लोक है, परलोक है—इस प्रकार जिनोक्त सिद्धान्त पर सुदृढ़ विश्वास हो तभी वह श्रमणत्व का सच्चा अधिकारी हो सकता है। ये प्रमुख गुण हैं, इसके अतिरिक्त श्रमण धर्म स्वीकार करने वाले आत्मा के अन्य बाह्य विशेषताएँ भी देखी जाती हैं। वे निम्न हैं—१ आर्य देशोत्पन्न—इसमें विशेष योग्यता होने पर अनार्य देशवासी एवं निम्न कुलोत्पन्न भी कभी-कभी दीक्षा के पात्र माने जा सकते हैं, २, शुद्धजाति कुलान्वित, ३ क्षीणप्राय अ-शुभ कर्म, ४ विशुद्ध धी, ५ विज्ञात संसार, ६ विरक्त, ७ मन्दकषायभाक्, ८ अल्पहास्यादि, अकौतुहली ९ कृतज्ञ, १० विनीत, ११ राजसम्मत, १२ अद्रोही, १३ सुन्दराग भूत-पंचेन्द्रिय पूर्ण हो, कोई भी अंग भंग न हो, १४ श्रद्धावान, १५ स्थिर—स्वीकृत व्रतों को यावज्जीव निबाहे, १६ समुपसम्पन्न—पूर्ण इच्छा से अपना पूरा जीवन संयम में बिताने आया हो। इस प्रकार अनेक अन्तर बाह्य सद्गुणों से अलंकृत व्यक्ति श्रमणधर्म पालने, उसमें प्रवेश करने का योग्य पात्र माना जाता है।

श्रमण के बाह्याचार

श्रमण का अन्तराचार के साथ-साथ बाह्याचार भी अत्यन्त विशुद्ध होता है क्योंकि दोनों का कारण कार्य सम्बन्ध है। जहाँ-जहाँ कारण होता है वहाँ-वहाँ कार्य भी अवश्य होता है। कारण बीजवत् है तो कार्य अंकुरवत है। निमित्त और उपादान, निश्चय और व्यवहार में दोनों सदैव साथ होने पर ही कार्य की सिद्धि होती है। कभी-कभी व्यवहार शुद्धि होने पर निश्चय नहीं भी होता है किन्तु निश्चय शुद्ध होने पर व्यवहार अवश्य ही शुद्ध होता है। काल, स्वभाव, नियति, भाग्य एवं पुरुषार्थ इन पाँच समवायों के मिलने पर ही साध्य की सिद्धि होती है। कोई यह न सोचे कि श्रमण को अन्तराचार से ही सिद्धि प्राप्त हो सकती है अतः बाह्याचार निरर्थक है, किन्तु ऐसा नहीं है। श्रमण के लिये जितना अन्तराचार, आन्तरिक सद्गुण आवश्यक है उतना ही बाह्याचार भी अत्यावश्यक है। दशवैकालिक सूत्र में साधक ने जीवन के बाह्याचार के सम्बन्ध में बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न किया है, वह है" कैसे चले, कैसे खड़े रहे, कैसे बैठे, कैसे सोये, कैसे भोजन करे, कैसे बोले, जिससे पाप कर्मों का बन्धन न हो?[१५] इन प्रश्नों का समाधान भी सूत्रकार ने बहुत सुन्दर दिया है, वह है—यतना अर्थात् जीवों की रक्षा करते हुए चलने, खड़े रहने, बैठने, सोने, भोजन करने एवं भाषण करने में पापकर्म का बन्धन नहीं होता और न उसका कटुफल ही होता है।[१६] यह बाह्याचार दैहिक कार्य है।

श्रमण के बाह्य उपकरणों के साधन

श्रमण अपने सम्पूर्ण अन्तर और बाह्य संयोग-जन्य पदार्थों का परित्याग करके साधना के लिए निकल पड़ता है। फिर भी उसके साथ शरीर तो रहता ही है। यह नहीं हो सकता कि आयु का अन्त वह स्वयं ही अनुचित साधनों से कर ले। यह तो आत्महत्या होगी, किन्तु साधना नहीं। अतः संयम के साथ साथ वह देह का संरक्षण भी

करता है। देह रक्षा के लिए भोजन भी आवश्यक है। वस्त्र, पात्र एव मकान भी आवश्यक है। उन्हे यदि वह स्वय उपार्जित करता है तो हिंसादि अनेक पाप होंगे। अत वह एक मात्र निर्दोष भिक्षावृत्ति से जीवन निर्वाह करता है। उत्तराध्ययन सूत्र मे बताया गया है "जो सयोग से मुक्त है वह अनगार है[१७] और जो अनगार साधक है वह भिक्षु है।" साधक का भिक्षावृत्ति से निर्वाह करना अत्यावश्यक है। साधक नौ प्रकार के बाह्य सयोग-परिग्रह एव चौदह प्रकार के आभ्यन्तर सयोग से मुक्त होता है। बाह्य निम्न हैं १. क्षेत्र, (खुली धरती), २ वस्तु (मकान, भवन), ३ हिरण्य, ४ सुवण, ५ धन मुद्रादि, ६ धान्य, ७ दासी, ८ दास, ९ कुप्य-वस्त्रपात्रादि। आभ्यन्तर परिग्रह, १४ निम्न है—१ मिथ्यात्व, ३ वेद, ५ हास्य, ६ रति, ७ अरति, ८ शोक, ९ भय, १० जुगुप्सा, ११ क्रोध, १२ मान, १३ माया, १४ लोभ। इनसे मुक्त हो वह निर्ग्रन्थ होता है। सब कुछ त्यागने पर भी श्रमण को अपनी देह रक्षा के लिए चार वस्तुएँ आवश्यक होती हैं वह है—१ पिंड-अन्नजल औषधी आदि, २ शैया-स्थान, मकान, निवासार्थ, ३ वस्त्र, ४ पात्र[११८]

पात्र विधि, वस्त्र विधि, स्थान एव आहार विधि

श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने जब सर्वसग परित्याग कर श्रमण साधना आरम्भ की तब उन्होने कोई भी पात्र अन्नजल ग्रहण करने के लिये नही रखा। साढे बाहर वष तक वे एकाकी रहे तब तक वे करपात्र भोजी थे। यह एक ऐतिहासिक खोज का विषय है कि उन्होने देह-विशुद्धि के लिये भी कोई एक भी काष्ट पात्र, तुम्बा अथवा कमण्डलु रखा था या नहीं। हाँ, जलपान या दुग्धपान तो करपात्र मे भी किया जा सकता है। कहते हैं कि तीर्थकरो के पाणिपात्र कर सपुट निश्छिद्र होते हैं, उनसे जल अथवा किसी तरल पदाथ की एक बूँद भी नीचे नही गिरती यह हो सकता है असम्भव नहीं। भगवान महावीर साढे बारह वर्ष तक दो दिन से लेकर अधमाह, माह, दो माह एव चार मास एव छ महीने तक की लम्बी तपश्चर्याएँ करते रहे। साढ़े बारह वर्ष मे उन्होंने ३४९ दिन ही भोजन किया था, फिर भी इतने दिन भी देह विशुद्धि के लिये जल ग्रहण करने को पात्र की आवश्यकता हुई होगी। बहुत सम्भव है कि आवश्यकता होने पर उन्होंने मृण्मयपात्र ग्रहण किया हो और फिर त्याग दिया हो। कुछ भी हो किन्तु वे किसी एक भी पात्र को सदैव साथ हाथ मे लेकर नही घूमते थे, यह एक तथ्य है। कल्पसूत्र के अनुसार भगवान महावीर स्वामी ने श्रमण-साधना के प्रथम चातुर्मास में पाँच प्रतिज्ञाएँ ग्रहण की थीं, उनमे एक प्रतिज्ञा थी पाणिपात्र में भोजन करना किन्तु गृहस्थ के पात्र मे भोजन नही करना। वे पाँच प्रतिज्ञाएँ निम्न थीं—१ अप्रीतिकर स्थान मे निवास न करना, २ पूर्ण ज्ञान बिना उपदेश न करना, पाँच कारण त्याग कर सदैव मौन रहना, ३ गृहस्थ पात्र मे भोजन न कर पाणिपात्र में भोजन करना ४ एकाकी रहना, ५ गृहस्थ का विनय न करना। "इसका तात्पर्य यह है कि श्रमण धर्म के महान् व्याख्याता एव श्रमणत्व के सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि की जीवनचर्या जब देखते हैं तो वे वस्त्र, पात्र एव स्थान विशेष के परिग्रह से भी सर्वथा मुक्त थे। श्वेताम्बर मतानुसार दीक्षा के समय देवराज उन पर एक देवदूष्य वस्त्र कधो पर रखते हैं किन्तु उन्होंने उसकी अपेक्षा न की और उसे सँभाला भी नही अत तेरह मास पश्चात् वह वस्त्र सहज रूप से दूर हो गया और वे निवर्सन हो गये। इसे जिनकल्प माना गया है। इसे एक अलौकिक चमत्कार के रूप मे भी स्वीकृत किया गया है। कहते हैं कि तीर्थंकरों की दिव्य देहयष्टि निर्वसन होते हुए भी एक सवस्त्र की तरह एव शोभायुक्त दृष्टिगत होती थी। श्वेताम्बर एव दिगम्बर आहार एव स्थान ग्रहण करने इन दो बातो मे एकमत हैं, किन्तु पात्र ग्रहण एव वस्त्र ग्रहण में विरोध है। निष्पक्षभाव से हमें इनकी खण्डन-मण्डन या विधि-निषेध की गम्भीर चर्चा में नहीं उतरना है। क्योकि इन बाह्य गहराइयो में जाने पर भी कोई अलौकिक, अलभ्य आत्मतत्त्व या वीतराग भाव तो प्राप्त होने का है ही नही अपितु रागद्वेष की वृद्धि से ससार वृद्धि ही समन्वित है। इसी सिद्धान्त को लक्ष्य में रखकर आचार्य श्री अमितगति ने बहुत ही सुन्दर श्लोक रचा है। वह निम्न है—

"नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे न तत्ववादे न च तर्कवादे।
न पक्षसेवा श्रयणेन मुक्ति, कषायमुक्ति किल मुक्तिरेव।"

निष्पक्ष भाव से वीतराग दृष्टि से देखने पर वास्तविक सत्य यह सामने आता है कि—श्रमण साधको की दो

श्रेणियाँ थी, उनके नाम है—जिनकल्पी और स्थविरकल्पी। इनका प्रमुख तात्पर्य है आत्मसेवी और समाजसेवी। जिनकल्पी श्रमण केवल अपना ही आत्मोद्धार करते हैं, बहुत लम्बी तपस्या करके वनो मे निवास करते हैं तथा यदा-कदा मिक्षाग्रहण करने बस्ती मे आते हैं और मिक्षा होते ही फिर एकान्तवास करते हैं। वे चाहे वस्त्र पात्र नही रखें तब भी चल सकता है। किन्तु स्थविरकल्पी स्व-पर उभय-आत्मोद्धारक होते है। अत वे ग्राम, नगर के मध्य या एक किनार ठहरते हैं, समाज के सहस्रो स्त्री-पुरुषों के मध्य धर्मोपदेश करते है। अत उनका सीमित-मर्यादित वस्त्र, पात्र रखना शास्त्र सम्मत है। भगवान महावीर जब सर्वज्ञ सर्वदर्शी एव पूर्णज्ञानी होकर धर्मोपदेष्टा के रूप मे समाज के सम्मुख आये और एक व्यवस्थित सघ की सरचना हुई तो श्रमणाचार के अनेक नियम-उपनियमो का प्रशिक्षण होने लगा। अत भगवान महावीर एकाकी अवस्था मे पाणिपात्र भोजी रहे किन्तु उनके शिष्य गणधर गौतम आदि चौदह सहस्र शिष्यों के लिये काष्ठ के तीन पात्र एव पहनने के लिये तीन वस्त्रो का विधान किया। भोजन भी एक श्रमण किसी एक घर मे न करके थोडी-थोडी मिक्षा बहुत घरो से लाकर मधुकरी एव सामुदायिक गोचरी करके आचार्य के समीप आकर एकान्त मे आहार करने लगे। श्रमण सघ मे कोई श्रमण वृद्ध हो, बीमार हो नवदीक्षित हो, बाल हो तो उनकी वैयावृत्य करने के लिये पात्र मे भोजन लाकर उन्हे देना होता है, अत श्रमणसघीय व्यवस्था में तीन पात्रों का विधान है। एक पात्र जलपान के लिये, द्वितीय आहारादि ग्रहणार्थ और तृतीय देह शुद्धि के लिये। दिगम्बर श्रमण भी देह शुद्धि के लिये एक पात्र कमण्डल रखते ही हैं।

ठाणाग सूत्र मे तीन प्रकार के पात्रो का कल्प-विधान है वे[१९] हैं—१ तुम्बे का पात्र, २ काष्ठ का पात्र एव ३ मिट्टी का पात्र। इसी प्रकार तीन कारणो से श्रमण वस्त्र धारण कर सकते हैं, वे हैं—लज्जा निवारण करने के लिये, जनता की घृणा (दुगुछा) दूर करने के लिये और शीत, तापादि परिषह असह्य होने पर। जैसे मुनि स्वर्ण, रजत, लौह, ताम्र, पीतल आदि धातु के पात्र नही रखते हैं वैसे ही वस्त्र भी बहुमूल्य एव रग-विरगे नही रख सकते, क्योकि उन्हे अपनी देह पर वस्त्रालकार नही सजाना है। ठाणाग सूत्र मे श्रमण के लिये तीन प्रकार के वस्त्र का कल्प बताया है, वे हैं १ ऊनके, २ कपास के, ३ सण के। वस्त्र की मर्यादा मे श्रमण के लिये ७२ हाथ एव श्रमणी को ९६ हाथ से अधिक वस्त्र नही रखने का विधान है। ठाणाग सूत्र मे श्रमणी के लिये चार चद्दरें रखने का नियम बताया गया है। उनमे एक चादर दो हाथ की दो चादर तीन-तीन हाथ की एव चौथी चादर चार हाथ की लम्बी-चौडी होती है। प्रथम चद्दर स्थानक मे रहते समय, दो चादरें गोचरी एव बाहर भूमि मे तथा चौथी चादर समवशरण अर्थात् स्त्री-पुरुषो की धर्म सभा मे धर्मोपदेश करते हुए काम मे आती है।

दशवैकालिक सूत्र तथा अन्यत्र भी श्रमण के कुछ उपकरणो का वर्णन मिलता है तथा जो श्रमणोपासक गृहस्थ होते हैं वे मुनि को चौदह प्रकार का निर्दोष दान देते हैं वह इस प्रकार है—१ असन, २ पान, ३ खादिम, ४ स्वादिम, ५ वस्त्र, ६ प्रतिग्रह (काष्ट पात्रादि), ७ कबल, ८ पादपोंछन, ९ पीठ, ९ बैठने का बाजोट, १० फलक-सोने का पाट। ११ शय्या-मकान, १२ सथारा-तृण घास आदि सोने के लिये १३ रजोहरण-ऊनका गुच्छक जीव-रक्षाहित, १४ औषध भेषज आदि। आचाराग सूत्र १-६-३ टीका तथा बृहद्कल्पभाष्य गाथा ३९६२ मे बताया है कि तीर्थकर को छोडकर मुखवस्त्रिका और रजोहरण, चोलपट्क तो प्रत्येक साधु-साध्वी को रखना अत्यावश्यक है क्योकि ये श्रमण की पहचान के चिन्ह विशेष हैं तथा जीवरक्षा सयम के लिये प्रमुख उपकरण है। अनेक सूत्रो की साक्षी मे मुनियो के कुछ प्रमुख उपकरण निम्नलिखित हैं—

१ **मुखवस्त्रिका**—बीस अगुल लम्बा, सोलह अगुल चौडा, आठ पट का वस्त्र विशेष जो सूत्र कानो मे लेकर मुख पर बाँधते हैं। २ **रजोहरण**—ऊनका गुच्छक वस्त्रावृत्त दण्ड मे लगा कर चींटी आदि नन्हे जीवो की रक्षा का साधन। ३ **पात्र**—आहार पानी लाने तथा देहशुद्धि के लिये तीन काष्ट पात्र। ४ **चोलपट्क**—कमर से नीचे अर्धाग ढकने का वस्त्र। ५ **वस्त्र**—७२ हाथ मर्यादित श्वेत वस्त्र। ६ **कम्बल**—शीत रक्षार्थ। ७ **आसन**—बैठने के लिये। ८ **पाव-पोंछन**—वस्त्र खण्ड, ९ **शय्या**—ठहरने का मकान, १० **सथारा**—बिछाने का पराल, घास आदि, ११ **पीठ**—बैठने की चौकी, १२ **फलक**—सोने का पाट, १३ **पात्रबध**—पात्र बाँधने का वस्त्र, १४ **पात्र स्थापन**—वस्त्र खण्ड, १५ **पांच केसरिका**—प्रमार्जनी, १६ **पटल**—पाँव ढकने का वस्त्र, १७ **रजस्त्राण**—वस्त्र पात्र लपेटने का,

१८ दण्ड—दण्डा वृद्धो का सहारा, १९ मात्रक—लघु नीति—परठने का पात्र विशेष, २० उडक—उच्चारप्रस्रवण परठने का पात्र ।

इनमे से कुछ उपकरण सदैव साथ रखने योग्य स्थायी और कुछ अस्थायी आवश्यकतानुसार लेकर फिर देने योग्य हैं ।

जैन श्रमणो की भिक्षा विधि

विश्व इतिहास मे ढूढने पर भी जैन श्रमण जैसी निर्दोष अहिंसात्मक भिक्षा विधि किसी भी धर्म गुरु की नही मिल सकती है । जैन श्रमण की भिक्षाचर्या मात्र भिक्षा ही न होकर एक विशिष्ठ तपश्चर्या है । जैन भिक्षाचरी को मधुकरी एव गोचरी भी कहते हैं । जिसका तात्पर्य है कि जिस गृहस्थ से भिक्षा ले उसे कष्ट नहीं अपितु आनन्द होता है । गृहस्थ श्रमण के लिए भोजन नही बनाता किन्तु अपने लिये बने हुये भोजन से थोडा-सा अश वह श्रमण को प्रदान करता है । भिक्षाचरी के लिये श्रमणो के लिए सहस्रो नियम-उपनियम हैं । भिक्षाचरी के लिए एक पृथक समिति का विधान है, उसका नाम है एषणा समिति । पाँच समिति मे एषणा समिति अत्यन्त विस्तृत है । इसमे सोलह उद्गम के एव सोलह उत्पाद के एव दस एषणा के इस तरह ४२ दोष टाल कर आहार पानी लिया जाता है और ४७ दोष टाल कर आहार को भोगा जाता है । छह कारणो से आहार करते हैं । वे हैं—१ क्षुधा वेदना सहन न होने पर, २ वैया-वृत्य के लिये, ३ इर्याशोधनार्थ अर्थात् चलते समय जीवरक्षा करने के लिये नेत्ररक्षा आवश्यक है, ४ सयम पालने के लिए, ५ प्राणरक्षा के लिए एव जीवन रक्षार्थ और ६ धर्म चिन्तनार्थ । इसी तरह छ कारण उपस्थित हो तो आहार त्याग करते हैं—१ रोगादि बढने पर, २ सयम त्याग का उपसर्ग होने पर, ३ ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए, ४ प्राणियो की रक्षानिमित्त, ५ तपस्या के लिए एव ६ शरीर त्याग के अवसर पर आहार का त्याग किया जाता है । तात्पर्य यह है कि आहार का ग्रहण भी सयम की रक्षा एव वृद्धि के लिए है और आहार का त्याग भी सयम रक्षा के उद्देश्य से किया जाता है ।

श्रमणों की दिनरात्रि की चर्या—नित्याचरण

श्रमण का उद्देश्य है सिद्धत्व और उसका साधन है स्वाध्याय और ध्यान । श्रमण स्वाध्याय और ध्यान के द्वारा सिद्धपद को पा सकता है । अत वह दिन के प्रथम प्रहर मे स्वाध्याय करता है । दूसरे प्रहर मे ध्यान करता है, तृतीय प्रहर मे भिक्षाचर्या करता है और चतुर्थ प्रहर मे पुन स्वाध्याय करता है । स्वाध्याय और ध्यान यही श्रमण के दो प्रमुख कार्य हैं । भिक्षाचरी एव आहारग्रहण करने का उद्देश्य भी स्वाध्याय एव ध्यान है । स्वाध्याय के द्वारा वह जीवादि तत्त्वो का ज्ञान करता है और ध्यान के द्वारा जीव स्वभाव दशा मे स्थिर रहना सीखता है । आचार्य उमास्वाति की व्याख्या से "चित्त की समस्त बाह्यवृत्तियो की चिन्ता का निरुधन करके आत्मा मे एकाग्र होकर स्थिर हो जाना ध्यान है । आत्मा में लीनता, आत्मा में एकरूपता होने पर आत्मा निर्विकल्प ध्यान तक पहुँचता है । अध्यात्म योगी सन्त श्री आनन्दघनजी ने ध्यान के विषय मे बहुत ही सुन्दर व्याख्या की है, वह यह है सारे ससारी जीव इन्द्रियादि बाह्य विषयो मे रमते हैं किन्तु मुनिगण एक मात्र अपनी आत्मा में रमते हैं और जो आत्मा मे रमते हैं वे निष्कामी होते हैं । श्रमण गण आर्तध्यान और रौद्र ध्यान को त्याज्य समझते हैं और धर्म-ध्यान, शुक्ल ध्यान को ध्येय समझते हैं । जैनागमों मे धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान की बहुत विस्तृत व्याख्याएँ हैं । जो श्रमण धर्म ध्यान, शुक्ल ध्यान का निरन्तर अभ्यास करते हैं उन्हे दिव्य आत्मज्ञान अर्थात् क्रमश अवधि, मनपर्यव एव केवल ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है । जब तक साध्य सिद्ध न हो तब तक ध्यान की साधना निरन्तर चलती रहती है । जैसे एक तैराक जब तक तिरना पूरा न आये तब तक अभ्यास करता ही रहता है । वैसे चित्रकला की सफलता के लिए चित्रकार, विज्ञान के लिए वैज्ञानिक, भाषा ज्ञान के लिये भाषा का विद्यार्थी चिकित्सा के लिए वैद्य, इत्यादि निरन्तर श्रम करते हैं, वैसे ही श्रमण मोह पर विजय करने के लिए निरन्तर ध्यान साधना करता ही रहता है । तभी सफलता की सभावना रहती है । श्रमण की रात्रिचर्या मे भी स्वाध्याय और ध्यान प्रमुख कार्य हैं । जैसे—रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर में ध्यान, तृतीय प्रहर में निद्रा और चतुर्थ प्रहर मे पुन स्वाध्याय करते हैं । निद्रा लेना श्रमण का उद्देश्य नही है किन्तु ध्यान की निर्विघ्नता के लिए वह विश्राम करता है । जब ध्याता, ध्यान

और ध्येय तीनो एक रूप हो जाते हैं, तब सफलता प्राप्त होती है। किन्तु जब किसी रुग्ण, तपस्वी, वृद्ध आदि श्रमण की सेवा का अवसर होता है तो श्रमण परोपकार के लिए अपनी स्वाध्याय एव ध्यान की साधना छोडकर भी वैयावृत्य मे लग जाता है। क्योकि इस काय के द्वारा वह स्व-पर उभय का आत्मोद्धार करता है। इससे स्वय उसका ही ध्यान स्थिर नही होता अपितु दूसरे का भी ध्यान स्थिर करने मे सहायक सिद्ध होता है।

श्रमणो की श्रेणिया

जैसे विद्यालय मे प्रविष्ट सभी विद्यार्थी एक-समान श्रेणी मे नही होते, वैसे ही श्रमण साधना के केन्द्र मे प्रविष्ट सभी श्रमण एक समान श्रेणी मे नही होते। यद्यपि बाह्य वेश विन्यास, वस्त्र पात्रादि उपकरण मे विशेष विभिन्नता नही होती किन्तु अन्तर के चरित्र मे अन्तर होता है।

भगवती सूत्र के २५वें शतक, छठे उद्देशक में छ प्रकार के निर्ग्रन्थ की श्रेणियां, प्रज्ञप्त की गई हैं, वे हैं—पुलाक, बकुश, प्रतिसेवना, कषाय-कुशील, निर्ग्रन्थ एव स्नातक। इनमें प्रथम चावल की शालि समान जिसमे शुद्धि कम अशुद्धि अधिक, द्वितीय खेत से कटी शालिवत् शुद्धि अशुद्धि समान, तृतीय खलिहान मे उफनी शालिवत् शुद्धि अधिक अशुद्धि कम, चतुर्थ छिलके सहित शालिवत, पचम अध छिलके रहित चावल वत्, षष्ठम पूर्ण शुद्ध। इनमे पुलाक, बकुश, प्रतिसेवना मे दो चारित्र होते हैं—सामायिक चारित्र एव छेदोपस्थापनीय तथा कषायकुशील मे चार चारित्र होते हैं—सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहार-विशुद्धि एव सूक्ष्मसपराय। निर्ग्रन्थ एव स्नातक मे एक यथाख्यात चारित्र होता है। इनमे पुलाक, बकुश, प्रतिसेवना मे छठा, सातवा, गुणस्थान होता है। कषाय कुशील मे छठे से लगा कर दसवा, ग्यारहवा गुणस्थान हो सकता है एव निर्ग्रन्थ मे बारहवाँ गुणस्थान होता है तथा स्नातक मे तेरहवा चौदहवा गुणस्थान होता है।

भगवती सूत्र मे आराधना के भेद से भी श्रमणो की श्रेणियाँ विभाजित की गई हैं। जैसे गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है—हे प्रभु! आराधना कितने प्रकार की है? भगवान महावीर ने प्रत्युत्तर दिया—हे गौतम! आराधना तीन प्रकार की है वह है, १ ज्ञानाराधना, २ दर्शनाराधना एव ३ चारित्राराधना।[२०] इनमे ज्ञानाराधना तीन प्रकार की है जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट। इसी प्रकार दर्शनाराधना एव चारित्राराधना के भी तीन-तीन भेद हैं। ज्ञान जघन्य अष्ट प्रवचन का, मध्यम एकादश अग का, उत्कृष्ट चौदह पूर्व का होता है। ऐसे ही दर्शन मे जघन्य सास्वादन मध्यम क्षायोपशमिक, उत्कृष्ट क्षायिक सम्यक्त्व है। चारित्र मे जघन्य सामायिक चारित्र, मध्यम परिहार विशुद्ध चारित्र एव उत्कृष्ट यथाख्यात चारित्र। इसके पश्चात् श्री गौतम गणधर ने तीनो आराधना का फल पूछा है। उसके प्रत्युत्तर मे भगवान ने कहा कि जघन्य आराधना वाले उसी भव मे, तीन भव मे अथवा १५ भव मे अवश्य सिद्धि प्राप्त करते हैं। मध्यम आराधना वाले उसी भव में, दो भव मे एव तीसरे भव मे सिद्धि प्राप्त करते हैं और उत्कृष्ट आराधना वाले साधक उसी भव में सिद्ध होते हैं अथवा दूसरे भव में तो अवश्य सिद्धि प्राप्त करते हैं। इस प्रकार साधना के अनुसार साधको के भेद भी होते हैं।

सभी साधको मे सर्वोत्कृष्ट सिरमौर पूर्ण निग्रन्थ अरिहन्त प्रभु माने जाते है। यद्यपि सिद्ध भगवान उनसे भी उच्च स्थिति मे हैं किन्तु मोक्ष मार्ग प्रकाशक भास्करवत् सभी आत्माओ के परमोपकारी होने से अरिहत प्रभु का परमेष्ठी मत्र मे सवप्रथम स्मरण एव नमस्कार किया गया है। अरिहत प्रभु के लक्षणो मे चौतीस अतिशय, पैंतीस वाणी के एव द्वादशमूल गुण बताये जाते हैं। ऐसे सिद्ध प्रभु में अष्ट गुण, आचार्यों के छत्तीस गुण उपाध्यायो के पच्चीस गुण एव सब साधुजनो के सत्ताईस मूलगुण हैं। यद्यपि अरिहन्तों से लेकर पाँचवें पद साधुजन तक के पाँचो पदो में सिद्धो के अतिरिक्त श्रमण का पद तो सभी मे है किन्तु उनकी श्रेणी मे आकाश-पाताल का अन्तर है। फिर भी साध्य सभी का एक है।

श्रमण साधना मे दु ख है अथवा सुख एक प्रश्न

श्रमणत्व की साधना का एकमात्र साध्य है सुख। सुख भी क्षणिक नही अपितु शाश्वत सुख। उस सुख की प्राप्ति के लिए यदि थोडा-सा दु ख भी सहना पडे तो वह नगण्य है। जैसे एक भयकर रोग की उपशान्ति के लिए व्यक्ति कडवी से कडवी औषधी हँसते-हँसते पी जाता है। इजेक्शनो की सुइयाँ अपने फूलो-सी कोमल देह में चुभाता है।

बड़े-बड़े आपरेशन कराके चीर-फाड करवाने से नही हिचकता वैसे ही अनन्त सौख्य के लिए श्रमण साधना के समय आने वाले कष्टो को साधक हँसते-हँसते सह जाता है। श्रमण साधको के जीवन मे अनेक अनुकूल एव प्रतिकूल परीषह आते हैं। उसके पथ मे फूल भी हैं और शूल भी किन्तु वह फूलो मे लुभाता नही और शूलो से पीछे हटता नही। क्षुधा, तृषा, शीत, तप, आदि बावीस परीषह उत्पन्न होते हैं। किन्तु ज्यो-ज्यो साधक की साधना आगे बढ़ती है त्यो-त्यो ये परीषह सहज रूप से कम हो जाते हैं और जो साधक श्रमणत्व के सर्वोच्च अरिहन्त पद पर पहुँच जाता है उसके लिए एकादश परीषह ही शेष रहते है एव जो सिद्ध पद मे पहुचता है उसके समूल परीषहो का नाश हो जाता है।

श्रमणत्व ग्रहण करते समय सुग्रीव नगर के राजकुमार मृगापुत्र को उनकी माता ने श्रमणत्व के अनेक दु ख बताये किन्तु मृगापुत्र ने अविचल भाव से उत्तर दिया कि श्रमण साधना की अपेक्षा ससार मे अनन्त दु ख भरे पडे है, वे दु ख असह्य हैं। वे दु ख निम्न हैं—जन्म, जरा, मृत्यु, रोग इन दु खो से जीव क्लेश पा रहे हैं। अत इस जन्म-मरण के चक्र मे एक क्षण भी सुख नही मान सकता हूँ। मैंने अनन्त बार शारीरिक मानसिक आदि भयानक वेदनाएँ नरकादि दुर्गतियो मे सहन की हैं उनके सामने श्रमणत्व की साधना के दु ख तो अणु जितने भी नही हैं। जैसे एक मृग अरण्य मे एकाकी निवास करता है किन्तु अपने को दु खी नही मानता। इसी प्रकार मैं भी एकाकी रह कर धर्म की साधना करूँगा।" एक बार श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने अपने सभी शिष्यो को आमन्त्रित करके एक महान् सिद्धान्त बताया। उन्होने अपने शिष्यो से प्रश्न किया कि—'आर्यों प्राणियो को किसका भय है? जब शिष्यो ने भगवान से ही इसका प्रति प्रश्न किया तो भगवान ने कहा—अहो आयुष्यमान श्रमणो! सभी प्राणी दु खो से भयभीत होते हैं। शिष्यो ने पूछा—भगवन्, वह दु ख किसने उत्पन्न किया? भगवान ने कहा—वह दु ख जीवो ने अपने प्रमाद से, अर्थात् अज्ञान व असयम से उत्पन्न किया है और उस दु ख को जीव अपने अप्रमाद अर्थात् सम्यक् ज्ञान एव सम्यक् क्रिया सयम से दूर कर सकते हैं।

श्रमण-साधना मे दु खानुभूति है अथवा सुखानुभूति?

यह श्रमण की उसकी मानसिक स्थिति पर निर्भर है। जो श्रमण श्रमणत्व में सुख मानता है उसके लिए उसमें स्वर्ग से भी अधिक सौख्य की अनुभूति होती है और जो श्रमणत्व मे पराजित होकर बाह्य बन्धन से उसमे रहता है उसके लिए श्रमणत्व सातवीं नरक से भी अधिक दु खप्रद है। क्योंकि परिस्थिति की अनुकूलता प्रतिकूलता कभी-कभी कर्त्ता के अधीन होती है। जो परिस्थिति को अपने पुरुषार्थ से स्वेच्छानुसार स्वस्थिति बनाने में समर्थ होता है उसके लिए कहीं दु ख नाम का तत्त्व है ही नहीं। क्योकि सुख-दुःख दोनो का कर्त्ता आत्मा ही है। आत्मा ही वैतरणी नदी एव नन्दन वन के दु ख-सुख का कर्त्ता भोक्ता हैं।

---

१ (क) "समयाए समणो होइ,"
(ख) सव्वभूयप्प-भूयस्स सम्म भूयाइ पासओ—'दशवै० अ० ४, गा० ६
(ग) आत्मवत् सर्वभूतेषु य पश्यति स पण्डित।

२ लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निन्दा पससासु तहा माणावमाणओ॥—उत्त० अ० १६, गा० ६०
अणिस्सिओ इह लोए परलोए आणीस्सओ
वासी चन्दण कप्पो य, असणे अणसणे तहा।—उत्त० अ० १६, गा० ६२

३ 'अतत्ताए परिव्वए'—सूत्र कृतांग अ० ३, उ० ३, गा० ११

४ अतत्ताए सवुडस्स'—सूत्र०, अ० २

५ "जा उ अस्साविणी नावा, न सा पारस्स गामिणी।
जा निरस्साविणी नावा सा उ पारस्स गामिणी।"—
सरीर माहु नावित्ति जीवो वुच्चइ नाविओ।
ससारो अण्णवो वुत्तो ज तरन्ति महेसिणो।"—उत्त० २३

६ न मुंडिएण समणो, ओंकारेण न बम्भणो
न मुणी रण्णवासेण कुसचीरेण तावसो ॥
समयाए समणो होइ बम्भचेरेण बम्भणो ।
मोणेण य मुणी होइ तवेण होइ तावसो ॥—उत्तराध्ययन

७ दस मुण्डा प० त०—सोइंदिय मुंडे, चक्खुन्दिय मुंडे, घाणिन्दिय मुंडे, रसेन्दिय मुंडे, फासिन्दिय मुंडे, कोह मुंडे, माण मुंडे, माया मुंडे, जाव लोभमुंडे, दसमे सिरमुंडे ।" ठाणाग सूत्र १० वा ठाणा'
दसविहे समणधम्मे पण्णत्ते तजहा—खंति, मुत्ति, अज्जवे मद्दवे, लाघवे, सच्चे, सजमे, तवे, चियाए, बमचेरवासे ।
—स्थानाग १०

८ सत्तावीस अणगारगुणा पन्नत्ता तजहा—पाणाइवायाओ वेरमण मुसावायाओ वेरमण, अदिन्नादाणाओ वेरमण, मेहुणतओ वेरमण, परिग्गहाओवेरमण, सोइंदियनिग्गहे, चक्खिदियनिग्गहे, घाणिन्दियनिग्गहे जिब्भिदियनिग्गहे फासिदियनिग्गहे, कोण विवेगे, माण विवेगे मायाविवेगे, लोभविवेगे, भावसच्चे, करण सच्चे, जोगसच्चे खमा, विरागया, मण समाहरणया, वयसमाहरणया, कायसमाहरणया, णाणसपण्णया, दसण सपण्णया, चरित्त सपण्णया वेयण अहियासणया, मारणतिय अहियासणया ।

९ सत्तरसविहे सजमे प० त० पुढवीकाय सजमे, आउकाय सजमे, तेउकाय सजमे, वाउकाय सजमे, वणस्सइकाय सजमे, बेइन्दिय सजमे, तेइन्दिय सजमे, चउरिन्दिय सजमे, पचिदिय सजमे, अजीवकाय सजमे, पेहा सजमे, उवेहा सजमे, अवहट्टु सजमे, अप्पमज्जणा सजमे, मण सजमे, वइ सजमे, काय सजमे ।
—समवायाग सूत्र २७

१० "असजमे नियत्ति व सजमे य पवत्तण" ।—उत्तरा० सू० ३१—२

११ दशवैकालिक अध्ययन ४, गाथा १० से २४

१२ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग —आ० उमास्वाति,

१३ "जगत्काय स्वभावो व सवेग वैराग्यार्थम्"—आ० उमा० तत्त्वार्थ सूत्र

१४ नादसणिस्स नाण, नाणेण विणा न हुन्ति चरणगुणा—उत्तराध्ययन

१५ कह चरे, कह चिट्ठे, कहमासे, कह सए ।
कह भुंजन्तो भासन्तो पावकम्म न बधइ ॥

१६ जय चरे जयचिट्ठे जयमासे जय सए
जय भुजन्तो भासतो पावकम्म ण बन्धइ ।

१७ "सजोगा विप्पमुक्कस्स अणगारस्स भिक्खुणो ।" —उत्तरा० १

१८ पिंड, सिज्ज च वत्थ च चउत्थ पाय मेव य ।
अकप्पिय न इच्छिज्जा, पडिगाहिज्ज कप्पिय ।—दशवै, अ० ६, गा० ४८

१९ ठाणाग सू० ३ ठाणा

२० "कइविहा ण भते आराहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! तिविहा आराहणा पण्णत्ता
तेजहा—नाणाराहणा दंसणाराहणा चरित्ताराहणा ।—भगवती सूत्र श० ८ उद्देशक १०वाँ

□ श्री गोटूलाल मांडोत 'निर्मल'
[रायपुर]

तप एक ज्योति है, एक ज्वाला है। आत्मा से सलग्न कर्म कालुष्य को भस्मसात् कर उसके तेजस स्वरूप को निखारने वाले उस अग्नितत्व-तप साधना की विचित्र प्रक्रियाएँ जैन-धम मे प्रचलित हैं। तप के उन विविध स्वरूपों की एक रूपवाही व्याख्या यहां पढ़िए

जैन साधना मे तप के विविध रूप

[एक सकलन]

□

नव तत्त्वो में कर्मो को क्षय करने वाला तत्त्व निर्जरा है। आत्मा से कर्म-वर्गणाओ का पृथक् होना निर्जरा कहलाता है। निजरा के सामान्यत बारह भेद हैं। ये ही बारह भेद तपस्या के माने जाते हैं, इनका क्रमश नामोल्लेख इस प्रकार है-(१) अनशन, (२) ऊनोदरी, (३) भिक्षाचर्या, (४) रसपरित्याग, (५) कायक्लेश, (६) प्रति सलीनता (७) प्रायश्चित, (८) विनय, (९) वैयावृत्य, (१०) स्वाध्याय, (११) ध्यान और (१२) व्युत्सर्ग।

इनमे से प्रथम छह बाह्य तप के तथा अन्तिम छह आभ्यतर तप के भेद हैं। तपो के ये बारह भेद आत्मा को मोक्ष तक पहुँचाने में आगम सम्मत सीढियाँ हैं बाह्य तपो में आत्मा जब शरीर को समर्पित कर देती है तो वह इतनी निर्मल बन जाती है कि वह आभ्यतर तप को सहज ही स्वीकार कर लेती है।

जैनागमो मे तप को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उत्तराध्ययन सूत्र मे लिखा है-"**भव कोडि सचिय कम्म तवसा निज्जरिज्जई**" करोडों भवों में सचित कर्म तपस्या से नष्ट किये जाते हैं। तप के इन बारह भेदो पर जैन साहित्य मे विपुल वर्णन उपलब्ध है, प्रस्तुत निबन्ध मे तप के प्रथम स्थान अनशन पर ही विवेचनात्मक विचार प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

आहार चार प्रकार के माने गए हैं—

१ **अशन**—अन्न से निर्मित वस्तुएँ, सभी पक्वान्न आदि।

२ **पान**—पानी।

३ **खादिम**—दाख, बादाम आदि सूखा मेवा।

४ **स्वादिम**—चूर्ण, चटनी आदि मुखवास की चीजें।

इन चार प्रकार के आहार का त्याग करना अथवा पान (पानी) को छोड़कर शेष तीन आहारो का त्याग करना अनशन कहलाता है।

अनशन के मुख्य दो भेद हैं—इत्वरिक और यावत्कथिक।

इत्वरिक—अल्पकाल के लिये जो उपवास किया जाता है उसे इत्वरिक अनशन कहते हैं, इसके निम्न चौदह भेद हैं—

१ चतुर्थ भक्त, २ षष्ठ भक्त, ३ अष्टम भक्त, ४ दशम भक्त, ५ द्वादश भक्त, ६ चतुर्दश भक्त, ७ षोडश भक्त, ८ अर्द्धमासिक, ९ मासिक, १० द्विमासिक, ११ त्रिमासिक, १२ चातुर्मासिक, १३ पचमासिक, १४ षाण्मासिक।

इनका सक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है—

जिस उपवास के पहले दिन एक समय के भोजन का, दो समय उपवास के दिन का और पारणे के दिन एक समय के भोजन का त्याग किया जाता है उसे चतुर्थ भक्त कहते हैं। आजकल व्यवहार मे चारों समय आहार का त्याग
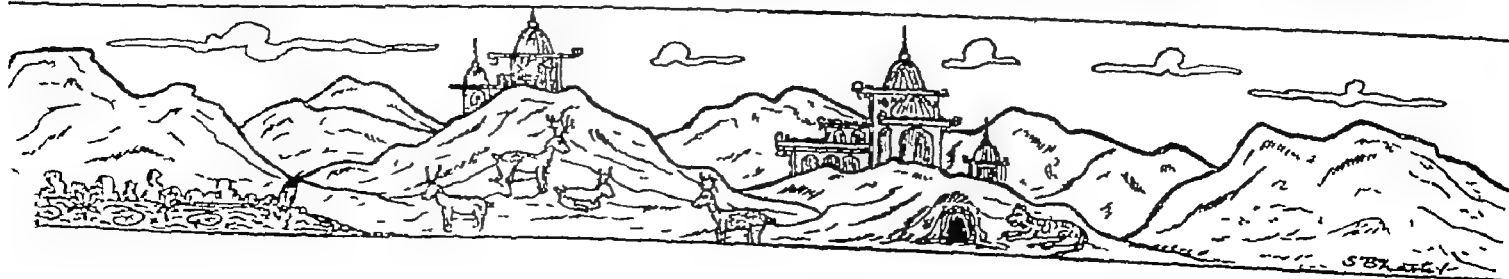
न होने पर भी तथा केवल उपवास के दिन के दोनो समय आहार का त्याग करने पर भी उपवास मान लिया जाता है। वस्तुत चतुर्थ भक्त ही उपवास की सज्ञा है, इसी प्रकार षष्ठ भक्त से तात्पर्य बेला यानि दो उपवास तथा अष्ठम भक्त यानि तेला से है। कहा है—चतुथमेकेनोपवासेन षष्ठ द्वाभ्या अष्टम त्रिभि ।

यावत्कथिक—जो अनशन अल्प समय के लिये नही किया जाता है उसे यावत्कथिक अनशन कहते हैं—इसके तीन भेद हैं—(१) पादपोपगमन, (२) भक्त प्रत्याख्यान, (३) इगित मरण।

पादपोपगमन—पादप का अर्थ वृक्ष है, जिस प्रकार कटा हुआ वृक्ष अथवा वृक्ष की कटी हुई डाली हिलती नहीं, उसी प्रकार सथारा करके जिस स्थान पर जिस रूप मे एक बार लेट जाय फिर उसी जगह उसी रूप मे लेटे रहने पर मृत्यु को प्राप्त हो जाना पादपोपगमन मरण है। इसमे हाथ-पैर हिलाने का आगार भी नहीं होता है। इसमें चारो आहार का त्याग करके अपने शरीर के किसी भी अग को किंचित मात्र भी न हिलाते हुए निश्चय रूप से सथारा करना पादपोपगमन कहलाता है। पादपोपगमन के दो भेद हैं—(१) व्याघातिम (२) निर्व्याघातिम।

सिंह, व्याघ्र, अग्नि आदि का उपद्रव होने पर जो सथारा किया जाता है वह व्याघातिम पादपोपगमन सथारा कहलाता है। तीर्थंकर महावीर के दर्शनार्थ जाते हुए सुदर्शन ने अर्जुनमाली के शरीर मे रहे यक्ष से आते उपसग को जान यही अनशन स्वीकार किया था।

जो किसी भी प्रकार के उपद्रव के बिना स्वेच्छा से सथारा किया जाता है वह निर्व्याघातिम पादपोपगमन सथारा कहलाता है।

भक्त प्रत्याख्यान—यावज्जीवन तीन या चारो आहारों का त्याग कर जो सथारा किया जाता है उसे भक्त-प्रत्याख्यान अनशन कहते हैं इसी को भक्त परिज्ञा भी कहते हैं।

इगित मरण—यावज्जीवन पर्यन्त चारो प्रकार के आहार का त्याग कर निश्चित स्थान मे हिलने-डुलने का आगार रखकर जो सथारा किया जाता है, उसे इगित मरण अनशन कहते हैं, इसे इङ्गिनीमरण भी कहते हैं। इगित मरण सथारा करने वाला अपने स्थान को छोडकर कहीं नहीं जाता है एक ही स्थान पर रहते हुए हाथ-पैर आदि हिलाने का उसे आगार रहता है वह दूसरो से सेवा भी नही करवाता है।

उपरोक्त तीनो प्रकार के सथारा (अनशन), निहारिम और अनिहारिम के भेद से दो तरह के होते हैं, निहारी सथारा नगर आदि के अन्दर और अनिहारी ग्राम-नगर आदि से बाहर किया जाता है।

अनशन तप के दूसरी तरह से और भी भेद किये जाते हैं।

इत्वरी अनशन तप के छह भेद हैं—श्रेणी तप, प्रतर तप, घन तप, वर्ग तप, वग वर्ग तप और प्रकीर्णक तप। श्रेणी तप आदि तपश्चर्याएँ भिन्न-भिन्न प्रकार से उपवासादि करने से होती हैं।

यावत्कथिक अनशन के काय चेष्टा की अपेक्षा से दो भेद हैं। क्रिया सहित (सविचार) और क्रिया रहित (अविचार), अथवा सपरिकर्म (सथारे मे सेवा कराना) और अपरिकम (सथारे मे सेवा नही करवाना)।

इत्वरिक अनशन के श्रेणी तप आदि का विस्तार से निम्नोक्त वर्णन किया जा रहा है—

१ **नमुक्कार सहिअ** (नवकारसी) सूर्योदय से दो घडी के बाद नवकार मन्त्र न कहे तब तक चारो आहारों का त्याग प्रथम और द्वितीय इन दो आगारों से किया जाता है। (आगारो की क्र० स०, नाम और अर्थ इसी निबन्ध में आगे दिये जा रहे हैं)।

२ **पौरिसियं** (पौरिसी) सूर्योदय से लेकर प्रहर तक (दिन के चौथे भाग तक चारों आहारों का त्याग करना पौरिसिय प्रत्याख्यान कहलाता है इसमे आगार संख्या एक से छह तक की होती है।

३ **साड्ढ पौरिसिय**—(डेढ़ पौरिसी) सूर्योदय से लेकर एक डेढ प्रहर तक चारो आहारो का त्याग करना डेढ पौरिसी प्रत्याख्यान कहलाता है। पौरिसिय वाले सभी आगार इसमे होते हैं।

४ **पुरिमड्ढ** (दो पौरिसी)—सूर्योदय से लेकर दोपहर तक चारों आहारों के त्याग करने के पुरिमड्ढ प्रत्याख्यान कहते हैं। इसमे पूर्वोक्त ६ के अतिरिक्त महत्तरागारेण आगार विशेष होता है।

५ **तीन पौरिसी** (अवड्ढ) सूर्योदय से लेकर तीन पहर तक चारो आहारों का त्याग अवड्ढ प्रत्याख्यान कह-लाता है इसमे पूर्वोक्त ७ आगार होते हैं।
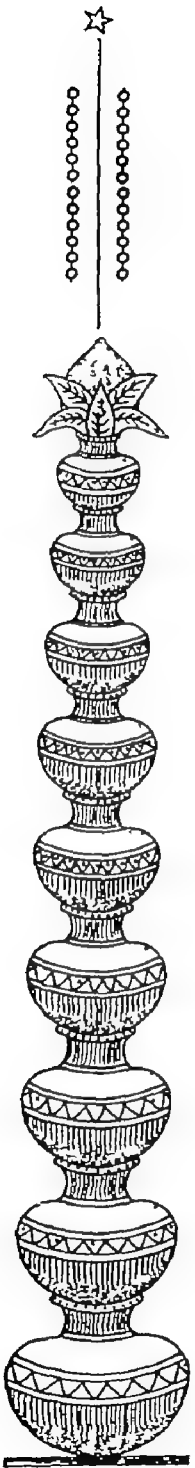
उपरोक्त पाँचो त्यागो को लेने के लिये निम्न पाठ वोलते हैं—उग्गएसूरे (प्रत्याख्यान का नाम) पञ्चक्खामि चउव्विहंपि आहार असण पाण खाइम साइम (आगारो के नाम) वोसिरामी, जहाँ प्रत्याख्यान देने वाले गुरु महाराज या बडे श्रावक जी हो तो लेने वाले को वोसिरामि वोलना चाहिये क्योकि देने वाले वोसिरे शब्द का उच्चारण करते हैं। स्वय ही प्रत्याख्यान लेने पर वोसिरामि शब्द का उच्चारण करना है।

६ **एगासण (एकासन)**—पौरिसी या दो पौरिसी के बाद दिन में एक वार एक ही आसन से भोजन करने को एकासन प्रत्याख्यान कहते हैं इसमे पूर्वोक्त सात तथा सागारिआगारेण आगार विशेष होता है।

७ **वे आसण (दो आसन)**—पौरिसी या दो पौरिसी के बाद दिन मे एक वार दो आसन से भोजन करने को वे आसण प्रत्याख्यान कहते हैं दिन मे दो वार भोजन के सिवाय मुह मे कुछ न खाने को भी वे आसण प्रत्याख्यान कहते हैं इसमे पूर्वोक्त आठ आगार होते हैं। एगासन और वेआसन मे चारों आहारो मे से धारणा पूर्व त्याग किया जाता है यानि एकासन और वे आसन के बाद स्वादिम और पानी लेना हो तो दुविहंपि कहना चाहिये।

८ **एगट्ठाण (एक स्थान)**—एगलठाणा और एकासना के त्याग मिलते-जुलते हैं परन्तु आउट्टण पसारेण का आगार नही रहता है अर्थात् मुँह और हाथ के सिवाय अगोपाग का सकोचन—प्रसारण नही करते हैं। 'सव्व समाहि-वत्तियागारेण' रोगादि की शान्ति के लिये भी औषधादि नही लेवे इस आगार का भी पालन यथासम्भव किया जाता है।

९ **तिविहार उपवास**—पानी के सिवाय तीन आहारो का त्याग करने पर तिविहार उपवास होता है। तिविहार उपवास मे पानी के कुछ विशेष आगार होते हैं। जैसे लेप वाला दूध या छाछ के ऊपर वाला, अन्न के कणो से युक्त तथा धोवन आदि। इसमे आगार स० १, २, ६, ७ और ११वा होते हैं।

१० **चउविहार उपवास**—चारो आहारो का त्याग करने पर चउविहार उपवास होता है इसमे आगार स० १, २, ६, ७, ११ होते हैं।

११ **अभिग्रह**—उपवास के बाद या बिना उपवास के भी अपने मन मे निश्चय कर लेना कि "अमुक बातो के मिलने पर ही पारणा या आहार ग्रहण करूंगा" इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की प्रतिज्ञा विशेष को अभिग्रह कहते हैं। सारी प्रतिज्ञाएँ मिलने पर ही पारणा किया जाता है। इसमें आगार स० १, २, ६, ७ होते हैं। अभिग्रह मे जो बातें धारण करनी हो उन्हें मन मे या वचन द्वारा गुरु के समक्ष निश्चय करके दूसरो के विश्वास के लिये एक पत्र में लिख देना चाहिये। प्रभु महावीर को चन्दनवाला द्वारा दिया गया उडद के बाकुले का दान अभिग्रह का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

१२ **दिवस चरिम**—सूर्य अस्त होने से पहले से दूसरे दिन सूर्योदय तक चारो या तीनो आहारो का त्याग करना दिवस चरिम प्रत्याख्यान है इसमें अभिग्रह के चारों आगार हैं।

१३ **भव चरिम** (यावज्जीवन का त्याग) त्याग करने के समय से लेकर यावज्जीवन तीनों या चारों आहारों का त्याग करना भव चरिम प्रत्याख्यान कहलाता है। इसमें पूर्वोक्त चारों आगार हैं किन्तु घटाये जा सकते हैं।

१४ **आयम्बिल**—पौरिसी या दो पौरिसी के बाद दिन में एक बार नीरस और विगयो से रहित आहार करने को आयम्बिल (आचाम्ल) प्रत्याख्यान कहते हैं इसमें आगार स० १, २, ६, ७, ११, १२, १३ और १४ होते हैं।

१५ **नीवी**—(निव्विगइय) विकार उत्पन्न करने वाले पदार्थों को विकृति (विगय) कहते हैं। दूध, दही आदि भक्ष्य तथा मासादि अभक्ष्य विकृतियाँ हैं। श्रावक के अभक्ष्य विकृतियो का तो त्याग ही होता है और भक्ष्य विकृतियों को छोडना निर्विकृतिक (निव्वीगय) तप कहलाता है। इसमें आयम्बिल के अलावा पडुच्चमक्खिएण आगार विशेष होता है। किसी विगय का त्याग करने पर विगईप्रत्याख्यान तथा समस्त विगय का त्याग करने पर निविगइ प्रत्याख्यान कहते हैं।

१६ **गठि सहिय मुट्ठिसहिय**—चद्दर डोरा आदि के गाठ देकर जहाँ तक न खोले वहाँ तक चारो आहारों के त्याग करने पर गठि सहिय तथा मुट्ठी के बीच अगूठा रहे वहाँ तक आहार त्याग को मुट्ठी सहिय कहते हैं। अगूठी आदि के आगार रहते हैं। ऐसे ही सकल्प अन्य भी होते हैं।

आजकल घण्टे-घण्टे के प्रत्याख्यान भी किये जाते हैं। छोटी डायरियों मे पन्नों पर कई खाने बनाकर उनमें घण्टो के त्यागानुसार चिह्न लगा देते हैं, बाद में उन्हें जोड लिया जाता है। जिह्वा की स्वाद-लोलुपता पर आंशिक नियन्त्रण का यह भी वेजोड साधन है।
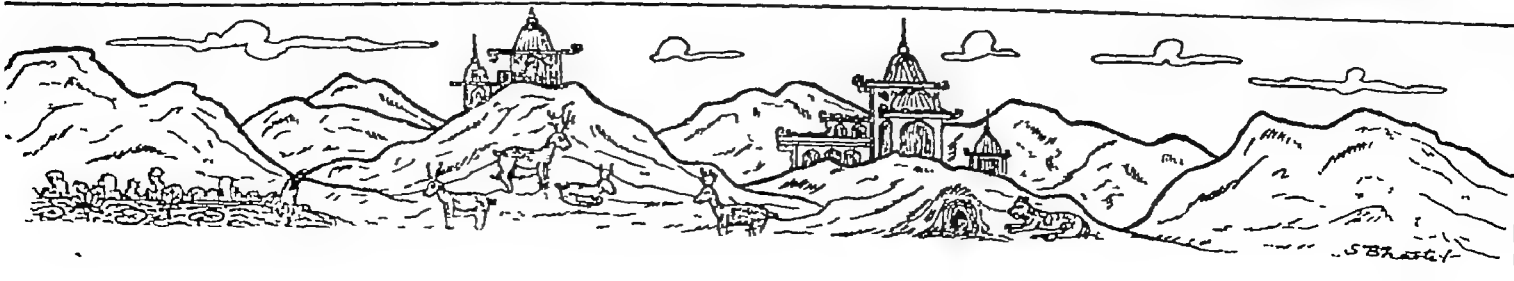
आगारों के अर्थ

१ **अन्नत्थणाभोगेण**—भूल से (बिना उपयोग से) अज्ञात अवस्था मे कोई भी वस्तु मुख मे डालने से त्याग नही टूटते हैं। यदि प्रत्याख्यान याद आने से तुरन्त थूक देवे तो भी त्याग मे दोष नही आता है, बिना जाने खा लिया, बाद मे स्मरण हो जाने पर भी दोष नही लगता है किन्तु शुद्ध व्यावहारिकता के लिए प्रायश्चित्त लेकर निशक होना जरूरी है।

२ **सहस्सागारेण**—जो त्याग लिये हुए हैं वे याद तो जरूर है परन्तु आकस्मिक स्वाभाविक रूप से दधि-मथन करते मुख मे बूँद गिर जाय अथवा गाय-भैंस को दोहते, घृतादिक मथन करते, घृतादिक तोलते, अचानक पदार्थ मुख मे आ जाए, वर्षा की बूँदें चौविहार उपवास मे भी मुख मे पड जावे तो भी त्याग भग नही होते हैं।

३ **पच्छन्नकालेण**—काल की प्रच्छन्नता अर्थात मेघ, ग्रह, दिग्‌दाह, रजोवृष्टि, पर्वत और बादलादि से सूय ढक जाने पर यथातथ्य काल की मालूम न हो उस समय बिना जाने अपूर्ण काल मे खाते हुए भी त्याग भग नही होता।

४ **दिशा मोहेण**—दिशा का मूढ़पना अर्थात् दृष्टि विपर्याय से अजानपूर्वक पूव को पश्चिम और पश्चिम को पूर्व समझ के भोजन करे, खाने के बाद दिशा ज्ञान हो तो भी व्रत भग नही होता है।

५ **साहूवयणेण**—साधुजी (आप्त पुरुष या आगम ज्ञानी) के वचन—पहर दिन चढ गया ऐसा सुनकर आहार करे तो त्याग भग नही होता है।

६ **सव्वसमाहिवत्तियागारेण**—सर्व प्रकार की समाधि रखने के लिए अर्थात् त्याग करने के पश्चात् शूला-दिक रोग उत्पन्न हुए हो या सर्पादिको ने डक दिया हो, उन वेदनाओ से पीडित होकर आर्तध्यान करे तब सब शरीरादिक की समाधि के लिए त्याग पूर्ण नही होने पर भी औषधादिक ग्रहण करे तो उसका नियम भग नहीं होता है। उपशान्ति (समाधि) होने पर यथातथ्य नियम पालना कर ली जाती है।

७ **महत्तरागारेण**—महत् आगार यानि बडा आगार जैसे कोई ग्लानादिक की वैयावच्च के लिए या अन्य से कार्य न होता हो तो गुरु या सघ के आदेश से समय पूर्ण हुए बिना ही आहार करे तो नियम भग नही होता है। कोई भी बडा कार्य यानि त्याग किये हुए हैं उनसे भी अधिक निर्जरा के लाभ का कोई काय हो ऐसी स्थिति मे महत्तरागारेण रखा गया है।

८ **सागारियागारेणं**—साधु आहार के लिए बैठे हुए हैं वहाँ पर अचानक कोई गृहस्थ आ जाते हैं तो उनके सामने आहार ग्रहण नहीं किया जाता है। यदि गृहस्थ वहाँ स्थित रहा हुआ जाना जाय या गृहस्थ की दृष्टि आहार पर पडती हो तो वहाँ से उठकर अन्य स्थान पर जाकर आहार करें, क्योकि गृहस्थ के सामने आहार ग्रहण करने से प्रवचन घातिक महत्‌दोष सिद्धान्त मे कहे हैं। गृहस्थ एकासन करने बैठा हो, उस समय सर्प आता हो, अकस्मात अग्नि लगी हो मकान गिरता हो, पानी आदि का बहाव आता हो तो भी वहाँ से उठकर अन्य स्थान पर जाते हुए भी एकासनादि नियम भग नही होता है।

९ **आउट्टणपसारेण**—भोजन करते समय हाथ-पैर और अगोपाङ्गादिक सकोचते या पसारते आसन से चलित हो जाय तो नियम भग नहीं होता है।

१० **गुरु अब्भुट्ठाणेण**—एकासन करते समय गुरु, आचार्य, उपाध्याय और मुनिराज पधार जायें तो उनकी विनय भक्ति के लिए उठ-बैठ करने पर भी नियम भग नहीं होता है।

११ **पारिठावणियागारेण**—निर्दोष रीति से ग्रहण किया हुआ आहार शास्त्रोक्त रीति से खाने के बाद भी अधिक हो जाय तथा उस स्निग्ध विगयादिक आहार को डालने से जीव विराधनादिक कई दोष उत्पन्न हो जायें यह जान के शेष बचे हुए आहार को गुरु की आज्ञा से एकासनादि तप से लेकर उपवास पर्यन्त तप धारक साधु उस आहार को ग्रहण करे फिर भी नियम भग नहीं होता है यह आगार साधुजी के लिए ही माना गया है।

१२ **लेवालेवेण**—घृतादिक से हाथ अथवा बर्तन के कुछ अश भोजन मे लगे उसे लेप कहते हैं। वस्त्रादि से उसे पोछ लेने पर लेप दृष्टिगत न हो उसे अलेप कहते हैं। ऐसे लेप और अलेप वाले बतनो मे भोजन लेने से नियम भग नही होता है।

१३ **गिहत्थ ससट्ठे ण**—विगयों से भरे हाथ, चम्मच आदि से आहार दिया-लिया जाने पर भी नियम भग नही होता है।

१४ **उक्खित्तविवेगेण**—ऊपर रखे हुए गुड, शक्कर आदि को उठा लेने पर भी उनका अश जिसमे लगा रह गया हो ऐसे आहार को लेने से नियम भग नही होता है।

१५ **पडुच्चमक्खिएण**—रोटी आदि पदार्थ को नरम बनाने के लिए घी, तैल आदि लगाए गये हो तो वह आहार लेने से नियम भग नही होता है।

श्री भगवती सूत्र के सातवें शतक के आठवें उद्देशक मे सव उत्तर गुण पच्चक्खाण के दस भेद इस प्रकार किये गये हैं—

१ *अणागय*—चतुर्दशी आदि के दिन तप करना हो उस दिन यदि आचार्यादिक की विनय वैयावृत्यादि कराना हो तो एक दिन पहले तप करे उसे अनागत कहते हैं।

२ **मइक्कंत**—आचार्यादिक की वैयावृत्यादि करने के बाद तप करे सो अतिक्रात तप है।

३ **कोडीसहिय**—आदि, अन्त और मध्य में लिए हुए तप को अनुक्रम से पूर्ण करना कोडीसहिय तप कहलाता है।

४ **नियठिय**—अमुक दिन तप ही करूँगा, उसे नियन्त्रित कहते हैं।

५ **सागार**—आगार सहित तप करने को सागारिक तप कहते हैं।

६ **अनागार**—विना आगार का तप अणागारिक तप कहलाता है।

७ **परिमाणकड**—अमुक दिन तक ऐसा ही तप करूँगा सो परिमाणकृत तप कहलाता है।

८ **निरवसेस**—सर्वथा आहारादिको के त्याग करने को निर्विशेष तप कहते हैं।

९ **सकिय**—गठी-मुट्ठी आदि के त्याग करने को सकेत प्रत्याख्यान कहते हैं।

१० **अद्धाए**—नमुक्कारसी-पोरिसी आदि को अद्धा तप कहते हैं।

'पच्चक्खाणमवे दसहा' इस प्रकार पच्चक्खाण दस प्रकार से होता है।

अतिचार

तप के ५ अतिचार हैं उनका सक्षिप्त अर्थ इस प्रकार है—

१ **इहलोगासंसप्पओगे**—इस लोक मे ऋद्धि प्राप्त करने के लिए तप करना प्रथम अतिचार है।

२ **परलोगाससप्पओगे**—परलोक के लिए इन्द्रादि सुखो की इच्छा से तप करे यह द्वितीय अतिचार है।

३ **जीवियाससप्पओगे**—अपनी महिमा देख जीने की इच्छा से तप करे यह तृतीय अतिचार है।

४ **मरणाससप्पओगे**—महिमा न हो ऐसा जान मरने की इच्छा से तप करे यह चतुर्थ अतिचार है।

५ **कामभोगाससप्पओगे**—काम-भोग प्राप्त करने की इच्छा से तप करे यह पचम अतिचार है।

इन अतिचारो को जानकर निष्काम भाव से तपाराधना की जानी चाहिए। की गई तपस्या का निदान कभी नही करना चाहिए।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र की अभिवृद्धि के लिए कई तिथियों पर विशेष तप प्रारम्भ किये जाते हैं। सक्षेप में कनकावली आदि तपों का तथा पर्व और व्रतो की तिथियो का वर्णन (जिन तिथियो पर अनशन तपाराधना की जाती है) किया जा रहा है।

(१) **रत्नावली तप**—रत्नावली तप की एक लडी में एक वर्ष, तीन महीने और बावीस दिन लगते हैं जिनमें से तीन सौ चौरासी दिन उपवास के और अठ्यासी दिन पारणे के, यों कुल चार सौ बहत्तर दिन होते हैं। इसकी विधि इस प्रकार है।

उपवास करके पारणा, फिर बेला करके पारणा, तेला करके पारणा, पारणा करके आठ बेले किए जाते हैं। इसके बाद उपवास→पारणा→बेला→पारणा इस तरह अन्तर से सोलह तक उपवास करके चौंतीस बेले किए जाते हैं। फिर जिस क्रम से तपस्या प्रारम्भ की थी उसके विपरीत लडी में उपवास तक उतरा जाता है। फिर आठ बेले करके पारणा→बेला→पारणा→बेला→पारणा→उपवास किया जाता है। रत्नावली तप की चार लडियां की जाती हैं, दूसरी लडी में विगयो का त्याग रहता है, तीसरी लडी के पारणों में लेप वाले पदार्थों का भी त्याग रहता है तथा चौथी लडी के पारणों में आयम्बिल किए जाते हैं।
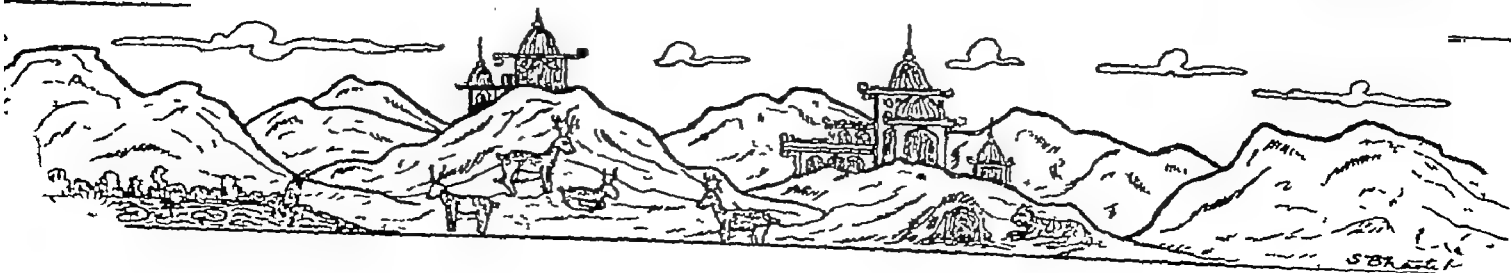
(२) **कनकावली तप**—रत्नावली तप मे जहा तीन वेले किए जाते हैं वहाँ कनकावली मे तीन तेले किए जाते हैं। इसकी एक लडी मे एक वर्ष, पाँच महीने और बारह दिन लगते हैं। जिसमे से अठासी दिन पारणे के और एक वर्ष दो महीने और चौदह दिन तपस्या के होते हैं। इसकी भी चार लडी होती है तथा ३४ वेलो की जगह भी ३४ तेले किए जाते हैं।

(३) **लघुसिंहनिष्क्रीडित तप**—इसमे तैंतीस दिन तो पारणे के तथा पाँच महीने चार दिन की तपस्या एक लडी मे होती है।

(४) **महासिंहनिष्क्रीडित तप**—इसमे इकसठ दिन तक पारणा किया जाता है तथा एक वर्ष चार माह और सत्रह दिन अर्थात् चार सौ सत्तानवें दिन तपस्या के होते हैं। इस तप की भी चार लडी की जाती है।

(५) **सप्त-सप्तमिका तप**—सात दिन तक नित्यप्रति एक वक्त मे रोटी का पाव हिस्सा और एक बार की धारा मे जितना पानी आता हो उतना ही उस रोज खाते-पीते हैं। यही क्रम सात दिन तक रखा जाता है। दूसरे सप्ताह मे दो बार भोजन मे पाव-पाव रोटी व इसी तरह पानी ग्रहण करना, इसी तरह क्रमश तीसरे सप्ताह मे तीन बार सातवें सप्ताह मे सात बार गृहस्थो द्वारा दिए गए भोजन और पानी को ग्रहण कर उसी पर अपने प्राणो की प्रतिपालना की जाती है इसे ही सप्त-सप्तमिका भिक्षु पडिमा कहते हैं।

अष्टम-अष्टमिका आदि तप—सप्तम-सप्तमिका तप की तरह ही अष्टम-अष्टमिका तप किया जाता है, अन्तर केवल इतना ही है कि यह आठ सप्ताह तक किया जाता है। नवम-नवमिका नौ सप्ताह तक तथा दशम-दशमिका—दस सप्ताह तक किया जाता है।

(६) **लघु सर्वतोभद्र तप**—सर्वप्रथम उपवास→पारणा→वेला→पारणा→तेला यो चोला, पचोला, तेला, चोला, पचोला, उपवास, बेला, पचोला, उपवास, बेला, तेला, चोला, बेला, तेला, चोला, पचोला, उपवास चौला, पचोला उपवास, बेला और तेला किया जाता है इसमे पचहत्तर दिन तपस्या के तथा पच्चीस दिन पारणे के होते हैं। इस तप की भी चार लडियाँ होती हैं।

(७) **महासर्वतोभद्र तप**—इस तप की एक परिपाटी करने मे तपस्या के दिन १९६ लगते हैं और पारणे के दिन ४९ होते हैं यों एक परिपाटी मे कुल दो सौ पैंतालीस दिन लगते हैं इसका चित्र इस प्रकार है—

१	२	३	४	५	६	७
४	५	६	७	१	२	३
७	१	२	३	४	५	६
३	४	५	६	७	१	२
६	७	१	२	३	४	५
२	३	४	५	६	७	१
५	६	७	१	२	३	८

(८) **भद्रोत्तर तप**—एक परिपाटी मे एक सौ पिचहत्तर तपस्या के तथा पच्चीस दिन पारणे के होते हैं इस का क्रम इस प्रकार है—

५	६	७	८	९
७	८	९	५	६
९	५	६	७	८
६	७	८	९	५
८	९	५	६	७

(९) **मुक्तावली तप**—इसमें उपवास करके पारणा, फिर बेला करके पारणा, फिर उपवास करके पारणा, तेला करके पारणा, फिर उपवास। इस तरह एक एक उपवास के अन्तर से सोलह तक पहुँचते हैं, फिर उसी क्रम से उतरकर उपवास तक आया जाता है। इसकी एक परिपाटी मे उनसाठ दिन पारणे के तथा दो सौ छियासी दिन तपस्या के होते हैं।

(१०) **आयम्बिल वर्द्धमान तप**—इसमे एक आयम्बिल दूसरे दिन उपवास, फिर दो आयम्बिल—उपवास→तीन आयम्बिल—उपवास→चार आयम्बिल—उपवास—यों बीच-बीच मे उपवास करते हुए सौ तक आयम्बिल किए जाते हैं तपस्या की इस एक लडी में चौदह वर्ष, तीन मास और बीस दिन लगते हैं।

(११) **वृहद ज्ञान पञ्चमी तप**—प्रत्येक माह की शुक्ला पचमी को लगातार साढे पाँच वर्ष तक व्रताराधना सम्यक् ज्ञान प्राप्ति के लिए की जाती है। कार्तिक शुक्ला पचमी को तो अवश्य ही व्रत किया जाना चाहिए। तप पूर्ति पर ज्ञानोपकरण प्रदान किए जाने चाहिए। 'ओ३म् ह्रीं श्रीं नमो नाणस्स' पद का सवा लक्ष जाप किया जाना श्रेयस्कर है।

(१२) **रोहिणी तप**—रोहिणी नक्षत्र के दिन उपवास, नीविगय या आयम्बिल से सात वर्ष सात मास तक यह व्रत किया जाता है।

(१३) **वर्षी तप व्रत विधि**—३६० उपवास फुटकर या उपवासों को एकान्तर कर दो वर्ष मे इस तप को पूरा किया जाता है अक्षय तृतीया को इसका पारणा किया जाता है।

(१४) **दश प्रत्याख्यान तप**—नमोकारसी १, पोरसी २, साढ पोरसी ३, पुरिमड्ढ ४, एकासना ५, नीवी ६, एगलठाणा ७, दात्त ८, आयम्बिल ९, उपवास फिर १० अभिग्रह इस प्रकार दश विधि प्रत्याख्यान की आराधना की जाती है।

(१५) **ढाई सौ प्रत्याख्यान तप**—२५ नमोकारसी, २५ पोरसी, २५ डेढ पोरसी, २५ एकासना, २५ एकलठाणा, २५ नीविगय, २५ आयम्बिल, २५ अभिग्रह और २५ पौषधोपवास तप करने पर ढाई सौ प्रत्याख्यान तप पूरा होता है।

(१६) **चन्दनबाला तप व्रत**—साधु-साध्वीजी का समागम अपने क्षेत्र मे होने पर ही यह व्रत करना लाभ-दायक रहता है क्योकि सुपात्र दान देने के लिए ही यह तप किया जाता है। अष्टम भक्त (तेला) करके चौथे दिन (पारणे के दिन) मुनिराज को गोचरी वहिरा कर उडद का बाकुले का पारणा करना चाहिए। आयम्बिल का प्रत्याख्यान करना

(२) **कनकावली तप**—रत्नावली तप मे जहा तीन बेले किए जाते हैं वहाँ कनकावली मे तीन तेले किए जाते हैं। इसकी एक लडी मे एक वर्ष, पाँच महीने और बारह दिन लगते हैं। जिसमे से अठासी दिन पारणे के और एक वर्ष दो महीने और चौदह दिन तपस्या के होते हैं। इसकी भी चार लडी होती है तथा ३४ बेलो की जगह भी ३४ तेले किए जाते हैं।

(३) **लघुसिंहनिष्क्रीडित तप**—इसमे तैंतीस दिन तो पारणे के तथा पाँच महीने चार दिन की तपस्या एक लडी मे होती है।

(४) **महासिंहनिष्क्रीडित तप**—इसमे इकसठ दिन तक पारणा किया जाता है तथा एक वर्ष चार माह और सत्रह दिन अर्थात् चार सौ सत्तानवें दिन तपस्या के होते हैं। इस तप की भी चार लडी की जाती है।

(५) **सप्त-सप्तमिका तप**—सात दिन तक नित्यप्रति एक वक्त मे रोटी का पाव हिस्सा और एक बार की धारा मे जितना पानी आता हो उतना ही उस रोज खाते-पीते हैं। यही क्रम सात दिन तक रखा जाता है। दूसरे सप्ताह में दो बार भोजन मे पाव-पाव रोटी व इसी तरह पानी ग्रहण करना, इसी तरह क्रमश: तीसरे सप्ताह मे तीन बार ...... सातवें सप्ताह मे सात बार गृहस्थो द्वारा दिए गए भोजन और पानी को ग्रहण कर उसी पर अपने प्राणो की प्रतिपालना की जाती है इसे ही सप्त-सप्तमिका भिक्षु पडिमा कहते है।

अष्टम-अष्टमिका आदि तप—सप्तम-सप्तमिका तप की तरह ही अष्टम-अष्टमिका तप किया जाता है, अन्तर केवल इतना ही है कि यह आठ सप्ताह तक किया जाता है। नवम-नवमिका नौ सप्ताह तक तथा दशम-दशमिका—दस सप्ताह तक किया जाता है।

(६) **लघु सर्वतोभद्र तप**—सर्वप्रथम उपवास→पारणा→बेला→पारणा→तेला यो चोला, पचोला, तेला, चोला, पचोला, उपवास, बेला, पचोला, उपवास, बेला, तेला, चोला, बेला, तेला, चोला, पचोला, उपवास चोला, पचोला उपवास, बेला और तेला किया जाता है इसमे पचहत्तर दिन तपस्या के तथा पच्चीस दिन पारणे के होते हैं। इस तप की भी चार लड़ियाँ होती हैं।

(७) **महासर्वतोभद्र तप**—इस तप की एक परिपाटी करने मे तपस्या के दिन १९६ लगते हैं और पारणे के दिन ४९ होते हैं यो एक परिपाटी मे कुल दो सौ पैंतालीस दिन लगते हैं इसका चित्र इस प्रकार है—

१	२	३	४	५	६	७
४	५	६	७	१	२	३
७	१	२	३	४	५	६
३	४	५	६	७	१	२
६	७	१	२	३	४	५
२	३	४	५	६	७	१
५	६	७	१	२	३	४

(८) **भद्रोत्तर तप**—एक परिपाटी मे एक सौ पिचहत्तर तपस्या के तथा पच्चीस दिन पारणे के होते हैं इस का क्रम इस प्रकार है—

५	६	७	८	९
७	८	९	५	६
९	५	६	७	८
६	७	८	९	५
८	९	५	६	७

(९) **मुक्तावली तप**—इसमे उपवास करके पारणा, फिर बेला करके पारणा, फिर उपवास करके पारणा, तेला करके पारणा, फिर उपवास। इस तरह एक एक उपवास के अन्तर से सोलह तक पहुंचते हैं, फिर उसी क्रम से उतरकर उपवास तक आया जाता है। इसकी एक परिपाटी मे उनसाठ दिन पारणे के तथा दो सौ छियासी दिन तपस्या के होते हैं।

(१०) **आयम्बिल वर्द्धमान तप**—इसमे एक आयम्बिल दूसरे दिन उपवास, फिर दो आयम्बिल—उपवास→तीन आयम्बिल—उपवास→चार आयम्बिल—उपवास—यो बीच-बीच मे उपवास करते हुए सौ तक आयम्बिल किए जाते हैं तपस्या की इस एक लडी मे चौदह वर्ष, तीन मास और बीस दिन लगते हैं।

(११) **बृहद ज्ञान पञ्चमी तप**—प्रत्येक माह की शुक्ला पचमी को लगातार साढे पाँच वर्ष तक व्रताराधना सम्यक् ज्ञान प्राप्ति के लिए की जाती है। कार्तिक शुक्ला पचमी को तो अवश्य ही व्रत किया जाना चाहिए। तप पूर्ति पर ज्ञानोपकरण प्रदान किए जाने चाहिए। 'ओ३म् ह्रीं श्रीं नमो नाणस्स' पद का सवा लक्ष जाप किया जाना श्रेयस्कर है।

(१२) **रोहिणी तप**—रोहिणी नक्षत्र के दिन उपवास, नीविगय या आयम्बिल से सात वर्ष सात मास तक यह व्रत किया जाता है।

(१३) **वर्षी तप व्रत विधि**—३६० उपवास फुटकर या उपवासो को एकान्तर कर दो वर्ष मे इस तप को पूरा किया जाता है अक्षय तृतीया को इसका पारणा किया जाता है।

(१४) **दश प्रत्याख्यान तप**—नमोकारसी १, पोरसी २, साढ पोरसी ३, पुरिमड्ढ ४, एकासना ५, नीवी ६, एगलठाणा ७, दात्त ८, आयम्बिल ९, उपवास फिर १० अभिग्रह इस प्रकार दश विधि प्रत्याख्यान की आराधना की जाती है।

(१५) **ढाई सौ प्रत्याख्यान तप**—२५ नमोकारसी, २५ पोरसी, २५ डेढ पोरसी, २५ एकासना, २५ एकलठाणा, २५ नीविगय, २५ आयम्बिल, २५ अभिग्रह और २५ पौषधोपवास तप करने पर ढाई सौ प्रत्याख्यान तप पूरा होता है।

(१६) **चन्दनबाला तप व्रत**—साधु-साध्वीजी का समागम अपने क्षेत्र मे होने पर ही यह व्रत करना लाभदायक रहता है क्योकि सुपात्र दान देने के लिए ही यह तप किया जाता है। अष्टम भक्त (तेला) करके चौथे दिन (पारणे के दिन) मुनिराज को गोचरी वहिरा कर उडद का बाकुले का पारणा करना चाहिए। आयम्बिल का प्रत्याख्यान करना

चाहिए। हाथ में सूत की आटी डालकर तथा सूपडे मे उडद का बाकुला रखकर भी दान दिया जा सकता है। सघ स्नेह का कार्य अवश्यमेव किया जाना चाहिए।

(१७) **पचरगी तप**—पहले दिन पाच पुरुष या स्त्रियाँ उपवास या आयम्बिल या दया व्रत करे, दूसरे दिन वे पाँच तथा अन्य, तीसरे दिन पाँच और इस तरह पाँचवें दिन २५ ही व्यक्ति व्रताराधना करें तो एक पचरगी तप पूर्ण होता है।

(१८) **धर्म चक्र**—४२ व्यक्ति एक साथ वेला करें तथा एक अन्य व्यक्ति तेला करे तो एक धर्म चक्र होता है।

(१९) **आयम्बिल ओली व्रत**—अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग् चारित्र और तप इन नौ पदो से सम्बन्धित व्रत नवपद या सिद्ध चक्र या आयम्बिल ओली व्रत कहलाते हैं। चैत्र शुक्ला १ से ९ तक तथा आसोज शुक्ला एकम से नवमी तक नौ-नौ आयम्बिल किए जाते हैं। नवपद जी की ओली साढ़े चार वर्ष तक करने की मान्यता है। यथासम्भव नौ ही दिन आयम्बिल भिन्न-भिन्न पदार्थों से किए जाते हैं।

(२०) **मौन एकादशी**—मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी के दिन अनेक तीर्थंकरो के कल्याणक हुए हैं यथा—

(१) अठारहवें तीर्थंकर ने इसी दिन दीक्षा ली।

(२) उन्नीसवें तीर्थंकर के जन्म, दीक्षा और केवल इसी दिन हुए।

(३) इक्कीसवें तीर्थंकर को केवलज्ञान इसी दिन हुआ। इसी दिन पाँच भरत मे, पाँच एरावत क्षेत्रो मे, पाँच-पाँच सब मिलाकर पचास कल्याणक तथा अतीत और अनागत के भेद से डेढ़ सौ कल्याणको से सम्बन्धित यह पर्व आराधना के लिए अति उत्तम माना जाता है। मौन सहित उपवास मार्गशीर्ष महीने की सुदी ग्यारस को करना चाहिए। ग्यारह वर्षों तक प्रति वर्ष मौन एकादशी का उपवास अथवा ग्यारह महीनो तक सुदी ग्यारस को किया जाना लाभकारी रहता है। तीर्थंकरों के कल्याणक की माला अवश्य फेरनी चाहिए।

(२१) **मेरू त्रयोदशी**—वर्तमान अवसर्पिणी काल के सुषमसुषमा नामक तीसरे आरे के तीन महीने पन्द्रह दिन बाकी रहे तब माघ वदी १३ के दिन प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव जी मोक्ष मे पधारे। अढाई द्वीप में पाँच मेरू हैं प्रभु के साथ दस हजार मुनियो ने शैलेशीकरण करके मेरू जैसी अचल स्थिति को प्राप्त कर ली थी। साधक पूर्वकाल मे रत्नो के मेरू रचकर व्रताधराना करते थे अब साकर के पाँच मेरू रचने का व्यवहार प्रचलित है।

(२२) **चैत्री पूर्णिमा व्रत**—मान्यता है कि पाँच करोड मुनिवरो के साथ इस दिवस को श्री सिद्ध गिरि जी पर पुण्डरीक स्वामी मोक्ष पधारे। श्री पुण्डरीक स्वामी भगवान ऋषभदेव के प्रथम गणधर थे। चैत्र मास की ओली का भी यह दिन है। पूर्णिमा पर्व तिथि भी है। त्रिवेणी रूप यह व्रत लाभदायक है।

(२३) **पञ्च कल्याणक तप**—यह व्रत एक वर्ष मे भी पूरा होता है। इसमे १२० उपवास और १२० पारणा होते हैं, जिस-जिस तिथि मे तीर्थंकर का कल्याणक हुआ हो उस तिथि का उपवास करना चाहिए। पाँच वर्ष में भी यह तप पूरा किया जाता है प्रथम वर्ष मे तीर्थंकरो के गर्भ की तिथियो के २४ उपवास करे इसी प्रकार द्वितीय वर्ष में जन्म के २४, तीसरे वर्ष मे सयम (तप) के २४, चौथे वर्ष केवल ज्ञान के २४ और पाँचवें वर्ष निर्वाण के २४ उपवास किये जाते हैं। निर्वाण कल्याणक के बेले करने पर २४ बेले और २४ पारणे होते हैं, इसे निर्वाण कल्याणक वेला व्रत कहते हैं।

(२४) **कर्मनिर्जरा व्रत**—यह व्रत आषाढ शुक्ला चतुर्दशी से प्रारम्भ होता है अर्थात् दर्शन विशुद्धि के निमित्त आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी का उपवास करना चाहिये। दर्शन विशुद्धि की भावना माननी चाहिए। 'ओं ह्रीं दर्शन विशुद्धये नम' इस मन्त्र का जाप करना चाहिए। सम्यग्ज्ञान भावना के निमित्त श्रावण शुक्ला चतुर्दशी को उपवास करके सम्यग्ज्ञान भावना का चिंतवन करना चाहिए। 'ओं ह्री सम्यग्ज्ञानाय नम' इस मन्त्र की माला फेरनी चाहिए।

सम्यक्चारित्र के लिए भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी को उपवास करके सम्यक्चारित्र भावना का चिंतवन करे। 'ओ ह्रीं सम्यक्चारित्राय नम' इस मन्त्र की माला फेरनी चाहिए।

सम्यक् तप के निमित्त आसोज शुक्ला चतुर्दशी को उपवास करके तप की भावना का चिंतवन करना तथा 'ओ ह्री सम्यक् तपसे नम' मन्त्र की माला फेरनी चाहिए।

(२५) **नवनिधि व्रत**—नवनिधियो की नव नवमियो के उपवास ४ माह और एक पक्ष मे करके फिर रत्नत्रय के तीन उपवास तीन तीजो को डेढ माह मे करें। पाँच ज्ञान के उपवास पचमी को ढाई महिने मे करना चाहिए। चौदह रत्नो के उपवास किसी भी मास की चतुर्दशी से प्रारम्भ किए जा सकते हैं, सात माह मे १४ चतुदशियो के उपवास करना चाहिए इस प्रकार एक वर्ष ३ माह और एक पक्ष मे यह नव विधि व्रत पूण होता है।

(२६) **अशोक वृक्ष तप व्रत**—अषाढ शुक्ला पडवा, दोज, तीज, चौथ और पचमी तक एकासना तथा आयम्बिल एक वर्ष तक हर माह मे किये जाते हैं, मनोनिग्रह के लिये यह व्रत किया जाता है।

(२७) **षट्काय आलोचना तप व्रत विधि**—एकेन्द्रिय का एक उपवास, बेइन्द्रिय के दो उपवास, तेइन्द्रिय का तेला, चतुरेन्द्रिय का चोला तथा पचेन्द्रिय का पचोला और समुच्चय छ काय का छ उपवास करना चाहिए। 'खामेमी सव्वे जीवा न केणई' इस गाथा का साढे बारह हजार जप करना चाहिए।

(२८) **पचामृत तेला तप व्रत**—किसी भी मास की शुक्ल पक्ष की पडवा से पाँच तेले किये जाते हैं। पारणे के लिए अभिग्रह रखने की मान्यता है।

(२९) **पाक्षिक तप व्रत विधि**—शुभ दिन, मुहुत, वार देखकर गुरुमुख से पखवासा तप ग्रहण करे और शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से पूणमासी तक लगातार पन्द्रह दिन के उपवास करे यदि एक साथ मे १५ उपवास करने की शक्ति न हो तो प्रथम माह मे सुदी प्रतिपदा को, दूसरे माह मे बीज को इस तरह पन्द्रहवें दिन सुदी १५ को व्रत पूण करे, प्रत्येक व्रत के दिन पौषध करके देवसी-रायसी प्रतिक्रमण करना चाहिए। मुनिसुव्रत स्वामी का सवा लक्ष जप मौन सहित करना चाहिए।

(३०) **दीपावली व्रत**—कार्तिक कृष्णा अमावस्या को तीर्थंकर महावीर ने निर्वाण पद प्राप्त किया था, उन्होंने निर्वाण से पूव निरन्तर १६ प्रहर तक धर्मदेशना दी थी, स्मृति स्वरूप दीपावली के दिन उपवास किया जाता है। यदि दीपावली अमावस्या की हो तो तेरस से तथा चतुदशी की हो तो बारस से तेला व्रत कई मुनिराज व श्रावक करते हैं। दीपावली पर तेला करना अत्यन्त शुभ माना जाता है।

(३१) **कषाय-जय तप व्रत विधि**—क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारो कषायो के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और सज्वलन की चौकडियो के चार चार भेद करने से कषायो के सोलह भेद होते है। इन सोलह कषायो को जय करके प्रकृतियो की उपशान्ति के लिये एकासन निविगय, आयम्बिल उपवास इस प्रकार सोलह दिन तक तप करे। 'ओ३म निरजनाय नम' इस पद के सवालक्ष जप मौन युक्त करना चाहिए।

(३२) **तीर्थंकर गोत्र कर्मोपार्जन करने की तप व्रत विधि**—इस तप को किसी भी मास की शुक्ला प्रतिपदा से प्रारम्भ करना चाहिए। एक ओली को जघन्य दो मास में और उत्कृष्ट ६ मास मे पूर्ण करे। यदि ६ मास मे ओली पूर्ण नहीं कर सके तो ओली गिनती मे नही गिनी जाती। बीसो ओलियो के बीस भेद हैं। चाहे बीसो दिन मे एक ही पद जपें चाहे अलग-अलग। यथासम्भव जिस पद की ओली हो उसी पद की माला फिरानी चाहिए। तेले की शक्ति होने पर तेले से अथवा बेले से और बेले से भी सम्भव न हो तो चौविहार या तिविहार उपवास करके व्रताराधना करनी चाहिए। शक्ति न होने पर आयम्बिल तथा एकासना भी किये जा सकते हैं। चारसौ तेले या बेले या उपवास करने से इसकी बीस ओलियाँ पूर्ण होती हैं जिस पद मे जितने गुण हो उतने ही लोगस्स का कायोत्सग करना चाहिए। पद के गुणो का हृदय मे स्मरण कर उदात्त स्वर से स्तुति करनी चाहिए। तप पूर्ति पर दयाव्रत पलाकर सस्थाओ को यथाशक्ति सहायता देनी चाहिए। इस प्रकार बीसो पदो की आराधना करने वाली आत्मा तीर्थंकर गोत्र कर्मोपार्जन करती है।

बीसो पदो की २१-२१ मालाएँ फेरनी चाहिए तथा प्रत्येक पद के साथ 'ओम् ह्रीं' लगाना चाहिए पद और उनके गुणो की सारणी इस प्रकार है—

(१) नमो अरिहताण	१२
(२) नमो सिद्धाण	८
(३) नमो पवयणस्स	१५
(४) नमो आयरियाण	३६
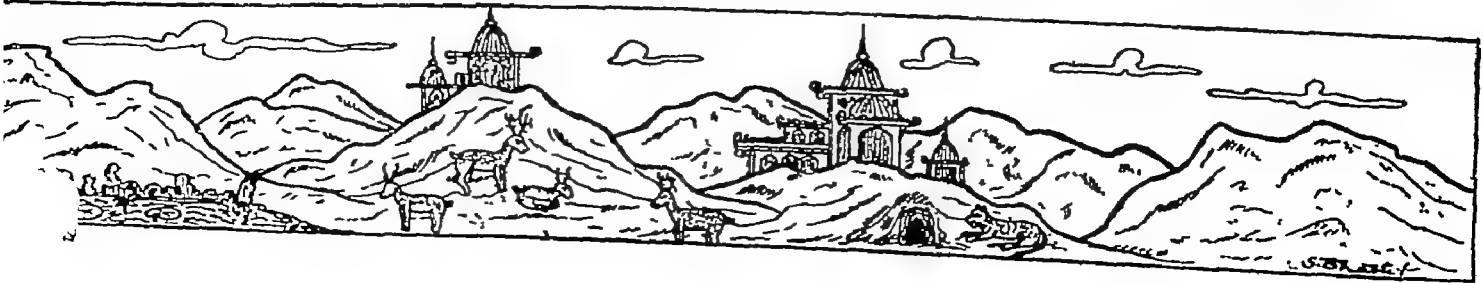
(५) नमो थेराण	१५
(६) नमो उवज्झायाण	२५
(७) नमो लोए सव्वसाहूण	२७
(८) नमो नाणस्स	५
(९) नमो दसणस्स	१७
(१०) नमो विनय सपन्नाण	१०
(११) नमो चरित्तस्स	५
(१२) नमो बम्भवयधारीण	९
(१३) नमो किरियाण	२५
(१४) नमो तवस्सीण	१५
(१५) नमो गोयमस्स	१७
(१६) नमो जिणाण	१०
(१७) नमो चरणस्स	१२
(१८) नमो नाणस्स	५
(१९) नमो सुयनाणस्स	१०
(२०) नमो तित्थयरस्स	५

यो तो अनशन तप से सम्बन्धित कई व्रत और भी हैं किन्तु मुख्य-मुख्य व्रतो का सकलन इस निबन्ध में किया गया है।

प्रत्येक तप में माला फेरना चाहिए। व्रत के पूर्ण होने पर धर्म लाभ (दानादि) शक्ति व सामर्थ्यानुसार करना चाहिए। तप से आत्मा निमल होती है क्योंकि आत्मा के शत्रु क्रोधादि कपाय को तप समाप्त कर देते हैं। कर्मो की निजरा इससे होती है। तप के विषय में विस्तृत जानकारी एव शास्त्रीय परिभाषाए समझने के लिए—'जैन धम मे तप स्वरूप और विश्लेषण' (श्री मरुधर केसरी) पुस्तक अवश्य पढ़ना चाहिए।

तप व्रताराधन अतिचारो से मुक्त रहना चाहिए। ससार वर्धन के लिये व्रताराधना की आवश्यकता नहीं है क्योकि वह तो अपने आप हो ही रहा है। ससार के भोगोपभोगों से आत्मा क्षोभ व संक्लेश परिणामों से संयुक्त होता है अत आत्म जागृति ही इसका परम लक्ष्य होना चाहिए। चित्त की आकुलता से अस्थिर भावों के कारण तप व्रत निमल नहीं हो पाता है अत चित्त की स्थिरता तथा व्रतो को भार न मानकर ही व्रत करने चाहिए। तपो का मुख्य प्रयोजन यह होना चाहिए कि आत्मा अपने स्वभाव को जानने का प्रयास करे। उसे धीरे-धीरे यह ज्ञान हो कि जिस शरीर के आश्रित मैं हूं अथवा ससार के प्राणी मेरे आश्रित हैं वह एक स्वप्न से अधिक नही है।

शुभ कर्मो का फल भी शुभ होगा और अशुभकर्मों का फल अशुभ होगा यानि जैसी करनी वैसी भरनी। पूर्व जन्म के शुभकर्मोदय से हमे आर्य क्षेत्र, मनुष्य शरीर, उत्तमकुल और निर्ग्रन्थ धर्म की प्राप्ति हुई है, तो वीतराग वाणी पर श्रद्धा रखकर इन्द्रिय और मन को आत्मा के वशवर्ती बनाना चाहिए। तप के बारह भेद अनशन से प्रारम्भ होते हैं, अनशन बाह्य तप का भेद होते हुए भी यदि इसे बाल-तप सज्ञा से मुक्त रखा जाय तो इसे स्वीकार करने वाली आत्मा हल्की होती जाती है, प्रायश्चित्त आदि तप को सहज बनाने के लिए अनशन तप परमावश्यक है क्योकि मन और इन्द्रियाँ जब भूख-तृषा आदि पर विजय प्राप्त कर लेती हैं तो अन्य परिषहों को जय करना सरल हो जाता है, इसीलिए जैन धर्म में अनशन को नीव का पत्थर कहकर इसे महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है।

☆☆

□ ओंकारलाल सेठिया, सनवाड़

वेश-भूषा एक विशेष व्यक्तित्व तथा विशिष्ट जीवन पद्धति का परिचायक है। सन्यासी और गृही की वेश-भूषा का अन्तर उसको जीवन-पद्धति का अन्तर सूचित करते हैं। जैन श्रमण की विशेष वेश-भूषा का मनोवैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक औचित्य तथा अन्तर्हित जीवन दृष्टि का विश्लेषण पढ़िए—

जैन-श्रमण वेशभूषा—एक तात्त्विक विवेचन

□

जीवन के दो पक्ष हैं, अन्तरंग तथा बहिरंग। अन्तरंग का सम्बन्ध वस्तु स्थिति से है, जिसे दर्शन की भाषा में निश्चय नय कहा जाता है। वह सत्य का निरावरण और ठेठ रूप है। यथार्थत साध्य उसी से सधता है। इसलिए उसका निर्व्याज महत्त्व है। बहिरंग निश्चय का परिवेश है, जिसे व्यवहार कहा जाता है। तात्त्विक उपयोगिता तो निश्चय की ही है पर व्यवहार भी स्थूल जीवन और लौकिकता की दृष्टि से सर्वथा उपेक्षणीय नहीं। इसलिए वह जहाँ जिस स्थिति में परिगठित होता है—निश्चयपरक होता है। जैन श्रमण का जीवन अध्यात्म-साधना में सम्पूर्णत समर्पित जीवन है—प्रमाद, मोह, राग और एषणा के जगत् को विजित करते हुए आत्मा के अपने साम्राज्य में पहुँचने का जीवन है। अत श्रमण के लिये जो व्रत गठन की भूमिका है, वह इन्हीं विजातीय-अनध्यात्म भावों के विजय मूलक आधार पर अधिष्ठित है। चतुर्दश गुणस्थान का क्रम इसका स्पष्ट परिचायक है।

साधक के लिए निश्चय की भाषा में बहिरंग परिगठन अनिवार्य नहीं है। पर, व्यावहारिक साहाय्य तथा स्व-व्यतिरिक्त अन्य सामान्य-जनों के हेतु उसकी अपनी दृष्टि से उपादेयता है। यही कारण है कि भारतीय जीवन में सन्यासी और गृही की वेश-भूषा में एक अन्तर रहा है। सन्यासी की वेश-भूषा, वस्त्र आदि के निर्धारण में मुख्य दृष्टिकोण यह रहा है कि उस द्वारा गृहीत परम पावन जीवन की बाह्य अभिव्यक्ति उससे सधती रहे। दर्शकों के लिए यह परिवेश अध्यात्म मूलक उदात्त भाव की जागृति का प्रेरक या हेतु बने। इस सन्दर्भ में हम यहाँ जैन श्रमण की वेश-भूषा पर तात्त्विक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सक्षेप में विचार करेंगे।

अवस्त्र सवस्त्र

जैन परम्परा में यह बहुचर्चित प्रश्न है कि श्रमण सवस्त्र हो या निर्वस्त्र। कुछ का अभिमत यह है कि वस्त्र परिग्रह है, इसलिए परिहेय है। उनका यह भी कहना है कि श्रमण के लिए लज्जा-विजय भी आवश्यक है। वस्त्र लज्जा का आच्छादन है, इसलिये दुर्बलता है। दूसरा पक्ष है कि लज्जा या अन्यान्य मनोरागों का विजय मन की वृत्तियों पर आधृत है। वस्त्र आदि वस्तुएँ गौण हैं। जैन परम्परा में दिगम्बर-श्वेताम्बर के रूप में जो भेद है, इसकी मूल भित्ति यही है। दिगम्बर और श्वेताम्बर की प्राचीनता-अर्वाचीनता, मौलिकता-अमौलिकता आदि पर यहाँ विचार नहीं करना है। यह एक स्वतन्त्र विषय है और विशदता से आलोच्य है, यहाँ इसके लिये अवकाश नहीं है। अस्तु—

प्रागैतिहासिक स्थिति पर हम न जाकर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार करें तो जैन-परम्परा में तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्व एक इतिहास-पुरुष के रूप में हमारे समक्ष हैं क्योंकि उनके सम्बन्ध में प्राचीन वाङ्मय में
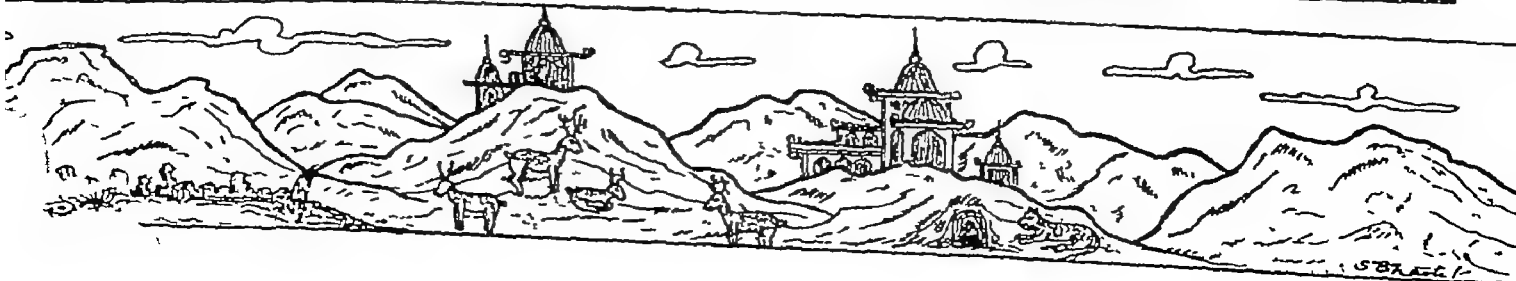
अनेक ऐसी बातें मिलती हैं, जिनसे उनका इतिवृत्त ऐतिहासिक शृंखला से जुड़ जाता है। जैन, बौद्ध, वैदिक सभी परम्पराएँ अपने आगमिक और पौराणिक साहित्य मे वर्णित घटनाक्रमो को ऐतिहासिक कहती हैं परन्तु आज की परिभाषा मे जिसे इतिहास कहा जाता है, उसमे वे नही आती। पार्श्वनाथ की गणना आज की तथारूप ऐतिहासिक मान्यता मे आती है। बौद्ध पिटको मे कुछ ऐसे सकेत मिलते हैं, जिनसे पार्श्व-परम्परा का हम कुछ अनुमान कर सकते हैं। अर्द्ध मागधी जैन आगम जो भगवान महावीर के उपदेशों का प्रतिनिधित्व करते माने जाते हैं, मे पार्श्व परम्परा के सम्बन्ध मे हमे स्पष्ट और विशद उल्लेख प्राप्त होता है। यद्यपि दिगम्बर सम्प्रदाय अर्द्ध मागधी आगमो को प्रामाणिक नहीं मानता पर भाषा, वर्णन तथा अन्यान्य आधारो से समीक्षक विद्वान उनकी प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं। आगमो की विवेचन-पद्धति का अपना प्रकार है इसलिए उनमे अपनी कोटि की सज्जा, प्रशस्ति आदि तो है पर, उनमे वैचारिक दृष्टि से जो ऐतिहासिक मौलिकता है वह अमान्य नहीं है।

पार्श्व एव महावीर की परम्परा मे वस्त्र

भगवान पार्श्व की परम्परा मे जो श्रमण थे, उन्हें पार्श्वापत्यिक कहा जाता था। वे विविध रगो के वस्त्र पहनते थे, ऐसा माना जाता है। अर्थात् श्वेत वर्ण के वस्त्र तो उनके थे ही पर अन्य रगो के वस्त्रो का भी निषेध नहीं था। भगवान महावीर की परम्परा मे सवस्त्रता भी थी और निवस्त्रता भी। वहाँ साधुओ की दो कोटियाँ मानी गई हैं—जिनकल्पी और स्थविरकल्पी। जिनका अर्थ वीतराग है तथा कल्प का अर्थ आचार-परम्परा है। उनके आचार की तरह जिन श्रमणो का आचार होता था, वे जिनकल्पी कहे जाते थे। जिनकल्पी वस्त्र नही पहनते थे। नागरिक बस्तियो से बाहर रहते थे। प्राय गिरि-कन्दराओ मे रहते थे। भिक्षा के सिवाय प्राय उनका जन-समुदाय मे जाना नही होता था। स्थविर कल्पी श्वेत वस्त्र धारण करते थे। स्थविर कल्पियो का आचार यद्यपि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह मूलक व्रतो के पालन की दृष्टि से तो उनसे कुछ भी भिन्न नही था पर जीवन के बहिरगी पक्षो को लेकर वस्त्र आदि बाह्य परिवेश के सन्दर्भ मे भिन्नता लिये हुये था। कहने का साराश यह हुआ कि भगवान महावीर के श्रमण सघ मे सवस्त्र और निर्वस्त्र दोनो प्रकार के श्रमण विद्यमान थे।

उत्तराध्ययन सूत्र का एक प्रसग है, एक बार पार्श्व परम्परा के श्रमण केशी और भगवान महावीर के प्रमुख गणधर गौतम का श्रावस्ती के तिन्दुक उद्यान मे मिलन हुआ।[1] इससे तथा कतिपय अन्य उल्लेखो से सूचित होता है कि भगवान महावीर के समय मे भी पार्श्वापत्यिक परम्परा चल रही थी। भगवान महावीर के पिता सिद्धार्थ भी उसी परम्परा के थे। केशी और गौतम का अनेक बातो को लेकर एक विचार विमर्शात्मक सवाद हुआ क्योकि एक ही विचार-दर्शन की भित्ति पर आधृत दो भिन्न परम्पराओ को देखकर जन-साधारण को कुछ शका होना सहज था। दोनों के सवाद के पीछे शायद यही आशय रहा हो कि इससे स्पष्टीकरण हो जाय, जिससे यह आशका उत्पन्न नही हो। जिन मुद्दो पर बातचीत हुई उनमें एक मुद्दा था—वस्त्र-सम्बन्धी। केशी ने पूछा—हम दोनो परम्पराओ के साधक जब एक ही आदर्श पर चलते हैं तब अचेलक—निर्वस्त्र, सान्तरोत्तर-सवस्त्र—यह भेद क्यो ?[2] गौतम ने बहुत सक्षेप मे और बहुत सुन्दर समाधान दिया जिसके अनुसार श्रामण्य न सवस्त्रता पर टिका है, न निवस्त्रता पर। वह तो ज्ञान, दर्शन व चारित्र्य पर टिका है। निर्वेद पूर्ण परिणामो पर आधृत है। वस्त्र केवल जीवन-यात्रा के निर्वाह, पहचान आदि के लिये है। व्यावहारिक व औपचारिक है। इस विवाद मे उलझने जैसी कोई तात्त्विकता नही है।

जिनकल्प स्थविरकल्प लोक सग्रह

अध्यात्म-साधना, साधक की दृष्टि से सर्वथा पर-निरपेक्ष है। समाज भी उस 'पर' के अन्तर्गत आता है। वहाँ साधक का एक ही लक्ष्य होता है कि वह अपनी आत्मा का उत्थान करे। ऐसी स्थिति का साधक बाह्य औपचारिकताओ का पालन करे, न करे, कम करे इसका कोई महत्त्व नही है। प्राय होता भी यह रहा कि ऐसे साधको ने निरोपचारिक जीवन ही पसन्द किया। परन्तु भगवान बुद्ध की महाकरुणा के सन्देश की व्यापकता और लोक जनीनता का भी एक प्रभाव था कि अन्यान्य परम्पराएँ भी धार्मिक दृष्टि से लोक-जागरण की ओर विशेषत गतिशील हुई। गृहस्थ की करुणा जहाँ भौतिक पदार्थ और दैहिक सेवा मे सम्बद्ध है, वहाँ श्रमण या सन्यासी की करुणा धर्मामृत के प्रवाह मे है जिससे जन-जन को शान्ति और सुख का सही मार्ग प्राप्त हो सके। महाकरुणा मे लोक-सग्रह सधता है।

लोक-सम्पर्क तो बढता ही है अतएव समाज मे जब श्रमणो का पूर्वापेक्षया अधिक समागमन होता गया, तब यह आवश्यक था कि उनका वहिरग जीवन इस प्रकार का हो, जो सहसा लोक-प्रतिकूल भासित न हो। अर्थात् वस्त्रादि की दृष्टि से वह समुचिततया समायोजित हो।

जैन परम्परा मे श्रमण जीवन के, जैसा कि ऊपर कहा गया है, दो प्रकार के क्रम थे ही, आगे स्थविर-कल्प के विशेष रूप मे प्रसृत होने मे इसका अपना एक विशेष हाथ है। दूसरी बात यह भी हुई कि दैहिक सहनन-सघटन, जो उत्तरोत्तर अपेक्षाकृत दुर्बल होता जा रहा था, जिनकल्प के यथावत् परिपालन मे बाधक बना। फलत स्थविर कल्प बढता गया। श्वेताम्बरों में मान्यता है कि भगवान महावीर से दो पीढी बाद अर्थात् सुधर्मा और जम्बू के अनन्तर जिन-कल्प विच्छिन्न हो गया।

श्वेतवस्त्र एक वैशिष्ट्य

ऊपर के वर्णन मे जैसा कि हमने उल्लेख किया है, भगवान पार्श्व की परम्परा मे श्वेत वस्त्रो के साथ-साथ रग-बिरगे वस्त्रो का भी प्रचलन था तथा भगवान महावीर की परम्परा मे स्थविर कल्प मे श्वेत वस्त्र का व्यवहार था। तत्पश्चात् केवल श्वेत वस्त्र का प्रयोग ही चालू रहा। भगवान पार्श्व के श्रमणो के सम्बन्ध में आगम साहित्य मे चर्चा हुई है, वे ऋजुप्राज्ञ कहे गये हैं। अर्थात् वे बहुत सरल चेता थे। दिखावे का भाव तक उनके मन मे नही आता था। जैसे वस्त्र उपलब्ध हुए, सफेद या रगीन, ले लिये, धारण कर लिये। पर आगे चलकर कुछ लोक-वातावरण ऐसा बना कि साधुओ मे भी ऋजुप्राज्ञता नही रही। इसलिए वस्त्रो के सम्बन्ध मे भी यह निर्धारण करना आवश्यक हो गया कि वे केवल सफेद ही हों।

श्वेत निर्मलता का प्रतीक

स्थूल दृष्टि से श्वेतता एक सहज रूप है। उसे किसी वर्ण या रग की कोटि मे नहीं लिया जाता। उस पर ही अन्य रग चढ़ाये जाते है। अन्य रग चाहे किसी भी प्रकार के हो, पौद्गलिक दृष्टि से मल ही हैं। मल का अर्थ मैल या गन्दगी नहीं है। मल एक विशेष पारमाणविक पुज-स्टफ (Stuff) है। वह जब किसी से सयुक्त होता है तो उस मूल वस्तु के रूप मे किंचित् परिवर्तन या विकार आ जाता है। विकार शब्द यहाँ खराबी के अर्थ में नही है—रूपान्तरण के अर्थ मे है। यो पारमाणविक पुज विशेष द्वारा प्रभावित या उसके सम्मिश्रण से विपरिणत वस्तु एक असहज अवस्था को पा लेती है। विभिन्न रग की वस्तुऐं या वस्त्र जो हम देखते हैं, वे मूलभूत श्वेतता में विभिन्न रगो के पारमाणविक पुजो के सम्मिलन के परिणाम हैं। वह सम्मिलित भाग एक प्रकार का मल ही तो है, चाहे द्युतिमान्—कान्तिमान् हो। इससे फलित हुआ कि श्वेत उस प्रकार के मल से विरहित है। इसीलिए जैन परम्परा में इसका स्वीकार हुआ कि वह जैन श्रमण के निर्मल जीवन की प्रतीकात्मक रूप मे अभिव्यक्ति दे सके। जैन श्रमण के जीवन मे सासारिक मल-जिनके मूल में एषणा और अविरति है, नही होता। इसके साथ-साथ सूक्ष्मतया बचे-खुचे इस प्रकार के रागात्मक मल, कर्मात्मक मल के सर्वथा उच्छिन्न और उन्मूलित करने को एक जैन श्रमण कृत सकल्प होता है। उसका परम ध्येय है—अपने जीवन को कर्मपुज और कषायो से उन्मुक्त कर शुद्ध आत्म-स्वरूप को अधिगत करना, जो निरावरण है, निर्द्वन्द्व है—निष्कलंक है। इस दिव्य निर्मलता को प्रकट करने में श्वेत वर्ण की अपनी अप्रतिम विशेषता है।

परिवेश का स्वरूप

भारतीय धर्मों की विभिन्न परम्पराओ मे प्राय इस ओर विशेष ध्यान रहा है कि श्रमण, भिक्षु, सन्यासी या परिव्राजक के वस्त्र कसे हुए न होकर ढीले हों। इसलिए सिले हुए वस्त्रो का भी प्राय सभी परम्पराओ में विशेषत वैदिक और जैन परम्पराओ में स्वीकार नही रहा। शायद यह भय रहा हो कि सिले हुए वस्त्रों का प्रयोग चल पडने से आगे सम्भवत वस्त्रों में ढीलेपन या मुक्तता का रूप सुरक्षित न रह पाये। देह के लिए वस्त्र का दो प्रकार का उपयोग है। एक तो देह की अवाछित प्राकृतिक उपादानों से रक्षा तथा दूसरे अपने विचारो की अभिव्यजना। वस्त्रो का ढीला होना शान्त, निर्विकार और सहज जीवन का प्रतीक है। चुस्त वस्त्र किसी न किसी रूप में मानसिक तनाव के प्रतीक हैं। जिन लोगों की लडाकू प्रकृति होती है, जो स्वभाव से तेज होते हैं, प्राय हम उन्हें चुस्त वस्त्रो में पायेंगे।
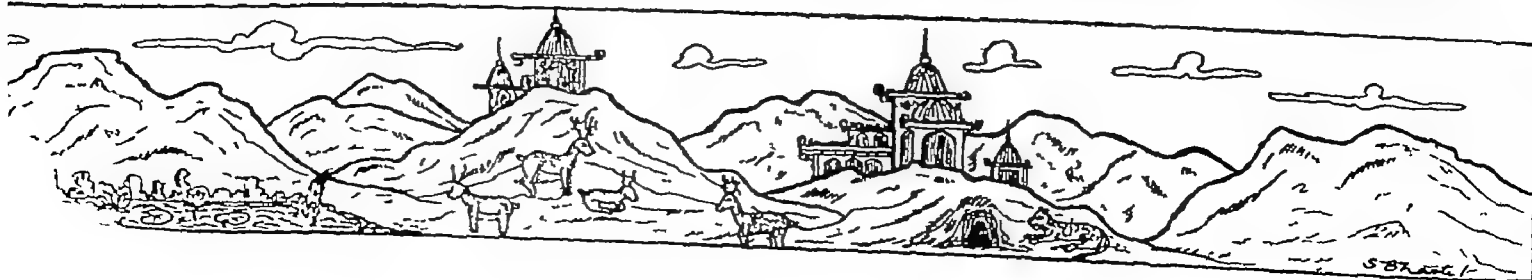
सैनिको के लिए जिस प्रकार के वस्त्रो का निर्धारण हुआ, इससे यह स्पष्ट झलकता है। सैनिक का यह सहज कर्त्तव्य है कि प्रतिक्षण वह, यदि अपेक्षित हो तो लडने को, वार करने को, शत्रु द्वारा किये जाने वाले वार से अपने को बचाने को सर्वथा सन्नद्ध रहे। उसके कपड़े इस बात के प्रेरक हैं।

इसी प्रकार नागरिकजनो मे भी जो लोग चुस्त कपडे पहनने का शौक रखते है, यदि हम पता लगायें तो मालूम पडेगा कि वे असहिष्णु प्रकृति के है। उनमें तेजी की मात्रा अधिक रहती है।

ढीले वस्त्रो की उपयोगिता का दूसरा प्रमाण हम यह देखते हैं कि सन्यासियो के अतिरिक्त जो सन्तकोटि के व्यक्ति हुए, वे भी ढीला लम्बा कुर्ता, धोती जैसा परिवेश ही धारण करते रहे हैं।

सन्यासियों के लिए ढीले, अतएव अनसिले वस्त्रो का जो प्रचलन रहा, वैदिक परम्परा मे व्यवहारत उसम परिवतन भी आता गया। यद्यपि दण्डी सन्यासी तो आज भी ढीले-अनसिले वस्त्र ही धारण करते हैं, पर अन्य सन्यासियों मे सिले वस्त्रो के पहनने का भी क्रम चल गया। जैन श्रमणों मे वस्त्रो के सन्दर्भ मे प्राग्वर्त्ती परम्परा आज भी अक्षुण्ण रूप मे सप्रवृत्त है।

स्वास्थ्य की दृष्टि से

देह की स्वस्थता व नीरोगिता के लिए यह आवश्यक है कि वायु और धूप का सीधा सस्पर्श देह को मिलता रहे। वस्त्र जितने चुस्त या कसे हुए होंगे, उतना ही धूप व वायु का सस्पर्श, ससर्ग कम होगा। जैन श्रमण के जिस प्रकार के ढीले वस्त्र होते हैं, उसमे यह बाधा नहीं है। वायु, प्रकाश आदि के साक्षात् ग्रहण का वहाँ सुयोग रहता है। यद्यपि श्रमण के लिए देह-पोषण परम ध्येय नही है परन्तु नैमित्तिक रूप मे देह सयम-जीवितव्य का सहायक तो है। दूसरे साधना के जितने कठिन नियमो मे एक जैन श्रमण का जीवन बधा है, उसमे यह कम सम्भव हो पाता है कि रुग्ण हो जाने पर उन्हें अपेक्षित समुचित चिकित्सा का अवसर प्राप्त हो सके, इसलिए अधिक अच्छा यह होता है कि जहाँ तक हो सके, वह रुग्ण ही न हो। क्योकि रुग्ण श्रमण यथावत् रूप मे साधना भी नही कर सकता।

निष्पादत्राणता

भारतीय सन्यास-परम्परा मे सन्यासी या साधु के लिए वाहन-प्रयोग का सदा से निषेध रहा है। इसलिए वैदिक, बौद्ध एव जैन—तीनो परम्पराओं के परिव्राजक या साधु प्रारम्भ से ही पाद-विहारी रहे हैं। जहाँ अनिवाय हुआ, जैसे नदी पार करना, वहाँ नौका या जलपोत के प्रयोग की आपवादिक अनुमति रही है, सामान्यत नही। ज्यो ज्यों सुविधाएँ बढती गई। सन्यास या साधुत्व के कठोर नियमो के परिपालन मे कुछ अनुत्साह आता गया। कतिपय परम्पराओं मे वह (पाद-विहार) की बात नहीं रही। धर्म-प्रसार या जन-जागरण आदि हेतुओ से वाहन प्रयोग को क्षम्य माने जाने की बात सामने आती है। कहा जाता है कि इससे कितने लोग धर्मानुप्राणित होंगे, कितना लाभ होगा। पर, जरा गहराई से सोचें, वस्तुस्थिति यह नही है। जन-जन के धर्मानुप्रणित एव सत्प्रेरित होने का यथार्थ कार्य तो पाद-विहार से ही सधता है। पाद-विहारी सन्त अपने पद-यात्रा क्रम के बीच गाँव-गाँव मे पहुँचते हैं, जहाँ भिन्न-भिन्न जातियो और धर्मों के ऐसे अनेक अशिक्षित, असस्कृत लोग उनके सपक मे आते हैं, जो धर्मोपदेश के सही पात्र हैं, जिन तक तथाकथित धर्मप्रसारक पहुचते तक नहीं। पाद-विहार का ही यह विशेष लाभ है, यदि पाद-विहारी की प्रचारात्मकता मे रुचि न हो तो भी अपने यात्रा-क्रम मे उन्हें गाँवो मे तो आना ही पडता है, जिससे यह सहज रूप में सधता है। क्योंकि सन्त तो स्वय धर्म के जीवित प्रतीक हैं अत उनका सान्निध्य ही जन-समुदाय के लिए प्रेरणास्पद है।

वाहन-प्रयोग द्वारा बडे-बडे नगरो मे धर्म-प्रसार हेतु जो पहुँचते हैं, वह उनकी अपनी महत्त्वाकांक्षा हो सकती है, वस्तुत धम-जागरण की दृष्टि से कोई बडी बात नहीं सधती। बडे नगरों में प्राय वहीं पहुंचना होना है, जहाँ उनके परिचित लोग होते हैं। पूर्व परिचय और सपर्क के कारण उनके लिए उन (धर्म-प्रसारक सन्तो) के उपदेश मे कोई नवीनता या विशेषता नहीं रहती। दूसरे, बडे नगरो के निवासी शिक्षित तथा सुसस्कृत होते हैं, साहित्य आदि भी पढ सकते हैं, स्वय पहुँचकर भी लाभ ले सकते हैं, पर ग्रामीणों के लिए यह कुछ भी सम्भव नहीं है।

दूसरी बात और है, जैसाकि ऊपर कहा गया है पाद-विहार सन्यासी या साधु का अपना सैद्धान्तिक आदर्श है, जिसका अखण्डित रूप में सम्यक् परिपालन उसका प्रथम तथा नितान्त आवश्यक कर्तव्य है। वाहन प्रयोग द्वारा

वह खण्डित होता है। वास्तव मे सिद्धान्त या आदर्श तभी अपने आप मे परिपूर्ण है, जब उसमे विकल्पो या अपवादो का यथेच्छा स्वीकार न हो। क्योकि यदि विकल्पो और अपवादों को बहुत अधिक मान्यता दी जायेगी तो सम्भव है, एक दिन ऐसा आ जाए, जब आदर्श या सिद्धान्त के स्थान पर केवल विकल्पो और अपवादो का पुज ही रह जाए।

जैन श्रमणो मे पाद-विहार की परम्परा आज तक समीचीन रूप मे प्रचलित है। हजारो मे एक आध अपवाद हो सकता है पर अपवाद स्वीकार करने वाला व्यक्ति श्रमण-सघ मे स्थान पाने योग्य नही रहता।

पैरों की सुरक्षा की दृष्टि से बहुत प्राचीनकाल से पाद-रक्षिका, पादत्राण या उपानह, के नाम से जूतो का स्वीकार रहा है। सन्यासियो के लिए जूते वर्जित रहे हैं। वैदिक परम्परा मे काष्ठ-पादुका स्वीकृत है। जैनो और बौद्धो मे उसका भी स्वीकार नही है। बदलते हुए युग के परिवेश मे आज जैन-परम्परा के श्रमणों के सिवाय प्राय सभी ने वस्त्र, कैनवैस, रबर, प्लास्टिक, नाइलोन आदि के पादत्राण स्वीकार कर लिए हैं। केवल जैन-श्रमण-सघ ही ऐसा रह गया है, जिसमे आज भी किसी प्रकार के जूते का, खडाऊ, चप्पल आदि का स्वीकार नही है। यहाँ तक कि मौजे भी वे प्रयोग मे नही लेते।

आयुर्वैदिक दृष्टिकोण

नगे पैर चलने मे भूमि का पैरो के साथ सीधा सस्पर्श होता है। स्नायविक दृष्टि से सारा शरीर परस्पर सम्बद्ध है। पैरो को जिस प्रकार का सस्पश मिलता है, तद्गत ऊष्मा, शैत्य सारे देह मे स्नायविक ग्राहकता के अनुरूप पहुँच जाते हैं। इसके दो प्रकार के परिणाम आते हैं। यदि जलती भूमि पर चला जाता है तो भूमिगत उष्णता पगथलियो के माध्यम से देह मे पहुँचती है, जिसकी अधिकता देह के लिए हानिप्रद है। प्रात कालीन शीतल रेत पर नगे पैर चलना अनेक पैत्तिक व ऊष्माजनित रोगो के निवारण की दृष्टि से उपयोगी है। नेत्रो मे जलन, हाथ-पैरों मे जलन, जिनका हेतु देह मे पित्त-विकार की वृद्धि है, इससे शान्त हो जाती है। नेत्र-शक्ति बढती है, मस्तिष्क मे स्फूर्ति का सचार होता है। जैन-मुनियो का पाद-विहार का कार्यक्रम अधिकाशत प्रात काल ही होता है, जिससे यह लाभ उन्हे अनायास ही प्राप्त होता रहता है। दिन मे वे अध्ययन, लेखन, सत्सग आदि कार्यों मे रहते हैं अत अधिक ऊष्मा, जिससे कई प्रकार के उपद्रव होने आशकित हैं, से सहज ही बच जाते हैं।

अपरिग्रह एवं तप की भावना

श्रमण के लिए जितनी अनिवार्य रूप से आवश्यक वस्तुओ अर्थात् सयम-जीवन के लिए उपयोगी बाह्य-उपकरणो का निर्धारण किया गया है, उसमें यह दृष्टि बिन्दु भी रहा है कि उसका तपस्वी जीवन उद्भावित होता रहे। उसके पीछे अपरिग्रह की भावना सन्निहित है। सुविधा या अनुकूलता से विलग रहते हुए श्रमण अधिकाधिक आत्मा-भिरत रह सके, ऐसा भाव उसके पीछे है। पादत्राण या पादरक्षिका श्रमण के लिए अनिवार्य उपकरणो मे नही आती। यदि सुविधा का दृष्टिकोण न रहे तो पादरक्षिका के लिए वह चिन्तन ही नही कर सकता। हाँ, इसमें कुछ दैहिक कष्ट अवश्य है, जो श्रमण के लिए गौण है। इस कष्ट सज्ञा की सार्थकता दैहिक अनुकूलता के साथ जुड़ी हुई है। दैहिक अनुकूलता इसमें से निकल जाय तो कष्ट तपस्या की भूमिका में चला जाता है। अन्यान्य सन्यासी परम्पराओ मे पादत्राण का अस्वीकार लगभग इसी कारण रहा है। वह जो विच्छिन्न हुआ, उसका कारण स्पष्ट ही सुविधा या अनुकूलता की ओर झुकाव है। जैन श्रमण जो अब तक उसी निष्पाद त्राणतामय उपकरण व्यवस्था मे चले आ रहे हैं, उसका कारण बाह्य सुविधाओ का अनाकर्षण और अपनी अध्यात्म-साधना मे सतत सलग्न रहने का भाव है, जो उनकी उन्नत मनोभूमिका का द्योतक है। यह अ-युगीन कहा जा सकता है। पर, यह अ-युगीनता की चिन्तनधारा सयमात्मक भावना से अनुप्राणित नहीं है। केवल अपनी अनुकूलता या सुविधा पर टिकी हुई है।

मुखवस्त्रिका एक विश्लेषण

श्रमण की वेशभूषा मे मुखवस्त्रिका का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। दार्शनिक दृष्टि से मुखवस्त्रिका स्वीकार के पीछे यह आशय है कि बोलते समय ध्वनि की टक्कर से या आहट से जो वायुकायिक जीवो की हिंसा होती है, श्रमण उससे बचता रहे।
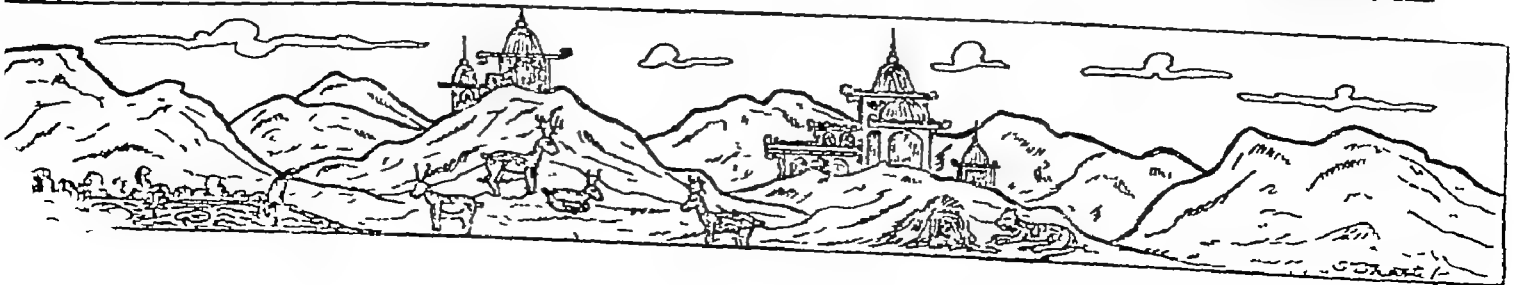
शास्त्रो मे 'यतना' या जागरूकता से बोलने का जो स्थान-स्थान पर निर्देश हुआ, यह विषय उससे भी सम्बन्धित है। अयतना मे बोलने से वायुकायिक जीवो की हिंसा होती है, यह तो स्पष्ट ही है।

मुखवस्त्रिका का प्रयोग मुख पर बाध कर किया जाय या हाथ मे रखते हुए अपेक्षित समय पर किया जाय, यह विषय विवाद-ग्रस्त है पर इतना तो निश्चित है कि यतना से बोलने के लिए खुले मुह नही बोलना चाहिए। व्यावहारिक दृष्टि से यह ज्यादा उपयोगी प्रतीत होता है कि हाथ मे रखने के बजाय उसे मुँह पर धारण किया जाय, क्योकि बोलना जीवन की अन्यान्य प्रवृत्तियो के साथ-साथ सतत प्रवर्तनशील क्रिया है। इसलिए हाथ मे रखते हुए पुन-पुन उसके प्रयोग मे शायद यतना की पूरकता नही सधती। आखिर तो श्रमण भी एक मानव है, साधारण लोगों मे से गया हुआ एक साधक है, दुर्बलताओ को जीतने का उसका प्रयास है पर सम्पूर्णत वह जीत चुका हो यह स्थिति नही है। इसलिए उसके द्वारा प्रमाद होना, चाहे थोडा ही सही, आशकित है। उस स्थिति में मुह पर धारण की हुई मुखवस्त्रिका उसके यतनामय जीवन मे निश्चय ही सहायक सिद्ध होती है। जो मुखवस्त्रिका को मुह पर धारण करना मान्य नही करते, उनमे भी देखा जाता है कि जब वे मन्दिरो मे पूजा करते हैं तो मुह को वस्त्र से बाँधे या ढके रहते हैं। इसके पीछे थूक आदि न गिरे इस पवित्रता की भावना के साथ-साथ हिंसात्मक अयतना के निरोध की भावना भी अवश्य रही होगी।

मुखवस्त्रिका मुह पर नही बाँधना, यह मान्यता वास्तव मे साम्प्रदायिक परिवेश के तनावो मे बडी देरी से महत्त्वपूर्ण स्थान पा गई। अन्यथा मुखवस्त्रिका नहीं बाँधने के विषय मे आज जैसा आग्रह आज के कुछ पचास वर्षों पहले नही था। ऐतिहासिकता के सन्दर्भ मे सवत् १९२९ मे प्रकाशित एक पुस्तिका के निम्नाकित चित्र व परिचय द्रष्टव्य है—

अथ पण्डित श्री वीरविजय जी कृत पूजाओ आदी प्रभु पूजा गर्भित भक्ति धर्म विनति रूप अरजी।

आ चोपडि श्री अमदावाध विद्याशालाथी सा रवचद जयचन्दे छपवी सम्यक्त्व धर्म वृद्धि हेते ॥ स०॥ १९२९ आ चोपडि छापनारा वाजी भाइ। अमीचद ठेकाणुं श्री अमदावाधमा रायपुरमा आका सेठ ना कुवानी पोलमा ॥ पृ० २९४ ॥

तेमने पाटे जिनविजयजी, बीजा शिष्य जसविजयजी थया, ते जसविजयजी गुरु खभातमा देसना देता हता ते अवसर केशव नग्रमा फरतो थको, गुरुनी देसनानो वरणव सांभली, ते गुरुना दर्शन नी इच्छा धरतो उपाश्रय मांयी आवी केशव गुरु पासे जइ वांदी यथायोग्य थानके वैसी देसना सांभले छे।

एहवी छवी थी वांचवानो आगम ग्रन्थ प्रक्रण रास परम्परा विदमान थी शुद्ध जाणवो ॥ ए मारग

पृ० २९८ ते गुरु १९ वर्ष घरवास रह्या ५५ वर्ष सुधी दिक्षा पाली, ७३ वर्ष सर्व आयु पाली काल कर्यो ते साँभली, सर्व सघ मली, शोकसहित शुभ गुरुना देह नु मृत कार्य करता हवा।

यहाँ मृत-सस्कार के सन्दर्भ में मुँह पर मुखवस्त्रिका बाँधने का प्रसग विशेष रूप से विचारणीय है। यदि साधुओ के दैनन्दिन जीवन मे अपने मुह पर मुखवस्त्रिका बाँधना सामान्य नही होता तो दाह-सस्कार के समारोह मे यह कभी सभव नहीं था कि मृत मुनि के मुह पर मुखवस्त्रिका बाँधी जाए, जैसा कि प्रस्तुत चित्र मे किया गया है।

पारसी धर्म मे, जो विश्व के पुराने धर्मों मे ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान लिये हुए है, पूजा के समय, विशेषत अग्नि मे आग्नेय पदार्थों के डालने के समय मुँह को वस्त्र से बाँधे रहने की परम्परा है। इसकी गहराई मे हम नही जायेंगे। पर यह, जो आशिक ही सही अतर्कित सादृश्य हम देखते हैं उसके पीछे भी क्या इसी प्रकार का कोई भाव रहा है, यह समीक्षको के लिए गवेषणा का विषय है।

साधारणतया स्थूल दृष्टि से यह भी हम सोच सकते हैं कि अवाछित विजातीय पदार्थ कण—मुह जो देह का मुख्य प्रवेश-द्वार है, उसमे समाविष्ट न हो, यह भी इससे सधता ही है। चिकित्सक जब शल्य-क्रिया (Operation) करते हैं तो मुख को विशेष रूप से ढके रहते हैं। वहाँ कोई धार्मिक भाव नही है किन्तु दूषित वायु, दूषित गन्ध, दूषित परमाणु आदि मुख के द्वारा देह मे प्रवेश न कर सकें, ऐसा दृष्टिकोण है। श्रमण के लिए यद्यपि यह उतना तात्त्विक तो नही है पर, दूषित पदार्थों के अपहार या अ-समावेश की दृष्टि से कुछ अर्थ तो लिये हुए है ही।

काष्ठपात्र अपरिग्रह के परिचायक

जैन श्रमण किसी भी प्रकार की धातु के पात्र नही रख सकता, उसके लिए काष्ठ-पात्र प्रयोग मे लाने का विधान है। अपरिग्रह की दृष्टि से इसका अपना महत्त्व है। क्योकि यद्यपि परिग्रह मूर्च्छा या आसक्ति पर टिका है पर, मूर्च्छा-विजय या आसक्ति-वर्जन के लिए बाह्य दृष्टि से स्वीक्रियमाण या व्यवह्रियमाण पदार्थ भी उपेक्ष्य नही हैं। उनके चयन मे भी मूल्यवत्ता का ध्यान रखना आवश्यक माना गया है। क्योंकि यदि पात्र आदि मूल्यवान् होंगे तो हो सकता है, गृहीता का मन उनमे कुछ अटक जाय। यद्यपि जैन श्रमण त्याग की जिस पवित्र भूमिका मे सस्थित है, वहाँ यह कम आशकित है पर खतरा तो है ही। इससे इन्कार नही किया जा सकता। ज्यो ही कुछ आसक्ति या मोह आया, साधक का अन्तर-द्वेलन कुछ श्लथित हो ही जाता है। दूसरी बात यह है कि मूल्यवान् पदार्थ या वस्तु को देखकर किसी पदार्थ लुब्ध व्यक्ति का मन भी ललचा सकता है। यदि साधक के मन मे इस प्रकार की कुछ भी आशका बन जाय तो उसे यत्किंचित् चिन्ता-निमग्न भी रहना होता है जो उसके लिए सर्वथा अवाछित है।

जैन श्रमण अपने लिये अपेक्षित और स्वीकृत जो भी उपकरण हैं, उन्हे स्वय वहन करता है, वह न किसी
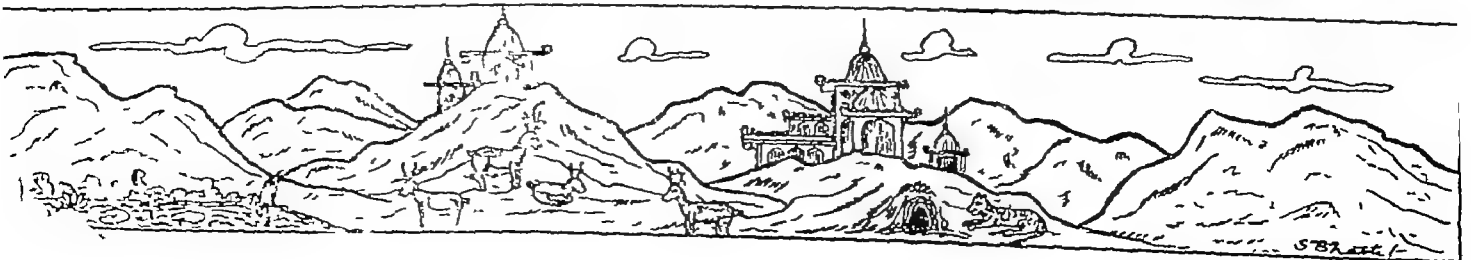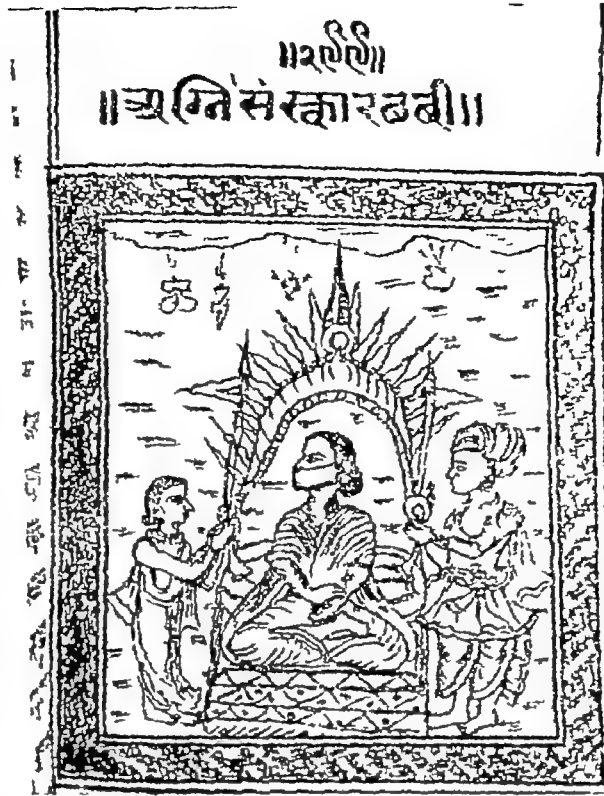
वाहन पर रखवा सकता है, न किसी अन्य व्यक्ति को दे सकता है। ऐसा करने से तो उसका जीवन पराश्रित हो जायगा, जबकि जैन श्रमण का जीवन सर्वथा स्वावलम्बी और स्व-आश्रित होना चाहिए। यदि कहा जाय कि अपने थोडे से उपकरण किसी को दे दिये जायँ तो इसमे वैसी क्या हानि है—साधारण सहयोग ही तो लिया पर, गहराई से सोचने पर हम देखेंगे कि यदि ऐसा क्रम थोड़े को लेकर ही चल जाय तो यह थोडा आगे जाकर बहुत बडा हो जाय, अनाशकनीय नही। व्यक्ति का मन ही तो है, जहाँ उसमे जरा भी दौर्बल्य का समावेश होने लगे, वह उसके औचित्य के लिए दलीलें गढ़ने लगता है। फिर यह औचित्य की सीमा न जाने आगे जाकर कितनी विस्तृत हो जाय, कुछ कहा नही जा सकता। फलत औचित्य के परिवेश मे अनौचित्य आ घसकता है, जो साधक-जीवन के ध्वस का हेतु बनता है।

भावनात्मक दृष्टि से सोचें तो काठ हलकेपन का प्रतीक है, वह पानी पर तैरता है, यह उसकी विशेषता है श्रमण को ससार-सागर पार करना है। हर समय उसके ध्यान मे रहना चाहिए कि उसका सयमी जीवन अनुप्राणित, परिपोषित और विकसित होता जाए।

ससार एक सागर है, निर्वाण या मोक्ष उसके पार पहुचना है। इस हेतु ससार रूपी सागर को सन्तीर्ण करना है। यह सन्तरण अध्यात्म की साधना है। इस भाव का रूपक प्राय सभी धर्मों मे रहा है। काष्ठपात्र स्थूल दृष्टि से इसकी प्रतीकात्मकता ले सकते हैं। यद्यपि यह विवेचन कुछ कष्ट कल्पना की सीमा मे तो जाता है पर प्रेरणा की दृष्टि से इसकी ग्राह्यता है।

रजोहरण

सयमी जीवन के निर्वाह के हेतु श्रमण के लिए और भी कतिपय उपकरणो का विधान है, जिनमें रजोहरण मुख्य है। यह ऊन के मुलायम धागो से बना होता है। साधुओ द्वारा सदा इसे अपने पास रखे जाने के पीछे अहिंसा का दृष्टिकोण है। चलना, फिरना, उठना, बैठना, सोना आदि दैनन्दिन क्रियाओ के प्रसग में कृमि, कीडे चींटी जैसे छोटे-छोटे जीव-जन्तुओ की हिंसा आशकित है, उससे बचने के लिए रजोहरण की अपनी उपादेयता है। उन-उन क्रियाओ के सन्दर्भ मे प्रयुज्यमान स्थान का रजोहरण द्वारा प्रोञ्छन, प्रमार्जन आदि कर लिया जाता है, कोई जीव-जन्तु हों तो उन्हें बहुत धीरे से रजोहरण द्वारा हटा दिया जाता है। यो हिंसा का प्रसग टल जाता है।

उपसहार

जैन-श्रमण की वेशभूषा, उपकरण आदि की सख्या, परिमाण, प्रयोग, परिष्ठापन आदि और भी अनेक पहलू हैं, जिन पर विवेचन किया जा सकता है पर विषय-विस्तार के भय से यहाँ केवल उन्हीं कुछ उपकरणो को लिया गया है, जो एक श्रमण के दैनन्दिन जीवन मे प्रस्फुट रूप से हमारे सामने आते हैं। इनके परिशीलन से यह स्पष्ट है कि श्रमण की जो पचमहाव्रतात्मक चारित्रिक भूमिका है, उसमे यह नैमित्तिक दृष्टि से निस्सन्देह सहायक है। यद्यपि उपादान तो स्वय अपनी आत्मा ही है पर निमित्त की सहकारिता का भी अपना स्थान है। कार्य-निष्पत्ति में उपादान-निमित्त की उपस्थिति की जो माग करता है, वह अनिवाय है।

जैसा कि हमने देखा, उपकरण चयन मे अपरिग्रह की भावना विशेष रूप से समाविष्ट है पर यह भी सर्वथा सिद्ध है कि महाव्रत अन्योन्याश्रित हैं। एक व्रत के खंडित होते ही दूसरे स्वय खडित हो जाते हैं। इसलिए अपरिग्रह की मुख्यता से सभी महाव्रतो के परिरक्षण और परिपालन में उपकरण-शुद्धता का महत्त्व है। सयम-मूलक शुद्धि के साथ-साथ सरल, नि स्पृह, सात्त्विक और पवित्र जीवन की स्थूल प्रतीकात्मकता भी इनमें है, जिसका आपातत बहुत महत्त्व है।

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २३, गाथा १-१६

२ अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो सन्तरुत्तरो। देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महाजसा ॥
एगकज्जपवन्नाण, विसेसे कि नु कारण। लिगे दुविहे मेहावी, कह विप्पच्चओ न ते ॥
—उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २३, गाथा २९-३०

□ बसन्तकुमार जैन शास्त्री

गृहस्थ साधक (श्रावक) की उपासना विधि—(आचार संहिता) पर जैनधर्म ने प्रारम्भ से ही बड़ा मनोवैज्ञानिक तथा समाजवादी चिन्तन किया है। विश्व के विभिन्न धर्मों के परिप्रेक्ष्य में उसकी तुलनात्मक उपयोगिता पर एक चिन्तन यहाँ प्रस्तुत है।

विश्वधर्मों के परिप्रेक्ष्य में जैन उपासक का साधना-पथ : एक तुलनात्मक विवेचन

□

सुख छलना यथार्थ

जागतिक भाषा में जिसे सुख कहा जाता है, तत्त्व की भाषा में वह सुख नहीं सुखाभास है। वह एक ऐसी मधुर छलना है, जिसमें निमग्न मानव अपने आपको विस्मृत किये रहता है। यह सब मानव को तब आत्मसात् हुआ, जब उसने जीवन-सत्य में गहरी डुबकियाँ लगाई। उसे अनुभूत हुआ, सुख कुछ और ही है, जिसका अधिष्ठान 'स्व' या आत्मा है। भौतिक पदार्थ तथा धन-वैभव आदि पर वह नहीं टिका है। इतना ही नहीं, वे उसके मार्ग में एक प्रकार का अवरोध है। क्योंकि इनमें सुख की कल्पना कर मानव इन पर अटकता है। उसकी सत्य-प्रवण गति कुण्ठित हो जाती है। जिसे हम सच्चा सुख कहते हैं, दर्शन की भाषा में मोक्ष, निर्वाण, ब्रह्मसारूप्य आदि शब्दों से उसे संज्ञित किया गया है। तत्त्वद्रष्टाओं ने उसे अधिगत करने का विधि-क्रम भी अपने-अपने चिन्तन के अनुसार प्रस्तुत किया है, जिसे साधना या अध्यात्म-साधना कहा जाता है।

भारत की गरिमा साधना का विकास

अध्यात्म-साधना के क्षेत्र में भारत की अपनी गरिमा है, विश्व में उसका गौरवपूर्ण स्थान है। यहाँ के ऋषियों, मनीषियों और चिन्तकों ने इस पहलू पर बड़ी गहराई से चिन्तन किया। इतना ही नहीं, उन्होंने स्वयं सतत अभ्यास द्वारा इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण अनुभूतियाँ अर्जित की। उन द्वारा प्रदर्शित साधना पद्धतियों में इन सबका प्रतिबिम्ब हमें प्राप्त होता है। साधना के क्षेत्र में साधक की अपेक्षा से दो प्रकार का वर्गीकरण हुआ—सन्यासी, परिव्राजक या भिक्षु तथा गृही, गृहस्थ अथवा श्रावक या उपासक।

प्रथम कोटि में वे साधक आते हैं, जो सम्पूर्णत अपने को आत्म-साधना या मोक्ष की आराधना में लगा देते हैं। दैहिक किंवा भौतिक जीवन उनके लिए सर्वथा गौण होता है तथा (अध्यात्म) साधनामय जीवन सर्वथा उपादेय या मुख्य। दूसरे वर्ग में वे व्यक्ति लिये गये हैं, जो लौकिक (गार्हस्थ्य) जीवन में समाविष्ट हैं, साथ ही साथ आत्म-साधना के अभ्यास में भी जितना शक्य होता है, संलग्न रहते हैं।

इन दोनों वर्गों के साधकों अर्थात् साधुओं और गृहस्थों के साधना-क्रम या अभ्यास-कोटि पर हमारे देश के तत्त्व-चिन्तकों ने अत्यन्त मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चिन्तन कर विशेष प्रकार की आचार संहिताएँ निर्धारित की हैं, जिनका अवलम्बन कर साधक अपने गन्तव्य की ओर सफलता पूर्वक अग्रसर होते जाय।

भारतीय दर्शनों में जैन दर्शन का अनेक दृष्टियों से अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन साधना-पद्धति भी अपनी कुछ ऐसी विशेषताएँ लिये हुए है, जिनके कारण उसकी उपादेयता त्रिकालाबाधित है। प्रस्तुत निबन्ध में विभिन्न धर्मों
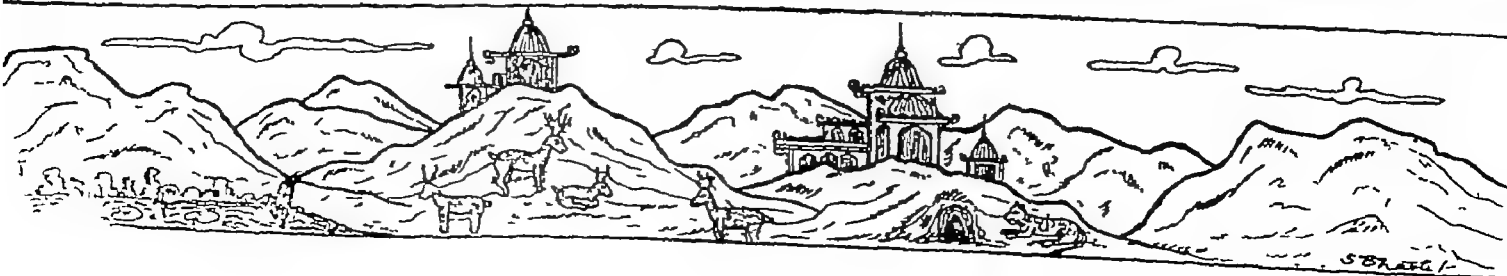
द्वारा अभिमत गृहस्थ की साधना पद्धतियो के परिप्रेक्ष्य मे जैन गृही या श्रावक की साधना पर तुलनात्मक दृष्टि से विवेचन किया जायेगा।

वैदिक धर्म मे गृहस्थाश्रम

वैदिक धर्म का आशय उन धम सम्प्रदायो से है, जिनका मुख्य आधार वेद हैं तथा दार्शनिक दृष्टि से जो पूव मीमासा, उत्तर मीमासा (वेदान्त), साख्य, योग, न्याय, वैशेषिक आदि से सम्बद्ध है। वैदिक धम मनुष्य के जीवन को चार भागो में बाँटता है, जिन्हे आश्रम कहा जाता है। आश्रम का सामान्य अथ आश्रय, ठहरने का स्थान या विश्राम करने का स्थान है। आश्रम चार है—ब्रह्मचय, गृहस्थ, वानप्रस्थ एव सन्यास। पच्चीस वप की आयु तक गुरुकुल मे ब्रह्मचय पूर्वक विद्याभ्यास का समय इस आश्रम के अन्तगत है। तात्पर्य यह हुआ कि तब तक व्यक्ति सासारिक जीवन मे सफलता पूर्वक चलते रहने की क्षमताएँ अर्जित कर चुकता है। फलत उसका लौकिक जीवन भारभूत न होकर आनन्दमय होता है। इससे आगे पचास वप तक की आयु का कायकाल गृहस्थ आश्रम मे लिया गया है, जिस पर हम आगे विशेष रूप से प्रकाश डालेंगे। पचास से पचहत्तर वप तक का काल वानप्रस्थ आश्रम का है, जो एक प्रकार से सन्यास के पूर्वाभ्यास का समय है। इससे आगे का सौ वप तक का समय सन्यास का माना गया है।

वेद के ऋषि के निम्नाकित शब्द इस बात के द्योतक हैं कि तब 'शतायुर्वै पुरुष' के अनुसार मानव सौ वप के जीवन की कामना करता था —

"पश्येम शरद शतम्। जीवेम शरद शतम्। शृणुयाम शरद शतम्। प्रब्रवामशरद शतम्। अदीना स्याम शरद शतम्। भूयश्च शरद शतात्॥"[1]

अर्थात् सौ वप तक हमारी चक्षु इन्द्रिय कायशील रहे, सौ वप तक हम जीए, सौ वप तक श्रवण करें, सौ वर्ष तक बोलें, सौ वर्ष तक अदीन भाव से रहे। इतना ही क्यो, हम सौ से भी अधिक समय तक जीए।

प्राचीन काल के आयु अनुपात के अनुसार यह वप सम्बन्धी कल्पना है। इसलिए हम इसे इयत्ता मूलक निश्चित नही कह सकते, आनुपातिक कह सकते हैं।

गुरुकुल से निर्गमन ससार मे आगमन

जब ब्रह्मचारी अपना विद्याध्यन तथा भावी जीवन की अन्यान्य तैयारियाँ परिपूर्ण कर पुन ससार मे अर्थात् पारिवारिक या सामाजिक जीवन मे आने को उद्यत होता है, तब वैदिक ऋषि उसे जो शिक्षाएँ देता है, वे बहुत महत्त्व पूर्ण हैं और उनमे उसके भावी लौकिक जीवन के लिए बडे सुन्दर आदेश-निर्देश हैं। वे शिक्षाएँ इस प्रकार हैं —

"वेद मनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति—सत्य वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमद। आचार्याय प्रिय धनमाहृत्य प्रजातन्तु मा व्यवच्छेत्सी। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्याय प्रवचनाभ्या न प्रमदितव्यम्। देव पितृकार्याभ्या न प्रमदितव्यम्।"[2]

ब्रह्मचारी! तुम सासारिक जीवन मे जा रहे हो। मैं जो कह रहा हूँ, उन बातों पर पूरा ध्यान रखना—सदा सच बोलना, धर्म का आचरण करना। जो तुमने पढा है, उसमें प्रमाद मत करना, उसे भूल मत जाना। आचार्य को दक्षिणा के रूप मे वाञ्छित धन देकर, गृहस्थ मे जाकर सन्तति-परम्परा का उच्छेद मत करना—उसे सप्रवृत्त रखना।

ऋषि शिष्य को सदाचरण मे सुस्थित करने के हेतु पुन कहता है—सत्य मे प्रमाद मत करना, धर्म मे प्रमाद मत करना, पुण्य कार्यों मे प्रमाद मत करना, ऐश्वयप्रद शुभ कार्यों मे प्रमाद मत करना, स्वाध्याय और प्रवचन मे प्रमाद मत करना, देव-काय तथा पितृ-काय मे प्रमाद मत करना।

"ऋषि आगे कहता है—

"मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्य देवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि। यान्यस्माकम् सुचरितानि, तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि। ये के चास्म-

च्छ्रे॰ यासो ब्राह्मणा , तेषा त्वया ऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम् । श्रद्धया देयम् । अश्रद्धयाऽदेयम् । श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् । सविदा देयम् ।"[3]

अर्थात् माता को देवता समझना, पिता को देवता समझना । गुरु को देवता समझना । अतिथि को देवता समझना । जो अनवद्य—निर्दोष कार्य हो, वे ही करना, दूसरे (सदोष) नही । जो सुचरित—पवित्र कार्य हो, वे ही करना, दूसरे नही । जो हमारे लिए कल्याणकारी ब्राह्मण हो, उनका आसन आदि द्वारा आदर करना । श्रद्धा पूर्वक दान करना । अश्रद्धा से मत करना । अपनी सापत्तिक क्षमता के अनुरूप दान देना । लज्जा से दान देना । मय से दान देना । विवेक पूर्वक दान देना ।

ऋषि की शब्दावली मे एक ऐसे जीवन का सकेत है, जिसमे प्रेम, सद्भावना, सौजन्य, उदारता, सेवा और कर्तव्यनिष्ठा का माव है । कहने का अभिप्राय यह है कि ऋषि ब्रह्मचारी को एक ऐसे गृही के रूप मे जीने का उपदेश करता है, जो समाज मे सवथा सुसगत और उपयुक्त सिद्ध हो । वह एक ऐसा नागरिक हो, जो केवल अपने लिये ही नही जीए, प्रत्युत समष्टि के लिए जीए ।

तीन ऋण

वैदिक धर्म मे एक बडी ही सुन्दर मावात्मक कल्पना है—प्रत्येक व्यक्ति पर तीन प्रकार के ऋण हैं—ऋषि-ऋण, देव-ऋण तथा पितृ-ऋण । यज्ञोपवीत के तीन सूत्र—धागे इसके सूचक हैं ।

ऋषियो—द्रष्टाओ या ज्ञानियो ने अनवरत साधना द्वारा ज्ञान की अनुपम निधि अर्जित की है । प्रत्येक द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) जन का यह पुनीत कर्तव्य है कि वह उस ज्ञान का परिशीलन करे, शास्त्राध्ययन करे । ब्रह्मचर्याश्रम मे यह ऋण अपाकृत हो जाता है । ब्रह्मचारी गुरु से वेद, शास्त्र आदि का अध्ययन कर इस ऋण से मुक्त होता है ।

पितृऋण की अपाकृति गृहस्थाश्रम मे होती है । गृही अपने पूर्व पुरुषो के श्राद्धतर्पण आदि करता है, जो पितृ-ऋण की शुद्धि के हेतु हैं । देव-ऋण से (गृहस्थ) वानप्रस्थ आश्रम मे उन्मुक्ति होती है । क्योकि देव-ऋण यज्ञ द्वारा देवताओ को आहुति देने से अपाकृत होता है । इस प्रकार तीनो ऋणो का उन्मोचन वानप्रस्थ आश्रम तक हो जाता है । तदन्तर सन्यास का विधान है । इसीलिए कहा है—

"ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ।"

अर्थात् इन तीन ऋणो का अपाकरण—समापन कर अपना मन मोक्ष मे लगाए ।

इस व्यवस्था के अनुसार **"आश्रमादाश्रम गच्छेत्"** अर्थात् ब्रह्मचय आदि आश्रमो को क्रमश प्राप्त करना चाहिए, एक-एक आश्रम का यथा समय यथावत् रूप मे निर्वाह करते हुए आगे बढ़ना चाहिए ।

एक अपवाद

यद्यपि वैदिक धर्म मे आश्रम-व्यवस्था का विधान है परन्तु जहाँ किसी मे वैराग्य का अतिशय का आधिक्य हो, उसके लिए अपवादरूप में इस व्यवस्था का अस्वीकार मी है । श्रुति मे कहा गया है—**"यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्, ब्रह्मचर्याद्वा गृहाद्वा वनाद्वा ।"** अर्थात् जिस दिन वैराग्य हो जाय, उसी दिन मनुष्य सन्यास ग्रहण कर ले । वह ब्रह्मचर्याश्रम से, गृहस्थाश्रम से या वानप्रस्थाश्रम से—जिस किसी आश्रम से ऐसा कर सकता है । आश्रमों के क्रमिक समापन का नियम वहाँ लागू नहीं होता । यह आपवादिक नियम है, वैधानिक नहीं । अत इसके आधार पर सन्यस्त होने वाले व्यक्तियो के उदाहरण बहुत कम प्राप्त होते हैं ।

प्रजातन्तु अव्यवच्छिन्न रहे

ऊपर पितृऋण की जो बात आई है, उसके सन्दर्भ मे इतना और ज्ञातव्य है कि वैदिक धम वश परम्परा के निर्वाध परिचालन मे विश्वास रखता है । यथाविधि सन्तानोत्पत्ति वहाँ धर्म का अ ग माना गया है । पुत्र शब्द की व्याख्या मे कहा गया है—**पुन्नाम्नो नरकात् त्रायत इति पुत्र** । अर्थात् जो अपने माता, पिता अथवा पूर्व पुरुषों को
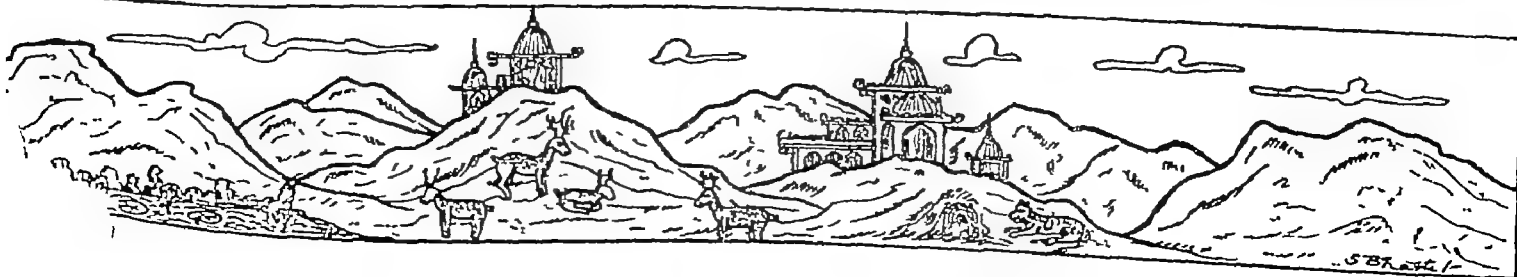
श्राद्ध, तर्पण आदि के द्वारा पुन्नामक नरक से बचाता है, वह पुत्र है, इसे और स्पष्ट समझें—जिनके सन्तति नही होती, उन्हें जलाजलि, तर्पण, श्राद्ध आदि कुछ भी प्राप्त नही होता। उनकी सद्‌गति नही होती। यदि किसी के पुत्र न हो तो उसकी पूर्ति के लिए हिन्दू धम मे अपने किसी पारिवारिक व्यक्ति के बच्चे को पुत्ररूप मे ग्रहण करने की व्यवस्था है, जिसे दत्तक पुत्र कहा जाता है। इसका उद्देश्य विशेषत यही है कि औरस पुत्र द्वारा करणीय धम-विधान वह सम्पादित करे। तैत्तिरीयोपनिषद् मे 'प्रजातन्तु मा व्यवच्छेत्सी' जो कहा गया है, उसके पीछे यही भाव है।

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है कि ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् व्यक्ति विधिवत् विवाह करे, सन्तान उत्पन्न करे तथा पारिवारिक व सामाजिक कर्तव्यो का निर्वाह करे।

गृहस्थ के पांच महायज्ञ

यदि हम गहराई मे जाएँ तो प्रतीत होगा कि जीवन मे हिंसा का क्रम अनवरत चलता है। सन्यासी या भिक्षु तो उससे बहुत कुछ बचा रहता है परन्तु गृहस्थ के लिए ऐसा सम्भव नही है। मनु ने गृहस्थ के यहाँ पाँच हिंसा के स्थान (वध-स्थल) बतलाये हैं। उन्होने कहा है—

"पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेपण्युपस्कर ।
कण्डनी चोदकुम्भश्च वध्यते यास्तु वाहयन् ॥"[३]

चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ओखली तथा जल-स्थान इनके द्वारा गृहस्थ के यहाँ जीवो की हिंसा प्राय होती ही रहती है इसलिए मनु ने इन्हें वध-स्थल कहा है।

इन पाँच स्थानो या हेतुओ से होने वाली हिंसा की निष्कृति या निवारण के लिए मनु ने पाँच महायज्ञो का विधान किया है—

"तासा क्रमेण सर्वासा, निष्कृत्यर्थं महर्षिभि ।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञा, प्रत्यह गृहमेधिनाम् ॥"[४]

वे पञ्च महायज्ञ इस प्रकार हैं—

"अध्यापन ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो, नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥"[६]

ब्रह्म-यज्ञ, पितृ-यज्ञ, देव-यज्ञ, भूत-यज्ञ तथा मनुष्य-यज्ञ—ये पाँच महायज्ञ हैं। द्विजाति जन अपनी अधीत विद्या औरो को पढ़ाए, यह ब्रह्म-यज्ञ है। अपने पितृगण का तपण करे, यह पितृ-यज्ञ है, हवन करना देव-यज्ञ है, बलि वैश्वदेव यज्ञ, भूत-यज्ञ है तथा अतिथियो का सत्कार मनुष्य-यज्ञ है।

बलि वैश्वदेव यज्ञ के सम्बन्ध मे मनु ने कहा है—

"शुना च पतिताना च, श्वपचा पापरोगिणाम् ।
वायसाना कृमीण च, शनकैर्निर्वपेद् भुवि ॥"[७]

कुत्ते, पतित मनुष्य, चाण्डाल, पापरोगी, कौए और कीडे मकोडे—इनके लिए भोजन मे से छ भाग करके धीरे से भूमि पर डाल देना बलि वैश्वदेव यज्ञ है।

यदि हम ध्यान से देखें तो इन पाँच महायज्ञो मे तीन तो वे ही हैं, जिनका उपयु क्त तीन ऋणो से सम्बन्ध है। उनके अतिरिक्त जो दो और है, उनका विशेष आशय है।

बलि वैश्वदेव यज्ञ से यह प्रकट है कि वैदिक धर्म ने नीच और पतित कहे जाने वाले प्राणियों के प्रति भी दया का वर्ताव करने का स्पष्ट निर्देश किया है और उसे भी उतना ही पवित्र माना है, जितना अध्यापन, तपण व हवन जैसे उच्च कार्यों को माना है। उसके लिए प्रयुक्त यज्ञ शब्द इसका द्योतक है।

अतिथि-सत्कार का भी वैदिक धर्म में बहुत बडा महत्त्व है। इसलिए उसे मनुष्य-यज्ञ कहा है। अतिथि के सम्बन्ध में तो यहाँ तक कहा है—

अतिथिर्यस्य भग्नाशो, गृहात् प्रतिनिवर्तते ।
स तस्मै दुस्कृत दत्त्वा, पुण्यमादाय गच्छति ॥

अर्थात् अतिथि जिसके घर से निराश होकर लौट जाता है, वह उसे (उस गृहस्थ को) अपना पाप देकर तथा उसका पुण्य लेकर चला जाता है।

यदि सूक्ष्मता मे जाएँ तो पता चलेगा कि इसके पीछे समाज-विज्ञान की व्यापक भावना सलग्न है। यह स्वाभाविक है कि सर्वत्र प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। एक अपरिचित व्यक्ति किसी अपरिचित स्थान मे किसी अपरिचित व्यक्ति से स्नेह और श्रद्धापूर्वक सत्कृत और सपूजित होता है तो सहज ही उसके मन मे यह भाव उभरता है कि उसके यहाँ भी कभी वैसा प्रसग बनेगा तो वह सत्कार व आदर मे कोई कमी नही रख छोडेगा। इससे मानव एक नि शक तथा सुरक्षित भाव पाता हुआ सर्वत्र आ-जा सकता है, अपना कार्य कर सकता है। एक व्यापक मैत्री-भाव के उद्गम का यह सहज स्रोत है । इसमे कोई भी व्यक्ति कही भी जाते हुए नही हिचकेगा कि वहाँ उसका कौन है ?

गृहस्थ और कर्म-योग

गीता मे गृहस्थ को बड़ा मार्मिक व उपयोगी पथ-दर्शन दिया गया है। उसे कहा गया है कि यदि आसक्ति और मोह के बिना वह अपना कर्त्तव्य करता जायेगा तो उसे समझ लेना चाहिए कि इससे उसकी आत्म-साधना भी सधती जायेगी। उसका अनासक्त कर्म उसके लिए योग बन जायेगा। कर्म-योग के सन्दर्भ मे श्रीकृष्ण ने बहुत जोर देकर कहा है कि जब तक देह है, इन्द्रियाँ हैं, तब तक कोई कर्म-शून्य नही हो सकता अत कर्म करने मे अपनी पद्धति को एक नया मोड देना होगा, जो मोह, ममता और आसक्त भाव से परे होगा। इस प्रकार कम करता हुआ मनुष्य कर्मो के लेप से अछूता रहेगा।

निष्कर्ष-रूप मे श्रीकृष्ण ने कहा है—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥
योगस्थ कुरु कर्माणि, सङ्ग त्यक्त्वा धनजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्यो समो भूत्वा, समत्व योग उच्यते ॥"[८]

अर्थात् कर्म करने में तुम्हारा अधिकार है—तुम कम करने के अधिकारी हो, फल के नही। इसलिए कर्म के फल की आशा मत रखो। पर, साथ ही साथ यह भी ध्यान रखने की बात है कि कम-फल की आशा तो छोड दो पर अकर्मण्य मत बनो। सङ्ग—आसक्ति या आशा छोडकर तुम योगपूवक—अनासक्त भाव से, कर्त्तव्य-बुद्धि से कर्म करो। सफलता और असफलता की भी चिन्ता मत करो। दोनों में समान रहो। यह समत्व ही योग है।

वैदिक धर्म के अनुसार गृही के साधक-जीवन का यह सक्षिप्त लेखा-जोखा है। पारिवारिक जनो के प्रति कर्त्तव्य, देवोपासना, दान, सेवा आदि और भी अनेक पहलू हैं, जिनका गृहस्थ के जीवन से बहुत सम्बन्ध है। पर, यहाँ उनका विस्तार करने का अवकाश नही है।

विवेचन का साराश यह है कि वैदिक धर्म के अनुसार सासारिक कत्तव्य और आध्यात्मिक साधना—इन दोनों का समन्वित महत्त्व है। जैसे ब्रह्मचर्य यद्यपि आदर्श है पर गृही के लिए अपनी परिणीता पत्नी का सेवन धार्मिक दृष्टि से भी दोषपूर्ण नहीं है ऋतुकालाभिगमन तो विहित भी है। कहने का आशय यह है कि ससार और निश्रेयस दोनो का वहाँ स्वीकार है। यही कारण है कि वैशेषिक दशन मे धम की परिभाषा करते हुए लिखा गया है—

"यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धि स धर्म ।"[९]

अर्थात् जिससे लौकिक अभ्युदय या उन्नति तथा मोक्ष की सिद्धि हो, वह धर्म है।

बौद्धधर्म मे गृही उपासक

बौद्धधर्म मे मज्झिम पडिपदा—मध्यम प्रतिपदा या मध्यम माग कहा जाता है। भगवान बुद्ध ने अध्ययन तथा

तपस्या के पश्चात् यह अनुभव किया कि जन-साधारण के लिए वही धर्म उपयोगी होगा, जो न अत्यन्त कड़ा हो और न अत्यन्त सरल। क्योंकि अत्यन्त कठोर या ऊँचे नियमो का परिपालन उनसे शक्य नही होगा तथा अत्यन्त साधारण कोटि के नियमों से कुछ विशेष सधेगा नहीं।

चार आर्य सत्य

भगवान बुद्ध ने जिस मध्यम-मार्ग मूलक धर्म की अवतारणा की, वह निम्नांकित वास्तविकताओ पर आधृत है—जगत् मे दुःख है, जिसमे जन्म, मृत्यु, बुढापा, रोग, प्रियजनो का वियोग, अप्रिय पदार्थों का सयोग, अभीप्सित का अलाभ इत्यादि का समावेश हो जाता है।

दुःख की गहराई मे जाते हैं तो पता चलता है कि उसका कोई न कोई कारण अवश्य है। कारण के जान लेने पर यह सम्भावित होता है कि उस दुःख को मिटाया जा सकता है। जब मिटाया जा सकता है तो उसका कोई विधि-क्रम भी होना चाहिए।

इन्ही वास्तविकताओ को भगवान बुद्ध ने चार 'आर्य सत्य' के नाम से अभिहित किया—

१ दुःख, २ दुःख-समुदय, ३ दुःख-निरोध, ४ दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपद्। कहा गया है, यह बुद्ध द्वारा प्रतिपादित धर्म है, क्षेम है, उत्तम शरण है। इसे अपनाने से प्राणी सब दुःखो से छूट जाता है, जैसे—

> यो च बुद्ध च धम्म च सघ च सरण गतो।
> चत्तारि अरियसच्चानि सम्मप्पञ्ञाय पस्सति।
> दुक्ख दुक्खसमुप्पाद दुक्खस्स च अतिक्कम।
> अरिय चट्ठङ्गिक मग्ग दुक्खूपसमगामिन॥
> एत खो सरण खेम एत सरणमुत्तम।
> एत सरणमागम्म सव्वदुक्खा पमुच्चति॥

इन गाथाओ मे चार आर्य-सत्यो की चर्चा के साथ-साथ अष्टागिक आर्य मार्ग की ओर सकेत किया गया है। उसे दुःख का उपशामक कहा गया है।

अष्टांगिक मार्ग

चौथे आर्य-सत्य (दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपद्) के अन्तर्गत भगवान बुद्ध ने एक व्यवस्थित विधिक्रम या मार्ग दिया है, जिसका अवलम्बन कर साधक दुःख से छुटकारा पा सकता है। वही अष्टांगिक आर्य मार्ग है, जिसके निम्नांकित आठ अग हैं—

१ **सम्यक् ज्ञान**—चार आर्य सत्यो को भली-भाँति समझ लेना।

२ **सम्यक् सकल्प**—समझ लेने के बाद मन मे जमाने की बात आती है। वैसा किये बिना समझना विशेष हितकर नही होता। समझी हुई बात को मन मे जमाने के लिए पक्का निश्चय करना पड़ता है। इसी का नाम सम्यक् सकल्प है।

३ **सम्यक् वचन**—सत्य बात कहना।

४ **सम्यक् कर्मान्त**—हिंसा, शत्रुता, दूषित आचरण आदि से बचते रहना। इन्हें कर्मान्त इसलिए कहा गया है कि ऐसा करने से कर्मों का अन्त होता है।

५ **सम्यक् आजीव**—न्याय-नीति पूर्वक आजीविका चलाना।

६ **सम्यक् व्यायाम**—सात्त्विक कर्मों के लिए निरन्तर उद्यमशील रहना।

७ **सम्यक् स्मृति**—लोभ आदि वृत्तियाँ चित्त को सन्तप्त करती रहती हैं, उनसे बचना।

८ **सम्यक् समाधि**—रागात्मक व द्वेषात्मक वृत्तियों से चित्त को हटाकर एकाग्र करना।

यह अष्टागिक मार्ग बौद्ध धर्म मे सर्वत्र स्वीकृत है। पर, हीनयान सम्प्रदाय के बौद्ध इस पर विशेष जोर देते हैं। महायान सम्प्रदाय में अष्टागिक मार्ग का स्वीकार तो है पर उसका विशेष बल पारमिता-मार्ग पर है।

'पारमिता' शब्द पारम्+इता से बना है, अर्थात् पार पहुची हुई अत्युत्कृष्ट अवस्था। महायान सम्प्रदाय मे छ पारमिताएं मुख्य मानी गई हैं, जो निम्नाकित हैं—

१ दान-पारमिता, २ शील-पारमिता (उत्कृष्ट सदाचार का पालन)—३ शान्ति पारमिता (क्षमाशीलता), ४ वीर्य पारमिता (अशुभ को त्याग कर शुभ के स्वीकार-हेतु अत्यन्त उत्साह), ५ ध्यान-पारमिता, ६ प्रज्ञा-पारमिता (सत्य का साक्षात्कार)।

बौद्ध धर्म का आचार की दृष्टि से सारा विस्तार इन तथ्यो पर हुआ है। इनके परिपालन की दृष्टि से बौद्ध साधक दो वर्गों मे विभक्त है, भिक्षु और उपासक। भिक्षु इन आदर्शों का पूर्णतया पालन करने का सकल्प लेकर इस ओर उद्यमशील रहते हैं। वे स्वय अपनी साधना मे लगे रहने के साथ-साथ जन-जन को उस ओर अग्रसर करने के लिए उपदेश करते हैं। गृहस्थो या उपासको के लिए भी अष्टागिक मार्ग आदर्श है पर, वे उस ओर प्रयत्नशीलता की अवस्था मे होते हैं, जबकि भिक्षु सम्पूर्णत परिपालन की स्थिति मे। भिक्षुओ के लिए आहार, विहार, भिक्षा, वस्त्र, अन्यान्य उपकरण आदि का ग्रहण, प्रयोग प्रभृति के सन्दर्भ मे एक आचार-सहिता है, जिसका विनयपिटक मे विस्तृत विवेचन है। बौद्ध परम्परा मे 'विनय' शब्द आचार के अर्थ मे है। 'विनयपिटक' सज्ञा इसी आधार पर है।

प्रव्रज्या सावधिक निरवधिक

बौद्ध धर्म मे एक विशेष बात और है। वहाँ भिक्षु-दीक्षा या सन्यास-प्रव्रज्या एकान्त रूप से समग्र जीवन के लिए हो, ऐसा नही है। वहाँ दो प्रकार के भिक्षु होते हैं। एक वे, जो जीवन भर के लिए भिक्षु-सघ मे आते हैं। दूसरे वे, जो समय-विशेष के लिए भिक्षु-जीवन मे प्रव्रजित होते हैं। वह समयावधि वर्षों, महीनो अथवा दिनो की भी हो सकती है।

प्रत्येक बौद्ध उपासक अपने मन मे यह आकाक्षा रखता है कि कम से कम जीवन मे एक बार, चाहे थोडे ही समय के लिए, भिक्षु बनने का सुअवसर उसे मिले। वह निर्धारित समय तक भिक्षु रहकर पुन अपने गृहस्थ-जीवन मे ससम्मान वापिस आ सकता है। वह तथा उसके पारिवारिक-जन अपना सौभाग्य मानते हैं कि कुछ समय तक तो एक व्यक्ति का जीवन भिक्षु के रूप मे व्यतीत हुआ। वैदिक तथा जैन धर्म में ऐसा नही है। वहाँ सन्यास-दीक्षा जीवन भर के लिए होती है। उसे वापिस लौटना हेय माना जाता है। वैदिक धर्म मे जब कोई व्यक्ति सन्यास मे दीक्षित होता है, तो इस बात के प्रतीक के रूप मे कि वह अपने विगत जीवन को समाप्त कर सर्वथा नये जीवन मे जो पिछले से बिल्कुल अस्पृष्ट है, आ रहा है, अपनी चिता तैयार करता है, जिसका तात्पर्य है कि उसका पिछला शरीर भी जल गया है।

बुद्ध ने जो सावधिक भिक्षु-जीवन की स्वीकृति दी, उसके पीछे उनका यही अभिप्राय रहा हो कि थोड़े समय के लिए ही सही सद् वस्तु का ग्रहण तो हुआ। इस पर बुद्ध के मध्यम मार्ग के दार्शनिक चिन्तन का प्रभाव स्पष्टतया दृष्टिगत होता है। पर, एक बात अवश्य है, सन्यास की दिव्य तथा पावन स्थिति इससे व्याहत होती है। जो एक क्षण भी सन्यस्त जीवन के परवस्तुनिरपेक्ष सहज आनन्द का आस्वाद अनुभव कर चुका है, क्या वह उसे छोड सकता है, उधर से हट सकता है, यह बहुत गहराई से चिन्तन का विषय है।

उपासक के कर्त्तव्य

मज्झिम-निकाय मे जहाँ गृहस्थ (गृही उपासक) के कर्त्तव्यो पर प्रकाश डाला गया है, वहाँ चार कर्म-क्लेश बताये गये हैं। उन्हें कर्म-मल भी कहा गया है, जो इस प्रकार हैं—

१ **प्राणातिपात**—प्राणियो का वध करना।
२ **अदत्तादान**—किसी द्वारा नही दी गई वस्तु ग्रहण करना अर्थात् चोरी करना।
३ **परदार-गमन**।
४ **मृषावाद**—असत्य-भाषण करना।

वहाँ पाप के चार स्थानो का भी वर्णन है, जो छन्द, द्वेष, मोह और भय के रूप मे व्याख्यात हुए हैं। अर्थात् छन्द—राग, द्वेष, मोह तथा भय के कारण अनेकविध पाप-कर्मों मे प्रवृत्त होना इन-इन स्थानो से सम्बद्ध माना गया है। वही पर छ अपाय-मुखो का वर्णन है।

तपस्या के पश्चात् यह अनुभव किया कि जन-साधारण के लिए वही धर्म उपयोगी होगा, जो न अत्यन्त कडा हो और न अत्यन्त सरल। क्योकि अत्यन्त कठोर या ऊँचे नियमो का परिपालन उनसे शक्य नहीं होगा तथा अत्यन्त साधारण कोटि के नियमो से कुछ विशेष सधेगा नही।

चार आर्य सत्य

भगवान बुद्ध ने जिस मध्यम-मार्ग मूलक धर्म की अवतारणा की, वह निम्नाकित वास्तविकताओ पर आधृत है—जगत् मे दुख है, जिसमे जन्म, मृत्यु, बुढापा, रोग, प्रियजनो का वियोग, अप्रिय पदार्थों का सयोग, अभीप्सित का अलाभ इत्यादि का समावेश हो जाता है।

दुख की गहराई मे जाते हैं तो पता चलता है कि उसका कोई न कोई कारण अवश्य है। कारण के जान लेने पर यह सम्भावित होता है कि उस दुख को मिटाया जा सकता है। जब मिटाया जा सकता है तो उसका कोई विधि-क्रम भी होना चाहिए।

इन्हीं वास्तविकताओ को भगवान बुद्ध ने चार 'आर्य सत्य' के नाम से अभिहित किया—

१ दुख, २ दुख-समुदय, ३ दुख-निरोध, ४ दुख-निरोधगामिनी प्रतिपद्। कहा गया है, यह बुद्ध द्वारा प्रतिपादित धर्म है, क्षेम है, उत्तम शरण है। इसे अपनाने से प्राणी सब दुखों से छूट जाता है, जैसे—

यो च बुद्ध च धम्म च सघ च सरण गतो।
चत्तारि अरियसच्चानि सम्मप्पञ्ञाय पस्सति।
दुक्ख दुक्खसमुप्पाद दुक्खस्स च अतिक्कम।
अरिय चट्ठङ्गिक मग्ग दुक्खूपसमगामिन॥
एत खो सरण खेम एत सरणमुत्तम।
एत सरणमागम्म सब्बदुक्खा पमुच्चति॥

इन गाथाओ मे चार आय-सत्यो की चर्चा के साथ-साथ अष्टागिक आय माग की ओर सकेत किया गया है। उसे दुख का उपशामक कहा गया है।

अष्टांगिक मार्ग

चौथे आय-सत्य (दुख-निरोधगामिनी प्रतिपद) के अन्तगत भगवान बुद्ध ने एक व्यवस्थित विधिक्रम या मार्ग दिया है, जिसका अवलम्बन कर साधक दुख से छुटकारा पा सकता है। वही अष्टागिक आर्य मार्ग है, जिसके निम्नांकित आठ अग हैं—

१ **सम्यक् ज्ञान**—चार आर्य सत्यो को भली-भाँति समझ लेना।

२ **सम्यक् सकल्प**—समझ लेने के बाद मन में जमाने की बात आती है। वैसा किये बिना समझना विशेष हितकर नही होता। समझी हुई बात को मन में जमाने के लिए पक्का निश्चय करना पडता है। इसी का नाम सम्यक् सकल्प है।

३ **सम्यक् वचन**—सत्य बात कहना।

४ **सम्यक् कर्मान्त**—हिंसा, शत्रुता, दूषित आचरण आदि से बचते रहना। इन्हें कर्मान्त इसलिए कहा गया है कि ऐसा करने से कर्मों का अन्त होता है।

५ **सम्यक् आजीव**—न्याय-नीति पूवक आजीविका चलाना।

६ **सम्यक् व्यायाम**—सात्त्विक कर्मों के लिए निरन्तर उद्यमशील रहना।

७ **सम्यक् स्मृति**—लोभ आदि वृत्तियाँ चित्त को सन्तप्त करती रहती हैं, उनसे बचना।

८ **सम्यक् समाधि**—रागात्मक व द्वेषात्मक वृत्तियो से चित्त को हटाकर एकाग्र करना।

यह अष्टागिक मार्ग बौद्ध धर्म में सर्वत्र स्वीकृत है। पर, हीनयान सम्प्रदाय के बौद्ध इस पर विशेष जोर देते हैं। महायान सम्प्रदाय मे अष्टांगिक मार्ग का स्वीकार तो है पर उसका विशेष बल पारमिता-मार्ग पर है।

'पारमिता' शब्द पारम्+इता से बना है, अर्थात् पार पहुची हुई अत्युत्कृष्ट अवस्था। महायान सम्प्रदाय मे छ पारमिताएं मुख्य मानी गई हैं, जो निम्नांकित हैं—

१ दान-पारमिता, २ शील-पारमिता (उत्कृष्ट सदाचार का पालन)—३ शान्ति पारमिता (क्षमाशीलता), ४ वीर्य पारमिता (अशुभ को त्याग कर शुभ के स्वीकार-हेतु अत्यन्त उत्साह), ५ ध्यान-पारमिता, ६ प्रज्ञा-पारमिता (सत्य का साक्षात्कार)।

बौद्ध धर्म का आचार की दृष्टि से सारा विस्तार इन तथ्यो पर हुआ है। इनके परिपालन की दृष्टि से बौद्ध साधक दो वर्गों मे विभक्त है, भिक्षु और उपासक। भिक्षु इन आदर्शों का पूर्णतया पालन करने का सकल्प लेकर इस ओर उद्यमशील रहते हैं। वे स्वय अपनी साधना मे लगे रहने के साथ साथ जन-जन को उस ओर अग्रसर करने के लिए उपदेश करते हैं। गृहस्थो या उपासको के लिए भी अष्टागिक मार्ग आदर्श है पर, वे उस ओर प्रयत्नशीलता की अवस्था मे होते हैं, जबकि भिक्षु सम्पूर्णत परिपालन की स्थिति मे। भिक्षुओ के लिए आहार, विहार, भिक्षा, वस्त्र, अन्यान्य उपकरण आदि का ग्रहण, प्रयोग प्रभृति के सन्दर्भ मे एक आचार-सहिता है, जिसका विनयपिटक मे विस्तृत विवेचन है। बौद्ध परम्परा में 'विनय' शब्द आचार के अर्थ मे है। 'विनयपिटक' सज्ञा इसी आधार पर है।

प्रव्रज्या सावधिक निरवधिक

बौद्ध धर्म मे एक विशेष बात और है। वहाँ भिक्षु-दीक्षा या सन्यास-प्रव्रज्या एकान्त रूप से समग्र जीवन के लिए हो, ऐसा नही है। वहाँ दो प्रकार के भिक्षु होते हैं। एक वे, जो जीवन भर के लिए भिक्षु-सघ मे आते हैं। दूसरे वे, जो समय-विशेष के लिए भिक्षु-जीवन मे प्रव्रजित होते हैं। वह समयावधि वर्षों, महीनो अथवा दिनो की भी हो सकती है।

प्रत्येक बौद्ध उपासक अपने मन मे यह आकाक्षा रखता है कि कम से कम जीवन मे एक बार, चाहे थोड़े ही समय के लिए, भिक्षु बनने का सुअवसर उसे मिले। वह निर्धारित समय तक भिक्षु रहकर पुन अपने गृहस्थ-जीवन मे ससम्मान वापिस आ सकता है। वह तथा उसके पारिवारिक-जन अपना सौभाग्य मानते हैं कि कुछ समय तक तो एक व्यक्ति का जीवन भिक्षु के रूप मे व्यतीत हुआ। वैदिक तथा जैन धर्म मे ऐसा नही है। वहाँ सन्यास-दीक्षा जीवन भर के लिए होती है। उसे वापिस लौटना हेय माना जाता है। वैदिक धर्म मे जब कोई व्यक्ति सन्यास मे दीक्षित होता है, तो इस बात के प्रतीक के रूप मे कि वह अपने विगत जीवन को समाप्त कर सर्वथा नये जीवन मे जो पिछले से बिल्कुल अस्पृष्ट है, आ रहा है, अपनी चिता तैयार करता है, जिसका तात्पर्य है कि उसका पिछला शरीर भी जल गया है।

बुद्ध ने जो सावधिक भिक्षु-जीवन की स्वीकृति दी, उसके पीछे उनका यही अभिप्राय रहा हो कि थोड़े समय के लिए ही सही सद् वस्तु का ग्रहण तो हुआ। इस पर बुद्ध के मध्यम मार्ग के दार्शनिक चिन्तन का प्रभाव स्पष्टतया दृष्टिगत होता है। पर, एक बात अवश्य है, सन्यास की दिव्य तथा पावन स्थिति इससे व्याहत होती है। जो एक क्षण भी सन्यस्त जीवन के परवस्तुनिरपेक्ष सहज आनन्द का आस्वाद अनुभव कर चुका है, क्या वह उसे छोड़ सकता है, उधर से हट सकता है, यह बहुत गहराई से चिन्तन का विषय है।

उपासक के कर्त्तव्य

मज्झिम-निकाय मे जहाँ गृहस्थ (गृही उपासक) के कर्त्तव्यो पर प्रकाश डाला गया है, वहाँ चार कर्म-क्लेश बताये गये हैं। उन्हें कर्म-मल भी कहा गया है, जो इस प्रकार हैं—

१ **प्राणातिपात**—प्राणियो का वध करना।
२ **अदत्तादान**—किसी द्वारा नही दी गई वस्तु ग्रहण करना अर्थात् चोरी करना।
३ **परदार-गमन**।
४ **मृषावाद**—असत्य-भाषण करना।

वहाँ पाप के चार स्थानो का भी वर्णन है, जो छन्द, द्वेष, मोह और भय के रूप मे व्याख्यात हुए हैं। अर्थात् छन्द—राग, द्वेष, मोह तथा भय के कारण अनेकविध पाप कर्मों मे प्रवृत्त होना इन-इन स्थानो से सम्बद्ध माना गया है। वही पर छ अपाय-मुखो का वर्णन है।

१ मदिरा-पान ।
२ सन्ध्या के समय चौरस्ते पर घूमना ।
३ नृत्य, खेल-तमाशा आदि देखना ।
४ द्यूत-क्रीडा करना ।
५ दुष्ट से मित्रता करना ।
६ आलस्य-रत रहना ।

इन्हे अपाय-सुख कहने के पीछे यह भाव रहा है कि बाह्य दृष्टि से ये सुख प्रतीत होते हैं किन्तु इनका परिणाम भीषण दुःख है ।

इनके सम्बन्ध मे उपदेश किया गया है कि आय श्रावक या उपासक इन चौदह (चार कर्म-क्लेश, चार पाप-स्थान तथा छ अपाय सुख=चौदह) प्रकार से होने वाले पापो से बचे । ऐसा करने वाला लोक और परलोक दोनो को जीत लेता है ।

करुणा पर विशेष बल

उपासक के लिए बौद्ध धम मे करुणा या दया पर बहुत जोर दिया गया है । आय उपासक को इतना करुणा शील होना चाहिए कि उसे अपने-पराये का भान तक न रहे ।

करुणा के तीन प्रकार बताये गये हैं—

१ **स्वार्थमूला करुणा**—जैसे माता की पुत्र के प्रति ।

२ **सहेतुकी करुणा**—किसी को कष्ट मे देखा, हृदय द्रवित हुआ, करुणा-भाव जागा, इस कोटि की ।

३ **अहेतुकी करुणा**—बिना स्वाथ, बिना कारण तथा पात्र, अपात्र के भेद के बिना प्राणी मात्र के प्रति होने वाली ।

अहेतुकी करुणा को 'महाकरुणा' कहा जाता है । बौद्ध धम के महायान सम्प्रदाय मे इसका बहुत विकास हुआ ।

ईसाई धर्म मे साधक के वर्ग

ईसाई धम का मुख्य आधार प्रेम व दया है । मुख्यत वही भगवान की प्राप्ति का माध्यम है । उसी से ईसाई धम मे सेवा-भाव का विकास हुआ, जिसका ससार मे अपना अद्वितीय स्थान है ।

ईसाई धर्म में प्रारम्भ से ही साधको की दो श्रेणियाँ चली आती हैं । एक वह है, जो धर्म की शिक्षा और प्रेरणा देती है, सासारिक जीवन से पृथक् रहती है, जिसे भारतीय धर्मो की परिभाषा मे सन्यासी या साधु कह सकते हैं । दूसरी श्रेणी जन-साधारण या नागरिक अनुयायियो की है, जो गृहस्थ या पारिवारिक जीवन जीते हैं । त्यागी वग के पुरुष फादर (Fathers) कहे जाते हैं और स्त्रियाँ नन (Nuns) । सादा और सरल जीवन जीते हुए, धर्म-प्रसार करते हुए जन-जन की सेवा मे लगे रहना, उस ओर अपने अनुयायियो को प्रेरित करना उनका मुख्य कार्य है । उनके दैनन्दिन जीवन-व्यवहार के सन्दभ मे अपनी आचार-सहिता है ।

ईसाई-धर्म में मुख्यत दो सम्प्रदाय हैं—रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टैन्ट । रोमन कैथोलिक प्राचीन है, प्रोटेस्टैन्ट पश्चाद्वर्ती । रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय में यह त्यागी वर्ग—फादर्स व नन्स अविवाहित रहते हैं । उनके किसी प्रकार का गृहस्थ-सम्बन्धी लगाव नहीं होता । प्रोटेस्टैन्ट सम्प्रदाय मे उन्हें (Fathers, nuns को) विवाह की सुविधा है ।

गृहस्थ अनुयायी

गृहस्थ अनुयायियों के लिए ईसाई धम में अध्यात्म-साधना का कोई विशेष सूक्ष्म अभ्यास-क्रम नहीं मिलता । ईश्वर की प्राथना मे वे विश्वास करते हैं । सप्ताह के सात दिनो में एक-रविवार का दिन इसके लिए विशेषत निर्धारित है ।

ईसाई धर्म मुख्यत नीति एव सद्व्यवहार प्रधान है। ईसा मसीह ने मानव-समाज को विशेषरूप से पांच आदेश दिये—

(१) पुराने धर्मग्रन्थ मे कहा है कि 'किसी की हत्या मत करो' जो आदमी हत्या करता है, वह गुनहगार है।

पर, मैं तुमसे कहता हूँ कि जो आदमी अपने भाई पर गुस्सा करता है, वह परमात्मा की नजर मे गुनहगार है। प्रार्थना करने से पहले अपने भाई पर मन मे जो क्रोध हो, उसे निकाल दो। उससे सुलह करलो।

(२) मैं तुमसे कहता हूँ कि व्यभिचार तो करना ही नहीं चाहिए, किसी स्त्री पर बुरी नजर भी नही डालनी चाहिए। किसी पर कुदृष्टि डालने वाला भी ईश्वर के आगे गुनहगार है। जो आदमी पत्नी को तलाक देता है, वह खुद व्यभिचार करता है और पत्नी से भी व्यभिचार कराने का कारण बनता है, जो आदमी उससे विवाह करता है, उसे भी वह गुनहगार बनाता है।

(३) पुराने धर्म-ग्रन्थ मे कहा है कि 'कसम न खाओ किन्तु परमात्मा के आगे अपनी प्रतिज्ञाओ पर डटे रहो।'

पर, मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम्हें किसी भी हालत मे कसम नही खानी चाहिए। किसी के बारे मे पूछा जाय तो 'हां' या 'ना' मे जवाब देना चाहिए।

(४) पुराने धर्म-ग्रन्थ मे कहा है कि 'आँख के बदले मे आँख फोड दो, दाँत के बदले दाँत तोड दो।'

पर मैं तुमसे कहता हूँ कि बुराई का बदला बुराई से मत दो। कोई तुम्हारे दाहिने गाल पर चाँटा मारे, तो तुम बाँया गाल भी उसके सामने कर दो।

(५) पुराने धर्म-ग्रन्थ मे कहा है कि 'केवल अपनी ही जाति के लोगो से प्रेम करो।'

पर मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम्हें हर आदमी से प्रेम करना चाहिए। जो तुम्हारे दुश्मन हो, उनसे भी प्रेम करना चाहिए। सभी मनुष्य एक ही पिता की सन्तान हैं। सब भाई-भाई हैं।[१०] सबके साथ तुम्हे प्रेम का व्यवहार करना चाहिए।"

उपर्युक्त विवेचन का साराश यह है कि ईसाई धर्म के अनुसार गृही साधको का आदर्श यह हो कि वे सबके साथ मैत्री से रहें, सात्त्विक दृष्टि हो, वचन के धनी हो, बदले की भावना न रखें, सबसे प्रेम करें।

जैसा कि पहले कहा गया है, ईसाई धर्म मे सेवा का बडा महत्त्व है। प्रभु की प्रसन्नता का यह मुख्य कारण है। यहाँ तात्त्विक दृष्टि से एक बात विशेष विचारणीय है, ईसाई धर्म के अनुयायियों मे सेवा की जो इतनी विराट् भावना पनप सकी, उसका वास्तविक प्रेरक हेतु क्या है? गहराई मे जाने से प्रतीत होता है कि सेवा करने वाला ईसाई अपने मन मे यह भावना लिये रहता है कि उसकी सेवा के परिणामस्वरूप लाभान्वित व्यक्ति स्वय उसके धर्म मे प्रविष्ट होगा, जो उसके लिए सच्चा धम है। एक ईसाई की लोक-सेवा मे जो अत्यधिक तन्मयता देखी जाती है, उसके पीछे यही मुख्य तात्त्विक हेतु है। दार्शनिक दृष्टि से यह उपयोगितावादी, दूरदर्शितापूर्ण चिन्तन है, जिसका परिणाम भारत, अफ्रीकन देश आदि विश्व के अनेक भागो मे स्पष्ट देखा जा सकता है। ईसाई धर्म के अत्यधिक विस्तार का भी मुख्य कारण इसे ही कहा जा सकता है।

अन्यान्य धर्मों मे गृहस्थ की धार्मिक स्थिति

सर्वप्रथम भारतीय धर्मों में सिक्ख धर्म पर कुछ विचार करें। दार्शनिक दृष्टि से इसे हिन्दू धर्म से पृथक् नही कहा जा सकता। जिस अकाल पुरुष या निराकार परमात्मा की उपासना का जो स्वरूप सिक्ख धर्म के प्रवर्तक गुरु नानकदेव ने बताया, वह या वैसा—विवेचन-भेद से हमें उपनिषद्-वाङ्मय मे प्राप्त होता है। पर, व्यवहारत धर्मों की गणना मे इसे एक स्वतन्त्र धर्म गिना जाता है। गुरुनानकदेव का चिन्तन तात्त्विक दृष्टि से कुछ-कुछ इसी सरणि का था, जैसा कबीर आदि निर्गुणोपासक सन्तों का था। यही कारण है कि गुरु ग्रन्थ साहब मे कबीर, रैदास आदि सन्तो की वाणी का भी समावेश है। सन्त मत मे जिस प्रकार सन्यास का कोई स्थान नही है, सिक्ख धर्म मे भी वैसा ही है। गुरु पद पर अधिष्ठित व्यक्ति भी गृहस्थ ही होते रहे हैं।

गुरुनानकदेव ने अपने अनुयायियों को तीन आदेश—आचरण के तीन सूत्र दिये, जो इस प्रकार हैं —

"(१) नाम जपो, (२) किरत करो और (३) वण्ड के छको। पसीने की कमाई मिल बाँटकर खाओ। जो ऐसा करते हैं, उन्हीं को वाह गुरु का, परम प्रभु का प्रसाद मिलता है।"[११]
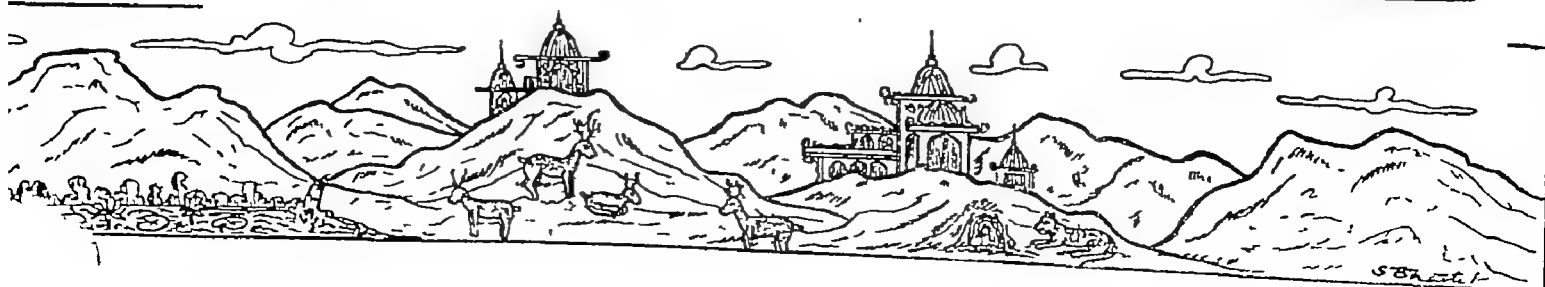
भगवत्-नाम-स्मरण, तद्गुणकीर्तन तथा सेवा-भाव का यहाँ स्पष्ट निर्देश है, जो सिक्ख-धर्म के विचारात्मक तथा आचारात्मक पक्ष की मूल भित्ति है।

जरथुश्त्र—पारसी धर्म के लोग ईरान से लगभग बारह शताब्दी पूर्व भारत मे आये। उनका भारत-आगमन जहाँ एक ओर व्यावसायिक दृष्टि से था, वहाँ दूसरी ओर अरब द्वारा होने वाले धार्मिक आक्रमणो से बचने के हेतु भी था। ऋग्वेदकालीन वैदिक धर्म की छाप इस धर्म पर है। इस धर्म मे, जिस रूप मे आज यह प्राप्त है, सन्यासी और गृही के रूप में वर्ग-भेद नही है। धार्मिक पूजा-उपासना मे मार्ग-दर्शन करने वाला पुरोहित-वर्ग अवश्य है, जिसमे गृहस्थ होते है। इनकी हम वैदिक धर्म के ब्राह्मण-पुरोहितो से तुलना कर सकते हैं।

पारसी-धर्म मे एक धर्माराधक मानव के जो कर्त्तव्य बतलाये गये हैं, वे निम्नांकित हैं —

"सबसे प्रेम करे। सबकी सेवा करे। ईश्वर की पूजा-उपासना करे। देवताओं और सन्तो का आदर करे। सभी सत्कर्मों मे मदद करे। उनमे हाथ बँटाये। सभी भले पशुओ की रक्षा करे। उन पर दया करे। दान दे। सब पर करुणा करे। न्याय पर चले। श्रम करे। अपने पैरो पर खडा हो। असत् से सदा दूर रहे। बुराइयों को नष्ट करे। ईश्वर पर विश्वास रखकर सत् का सदा समर्थन करते रहने से मनुष्य अपना कर्त्तव्य पूरा कर सकता है।"[१२]

इस्लाम धर्म मे जो विचार और आचार-क्रम स्वीकृत है, उनके अनुसार शुरू से ही सन्यासी और गृहस्थ जैसा भेद नही है। इसके प्रवर्तक हजरत मुहम्मद साहब स्वयं एक गृहस्थ थे। उनके उत्तराधिकारी खलीफा जहाँ धर्म-नायक थे, वहाँ शासक भी थे। वे भी गृहस्थ ही थे।

इस्लाम धर्म मे अपने हर अनुयायी या मुसलमान के लिए चार इबादतें आवश्यक बतलाई गई है, जो इस प्रकार हैं —

१ हर रोज फज्र, जुहर, अस्र, मगरिब और इशा—इन पाँच वक्तो पर नमाज कायम करे।
२ रमजान के महीने भर रोजा रखे।
३ अल्लाह की राह मे कम से कम ढाई फीसदी खैरात करे, जकात दे।
४ हो सके तो जिन्दगी मे एक दफा हज करे, मक्का, खान ए काबा की जियारत करे।"[१३]

आचार-व्यवहार की दृष्टि से सत्य बोलना, मधुर बोलना, किसी की निन्दा नहीं करना, अभिमान नहीं करना, परिश्रम की कमाई खाना, ईमानदारी बरतना, चुगली, चापलूसी नहीं करना, शराब नहीं पीना, ब्याज नहीं लेना, व्यभिचार नहीं करना, कजूसी नही करना, किसी का धन नही हडपना आदि के रूप मे अनुयायियो को अनेक शिक्षाएँ दी गई हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि समाज-सगठन, गृहस्थ-जीवन के सुव्यवस्थित निर्वाह, सामाजिक भाव आदि की दृष्टि से इस्लाम मे ये महत्त्वपूर्ण बातें अवश्य हैं, आध्यात्मिक प्रगति साधना, अभ्यास-क्रम आदि के सन्दर्भ में वहाँ कोई विशेष विश्लेषण प्राप्त नही होता।

जैसा कि पहले कहा गया है, इस्लाम धर्म मे केवल एक ही गृहस्थो का वर्ग है, वहाँ सन्यास के लिए कोई स्थान नही है। इस सन्दर्भ मे यह ज्ञातव्य है कि जिन्हे यथावत् रूप मे इस्लाम के प्रतिनिधि तो नहीं कह सकते पर उसी की उत्तरवर्ती शृंखला मे सूफी सन्तो की परम्परा आती है, जो (सूफी सन्त) अद्वैत वेदान्त और इस्लाम का समन्वित आधार लिये हुए वासनात्मक प्रेम को भगवत्प्रेम मे रूपान्तरित कर निराकारोपासना का सन्देश दे रहे थे। वे त्यागी फकीरो के रूप मे थे। पर, एक धर्म-सम्प्रदाय के रूप मे उनका स्थायित्व नहीं बना।

जैन धर्म मे गृहस्थ की साधना

जैन धर्म का मुख्य आधार सम्यक ज्ञान, सम्यक दर्शन और सम्यक चारित्र है। इन्ही की आराधना मोक्ष का मार्ग[१४] है। जैन धर्म आचार-पालन के भेद से दो रूपो मे विभक्त होता है—महाव्रत एवं अणुव्रत।[१५]

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और *अपरिग्रह*—ये पाँच व्रत हैं। जब कोई साधक इनका बिना किसी अपवाद के सम्पूर्ण रूप से परिपालन करता है, तब इनके साथ 'महा' विशेषण जुड जाता है। इनके सम्पूर्ण निरपवाद स्वीकार की भाषा इस प्रकार बनती है, जैसे—मैं हिंसा नही करूँगा, हिंसा नही कराऊँगा, हिंसा का अनुमोदन नहीं करूँगा।

फिर मन, वचन तथा काय को जोडकर प्रत्येक के तीन-तीन भग बनाये जाते हैं। जैसे—मैं मन से हिंसा नही करूँगा, मन से हिंसा नहीं कराऊँगा, मन से हिंसा का अनुमोदन नही करूँगा। यही क्रम वचन व काय के साथ जोडना होगा। यो नौ भग या नौ कोटियाँ बनेंगी, अत यह (महाव्रत सम्बन्धी) नव कोटि प्रत्याख्यान कहा जाता है।

यह तो एक उदाहरण है, पाँचो महाव्रतो मे यही क्रम लागू होता है। इस प्रकार इन पाँचो महाव्रतो को ग्रहण कर उनका यथावत् रूप मे जो परिपालन करता है, वह मुनि, साधु या श्रमण कहा जाता है।

ये पाँच व्रत जब परिपालन की क्षमता की अपेक्षा से तरतमतापूर्वक स्वीकार किये जाते हैं अर्थात् विविध अपवादो के साथ ग्रहण किये जाते हैं, तब ये अणुव्रत कहलाते हैं। 'अणु' शब्द यहाँ 'महा' की अपेक्षा छोटे का द्योतक है।

अणुव्रतों की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि

जैन तत्त्व-द्रष्टाओ ने अणुव्रतो की जो सघटना की है, उसके पीछे उनका अत्यन्त सूक्ष्म, वैज्ञानिक चिन्तन है। इस पर हम जरा गहराई से विचार करें। ससार मे जितने व्यक्ति हैं, उन सब की रुचि, शक्ति, क्षमता, उत्साह आदि में भिन्नता है। किस मार्ग पर कौन, कितना, किस रूप मे चल सकता है, इस बात का निर्णय चलने वाला अपनी शक्ति को तौलकर करता है। उपदेश, प्रेरणा इत्यादि जो भी उसे मिले पर उनका अनुवर्तन या अनुसरण उससे उतना ही सधेगा, जितनी शक्तिमत्ता उसमें है। यही कारण है कि अणुव्रतो के स्वीकार मे जो अपवाद सम्बन्धी विकल्प बनते हैं, वे इयत्ता की परिसीमा मे नहीं आते। हिंसा या असत्य आदि के वजन मे उपासक अपनी-अपनी स्थितियो और क्षमताओ के अनुरूप नियम ग्रहण करते हैं। उदाहरणार्थ सौ व्यक्ति सौ प्रकार से त्याग—असत् के ग्रहण का परिसीमन कर सकते हैं। यह सहस्रो से भी अधिक प्रकार के विकल्पो मे किया जा सकता है।

इसका दार्शनिक प्रतिफल यह होता है कि एक साधनोन्मुख गृहस्थ यथारुचि, यथाशक्ति अपने को साधना मे जोड सकता है। फिर ज्यो-ज्यो उसकी अभिरुचि, उत्साह, अध्यवसाय, उद्यम, क्षमता विकसित होती जाती है, त्यो-त्यो वह अपने आपवादिक विकल्पो की सीमा कम करता जाता है। फलत व्रत का स्वीकार-पक्ष बढता जाता है। यह क्रम अनेक व्यक्तियो मे अनेक प्रकार से अनेक रूपो में घटित होता है। सचमुच यह बडा वैज्ञानिक क्रम है। इससे साधक को आगे बढने के लिए एक उन्मुक्त, निर्बन्ध एव निर्द्वन्द्व विशाल राजपथ प्राप्त होता है, जहाँ किसी भी प्रकार का अवरोध आगे नहीं आता।

बहुत अधिक विकल्पो के साथ व्रत विशेष को स्वीकार करते गृही साधक को देख सहसा वह व्यक्ति, जो बहिर्द्रष्टा है, कह सकता है कि यह कैसा त्याग है? पर गहराई मे जाने पर स्वत उसकी समझ में आ जायेगा कि सत् का अल्पतम स्वीकार भी इतनी उन्मुक्त सरणि में है कि वह अल्पतमता घटते-घटते अल्प से आगे बृहत् या महत् तक आ सकती है। अणुव्रतों की इस वैज्ञानिक परम्परा पर जितनी सूक्ष्मता से चाहिए, उतना चिन्तन अभी तक नही किया जा सका है। विश्व के प्रमुख धर्मों के आचार एव साधना-पक्ष के परिप्रेक्ष्य में अणुव्रतो पर विशेष तथा विशद परिशीलन किया जाना चाहिए।

वैदिक धर्म की आश्रम-परम्परा के विवेचन के सन्दर्भ में हमने देखा कि वहाँ एक गृही साधक के लिए जो उपदेश व कार्यक्रम दिया गया है, प्रथमत तो आचारमूलक है, प्रथामूलक है। जो उसमे साधना व प्रत्याख्यान का पक्ष है, वह सबके लिए समान है। वैयक्तिक भिन्नता, जिसका आधार क्षमता, लगन, अध्यवसाय, पुरुषार्थ आदि हैं, उससे कैसे सगत हो सकेगी? अर्थात् भिन्न-भिन्न योग्यताओं के व्यक्ति उस एक ही सरणि का अवलम्बन कर क्या आगे बढने मे विघ्न, अवरोध या बाधा अनुभव नहीं करेंगे? यह बडा विवेच्य विषय है।

पीछे साकेतिक रूप में जिन धर्मों के सम्बन्ध में हमने चर्चा की, उनमें अधिकाश ऐसे हैं, जहाँ सन्यासी और गृही के रूप मे विशेष भेद दृष्टिगत नही होता। बौद्ध परम्परा पर जरा विचार करें। वहाँ भिक्षु और गृही के रूप मे दो वर्गों का अस्तित्व स्पष्ट है। दोनों का गन्तव्य पथ अत्यन्त भिन्न या तरतमतापूर्ण नहीं है। एक गृही उपासक के नियमोपनियम जिस रूप मे परिगठित है, उनमें लौकिक जीवन के सम्मार्जन, परिष्कार एव सुष्ठुता का भाव अधिक है, साधना कम। यद्यपि प्रज्ञा-पारमिता आदि के रूप में एक ज्ञानप्रधान उच्च साधना-पक्ष भी आचार-शोधक पक्ष के साथ-साथ विशेषत स्वीकृत है परन्तु उस पर आरूढ होने, उत्तरोत्तर अग्रसर होने के हेतु क्षमतानुरूप ऊर्ध्वगामी वैज्ञानिक मार्ग अप्राप्य है, जिसके अवलम्बन के बिना श्रेय परक विकास और प्रगति कैसे सम्भव हो सकती है?
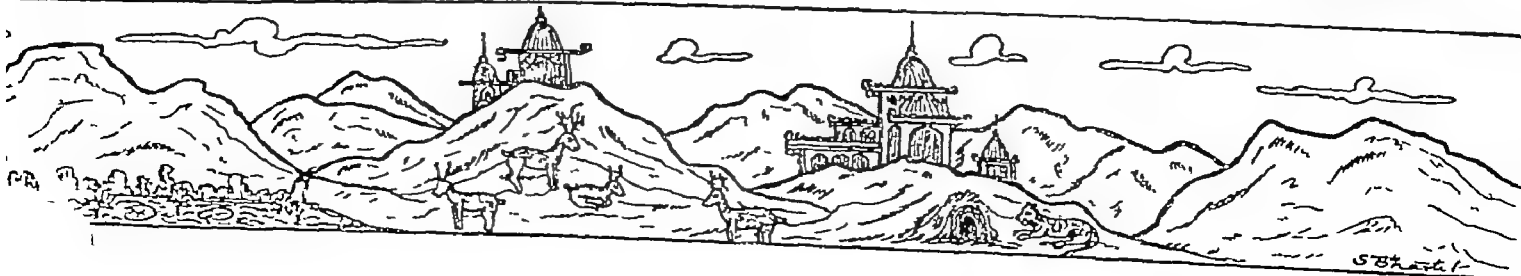
व्रत क्रियान्विति अतिचार स्थिरता

अणुव्रतो के परिचालन मे साधक क्रमश अपनी दुर्बलताओ को जीतता हुआ उस ओर सफलतापूर्वक अग्रसर होता जाए, इस परिप्रेक्ष्य मे व्रतो के साथ सम्बद्ध अतिचारो का परिशीलन बहुत उपयोगी है। जो व्रत जिन प्रत्याख्यानात्मक परिसीमाओ पर आधृत हैं, उनके परिपन्थी या प्रतिकूल काय, जो उन (व्रतो) पर सीधी चोट करते हैं, अतिचार कहे गये है। जैसे अहिंसा-व्रत के अतिचार इस प्रकार हैं —

"वन्धवधच्छविच्छेदाऽतिभारारोपणाऽन्नपाननिरोधा ।"[१६]

बन्ध, वध, छवि-छेद; अतिभारारोपण तथा अन्न-पान का निरोध—अहिंसा अणुव्रत के ये पाँच अतिचार है, जिनका सक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है —

(१) **बन्ध**—कोई प्राणी अपने अभीप्सित स्थान की ओर जा रहा है, उसे बाँधकर रोक दिया गया। उसकी अभीप्सा पूर्ति मे बन्धन आया। यह बन्ध अतिचार है।

(२) वध—वध शब्द यहाँ पारिभाषिक है। वह जान से मारने के अर्थ मे नही है। डण्डे या कोडे आदि से पीटने के अर्थ मे है।

(३) **छवि-छेद**—किसी के अगो को काटकर या नष्ट कर उसे कुरूप बना देना। जैसे किसी का नाक, कान आदि काट देना, चमडी को गोदना, छेदना आदि।

(४) **अतिभार आरोपण**—मनुष्य या पशु पर उसकी शक्ति से अधिक भार लादना, यो उसे दु खी बनाना इस अतिचार के अन्तर्गत है।

(५) **अन्न-पान निरोध**—अपने आश्रित या अनाश्रित व्यक्ति के भोजन-पानी मे बाधा डालना।

अहिंसा अणुव्रत की तरह सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह अणुव्रत के भी ऐसे ही अतिचार[१७] है, जिनकी उन-उन व्रतो मे निहित भावना के प्रतिकूल कार्यों के साथ ससग्नता है। अर्थात् ऐसे निन्द्य कार्य, जो उन-उन व्रतो की पवित्रता को परिम्लान करते हैं, का वहाँ समावेश है। अतिचारों का अनुशीलन हेय के परिवर्जन और उपादेय के सचयन की अन्तर्वृत्ति को स्थायित्व देने में बहुत सहायक होता है। अतिचारो की परिकल्पना परिहेयतामुखी है। परिहेय कार्यों की परिवर्ज्यता के माध्यम से व्रतो के सत्-स्वरूप मे अवस्थित रहने का एक सक्रिय दिशा-बोध इनसे प्राप्त होता है।

गृही साधक जब सायकाल प्रतिक्रमण करता है, तब इनके सम्बन्ध मे आलोचना करता है, ज्ञात अज्ञात रूप मे आचीण दोषो के लिए पश्चात्ताप करता है, जिससे उसकी मनोवृत्तियाँ व्रत-पालनमुखी सक्रियता तथा स्फूर्ति सजग रहे।

गुणव्रत सूक्ष्म चिन्तन के परिचालक

अणुव्रतो के विकास और परिपोषण के लिए जैन गृही की साधना-पद्धति मे तीन गुणव्रत स्वीकार किये गये हैं। इसे यो भी समझा जा सकता है कि अणुव्रतो के अनुसरण से जो गुणात्मक निष्पत्ति होती है, इन गुणव्रतो मे उसका समावेश है। वे इस प्रकार हैं—

(१) दिशा विरति (२) अनर्थ-दण्डविरति

(३) देशावकाशिक।

दिशा-विरति—मानव की क्रिया-प्रक्रिया का मुख्य आधार एषणा या कामना है, इनका जगत जितना विस्तृत होगा, उसी अनुपात पर क्रिया विस्तार मानी जायेगी। एषणा या सयमन-नियमन के आधार पर इस गुणव्रत की सृष्टि हुई है। इसके अनुसार एक अणुव्रती या गृही साधक व्यापार व्यवसाय आदि के क्षेत्र को परिमित करता है। वह स्थानिक या क्षेत्रीय दृष्टि से अपने कार्य को परिसीमित करता है। उसकी विरति की माषा यो बनती है कि वह ऊपर, नीचे तथा चारो ओर की दिशाओ मे गमन, आगमन एक विशेष परिमाण के अन्तगत स्वीकार करेगा। जैसा कि गृही द्वारा व्रत-ग्रहण के क्षमतानुरूप स्वीकार क्रम के विवेचन के प्रसग म कहा गया है कि वह (गृहस्थ व्रती) व्रत स्वीकार मे अपवादो का जिस रूप मे ग्रहण करता है, वे भिन्न भिन्न व्यक्तियो की अपेक्षा से भिन्न भिन्न प्रकार के हो सकते हैं, उसी

तरह इस (दिशा विरति या दिग्व्रत नामक गुणव्रत) मे भी सीमाकरण या परिमितीकरण का आधार वैसा ही स्व-स्व-क्षमता आवृत है।

इस गुणव्रत का अभिप्राय यह है कि मानव की विस्तारोन्मुख आकाक्षाएँ एक सीमा, व्यवस्था या नियन्त्रण मे आएँ। यो यह साधक के सयमात्मक गुण को बढ़ाता है, इसलिए इसका गुणव्रत नाम अन्वर्थक है।

अनर्थ दण्ड-विरति—दण्ड का अर्थ हिंसा या दूषित आचरण है। कई ऐसे प्रसग होते हैं कि गृही को अनिवार्य तया हिंसा करनी होती है। यद्यपि हिंसा तो हिंसा ही है, पर वहाँ उस गृही का लक्ष्य हिंसा करना नही है, अपना आवश्यक कार्य करना है, जिसके बिना वह नही रह सकता। इसलिए इस प्रकार की हिंसा सार्थक कही जाती है। सार्थक से यह न समझ लें कि वह उपयोगी या निर्दोष है। केवल इतना ही समझना होगा कि वाध्यतावश उसे करना होता है, जिसके लिए गृही को किसी अपेक्षा से (गृहस्थ के अनिवार्य कर्त्तव्य के नाते) क्षम्य माना जा सकता है। फिर कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो किसी भी अनिवार्य प्रयोजन के बिना हिंसा आदि पाप कार्य करते रहते हैं। ऐसे कार्य अनर्थ-दण्ड के अन्तर्गत आते हैं। जैन शास्त्रो मे इसे चार प्रकार का बताया है—(१) अपध्यान—बुरा चिन्तन, (२) प्रमादपूर्ण आचरण, (३) किसी को हिंसा के उपकरण आदि देना, (४) किसी को पाप-कार्य करने का उपदेश देना।

देशावकाशिक—तीसरा गुणव्रत देशावकाशिक नाम से अभिहित हुआ है। इसके पीछे यह भाव है कि जिस देश या स्थान मे जाने से गृही साधक या श्रावक का कोई व्रत भग होता हो या उसमे दूषितता आती हो, उस स्थान मे न जाया जाए। अर्थात् श्रावक उधर जाने से निवृत्त होता है।

गुणव्रतो की सरचना से यह स्पष्ट है कि अणुव्रतो के माध्यम से आगे बढता हुआ श्रावक इनके (गुणव्रतो के) द्वारा विशेष स्फूर्ति प्राप्त करता जाता है। कर्म, पद्धति, चिन्तन—इन तीनो का समन्वित स्वीकार गृही की गतिशीलता मे एक विशेष प्रेरणा उत्पन्न करता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सोचने पर लगता है कि अणुव्रतो के साथ-साथ गुणव्रतो का परिगठन जैन मनीषियो की सूक्ष्म सूझ का परिचायक है।

साधना का उत्कर्ष शिक्षाव्रतों की विशेषता

गुणव्रतो के पश्चात् शिक्षाव्रतों के नाम से चार व्रत और निर्दिष्ट हुए हैं। वैसे इन्हे शिक्षाव्रत कहे जाने के पीछे सभवत यह भाव रहा हो कि इनके परिपालन से गृही का व्रताभ्यास बढ़ता जाए। चार शिक्षाव्रत इस प्रकार है—(१) भोगोपभोग का परिमाण, (२) सामायिक, (३) पौषधोपवास, तथा (४) अतिथि सविभाग।

भोगोपभोग-परिमाण—भोग ही ससार मे वह वस्तु है, जिसका आकर्षण मानव को उसकी आत्म-स्थिति से विचलित कर उसे बहिर्मुख बना देता है। फलत मानव सग्रह और सचय मे जुट जाता है। जहाँ धन का सग्रह ही लक्ष्य हो जाता है, वहाँ औचित्य, अनौचित्य, न्याय, अन्याय, नीति, अनीति आदि का भाव स्वय अपगत हो जाता है। यह मानव की प्रमत्त या उन्मत्त दशा है, जहाँ विवेक कुण्ठित रहता है। इस वैकारिक विस्तार का मुख्य हेतु भोग-लिप्सा है। एक साधनोन्मुख गृही की लिप्सा मिटनी चाहिए, यह आवश्यक है, यह शिक्षाव्रत इसी विचार-विन्दु पर आवृत है। इसके अनुसार साधक अपने भोग्य-उपभोग्य पदार्थों का सीमाकरण करता है। इसका एक लक्ष यह भी है कि अपने अन्यान्य कार्यो या व्यवसायो का भी परिसीमन करता है, जिनका भोगपरक अथवा हिंसापरक जीवन से सीधा सम्बन्ध है।

सामायिक—गृही साधक अशत व्रत पालन करता है पर, उसका अन्तिम लक्ष्य निरपवाद व्रतमय जीवन का स्वीकार है। सामायिक, अल्पकालिक ही सही, अध्यात्म-अभ्यासक्रम का एक ऐसा दिव्य प्रयोग है, जहाँ साधक भोग एव हिंसा आदि अकरणीय कार्यों से विरत रहता हुआ आत्म-रस की अनुभूति की ओर अग्रसर होने का प्रयास करता है। अर्थात् कुछ समय (कम से कम एक मुहूर्त) के लिए वह एक साधु का सा जीवन अपनाता है। वहाँ उसके व्रत स्वीकार की भाषा बनती है—मैं सभी सावद्य योग-पापपूर्ण प्रवृत्तियो का प्रत्याख्यान करता हूँ।

सामायिक शिक्षाव्रत सघटना के पीछे गम्भीर तात्त्विक चिन्तन है। थोडी देर के लिए ही सही, श्रमण-जीवन की अनुभूति का यह सुन्दर उपक्रम है। यदि इसमे तन्मयता बढती जाय, रसानुभूति होती जाय तो एक दिन ऐसा भी हो सकता है कि वह (साधक) स्वत समग्र भौतिक एषणाओ का परित्याग कर सम्पूर्णरूपेण साधना-रत हो जाए।
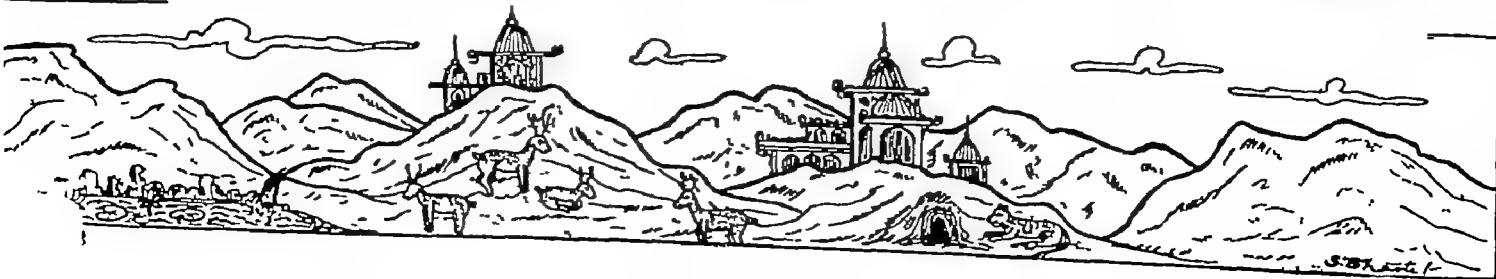
पौषधोपवास व्रत—इस व्रत का आशय जीवन मे तितिक्षा क्रम को बढाना है। यौगिक जीवन से सम्पूर्ण विरति सध सकने के चरम लक्ष्य की ओर आगे बढने के अभ्यास का यह एक प्रशस्त चरण है। आहार, देह-सज्जा अब्रह्मचर्य तथा आरम्भ-समारम्भ का त्याग—ये इसके अन्तर्गत हैं।

बाह्य पदार्थों के परित्याग के पीछे मुख्य भाव यह है कि व्यक्ति अधिकाधिक आत्मानुगत हो सके। जीवन में 'स्व' और 'पर' इन दो का ही सघर्ष है। मानव जितना परमुखापेक्षी होता है, उतना ही वह 'स्व' से विमुख होता जाता है। साधना की चरम सिद्धि तो वह है, जहाँ 'स्व' के अतिरिक्त समग्र पर-भाव विजय पाले। पर-भाव से क्रमश हटते जाना, स्व-भाव की ओर बढते जाना यह एक सरणि है, जिससे साधक अपनी आखिरी मजिल तक सहजतया पहुच सकता है। पौषधोपवास व्रत, चाहे अल्पसामयिक ही सही, इस दिशा की ओर एक जीवित अभियान है। इसकी सरचना के पीछे भी एक बहुत ही चिन्तनपूर्ण मनोवैज्ञानिक आधार रहा है। क्योकि कुछ असाधारण व्यक्तियो की बात और है, साधारण व्यक्ति सहसा किसी परमोच्च ध्येय या स्थान को नही पा सकता। उसके लिए क्रमिक विकासमय सोपान-मार्ग चाहिए, जिससे वह अभ्यासनिरत होता हुआ क्रमश उत्तरोत्तर ऊर्ध्वगामी होता जाए।

अतिथिसंविभाग-व्रत—इस शिक्षा व्रत मे 'वसुधैव कुटुम्बकम' की भावना अन्तर्निहित है। अतिथि शब्द के साथ यहाँ सविभाग शब्द का प्रयोग हुआ है, दान का नही इसका आशय यह है कि अतिथि का भी एक प्रकार से एक गृहस्थ के यहाँ अपना भाग है, इसलिए गृही उसे जो देता है, उसमे विशेषत श्रद्धा और आदर का भाव बना रहता है। धार्मिक दृष्टि से यह पुण्यबन्ध का हेतु तो है ही पर वस्तुत इसका शब्द चयन बडा मनोवैज्ञानिक है। इससे न तो देने वाले मे अहभाव उत्पन्न होता है और न लेने वाले मे किसी तरह का हीन भाव। अपरिचित का ससम्मान सहयोग करने की बहुत ही स्वस्थ परम्परा यह है। आश्चर्य है, आध्यात्मिक के साथ-साथ कितनी मनोवैज्ञानिक व सामाजिक सूक्ष-बूझ इसके सरचयिताओ मे थी।

जैन परम्परा की दृष्टि से इस व्रत के अन्तर्गत दो प्रकार के गृहीता आते हैं—(१) श्रमण या भिक्षु, (२) अन्य आगन्तुक, जिनके आने की कोई तिथि या निश्चित समय नही अर्थात् वे अपरिचित व्यक्ति, जो चाहे जब आ जाए, श्रमण तो ठीक हैं पर सामान्य आगन्तुक जनो का सेवा-सत्कार करना भी व्रतात्मक साधना मे स्वीकृत किया गया है, यह विशेष महत्त्व की बात है।

सप्त कुव्यसन प्रत्याख्यान आत्म-सयमन

कुत्सित कार्यों से बचाये रखने के लिए जैनाचार्यों ने सात कुव्यसनो के त्याग का विशेष उपदेश किया है। कहा गया है—

> जूय मज्ज मस वेसा पारद्धिचोर परयार।
> दुग्गइगमणस्सेदाणि हेउभूदाणि पावाणि ॥[१८]

द्यूत (जुआ), मदिरा मांस, वेश्या, आखेट, चोरी तथा परस्त्री—इनका सेवन ये सात कुव्यसन हैं। ये दुर्गति गमन के हेतु हैं।

ऊपर श्रावक के व्रत, आचार आदि का जो विवेचन हुआ है, उसके परिप्रेक्ष्य मे यदि इन कुव्यसनों पर दृष्टि-पात करें तो प्रतीत होगा कि उन्ही का कुछ विशदीकरण, स्पष्टीकरण या विस्तार इनमे है। कुत्सित कार्यों के वर्जन द्वारा सात्त्विक कार्यों के स्वीकार की ओर गृही साधक को प्रवृत्त करने का इनमे एक मनोवैज्ञानिक प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है। सक्षेप में कहा जाए तो बात लगभग एक जैसी है पर, ग्राह्यता, अग्राह्यता के आशय से विभिन्न आकर्षक रूपों मे उसे प्रकट किया गया है, जो वास्तव में बहुत उपयोगी है। साहित्य मे जहाँ पौनःपुन्य अनादृत है, आचार मे वह नितान्त उपयोगी है। क्योकि मनुष्य स्वभावत सुविधाप्रिय है। जहाँ भी व्रताचरण मे उसे कठिनाई लगती है, उसके विचलित होने का भय बना रहता है। बार बार कहे जाते रहने से वह फिसलन की वेला में जागरूक रह सकता है। और अधिक स्पष्ट शब्दो में कहें तो इसे यो समझा जा सकता है कि साधक को प्रतिक्षण जागरूक तथा व्रत-पालन मे सन्नद्ध बनाये रखने के लिए अनेक प्रकार से उसे शिक्षाएँ दी जाती रही हैं। प्रकार की भिन्नता या विविधता से निरूपण या कथन अनाकर्षक नहीं बनता। इसीलिए कहीं मूल गुणो के रूप मे, कहीं कुव्यसनो के रूप में, कहीं अतिचारों के रूप म कहीं गुणव्रतो के रूप मे, कहीं शिक्षाव्रतो के रूप में श्रावक को उपदिष्ट किया जाता रहा है, जिसका एक ही अभिप्राय

है, अपने द्वारा गृहीत अणुव्रत मूलक चारित्र्य-पथ पर वह उत्तरोत्तर गतिशील रहे। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह सब उसके लिए एक सम्बल या पाथेय है, जिनके कारण उसकी गति मे अवसन्नता या कुण्ठा नही व्यापती।

इस प्रसग मे यह भी ज्ञातव्य है कि श्रावक के लिए प्रतिक्रमण की जो सरचना है, उसका उसके जीवन को अध्यात्म-प्रगति मे अग्रसर बनाये रखने मे बडा महत्त्वपूर्ण स्थान है। आत्म-चिन्तन, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि के सपुटपूर्वक अपने द्वारा ज्ञात-अज्ञात रूप मे आचरित पाप-कार्यों के पश्चात्ताप का जो क्रम उसमे है, उपासक को पुन उधर जाने से रोकने मे निश्चय ही बडा उत्प्रेरक है तथा उसे आत्म-प्रकर्ष की ओर ले जाने मे सहायक।

उपसहार

वैदिक बौद्ध, आदि अनेक धर्मो की साधना-पद्धतियो के सन्दर्भ मे जैन गृही उपासक की साधना पर अनेक दृष्टियो से प्रस्तुत निबन्ध मे विचार उपस्थित किये गये हैं। इस सन्दभ मे यह कहना अतिरजित नही होगा कि गृही की आचार-सहिता मे परिष्कार-सयोजन की दृष्टि से साधना-जगत् मे जैन आचार-सघटको की नि सन्देह यह अप्रतिम देन है।

गृही उपासक की आचार-सघटना मे दार्शनिक किंवा तात्त्विक दृष्टिकोण के साथ-साथ मनोवैज्ञानिकता का भी पूरा ध्यान रखा गया है, जिससे वह (आचार-सहिता) केवल आदर्श रूप न रहकर व्यवहार्य हो सके, उपासक के जीवन मे क्रमश सयम की दृष्टि से एक व्यवस्था, नियमानुवर्तिता तथा प्रगतिशीलता आ सके। विकल्प या अपवाद-स्वीकार की अपनी अनुपम सरणि इसका उदाहरण है। वस्तुत कोई भी दर्शन सही माने मे तभी सार्थक कहा जा सकता है, जब वह अपने अनुयायियो के जीवन मे अपना क्रियान्वयन पा सके। वैसे वैदिक ऋषियो, बौद्ध आचार्यो व भिक्षुओ ने भी जीवन-शुद्धि या आत्म-विकास के सन्दर्भ मे काफी महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं पर, जब हम दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक दृष्टि से तुलनात्मक रूप मे विचार करते हैं तो नि सकोच यह कहा जा सकता है कि इन चिन्तन-धाराओ में गृही की आचार-सहिता के प्रसग मे जैन चिन्तन का अपना एक वैशिष्टय है। सिद्धान्त और व्यवहार पूर्व व पश्चिम की तरह विपरीतमुखी न रहकर समन्वय एव सामजस्य के सूत्र मे पिरोये रहे, इसे आवश्यक मान जैन मनीषियों ने सिद्धान्त-सत्य के साथ-साथ व्यवहार-सत्य या आचार-सत्य का विविध रूपो मे तलस्पर्शी प्रतिपादन किया है।

जैनधर्म मे स्वीकृत व्रत-सघटना पर और अधिक सूक्ष्मता तथा गम्भीरता से विचार किया जाना अपेक्षित है। क्योंकि वहाँ जिन तथ्यो का स्वीकार है, वे किसी वर्ग-विशेष से सम्बद्ध न होकर विश्व मानवता से सम्बद्ध है। युगीन सन्दर्भ मे आज उनकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्वजनीन व्याख्या की जानी चाहिए। यदि समीक्षक विद्वानो एव बहुश्रुत श्रमणों का इस ओर ध्यान गया तो आशा की जा सकती है कि इस सम्बन्ध मे अनेक मनोवैज्ञानिक निष्कर्ष प्रकट होंगे, जो विश्व मे सप्रवृत्त आचार परिष्कार तथा जन-जन के आध्यात्मिक जागरण सम्बन्धी अभियानो के लिए बडे उपयोगी सिद्ध होंगे।

---

१ यजुर्वेद ३६, २३।
२ तैत्तिरीयोपनिषद् वल्ली १, अनुवाक ११
३ तैत्तिरीयोपनिषद् वल्ली १, अनुवाक ११
४ मनुस्मृति अध्याय ३, श्लोक ६८
५ मनुस्मृति अध्याय ३, श्लोक ६६
६ मनुस्मृति अध्याय ३, श्लोक ७०
७ मनुस्मृति अध्याय ३, श्लोक ६२
८ गीता अध्ययन २, श्लोक ४७, ४८
९ वैशेषिक दर्शन १ १ २
१० ईसाई धर्म क्या कहता है? पृष्ठ २०-२२
११ सिक्ख धर्म क्या कहता है? पृष्ठ १५
१२ पारसी धम क्या कहता है? पृष्ठ १३
१३ इस्लाम धर्म क्या कहता है? पृष्ठ १०
१४ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गं।—तत्त्वार्थसूत्र १ १
१५ हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।
देशसर्वतोऽणुमहती। —तत्त्वार्थसूत्र ७ १, २
१६ तत्त्वार्थसूत्र ७ २०
१७ तत्त्वार्थसूत्र ७, २१-२४
१८ वसुनन्दि-श्रावकाचार ५६

जैन आगम एव ग्रन्थों मे वर्णित सलेखना (मृत्युकला) पर एक सर्वाङ्गीण अनुचिंतन ।

□ मालव केशरी मुनि श्री सौभाग्यमल जी
[वयोवृद्ध मत, विद्वान् एव प्रसिद्ध वक्ता]

सलेखना एक श्रेष्ठ मृत्युकला

□

जीवन को कैसे जीये, आनन्दपूर्वक कैसे बितायें, इसकी शिक्षा देने वाले सैकडो शास्त्र आज हमारे सामने हैं, हजारो युक्तियाँ खोजी गई हैं, लाखो औपधो का अनुसधान हुआ है और होता ही जा रहा है। मनुष्य सदा-सदा से इस खोज मे लगा हुआ है कि वह कैसे आनन्दपूवक जिये। इसलिये वह आकाश-पाताल एक करता रहा है, किन्तु जीवन का अन्तिम चरण जहाँ समाप्त होता है। उसके विपय मे शायद उसने बहुत ही कम सोचा है। वह चरण है, मृत्यु। मनुष्य ने आनन्दपूवक जीने की कला तो सीखी है, लेकिन आनन्दपूवक मरने की कला के विपय मे वह अनभिज्ञ-सा है। बहुत कम, करोडो मे एकाध विचारशील ऋपियो ने ही इस विपय पर सोचा है कि जीवन को सुखपूवक जीने के बाद प्राणों को सुखपूर्वक कैसे छोडे ? जैसे बचपन, यौवन और बुढापा सुखपूर्वक बीता है, वैसे ही मृत्यु भी सुख एव आनन्दपूर्वक आनी चाहिए। इस विपय पर सोचना बहुत आवश्यक है, जीवन कला तभी सार्थक है, जब मृत्यु कला सीख ली हो। मनुष्य जीवन भर आनन्द करे, खान-पान मे, भोग-विलास मे, राग-रग और हँसी-खुशी मे समय बिताये, चिन्ता, शोक, आपत्ति क्या होती हैं ? इसका नाम भी न जाने, अर्थात् हर दृष्टि से सुख का अनुभव करे, किन्तु आखिरी समय, जब मृत्यु आ घेरती है, मौत का नगाडा बजता है। तब हाथ-पाँव काँपने लगे, अशाति और पीडा से व्यथित होकर तडपता हुआ, बिलखता हुआ, सबको धन-वैभव, भाई-बन्धु, पत्नी-पुत्र, मित्र आदि को छोडकर चला जाय तो यह जीवन की कला, पूर्ण कला नही कही जा सकती, क्योंकि मृत्यु का भय और पीडा सम्पूण जीवन के आनन्द को, चैन को यों नष्ट कर देता है, जैसे ओलो की वृष्टि का तेज प्रहार अगूरो की लहलहाती वर्षों से देखी-सँभाली खेती को चौपट कर डालता है। मृत्यु समय की व्यथा जीवन के सब आनन्द को मिट्टी मे मिला देती है।

मृत्यु-विज्ञान

मनुष्य ने जीवन को जितनी गहराई से समझने का प्रयत्न किया है, मृत्यु को उतनी गहराई से कभी समझने की चेष्टा नही की। मृत्यु के विषय में वह अज्ञान रहा है। मृत्यु क्या है, क्यो आती है आदि प्रश्न ही उसे भयानक लगते हैं। मृत्यु के सम्बन्ध में वह सदा भयभीत रहा है। 'मृत्यु' शब्द ही उसे बहुत अप्रिय लगता है। इसका कारण क्या है ? हम जानते हैं कि सूर्योदय के बाद मध्यान्ह होगा और फिर सध्या होकर अधेरा हो जायेगा, सूर्य डूब जायेगा, काली रात्रि आयेगी। यह रोज का अनुभव होते हुए भी यदि हम सूर्यास्त या रात्रि शब्द सुनकर डरें, सध्या के विषय मे सोचने से कतरायें या सूर्यास्त शब्द सुनने पर बुरा भला कहें तो क्या यह हमारी मूर्खता नही होगी ? सूर्योदय अगर जन्म है तो क्या सूर्यास्त मृत्यु नहीं है ? दिन यदि जीवन है तो क्या रात्रि मृत्यु नही है ? फिर दिन-रात और प्रात साय की तरह जीवन-मृत्यु को एक-दूसरे का पर्याय क्यो नही समझते हैं ? और यदि समझते हैं तो उससे डरते क्यो हैं ?

इस प्रश्न का उत्तर सरल नहीं है। जानते-बूझते भी मनुष्य मृत्यु से डरता है और कहता रहता है—"मरण सम नत्थि भय" मृत्यु के समान दूसरा कोई भय नही है। "भय सीमा मृत्यु"—सबसे बडा और अन्तिम भय है, मृत्यु !

एक बार बादशाह ने लुकमान हकीम से कहा—"मैं मोटा होता जा रहा हूँ। दुबला होने की कोई दवा दो।" लुकमान ने कहा—"खाना कम खाइये, घी-दूध, मिठाई छोड दीजिए।"

बादशाह ने कहा, "यही सब करना होता तो आपसे दवा क्यो पूछता ? ऐसी दवा बताइये कि खाना-पीना भी न छोडना पडे और मुटापा भी कम हो जाए।" दो-चार दिन बाद लुकमान हकीम ने एक दिन बादशाह से कहा—"आप चालीस दिन के भीतर ही मर जायेंगे।" मरने का नाम सुनते ही बादशाह को ऐसी दहशत बैठी कि बस, खाने-पीने मे कोई मजा नहीं रहा। मरने के भय से ही सूखने लग गया। चालीस दिन मे बादशाह की तोद छट गई, मुटापा काफी कम हो गया। तब लुकमान ने कहा—'बस, अब नही मरेंगे।"

बादशाह ने ऐसा कहने का कारण पूछा तो लुकमान हकीम ने बताया—"दुबला होने की दवा है, भय ! भय मनुष्य को कमजोर और जर्जर कर देता है।" भयो मे सबसे बडा भय है, मृत्यु। भगवान महावीर ने प्राणियो की मन स्थिति का वणन करते हुए कहा है—'असाय अपरिनिव्वाण महब्भय।"[1] प्राणवध रूप असाता कष्ट ही सब प्राणियो को महाभय रूप लगता है।

साधारणत मनुष्य किसी दु ख से घबरा कर, व्याकुल होकर, निराश और हताश होकर कह उठता है—"इस जीने से तो मरना अच्छा है।" किसी ने कहा है—"गुजर की जब न हो सूरत गुजर जाना ही अच्छा है।" कभी-कभी जीवन से इतनी निराशा हो जाती है कि भगवान के सामने मौत भी माँगने लगते हैं। "हे भगवान मुझे मौत दे। प्रभो ! अब मुझे उठा ले, अब मैं जीना नहीं चाहता। मेरी पर्ची चूहे खा गये क्या ?" इस प्रकार की बहकी हुई-सी बातें करने लगते हैं। किन्तु कब तक ? जब तक मौत सामने नहीं आये। मौत आने पर तो गिडगिडा कर बचने की ही कोशिश करते हैं।

इस सन्दर्भ मे एक दृष्टान्त याद आता है। एक दुखियारी बुढ़िया रोज सिर पीटकर कहती थी, "हे परमेश्वर ! सब दुनिया को मौत दे रहा है, पर मेरी पर्ची कहाँ भूल गया ! मुझे उठा ले ! मेरी मौत आ जाए तो अच्छा है।" एक दिन रात को घर मे साँप निकल आया। बुढिया ने जैसे ही साँप देखा तो "साँप-साँप" कहकर चिल्लाई और बाहर दौडी। अडोसी-पडोसी को बुलाया। सब लोग आये। साँप देखकर एक व्यक्ति ने कहा—"दादी ! तू रोज पुकारती थी—परमेश्वर मौत दे दो, आज भगवान ने मौत भेज दी तो तू डर रही है ?"

दु ख री दाधी डोकरी कहे परमेश्वर मार।
साँपज कालो निकल्यो, न्हाठी घर सूँ बार॥

तो क्रोध, भय, गरीबी, बीमारी आदि स्थितियों से घबराकर भले ही कोई मरना चाहे या मरने की इच्छा करे, पर वास्तव मे जब मौत विकराल रूप लेकर सामने आती है तब व्यक्ति उससे बचने की चेष्टा करता है और उस दीन हरिण की भाँति बेतहाशा दौडता है, जिसके पीछे कोई शिकारी पडा हो।

सोचना यह है कि मृत्यु से इतना भय क्यों ? मृत्यु क्या है, इस विषय पर विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जो शरीर इन्द्रियाँ आदि प्राप्त हुए हैं उनका सर्वथा क्षीण हो जाने का नाम ही मृत्यु है। जैन सिद्धान्त में दस

जैन आगम एवं ग्रन्थों में वर्णित सलेखना (मृत्युकला) पर एक सर्वाङ्गीण अनुचिंतन ।

□ मालव केशरी मुनि श्री सौभाग्यमल जी
[वयोवृद्ध सत, विद्वान् एव प्रसिद्ध वक्ता]

सलेखना एक श्रेष्ठ मृत्युकला

□

जीवन को कैसे जीये, आनन्दपूर्वक कैसे बितायें, इसकी शिक्षा देने वाले सैकडो शास्त्र आज हमारे सामने हैं, हजारो युक्तियाँ खोजी गई हैं, लाखो औषधो का अनुसधान हुआ है और होता ही जा रहा है। मनुष्य सदा-सदा से इस खोज मे लगा हुआ है कि वह कैसे आनन्दपूर्वक जिये। इसलिये वह आकाश-पाताल एक करता रहा है, किन्तु जीवन का अन्तिम चरण जहाँ समाप्त होता है। उसके विषय मे शायद उसने बहुत ही कम सोचा है। वह चरण है, मृत्यु। मनुष्य ने आनन्दपूर्वक जीने की कला तो सीखी है, लेकिन आनन्दपूर्वक मरने की कला के विषय मे वह अनभिज्ञ-सा है। बहुत कम, करोडो मे एकाध विचारशील ऋषियो ने ही इस विषय पर सोचा है कि जीवन को सुखपूर्वक जीने के बाद प्राणों को सुखपूर्वक कैसे छोडे ? जैसे बचपन, यौवन और बुढापा सुखपूर्वक बीता है, वैसे ही मृत्यु भी सुख एव आनन्दपूर्वक आनी चाहिए। इस विषय पर सोचना बहुत आवश्यक है, जीवन कला तभी सार्थक है, जब मृत्यु कला सीख ली हो। मनुष्य जीवन भर आनन्द करे, खान-पान मे, भोग-विलास मे, राग-रग और हँसी-खुशी मे समय बिताये, चिन्ता, शोक, आपत्ति क्या होती है ? इसका नाम भी न जाने, अर्थात् हर दृष्टि से सुख का अनुभव करे, किन्तु आखिरी समय, जब मृत्यु आ घेरती है, मौत का नगाडा बजता है। तब हाथ-पाँव काँपने लगे, अशाति और पीडा से व्यथित होकर तडपता हुआ, बिलखता हुआ, सबको धन-वैभव, भाई-बन्धु, पत्नी-पुत्र, मित्र आदि को छोडकर चला जाय तो यह जीवन की कला, पूर्ण कला नहीं कही जा सकती, क्योकि मृत्यु का भय और पीडा सम्पूर्ण जीवन के आनन्द को, चैन को यो नष्ट कर देता है, जैसे ओलो की वृष्टि का तेज प्रहार अगूरो की लहलहाती वर्षों से देखी-सँभाली खेती को चौपट कर डालता है। मृत्यु समय की व्यथा जीवन के सब आनन्द को मिट्टी मे मिला देती है।

इसलिए जीवन कला के साथ-साथ मृत्यु कला भी सीखना जरूरी है। जैसे मोटर गाडी का चलाना सीखने वाला उसे रोकना भी सीखता है। यदि किसी को गाडी चलाना तो आता हो, मगर रोकना नहीं आता हो तो उस चालक की क्या दशा होगी, चलाने की सब कला उसकी व्यर्थ। इसी प्रकार जीवन कला के साथ मृत्यु कला का सम्बन्ध है। एक कवि ने कहा है—

"जिसे मरना नही आया, उसे जीना नही आया।"

भारतवर्ष के ऋषियो ने जितना जीवन के विषय मे चिन्तन किया है, उतना ही मृत्यु के विषय मे भी सोचा है। जीवन कला के साथ-साथ उन्होंने मृत्यु कला पर भी गहरा मनन किया है, और इस रहस्य को प्राप्त कर लिया है कि मृत्यु के समय हम किस प्रकार हँसते हुए शान्ति और कृतकृत्यता का अनुभव करते हुए प्राणो को छोडें। देहत्याग के समय हमे कोई मानसिक उद्वेग या चिन्ता न हो। किन्तु जैसे हम अपना पुराना, फटा हुआ वस्त्र उतार कर एक ओर रख देते हैं, उसी प्रकार की अनुभूति देहत्याग के समय रहे। जिस प्रकार पथ पर चलता हुआ यात्री मजिल पर पहुँचकर विश्रान्ति का अनुभव करता है। उसी प्रकार की शान्ति और विश्रान्ति हमे देहत्याग के समय अनुभव हो। हमारी दृष्टि मे शरीर त्याग-वस्त्र परिवर्तन या यात्रा की समाप्ति से अधिक कुछ नही है। जीवन की यह दृष्टि की मृत्यु कला है। और इस कला को सिखाने का सबसे अधिक प्रयत्न जैन श्रमण मनीषियो ने किया है, जिसे हम 'सलेखना' या 'मारणांतिक सलेखना' कहते हैं। प्रस्तुत लेख में हम इसी विषय पर शास्त्रीय दृष्टि से चिन्तन करेंगे।

मृत्यु-विज्ञान

मनुष्य ने जीवन को जितनी गहराई से समझने का प्रयत्न किया है, मृत्यु को उतनी गहराई से कभी समझने की चेष्टा नहीं की। मृत्यु के विषय में वह अज्ञान रहा है। मृत्यु क्या है, क्यों आती है आदि प्रश्न ही उसे भयानक लगते हैं। मृत्यु के सम्बन्ध मे वह सदा भयभीत रहा है। 'मृत्यु' शब्द ही उसे बहुत अप्रिय लगता है। इसका कारण क्या है ? हम जानते हैं कि सूर्योदय के बाद मध्यान्ह होगा और फिर सध्या होकर अधेरा हो जायेगा, सूर्य डूब जायेगा, काली रात्रि आयेगी। यह रोज का अनुभव होते हुए भी यदि हम सूर्यास्त या रात्रि शब्द सुनकर डरें, सध्या के विषय मे सोचने से कतरायें या सूर्यास्त शब्द सुनने पर बुरा भला कहें तो क्या यह हमारी मूर्खता नही होगी ? सूर्योदय अगर जन्म है तो क्या सूर्यास्त मृत्यु नहीं है ? दिन यदि जीवन है तो क्या रात्रि मृत्यु नही है ? फिर दिन-रात और प्रात -साय की तरह जीवन-मृत्यु को एक-दूसरे का पर्याय क्यो नही समझते हैं ? और यदि समझते हैं तो उससे डरते क्यो हैं ?

इस प्रश्न का उत्तर सरल नही है। जानते-बूझते भी मनुष्य मृत्यु से डरता है और कहता रहता है—"मरण सम नत्थि भय" मृत्यु के समान दूसरा कोई भय नही है। "भय सीमा मृत्यु"—सबसे बडा और अन्तिम भय है, मृत्यु !

एक बार बादशाह ने लुकमान हकीम से कहा—"मैं मोटा होता जा रहा हूँ। दुबला होने की कोई दवा दो।" लुकमान ने कहा—"खाना कम खाइये, घी-दूध, मिठाई छोड दीजिए।"

बादशाह ने कहा, "यही सब करना होता तो आपसे दवा क्यों पूछता ? ऐसी दवा बताइये कि खाना-पीना भी न छोडना पडे और मुटापा भी कम हो जाए।" दो-चार दिन बाद लुकमान हकीम ने एक दिन बादशाह से कहा—"आप चालीस दिन के भीतर ही मर जायेंगे।" मरने का नाम सुनते ही बादशाह को ऐसी दहशत बैठी कि बस, खाने-पीने मे कोई मजा नही रहा। मरने के भय से ही सूखने लग गया। चालीस दिन मे बादशाह की तोद छट गई, मुटापा काफी कम हो गया। तब लुकमान ने कहा—'बस, अब नही मरेंगे।"

बादशाह ने ऐसा कहने का कारण पूछा तो लुकमान हकीम ने बताया—"दुबला होने की दवा है, भय ! भय मनुष्य को कमजोर और जर्जर कर देता है।" भयो में सबसे बडा भय है, मृत्यु। भगवान महावीर ने प्राणियो की मन स्थिति का वर्णन करते हुए कहा है—'असाय अपरिनिव्वाण महब्भय।'[1] प्राणवध रूप असाता कष्ट ही सब प्राणियो को महाभय रूप लगता है।

साधारणत मनुष्य किसी दु ख से घबरा कर, व्याकुल होकर, निराश और हताश होकर कह उठता है—"इस जीने से तो मरना अच्छा है।" किसी ने कहा है—"गुजर की जब न हो सूरत गुजर जाना ही अच्छा है।" कभी-कभी जीवन से इतनी निराशा हो जाती है कि भगवान के सामने मौत भी माँगने लगते हैं। "हे भगवान मुझे मौत दे। प्रभो ! अब मुझे उठा ले, अब मैं जीना नही चाहता। मेरी पर्ची चूहे खा गये क्या ?" इस प्रकार की बहकी हुई-सी बातें करने लगते हैं। किन्तु कब तक ? जब तक मौत सामने नही आये। मौत आने पर तो गिडगिडा कर बचने की ही कोशिश करते हैं।

इस सन्दर्भ मे एक दृष्टान्त याद आता है। एक दुखियारी बुढ़िया रोज सिर पीटकर कहती थी, "हे परमेश्वर ! सब दुनिया को मौत दे रहा है, पर मेरी पर्ची कहाँ भूल गया ! मुझे उठा ले ! मेरी मौत आ जाए तो अच्छा है।" एक दिन रात को घर मे साँप निकल आया। बुढ़िया ने जैसे ही साँप देखा तो "साँप-साँप" कहकर चिल्लाई और बाहर दौडी। अडोसी-पडोसी को बुलाया। सब लोग आये। साँप देखकर एक व्यक्ति ने कहा—"दादी ! तू रोज पुकारती थी—परमेश्वर मौत दे दो, आज भगवान ने मौत भेज दी तो तू डर रही है ?"

दु ख री दाधी डोकरी कहे परमेश्वर मार।
साँपज कालो निकल्यो, न्हाठी घर सूँ बार॥

तो क्रोध, भय, गरीबी, बीमारी आदि स्थितियो से घबराकर भले ही कोई मरना चाहे या मरने की इच्छा करे, पर वास्तव मे जब मौत विकराल रूप लेकर सामने आती है तब व्यक्ति उससे बचने की चेष्टा करता है और उस दीन हरिण की भाँति बेतहाशा दौडता है, जिसके पीछे कोई शिकारी पडा हो।

सोचना यह है कि मृत्यु से इतना भय क्यो ? मृत्यु क्या है, इस विषय पर विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जो शरीर इन्द्रियाँ आदि प्राप्त हुए हैं उनका सर्वथा क्षीण हो जाने का नाम ही मृत्यु है। जैन सिद्धान्त में दस

प्राण बताये हैं। आयुष्य, पाँच इन्द्रिय, मन, वचन, काया और श्वासोच्छ्वास-बल-इन दस प्राणो का सयोग जन्म है और इनका वियोग मृत्यु है। जन्म के पश्चात् और मृत्यु के पूव प्राणी आयुष्कम का प्रतिक्षण भोग करता रहा है। एक प्रकार से वह प्रतिक्षण आयुष्य की डोरी काटता जाता है। अजलि मे भरे हुए पानी की तरह आयुष्य का जल बूद-बूँद करके प्रतिपल, प्रति समय घटता जाता है। इस समय को हम जीवन कहते हैं। वास्तव मे वह जीवन प्राणी की प्रतिक्षण मृत्यु (अविचिमरण) का ही दूसरा नाम है। गीता की भाषा मे मृत्यु का अथ है, पट-परिवर्तन। कहा है—

> वासासि जीर्णानि यथा विहाय
> नवानि गृण्हाति नरोऽपराणि
> तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
> न्यन्यानि सयाति नवानि देही।[२]

अर्थात् जैसे मनुष्य पुराने, फटे हुए वस्त्रो को छोडकर शरीर पर नये वस्त्र धारण कर लेता है। वैसे ही यह देहधारी जीव पुराने शरीर को छोडकर नया शरीर धारण करता है। इस कथन से स्पष्ट है कि मृत्यु वस्त्र परिवतन की तरह देह-परिवतन का नाम है। पुराना वस्त्र छोडने पर जैसे शोक नही होता, वैसे ही पुराना शरीर त्यागने पर शोक नही होना चाहिए, किन्तु व्यवहार मे इसके विपरीत ही दीखता है। मृत्यु के नाम से ही हाय-तोबा मच जाती है। इसके तीन कारण है—(१) मृत्यु के सम्बन्ध मे भ्रान्त धारणा, (२) जीवन के प्रति आसक्ति और (३) भवान्तर मे सद्गति योग्य कम का अभाव।

मृत्यु प्रतीक्षण हो रही है

यह तो निश्चित है कि जन्म के साथ मृत्यु प्रारम्भ हो जाती है। जैन सूत्रो मे पाँच प्रकार के मरण बताये हैं, उनमे प्रथम मरण है—'आवीचि मरण'। वीचि का अर्थ है, समुद्र की लहर। समुद्र मे जैसे एक लहर उठती है, वह आगे चलती है, उसके पीछे दूसरी, फिर तीसरी। यो लहर पर लहर उठती जाती है। और लगातार अनन्त लहरो का नर्तन समुद्र की छाती पर होता रहता है। समुद्र की लहर की भाँति मृत्यु-रूपी लहर भी निरन्तर एक के पीछे दूसरी आती-जाती है। प्रथम क्षण बीता, दूसरा क्षण प्रारम्भ हुआ। पहले क्षण की समाप्ति जीवन के एकक्षण की समाप्ति—मृत्यु है। वृतिकार आचार्य ने 'आवीचि मरण' की व्याख्या करते हुए कहा है—

> "प्रति समयमनुभूयमानायुषोऽपराऽयुर्दलिको-दयात् पूर्वपूर्वाऽयुर्दलिक विच्युतिलक्षणा।"[३]

अर्थात् प्रत्येक समय अनुभूत होने वाले आयुष्य के पूव-पूव दलिक का भोग (क्षय) और नये-नये दलिको का उदय (जन्म) फिर उसका भोग। इस प्रकार प्रतिक्षण आयु दलिक का क्षय होना—आवीचि मरण है।

आचार्य अकलक ने इसे ही 'नित्यमरण' कहा है। आचार्य ने कहा है—मरण के दो भेद हैं। 'नित्यमरण' और 'तद्‌भव मरण' प्रतिक्षण आयुष्य आदि का जो क्षय हो रहा है, वह नित्यमरण है तथा प्राप्त शरीर का समूल नाश हो जाना तद्‌भव मरण है।[४]

इससे यह स्पष्ट समझना चाहिए कि हम जिसे आयु वृद्धि कहते हैं, वह वास्तव मे वृद्धि नहीं, ह्रास है, मृत्यु की ओर बढ़ते हुए कदम का ही नाम अवस्था बढ़ना है। मृत्यु का प्रतिक्षण जीवन मे अनुभव हो रहा है, हम प्रति समय मृत्यु की ओर जा रहे हैं, अर्थात् मरण का अनुभव कर रहे हैं। फिर भी हम उससे भयभीत नही होते, अत इसी प्रकार की वृत्ति बनानी चाहिए कि मृत्यु को प्रतिपल देखते हुए भी हम निर्भय बने रहे और यह सोचें कि मृत्यु कोई नई वस्तु नही है।

दूसरी बात यह भी समझ लेनी चाहिए कि मृत्यु निश्चित है—

> जातस्यहि ध्रुवो मृत्यु[५]

अर्थात् जो जन्मा है, वह निश्चित ही मरेगा। भगवान महावीर ने कहा है—

> ताले जह बधणच्चुए एव आउखयमि तुट्टइ।[६]

जिस प्रकार ताल का फल वृन्त से टूटकर नीचे गिर पड़ता है, उसी प्रकार आयुष्य क्षीण होने पर प्रत्येक प्राणी जीवन से च्युत हो जाता है।

चाहे जितना बडा शक्तिशाली समथ पुरुष हो, उसे यही समझना चाहिए कि—

नाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि[७]

अर्थात् मृत्यु का अनागम (नही आना) नही है, अर्थात् मृत्यु अवश्य ही आयेगी। यह अवश्यमावी योग है, अपरिहार्य स्थिति है। लाख प्रयत्न करने पर भी इससे नही बचा जा सकता। अर्थात् प्राणी की एक मजबूरी है कि वह जन्मा है, इसलिए मरना भी होगा, फिर इससे डरना क्यो ?

जिस प्रकार एक जुलाहा (ततुवाय) वस्त्र बनाना शुरू करता है, ताना-बाना बुनता हुआ वह दस-बीस गज का पट बना लेता है, किन्तु कहाँ तक बनाता जाएगा ? आखिर तो एक स्थिति आयेगी, जहाँ पर ताना-बाना काटकर पट को पूरा करना होगा और थान को समेटना पड़ेगा। जीवन का ताना-बाना भी इसी प्रकार चलता है। काल का जुलाहा इस पट को बुनता जाता है, किन्तु एक स्थिति अवश्य आती है, जब थान को समेटना भी पडेगा। थान का समेटना ही एक प्रकार की मृत्यु है। जो सुबह जगा है, उसे रात को सोना भी पडता है। यदि नींद न हो तो मनुष्य का क्या हाल हो ? जागरण और शयन का चक्र चलता है, वैसे ही जन्म और मृत्यु का चक्र सतत चलता है, चलता ही रहेगा। इसे कोई टाल नही सकेगा।

कल्पसूत्र मे वर्णन आता है कि भगवान महावीर से देवराज शक्रेन्द्र ने प्रार्थना की—"भगवन! आपकी जन्म-राशि पर भस्म ग्रह बैठा है, अत आप अपना आयुष्य कुछ क्षण के लिए आगे बढ़ा दीजिए।"

भगवान ने कहा, "**सक्का ण ऐव भूय वा भविस्सई वा** ।" हे शक्र! यह न कभी हुआ और न कभी होगा कि अनन्त बली तीर्थङ्कर भी अपने आयुष्य का एक क्षण-भर भी घटा ले या बढ़ा ले।

इससे यह ध्वनित होता है कि मृत्यु को सर्वथा टालना तो दूर रहा, किन्तु उसे हम एक क्षण के लिए भी टालने मे समर्थ नही है। आयुष्य कर्म के दलिक का क्षय होने के बाद एक दलिक भी बढा लेना किसी के सामर्थ्य की बात नही है।

मरण-शुद्धि भी करें

तो मृत्यु का भय दूर करने के लिए पहली बात है—हम उसका यह स्वरूप समझ लें कि वह एक प्रकार से वस्त्र-परिवर्तन की भाँति ही देह-परिवर्तन है—अवश्यमावी भाव है और प्रतिक्षण मृत्यु की छाया मे से गुजर रहे हैं, इसलिए उससे डरने की कोई बात नहीं है।

जैसे सुभट शस्त्रों से सन्नद्ध होकर अपनी सुरक्षा और विजय के सभी साधन जुटाकर यदि युद्ध में जाता है तो वह कभी डरता नही, उसका मन प्रफुल्लित रहता है, उत्साहित रहता है कि मेरे पास सब तैयारी है, मैं अवश्य ही विजयी बनूँगा। यात्रा पर जाता हुआ पथिक साथ में पाथेय (नाश्ता) लेकर चलता है तो उसे निश्चिन्तता रहती है कि मेरे पास सब साधन है। जहाँ धन की जरूरत होगी, धन है, अन्न की जरूरत होगी तो अन्न है। सब साधनो से सम्पन्न होने पर यात्रा पर प्रस्थान करते समय वह अगली मजिल के प्रति कभी भयभीत नही होता। इसी प्रकार जिस व्यक्ति ने जीवन के सत्कर्म, पुण्य, तप, ध्यान-योग आदि की साधना की हो, उसे परलोक की यात्रा पर प्रस्थान करते समय कभी भी भय व उद्वेग नहीं सताता। वह कहता है—

गहिओ सुग्गइ मग्गो नाह मरणस्स बीहेमि[८]

अर्थात् मैंने सद्‌गति का मार्ग ग्रहण कर लिया है, जीवन में धर्म की आराधना की है। अब मैं मृत्यु से नहीं डरता। मुझे मृत्यु का कोई भय नहीं है।

वास्तव में जन्म के विषय मे हम अपनी ओर से कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकते। स्थान, समय, कुल आदि सब कुछ देवायत्त—भाग्य के अधीन रहते हैं, किन्तु मृत्यु के विषय में यह नियम इतना कठोर नही है। जन्म कही भी हो, किन्तु जीवन को कैसा बनाना और मृत्यु के लिए कैसी तैयारी करना—यह हमारे पुरुषार्थ पर निर्भर है। हम तप, ध्यान आदि के द्वारा जन्म पर न सही, किन्तु मृत्यु पर अधिकार कर सकते हैं। पुरुषार्थ द्वारा जीवन-शुद्धि,

मरण-शुद्धि भी कर सकते है, और जो मृत्यु ससार के लिए शोक का कारण बनती है, वही मृत्यु हमारे लिए महोत्सव बन सकती है।[९]

प्रश्न यह है कि हम मरण-शुद्धि किस प्रकार करें, मृत्यु के भय को उल्लास के रूप मे किस प्रकार बदलें? बस, यही कला मृत्यु कला है। जीने की कला सीखना आसान है। किन्तु मरने की कला सीखना कठिन है। जैन-शास्त्र मनुष्य को जीने की कला ही नही सिखाते, बल्कि मरने की कला भी सिखाते हैं। मृत्यु से अभय होकर मृत्युंजय बनने का मार्ग बताते हैं। इस सम्बन्ध मे मरण-विषयक चर्चा पर हम गम्भीरता से विचार करना है।

मरण के विविध भेद

भगवती सूत्र मे एक प्रसग है। स्कन्दक परिव्राजक ने भगवान् से पूछा—"भगवन्! किस प्रकार का मरण प्राप्त करने से भव परम्परा बढ़ती है और किस प्रकार के मरण से घटती है?"

उत्तर मे भगवान ने मृत्युशास्त्र की काफी विस्तृत व्याख्या स्कन्दक के समक्ष प्रस्तुत की।

भगवान ने कहा—"बाल-मरण प्राप्त करने से जन्ममरण की परम्परा बढ़ती है और पडित मरण प्राप्त करने से भव परम्परा का उच्छेद हो जाता है।"[१०]

उत्तराध्ययन मे भी इसी तरह दो प्रकार के मरण की चर्चा है—सकाम मरण और अकाम मरण। यहाँ सकाम का अर्थ है—'विवेक एव चारित्र युक्त' तथा—'सदसद्विवेक विकलतया तेषा अकाम'—विवेक रहित मरण अकाम मरण है। अकाम मरण (बाल मरण) अज्ञानी जीव बार-बार करते रहते हैं, किन्तु सकाम मरण (पडित मरण) जीवन में एक बार ही होता है।[११]

यहाँ पडित मरण एक बार ही बताया गया है, जिसका अर्थ है—ऐसी मृत्यु जो बस अन्तिम मृत्यु हो, ज्ञानी कर्म क्षयकर ऐसी मृत्यु प्राप्त करते हैं कि पुन मरना ही न पड़े। वास्तव मे वही मृत्यु तो महान् मृत्यु है, जिसको स्वीकार कर लेने पर फिर कभी मृत्यु न आये। 'मरण विभक्ति' नामक ग्रन्थ मे एक जगह कहा है—

'त मरण मरियव्व जेणमओ मुक्कओ होई।[१२]

अर्थात् मरना ही है तो ऐसा मरण करो कि जिससे मरकर सीधे ही मुक्त हो जाएँ। मृत्यु के चक्र से सदा-सदा के लिए छुटकारा हो जाए, ऐसा मरण मरना ही पडित मरण है।

पडित मरण की व्याख्या के पूर्व बालमरण का स्वरूप भी समझ लेना चाहिए। स्कन्दक के प्रश्न के उत्तर मे भगवान ने बालमरण के बारह भेद इस प्रकार बताये हैं—

(१) **बलन्मरण**—सामान्यत बलन्मरण का अर्थ करते हैं, भूख-प्यास से तड़पते हुए प्राण त्यागना। किन्तु प्राचीन ग्रन्थो मे बलन्मरण का अर्थ इस प्रकार बताया है—

सजम जोग विसन्ना मरति जे त तु बलायमरण तु।[१३]

अर्थात् सयम-साधना स्वीकार कर लेने के बाद उसमे मन नही रमे, उसकी दुष्करता से घबरा जाए और व्रतो का पालन छोड दे, साधु वेश का भी त्याग करना चाहें, किन्तु लोक-लज्जा आदि कारणो से साधु वेश का त्याग न करते हुए उसी रूप मे देह त्यागना। इस स्थिति मे व्रत का सर्वथा भग तो हो ही जाता है, किन्तु वेश जरूर रहता है। इसी कारण इसे बलन् मरण-सयम का त्याग करते हुए मरना कहते हैं।

(२) **वसट्ट मरण**—इन्द्रिय विषयो मे आसक्त हुए प्राण त्यागना, जैसे—दीपक की लौ पर गिरकर मरने वाला पतगा, अपनी प्रेयसी आदि के लिए मरने वाले का भी वसट्टमरण समझना चाहिए।

(३) **अन्त शल्य मरण**—इसके दो भेद हैं १ द्रव्य अन्त शल्य मरण—शरीर मे बाण आदि घुसने से होने वाली मृत्यु तथा २ भाव अन्त शल्य मरण-अतिचार आदि की शुद्धि किये बिना मरना।

(४) **तद्भव मरण**—मनुष्य आदि शरीर को छोडकर फिर उसी शरीर की प्राप्ति की इच्छा रखते हुए मरना।

(५) **गिरिपडण**—पर्वत आदि से गिर कर मरना।
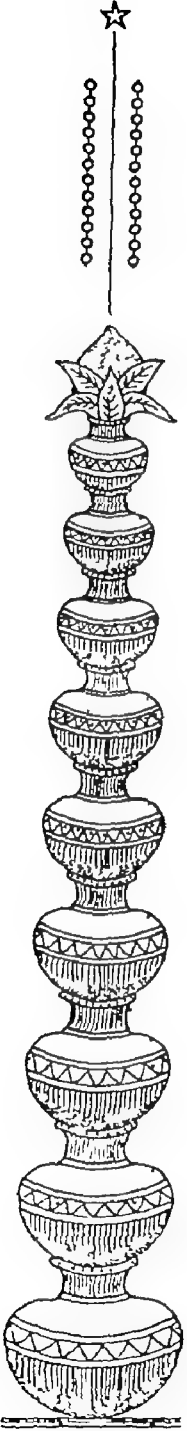
(६) तरुपडण—वृक्ष आदि से गिरकर मरना ।
(७) जलप्पवस—जल मे डूबकर मरना ।
(८) जलणप्पवस—ज्वलन, अर्थात् अग्नि मे गिरकर मरना ।
(९) विसभक्खण—जहर आदि मारक पदार्थ खाकर प्राण त्यागना ।
(१०) सत्थोवाडण—छुरी, तलवार आदि शस्त्र द्वारा प्राण वियोजन होना या करना ।
(११) विहाणस—गले मे फाँसी लगाकर, वृक्ष आदि की डाल पर लटककर मृत्यु प्राप्त करना ।
(१२) गिद्ध पविट्ठमरण—गृध्र, शृगाल आदि मासलोलुप जगली जानवरो द्वारा शरीर का विदारण होना ।

यह बारह प्रकार का बाल मरण है। क्रोध आदि कषाय, भय, वासना तथा निराशा आदि से प्रताडित होकर प्राणी जीवन को समाप्त करने पर उतारू हो जाता है। उसमे विवेक ज्ञान की ज्योति लुप्त हो जाती है। हीन भावनाएँ प्रबल रहती है, जिनके आवेश मे वह शरीर का नाश कर बैठता है। बाल-मरण प्राप्त करने वाला जीव बार-बार जन्म-मरण के चक्र मे भटकता रहता है। बाल-मरण एक प्रकार से जीवन की दुर्भाग्यपूर्ण समाप्ति है। अमूल्य जिन्दगी को कौडियो के मोल खो देने वाला सौदा है। इसमे प्राणी की मोक्ष कामना सफल नही हो पाती, इसीलिए इसे अकाम मरण कहा है। सकाम-मरण के भी दो भेद किये गए हैं—

(१) पडित मरण, (२) बाल-पडित मरण। आचार्यों ने बताया है—

अविरय मरण बाल मरण विरयाण पडिय बिति।
जाणाहि बाल पडिय-मरण पुण देसविरयाण ॥[१४]

—विषय-वासना में आसक्त अविरत जीवो का मरण 'बाल-मरण' है। विषय-विरक्त सयमी जीवो का मरण 'बाल-पडित मरण' है। स्थानाग सूत्र[१५] मे तीनो ही प्रकार के मरण के तीन-तीन भेद भी बताये हैं, जिनमे उनकी लेश्याओ की क्रमिक शुद्धि-अशुद्धि को लक्ष्य कर जघन्य-मध्यम-उत्कृष्ट स्थिति दर्शायी गई है।

पडित मरण और बाल पडित मरण मे मुख्यत पात्र का भेद है। वैसे तो दोनो ही जीवन की अन्तिम स्थिति में समाधिपूर्वक प्राण त्याग करते हैं, किन्तु 'साधु का पडित मरण' कहलाता है। जबकि श्रावक का 'बाल-पडित मरण' इसलिए बाल पडित मरण का वर्णन स्वतन्त्र रूप से नही किया गया है। किन्तु पडित मरण में ही इसका अतर्भाव किया गया है।

स्थानाग[१६] मे ही दो प्रकार के प्रशस्त मरण का वणन किया है—जहाँ 'पादपोपगमन मरण' और 'भक्त प्रत्याख्यान मरण'—ये दो भेद बताये हैं।

भगवती सूत्र मे भी स्कन्दक के सामने इन्ही दो प्रकार के पडित मरण की व्याख्या की गई है। किन्तु उत्तराध्ययन की प्राकृत टीका मे पडित मरण के तीन भेद और पाँच भेद बताये हैं। तीन भेद हैं—भत्त परिण्णा, इगिणि पाओव गम च तिण्णि मरणाइ।[१७]

अर्थात्—(१) भक्त परिज्ञा मरण,
(२) इगिणि मरण,
(३) पादोपगमन मरण।

इसी टीका मे चौथा छद्मस्थ मरण और पाचवा केवलि मरण ये दो भेद और कर पाँच भेद भी बताये गए हैं।

पडित मरण—वास्तव मे मरण की कला है। साधक मृत्यु को मित्र मान कर उसके स्वागत की तैयारी करता हुआ अपने जीवन की समीक्षा करता है, अपने आचरण पर स्वय टिप्पणी लिखता है। एक प्रकार से स्वय को स्वय के आइने मे देखता है। भूलो पर पश्चात्ताप और आलोचना कर आत्म-विशुद्धि करता है। मन को प्रसन्न और उल्लासमय बनाता है तथा भावी जीवन के प्रति भी अनासक्त होकर निर्भयतापूर्वक मरण का वरण करता है। ज्ञानी व्यक्ति के उदात्त चितन की एक झलक प्राचीन आचार्यों ने स्पष्ट की है—

धीरेणऽवि मरियव्व कापुरसेणावि अवस्स मरियव्व।
तम्हा अवस्स मरणे, वर खु धीरत्तेण मरिउ ॥[१८]
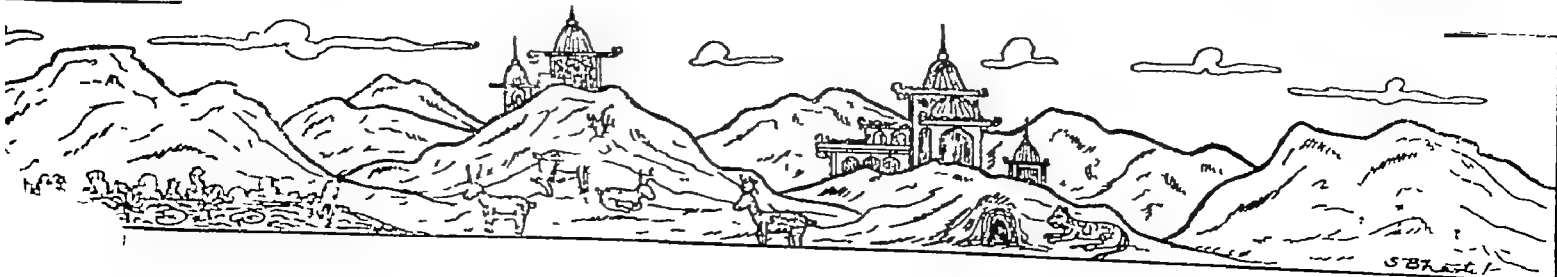
धीर वीर को भी मृत्यु निश्चित है और कायर कमजोर की भी। मरना तो अवश्य ही है, फिर कायरता-पूर्वक क्यो मरें? क्यो न साहस के साथ वीर मृत्यु प्राप्त करें। वीर मृत्यु प्राप्त करने का यह सकल्प ही हमे समाधि मरण की ओर ले जाता है। जिसे हम 'पडित मरण' कह चुके हैं। मरण विभक्ति मे बताया है—

सुत्तत्थ जाण एण समाहि मरण तु कायव्व।

सूत्र और अर्थ के ज्ञाता मनीषी को तो समाधि मृत्यु प्राप्त करना ही श्रेयस्कर है।

पण्डित-मरण के तीन भेद

पडित-मरण के तीन मुख्य भेद इस प्रकार हैं—

(१) **भक्त प्रत्याख्यान मरण**—जीवन पर्यन्त (यावज्जीवन) तीन या चार प्रकार के आहार का त्याग कर देह छोडना।

(२) **इगिनी मरण**—यावज्जीवन चारो आहार का त्याग करने के बाद एक निश्चित सीमा और स्थान पर स्थिर हो जाना, उसी स्थान के भीतर रहते हुए शान्तिपूर्वक देह त्याग करना।

(३) **पादपोगमन मरण**—इगिनी मरण मे स्थान की सीमा तो बाँध दी जाती है, किन्तु शरीर की हलन-चलन क्रिया, हाथ-पैर आदि का हिलाना चालू रहता है, किन्तु पादोपगमन में पादप वृक्ष की भाँति निश्चल होकर लेटे रहना होता है। यह परमस्थिर और प्रशन्न दशा है। मृत्यु की आकाक्षा न करते हुए साधक शरीर की समस्त चेष्टाओं को छोडकर आत्मचिन्तन मे निमग्न हो जाता है। ये तीनो ही स्थितियाँ क्रमश एक-दूसरे से अधिक कठिन और सयम की कठोरतम साधना है। इन उक्त प्रकार की स्थितियों मे ससार की वासना और भावना से मुक्त रहकर सिर्फ आत्मदर्शन और आत्मचिन्तन मे लीनता प्राप्त की जाती है, अत ये तीनो ही पडित मरण या समाधि-मरण कहे जाते हैं।

मरण की इच्छा क्यो ?

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि चाहे बाल मरण हो या पडित मरण, क्या हमें मृत्यु की इच्छा करनी चाहिए। जैसे कुछ लोग या अधिकाश लोग जीने की इच्छा रखते हैं। इसमे उनकी जिजीविषा, जीने के प्रति आसक्ति, प्राणों का मोह झलकता है। इसी प्रकार यदि कोई मरने की इच्छा करे तो वह जीवन की अनिच्छा है। और उसमे क्या जीवन के प्रति अनासक्ति और निर्मोह भाव माना जाएगा ?

इसका समाधान है कि जैसे जीने की इच्छा प्राणो का मोह है, वैसे मरने की इच्छा भी एक मोह है दुबलता है। मृत्यु की अभिलाषा करना भी उतना ही बुरा है, जितना जीने का मोह रखना। मृत्यु की तो इच्छा रखने का सीधा अर्थ हैं—वह व्यक्ति जीवन से निराश हो चुका होगा। जीवन में असफल होने वाला या हताश होने वाला ही मृत्यु की इच्छा करता है, अन्यथा कौन ऐसा होगा, जो हाथ के लड्डू को छोडकर कढाई में पडे लड्डू की इच्छा करे ?

भगवान महावीर ने साधक के लिए दोनो ही बातें अचिन्तनीय-अनभिलषनीय बताई हैं—

जीविय नाभिकखेज्जा मरण नाभिपत्थए।
दुहओ वि न सज्जिज्जा जीविए मरणे तहा॥[१६]

जीवन की आकांक्षा भी नही करनी चाहिए और मृत्यु की कामना भी नही रखनी चाहिए। जीवन-मरण दोनों ही विकल्पो से मुक्त रहकर अनासक्त भाव से आत्मस्थित रहना चाहिए। जब तक शरीर में प्राण टिके हुए हैं, साधक को आत्मदर्शन मे स्थिर रहना चाहिए। यही नही कि यहाँ के कष्टों से छुटकारा पाने के लिए और आगे स्वर्ग या निर्वाण के सुखो को शीघ्र प्राप्त करने के लिए जीवन की डोरी को काट दिया जाए। जीवन की डोरी को काटने का प्रयत्न भी एक प्रकार की आत्म-हत्या है। इसमें किसी न किसी प्रकार का लोभ, भय, ग्लानि या निराशा आदि मुख्य रहता है, जबकि साधक को तो इन सब द्वन्द्वो से विमुक्त होकर मन को निर्द्वन्द्व बनाना है। अत यह तो स्पष्ट स्थिति है कि कषाय विकार, उद्वेग तथा मानसिक दुर्बलता से त्रस्त हुआ व्यक्ति कभी भी समाधि मरण प्राप्त नहीं कर सकता। समाधि मरण जैसे जीने की इच्छा नही हैं वैसे मरने की भी इच्छा नहीं है। किन्तु मृत्यु के भय से मुक्त
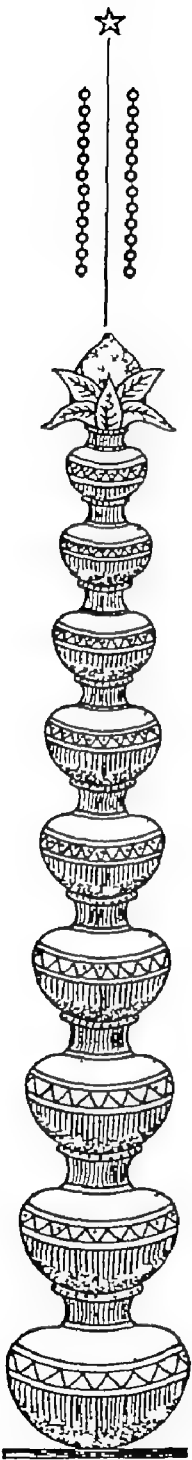
होकर शरीर द्वारा कर्म निर्जरा की एक विशुद्ध भावना है। समाधि मरण के लिये वही प्रस्तुत हो सकता है, जिसके मन मे आहार आदि भौतिक सुखो के प्रति सर्वथा अनासक्ति पैदा हो गई हो और जो शरीर को कर्म निर्जरा के युद्ध मे लगाकर अधिक से अधिक आत्म विशुद्धि करने के लिए कृतसकल्प हो।

अनशन (सथारा) या सलेखना कब करना, किस स्थिति मे करना, इस सम्वन्ध मे भगवान महावीर ने वार-वार चिन्तन स्पष्ट किया है। कहा गया है[२०]—

"जिस भिक्षु के मन मे यह सकल्प जगे कि अब मैं अपने इस शरीर से अपनी नित्य क्रियाएँ करने मे अक्षम हो रहा हूँ, शरीर काफी क्षीण हो चुका है, शक्ति क्षय हो गई है, उठने-बैठने और चलने मे मुझे क्लेश का अनुभव हो रहा है। और शरीर धर्म-साधना मे जुटे रहने से जवाव देने लगा है। अब इस शरीर को धारण किये रखने का कोई विशेष लाभ नही दीखता है और वहुत जल्दी ही इस शरीर से प्राण अलग होने की दशा आ रही है।" तव उसे स्वय ही शरीर और मन पर नियन्त्रण कर आहार का सवरण (सक्षेप या त्याग) करने की ओर अग्रसर हो जाना चाहिए। मात्र आहार का ही नही, कषायो को भी क्षीण करते जाना चाहिए। शान्ति, क्षमा, सहिष्णुता और एकाग्रता का विशेष अभ्यास शुरू कर देना चाहिए। उसे फलगावयट्ठी, फलक—काष्ट पट्ट की भाँति स्थिर चेता सहिष्णु और ध्यान योगारूढ हो जाना चाहिए।"

यदि हम इस शास्त्र वचन के प्रकाश मे चिन्तन करें तो स्पष्ट ही समझने मे आयेगा कि इस शब्दावली मे कही भी मरण की इच्छा नही झलक रही है और न जीवन के प्रति निराशा का ही कोई स्वर सुनाई देता है। किन्तु स्पष्टत साधक की आत्म दृष्टि परिलक्षित होती हैं। वह आत्म-कल्याण के लिए समुद्यत होने का सकल्प लेकर ही अनशन की ओर प्रवृत्त होता है, तो इस प्रकार के महान सकल्प को, वीरता और साहसपूर्ण चिन्तन को हम कायरता के प्रतीक आत्म-हत्या जैसे लाछित शब्दो के साथ कैसे वोल सकते हैं? आत्म-हत्या हीन मनोवृत्ति है, कायरता है, क्लिष्ट और आवेशपूर्ण दशा है, जवकि अनशन (सलेखना) जीवन शुद्धि का उच्च सकल्प है। इसमे चित्त प्रशान्त, उद्वेग रहित, अध्यवसाय निर्मल और मन वीरता से परिपूर्ण रहता है।

सलेखना का स्वरूप

सलेखना मन की इसी उच्चतम आध्यात्मिक दशा का सूचक है। सलेखना-मृत्यु का आकस्मिक वरण या मौत का आह्वान नहीं है, किन्तु वह जीवन के अन्तिम पथ पर सावधानीपूर्वक निर्भय होकर चलना है। मृत्यु को सामने खडा देखकर साधक उसकी ओर वढता है। पर धीमे कदम से, शान्ति के साथ और उसे मित्र की भाँति पुकारता हुआ। हे काल मित्र! तुम आना चाहते हो तो आओ। इस शरीर को उठाना चाहते हो तो उठा लो, मुझे न तुम्हारा भय है और न शरीर का मोह है। मैं जिस कार्य के लिये इस मनुष्य भव मे आया था, उसको पूर्ण करने मे सतत सलग्न रहा हूँ। मैंने अपना कर्त्तव्य पूर्ण किया है, मैं कृतकाम हूँ, इसलिए मुझे न मृत्यु का भय है और न जीवन का लोभ है।

लहिओ सुगइ मग्गो नाह मच्चुस्स वीहेमी।

अगले जन्म के लिए भी मैंने सुगति का मार्ग पकड लिया है। इसलिए अब मुझे मृत्यु का कोई भय नहीं है, मैं काल से नही डरता।

सलेखना का वर्णन आगमो मे अनेक प्रकरणो मे आता है। गृहस्थ साधक श्रावक भी जीवन की कृत-कृत्यता का चिन्तन कर अन्तिम समय मे सलेखना करता है और साधु भी करता है। चाहे श्रावक हो या श्रमण, सलेखना प्रत्येक आत्मार्थी के जीवन का अन्तिम व आवश्यक कृत्य है। यह जीवन मन्दिर का कलश है। यदि सलेखना के विना साधक प्राण-त्याग कर देता है तो उसके लिए एक कमी जैसी मानी जाती है।

प्रश्न होता है कि जीवन मन्दिर के कलश रूप सलेखना का अर्थ क्या है तथा इसे सलेखना क्यो कहा गया है? आगमों के पाठ तया उन पर आचार्य कृत विवेचन के प्रकाश मे देखे तो सलेखना की निम्न परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं—

सलिख्यतेऽनया शरीर कषायादि इति सलेखना।[२१]

—जिस क्रिया के द्वारा शरीर एव कषाय को दुर्वल व कृश किया जाता है, वह 'सलेखना' है।
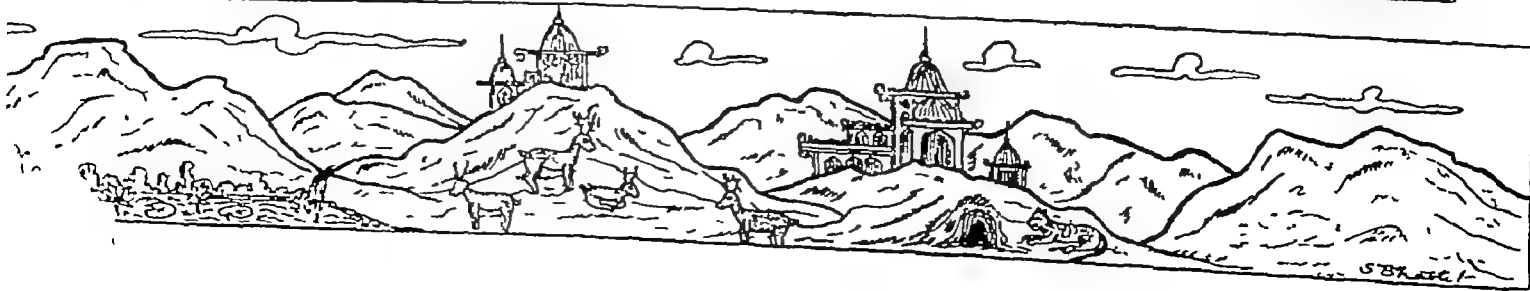
कषाय शरीरकृशतायाम् ।[२२]

—कषाय एव शरीर को कृश करने के अर्थ मे 'सलेखना' शब्द का प्रयोग होता है ।

आगमोक्तविधिना शरीराद्यपकर्षणम् ।[२३]

—शास्त्र मे बताई हुई विधि के अनुसार शरीर एव कषाय आदि अन्तर वृत्तियो का आकर्षण क्षीण करना ।

आगमप्रसिद्ध चरमानशनविधि क्रियायाम् ।[२४]

—शास्त्रो मे प्रसिद्ध चरम अनशन की विधि को 'सलेखना' के रूप मे बताया गया है ।

उक्त परिभाषाओं से दो-तीन प्रश्न समाहित हो जाते हैं ।

पिछले प्रकरण मे पण्डित-मरण के तीन भेदो मे प्रथम भेद 'भक्त प्रत्याख्यान' बताया गया है । भक्त प्रत्याख्यान के भी दो भेद हैं—यावत्कथिक और इत्वरिक । यावत्कथिक को मारणान्तिक अनशन भी कहते हैं ।[२५] इत्वरिक अनशन एक निश्चित समय तक का होता है, जैसे—उपवास, बेला आदि से छह मासी तप तक । इस तप की अवधि पूर्ण होने पर आहार की इच्छा रहती है, इसलिए इसे 'सावकाक्ष' कहा गया है । इत्वरिक अनशन की प्रक्रिया जीवन मे बार-बार अपनाई जाती है । अनेक प्रकार की तपोविधियाँ अपनाकर साधक कर्म-निर्जरा करता रहता है । यावत्कथिक तप को 'मारणातिक तप' इसीलिए कहा गया है कि यह मरण पर्यन्त स्वीकार किया जाता है । इस तप को स्वीकार करने वाला आहार की इच्छा से सवथा मुक्त हो जाता है । भोजन पानी की किंचिन्मात्र वासना भी उसके मन मे नही रहती । वह साधक अध्यात्म भाव में इतना गहरा लीन हो जाता है कि आहार के अभाव में भी उसे किसी भी प्रकार की पीडा या सक्लेश नहीं होता ।[२६]

सलेखना के साथ भी आगमो मे प्राय 'मारणातिक' विशेषण जोडा गया है । 'मारणातिय संलेहण' शब्द स्थान-स्थान पर प्रयुक्त होता है । इससे अन्य तप कर्म से सलेखना का पार्थक्य और वैशिष्ट्य सूचित होता है । पार्थक्य तो यह है कि यह इत्वरिक तप के अन्तगत नहीं आता, इत्वरिक तप का कालमान छह मास तक का है, जबकि सलेखना का उत्कृष्ट काल मान बारह वर्ष का माना गया है । प्रवचन सारोद्धार मे कहा है[२७]—"**सलेहणा दुवालस वरिसे**"—सलेखना उत्कृष्ट रूप मे बारह वष की होती है । उसके तीन भेद भी बडे मननीय हैं ।

यावत्कथिक तप मे भी सलेखना की गणना नही होनी चाहिए, क्योंकि यावत्कथिक का स्वरूप है—जीवन-पर्यन्त आहार आदि की आकाक्षा से विरत हो जाना । सलेखना यद्यपि जीवन के अन्तिम समय में की जाती है, किन्तु मृत्युपयन्त आहार का त्याग इसमे नही होता । इस क्रिया मे विविध प्रकार के तप कर्म द्वारा शरीर को कृश किया जाता है । बीच-बीच मे आहार भी लिया जाता है । हा, छहमास से लम्बा उपवास (अनशन) इसमे नही है, इसलिए स्वरूप विवक्षा करने पर इत्वरिक तप के अन्तर्गत इसका समावेश हो जाता है । साथ ही कषायो को क्षीण कर क्षमा, सहिष्णुता का अभ्यास किया जाता है तथा आलोचना आदि करके मन को नि शल्य बनाया जाता है ।

सलेखना श्रमण और श्रमणोपासक दोनो के लिए ही विहित और आवश्यक अनुष्ठान है । उपासक दशा के वणन से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि आनन्द कामदेव आदि श्रावको ने भी बहुत वर्षों तक गृहस्थ जीवन मे सुख भोग करने के पश्चात् यह सकल्प किया कि "हमने जीवन मे समाज, परिवार, राजनीति आदि प्रत्येक क्षेत्र मे प्रवृत्ति कर अपना यश, वैभव आदि बढाया है, परिवार व आश्रितो का पालन किया है । किन्तु इस प्रवृत्तिमय जीवन मे पूर्ण रूप से आत्मचिन्तन नही कर सका । भगवान द्वारा प्ररूपित धर्म प्रज्ञप्ति का पूणत पालन नही कर सका । अब मुझे इन सब प्रवृत्तियो से विरक्त होकर भगवद् प्ररूपित धर्म प्रज्ञप्ति को स्वीकार कर विचरना चाहिए ।" यह निश्चय कर वह अपनी पौषधशाला मे आता है और आस-पास की भूमि की प्रतिलेखना कर "**दब्भ सथारय सथरइ**" दर्भ का सथारा बिछाता है और धर्म प्रज्ञप्ति अगीकार कर विविध तप कार्यों द्वारा उपासक प्रतिमाओं की आराधना द्वारा शरीर को कृश कर डालता है ।

यहाँ यह चिन्तनीय है कि हम जिसे—'सथारा' कहते हैं, वह अनशन का वाचक है, जबकि आगमों मे 'सथारा' का अर्थ 'दर्भ का बिछौना' के रूप मे ही आता है । सलेखना शब्द के विषय मे भी सामूहिक प्रयोग हुए हैं । जैसे—मासियाए सलेहणाए अत्ताण झूसित्ता सट्ठि भत्ताइ अणसणाए छेदेत्ता ।" यहाँ पर यह चिन्तनीय है कि क्या

मासिक सलेखना और साठ भक्त अनशन दोनो का कालमान अलग-अलग है या एक अनशन के ही वाचक है ? इस पर आगम मर्मज्ञो को विचार करना चाहिए। वास्तव में सलेखना भी जीवन की अन्तिम आराधना ही है, किन्तु वह अनशन की पूर्व भूमिका मानी जानी चाहिए। प्रवचन सारोद्धार की वृत्ति मे इसका स्पष्ट सकेत है कि द्वादश वर्षीय उत्कृष्ट सलेखना करके फिर कन्दरा-पर्वत, गुफा आदि मे जाकर अथवा किसी भी निर्दोष स्थान पर जाकर पादपोपगमन अनशन करे अथवा भक्त परिज्ञा तथा इगिनीमरण की आराधना करे।[२८] इस वर्णन से तो यही ध्वनित होता है कि सलेखना अनशन की पूर्व भूमिका है, अनशन की तैयारी है। सलेखना करने वाला साधक शरीर को तथा कषाय आदि को इतना कृश कर लेता है कि अनशन की दशा मे उसे विशेष प्रकार की क्लामना नहीं होती। शरीर एव मन को उसके लिए तैयार कर लेता है, कषाय वत्तियाँ अत्यन्त मन्द हो जाती है तथा शरीर बल इतना क्षीण हो जाता है कि अनशन दशा मे स्वत ही स्थिरता की साधना सम्भव हो जाती है। शरीर त्याग हठात् या अकस्मात् करने जैसा नही है। शरीर के साथ-साथ आयुष्य कम की क्षीणता भी होनी चाहिये। कल्पना करें यदि अनशन कर शरीर को क्षीण करने की प्रक्रिया तो प्रारम्भ कर दी जाए, लेकिन आयुष्य कर्म वलवान हो तो वह अनशनकाल वहुत लम्बा सुदीर्घ हो सकता है अति दीर्घकालीन अनशन मे भावो की विशुद्धि, समता तथा मनोबल एक-जैसा वना रहे तो ठीक है, अन्यथा विकट स्थिति भी आ सकती है। इसलिए यावज्जीवन अनशन ग्रहण करने के पूव जैसे दीपक के तेल और वाती का एक साथ ही क्षय होने से ही दीपक विलय हो जाता है, उसी प्रकार देह और आयुष्य कर्म का एक साथ क्षय होने से अनशन की स्थिति ठीक से पूण होती है। अनशन से पूर्व सलेखना की आराधना करने का यही हेतु है।

सलेखना की विधि

सलेखना की व्याख्या तथा उद्देश्य स्पष्ट होने के वाद हमें उसकी विधि के सम्वन्ध मे भी जानना है। जैसा कि पूर्व मे उल्लेख किया जा चुका है—"सलेहणा दुवालस वरिसे"—सलेखना का उत्कृष्ट काल वारह वर्ष का है। उसके तीन भेद वताये गये हैं—"सा जघन्या मध्यमा उत्कृष्टा च।"[२९] जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट—ये तीन भेद सलेखना के हैं।

प्रवचन सारोद्धार मे उत्कृष्ट सलेखना का स्वरूप वताते हुए कहा है—

चत्तारि विचित्ताइ विगइ निज्जूहियाइ चत्तारि।
सवच्छरे य दोन्नि एगतरिय च आयाम। ६८२।
नाइविगिट्ठो य तवो छम्मास परिमिअ च आयाम।
अवरे विय छम्मासे होई विगिटठ तवो कम्म। ६८३।

प्रथम चार वष तक चतुर्थ-षष्ठ अष्टम आदि तप करता रहे और पारणे मे सभी प्रकार के योग्य शुद्ध आहार का ग्रहण करे। अगले चार वर्ष में उक्त विधि से विविध और विचित्र प्रकार के तप करता रहे किन्तु पारणे मे रस-निर्यूढ सविगय का त्याग कर दे। आठ वष तक तप साधन करने के बाद नौवें दसवें वर्ष मे एकान्तर तप (चतुर्थ भक्त) व एकान्तर आयम्बिल करे, अर्थात् एक उपवास, उपवास के पारणे में आयम्बिल, फिर उपवास और फिर पारणे मे आयम्बिल। इस प्रकार दस वर्ष तक यह तप कर्म करे। ग्यारहवें वर्ष के प्रथम छहमास मे सिर्फ चतुर्थ व पष्ठ तप करे, इससे अधिक नहीं और पारणे में आयबिल करे, किन्तु आयबिल ऊनोदरी पूर्वक करे। अगले छह मास में चतुर्थ-षष्ठ से अधिक अष्टम, दशम आदि तप करे और पारणे में आयविल करे, इसमें ऊनोदरी का विधान नहीं है।

सलेखना के वारहवें वर्ष के सम्वन्ध मे आचार्यों के अनेक मत हैं। निशीथ चूर्णिकार का मत है कि **"बुवालसयं वरिसं निरन्तर हायमाण उसिणोदराण आयबिल करेइ त कोडीसहिय भवइ जेणय बिलस्स कोडी कोडीए मिलइ।"** वारहवें वर्ष में निरन्तर उष्ण जल के आगार के साथ हायमान आयविल करे। इससे एक आयबिल का अन्तिम क्षण दूसरे आयविल के आदि क्षण से मिल जाता है, जिसे कोडीसहिय आयविल कहते हैं। हायमान का अर्थ निरन्तर घटाते जाना। भोजन व पानी की मात्रा क्रमश कम करते-करते वर्षान्ति में उस स्थिति में पहुंच जाए कि एक दाना अन्न और एक बूंद पानी ग्रहण करने की स्थिति आ जाए। प्रवचनसारोद्धार की वृति में भी इसी क्रम का निदर्शन है।

द्वादशे वर्षे भोजन कुर्वन् प्रतिदिनमेकैक कवल-हान्यातावदूनो दरता करोति यावदेक कवलमाहारयति।

बारहे वर्ष मे भोजन करते हुए प्रतिदिन एक-एक कवल कम करते जाना चाहिए। यो कम करते करते, जब एक कवल आहार पर आजाए तब उसमे से एक-एक दाना (कण) कम करना शुरू करे। एक-एक कण (सिक्थ) प्रतिदिन कम करते-करते अन्तिम चरण मे एक ही सिक्थ-दाना भोजन पर टिक जाए। इस स्थिति मे पहुँचने के पश्चात् फिर पादपोगम अथवा इगिनी मरण आदि अनशन ग्रहण कर समाधि मरण प्राप्त करे।

यह उत्कृष्ट सलेखना विधि है। मध्यम सलेखना वारह मास की और जघन्य सलेखना बारह पक्ष (छह मास) की होती है—"जघन्या च द्वादशभि पक्षे परिभावनीया।"

सलेखना मे प्राय तप की विधि ही बताई गई है, किन्तु इससे यह नही समझना चाहिए कि सिर्फ तप करना ही सलेखना है। तप के साथ कपायो की मदता और विषयो की निवृत्ति तो मुख्य चीज है ही। उसके अभाव मे तो तप ही असार है। फिर भी भावना-विशुद्धि, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि का उपक्रम भी चालू रखना होता है। वृहत्कल्प भाष्य मे बताया है—साधक रात्रि के पश्चिम प्रहर मे धर्म जागरण करता हुआ उत्तम प्रशस्त भावनाओ के प्रवाह मे बहता-बहता यह सोचता है—

अणुपालिओ उ दीहो परियाओ वायणा तहा दिण्णा।
णिप्फाइया य सीसा मज्झ कि सपय जुत्त ॥३७३॥

—मैंने दीर्घकाल तक निर्दोष सयम की परिपालना की है। शिष्यो को वाचना आदि द्वारा शास्त्र ज्ञान भी दिया है। अनेक व्यक्तियो को सयम मे प्रेरणा और प्रवर्तन भी किया है। इस प्रकार मैं अपने जीवन मे कृतकृत्य हो गया हूँ, अब मुझे अपने लिए क्या करना उपयुक्त है? यह सोचकर वह अपने जीवन को सलेखना की ओर मोड़े—**"सलेहण पुरस्सर मेअ पाराण वा तय पुव्वि"**—इस सलेखना मे अनेक प्रकार के विचित्र तप कर्म के साथ प्रशस्त भावनाओ का अनुचिन्तन करे, अप्रशस्त भावनाओ को छोड़े और अन्तिम आराधना करे **"काल अणवकंखमाणो।"**—मृत्यु की इच्छा न करता हुआ आत्म शुद्धि के प्रयत्न मे सलग्न रहे।

उक्त वर्णन से सलेखना के स्वरूप पर विशुद्ध प्रकाश पडता है। सलेखना धीरे-धीरे शान्त भाव से मृत्यु की ओर प्रस्थान है। शरीर और मन को धीरे-धीरे कसा जाता है, और विषय निवृत्ति का अभ्यास बढ़ा दिया जाता है। हठात् किसी दुष्कर काम को हाथ लगाना और फिर बीच में विचलित हो जाना बहुत खतरनाक है। अत साधक के लिए यह मनोवैज्ञानिक भूमिका है कि वह क्रमश तप और ध्यान के पथ पर बढ़े, मनोनिग्रह का अभ्यास बढाये और मन को इतना तैयार करले कि अन्तिम स्थिति मे पहुँचते-पहुँचते वह परमहस दशा—जिसे शास्त्रो की भाषा मे 'पादोपगमन अनशन' कहते हैं कि स्थिति को स्वत प्राप्त कर ले।

जीवन और मृत्यु से सर्वथा असलीन होकर शुद्ध चैतन्य दशा मे रमण करने लगे। उसका शरीर भी स्वत ही इस प्रकार की निश्चेष्टता ग्रहण करले कि न हाथ हिलाने का सकल्प हो, न शरीर खुजलाने का। यह परम शान्त और आह्लादमय स्थिति है, जिसमें साधक को आत्मा के सिवाय और कुछ नही दीखता है। वह प्राण-धारण किये रहता है। किन्तु फिर भी निश्चेष्ट और निर्विकल्प और अन्त मे उस स्थिति में देह त्याग कर वह अपनी मजिल तक पहुँच जाता है।

तो सलेखना हमें मृत्यु को जीतने की यह कला सिखाती है। वास्तव मे जीवन-शुद्धि और मरण शुद्धि की वह प्रक्रिया है जिसे सामान्य मनोवल वाला साधक भी धीरे,धीरे करता हुआ विशिष्ट मनोबल प्राप्त कर सकता है। सलेखना द्वारा जीवन विशुद्धि करने वाले की मृत्यु, मृत्यु नहीं–समाधि है, परम शान्ति है और सम्पूर्ण व्रत-तप ज्ञान आदि का यही तो फल है कि साधक अन्तिम समय मे आत्मदर्शन करता हुआ समाधिपूर्वक प्राण त्यागे।

तप्तस्य तपश्चापि पालितस्य व्रतस्य च।
पठितस्य श्रुतस्यापि फल मृत्यु समाधिना॥ —मृत्यु महोत्सव २३

समाधि मरण की कला पर जैन आगमो मे जो विस्तृत विचार किया गया है। उसकी यहाँ एक झलक प्रस्तुत निवन्ध मे है। इस पर चिन्तन कर हम मृत्यु की श्रेष्ठ और उत्तम कला सीख सकते हैं और मृत्यु जय बन सकते हैं।

१ आचाराग १।४।२
२ गीता २।१२
३ मगवती सूत्र १३।७
४ तत्त्वार्थराजवार्तिक २।२२
५ गीता २।२७
६ सूत्रकृताग २।१।३
७ आचाराग १।४।२
८ आतुर प्रात्याख्यान ६३
९ (क) ससारासक्तचित्ताना मृत्युर्मीत्यै मवेन्नृणाम् ।
मोदायते पुन सोऽपि ज्ञान-वैराग्यवासिनाम् ॥—मृत्यु महोत्सव १७
(ख) सचित तपोधन न नित्य व्रतनियम सयमरतानाम् ।
उत्सवभूत मन्ये मरणमनपराधवृत्तीनाम् ॥—वाचक उमास्वाति
(अभिधान राजेन्द्र, माग ६, पृ० ११७)
१० मगवती शतक २१, उद्देशक ?
११ बालाण अकाम तु मरण असइ मवे ।
पडियाण सकाम तु उक्कोसेण सइ मवे ॥ उत्तरा० ५।३–४
१२ मरण विमक्ति प्रकरण १०।२४५
१३ मक्त परिज्ञा २१७ (अमि० रा० माग ६, पृ० ११२७)
१४ उत्त० पाइय टीका, आ० ५
१५ स्थानाग ३, पृ० ४
१६ स्थानाग २।३।४
१७ मगवती २।१
१८ उत्त० पाईय टीका, अ० ५, गा० २२५
१९ आचाराग ८।८।४
२० जस्सण मिक्खुस्स एव मवइ, से गिलामि च खुल अह, इमसि समये इम सरीरग अणुपुव्वेण परिवहित्तए, से अणु पुव्वेण आहार सवट्टिटज्जा । कसाये पयणु किच्चा, समाहियच्चे फलगावयट्ठी उट्ठाय मिक्खू अमिनिव्वुडे ।
—आचाराग, विमोक्ष अध्ययन उद्दे० ६, सूत्र २२१
२१ स्थानाग २, उ० २ वृत्ति
२२ ज्ञाता १।१। वृति
२३ प्रवचन सारोद्दार १३५
२४ पचाशक विवरण १
२५ इत्तरिय मरण कालाय अणसणा दुविहा मवे ।
इत्तरिया सावकखा निरवकखा उ बिइज्जिया ॥—उत्तरा० ३० । ९
२६ जीवियासंसप्पओगि वोच्छिंदित्ता जीवे आहारमतरेण न सकिलिस्सेइ ।—उत्तरा० २९।३५
२७ प्रवचन सारोद्धार १३४ द्वार
२८ द्वादश वार्षिकीमुत्कृष्टा सलेखना कृत्वा गिरिकन्दर गत्वा उपलक्षणमेतद् अन्यदपि षट् कायोपमर्द रहित विविक्त स्थान गत्वा पादपोपगमन वा शब्दाद् मक्त परिज्ञामिङ्गिनी मरण च प्रपद्यते ।
—प्रवचन० द्वार १३४ (अमि० रा० माग ६, पृ० २१७)
२९ व्यवहार माष्य २०३

द्वादशे वर्षे भोजन कुर्वन् प्रतिदिनमेकैक कवल-हान्यातावद्नो दरता करोति यावदेक कवलमाहारयति ।

बारहें वप मे भोजन करते हुए प्रतिदिन एक-एक कवल कम करते जाना चाहिए । यों कम करते-करते, जब एक कवल आहार पर आजाए तब उसमे से एक-एक दाना (कण) कम करना शुरू करे । एक-एक कण (सिक्थ) प्रतिदिन कम करते-करते अन्तिम चरण में एक ही सिक्थ-दाना भोजन पर टिक जाए । इस स्थिति मे पहुचने के पश्चात् फिर पादपोगम अथवा इगिनी मरण आदि अनशन ग्रहण कर समाधि मरण प्राप्त करे ।

यह उत्कृष्ट सलेखना विधि है । मध्यम सलेखना बारह मास की और जघन्य सलेखना बारह पक्ष (छह मास) की होती है—"जघन्या च द्वादशभि पक्षे परिभावनीया ।"

सलेखना मे प्राय तप की विधि ही बताई गई है, किन्तु इसमे यह नही समझना चाहिए कि सिफ तप करना ही सलेखना है । तप के साथ कपायो की मदता और विषयो की निवृत्ति तो मुख्य चीज है ही । उसके अभाव मे तो तप ही असार है । फिर भी भावना-विशुद्धि, ध्यान, कायोत्सग आदि का उपक्रम भी चालू रखना होता है । वृहत्कल्प भाष्य मे बताया है—साधक रात्रि के पश्चिम प्रहर मे धम जागरण करता हुआ उत्तम प्रशस्त भावनाओ के प्रवाह मे बहता-बहता यह सोचता है—

> अणुपालिओ उ दीहो परियाओ वायणा तहा दिण्णा ।
> णिप्फाइया य सीसा मज्झ कि सपय जुत्त ॥३७३॥

—मैंने दीघकाल तक निर्दोप सयम की परिपालना की है । शिष्यो को वाचना आदि द्वारा शास्त्र ज्ञान भी दिया है । अनेक व्यक्तियो को सयम मे प्रेरणा और प्रवतन भी किया है । इस प्रकार मैं अपने जीवन मे कृतकृत्य हो गया हूँ, अब मुझे अपने लिए क्या करना उपयुक्त है ? यह सोचकर वह अपने जीवन को सलेखना की ओर मोडे—"**सलेहण पुरस्सर मेंअ पाराण वा तव पुव्वि**"—इस सलेखना मे अनेक प्रकार के विचित्र तप कर्म के साथ प्रशस्त भावनाओ का अनुचिन्तन करे, अप्रशस्त भावनाओ को छोड़े और अन्तिम आराधना करे "**काल अणवकंखमाणो** ।"—मृत्यु की इच्छा न करता हुआ आत्म शुद्धि के प्रयत्न मे सलग्न रहे ।

उक्त वणन से सलेखना के स्वरूप पर विशुद्ध प्रकाश पडता है । सलेखना धीरे-धीरे शान्त भाव से मृत्यु की ओर प्रस्थान है । शरीर और मन को धीरे-धीरे कसा जाता है, और विषय निवृत्ति का अभ्यास बढ़ा दिया जाता है । हठात् किसी दुष्कर काम को हाथ लगाना और फिर बीच मे विचलित हो जाना बहुत खतरनाक हैं । अत साधक के लिए यह मनोवैज्ञानिक भूमिका है कि वह क्रमश तप और ध्यान के पथ पर बढ़े, मनोनिग्रह का अभ्यास बढाये और मन को इतना तैयार करले कि अन्तिम स्थिति मे पहुंचते-पहुंचते वह परमहस दशा—जिसे शास्त्रो की भाषा मे 'पादोप गमन अनशन' कहते हैं कि स्थिति को स्वत प्राप्त कर ले ।

जीवन और मृत्यु से सवथा असलीन होकर शुद्ध चैतन्य दशा मे रमण करने लगे । उसका शरीर भी स्वत ही इस प्रकार की निश्चेष्टता ग्रहण करले कि न हाथ हिलाने का सकल्प हो, न शरीर खुजलाने का । यह परम शान्त और आह्लादमय स्थिति है, जिसमे साधक को आत्मा के सिवाय और कुछ नहीं दीखता है । वह प्राण-धारण किये रहता है । किन्तु फिर भी निश्चेष्ट और निर्विकल्प और अन्त मे उस स्थिति मे देह त्याग कर वह अपनी मजिल तक पहुँच जाता है ।

तो सलेखना हमे मृत्यु को जीतने की यह कला सिखाती है । वास्तव मे जीवन-शुद्धि और मरण शुद्धि की वह प्रक्रिया है जिसे सामान्य मनोवल वाला साधक भी धीरे,धीरे करता हुआ विशिष्ट मनोबल प्राप्त कर सकता है । सलेखना द्वारा जीवन विशुद्धि करने वाले की मृत्यु, मृत्यु नहीं–समाधि है परम शान्ति है और सम्पूण व्रन-तप ज्ञान आदि का यही तो फल है कि साधक अन्तिम समय मे आत्मदशन करता हुआ समाधिपूवक प्राण त्यागे ।

> तप्तस्य तपश्चापि पालितस्य व्रतस्य च ।
> पठितस्य श्रुतस्यापि फल मृत्यु समाधिना ॥ —मृत्यु महोत्सव २३

समाधि मरण की कला पर जैन आगमो मे जो विस्तृत विचार किया गया है । उसकी यहाँ एक झलक प्रस्तुत निबन्ध मे है । इस पर चिन्तन कर हम मृत्यु की श्रेष्ठ और उत्तम कला सीख सकते हैं और मृत्यु जय बन सकते हैं ।

१ आचाराग १।४।२
२ गीता २।१२
३ मगवती सूत्र १३।७
४ तत्त्वार्थराजवार्तिक २।२२
५ गीता २।२७
६ सूत्रकृताग २।१।३
७ आचाराग १।४।२
८ आतुर प्रात्याख्यान ६३
९ (क) ससारासक्तचित्ताना मृत्युर्मीत्यै भवेन्नृणाम् ।
मोदायते पुन सोऽपि ज्ञान-वैराग्यवासिनाम् ॥—मृत्यु महोत्सव १७
(ख) सचित तपोघन न नित्य व्रतनियम सयमरतानाम् ।
उत्सवभूत मन्ये मरणमनपराधवृत्तीनाम् ॥—वाचक उमास्वाति
(अमिघान राजेन्द्र, माग ६, पृ० ११७)
१० मगवती शतक २१, उद्देशक ?
११ वालाण अकाम तु मरण असइ मवे ।
पडियाण सकाम तु उक्कोसेण सइ मवे ॥ उत्तरा० ५।३–४
१२ मरण विमक्ति प्रकरण १०।२४५
१३ मक्त परिज्ञा २१७ (अमि० रा० माग ६, पृ० ११२७)
१४ उत्त० पाइय टीका, आ० ५
१५ स्यानाग ३, पृ० ४
१६ स्यानाग २।३।४
१७ मगवती २।१
१८ उत्त० पाईय टीका, अ० ५, गा० २२५
१९ आचाराग ८।८।४
२० जस्सण भिक्खुस्स एव भवइ, से गिलामि च खुल अह, इमसि समये इम सरीरग अणुपुव्वेण परिवहित्तए, से अणुपुव्वेण आहार सवट्टिज्जा । कसाये पयणु किच्चा, समाहियच्चे फलगावयट्ठी उट्ठाय भिक्खू अमिनिव्वुडे ।
—आचारांग, विमोक्ष अध्ययन उद्दे० ६, सूत्र २२१
२१ स्थानाग २, उ० २ वृत्ति
२२ ज्ञाता १।१। वृति
२३ प्रवचन सारोद्धार १३५
२४ पचाशक विवरण १
२५ इत्तरिय मरण कालाय अणसणा दुविहा मवे ।
इत्तरिया सावकखा निरवकखा उ विइज्जिया ॥—उत्तरा० ३० । ९
२६ जीवियासंसप्पओगि वोच्छिंदित्ता जीवे आहारमतरेण न सकिलिस्सेइ ।—उत्तरा० २९।३५
२७ प्रवचन सारोद्धार १३४ द्वार
२८ द्वादश वार्षिकीमुत्कृष्टा सलेखना कृत्वा गिरिकन्दर गत्वा उपलक्षणमेतद् अन्यदपि षट् कायोपमर्द रहित विविक्त स्थान गत्वा पादपोपगमन वा शब्दाद् भक्त परिज्ञामिङ्गिनी मरण च प्रपद्यते ।
—प्रवचन० द्वार १३४ (अमि० रा० माग ६, पृ० २१७)
२९ व्यवहार माष्य २०३
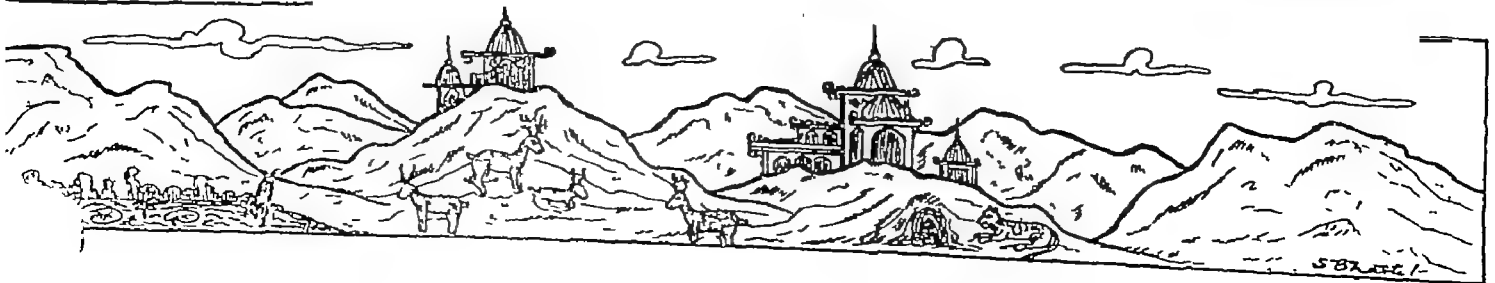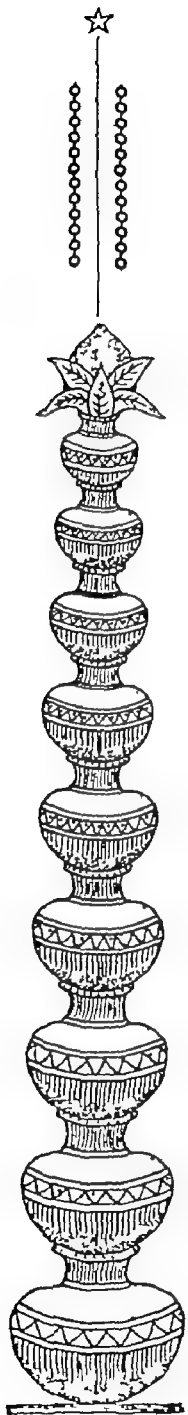
ज्ञान और अनुभव का आलोक स्तम्भ है—उपाध्याय। उपाध्याय पद की गरिमा, उपयोगिता और उसकी विशिष्ट भूमिका का जैन परम्परागत एक सर्वांगीण अवलोकन यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

☐ मुनिश्री रूपचन्द्र 'रजत'
[घोर तपस्वी]

जैन परम्परा में उपाध्याय पद

☐

क्रिया और ज्ञान

प्रत्येक धम का अन्तिम लक्ष्य मुक्ति है। निर्वाण प्राप्त करना प्रत्येक धम-आराधक का लक्ष्य है। अत कहा है—

निव्वाण सेट्ठा जह सव्वधम्मा[1]

सव धर्मों मे निर्वाण को श्रेष्ठ माना है। निर्वाण प्राप्ति के साधन या माग की मीमासा विभिन्न धर्मों मे विभिन्न प्रकार से की गई है। कोई धम सिर्फ ज्ञान से ही मुक्ति मानते हैं—"सुयसेय"[2] श्रुत ही श्रेय है, ज्ञान से ही मुक्ति मिलती है, और कुछ धर्म वाले "शील सेय" शील आचार ही श्रेय है। इस प्रकार एकांत ज्ञान और एकान्त आचार की प्ररूपणा करते हैं। किन्तु जैन धर्म, ज्ञान और क्रिया का रूप स्वीकार करता है। उसका स्पष्ट मत है—

आहसु विज्जा चरण पमोक्खो[3]

विद्या-ज्ञान और चरण-क्रिया के मिलन से ही मुक्ति होती है। न अकेला ज्ञान मुक्ति प्रदाता है और न अकेला आचार। जैन साधक ज्ञान की आराधना करता है और आचार की भी। आचार मूलक ज्ञान से ही निर्वाण की प्राप्ति होती है। सद्ज्ञान पूर्वक किया गया आचरण ही मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है। इस कारण जैन शास्त्रो में ज्ञान और आचार पर समान रूप से बल दिया गया है।

हाँ, यह बात जरूर ध्यान मे रखने की है कि ज्ञान प्राप्त करने से पूव आचार की शुद्धि अवश्य होनी चाहिए जिसका आचार शुद्ध होता है वही सद्ज्ञान प्राप्त कर सकता है। मनुस्मृति मे भी यही बात कही गई है—

आचाराद् विच्युतो विप्र न वेद फलमश्नुते।

आचार से भ्रष्ट हुआ ब्राह्मण वेद ज्ञान का फल प्राप्त नहीं कर सकता। आचार्य भद्रबाहु से जब पूछा गया कि अग शास्त्र जो कि ज्ञान के अक्षय भडार हैं, उनका सार क्या है?

अंगाण कि सारो? [अगो का सार क्या है?]

आयारो! [आचार, अग का सार है]

दूसरा भाव है—ज्ञान का सार आचार है, इसलिए ज्ञान प्राप्ति वही कर सकता है जो सदाचारी होगा। भगवान महावीर ने अपने अन्तिम प्रवचन मे कहा है—

अह पचहिं ठाणेहिं जेहिं सिक्खा न लब्भई।
थभा कोहा पमाएण रोगेणालस्स एण वा॥ —उत्त० ११।३

जो व्यक्ति क्रोधी, अहकारी, प्रमादी, रोगी और आलसी है। वह ज्ञान प्राप्त नही कर सकता है।

आचार की विशेषता रखने के लिए ही जैन सघ मे पहले आचाय और फिर उपाध्याय का स्थान बताया

गया है। आचार्य का अर्थ ही है आचार की शिक्षा देने वाले।[४] नव दीक्षित को पहले आचार सम्पन्न करने के बाद फिर विशेष ज्ञानाभ्यास कराया जाता है इसलिए आचार्य के बाद उपाध्याय का स्थान सूचित किया गया है। आचार-शुद्धि के बाद ज्ञानाभ्यास कर साधक आध्यात्मिक वैभव की प्राप्ति कर लेता है। प्रस्तुत मे हम उपाध्याय के अर्थ एव गुणो पर विचार करते है।

उपाध्याय शब्दार्थ

उपाध्याय का सीधा अर्थ शास्त्र-वाचना या सूत्र अध्ययन से है। उपाध्याय शब्द पर अनेक आचार्यो ने जो विचार-चिन्तन किया है, पहले हम उस पर विचार करेंगे।

भगवती सूत्र मे पाँच परमेष्ठी को सर्वप्रथम नमस्कार किया है, वहा 'नमो अरिहताण, नमो सिद्धाण, नमो आयरियाण' इन तीन के बाद 'नमो उवज्झायाण' पद आया है। इसकी वृत्ति मे आवश्यक निर्युक्ति की निम्नगाथा उल्लेखित करते हुए आचार्य ने कहा है—

वारसगो जिणक्खाओ सज्झाओ कहिओ बुहे।
त उवइस्सति जम्हा, उवज्झाया तेण वुच्चति ॥[५]

जिन भगवान द्वारा प्ररूपित बारह अगो का जो उपदेश करते है, उन्हे उपाध्याय कहा जाता है। इसी गाथा पर टिप्पणी करते हुए आचार्य हरिभद्र ने लिखा है—

उपेत्य अधीयतेऽस्मात् साधव सूत्रमित्युपाध्याय ।[६]

जिनके पास जाकर साधुजन अध्ययन करते हैं, उन्हे उपाध्याय कहते है। उपाध्याय मे दो शब्द हैं—
उप + अध्याय। 'उप' का अर्थ है—समीप, नजदीक। अध्याय का अर्थ है—अध्ययन, पाठ।

जिनके पास मे शास्त्र का स्वाध्याय व पठन किया जाता है वह उपाध्याय है। इसीलिए आचार्य शीलाक ने उपाध्याय को अध्यापक भी बताया है।

'उपाध्याय अध्यापक' —आचाराग शीलाकवृत्ति सूत्र २७९

दिगम्बर साहित्य के प्रसिद्ध ग्रन्थ भगवती आराधना की विजयोदया टीका मे कहा है—

रत्नत्रयेषूद्यता जिनागमार्थं सम्यगुपदिशति ये ते उपाध्याया ।

—भ० आ० वि० टीका ४६

—ज्ञान, दर्शन एव चारित्र रूप रत्नत्रय की आराधना मे स्वय निपुण होकर अन्यो को जिनागम का अध्ययन कराने वाले उपाध्याय कहे जाते हैं।

एक प्राचीन आचार्य ने उपाध्याय (उवज्झाय) शब्द की निर्युक्ति करते हुए एक नया ही अर्थ बताया है।

उ त्ति उवगरण 'वे' ति वेयज्झाणस्स होइ निद्देसे।
एएण होइ उज्झा एसो अण्णो वि पज्जाओ ॥[७]

'उ' का अर्थ है—उपयोगपूर्वक।
'व' का अर्थ है—ध्यान युक्त होना।

—अर्थात् श्रुत सागर के अवगाहन में सदा उपयोगपूर्वक ध्यान करने वाले 'उज्झा' (उवज्झय) कहलाते हैं।

इस प्रकार अनेक आचार्यों ने उपाध्याय शब्द पर गम्भीर चिन्तन कर अर्थ व्याकृत किया है।

योग्यता व गुण

यह तो हुआ उपाध्याय शब्द का निर्वचन, अर्थ। अब हम उसकी योग्यता व गुणो पर भी विचार करते हैं।

शास्त्र में आचार्य के छत्तीस गुण और उपाध्याय के २५ गुण बताए हैं। उपाध्याय उन गुणो से युक्त होना चाहिए। उपाध्याय पद पर कौन आरूढ हो सकता है, उसकी कम से कम क्या योग्यता होनी चाहिए ? यह भी एक प्रश्न है। क्योकि किसी भी पद पर आसीन करने से पहले उस व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक एव शैक्षिक योग्यता को
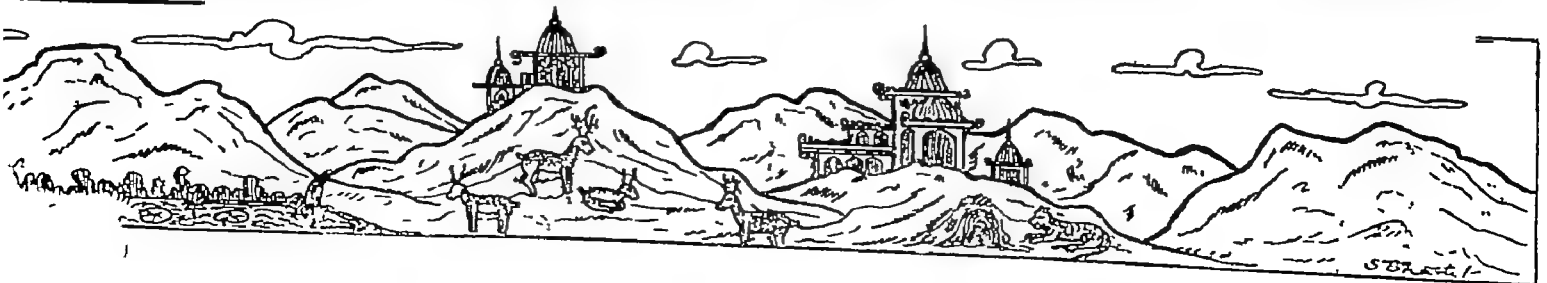
कसौटी पर कसा जाता है। यदि अयोग्य व्यक्ति किसी पद पर आसीन हो जाता है तो वह अपना तो गौरव घटायेगा ही, किन्तु उस पद का और उस संघ या शासन का भी गौरव मलिन कर देगा। इसलिए जैन मनीषियो ने उपाध्याय पद की योग्यता पर विचार करते हुए कहा है।

कम से कम तीन वर्ष का दीक्षित हो, आचार कल्प (आचारांग व निशीथ) का ज्ञाता हो, आचार मे कुशल तथा स्व-समय पर-समय का वेत्ता हो, एवं व्यञ्जनजात (उपस्थ व कांख मे रोम आये हुए) हो।[८]

दीक्षा और ज्ञान की यह न्यूनतम योग्यता जिस व्यक्ति मे नहीं, वह उपाध्याय पद पर आरूढ नहीं हो सकता।

पच्चीस-गुण—

इसके बाद २५ गुणो से युक्त होना आवश्यक है। पच्चीस गुणो की गणना मे दो प्रकार की पद्धति मिलती है। एक पद्धति में पचीस गुण इस प्रकार हैं—११ अंग, १२ उपांग, १ करणगुण १ चरण गुण सम्पन्न—=२५।[९]

दूसरी गणना के अनुसार २५ गुण निम्न हैं—

१२, द्वादशांगी का वेत्ता—आचारांग आदि १२ अंगो का पूरा रहस्यवेत्ता हो।

१३ करण गुण सम्पन्न—पिण्ड विशुद्धि=आदि के सत्तरकरण गुणो से युक्त हो।

१४ चरणगुण सम्पन्न—५ महाव्रत श्रमण धर्म आदि सत्तरचरण गुणो से सम्पन्न हो।

१५-२२, आठ प्रकार की प्रभावना के प्रभावक गुण मे युक्त हो।

२३, मन योग को वश मे करने वाले।

२४, वचन योग को वश मे करने वाले।

२५, काययोग को वश मे करने वाले।[१०]

बारह अंग

१	आचारांग	२	सूत्रकृतांग
३	स्थानांग	४	समवायांग
५	व्याख्याप्रज्ञप्ति	६	ज्ञाता धर्मकथा
७	उपासक दशा	८	अन्तगड दशा
९	अणुत्तरोववाइय दशा	१०	प्रश्न व्याकरण
११	विपाकश्रुत	१२	दृष्टिवाद

उपाध्याय इन बारह अंगों का जानकार होना चाहिए।

करण-सत्तरी

१३—करण सत्तरी—करण का अर्थ है—आवश्यकता उपस्थित होने पर जिस आचार का पालन किया जाता हो वह आचार विषयक नियम। इसके सत्तर बोल निम्न हैं—

पिंड विसोही समिइ भावण पडिमा य इंदिय निरोहो,
पडिलेहण गुत्तीओ अभिग्गहा चेव करण तु।[११]

४ चार प्रकार की पिण्ड विशुद्धि—

(१) शुद्ध आहार, (२) शुद्ध पात्र, (३) शुद्ध वस्त्र, (४) शुद्ध शय्या। इनकी शुद्धि का विचार ४२ दोषों का वर्जन।

५-९, ईर्यासमिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान भाण्डमात्र निक्षेपणा समिति, उच्चार प्रस्रवण समिति। इन पांच समिति का पालन करना।

१०-२१, अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशौच, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म, लोक, बोधिदुर्लभ। इन बारह भावनाओं का अनुचिन्तन करना।

२२-३३, वारह भिक्षु प्रतिमाएँ निम्न है[१२]—

१—मासिकी भिक्षु प्रतिमा
२—द्वि मासिकी भिक्षु प्रतिमा
इसी प्रकार सातवी सप्त मासिकी भिक्षु प्रतिमा
८ प्रथमा सप्त रात्रि दिवा भिक्षु प्रतिमा
९ द्वितीया सप्त रात्रि दिवा भिक्षु प्रतिमा
१० तृतीया सप्त रात्रि दिवा भिक्षु प्रतिमा
११ अहो रात्रि की भिक्षु प्रतिमा
१२ एक रात्रि की भिक्षु प्रतिमा

३४-५८, पचीस प्रकार की प्रति लेखना, ६ वस्त्र प्रतिलेखना, ६ अप्रमाद प्रतिलेखना, १३ प्रमाद प्रतिलेखना ये पच्चीस भेद प्रतिलेखना के हैं।[१३]

५९-६३, पाँच इन्द्रियो का निग्रह।

६४-६६, मन, वचन, काय गुप्ति।

६७-७०, द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार अभिग्रह करना। ये सत्तर भेद है करण गुण के जिसे 'करण सत्तरी' कहते हैं।

चरण-सत्तरी

चरण-सत्तरी के सत्तर बोल निम्न है—

> वय समण धम्म सजम वेयावच्च च बभगुत्तीओ।
> नाणाइतिय तव कोह निग्गहा इह चरणमेय॥ —धर्मसग्रह ३

चरण गुण का अर्थ है, निरन्तर प्रतिदिन और प्रति समय पालन करने योग्य गुण। साधु का सतत पालन करने वाला आचार है। इसके सत्तर भेद हैं—

१-५ अहिंसा आदि पाँच महाव्रत,

६-१५, दस प्रकार का श्रमण धम—

क्षमा, निर्लोभता, सरलता, मृदुता, लाघव, सत्य, सयम, त्याग, ब्रह्मचर्य श्रमण धम के ये दस प्रकार हैं।[१४]

१६-३२, सत्रह प्रकार का सयम इस प्रकार।[१५]

(१-५) पृथ्वी, अप, तेजस्, वायु, वनस्पतिकाय सयम
(६-९) द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय सयम
(१०) अजीवकाय सयम, वस्त्र-पात्र आदि निर्जीव वस्तुओ पर भी ममत्व न करना, उनका सग्रह न करना।
(११) प्रेक्षा-सयम—प्रत्येक वस्तु को अच्छी तरह देखे बिना काम मे न लेना।
(१२) उपेक्षा-सयम—पाप कार्य करने वालो पर उपेक्षा भाव रखे, द्वेष न करे।
(१३) प्रमार्जना सयम—अन्धकार पूर्ण स्थान पर बिना पूजे गति स्थिति न करना।
(१४) परिष्ठापना सयम—परठने योग्य वस्तु निर्दोष स्थान पर परठे।
(१५) मन सयम।
(१६) वचन सयम।
(१७) काय सयम।

३३-४२, दस प्रकार की वैयावृत्य करना।[१६] आचाय, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, रोगी, नवदीक्षित, कुल, गण, सघ और साधर्मिक की सेवा करना।

४३-५१, ब्रह्मचर्य की नव गुप्तियो का पालन करना।[१७]

(१) शुद्ध स्थान सेवन (२) स्त्री-कथा वजन

(३) एकासन त्याग
(४) दशन-निपेध
(५) श्रवण-निपेध
(६) स्मरण-वजन
(७) सरस-आहार त्याग
(८) अति-आहार त्याग
(९) विभूपा परित्याग

५२-५४, ज्ञान, दशन और चारित्र की शुद्ध आराधना करना।
५५-६६, बारह प्रकार के तप का आचरण करना।[१८]
६७-७०, क्रोध, मान, माया, लोभ, इन चार कपायो का निग्रह करना।
इस प्रकार चरण सत्तरी के ये ७० बोल हैं।

आठ प्रभावना—

उपाध्याय की उक्त विशेषताओं के साथ वे प्रभावशील भी होने चाहिए। आठ प्रकार की प्रभावना बताई गई है। उपाध्याय इनमे निपुण होना चाहिए। आठ प्रभावना निम्न ह—[१९]

(१) प्रावचनी—जैन व जैनेतर शास्त्रो का विद्वान।
(२) धमकथी—चार प्रकार की धम कथाओ[२०] के द्वारा प्रभावशाली व्याख्यान देने वाले।
(३) वादी—वादी-प्रतिवादी, सभ्य, सभापति रूप चतुरग सभा मे सुपुष्ट तर्कों द्वारा स्वपक्ष-पर-पक्ष के मडन खडन मे सिद्धहस्त हो।
(४) नैमित्तिक—भूत, भविष्य एव वतमान मे होने वाले हानि-लाभ के जानकार हो।[२१]
(५) तपस्वी—विविध प्रकार की तपस्या करने वाले हो।
(६) विद्यावान—रोहिणी प्रज्ञप्ति आदि चतुदश विद्याओ के ज्ञाता हो।
(७) सिद्ध—अजन, पाद लेप आदि सिद्धियो के रहस्यवेत्ता हो।
(८) कवि—गद्य-पद्य, कथ्य और गेय, चार प्रकार के काव्यों[२२] की रचना करने वाले हो।

ये आठ प्रकार के प्रभावक उपाध्याय होते हैं।
२३-२५, मन, वचन एव काय योग को सदा अपने वश मे रखना।
इस प्रकार उपाध्याय मे ये २५ गुण होने आवश्यक माने गये हैं।

उपाध्याय का महत्त्व

जैन आगमों के परिशीलन से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि सघ मे जो महत्त्व आचाय का है, लगभग वही महत्त्व उपाध्याय को भी प्रदान किया गया है। उपाध्याय का पद सघ-व्यवस्था की दृष्टि से भले ही आचाय के बाद का है, किन्तु इसका गौरव किसी प्रकार कम नही है। स्थानाग सूत्र मे आचार्य और उपाध्याय के पाँच अतिशय बताये हैं। सघ में जो गौरव व सम्मान की व्यवस्था आचार्य की है उसी प्रकार उपाध्याय का भी वही सम्मान होता है। जैसे आचार्य उपाश्रय (स्थान) मे प्रवेश करें तो उनके चरणों का प्रमाजन (धूल-साफ) किया जाता है, इसी प्रकार उपाध्याय का भी करने का विधान है।[२३] इसी सूत्र मे आचाय-उपाध्याय के सात सग्रह स्थान भी बताये हैं, जिनमे गण में आज्ञा (आदेश), धारणा (निषेध) प्रवर्तन करने की जिम्मेदारी आचार्य उपाध्याय दोनों की बताई है।[२४]

इसका तात्पर्य यह है कि सूत्रो के पाठोच्चारण की शुद्धता, स्पष्टता, विशदता, अपरिवर्त्यता तथा स्थिरता बनाये रखने की सब जिम्मेदारी उपाध्याय के हाथों मे है। आज की भाषा मे उपाध्याय एक भाषा वैज्ञानिक की दृष्टि से आगम पाठो की शुद्धता तथा उनके परम्परागत रहस्यो के वेत्ता के प्रतीक है।

लेखनक्रम अस्तित्व मे आने से पहले, जैन, बौद्ध एव वैदिक परम्पराओ मे अपने आगम कठस्थ रखने की परम्परा थी। मूल पाठ का रूप अक्षुण्ण बना रहे, परिवर्तन, समय का उस पर प्रभाव न पड़े, उनके पाठक्रम और उच्चारण आदि मे अन्तर न आए इसके लिए बडी सतर्कता बरती जाती थी। शुद्ध पाठ यदि उच्चारण मे अशुद्ध कर दिया जाए तो अर्थ का अनर्थ हो सकता है। एक अक्षर का, एक अनुस्वार भी यदि आगे-पीछे हो जाए तो उसमे समस्त अर्थ का विपर्यय हो जाता है। कहा जाता है—सम्राट अशोक ने अपने पुत्र कुणाल को जो तक्षशिला मे था, एक पत्र मे सन्देश भेजा—"अधीयता कुमार" पुत्र! पढते रहो। किन्तु कुमार कुणाल की विमाता तिष्यरक्षिता ने उसे अपनी आँखो के काजल से 'अधीयता' के ऊपर अनुस्वार लगाकर 'अंधीयता' कर दिया। जिसका अर्थ हुआ अधा कर दो। एक अनुस्वार के फर्क से कितना भयकर अनर्थ हो गया। शब्दो को आगे-पीछे करके पढने से भी अनर्थ हो जाते हैं। एक मारवाडी भाई पाठ कर रहा था—"स्वाम सुधर्मा रे, जनम-मरण से वकरा काटें।" इसमे "सेवक" 'रा' शब्द है जिसका उच्चारण करते हुए "से वकरा" करके अनर्थ कर डाला।

अनुयोगद्वार सूत्र में उच्चारण के १४ दोष बताते हुए उनसे आगम पाठ की रक्षा करने की सूचना दी गई है।[२७] जिसमें हीनाक्षर, व्यत्याम्रेडित आदि की चर्चा है। इन दोषो से आगम पाठ को बचाए रखकर उसे शुद्ध, स्थिर और मूल रूप मे बनाये रखने का कार्य उपाध्याय का है। इस दृष्टि से उपाध्याय सघ रूप नन्दन-वन के ज्ञान रूप वृक्षो की शुद्धता, निर्दोषता और विकास की ओर सदा सचेष्ट रहने वाला एक कुशल माली है। उद्यान पालक है।

उक्त विवेचन से हम यह जान पायेंगे कि जैन परम्परा मे उपाध्याय का कितना गौरवपूर्ण स्थान है और उनकी कितनी आवश्यकता है। ज्ञान दीप को सघ मे प्रज्वलित रखकर श्रुत परम्पराओ को आगे से आगे बढाते रखने का सम्पूर्ण कार्य उपाध्याय करते हैं। यह सम्भव है कि वर्तमान मे आगम कथित सम्पूर्ण गुणो से युक्त उपाध्याय का मिलना कठिन है, किन्तु जो भी विद्वान विवेकी श्रमण स्वय श्रुत ज्ञान प्राप्त कर अन्य श्रमणों को ज्ञान-दान करते हैं, वे भी उपाध्याय पद की उस गरिमा के कुछ न कुछ हकदार तो हैं ही। वे उस सम्पूर्ण स्वरूप को प्राप्त करने के इच्छुक भी हैं। अत ऐसे ज्ञानदीप उपाध्याय के चरणो मे भक्तिपूर्वक वन्दन करता हुआ—'आचार्य अमितगति' के इस श्लोक के साथ लेख को सम्पूर्ण करता हूँ।

> येषा, तप श्रीरनघा शरीरे,
> विवेचका चेतसि तत्त्वबुद्धि।
> सरस्वती तिष्ठति वक्त्रपद्मे,
> पुनन्तु तेऽध्यापक पुंगवा व ॥[२८]

—जिनकी निर्मल तप श्री शरीर पर दीप्त हो रही है। जिनकी विवेचनाशील तत्त्व बुद्धि चित्त मे सदा स्फुरित रहती है। जिनके मुखकमल पर सरस्वती विराजमान है, वे उपाध्याय पुंगव (अध्यापक) मेरे मन-वचन को पवित्र करें।

---

१ सूत्र कृताग ६
२ भगवती
३ सूत्र कृतांग
४ पचविह आयार आयरमाणा तहा पगासता।
आयार दसता आयरिया तेण वुच्चति।—आवश्यक निर्युक्ति ९९४।
५ भगवती सूत्र १ १ १ मगलाचरण में आ० नि० ९९७ की गाथा।
६ आव नि० हरि वृ पृ ४४९ ।
७ अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग २, पृ० ८८३

(३) एकासन त्याग (४) दशन-निषेध
(५) श्रवण-निषेध (६) स्मरण-वर्जन
(७) सरस-आहार त्याग (८) अति-आहार त्याग
(६) विभूषा-परित्याग

५२-५४, ज्ञान, दर्शन और चारित्र की शुद्ध आराधना करना।
५५-६६, बारह प्रकार के तप का आचरण करना।[१८]
६७ ७०, क्रोध, मान, माया, लोभ, इन चार कषायो का निग्रह करना।
इस प्रकार चरण सत्तरी के ये ७० बोल हैं।

आठ प्रभावना—

उपाध्याय की उक्त विशेषताओ के साथ वे प्रभावशील भी होने चाहिए। आठ प्रकार की प्रभावना बताई गई है। उपाध्याय इनमे निपुण होना चाहिए। आठ प्रभावना निम्न हैं—[१६]

(१) प्रावचनी—जैन व जैनेतर शास्त्रो का विद्वान।
(२) धमकथी—चार प्रकार की धम कथाओ[२०] के द्वारा प्रभावशाली व्याख्यान देने वाले।
(३) वादी—वादी-प्रतिवादी, सभ्य, सभापति रूप चतुरग सभा मे सुपुष्ट तर्कों द्वारा स्वपक्ष-पर-पक्ष के मडन-खडन मे सिद्धहस्त हो।
(४) नैमित्तिक—भूत, भविष्य एव वतमान मे होने वाले हानि-लाभ के जानकार हो।[२१]
(५) तपस्वी—विविध प्रकार की तपस्या करने वाले हो।
(६) विद्यावान—रोहिणी प्रज्ञप्ति आदि चतुदश विद्याओ के ज्ञाता हो।
(७) सिद्ध—अजन, पाद लेप आदि सिद्धियो के रहस्यवेत्ता हों।
(८) कवि—गद्य-पद्य, कथ्य और गेय, चार प्रकार के काव्यों[२२] की रचना करने वाले हो।

ये आठ प्रकार के प्रभावक उपाध्याय होते हैं।
२३-२५, मन, वचन एव काय योग को सदा अपने वश मे रखना।
इस प्रकार उपाध्याय मे ये २५ गुण होने आवश्यक माने गये हैं।

उपाध्याय का महत्त्व

जैन आगमों के परिशीलन से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि सघ मे जो महत्त्व आचार्य का है, लगभग वही महत्त्व उपाध्याय को भी प्रदान किया गया है। उपाध्याय का पद सघ-व्यवस्था की दृष्टि से भले ही आचाय के बाद का है, किन्तु इसका गौरव किसी प्रकार कम नहीं है। स्थानांग सूत्र मे आचार्य और उपाध्याय के पाँच अतिशय बताये हैं। सघ मे जो गौरव व सम्मान की व्यवस्था आचार्य की है उसी प्रकार उपाध्याय का भी वही सम्मान होता है। जैसे आचार्य उपाश्रय (स्थान) में प्रवेश करें तो उनके चरणों का प्रमार्जन (धूल-साफ) किया जाता है, इसी प्रकार उपाध्याय का भी करने का विधान है।[२३] इसी सूत्र मे आचाय-उपाध्याय के सात सग्रह स्थान भी बताये हैं, जिनमे गण में आज्ञा (आदेश), धारणा (निषेध) प्रवर्तन करने की जिम्मेदारी आचार्य उपाध्याय दोनों की बताई है।[२४]

उपाध्याय भाषा वैज्ञानिक

वास्तव मे आचाय तो सघ का प्रशासन देखते हैं, जबकि उपाध्याय मुख्यत श्रमण सघ की ज्ञान-विज्ञान की दिशा मे अत्यधिक अग्रगामी होते हैं। श्रुत-ज्ञान का प्रसार करना और विशुद्ध रूप से उस ज्ञान धारा को सदा प्रवाहित रखने की जिम्मेदारी उपाध्याय की मानी गयी है।

आचार्य की आठ प्रकार की गणि सम्पदा का वर्णन शास्त्र मे आया है। वहाँ बताया गया है कि आगमों की अर्थ-वाचना आचार्य देते हैं।[२५] आचाय शिष्यो को अर्थ का रहस्य तो समझा देते हैं किन्तु सूत्र-वाचना का काय उपाध्याय का माना गया है। इसलिए उपाध्याय को—उपाध्याय सूत्र ज्ञाता (सूत्र वाचना प्रदाता)[२६] के रूप मे माना गया है।

इसका तात्पर्य यह है कि सूत्रो के पाठोच्चारण की शुद्धता, स्पष्टता, विशदता, अपरिवर्तयता तथा स्थिरता बनाये रखने की सब जिम्मेदारी उपाध्याय के हाथो मे है। आज की भाषा मे उपाध्याय एक भाषा वैज्ञानिक की दृष्टि मे आगम पाठो की शुद्धता तथा उनके परम्परागत रहस्यो के वेत्ता के प्रतीक है।

लेखनक्रम अस्तित्त्व मे आने से पहले, जैन, बौद्ध एव वैदिक परम्पराओ मे अपने आगम कठस्थ रखने की परम्परा थी। मूल पाठ का रूप अक्षुण्ण बना रहे, परिवतन, समय का उस पर प्रभाव न पडे, उनके पाठक्रम और उच्चारण आदि मे अन्तर न आए इसके लिए बडी सतर्कता बरती जाती थी। शुद्ध पाठ यदि उच्चारण मे अशुद्ध कर दिया जाए तो अर्थ का अनथ हो सकता है। एक अक्षर का, एक अनुस्वार भी यदि आगे-पीछे हो जाए तो उसमे समस्त अर्थ का विपयय हो जाता है। कहा जाता है—सम्राट अशोक ने अपने पुत्र कुणाल को जो तक्षशिला मे था, एक पत्र मे सन्देश भेजा—"अधीयता कुमार" पुत्र! पढते रहो। किन्तु कुमार कुणाल की विमाता तिष्यरक्षिता ने उसे अपनी आँखो के काजल से 'अधीयता' के ऊपर अनुस्वार लगाकर 'अधीयता' कर दिया। जिसका अर्थ हुआ अधा कर दो। एक अनुस्वार के फर्क से कितना भयकर अनर्थ हो गया। शब्दो को आगे-पीछे करके पढने से भी अनथ हो जाते हैं। एक मारवाडी भाई पाठ कर रहा था—"स्वाम सुधर्मा रे, जनम-मरण से वकरा काटै।" इसमे "सेवक" 'रा' शब्द है जिसका उच्चारण करते हुए "से वकरा" करके अनथ कर डाला।

अनुयोगद्वार सूत्र मे उच्चारण के १४ दोप बताते हुए उनसे आगम पाठ की रक्षा करने की सूचना दी गई है।[२७] जिसमे हीनाक्षर, व्यत्याम्रेडित आदि की चर्चा है। इन दोपो से आगम पाठ को बचाए रखकर उसे शुद्ध, स्थिर और मूल रूप मे बनाये रखने का कार्य उपाध्याय का है। इस दृष्टि से उपाध्याय सघ रूप नन्दन-वन के ज्ञान रूप वृक्षो की शुद्धता, निर्दोषता और विकास की ओर सदा सचेष्ट रहने वाला एक कुशल माली है। उद्यान पालक है।

उक्त विवेचन से हम यह जान पायेंगे कि जैन परम्परा मे उपाध्याय का कितना गौरवपूर्ण स्थान है और उनकी कितनी आवश्यकता है। ज्ञान दीप को सघ में प्रज्वलित रखकर श्रुत परम्पराओ को आगे से आगे बढाते रखने का सम्पूर्ण काय उपाध्याय करते हैं। यह सम्भव है कि वतमान मे आगम कथित सम्पूर्ण गुणो से युक्त उपाध्याय का मिलना कठिन है, किन्तु जो भी विद्वान विवेकी श्रमण स्वय श्रुत ज्ञान प्राप्त कर अन्य श्रमणो को ज्ञान-दान करते हैं, वे भी उपाध्याय पद की उस गरिमा के कुछ न कुछ हकदार तो हैं ही। वे उस सम्पूण स्वरूप को प्राप्त करने के इच्छुक भी हैं। अत ऐसे ज्ञानदीप उपाध्याय के चरणो मे भक्तिपूर्वक वन्दन करता हुआ—'आचाय अमितगति' के इस श्लोक के साथ लेख को सम्पूण करता हूँ।

> येषा, तप श्रीरनघा शरीरे,
> विवेचका चेतसि तत्त्वबुद्धि।
> सरस्वती तिष्ठति वक्त्रपद्मे,
> पुनन्तु तेऽध्यापक पुंगवा व ॥[२८]

—जिनकी निर्मल तप श्री शरीर पर दीप्त हो रही है। जिनकी विवेचनाशील तत्त्व बुद्धि चित्त मे सदा स्फुरित रहती है। जिनके मुखकमल पर सरस्वती विराजमान है, वे उपाध्याय पुंगव (अध्यापक) मेरे मन-वचन को पवित्र करें।

---

१ सूत्र कृताग ६
२ भगवती
३ सूत्र कृताग
४ पचविह आयार आयरमाणा तहा पगासता।
आयार दसता आयरिया तेण वुच्चति।—आवश्यक निर्युक्ति ६६४।
५ भगवती सूत्र १ १ १ मगलाचरण में आ० नि० ६६७ की गाथा।
६ आव नि० हरि वृ पृ ४४६।
७ अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग २, पृ० ८८३

८ व्यवहार सूत्र ३।३, ७।१६, १०।२६
९ जैन सिद्धान्त बोल सग्रह, भाग ६, पृ० २१५
१० चारित्र-प्रकाश, पृ० ११५
११ प्रवचन सारोद्धार द्वार ६८, गाथा ५९६
१२ दशाश्रुत स्कंध ७। भगवती २।१ समवायाग १२
१३ उत्तराध्ययन २६।२६ से ३० प्रतिलेखना के २५ भेद अन्य प्रकार से भी हैं। नव अखोडा, नव पखोडा, ६ पुरिम, १ पडिलेहणा—देखें जैन तत्त्व प्रकाश, प्रकरण ३।
१४ स्थानाग १०
१५ समवायाग १७
१६ भगवती २५।७
१७ उत्तराध्यन १६
१८ उत्तराध्यन ३०।८
१९ प्रवचन सारोद्धार १४८, गाथा ९३४
२० स्थानाग ४
२१ निमित्त के छ व आठ भेद। —स्थानाग ६ तथा ८ मे देखें।
२२ काव्य के चार भेद स्थानाग ४ मे देखें।
२३ स्थानाग सूत्र ५।२, सूत्र ४३८
२४ स्थानाग सूत्र ७, सूत्र ५४४
२५ दशाश्रुत स्कन्ध चोथीदशा
२६ स्थानांग सूत्र ३।४।३२३ की वृत्ति
२७ अनुयोगद्वार सूत्र १९
२८ अमितगति श्रावकाचार १-४

□□

सुह-दुक्खसहिय, कम्मखेत्त कसन्ति जे जम्हा।
कलुसति ज च जीव, तेण कसाय त्ति वुच्चति ॥

—प्रज्ञापनापद १३, टीका

सुख-दुःख के फलयोग्य—ऐसे कर्मक्षेत्र का जो कर्षण करता है, और जो जीव को कलुषित करता है, उसे कषाय कहते हैं।

☐ **श्रीमती शान्तिदेवी जैन**
[एम० ए०, 'विशारद', प्रभाकर]

तीर्थंकरों की धर्म-देशना लोक भाषा मे होती है, जिसे आज हम 'आगम' के नाम से जानते हैं। आगमों की भाषा अर्धमागधी किंवा प्राकृत का विशाल साहित्य न केवल धार्मिक दृष्टि से भी किंतु भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्व रखता है।

जैन आगम और प्राकृत भाषा-विज्ञान के परिप्रेक्ष्य मे एक परिशीलन

☐

विचार और भाषा

भाषा विचार-सवहन का माध्यम है। महापुरुषो या महान् साधको के अपने लिए तो यह अपेक्षित नही होता कि उनके सत्त्व-सभृत विचार वागात्मक या शाब्दिक रूप लें क्योकि आत्मा-शान्ति शब्द, जो अनात्म है, पर अवस्थित नही है। वह तो आत्मालोचन, अन्तर्मन्थन, स्वरूप परिणति एव स्वभाव-विहार पर आधृत है। पर, यह भी महापुरुषो के लिए उनके आत्म-सुख का अभिवर्द्धक है, जो शाश्वत सत्य उन्हें उपलब्ध हुआ, ससार के अन्य प्राणी भी, जो दुःखाक्रान्त हैं—उसे आत्मसात् करें, दु खो से छूटें, उनकी तरह वे भी सुखी बनें। यह करुणा का निमल स्रोत वाग्धारा के रूप में फूट पडता है, जो आगे चलकर एक शाश्वत साहित्य का रूप ले लेता है।

लोक-कल्याण-हेतु लोक-भाषा मे धर्म-देशना

उनके विचारो से जन-जन, प्राणी मात्र लाभान्वित हो, सबकी उन तक सीधी पहुंच हो, किसी दूसरे के माध्यम से नहीं, स्वय सहज भाव से वे उन (विचारों) को आत्मसात् कर पाएँ, इसी हेतु तीर्थंकरो की धर्म-देशना लोक-भाषा में होती है, उस भाषा मे जो जन-जन की है—जिसे साधारणत (उस क्षेत्र का) हर कोई व्यक्ति बिना किसी कठिनाई के समझ सके। इसीलिए कहा गया है—

बालस्त्रीवृद्धमूर्खाणा, नृणा चारित्रकाक्षिणाम् ।
अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञै, सिद्धान्त प्राकृत कृत ॥"[1]

इसका पाठान्तर यों भी है—

बालस्त्री-मन्द-मूर्खाणा, नृणा चारित्रकाक्षिणाम् ।
अनुग्रहार्थं सर्वज्ञै, सिद्धान्त प्राकृते कृत ॥

अर्थात् बालक, महिलाएँ, वृद्ध, अनपढ़—सब, जो सत् चारित्र्य—सद् आचार—सद् धर्म की आकांक्षा रखते हैं, पर अनुग्रह करने के हेतु तत्त्वज्ञो या सर्वज्ञों ने प्राकृत भाषा मे धर्म-सिद्धान्त का उपदेश किया।[2]

इस युग के अन्तिम उपदेश, धर्म-तीर्थ के सस्थापक, चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर थे। इस समय जो आगम या आर्ष वाङ्मय के रूप में साहित्य उपलब्ध है, वह उन्हीं की धर्म-देशना का प्रतीक है। भगवान् महावीर जो भी बोले अथवा उनके मुख से जो भी शब्दात्मक या ध्वन्यात्मक उद्गार निकले, वे प्राकृत—अर्द्धमागधी प्राकृत मे परिणत हुए, श्रोतृगण उन (विचारो) से अभिप्रेरित हुए, उद्बोधित हुए। (भगवान के प्रमुख शिष्य गणधरों ने उन्हें ग्रथित किया। उनका अन्तत जितना जो सकलन हो सका, वही आज का (अर्द्धमागधी) आगम-वाङ्मय है।
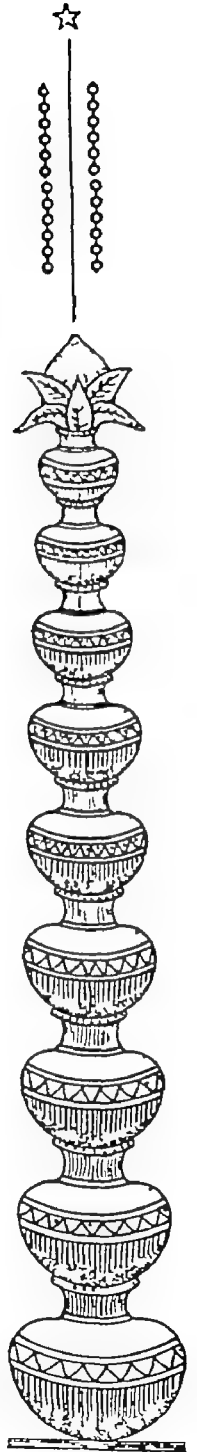
प्रशस्ति की भाषा मे यहाँ तक कहा गया है कि भगवान द्वारा अर्द्धमागधी मे अभिव्यक्त उद्गारो को मनुष्यो के साथ-साथ देवता भी सुनते थे, पशु-पक्षी भी सुनते थे, समझते थे। क्योकि वे भिन्न भिन्न भाषाभाषियो के अपनी अपनी भाषाओ के पुद्गलो मे परिणत हो जाते थे। यह भी कहा गया है कि अर्द्धमागधी आर्य भाषा है। देवता इसी मे बोलते हैं।[3]

इस सम्बन्ध मे हमे यहाँ विचार नही करना है। अतएव केवल सकेत मात्र किया गया है। विशेषत भाषा-विज्ञान या भाषा-शास्त्र के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे हम यहाँ सक्षेप मे प्राकृत पर विचार करेंगे।

आर्य भाषा परिवार और प्राकृत

विगत शताब्दी से ससार के विभिन्न देशो के विश्वविद्यालयो तथा विद्या केन्द्रो मे भिन्न भिन्न भाषाओ के वैज्ञानिक दृष्टि से समीक्षात्मक अध्ययन का विशेष क्रम चला है, जिसे भाषा-विज्ञान या भाषा-शास्त्र (Linguistics) कहा जाता है। वैसे देखा जाए तो हमारे देश के लिए यह कोई सर्वथा नवीन विषय नही है। व्युत्पत्ति-शास्त्र के महान् पण्डित यास्क, जिनका समय ईसा पूर्व आठवी शताब्दी माना जाता है, द्वारा रचित निरुक्त नामक व्युत्पत्ति शास्त्रीय ग्रन्थ से प्रकट है कि देश मे इस विषय पर व्यवस्थित रूप मे अध्ययन चलता था। निरुक्त विश्व-वाङ्मय मे व्युत्पत्ति शास्त्र सम्बन्धी प्रथम ग्रन्थ है। यास्क ने अपने ग्रन्थ मे अग्रायण, औदुम्बरायण, और्णनाभ, गालव, चर्मशिरा, शाकटायन तथा शाकल्य आदि अपने प्राग्वर्ती तथा समसामयिक व्युत्पत्ति शास्त्र व व्याकरण के विद्वानो की चर्चा की है, जिससे अध्ययन की इस शाखा की और अधिक प्राचीनता सिद्ध होती है। यास्क ने अपने इस ग्रन्थ मे १२६८ व्युत्पत्तियाँ उपस्थित की हैं, जिनमे सैकडो बहुत ही विज्ञान सम्मत एव युक्ति पूर्ण है।

अस्तु—पर, यह अध्ययन क्रम आगे नही चला, अवरुद्ध हो गया, पिछली शताब्दी मे जर्मनी व इङ्गलैण्ड आदि पाश्चात्य देशो के कतिपय विद्वानो ने प्रस्तुत विषय पर विशेष रूप से कार्य किया, जिनमे विशप काल्डवेल, जान बीम्स डी० ट्रम्प, एस० एच० केलाग, हार्नली, सर जार्ज ग्रियर्सन, टर्नर, जूल ब्लाक आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। डॉ० सर रामकृष्ण भडारकर पहले भारतीय हैं, जिन्होंने आधुनिकता के सन्दर्भ मे भाषा-विज्ञान पर कार्य किया।

इससे पूर्व प्राच्य-प्रतीच्य भाषाओ के तुलनात्मक एव भाषा-शास्त्रीय अध्ययन के सन्दर्भ मे जिनसे विशेष प्रेरणा प्राप्त हुई, उनमे सर विलियम जोन्स का नाम बहुत विख्यात है, वे कलकत्ता मे भारत के सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश थे। विद्या-व्यसनी थे। लैटिन, ग्रीक, गाथिक आदि प्राचीन पाश्चात्य भाषाओं के बहुत अच्छे विद्वान् थे। हिन्दू लॉ के निर्माण के प्रसग मे उन्होने सस्कृत पढने का निश्चय किया। बडी कठिनाई थी, कोई भारतीय पण्डित तैयार नही होता था। अन्तत बडी कठिनता से एक विद्वान् मिला, जिसके सर्वथा अनुकूल रहते हुए विलियम जोन्स ने सस्कृत का गम्भीर अध्ययन किया। पाश्चात्य भाषाओ के विशेषज्ञ वे थे ही, उनकी विद्वत्ता निखर गई। उन्होंने पुरानी पश्चिमी और पूर्वी भाषाओ के तुलनात्मक तथा समीक्षात्मक अध्ययन-अनुसन्धान के परिणामस्वरूप ऐसे सैकडो शब्द खोज निकाले, जो सहस्रो मीलो की दूरी पर अवस्थित लैटिन, ग्रीक तथा सस्कृत के पारस्परिक साम्य या सादृश्य के द्योतक थे। अपनी अनवरत गवेषणा से प्रसूत तथ्यो के आधार पर उन्होने उद्घोषित किया कि जहाँ तक वे अनुमान करते हैं, सस्कृत, लैटिन, ग्रीक, गाथिक, काल्टिक तथा पुरानी फारसी आदि पश्चिमी एव पूर्व भाषाओ के व्याकरण, शब्द, धातु, वाक्य-रचना आदि मे इस प्रकार का साम्य है कि इनका मूल या आदि स्रोत एक होना चाहिए।

सर विलियम जोन्स का कार्य विद्वानो के लिए वास्तव मे बडा प्रेरणाप्रद सिद्ध हुआ।

भाषा-विज्ञान का अध्ययन और विकसित होता गया। इसमे सस्कृत-भाषा बडी सहायक सिद्ध हुई। अपने गम्भीर अध्ययन-अन्वेषण के परिणामस्वरूप विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ससार में सहस्रों की सख्याओ मे प्रसूत भाषाओ के अपने-अपने भिन्न-भिन्न परिवार हैं। मुख्यत एक ही स्रोत से एकाधिक भाषाएँ निकली, उत्तरोत्तर उनकी सख्याएँ विस्तार पाती गईं, परिवर्तित होते-होते उनका रूप इतना बदल गया कि आज साधारणत उन्हें सर्वथा भिन्न और असम्बद्ध माना जाता है पर, सूक्ष्मता तथा गहराई से खोज करने पर यह तथ्य अज्ञात नहीं रहता कि उन भाषाओ के अन्तरतम मे ध्वनि, शब्द, पद-निर्माण, वाक्य-रचना, व्युत्पत्ति आदि की दृष्टि से बडा साम्य है। इसी गवेषणा के परिणाम-स्वरूप आज असन्दिग्ध रूप से यह माना जाता है कि पश्चिम की लैटिन, ग्रीक, जर्मन, अंग्रेजी आदि भाषाओ
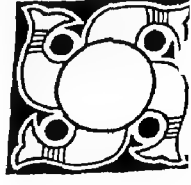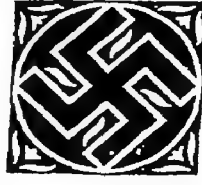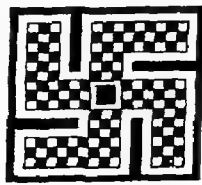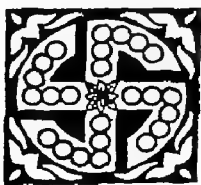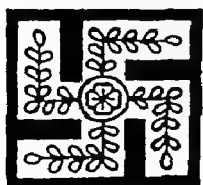
तथा मध्य पूव की पुरानी फारसी, पूव की सस्कृत, प्राकृत, अपभ्र श, हिन्दी, पजाबी, बगला, उडिया, मैथिली, असमिया, गुजराती तथा मराठी आदि भाषाओ का एक ही परिवार है, जिसे भारोपीय कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि कभी इनका केन्द्रभूत स्रोत एक या समान रहा था, जिसका इन भाषाओ के रूप मे आज हम वैविध्य देख रहे है। तभी तो समुद्रो पार के व्यवधान के बावजूद हम उनके भीतर एक आश्चर्य कर ममरसवाहिता पाते हैं।

इस सन्दभ मे हम केवल एक उदाहरण उपस्थित कर रहे हैं—सस्कृत का पितृ शब्द ग्रीक मे पेटर (Pater) लैटिन मे भी पेटर (Pater), फारसी मे पेटर व अग्रेजी में फादर (Father) दूसरी ओर इसी देश मे प्रसूत, प्रसृत एव प्रचलित कन्नड, तमिल, तेलगू मलयालम्, तुलु, कुडागू, टोडा, कोड, कुरूख, कोलामी, ब्राहुई, आदि भाषाओ से सस्कृत आदि का वैसा साम्य नही है क्योकि ये (तमिल आदि) द्रविड-परिवार की भाषाएँ हैं। यही बात इस देश के कतिपय भीतरी व सीमावर्ती भागो मे प्रचलित मु डा भाषाओ के सम्बन्ध मे है, जो आग्नेय परिवार की हैं।

भारोपीय परिवार की एक शाखा आर्य-परिवार है, जिसका क्षेत्र मध्य एशिया से लेकर ईरान, अफगानिस्तान, पाकिस्तान, समग्र उत्तरी भारत तथा बगलादेश तक फैला हुआ है। प्राकृत इसी शाखा—आर्य-परिवार की भाषा है।

प्राकृत का उद्गम

साधारणतया यह मान्यता रही है कि प्राकृत की उत्पत्ति सस्कृत से है। सुप्रसिद्ध विद्वान् आचार्य हेमचन्द्र ने अपने द्वारा रचित व्याकरण सिद्धहैम शब्दानुशासन के अष्टम अध्याय के प्रारम्भ मे, जो उनके व्याकरण का प्राकृत सम्बन्धी अश है, प्राकृत की प्रकृतियाँ उद्भव के विषय मे लिखा है—"प्रकृति सस्कृत, तत्र भव तत आगत वा प्राकृतम्" अर्थात् प्राकृत की प्रकृति—उद्गम स्रोत सस्कृत है। प्राकृत-चन्द्रिका, षड्भाषा-चन्द्रिका, प्राकृत-सजीवनी आदि मे इसी सरणि का अनुसरण किया गया है। इसी प्रकार दशरूपक (सिंहदेवगणिरचित) तथा वाग्भटालकार की टीका मे भी विवेचन हुआ है।

प्राचीन विद्वानो मे सुप्रसिद्ध अलकार शास्त्री श्री नमि साधु आदि कुछ ऐसे विद्वान् हैं, जो उपर्युक्त मन्तव्य से सहमत नहीं हैं। वे प्राकृत को किसी भाषा से उद्गत न मानकर उसे अन्य भाषाओ का उद्गम-स्रोत मानते हैं।

श्री नमि साधु ने प्राकृत शब्द की बडी सुन्दर व्याख्या की है। वे। लिखते हैं—"प्राक् कृतम्-पूर्व कृतम् = प्राकृतम्, बालमहिलादि सुबोधम्, सकल भाषा निबन्धनभूत वचन मुच्यते।" अर्थात् इस भाषा का नाम प्राकृत इसलिए है कि पहले से—बहुत पहले से—अति प्राचीन काल से यह चली आ रही है। इसे बालक, स्त्रियाँ आदि सभी सरलता से समझ सकते हैं। यह सब भाषाओं का मूल या आधार है।

वे आगे लिखते हैं—"मेघ निर्मुक्त जलमिवैक-स्वरूप तदेव विभेदानाप्नोति।" अर्थात् बादल से छूटा हुआ जल वस्तुत एक स्वरूप होता हुआ भी जहाँ-जहाँ गिरता है, तदनुसार अनेक रूपो मे परिवर्तित हो जाता है। यही बात इस भाषा के लिए है।

नमि साधु आगे इसी सदर्भ मे सस्कृत की भी चर्चा करते हैं। वे लिखते हैं—"पाणिन्यादि-व्याकरणोदित शब्द लक्षणेन सस्करणात् सस्कृतमुच्यते।" अर्थात् पाणिनि आदि द्वारा रचित व्याकरणो के नियमो से परिमार्जित या सस्कार युक्त होकर वह (प्राकृत) सस्कृत कहलाती है।

उपर्युक्त वर्णन के अनुसार प्राचीन विद्वानों के दो प्रकार के अभिमत हैं।

हेमचन्द्र का निरूपण समीक्षा

आचार्य हेमचन्द्र ने प्राकृत की प्रकृति या उद्भव—उत्स के सम्बन्ध में जो लिखा, उसके पीछे उनका सूक्ष्म अभिप्राय क्या था, इस पर विचार करना होगा। हेमचन्द्र जैन परम्परा के आचार्य थे। जैन आगमो मे आस्थावान् थे। वे ऐसा कैसे कह सकते थे कि प्राकृत सस्कृत से उद्भूत है। क्योकि जैन शास्त्र ऐसा नही मानते। उन (हेमचन्द्र) द्वारा प्रणीत काव्यानुशासन व (उस पर) स्वोपज्ञ टीका का जो उद्धरण पीछे टिप्पणी मे दिया गया है, उससे जैन परम्परा का अभिमत स्पष्ट है।
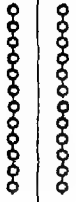
गहराई से सोचने पर ऐसा प्रतीत होता है कि हेमचन्द्र के कहने का आशय, जैसा वाह्य रूप मे दृष्टिगत होता है, नही था। उनके समय मे प्राकृत लोक-भाषा नही रही थी। क्योकि प्राकृत-उद्भूत अपभ्र श से उत्पन्न गुजराती, मराठी, पजावी, ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी, मैथिली, मगही, बगला, उडिया, असमिया आदि आधुनिक भाषाएँ लोक (जन-जन द्वारा प्रयुज्य) भाषाओ के रूप मे अस्तित्व मे आ चुकी थी। प्राकृत का स्वतन्त्र पठन-पाठन अवरुद्ध हो गया था। उसके अध्ययन का माध्यम सस्कृत बन चुकी थी। अधिकाशत पाठक प्राकृत को समझने के लिए सस्कृत-छाया का अवलम्बन लेने लगे थे। ऐसा कैसे और क्यो हुआ ? यह एक स्वतन्त्र विचार का विषय है, जिस पर यहाँ कुछ कहने का अवकाश नही है। सस्कृत के आधार पर प्राकृत के समझे जाने व पढ़े जाने के क्रम के प्रचलन के कारण ही हेमचन्द्र ने सस्कृत को प्राकृत की प्रकृति बतलाया हो, ऐसा बहुत सभव लगता है। अर्थात् वे सस्कृत के प्रातिपदिक तथा क्रिया रूपो के आधार पर प्राकृत-रूप समझाना चाहते थे।

ऐसा लगता है कि हेमचन्द्र के उत्तरवर्ती प्राकृत-वैयाकरण हेमचन्द्र के इस सूक्ष्म भाव को यथावत् रूप मे आत्मसात् नही कर पाये। केवल उसके बाह्य कलेवर को देख वे प्राकृत की सस्कृत-मूलकता का आख्यान करते गये। यह एक ढर्रा जैसा हो गया।

सस्कृत अर्थात् सस्कार युक्त

सस्कृत का अर्थ ही सस्कार की हुई, शुद्ध की हुई या परिमार्जित की हुई भाषा है। सस्कार, शोधन या मार्जन उसी भाषा का होता है, जो लोक-भाषा हो, व्याकरण आदि की दृष्टि से जो अपरिनिष्ठित हो। ये बातें अपने लोक-भाषा-काल मे प्राकृत मे थीं, सस्कृत मे नहीं। सस्कृत जैसी परिनिष्ठित, सुव्यवस्थित तथा व्याकरण निबद्ध भाषा से, प्राकृत जैसी जन-भाषा, जो कभी एक बोली (Dialect) के रूप मे थी, कैसे उद्भूत हो सकती है ? भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से अन्वेषण करने पर यह तथ्य स्पष्ट होता है कि सस्कृत तो स्वय किसी लोक-भाषा का (जिसे हम प्राकृत का ही कोई रूप मानें तो असगत नहीं होगा) परिष्कृत रूप है।

भारतीय आर्य भाषाएँ भाषा वैज्ञानिक विभाजन

आर्य शब्द का आशय, व्यापकता, आर्य शब्द से सज्ञित जातीय लोगो का मूल निवास-स्थान, बाहर से आगमन या अनागमन—आदि विषयो पर भारतीय एव पाश्चात्य विद्वानो ने अनेक दृष्टियो से विचार किया है, विविध प्रकार की स्थापनाएँ की हैं। फिर भी यह विषय अब तक विवादो से सर्वथा मुक्त होकर 'इत्थभूत' स्थिति तक नहीं पहुच पाया है। यहाँ इस पर चर्चा करना विषयान्तर होगा। स्वीकृत मान्यता के उपस्थापन पूवक हम यहाँ आय भाषाओ के सन्दर्भ मे कुछ चर्चा करेंगे।

भाषा शास्त्रियो ने भारतीय आर्य भाषाओ का कालिक दृष्टि से निम्नांकित रूप मे विभाजन किया है—

(१) प्राचीन भारतीय आर्य (Early Indo Aryan) भाषा-काल।
(२) मध्यकालीन भारतीय आर्य (Middle Indo Aryan) भाषा-काल।
(३) आधुनिक भारतीय आर्य (Later Indo Aryan) भाषा-काल।

विद्वानो ने प्राचीन आर्य भाषाओ का समय १५०० ई० पूर्व से ५०० ई० पूर्व तक, मध्यकालीन आर्य भाषाओं का समय ५०० ई० पूर्व से १००० ई० तक तथा आधुनिक आर्य भाषाओं का समय १००० ई० से २० वीं० शती तक स्वीकार किया है।

इस विभाजन के प्रथम विभाग मे भाषा वैज्ञानिकों ने वैदिक सस्कृत और लौकिक सस्कृत को लिया है। वैदिक सस्कृत को छन्दस् भी कहा जाता है। वेदो मे तथा तत्सम्बद्ध ब्राह्मण, आरण्यक व उपनिषद् आदि ग्रन्थों मे उसका प्रयोग हुआ है। लौकिक सस्कृत का लिखित रूप हमे वाल्मीकि रामायण और महाभारत से प्राप्त होता है।

द्वितीय विभाग मे शिलालेखी प्राकृत, पालि, मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी, पैशाची, महाराष्ट्री आदि प्राकृतें तथा अपभ्रश को ग्रहण किया गया है।

तृतीय विभाग मे अपभ्रश-निःसृत आधुनिक भाषाएँ स्वीकार की गई हैं।

हमे विशेषरूप से द्वितीय विभाग—मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा-काल के सन्दर्भ मे विचार करना है, जिसे प्राकृत-काल भी कहा जाता है। इसे भी तीन भागो मे बाँटा गया है—

(१) प्रथम प्राकृत-काल (Early Middle Indo Aryan)
(२) द्वितीय प्राकृत-काल (Middle Middle Indo Aryan)
(३) तृतीय प्राकृत-काल (Later Middle Indo Aryan)

प्रथम प्राकृत-काल मे पालि और शिलालेखी प्राकृतो, द्वितीय प्राकृत-काल म मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी, पैशाची आदि साहित्यिक (जो आगे चलकर लोक-भाषा से साहित्यिक भाषा के रूप मे परिवर्तित हो गई थी) प्राकृतो तथा तृतीय प्राकृत-काल मे अपभ्रंशो का स्वीकार किया गया है।

आलोचना

उपर्युक्त काल विभाजन मे प्राकृतो को वैदिक व लौकिक सस्कृत के पश्चात् रखा है। जैसाकि पहले संकेतित हुआ है, प्राचीनकाल से ही एक मान्यता रही है कि प्राकृत सस्कृत से निकली है। अनेक विद्वानो का अब भी ऐसा ही अभिमत है। आर्य-भाषाओ का यह जो काल-विभाजन हुआ है, इस पर इस मान्यता की छाप है। यह आलोच्य है।

वैदिक सस्कृत का काल लौकिक सस्कृत से पहले का है। वैदिक सस्कृत एक व्याकरणनिष्ठ साहित्यिक भाषा है। यद्यपि इसके व्याकरण सम्बन्धी बन्धन लौकिक सस्कृत की तुलना मे अपेक्षाकृत कम हैं, फिर भी वह उनसे मुक्त नही है। वैदिक सस्कृत कभी जन-साधारण की बोलचाल की भाषा रही हो, यह सम्भव नही जान पडता। तब सहज ही यह अनुमान होता है कि वैदिक सस्कृत के समय मे और उससे भी पूर्व इस देश मे ऐसी लोक-भाषाएँ या बोलिया अवश्य रही हैं, जिन द्वारा जनता का व्यवहार चलता था। उन बोलियो को हम प्राचीन स्तरीय प्राकृतें कह सकते है। इनका समय अनुमानत २००० ई० पूर्व से ७०० ई० पूर्व तक का माना जा सकता है। सर जार्ज ग्रियर्सन ने भी इस ओर कुछ इंगित किया है। उन्होंने उन लोक-भाषाओ के लिए Primary Prakritas (प्राथमिक प्राकृतें) शब्द का व्यवहार किया है।

इससे यह अनुमेय है कि ये जो लोक-भाषाएँ (बोलियाँ) या प्रथम स्तरीय प्राकृतें वैदिक सस्कृत या छन्दस् से पूर्व से ही चली आ रही थीं, उन्ही मे से, फिर जब अपेक्षित हुआ, किसी एक जन-भाषा बोली या प्राकृत के आधार पर वैदिक सस्कृत का गठन हुआ हो, जो वस्तुत एक साहित्यिक भाषा है। बोली और भाषा मे मुख्यतया यही अन्तर है, बोली का साहित्यिक दृष्टि से कोई निश्चित रूप नही होता क्योकि वह साधारणत बोलचाल के ही प्रयोग मे आती है। जब लेखन में, साहित्य-सृजन मे कोई बोली प्रयुक्त होने लगती है तो उसका कलेवर बदल जाता है। उसमे परिनिष्ठितता आ जाती है ताकि वह तत्सम्बद्ध विभिन्न स्थानो मे एकरूपता लिए रह सके। वैदिक सस्कृत इसी प्रकार की भाषा है। यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो प्राकृत की निकटता लौकिक सस्कृत की अपेक्षा वैदिक सस्कृत के साथ अधिक है। इस युग के महान् प्राकृत वैयाकरण, जर्मन विद्वान् डॉ० आर० पिशल (R. Pischel) के वैदिक सस्कृत तथा प्राकृत के कतिपय ऐसे सदृश रूप अपने व्याकरण मे तुलनात्मक दृष्टि से उद्धृत किये हैं, जिनसे उपर्युक्त तथ्य पुष्ट होता है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि साधारणत भाषा वैज्ञानिक जिन प्राकृतो को मध्यकालीन आर्य भाषा-काल मे रखते हैं, वे द्वितीय स्तर की प्राकृतें हैं। प्रथम स्तर की प्राकृतें, जिनकी ऊपर चर्चा की है, का कोई भी रूप आज उपलब्ध नहीं है। यही कारण है कि अनेक भाषा-शास्त्रियो का उनकी ओर विशेष ध्यान नही गया। पर, यह, अविस्मरणीय है कि वैदिक सस्कृत का अस्तित्व ही इस तथ्य का सर्वाधिक साधक प्रमाण है।

अब हम सक्षेप मे इस मध्यकालीन आर्य भाषा-काल की या द्वितीय स्तर की प्राकृतो पर सक्षेप मे विचार करेंगे।[४]

पालि

पालि इस (मध्यकालीन आर्य भाषा) काल की मुख्य भाषा है। इसका समय ई० पूर्व ५वीं शती से प्रथम
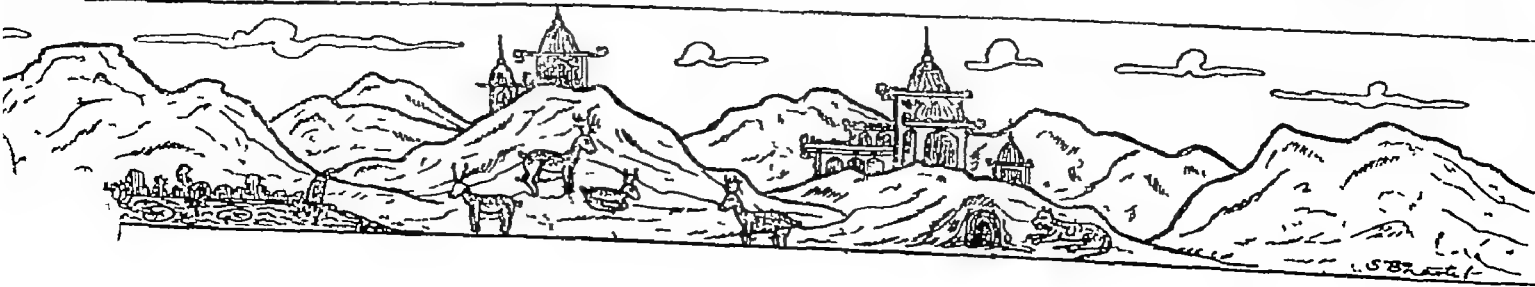
या द्वितीय ईसवी शती माना जाता है। वस्तुत यह मागधी प्राकृत है, जिसमे भगवान बुद्ध ने उपदेश किया। पालि इसका पश्चाद्वर्ती नाम है, जिसके सम्बन्ध में विद्वानो ने अनेक प्रकार की कल्पनाएँ की हैं। कइयो ने इसे पक्ति (पक्ति > पन्ति > पत्ति > पट्टि > पल्लि > पालि), कइयो ने पल्लि (पल्लि > पालि), कइयो ने प्राकृत (प्राकृत > पाकट > पाऊड > पाऊल > पालि), कइयो ने प्रालेय (प्रालेय > पालेय > पालि) कइयो ने पाठ (पालि मे ठ का ल हो जाता है अत पाठ > पाल > पाल > पालि), कइयो ने प्रकट (प्रकट > पाऊड > पाऊल > पालि), कइयो ने पाटलि (पाटलि > पाअलि > पालि) तथा कइयो ने परियाय (परियाय) > पलियाय > पालियाय > पालि) को इसका मूल माना है। इस मत के पुरस्कर्ता पालि के सुप्रसिद्ध विद्वान् बौद्ध भिक्षु श्री जगदीश काश्यप हैं, जिसे (इस मत को) सर्वाधिक मान्यता प्राप्त है।

भगवान बुद्ध के वचन (उपदेश) त्रिपिटक के रूप मे पालि मे सुरक्षित हैं।

शिलालेखी प्राकृत

मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा-काल के प्रथम युग मे पालि के साथ शिलालेखी प्राकृतें भी ली गई हैं। ये अशोकीय प्राकृतें भी कही जाती हैं। सम्राट् अशोक के अनेक आदेश-लेख लाटो, चट्टानो आदि पर उत्कीर्ण हैं। इसी कारण उनमे प्रयुक्त प्राकृतो को शिलालेखी प्राकृतें कहा जाता है। अशोक की भावना थी कि उसके विभिन्न प्रदेशवासी प्रजाजन उसके विचारो से अवगत हो, लाभान्वित हो अत एक ही लेख भिन्न भिन्न प्रदेशो मे प्रचलित भिन्न-भिन्न प्राकृतो के प्रभाव के कारण कुछ-कुछ भिन्नता लिये हुए है।

प्राकृतें

मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा-काल का दूसरा भाग उन प्राकृतो का है, जिनका समय ईसवी सन् के प्रारम्भ से ५०० ई० तक माना जाता है।

कुछ विद्वानो ने इसका थोडे भिन्न प्रकार से भी स्पष्टीकरण किया है। उनके अनुसार—पालि और शिलालेखी प्राकृत का समय छठी शती ईसवी पूर्व से दूसरी शती ईसवी पूर्व तक तथा साहित्यिक प्राकृतो का समय दूसरी ईसवी शती से छठी शती तक का है। दो सौ ईसवी पूर्व से दो सौ ईसवी सन् तक का—चार शताब्दियों का समय बीच मे आता है। इसे प्राकृतो के सक्रान्ति-काल के नाम से अभिहित किया गया है। इस सक्रान्ति-काल की प्राकृत सम्बन्धी सामग्री तीन रूपो मे प्राप्त हैं—(१) अश्वघोष के नाटको की प्राकृत, (२) धम्मपद की प्राकृत तथा (३) निय प्राकृत।

सक्रान्ति-काल के रूप मे जो यह स्थापना की जाती है, अध्ययन की दृष्टि से यद्यपि कुछ उपयोगी हो सकती है पर, वास्तव मे यह कोई पृथक् काल सिद्ध नहीं होता। यह मध्यकालीन आर्य भाषा-काल के द्वितीय युग मे ही आ जाता है।

परिचय की दृष्टि से उपर्युक्त प्राकृतो पर सक्षेप मे कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है

अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत

अश्वघोष प्रथम शती के एक विद्वान् बौद्ध भिक्षु थे। सस्कृत-काव्य-रचनाकारो मे उनका प्राचीनता की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। बुद्ध चरितम्, सौन्दरनन्दम् सज्ञक काव्यो के अतिरिक्त उन्होंने सस्कृत में दो नाटक भी लिखे। इन नाटको की खण्डित प्रतियाँ मध्य एशिया में प्राप्त हुई हैं। सस्कृत-नाटकों में आभिजात्य वर्गीय—उच्च कुलीन पात्रों की भाषा जहाँ सस्कृत होती है, वहाँ जन-साधारण—लोकजनीन पात्रो की भाषा प्राकृतें होती हैं। अश्वघोष के इन नाटकों मे प्रयुक्त प्राकृतें पुरानी मागधी, पुरानी शौरसेनी तथा पुरानी अर्द्धमागधी हैं। सभवत अश्वघोष वे प्रथम नाटककार हैं, जिन्होंने नाटको मे सामान्य पात्रों के लिए प्राकृतो का प्रयोग आरम्भ किया।

अश्वघोष के इन नाटकों का जर्मन विद्वान् ल्यूडर्स ने सपादन किया है।

धम्मपद की प्राकृत

मध्य एशिया स्थित खोतान नामक स्थान मे खरोष्ठी लिपि में सन् १८९२ में कुछ लेख प्राप्त हुए। प्राप्तकर्ता
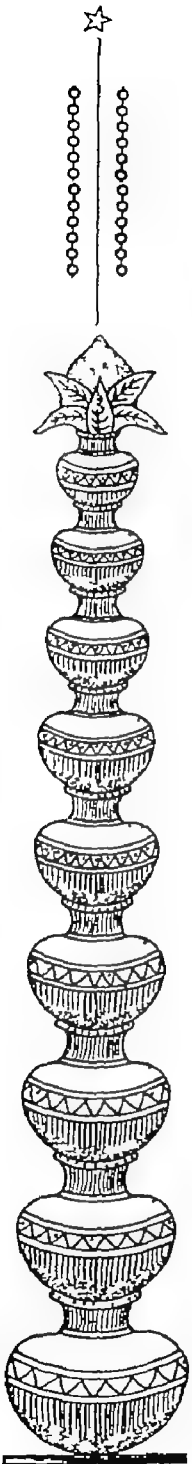
फ्रान्स के पर्यटक दुत्र् इल द रा थे। कतिपय भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानो ने उन लेखो पर कार्य किया। अन्तत यह प्रमाणित हुआ कि वह प्राकृत मे लिखा हुआ धम्मपद है। भारत के मध्य-भाग तथा पूर्व-भाग मे तब प्राय ब्राह्मी लिपि का प्रचलन था और उत्तर-पश्चिमी भारत तथा मध्य पूर्व एशिया के कुछ भागो मे खरोष्ठी लिपि प्रचलित थी। खरोष्ठी लिपि मे लिखा हुआ होने से यह प्राकृत धम्मपद खरोष्ठी धम्मपद भी कहा जाता है। इसका समय ईसा की दूसरी शती माना जाता है। इसमे जो प्राकृत प्रयुक्त है, भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश से सम्बद्ध प्रतीत होती है।

निय प्राकृत

निय एक प्रदेश का नाम है, जो चीनी तुर्किस्तान के अन्तर्गत है। वहाँ ई० सन् १६००-१६१४ के मध्य खरोष्ठी लिपि मे कुछ लेख मिले। प्राप्तकर्ता ऑरेल स्टेन नामक विद्वान् थे। अनेक विद्वानो ने इन लेखो का बारीकी से अध्ययन किया। अन्तत सुप्रसिद्ध भाषा-शास्त्री श्री टी० बरो ने इनका भाषात्मक दृष्टि से गम्भीर परिशीलन करने के पश्चात् इन्हें प्राकृत-लेख बताया। इनमे प्रयुक्त प्राकृत भी प्राय भारत के पश्चिमोत्तर-प्रदेश से सम्बद्ध जान पड़ती है। लेख प्राप्ति के स्थान के आधार पर इसकी प्रसिद्धि 'निय प्राकृत' के नाम से हुई। इसका समय ई० तीसरी शती माना जाता है।

इस क्रम मे अब वे प्राकृतें आती हैं, जिनमे अर्द्ध मागधी शौरसेनी आदि हैं। हम अर्द्धमागधी पर विशेष रूप से विचार करेंगे। श्वेताम्बर, जैन-आगम, जो अर्द्धमागधी मे सग्रथित हैं मध्यकालीन आर्य-भाषा-काल की एक अमूल्य साहित्य-निधि है।

अर्द्ध मागधी

अर्द्ध मागधी शब्द की व्याख्या दो प्रकार से की जाती है। शूरसेन-प्रदेश (मथुरा-व्रजभूमि से लेकर पश्चिमी उत्तर-प्रदेश का काफी भाग) में शौरसेनी प्राकृत तथा मगध-प्रदेश मे मागधी प्राकृत का प्रचलन था। पूर्व भारत के उस भाग की भाषा, जो मागधी और शौरसेनी भाषी क्षेत्रो के बीच की थी आद्ध मागधी कहलाई। एक व्याख्या तो यह है।

दूसरी व्याख्या के अनुसार वह भाषा जिसमे मागधी के आधे लक्षण मिलते थे, अर्द्धमागधी के नाम से अभिहित हुई। मागधी के मुख्य तीन लक्षण हैं—

१ मागधी मे तालव्य श मूर्धन्य ष और दन्त्य स—तीनो के स्थान पर या सर्वत्र तालव्य श का प्रयोग होता है।
२ र के स्थान पर ल होता है।
३ अकारान्त शब्दो की प्रथमा विभक्ति के एक वचन का प्रत्यय ए होता है।

मागधी के ये तीन लक्षण अर्द्धमागधी मे पूरे घटित नहीं होते, आधे घटित होते हैं। जैसे—

१ अर्द्ध मागधी मे तालव्य श का प्रयोग नही होता।
२ र के स्थान पर ल का कहीं-कही प्रयोग होता है।
३ अकारान्त शब्दो की प्रथमा विभक्ति के एकवचन में प्राय ए प्रत्यय प्रयुक्त होता है।

यों 'ए' के प्रयोग की प्राय पूरी तथा ल के प्रयोग की आधी व्यापकता अर्द्धमागधी मे है। अर्थात् मागधी के तीन लक्षणो का लगभग अर्द्ध अश इस पर लागू होता है इसलिए इसकी सज्ञा अर्द्धमागधी हुई।

सामान्यत अर्द्धमागधी की निम्नाकित पहचान है—

१ इसमे तालव्य श, मूर्धन्य ष तथा दन्त्य स—तीनों के लिए केवल दन्त्य स का ही प्रयोग होता है। शौरसेनी तथा महाराष्ट्री में भी ऐसा ही है।

२ दन्त्य वर्ण अर्थात् तवर्ग आदि मूर्धन्य वर्ण टवर्ग आदि के रूप मे प्राप्त होते हैं।

३ दूसरी प्राकृतों में प्राय स्वरों के मध्यवर्ती स्पर्श (कवर्ग से पवर्ग तक के) वर्ण लुप्त हो जाते हैं—वहाँ अर्द्धमागधी में प्राय 'य' श्रुति प्राप्त होती है।

४ सप्तमी विभक्ति—अधिकरण कारक में इसमें ए और म्मि के सिवाय अंसि प्रत्यय का भी प्रयोग पाया जाता है।
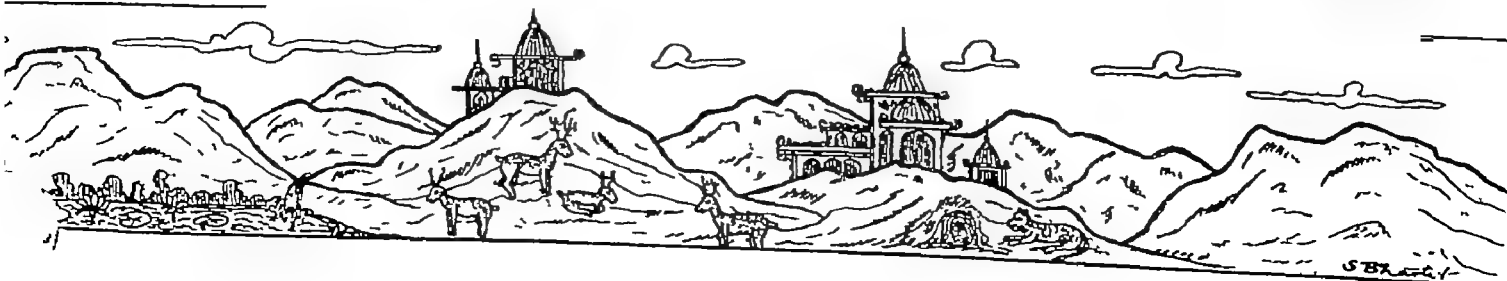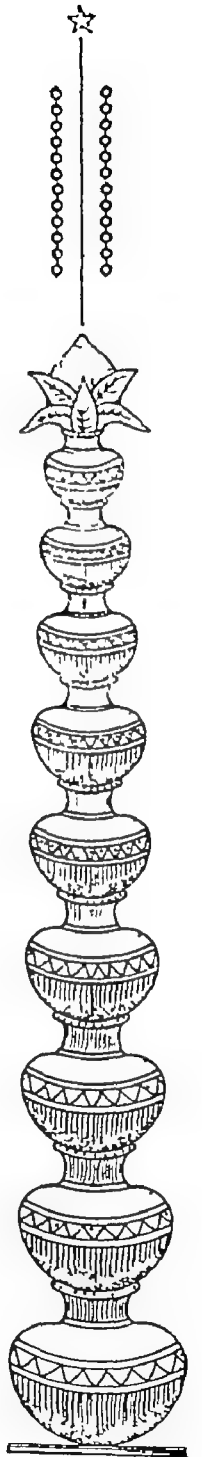
यह सामान्यत प्राकृतो का तथा तदन्तगत अर्द्धमागधी का भाषा-वैज्ञानिक निरूपण है। यही अर्द्ध मागधी श्वेताम्बर आगमो की भाषा है। पर, आगमो का जो रूप हमे प्राप्त है, उसका सकलन शताब्दियो पश्चात् का है। उस सम्बन्ध मे यथा स्थान चर्चा करेंगे।

एक प्रश्न एक समाधान

महावीर तथा बुद्ध समसामयिक थे, दोनो का प्राय समान क्षेत्र मे विहरण हुआ फिर दोनो की भाषा मे अन्तर क्यो है ? यह एक प्रश्न है। बुद्ध मागधी मे बोले और महावीर अर्द्धमागधी मे। विस्तार मे न जाकर बहुत सक्षेप मे कुछ तथ्यो की यहाँ चर्चा कर रहे हैं। बुद्ध कोशल के राजकुमार थे। उनका कार्य-क्षेत्र मुख्यत मगध और विदेह था। कौशल में प्रचलित जन-भाषा मगध और विदेह मे साधारण लोगो द्वारा सरलता व सहजता से समझी जा सके, यह कम सभव रहा होगा। अत बुद्ध को मागधी, जो मगध साम्राज्य की केन्द्रीय भाषा होने से उस समय बहुसम्मत भाषा थी, मगध और विदेह मे तो वह समझी ही जाती थी, कौशल आदि में भी उसे अधिक न सही, साधारणतया लोग सभवत समझ सकते रहे हो, अपनाने की आवश्यकता पडी हो। महावीर के लिए यह बात नही थी। वे विदेह के राजकुमार थे। जो भाषा वहाँ प्रचलित थी, वह मगध, विदेह आदि मे समझी ही जाती थी अत उन्हें यह अपेक्षित नहीं लगा हो कि वे मगध की केन्द्रीय भाषा को स्वीकार करें।

जैन आगमो का परिगठन

हमारे देश मे प्राचीन काल से शास्त्रो को कण्ठस्थ रखने की परम्परा रही है। वेदो को जो श्रुति कहा जाता है, वह इसी भाव का द्योतक है। अर्थात् उन्हें गुरु-मुख से सुनकर याद रखा जाता था। बौद्ध पिटको और जैन आगमो की भी यही स्थिति है। आगे चलकर बौद्ध तथा जैन विद्वानो को यह अपेक्षित प्रतीत हुआ कि शास्त्रो का क्रम व रूप आदि सुव्यवस्थित किये जाएँ ताकि उनकी परम्पराएं अक्षुण्ण रहे। बौद्ध पिटको की सगीतियाँ और जैन आगमो की वाचनाएँ इसका प्रतिफल है। बौद्ध पिटको की मुख्यत क्रमश तीन सगीतियाँ हुई, यद्यपि समय का अन्तर है पर, जैन आगमो की भी तीन वाचनाएँ हुई।

प्रथम वाचना

जैन आगमो की पहली वाचना अन्तिम श्रुत-केवली आचार्य भद्रबाहु के शिष्य आचाय स्थूलभद्र के समय मे पाटलिपुत्र मे हुई। तत्कालीन द्वादशवर्षीय दुष्काल के कारण अनेक श्रुतधर साधु दिवगत हो गये थे। जो थोडे-बहुत बचे हुए थे, वे इधर-उधर बिखरे हुए थे। यह भय था कि श्रुत-परम्परा कहीं विच्छिन्न न हो जाए अत दुर्भिक्ष की समाप्ति के पश्चात् इसकी आयोजना की गई। इसमे दृष्टिवाद के अतिरिक्त ग्यारह अगो का सकलन हुआ। दृष्टिवाद के सकलन का प्रयत्न तो हुआ पर उसमे पूर्ण सफलता नही मिल सकी।

इस द्वादशवर्षीय दुष्काल का समय वीर निर्वाण के १६० वर्ष पश्चात अर्थात् लगभग ई० पूर्व ३६७ वष माना जाता है। तब उत्तर भारत मे चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्य था। समय का तारतम्य बिठाने के लिए यह भी ज्ञातव्य है कि आचार्य स्थूलभद्र का दिवगमन वीर निर्वाण के २१९ वष पश्चात माना जाता है।

द्वितीय वाचना

दूसरी वाचना का समय वीर निर्वाण के ८२७ वर्ष या ८४० वष पश्चात् तदनुसार ईसवी सन् ३०० या ३१३ माना जाता है। यह वाचना आर्य स्कन्दिल के नेतृत्व मे मथुरा मे हुई। इस वाचना के साथ भी दुर्भिक्ष का सम्बन्ध जुडा है। भयानक अकाल के कारण भिक्षा मिलना दुर्लभ हो गया। विज्ञ साधु बहुत कम रह गये थे। आगम छिन्न-भिन्न होने लगे। इस दुष्काल के पश्चात् आयोजित सम्मेलन मे उपस्थित साधुओ ने अपनी स्मृति के अनुसार आगम सकलित किये। मथुरा मे होने के कारण इसे माथुरी वाचना कहा जाता है।

लगभग इसी समय सौराष्ट्र के वलभी नामक नगर मे एक और साधु-सम्मेलन हुआ। आगम सकलित हुए।

इसका नेतृत्व श्री नागार्जुन सूरि ने किया। अत इसे नागार्जुनी वाचना कहा जाता है। वलमी मे होने से प्रथम वलभी-वाचना भी कहा जाता है।

माथुरी और नागार्जुनी वाचना मे आगम-सूत्रो का पृथक्-पृथक् सकलन हुआ। परस्पर कही-कही पाठ-भेद भी रह गया। सयोग ऐसा बना कि वाचना के पश्चात् आर्य स्कन्दिल और नागार्जुन सूरि का परस्पर मिलन नही हो सका। इसलिए वाचना-भेद जैसा था, बना रह गया।

तृतीय या अन्तिम वाचना

भगवान महावीर के निर्वाण के ९८० वर्ष बाद या कइयो के मत मे ९९३ वर्ष के अनन्तर तदनुसार ईसवी सन् ४५३ या ४६६ मे वलमी मे एक साधु-सम्मेलन का आयोजन हुआ। इसके अधिनेता देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण थे। आगम व्यवस्थित रूप से पुन सकलित कर लिपिवद्ध किये जाएँ, यह सम्मेलन का उद्देश्य था। क्योकि लोगो की स्मृति पहले जितनी नहीं रह गई थी। इसलिए भय होता जा रहा था कि यदि स्मृति के सहारे रहा जायेगा तो शायद हम परम्परा-प्राप्त श्रुत खो बैठेंगे।

इसे तृतीय या अन्तिम वाचना और वलभी की द्वितीय वाचना कहा जाता है। आगमो का सकलन हुआ। वे लिपिवद्ध किये गये। वही सकलन श्वेताम्बर जैन आगमो के रूप मे आज प्राप्त है।

दिगम्बर-मान्यता

दिगम्बर जैन श्रुतागो के नाम आदि तो प्राय श्वेताम्वरो के समान ही मानते हैं। पर उनके अनुसार आगम-श्रुत का सर्वथा विच्छेद हो गया। दिगम्बरो द्वारा षट्खण्डागम-साहित्य आगम-श्रुत की तरह ही समाहत है। षट्खण्डागम की रचना आचार्य भूतवलि और पुष्पदन्त द्वारा की गई, जिनका समय ईसा की प्रथम-द्वितीय शती के आस-पास माना जाता है।

षट्खण्डागम की भाषा शौरसैनी प्राकृत है, इसे जैन शौरसेनी कहा जाता है क्योकि इस पर अर्द्ध मागधी की छाप है। दिगम्बर आचार्यों द्वारा और भी जो धार्मिक साहित्य रचा गया, वह (जैसे आचार्य कुन्द-कुन्द के समयसार, प्रवचन सार, पञ्चास्तिकाय आदि ग्रन्थ तथा इसी तरह अन्यान्य आचार्यों की कृतियाँ प्राय इसी (शौरसेनी प्राकृत) मे है। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर भारत मे शूरसेन-प्रदेश दिगम्बर-जैनो का मुख्य केन्द्र रहा था अत वही की प्राकृत को दिगम्बर-आचार्यों व लेखको ने धार्मिक भाषा के रूप में स्वीकार कर लिया। इसी का यह परिणाम था कि द्रविड-भाषा-परिवार के क्षेत्र—दक्षिण देश के दिगम्बर-आचार्यों ने भी धार्मिक ग्रन्थो की रचना शौरसेनी मे ही की, जबकि उनकी मातृभाषाए तमिल, कन्नड या तेलगू आदि थी। शौरसेनी के साथ कुछ धार्मिक पावित्र्य का भाव जुड गया था। महान् लेखक आचार्य कुन्द-कुन्द, जिन्हें दिगम्बर-परम्परा मे श्रद्धास्पदता की कोटि मे आर्य जम्बू के बाद सर्वातिशायी गिना जाता[५] है, वे (तमिल देशोत्पन्न) दाक्षिणात्य ही थे।

आगम रूप भाषा प्रामाणिकता

प्रश्न उठना स्वाभाविक है, २५०० वर्ष पूर्व जो श्रुत अस्तित्व में आया, अन्तत लगभग एक सहस्र वर्ष पश्चात् जिसका सकलन हुआ और लेखन भी, उद्भव और लेखन की मध्यवर्ती अवधि मे आगम-श्रुत मे क्या कुछ भी परिवर्तन नही आया, भगवान महावीर के अनन्तर जैन-धर्म केवल बिहार या उसके आस-पास के क्षेत्रो में ही नही रहा, वह भारत के दूर-दूर के प्रदेशों में फैलता गया, जहाँ प्रचलित भाषाएँ भिन्न थीं। इसके अतिरिक्त अनेक भिन्न-भिन्न प्रदेशों के लोग श्रमण-धर्म में प्रव्रजित हुए, जिनकी मातृभाषाएँ भिन्न-भिन्न थीं, फिर यह कैसे सभव है कि उनके माध्यम से आगे बढ़ता आगमिक वाक्प्रवाह उसी रूप में स्थिर रह सका, जैसा भगवान महावीर के समय मे था। किसी अपेक्षा से बात तो ठीक है, कोई भी भाषा-शास्त्रीय विद्वान् यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि आगमों का आज ठीक अक्षरश वही रूप है, जो उनके उद्भव-काल मे था। पर यह तथ्य भी कम महत्त्वपूर्ण नही है कि शब्द-प्रामाण्य मे सर्वाधिक आस्था और अभिरुचि होने के कारण इस ओर सभी श्रमणो का प्रबल झुकाव रहा कि आगमिक शब्दावली मे जरा भी परिवर्तन न हो।
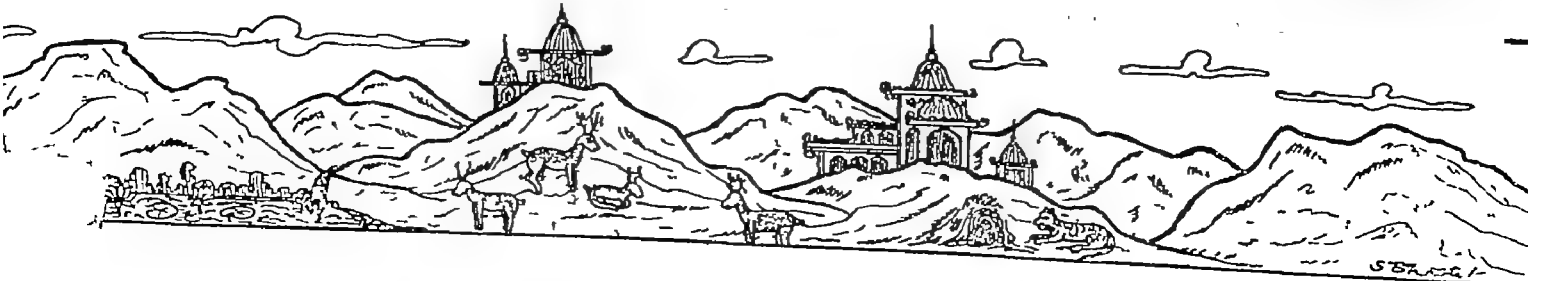
आगमो की शब्द-सरचना का अधिकाशत यह प्रकार है—गणधर गौतम तीर्थंकर महावीर से जिज्ञासा करते हैं, महावीर उत्तर देते हैं। आगे जम्बू सुधर्मा से प्रश्न करते है, सुधर्मा समाधान करते हैं पर, वे अपनी समाधायक शब्दावली का ताता तीर्थङ्कर महावीर की वाणी से जोडते हैं अर्थात् उनके उत्तर की भाषा कुछ इस प्रकार की बनती है कि यही प्रश्न गौतम द्वारा पूछे जाने पर भगवान महावीर ने इसका इस प्रकार उत्तर दिया था। तीर्थंकरभाषिता या आर्षता का सम्बन्ध शब्द-समुच्चय के साथ सदा बना रहे, ऐसा भाव रहने की ध्वनि इससे निकलती है, जिससे उपर्युक्त तथ्य समर्थित होता है।

आगम-पाठ के परम्परा-स्रोत के सम्बन्ध मे एक बात और ज्ञातव्य है। जैन-शास्त्रो के अनुसार आचाय आगमो की अर्थ-वाचना देते हैं अर्थात वे आगम पाठगत अर्थ—आशय का विश्लेपण विवेचन कर उसका भाव अन्तेवासियो को हृदयगम कराते हैं। उपाध्याय सूत्र-वाचना देते हैं, जिसका तात्पय यह है कि सूत्रों के पाठोच्चारण की शुद्धता, स्पष्टता, विशदता, अपरिवर्त्यता या स्थिरता बनाये रखने के हेतु उपाध्याय पारम्परिक तथा शब्दशास्त्रीय दृष्टि से अन्तेवासी श्रमणो को मूल पाठ का सागोपाग शिक्षण देते हैं।

अनुयोग द्वार सूत्र मे 'आगमत द्रव्यावश्यक' के सन्दम मे पाठन या वाचन का विवेचन करते हुए तत्सम्वन्धी विशेषताओ पर प्रकाश डाला गया है, जिससे प्रतीत होता है कि पाठ की एक अक्षुण्ण तथा स्थिर परम्परा जैन-श्रमणो मे रही है। आगम-पाठ को यथावत् बनाये रखने मे इससे बडी सहायता मिली है।

आगम-गाथाओ का उच्चारण कर देना मात्र पाठ या वाचन नही है। अनुयोग द्वार सूत्र मे पद के शिक्षित, स्थित, जित, मित, परिजित, नामसम, घोपसम, अहीनाक्षर, अनत्यक्षर, अव्याविद्धाक्षर, अस्खलित, अमिलित, अव्यत्याम्रे डित, प्रतिपूर्ण, प्रतिपूर्ण घोप तथा कण्ठौष्ठविप्रमुक्त—ये सोलह विशेषण दिये गये है।

इन सबके विश्लेपण का यहाँ अवकाश नहीं है। इस सारे विवेचन का तात्पय यही है कि आगम-वाङमय का शाब्दिक रूप यथावत् रहे, इस ओर प्राचीनकाल से ही अत्यधिक जागरूकता बरती जाती रही है।

इतना सब होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि आगमो के शाब्दिक रूप मे किञ्चित् मात्र भी परिवर्तन नही हुआ। यदि ऐसा होता तो आचाराग व सूत्रकृताग मे प्रयुक्त भाषा के समकक्ष या सदृश भाषा का ही प्रयोग अन्य अग, उपाग आदि ग्रन्थों मे भी होता। पर, वैसा नही है। थोडी ही सही भाषात्मक भिन्नता है, जो कालिक स्तर भेद पर आधृत है। इससे यह सिद्ध होता है कि आगमो में शाब्दिक या भाषात्मक कुछ न कुछ परिवर्तन हुआ ही है पर, उपर्युक्त अत्यधिक जागरूकता के कारण वह अपेक्षाकृत कम हुआ है, जिससे आगम आज भी अपने मूल रूप से इतने दूर नहीं कहे जा सकते, जिससे उनकी मौलिकता व्याहत हो।

महाराष्ट्री मे रचनाएँ

प्राकृत मे प्रवन्ध-काव्य, आख्यायिका, चरित-कथा आदि जो साहित्य रचा गया, वह महाराष्ट्री (प्राकृत) मे है। डॉ० सुकुमार सेन, डॉ० मनमोहन घोप आदि भारतीय भाषा वैज्ञानिक महाराष्ट्री को शौरसेनी का उत्तरवर्ती विकसित रूप मानते हैं।

महाराष्ट्री मे व्यञ्जन-लोप तथा य श्रुति की प्रधानता है, जिससे श्लेप, यमक आदि पद-सौन्दर्य प्रधान, अनेकार्थक रचनाएं बडी सुगमता और उत्कृष्टता से साध्य हैं। महाराष्ट्री का साहित्य बहुत समृद्ध है। महाकवि हाल की गाहासत्तसई (गाथा-सप्तशती), प्रवरसेन का रावणवहो (रावणवध) या सेतुबन्ध, जयवल्लभ का वज्जालग्ग (व्रज्यालग्न), हरिभद्र की समराइच्चकहा (समरादित्य-कथा), उद्योतन की कुवलयमाला आदि इस भाषा की अमर कृतियाँ हैं।

तृतीय प्राकृतकाल या अपभ्रंशकाल

प्राकृतो का विकास अपभ्रंशो के रूप मे हुआ। इनका समय ७०० ईसवी से १००० ईसवी तक माना जाता है। अपभ्रंशों के भी प्राकृतों की तरह अनेक भेद थे। उनमे नागर, उपनागर एव व्राचड मुख्य थे। अवहट्ट, अवहत्थ, अवहस आदि इसके पर्याय हैं। इनका सस्कृत रूप अपभ्रष्ट या अपभ्रंश है। यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है। जब कोई बोली साहित्यिक रूप ले लेती है, तदनुसार व्यवस्थित तथा परिनिष्ठित हो जाती है तब उसका बोलचाल में प्रयोग नहीं

रहता। फलत लोक-व्यवहार हेतु एक नई बोली का उद्‌भव होता है, जिसमे सरलीकृत, सव सुगम शब्दो का प्रयोग होने लगता है। व्याकरण शुद्धता का स्थान वहाँ गौण होता है, भावज्ञापन का मुख्य। इस प्रकार नवोद्‌भूत बोलियो या प्राक्तन बोलियो के जन-जन द्वारा व्याह्रियमाण ये सरल एव सुबोध्य शब्द, जो उक्त साहित्यिक भाषा के व्याकरण मे असिद्ध होते हैं, पण्डितो द्वारा विकृत, अशुद्ध, भ्रष्ट, अपभ्रष्ट या अपभ्रंश युक्त माने जाते है। ऐसे शब्दो के प्रयोग मे दोष तक कहा गया है।

महाभाष्य का एक प्रसग है। व्याकरण के प्रयोजनो के विश्लेषण के सन्दर्भ मे कहा गया है कि वह शब्दों का शुद्ध प्रयोग सिखाती है। उसी प्रसग मे शब्दो के शुद्ध प्रयोग पर विशेष बल देते हुए कहा है—

"शब्दो के प्रयोग मे निपुण व्यक्ति व्यवहार करते समय शब्दो का यथावत् रूपेण शुद्ध प्रयोग करता है। वाक्-योग अर्थात् शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को जानने वाला वह व्यक्ति परलोक मे अनन्त जय, अपरिसीम सौभाग्य प्राप्त करता है। जो व्यवहार मे अपशब्दो का प्रयोग करता है, वह दोष—पाप का भागी होता है। ऐसा क्यो ? इसलिए कि जो शब्दों को जानता है, वह अपशब्दो को भी जानता है। जैसे शब्दो के जानने मे धर्म है, वैसे ही अपशब्दो के जानने मे अधर्म है, अपशब्द बहुत हैं, शब्द थोडे हैं।"[9]

आगे अपशब्दो के उदाहरण देते हुए महाभाष्यकार ने कहा है—

"एक-एक शब्द के बहुत से अपभ्रंश अर्थात् अपभ्रष्ट (बिगडते हुए) रूप हैं। जैसे गौ के लिए गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि अनेक अपभ्रंश है।"

महाभाष्यकार के कथन से स्पष्ट है कि व्याकरण-परिष्कृत भाषा के साथ-साथ जन-साधारण मे प्रसृत लोक-भाषा के अनेक रूप उनके समक्ष थे, जिनमें प्रयुज्यमान शब्दो का शुद्ध भाषा—सस्कृत मे प्रयोग न करने की ओर उनका विशेष रूप से सकेत है।

इस सन्दर्भ मे भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से चिन्तन का प्रकार दूसरा है। वहाँ परिनिष्ठित, व्याकरण की सीमाओ से परिबद्ध भाषा से उद्‌गत जन-भाषा, जिसमे जन-साधारण की सुविधा के हेतु असश्लिष्ट तथा सरलीकृत शब्द प्रयुक्त होते हैं, विकृति नही कही जाती, भाषा-वैज्ञानिको के शब्दो मे वह पिछली भाषा की विकासावस्था है। भाषा-जगत् मे यह विकास-क्रम अनवरत चलता रहता है, जिसकी अपनी उपयोगिता है।

अस्तु-उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अपभ्रंश शब्द आर्यभाषा-काल के प्राचीन युग मे भी प्रयोग मे आता रहा है पर, वह भाषा-विशेष के अर्थ मे नही था। वह उन शब्दो के अर्थ मे था, जो पडितो की दृष्टि से विकृत तथा भ्रष्ट थे और भाषावैज्ञानिको की दृष्टि से विकसित।

यहाँ मध्यकालीन आर्यभाषा काल के विवेचन मे प्रयुक्त अपभ्रंश शब्द जैसा कि पहले सकेत किया गया है, उन भाषाओ के लिए है, जो विभिन्न प्राकृतो के उत्तरवर्ती विकसित रूप लिये हुए थी। आगे चलकर अपभ्रंश मे प्रचुर परिमाण मे लोक-साहित्य रचा गया। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत-व्याकरण मे प्राकृत (महाराष्ट्री), मागधी, अर्द्ध-मागधी (आर्ष), शौरसेनी, पैशाची, चूलिका पैशाची—इन प्राकृत भेदो के साथ अपभ्रंश को भी प्राकृत का एक भेद मानते हुए विवेचन किया है। विशेषत अपभ्रंश के वे उदाहरण, जो हेमचन्द्र ने उपस्थित किये हैं, अनेक अपेक्षाओ से महत्त्वपूर्ण हैं। हेमचन्द्र जिस प्रदेश मे थे, वह नागर-अपभ्रंश का क्षेत्र रहा था। नागर का अपभ्रंशो मे विशिष्ट स्थान है।

अपभ्रंशो के साथ मध्यकालीन आर्यभाषा-काल परिसमाप्त हो जाता है। विकास-क्रम के नैसर्गिक नियम के अनुसार विभिन्न अपभ्रंश आधुनिक भाषाओ के रूप मे परिणत हो जाते है।

प्राकृत-वाङ्‌मय परिशीलन महत्त्व

प्राकृत-साहित्य, विशेषत अर्द्धमागधी आगमों के रूप मे सग्रथित प्राकृत-वाङ्मय के अध्ययन का केवल जैन-सिद्धान्त ज्ञान की दृष्टि से ही नही, अनेक दृष्टियो से असाधारण महत्त्व है। इस प्राचीन भाषा का इतना विराट् और विपुल साहित्य और किसी भी रूप मे कही भी उपलब्ध नही है। सहस्राब्दियो पूर्व का भारतीय लोक-जीवन, सामाजिक परम्पराएँ, धार्मिक मान्यताएँ, चिन्तन-धाराएँ, व्यापार-व्यवसाय, कृषि, कला, वाणिज्य, राजनीति, अध्यात्म-साधना

की विभिन्न पद्धतियाँ आदि अनेक ऐसे सन्दर्भ हैं, जिनके व्यापक एवं तुलनात्मक ज्ञान के दृष्टिकोण से इस वाङ्मय का परिशीलन नितान्त उपयोगी है।

भाषाशास्त्रीय अध्ययन तथा मध्यकालीन आर्य-भाषाओं के अन्तिम रूप अपभ्रंश से विकसित आधुनिक आर्य-भाषाओं के व्यापक व तलस्पर्शी ज्ञान की दृष्टि से भी प्राकृतों का अध्ययन अत्यन्त उपयोगी है, आवश्यक है। सुप्रसिद्ध विद्वान् स्व० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है—

" प्राकृत का ज्ञान केवल पुरानी हिन्दी को समझने के लिए ही नहीं प्रत्युत पुरानी राजस्थानी, पुरानी गुजराती, पुरानी मराठी, पुरानी बंगला, पुरानी मैथिली के साहित्य को समझने के लिए भी एक अनुपम आधार है। वास्तव में प्राकृत का ज्ञान मध्यकालीन आर्य-भाषा परिवार की सभी भाषाओं को समझने में एक-सा उपयोगी है।"[९]

खेद के साथ लिखना पड़ता है कि हमारे देश में प्राकृतों के अध्ययन की परम्परा के उत्तरोत्तर क्षीण होते जाने के कारण ज्ञान के क्षेत्र में भाषात्मक सूक्ष्म परिशीलन का पक्ष अपेक्षाकृत दुर्बल हो गया। आज इस ओर अध्ययन के क्षेत्र में कुछ चेतना दृष्टिगोचर हो रही है। वह उत्तरोत्तर प्रगतिशील तथा विकसित बनती जाए, यह सर्वथा वाञ्छनीय है।

---

१ दशवैकालिक वृत्ति, पृ० २०३

२ अकृत्रिमस्वादुपदां, परमार्थाभिधायिनीम्।
सर्वभाषा परिणतां, जैनीं वाचमुपास्महे॥ —(आचार्य हेमचन्द्र रचित काव्यानुशासन प्रथम कारिका)
—काव्यानुशासन की अलंकार चूडामणि नामक स्वोपज्ञ टीका में इस कारिका की व्याख्या के अन्तर्गत—अकृत्रिमाणि असंस्कृतानि, अतएव स्वादूनि मन्दधियामपि पेशलानि पदानि यस्यामिति विग्रहः। तथा सुरनर तिरश्चां विचित्रासु भाषासु परिणतां तन्मयतां गतां सर्वभाषा परिणतांम्। एकरूपाऽपि हि भगवतोऽर्धमागधी भाषा वारिद विमुक्तवारिवद् आश्रयानुरूपतया परिणमति।
इसी प्रसंग में निम्नांकित प्राचीन श्लोक भी उद्धृत किया गया है—
देवा दैवीं नरा नारीं, शबराश्चापि शाबरीम्।
तिर्यञ्चोऽपि हि तैरश्चीं, मेनिरे भगवद् गिरम्॥

३ आरिसवयणे सिद्ध देवाणं अद्धमागहा वाणी।

४ Comparative grammar of the Prakrit languages, Page 4

५ मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

६ अनुयोगद्वार सूत्र १६

७ यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे, शब्दान् यथावद् व्यवहार काले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र, वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः॥
कः ? वाग्योगविदेव। कुत एतत् ? यो हि शब्दाञ्जानात्यपशब्दानप्यसौ जानाति। यथैव हि शब्दज्ञाने धर्मः, एवमप शब्दज्ञानेऽप्यधर्मः, अथवा भूयान् धर्मं प्राप्नोति। भूयांसोऽपशब्दाः, अल्पीयांसः शब्दा इति। —महाभाष्य प्रथम आह्निक पृष्ठ ७–८

८ एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा—गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः। —महाभाष्य प्रथम आह्निक पृष्ठ ८

9 the knowledge of Prakrit in an ambrosia for understanding not only the old-Hindi literature but also the literature in Old-Rajasthani, Old-Gujarati, Old-Marathi, Old-Bengali, Old-Maithili etc, and in fact for all the languages of the Middle Indo Aryan group —पाइअ सद्द महण्णवो की प्रस्तावना, पृष्ठ I

☐ देवेन्द्र मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

जैन परम्परा मे तर्क-विद्या और तर्क-प्रधान वाङ्मय के आद्य प्रणेता आचार्य सिद्धसेन का अन्तरंग परिचय ऐतिहासिक विवेचना के साथ प्रस्तुत है ।
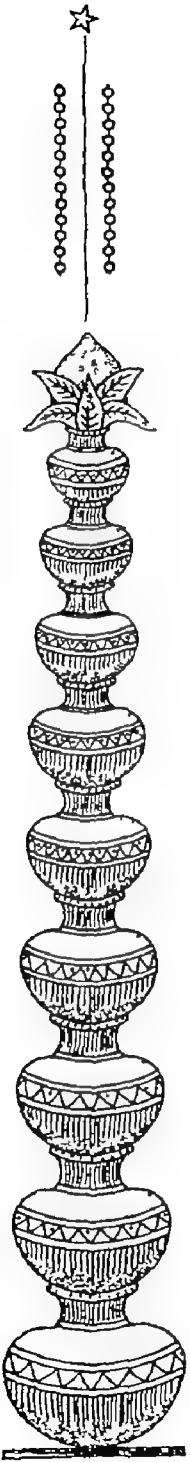
जैन न्याय के समर्थ पुरस्कर्ता : सिद्धसेन दिवाकर

☐

भारतवर्ष पर सरस्वती की बडी कृपा रही है जिसके फलस्वरूप यहाँ पर समय-समय पर अनेक लेखक, कवि, दार्शनिक और विचारक हुए हैं जिन्होने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का निर्माण कर अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा का परिचय दिया। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर भी उन्ही मूर्धन्य लेखको मे से एक हैं जिन्होन जैन साहित्य को अनेक दृष्टियो से समृद्ध बनाया जैन परम्परा मे तर्क-विद्या और तर्क-प्रधान सस्कृत वाङ्मय के वे आद्य प्रणेता है ।[1] कवित्व की दृष्टि से जब हम उनके साहित्य का अध्ययन करते हैं, तो कवि कुल गुरु कालिदास और अश्वघोष का सहज ही स्मरण हो आता है । पण्डित सुखलालजी ने उनको प्रतिभा-मूर्ति कहा है,[2] यह अत्युक्ति नही है । जिन्होंने उनका प्राकृत ग्रन्थ 'सन्मति तर्क' देखा है, या उनकी सस्कृत द्वात्रिंशिकाएँ देखी हैं, वे उनकी प्रतिभा की तेजस्विता से प्रभावित हुए बिना नही रह सकते । जैन-साहित्य की जो न्यूनता थी, उसी की पूर्ति की ओर उनकी प्रतिभा का प्रयाण हुआ । उन्होंने चर्वित-चर्वण नहीं किया । उन्होने टीकाएँ नही लिखीं किन्तु समय की गतिविधि को निहार कर उन्होंने तर्क-सगत अनेकान्तवाद के समर्थन मे अपना बल लगाया । सन्मति तर्क जैसे महत्त्वपूर्ण मौलिक ग्रन्थ का सृजन किया । सन्मति तर्क जैन दृष्टि से और जैन मन्तव्यो को तर्क शैली से स्पष्ट करने तथा स्थापित करने वाला जैन-साहित्य मे सर्वप्रथम ग्रन्थ है । उत्तरवर्ती सभी श्वेताम्बर और दिगम्बर आचार्यों ने उसका आश्रय लिया है ।

सन्मति तर्क मे नयवाद का अच्छा विवेचन है । इसमे तीन काण्ड हैं । प्रथम काण्ड मे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दृष्टि का सामान्य विचार है । दूसरे काण्ड में ज्ञान और दर्शन पर सुन्दर चर्चा है । तृतीय काण्ड मे गुण और पर्याय, अनेकान्त दृष्टि और तर्क के विषय मे अच्छा प्रकाश डाला गया है ।

नय सात हैं । आगमो मे सात नयो का उल्लेख है ।[3] नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत । इन सभी नयो को द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो नयो में समाविष्ट किया जा सकता है । द्रव्यार्थिक दृष्टि मे सामान्य या अभेदमूलक समस्त दृष्टियो का समावेश हो जाता है । विशेष या भेदमूलक जितनी भी दृष्टियाँ है उन सबका समावेश पर्यायार्थिक दृष्टि मे हो जाता है । आचार्य सिद्धसेन ने इन दोनो दृष्टियो का समर्थन करते हुए लिखा कि श्रमण भगवान महावीर के प्रवचन मे मूलत दो ही दृष्टियाँ हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, शेष सभी दृष्टियाँ इन्हीं की शाखाएँ-प्रशाखाएँ हैं ।[4] तत्त्व का कोई पहलू इन दो दृष्टियो का उल्लघन नहीं कर सकता । क्योंकि या तो वह सामान्य होगा या विशेषात्मक । इन दो दृष्टियो को छोडकर वह कही नही जा सकता ।[5] आचार्य सिद्धसेन ने अनुभव किया कि दार्शनिक जगत् में इन दो दृष्टियो के कारण ही झगडा होता है । कितने ही दार्शनिक द्रव्यार्थिक दृष्टि को ही अन्तिम सत्य मानते हैं, तो कितने ही पर्यायार्थिक दृष्टि को । इन दोनो दृष्टियो का एकान्त आग्रह ही क्लेश का कारण है । अनेकान्त दृष्टि ही दोनो का समान रूप से सम्मान करती है । वही सत्य दृष्टि है ।

इस प्रकार कार्य-कारण भाव का जो सघर्ष चल रहा है, उसे अनेकान्तवाद की दृष्टि से सुलझाया जा सकता है । कार्य और कारण का एकान्त भेद मिथ्या है । न्याय वैशेषिक दर्शन एतदर्थ ही अपूर्ण है । सांख्य का यह मन्तव्य है कि कार्य और कारण मे एकान्त अभेद है । कारण ही कार्य है अथवा कार्य, कारण रूप ही है । यह अभेद-दृष्टि भी
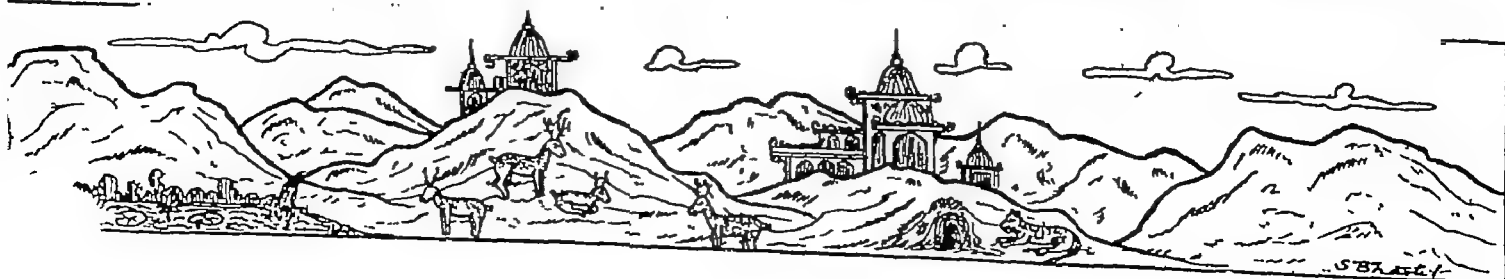
एकांगी है। आचार्य सिद्धसेन ने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दृष्टि के आधार से कार्य और कारण का प्रस्तुत विरोध नष्ट किया। कारण और काय मे द्रव्यार्थिक दृष्टि से कोई भेद नही है। पर्यायार्थिक दृष्टि से दोनो मे भेद है। अनेकान्त दृष्टि से दोनो को सही माना जाता है। सत्य तथ्य यह है, कि न कार्य-कारण मे एकान्त भेद है न एकान्त अभेद ही है। यही समन्वय का श्रेष्ठ माग है। असत्कार्यवाद और सत्कार्यवाद ही सम्यक् दृष्टि है।[६]

तत्त्व चिन्तन के सम्यक् पथ का विश्लेपण करते हुए उन्होंने आठ बातो पर बल दिया। वे आठ बातें यह हैं—(१) द्रव्य, (२) क्षेत्र, (३) काल, (४) भाव, (५) पर्याय, (६) देश, (७) सयोग और (८) भेद।[७] इन आठ मे पहले की चार बातें स्वय भगवान महावीर ने बताई हैं। उनमे पीछे की चार बातो का भी समावेश हो जाता है किन्तु सिद्धसेन ने दृष्टि और पदाथ की सम्यक् प्रकार से व्याख्या करने के लिये आठ बातो पर प्रकाश डाला।

आचार्य सिद्धसेन पूर्ण तार्किक थे तथापि वे तक की मर्यादा समझते थे। तक की अप्रतिहत गति है, ऐसा वे नही मानते। उन्होंने अनुभव को श्रद्धा और तक इन दो भागो मे बांटा। एक क्षेत्र मे तक का साम्राज्य है, तो दूसरे क्षेत्र मे श्रद्धा का। जो बातें विशुद्ध आगमिक हैं जैसे भव्य और अभव्य, जीवो की सख्या का प्रश्न आदि, उन बातो पर उन्होंने तर्क करना उचित नही समझा। उन बातो को उसी रूप मे ग्रहण किया गया। किन्तु जो बातें तर्क से सिद्ध या असिद्ध की जा सकती थी उन बातो को अच्छी तरह से तक की कसौटी पर कस कर स्वीकार किया।

अहेतुवाद और हेतुवाद ये धमवाद के दो प्रकार हैं। भव्याभव्यादिक भाव अहेतुवाद का विषय है, और सम्यक् दशन, ज्ञान, चारित्र आदि हेतुवाद के अन्तर्गत।[८] आचार्य सिद्धसेन के द्वारा किया गया यह हेतुवाद और अहेतुवाद का विभाग हमे दर्शन और धम की स्मृति दिलाता है। हेतुवाद तर्क पर प्रतिष्ठित होने से दशन का विषय है और अहेतुवाद श्रद्धा पर आधृत होने से धम का विषय है। इस तरह आचार्य सिद्धसेन ने परोक्ष रूप मे दशन और धम की मर्यादा का सकेत किया है।

जैनागमो की दृष्टि से सर्वज्ञ के ज्ञान और दशन को भिन्न माना गया है किन्तु आचाय सिद्धसेन ने तक से यह सिद्ध किया है, कि सर्वज्ञ के ज्ञान और दशन मे कोई भेद नही है। सवज्ञ के स्तर पर पहुचकर ज्ञान और दशन दोनो एकरूप हो जाते हैं।[९] इसके अतिरिक्त अवधि और मन पयवज्ञान को तथा ज्ञान और श्रद्धा को भी एक सिद्ध करने का प्रयत्न किया। जैनागमो मे विश्रुत नैगम आदि सात नयो के स्थान पर छ नयो की स्थापना की। नैगम को स्वतन्त्र नय न मानकर उसे सग्रह और व्यवहार मे समाविष्ट कर दिया। उन्होने यहाँ तक कहा कि जितने वचन के प्रकार हो सकते है उतने ही मत-मतान्तर भी हो सकते हैं। अद्वैतवादो को उन्होंने द्रव्यार्थिक नय के सग्रह नय रूप प्रभेद मे समाविष्ट किया। क्षणिकवादी बौद्धो की दृष्टि को पर्यायनयान्तर्गत ऋजु सूत्र नयानुसारी बताया। साख्य दृष्टि का समावेश द्रव्यार्थिक नय मे किया और काणाद दर्शन को उभयनयाश्रित सिद्ध किया।[१०]

ज्ञान और क्रिया के ऐकान्तिक आग्रह को चुनौती देते हुए सिद्धसेन ने कहा कि ज्ञान और क्रिया दोनो आवश्यक ही नही परम आवश्यक है। ज्ञान रहित क्रिया व्यर्थ है और क्रिया रहित ज्ञान निकम्मा है। ज्ञान और क्रिया का समन्वय ही वास्तविक सुख का कारण है। जन्म-मरण से मुक्त होने के लिये ज्ञान और क्रिया दोनो आवश्यक हैं।[११]

इस प्रकार सन्मति तर्क मे उन्होंने अपने विचारों को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया है।

बत्तीसियाँ

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने बत्तीस बत्तीसियाँ रची थीं जिनमे से इक्कीस बत्तीसियाँ वतमान मे उपलब्ध हैं। ये बत्तीसियाँ सस्कृत भाषा मे रचित हैं। प्रथम की पाँच बत्तीसियाँ और ग्यारहवीं बत्तीसी स्तुति-परक है। प्रथम पाँच बत्तीसियो मे श्रमण भगवान महावीर की स्तुति की गई है और ग्यारहवीं बत्तीसी मे किसी पराक्रमी राजा की स्तुति की गई है। इन स्तुतियो को पढ़कर अश्वघोष के समकालीन बौद्ध स्तुतिकार मातृचेट रचित 'अध्यर्धशतक' और आर्यदेव रचित 'चतु शतक' की स्मृति हो आती है। सिद्धसेन ही जैन-परम्परा के आद्य-स्तुतिकार हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी दोनो बत्तीसियाँ सिद्धसेन की बत्तीसियो का आदर्श सामने रखकर ही रची है। यह उनकी रचना से स्पष्ट होता है।[१२] आचार्य समन्तभद्र की 'स्वयभूस्तोत्र' और युक्त्यनुशासन' नामक दार्शनिक स्तुतिया भी आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की स्तुतियों का अनुकरण है।

आचार्य हेमचन्द्र ने व्याकरण के उदाहरण मे 'अनुसिद्धसेन कवय,' लिखा है। यदि उसका भाव यह हो कि जैन-परम्परा के सस्कृत कवियो में आचार्य सिद्धसेन का स्थान सवप्रथम है, तो यह कथन आज भी जैन वाङ्मय की दृष्टि से पूर्ण सत्य है।

आचार्य सिद्धसेन ने इन्द्र और सूय से भी भगवान महावीर को उत्कृष्ट बताकर उनके लोकोत्तरत्त्व का व्यजन किया।[१३] उन्होंने व्यतिरेक अलकार के द्वारा भगवान की स्तुति की। हे भगवन्, आपने गुरुसेवा किये बिना ही जगत् का आचार्य पद पाया है जो दूसरो के लिये कदापि सम्भव नही।[१४] उन्होंने सरिता और समुद्र की उपमा के द्वारा भगवान मे सब दृष्टियो के अस्तित्त्व का कथन किया है, जो अनेकान्तवाद की जड है।[१५]

सिद्धसेन सवप्रथम जैन वादी ह। वे वाद विद्या के पारगत पण्डित है। उन्होंने अपनी सातवी वादोपनिषद् बत्तीसी मे वादकालीन सभी नियम और उपनियमो का वणन कर विजय पाने का उपाय भी बताया है, साथ ही उन्होंने आठवी बत्तीसी मे वाद विद्या का परिहास भी किया है। वे कहते हैं, कि एक मासपिण्ड के लुब्ध और लडने वाले दो कुत्तो मे कभी मैत्री की सम्भावना भी है, पर दो सहोदर भी वादी हों तो उनमे कभी सरय की सम्भावना नही हो सकती।[१६] उन्होने स्पष्ट कहा है कि कल्याण का मार्ग अन्य है और वाद का मार्ग अन्य है। क्योकि किसी भी मुनि ने वाग्युद्ध को शिव का उपाय नही कहा है।[१७]

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने ही सर्वप्रथम दर्शनों के वर्णन की प्रथा का श्रीगणेश किया। उसके पश्चात् अन्य आचार्यों ने उनका अनुसरण किया। आठवी शताब्दी मे आचाय हरिभद्र ने षड्दर्शन समुच्चय लिखा और चौदहवी शताब्दी मे मध्वाचार्य ने सर्वदर्शन सग्रह ग्रन्थ लिखा, जो सिद्धसेन द्वारा प्रस्तुत शैली का विकास था। अभी जो बत्तीसिया उपलब्ध हैं, उनमे न्याय, वैशेषिक, साख्य, बौद्ध, आजीवक और जैन दशन का वर्णन है किन्तु चार्वाक और मीमासक दर्शन का वर्णन नही है। सम्भव है उन्होंने चार्वाक और मीमासक दशन का वणन किया होगा पर वे बत्तीसियाँ वर्तमान मे उपलब्ध नहीं हैं। जैन दशन का वणन उन्होने अनेक बत्तीसियों मे किया है। उनकी पुरातनत्व समालोचना विषयक बत्तीसियो के सम्बन्ध मे पण्डित सुखलालजी लिखते हैं, मैं नहीं जानता कि भारत मे ऐसा कोई विद्वान हुआ हो जिसने पुरातनत्व की इतनी क्रान्तिकारिणी तथा हृदयहारिणी एव तलस्पर्शिनी निर्भय समालोचना की हो। मैं ऐसे विद्वान को भी नही जानता कि जिस अकेले ने एक बत्तीसी मे प्राचीन सब उपनिषदो तथा गीता का सार वैदिक और औपनिषद् भाषा मे ही शाब्दिक और आर्थिक अलकार युक्त चमत्कारिणी सरणी से वर्णित किया हो। जैन परम्परा मे तो सिद्धसेन के पहले और पीछे आज तक ऐसा कोई विद्वान् हुआ ही नही है जो इतना गहरा उपनिषदो का अभ्यासी रहा हो और औपनिषद् भाषा मे ही औपनिषद् तत्त्व का वर्णन भी कर सके। पर जिस परम्परा में सदा एकमात्र उपनिषदो की तथा गीता की प्रतिष्ठा है उस वेदान्त परम्परा के विद्वान् भी यदि सिद्धसेन की उक्त बत्तीसी को देखेंगे तब उनकी प्रतिभा के कायल होकर यही कह उठेंगे कि आज तक यह ग्रन्थ रत्न दृष्टि पथ मे आने से क्यो रह गया! मेरा विश्वास है, कि प्रस्तुत बत्तीसी की ओर किसी भी तीक्ष्ण-प्रज्ञ वैदिक विद्वान् का ध्यान जाता तो वह उस पर कुछ न कुछ बिना लिखे न रहता। मेरा यह भी विश्वास है, कि यदि कोई मूल उपनिषदो का साम्नाय अध्येता जैन विद्वान् होता तो भी उस पर कुछ न कुछ लिखता।[१८]

आचार्य सिद्धसेन ने लिखा—पुराने पुरुषों ने जो व्यवस्था निश्चित की है, वह विचार की कसौटी पर क्या उसी प्रकार सिद्ध होती है? यदि समीचीन सिद्ध हो, तो हम उसे समीचीनता के नाम पर मान सकते हैं, पर प्राचीनता के नाम पर नही। यदि वह समीचीन सिद्ध नहीं होती, तो केवल मरे हुए पुरुषो के झूठे गौरव के कारण 'हाँ में हाँ' मिलाने के लिए मैं उत्पन्न नहीं हुआ हूँ। मेरी सत्य-प्रियता के कारण यदि विरोधी बढ़ते हैं तो बढ़ें।[१९] पुरानी परम्परा अनेक हैं उनमे परस्पर विरोध भी है अत बिना समीक्षा किये प्राचीनता के नाम पर यों ही झटपट निर्णय नही दिया जा सकता। किसी काय विशेष की सिद्धि के लिये यही प्राचीन व्यवस्था ठीक है अन्य नही, यह बात केवल पुरातन प्रेमी जड ही कह सकते हैं।[२०] आज जिसे हम नवीन कहकर उड़ा देना चाहते हैं, वही व्यक्ति मरने के बाद नयी पीढ़ी के लिए पुराना हो जायेगा, जबकि प्राचीनता इस प्रकार अस्थिर है, तब बिना विचार किए पुरानी बातों को कौन पसन्द कर सकता है।[२१]

न्यायावतार

जिस प्रकार दिग्नाग ने बौद्ध दर्शन मान्य विज्ञानवाद को सिद्ध करने के लिए पूर्व परम्परा में किञ्चित् परि-

वर्तन करके बौद्ध प्रमाण शास्त्र को व्यवस्थित रूप प्रदान किया उसी प्रकार सिद्धसेन दिवाकर ने भी पूर्व परम्परा का सर्वथा अनुकरण न करके अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से न्यायावतार की रचना की। उन्होने जैन दृष्टि को अपने सामने रखते हुए भी लक्षण-प्रणयन मे दिग्नाग के ग्रन्थों का पर्याप्त मात्रा मे उपयोग किया और स्वय सिद्धसेन के लक्षणो का उपयोग परवर्ती जैनाचार्यों ने अत्यधिक मात्रा मे किया है।
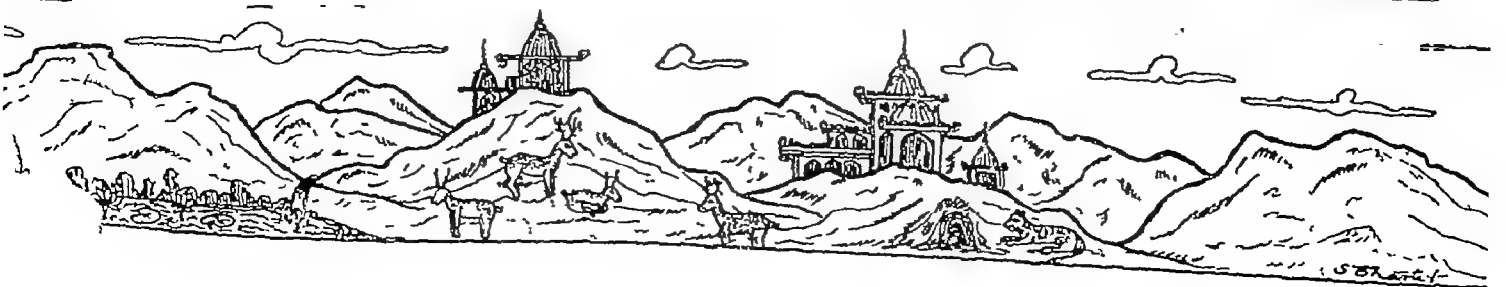
आगम साहित्य मे चार प्रमाणो का वर्णन है।[२२] आचार्य उमास्वाति ने प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो प्रमाण माने और उन्हीं में पाँच ज्ञानो को विभक्त किया। आचार्य सिद्धसेन ने भी प्रमाण के दो ही भेद माने हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष, किन्तु उन्होंने प्रमाण का निरूपण करते समय जैन परम्परा सम्मत पाँच ज्ञानो को प्रमुखता प्रदान नही की है, लोक-सम्मत प्रमाणो को मुख्यता दी है। उन्होंने प्रत्यक्ष की व्याख्या में लौकिक और लोकोत्तर दोनो प्रत्यक्षो का समावेश किया है और परोक्ष प्रमाण मे अनुमान और आगम का। इस प्रकार सिद्धसेन ने साख्य और प्राचीन बौद्धो का अनुकरण करके प्रत्यक्ष अनुमान और आगम का वर्णन किया है।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ही प्रथम जैन दार्शनिक हैं जिन्होंने न्यायावतार जैसी लघुकृति मे प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय और प्रमिति इन चार तत्वो की जैन दर्शन सम्मत व्याख्या करने का सफल प्रयास किया। उन्होंने प्रमाण और उनके भेद-प्रभेदो का लक्षण किया है। अनुमान के सम्बन्ध मे उनके हेत्वादि सभी अग प्रत्यगो की सक्षेप मे मार्मिक चर्चा की है।

उन्होंने केवल प्रमाण निरूपण की ही चर्चा नही की किन्तु नयो का लक्षण और विषय बताकर जैन न्याय शास्त्र की ओर मनीषी दार्शनिको का ध्यान आकर्षित किया।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे स्वमतानुसार न्यायशास्त्रोपयोगी प्रमाणादि पदार्थों की व्याख्या करके ही आचाय सिद्धसेन सन्तुष्ट नहीं हुए किन्तु उन्होने सक्षेप मे परमत का निराकरण भी किया है। लक्षण निर्माण मे दिग्नाग जैसे बौद्धो का यत्र-तत्र अनुकरण करके भी उन्हीं के 'सवमालम्बने भ्रान्तम्' और पक्षाप्रयोग के सिद्धान्तो का युक्ति-पुरस्सर खण्डन भी किया। बौद्धो ने जो हेतु-लक्षण किया था, उसके स्थान मे अन्तर्व्याप्ति के बौद्ध सिद्धान्त से ही फलित होने वाला 'अन्यथा नुपपत्तिरूप' हेतु लक्षण अपनाया। वह आज भी जैनाचार्यों द्वारा प्रमाणभूत माना जाता है।[२३]

इस प्रकार हम देखते हैं कि विक्रम की पाँचवी शताब्दी के ज्योतिर्धर आचाय सिद्धसेन दिवाकर ने साहित्यिक क्षेत्र मे जो मौलिकता दी है, वह महान है। वे जैन न्याय के प्रथम पुरस्कर्ता हैं।

---

१ दर्शन और चिन्तन, पृ० २७०—पडित सुखलाल जी (हिन्दी)

२ वही, पृ० २६६

३ (क) अनुयोग द्वार सूत्र १५६
(ख) स्थानाङ्ग सूत्र ७।५५२

४ तित्थयरवयणसगह—विसेसपत्थारमूलवागरणी।
दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पासि ॥—सन्मति तर्क प्रकरण १।३

५ दव्व पज्जवविउय दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि।
उप्पादव्वयाट्ठिइ-भगा, हदि दव्वलक्खण एय ॥—सन्मति तक १।१२

६ जे सतवायदोसे सक्कोलूया भणंति सखाण।
सखा य असव्वाए तेसिं सव्वे वि ते सच्चा ॥
ते उ भयणोवणिया सम्मदसणमणुत्तर होति।
ज भवदुक्खविमोक्ख दो वि न पूरेंति पाडिक्क ॥—सन्मति तक प्रकरण ३।५०।५१

७ दव्व खित्त काल भाव पज्जाय-देस-सजोगे।
भेद च पडुच्च समा भावाण पण्णवणयज्जा ॥—सन्मति तक ३।६०

८ दुविहो धम्मावाओ अहेउवाओ य हेउवाओ य।
तत्थ उ अहेउवाओ भवियाऽभवियादओ भावा ॥

भविओ सम्मद्दसण-णाण-चरित्तपडिवत्तिसपन्नो ।
णियमा दुक्खतकडो त्ति लक्खण हेउवायस्स ॥—सन्मति तर्क प्रकरण ३।४३-४४

९ ज अप्पुट्ठे भावे जाणइ पासइ य केवली णियमा ।
तम्हा त णाण दसण च अविसेसओ सिद्ध ॥—सन्मति तर्क २।३०

१० जावइया वयणपहा, तावइया चेव होंति णयवाया ।
जावइया णयवाया, तावइया चेव परसमया ॥
ज काविल दरिसण, एय दव्वट्ठियस्स वत्तव्व ।
सुद्धोअणतणअस्स उ, परिसुद्धो पज्जवविअप्पो ॥
दोहि वि णएहिं णीअ, सत्थमुलूएण तह वि मिच्छत्त ।
ज सविसअप्पणहाणत्तणेण, अण्णोण्णणिरवेक्खा ॥—सन्मति ३।४७ ४८-४९

११ णाण किरियारहिय, किरियामेत्त च दो वि एगता ।
असमत्था दाएउ जम्म-मरणदुक्ख मा भाई ॥—सन्मति तर्क ३।६८

१२ क्व सिद्धसेनस्तुतयो महार्था अशिक्षितालापकला क्व चैपा ?
तथापि यूथाधिपते पथस्थ स्खलद्गतिस्तस्य शिशुर्न शोच्य ?—अयोगव्यवच्छेदिका श्लोक ३

१३ कुलिशेन सहस्रलोचन, सविता चाशुसहस्रलोचन ।
न विदारयितु यदीश्वरो, जगतस्तद्भवता हृत तम ॥

१४ न सदत्सु वदन्नशिक्षितो, लभते वक्तृविशेषगौरवम् ।
अनुपास्य गुरु त्वया पुनजगदाचार्यकमेव निर्मितम् ॥

१५ उदधाविव सर्वसिंधव, समुदीर्णास्त्वयि सर्वदृष्टय ।
न च तासु भवानुदीक्ष्यते, प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधि ॥

१६ ग्रामान्तरोपगतयोरेकामिषसगजातमत्सरयो ।
स्यात् सख्यमपि शुनोर्भ्रात्रोरपि वादिनोर्न स्यात् ॥—बत्तीसी ८।१

१७ अन्यत एव श्रेयास्यन्यत एव विचरन्ति वादिवृषा ।
वाक्सरभ क्वचिदपि न जगाद मुनि शिवोपायम् ॥

१८ दर्शन और चिन्तन (हिन्दी), पृ० २७५

१९ पुरातनैर्या नियता व्यवस्थितिस्तथैव सा किं परिचिन्त्य सेत्स्यति ।
तथेति वक्तु मृतरूढगौरवादह न जात प्रथयन्तु विद्विष ॥—बत्तीसी ६।३

२० बहुप्रकारा स्थितय परस्पर, विरोधयुक्ता कथमाशु निश्चय ।
विशेषसिद्धावियमेव नेति वा पुरातन-प्रेम जडस्य युज्यते ॥—बत्तीसी ६।४

२१ जनोऽयमन्यस्य स्वय पुरातन पुरातनैरेव समो भविष्यति ।
पुरातनेष्वित्यनवस्थितेषु क पुरातनोक्तान्यपरीक्ष्य रोचयेत् ॥—बत्तीसी ६।५

२२ (क) पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते त जहा पच्चक्खे अणुमाणे ।
ओवम्मे आगमे जहा अणुओगद्दारे तहा णेयव्व पमाण ॥—भगवती ५।३।१९१-१९२
(ख) अहवा हेऊ चउव्विहे पण्णत्ते, तजहा पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवम्मे, आगमे ।—स्थानाङ्ग सूत्र ३३८

२३ आगम युग का जैन दर्शन, पृ० २७५-२७६ का साराश

जैन साधना एव तर्क-विद्या मे बौद्ध योग एव न्याय-शास्त्र का सामजस्य कर योग के क्षेत्र मे नई दृष्टि प्रदान करने वाले आचार्य हरिभद्र सूरि का सांस्कृतिक परिचय।

☐ प्रो० सोहनलाल पटनी एम ए
[संस्कृत-हिन्दी]

जैन योग के महान् व्याख्याता-हरिभद्रसूरि

☐

आचार्य हरिभद्रसूरि चित्रकूट (चित्तौड) के समर्थ ब्राह्मण विद्वान थे। जैन सम्प्रदाय मे इनका विशिष्ठ स्थान है एव इनका समय (वि० स० ७५७ से ८२७ पर्यन्त) जैन साहित्य मे हरिभद्र युग के नाम से अभिहित किया जाता है। आगम परम्परा के महान सरक्षक सिद्धसेन दिवाकर एव जिनभद्र गणि के पश्चात् जैन जगत मे हरिभद्र सूरि का अपना नाम था। विक्रमी सवत् १०८० मे विरचित जिनेश्वर सूरि कृत—"हरिभद्रसूरि कृत अष्टक वृत्ति" मे उनकी वन्दना इस प्रकार की गई है—

> **"सूर्यप्रकाश्य क्व नु मण्डल दिव**
> **खद्योतक क्वास्य विभासनोद्यत।**
> **क्व धीश गम्य हरिभद्र सद्वच**
> **क्वाधीरह तस्य विभासनोद्यत ॥"**

आकाश मडल को प्रकाशित करने वाला कहाँ तो सूर्य प्रकाश और स्वय को उद्भासित करने वाला जुगनू कहाँ?

बुद्धि सम्राट हरिभद्र के सद्वचन कहाँ और उनका स्पष्टीकरण करने वाला मैं कहाँ? अर्थात् उनके वचन तो उनसे ही स्पष्ट हो सकते हैं।

सवत् ११६० मे आचार्य वादिदेवसूरि ने अपने स्याद्वाद रत्नाकर में सिद्धसेन दिवाकर के साथ आचार्य हरिभद्रसूरिजी की वन्दना की है—

> **"श्री सिद्धसेन हरिभद्र मुखा प्रसिद्धास्ते,**
> **सूरयो मयि भवन्तु कृपा प्रसादा।**
> **येषा विमृश्य सतत विविधान् निबन्धान्,**
> **शास्त्र चिकीर्षति तनु प्रतिभोऽपि मादृक् ॥"**

वे श्री सिद्धसेन, हरिभद्र प्रमुख प्रसिद्ध आचार्य मुझ पर कृपावन्त हों कि जिनके विभिन्न निबन्धों को पढकर मुझ सा अल्पमति शास्त्र की रचना करना चाहता है।

तो यह निर्विवाद सत्य है कि आचार्य हरिभद्रसूरि ने अपने युग मे वह काम कर दिखाया था कि जिसके कारण वे आने वाले समय मे महान् आचार्यों के प्रेरणास्रोत रहे। उनके उपलब्ध साहित्य से ही हमे उनकी बहुश्रुतता एव कारमिश्री प्रतिभा का परिचय मिलता है। उनकी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का परिचय तत्कालीन दार्शनिक ग्रन्थो मे मिलता है। जैन न्याय, योग शास्त्र और जैन कथा साहित्य मे उन्होंने युगान्तर उपस्थित किया। श्री हरिभद्रसूरि जैन योग साहित्य मे नये युग के प्रतिष्ठादायक माने जाते हैं। जैन धर्म मूलत निवृत्ति प्रधान है एव निवृत्ति मे योग का

अत्यधिक महत्त्व है। जैनागमो मे योग शब्द का प्रयोग ध्यान के अर्थ मे किया गया है एव ध्यान के लक्षण और प्रभेद आलम्बन आदि का पूर्ण विवरण आगमो मे है। तत्कालीन परिस्थितियो के अनुसार आचाय हरिभद्रसूरि ने योग विषयक अनेक ग्र थ लिखे एव एक नयी शैली मे योग का निरूपण किया जो अनूठा था। उनके द्वारा रचित योग विन्दु, योग दृष्टि समुच्चय, योग विंशिका, योग शतक एव योग षोडषक ग्रन्थो मे जैन मार्गानुसार योग का वणन किया गया है। जैन शास्त्र मे आध्यात्मिक विकास क्रम के प्राचीन वर्णन मे चौदह गुणस्थानक पदस्थ, रूपस्थ आदि चार ध्यान रूप बहिरात्म आदि तीन ध्यानावस्थाओ का वणन मिलता है, पर आचाय हरिभद्रसूरि ने जैनो के इस आध्यात्मिक विकास क्रम का योग मार्गानुसार वणन किया। इस वर्णन मे उन्होंने जिस शैली का अनुसरण किया, उसके दशन अन्यत्र नही होते।

उन्होंने अपने ग्रन्थो मे अनेक जैन जैनेत्तर योगियो का नामोल्लेख किया है जैसे गोपेन्द्र कालातीत, पतजलि, भदन्त, भास्कर, वन्धु, भगवदत्त आदि। पडित सुखलाल जी ने अपने योगदशन निवन्ध म यह स्वीकार किया है कि आचाय हरिभद्रसूरि वर्णित योग वर्णन योग साहित्य मे एक नवीन दिशा है।

समराइच्चकहा महाराष्ट्री प्राकृत मे लिखित है एव कथा साहित्य मे युगान्तरकारी है। उसमे वर्णित कथा गगा के शान्त प्रवाह की भाति स्थिर तथा सौम्य रूप से अपने लक्ष्य की ओर बढती है। पुरातत्त्ववेत्ता पद्मश्री जिन विजयजी के अनुसार साधारण प्राकृत समझने वाले व्यक्ति भी उसे आसानी से समझ सकते है।

एक जन श्रुति के अनुसार उन्होंने १४४४ प्रकरण ग्र थो का प्रणयन किया था, पर, मेरी मान्यता के अनुसार ये सब विषय होंगे जिन पर उनकी समर्थ लेखनी चली होगी। वास्तव मे अपनी बहुमुखी प्रतिभा के कारण ये जैन धम के पूवकालीन तथा उत्तरकालीन इतिहास के मध्यवर्ती सभा स्तम्भ रहे हैं। सस्कृत एव प्राकृत भाषाओ पर उनका समान अधिकार रहा है। जैन ग्रन्थो तथा उनके स्वय के सन्दर्भो से इनके विषय मे यह जानकारी मिलती है कि विद्वत्ता के अभिमान मे उन्होंने एक बार प्रतिज्ञा की कि जिसका कहा उनकी समक्ष मे नही आयेगा वे उसी के शिष्य वन जायेंगे। एक दिन वे जैन उपाश्रय के पास से निकल रहे थे, उस समय साध्वी याकिनी महत्तरा के मुख से निकली प्राकृत गाथा उनकी समक्ष मे नही आई एव वे तुरन्त अपनी प्रतिज्ञानुसार उनका शिष्यत्व ग्रहण करने के लिए तैयार हो गये। साध्वी याकिनी महत्तराजी ने उन्हे अपने गुरु आचार्य जिनभद्र से दीक्षा दिला दी पर, हरिभद्रसूरि ने याकिनी महत्तरा को सदैव अपनी धर्म जननी माना एव अपने प्रत्येक ग्रन्थ की समाप्ति पर "याकिनी महत्तरा धर्म सूनु" विशेषण का प्रयोग किया है। इनका गच्छ श्वेताम्बर सम्प्रदाय का विद्याधर गच्छ था।

आचाय हरिभद्रसूरि की विविधोन्मुखी रचना शक्ति इससे प्रकट होती है कि उन्होने साख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, अद्वैत, चार्वाक, बौद्ध, जैन आदि सभी मतो की आलोचना प्रत्यालोचना की है। इस आलोचना प्रत्यालोचना की यह विशेषता है कि उन्होंने अपने विरोधी मत वाले विचारकों का भी नामोल्लेख बहुत आदर के साथ किया है। उनके प्रमुख ग्रन्थ निम्न हैं—

१ अनेकान्त वाद प्रवेश
२ अनेकान्त जय पताका—स्वोपज्ञ वृत्ति सहित
३ अनुयोगद्वार सूत्र वृत्ति
४ अष्टक प्रकरण
५ आवश्यक सूत्र—बृहद् वृत्ति
६ उपदेशपद प्रकरण
७ दशवैकालिक सूत्र वृत्ति
८ दिङ्नाग कृत न्याय प्रवेश सूत्र वृत्ति
९ धर्म-विन्दु प्रकरण
१० धर्म-सग्रहणी प्रकरण
११ नन्दी सूत्र लघु वृत्ति
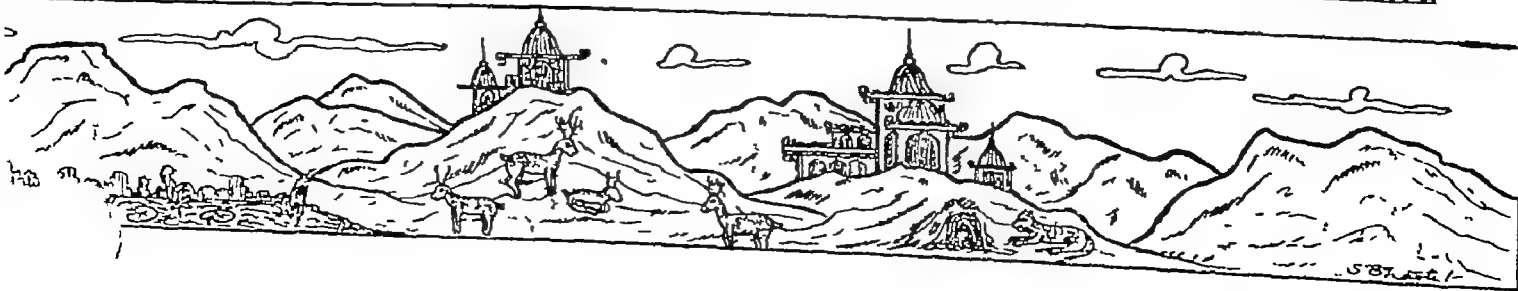
१२ पचाशक प्रकरण
१३ पचवस्तु प्रकरण टीका
१४ प्रज्ञापना सूत्र प्रदेश व्याख्या
१५ योग दृष्टि समुच्चय
१६ योग बिन्दु
१७ ललित विस्तरा चैत्य वन्दन सूत्र वृत्ति
१८ लोक तत्त्व निर्णय
१९ विंशति विंशतिका प्रकरण
२० षड्दर्शन समुच्चय
२१ श्रावक प्रज्ञप्ति
२२ समराइच्च कहा (समरादित्य कथा)
२३ सम्बोध प्रकरण
२४ सम्बोध सप्ततिका प्रकरण
२५ आवश्यक सूत्र टीका

डा० हर्मन याकोबी ने लिखा है कि इन्होंने प्राकृत भाषा मे लिखित जैनागमो की सस्कृत टीकायें निर्युक्तियाँ एव चूर्णियाँ लिखकर जैन एव जैनेतर जगत का बहुत उपकार किया। इन ग्रन्थो के अतिरिक्त भी उनके ८२ ग्रथ और हैं जिनमे उनकी बहुमुखी रचना शक्ति के दर्शन होते हैं। इन ८२ ग्रथो का उल्लेख प० हरगोविन्ददास कृत 'हरिभद्र चरित्रम्", स्व मनसुखलाल किरनचन्द मेहता, प० बेचरदासजी कृत 'जैन-दर्शन' आदि के आधार पर हुआ है। उनके द्वारा रचित आध्यात्मिक तथा तात्विक ग्रन्थो के अध्ययन से पता चलता है कि वे प्रकृति से अति सरल एव सौम्य थे। गुणानुरागी तथा जैन धर्म के अनन्य समर्थक होते हुए भी वे सदैव सत्यान्वेषी थे। तत्त्व की विचारणा करते समय वे सदा माध्यस्थ्य भाव रखते थे।

उनका समय वि० स० ७५७ से ८२७ के बीच मे माना जाता है। कुमारिल भट्ट वि० स० ७५० के आस-पास हुए हैं एव धर्मपाल के शिष्य धर्मकीर्त्ति ६९१ वि० स० ७०६ वि० तक विद्यमान रहे हैं। हरिभद्रसूरि ने इन सबका उल्लेख अपने ग्रन्थो मे किया है। सवत् ८३४-३५ मे रचित कुवलय माला प्राकृत कथा के रचनाकार उद्योतन सूरि हरिभद्र सूरि के शिष्य थे।

आचार्य श्री ने अष्टक, षोडषक एव पचाशक आदि प्रकरण लिखकर तत्कालीन असाधु आचार को मार्ग निर्देश दिया। चैत्यवासियो को उन्होंने ललकारा कि वे धर्म के पथ से च्युत हो रहे हैं। उनके द्वारा देव द्रव्य का भक्षण रोकने के लिए उन्होंने स्पष्ट शब्दो मे कहा कि देव द्रव्य का भक्षण करने वाला नरकगामी होता है। वे निश्चय ही युग द्रष्टा, सृष्टा एव क्रान्तिकारी थे। आज उनके साहित्य के पठन पाठन की आवश्यकता है जिससे हम चतुर्विध संघ को पतन के रास्ते से हटाकर वीर प्रदर्शित मार्ग पर आरूढ कर सकते हैं।

●●

□ श्री पुष्कर मुनि जी महाराज
[प्रसिद्ध वक्ता एव राजस्थान केसरी]

जैन सूत्रों के गुरु-गभीर रहस्यों का उद्घाटन करने वाले भाष्य, ज्ञान-विज्ञान, सस्कृति और इतिहास के अक्षय कोष हैं।

प्रस्तुत मे जैन सूत्रों के भाष्य एव भाष्यकारों का प्रामाणिक परिचय दिया है अधिकारी विद्वान् श्री पुष्कर मुनिजी ने।

जैन आगमो के —

भाष्य और भाष्यकार

□

जैन आगम साहित्य ज्ञान विज्ञान का अक्षय कोश है। उनके गुरु-गभीर रहस्यो को जानना सहज नही है। उन रहस्यो के उद्घाटन के लिए प्रतिभामूर्ति आचार्यों ने समय-समय पर व्याख्याएँ लिखी। व्याख्या साहित्य मे सर्वप्रथम स्थान निर्युक्तियो का है और उसके पश्चात् भाष्य-साहित्य का। निर्युक्तियाँ और भाष्य ये दोनो प्राकृत-भाषा मे पद्य बद्ध टीकाएँ हैं। अनेक स्थलो पर मागधी और शौरसेनी के प्रयोग भी दृष्टिगोचर होते हैं। मुख्य छन्द आर्या है। भाष्य साहित्य मे अनेक प्राचीन अनुश्रुतियाँ, लौकिक कथाएँ और परम्परागत निर्ग्रन्थो के आचार-विचार की विधियो का प्रतिपादन किया है। भाष्यकारो मे जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण और सघदासगणी ये दो प्रमुख हैं। विशेषावश्यक भाष्य और जीतकल्प-भाष्य ये आचार्य जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण की कृतियाँ हैं और बृहत्कल्प लघुभाष्य, पचकल्प महाभाष्य ये सघदास गणी की रचनाएँ हैं। व्यवहार भाष्य और बृहत्कल्प-बृहद् भाष्य के रचयिता कौन आचार्य हैं इनका निर्णय अभी तक इतिहास कार नही कर सके हैं। विज्ञो का ऐसा अभिमत है कि इन दोनो भाष्यो के रचयिता अन्य आचार्य रहे होंगे। बृहद्भाष्य के रचयिता, बृहत्कल्प चूर्णिकार और बृहत्कल्प विशेष चूर्णिकार के पश्चात् हुए है। सभव है कि ये आचार्य हरिभद्र के समकालीन या कुछ पहले रहे हों। व्यवहार भाष्य के रचयिता आचार्य जिनभद्र से पहले होने चाहिए।

जिनभद्रगणी

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण का जैन-साहित्य में विशिष्ट व गौरवपूर्ण स्थान है। उनकी जन्म-स्थली, माता-पिता आदि के सम्बन्ध मे अन्वेषण करने पर भी सामग्री प्राप्त नही हो सकी है। विज्ञो की ऐसी धारणा है कि उन्हें अपने जीवन काल मे विशिष्ट महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नही हुआ था। उनके स्वर्गवास होने के पश्चात् उनके महत्त्वपूर्ण मौलिक ग्रन्थो को देखकर गुणग्राही आचार्यों ने आचार्य परम्परा मे स्थान देना चाहा, किन्तु वास्तविकता न होने से विभिन्न-आचार्यों के विभिन्न मत प्राप्त होते हैं। यहाँ तक कि उनके सम्बन्ध मे विरोधी उल्लेख भी मिलते हैं। सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि १५वी १६वी शताब्दी की रचति पट्टावलियो मे उन्हे हरिभद्र सूरि का पट्टधर शिष्य लिखा है। जबकि हरिभद्र सूरि जिनभद्र से सौ वर्ष के बाद मे हुए हैं।

विशेषावश्यक भाष्य की एक प्रति शक स० ५३१ मे लिखी हुई वलभी के जैन भण्डार मे प्राप्त हुई है, जिससे यह सहज ही ज्ञात होता है कि जिनभद्र का वलभी के साथ अवश्य ही सम्बन्ध रहा होगा।

विविध तीर्थकल्प मे आचार्य जिनप्रभ लिखते हैं कि जिनभद्र क्षमाश्रमण ने पन्द्रह दिन तक तप की साधना कर एक देव की आराधना की और उसकी सहायता से दीमको द्वारा खाये गये महानिशीथ सूत्र का उद्धार किया[1] इससे यह ज्ञात होता है कि उनका सम्बन्ध मथुरा से भी था।

डा० उमाकान्त प्रेमानन्द शाह को अकोट्टक—अकोटा गाँव मे ऐसी प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं जिन पर यह
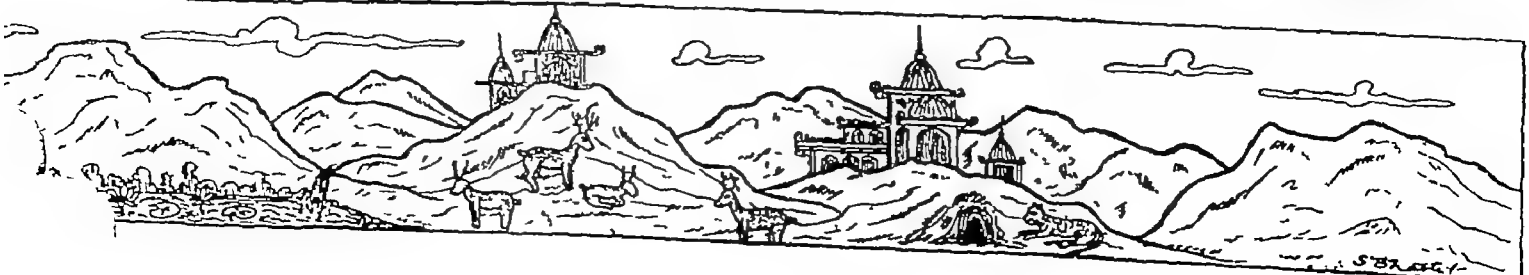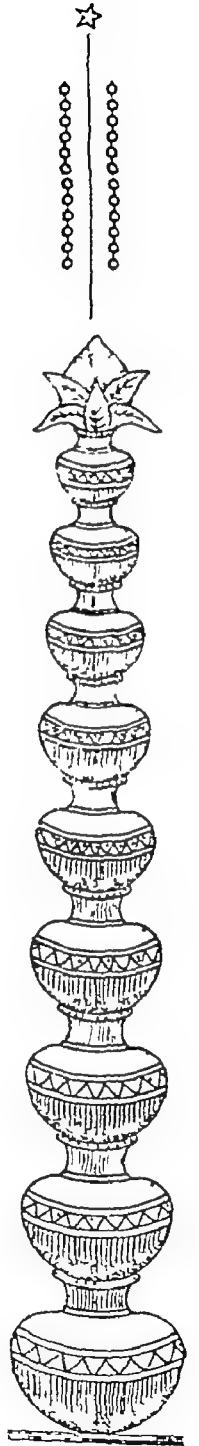
उट्टङ्कित है—"ओ३म् देवधर्मोय निवृतिकुले जिनभद्र वाचनाचायस्य" एव "ओ३म् निवृतिकुले जिनभद्र वाचनाचायस्य।"[२]

इन लेखो मे जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण को निवृत्ति कुल का बताया है और साथ ही उन्हें वाचनाचार्य भी लिखा है। प० दलसुखभाई मालवणिया का अभिमत है कि "प्रारम्भ मे 'वाचक' शब्द शास्त्र विशारद के लिए प्रचलित था परन्तु जब वाचको मे क्षमाश्रमणो की सख्या बढ़ती गई तब 'क्षमा श्रमण' शब्द भी वाचक के पर्याय के रूप मे विश्रुत हो गया। अथवा 'क्षमाश्रमण' शब्द आवश्यक सूत्र के सामान्य गुरु के अर्थ मे भी प्रयुक्त हुआ है अत सभव है कि शिष्य विद्यागुरु को क्षमाश्रमण के नाम से भी सम्बोधित करते रहे हों, अत क्षमाश्रमण और वाचक ये पर्यायवाची बन गये। जैन समाज मे जब वादियो की प्रतिष्ठा स्थापित हुई तब शास्त्र विशारद के कारण वाचको को 'वादी' कहा होगा और कालान्तर मे वादी वाचक का ही पर्यायवाची बन गया। आचाय सिद्धसेन को शास्त्र विशारद होने के कारण दिवाकर की पदवी दी गई, अत वाचक का पर्यायवाची दिवाकर भी है। आचार्य जिनभद्र का युग क्षमाश्रमणो का युग था अत उनके पश्चात् के लेखको ने उनके लिए वाचनाचार्य के स्थान पर क्षमाश्रमण शब्द का प्रयोग किया हो।"[३] इस प्रकार वाचक वाचनाचाय, क्षमाश्रमण आदि शब्द एक ही अथ के सूचक हैं।

जिनभद्र क्षमाश्रमण निवृत्ति कुल के थे। निवृत्ति कुल का उद्‌भव कैसे हुआ? इस सम्बन्ध मे पट्टावलियो मे लिखा है कि भगवान महावीर के सत्तरहवें पट्ट पर आचार्य वज्रसेन आसीन हुए। उनके पास जिनदत्त (जिनदास) के चार पुत्रों ने आहती दीक्षा ग्रहण की। उनके नागेन्द्र, चन्द्र, निवृत्ति और विद्याधर ये चार नाम थे। उन्हीं के नाम पर चार मुख्य कुल हुए।[४]

उपर्युक्त तथ्यो के अतिरिक्त जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण के जीवन के सम्बन्ध मे कोई सामग्री प्राप्त नहीं होती। सिद्धसेन गणी ने जीतकल्प चूर्णि मे जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण के गुणों का उल्लेख इस प्रकार किया है—

"जो अनुयोग धर, युगप्रधान, प्रधान ज्ञानियो से बहुमत, सवश्रुति और शास्त्र मे कुशल तथा दशन-ज्ञानोपयोग के माग-दर्शक है। जिस प्रकार कमल की मधुर सौरभ से आकर्षित होकर भ्रमर कमल की उपासना करते हैं उसी प्रकार ज्ञानरूप मकरद के पिपासु मुनि जिनके मुख रूप निर्झर से प्रवाहित ज्ञानरूप अमृत का सर्वदा सेवन करते हैं। स्व-समय तथा पर-समय के आगम, लिपि, गणित, छन्द और शब्दशास्त्रो पर किये गए व्याख्यानो से निर्मित जिनका अनुपम यश-पटह दसो दिशाओ मे बज रहा है। जिन्होंने अपनी अनुपम बुद्धि के प्रभाव से ज्ञान, ज्ञानी, हेतु, प्रमाण तथा गणधरवाद का सविशेष विवेचन विशेषावश्यक मे ग्रन्थ-निबद्ध किया है। जिन्होंने छेदसूत्रो के अथ के आधार पर पुरुष विशेष के पृथक्करण के अनुसार प्रायश्चित की विधि का विधान करने वाले जीतकल्प सूत्र की रचना की है। ऐसे पर-समय के सिद्धान्तो मे निपुण सयमशील श्रमणो के माग के अनुगामी और क्षमाश्रमणो मे निधानभूत जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण को नमस्कार हो।[५]

इस वणन से यह स्पष्ट परिज्ञात होता है कि जिनभद्रगणी आगमो के गभीर रहस्यो के ज्ञाता थे। परवर्ती अन्य विद्वान आचार्यों ने भी उनके लिए अनेक विशेषणो का प्रयोग किया है।

पुरातत्त्ववेत्ता मुनि जिनविजय जी ने जैसलमेर भण्डार से प्राप्त विशेषावश्यक भाष्य की प्रति के अन्त में जो दो गाथाएँ हैं उसके आधार से भाष्य का रचनाकाल विक्रम स० ६६६ माना है।[६] उन गाथाओ का अर्थ है शक सवत ५३१ (विक्रम स० ६६६) में वलभी मे जिस समय शीलादित्य राज्य करता था, उस समय चैत्र शुक्ला पूर्णिमा, बुधवार और स्वाति नक्षत्र मे विशेषावश्यक भाष्य की रचना पूर्ण हुई।

प० दलसुख भाई मालवणिया मुनि जिनविजय जी के कथन से सहमत नहीं हैं। उनका अभिमत है कि उपर्युक्त गाथाओ मे रचना विषयक किसी भी प्रकार का उल्लेख नहीं हुआ है। खण्डित अक्षरो को यदि हम किसी मन्दिर विशेष का नाम मान लें तो इन गाथाओं मे कोई क्रियापद नहीं रहता। ऐसी स्थिति में इसकी रचना शक स० ५३१ मे हुई, यह निश्चय पूवक नहीं कह सकते। अधिक सभव तो यही लगता है कि उस समय यह प्रति लिखकर मन्दिर को समर्पित की गई हो। चूंकि ये गाथाएँ केवल जैसलमेर की प्रति में ही हैं, अन्य किसी भी प्राचीन प्रतियों मे नहीं है। यदि ये गाथाएँ मूलभाष्य की ही होती तो सभी मे होनी चाहिए थी। दूसरी बात ये गाथाएँ रचनाकाल सूचक हैं ऐसा माना जाय तो यह भी मानना होगा कि इन गाथाओ की रचना जिनभद्र ने की, तो इन गाथाओ की टीकाएँ भी मिलनी

चाहिए। कोट्याचार्य और मलधारी हेमचन्द्र की विशेषावश्यक की टीकाओ मे इन गाथाओ पर टीकाएँ नही हैं और न उन टीका ग्रन्थो मे ये गाथाएँ ही हैं अत इन गाथाओ मे जो समय निर्दिष्ट किया गया है वह रचना का नही किन्तु प्रति लेखन का है।[७]

जेसलमेर स्थित प्रति के आधार पर विशेषावश्यक भाष्य का प्रति लेखन समय शक सवत् ५३१ अर्थात् विक्रम सम्वत् ६६६ मानते हैं तो इसका रचना समय इससे पूर्व का होना चाहिए। विशेषावश्यक भाष्य जिनभद्र की अन्तिम कृति है। उनकी स्वोपज्ञ वृत्ति भी मृत्यु हो जाने से पूर्ण नही हो सकी थी। इस प्रकार जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण का उत्तरकाल विक्रम स० ६५०–६६० के आस-पास रहना चाहिए।

आचार्य जिनभद्र गणी की ९ रचनाएँ उपलब्ध हैं[८]—

(१) विशेषावश्यक भाष्य—प्राकृत पद्य मे
(२) विशेषावश्यक भाष्य स्वोपज्ञ वृत्ति—अपूर्ण-सस्कृत गद्य
(३) वृहत्सग्रहणी—प्राकृत पद्य
(४) वृहत्क्षेत्र समास—प्राकृत पद्य
(५) विशेषणवती ,, ,,
(६) जीतकल्प ,, ,,
(७) जीतकल्प भाष्य ,, ,,
(८) अनुयोग द्वार चूर्णि[९] प्राकृत गद्य
(९) ध्यान शतक ,, पद्य

ध्यान शतक के निर्माता के सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतभेद है।

विशेषावश्यक भाष्य

हम पहले ही बता चुके हैं कि विशेषावश्यक भाष्य जिनदास गणी की एक महत्त्वपूर्ण कृति है। यो आवश्यक सूत्र पर तीन भाष्य लिखे गये हैं—(१) मूल भाष्य, (२) भाष्य और (३) विशेषावश्यक भाष्य। प्रथम दो भाष्य बहुत ही सक्षेप मे लिखे गये हैं और उनकी बहुत-सी गाथाएँ विशेषावश्यक भाष्य मे मिला दी गई है। इस प्रकार विशेषावश्यक भाष्य तीनो भाष्यो का प्रतिनिधित्व करता है।

विशेषावश्यक भाष्य एक ऐसा ग्रन्थ रत्न है जिसमे जैन आगमो मे वर्णित सभी महत्त्वपूर्ण विषयो पर चर्चा-विचारणा की गई है। ज्ञानवाद, प्रमाण आचार-नीति, स्याद्वाद, नयवाद, कर्मवाद प्रभृति सभी विषयो पर विस्तार से विश्लेषण है। सबसे बडी विशेषता इस ग्रन्थ की यह है कि जैन-तत्त्वज्ञान का जो विश्लेषण किया गया है उसमे जैन दृष्टि के साथ अन्यान्य दार्शनिक दृष्टियों के साथ भी तुलना की गई है। आगमिक विचारधाराओ का जैसा तर्कपुरस्सर विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ मे हुआ है वैसा अन्य ग्रन्थों मे देखने को नहीं मिलता। बाद के आचार्यों व लेखको ने प्रस्तुत भाष्य की सामग्री का खुलकर उपयोग किया है और तर्क पद्धति को भी अपनाया है। यह साधिकार कहा जा सकता है—प्रस्तुत भाष्य के पश्चात् रचित जितने भी आगम की व्याख्या करने वाले महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं, उन्होंने किसी न किसी रूप में भाष्य का आधार लिया ही है।

विशेषावश्यक भाष्य मे आवश्यक सूत्र की व्याख्या की गई है, किन्तु सम्पूर्ण आवश्यक सूत्र पर व्याख्या न होकर प्रथम अध्ययन सामायिक से सम्बन्धित जो निर्युक्ति की गाथाएं हैं उन्हीं पर विवेचन है। एक अध्ययन पर होने पर भी इसमे ३६०३ गाथाएँ हैं। ग्रन्थ मे सर्वत्र आचार्य की प्रबल तर्कशक्ति, अभिव्यक्ति की कुशलता विषय प्रतिपादन की पटुता और व्याख्यान की विदग्धता का सहज ही परिचय प्राप्त होता है। जैन आचार और विचार के उन मूलभूत सभी तत्त्वो का सग्रह है। जहाँ दर्शन की गहनता का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है वहाँ चारित्र की बारीकियो का भी निरूपण है, इस प्रकार विशेषावश्यक भाष्य जैन तत्त्वज्ञान का एक महत्त्व पूर्ण ग्रन्थ रत्न है।

जीतकल्प भाष्य

आचार्य जिनभद्र गणी की दूसरी कृति जीतकल्प भाष्य है। इसमें उन्होंने वृहद्कल्प लघुभाष्य, व्यवहार भाष्य,
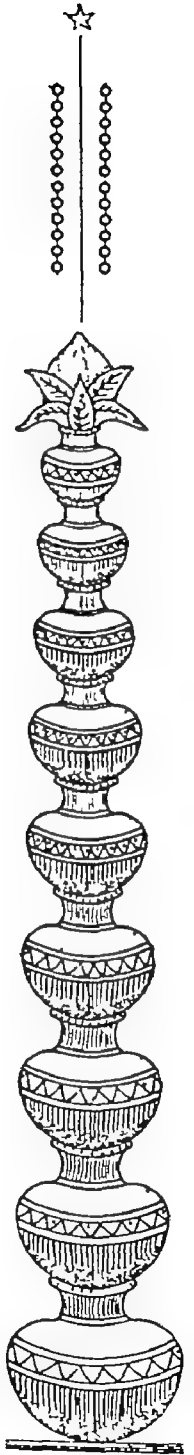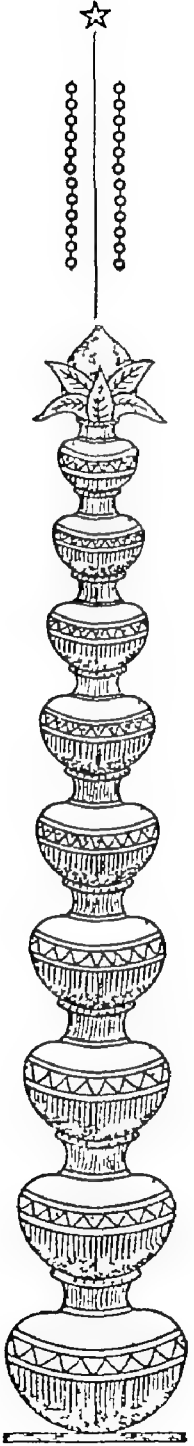
पचकल्प महाभाष्य, पिण्ड निर्युक्त प्रभृति अनेक ग्रन्थो से गाथाएँ उद्धृत की हैं अत यह एक सग्रह ग्रन्थ है।[१०] मुख्य रूप से इसमे प्रायश्चित के विधिविधान हैं। भाष्यकार ने लिखा है—जो पाप का छेद करता है वह पायच्छित-प्रायश्चित है, या प्राय जिसमे चित्त शुद्ध होता है वह पच्छित-प्रायश्चित है।[११] जीत-व्यवहार का विवेचन करते हुए आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत ये पाँच व्यवहार बताये हैं। जीतव्यवहार वह है जो आचार्य परम्परा से प्राप्त है, श्रेष्ठ पुरुषो द्वारा अनुमत है, और बहुश्रुतो द्वारा सेवित है। इस व्यवहार का आधार परम्परा है आगम नही। भाष्यकार ने प्रायश्चित का अठारह, बत्तीस, और छत्तीस स्थानो का वर्णन किया है। प्रायश्चित देने वाले की योग्यता अयोग्यता पर चिन्तन करते हुए लिखा है—प्रायश्चित देने की योग्यता केवली या चतुर्दश पूर्वधर मे होती है किन्तु वर्तमान मे उनका अभाव होने से कल्प (बृहत्कल्प) प्रकल्प (निशीथ) और व्यवहार के आधार पर प्रायश्चित दिया जा सकता है। चारित्र की विशुद्धि के लिए प्रायश्चित की अनिवार्य आवश्यकता है। प्रायश्चित देते समय दाता के हृदय मे दयाभाव की निर्मल स्रोतस्विनी बहनी चाहिए। जिसे प्रायश्चित देना हो उसकी शक्ति-अशक्ति का पूर्ण ध्यान होना चाहिए। आलोचना, प्रतिक्रमण, मिश्र, विवेक व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, अनवस्थाप्य, और पाराचिक इन दस प्रकार के प्रायश्चित और उनके स्वरूप का विश्लेषण करते हुए अपराध स्थानो का भी वर्णन किया है। यह भी लिखा है कि 'अनवस्थाप्य और पाराचिक प्रायश्चित आचार्य भद्रबाहु तक प्रचलित थे। इसके पश्चात् उनका विच्छेद हो गया।[१२]

जीतकल्प भाष्य आचार्य जिनभद्र की जैन आचार-शास्त्र पर एक महत्त्वपूर्ण कृति है इसमे किञ्चित मात्र भी सन्देह नहीं है।

सघदास गणी

द्वितीय भाष्यकार सघदास गणी है। सघदास के जीवन वृत्त के सम्बन्ध मे इतिहासकार मौन है। इनके माता-पिता कौन थे, कहाँ इनकी जन्मस्थली थी और किन आचार्य के पास प्रव्रज्या ग्रहण की आदि कुछ भी जानकारी नही मिलती है। आगम प्रभाकर मुनि श्री पुण्यविजय जी म० के अभिमतानुसार सघदास गणी नामक दो आचार्य हुए है। एक आचार्य ने बृहत्कल्प-लघुभाष्य और पञ्चकल्प महाभाष्य लिखा है। दूसरे आचार्य ने वसुदेवहिंडि-प्रथम खण्ड की रचना की है। भाष्यकार सघदास गणी 'क्षमाश्रमण' पद से विभूषित हैं तो वसुदेव हिंडि के रचयिता 'वाचक' पद से अलकृत हैं। दूसरी बात आचार्य जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण ने अपनी विशेषणवती नामक ग्रन्थ मे वसुदेव हिंडी नामक ग्रन्थ का अनेक बार उल्लेख किया है और वसुदेव हिंडि मे जो ऋषभ देव चरित्र है उनकी गाथाओ का सग्रहणी के रूप मे अपने ग्रन्थ मे प्रयोग किया है। इससे यह स्पष्ट है वसुदेव हिंडि के प्रथम खण्ड के रचयिता सघदास गणी आचार्य जिनभद्र से पहले हुए हैं।

भाष्यकार सघदास गणी भी आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण से पहले हुए हैं। जब तक अन्य प्रबल साक्ष्य प्राप्त न हों तब तक निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि सघदास गणी एक हुए है या दो हुए हैं। पर यह स्पष्ट है। सघदास गणी आगम साहित्य के मर्मज्ञ व छेदसूत्रो के तलस्पर्शी विद्वान थे। उनके जोड का और कोई भी छेद सूत्रज्ञ आचार्य आज के विज्ञो की जानकारी मे नही है। वे जिस विषय को उठाते है, उसे उतनी गहराई मे ले जाते हैं कि साधारण विद्वानो की कल्पना भी वहाँ नही पहुच पाती।

बृहत्कल्प-लघुभाष्य

बृहत्कल्प-लघुभाष्य सघदास गणी की महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमे बृहत्कल्प सूत्र के पदो का सविस्तृत विवेचन है। लघुभाष्य होने पर भी इसकी गाथा सख्या ६४६० है। यह छह उद्देश्यो मे विभक्त है। इसके अतिरिक्त भाष्य के प्रारम्भ मे एक विस्तृत पीठिका है, जिसकी गाथा सख्या ८०५ है। प्रस्तुत भाष्य मे भारत की महत्त्वपूर्ण सास्कृतिक सामग्री का भी अङ्कन किया गया है। डा० मोतीचन्द्र ने इस भाष्य की सामग्री को लेकर अपनी पुस्तक 'सार्थवाह' मे 'यात्री और सार्थवाह' का परिचय प्रदान करने के लिए उपयोग किया है। प्राचीन भारतीय सस्कृति की दृष्टि से इस भाष्य का विशेष महत्त्व है। जैन श्रमणो के आचार का सूक्ष्म एव तर्क पुरस्सर विवेचन इस भाष्य की प्रमुख विशेषता है।

पीठिका मे मगलवाद, ज्ञानपचक, अनुयोग, कल्प, व्यवहार, प्रभृति विषयो पर प्रकाश डाला गया है। प्रथम

उद्देश्य की व्याख्या मे तालवृक्ष से सम्बन्धित नाना प्रकार के दोष और प्रायश्चित, ताल प्रलम्ब के ग्रहण सम्बन्धी अपवाद निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो के देशान्तर गमन के कारण और उसकी विधि, श्रमणो की बीमारी के विधि-विधान, वैद्यो के प्रकार, दुष्काल आदि विशेष परिस्थिति मे श्रमण-श्रमणियो के एक-दूसरे के अवगृहीत क्षेत्र मे रहने की विधि, ग्राम, नगर, खेड, कर्बटक, मडम्बन, पत्तन, आकर, द्रोणमुख, निगम, राजधानी, आश्रम, निवेश, सबाध, घोप, अशिका, पुटभेदन, शकर आदि पदो का विवेचन किया गया है। नक्षत्रमास, चन्द्रमास, ऋतुमास, आदित्य मास और अभिवर्धित मास का वर्णन है। जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक की क्रियाएँ, समवसरण, तीर्थंकर, गणधर, आहारक शरीरी, अनुत्तर देव, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि की शुभ और अशुभ कर्म प्रकृतियाँ, तीर्थंकर की भाषा का विभिन्न भाषा मे परिणमन, आपण-गृह रथ्यामुख, शृङ्गाटक, चतुष्क, चत्वर, अन्तरापण, आदि पदो पर विवेचन किया गया है और उन स्थानो पर बने हुए निर्ग्रन्थियो को जिन दोषो के लगने की सभावनाएँ हैं उनकी चर्चा की है।

भाष्यकार ने बारह प्रकार के ग्रामो का उल्लेख किया है (१) उत्तानकमल्लक, (२) अवाङ्मुखमल्लक, (३) सम्पुटकमल्लक, (४) उत्तानकखण्डमल्लक, (५) अवाङ्मुखखण्डमल्लक, (६) सम्पुटखण्डमल्लक, (७) भिति, (८) पडालि, (९) वलभि (१०) अक्षाटक, (११) रूपक, (१२) काश्यपक।

तीर्थंकर, गणधर, और केवली के समय ही जिनकल्पिक होते हैं। जिनकल्पिक की समाचारी का सत्ताइस द्वारो मे वर्णन किया है—(१) श्रुत (२) सहनन, (३) उपसर्ग, (४) आतक, (५) वेदना, (६) कतिजन, (७) स्थडिल (८) वसति, (९) कियाच्चिर, (१०) उच्चार, (११) प्रस्रवण, (१२) अवकाश, (१३) तृणफलक, (१४) सरक्षणता, (१५) सस्थापनता, (१६) प्राभृतिका, (१७) अग्नि, (१८) दीप, (१९) अवधान, (२०) वत्स्यथ, (२१) भिक्षाचर्या, (२२) पानक, (२३) लेपालेप, (२४) अलेप, (२५) आचाम्ल, (२६) प्रतिमा, (२७) मासकल्प।

स्थविर कल्पिक की प्रव्रज्या, शिक्षा, अर्थग्रहण, अनियतवास, और निष्पत्ति जिनकल्पिक के सदृश ही है।

विहार की चर्चा करते हुए, विहार का समय, विहार करने के पूर्वगच्छ के निवास एव निर्वाह योग्य क्षेत्र का परीक्षण, उत्सर्ग और अपवाद की दृष्टि से योग्य-अयोग्य क्षेत्र प्रत्युपेक्षको का निर्वाचन, क्षेत्र की प्रति लेखना के लिए किस प्रकार गमनागमन करना चाहिए, विहार-मार्ग, एव स्थडिल भूमि, जल, विश्राम स्थान, भिक्षा, वसति, उपद्रव आदि की परीक्षा प्रतिलेखनीय क्षेत्र में प्रवेश करने की विधि, भिक्षा के द्वारा उस क्षेत्र के निवासियो के मानस की परीक्षा, भिक्षा, औषध आदि सुगम व कठिनता से मिलने का ज्ञान, विहार करने से पहले वसति के स्वामी की अनुमति, विहार करते समय शुभ-शकुन देखना, आदि।

स्थविर कल्पिको की समाचारी मे निम्न बातो पर प्रकाश डाला है—(१) प्रतिलेखना—वस्त्र आदि के प्रति लेखना का समय, प्रति-लेखना के दोष और प्राय श्चित, (२) निष्क्रमण—उपाश्रय से बाहर निकलने का समय, (३) प्राभृतिका—गृहस्थ के लिए जो मकान तैयार किया है उसमें रहना चाहिए या नहीं रहना चाहिए। (४) भिक्षा के लेने का समय, और भिक्षा सम्बन्धी आवश्यक वस्तुएँ, (५) कल्पकरण—पात्र साफ करने की विधि, लेपकृत और अलेपकृत पात्र, पात्र लेप से लाभ। (६) गच्छशतिकादि—आधाकर्मिक, स्वगृहयतिमिश्र, स्वगृह पाषण्ड मिश्र, यावदर्थिक मिश्र, क्रीतकृत, पूतिकर्मिक, और आत्मार्थकृत। (७) अनुयान-रथ यात्रा का वर्णन और उस सम्बन्धी दोष। (८) पुर कर्म-भिक्षा लेने से पहले सचित्त जल से हाथ आदि धोने से लगने वाला दोष, (९) ग्लान-रुग्ण सन्त की सेवा से होने वाली निर्जरा, उसके लिए पथ्यापथ्य की गवेषणा, वैद्य के पास चिकित्सा के लिए जाने की विधि, उनके साथ वार्तालाप, आदि किस प्रकार करना। रुग्ण साधु को निर्दयता-पूर्वक उपाश्रय आदि मे छोडकर चले जाने वाले आचार्य को लगने वाले दोष और उनका प्रायश्चित (१०) गच्छ प्रतिबद्ध यथालदिक-याचना आदि कारणों से गच्छ से सम्बन्ध रखने वाले यथालदिक कल्पधारियो के साथ वन्दन आदि व्यवहार (११) उपरिदोष—ऋतुबद्ध काल से अतिरिक्त समय में एक क्षेत्र में, एक मास से अधिक रहने से लगने वाले दोष। (१२) अपवाद—एक मास से अधिक रहने के आपवादिक कारण, निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियो के विहार का विस्तृत वर्णन है।
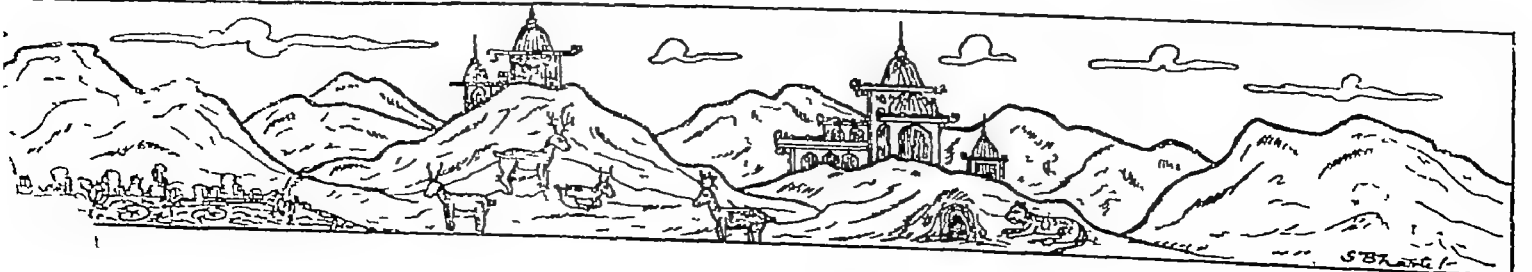
भाष्य मे कही-कही पर सुभाषित भी दिखाई देते है—

कत्थ व न जलइ अग्गी, कत्थ व चदो न पायडो होइ ।
कत्थ वरलक्खागधरा, न पायडा होति सप्पुरिसा ।।
उदए न जलइ अग्गी, अब्भच्छिन्नो न दीसइ चदो ।
मुक्खेसु महाभागा, विज्जापुरिसो न मायति ।।

अग्नि कहाँ प्रकाश मान नही होती ? चन्द्रमा कहाँ प्रकाश नही करता ? शुभ लक्षण के धारक सत्पुरुष कहाँ प्रकट नही होते ?

अग्नि जल मे बुझ जाती है, चन्द्रमा मेघाच्छादित आकाश मे दिखाई नही देता और विद्या सम्पन्न पुरुष मूर्खों की सभा मे शोभा को प्राप्त नही होते ।

वर्षाकाल मे गमन करने से वृक्ष की शाखा आदि का सिर पर गिर जाने से, कीचड से पैर फिसल जाने, नदी मे बह जाने, काटा लग जाने आदि का भय रहता है, इसलिए निग्रन्थ और निग्रन्थिनियो को वर्षाकाल म गमन करने का निषेध है । विरुद्धराज्य मे सक्रमण करने से बन्द बन्ध, आदि का भय रहता है । रात्रि या विकाल मे बिहार करने से गड्डे आदि मे गिरने, साँप, कुत्ते से काटे जाने, बैल से मारे जाने, या काँटा आदि के लग जाने का भय रहता है । प्रस्तुत प्रसग पर कालोदाई नाम के भिक्षु की कथा दी है । वह भिक्षु रात्रि के समय किसी ब्राह्मणी के घर भिक्षा मागने गया था । वह गर्भवती थी । अन्धेरे से ब्राह्मणी को कील दिखाई नहीं दी, कील पर गिर जाने से उसकी मृत्यु हो गई ।

सदा जाग्रत रहने का उपदेश दिया है कि हे मनुष्यो ! सदा जाग्रत रहो । जागृत मनुष्य की बुद्धि का विकास होता है जो जागता है वह सदा धन्य है—

जागरह नरा ! णिच्च, जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धि ।
जो सुवति ण सो धण्ण, जो जग्गति सो सया धण्णो ।।

शील और लज्जा को स्त्रियो का भूषण कहा है । हार आदि आभूषणों से स्त्री का शरीर विभूषित नही होता । उसका भूषण तो शील और लज्जा ही है । सभा मे सस्कार युक्त असाधुवादिनी वाणी प्रशस्त नहीं कही जा सकती ।

ण भूसण भूसयते सरीर, विभूसण सीलहिरी य इत्थिए ।
गिरा हि सखारजुया वि ससती, अपेसला होइ असाहुवादिणी ।।

जिन शासन का सार बताते हुए लिखा है जिस बात की अपने लिए इच्छा करते हो, उसकी दूसरे के लिए भी इच्छा करो, और जो बात अपने लिए नही चाहते हो उसे दूसरे के लिए भी न चाहो—यही जिन शासन है—

ज इच्छसि अप्पणतो, ज च ण इच्छसि अप्पणतो ।
त इच्छ परस्स वि या, एत्तियग जिणसासणय ।।

विस्तार भय से भाष्य मे आई हुई सभी बातो पर प्रकाश नही डाल सके हैं । किन्तु भारतीय साहित्य मे प्रस्तुत भाष्य का महत्त्वपूर्ण व अनूठा स्थान है ।

पञ्चकल्प महाभाष्य

आचार्य सघदासगणी की द्वितीय कृति पञ्चकल्प महाभाष्य है जो पञ्चकल्प नियुक्ति के विवेचन के रूप मे है । इसमे कुल २६५५ गाथाएँ हैं, जिसमे भाष्य की २५७४ गाथाएँ हैं । इसमे पाँच प्रकार के कल्प का सक्षिप्त वणन है, फिर उसके छह, सात, दस, बीस, और बयालीस भेद किये गये हैं । पहला कल्प-मनुज जीव कल्प छह प्रकार का है—प्रव्राजन, मुडन, शिक्षण उपस्थ, भोग, और सवसन, । जाति, कुल, रूप और विनय सम्पन्न व्यक्ति ही प्रव्रज्या के योग्य हैं । बाल, वृद्ध, नपुसक, जड, क्लीब, रोगी स्तेन, राजापकारी, उन्मत्त, अदर्शी, दास दुष्ट, मूढ़, अज्ञानी, जुगित,

भयभीत, पलायित, निष्कासित गर्भिणी, बालवत्सास्त्री—ये बीस प्रकार के व्यक्ति प्रव्रज्या के अयोग्य है। क्षेत्रकल्प की चर्चा मे साढ़े पच्चीस देशो को आर्य क्षेत्र कहा है जहाँ पर श्रमण विचरण कर सकते हैं। उन जनपदो व राजधानियो का नाम भी बताया है।

द्वितीय कल्प के सात भेद हैं—स्थितकल्प, अस्थितकल्प, जिनकल्प, स्थविरकल्प, लिंगकल्प, उपधिकल्प और समोगकल्प,।

तृतीय कल्प के दस भेद है—कल्प, प्रकल्प विकल्प, सकल्प, उपकल्प, अनुकल्प, उत्कल्प, अकल्प दुष्कल्प, और सुकल्प।

चतुर्थ कल्प के बीस भेद हैं—नामकल्प, स्थापनाकल्प, द्रव्यकल्प, क्षेत्रकल्प, कालकल्प, दर्शनकल्प, श्रुतकल्प, अध्ययनकल्प, चारित्रकल्प, आदि।

पञ्चम कल्प के द्रव्य, भाव, तदुभयकरण, विरमण, सदाधार, निर्वेश अन्तर, नयातर, स्थित, अस्थित, स्थान आदि बयालीस भेद है।

इस प्रकार पाँच कल्पो का वर्णन प्रस्तुत भाष्य मे हुआ है।

निशीथ भाष्य

निशीथ भाष्य के रचयिता भी सघदासगणी माने जाते थे। उसकी अनेक गाथाएँ बृहत्कल्प भाष्य और व्यवहार भाष्य से मिलती है। भाष्य मे अनेक सरस लौकिक कथाएँ भी हैं। श्रमणो के आचार विचार सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण विषयो का प्रतिपादन किया है। जैसे पुलिंद आदि अनार्य जगल मे जाते हुए श्रमणो को आर्य समझकर मार देते थे। सार्थवाह व्यापार के लिए दूर-दूर देशो मे जाते थे। अनेक प्रकार के सिक्के उस युग मे प्रचलित थे। इसमे बृहत्कल्प नन्दिसूत्र, सिद्धसेन और गोविन्द-वाचक का उल्लेख है।

व्यवहार भाष्य

हम पहले ही बता चुके हैं कि व्यवहार भाष्य के रचयिता का नाम अभी तक ज्ञात नही हो सका है। बृहत्कल्प भाष्य के समान ही प्रस्तुत भाष्य मे भी श्रमण-श्रमणियो के आचार की चर्चा है। सर्वप्रथम पीठिका मे व्यवहार, व्यवहारी एव व्यवहर्तव्य के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। व्यवहार मे दोष लगने की दृष्टि से प्रायश्चित्त का अर्थ, भेद, निमित्त आदि दृष्टियो से विवेचन किया है। विवेचन करते हुए अनेक दृष्टान्त भी दिये हैं। उसके पश्चात् भिक्षु, मास, परिहार, स्थान, प्रतिसेवना, आलोचना आदि पदो पर निक्षेपपूर्वक व्याख्यान किया है। आधाकर्म से सम्बन्धित अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार के लिए अलग-अलग प्रायश्चित्त का विधान है। प्रायश्चित्त से मूलगुण और उत्तर गुण दोनो की विशुद्धि होती है।

प्रायश्चित्त के योग्य पुरुष चार प्रकार के होते हैं—उभयतर—जो स्वय तप करता हुआ दूसरो की भी सेवा कर सकता है। आत्मतर—जो केवल तप ही कर सकता है, परतर—जो केवल सेवा ही कर सकता है। अन्यतर—जो तप और सेवा दोनो में से किसी एक समय मे एक का ही सेवन कर सकता है।

शिथिलता के कारण गच्छ का परित्याग कर पुन गच्छ मे सम्मिलित होने के लिए विविध प्रायश्चितो का विधान किया है और पार्श्वस्थ, यथाच्छन्द, कुशील, अनसक्त एव ससक्त के स्वरूप पर भी प्रकाश डाला है।

भाष्यकार ने साधुओ के विहार की चर्चा करते हुए एकाकी विहार का निषेध किया है और उनके लगने वाले दोषो का निरूपण किया है।

विविध प्रकार के तपस्वी व रूग्ण व्यक्तियो की सेवा का विधान करते हुए क्षिप्तचित्त और दीप्तचित्त श्रमणो की सेवा करने की मनोवैज्ञानिक पद्धति पर प्रकाश डाला है। क्षिप्तचित्त होने के राग, भय और अपमान ये तीन कारण हैं। दीप्तचित होने का मुख्य कारण सम्मान है। विशेष सम्मान होने से उसमे मद पैदा है। दुर्जय शत्रुओ पर विजय वैजयन्ती फहराने के मद से उन्मत्त होकर वह दीप्तचित्त हो जाता है। क्षिप्तचित्त और दीप्तचित्त मे मुख्य अन्तर यह होता है, क्षिप्तचित्त प्राय मौन रहता है और दीप्तचित्त बोलता रहता है।

भाष्यकार ने गणावच्छेदक, आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, प्रवर्तिनी आदि पदवियो के धारण करने वाले की योग्यता पर चिन्तन किया है। जो एकादशाग के ज्ञाता हैं, नवम पूर्व के ज्ञाता हैं, कृतयोगी है, बहुश्रुत हैं,

जैन साहित्य के व्यास—कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की एक विरल झांकी यहाँ प्रस्तुत है।

☐ अभयकुमार जैन, एम० ए०, बी० एड०
साहित्यरत्न (बीना, म० प्र०)

आचार्य हेमचन्द्र जीवन, व्यक्तित्व एवं कृतित्व

☐

भारतीय वाङ्मय के विकास मे जिन आचार्यों ने महान् योगदान दिया है उनमे 'कलिकाल सर्वज्ञ' की उपाधि से विभूषित आचार्य हेमचन्द्र का स्थान अन्यतम है। वे 'ज्ञान के सागर' थे। उनका व्यक्तित्व व्यापक, विशाल, प्रेरक व गौरवपूर्ण था। कलिकाल सर्वज्ञ की उपाधि ही उनके व्यक्तित्व की विशालता एवं व्यापकता की द्योतक है। वे अद्भुत प्रतिभा के धनी थे। उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा किसी विषय विशेष तक ही सीमित नही थी, अपितु उन्होंने विभिन्न विषयो पर महान् ग्रन्थो का प्रणयन कर वाङ्मय के प्रत्येक क्षेत्र को अपनी लेखिनी से विभूषित और समृद्ध किया। वे एक मूर्तिमान ज्ञानकोष थे। 'इनमे एक साथ ही वैयाकरण, आलङ्कारिक, दार्शनिक, साहित्यकार, इतिहासकार पुराणकार, कोषकार, छन्दोनुशासक, धर्मोपदेशक और महान् युगकवि का अन्यतम समन्वय हुआ है।'[1] केवल साहित्यिक क्षेत्र मे ही नहीं, अपितु सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं राजनैतिक क्षेत्रो मे भी आचार्य श्री ने अपूर्व योगदान दिया है। वे सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय तथा सर्वोपदेशाय इस भूतल पर अवतरित हुए थे। निःसन्देह भारत के मनीषियो और ऋषियो की परम्परा में उनका नाम स्वर्णाक्षरो मे लिखा जाने योग्य है।

आचार्य श्री का जन्म गुजरात प्रदेश के अहमदाबाद नगर से लगभग ९६ किलोमीटर दूर दक्षिण-पश्चिम मे स्थित 'धुंधुकानगर' या 'धधुक्य' मे वि०सं० ११४५ की कार्तिक-पूर्णिमा की रात्रि की मंगलवेला मे हुआ था। प्राचीनकाल मे यह एक समृद्धि सम्पन्न और सुविख्यात नगर था। संस्कृत के इतर ग्रन्थों में इस नगर के नाम 'धुन्धुकपुर' अथवा 'धुंधुक्क' नगर भी मिलते हैं।[2] इनके पिता का नाम 'चच्च' अथवा 'चाचिग' तथा माता का नाम 'चाहिणी' अथवा 'पाहिणी' था। ये मोढ़वंशीय[3] वैश्य थे। चूंकि इनके पूर्वजो का निष्क्रमण ग्राम 'मोढ़ेरा' से हुआ था इसी से ये मोढ़वंशीय कहे जाते थे। कहा जाता है कि इनके पिता शैवधर्मावलम्बी थे तथा माता जैनधर्मावलम्बी[4] थीं। धार्मिक सहिष्णुता और प्रेम का यह एक अच्छा उदाहरण था। पाहिणी का भाई (चङ्गदेव का मामा) नेमिनाग था जो पूर्णत जैनधर्मावलम्बी था और जिसने अन्त मे जैनीदीक्षा[5] भी ग्रहण की थी। प्रारम्भिक अवस्था में बालक का नाम 'चङ्गदेव' रखा गया था। बालक का यह नामकरण इनकी कुलदेवी 'चामुण्डा' और कुलयक्ष 'गोनस' के आद्यक्षरो के मेल से उनकी स्मृति स्वरूप किया गया था।[6] सोमप्रभसूरि के वर्णन के अनुसार जिस समय चङ्गदेव अपनी माता के गर्भ मे थे उस समय उनकी माता ने अद्भुत स्वप्न देखे थे। 'प्रभावक चरित' में भी माता द्वारा अद्भुत स्वप्न देखे जाने का वर्णन है तथा राजशेखर ने भी 'प्रबन्ध कोश' मे माता के इस स्वप्न के विषय में लिखा है।

जन्मोपरान्त बालक चङ्गदेव का क्रमिक विकास शीघ्र सम्पन्न हुआ। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' की लोकोक्ति के अनुसार बालक चङ्गदेव अपनी प्रारम्भिक अवस्था से ही अत्यधिक होनहार व निपुण था। माता-पिता और धर्मगुरुओं के सम्पर्क से बालक मे सद्गुणो का विकास होना प्रारम्भ हुआ। जब ये केवल आठ वर्ष के ही थे तभी (वि०सं० ११५४ में) इन्होंने अपने समय के प्रसिद्ध आचार्य देवचन्द्र से साधुदीक्षा ग्रहण कर ली थी। ये ही इनके दीक्षागुरु, शिक्षागुरु और विद्यागुरु थे। आ० हेमचन्द्र ने भी अपने इन गुरु के नाम का स्पष्ट उल्लेख अपने 'त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित' में किया है।[7] दीक्षोपरान्त चङ्गदेव का नाम 'सोमचन्द्र' रखा गया था।

चङ्गदेव की साधुदीक्षा के सम्बन्ध मे प्रबन्धकोश, प्रभावकचरित तथा प्रबन्धचिन्तामणि मे कुछ प्रसङ्ग उपलब्ध होते हैं। **प्रबन्धकोश** (हेमसूरिप्रबन्ध[९]) मे राजशेखर ने लिखा है कि चङ्गदेव के मामा नेमिनाग ने आ०देवचन्द्र से धर्मसभा मे चङ्गदेव का परिचय कराया। तत्पश्चात् नेमिनाग ने घर जाकर बहिन पाहिणी देवी मे चङ्गदेव को साधु-दीक्षा दिलाने की प्रार्थना की। **प्रभावक चरित**[१०] के वर्णन के अनुसार माता जब अपने पुत्र के साथ देवमन्दिर गयी तो बालक चङ्गदेव आ० देवचन्द्र की गद्दी पर जा बैठा और आचार्यश्री ने पाहिणी को स्वप्न की याद दिलाकर पुत्र को शिष्य के रूप मे माँग लिया। **प्रबन्ध चिन्तामणि** के अनुसार एक समय आचाय देवचन्द्र 'अणहिलपत्तन' नगर से प्रस्थान कर तीर्थयात्रा के प्रसङ्ग मे धुन्धुका पहुँचे और वहाँ मोढवशियो की वसही (जैन मन्दिर) मे देवदशन के लिए पधारे। उस समय शिशु चङ्गदेव खेलते-खेलते अपने सायियो के साथ वहाँ आ गया और अपने बालचापल्यस्वभाव से देवचन्द्राचाय की गद्दी पर बडी कुशलता से जा बैठा। उसके शुभलक्षणो को देखकर आचार्य कहने लगे—'यदि यह बालक क्षत्रिय कुलोत्पन्न है, तो सार्वभौम राजा बनेगा, और यदि यह वैश्य अथवा विप्रकुलोत्पन्न है तो महामात्य बनेगा और यदि कहीं इसने दीक्षा ग्रहण कर ली तो, यह युग प्रधान के समान अवश्य ही इस युग मे कृतयुग की स्थापना करेगा।"

चङ्गदेव से इस प्रकार प्रभावित होकर आ० देवचन्द्र ने यह बालक (चङ्गदेव) उसकी मा तथा अन्य सम्बन्धियो से माग लिया और साधुदीक्षा देकर इसकी शिक्षा का उत्तम प्रबन्ध स्तम्भतीर्थ मे उदयन मत्री के घर पर किया। अल्पकाल मे ही इन्होने तर्क, लक्षण और साहित्य विद्याओ मे अपना अधिकार प्राप्त कर अनन्य पाण्डित्य एव प्रवीणता प्राप्त कर ली। समस्त वाङ्मयरूप जलराशि को अगस्त्यऋषि की भाँति आत्मसात् कर लिया। तत्पश्चात् मुनि सोमचन्द्र ने अपने गुरु आचार्य देवचन्द्र के साथ स्थान-स्थान पर परिभ्रमण कर अपने शास्त्रीय एव व्यावहारिक ज्ञान में काफी वृद्धि की[११] और २१ वर्ष की अल्प आयु मे ही मुनि सोमचन्द्र सभी शास्त्रो मे तथा व्यावहारिक ज्ञान मे परिपूर्ण हो गये। इसी समय वि०स० ११६६ में इनके गुरु ने ३६ आचार्यो से विभूषित आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करके इन्हें 'हेमचन्द्र' नाम दिया जिससे ये आचार्य हेमचन्द्र कहलाये। ऐसा भी कहा जाता है कि मुनि सोमचन्द्र चन्द्रमा के समान सुन्दर थे और इनका शरीर सोने के समान तेजस्वी था तथा इनमे कुछ असाधारण शक्तियाँ भी विद्यमान थी अत इन्हीं सब कारणों से सोमचन्द्र को हेमचन्द्र कहा जाने लगा था। अस्तु, आचायपद-भूषित हेमचन्द्र का पाण्डित्य, सर्वाङ्गमुखी प्रतिभा, प्रभाव एव व्यक्तित्व बडा ही आकपक एव प्रभाव युक्त था। अत इन्होंने अपने प्रभावी व्यक्तित्व एव ओजस्वी तथा आकषक वाणी द्वारा समाज को अपनी ओर आकृष्ट किया और काफी लम्बे समय तक साहित्य एव समाज की सेवा की।

अगाध पाण्डित्य, अद्भुत प्रतिभा और गहन अध्ययन के फलस्वरूप इन्होने व्याकरण, कोश, अलङ्कारशास्त्र, छन्दशास्त्र, काव्य, दर्शन, योगशास्त्र, पुराण, इतिहास तथा स्तोत्र आदि विविध विषयो पर अपनी लेखिनी चलायी और प्रत्येक विषय पर बडी ही योग्यता पूवक लिखा। 'साहित्य की विपुलता एव विस्तार की दृष्टि से आचार्य हेमचन्द्र को यदि 'साहित्य सम्राट्' भी कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी।'[१२] इनके विद्वत्तापूर्णग्रन्थों ने डा० पिटर्सन महोदय को भी आश्चर्य मे डाल दिया। डा० पिटर्सन महोदय ने इनको 'ज्ञान महोदधि' (Ocean of knowledge) के विशेषण से अलकृत किया है। सोमप्रभसूरि ने भी शतार्थकाव्य की टीका में लिखा है—**'जिन्होंने नया व्याकरण, नया छन्द शास्त्र, नया द्वयाश्रय, नया अलङ्कार, नया तर्कशास्त्र और नये जीवन-चरित्रों की रचना की हैं, उन्होंने (हेमचन्द्रसूरि ने) किस-किस प्रकार से मोह दूर नहीं किया है?'**[१३]

आ० हेमचन्द्र ने जिस विपुल साहित्य का प्रणयन किया वह समग्ररूप में तो प्राप्त नहीं होता तथापि विद्वानों का अनुमान है कि इन्होंने शताधिक ग्रन्थो का सृजन किया था। श्रद्धेय मुनिश्री पुण्यविजयजी ने हेमचन्द्र सूरि द्वारा प्रणीत २५ कृतियों के नाम गिनाये हैं उनमें सिद्धहेमशब्दानुशासन, अभिधानचिन्तामणि, अनेकार्थसग्रह, निघण्टुकोष, देशीनाममाला, सिद्धहेमलिंगानुशासन, धातुपारायण, योगशास्त्र, द्वयाश्रयकाव्य, काव्यानुशासन, छन्दोऽनुशासन तथा त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित आदि महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं। इन्होंने कुछ द्वात्रिंशिकाएँ तथा स्तोत्र भी लिखे हैं। श्रद्धेय डा० आनन्दशकर ध्रुव के अनुसार 'द्वात्रिंशिकाएँ तथा स्तोत्र, साहित्यिक दृष्टि से हेमचन्द्राचार्य की उत्तम कृतियाँ हैं। उत्कृष्ट बुद्धि तथा हृदय की भक्ति का उनमें सुभग सयोग है।' सस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश इन तीनों भाषाओ पर
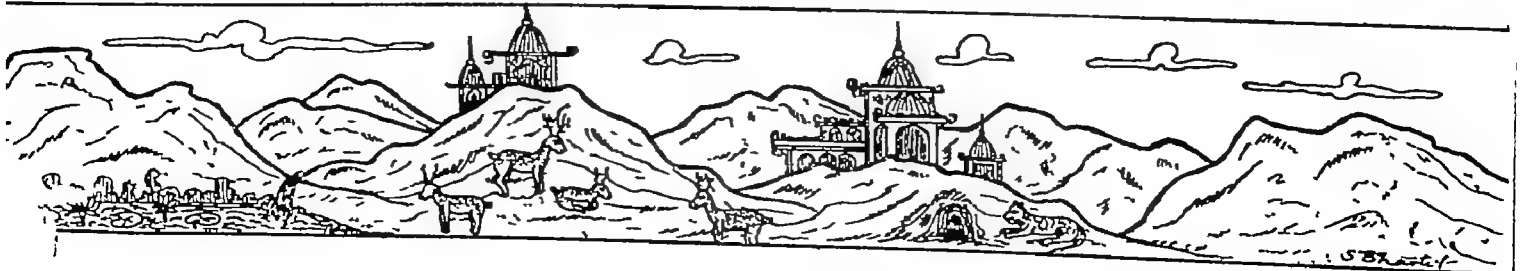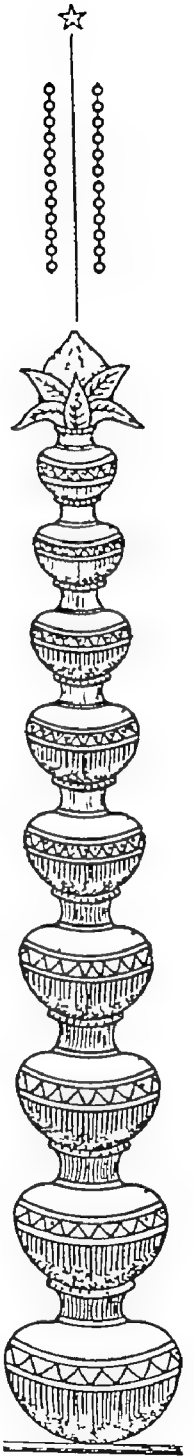
इसका समान अधिकार था। इनका 'शब्दानुशासन' संस्कृत, प्राकृत अथा अपभ्रंश भाषाओं के व्याकरण का ज्ञान कराने में अत्यधिक उपयोगी है। अपभ्रंश भाषा के लिए उनका महत्त्वपूर्ण योगदान है। शब्दानुशासन में अपभ्रंश भाषा का भी व्याकरण लिखकर आचार्यश्री ने एक बड़ा ही ऐतिहासिक कार्य सम्पन्न किया है तथा अपभ्रंश भाषा को संरक्षण प्रदान किया है। बाद के विद्वानों द्वारा अपभ्रंश की जो खोज हो सकी है, उसका मुख्य श्रेय आ० हेमचन्द्र को ही है। लघु होते हुए भी इनका अपभ्रंश व्याकरण सर्वांगपरिपूर्ण, सरल व स्पष्ट है। पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने हेमचन्द्र के तीन महत्त्वों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है—

'हेमचन्द्र ने पीछे न देखा तो आगे देखा, उधर का छूटा तो इधर बढ़ा लिया। अपने समय तक की भाषा का विवेचन कर डाला। **यही हेमचन्द्र का पहला महत्त्व है** कि और वैयाकरणों की तरह केवल पाणिनि के लोकोपयोगी अंश को अपने ढचर में बदलकर ही वह संतुष्ट न रहा, पाणिनि के समान पीछा नहीं तो आगा देखकर अपने समय तक की भाषा का व्याकरण बन गया।'

'अपभ्रंश के अंश में उसने पूरी गाथाएँ, पूरे छन्द और पूरे अवतरण दिये। **यह हेमचन्द्र का दूसरा महत्त्व है।**—अपभ्रंश के नियम यों समझ में नहीं आते। मध्यम पुरुष के लिए 'पइ' शपथ में 'थ' की जगह 'ध' होने से 'सवध' और मक्कडघुग्घि का अनुकरण प्रयोग बिना पूरा उदाहरण दिये समझ में नहीं आता।'

तीसरा महत्त्व हेमचन्द्र का यह है कि वह अपने व्याकरण का 'पाणिनि' और 'भट्टोजिदीक्षित' होने के साथ-साथ उसका 'भट्टि' भी है। उसने अपने संस्कृत-प्राकृत द्वयाश्रय काव्य में अपनी व्याकरण के उदाहरण भी दिए हैं तथा सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल का इतिहास भी लिखा है। भट्टि और भट्टभौमिक की तरह वह अपने सूत्रों के क्रम से चलता है।'

आ० हेमचन्द्र के व्यक्तित्व और कृतित्व से आकृष्ट होकर गुजरात के राजा सिद्धराज जयसिंह ने इनको पर्याप्त सम्मान दिया। सिद्धराज से ही प्रेरणा पाकर इन्होंने 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' की रचना की थी। वि० सं० ११९९ में सिद्धराज की मृत्यु होने के पश्चात् कुमारपाल सिंहासनारूढ़ हुआ। हेमचन्द्र से प्रभावित होकर उसने अपने राज्य में जीवहत्या बन्द करा दी थी तथा कुछ समय पश्चात् जैनधर्म धारण कर जुआ और मद्यपान को भी प्रतिबन्धित कर दिया था। उसने अपने राज्य को सदैव दुर्व्यसनों से मुक्त रखने का प्रयत्न किया और अनेक जैनमन्दिरों, तालाबों धर्मशालाओं और विहारों का भी निर्माण कराया। इस प्रकार वह बहुत समय तक भली-भाँति प्रजा का पालन करता रहा। कुमारपाल की मृत्यु सन् ११७४ (वि० सं० १२३१) में हुई। कुमारपाल की मृत्यु से छह माह पहले हेमचन्द्र का स्वर्गवास हो गया था।

ऐसा माना जाता है कि अन्तिम समय में आ० हेमचन्द्र ने 'प्रमाण-मीमांसा' की रचना की थी। यह उनकी अपूर्ण रचना है। पाँच अध्यायों में इसकी रचना किये जाने का यद्यपि उल्लेख मिलता है, परन्तु वर्तमान में प्रथम अध्याय पूर्ण (प्रथम तथा द्वितीय आह्निक) तथा द्वितीय अध्याय अपूर्ण (प्रथम आह्निक मात्र) ही मिलता है। शेष ग्रन्थ को आचार्यश्री या तो वृद्धावस्था के कारण पूर्ण नहीं कर सके हैं अथवा पूर्ण कर भी लिया है तो फिर यह काल-कवलित हो जाने से आज उपलब्ध नहीं हैं। सूत्रशैली में ग्रथित और स्वोपज्ञवृत्ति सहित इस लघुग्रन्थ में प्रमाण और प्रमेय की साङ्गोपाङ्ग जानकारी दी गयी है। प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय आदि तत्त्वों का इसमें सुन्दर निरूपण है। अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से इन्होंने बहुत कुछ ग्रहण किया तथा बहुत-सी मौलिक उद्भावनाएँ भी की हैं। जैनदर्शन तथा अन्यदर्शन सम्बन्धी कृतियों के परिप्रेक्ष्य में प्रमाण-मीमांसा का अध्ययन करने पर यह बात सहज ही स्पष्ट हो जाती है। **श्रद्धेय पं० सुखलाल जी संघवी** ने इस दृष्टि से प्रमाणमीमांसा पर एक विस्तृत टिप्पण लिखा है, जिसकी विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।

आ० हेमचन्द्र की अगाध विद्वत्ता का दाय उनके शिष्यों को मिला और उन्होंने साहित्य की श्रीवृद्धि करने में चार-चाँद लगा दिए। उनके शिष्यों में रामचन्द्रसूरि की प्रसिद्धि सम्पूर्ण देश में फैली हुई थी और उस समय के विद्वानों में हेमचन्द्र के बाद इन्हीं का नाम लिया जाता था। इसके अतिरिक्त गुणचन्द्र, महेन्द्रसूरि, वर्धमानगणि, देवचन्द्र, उदयचन्द्र, यशश्चन्द्र, बालचन्द्र आदि दूसरे शिष्य थे। इन सबका साहित्यिक क्षेत्र में महान योगदान है।

मनीषियो की दृष्टि मे आचार्य हेमचन्द्र

१—'Creator of Gujarat consciousness'—'गुजरात का चेतनदाता'→ By के एम मुन्शी
२—'Intellectual gaint'—'बौद्धिक राक्षस'—By प्रो० पारीख
३—'गुजरात के ज्योतिर्धर'—By गुजरात के साहित्यिक मनीषी
४—'Ocean of knowledge'—'ज्ञान के महोदधि—डा० पिटर्सन
५—'विद्याम्भोनिधि '—By सोमप्रभसूरि—(शतार्थकाव्य)

---

१ डा० वि०भा० मुसलगावकर—'आचाय हेमचन्द्र', पृ० १६६
२ प्रबन्धकोश—धुन्धकपुर। प्रबन्ध चिन्तामणि—'धुन्धुक्क'। पुरा०प्र०स०—'धुन्धुक्क'।
३ प्रबन्धचिन्तामणि—मोढवश। प्रबन्धकोश—मोढज्ञातीय। पुरा०प्र०स०—मोढकुल।
४ प्रबन्धकोश—(हेमसूरि प्रबन्ध)
५ प्रबन्धचिन्तामणि, पृ० ८३
६ (क) प्रबन्धचिन्तामणि (हेमप्रभसूरिचरित), पृ० ८३।
(ख) कुमारपाल प्रतिबोध, पृ० ४७८
७ प्रबन्धकोश, प्रबन्धचिन्तामणि, कुमारपाल प्रतिबोध तथा पुरातन प्रबन्ध सग्रह मे इनकी साधुदीक्षा के समय की आयु आठ वष ही बतलायी गयी है।
८ त्रिषष्ठि श० पु० चरित—प्रशस्ति, श्लोक १४।
९ प्रबन्धकोश (हेमसूरि प्रबन्ध)
१० प्रभावक चरित, पृ० ३४७, श्लोक ८४८।
११ काव्यानुशासन की अग्रेजी प्रस्तावना—प्रो० पारीख।
१२ डा० वि०भा० मुसलगावकर—'आचाय हेमचन्द्र'
१३ (क) 'क्लृप्त व्याकरण नव विरचित छन्दो नव द्व्याश्रया—
लकारौ प्रथितौ नवौ प्रकटित श्रीयोगशास्त्र नवम्।
तर्क सजनित नवो जिनवरादीना चरित्र नव,
वद्ध येन न केन केन विधिना मोह कृतो दूरत ॥ —शतार्थकाव्य
(ख) 'विद्याम्भोनिधि मथमदरगिरि श्री हेमचन्द्रो गुरु' —शतार्थकाव्य
१४ अन्ययोग व्यवच्छेद की स्याद्वाद मञ्जरी टीका—सम्पादित—आ० श० ध्रुव
१५ पुरानी हिन्दी, पृ० १२६

☆☆
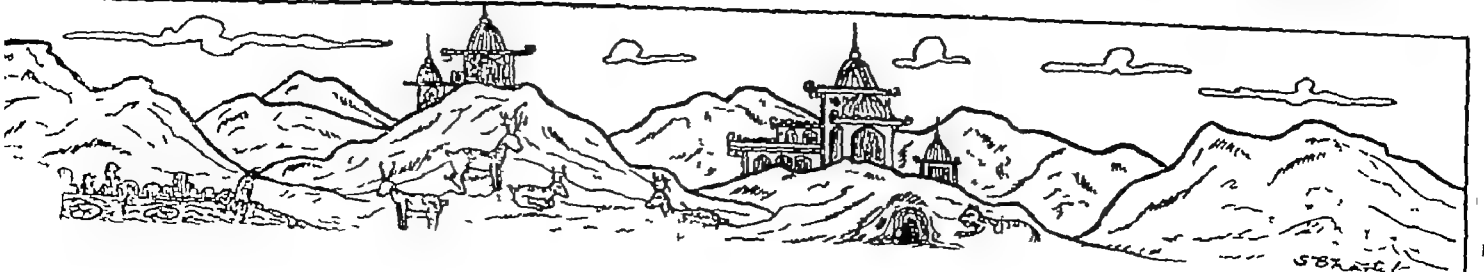
राजस्थान की ऊवरा भूमि मे जैन सस्कृति एव साहित्य का जो अकुरण एव पल्लवन हुआ, उसके अमृत फलों से सम्पूरण भारत एव विश्व लाभान्वित होता रहा है।

प्रस्तुत मे प्राकृत भाषा के श्वेताम्बर साहित्यकारों का अधुनातन परिचय दिया गया है।

☐ श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री

राजस्थान के प्राकृत श्वेताम्बर साहित्यकार

☐

भारतीय इतिहास मे राजस्थान का गौरवपूण स्थान सदा से रहा है। राजस्थान की धरती के कण-कण में जहाँ वीरता और शौर्य अगडाई ले रहा है, वहाँ साहित्य और सस्कृति की सुमधुर स्वर लहरियाँ भी झनझना रही हैं। राजस्थान के रण-बाकुरे वीरो ने अपनी अनूठी आन-बान और शान की रक्षा के लिए हँसते हुए जहाँ बलिदान दिया है, वहाँ वैदिक परम्परा के भावुक भक्त-कवियो ने व श्रमण सस्कृति के श्रद्धालु श्रमणो ने मौलिक व चिन्तन-प्रधान साहित्य सृजन कर अपनी प्रताप पूर्ण प्रतिभा का परिचय भी दिया है। रणथम्भौर, कुम्भलगढ़, चित्तौड, भरतपुर, माडोर, जालोर जैसे विशाल दुर्ग जहाँ उन वीर और वीराङ्गनाओ की देश-भक्ति की गौरव-गाथा को प्रस्तुत करते हैं, वहाँ जैसलमेर, नागोर, बीकानेर, जोधपुर, जयपुर अजमेर, आमेर, डूंगरपुर प्रभृति के विशाल ज्ञान-भडार साहित्य-प्रेमियो के साहित्यानुराग को अभिव्यञ्जित करते हैं।

राजस्थान की पावन-पुण्य भूमि अनेकानेक मूर्धन्य विद्वानों की जन्मस्थली एव साहित्य निर्माण स्थली रही है। उन प्रतिभा-मूर्ति विद्वानो ने साहित्य की विविध विधाओ मे विपुल साहित्य का सृजन कर अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य का परिचय दिया है। उनके सम्बन्ध मे सक्षेप रूप मे भी कुछ लिखा जाय, तो एक विराट्काय ग्रन्थ तैयार हो सकता है, मुझे उन सभी राजस्थानी विद्वानो का परिचय नहीं देना है, किन्तु श्वेताम्बर परम्परा के प्राकृत साहित्यकारो का अत्यन्त सक्षेप मे परिचय प्रस्तुत करना है। श्रमण सस्कृति का श्रमण घुमक्कड है, हिमालय से कन्याकुमारी तक और अटक से कटक तक पैदल घूम-घूमकर जन-जन के मन मे आध्यात्मिक, धार्मिक व सास्कृतिक जागृति उद्बुद्ध करता रहता है। उसके जीवन का चरम व परम लक्ष्य स्व-कल्याण के साथ-साथ पर-कल्याण भी रहा है। स्वान्त सुखाय एव बहुजन-हिताय साहित्य का सृजन भी करता रहा है।

श्रमणो के साहित्य को क्षेत्र विशेष की सकीण सीमा मे आबद्ध करना मैं उचित नही मानता। क्योकि श्रमण किसी क्षेत्र विशेष की धरोहर नही है। कितने ही श्रमणो की जन्म-स्थली राजस्थान रही है, साहित्य-स्थली गुजरात रही है। कितनो की ही जन्म-स्थली गुजरात है, तो साहित्य-स्थली राजस्थान। कितने ही साहित्यिको के सम्बन्ध में इतिहास वेत्ता सदिग्ध हैं, कि वे कहाँ के हैं, और कितनी ही कृतियों के सम्बन्ध मे भी प्रशस्तियो के अभाव मे निणय नहीं हो सका कि वे कहाँ पर बनाई गई हैं। प्रस्तुत निबन्ध मे मैं उन साहित्यकारो का परिचय दूंगा जिनकी जन्म-स्थली राजस्थान रही है या जिनकी जन्म-स्थली अन्य होने पर भी अपने ग्रन्थ का प्रणयन जिन्होंने राजस्थान मे किया है।

श्रमण-सस्कृति के श्रमणो की यह एक अपूर्व विशेषता रही है कि अध्यात्म की गहन साधना करते हुए भी उन्होंने प्रान्तवाद, भाषावाद और सम्प्रदायवाद को विस्मृत कर विस्तृत साहित्य की साधना की है। उन्होंने स्वय एकचित होकर हजारो ग्रन्थ लिखे हैं, साथ ही दूसरा को भी लिखने के लिए उत्प्रेरित किया है। कितने ही ग्रन्थो के अन्त मे ऐसी प्रशस्तियाँ उपलब्ध होती हैं, जिनमे अध्ययन-अध्यापन की लिखने-लिखाने की प्रबल प्रेरणा प्रदान की गई है। जैसे—

जो पढइ पढावई एक चित्तु,
सइ लिहइ लिहावइ जो णिरत्तु,
आयरण्ण भण्णइ सो पसत्थु।
परिभावइ अहिणिसु एउ सत्थु ॥[1]

आचार्य हरिभद्र

हरिभद्रसूरि राजस्थान के एक ज्योतिर्धर नक्षत्र थे। उनकी प्रबल प्रतिभा से भारतीय साहित्य जगमगा रहा है, उनके जीवन के सम्बन्ध मे सर्वप्रथम उल्लेख कहावली मे प्राप्त होता है। इतिहासवेत्ता उसे विक्रम की १२वी शती के आस-पास की रचना मानते हैं। उसमे हरिभद्र की जन्मस्थली के सम्बन्ध मे 'पिवगुई बमपुणी' ऐसा वाक्य मिलता है।[2] जबकि अन्य अनेक स्थलो पर चित्तौड-चित्रकूट का स्पष्ट उल्लेख है।[3] पडित प्रवर सुखलाल जी का अभिमत है, कि 'बमपुणी' ब्रह्मपुरी चित्तौड का ही एक विभाग रहा होगा, अथवा चित्तौड के सन्निकट का कोई कस्बा होगा।[4] उनकी माता का नाम गगा और पिता का नाम शकरभट्ट था।[5] सुमतिगणि ने गणधर साधशतक मे हरिभद्र की जाति ब्राह्मण बताई है।[6] प्रभावक चरित मे उन्हें पुरोहित कहा गया है।[7] आचाय हरिभद्र के समय के सम्बन्ध मे विद्वानो मे विभिन्न मत थे, किन्तु पुरातत्ववेत्ता मुनि श्री जिनविजय जी ने प्रबल प्रमाणो से यह सिद्ध कर दिया है कि वीर सवत् ७५७ से ८२७ तक उनका जीवन काल है अब इस सम्बन्ध मे किसी भी प्रकार का मतभेद नही रहा है।[8] उन्होंने व्याकरण, न्याय, धर्मशास्त्र और दर्शन का गम्भीर अध्ययन कहाँ पर किया था, इसका उल्लेख नही मिलता है। वे एक बार चित्तौड के मार्ग से जा रहे थे, उनके कानो मे एक गाथा पडी।[9]

गाथा प्राकृत भाषा की थी। सक्षिप्त और सकेतपूर्ण अथ लिए हुए थी। अत उसका मम उन्हे समझ मे नही आया। उन्होंने गाथा का पाठ करने वाली साध्वी से उस गाथा के अर्थ को जानने की जिज्ञासा व्यक्त की। साध्वी ने अपने गुरु जिनदत्त का परिचय कराया। प्राकृत साहित्य और जैन-परम्परा का प्रामाणिक और गम्भीर अभ्यास करने के लिए उन्होंने जैनेन्द्रीदीक्षा धारण की और उस साध्वी के प्रति अपने हृदय की अनन्त श्रद्धा को स्वय को उनका धमपुत्र बताकर व्यक्त की है।[10] वे गृहस्थाश्रम मे सस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे। श्रमण बनने पर प्राकृत-भाषा का गहन अध्ययन किया। दशवैकालिक, आवश्यक, नन्दी, अनुयोगद्वार, प्रज्ञापना, ओघनिर्युक्ति, चैत्य-वन्दन, जम्बुद्वीप प्रज्ञप्ति, जीवाभिगम और पिण्ड निर्युक्ति आदि आगमो पर सस्कृत भाषा मे टीकाएँ लिखी। आगम साहित्य के वे प्रथम टीकाकार हैं। अष्टक प्रकरण, धमबिन्दु, पञ्चसूत्र, व्याख्या भावनासिद्धि, लघुक्षेत्र, समासवृत्ति, वर्ग केवली सूत्रवृत्ति, हिंसाष्टक, अनेकान्त जय पताका, अनेकान्तवाद प्रवेश, अनेकान्तसिद्धि, तत्त्वार्थसूत्र लघुवृत्ति, द्विज वदन चपेटा, न्याय-प्रवेश टीका, न्यायावतार वृत्ति, लोकतत्त्व निर्णय, शास्त्रवार्ता समुच्चय, सर्वज्ञ सिद्धि, षड्दर्शन समुच्चय, स्याद्वाद कुचोद्य परिहार योगदृष्टि समुच्चय, योगबिन्दु, षोडशक प्रकरण वीरस्तव, ससार दावानल स्तुति प्रभृति अनेक मौलिक ग्रन्थ उन्होंने सस्कृत भाषा मे रचे हैं। प्राकृत भाषा मे भी उन्होंने विपुल साहित्य का सृजन किया है। सस्कृतवत ही प्राकृत-भाषा पर भी उनका पूण अधिकार था। उन्होंने धम, दशन, योग, कथा, ज्योतिष और स्तुति प्रभृति सभी विषयो मे प्राकृत भाषा मे ग्रन्थ लिखे हैं। जैसे—उपदेशपद, पञ्चवस्तु, पचाशक, वीस विंशिकाएँ श्रावक धमविधि प्रकरण, सम्बोध प्रकरण, धर्म सग्रहणी योगविंशिका, योगशतक, धूर्ताख्यान समराइच्च कहा, लग्नशुद्धि, लग्नकुडलियाँ आदि।

समराइच्च कहा प्राकृत भाषा की सर्वश्रेष्ठ कृति है। जो स्थान सस्कृत साहित्य मे कादम्बरी का है वही स्थान प्राकृत मे 'समराइच्च कहा' का है। यह ग्रन्थ जैन महाराष्ट्री प्राकृत मे लिखा गया है, अनेक स्थलो पर शौरसेनी भाषा का भी प्रभाव है।

'धुत्तक्खाण' हरिभद्र की दूसरी उल्लेखनीय रचना है। निशीथ चूर्णि की पीठिका मे धूर्ताख्यान की कथाएँ सक्षेप में मिलती हैं। जिनदासगणि महत्तर ने वहाँ यह सूचित किया है, कि विशेष जिज्ञासु 'धूर्ताख्यान' मे देखें। इससे यह स्पष्ट है कि जिनदासगणि के सामने 'धूत्ताक्खाण' की कोई प्राचीन रचना रही होगी जो आज अनुपलब्ध है। आचाय हरिभद्र ने निशीथ चूर्णि के आधार से प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की है। ग्रन्थ मे पुराणो मे वर्णित अतिरञ्जित कथाओं पर करारे व्यग्य करते हुए उसकी अयथार्थता सिद्ध की है।

भारतीय कथा साहित्य मे शैली की दृष्टि से इसका मूर्धन्य स्थान है। लाक्षणिक शैली मे इस प्रकार की अन्य कोई भी रचना उपलब्ध नही होती, यह साधिकार कहा जा सकता है कि व्यङ्ग्योपहास की इतनी श्रेष्ठ रचना किसी भी भाषा मे नही है। धूर्तों का व्यग्य प्रहार ध्वसात्मक नही अपितु निर्माणात्मक है।

कहा जाता है कि आचार्य हरिभद्र ने १४४४ ग्रन्थो की रचना की थी। किन्तु वे सभी ग्रन्थ आज उपलब्ध नही हैं। डॉ० हर्मन जेकोबी, लॉयमान विन्टर्नित्स, प्रो० सुवाली और सुब्रिग प्रभृति अनेक पाश्चात्य विचारको ने हरिभद्र के ग्रन्थो का सम्पादन और अनुवाद भी किया है।[१२] उनके सम्बन्ध मे प्रकाश भी डाला है। जिससे भी उनकी महानता का सहज ही पता लग सकता है।

उद्योतनसूरि

उद्योतनसूरि श्वेताम्बर परम्परा के एक विशिष्ट मेधावी सन्त थे। उनका जीवनवृत्त विस्तार से नही मिलता—उन्होंने वीरभद्रसूरि से सिद्धान्त की शिक्षा प्राप्त की थी और हरिभद्र सूरि से युक्ति शास्त्र की। कुवलयमाला प्राकृत साहित्य का उनका एक अनुपम ग्रन्थ है।[१३] गद्य-पद्य मिश्रित महाराष्ट्री प्राकृत की यह प्रसाद पूर्ण रचना चम्पू शैली में लिखी गई है। महाराष्ट्री प्राकृत के साथ इसमे पैशाची अपभ्रंश व देशी भाषाओ के साथ कहीं-कहीं पर सस्कृत भाषा का भी प्रयोग हुआ है। प्रेम और शृगार के साथ वैराग्य का भी प्रयोग हुआ है। सुभाषित मार्मिक प्रश्नोत्तर प्रहेलिका आदि भी यत्र-तत्र दिखलाई देती है। जिससे लेखक के विशाल अध्ययन व सूक्ष्म दर्शन का पता लगता है। ग्रन्थ पर बाण की कादम्बरी, त्रिविक्रम की दमयन्ती कथा और हरिभद्रसूरि के 'समराइच्च कहा' का स्पष्ट प्रभाव है। प्रस्तुत ग्रन्थ लेखक ने ई० सन् ७७९ मे जाबालिपुर जिसका वर्तमान मे 'जालोर' नाम है, वहाँ पर पूर्ण किया है।[१४]

जिनेश्वरसूरि

जिनेश्वर सूरि के नाम से जैन सम्प्रदाय मे अनेक प्रतिभा-सम्पन्न आचार्य हुए हैं। प्रस्तुत आचार्य का उल्लेख धनेश्वरसूरि[१५] अभयदेव[१६] और गुणचन्द्र[१७] ने युगप्रधान के रूप मे किया है। जिनेश्वर सूरि का मुख्य रूप से विहार स्थल राजस्थान, गुजरात और मालवा रहा है। इन्होंने सस्कृत और प्राकृत दोनो भाषाओ में रचनाएँ की। उसमे हरिभद्रकृत अष्टक पर वृत्ति, पचलिंगी प्रकरण, वीरचरित्र, निर्वाण लीलावती कथा, षट्स्थानक प्रकरण और कहाणय कोष मुख्य है। कहाणय कोष मे ३० गाथाएँ हैं और प्राकृत में टीका हैं। जिसमे छत्तीस प्रमुख कथाएँ हैं। कथाओ मे उस युग की समाज, राजनीति और आचार-विचार का सरस चित्रण किया गया है। समासयुक्त पदावली अनावश्यक शब्द-आडम्बर और अलकारो की भरमार नही है। कही-कही पर अपभ्रश भाषा का प्रयोग हुआ है। उनकी निर्वाण लीलावती कथा भी प्राकृत भाषा की श्रेष्ठ रचना है। उन्होंने यह कथा स० १०८२ और १०९५ के मध्य में बनाई है। पद-लालित्य, श्लेष और अलकारो से यह विभूषित है। प्रस्तुत ग्रन्थ का श्लोकबद्ध सस्कृत भाषान्तर जैसलमेर के भण्डार मे उपलब्ध हुआ है। मूलकृति अभी तक अनुपलब्ध है। प्राकृत भाषा मे उनकी एक अन्य रचना 'गाथाकोष' भी मिलती है।

महेश्वरसूरि

महेश्वर सूरि प्रतिभा सम्पन्न कवि थे। वे सस्कृत-प्राकृत के प्रकाण्ड पडित थे। इनका समय ई० सन् १०५२ से पूर्व माना गया है। 'णाणपञ्चमी कहा'[१८] इनकी एक महत्वपूर्ण रचना है। इसमे देशी शब्दो का अभाव है। भाषा में लालित्य है यह प्राकृत भाषा का श्रेष्ठ काव्य है। महेश्वर सूरि सज्जन उपाध्याय के शिष्य थे।[१९]

जिनदत्तसूरि

जिनचन्द्र जिनेश्वरसूरि के शिष्य थे। अपने लघु गुरुबन्धु अभयदेव की अभ्यर्थना को सम्मान देकर सवेग रगशाला नामक ग्रन्थ की रचना की। रचना का समय वि० स० ११२५ है। नवाङ्गी टीकाकार अभयदेव के शिष्य जिन वल्लभसूरि ने प्रस्तुत ग्रन्थ का सशोधन किया। सवेगभाव का प्रतिपादन करना ही ग्रन्थ का उद्देश्य रहा है। ग्रन्थ मे सर्वत्र शान्तरस छलक रहा है।
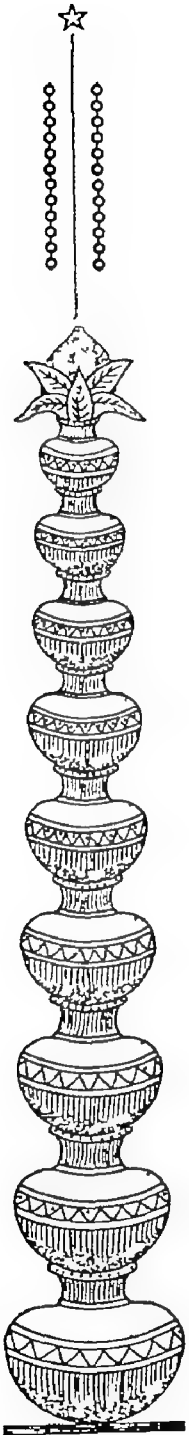
जिनप्रभसूरि

जिनप्रभसूरि ये विलक्षण प्रतिमा के धनी आचाय थे। इन्होंने १३२६ मे जैन दीक्षा ग्रहण की और आचार्य जिनसिंह ने इन्हें योग्य समझकर १३४१ मे आचाय पद प्रदान किया। दिल्ली का सुलतान मुहम्मद तुगलक वादशाह इनकी विद्वत्ता और इनके चमत्कारपूर्ण कृत्यो से अत्यधिक प्रभावित था। इनके जीवन की अनेक चमत्कारपूण घटनाएँ प्रसिद्ध हैं। 'कातन्त्रविभ्रमवृत्ति, श्रेणिकचरित्र द्वयाश्रयकाव्य', 'विधिमार्गप्रपा' आदि अनेक ग्रन्थो की रचना की। विधिप्रपाप्राकृत साहित्य का एक सुन्दर ग्रन्थ है श्रीयुत् अगरचन्द जी नाहटा का अभिमत है, कि ७०० स्तोत्र भी इन्होंन बनाये। वे स्तोत्र सस्कृत, प्राकृत देश्य भाषा के अतिरिक्त भाषा मे भी लिखे हैं। वतमान मे इनके ५५ स्तोत्र उपलब्ध होते हैं।[२०]

नेमिचन्द्रसूरि

नेमिचन्द्रसूरि ये वृहद्गच्छीय उद्योतन सूरि के प्रशिष्य थे और आम्रदेव के शिष्य थे। आचार्य पद प्राप्त करन के पूर्व इनका नाम देवेन्द्रगणि था। 'महावीर चरिय' इनकी पद्यमयी रचना है। वि स ११४१ मे इन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की। इनके अतिरिक्त 'अक्खाणयमणिकोस' (मूल) उत्तराध्ययन की सस्कृत टीका, आत्मबोधकुलकप्रभृति इनकी रचनाएँ प्राप्त होती है।

गुणपालमुनि

गुणपालमुनि श्वेताम्बर परम्परा के नाइलगच्छीय वीरभद्रसूरि के शिष्य अथवा प्रशिष्य थे। 'जम्बुचरिय' इनकी श्रेष्ठ रचना है।[२१] ग्रन्थ की रचना कब की इसका सकेत ग्रन्थकार ने नहीं किया है, किन्तु ग्रन्थ के सम्पादक मुनि श्री जिनविजयजी का अभिमत है कि ग्रन्थ ग्यारहवी शताब्दी में या उससे पूर्व लिखा गया है। जैसलमेर के भण्डार से जो प्रति उपलब्ध हुई है वह प्रति १४वीं शताब्दी के आसपास की लिखी हुई है।

जम्बूचरिय की भाषा सरल और सुबोध है। सम्पूर्ण ग्रन्थ गद्य-पद्य मिश्रित है। इस पर 'कुवलयमाला' ग्रन्थ का सीधा प्रभाव है। यह एक ऐतिहासिक सत्य तथ्य है कि कुवलयमाला के रचयिता उद्योतनसूरि ने सिद्धान्तो का अध्ययन वीरभद्र नाम के आचार्य के पास किया था। उन्होने वीरभद्र के लिये लिखा 'दिन्नजहिच्छियफलओ अवरो कप्प-रुक्खोव्व' गुणपाल ने अपने गुरु प्रद्युम्नसूरि को वीरभद्र का शिष्य बतलाया है। गुणपाल ने भी 'परिचितियदिन्नफलो आसी सो कप्परुक्खो' ऐसा लिखा है, जो उद्योतन सूरि के वाक्य प्रयोग के साथ मेल खाता है। इससे यह स्पष्ट है कि उद्योतन सूरि के सिद्धान्त गुरु वीरभद्राचार्य और गुणपालमुनि के प्रगुरु वीरभद्रसूरि ये दोनों एक ही व्यक्ति होंगे। यदि ऐसा ही है, तो गुणपालमुनि का अस्तित्व विक्रम की ९वीं शताब्दी के आसपास है।

गुणपाल मुनि की दूसरी रचना 'रिसिकन्ताचरिय' है। जिसकी अपूर्ण प्रति भाण्डारकर प्राच्यविद्या सशोधन मन्दिर पूना मे है।

समयसुन्दरगणि

ये एक वरिष्ठ मेधावी सन्त थे। तर्क, व्याकरण साहित्य के ये गम्भीर विद्वान् थे। उनकी अद्भुत प्रतिमा को देखकर बड़े-बड़े विद्वानो की अँगुली भी दाँतो तले लग जाती थी। सवत् १६४९ की एक घटना है—बादशाह अकबर ने कश्मीर पर विजय वैजयन्ती फहराने के लिये प्रस्थान किया। प्रस्थान के पूर्व विशिष्ट विद्वानो की एक सभा हुई। समय सुन्दर जी ने उस समय विद्वानो के समक्ष एक अद्भुत ग्रन्थ उपस्थित किया। उस ग्रन्थ के सामने आज दिन तक कोई भी ग्रन्थ ठहर नही सका है। 'राजानो ददते सौख्यम्' इस सस्कृत वाक्य के आठ अक्षर हैं, और एक-एक अक्षर के एक-एक लाख अर्थ किये गये हैं। बादशाह अकबर और अन्य सभी विद्वान् प्रतिभा के इस अनूठे चमत्कार को देखकर नत-मस्तक हो गये। अकबर कश्मीर विजय कर जब लौटा, तो अनेक आचार्यों एव साधुओं का उसने सम्मान किया। उनमे एक समयसुन्दरजी भी थे। उन्हें वाचक पद प्रदान किया गया। इन्होंने वि स १६८६ ई सन् १६२९ मे 'गाथा सहस्री'
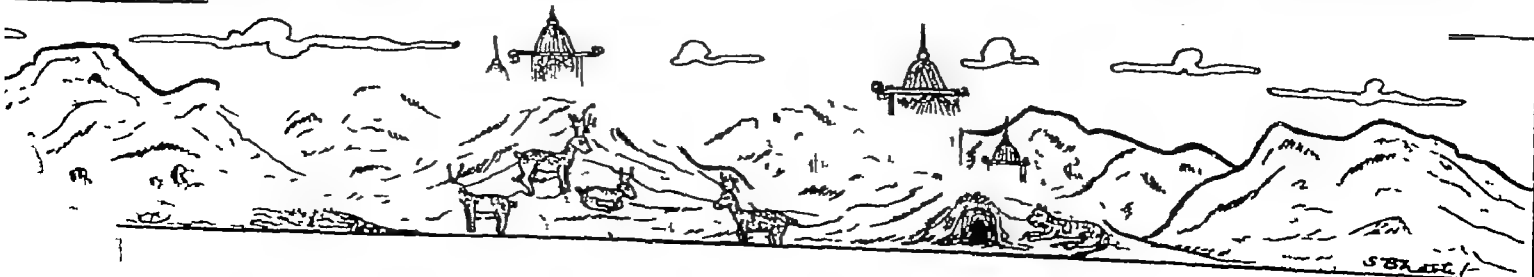
ग्रन्थ का सग्रह किया। इस ग्रन्थ पर एक टिप्पण भी है पर, उसके कर्ता का नाम ज्ञात नहीं हो सका है। इसमे आचाय के छत्तीस गुण, साधुओ के गुण, जिनकल्पिक के उपकरण, यति दिनचर्या, साढ़े पच्चीस आर्य देश, ध्याता का स्वरूप, प्राणायाम, वत्तीस प्रकार के नाटक, सोलह शृ गार, शकुन और ज्योतिष आदि विपयो का सुन्दर सग्रह है। महा निशीथ, व्यवहार भाष्य, पुष्पमाला वृत्ति आदि के साथ ही महाभारत, मनुस्मृति आदि सस्कृत के ग्रन्थो से भी यहाँ पर श्लोक उद्धृत किये गये हैं।

ठक्कुर फेरू

ठक्कुर फेरू ये राजस्थान के कन्नाणा के निवासी श्वेताम्बर श्रावक थे। इनका समय विक्रम की १४वीं शती है। ये श्रीमाल वश के घोधिया (धधकुल) गोत्रीय श्रेष्ठी कालिम या कलश के पुत्र थे। इनकी सर्वप्रथम रचना युग प्रधान चतुष्पादिका है, जो सवत् १३४७ मे वाचनाचार्य राजशेखर के समीप अपने निवास-स्थान कन्नाणा मे बनाई थी। इन्होंने अपनी कृतियो के अन्त मे अपने आपको 'परम जैन' और 'जिणदपय भत्तो' लिखकर अपना कट्टर जैनत्व बताने का प्रयास किया है। 'रत्न परीक्षा' मे अपने पुत्र का नाम 'हेमपाल' लिखा है। जिसके लिए प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की गयी है। इनके भाई का नाम ज्ञात नही हो सका है।

दिल्ली पति सुलतान अलाउद्दीन खिलजी के राज्याधिकारी या मन्त्रिमण्डल मे होने से इनको बाद मे अधिक समय दिल्ली रहना पडा। इन्होने 'द्रव्य परीक्षा' दिल्ली की टकसाल के अनुभव के आधार पर लिखी। गणित सार मे उस युग की राजनीति पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। गणित प्रश्नावली से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये शाही दरबार मे उच्च पदासीन व्यक्ति थे। इनकी सात रचनाएँ प्राप्त होती हैं, जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। जिनका सम्पादन मुनिश्री जिनविजयजी ने 'रत्नपरीक्षादि सप्त ग्रन्थ सग्रह'[२२] के नाम से किया है। युग प्रधान चतुष्पादिका तत्कालीन लोकभाषा चौपाई व छप्पय मे रची गई है, और शेप सभी रचनाएँ प्राकृत मे हैं। भाषा सरल व सरस है, उस पर अपभ्रंश का प्रभाव है।

जयसिंहसूरि

"धर्मोपदेश माला विवरण"[२३] जयसिंह सूरि की एक महत्त्वपूर्ण कृति है, जो गद्य-पद्य मिश्रित है। यह ग्रन्थ नागोर में बनाया था।[२४]

वाचक कल्याण तिलक

वाचक कल्याण तिलक ने छप्पन गाथाओ में कालकाचाय की कथा लिखी।[२५]

हीरकलशमुनि

हीरकलश मुनि ने सवत् १६२१ में 'जोइस-हीर' ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ ज्योतिष की गहराई को प्रकट करता है।[२६]

मानदेवसूरि

मानदेवसूरि का जन्म नाडोल में हुआ। उनके पिता का नाम धनेश्वर व माता का नाम धारिणी था। इन्होंने 'शातिस्तव और तिजयपहुत्त' नामक स्तोत्र की रचना की।[२७]

नेमिचन्दजी भण्डारी

नेमिचन्दजी भण्डारी ने प्राकृत भाषा में 'षष्टिशतक प्रकरण' जिनवल्लभ सूरि गुण वर्णन एव पार्श्वनाथ स्तोत्र आदि रचनाएँ बनाई हैं।[२८]

स्थानकवासी मुनि

राजस्थानी स्थानकवासी मुनियो ने भी प्राकृत भाषा में अनेक ग्रन्थों की रचनाएँ की हैं। किन्तु साधनाभाव

से उन सभी ग्रन्थकारो का परिचय देना सम्भव नही है। श्रमण हजारीमल जिनकी जन्मस्थली मेवाड थी, उन्होंने 'साहु गुणमाला' ग्रन्थ की रचना की थी। जयमल सम्प्रदाय के मुनि श्री चैनमलजी ने भी श्रीमद् गीता का प्राकृत मे अनुवाद किया था। पण्डित मुनि श्री लालचन्दजी 'श्रमणलाल' ने भी प्राकृत मे अनेक स्तोत्र आदि बनाए हैं। प० फूलचन्द्रजी महाराज 'पुप्फ भिक्खु' ने सुत्तागमे का सम्पादन किया और अनेक लेख आदि प्राकृत मे लिखे हैं। राजस्थान केसरी पण्डित प्रवर श्री पुष्कर मुनिजी महाराज ने भी प्राकृत मे स्तोत्र और निवन्ध लिखे हैं।

आचार्य श्री घासीराम जी

आचाय घासीलालजी महाराज एक प्रतिभासम्पन्न सन्त रत्न थे। उनका जन्म सवत् १९४१ मे जसवन्तगढ (मेवाड) मे हुआ उनकी माँ का नाम विमलाबाई और पिता का नाम प्रभुदत्त था। जवाहिराचार्य के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की। आपने बत्तीस आगमो पर सस्कृत भाषा मे टीकाएँ लिखी। और शिवकोश नानाथ उदयसागर कोश, श्रीलाल नाममाला कोश, आर्हत् व्याकरण, आर्हत् लघु व्याकरण, आहत सिद्धान्त व्याकरण, शाति सिन्धु महाकाव्य, लोकाशाह महाकाव्य, जैनागम तत्त्व दीपिका, वृत्तबोध, तत्त्व प्रदीप, सूक्ति सग्रह, गृहस्थ कल्पतरु, पूज्य श्रीलाल काव्य, नागाम्बर मञ्जरी, लवजीमुनि काव्य, नवस्मरण, कल्याण मगल स्तोत्र, वर्धमान स्तोत्र आदि सस्कृत भाषा मे मौलिक ग्रन्थो का निर्माण किया। तत्त्वार्थ सूत्र, कल्प सूत्र और प्राकृत व्याकरण आदि अनेक ग्रन्थ प्राकृत भाषा मे भी लिखे हैं। अन्य अनेक सन्त प्राकृत भाषा मे लिखते हैं।

आचार्य श्री आत्माराम जी

श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण सघ के प्रथम आचाय श्री आत्माराम जी महाराज प्राकृत सस्कृत के गहन विद्वान और जैन आगमो के तलस्पर्शी अध्येता थे। आपका जन्म पजाब मे हुआ, विहार क्षेत्र भी पजाब रहा। प्रस्तुत लेख में विशेष प्रसग न होने से आपकी प्राकृत रचनाओ के विषय मे अधिक लिखना प्रासगिक नही होगा, पर यह निश्चित ही कहा जा सकता है कि आपने प्राकृत साहित्य एव आगमों की टीकाएँ लिखकर साहित्य भण्डार की श्री वृद्धि की है। आपके शिष्य श्री ज्ञानमुनि भी प्राकृत के अच्छे विद्वान हैं।

तेरापन्थ सम्प्रदाय के अनेक आधुनिक मुनियो ने भी प्राकृत भाषा से लिखा है। 'रयणवालकहा' चन्दनमुनि जी की एक श्रेष्ठ रचना है। राजस्थानी जैन श्वेताम्बर परम्परा के सन्तो ने जितना साहित्य लिखा है, उतना आज उपलब्ध नही है कुछ तो मुस्लिम युग के धर्मान्धशासकों ने जैन शास्त्र भण्डारों को नष्ट कर दिया और कुछ हमारी लापरवाही से चूहो, दीमक एव शीलन से नष्ट हो गये। तथापि जो कुछ अवशिष्ट है, उन ग्रन्थो को आधुनिक दृष्टि से सम्पादित करके प्रकाशित किये जायँ तो अज्ञात महान साहित्यकारों का सहज ही पता लग सकता है।

---

१ श्री चन्द्रकृत रत्न करण्ड
२ पाटण सघवी के—में जैन भण्डार की वि० स० १४६७ की हस्तलिखित ताडपत्रीय पोथी खण्ड २, पत्र ३००
३ (क) उपदेश पद मुनि श्री चन्द्रसूरि की टीका वि० स० ११७४
(ख) गणधर सार्धशतक श्री सुमतिगणिकृत वृत्ति
(ग) प्रभावक चरित्र ९ शृग वि० स० १३३४
(घ) राजशेखरकृत प्रबन्धकोष वि० स० १४०५
४ समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ० ६
५ 'संकरोनाम भट्टो तस्स गगा नाम भट्टिणी। तीसे हरिभद्दो नाम पंडिओ पुत्तो।' —कहावली, पत्र ३००
६ 'एव सो पडिसगव्वमुव्वहमाणो हरिभद्दो नाम माहणो।'
७ प्रभावक चरित्र शृग ९, श्लोक ८
८ जैन साहित्य सशोधक वर्ष १, अक १
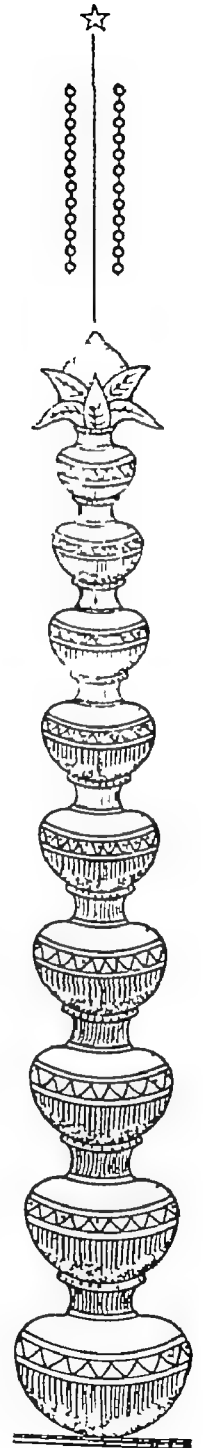
९ 'चक्किदुग हरिपणग, पणग चक्कीण केसवो चक्की।
केसव चक्की केसव दु चक्की, केसी अ चक्की अ ।। —आवश्यक निर्युक्ति गाथा ४२१

१० 'धर्मतो याकिनी महत्तरा सूनु —आवश्यक वृत्ति

११ सिंघी जैन ग्रन्थमाला भारतीय विद्याभवन बम्बई से प्रकाशित

१२ देखिए—डॉ० हर्मन जेकोबी ने समराइच्च कहा का सम्पादन किया, प्रो० सुवाली ने योगदृष्टि समुच्चय, योगबिन्दु, लोकतत्त्व निणय एव षड्दशन समुच्चय का सम्पादन किया और लोकतत्त्व निणय का इटालिन में अनुवाद किया।

१३ सिंघी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्याभवन बम्बई वि० स० २००५ मुनि जिनविजय जी

१४ तुणमलघ जिण-भवण, मणहर सावयाउल विसम।
जावालिउर अट्ठावय व अह अत्थि पुहइए ।। —कुवलयमाला प्रशस्ति, पृ० २८२

१५ सुरसुन्दरीचरिय की अन्तिम प्रशस्ति गाथा २४० से २४८

१६ भगवती, ज्ञाता, समवायाङ्ग, स्थानाङ्ग, औपपातिक की वृत्तियो मे प्रशस्तियाँ।

१७ महावीरचरिय प्रशस्ति।

१८ सम्पादक—अमृतलाल, सवचन्द गोपाणी, प्रकाशन-सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई सवत् १९४९

१९ दो पक्खुज्जोयकरो दोसासगेणवज्जिओ अमओ।
सिरि सज्जण उज्जाओ, अउवच्च दुव्वअक्खत्थो ।।
सीसेण तस्स कहिया दस विकहाणा इमेउपचमिए।
सूरिमहेसरएण भवियाण बोहणट्ठाए ।। —णाण १०।४९६–४९७

२० विधिप्रपा सिंघी जैन ग्रन्थमाला बम्बई से प्रकाशित।

२१ प्रकाशक वही

२२ प्रकाशक—सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई

२३ प्रकाशक—वही

२४ नागउर—जिणायज्जणे समाणिय विवरण एय'
—धर्मोपदेशमाला, प्रशस्ति २९, पृ० २३०

२५ तीर्थङ्कर वर्ष ४, अक १, मई १९७४

२६ मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरि, अष्टक शताब्दी स्मृति ग्रन्थ 'जोइसहीर'—महत्त्वपूण खरतरगच्छीय ज्योतिष ग्रन्थ लेख पृष्ठ ९५।

२७ (क) प्रभावक चरित्र, भाषान्तर, पृष्ठ १८७। प्रकाशक—आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर वि० स० १९८७ मे प्रकाशित।
(ख) जैन परम्परा नो इतिहास भाग १, पृ० ३५९ से ३६१

२८ मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरि अष्टम शताब्दी, स्मृति ग्रन्थ

☆☆

☐ रमेशकुमार जैन

राजस्थानी साहित्य भण्डार विश्व की किसी भी भाषा के साहित्य भण्डार से कम नहीं है। परिमाण एवं श्रेष्ठता दोनों ही दृष्टियों से राजस्थानी साहित्य काफी समृद्ध है। इस समृद्धि मे चार चाद लगाने वाले जैन साहित्यकारों का एक विस्तृत परिचय यहां प्रस्तुत है।

राजस्थानी जैन साहित्य

☐

राजस्थानी जैन-साहित्य बहुत विशाल है। विशाल इतना कि चारण साहित्य भी उसके समक्ष न्यून है। उसकी मौलिक विशेषताएँ भी कम नही हैं।

प्रथम विशेषता यह है कि वह जन-साधारण की भाषा मे लिखा गया है। अत वह सरल है। चरणो आदि ने जिस प्रकार शब्दो को तोड-मरोडकर अपने ग्रन्थो की भाषा को दुरूह बना लिया है वैसा जैन विद्वानों ने नही किया है।

दूसरी विशेषता है जीवन को उच्च स्तर पर ले जाने वाले साहित्य की प्रचुरता।

जैन मुनियों का जीवन निवृत्ति प्रधान था, वे किसी राजा-महाराजा आदि के आश्रित नहीं थे, जिससे कि उन्हें अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन करने की आवश्यकता होती। युद्ध के लिए प्रोत्साहित करना भी उनका धर्म नही था और शृङ्गार साहित्य द्वारा जनता को विलासिता की ओर अग्रसर करना भी उनके आचार से विरुद्ध था। अत उन्होंने जनता के कल्याणकारी और उनके जीवन को ऊचे उठाने वाले साहित्य का ही निर्माण किया। चारण-साहित्य वीर-रस प्रधान है और उसके बाद शृंगार-रस का स्थान आता है। भक्ति रचनाएँ भी उनकी प्राप्त है पर, जैन साहित्य धर्म और नैतिकता प्रधान है। उसमे शान्त रस यत्र-तत्र-सर्वत्र देखा जा सकता है। जैन कवियो का उद्देश्य जन-जीवन मे आध्यात्मिक जागृति पैदा करना था। नैतिक और भक्तिपूर्ण जीवन ही उनका चरम लक्ष्य था। उन्होंने अपने इस उद्देश्य के लिए कथा-साहित्य को विशेष रूप से अपनाया। तत्त्वज्ञान सूखा एव कठिन विषय है। साधारण जनता की वहां तक पहुंच नहीं और न उसकी रुचि ही हो सकती है। उसको तो कथाओं व दृष्टान्तो द्वारा धर्म का मर्म समझाया जाय तभी उसके हृदय को वह धर्म छू सकता है। कथा-कहानी सबसे अधिक लोकप्रिय विषय होने के कारण उनके द्वारा धार्मिक तत्त्वो का प्रचार शीघ्रता से हो सकता है। इस बात को ध्यान मे रखते हुए उन्होंने तप, दान, शील तथा धार्मिक व्रत-नियमों का महात्म्य प्रगट करने वाले कथानको को धर्म-प्रचार का माध्यम बनाया। इसके पश्चात् जैन तीर्थंकरो एव आचार्यों के ऐतिहासिक काव्य आते हैं। इससे जनता के सामने महापुरुषो के जीवन-आदर्श सहज रूप से उपस्थित होते हैं। इन दोनो प्रकार के साहित्य से जनता को अपने जीवन को सुधारने मे एव नैतिक तथा धार्मिक आदर्शों से परिपूर्ण करने में बडी प्रेरणा मिली।

राजस्थानी जैन-साहित्य के महत्व के सम्बन्ध में दो बातें उल्लेखनीय है—प्रथम—भाषा-विज्ञान की दृष्टि से उसका महत्त्व है, द्वितीय—१३वीं से १५वीं शताब्दी तक के अजैन राजस्थानी ग्रन्थ स्वतन्त्र रूप से उपलब्ध नहीं है। उसकी पूर्ति राजस्थानी जैन-साहित्य करता है।

अनेक विद्वानो की यह धारणा है कि जैन-साहित्य जैन धर्म से ही सम्बन्धित है, वह जनोपयोगी साहित्य

नहीं है पर, यह धारणा नितान्त भ्रमपूर्ण है। वास्तव मे जैन-साहित्य की जानकारी के अभाव मे ही उन्होंने यह धारणा बना रखी है। इसलिये वे जैन-साहित्य के अध्ययन से उदासीन रह जाते हैं। राजस्थानी जैन साहित्य मे ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं जो जैन-धर्म के किसी भी विषय से सम्बन्धित न होकर सवजनोपयोगी दृष्टि से लिखे गये हैं—

१—व्याकरण-शास्त्र—जैन कवियो की अनेक रचनाएँ व्याकरण साहित्य पर मिलती है। इन रचनाओ मे से निम्न रचनाए उल्लेखनीय है—

बाल शिक्षा, उक्ति रत्नाकर, उक्ति समुच्चय कातन्त्र बालावबोध, पच-सन्धि बालावबोध, हेम व्याकरण भाषा टीका, सारस्वत बालावबोध आदि।

२—छन्द शास्त्र—राजस्थानी जैन कवियो ने छन्द-शास्त्र पर भी रचनाएँ लिखी हैं—

पिंगल शिरोमणि, दूहा चन्द्रिका, राजस्थान गीतो का छन्द ग्रथ, वृत्त रत्नाकर बालावबोध आदि।

३—अलकार-शास्त्र—वाग्भट्टालकार बालावबोध, विदग्ध मुखमडन बालावबोध, रसिक प्रिया बालावबोध आदि।

४—काव्य टीकाएँ—भर्तृहरिशतक-भाषा टीका त्रय, अमरुशतक, लघुस्तव बालावबोध, किसन रुक्मणी की टीकाएँ, धूर्त्ताख्यान कथासार, कादम्बरी-कथा सार।

५—वैद्यक-शास्त्र—माधवनिदान टब्बा, सन्निपात कलिका टब्बाद्वय, पथ्यापथ्य टब्बा, वैद्य जीवन टब्बा, शतश्लोकी टब्बा व फुटकर सग्रह तो राजस्थानी भाषा मे हजारो प्राप्त हैं।

६—गणित-शास्त्र—लीलावती भाषा चौपाई, गणित सार चौपाई आदि।

७—ज्योतिष-शास्त्र—लघुजातक वचनिका, जातक कर्म पद्धति बालावबोध, विवाहपडल बालावबोध, भुवन दीपक बालावबोध, चमत्कार चिंतामणि बालावबोध, मुहूर्त्त चिन्तामणि बालावबोध, विवाहपडल भाषा, गणित साठीसो, पचाग नयन चौपाई, शकुन दीपिका चौपाई, अग फुरकन चौपाई, वर्षफलाफल सज्झाय आदि। कवि हीरकलश ज्योतिष के प्रकाण्ड पण्डित थे। इनकी प्राकृत भाषा मे रचित 'ज्योतिष सार' तथा राजस्थानी में रचित 'जोइसहीर' इस विषय की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। इसकी पद्य सख्या १००० के लगभग है।

८—नीति, व्यवहार, शिक्षा, ज्ञान आदि—प्राय प्रत्येक कवि ने इनके लिए किसी न किसी रूप मे कही न कही स्थान ढूँढ ही लिया है। इन विषयो से सम्बन्धित स्वतन्त्र रचनाएँ भी मिलती हैं, जिनमे "छीहल-बावनी", "डूगर बावनी" आदि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। इनमे प्रवाहपूर्ण बोलचाल की भाषा मे, व्यवहार और नीति विषयक बातो को बड़े ही मार्मिक ढग से कहा है। उक्त विषयो से सम्बन्धित अन्य रचनाओं मे 'सवाद, कक्का-मातृका-बावनी' और कुलक' आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

चाणक्य नीति टब्बा, पचाख्यान चौपाई व नीति प्रकाश आदि ग्रन्थ भी इस दिशा मे उल्लेखनीय है।

९—ऐतिहासिक ग्रन्थ—मुहणोत नैणसी की ख्यात, राठौड अमरसिंह की बात, खुमाण रासो, गोरा-बादल चौपाई, जैतचन्द्र प्रबन्ध चौपाई, कर्मचन्द्र वश प्रबन्ध आदि रचनाएँ ऐतिहासिक ग्रन्थो मे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इनसे इतिहास की काफी सामग्री उपलब्ध हो सकती है। जैन गच्छो की पट्टावलियाँ व गुर्वावलियाँ गद्य व पद्य दोनो मे लिखी गई हैं। जैनेतर ख्यातो एव ऐतिहासिक बातें आदि की अनेक प्रतियाँ कई जैन भण्डारो मे प्राप्त हैं।

१०—सुभाषित-सूक्तियाँ—राजस्थानी साहित्य मे सुभाषित सूक्तियो की सख्या भी बहुत अधिक है। अनेक सुभाषित उक्तियाँ राजस्थान के जन-जन के मुख व हृदय मे रमी हुई है। कहावतो के तौर पर उनका प्रयोग पद-पद पर किया जाता है। जैन विद्वानो ने भी प्रासगिक विविध विषयक राजस्थानी सैंकडो दोहे बनाये है श्री अगरचन्द नाहटा ने उदयराज व जिनहर्ष की सुभाषित सूक्तियो का एक सग्रह प्रकाशित किया है।

११—विनोदात्मक—राजस्थानी साहित्य मे विनोदात्मक रचनाएँ भी प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध हुई है। इन रचनाओ मे ऊन्दररासो, मांकण रासो, मखियो री कजियो, जती जग आदि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं।

१२—ऋतुकाव्य उत्सव काव्य—बारहमासे—चौमासे सज्ञक अनेक राजस्थानी जैन रचनाएँ उपलब्ध हैं। ये रचनाएँ अधिकाश नेमिनाथ और स्थूलिभद्र से सम्बन्धित होने पर भी ऋतुओ के वर्णन मे परिपूरित है। सबसे प्राचीन ऋतुकाव्य बारहमास—"जिन धर्म सूरि बारह नावऊँ" है।

१३—सम्वाद—सम्वाद सज्ञक जैन रचनाओ से बहुत सो का सम्बन्ध जैनधम नही है। इनमे कवियो ने अपनी सूझ एव कवि प्रतिभा का परिचय अच्छे रूप मे दिया है। मोतीकपासिया सम्वाद, जीभ-दान्त सम्वाद, आँख-कान सम्वाद, उद्यम-कर्म सम्वाद, यौवन-जरा सम्वाद, लोचन-काजल सम्वाद आदि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं।

१४—देवता-देवियों के छन्द—यक्ष, शनिचर आदि ग्रह, त्रिपुर आदि देवो की स्तुति रूप छन्द, जैन कविया द्वारा रचित मिलते हैं। इन देवी-देवताओ का जैन धम से कोई सम्बन्ध नही है। रामदेव जी, पाबूजी, सूरजजी और अमरसिंह जी की स्तुतिरूप भी कई रचनाएँ प्राप्त होती हैं।

१५—स्तुति-काव्य—स्तुति-काव्यो मे तीर्थंकरो, जैन महापुरुषो, साधुओ, सतियो, तीर्थों आदि के गुणो के वर्णन रहते हैं। तीर्थों की नामावली जिसे 'तीर्थमाला' कहते हैं इसी के अन्तगत है। ये रचनाएँ ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। और स्तुति, स्तवन, सज्झाय, वीनती, गीत, नमस्कार आदि नामो से उपलब्ध है। जैन-साहित्य का एक बडा भाग स्तुति-परक है।

१६—लोक कथानक सम्बन्धी ग्रन्थ—लोक-साहित्य के सरक्षण मे जैन विद्वानो की सेवा महत्त्वपूण है। सैकडो लोकवार्ताओ को उन्होने अपने ग्रन्थो मे सग्रहित की है। बहुत-सी लोकवार्ताएँ यदि वे न अपनाते तो विस्मृति के गभ मे कभी की विलीन हो जाती। लोक-कथानको को लेकर निम्न काव्यो का सृजन हुआ—

(१) भोजदेव चरित=मालदेव, सारग, हेमानन्द।
(२) अबड चरित=विनय समुद्र, मगल माणिक्य।
(३) धनदेव चरित (सिंहलसी चरित)=मलय चन्द।
(४) कर्पूर मजरी=मतिसार।
(५) ढोला-मारू=कुशल लाभ।
(६) पच्चाख्यान=वच्छराज, रत्नसुन्दर, हीरकलश।
(७) नद बत्तीसी=सिंह कुल।
(८) पुरन्दर कुमार चौपाई=मालदेव।
(९) श्रीपाल चरित साहित्य=माडण, ज्ञान सागर, ईश्वर-सूरि, पद्म सुन्दर।
(१०) विल्हण पचासीका=ज्ञानाचार्य, सारग।
(११) शशिकला=सारग।
(१२) माधवानल कामकन्दला=कुशल लाभ।
(१३) लीलावती=कक्क सूरि शिष्य।
(१४) विद्याविलास=हीरानन्द सूरि, आज्ञा सुन्दर।
(१५) सुदयवच्छ वीर चरित=अज्ञात कवि कृत, कीर्तिवर्द्धन।
(१६) चन्द राजा मलयागिरी चौपाई=भद्रसेन जिनहर्ष सूरि के शिष्य द्वारा रचित।
(१७) गोरा-बादल=हेम रत्न, लब्धोदय।
(१८) इसी प्रकार मुनि कीर्ति सुन्दर द्वारा सग्रहीत "वाग्विलास लघु-कथा सग्रह' से विभिन्न प्रचलित लोक-कथाओ का पता चलता है।

महाराज विक्रम का चरित्र विभिन्न लोक-कथाओ का मुख्य आधार और प्रेरणा स्रोत रहा है। मरु-गुजर भाषा में भी ४५ रचनाएँ प्राप्त हो चुकी हैं। उनमे से कुछ प्रसिद्ध रचनाओ के नाम ये हैं—

(१) विक्रम चरित कुमार रास=साधुकीर्ति।
(२) विक्रम सेन रास=उदयभानु।
(३) विक्रम रास=धर्मसिंह।
(४) विक्रम रास=मगल माणिक्य।
(५) वैताल पच्चीसी=ज्ञानचन्द्र।
(६) पचदण्ड चौपाई=मालदेव।
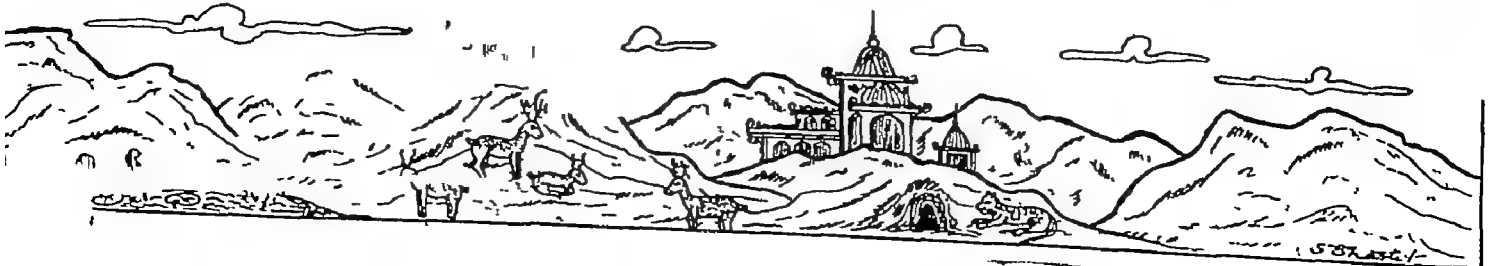
(७) सिंहासन बत्तीसी=मलयचन्द्र, ज्ञानचन्द्र, विनय समुद्र, हीरकलश, सिद्ध सूरि।
(८) विक्रम खापरा चोर चौपाई=राजशील।
(९) विक्रम लीलावती चौपाई=कक्क सूरि शिष्य।

लोक-कथा सम्बन्धी कतिपय ग्रन्थ ये हैं—

(१) शुक बहोत्तरी=रत्न सुन्दर, रत्नचन्द्र।
(२) शृ गार मजरी चौपाई=जयवन्त सूरि।
(३) स्त्री चरित रास=ज्ञानदास।
(४) सगालसा रास=कनक सुन्दर।
(५) सदयवत्स सर्वालिगा चौपाई=केशव।
(६) कान्हड कठियारा चौपाई=मान सागर।
(७) रतना हमीर री वात=उत्तमचन्द भडारी।
(८) राजा रिसूल की वात=आनन्द विजय।
(९) लघुवार्ता सग्रह=कीर्ति सुन्दर।

लोकवार्ताओ के अतिरिक्त लोक-गीतो को भी जैन विद्वानो ने विशेष रूप से अपनाया है। लोक गीतो की रागनियो पर भी उन्होंने अपनी रचनाएँ लिखी हैं।

राजस्थानी जैन-साहित्य व कवि—राजस्थानी रचनाओ की सख्या पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि अजैन राजस्थानी साहित्य के बडे ग्रन्थ तो बहुत ही कम हैं। फुटकर दोहे एव गीत ही अधिक हैं। जबकि राजस्थानी जैन ग्रन्थो, रास आदि बडे-बडे ग्रन्थो की सख्या सैकडो मे है। दोहे और डिंगल गीत हजारो की सख्या मे मिलते हैं। उनका स्थान जैन विद्वानो के स्तवन, सज्झाय, गीत, मास-पद आदि लघु कृतियाँ ले लेती हैं, जिनकी सख्या हजारो पर है।

कवियो की सख्या और उनके रचित-साहित्य से परिणाम से तुलना करने पर भी जैन-साहित्य का पलडा बहुत भारी नजर आता है। अजैन राजस्थानी-साहित्य निर्माताओ मे दोहा व गीत निर्माताओ को छोड देने पर बडे-बडे स्वतन्त्र ग्रन्थ निर्माता कवि थोडे से रह जाते हैं। उनमे से भी किसी कवि ने उल्लेखनीय ४–५ बडी-बडी और छोटी २०-३० रचनाओ से अधिक नही लिखी। जैनेत्तर राजस्थानी भाषा का सबसे बडा ग्रन्थ 'वश भास्कर' है। जबकि जैन कवियो म ऐसे बहुत से कवि हो गये हैं जिन्होने बडे-बडे रास ही अधिक सख्या मे लिखे हैं। यहाँ कुछ प्रधान राजस्थानी जैन कवियो का परिचय दिया जा रहा है—

(१) **कविवर समय सुन्दर**—इनका जन्म समय अनुमानत सवत् १६२० है। (जीवनकाल—१६०–१७०२), तथापि इनकी भाषा कृतियाँ आलोच्यकाल के पश्चात् लिखी गई है। कवि ने सत्रहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से मत्यु पर्यन्त, अर्धशताब्दी तक निरन्तर, समीप्रकार के विशाल साहित्य का निर्माण किया। इसी से कहावत है—"समय सुन्दर रा गीतडा, कुभँ राणँ रा भीतडा।" इससे पता लगता है कि कवि के गीतो की सख्या अपरिमेय है। इसमे कोई सन्देह नहीं कि समय सुन्दर अपने समय के प्रख्यात कवि और प्रौढ विद्वान थे। इनकी प्रमुख कृतियों मे—साम्बप्रद्युम्न चौपाई, सीताराम चौपाई, नल दयमन्ती रास, प्रियमेलक रास, थावच्चा चौपाई, क्षुल्लक कुमार प्रबन्ध, चपक श्रेष्ठि-चौपाई, गौतम पृच्छा चौपाई, धनदत्त चौपाई, साधुवन्दना, पूजा ऋषिरास, द्रौपदी चौपाई, केशी प्रबन्ध, दानादि चौढालिया एव क्षमा छत्तीसी, कर्म छत्तीसी, पुण्य छत्तीसी, दुष्काल वर्णन छत्तीसी, सवैया छत्तीसी, आलोयण छत्तीसी आदि उल्लेखनीय हैं।

(२) **जिनहर्ष**—इनका दीक्षा पूव नाम जसराज था। यह राजस्थानी के बडे भारी कवि हैं। राजस्थानी भाषा और गुजराती मिश्रित भाषा मे ५० के लगभग रास एव सैकडों स्तवन आदि फुटकर रचनाएँ लिखी हैं।

(३) **वेगड़ जिन समुद्र सूरि**—इन्होने भी राजस्थानी मे बहुत से रास, स्तवन आदि बनाये हैं। कई ग्रन्थ अपूर्ण मिले हैं।

(४) तेरह पन्थ के पूज्य जीतमल जी (जयाचार्य)—इनका "भगवती सूत्र की ढाला" नामक ग्रन्थ ही ६० हजार श्लोक का है जो राजस्थानी का सबसे बडा ग्रन्थ है।

१७वी शताब्दी प्रथमार्द्ध के कुछ अन्य प्रमुख कवियो मे विजयदेव सूरि, जय सोम, नयरग, कल्याणदेव सारग, मगल माणिक्य, साधुकीर्ति, धर्म रत्न, विजय शेखर, चारित्रसिंह आदि के नाम स्मरणीय है।

राजस्थानी जैन-साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ—राजस्थानी जैन-साहित्य का परिवार बडा विशाल है। इस साहित्य का बहुत बडा अश अभी जैन-अजैन भण्डारो मे सुरक्षित है। अब जैन भडारो की पर्याप्त शोध हो रही है। अत इस साहित्य की जानकारी मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है। सक्षेप मे राजस्थानी जैन-साहित्य की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं[1]—

१ एक विशिष्ट शैली सर्वत्र लक्षित होती है, जिसको जन-शैली कहा जा सकता है।

२ अधिकाश रचनाएँ शान्त-रसात्मक हैं।

३ कथा-काव्यो, चरित-काव्यो और स्तुतिपरक रचनाओ की बहुलता है।

४ मुख्य स्वर धार्मिक है, धार्मिक दृष्टिकोण की प्रधानता है।

५ प्रारम्भ से लेकर आलोच्य-काल तक और उसके पश्चात् भी साहित्य की धारा अविच्छिन्न रूप से मिलती है।

६ विविध काव्य रूप अपनाए गये, जिनमे कुछ प्रमुख ये है—

रास, चौपाई, सधि, चर्चरी, ढाल, प्रबन्ध-चरित-सम्बन्ध—आख्यानक-कथा, पवाडो, फागु, धमाल, बारहमासा, विवाहलो, वेलि, धवल, मगल, सवाद, कक्का-मातृका-बावनी, कुलुक, हीयाली, स्तुति, स्तवन, स्तोत्र, सज्झाय, माला, वीनती, वचनिका आदि-आदि।

७ साहित्य के माध्यम से जैन धर्मानुसार आत्मोत्थान का सर्वत्र प्रयास है।

८ परिमाण और विविधता की दृष्टि से सम्पन्न है।

९ जैन कवियो ने लोकगीतो और कुछ विशिष्ट प्रकार के लोक कथानको को जीवित रखने का स्तुत्य प्रयास किया है।

१० जैन कवियो ने राजस्थानी के अतिरिक्त सस्कृत तथा प्राकृत-अपभ्रश मे भी रचनाएँ की हैं।

११ जैन साहित्य के अतिरिक्त विपुल अजैन साहित्य के सरक्षण का श्रेय जैन विद्वानो और कवियो को है।

१२ भाषा-शास्त्रीय अध्ययन के लिए जैन-साहित्य में विविध प्रकार की प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। प्रत्येक शताब्दी के प्रत्येक चरण की अनेक रचनाएँ प्राप्त हैं, जिनसे भाषा के विकासक्रम का वैज्ञानिक विवेचन किया जा सकता है। डॉ० टैसीटरीका पुरानी पश्चिमी राजस्थानी सम्बन्धी महान् कार्य जैन रचनाओं के आधार पर ही है।

आज राजस्थानी जैन-साहित्य के एक ऐसे वृहद् इतिहास की आवश्यकता है, जिसमे कुछ वर्गों या विचारो के विभाजन के आधार पर उसका क्रमबद्ध अध्ययन प्रस्तुत किया जा सके। स्फुट रूप से जैन-साहित्य पर बहुत सामग्री प्रकाश मे आ चुकी है, किन्तु उसकी क्रमबद्धता का अभी भी अभाव बना हुआ है। राजस्थानी जैन-साहित्य का ऐसा प्रतिनिधि-इतिहास ग्रन्थ न होने के कारण तथा सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश साहित्य की बहुत-सी उन्नत दिशाएँ आज भी धुँधली हैं।
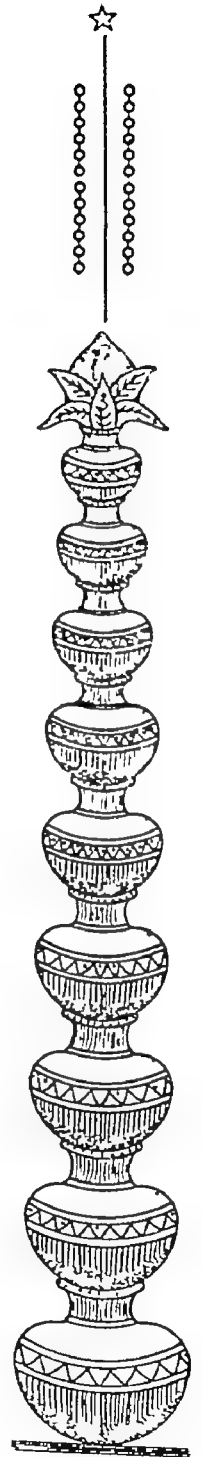
१ राजस्थानी भाषा और साहित्य—डॉ० हीरालाल माहेश्वरी, पृष्ठ २७१

नोट —प्रस्तुत लेख मे श्री अगरचन्द नाहटा के अनेक लेखों जो कि विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित हो चुके हैं, से सहायता ली गई है। उनका मैं हृदय से आभारी हू।—लेखक
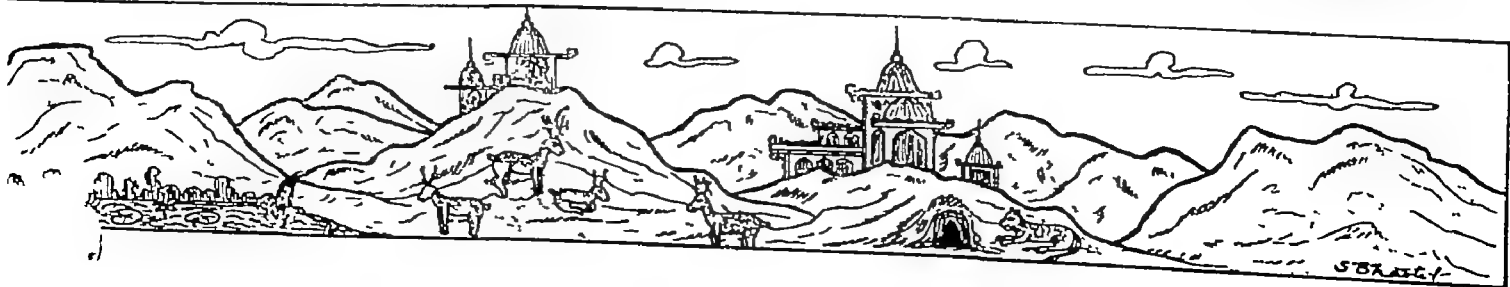
जैनाचार्यों ने धम, दशन, इतिहास एव काव्यों पर ही नहीं, किन्तु ज्योतिष एव आयुर्वेद जैसे सार्वजनिक विषयों पर भी अनुपम ज्ञान पूर्ण लेखिनी चलाई है और काफी जनोपयोगी साहित्य का निर्माण किया है। पढिए आयुर्वेद मे जैन साहित्य की देन।

☐ कविराज राजेन्द्रप्रकाश भटनागर
[एम० ए०, भिषगाचार्य (स्वर्ण पदक प्राप्त) आयुर्वेदाचार्य, एच० पी० ए० (जाम०), साहित्यरत्न, प्राध्यापक, राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, उदयपुर (राज०)]

जैन आयुर्वेद साहित्य एक समीक्षा

☐

भारतीय सस्कृति मे चिकित्सा का काय अत्यन्त महत्त्वपूण और प्रतिष्ठित माना जाता रहा है। सुप्रसिद्ध आयुर्वेदीय ग्रन्थ चरक सहिता में लिखा है—"न हि जीवितदानाद्धि दानमन्यद् विशिष्यते" (च०चि० १।४।६१) जीवनदान से बढ़कर अन्य कोई दान नही है। चिकित्सा (स्वास्थ्य के सरक्षण और रोगमुक्ति के उपाय) से कही धम, कहीं अर्थ (धन), कही मैत्री, कहीं यश और कहीं कार्य का अभ्यास ही प्राप्त होता है, अत चिकित्सा कभी निष्फल नही होती—

> क्वचिद्धर्म क्वचिदर्थं क्वचिन्मैत्री क्वचिद्यश।
> कर्माभ्यास क्वचिच्चापि चिकित्सा नास्ति निष्फला॥

अतएव, प्रत्येक धर्म के आचार्यों और उपदेशको ने चिकित्सा कार्य द्वारा लोक-प्रभाव स्थापित करना उपयुक्त समझा। बौद्ध-धर्म के प्रवर्तक भगवान बुद्ध को 'भैषज्यगुरु' का विशेषण प्राप्त था। इसी भांति, जैन आचार्यों ने भी चिकित्सा कार्य को धार्मिक शिक्षा और नित्य-नैमित्तिक कार्यों के साथ प्रधानता प्रदान की। धम के साधनभूत शरीर को स्वस्थ रखना और रोगी होने पर रोगमुक्त करना आवश्यक है। अद्यावधि प्रचलित 'उपाश्रय' (उपासरा) प्रणाली मे जहाँ जैन यति सामान्य विद्याओ की शिक्षा, धर्माचरण का उपदेश और परम्पराओ का मार्गदशन करते रहे हैं, वहीं वे उपाश्रयों को चिकित्सा-केन्द्रो के रूप मे समाज मे, प्रतिस्थापित करने मे भी सफल हुए थे।

इस प्रकार सामान्यतया वैद्यक-विद्या को सीखना और नि शुल्क समाज की सेवा करना जैन यति के दैनिक जीवन का अग बन गया, जिसका उन्होने सफलता-पूवक निर्वाह, ऐलोपैथिक चिकित्सा-प्रणाली के प्रचार-प्रसार पयन्त यथावत् किया ही है। परन्तु, नवीन चिकित्सा प्रणाली के प्रसार से उनके इस लोक-हितकर काय का प्राय लोप होता जा रहा है।

जैन-आयुर्वेद "प्राणावाय"

जैन आयुर्वेद को 'प्राणावाय' कहा जाता है। जैन तीर्थंकरों की वाणी अर्थात् उपदेश को विषयो के अनुसार मोटे तौर पर बारह भागो में विभाजित किया गया है। जैन आगम में इनको 'द्वादशांग' कहते हैं। इन बारह अगों मे अन्तिम अग का नाम 'दृष्टिवाद' है। दृष्टिवाद के पांच भेद हैं—१ पूर्वगत, २ सूत्र, ३ प्रथमानुयोग, ४ परिकर्म, ५ चूलिका। 'पूर्व' के १४ प्रकार हैं। इनमे से बारहवें 'पूर्व' का नाम 'प्राणावाय' है। इस पूर्व में मनुष्य के आभ्यतर—मानसिक और आध्यात्मिक तथा बाह्य—शारीरिक स्वास्थ्य के उपायों, जैसे—यम, नियम, आहार, विहार और औषधियो का विवेचन है तथा दैविक, भौतिक, आधिभौतिक, जनपदध्वसी रोगों की चिकित्सा का विस्तार से विचार किया गया है।

"काय-चिकित्सा आदि आठ अगों में सपूर्ण आयुर्वेद का प्रतिपादन, भूतशांति के उपाय, विषचिकित्सा और

प्राण-अपान आदि वायुओ के शरीर धारण करने की दृष्टि से काय के विभाजन का, जिसमे वर्णन किया गया है, उसे 'प्राणावाय' कहते है।[१]

इसी 'प्राणावाय' के आधार पर जैन विद्वानो ने आयुर्वेदीय ग्रन्थो की रचना मे महान् योगदान किया। ये ग्रंथ अनेक हैं और राजस्थान, पजाब, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्णाटक के ग्रथागारो मे भरे पड़े हैं। दुर्भाग्य है कि इनमे से कुछ ही प्रकाशित हुए हैं।

निश्चय ही, बाह्य हेतु—शरीर को सबल और उपयोगी बनाकर आभ्यन्तर—आत्मसाधना व सयम के लिए जैन विद्वानों ने आयुर्वेद को अपनाकर अकाल जरा—मृत्यु के निवारण हेतु दीर्घ व सशक्त जीवन हेतु प्रयत्न किया है, क्योकि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारो पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए शरीर का स्वस्थ रहना अनिवार्य है—'धर्मार्थकाम-मोक्षाणामारोग्य मूलमुत्तमम्।'

जैनागम के 'मूलवार्तिक' मे आयुर्वेद—प्रणयन के सम्बन्ध मे कहा गया है—'आयुर्वेद प्रणयनान्यथानुपपत्ते।' अर्थात् अकाल, जरा (वार्धक्य) और मृत्यु को उचित उपायो द्वारा रोकने के लिए आयुर्वेद का प्रणयन किया गया है।

दिगम्बराचार्य उग्रादित्य के 'कल्याणकारक' की प्रस्तावना मे आयुर्वेद—अवतरण की इसी मूल बात का प्रकाशन हुआ है।

यही कारण रहा कि जैन आचार्यों और यतिमुनियो द्वारा वैद्यक-ग्रन्थो का प्रणयन होता रहा है। यह निश्चित है कि जैन विद्वानो द्वारा वैद्यक-कार्य अगीकार किये जाने पर चिकित्सा मे निम्न दो प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित हुए—

(१) अहिंसावादी जैनों ने शवच्छेदन-प्रणाली और शल्यचिकित्सा को हिंसक कार्य मानकर चिकित्सा कार्य से उन्हें अप्रचलित कर दिया। परिणामस्वरूप हमारा शरीर सम्बन्धी ज्ञान शनै शनै क्षीण होता गया और शल्यचिकित्सा छूटती गयी। उनका यह निषेध भारतीय शल्यचिकित्सा की अवनति का एक कारण बना।

(२) जहाँ एक ओर जैन-विद्वानों ने शल्यचिकित्सा का निषेध किया, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने रसयोगो और सिद्ध-योगों का बाहुल्येन उपयोग प्रारम्भ किया। एक समय ऐसा आया, जब सब रोगो की चिकित्सा सिद्ध-योगो द्वारा ही की जाने लगी। जैसाकि आजकल ऐलोपैथिक चिकित्सा मे सब रोगो के लिए पेटेन्ट योग प्रयुक्त किये जा रहे हैं। नवीन सिद्धयोग और रसयोग (पारद और धातुओ से निर्मित योग) भी प्रचलित हुए।

(३) भारतीय दृष्टिकोण के आधार पर रोग निदान के लिए नाडी परीक्षा, मूत्र परीक्षा आदि को भी जैन वैद्यों ने प्रश्रय दिया। यह उनके द्वारा इन विषयो पर निर्मित अनेक ग्रन्थों से ज्ञात होता है।

(४) औषधि चिकित्सा मे मास और मास—रस के योग जैन वैद्यो द्वारा निषिद्ध कर दिये गये। मद्य (सुराओ) का प्रयोग भी वर्जित हो गया। 'कल्याणकारक' में तो मास के निषेध की युक्ति-युक्त विवेचना की गई है।

(५) इस प्रकार केवल वानस्पतिक और खनिज द्रव्यो से निर्मित योगो का जैन वैद्यो द्वारा चिकित्सा कार्य मे विशेष प्रचलन किया गया। यह आज भी सामान्य चिकित्सा-जगत् में परिलक्षित होता है।

(६) सिद्ध-योग-चिकित्सा प्रचलित होने से जैन वैद्यक मे त्रिदोषवाद और पचभूतवाद के गम्भीर तत्त्वो को समझने और उनका रोगो से व चिकित्सा से सम्बन्ध स्थापित करने की महान् व गूढ़ आयुर्वेद प्रणाली का ह्रास होता गया और केवल लाक्षणिक चिकित्सा ही अधिक विकसित हुई।

जैनाचार्यों ने स्वानुभूत एव प्रायोगिक प्रत्यक्षीकृत प्रयोगों व साधनों द्वारा रोग-मुक्ति के उपाय बताये हैं। शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य के लिए परीक्षणोपरात सफल सिद्ध हुए प्रयोगो और उपायो को उन्होंने लिपिबद्ध कर दिया। जैन-धर्म के श्वेताम्बर और दिगम्बर—दोनों ही सम्प्रदायों के आचार्यों ने इस कार्य में महान् योगदान किया है।

(७) जैन वैद्यक-ग्रन्थ अधिक सख्या मे प्रादेशिक भाषाओं मे उपलब्ध हैं। फिर भी सस्कृत में रचित जैन वैद्यक ग्रन्थो की सख्या न्यून नही है। अनेक जैन वैद्यों के चिकित्सा और योगों सम्बन्धी गुटके (परम्परागत नुस्खों के
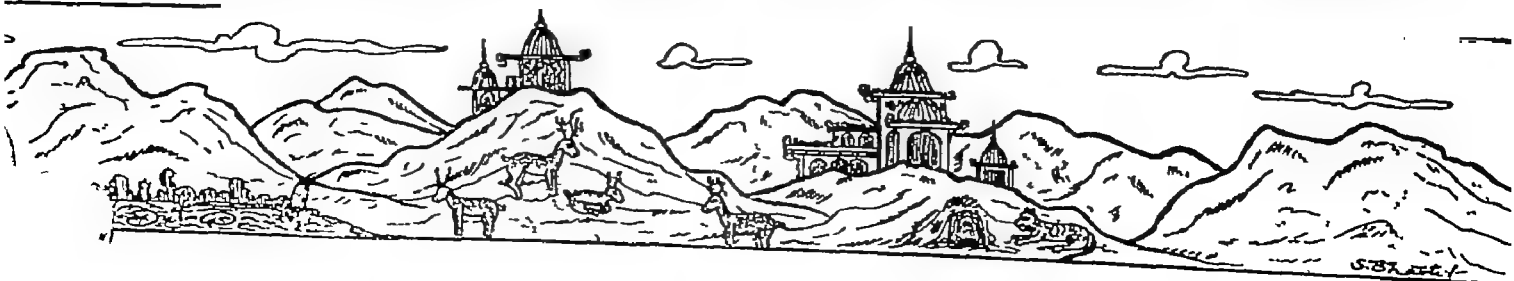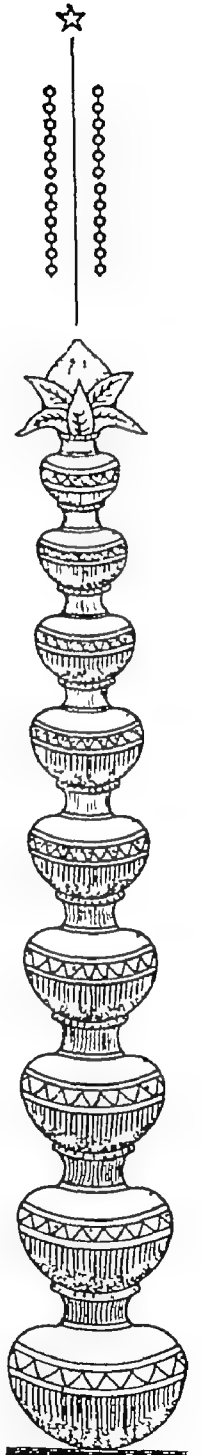
सग्रह, जिन्हे "आम्नाय" ग्रन्थ कहते हैं) मी मिलते है। इनका अनुमूत प्रयोगावली के रूप मे अवश्य ही बहुत महत्त्व हैं।

(८) जैनाचार्यों ने अपने धार्मिक सिद्धान्तो के आधार पर ही मुख्यरूप से चिकित्सा-शास्त्र का प्रतिपादन किया है। जैसे अहिंसा के आदर्शानुरूप उन्होने मद्य, मास और मधु के प्रयोग का सवथा निर्देश नही किया है, क्योकि इसमे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अनेक प्राणियो की हिंसा होती है। इस अहिंसा का आपत्काल मे मी विचार रखा है। इसका यही एकमात्र उद्देश्य था कि मनुष्य जीवन का अन्तिम लक्ष्य पारमार्थिक स्वास्थ्य प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त करना है।

(९) चिकित्सा मे उन्होने वनस्पति, खनिज, क्षार, रत्न, उपरत्न, आदि का विशेष उपयोग बताया है।

(१०) शरीर को स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट और नीरोग रखकर केवल ऐहिक भोग (इन्द्रिय सुख) भोगना ही अन्तिम लक्ष्य नहीं है, अपितु शारीरिक स्वास्थ्य के मध्यम से आत्मिक स्वास्थ्य व सुख प्राप्त करना ही जैनाचार्यों का प्रधान उद्देश्य था। इसके लिए उन्होंने भक्ष्याभक्ष्य, सेव्यासेव्य आदि पदार्थों का उपदेश दिया है। जैन वैद्यक-ग्रन्थो के अपने सर्वेक्षण से मैं जिस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ उसके निम्न तीन पहलू हैं—

एक—जैन विद्वानो द्वारा निर्मित वैद्यक साहित्य अधिकाश मे मध्ययुग मे (ई० सन् की ७ वी शती के १९वीं शती तक) निर्मित हुआ है।

द्वितीय—उपलब्ध सम्पूर्ण वैद्यक-साहित्य से तुलना करें तो जैनो द्वारा निर्मित साहित्य उसके एक तृतीयाश से भी अधिक है।

तृतीय—अधिकाश जैन वैद्यक ग्रन्थो का प्रणयन पश्चिमी भारत मे यथा—पजाब, राजस्थान, गुजरात—कच्छ सौराष्ट्र और कर्णाटक मे हुआ है। कुछ माने में राजस्थान को इस सन्दर्भ मे अग्रणी होने का गौरव और श्रेय प्राप्त है। राजस्थान मे निर्मित अनेक जैन वैद्यक ग्रन्थो, जैसे वैद्यवल्लभ (हस्तिरुचिकृत), योगचितामणि (हर्षकीर्तिसूरिकृत) आदि का वैद्य जगत् मे बाहुल्येन प्रचार-प्रसार उपलब्ध होता है। जैन विद्वानो द्वारा मुख्यतया निम्न तीन प्रकार से वैद्यक ग्रन्थो का प्रणयन हुआ—

(१) जैन यति—मुनियो द्वारा ऐच्छिक रूप से ग्रन्थ-प्रणयन।

(२) जैन यति-मुनियो द्वारा किसी राजा अथवा समाज के प्रतिष्ठित व धनी श्रेष्ठी पुरुषो की प्रेरणा या आज्ञा से ग्रन्थ-प्रणयन।

(३) स्वतन्त्र जैन विद्वानों और वैद्यो द्वारा ग्रन्थ-प्रणयन।

जैन आयुर्वेद-साहित्य का समीक्षात्मक अध्ययन

जैन-विद्वानो द्वारा प्रणीत आयुर्वेद साहित्य को हम दो भागो मे बाँट सकते हैं—

प्रथम—जैन-धर्म के आगम-ग्रन्थो और उनकी टीकाओ आदि मे आये हुए आयुर्वेद-विषयक सन्दर्भों का अध्ययन।

द्वितीय—जैन विद्वानो द्वारा प्रणीत 'प्राणावाय'—सम्बन्धी ग्रन्थ और आयुर्वेद-सम्बन्धी स्वतन्त्र ग्रन्थ टीकाएँ और योगसग्रह आदि।

जैन आगम-साहित्य मे उपलब्ध आयुर्वेद-परक उल्लेख

उपलब्ध प्राचीनतम जैन-धर्म-साहित्य 'द्वादशाग आगम' या 'जैन श्रुताग' कहलाता है। जैन-धर्म के अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर के उपदेशो को सुनकर उनके ही शिष्य गौतम ने विषयानुसार १२ विभागों मे बाँटकर निर्मित किया था। इस साहित्य के पुन दो विभाग हैं—(१) अगप्रविष्ट, और (२) अगबाह्य। 'अग-प्रविष्ट' के अन्तगत आचाराग आदि बारह ग्रन्थ हैं। वीरनिर्वाणोपरान्त १०वीं शताब्दी में ग्यारह अगो का पुन श्रुत-परम्परा द्वारा सकलन किया गया। 'अगबाह्य' के १४ भेद माने गये हैं। इनमे 'दशवैकालिक' और 'उत्तराध्ययन' नामक ग्रन्थ बहुत महत्वपूर्ण हैं। श्वेताम्बर आगम-साहित्य मे इन दोनो ग्रन्थों को विशेष उच्चस्थान प्राप्त है।[२]

कालक्रमानुसार जैन आगम-साहित्य अर्धमागधी, शौरसेनी, प्राकृत, अपभ्रंश और सस्कृत भाषाओ मे मिलता है।

आगम—ग्रन्थ सक्षेप मे और गूढ हैं। अत, बाद के काल मे उन पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका नामक रचनाएँ निर्मित हुई।[४] इनकी रचना ई० १ ली शती से १६वी शती तक होती रही है। इनका प्रयोजन आगमो के विषयो को सक्षेप या विस्तार से समझाना है।[५] इन सब रचनाओं का सामूहिक नाम "आगम-साहित्य" है।

आगम-साहित्य मे प्रसगवशात् आयुर्वेद-विषयक अनेक सदर्भ आये हैं। यहाँ उनका दिग्दर्शन मात्र कराया जायेगा।

'स्थानागसूत्र' मे आयुर्वेद या चिकित्सा (तेगिच्छ=चैकित्स्य) को नौ पापश्रुतो मे गिना गया है।[६] 'निशीथ-चूर्णि' से ज्ञात होता है कि धन्वन्तरि इस शास्त्र के मूल-प्रवतक थे। उन्होने अपने निरन्तर ज्ञान से रोगो को जानकर वैद्यक शास्त्र या आयुर्वेद की रचना की। जिन लोगो ने इस शास्त्र का अध्ययन किया वे 'महावैद्य' कहलाये।[७] आयुर्वेद के आठ अगो का भी उल्लेख इन आगम ग्रन्थो मे मिलता है—कौमारभृत्य, शालाक्य, शल्यहृत्य, कायचिकित्सा, जागुल (विषनाशन), भूतविद्या, रसायन और वाजीकरण।[८] चिकित्सा के मुख्य चार पाद है—वैद्य, रोगी, औषधि और प्रतिचर्या (परिचर्या) करने वाला (परिचारक)।[९] सामान्यतया विद्या और मन्त्रो कल्पचिकित्सा और वनौषधियों (जडी-बूटीयो) से चिकित्सा की जाती थी और इसके आचार्य यत्र तत्र मिल जाते थे।[१०] चिकित्सा की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित थी। इनमे पचकर्म, वमन, विरेचन आदि का भी विपुल प्रचलन था।[११] रसायनो का सेवन कराकर भी चिकित्सा की जाती थी।[१२]

चिकित्सक को 'प्राणाचाय' कहा जाता था।[१३] पशुचिकित्सक भी हुआ करते थे।[१४] निष्णात वैद्य को 'दृष्टपाठी' (प्रत्यक्षकर्माभ्यास द्वारा जिसने वास्तविक अध्ययन किया है) कहा गया है।[१५]

'निशीथचूर्णि' मे अनेक शास्त्रो का नामत उल्लेख मिलता है।[१६] तत्कालीन अनेक वैद्यो का उल्लेख भी आगम ग्रन्थो मे मिलता है। 'विपाकसूत्र' मे विजय नगर के धन्वन्तरि नामक चिकित्सक का वर्णन है।[१७]

रोगो की उत्पत्ति वात, पित्त, कफ और सन्निपात से बतायी गयी है।[१८] रोग की उत्पत्ति के नौ कारण बताये गये हैं—अत्यन्त भोजन, अहित कर भोजन, अतिनिद्रा, अतिजागरण, पुरीष का निरोध, मूत्र का निरोध, मार्ग-गमन, भोजन की अनियमितता, काम विकार।[१९] पुरीष के वेग को रोकने से मरण, मूत्र-वेग रोकने से दृष्टिहानि और वमन के वेग को रोकने से कुष्ठरोग की उत्पत्ति होती है।[२०]

'आचारागसूत्र' में १६ रोगो का उल्लेख है—गडी (गडमाला), कुष्ठ, राजयक्ष्मा, अपस्मार, कार्णिय (काण्य, अक्षिरोग), जिमिय (जडता), कुणिय (हीनागता), खुज्जिय (कुबडापन) उदर रोग, मूकत्व, सूनीय (शोथ), गिलासणि (भस्मक रोग), वेवई (कम्पन), पीठसपि (पगुत्व), सिलीवय (श्लीपद) और मधुमेह।[२१]

इसी प्रकार आगम साहित्य मे व्याधियो की औषधि चिकित्सा और शल्यचिकित्सा का भी वणन मिलता है। सर्पकीट आदि के विषो की चिकित्सा भी वर्णित है। सुवण को उत्तम विषनाशक माना गया है। गडमाला, अर्श, भगदर, व्रण, आघात या आगन्तुज व्रण आदि के शल्यकर्म और सीवन आदि का वर्णन भी है।

मानसिक रोगो और भूतावेश-जन्य रोगो मे भौतिक चिकित्सा का भी उल्लेख मिलता है।

जैन आगम ग्रन्थो मे आरोग्यशालाओ (तेगिन्छयसाल=चिकित्साशाला) का उल्लेख मिलता है। वहाँ वेतन भोगी चिकित्सक, परिचारक आदि रखे जाते थे।[२२]

वास्तव में, सम्पूर्ण जैन आगम साहित्य में उपलब्ध आयुर्वेदीय सदर्भों का सकलन और विश्लेषण किया जाना अपेक्षित है।

'प्राणावाय'-परम्परा का साहित्य

जैन-आयुर्वेद 'प्राणावाय' का ऊपर उल्लेख किया गया है। इसका विपुल साहित्य प्राचीनकाल मे अवश्य रहा होगा। अब केवल उग्रादित्याचार्य विरचित "कल्याणकारक" नामक ग्रथ मिलता है।[२३] यही एकमात्र प्राणावाय सम्बन्धी उपलब्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ मे प्राणावाय के अवतरण की कथा वर्णित है। इस परम्परा के अनुसार
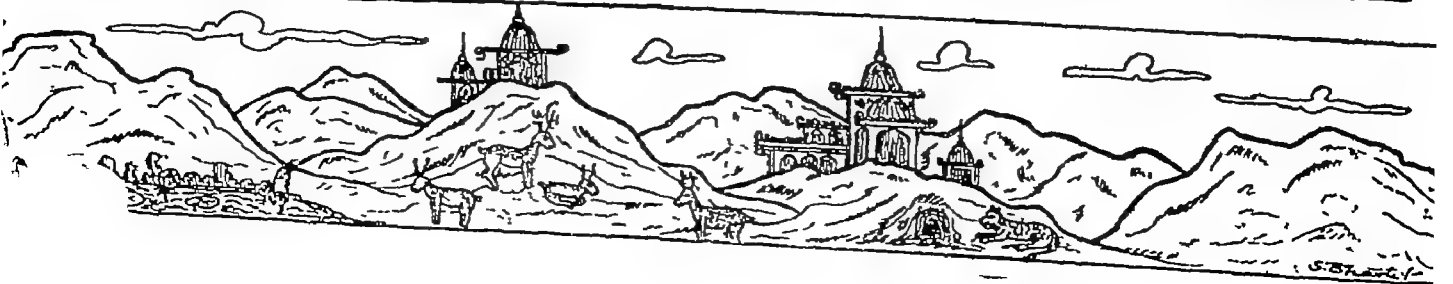
आदि भगवान ऋषभनाथ से भरत चक्रवर्ती, आदि ने पुरुष, रोम, औषध और काल—इन चार भागो मे आयुर्वेद विषयक समग्र ज्ञान प्राप्त किया। गणधरो से प्रतिगणधरो ने, फिर उनसे श्रुतकेवलियो ने और बाद मे अल्पज्ञ मुनियो ने इस ज्ञान को प्राप्त किया। उसी क्रम प्राप्त ज्ञान के आधार पर कल्याणकारक नामक ग्रन्थ की रचना उग्रादित्य ने की। इस ग्रन्थ में प्राणावाय सम्बन्धी पूर्वाचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थो का नामोल्लेख हुआ है। उसमे लिखा है—पूज्यपाद ने शालाक्य पर, पात्रस्वामी ने शल्यतन्त्र, सिद्धसेन ने विष और उग्रग्रहशमनविधि का, दशरथ गुरु ने कायचिकित्सा पर मेघनाद ने बालरोगो पर और सिंहनाद ने वाजीकरण और रसायन पर वैद्यक ग्रन्थो की रचना की थी।[२४] इसी ग्रथ में आगे यह भी कहा गया है कि—समन्तभद्र ने विस्तारपूर्वक आयुर्वेद के आठो अगो पर ग्रथ रचना की थी (जिस प्रकार वृद्धवाग्भट ने 'अष्टागसग्रह' नामक ग्रथ लिखा था)। समन्तभद्र के अष्टांगविवेचन पूर्ण ग्रथ के आधार पर ही उग्रादित्य ने सक्षेप मे अष्टागयुक्त "कल्याणकारक" नामक ग्रथ की रचना की।[२५]

'कल्याणकारक' मे वर्णित उपर्युक्त सभी प्राणावाय सम्बन्धी ग्रथ अब अनुपलब्ध हैं।[२६] पूज्यपाद के वैद्यक ग्रथ की प्रति भाण्डारकर ओरियटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना के सस्कृत हस्तलेख ग्रन्थागार मे सुरक्षित है। इस सदर्भ में यह ज्ञातव्य है कि पूज्यपाद के कल्याणकारक का कन्नड मे अनूदित ग्रन्थ अब भी मिलता है, जो सोमनाथ का लिखा हुआ है।

सक्षेप मे, प्राणावाय की परम्परा अब लुप्त हो चुकी है। इसके ग्रथ, 'कल्याणकारक' के सिवा, अब नही मिलते। 'कल्याणकारक' का रचनाकाल ई० ९वी शती है।

जैन विद्वानो द्वारा प्रणीत आयुर्वेदीय ग्रन्थ

आयुर्वेद के ग्रथो पर टीकाएँ, सग्रह ग्रथ, मौलिक ग्रथ और योग ग्रथो की रचना कर जैन विद्वानो ने 'भारतीय' वैद्यकविद्या के इतिहास मे अपने को अमर कर दिया है। यहाँ कतिपय ग्रथो पर सक्षेप मे प्रकाश डाला जायेगा। यह अधिकाश साहित्य अभी तक अज्ञात और अप्रकाशित रहा है। जैन विद्वानो ने सस्कृत के अतिरिक्त प्रादेशिक भाषाओ मे भी व्याख्या और ग्रथो का निर्माण किया था।

आशाधरकृत अष्टांग हृदयोद्योतिनी टीका[२७]

इसके प्रणेता प० आशाधर थे। यह जैन श्रावक थे और मूलत 'माडलगढ़' प्राचीन सम्पादलक्ष राज्य के अतर्गत, (जिला भीलवाडा, राज०) के निवासी होने पर भी मोहम्मद गौरी के अजमेर पर आधिपत्य कर लेने पर मालवा के राजा विध्यवर्मा की राजधानी धारानगरी और बाद मे नालछा मे जाकर रहने लगे। इन्होंने ई० १२४० के लगभग वाग्भट पर 'उद्योतिनी टीका' लिखी थी। परन्तु यह ग्रन्थ अब अप्राप्य है। इसका उल्लेख आशाधर के अन्य ग्रथो की प्रशस्ति मे मिलता है—

> "आयुर्वेदविदामिष्ट व्यक्तु वाग्भटसहिताम् ।
> अष्टागहृदयोद्योत निबन्धमसृजच्च य ॥"

गुणाकर सूरि—इन्होंने सवत् १२९६ (ई० १२३९) मे नागार्जुनकृत 'योगरत्नमाला' पर 'वृत्ति' लिखी है। यह श्वेतावर साधु व पण्डित थे। यह टीका सस्कृत मे मिलती है।[२८]

नयन सुख—यह केशराज के पुत्र और जैन श्रावक थे। यह अकबर के शासनकाल मे जीवित थे। इन्होंने गुजराती मिश्रित हिन्दी मे पद्यबद्ध 'वैद्यमनोत्सव' नामक ग्रन्थ लिखा था। इसका रचनाकाल स० १६४९ है। इसमे रोगो का निदान और चिकित्सा दी गई है।

नर्बुदाचार्य—यह तपागच्छीय साधु कनक के शिष्य थे। सभवत इनका निवास स्थान गुजरात मे कही था। इन्होंने स० १६५६ मे 'कोकक्ला चौपाई' नामक ग्रथ की रचना की थी। यह कोकशास्त्र (कामशास्त्र) पर गुजराती मे पद्यबद्ध रचना है।

हर्षकीर्ति सूरि—यह जैन साधु थे। यह नागपुरीय (नागौरी) तपागच्छीय श्री चन्द्रकीर्ति सूरि के शिष्य थे। इन्होंने सवत् १६३० के आसपास 'योगचितामणि वैद्यकसारसग्रह' या 'योगचितामणि' या 'योगसग्रह' या 'वैद्यकचिकित्सा

संग्रह' नामक चिकित्सा सम्बन्धी योगों का संग्रह ग्रन्थ बनाया था। ज्यूलियस जॉली ने इस ग्रन्थ का रचनाकाल ई० १६६८ या १६६६ माना है।[२६] इसका रचनाकाल इससे भी पूर्वका होना चाहिए। मैंने रा० प्रा० वि० प्र० जोधपुर मे इस ग्रन्थ की स० १६६६ की ह० लि० प्रति देखी है। इस ग्रन्थ मे फिरंग, कवाब चीनी, अहीफेन और पारद का उल्लेख है। इसमे पाक, चूर्ण, गुटिका, क्वाथ, घृत, तैल और मिश्रक सात अध्याय हैं।

लक्ष्मी कुशल—यह तपागच्छीय विमलसोमसूरि के परिवार मे जयकुल के शिष्य थे। इन्होंने संवत् १६६४ मे ईडर (गुजरात) के समीप ओडा नामक ग्राम मे 'वैद्यकसार रत्नप्रकाश' नामक आयुर्वेदीय ग्रन्थ की गुजराती चौपाइयों में रचना की थी।

हस्तिरुचि गणि—इनका 'वैद्यवल्लभ' नामक ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। इसका रचनाकाल ई० सन् १६७० है। यह योगसग्रह व चिकित्सा पर है। गोंडल के इतिहास मे हस्तिरुचि के स्थान पर हस्तिसूरि नाम दिया है। मोहनलाल दलीचद देसाई ने 'जैन साहित्यनो इतिहास' (पृ ६६४) मे इनका ग्रन्थ रचनाकाल स १७१७ से १७३६ तक माना है। इसमे आठ अध्याय हैं। यह चिकित्सा सबधी सग्रह ग्रन्थ है। स १७२६ मे मेघ भद्र ने वैद्यवल्लभ पर सस्कृत मे टीका लिखी थी।

पीतांबर—इन्होंने स १७५६ मे उदयपुर मे "आयुर्वेदसार सग्रह" नामक भाषा-ग्रन्थ रचा था।

हसराज—यह १७वी शती मे विद्यमान थे। इनका 'हसराज निदान' (अपरनाम 'भिषक्चक्रचित्तोत्सव') नामक निदान विषयक ग्रन्थ है।

जिनसमुद्रसूरि—इनका काल वि स १६७० से १७४१ तक माना जाता है। राजस्थानी भाषा मे इनका 'वैद्यचितामणि' या 'वैद्यकसारोद्धार' नामक पद्यमय ग्रथ मिलता है। इसमे रोगो का निदान और चिकित्सा का वर्णन है।

महेन्द्र जैन—यह कृष्णवैद्य के पुत्र थे। इन्होंने वि स १७०६ में धन्वन्तरि निघटु के आधार पर उदयपुर मे 'द्रव्यावलीसमुच्चय ग्रन्थ की रचना की थी। यह द्रव्यशास्त्र सबधी ग्रथ है।

नयनशेखर—यह अचलगच्छीय पालीताणा शाखा के मुनि थे तथा गुजरात के निवासी थे। इन्होंने स १७३६ में गुजराती भाषा मे 'योगरत्नाकर चौपाई' नामक चिकित्सा ग्रन्थ लिखा था।

विनयमेरुगणी—यह खरतरगच्छीय जिनचद की परम्परा मे सुमतिमेरु के भ्रातृ पाठक थे। इनका काल १८वी शती प्रमाणित होता है। इनके ग्रन्थ 'विद्वन्मुखमडनसारसग्रह' की एक अपूर्ण प्रति (मस्तक रोगाधिकार तक) रा प्रा वि प्र जोधपुर मे विद्यमान है।

रामलाल महोपाध्याय—यह बीकानेर के निवासी तथा धर्मशील के शिष्य थे। इनका 'रामनिदानम्' या 'राम ऋद्धिसार' नामक ग्रन्थ प्राप्त है। इसमे सक्षिप्तरूप से ७१२ श्लोको मे सब रोगो का निदान वर्णित है।

दीपकचन्द्र वाचक—यह खरतरगच्छीय वाचक मुनि थे। इनको जयपुर मे महाराजा जयसिंह का राज्याश्रय प्राप्त था। इनके दो ग्रन्थ मिलते हैं—सस्कृत मे 'पथ्यलघननिर्णय' (लघनपथ्यनिणय, पथ्यापथ्यनिर्णय, लघनपथ्यविचार) और राजस्थानी मे 'बालतत्रभाषावचनिका'। प्रथम ग्रन्थ मे रोगो के पथ्य और अपथ्य तथा द्वितीय मे बालतत्र की राजस्थानी मे टीका है। पथ्यलघन निणय का रचनाकाल स १७९२ है।

रामचन्द्र—यह खरतरगच्छीय पद्मरग के शिष्य थे। इनके राजस्थानी में वैद्यक पर दो ग्रन्थ 'रामविनोद' (वि स १७२०) और 'वैद्यविनोद' (वि स १७२६) तथा ज्योतिष पर 'सामुद्रिकभाषा' नामक ग्रन्थ मिलते हैं।

धर्मसी—इन्होंने स० १७४० मे 'डभक्रिया' नामक दाहकर्म चिकित्सा पर २१ पद्यों मे राजस्थानी मे छोटी-सी कृति लिखी थी।

लक्ष्मीवल्लभ—यह खरतरगच्छीय शाखा के उपाध्याय लक्ष्मीकीर्ति के शिष्य थे। इन्होंने सस्कृत के 'कालज्ञानम्' (शभुनाथ कृत) का राजस्थानी मे पद्यानुवाद किया था। इसका रचनाकाल स० १७४१ है। लेखक की अन्य कृति 'मूत्रपरीक्षा' नामक राजस्थानी मे मिलती है।

मानमुनि (मुनिमान)—यह खरतरगच्छीय भट्टारक जिनचद के शिष्य वाचक सुमति सुमेरू के शिष्य थे। वैद्यक पर इनकी दो रचनाएं मिलती हैं—कविविनोद और कविप्रमोद। 'कविविनोद' (वि०स० १७४५) प्रथम खड मे
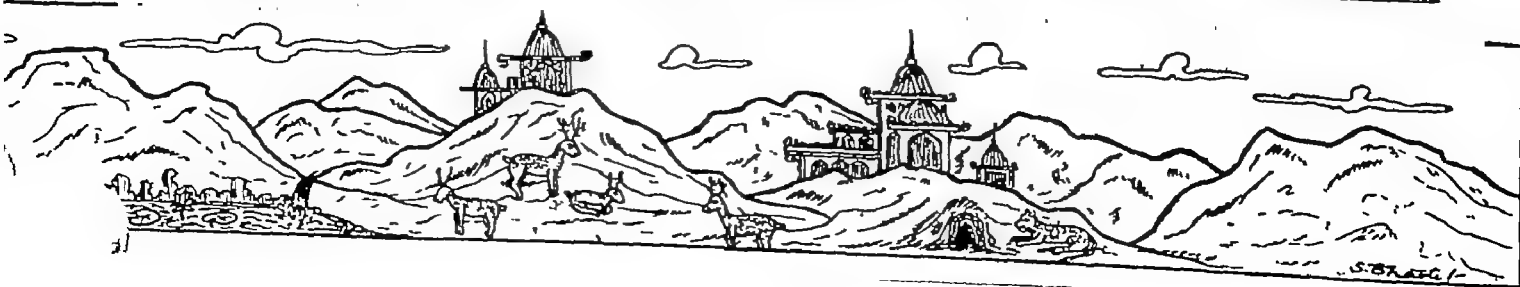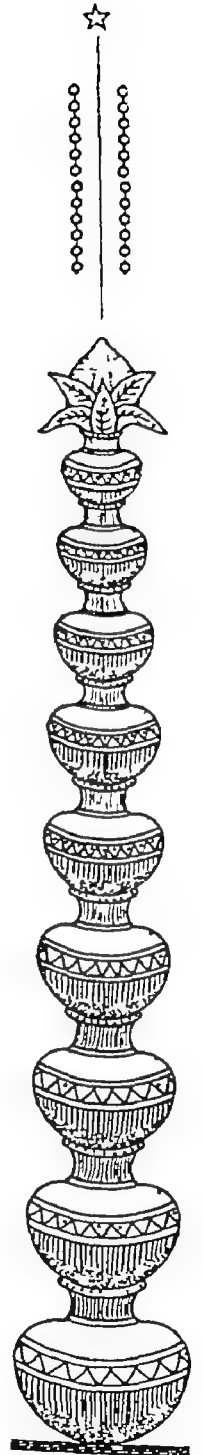
योग-कल्पनाएँ और द्वितीय मे निदान-चिकित्सा का वर्णन है। 'कविप्रमोद' (वि०स० १७४६) मे नौ अध्यायो में सग्रहात्मक चिकित्सा का वर्णन है।

जोगीदास—यह बीकानेर-निवासी थे। इनका अन्य नाम 'दास' कवि प्रसिद्ध है। बीकानेर के तत्कालीन महाराजा जोरावरसिंह की आज्ञा से इन्होंने स० १७६२ मे 'वैद्यकसार' नामक ग्रन्थ की रचना की थी।

समरथ—यह श्वेताम्बर खरतरगच्छीय मतिरत्न के शिष्य थे। इन्होंने शालिनाथ-प्रणीत सस्कृत को 'रसमजरी' की पद्यमय भाषा टीका स० १७६४ मे की थी। यह रसशास्त्र विषयक ग्रथ है।

चैन सुखयति—यह फतहपुर (सीकर) के निवासी थे। इनके वैद्यक पर दो ग्रन्थ मिलते हैं—१ वोपदेवकृत 'शतश्लोकी' की राजस्थानी गद्य मे भाषा टीका (वि स १८२०) तथा २ लोलिंबराजकृत वैद्यजीवन की राजस्थानी मे टीका 'वैद्यजीवन टवा'।

मलूकचन्द—यह बीकानेर के जैन श्रावक थे। इनने यूनानी चिकित्साशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रथ 'तिब्ब सहावी' का राजस्थानी भाषा मे पद्यानुवाद किया है।

विश्राम—यह आगम गच्छ के यति थे। इनका निवास स्थान अर्जुनपुर (अजार, कच्छ) था। इनके दो ग्रन्थ मिलते है—अनुपानमजरी' (वि स १८४२) तथा व्याधिनिग्रह' (वि स १८३६) प्रथम ग्रन्थ मे विष-उपविष आदि के शोधन, मारण, विषनाशनोपाय और अनुपानो का तथा द्वितीय ग्रथ मे रोगो की सक्षिप्त चिकित्सा का वणन है।

लक्ष्मीचन्द—इनका वि स १९३७ मे रचित 'लक्ष्मी प्रकाश' नामक रोगो के निदान और चिकित्सा सबधी ग्रन्थ मिलता है।

इन जैन ग्रन्थकारो और ग्रन्थो के अतिरिक्त सैकडो हस्तलिखित ग्रन्थ जैन ग्रन्थ भडारो मे अप्रकाशित व अज्ञात रूप मे भरे पडे हैं। पादलिप्ताचार्य और उनके शिष्य नागार्जुन (जो ई प्रथमशती मे हो चुके हैं) का वर्णन भी जैन ग्रन्थों मे मिलता है। वे रस विद्या और रसायन चिकित्सा के प्रसिद्ध विद्वान थे। पजाब मे मेघमुनि ने वि स १८१८ में 'मेघविनोद' नाम का चिकित्सा सबधी ग्रन्थ और गगाराम यति ने वि स १८७८ मे 'गगयतिनिदान' नामक रोगनिदान सबधी ग्रन्थों का प्रणयन किया था।

उपर्युक्त परम्पराओ से भिन्न ही जैन विद्वानो की परम्परा दक्षिणी भारत में, विशेषत कन्नड प्रात मे उपलब्ध होती है। कर्नाटक मे समन्तभद्र (ई ३-४ थी शती) और पूज्यपाद (ई ५वी शती) ने प्राचीन वैद्यक ग्रन्थों की रचना की थी। वे ग्रन्थ अब नही मिलते। उनके सदर्भ उग्रादित्याचार्य के 'कल्याणकारक' मे प्रचुर मात्रा मे प्राप्त हैं। 'कल्याणकारक' की रचना आचाय उग्रादित्य ने दक्षिण के राष्ट्रकूट—वशीय सम्राट नृपतुग अमोघवर्ष प्रथम (ई ८१५ से ८७७) के शासनकाल मे समाप्त की थी। इस ग्रन्थ के अत मे परिशिष्टाध्याय के रूप मे मासभक्षणनिषेध का गद्य मे विस्तृत विवेचन है, जिसे उग्रादित्य ने अनेक विद्वानो और वैद्यो की उपस्थिति मे नृपतुग राजा अमोघवर्ष की राजसभा मे प्रस्तुत किया था। अमोघवर्ष की सभा मे आने से पूर्व उग्रादित्य और उनके गुरु श्रीनन्दि का निवास पूर्वी चालुक्य राजा विष्णुवर्धन चतुर्थ (ई ७६४-७९९) के सरक्षण में उनके ही राज्य के अन्तर्गत विजागापट्टम जिले की रामतीर्थ या रामकोंड नामक पहाडियो की कदराओ मे था। उस समय यह स्थान वेंगि प्रदेश का उत्तम सास्कृतिक केन्द्र था। यहीं पर श्रीनदि से उग्रादित्य ने 'प्राणावाय' की शिक्षा प्राप्त कर कल्याणकारक ग्रथ की रचना की थी। बाद मे इस प्रदेश को अमोघवर्ष प्रथम द्वारा जीत लिये जाने पर इन्हें भी अमोघवर्ष की राजसभा में आना पडा। यहाँ पर उन्होंने कल्याणकारक मे नवीन अध्याय जोडकर ग्रन्थ को सपूर्ण किया। इस प्रकार उग्रादित्य का काल ई ८वीं शती का अतिम और ९वीं शती का प्रारमिक चरण प्रमाणित होता है। कल्याणकारक में मद्य, मास, आसव, प्राणिज द्रव्य आदि का प्रयोग नहीं बताया गया है। सभी योग, वानस्पतिक और खनिज द्रव्यों से निर्मित हुए हैं। रसयोगों का बाहुल्य इसी ग्रथ में सर्वप्रथम मिलता है।

उग्रादित्य के बाद भी कर्नाटक मे अनेक वैद्यकग्रथ निर्मित होते रहे। विजयनगर साम्राज्य के अभ्युदयकाल मे सर्वाधिक वैद्यक ग्रन्थ लिखे गये।

प्रारमिक विजयनगर-काल मे राजा हरिहरराज के समय मे मगराज प्रथम नामक कन्नडी कवि ने वि स १४१६ (१३६० ई) मे 'खगेन्द्रमणिदर्पण' नामक ग्रथ की रचना की थी। इसमे स्थावरविषों की क्रिया और उनकी चिकित्सा वर्णन है। श्रीधरदेव (१५०० ई) ने 'वैद्यामृत' की रचना की थी। इसमें २४ अधिकार हैं।

वाचरस (१५०० ई) ने अश्ववैद्यक की रचना की। इसमे अश्वो की चिकित्सा का वर्णन है।

पद्मरस ने (१६२७ ई मे) 'हयसारसमुच्चय' (अश्वशास्त्र) नामक ग्रथ की रचना मैसूर नरेश चामराज के आदेशानुसार की थी। इसमे भी अश्वो की चिकित्सा का वर्णन है।

दक्षिण के ही जैन देवेन्द्र मुनि ने 'बालग्रहचिकित्सा' पर कन्नडी मे ग्रथ लिखा था। रामचन्द्र और चन्द्रराज ने 'अश्ववैद्य' कीर्तिमान चालुक्य राजा नो 'गोचिकित्सा', वीरभद्र ने पालकाप्य के गजायुर्वेद पर कन्नडी भाषा मे टीका लिखी थी। ९वी शती मे अमृतनन्दि ने 'वैद्यकनिघण्टु' की रचना की थी। साल्व ने रसरत्नाकर और वैद्यसागत्य तथा जगदेव ने 'महामन्त्रवादि' लिखा था।[२८]

तामिल आदि भाषाओं के जैन वैद्यकग्रन्थो का सकलन नही हो पाया है।

प्रस्तुत लेख लेखक के "जैन आयुर्वेद साहित्य" नामक ग्रन्थ की लघुकृति है। ग्रन्थ मे विस्तारपूर्वक जैन विद्वानो द्वारा प्रणीत वैद्यक ग्रन्थो का और उनके ग्रन्थकारो का परिचय विश्लेषणात्मक रूप से उपस्थित किया है।

---

१ कायचिकित्साद्यष्टाग आयुर्वेद भूतिकर्मजांगुलिप्रक्रम ।
प्राणापानविभागोऽपि यत्र विस्तरेण वर्णितस्तत् प्राणावायम् ॥ —तत्त्वार्थ राजवार्तिक, अ० १, सू० २०
२ डॉ० हीरालाल जैन, भारतीय सस्कृति मे जैनधर्म का योगदान', पृ० ५४-५५
३ डॉ० हीरालाल जैन, भारतीय सस्कृति मे जैनधर्म का योगदान, पृ० ७२-७३
४ डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, *जैन आगम साहित्य मे भारतीय समाज, प्रास्ताविक*, पृ० ५
५ स्थानाग सूत्र ६।६।७८,
६ निशीथ चूर्णि १५, पृ० ५१२
७ स्थानाग सूत्र ८, पृ० ४०४-अ, विपाक सूत्र ७, पृ० ४१
८ उत्तराध्ययन २०।२३, सुखबोधा पत्र २६६
९ उत्तराध्ययन, २०।२२, सुखबोधा पत्र २६६
१० उत्तराध्ययन, १५।८
११ बृहद्वृत्ति, पत्र ११
१२ बृहद्वृत्ति, पत्र ४७५
१३ वही, पत्र ४६२
१४ निशीथचूर्णि ७।१७५७
१५ निशीथचूर्णि ११।३४३६
१६ विपाकसूत्र ७, पृ० ४१
१७ आवश्यकचूर्णि पृ० ३८५
१८ स्थानाग सूत्र ६।६६७
१९ बृहत्कल्प भाष्य ३।४३८०
२० आचाराग सूत्र ६।१।१७३
२१ ज्ञातृ धर्मकथा १३, पृ १४३
२२ कल्याणकारक, परिच्छेद १, श्लोक १-११
२३ कल्याणकारक, पृ० २०, श्लोक ८५
२४ कल्याणकारक, पृ० २०, श्लोक० ८६
२५ उग्रादित्य का 'कल्याणकारक' शोलापुर (महाराष्ट्र) से सन् १९४० मे प० वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री ने हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित किया है।
२६ Aufrecht, Catalogus Catalogomn, Part I, p 36
२७ मो०द० देसाई, जैन साहित्य नो इतिहास, पृ० ३९७
२८ Julius Jolly, Indian Medicine, p 4
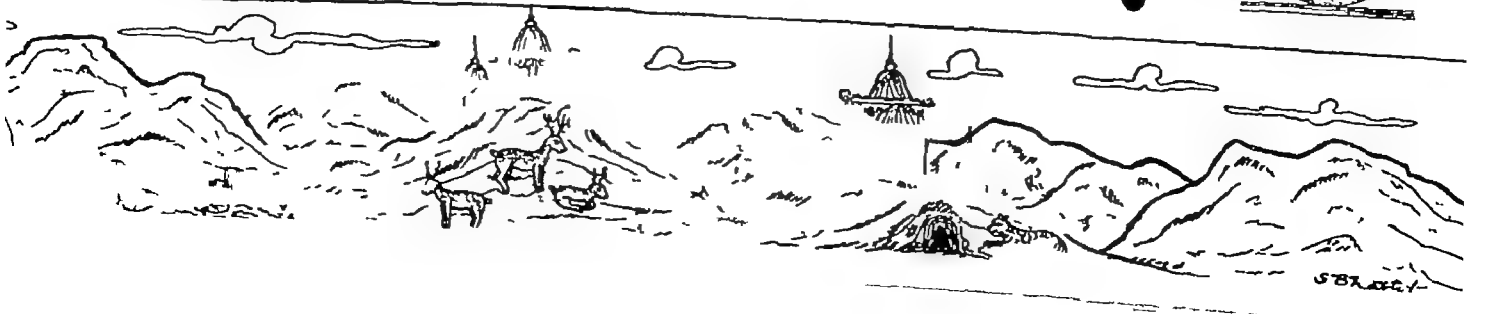
मनुष्य स्वभावत उत्सव प्रेमी है। उत्सव और पर्व जीवन मे उत्साह और प्रेरणा जगाते हैं। जैन संस्कृति के पर्व सिर्फ आमोद-प्रमोद के लिए नहीं, किन्तु प्रमोद के साथ प्रबोध, उल्लास के साथ आत्मोल्लास जगाने की प्रेरणा देते हैं। यहाँ पर उन सांस्कृतिक पर्वो का एक संक्षिप्त-सार परिचय प्रस्तुत है।

☐ श्री गोटूलाल मांडावत

जैन संस्कृति के प्रमुख पर्वो का विवेचन

☐

आत्मा को पावन और पवित्र करे वह पर्व है। पर्व शब्द के दो अर्थ मुख्य हैं—उत्सव और ग्रन्थि। उत्सव शब्द कुछ संकुचित सा है। हर दिन ही कोई न कोई उत्सव हो सकता है, परन्तु जिस दिन विशिष्ट उत्सव आ जाए उसे पर्व कहते हैं।

पर्व लौकिक और लोकोत्तर दो प्रकार के होते हैं। सामान्य लौकिक पर्व हर सांसारिक व्यक्ति को आनन्द दायक प्रतीत होते हैं जबकि लोकोत्तर पर्व हलुकर्मी जीवो को आकर्षक लगते हैं, क्योंकि उनके लिए उल्लास युक्त समय ही पर्व है।

लोकोत्तर पर्व दो प्रकार के होते हैं—नित्य पर्व और नैमित्तिक पर्व। अष्टमी, चतुर्दशी आदि तिथियो के पर्व नित्य पर्व कहलाते हैं, जिनमे खाने-पीने आदि प्रवृत्तियों में अन्य तिथियो से थोडा अन्तर रहता है, नैमित्तिक पर्व वर्ष मे किसी समय विशेष पर ही आते हैं।

जैन संस्कृति मे लोकोत्तर पर्वों का बडा महत्वपूर्ण स्थान है, किन्तु लगता ऐसा है कि प्रत्येक लोकोत्तर पर्व के साथ लौकिक व्यवहार जुड गया है क्योंकि स्वाभाविक है कि अपने उल्लास को प्रकट करने के लिए व्यक्ति नाना प्रकार की क्रियाएँ करते हैं। जैन संस्कृति के पर्वों पर स्पष्ट और विशेष झलक है जो तर्क और विज्ञान सम्मत है। वर्षारम्भ से वर्षान्त तक कई पर्व मनाए जाते हैं, जिन्हें देखकर लगता है कि कई पर्वों की नकल हम अन्य संस्कृतियो से करते हैं परन्तु वास्तव मे ऐसा नही है। इन पर्वों की ऐतिहासिकता जैन साहित्य से निर्विवाद प्रमाणित होती है।

अक्षय तृतीया

श्रमण हो जाने के पश्चात ऋषभदेव निर्मोह भाव से मौनव्रती होकर विचरते रहे। जनता को आहार विधि का ज्ञान न होने से वह श्रद्धा भक्ति सहित भावाभिभूत होकर भाँति भाँति के पदार्थ प्रभु के सम्मुख लाते परन्तु श्रमणो के लिए अकल्पनीय होने से वे उसे ग्रहण नहीं कर सकते थे। करीब एक वर्ष की निरन्तर हो रही तपश्चर्या के बाद प्रभु हस्तिनापुर मे पधारे। वहाँ बाहुबली के पौत्र एव राजा सोमप्रभ के पुत्र श्रेयांस युवराज थे उन्होंने रात्रि मे स्वप्न देखा कि सुमेरू पर्वत श्याम वर्ण का हो गया है, उसे मैंने अमृत सींचकर चमकाया है।[1]

उसी रात्रि सुबुद्धि सेठ को स्वप्न आया कि सूर्य की हजार किरणें जो अपने स्थान से विचलित हो रही थीं श्रेयांस ने उन्हें पुन सूर्य में स्थापित कर दिया जिससे वह अधिक चमकने लगा।[2] महाराज सोमप्रभ ने स्वप्न देखा कि शत्रुओ से युद्ध करते हुए किसी बडे सामन्त को श्रेयांस ने सहायता प्रदान की और श्रेयांस की सहायता से उसने शत्रु सैन्य को हरा दिया।[3]

प्रात होने पर सभी स्वप्न के सम्बन्ध मे चिन्तन-मनन करने लगे। चिन्तन का नवनीत निकला कि अवश्य ही श्रेयांस को विशिष्ट लाभ होने वाला है।[4]

विचरण करते हुए उसी दिन ऋषभदेव हस्तिनापुर पधारे, नगरनिवासी आह्लादित हुए। भगवान परिभ्रमण करते हुए श्रेयास के यहाँ पधारे। भगवान को देखकर श्रेयास को जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। ऋषभदेव के दर्शन और चिन्तन से पूर्व भव की स्मृति उद्बुद्ध हुई[५] स्वप्न का सही तथ्य ज्ञात हुआ। उसके हृदय मे प्रभु को निर्दोष आहार देने की भावना उठी। सयोग से उसी समय सेवकों द्वारा इक्षु रस के घडे लाये गये थे। कुमार प्रभु के सामने पधारे और आहार लेने की प्रार्थना की। प्रभु ने हाथ फैला दिये। श्रेयास ने भाव विभोर हो अजली मे रस उडेल दिया।[६] अच्छिद्र पाणी होने से एक बूद रस भी नीचे नही गिरा। भगवान का यह वार्षिक तप अक्षय तृतीया को पूर्ण हुआ था। अहोदान, की ध्वनि से आकाश गूँज उठा और देवो ने पचदिव्य की वर्षा की। श्रेयास इस युग के प्रथम भिक्षा दाता हुए तो प्रभु ने इस युग को प्रथम तप का पाठ पढ़ाया। प्रभु के पारणे का वैशाख शुक्ला तृतीया का वह दिन अक्षयकरणी के कारण ससार मे अक्षय तृतीया या आखा तीज के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उस महान दान से तिथि भी अक्षय हो गई। त्रिषष्ठि० पु० च०, कल्पलता, कल्पद्रुम कलिका तथा समवायाग मे इस तिथि पर पूर्ण सामग्री उपलब्ध है।

पर्युषण एव सवत्सरी

जैन सस्कृति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पर्व सवत्सरी है। आत्मा को कर्म से मुक्त करने के लिए इसकी उपासना की जाती है। पर्युषण अत्यन्त प्राचीन काल से चले आ रहे हैं। सवत्सरी पर्युषण की अन्तिम तिथि है।

ऐसा माना जाता है कि भगवान पार्श्वनाथ के काल मे चातुर्मास की समाप्ति भाद्रपद शुक्ला पचमी को हो जाती थी, इस दृष्टि से इसे वर्ष का अन्तिम दिन माना जाता और इसी के अनुसार सवत्सरिक प्रतिक्रमण करने से यह पर्व सवत्सरी के नाम से प्रचलित हुआ। प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी आरो का प्रारम्भ भी भाद्रपद शुक्ला पचमी को होता है।[७]

कई आचार्य इसे शाश्वत पर्व मानते हैं, जम्बू द्वीप पन्नति मे वर्णन आता है कि श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को उत्सर्पिणी काल का प्रथम व २१००० वर्ष बाद दूसरा आरा प्रारम्भ हुआ। पुष्कलावर्त्त महामेघ के सात अहोरात्रि बरसने से धरती की तपन शान्त हुई फिर सात अहोरात्रि तक 'क्षीर' महामेघ बरसा जिससे भूमि के अशुभ वर्ण नष्ट हो गये और वे शुभ रूप मे परिवर्तित हुए। सात दिन तक आकाश के खुले रहने के बाद सात दिन 'घृत' नामक महामेघ ने बरस कर धरती मे सरसता का सचार किया, फिर 'अमृत' मेघ की सात दिन तक वर्षा हुई जिसमें वनस्पति के अकुर प्रस्फुरित हुए, फिर आकाश के सात दिन निर्मल रहने के बाद 'रस' नामक महामेघ ने बरस कर वनस्पति मे ५ प्रकार के रसो का सचार किया इस प्रकार वनस्पति मानव के भोग योग्य बनी। आरे के प्रारम्भ के ५०वें दिन बिल-गत मानव जब बाहर निकले तो धरती को हरी भरी देखकर उन्होने समवेत स्वर मे घोषणा की कि 'हे देवानुप्रिय! आज से हममे से जो कोई अशुभ पुद्गलो का आहार करेगा उसकी छाया से भी हम दूर रहेगे।[८] इसके अनुसार मानवो मे स्वत सत्प्रेरणा का यह पर्व अनादि रूप से चला आ रहा है।

श्रमण भगवान महावीर ने वर्षावास के एक मास और बीस रात्रि बीतने पर तथा सत्तर रात्रि दिन शेष रहने पर पर्युषण पर्वाराधना की।[६]

सवत्सरी शब्द मूल आगमों में कही-कही ही मिलता है। कुछ दिनो पूर्व आगम अनुयोग प्रवर्तक प० मुनि श्री कन्हैयालाल जी म० सा० से इसका कारण पूछा तो उन्होंने बताया कि 'पज्जुसणा' शब्द का अर्थ सवत्सरी मे निहित है।

पर्युषण पर्व के दिनों मे चारों जाति के देवता समारोहपूर्वक अठाई महोत्सव करते हैं।[१०] पर्युषण पर्वाराधना का उल्लेख कई आगमो मे प्राप्त होता है, अधिकांश में आठ दिनों का स्पष्ट उल्लेख नही है सभव है कि भावनाओ को उच्चतम बनाने के लिए आठ दिन नियत किये गये हो। सवत्सरी को चूँकि जैन मान्यतानुसार वर्ष का अन्तिम दिन मानते है। इसलिए इसी दिन आलोचना पाठ तथा पाटावली पढने सुनने की परम्परा है। स्थानकवासी समाज में अन्तकृत सूत्र तथा मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में कल्प सूत्र वाचन की परम्परा है। यों सवत्सरी भाद्रपद शुक्ला चौथ या पचमी को कालगणना के अनुसार आती है, परन्तु ऐसा वर्णन भी मिलता है कि सवत्सरी की आराधना कालकाचार्य द्वितीय से पहले तक कालगणना के अनुसार भाद्रपद शुक्ला चौथ या पचमी को ही की जाती थी।
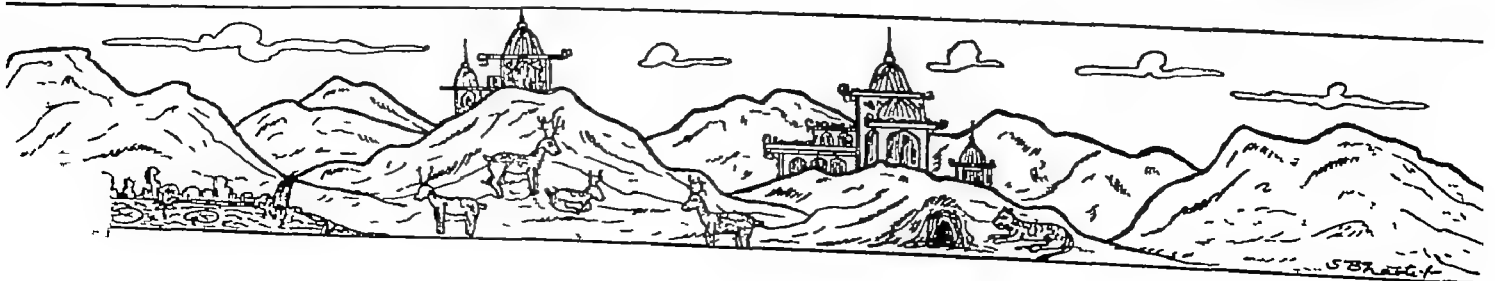
धारा नगरी के कुमार कालक और कुमारी सरस्वती ने गुणाकर मुनि के पास सयम स्वीकार किया। वीर नि० स० ४५३ में कालक को आचार्य पद प्रदान किया गया। वीर नि० स० ४७० से ४७२ के बीच इनका चातुर्मास भडौंच था। वहाँ से विशेष परिस्थितिवश चातुर्मास अवधि मे ही आचार्य कालक ने प्रतिष्ठानपुर की ओर विहार कर दिया तथा वहाँ के श्रमण सघ को सन्देश पहुचाया कि वे पर्युषण के पूर्व प्रतिष्ठानपुर पहुँच रहे हैं, अत पर्युषण सम्बन्धी काय उनके वहाँ पहुँचने के पश्चात् निश्चित किया जाय। वहाँ पहुँच कर आचाय ने पचमी को सवत्सरी (सामूहिक पर्युषण) मनाने की सूचना दी, परन्तु वहाँ के जैन धर्मावलम्बी राजा सातवाहन को इन्द्र महोत्सव मे भाग लेना था, इसलिए उसने छठ या चौथ को पर्युषण मनाने का निवेदन किया। कालकाचाय ने चौथ को सवत्सरी मनाने की बात स्वीकार करली। इस प्रकार कालकाचाय ने देशकाल को देखते हुए भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी को पर्वाराधना किया।[१२]

दशाश्रुत स्कन्ध चूर्णि तथा जिन विजय जी द्वारा सम्पादित जैन साहित्य के अनुसार कालकाचाय का समय वीर निर्वाण स० ९९३ माना जाता है, काल गणना के अनुसार इस समय को सही मानने की मान्यता कम है। इस सम्बन्ध मे आचाय श्री हस्तीमल जी म० सा० द्वारा दिया गया समय वीर निर्वाण सवत ४७२ सही माना जाता है। कई प्रमाणो से आचाय श्री ने जैनधम के मौलिक इतिहास मे इसका विशद विवेचन किया हैं।

चतुर्थी की इस परम्परा को स्थायी महत्त्व प्राप्त नही हो सका। वर्तमान में यदि कभी चतुर्थी को सवत्सरी पव की आराधना की जाती है तो इसका कारण यह नही कि कालकाचार्य की परम्परा का पालन हो रहा है, वस्तु स्थिति यह है कि वास्तव मे सवत्सरी पचमी को ही मनाई जाती है, कभी-कभी कालगणना के कारण ही पर्वाराधना चतुर्थी को की जाती है।

दिगम्बर जैन अपना पर्युषण पर्व महोत्सव भाद्रपद शुक्ला से पूर्णिमा तक मनाते हैं वे इस पव को पर्युषण न कहकर दश लक्षण पव कहते हैं। समव है मत विभिन्नता के कारण पृथक समय अपनी पृथकता और विशेषता तथा विभिन्नता को बनाए रखते हुए उन्होंने पर्युषण के बजाय दस लक्षण पर्व प्रारम्भ किया हो। दस लक्षण पर्व की क्रिया आदि की सारी भावना पर्युषण से मिलती-जुलती है। दस लक्षण धम का उल्लेख आचाय उमास्वाती कृत तत्त्वार्थ सूत्र के नौवे अध्याय मे इस प्रकार है।

उत्तम क्षमामार्दवार्जव शौच सत्य सयमतपस्त्यागाकिञ्चन्य ब्रह्मचर्याणि धर्म ।

क्षमा, नम्रता, सरलता, पवित्रता, सत्य, सयम, तप, त्याग आकिचन्य और (निष्परिग्रहता) ब्रह्मचय ये दस धर्म हैं। जैन समाज के सभी घटक निर्विवाद रूप से तत्त्वार्थ सूत्र की मान्यता को स्वीकार करते हैं। यह पव आत्माव लोकन समालोचना का भी पव है। कृत कर्मों का लेखा-जोखा कर पापो को वोसराया जाता है। पर्युषण के शाब्दिक विवेचन से स्पष्ट होता अर्थ इस प्रकार है।

"परिसमन्तात् उष्यन्ते दह्यन्ते कर्माणि यस्मिन् पर्युषणम्।" पर्युषण का दूसरा अथ आत्मा मे निवास करना होता है और आध्यात्मिक अर्थ मे आत्मा मे निवास करना साथक है।

पर्युषण का नामोल्लेख निशीथ सूत्र मे इस प्रकार पाया जाता है।

"साधु प्रमादवश पर्युषण आराधना न करे तो दोष लगता है।[१२] केश लोच पर्युषण पर करना अत्यन्त आवश्यक है, गौ के रोम जितने बाल भी न रखे[१३] साधु पर्युषण मे किंचित भी आहार न करे।"[१४]

कल्प सूत्र मे पर्युषण के लिए एक विशेष कल्प है जिनम विस्तार से विवेचना की गई है "सवत्सरी के दिन केशलोच नही करने वाले साधु को सघ मे रहने योग्य नही माना है।"[१५]

पर्युषण क्षमा का अनुपम पव है, महावीर के शासन-काल मे उदायन द्वारा अपराधी चण्डप्रद्योतन को क्षमा कर गले मिलने का उदाहरण कितना सुन्दर लगता है, उसी परम्परा का पालन आज भी जैन-जैनेतर समाज द्वारा किया जाता रहा है। निशीथ सूत्र के कथाकार ने यह लिखते हुए एक कथा का समापन किया है कि 'जब अज्ञान और असयत ग्रामीणो ने भी क्षमायाचना की और कुमार ने क्षमा प्रदान की तो सयमी साधुओ का तो कहना ही क्या है? जो भी अपराध किया हो उस सब को पर्युषणा के समय क्षमा लेना चाहिये। इससे सयम की आराधना होती है।[१६] उक्त सभी प्रमाणो से ज्ञात होता है कि पर्युषण महापव जैन सस्कृति का अत्यन्त प्राचीन पव है।

निर्वाण पर्व—दीपावली

यो पचकल्याणको मे निर्वाण पव का महत्त्वपूण स्थान है । सभी तीर्थंकरो के निर्वाण महोत्मव तप त्यागादि की आराधना से मनाये जाते है, पर विशेष उल्लास और उत्साह से चरम तीर्थंकर महावीर का निर्वाण पर्व मनाया जाता है । भारत मे दीपावली कई सस्कृतियो की ऐतिहासिक विरासत की देन है । जैन दृष्टि मे इस पव का शुभारम्भ भगवान महावीर की देह-मुक्ति से हुआ है ।

राजगृही का ४१वा वर्षावास कर तीर्थंकर महावीर मल्लो की राजधानी अपापापुरी (पावापुरी) म राजा हस्तिपाल की लेखशाला मे पधारे । छट्ठतप युक्त प्रभु ने अपना निर्वाण समीप देखकर पचावन अध्ययन पुण्यफल विपाक के और पचावन अध्ययन पापफल विपाक के कहे[१७], फिर छत्तीस अध्ययनो का अमृतमय उपदेश 'उत्तराध्यन' प्रदान किया[१८] निर्वाण समय समीप जान तथा गौतम के सर्वज्ञत्व मे स्नेह को बाधक जान प्रभु ने गौतम को समीप के गाँव मे देवशर्मा को प्रतिबोध देने भेजा[१९], विनयावनत गौतम प्रभु को वन्दना कर प्रस्थित हुए । निर्वाण के समय प्रभु से इन्द्र ने निवेदन किया कि भस्मग्रह सक्रमण तक आयुष्य को रोक लें, तो प्रभु ने कहा कि आयु को बढाने-घटाने की सामर्थ्य किसी में नहीं है । कार्तिक कृष्णा अमावस्या की रात्रि के अन्तिम प्रहर मे प्रभु ससार त्याग कर चले गये, सभी बन्धन नष्ट हो गये, सब दु खो का अन्त कर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए ।[२०]

निर्वाण हुआ जान स्वर्ग से देवी, देवता शक्र और इन्द्र वहाँ आए । सभी देवो ने अपनी-अपनी सामर्थ्य और गुणो के अनुरूप अन्तिम क्रिया मे योग दिया । रज्जुग सभा मे काशी कौशल के नौ लिच्छवी तथा नौ मल्ल इस तरह अठारह गण राजा भी उपस्थित थे । अठारह ही राजाओ ने उपवास युक्त पौपध किया हुआ था । अमावस्या की घोरकाली रात्रि थी अत उन्होंने निश्चय किया कि प्रभु के निर्वाणान्तर भाव उद्योत के उठ जाने से महावीर के ज्ञान के प्रतीक रूप मे स्मरणार्थ द्रव्य प्रकाश करेंगे ।[२१]

जिस रात्रि मे श्रमण भगवान महावीर काल धम को प्राप्त हुए, उस रात्रि मे बहुत-सी देव-देवियाँ ऊपर-नीचे आ-जा रही थी जिससे वह रात्रि खूब उद्योतमयी हो गई थी ।[२२]

उस दिन देवताओ ने दुर्लभ रत्नो से द्रव्य प्रकाश किया था, मनुष्यो ने भी दीप सजोए तब से दीपावली पर्व प्रारम्भ हुआ ।

हरिवश पुराण मे आचार्य जिनसेन ने दीपावली के प्रारम्भ का बडा भावमय वर्णन दिया है—

ज्वलत्प्रदीपालिकया प्रवृद्धया, सुरासुरैं दीपितया प्रदीप्तया ।
तदास्म पावानगरी समन्तत प्रदीपिता काशतला प्रकाशते ॥
ततस्तु लोक प्रतिवर्षमादरात् प्रसिद्ध दीपावलीकयात्र भारते ।
समुद्यत पूजयति जिनेश्वर जिनेन्द्रनिर्वाण विभूति-भक्ति भाग् ॥

—प्रस्तुत श्लोक में दीपावली का समग्र दृश्य सार सक्षेप रूप से वर्णन किया गया है । ऐसा ही वर्णन त्रिपष्ठि-शलाका पुरुष चरित्र मे प्राप्त होता है ।

परिनिर्वाण वि० पू० ४७१ तथा ई० पू० ५२७ माना जाता है । महावीर निर्वाण के १६६९ वर्ष बाद कुमारपाल का जन्म हुआ था, ई० ११४२ में । अत महावीर का निर्वाण काल १६६९–११४२=५२७ ई० पू० है । कुछ विद्वान् ४६८ और ४८२ तथा ५२७ और ५४६ ई०पू० के बीच निर्वाणकाल मानते हैं किन्तु परम्परानुसार महावीर का निर्वाण ५२७ ई० पू० माना जाता है[२३] "प्रोफेसर परशुराम कृष्ण गोडे, ओरिएन्ट रिसर्च, भगवान महावीर का निर्वाण दीपावली के रूप में होना स्वीकार करते हैं, महावीर का सदैव के लिए शरीर का त्याग होने से इसे कालरात्रि कहते हैं । इस उपलक्ष में तत्कालीन नरेश और श्रेष्ठीमडल ने नया सवत प्रारम्भ किया और पुण्य-पाप के लेखे-जोखे की तरह हानि-लाभ का लेखा-जोखा रखा जाने लगा । दिगम्बर जैनाचार्य जिनसेन ने हरिवश पुराण मे ७८३ ई० में, सर्ग ६६, श्लोक १५, १६ २० में, उत्तर पुराण (गुणभद्र) के १६वें सर्ग में, सोमदेव सूरि के यशस्तिलक चम्पू में, अब्दुल रहमान ने (११०० ई० में) सदेश रसिक में, अकबर ने नौवें रत्न अबुल फजल ने आइने अकबरी में (१५९०),
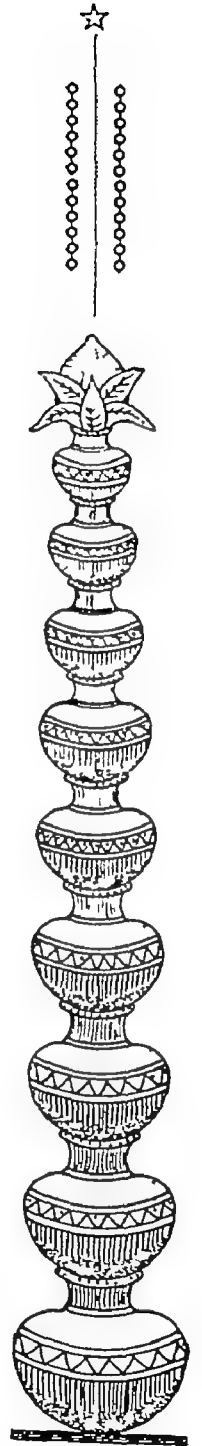
तथा लोकमान्य तिलक व रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी वीर निर्वाण के उपलक्ष मे दीपावली मनाना स्वीकार किया है। मार्ग स्टीवेन्सन ने इन्साइक्लोपीडिया आफ रीलिजन एण्ड इथिक्स भाग ५, पृष्ठ ८७५ से ८७८ मे दीपावली का प्रारम्भ वीर निर्वाण से बताया है।"[२४]

यो २५०० वर्षो की लम्बी अवधि मे इस पर्व का सम्बन्ध कई महापुरुषो से हो गया है। मान्यता है कि दयानन्द सरस्वती का स्वर्गवास, स्वामी रामतीर्थ की समाधिमरण इसी दिन हुआ था। प्राप्त मान्यताओ मे सबसे प्राचीन मान्यता भगवान महावीर के निर्वाण प्राप्त करने की है।

प्रभु महावीर पर गणधर गौतम की अनन्य श्रद्धा थी। महावीर उसे जानते थे, इसलिए उन्होंने अपने निर्वाण से पूर्व गौतम को देवशर्मा के यहाँ प्रतिबोध देने भेज दिया था। वही गौतम को प्रभु के निर्वाण के समाचार मिले जिससे वे द्रवित हो गये। वे स्वयं को हतभागी समझने लगे। भावनाओ पर बुद्धि ने विजय प्राप्त की और उसी रात्रि मे गौतम ने भी केवलज्ञान प्राप्त किया।[२५] कार्तिक अमावस्या की मध्य रात्रि मे भगवान महावीर का परिनिर्वाण हुआ और अन्तिम रात्रि मे गौतम गणधर ने केवल ज्ञान, केवल दर्शन प्राप्त किया इसी कारण कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा गौतम प्रतिपदा के नाम से विश्रुत है। इसी दिन अरुणोदय के प्रारम्भ से ही अभिनव वर्ष का आरम्भ होता है।[२६] भगवान के निर्वाण का दुःखद वृत्तान्त सुनकर भगवान के ज्येष्ठ भ्राता महाराज नन्दीवर्धन शोक विह्वल हो गये। उनके नेत्रो से आँसुओ की वेगवती धारा प्रवाहित होने लगी, बहिन सुदर्शना ने उनको अपने यहाँ बुलाया और सात्वना दी। तभी से भैया दूज के रूप मे यह पर्व स्मरण किया जाता है।[२७]

रक्षाबन्धन

कुरु जागल देश मे हस्तिनापुर नामक नगर था। वहाँ के महापद्म राजा के दो पुत्र पद्मराज और विष्णु कुमार थे, छोटे पुत्र विष्णुकुमार ने पिता के साथ ही सयम स्वीकार कर लिया।

उस समय उज्जयिनी मे श्रीवर्मा राजा राज्य करते थे उनके बलि, नमुचि, वृहस्पति और प्रह्लाद चार मन्त्री थे। एक बार अकम्पनाचार्य जैन मुनि ७०० शिष्यो के साथ वहाँ आए। चारो मन्त्री जैन मत के कट्टर आलोचक थे इसलिए आचार्य ने उनसे विवाद करने के लिए सभी मुनियो को मना कर दिया था, एक मुनि नगर मे थे। उन्हें आचार्य की आज्ञा ज्ञात नही थी इसलिए मार्ग मे आए चारो मन्त्रियो से श्रुत सागर मुनि ने शास्त्रार्थ किया। चारो को पराजित कर वे गुरु के पास गये। गुरु ने भावी अनर्थ को जान श्रुतसागर मुनि को उसी स्थान पर निशक ध्यान लगाने का आदेश दिया। मुनि गये और ध्यान मे लीन हो गये। चारो मन्त्री रात्रि को वहाँ गये, उन्होंने तलवार से मुनि को मारना चाहा पर, वन रक्षक देव ने उनको अपने स्थान पर यथास्थिति से कील दिया। अच्छी सख्या मे लोगों के इकट्ठे होने पर वन रक्षक देव ने सारा वृत्तान्त सुनाया जिसे सुनकर राजा ने चारो को देश निकाला दिया। अपनी प्रतिभा का उपयोग करते हुए वे हस्तिनापुर पहुचे और मन्त्री पद प्राप्त किया। एक बार मन्त्रियो ने राजा से किसी विशेष अवसर पर प्रसन्न कर इच्छानुसार वर लेने को राजी कर लिया। सयोग से ७०० मुनियो का यह सघ विचरते हुए हस्तिनापुर पहुँचा। मन्त्री बलि ने, अपने अपमान का बदला लेने का अच्छा अवसर जान राजा से ७ दिन के लिए राज्य ले लिया। उसने मुनियो के निवास-स्थान पर काटेदार बाड बनाकर उनके विनाश के लिए नरमेध यज्ञ की रचना कर दी। इस प्रलयकारी घटना से लोग दुःखी हो गये, परन्तु वे राज्य शक्ति के आगे कुछ करने मे असमर्थ थे।

उस समय मिथिलापुर नगर के वन मे सागर चन्द्रमुनि को अवधिज्ञान से मुनियो पर आए इस मरणान्तिक उपसर्ग का ध्यान हुआ और वे हा! हा! महाकष्ट! इस प्रकार बोल उठे। गुरुदेव ने स्थिति की गम्भीरता को समझा और उन्होंने अपने शिष्य पुष्पदत्त को आकाशगामी विद्या से धरणी भूषण पर्वत पर विष्णुकुमार मुनि के पास विपत्ति का वर्णन करने के लिए भेजा।

वैक्रिय ऋद्धिधारी मुनि विष्णुकुमार तुरन्त हस्तिनापुर पहुँचे और पद्मराज के महलो मे गये, बातचीत की किन्तु पद्मराज कुछ भी कर पाने मे असमर्थ थे क्योंकि वे वचनबद्ध बने हुए थे।

निदान उन्होंने ५२ अगुल का शरीर धारण किया और नरमेध यज्ञ के स्थान पर बलि के पास गये, बलि ने उनका उचित सत्कार किया और दानादि से उनका सम्मान करना चाहा। विष्णुकुमार ने तीन पैर जमीन की माग की,

माग स्वीकार होने पर उन्होने पहली डग सुमेरू और दूसरी मानुपोत्तर पवत पर रखी। तीसरी डग के लिए उन्होंने बलि के कहने से उसकी पीठ पर पैर रखा तो उसका शरीर थर-थर काँपने लगा, आखिर मुनियो के कहने से उसे मुक्त किया गया। उस दिन श्रवण नक्षत्र व श्रावण सुद १५ का दिन था, इसी दिन विष्णुकुमार मुनि द्वारा ७०० मुनियो की रक्षा की गई थी, इससे यह दिन पवित्र माना जाता है। इस दिन की स्मृति बनाए रखने के लिए परस्पर सबने प्रेम से बड़े भारी उत्सव के साथ हाथ मे सूत का डोरा चिन्ह स्वरूप बाधा, तभी से यह श्रावण सुद १५ का दिन रक्षाबन्धन के नाम से जाना जाता है। मुनियो को उपसग से मुक्त हुआ जानकर ही श्रावको ने भी भोजन करने की इच्छा की और उन्होंने घर-घर खीर तथा नानाविध प्रकार की मिठाइयाँ बनाईं, परम्परागत रूप से डोरा बाँधने और मिठाइयाँ बनाने की प्रथाएँ चली आ रही हैं।[२८]

विशेष—प्रस्तुत कथा का साम्य कई पुस्तको मे देखने को मिला किन्तु जैन मान्यतानुसार यह पव कब से प्रारम्भ हुआ, इसका कोई प्रमाण मेरे देखने मे नही आया, उचित प्रमाण के अभाव मे समयोल्लेख नही किया है।

पचकल्याणक

जैन सस्कृति के पर्वो मे पचकल्याणक का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। तीर्थंकरो की आत्मा देवलोक से च्यवकर माता के गर्भ मे प्रवेश करती है, जन्म लेती है, तीर्थंकर दीक्षा ग्रहण करते हैं, कैवल्य प्राप्त होना है तथा मोक्ष मे पधारते हैं तब मान्यता है कि देवता हर्षोल्लास से अष्टान्हिका महोत्सव का आयोजन करते है, उन तिथियो के स्मृति स्वरूप आज भी पचकल्याणक महोत्सव मनाये जाते हैं। विशेष कर प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरो के ये महोत्सव मूर्तिपूजक समाज अत्यन्त हर्ष और उल्लास के साथ सम्पन्न करता है। इन तिथियो पर त्याग-तपस्या का भी अपूव क्रम चलता है।

पचकल्याणक की तिथियो का वणन किसी एक ही ग्रन्थ मे प्राप्त नही होता। कल्पसूत्र, त्रिपष्ठिशलाका पुरुष चरित्र, महावीर चरिय, आवश्यकनियुक्ति, महापुराण, आवश्यक चूर्णि और कल्प सुबोधिका टीका मे कही-कही तीर्थंकरो के इन पचकल्याणक की तिथियाँ प्राप्त होती हैं। शोध की दृष्टि से देखा जाए तो इन तिथियो पर कई पन्ने लिखे जा सकते हैं, इनका सक्षिप्त रूप अगले पृष्ठ पर है—

आयम्बिल ओली पर्व—

उज्जयिनी नगर मे प्रजापाल राजा राज्य करते थे, उनके सौभाग्य सुन्दरी और रूप सुन्दरी दो रानियाँ थी। जिनके क्रमश सुर-सुन्दरी और मैना सुन्दरी नाम की पुत्रियाँ थी।

ज्ञानाभ्यास की समाप्ति के बाद एक बार दोनों राजकुमारियाँ अपने कलाचार्यो के साथ राज्य सभा मे उपस्थित हुईं राजा ने दोनो राजकुमारियो से प्रश्न पूछे। सुरसुन्दरी और मैनासुन्दरी ने उनके यथोचित उत्तर दिये। राजा ने प्रसन्न होकर उनसे वर माँगने का कहा, तब मैना सुन्दरी ने कर्म की प्रमुखता बतलाते हुए राजा की कृपा को गौण कर दिया। राजा मैनासुन्दरी पर अत्यन्त कुपित हुआ।

श्रीपाल की अल्पायु अवस्था मे उसके पिता चम्पा नरेश सिंहरथ की मृत्यु हो गई थी। प्राण बचाने के लिए रानी कमल प्रभा श्रीपाल को लेकर वन मे रवाना हो गई, वहाँ प्राण रक्षा के निमित्त उनको सात सौ कोढ़ियो के एक दल मे सम्मिलित होना पड़ा। सयोग से कोढ़ियो का यह दल उन्ही दिनो उज्जयिनी मे आया हुआ था। राजा ने कोढ़ियो के राजा श्रीपाल (उम्बर राजा) से मैना सुन्दरी का विवाह कर दिया।

विवाह के अनन्तर दोनो को एक जैन मुनि के दशन प्राप्त हुए, मैनासुन्दरी ने गुरुदेव से कुष्ठरोग से मुक्ति पाने का उपाय पूछा, गुरुदेव ने कहा—मयणा! हम साधु हैं, निग्रन्थ मार्ग की उपासना हमारा कत्तव्य है, यत्र, मत्र और तन्त्र बताना हमारे लिए निषिद्ध है, हमारी मान्यता है कि अर्हंत, सिद्ध, आचाय, उपाध्याय, साधु, दशन, ज्ञान चारित्र और तप इन नौ पदो से बढकर कोई तत्त्व नहीं हैं। सिद्ध पद को पाने वालो की सिद्धि मे इन नव पदो की आराधना अवश्य होती है। शान्त दान्त जितेन्द्रिय और निरारम होकर जो इनको आराधना करता है वह सौख्य प्राप्त करता है।"

शुक्ला सप्तमी से नव दिन तक आयम्बिल तप करके नवपद का ध्यान करे, इसी तरह चैत्र मे भी
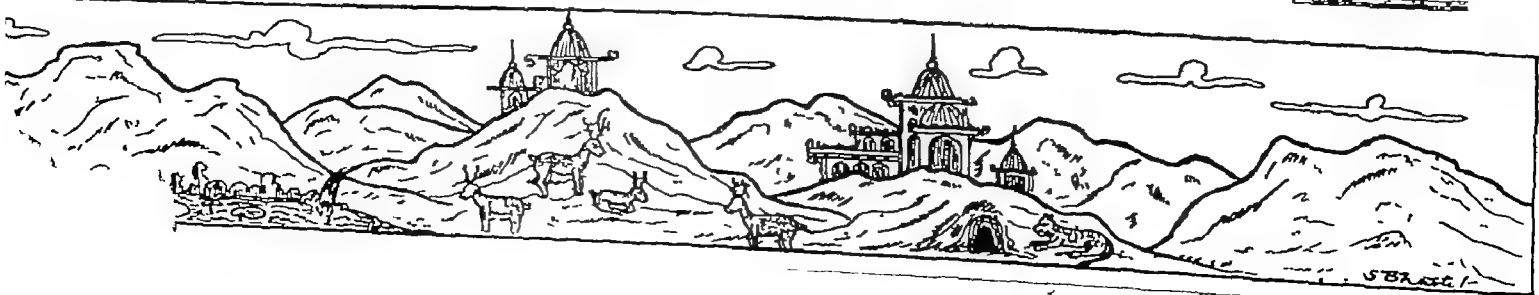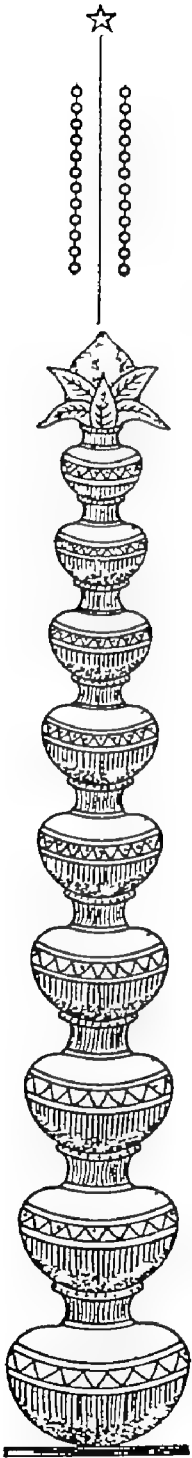
तीर्थंकर सख्या	गर्भ कल्याणक	जन्म कल्याणक	दीक्षा कल्याणक	कवल्य कल्याणक	निर्वाण कल्याणक
१	आ० कृ० २	चै० कृ० ६	चै० कृ० ६	फा० कृ० ११	मा० कृ० १४
२	ज्ये० कृ० ३०	पौ० शु० १०	पौ० शु० ६	पौ० शु० ११	चै० शु० ५
३	फा० शु० ८	मार्ग शु० १५	मार्ग शु० १५	का० कृ० ४	चै० शु० ६
४	वै० शु० ६	पौ० शु० १२	पौ० शु० १२	पौ० शु० १४	चै० शु० ६
५	श्रा० शु० २	वै० कृ० १०	वै० शु० ६	चै० शु० ११	चै० शु० ११
६	माघ कृ० ६	का० कृ० १३	मग० कृ० १०	चै० शु० १५	फा० कृ० ४
७	भाद्र शु० ६	ज्ये० शु० १२	ज्ये० शु० १२	फा० कृ० ६	फा० कृ० ७
८	चै० कृ० ५	पौ० कृ० ११	पौ० कृ० ११	फा० कृ० ७	फा० कृ० ८
९	फा० कृ० ९	मग० शु० ९	मग० शु० १	का० शु० २	भाद्र० शु० ८
१०	चै० कृ० ८	पौ० कृ० १२	पौ० कृ० १२	पौ० कृ० १४	आश्वि० शु० ८
११	ज्ये० कृ० ६	फा० कृ० ११	फा० शु० ११	माघ० कृ० ३०	श्रा० शु० १५
१२	आषा० कृ० ६	फा० कृ० १४	फा० कृ० १४	माघ० शु० २	भाद्र० शु० १४
१३	ज्ये० कृ० १०	पौ० शु० ४	पौ० शु० ४	माघ० शु० ६	आषा० कृ० ८
१४	कार्तिक कृ० १	ज्ये० कृ० १२	ज्ये० कृ० १२	चै० कृ० ३०	चै० कृ० ३०
१५	वै० शु० १३	पौ० शु० १३	पौ० शु० १३	पौ० शु० १५	ज्ये० शु० ४
१६	भाद्र० कृ० ७	ज्ये० कृ० १४	ज्ये० कृ० १४	पौ० शु० ११	ज्ये० कृ० १४
१७	श्रा० कृ० १०	वै० शु० १	वै० शु० १	चै० शु० ३	वै० शु० १
१८	फा० शु० २	मग० शु० १४	मग० शु० १४	का० शु० १२	चै० कृ० ३०
१९	चै० शु० १	मग० शु० ११	मग० शु० ११	मग० शु० ११	फा० शु० ५
२०	श्रा० कृ० २	वै० कृ० १०	वै० कृ० १०	वै० कृ० ९	फा० कृ० १२
२१	आसो० कृ० २	आषा० कृ० १०	आषा० कृ० १०	मग० शु० ११	वै० कृ० १४
२२	का० शु० ६	श्रा० कृ० ६	श्रा० कृ० ६	आसो० कृ० १	आषा० शु० ७
२३	वै० कृ० ३	पौ० कृ० १०	पौ० कृ० १०	चै० कृ० ४	श्रा० शु० ७
२४	आषा० शु० ६	चैत्र शु० १३	चै० शु० १३	वै० शु० ७	का० कृ० ३०

यह सारणी 'जैन व्रत विधान सग्रह' लेखक प० बारेलाल जैन, टीकमगढ़, पुस्तक से उद्धृत की गई है।
नोट—इस सारणी से कुछ प्रचलित मान्यताओ मे अन्तर है। —प्र० स०

नौ दिन तक आयम्बिल करे। इस प्रकार नौ ओली होने पर इक्यासी आयम्बिल होते हैं और यह तप पूरा होता है इस तप की आराधना से दुष्ट कुष्ठ ज्वर क्षय भगदरादि रोग नष्ट होते ह, उपासक सब प्रकार से सुखी होता है।

श्रीपाल ने अवसरानुसार प्रथम ओली की जिसके परिणामस्वरूप उसका कुष्ठ रोग समाप्त हो गया तथा उसने सातसौ कोढियो का यह रोग समाप्त करने मे भी योग दिया, श्रीपाल के अब तक के मद भाग्य भी खुलने लगे और वह असीम ऋद्धि-सिद्धि का स्वामी बना। यह पर्व सिद्धचक्र के नाम से भी जाना जाता है। नवपद पव भी आयम्बिल ओली पर्व का ही नाम है।[२६]

ज्ञानपचमी—कार्तिक शुक्ला पचमी, ज्येष्ठ शुक्ला पचमी और श्रावण शुक्ला पचमी को अलग अलग मान्यतानुसार इस पव की आराधना की जाती है। मान्यता है कि इन दिनो ज्ञान की आराधना से विशिष्ट फल प्राप्त होते हैं। ज्ञानावरणीय कम क्षय होकर ज्ञान योग्य सामग्री सुलभ बनती है, इस पव से सम्बन्धित कथा का सार यही है कि ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञान के उपकरणो की आशातना, अवज्ञा, विराधना और तिरस्कार से जीव को दारुण दुःखदायी यातनाएँ प्राप्त होती हैं तथा ज्ञान की आराधना करने से जीव सम्यक् सुख प्राप्त करता है। ज्ञान की आराधना के लिए किसी दिन विशेष को नियत करने की मान्यता आज का वातावरण स्वीकार नही करता है क्योंकि प्रत्येक समय ज्ञानाराधना की जा सकती है तथा ज्ञानाराधना भी की जानी चाहिए।

अन्य पर्व—जैन सस्कृति के कुछ प्रमुख पर्वो का विवेचन प्रस्तुत निवन्ध मे किया गया है। पर्वों से सम्बन्धित साहित्य को देखने पर मुझे अन्य कई और पर्वो से सम्बन्धित सामग्री भी प्राप्त हुई प्रत्येक पव की आराधना के महत्त्व को प्रदर्शित करने के लिए उसके साथ कथाएँ भी जुडी हुई हैं, उन कथाओ का उद्भव कब हुआ इसके बारे मे समय निर्धारण ज्ञात नही किया जा सका, अत उनके नामोल्लेख कर देना ही पर्याप्त समझता हूँ, इन पर्वों के साथ फल प्राप्ती के लिए व्रत आराधना की जाती है तथा ये पूरे वर्ष चलते रहने वाले सामान्य पर्व हैं अत इन्हे नित्य पर्व की सज्ञा देना उचित लगता है। मूर्तिपूजक समाज के साहित्य मे इन पर्वो के बारे मे उल्लेख मिलता है। अधिकाश पव तीर्थंकरो के कल्याणको की तिथियो पर ही आते हैं—कुछ पर्वो के नाम निम्नांकित हैं—अष्टान्हिका, रत्नत्रय, लब्धिविधान, आदित्यवार, कोकिलापचमी, पुष्पाञ्जली, मौन एकादशी, गरुडपचमी, मोक्ष सप्तमी, श्रावण द्वादशी, मेघमाला, त्रिलोक तीज, आकाश पचमी, चन्दन षष्ठी, सुगन्ध दशमी, अनन्त चतुर्दशी, रोहिणी, नागपचमी, मेरुत्रयोदशी आदि।

टीकमगढ से प्रकाशित 'जैन व्रत विधान सग्रह' पुस्तक में ही १६४ पर्वों का उल्लेख है। विस्तार भय से उनका नामोल्लेख भी सभव नही है। प्रत्येक पचाग में सम्बन्धित तिथि के सामने पर्वो का उल्लेख रहता है, धारणा है कि ये सामान्य पव केवल लौकिक लाभों को प्राप्त करने के लिए ही आचार्यो द्वारा नियत किये गये हो, इनसे जुडी कथाएँ केवल लौकिक लाभ का प्रदर्शन ही करती हैं जबकि अक्षय तृतीय, सवत्सरी, दीपमालिका आदि विशुद्ध रूप से लोकोत्तर पर्व हैं उनके बारे में जैन ही नहीं जैनेतर साहित्य मे भी सामग्री प्राप्त होती है।

प्रस्तुत निबन्ध में पर्वों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का विवेचन ही प्रस्तुत किया गया है, इन पर्वों की आराधना एक अलग से पूर्ण विषय है, जिस पर विद्वानों को लिखने की आवश्यकता है। पर्वो की सम्यक् आराधना करने पर लोकोत्तर-पथ प्रशस्त बनता है तथा आत्मा सिद्ध स्थान के निकट पहुँचती है।

---

१ आवश्यक चूर्णि, पृ० १६२-१६३, आव निर्युक्ति, त्रिषष्ठि श० पु० च०
२ आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति, पृ० १४५।१, त्रि० श० पु० च० आवश्यक चूर्णि /३३
३ आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति, आव० मल० वृत्ति, त्रि० श० पु० च०
४ आवश्यक मल० वृ०, पृ० २१८।१
५ महापुराण जिन० ७८।२०।४५२
६ समवायाग सूत्र १५६।१५, १६, १७, आव० नि० गाथा ३४४, ३४५, त्रिषष्ठि० आदि
७ पर्युषण पव आर्य जैन, सुखमुनि
८ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्ष २, काल अधिकार, पृ० ११४-१/७
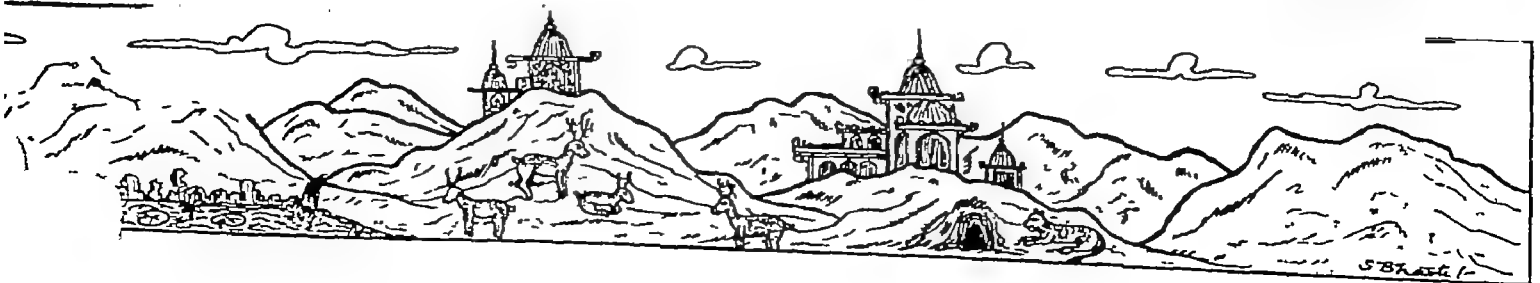
९ समणे भगव महावीरे वासाण सवीसई राएमासे वइक्कते सत्तरिएहिं राइदिहेहिं सेसेहिं वासावासे पज्जोसहेई
(क) समवायाग सूत्र १७०वा समवाय
(ख) कल्पसूत्र समाचारी
१० तत्थण वहवे मवणवई सवच्छरीयसु विहरति, —जीवाभिगम (सवत्मरी पर्व आत्मारामजी म मा)
११ निशीथ चूर्णि उ १०, भाग ३, पृ० १३१
—करणिया चउत्थी अज्ज कालगायरिएण पवत्तिया।
१२ पज्जोसवणाए न पज्जोसवेइ, —निशीथ सूत्र उद्दे० १०
१३ पज्जोसवणाए गोलोमाइपि वालाई उवाइणावेई, —निशीथ ४४
१४ पज्जोसवणाए इत्तिरियपि आहार आहारेई, —निशीथ उद्दे १०-४५
१५ जेण निग्गथो निग्गन्थी वा पर पज्जोवणासी अहिगरण वमई सेण निज्जूहियव्वेसिया।
१६ निशीथ उ० १०-३१८०-८१ कल्पसूत्र २३वी समाचारी
१७ समणे भगव महावीरे अन्तिमराइयसि पणपत्र अज्झयणाइँ कल्लाण फल विवागाइ, पणपन्ने अज्झयणाइ पाव फल विवागाइ वागरित्ता सिद्धे जाव सव्व दुक्खप्पहीणे। —समवाय ५५, सूत्र ४, कल्पसूत्र, सूत्र १४६
१८ कल्पसूत्र, सूत्र १४६
१९ सिरि महावीर चरिय, पृ० ३३७
२० कल्पसूत्र १२३वां सूत्र
२१ कल्पसूत्र, सूत्र १२७ (गते से भावुज्जोये दव्युज्जोय करिस्सामो)
२२ कल्पसूत्र, सूत्र १२४
२३ अमर भारती, महावीर परिनिर्वाण विशेषाक, पृ० ४५
२४ दिगम्वरदास जैन, वीर परिनिर्वाण, अमर भारती, आगरा।
२५ ज रयणि च ण समणे भगव महावीरे काल गए जाव सव्व दुक्ख पहीणे त रयणि च ण जेटठस्स गोयमस्स इदभूइस्स केवलवरनाणदसणे समुप्पन्ने। —कल्पसूत्र, १२७ सूत्र
२६ कल्प सुवोधिका टीका
२७ वही
२८ जैन व्रतकथा सग्रह, मोहनलाल जैन शास्त्री, जवलपुर।
२९ सभी पुस्तको मे कथा साम्य पाया गया
१ श्रीपाल चरित्र, मरुधर केशरी मिश्रीमल जी म० सा०
२ श्रीपाल चरित्र, काशीनाथ जैन, वम्वोरा
३ श्रीपाल चरित्र, जैन दिवाकर चौथमल जी म० सा०
४ पवकथा सचय, मुनि देवेन्द्रविजय।

□□

पंचम खण्ड

सुदूर अतीत-यौगलिक युग परम्परा से लेकर तीर्थंकर, गणधर, प्रभावक आचार्यों की पट्ट परम्परा जैन इतिहास के अवक्रमण-उत्क्रमण का इतिहास तथा वर्तमान युग तक का प्रामाणिक एव संक्षिप्त इतिवृत । श्री सौभाग्य मुनि जी की प्रवाह-मयी लेखिनी द्वारा अंकित ।

□ श्री सौभाग्य मुनि 'कुमुद'
[प्रधान सपादक—पू प्र अ अभिनन्दन ग्रथ]

सृष्टिक्रम की दृष्टि से जैनधर्म अनादि होते हुए भी अवसर्पिणी एव उत्सर्पिणी काल की दृष्टि मे उसका प्रारम्भ भी माना गया है।

वतमान अवसर्पिणीकाल के सुदूर अतीत से लेकर आज तक की परम्परा का इतिवृत अपने आप मे वहुत ही उलझा हुआ, अस्पष्ट और उतार-चढाव से पूर्ण है।

विभिन्न विद्वानों द्वारा लिखे जाने पर तथ्यों की पुनरावृत्ति सभव है, अत हमारे विद्वान लेखक श्री सौभाग्य मुनिजी 'कुमुद' ने, जो ग्रन्थ के प्रधान सपादक भी हैं, साथ ही इतिहास और परम्परा के अधिकारी विद्वान भी है। अनेक ऐतिहासिक खोजे व प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कठिन परिश्रम के साथ यौगलिक युग से वतमान तक की ऐतिहासिक यात्रा का सक्षिप्त किन्तु सारग्राही वर्णन प्रस्तुत किया है।

जैन परम्परा एक ऐतिहासिक यात्रा

□

यौगलिक युग

जड और चैतन्य के सयोग से प्रवतमान यह विराट विश्व अनन्तकाल से विविध परिवतनो के वीच गुजरता चला आ रहा है।

अनन्त युगो पूर्व भी ऐसा क्षण कभी नही आया कि यह नही था और अनन्त युगो के वाद भी ऐसा क्षण कभी नही आयेगा कि यह नही होगा।

सदा सर्वदा प्रवर्तमान इस विश्व के काल का पयवेक्षण हम केवल उतना ही कर पाते हैं, जहाँ तक कि हमे कुछ जानने को मिल सके।

कालचक्र समय को नापने-जानने का एक साधन है। समय की गतिविधि में उत्थान-पतन चलते रहते हैं। प्रकृति अपने आप में वनती-विगडती रहती है, समय उसका साथी है। जहाँ तक वनने-विगडने का प्रश्न है, यह भी मात्र परिवतन है, कोई वनाने वाला या विगाडने वाला, एक नियामक नही है। विश्व मे अनन्त अणु-परमाणु हैं, अनन्त जीवात्माएँ हैं। सयोग-वियोग की इनकी अपनी अलग-अलग कहानियाँ हैं। परिवतन के ये ही मूल हैं। अलग-अलग कोई एक सत्ता जिम्मेदार नहीं है।

एक कालचक्र के दो विभाग हैं। एक उत्सर्पिणी दूसरा अवसर्पिणी के नाम से विख्यात है। इनमे प्रत्येक भाग के छह विभाग होते हैं।

१ सुषमा-सुषम—चार कोडाकोडी सागर
२ सुषम—तीन कोडाकोडी सागर
३ सुषम-दुषम—दो कोडाकोडी सागर
४ दुषम-सुषम—४२ हजार वर्ष कम एक कोडाकोडी सागर
५ दुषम—२१ हजार वर्ष
६ दुषमा-दुषम—२१ हजार वर्ष

जब कालचक्र का उत्सर्पिणी काल चलता है तो दुषमा-दुषम यह पहला आरक होता है और सुषमा-सुषम अन्तिम।

इस काल मे प्रकृति मे बराबर उत्कर्ष चलता रहता है। प्रकृति की कई अद्‌भुत शक्तियाँ उभर आती हैं चेतनाएँ भी क्रमश सुख-सुविधाओ को प्राप्त करती रहती हैं।

उत्सर्पिणी के बाद अवसर्पिणी का प्रारम्भ हो जाता है। प्रकृति ह्रासोन्मुख हो जाती है। उत्सर्पिणी से प्राप्त विशेषताएँ सुख-सुविधाएँ एक-एक कर विलुप्त होती रहती हैं और प्रकृति रसहीन शुष्क और कठोर हो जाती है।

ऐसी स्थिति मे जनजीवन भी अनेको कष्टों से परिपूर्ण होता चला जाता है।

तीसरे आरक के मध्य के बाद जब कल्पवृक्षो का अभाव होने लगता है, जनजीवन त्रस्त होता है, तब कुलकर समाज को कुछ व्यवस्था देते हैं।

छोटे-छोटे कुलो मे समाज को व्यवस्थित करने के कारण उन्हे 'कुलकर' कहते हैं।

भगवान ऋषभदेव के पूर्व सात कुलकर हुए। उनमे 'नाभि' अन्तिम कुलकर हैं।

उस युग मे समस्त सुख-सुविधाओ के केन्द्र केवल कल्पवृक्ष होते थे, जो दस प्रकार के थे।

जीवन के सभी आवश्यक साधनो के लिये वे लोग प्राय उन्ही पर निर्भर करते थे। किन्तु अवसर्पिणी मे एक समय बाद उनका अभाव एक निश्चित सत्य है। और जब वे नहीं होते हैं तो जनजीवन एक गम्भीर खतरे मे पड जाता है। ऐसा यौगलिक युग के निवर्तन तथा मानवीय युग के प्रवर्तन के सन्धि काल मे सर्वदा होता ही है।

तीर्थंकर युग (तीर्थंकर युग के कुछ विशिष्ट व्यक्तित्व)

१ भगवान ऋषभ

आप और हम अभी कालगणना के अनुसार अवसर्पिणी काल की चपेट मे हैं। जो कुछ भी सत्य शिव सुन्दरम् है, वह घटता चला जा रहा है। प्रकृति का यह ह्रासोन्मुख परिवर्तन है। यह आज से प्रारम्भ नहीं हुआ है, भगवान ऋषभदेव के करोडो वर्ष पहले से यह चला आ रहा है। स्वय ऋषभदेव का जन्म भी इस अवसर्पिणी काल के दो विभाग व्यतीत होकर तृतीय विभाग के उत्तरार्द्ध के आसपास हुआ।

कल्पवृक्ष उस समय विच्छेदप्राय हो रहे थे। जनजीवन लगभग कष्ट मे घुल रहा था। जीवन को बनाये रखने का उन्हें कोई उचित साधन नहीं सूझ रहा था। ऐसी स्थिति मे ऋषभदेव जैसी दिव्य आत्मा का अभ्युदय उस युग के लिये बहुत बड़े महत्त्व की बात थी। क्योकि उस समय लोक-जीवन को ऐसे बुद्धिमान व्यक्ति की आवश्यकता थी जो उनकी कठिनाइयो को हल करने मे मदद दे सके। सयोग से उन्हें वह व्यक्तित्व भगवान ऋषभदेव के रूप मे मिला।

नाभि कुलकर की पत्नी मरुदेवी ने जब एक बच्चे को जन्म दिया तब जनता यह देखकर दग रह गई कि देवो ने फूल बरसाए और उत्सव किया।

भगवान ऋषभदेव के इस प्रभावशाली जन्मोत्सव से ही जनगण इतना प्रभावित हुआ कि वह यह प्रतीक्षा करने लगा कि कब यह बालक वयस्क होकर हमारा नेतृत्व करे।

तीर्थंकरो की आत्माएँ अवधिज्ञान जैसी कई विशिष्ट योग्यताओ के साथ ही जन्म लिया करती हैं। अत उन्हें सुयोग्य बनाने के लिये माता-पिता और गुरुजनो को वस्तुत कोई श्रम नही करना पडता।

बीस लाख पूर्व (काल की एक शास्त्रीय गणना) कौमार्य काल व्यतीत होने पर ऋषभदेव के विवाह दो सुन्दर कन्याओ से सम्पन्न हुए। एक का नाम सुनदा तथा दूसरी का नाम सुमगला था। सुमगला ने भरत और ब्राह्मी—दोनो को एक साथ और क्रमश ९८ कुमार, यो सौ सन्तानो को जन्म दिया। ये सभी भ्राता दो-दो की जोडी से जन्मे।

सुनदा के दो सतानें हुई—एक बाहुबली तथा दूसरी का नाम सुन्दरी था।

विवाह के साथ ही उन्होने आर्यावर्त का शासन-सचालन करना प्रारम्भ कर दिया। उनकी विशिष्ट योग्यता से जनता और स्वय नाभि भी यही चाहते थे कि यह जनजीवन का नेतृत्व कर इसे कष्टो से मुक्त करे।

कुल ६३ लाख पूर्व तक अयोध्या के सिंहासन पर समारूढ रहकर जनजीवन को व्यवस्थित करने का कार्य ही नहीं किया, अपितु भगवान ऋषभदेव ने सभी आवश्यक ७२ और ६४ कलाओ का ठीक-ठीक प्रतिपादन कर हजारो व्यक्तियो को उनमे पारगत किया। ब्राह्मी नामक एक लिपि तथा प्राकृत नामक एक भाषा देकर जनजीवन की अभिव्यक्ति को सहज और सरल बना दिया।

वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक तथा राजनैतिक, जो भी व्यवस्थाएँ आज विश्व मे प्रचलित है, उनमे जितना-जितना श्रेष्ठ अश है, वह भगवान ऋषभदेव का ही प्रसाद है। मानव-समाज उनमे कभी भी उऋण नही हो सकता।

भगवान ऋषभ का कुल ८४ लाख पूर्व का आयुष्य था। जीवन का बहुत बडा भाग उन्होंने गृही जीवन मे बिताया, क्यो ?

आध्यात्मिक दृष्टि से सयम का उदयकाल ही नही था, किन्तु व्यावहारिक दृष्ट्या उतने बडे विशाल परिवर्तन के लिये उनके अस्तित्व की वहाँ अनिवार्यता भी कुछ कम नही थी।

भगवान ऋषभदेव ने सुयोग्य पुत्र भरत को सिंहासनारूढ कर सयम स्वीकार किया। आत्मोत्कर्ष के लिये उस युग में यह भी एक नया प्रयोग था जो केवल अपने लिये ही नही लोकजीवन के लिये भी बडा आवश्यक था।

जैसे अन्नोत्पादन, लेखन आदि कलाओ को उस युग के लोगो ने बडे आश्चर्य के साथ लिया, उसी तरह सयम भी उन लोगो के लिये एक नयी बात थी। जैसे अन्य कलाओ से उन लोगो को भौतिक लाभ पहुचा, उसी तरह इसे भी भौतिक कला समझ कई व्यक्ति भगवान के साथ उनकी तरह बाह्य रूप मे विरक्त हो घूमने लगे। किन्तु परीषहो की भीषणता तथा अभावो मे जीने की स्थिति का वे सामना नही कर सके। फलत एक-एक कर सभी ने प्रभु का साथ छोड दिया। ऋषभ अपनी साधना मे अकेले रह गये। उन्हें किसी दूसरे की अपेक्षा थी भी नही।

लोग मुनि को दान देना ही नही जानते थे। जहाँ कही भगवान ऋषभ पहुँचते, उनका हाथी-घोडो, हीरो-पन्नो और सुन्दर कन्याओ से स्वागत किया जाता। किन्तु कोई भोजन की बात तो सोचता ही नही था और यदि कोई भोजन लाता भी तो विधि नहीं जानने से वह भोजन भगवान ऋषभदेव के लिये अग्राह्य हो जाता।

पूरे एक वर्ष भगवान को आहार नही मिल पाया।

उस समय हस्तिनापुर के राजा सोम (बाहुबली के पुत्र) के पुत्र श्रेयास को स्वप्न आया कि उसने सूखते कल्पवृक्ष को अमृत सीचकर हरा किया। वह अपने इस अद्भुत स्वप्न पर विचार कर रहा था, तभी उसे जाति-स्मरण नामक विशेष ज्ञान प्रकट हो गया। उसने भगवान ऋषभदेव के उत्कृष्ट तप और पारणा की अनुपलब्धि को देखा। उन दिनो भगवान ऋषभदेव हस्तिनापुर पधारे हुए थे। ज्यों ही श्रेयास को अनुकूल अवसर मिला। उसने इक्षुरस से भगवान के वर्षीय तप का पारण कराया। वह वैशाख शुक्ला तृतीया का दिन था। वह दिन सदा के लिये महत्त्वपूर्ण हो गया।

भगवान ऋषभदेव की सयम साधना के एक हजार वर्ष व्यतीत होने पर पुरिमतालनगर के उद्यान मे फाल्गुन कृष्णा एकादशी को उन्हें केवलज्ञान की समुपलब्धि हुई।

जन-हिताय भव्य चार तीर्थों की स्थापना कर उन्होंने अवसर्पिणी काल मे कल्याण मार्ग प्रकट कर दिया।

माता मरुदेवी ने भगवान के परम वीतराग भाव को जब तक नही जाना-समझा तब तक वह केवल यो समझती रही कि मेरा ऋषभ कोई विद्या सिद्ध करने गया है। किंतु जब उसने उनके परम वीतराग भाव को पूर्ण रूप से समझ लिया तो वह स्वय इतने उच्च भावों में रमण करने लगी कि उसका बाह्य भाव नितात समाप्त हो गया। एक बार वह भगवान को वदन करने जा रही थी, वही हाथी पर बैठे-बैठे ही शुद्धात्म दशा की ऐसी लहर आई कि उसे कैवल्य प्राप्ति हो गई। आयुष्य पूर्ण हो जाने से तत्काल मुक्ति-स्थल को भी प्राप्त कर लिया।

भरत को चक्र रत्न प्राप्त हो गया था। वह भरत-खड का प्रथम चक्रवर्ती था। उसने षड्खड सिद्ध किये। किंतु लघुभ्राता बाहुबली उसे अपना शासक मानने को तैयार नहीं था। अन्त में दोनों के बीच युद्ध ठना। किंतु उन्होंने उस युद्ध को दोनों अपने तक सीमित रखा। राज्य के लिये लाखो का खून बहाना उन्होंने उचित नही समझा।

भरत और बाहुबली के मध्य दृष्टि-युद्ध, मुष्टि-युद्ध, वाक्-युद्ध आदि युद्ध हुए। किंतु विजय बाहुबली की रही। अन्त मे प्रहार-युद्ध का प्रयोग हुआ। बाहुबली भरत के प्रहार को सह गये। लेकिन जब भरत पर प्रहार की बारी आई, बाहुबली ने हाथ उठाया भी, किंतु अग्रज के प्रति समादर की महान सभ्यता की प्रेरणा से बाहुबली भरत के सिर पर प्रहार नहीं कर पाये। देवो, मानवों ने बाहुबली की इस महान सभ्यता को बडा महत्त्व दिया। बाहुबली अपनी इस नैतिक विवशता से इतने सप्रेरित हुए कि वे महान होकर ही रहे। मुनि का पद चक्रवर्ती के सहस्र पदों से भी गुरुतर है। बाहुबली उसी पर समारूढ़ हो गये। भरत बाहुबली की महान सभ्यता और उत्कृष्ट त्याग के समक्ष नतमस्तक हो गया।

बाहुबली महान से महत्तर हो गये। किंतु महत्तम बनने में अभी कुछ कमी थी।

बाहुबली अनुपम त्याग के शिखर पर समारूढ़ थे। फिर भी भरत की अधीनता से इन्कार करने वाला, युद्ध मे अग्रज को हराने वाला, अन्त मे साधुत्व के बल पर ही सही, किंतु भरत को झुका देने वाला, मानस के किसी एकात अँधेरे कोने मे पलने वाला, छोटा-सा अहं उसने उन्हे भगवान ऋषभ के पास नही पहुचने दिया। कारण आगे भगवान के पास छोटे ६८ भाई पूर्व दीक्षित थे। बाहुबली जाते तो उन्हें नमस्कार करना अनिवार्य होता। किंतु जो बड़े भाई के आगे भी नही झुका तो छोट के आगे क्या झुकेगा? बाहुबली किसी वन मे ही अटक गये। सोचा—यही से मुक्ति की मंजिल पा लेंगे, किंतु तप करते वर्ष चला गया, पर कुछ मिला नही।

अन्त मे ब्राह्मी और सुन्दरी, जो गृही जीवन की बहनें थी, किंतु अभी साध्वियाँ थी, भगवान की सप्रेरणा से, वन मे बाहुबली को सबोध देने पहुँची। उन्होने कहा—"भाई हाथी से नीचे उतरो!" बाहुबली यह सुनकर अपना हाथी ढूँढने लगे तो उन्हें तुरन्त समझ मे आ गया कि अहं हाथी है, जिस पर मैं चढा हुआ हूँ।

ठीक समय पर दिया गया ठीक सन्देश था। बाहुबली सजग हो गये। सयम के साथ अहं का मेल नहीं। बाहुबली खूब समझ चुके थे। अब उन्हें भगवान के पास पहुँचने मे कोई आपत्ति नही थी। चलने को एक पाँव ही उठाया था कि उन्हें वहीं केवलज्ञान प्रकट हो गया। बाहुबली महात्मा से परमात्मा बन गये। अब झुकने-झुकाने की सारी औपचारिकता समाप्त।

चक्रवर्ती सम्राट् भरत षड्खण्डाधिप होकर भी अन्तर से बड़े अनासक्त थे।

एक बार भगवान ने भरत के मोक्ष जाने की बात कही तो एक व्यक्ति को सशय हुआ। भरत ने उसके हाथ मे तैल का पूरा भरा कटोरा देकर उसे पूरे नगर मे घूमने को कहा। साथ ही कहा कि यदि कटोरे से तैल की एक भी बूद छलक गई तो तुम्हारा सिर उडा दिया जाएगा।

बिचारा वह व्यक्ति ज्यो-त्यो नगर भ्रमण कर आया। पर बराबर उसे डर था कि कही बूँद न गिर जाए।

भरत ने उसे पूछा—तुमने नगर मे क्या देखा? उसने उत्तर दिया—मैंने तो तैल का कटोरा देखा, मेरा ध्यान इसी मे था। भरत ने कहा—इसी तरह मेरा ध्यान तो लगातार वीतराग भाव की तरफ रहता है। ससार की तरफ मैं बहुत कम देखता हूँ। मौत का डर तो मुझे भी है। उस व्यक्ति का सशय हट गया।

भरत को एक बार आदर्श भवन (काँच के महल) मे अद्भुत अनुभूति हुई। वहाँ वह वस्त्रालकार (राज्य योग्य) धारण करने गये थे। वस्त्राभूषण धारण करते समय उनकी अँगुली से अँगूठी अचानक गिर पडी। अँगूठी के गिरने से अँगुली ही नहीं, पूरा हाथ उन्हें श्री-हीन लगा। यही भरत के अन्तर मे एक आध्यात्मिक नवोन्मेष हुआ। उन्होंने सोचा—हम पर (पुद्गल, विकारभाव) मे कितने उलझे हुए हैं। वह होता है तो ठीक, नहीं तो हम श्री-शोभा से विहीन हो जाया करते हैं। लेकिन जो पर है, वह तो हटने का ही है। हमे अपनी आत्मकांति से दमकना चाहिए। पर का पूर्ण त्याग ही आत्मकान्ति का सजक है। ऐसी परम वीतराग भाव की स्थिति मे भरत को वही कैवल्य प्राप्ति हो गई।

भगवान ऋषभदेव ने अपने जीवन-काल मे चौरासी लाख मुनि, तीन लाख साध्वियाँ, तीन लाख पाँच हजार श्रावक तथा पाँच लाख चौवन हजार श्राविकाओ को तैयार कर परम वीतराग मार्ग की साधना मे अग्रसर किया।

भगवान ऋषभदेव ने अष्टापद पर्वत पर निर्वाण प्राप्त किया। वह दिन माघ कृष्णा त्रयोदशी का था। उनके साथ दस हजार साधु और भी थे। ऋषभ निर्वाण के समय तीसरा आरक समाप्त होने को ही था, केवल तीन वर्ष और साढ़े आठ मास शेष थे।

पचास लाख करोड सागर के बाद भगवान अजितनाथ दूसरे तीर्थंकर हुए।
तीस लाख करोड सागर के बाद भगवान सभवनाथ तीसरे तीर्थंकर हुए।
दस लाख करोड सागर के बाद भगवान अभिनन्दन चौथे तीर्थंकर हुए।
नव लाख करोड सागर के बाद भगवान सुमति नामक पाचवें तीर्थंकर हुए।
नब्बे हजार करोड सागर के बाद श्री पद्मप्रभ छठे तीर्थंकर हुए।
नव हजार करोड सागर के बाद सातवें तीर्थंकर भगवान सुपार्श्व हुए।
नव करोड सागर के बाद आठवें तीर्थंकर भगवान चन्द्रप्रभ हुए।
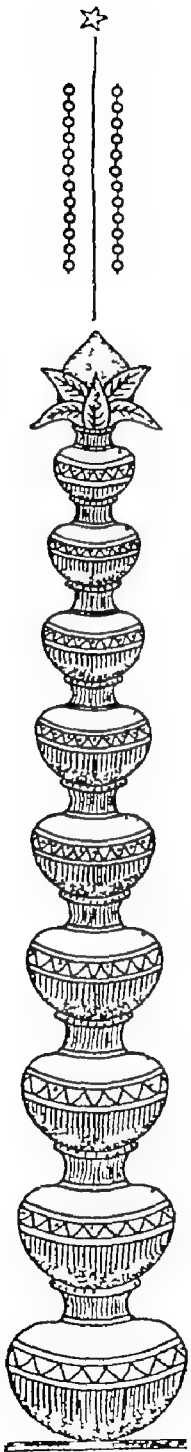
नब्बे करोड सागर के बाद भगवान सुविधिनाथ नवें तीर्थंकर हुए ।

नव करोड सागर के बाद दसवें तीर्थंकर भगवान शीतलनाथ का अभ्युदय हुआ ।

एक करोड सागर मे ६६ लाख २६ हजार एक सौ सागर कम होंगे । इतने समय बाद ग्यारवें तीर्थंकर भगवान श्रेयासनाथ हुए ।

इनसे ५४ सागर बाद भगवान वासु पूज्य बारहवें तीर्थंकर हुए ।

तीस सागर बाद श्री विमलनाथ नामक तेरहवें तीर्थंकर भगवान हुए ।

नव सागर बाद चौदहवें तीर्थंकर अनन्तनाथ का अभ्युदय हुआ ।

चार सागर बाद पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ हुए ।

१६ तीर्थंकर भगवान शान्तिनाथ

भगवान धर्मनाथ के बाद तीन सागर मे तीन पल्योपम कम थे । इतने समय बाद भगवान शान्तिनाथ का अभ्युदय हुआ ।

परम पवित्र परमात्मा भगवान शान्तिनाथ का भरतक्षेत्र मे किसी भी तीर्थंकर के नाम की अपेक्षा सर्वाधिक नाम जप होता है ।

'शान्ति' यह प्राणिमात्र की हार्दिक आकाक्षा की अभिव्यक्ति का शब्द है । भगवान शान्तिनाथ के रूप मे होकर यह शब्द और अधिक महत्त्व पा गया ।

भगवान शान्तिनाथ का स्मरण करते ही परम शान्ति के मौलिक आदर्श का सदर्शन हो जाया करता है । सचमुच 'शान्ति' इस नाम मे अद्भुत प्रेरणा है । इस कारण केवल मनचाही स्थिति के व्यक्तीकरण की इसमे सशक्तता होना नहीं, अपितु 'शान्ति' नामक तीर्थंकर के रूप में जो महामानव हो गया है उसका उदात्त चरित्र और उसे पाने की साधना आदि का समवेत सम्यक् बोध इस नाम के साथ रहा हुआ है ।

पुण्डरीकिणी नगर का राजा मेघरथ बडा दयालु और दृढधर्मी था । एक दिन थरथराता एक कबूतर उसकी गोद मे आ बैठा । उसके पीछे एक वधिक दौडता हुआ आया । वह उस कबूतर को पाने की चेष्टा करने लगा । मेघरथ ने कहा—कबूतर नही मिल सकता । बदले में तुम जो चाहो सो लो ! वधिक ने कहा—मुझे मांस चाहिए और वह भी ताजा जो केवल इस कबूतर से मिल सकता है । मेघरथ ने कहा—यदि तू ऐसा ही चाहता है तो लो मैं इसके बराबर अपना ताजा मांस ही दे देता हूँ । ऐसा कहकर तराजू मँगाकर वह कबूतर के बराबर अपना मांस काट-काटकर धरने लगा ।

दृश्य बडा रोमाचक था । हजारो व्यक्ति राजा को रोकने के यत्न मे थे । किन्तु राजा के सामने शरणागत कबूतर की रक्षा का प्रश्न था ।

शरीर के कई अग काटकर धर दिये । किन्तु कबूतर तुला ही नही । अन्त मे स्वय मेघरथ उस तराजू मे बैठ जाते हैं । वधिक, मेघरथ की इस महान दयालुता को देख अत्यन्त प्रभावित हो अपने वास्तविक रूप मे उपस्थित होता है । वह रूप देव का था । उसने कहा—मैं तुम्हारी करुणा का चमत्कार देखना चाहता था । सचमुच तुम करुणावतार हो, तुम्हारी जय हो । ऐसा कहकर देव निज स्थान पर गया । परम करुणा से मेघरथ ने शान्ति का महामार्ग प्राप्त कर लिया ।

वही मेघरथ सर्वार्थ सिद्ध विमानवासी देव होकर च्यवित हो हस्तिनापुर के महाराजा विश्वसेन की महारानी अचला की कुक्षि से एक दिव्य पुत्र के रूप में जन्मे, जिनका नाम 'शान्ति' रखा गया ।

'शान्ति' नामकरण के पीछे भी यह रहस्य था कि हस्तिनापुर और आसपास मे 'मृगी' नामक महामारी का बडा प्रकोप था । जब शान्तिनाथ गर्भ मे आये तभी से महामारी का आतक समाप्त होकर चारो ओर शान्ति व्याप्त हो गई । अत उस पुत्र का नाम भी 'शान्ति' रखा गया ।

भगवान शान्तिनाथ का आयुष्य एक लाख वर्ष का था । उनमे से पच्चीस हजार वर्ष उन्होंने सयम मे बिताये ।
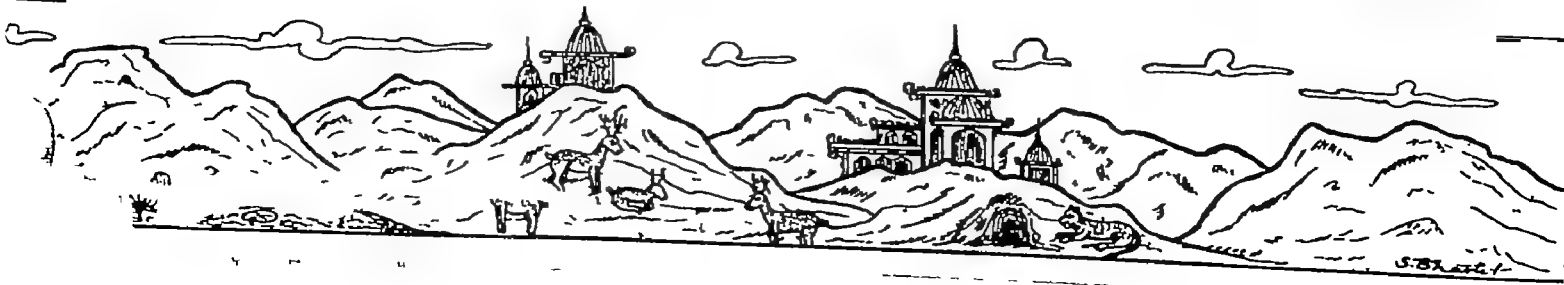
शेष पचहत्तर हजार वर्ष गृहस्थ रहे। उसमें योग्यावस्था मे विवाहित होकर राज्यशासन भी चलाया। ये पाँचवें चक्रवर्ती भी थे।

भगवान शान्तिनाथ के अर्धपल्योपम वाद भगवान कुन्थुनाथ सत्रहवें तीर्थंकर हुए।

एक हजार करोड वर्ष कम पावपल्य के बाद अठारहवें अरह तीर्थंकर हुए।

इनसे एक हजार करोड वप वाद उन्नीसवें मल्लीनाथ तीर्थंकर हुए। ये स्त्रीलिंग थे।

इससे चौवन लाख वर्ष वाद भगवान मुनि सुव्रत बीसवें तीर्थंकर हुए।

दशरथनन्दन मर्यादापुरुषोत्तम राम इसी युग की महान विभूति थे। श्री राम के आदश लोकोपकारी महान चरित्र का भारतीय जनजीवन पर आज भी जवरदस्त प्रभाव है। श्री राम आर्यसस्कृति का जीवन्त तत्त्व हैं, जो कभी अलग नही हो सकता।

परम विदुषी महासती सीता की गौरवगाथा भारतीय नारी जीवन की पवित्र थाती है जिसे आर्याङ्गना कभी भी विस्मृत नहीं कर सकती।

भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न भ्रातृत्व के अनूठे आदर्श हैं, जो भूले-भटके 'भाई' नाम के प्राणियो को सर्वदा सन्मार्ग बताते रहेंगे।

भगवान मुनिसुव्रत के छह लाख वप वाद इक्कीसवें भगवान नमिनाथ का अभ्युदय हुआ।

२२ भगवान अरिष्टनेमी

नमिनाथ भगवान को मुक्ति गये लगभग पाँच लाख वर्ष हुए। तीर्थ तो भगवान नमिनाथ का चल ही रहा था, किन्तु किसी दिव्य चेतना के अभाव मे एक शैथिल्य-सा व्याप्त था। ऐसी स्थिति मे 'सोरीपुर' के महाराजा समुद्रविजय के राजमहलो मे महारानी शिवादेवी की कुक्षि से एक महान आत्मा ने जन्म लिया, जिसका नाम अरिष्टनेमी रखा गया। कहते हैं, माता शिवादेवी ने अरिष्ट रत्नो से बने चक्र की नेमी का स्वप्नदर्शन किया, अत पुत्र का नाम अरिष्टनेमी रखा गया, जो सार्थक ही था।

अरिष्टनेमी जन्म से ही अवधिज्ञान, अनासक्ति, ससारोपेक्षा, आत्मोन्मुखी ध्यान आदि विशेषताओ से युक्त थे।

श्रीकृष्ण नेमीनाथ के चचेरे भाई थे। श्रीकृष्ण अवसर्पिणीकाल के नवें वासुदेव थे। वल, पुरुषार्थ और पराक्रम का समुद्र उनकी रग-रग मे ठाठें मारता था। उन्होंने अपने उत्कृष्ट वल-पौरुष से जरासन्ध और कस जैसे आततायियो से आर्य प्रजा को मुक्त किया।

किसी विशेष कारण से उन्होंने सोरीपुर का परित्याग कर द्वारिका में आकर निवास किया था। द्वारिका को देवताओ ने श्रीकृष्ण के लिए ही स्थापित किया था। वहीं कृष्ण का राज्याभिषेक हुआ और तीन खण्ड पर द्वारिका से ही शासन होता था।

श्रीकृष्ण इस वात से खूब अवगत हो चुके थे कि अरिष्टनेमी अद्भुत शक्ति और शौय के पु ज हैं। किन्तु वैराग्य मे रहते हैं। श्री अरिष्टनेमि का ससारातीत स्थिति में रमण करना श्रीकृष्ण के लिए चिन्ता का विषय था। वे अनुमान करते थे कि कभी ये मुनि वनकर चले जायेंगे। श्रीकृष्ण उन्हें सदा-सवदा अपने साथ रखना चाहते थे। जरासन्ध के युद्ध मे वे अरिष्टनेमि के प्रवल पौरुप को पहचान चुके थे। उनका विश्वास था कि यह शक्तिपु ज यदि मेरा रक्षक और साथी बना रहे तो मेरी तरफ कोई आँख उठाकर देखने की हिम्मत नहीं करेगा। अरिष्टनेमि को ससार से बाँधकर रखें, पर रखें कैसे? यह एक समस्या थी। उनकी निरीह वृत्ति, एकान्त प्रेम, गाभीय को चुनौती देना आसान बात नहीं थी।

उन्होंने अपनी महारानियो को स्थिति वताई। उन्होंने अरिष्टनेमि को भोगवाद में आकृष्ट करने का बीडा उठाया। एक दिन सामूहिक जलक्रीडा का आयोजन किया। नेमि को भी किसी तरह वहाँ तक ले गये। श्रीकृष्ण और उनकी अगनाओ की जलकेलि के मध्य नेमिनाथ को घेर लिया। किन्तु नेमिनाथ तो नितान्त अनासक्त थे। उन्होंने कोई रुचि नही ली। अङ्गनाओं ने कहा—'कुछ कन्याओ से विवाह कर ऐसे ही जलकेलियाँ रचाओ राजकुमार!" किन्तु राजकुमार नेमि तो ऐसे स्थिर वने रहे, मानो ये सारी वातें हवा को कही जा रही हो।
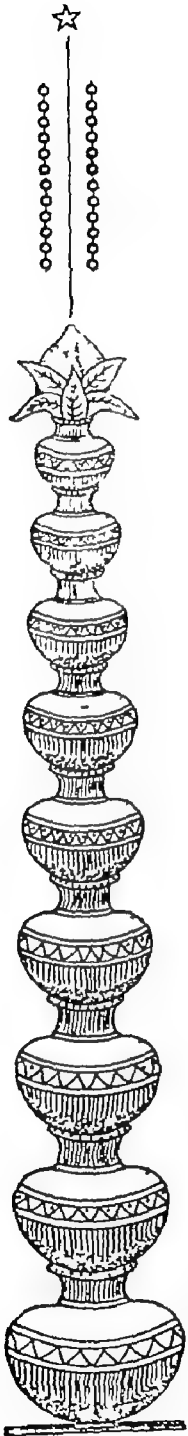
राजकुमार नेमि की अध्यात्म-दृष्टि को समाप्त करना आसान नही था। उनके प्रयत्न सफल नही हुए। अन्त मे श्रीकृष्ण ने उनका विवाह रच देना ही निश्चित किया। मथुरा के राजा उग्रसेन की राजकुमारी राजीमती को योग्य समझ श्रीकृष्ण ने लग्न निश्चित कर दिये। श्री नेमि के समक्ष श्रीकृष्ण आदि ने विवाह का प्रस्ताव रखा तो श्री नेमि ने अनमने भाव से उनकी वातें सुनीं। उत्तर मे मौन रहे तो उन्होंने इसका अथ स्वीकृति लिया और ठीक समय पर वरयात्रा की पूर्ण तैयारी कर श्री नेमि को दूल्हा वना रथ पर विठला दिया।

श्री नेमि के निर्विरोध रथ मे वैठने की सभी यादव कुल ने वडी खुशी मनाई।

वे समझ रहे थे, अब श्री नेमि बँध जाएंगे। वरात श्री कृष्ण के द्वारा अपूव उल्लास से सजाई वनाई गई थी। अत उसके वैभव का कहना ही क्या ?

मानव तो क्या, देवाङ्गनाएँ भी उस दृश्य को अपलक नेत्रो से देख रहे हैं। कहते ह, इन्द्र ने पहले ही सोच लिया, यह विवाह होने का नहीं। अत ब्राह्मण का रूप वनाकर वह श्रीकृष्ण के पास आया और कहने लगा—क्योजी ! विवाह का यह मुहूर्त्त किसने दिया ? इसमे तो अमङ्गल योग है। श्रीकृष्ण ने सुनते ही ब्राह्मण को अपने पास से भगा दिया। जाते हुए ब्राह्मण ने कहा—"यह शादी हर्गिज नहीं होने की।" किन्तु उस उल्लास ठाठ मे किसी ने उस तरफ ज्यादा ध्यान नही दिया।

वरात बहुत बडे समारोह के साथ मथुरा पहुँची। स्वागत भी उसी स्तर का हुआ। राजकुमारी राजुल के चारो ओर उमगें लहरा रही थी। सभी तरफ उल्लास और उत्साह का वातावरण था। नगरनिवासी वरात पर पुष्पवृष्टि कर स्वागत कर रहे थे।

श्री नेमिनाथ का रथ मन्थर गति से राजप्रासाद के प्रमुख द्वार की तरफ वढ़ रहा था। तभी श्रीनेमिनाथ की दृष्टि एक वाडे मे वन्द पशुओ की तरफ गई, जो करुण-क्रन्दन करते चिल्ला रहे थे। नेमिनाथ ने सारथि से पूछा—ये पशु यहाँ क्यो वन्द हैं ? सारथि ने कहा—आपकी वरात मे जो मासाहारी हैं उन्हे इनका भोजन दिया जाएगा।

सुनते ही, नेमिनाथ सन्न रह गये। उनके विचारो में एक नई क्रान्ति आई। सारथि से वे वोले—"मेरा रथ उलटा ले चल।"

सारथि ने कहा—नाथ, क्यो ? श्रीनेमि ने कहा—चन्द व्यक्तियो के आमोद-प्रमोद के लिये इतने जीवो का सहार, हत्याकाण्ड, मैं इस पाप को प्रोत्साहन नहीं दे सकता ! न मुझे शादी करनी है, न इन्हें कटवाना है।

रथ उलटा चल पडा। चारों ओर सनसनी फैल गई। वराती और हजारो नर-नारी दौडकर सामने आ खड़े हुए। स्वय राजा उग्रसेन राजकुमार को रोकने खडे थे।

भगवान नेमिनाथ ने कहा—आप सव की आत्मीयता का मैं आदर करता हूँ। किन्तु इस आर्यभूमि को इस मदिरापान और मासाहार के कलक ने कलुषित कर दिया है।

इसे हटाने के लिए हमे त्याग करना ही होगा। एक व्यक्ति की क्षणिक खुशी के लिये किसी जीव का सपूर्ण विनाश करना, यह घोर अज्ञान और क्रूरता है। मेरे विवाह के निमित्त इकट्ठे किए इन प्राणियो को मैं अभय देता हूँ, ऐसा कह नेमिनाथ वाड़े के निकट आये और उसके द्वार को खोल दिया।

उग्रसेन को धैर्य देते हुए नेमिनाथ ने कहा—आपकी वालिका कुमारिका है। उसका विवाह किसी अन्य से हो सकता है। मैं विवाह का अभिलाषी नही हूँ, मैं तो पहले से ही उपरत हूँ। यह कहकर श्री नेमिनाथ द्वारका चले आये और वर्षीदान देकर उन्होंने सयम स्वीकार कर लिया।

राजकुमारी राजुल, जिसने भाव के स्तर पर श्रीनेमि को अपना पति स्वीकार कर लिया था, श्रीनेमिनाथ के इस तरह चले जाने से वडा झटका खा गई। पहले तो अत्यधिक शोक ने उसे विलाप के सरोवर मे डुबो दिया, किन्तु ज्यो ही श्रीनेमिनाथ के अपूव त्याग का उसे स्मरण हो आया, उसने अपने में एक नयी स्फूर्ति अनुभव की। जो विकल विरहिणी वनकर तडप रही थी, अव सिंहिनी के समान वड़े शौर्य के साथ खडी हो गई।

पिता किसी अन्य सुयोग्य वर की तलाश मे थे। किन्तु राजुल ने स्पष्ट घोपणा कर दी—"जो पति की राह, वही पत्नी की।"

मुझे भी सयम पथ पर चलना है। ज्यो ही भगवान नेमिनाथ ने तीर्थ स्थापना की, राजीमती प्रथम साध्वी बनकर सामने आई।

भारत की आर्याङ्गनाओ के कितने उच्च आदश थे। सचमुच ऐसी सन्नारियो के महान उपक्रमो ने ही भारतीय सस्कृति का ताना-बाना बुना, जो हजारो वष चलेगा।

एक बार महासती राजुल गिरिनार पर्वत पर विराजित तीर्थंकर महाप्रभु के दर्शनार्थ जा रही थी। माग में वर्षा होने से एक गुफा मे उन्हें ठहरना पडा। वहाँ रथनेमि नामक एक साधु ध्यानस्थ था। एकाकी राजुल को वहाँ देख वह उस पर मुग्ध हो गया, उससे भोग-प्रार्थना करने लगा।

महासती राजुल ने अपने अनूठे आत्मज्ञान तथा गम्भीर वैराग्य से इतना प्रभावित किया कि वह अपनी भावनात्मक च्युति पर पश्चात्ताप करने लगा। इतना ही नहीं, वह सदा के लिए अपनी साधना में स्थिर हो गया।

भगवान नेमिनाथ चौदह दिन छह मास छद्मस्थ रहे। सयम के बाद पद्रहवें दिन उन्हे केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। कुल एक हजार वर्ष के जीवन में केवल तीन-सौ वष उनका कुमार जीवन चला। ७०० वर्ष सयमी रहे। भगवान नेमि अहिंसा, दया के सस्थापक त्याग के महान् आदर्श तथा भारतीय मुनि परपरा की मुकुट-मणि हैं। करुणाप्रेरित हो राजुल का परित्याग कर उन्होंने आर्यावर्त को एक नई दिशा दी। हम जितने वहाँ से भटक रहे हैं, उतने ही क्लेशो को निमन्त्रण दे रहे हैं।

भगवान नेमिनाथ के धर्मशासन के कुछ दिव्य रत्न

गजसुकुमार

गजसुकुमार श्रीकृष्ण के नन्हे भाई थे। यौवन की देहलीज पर पाँव रखा भी नही था कि भगवान नेमिनाथ के दुर्लभ सपर्क से उनमें वैराग्य ज्योति दमकने लगी। दृढ वैराग्य था। आखिर आज्ञा मिली। सयम लिया और भिक्षु की प्रतिमा नामक तप की साधना के सन्दर्भ में श्मशान मे ध्यान कर बैठे, तभी सोमल नामक ब्राह्मण ने गजसुकुमार मुनि को देखकर पहचान लिया। वह उन्हें देखते ही बडा क्रोधित हुआ। बात यह थी कि गजसुकुमार का सम्बन्ध इसकी कन्या सोमा से हो चुका था। सोमल इस बात से रुष्ट था कि इस दुष्ट ने सयम लेकर मेरी कन्या का तिरस्कार कर दिया। मैं इसे जीवित नही छोडूगा। ऐसा क्रूर निश्चय कर उसने मुनि के सिर पर दहकते अगारे डाल दिये। अगारे अच्छी तरह टिकें, इसके लिये उसने सिर पर कुछ गीली मिट्टी से एक घेरा बना दिया।

अगारे अच्छी तरह टिक गये। मुनि का सुकोमल सिर उन ज्वाज्वल्यमान अगारो से सिगडी की तरह जल उठा। मुनि देहभाव का त्याग कर चुके थे, आत्मरमण मे थे। अनन्त वेदना थी, किन्तु मुनि का ध्यान वेदना से परे था। आत्मलीनता की पराकाष्ठा मे मुनि को केवलज्ञान प्रकट हो गया और उसी समय मुनि मुक्ति को भी पा गये।

बडा अनोखा चरित्र रहा गजसुकुमार मुनि का, उठे, बढे और पहुँच गये अपने स्थान को।

ढढण मुनि

ढंढण मुनि श्रीकृष्ण की ढढणा राणी के पुत्र थे। प्रभु के सदुपदेश से मुनि बने। पूर्वार्जित अन्तराय के उदय से उनको आहार नही मिलता था, यदि उनके साथ कोई होता तो उस मुनि को भी आहार-प्राप्ति नही होती।

यह स्थिति देख ढढण मुनि ने प्रतिज्ञा की। मुझे केवल मेरे प्रभाव (लब्धि) से मिला आहार ही ग्रहण करूंगा, अन्यथा त्याग। ऐसी प्रतिज्ञा से मुनि के तप होने लगे।

एक दिन श्रीकृष्ण ने मध्य बाजार मे मुनि को वन्दन किया। एक व्यक्ति ने देखा, मुनि बड़े प्रभावशाली हैं, श्रीकृष्ण भी झुकते हैं, उसने साग्रह निवेदन कर लड्डू वहराए। मुनि ने समझा—यह तो मेरे प्रभाव के ही, किन्तु स्थान पर भगवान ने बताया कि ये श्रीकृष्ण के वन्दन-प्रभाव से मिले, तो ढढण मुनि उन्हें एकान्त मे परठने गये। वहीं भावो की श्रेष्ठता से उन्हें केवलज्ञान हुआ।

थावच्चा पुत्र

एक हजार पुरुषों सहित थावच्चा पुत्र ने भगवान नेमिनाथ के पास सयम ग्रहण किया। इन्होंने शुक आदि

एक हजार परिव्राजकों को प्रतिबोधित कर जिन-माग मे दीक्षित किया। शुक ने शैलक पथक आदि पाँच-सौ को प्रतिवोध देकर जिन शासन का श्रमण धर्म प्रदान किया।

२३ भगवान पार्श्वनाथ

भगवान अरिष्टनेमि के मोक्ष जाने के वाद तिरासी हजार सात-सौ पचास वर्ष वाद भगवान पार्श्वनाथ नामक तेवीसवें तीर्थंकर से हमारा भारत क्षेत्र धन्य हुआ।

भारत का प्रसिद्ध नगर वाराणसी उनका जन्मस्थान है। तत्कालीन राजा अश्वसेन तथा महारानी वामा के वे सुपुत्र कहलाये। पौष कृष्ण दशमी उनका जन्म दिन था।

अनेको विशेषताओ से भरपूर भगवान पार्श्व वचपन से ही वड़े निर्भीक तथा प्रभावशाली व्यक्तित्व के धनी थे।

एक वार वाराणसी के निकट एक तपस्वी चारो तरफ अग्नि जलाकर वीच मे वैठ कर 'बाल तप' कर रहा था। उसका नाम कमठ था। उसकी कष्टसहिष्णुता से जनगण वडा प्रभावित था। एक दिन पार्श्वनाथ वहाँ पहुंचे। उन्होंने अपने ज्ञान से देखा—जलते काष्ठ मे एक नाग भी जल रहा है। उन्होंने उस काष्ठ को तुरन्त वाहर खीचकर जलते-तड़पते नाग को परमात्मा का शरण दिया। कहते हैं, नाग मरकर 'धरणेन्द्र' नामक नागजाति का भवन-पति-देव हुआ।

हजारो उपस्थित व्यक्ति पार्श्वनाथ की तत्परता और करुणा से वडे प्रभावित हुए। पार्श्व ने कहा—"तप तो स्व पर कल्याणक होता है। जिस तप मे किसी प्राणी की हिंसा होती हो, वह तप कैसे हो सकता है? आग जीव-हिंसा का कारण है। तप के लिए किसी आग की आवश्यकता नही रहती।" पार्श्व ने आगे कहा—"कमठ! सच्चा तप इन्द्रियदमन तथा आत्मलीन रहना है। आग मे तपने से किसी का कल्याण नहीं हो सकता।"

भगवान पार्श्व के इस उद्‌वोधन से उपस्थित जनता तो अत्यन्त प्रभावित हुई। किन्तु कमठ के हृदय मे क्रोधाग्नि प्रज्ज्वलित हो गई। वह मन ही मन पार्श्वनाथ का कट्टर दुश्मन वन गया।

जब भगवान पार्श्वनाथ सयम लेकर आत्मसाधना मे प्रवृत्त हुए तव तक कमठ मृत्यु पाकर 'मेघमाली' नाम का असुर बन गया था। उसने हाथी, सिंह, विच्छू के रूप वना-वनाकर भगवान को कई कष्ट दिये।

अन्त में उसने भयकर पानी बरसा कर भगवान को डुवो देना चाहा तो धरणेन्द्र ने आकर भगवान के पाँवो के नीचे कमलासन तथा सिर पर फण कर दिया। कमलासन तैरता रहा और फन-छाया के कारण वृष्टि-प्रहार भी नहीं हो सका।

उसने मेघमाली को उसकी अधमता और भगवान की महानता का परिचय दिया। धरणेन्द्र ने कहा—भगवान तो इसी भव में मुक्त हो जाएँगे, किन्तु तू इन पर द्वेष-बुद्धि रखकर अपने लिये नरक का निर्माण क्यो कर रहा है? धरणेन्द्र के सद्‌वोध से मेघमाली की बुद्धि स्वस्थ हुई।

भगवान पार्श्वनाथ का कुल सौ वर्ष का आयुष्य था। उसमे सित्तर वर्ष सयमी जीवन रहा।

सम्मेत शिखर पर्वत पर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। तैतीस मुनि और भी थे, जिन्होने भगवान पार्श्व के साथ मोक्ष प्राप्त किया।

अर्धकैकय देश के राजा प्रदेशी को परम नास्तिक से परम धार्मिक बनाने वाले केशी श्रमण मुनि पार्श्वनाथ के ही सत-रत्न थे।

श्रावस्ती मे भगवान गौतम स्वामी के साथ परम आध्यात्मिक धर्मचर्चा करने वाले केशीकुमार श्रमण मुनि भी पार्श्वनाथ के प्रमुख श्रमण रत्न थे। इन्होने चातुर्याम के स्थान पर पच,महाव्रत रूप भगवान महावीर की शासन-पद्धति को स्वीकार कर लिया था।

☆☆
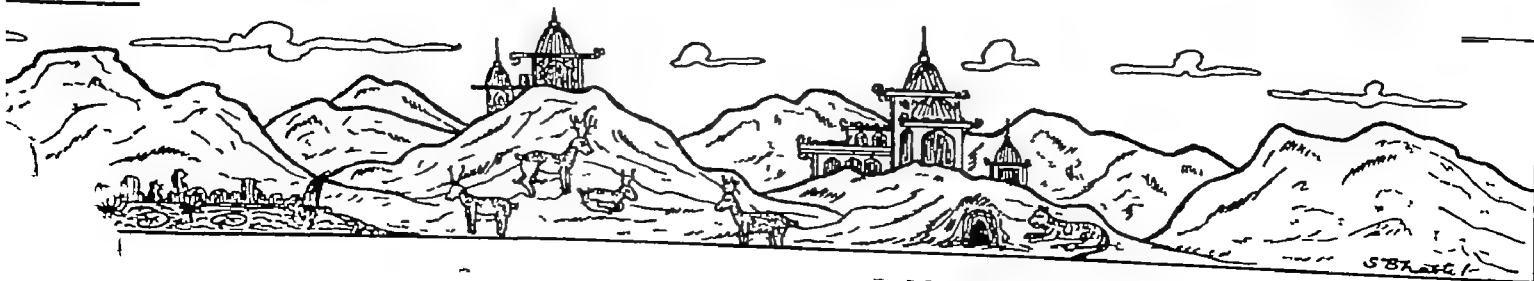
२४. भगवान महावीर

भगवान पार्श्वनाथ के २५० वर्ष पश्चात् अवसर्पिणी काल के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी का अभ्युदय हुआ। यह समय ईसा पूर्व छठी शताब्दी में होता है।

देशकाल-परिस्थितियाँ

भारत ही नही लगभग सम्पूर्ण विश्व मे उस समय धार्मिक, सामाजिक एव सास्कृतिक दृष्टि से एक अधेरा सा व्याप्त था।

विश्व का सर्वश्रेष्ठ व्यक्तित्व, जो मानव था, वह नैतिक दृष्टि से अपने महत्त्व को लगभग खो चुका था। हिंसा और अधिनायकवाद का जबर्दस्त बोलबाला था। कमजोर वर्ग शक्तिशालियो के चगुल मे था।

ब्राह्मण वर्ग, जो धर्म और नैतिकता का प्रतिनिधित्व करता था, अपने दायित्व को लगभग भूल चुका था। धर्म-अधर्म का पर्यायमात्र था।

यज्ञो मे होने वाली हिंसा धर्म के सर्वोच्च सिंहासन पर प्रतिष्ठित थी। शूद्र और स्त्री समाज को शास्त्रो के अध्ययन की रोक थी। जात्यभिमान चरम सीमा पर था।

ऐसा उस समय भारत मे ही नही हो रहा था, विश्व के अन्य देशो, भूखडो मे भी उनके परिवेशानुसार कुछ इसी तरह की निकृष्टताएँ बन रही थीं, चल रही थी।

लाओत्से (चीन), पाइथागोरस, सुकरात (यूनान), जरथुस्त्र (ईरान) आदि विश्व के अन्य क्रान्तिकारी महापुरुषो के अभ्युदय का भी लगभग वही समय था। उनके वहाँ की परिस्थितियाँ भी कुछ ऐसी ही तमसपूर्ण थी।

परिवर्तन प्रकृति का ध्रुव धर्म है। दिन के बाद रात तो रात के बाद दिन यह क्रम है। पतन के बाद उत्थान तो ध्वस के बाद निर्माण अनायास ही होता है।

महावीर के अभ्युदय के समय आर्यावर्त के लोकजीवन का पतनपूर्ण अध्याय चल रहा था और वह लगभग चरम स्थिति पर था।

जन्म एक प्रकाश-पुज का

भारतीय तत्त्व-चिन्तन मे 'आत्मा' अविनाशी तत्त्व है। भगवान महावीर, जिन्होंने पतनोन्मुख भारतीय जीवन को एक चिर सत्य प्रदान कर उसे ऊर्ध्वगामी होने को प्रेरित किया, वे महावीर केवल महावीर-भव की साधना का ही परिणाम नही थे, महावीर वाले जीवन से पूर्व अनेको भव उन्होने साधना मे बिताए। महावीर, देवानन्दा की कुक्षि से अवतरित हुए, उससे पूर्व वे 'प्राणत' नामक दसवें स्वर्ग मे देव थे।

वहाँ से आषाढ़ शुक्ला षष्ठी को च्यवित होकर ब्राह्मण कुण्ड ग्राम के विख्यात विद्वान द्विजश्रेष्ठ श्री ऋषभदत्त की धर्मपत्नी श्री देवानन्दा के गर्भ मे जन्मे। उस रात्रि मे देवानन्दा ने प्रसिद्ध चौदह स्वप्न देखे।

जिस रात्रि को भगवान महावीर का देवानन्दा के गर्भ मे जन्म हुआ, देवराज इन्द्र ने इस महान घटना को अपने अवधिज्ञान द्वारा जान लिया और चरम तीर्थंकर भगवान महावीर के अभ्युदय का स्वागत करते हुए अपने सिंहासन से उतरकर उसने प्रभु को नमस्कार किया।

देवराज इन्द्र ने भगवान महावीर को ब्राह्मण कुलोत्पन्न देखकर बड़ा आश्चर्य अनुभव किया। उसका ऐसा विश्वास था कि तीर्थंकर वीरोचित कुलो मे ही जन्म लिया करते हैं। किन्तु ब्रह्मकुल तो वीरोचित नही, ब्रह्मकर्मोचित कुल माना जाता है। महावीर का ब्रह्मकुल मे आना इन्द्र के लिए आश्चर्यजनक नही, अपितु चिन्तनीय भी था। इन्द्र ने हरिणैगमेषी देव का आह्वान किया और देवानन्दा के गर्भ को परिवर्तित करने का आदेश दिया।

भगवान महावीर श्री देवानन्दा के गर्भ मे ८२ दिन रात रहे। ८३वी रात्रि मे देव ने इन्द्र की आज्ञा के अनुसार महावीर को श्री देवानन्दा के गर्भ से लेकर क्षत्रिय कुण्ड ग्राम के वीर क्षत्रिय श्रेष्ठ सिद्धार्थ की पत्नी त्रिशला की

कुक्षि मे स्थापित किया और त्रिशला का गर्भ देवानन्दा की कुक्षि मे अवस्थित कर दिया। यह काय दैविक शक्ति से इतना शीघ्र और सूक्ष्मता से हुआ कि देवानन्दा या त्रिशला किसी को भी इस परिवर्तन की जानकारी नही हो सकी।

गर्भापहरण एक आश्चर्य है, न कि असभव। आधुनिक वैज्ञानिको ने गर्भ-परिवतन के कई सफल ऑपरेशन किये हैं। अत देव द्वारा गर्भ-परिवर्तन को असत्य कहना अनुचित है।

श्री देवानन्दा को अपने गर्भापहार का ज्ञान तब हुआ, जब उसे उसी रात्रि मे ऐसा स्वप्न आया कि उमके चौदह स्वप्न मह से निकलकर कही विलीन हो गये। इस अशुभ स्वप्न का उसे बडा खेद हुआ।

उसी रात्रि मे त्रिशला ने चौदह स्वप्न देखे और उसी दिन से उसकी खुशियाँ बढने लगी।

महावीर जब गर्भ मे थे, उन्हें अवधि नामक दिव्य ज्ञान भी था। उन्होंने सोचा—सभवत मेरे हिलने-डुलने से माता को कष्ट होता होगा। उन्होने अपने को स्थिर कर दिया। किन्तु इसका परिणाम विपरीत रहा। गर्भ की क्रिया स्थगित होने से माता त्रिशला ने समझा—मेरा गभ नष्ट हो गया, तभी वह चुप है। बस, इस कल्पना से ही उसे असीम परिताप होने लगा।

महावीर ने माँ की तडपन देखी तो वे द्रवित हो गये। उन्होंने हिलना-डुलना तो शुरू किया ही, साथ ही निश्चय किया कि माता-पिता की उपस्थिति मे मेरा दीक्षित होना इनके लिए परिताप का कारण होगा। अत इनके देहावसान के बाद ही मैं सयमी बनूँगा।

गर्भ की सक्रियता को पाकर त्रिशला का मन-मयूर नाच उठा। गभ-काल की परिपूर्णता होने पर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी की अर्द्धरात्रि मे भगवान महावीर का शुभ जन्म हुआ।

जिस समय शिशु महावीर का जन्म हुआ, एक क्षण के लिए त्रिभुवन मे प्रकाश की एक किरण फैल गई। एक क्षण के लिए नारको का भी कष्ट-उत्पीडन रुक गया।

नवजात प्रभु के सुन्दर-सुकुमार मुख-मडल पर ज्योतिमयी आभा लहरा रही थी, जिसे देखकर माँ का मन-कमल खिल-खिल-सा गया।

जन्माभिषेक

परम्परानुसार देवराज इन्द्र, अन्य देवतागण और अप्सराएँ आईं, उन्होंने भगवान का जन्मोत्सव मनाया। क्षत्रिय कुण्ड के सभी नर-नारी भी उसमे सम्मिलित थे।

इन्द्र ने अपने पाँच रूप बनाकर प्रभु को अपने हाथो मे लिया। माँ त्रिशला के पास उस समय देवकृत प्रति-रूप मात्र था। इन्द्र देवों सहित भगवान को सुमेरू पर ले गया और उनका जन्माभिषेक किया।

इन्द्र ने सोचा—भगवान का कोमल तन कहीं जल-धारा से खेदित न हो जाए। अत जल-धारा हल्की फुहार-ही हो। इन्द्र के प्रस्तुत विचारो को भगवान ने जाना तो उन्होंने उसको अशकित करने के लिए वाम अगुष्ठ को सुमेरु पर दबाया, जिससे सारा सुमेरु काँप उठा।

इन्द्र ने पहले तो यह किसी दुष्टदेव का उपद्रव समझा, किन्तु ज्ञान द्वारा देखने पर उसे अपनी भूल समझ में आ गई।

उसने भगवान को साधारण शिशुओ की तरह समझने की जो भूल की थी, उसकी मन ही मन प्रभु से क्षमा-याचना की।

नामकरण

जब से शिशु का जन्म हुआ, सिद्धार्थ के वैभव, सत्ता, सुयश और स्वास्थ्य में श्रीवृद्धि होने लगी, अत शिशु का नाम 'वर्द्धमान' रखा गया।

बाल-क्रीडाएँ

स्वभाव से सौम्य तथा गभीर होते हुए भी महावीर समवयस्क बच्चों के मनोविनोद के लिए क्रीडाएँ कर लिया करते थे।
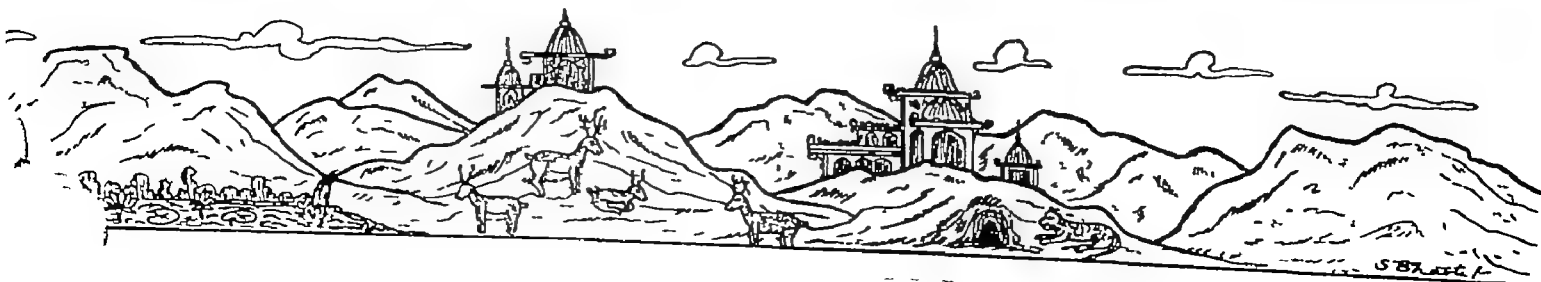
एक बार महावीर ने एक वृक्ष से लिपटे सर्प को निर्भयतापूर्वक पकड़ कर एक तरफ छोड़ दिया। एक देव महावीर के बल-पौरुष को परखने बच्चे का रूप बनाकर बालमंडली मे घुस गया और उनके साथ खेलने लगा। बच्चे एक-दूसरे के कंधे पर बैठकर उस युग का प्रसिद्ध खेल 'संकुली' खेल रहे थे। उस छद्मदेव ने महावीर को सात ताड़ जितना ऊँचा बना लिया। सारे बच्चे डर के मारे चिल्लाने लगे। किन्तु महावीर निर्भय थे। उन्होंने देव की पीठ पर एक मुष्टि-प्रहार किया। देव का विकृत रूप विलीन हो गया। वह महावीर के चरणो मे नतमस्तक हो क्षमा-याचना करता हुआ स्वस्थान सिधाया।

सुविज्ञ शिशु

महावीर कुछ योग्य अवस्था मे आये तो सिद्धार्थ ने एक विद्वान को उन्हें विद्याध्ययन कराने को नियुक्त किया। कहते हैं—इन्द्र ने देखा, ये लोग कितने अनजान हैं। जो त्रयज्ञानधारी भगवान त्रिभुवन को सबोधन देने मे समर्थ हैं, उन्हें ही साधारण बालक की तरह पढ़ाने का यत्न कर रहे हैं।

देवराज इन्द्र ब्राह्मण बनकर उस समय वहाँ उपस्थित हुआ और महावीर से अद्भुत प्रश्न किये जिनके समाधान महावीर ने स्पष्ट रूप से दिये।

कलाचार्य यह देख-सुनकर दग रह गया। उसने नमस्कार करते हुए कहा—ऐसे सुविज्ञ शिशु को मैं क्या ज्ञान दूँ! मैं तो इनके समक्ष अल्पज्ञ हूँ!

शिशु साक्षात् सरस्वती-पुत्र है। असीम ज्ञान-राशि स्वरूप है। इतना ही नही, विश्व मे इसकी तुलना का ज्ञानी मिल पाना ही कठिन है।

यह सुनकर सिद्धार्थ को महावीर की लोकोत्तरता का सम्यक् बोध हुआ।

विवाह भी

निरन्तर उपराम वृत्ति मे रमण करने वाले महावीर को भी माता-पिता के आग्रह से लोक-व्यवहार का प्रचलन तथा भोगावली कर्मोदय ने विवाह के बन्धन मे बाँधा। उनकी पत्नी का नाम यशोदा था। वह समरवीर सामन्त की पुत्री थी। यशोदा ने एक कन्या-रत्न को भी जन्म दिया। उसका नाम प्रियदर्शना था, जिसका विवाह जमाली नामक क्षत्रिय के साथ किया गया।

संयम के पथ पर

जब भगवान महावीर २८ वर्ष के थे, उनके माता-पिता का स्वर्गवास हो गया।

आर्यावर्त के लोक-जीवन मे धर्म के नाम पर जो अंधविश्वास और हिंसा फैले हुए थे, उन्हें देखकर तथा आत्मा की अनन्त गहराइयों मे पहुँचकर जीवन की वास्तविक सिद्धि पाने को महावीर संयमयुक्त एकांत चाहते थे।

वे स्वयं अपने जीवन को आध्यात्मिक ऊँचाइयों तक पहुँचाकर लोक-जीवन को पापों से मुक्त करना चाहते थे। महावीर ने अपने परिजनो के समक्ष गृह-त्याग कर संयमी होने का प्रस्ताव रखा, जिसे परिजनो ने दृढता के साथ ठुकरा दिया। महावीर चाहते थे कि परिवार के साथ अब तक मेरा जीवन अनुस्यूत रहा है। अत: इनकी अनुमति लेकर ही आगे कदम बढ़ाना चाहिए।

वे उनको दु:खी नही करना चाहते थे। महावीर के बडे भाई थे नन्दिवर्द्धन। उन्होंने दो वर्ष और रुकने का आग्रह किया, जिसे प्रभु ने स्वीकार किया और निवृत्ति प्रधान जीवन जीने लगे।

इस बीच प्रभु ने ३८८८०००००० स्वर्ण मुद्राओ का दान दिया।

दो वर्ष का समय पूर्ण हुआ। उस समय भगवान की उम्र ३० वर्ष की थी। बडी दृढता से साथ उन्होंने संयम मार्ग पर कदम बढ़ाया।

सर्प जिस तरह केंचुली का परित्याग कर सभी तरह से मुक्त हो जाता है उसी तरह महावीर भी सांसारिक बंधनो से सर्वथा मुक्त हो गये।

अश्रुपूरित हजारो आँखें भगवान को अपलक नेत्रो से निहार रही थी। प्रभु नितात निर्मोह भाव मे रमण करते हुए वन की ओर चले गये।

उपसर्ग और भगवान का असीम धैर्य

भगवान कुमारग्राम के बाहर ध्यानस्थ थे। वहाँ ग्वालो के बैल कही इधर-उधर चले गये। ग्वालो ने भी भगवान को ही चोर समझकर पीटना चाहा। किन्तु देवराज इन्द्र ने उपस्थित होकर ग्वालो को रोक दिया। देवराज इन्द्र ने भगवान से आग्रह किया कि हम आपके कष्टो का निवारण करते रहे, इसके लिए अनुमति दें। इस पर प्रभु ने कहा—जिन, स्वय ही अपने कर्मों का क्षय कर सकते है, सब सहकर अपनी साधना सिद्ध करते हैं, वे किसी की सहायता नही लेते।

कुछ विशेष प्रतिज्ञाएं

भगवान महावीर अपने साधना के क्षेत्र मे प्रखर वीर की तरह उतरे उन्होने कही भी दीनता का आश्रय नही लिया।

"मोराक सन्निवेश" मे एक आश्रम मे ठहरे थे। कुलपति ने बडे प्रेम से महावीर को निवासार्थ एक कुटिया दी थी। महावीर तो अपने ध्यान मे मग्न थे, वे अपने देह की सुधि भी कम ही लेते तो कुटिया की तरफ उनका ध्यान होने का तो प्रश्न ही नही था। कुटिया के घासफूस को गोएँ चरने लगी तो तापस कुलपति ने महावीर को कहा—आपको अपनी कुटिया की तो समाल करनी चाहिए। कुलपति के कहने का आशय महावीर समझ चुके थे। उन्होंने वहाँ से विहार कर दिया और प्रतिज्ञाएँ कीं—

(१) किसी को नही सुहाए, ऐसे स्थान पर नही रहूँगा।
(२) सदा ध्यान करूँगा।
(३) मौन रहूँगा।
(४) हाथ में आहार लूगा।
(५) गृहस्थो का विनय नही करूँगा।

यक्ष का उपद्रव और स्वप्न

भगवान अस्थिग्राम के बाहर शूलपाणी यक्षायतन मे ठहरे थे। पुजारी इन्द्र शर्मा ने उपद्रव की आशका व्यक्त की किंतु प्रभु निर्भय ध्यानस्थ हो गये।

रात्रि के प्रथम प्रहर मे ही यक्ष ने महावीर को कष्ट देना प्रारम्भ कर दिया। उसने हाथी बनकर महावीर को शूल चुभोए, पिशाच बनकर नखो से महावीर के शरीर को नोचा। सर्प बनकर उनके अग-प्रत्यगो पर डक लगाये किंतु भगवान महावीर, सुमेरु की तरह अडिग रहे।

भगवान की स्थिरता से 'यक्ष' का हृदय परिवर्तित हो गया। वह भगवान की स्तुति करने लगा। भगवान को रात्रि के अन्तिम प्रहर मे जब मुहूर्त्त भर रात्रि शेष रह गई तनिक निद्रा आई, उसमे दश स्वप्न देखे—

(१) पिशाच को हाथो से पछाडा।
(२) श्वेत पुंस्कोकिला।
(३) विचित्र पुंस्कोकिल।
(४) दो रत्न मालाएँ।
(५) श्वेत गो वग।
(६) विकसित पद्म-सरोवर।
(७) भुजाओ से महा समुद्र तैरा।
(८) सहस्र किरण सूर्य देखा।
(९) अपनी आंतो से मानुषोत्तर पर्वत को वेष्टित किया।
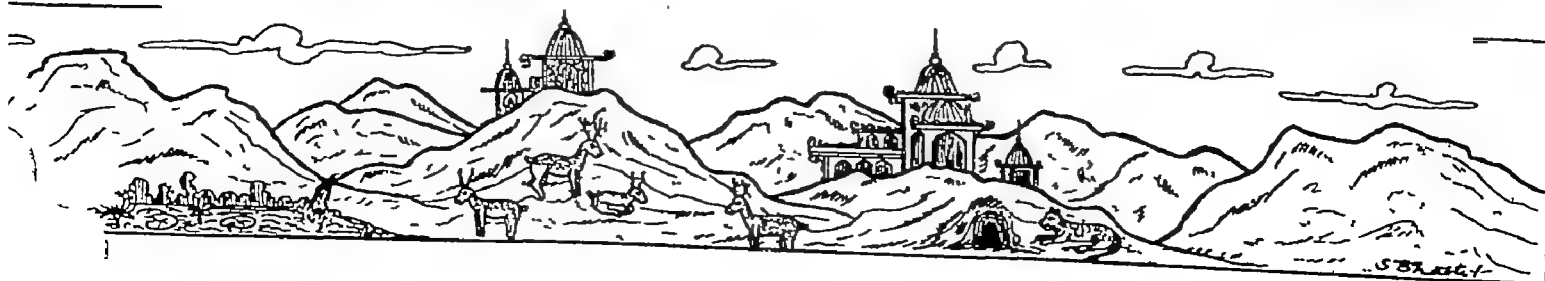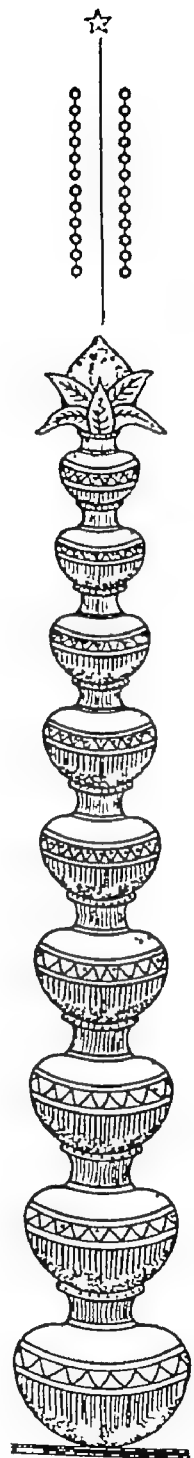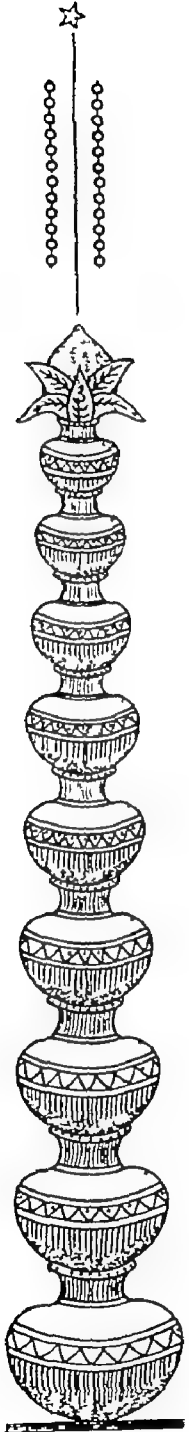
(१०) अपने आपको मेरु पर्वत पर स्थित किया।

प्रातःकाल नैमेत्तिक ने स्वप्नों का परिणाम प्रकट करते हुए कहा—

(१) मोह का अन्त होगा।
(२) शुक्ल ध्यान प्राप्त होगा।
(३) विविध श्रुत ज्ञान की देशना प्रकट होगी।
(४) साधु-श्रावक धर्म रूप द्विविध धर्म की प्ररूपणा होगी।
(५) चतुर्विध संघ की स्थापना होगी।
(६) देव सेवा करेंगे।
(७) संसार सागर पार करेंगे।
(८) कैवल्य ज्योति प्रकट होगी।
(९) सम्पूर्ण मनुष्य लोक तक कीर्ति फैलेगी।
(१०) लोक में सर्वोत्तम धर्मोपदेश करेंगे।

चौथे स्वप्न का परिणाम नैमेत्तिक को नहीं सूझा, स्वयं प्रभु ने बताया।

एक दीन पर दया

भगवान मोराक पधारे। भगवान के एक भक्त देव 'सिद्धार्थ' ने प्रभु को अतीत अनागत के ज्ञात होने की बात प्रकाशित करदी।

प्रभु तो ध्यानस्थ थे किन्तु देव सभी के प्रश्नों का उत्तर देता!

वहाँ एक अच्छंदक नैमेत्तिक था। प्रभु के प्रबल प्रभाव से उसका व्यवसाय समाप्त हो गया। वह प्रभु के सामने आकर अपना दुःख रोने लगा। प्रभु ने उसकी पीडा को पहचान कर तत्काल वहाँ से विहार कर दिया।

वस्त्र अटक गया

प्रभु ने संयम लिया उस समय देवों ने देवदूष्य वस्त्र प्रभु पर डाल दिया था। वह वस्त्र प्रभु के तन पर था, एक ब्राह्मण उस वस्त्र को पाने को, भगवान के साथ-साथ चल रहा था। अचानक एक जगह-वस्त्र काँटों में अटक गया प्रभु अवस्त्र हो गये। वह वस्त्र ब्राह्मण ने उठा लिया।

चण्डकौशिक को प्रतिबोध

प्रभु उत्तर वाचाला की ओर पधार रहे थे, मार्ग में ग्वालों ने प्रभु को रोका, उन्होंने कहा—आगे बड़ा भयंकर सर्प है, जिसकी विष-फुत्कारों से वृक्ष भी ठूँठ हो चुके हैं झरने सूख गये हैं। वातावरण विषमय हो चुका है। गगनगामी पक्षी भी इस ओर निकल आए तो मृत्यु पा जाते हैं, अतः आप उधर न जाएँ किन्तु भगवान ने चण्डकौशिक को भव्य समझकर उसके अभ्युदय हेतु उधर ही विहार किया। भगवान ने उसी वन में ध्यान किया जहाँ चण्डकौशिक का निवास था।

चण्डकौशिक ने तमतमाकर भगवान के अँगूठे पर डंक लगा दिया।

डंक लगने पर रक्त निकलना चाहिए था किन्तु निकली "दुग्ध" जैसी धवल धारा।

किसी कवि की भाषा में इस परिवर्तन का कारण था कि—

> एक पुत्र का प्यार ही मां के स्तन को करता दुग्धागार।
> सब जीवों के प्यार निधि का, तन क्यों नहीं हो पय भंडार॥

जहरीली डंक के प्रत्युत्तर में भगवान ने उसे जाग्रत और शांत होने का संदेश दिया।

चण्डकौशिक यद्यपि विष-कीट था किन्तु प्रभु के मार्मिक संदेश का उसके अन्तस्थल पर चमत्कारिक प्रभाव हुआ। उसी दिन से उसने हिंसा परित्याग कर दिया।

तूफानों के बीच

प्रभु का विहार सुरभिपुर की ओर हो रहा था मार्ग मे गगा वह रही थी। माग अवरुद्ध था, नाव ही उस तट जाने का साधन था। प्रभु नाव मे ध्यानस्थ हो बैठे। सुदष्ट्र नामक एक दुष्ट देव ने एक भयकर उपद्रव खडा कर दिया। नाव के चारो ओर तूफान उमड आये, नाव भयकर सकट मे गिर गई, अन्य जितने भी व्यक्ति नाव मे बैठे थे कांपने लगे। तभी सवल कवल नामक प्रभु के भक्तदेवो ने उस उपसर्ग का निवारण किया। भयकर तूफानो के बीच भी प्रभु स्थिर थे।

चरण-चिन्ह

भगवान स्थूणाक पधारे थे। पुष्य नामक एक चिन्ह विशेपज्ञ ने भगवान के चरण-चिन्ह देखे, उसने समझा कोई चक्रवर्ती है। वह यदि मिल जाए तो मुझे अच्छी राशि दक्षिणा मे मिलेगी। वह चरण चिन्हो के सहारे भगवान तक पहुंचा। निष्परिग्रही प्रभु को एक भिक्षुक के रूप मे देखकर उसे वडा दुःख हुआ। उसने कहा चिन्ह-शास्त्र झूठा ह, उसने ग्रन्थों को नदी मे बहा देने का निश्चय किया था तभी देवराज इन्द्र ने उपस्थित होकर उससे कहा "दैवज्ञ, ग्रन्थो मे अश्रद्धा मत करो, ये कोई सामान्य भिक्षुक नही है। साक्षात महाप्रभु तीर्थंकर हैं ये धर्म चक्रवर्ति है, अत तुम्हारा निणय दूपित नहीं है। इस तरह पुष्य का समाधान हो गया। उसने प्रभु की अभिवन्दना की।

गोशालक मिला

एक वार भगवान राजगृह के तन्तुवायशाला मे ठहरे हुए थे, मखली पुत्र गोशालक भी वही था। प्रभु जहाँ पारणा करते, वहाँ पच दिव्य प्रकट होते, इससे गोशालक वडा प्रभावित हुआ। एक दिन उसने भगवान से अपनी भिक्षा के लिये पूछा। प्रभु ने कहा—खट्टी छाछ, कोदो का भात और खोटा रुपया मिलेगा और वैसा ही मिला। इससे गोशालक को भगवान के अतीन्द्रिय ज्ञान का परिचय मिल गया। प्रभु 'कोल्लाग' पधारे, गोशालक भी वही पहुँचा और उसने प्रभु को अपना धर्माचाय स्वीकार किया।

खीर नहीं मिलेगी

स्वणखल के पास एक जगह क्षीर पक रही थी। गोशालक ने भगवान से ठहरने का आग्रह किया क्योकि क्षीर मिलने की सम्भावना थी किन्तु भगवान ने कहा—क्षीर नही मिलेगी। प्रभु तो आगे वढ गये किंतु गोशालक ठहरा किंतु हँडिया फूट जाने से क्षीर नष्ट हो गई और गोशालक की आशा मन की मन मे धरी रह गई।

चोर समझ लिया

भगवान चौराक सन्निवेश पधारे। वहाँ नगर रक्षको ने उन्हें कई यातनाएँ दी किंतु प्रभु मौन रहे। जब यह सूचना नगर मे फैली तो उत्पल नैमेत्तिक की बहनें "सोमा और जयन्ति" ने जब यह सुना, उन्होने भगवान को देखते ही अपने निमित्त से जनता को भगवान का सही परिचय दिया।

पहरेदारो ने अपनी भूल स्वीकार कर क्षमा याचना की।

लपटो मे भी स्थिर

प्रभु हलिदुग नामक एक वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ थे अन्य व्यक्ति भी वहाँ विश्राम कर रहे थे। उन्होंने शीत निवारण हेतु आग जलाई किंतु वे जाते समय वुझाना भूल गये। आग फैलती गई प्रभु के पैर झुलस गये किंतु वे अडिग ध्यानस्थ रहे।

बधन मे

प्रभु कलवुका पधारे, वहाँ के रक्षक कालहस्ति ने प्रभु को दस्यु (चोर) समझ कर कई यातनाएँ दी और बधन मे डालकर अपने भाई 'मेघ' के सामने उपस्थित किया। 'मेघ' प्रभु को पहचानता था, देखते ही वह चरणों मे नतमस्तक हो गया और कालहस्ति को वास्तविकता से परिचित किया। कालहस्ति प्रभु से क्षमा-याचना करने लगा।

अनार्य देश मे

प्रभु अपने विकट कर्मों का क्षय करने को अनार्य देश मे विचरे। वहाँ मानव स्वभाव से ही दुष्ट प्रकृति के होते हैं। भगवान को वही उन लोगो ने असीम यातनाएँ दी। उन पर कुत्ते छोड दिये जाते थे। उन्हे रस्सो से बाँधा और पीटा गया। तीखे शूलो से पीडित किया गया। कही प्रभु को लट्ठ मे मारा गया तो कही लात घूँसो से प्रभु को प्रताडना दी गई। इतने भयकर कष्टो के बीच भी प्रभु कभी चिंतित नही हुए, तूफानो के मध्य खिले कमल की तरह प्रभु का मुखमण्डल सवदा शात और खिला ही रहा।

गुप्तचर समझा

भगवान कुविय सन्निवेश पधारे। वहाँ पहरेदारो ने भगवान को गुप्तचर समझ कर बदी बना लिया किंतु प्रभु बराबर मौन रहे। भगवान पार्श्वनाथ की दो शिष्याएँ "विजया और प्रगल्भा" को जब यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने प्रभु का परिचय देकर उन्हे मुक्त कराया।

गोशालक अलग

अब तक गोशालक प्रभु के साथ था किंतु उसने अनुभव किया कि प्रभु के साथ अनेक कष्ट सहने पडते हैं, कई परीषह आते हैं प्रभु बचाव भी नही करते अत अलग हो जाना ही ठीक है। ऐसा निश्चय कर अपने मनोभाव प्रभु को बताकर वह अलग विचरण करने लगा।

प्रहार व्यर्थ

भगवान वैशाली मे एक लुहार की 'कमशाला' मे ध्यान कर रहे थे, लोहकर्मी कई दिनो से अस्वस्थ था। वह उसी दिन स्वस्थ हुआ और अपनी शाला मे काय हेतु पहुँचा, वहाँ प्रभु को ध्यानस्थ देखा तो अपशकुन समझकर क्रोधित हो उठा और हथौडा का प्रहार करने लगा किंतु भक्तदेव के प्रभाव से वह प्रहार निष्फल गया।

व्यन्तरी हार गई

एक बार प्रभु शालिशीर्ष उद्यान मे ध्यानस्थ थे। वहाँ 'कटपूतना' नामक व्यन्तरी ने प्रभु को कई उपसग दिये, उसने भयकर वर्षा वर्षाई, वडी तीक्ष्ण हवा चलाकर प्रभु को विचलित करने लगी किंतु प्रभु अविचल रहे। कटपूतना हार कर क्षमा-याचना करने लगी।

इसी तरह एक शालाय नामक व्यन्तरी ने भी शालवन मे उपसग खडे किए किन्तु अन्ततोगत्वा प्रभु की स्थिरता की ही विजय हुई।

तिल फिर खडा हो गया

गोशालक कुछ समय अलग रहकर फिर आ मिला। एक बार प्रभु को माग मे गोशालक ने पूछा—इस तिल का क्या होगा?

प्रभु ने कहा—सात फूलो के सातो जीव एक फली मे पैदा होंगे। गोशालक ने प्रभु के आगे बढ़ते ही पीछे से तिल के पौधे को उठा फेंका किन्तु वर्षा के कारण पौधा फिर जमकर खडा हो गया।

कुछ समय बाद जब प्रभु फिर उधर पधारे, गोशालक ने तिल के विषय मे पूछा तो प्रभु ने बताया—पौधा खडा है और सात बीज हैं। इस पर गोशालक को विश्वास नहीं हुआ, उसने फली तोडकर देखी और सातो बीज देखे तो उसका विश्वास नियतिवाद में हो गया। उसने सोचा—सब कुछ पहले से नियत होता है वही होता है, पुरुषार्थ व्यर्थ है। उसने भिन्न मत चलाने का निश्चय किया।

भस्म होता बचा

गोशालक जलकर भस्म हो जाता किन्तु बच गया। बात यह थी कि जब प्रभु से उसने तिल के विषय मे
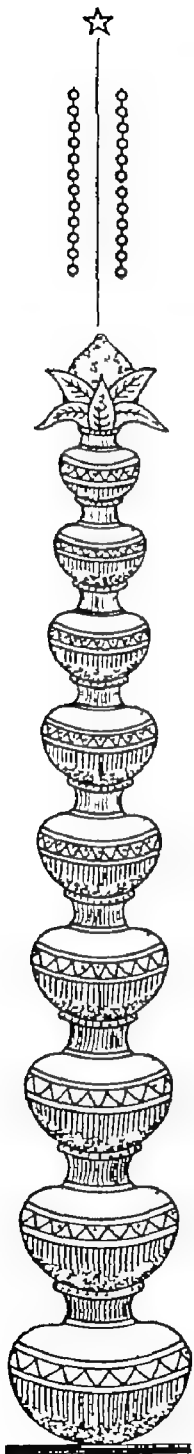
पहली बार पूछा वही 'वैश्यायन' नामक तापस तप कर रहा था। उसकी जटाओ मे 'जुए' थी, गोशालक ने उसे कई बार 'जूओ का बिछौना' कह-कहकर चिढाने का प्रयास किया, कई बार तो तापस सह गया किन्तु जब वह अधिक सताया गया तो, क्रोधित हो उठा और अपनी लब्धि का प्रयोग करते हुए 'उग्रतेजोलेश्या' (आग्नेय दृष्टि) का गोशालक पर प्रहार कर दिया। गोशालक एक भयकर तेज को अपनी तरफ लपकते देख काप उठा और दौडकर भगवान के चरणो मे चला गया। प्रभु गोशालक की भयातुर मुद्रा को देखकर अनुकम्पा से द्रवित हो उठे। उन्होंने शीतलेश्या (अमृतमय शीतल दृष्टि) का प्रयोग कर तेजोलेश्या को निष्प्रभ कर दी।

यह देख, तापस प्रभु के आध्यात्मिक प्रभाव से बडा प्रभावित हुआ।

यह भी सहना पडा

एक बार प्रभु वैशाली से वाणिय ग्राम पधार रहे थे, माग मे गडकी नदी नाव से पार करनी पडी।

नाव से उतरने पर नाविक ने किराया मागा किन्तु प्रभु मौन रहे। उनके पास देने को कुछ था भी नही, नाविक ने प्रभु को तपती 'रेत' में खडा कर दिया, सयोगवश चित्र नामक राजकुमार वहाँ आ पहुचा और प्रभु को नाविक के बधन से मुक्त किया।

एक श्रावक का निर्णय

भगवान पार्श्वनाथ का श्रावक था, आनद। बडा तपस्वी, बेले-बेले पारणा करता था, आतापना लेता था, उससे अवधिज्ञान भी प्राप्त था, उसने भगवान महावीर के सुदृढ आत्मबल तथा उत्कृष्ट तपाराधना को देखकर उसने प्रभु से कहा—प्रभु, आपको शीघ्र ही केवलज्ञान की उपलब्धि होगी। यह घटना वाणिज्य ग्राम की है।

सगम का पराजय

कष्टजयी भगवान महावीर अपने साधनाकाल मे सुमेरु से स्थिर थे। प्राय प्रभु की सहनशीलता की देवराज इन्द्र प्रशसा किया ही करते जिसका प्राय सभी देव समर्थन करते, किन्तु एक सगम नामक देव को किसी मानव की यो प्रशसा की जाय, अच्छी नही लगी। वह इन्द्र के द्वारा की गई प्रशसा को समाप्त करने को प्रभु को अपने साधना-पथ से विचलित करने का निश्चय किया और पैढाल नामक उद्यान मे जहाँ प्रभु ध्यानस्थ थे उपस्थित हुआ और उन्हें कई भयकर उपसग देकर विचलित करना चाहा।

उसने उस रात में प्रभु को बीस भयकर कष्ट दिये—

(१) पिशाच बनकर प्रभु को डराया।
(२) भयकर धूल वर्षा की।
(३) चीटियाँ बन तन को काटा।
(४) डास मच्छर बनकर खून चूसा।
(५) दीमक बनकर रोम-रोम छेदा।
(६) बिच्छु बनकर डक लगाए।
(७) सर्प बनकर डसा।
(८) नेवला बनकर नोचा।
(९) चूहे बनकर तन को कुतरा।
(१०) हाथी बन तन को रोधा।
(११) हथिनी बनकर शूल चुभोए।
(१२) बाघ बनकर पजे लगाये।
(१३) माता-पिता बनकर करुण विलाप किया।
(१४) पाँवों मे आग जलाई।
(१५) शरीर पर पक्षी बन चोंचें लगाई।
(१६) आँधी चलाकर उडाने का प्रयास किया।
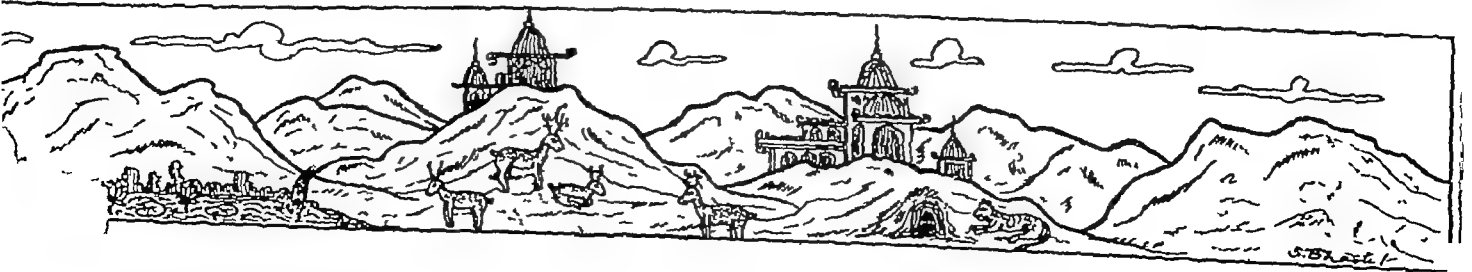
(१७) घुटनो तक शरीर को भूमि मे उतार दिया।
(१८) चक्रक वायु से भगवान चक्र दिये।
(१६) विमान मे बिठाने और स्वर्ग का लालच दिया।
(२०) अप्सरा बनकर राग भाव प्रदर्शित किया।

इतने भयंकर उपसर्गों के बीच भी प्रभु स्थिरतापूर्वक आत्म-ध्यान मे स्थित रहे, कही भी दीनता नही लाये तो सगम ने एक नया मार्ग अपनाया। साधु रूप बनकर एक घर मे सेंध लगाने लगा, लोगो ने चोर समझकर पकडा तो उसने कहा—मैं तो मेरे गुरु की आज्ञा का पालन कर रहा हूँ, आप मेरे गुरु से बात करें। मैं अपराधी नहीं हूँ। उसने महावीर को अपना गुरु बता दिया, जनता ने उन्हे चोर समझकर पकडा और पीटने लगी तो, महाभूतिल नामक एक ऐन्द्रजालिक व्यक्ति ने भगवान को पहचानकर छुडाया। जनता ने उस पहले वाले चोर को ढूंढ़ना चाहा किंतु वह नही मिला।

सगम ने इस तरह प्रभु पर कई बार चोरी के आरोप लगवाए।

एक बार प्रभु के पास शस्त्र सग्रहित कर दिये। यह घटना 'तोसलिगाँव' की है। वहाँ के अधिकारी ने दुश्मन समझ कर प्रभु को फाँसी पर लटकाया किंतु फासी का फंदा टूट गया। ऐसा सात बार हुआ फिर प्रभु को छोड दिया गया। सगम प्रभु की भिक्षा मे भी अन्तराय खडी कर देता था। शुद्ध आहार भी सदोष बना देता तो प्रभु आहार भी नही ले सकते। इस तरह सगम ने छह मास तक प्रभु को कई उपसर्ग और कष्ट दिये किंतु प्रभु अक्षुभित समुद्र की तरह स्थिर रहे, अन्त मे सगम क्षमा-याचना करता हुआ स्वस्थान गया।

जीर्ण तिर गया

वैशाली का जिनदत्त जिसे अभावग्रस्तता के कारण लोग "जीर्ण" सेठ कहा करते थे किंतु वह भावो से बडा समृद्ध था, वह प्रभु की आहार-दान के लिये आकाक्षा लिये प्रतीक्षा किया करता था। एक दिन प्रभु की प्रतीक्षा मे था तभी प्रभु आहार के लिये निकले मार्ग मे एक 'पूर्णसेठ' जो नव धनाढ्य था प्रभु वहीं पहुच गये, उसने अनादर भाव से प्रभु को थोड़े से कुलत्थ देने के लिये दासी को कहा। दासी ने थोड़े से कुलत्थ वे भी उपेक्षा भाव से प्रभु को दिये। इस तरह प्रभु का पारणा हो गया। भावुक जीर्ण भावना ही भाता रह गया, उसे अवसर नही मिला फिर भी उसने बारहवें देवलोक की गति का शुभ आयुष्य बध किया। दो घड़ी दुन्दुभी शब्द नहीं सुनता तो उसे कैवल्य हो जाता।

चमरेन्द्र की रक्षा

प्रभु 'सुन्सुमार' मे थे, असुरेन्द्र चमरेन्द्र से शक्रेन्द्र की दिव्यता देखी न गई वह ईर्षावश प्रभु के नाम का सहारा ले, सौधर्म देवलोक मे जा पहुँचा और श्री शक्रेन्द्र को ललकारा। शक्रेन्द्र अतुल बलशाली होते हैं उन्होंने स्व-स्थान से ही चमरेन्द्र पर वज्र फैंक मारा, जो आग की लपटें छोडता चमरेन्द्र पर लपका। चमरेन्द्र अब डरा और प्राण बचाने को कोई स्थान ढूंढ़ने लगा। वह सीधा प्रभु के चरणो के बीच आ समाया।

शक्रेन्द्र को जब यह ज्ञान हुआ तो उन्होंने कही प्रभु को कष्ट न हो जाये, इस दृष्टि से वज्र को वापस खीच लिया। वज्र प्रभु के चरणो से चार अगुल ही दूर रहा था। प्रभु को कोई कष्ट नही हुआ किन्तु चमरेन्द्र के प्राण बच गये।

कठिन अभिग्रह

प्रभु ने एकदा कौशाम्बी मे विचरण करते हुए कठिन अभिग्रह धारण किया, उसमे तेरह बोल थे (१) राजकुमारी दासी हो, (२) शिर मुडा हो, (३) हाथो मे हथकडी हो, (४) पावो मे बेडी हो, (५) उडद के बाकुले हो, (६) सूप के कोने मे हो, (७) भिक्षा का असमय हो, (८) आँखो मे आँसू हो, (६) तेले का तप हो, (१०) देहली मे बैठी हो, (११) एक पाव बाहर हो, एक पाँव भीतर हो, (१२) अविवाहिता हो, (१३) बिकी हुई हो।

दान देने वाले की ऐसी स्थिति का मिलना लगभग असभव ही था। प्रभु प्रतिदिन गोचरी के लिए हो आते, किन्तु ऐसा कठिन अभिग्रह फल जाए यह आसान नहीं था।

नगर के महामात्य की पत्नि नन्दा ने प्रभु के भिक्षा नहीं लेने पर बडी चिन्ता व्यक्त की, यह बात नगराधिपति सम्राट शतानीक को भी ज्ञात हुई। उनकी महारानी मृगावती भी इस बात से बडी चिन्तित हुई कि प्रभु चार माह

से आहार ग्रहण नही कर रहे हैं । राजा ने नगर के नर-नारियो को आहार देने की विधि भी बता दी किन्तु अभिग्रह की बात को कोई जानता ही नही ।

संयोगवश एक दिन प्रभु धन्ना श्रेष्ठि के घर गोचरी को पधारे । वहाँ सेठानी ने चन्दना नामक राजकुमारी को तल घर मे बन्द कर रखा था । चन्दना चम्पापति दधिवाहन की राज दुलारी थी, चम्पा को राजा शतानीक ने अचानक लूटा, दधिवाहन बीहड वनो मे चले गये । धारिणी और कन्या को एक सैनिक उठा लाया, सैनिक धारिणी से पापेच्छा प्रकट करने लगा तो, धारिणी ने जिह्वा खीचकर अपना बलिदान दे दिया । शील की वेदी पर धारिणी का यह महान् बलिदान सर्वदा अमर रहेगा । सैनिक ने कन्या को लाकर धन्ना को बेच दिया । धन्ना पुत्रीवत् उसे पालने लगे किन्तु सेठानी ईर्षावश द्वेष करने लगी, एक दिन अवसर देखकर सेठानी ने चन्दना का शिर मूडकर हथकडी-बेडी डाल, तल घर मे डाल दिया । चन्दना ने वहाँ तीन दिन बिताये उसने तेला कर दिया । चौथे दिन धन्ना, कही बाहर से आये तो चन्दना की यह स्थिति देखकर बडे दुखी हुए । वे लोहकर्मी को बुलाने गये कि चन्दना के लोह बन्धन काटदे तभी प्रभु महावीर का उधर पदार्पण हो गया ।

प्रभु को देख चन्दना अप्रत्याशित आनन्द से विभोर हो उठी किन्तु प्रभु आकर पुन लौटने लगे, चन्दना के लिए यह असह्य हो गया कि प्रभु बिना ही आहार लिए पुन लौट जायें । चन्दना का हृदय अपनी विपन्नावस्था पर रो उठा और उसकी आँखो से अश्रु धारा प्रवाहित हो चली । प्रभु की अभिग्रह पूर्ति में केवल यह एक बात की ही तो कमी थी, अश्रु नही देखकर ही तो प्रभु लौट रहे थे अब जबकि अश्रु उमड आये प्रभु ने अपने अभिग्रह की पूर्ति देखकर चन्दना के द्वार पर फिर पहुँचे और पाँच माह और पच्चीस दिन के बाद चन्दना के हाथो उडद के बाकुले ग्रहण किये । तभी देवताओ ने दानोत्सव मनाया । चन्दना के बन्धन टूट पडे और वह सामान्य स्व-स्थिति को पा गई । सारा कौशाम्बी नगर हर्षित हो उठा ।

कान मे कीलें ठोंक दीं

प्रभु छम्माणि ग्राम के बाहर उद्यान मे ध्यानस्थ थे । किसी ग्वाले ने ध्यानस्थ महावीर को अपने बैलो की रखवाली का सन्देश दिया किन्तु प्रभु मौन रहे । वह कही जाकर जब वापस आया तो उसे बैल नही मिले । प्रभु को ही बैलो का चोर समझ कर उसने क्रुद्ध हो भयकर कुकृत्य कर दिया ।

उसने प्रभु के दोनो कानो मे कीलें ठोक दीं । यह असह्य वेदना थी किन्तु प्रभु ने कोई प्रतिकार नहीं किया ।

वहाँ से प्रभु मध्यम पावा पधारे । वहाँ "खरक" नामक वैद्य और सिद्धार्थ नामक वणिक् ने मिलकर प्रभु के कानो से कीलें निकाली और समुचित उपचार किया । प्रभु पर उनके समस्त उपसर्गों मे यह कीलों वाला उपसर्ग घोर पीडाकारक था ।

प्रभु की विशाल तपाराधना

साढे बारह वर्ष से कुछ अधिक काल तक प्रभु छद्मस्थ रहे, इस बीच अनेकों उपसर्ग तो सहे ही, तप भी प्रभु ने कम नहीं किया । इतने लम्बे समय मे केवल तीन सौ उनचास दिन ही आहार लिया । शेष समय तपश्चर्या में व्यतीत हुआ ।

प्रभु ने निम्न तपाराधनाएँ सम्पन्न कीं—

छहमासी, तप, १
पाँच दिन कम छहमासी तप १
चातुर्मासिक तप ९
त्रैमासिक तप २
ढाई मासिक तप २
द्वि मासिक तप ६
मासिक तप १२
पाक्षिक तप ७२
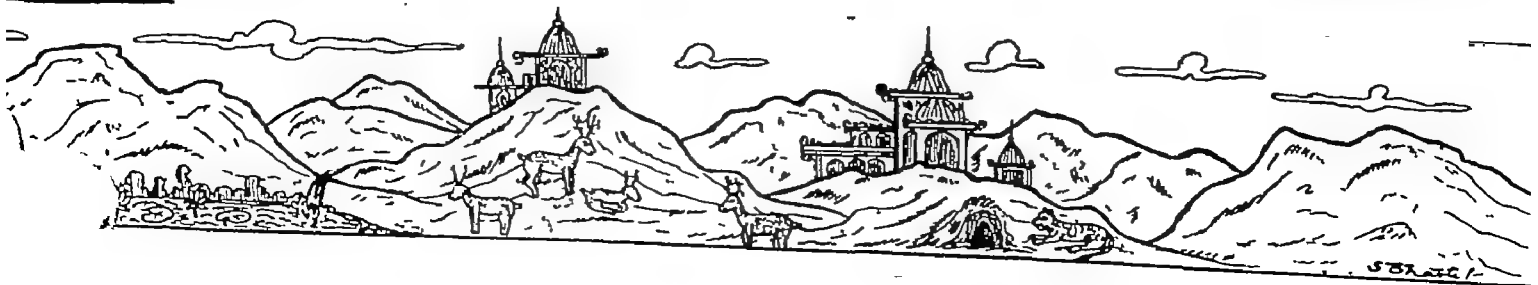
दो दिन की भद्र प्रतिमा १
चार दिन की महाभद्र प्रतिमा १
दश दिन की सवतो भद्र प्रतिमा १
छट्ठ भक्त (वेले) २२९
अठ्ठम भक्त (तेले) १२
इस तरह प्रभु ने अपना अधिकाश समय केवल तप मे व्यतीत किया।

केवल ज्ञानोपलब्धि

प्रभु ने अप्रतिम सहनशीलता तथा उत्कृष्ट तपाराधन से अपने अधिकाश कर्मों का क्षय कर दिया था। आग मे तपे शुद्ध स्वर्ण को तरह उनकी आध्यात्मिक कान्ति दमक रही थी। मानसिक वाचिक एव कायिक विकारो से वे नितान्त शुद्ध हो चुके थे, ऐसी स्थिति मे एक दिन ऋजुबालिका नदी के तट जृम्भिका ग्राम के निकट श्यामाक नामक गाथापति के खेत (क्षेत्र) मे शालवृक्ष के नीचे 'गोदुह' आसन मे ध्यानस्थ थे, उस दिन प्रभु का छट्ठ भक्त चौविहार तप था, प्रभु आतापना ले रहे थे, उस समय प्रभु ने ध्यान की सर्वोत्कृष्ट स्थिति परम शुक्ल ध्यान मे प्रवेश किया तभी ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय, इन चार घनघाती कर्मों का एक साथ क्षय हुआ और प्रभु को अनन्त केवलज्ञान अनन्त केवलदर्शन स्वरूप सिद्धि प्राप्त हो गई।

देवो ने पुष्प वृष्टि आदि पच दिव्य प्रकट कर ज्ञानोत्सव मनाया, यह घटना वैशाख शुक्ला दशमी के दिन की है।

प्रभु ने वही प्रथमोपदेश दिया किन्तु मानवो की उपस्थिति नही होने से कोई व्रत नही ले सका इस तरह प्रभु का पहला उपदेश सार्थक नही हुआ। किसी तीर्थंकर का प्रथमोपदेश सार्थक न हो यह आश्चर्य की बात थी, फिर भी, भगवान महावीर के जीवन में यह घटी।

इन्द्रभूति को प्रतिबोध

भगवान मध्यमा पावा पधारे। वहा आर्य सोमिल द्वारा यज्ञायोजन किया हुआ था। इन्द्रभूति गौतम आदि प्रधान वैदिक विद्वान, इसी आयोजन को सम्पन्न करने वहाँ उपस्थित थे।

प्रभु के आगमन पर देवो ने समवसरण रचाया। देव-देवी आने लगे इससे इन्द्रभूति को बड़ा क्रोध आया। उसने सोचा—वह दुष्ट कौन है जो मेरे यज्ञ मे आते देवों को अपनी तरफ खींच रहा है।

इन्द्रभूति क्रोधित हो, प्रभु को वाद कर पराजित करने को भगवान के पास आये किन्तु प्रभु ने दूर से ही उसके नाम गौत्र से उसका सम्बोधन किया। इतना ही नहीं प्रभु ने उनकी मनोगत शकाओ का तत्काल समाधान कर दिया।

इन्द्रभूति जो क्रोध एव ईर्षा से दग्ध हुए आये थे, प्रभु का शान्त सुमधुर एव आत्मीय व्यवहार पाकर बड़े प्रभावित हुए। उन्हे जो समाधान मिले वे तो सचमुच अनुपम थे। गौतम प्रभु की ज्ञान-गरिमा से बड़े आकर्षित हुए और कई तरह से धर्मचर्चा करने लगे।

इन्द्रभूति गौतम वेद के तीन दकार द, द, द, के विषय मे शंकाग्रस्त थे। प्रभु ने दान, दया और दमन स्वरूप लोकोत्तर अर्थ बताकर उन्हें चमत्कृत कर दिया। आत्मा के अस्तित्व के विषय मे भी सन्देह था, प्रभु ने अनेक अकाट्य तर्कों से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध कर दिया।

इस सारी धर्मचर्चा ने गौतम को प्रभु के प्रति श्रद्धावनत कर दिया।

तत्त्वार्थ समझकर इन्द्रभूति प्रभु के प्रथम शिष्य बने।

अग्निभूति आदि शेष दश विद्वान भी, इन्द्रभूति की तरह प्रभु से विवाद करने को आये और अन्त मे प्रभु के चरणो में समर्पित हो गये।

वैशाख शुक्ला एकादशी के शुभ दिन, आर्यावर्त में प्रभु के द्वारा तीर्थ स्थापना सम्पन्न हुई।

उस दिन चार हजार चार सौ मुनि बने। चन्दनबाला प्रथम साध्वी और अनेक साध्वियाँ हुईं। शख शतक आदि श्रावको ने धर्म-ग्रहण किया तथा सुलसा आदि ने श्राविका स्वीकार किया।

प्रभु ने अर्ध मागधी भाषा मे तत्त्वोपदेश प्रकट किया।

अनेको उपकार

प्रभु की अमृत वर्षिणी वाणी के प्रवाहित होते ही, अनेको उपकारो के फूल खिलने लगे।

राजगृह के राजकुमार 'मेघ' और नन्दिषेण ने सयम ग्रहण किया।

अभयकुमार व्रतधारी श्रावक बने, सम्राट श्रेणिक ने सम्यक्त्व ग्रहण किया।

माता-पिता मिले

प्रभु ब्राह्मण कुण्ड नगर के बहुशाल चैत्य मे विराजित थे। वहाँ ऋषभदत्त ब्राह्मण और देवानन्दा दर्शनार्थ उपस्थित हुए।

प्रभु को देखते ही देवानन्दा के हृदय मे प्रभु के प्रति एक अनोखे वात्सल्य की धारा वह चली, उसके स्तनो मे स्पष्ट दुग्ध उमड आया। प्रभु ने गौतम को कहा—गौतम! ये मेरे माता-पिता हैं। प्रभु ने गर्भापहरण के पूर्व से सम्बन्ध का परिचय दिया।

देवानन्दा और ऋषभदत्त दोनो प्रतिबोधित होकर सयमी हुए।

आत्म-कल्याण के पथ पर अनेको

प्रभु क्षत्रिय कुण्ड नगर पधारे। वहाँ पुत्री प्रियदर्शना और जामाता जमाली प्रतिबोधित हुए और भागवती प्रव्रज्या स्वीकार की।

प्रभु कौशाम्बी पधारे। वहाँ विदुषी श्राविका जयन्ति के प्रश्नो का सम्यक् समाधान किया।

प्रभु वाणिय ग्राम पधारे। वहाँ आनन्द गाथापती ने श्रावक की धर्म प्रज्ञप्ति ग्रहण की।

प्रभु राजगृह पधारे। वहाँ प्रसिद्ध धनाढ्य श्रेष्ठि धन्ना और सुकुमार शालीभद्र को सयम धर्म प्रदान किया।

प्रभु चम्पा नगर पधारे, वहाँ राजकुमार, महाचन्द्र प्रतिबोधित हुआ।

वाराणसी में चुल्लनीपिता और उनकी पत्नि ने श्रावक धर्म प्राप्त किया।

आलभिया मे, पुद्गल परिव्राजक की शकाओ का समाधान कर उसे प्रव्रजित किया।

प्रभु ने राजगृह मे धर्मोपदेश देकर तथा सम्राट श्रेणिक को प्रेरित कर धर्म मार्ग की बडी प्रभावना स्थापित की। श्रेणिक की प्रेरणा से जाली मयाली आदि अनेक राजकुमार और तेरह महारानियो ने निग्रन्थ पर्याय धारणा की।

प्रभु एक बार कौशाम्बी पधारे। वहाँ चण्डप्रद्योत ने मृगावती के लिये घेरा डाल रखा था, मृगावती जो शतानीक की पत्नि थी, शतानीक की मृत्यु हो चुकी थी उदयन छोटा था। मृगावती ही राज्य व्यवस्था सभालती थी, वह सुन्दरी भी अनुपम थी।

चण्डप्रद्योत प्रभु के आगमन को सुनकर वन्दन को आया। मृगावती भी वहाँ आ पहुँची, उसने प्रभु का उपदेश सुनकर चन्डप्रद्योत की आज्ञा से प्रव्रजित होने की बात प्रकट की। सभा मे चण्डप्रद्योत से पूछा तो वह इन्कार नही कर सका इस तरह सयम लेकर मृगावती अपनी शील सुरक्षा कर पाई।

प्रभु, "काकदी" पधारे। वहाँ श्रेष्ठि पुत्र "धन्यकुमार" बत्तीस रमणियो का परित्याग कर सयमी बना।

धन्ना मुनि बडे तपस्वी हुए।

सुनक्षत्र कुमार ने भी वही सयम ग्रहण किया।

प्रभु ने कपिलपुर में कुडकोलिक तथा पोलासपुर में सद्दालपुत्र को बारह व्रत प्रदान किये।

एकबार प्रभु राजगृह में प्रवासित थे, प्रतिबोधित हो महाशतक ने व्रत ग्रहण किये।

रोहक के प्रश्नो का भी वहीं समाधान किया।

इस प्रसग मे प्रभु ने लोक-अलोक को सापेक्ष, पूर्व पश्चाद् बताया। इसी तरह जीव-अजीव का भी कोई क्रम
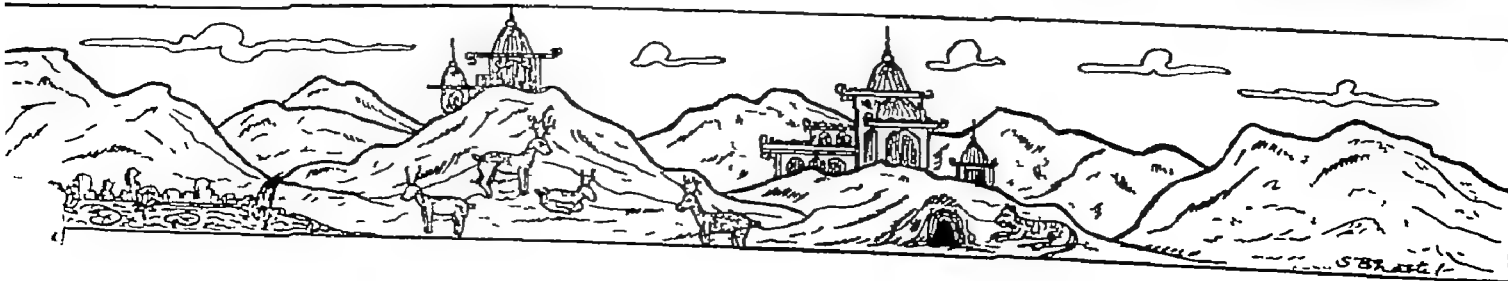
नही है, दोनो सापेक्ष हैं। मुर्गी और अण्डे के विषय मे भी प्रभु ने पूर्वापरता का निषेध करते हुए अनादि परम्परा सिद्ध की। प्रभु ने कहा—ये शाश्वत है, इनमे पहले पीछे का क्रम कभी भी नही बना।

एक प्रसग मे प्रभु ने गौतम के प्रश्नो का समाधान करते हुए कहा—

आकाश पर वायु है
वायु पर पानी
पानी पर पृथ्वी
पृथ्वी पर त्रस-स्थावर
अजीव, जीव पर आधारित
जीव कर्म वेष्ठित है
अजीव पुद्गल जीव ग्रहित है
जीव कर्म द्वारा सग्रहित है।

प्रभु एक बार 'कयगला' पधारे, वहाँ छत्रपलास उद्यान मे 'स्कन्धक' नामक परिव्राजक अपनी कतिपय शकाएँ लेकर उपस्थित हुआ।

प्रभु ने उनके सभी प्रश्नो का सम्यक् समाधान किया।

प्रभु की तत्त्वज्ञता, सर्वज्ञता से प्रभावित हो, स्कन्धक प्रभु के पास प्रव्रजित हुआ।

स्कन्धक भगवान के शासन में अच्छे तपस्वी मुनिराज सिद्ध हुए।

भगवान ने चम्पा मे प्रवास करते हुए, पद्म, महापद्म आदि श्रेणिक के दश पौत्र और अनेक व्यक्तियों को श्रमण प्रव्रज्या प्रदान की।

काकन्दी मे गाथापति खेमक और धृतिधर को मुनिपद प्रदान किया।

एक बार प्रभु चम्पा नगरी में पुन पधारे, तब महाराज चेटक और कौणिक का युद्ध चल रहा था। राजा श्रेणिक की काली आदि दस महारानियाँ प्रभु के पास उपस्थित हो अपने पुत्रो के विषय में, जो युद्ध रत थे, कुछ प्रश्न पूछे—प्रभु ने कहा—वे युद्ध मे मारे गये। इस पर दसो रानियाँ वैराग्यवती होकर प्रभु के शासन मे दीक्षित हो गई।

इन रानियो ने कनकावली रत्नावली आदि अद्भुत तप किये।

जिन शासन में इन महारानियो का तप बड़ा प्रसिद्ध है।

हल्ल, विहल्ल जिनके हार-हाथी को लेकर वैशाली मे विशाल युद्ध लड़ा गया, समय पाकर दोनो श्रावस्ती में प्रभु के निकट पहुँचकर सयमी हो गये।

एक भयकर दुर्घटना

प्रभु उस समय श्रावस्ती मे ही थे, गोशालक भी वही था।

वह जिन या तीर्थंकर नही था, फिर भी अपने आपको तीर्थंकर प्रदर्शित कर रहा था। वह आजीवक मत की प्ररूपणा मे रत था।

श्री इन्द्रभूति गौतम ने प्रभु से गोशालक के जिनत्व के विषय मे पूछा। प्रभु ने कहा—वह जिन नहीं है। यह सवाद गोशालक के पास पहुँचा तो वह अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा।

क्रोधान्ध हो, वह भगवान महावीर के निकट पहुँच गया और उनसे अपने रूपान्तरित होने की मिथ्याचर्चा करने लगा, ज्योही प्रभु ने उसके कथन को मिथ्या कहा, अगार की तरह क्रोध मे जाज्वल्यमान होकर प्रभु को अपशब्द कहने लगा। वहाँ सर्वानुभूति नामक मुनि उपस्थित थे, उनसे प्रभु का अपमान सहा न गया। उन्होंने गोशालक को हित-बोध देने हेतु केवल इतना ही कहा था कि प्रभु का ही शिष्य होकर तुम्हें अपने गुरु का इस तरह अनादर नहीं करना चाहिए।

इस पर गोशालक और अधिक क्रोध मे उबल पड़ा। उसने तम-तमा कर तपोसाधना द्वारा प्राप्त "तेजो-लेश्या" (आग्नेय दृष्टि) का तीव्र प्रयोग किया। सर्वानुभूति मुनि तत्क्षण जलकर भस्म हो गये।

इतने बडे कुकृत्य के बाद भी गोशालक का उबलता क्रोध थमा नही, वह महावीर को फिर अयोग्य बोलने लगा। उपस्थित अन्य मुनिगण तो मौन ही रहे, किन्तु "सुनक्षत्र" नामक मुनि चाह कर भी अपने आपको नही रोक सके। उन्होंने ज्यो ही गोशालक का प्रतिवाद किया, गोशालक ने अपनी निदयता और निम्नता का परिचय देते हुए तत्काल, उस मुनि पर भी 'तेजो' प्रहार किया, किन्तु यह प्रहार पिछले प्रहार से मद था, मुनि को दाह होने लगा, मुनि ने अन्तिम आलोचना करते हुए समाधिपूर्वक पण्डित मरण प्राप्त किया।

दो मुनि को भस्मीभूत कर देने के बाद भी गोशालक वहाँ से नही हटा, उसे तो अभी अपने निशाने पर वार करना था, और उसका निशाना भगवान महावीर थे।

प्रभु ने उसे सद्बोध देने को कुछ शब्द कहे कि उसे प्रभु पर वार करने का अवसर मिल गया। वह जाज्वल्यमान क्रोध मे दहकता कहने लगा—महावीर 'अब तुझे जलकर भस्म होना है, ऐसा कहते ही' प्रभु पर तेजोलेश्या का भरपूर प्रहार किया, किन्तु प्रभु पर इस प्रहार का कोई असर नहीं हो सका। 'तेजोलेश्या' प्रभु के चारो तरफ प्रदक्षिणा कर जलती आग की तरह पुन गोशालक की तरफ चली गई और उसी के शरीर मे प्रवेश कर गई। फलस्वरूप उसका देह तेजोलेश्या के तीव्र दाह से जलने लगा।

उसके शरीर मे बडी वेदना होने लगी अत अब वह वहा अधिक नही ठहर सका। जाते हुए उसने भगवान से कहा—मेरी लेश्या के प्रभाव से तुम छह माह मे जल मरोगे, किन्तु प्रभु ने कहा—मैं तो अभी सोलह वष विचरूँगा। तुम्हारी लेश्या के प्रति प्रहार से तुम्हे केवल सात दिन मे ही मृत्यु पाना होगा।

वास्तव मे गोशालक सात दिन मे तेजो दाह से जलता हुआ मृत्यु के मुख मे चला गया। मृत्यु से पूर्व उसने भगवान महावीर की सच्चाई और अपने मिथ्या होने के सत्य को सावजनिक रूप से सच्चाई के साथ स्वीकार किया।

स्वास्थ्य हानि

गोशालक के द्वारा तेजोलेश्या के प्रहार से तथा तत्कालीन असातावेदनीय के उदय से प्रभु के सुन्दर देह मे 'रक्तातिसार' जैसी व्याधि का उदय हो गया।

प्रभु के व्याधिग्रस्त होने से चतुर्विध सघ बडा चिन्तित था, किन्तु 'सिंह' नामक मुनि तो शोक सतप्त ही हो गये। भावी अनिष्ट की आशका से 'सिंह' मुनि रो उठे। प्रभु ने उन्हे अपने पास बुलाकर समझाया और मेढिय ग्राम निवासिनी सुश्राविका 'रेवती' के यहाँ से 'बिजोरा पाक' मगवाकर सेवन किया और प्रभु स्वस्थ हो गये।

प्रभु के स्वास्थ्य लाभ से चतुर्विध सघ मे हर्ष की लहर छा गई।

गौतम का समाधान

एक प्रश्न के उत्तर मे प्रभु ने कहा कि—गौतम! सर्वानुभूति मुनि आठवें देवलोक तथा सुनक्षत्र मुनि बारहवें देवलोक मे, देवरूप मे उत्पन्न हुए।

जहाँ तक गोशालक का प्रश्न है, उसने अन्तिम समय मे आत्म-आलोचना की थी। सत्य को स्वीकार किया था। अत वह बारहवें देवलोक को प्राप्त हुआ। जन्मातरो मे दृढ प्रतिज्ञ मुनि बनकर आत्म-कल्याण साधेगा।

शिव राजर्षि, प्रभु के चरणो मे

हस्तिनापुर का शासक सम्राट 'शिव' वैराग्याप्लावित हो कठोर तापस सयम की साधना करने लगा उसे विभग अवधि ज्ञान हुआ था। वह सात समुद्र और सातद्वीप की प्ररूपणा करता था।

एकदा प्रभु हस्तिनापुर पधारे। गौतम ने जब शिव राजर्षि की प्ररूपणा जनसमुदाय द्वारा सुनी तो उन्हें बडा आश्चय हुआ। उन्होंने इस विषय मे प्रभु से पूछा। प्रभु ने शिवर्षि के कथन को असम्यक् बताया और यह बात जब शिव ऋषि को ज्ञात हुई तो उन्हें अपने ही ज्ञान की परिपूर्णता मे सशय होने लगा। वे भगवान महावीर के निकट पहुँचे। उनसे सम्यक समाधान पाकर वे प्रभु के पास दीक्षित हो गये।
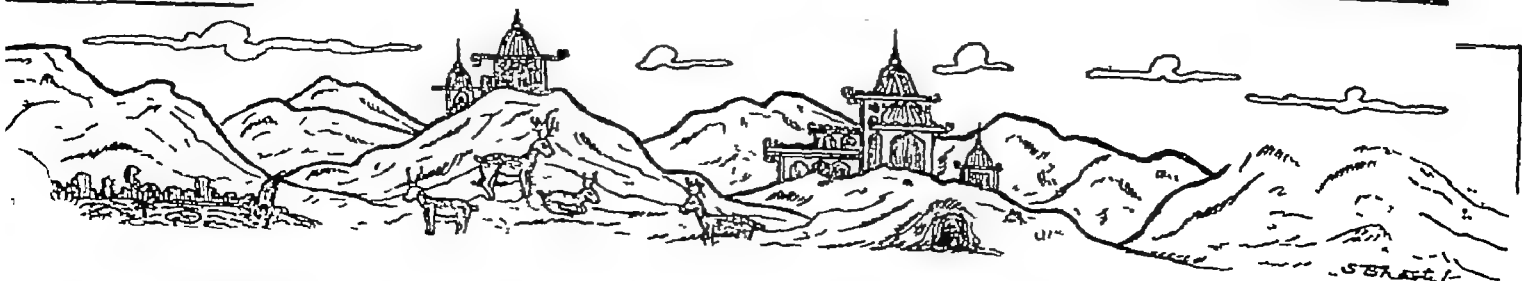
इन्द्र का पराभव

एक बार प्रभु दशार्णपुर पधारे। तत्रस्थ नृप 'दशार्ण भद्र' बड़े वैभव के साथ प्रभु को वन्दन करने निकला। वह अपने विशाल वैभव पर इठला रहा था किन्तु तत्काल उसने गगन से धरती की तरफ प्रभु की वन्दना को आते इन्द्र और उसके विशाल वैभव को देखा तो उसका वैभव गर्व चकनाचूर हो गया। भौतिक वैभव की दृष्टि से हार गया। दशार्ण भद्र प्रभु की वाणी से प्रभावित हो राज्य वैभव का परित्याग कर, जब प्रभु के चरणों में दीक्षित हुआ तो इन्द्र चरणों में प्रस्तुत हो कहने लगा—मुनीश्वर! बाह्य वैभव की दृष्टि से मैं आपको पीछे रख सका किन्तु आपने जो अध्यात्मिक वैभव प्रकट किया वह इतना अद्भुत है कि मैं इस क्षेत्र में आपको परास्त नहीं कर सकता। आपकी अद्भुत विजय पर इन्द्र नत मस्तक है।

सोमिल श्रावक बना

वेद-वेदाग ज्ञाता सोमिल ब्राह्मण बड़ा तार्किक व्यक्ति था। प्रभु जब वाणिय ग्राम पधारे। वह अपने सौ छात्रों सहित प्रभु के पास पहुचा और उनसे कई प्रश्न किये।

उसके प्रश्न कुछ अध्यात्मिक कुछ व्यावहारिक तथा कुछ दार्शनिक थे। प्रभु ने सभी प्रश्नों का यथायोग्य ठीक-ठीक समाधान कर दिया। इससे प्रभावित हो उसने वीतराग-विज्ञान को गहराई से समझा और प्रभु के समीप उसने श्रावक-धर्म स्वीकार किया।

उपासक अम्बड

कम्पिलपुर मे सात सौ शिष्यो सहित अम्बड परिव्राजक का निवास था। एकदा प्रभु कम्पिलपुर के सहस्राम्रवन मे पधारे। अम्बड प्रभु के तप, सयम एव सर्वज्ञता से बड़ा प्रभावित हुआ और उसने अपने शिष्यो सहित वीतराग-विज्ञान समझ कर श्रावक धर्म को स्वीकार किया।

अम्बड को बिना आज्ञा किसी वस्तु के लेने का त्याग था।

एक बार एक घने विपिन मे उन्हे प्यास लगी। पानी भी बह रहा था किन्तु आज्ञा देने वाला कोई न था अत उन्होने वह जल नही लिया। प्राणान्त का अवसर उपस्थित हो गया तो समभाव समाधि पूर्वक अनशन स्वीकार कर लिया। इस तरह अम्बड और उनके शिष्यो का प्रतिज्ञा के पथ पर हुआ बलिदान साधको के समुज्ज्वल इतिहास मे सर्वदा अमर हो गया।

गौतम का सारल्य

प्रभु एक बार वाणिज्य ग्राम पधारे। श्रीमद्गौतम स्वामी भी नगर मे भिक्षार्थ भ्रमण कर रहे थे। कोल्लाग सन्निवेश मे आनन्द श्रावक द्वारा अनशन ग्रहण करने के समाचार मिले। कोल्लाग सन्निवेश निकट ही था। श्री गौतम स्वामी आनन्द से मिलने को वहीं पहुंच गये।

आनन्द गौतम स्वामी के दर्शन कर बहुत हर्षित हुआ, उसने वार्तालाप के प्रसग मे बताया कि, मुझे अवधि ज्ञान हुआ है। मुझे लवण समुद्र मे ५००, योजन तक उत्तर मे चुल्लहिमवन्त पर्वत, ऊपर सौधर्म देवलोक तथा नीचे लोलुच्चुअ नरकावास तक दिखाई दे रहा है।

श्री गौतम स्वामी यह सुनकर चकित हो गये। उन्हें इतना बड़ा अवधिज्ञान किसी श्रावक को होने में सदेह हुआ। उन्होंने कहा यह सम्भव नही। आनन्द, कहीं तुम्हें झूठ तो नही लग रहा है। तुम्हे इस असत्य की आलोचना कर प्रायश्चित्त लेना चाहिए।

आनन्द ने कहा—स्वामी आलोचना, सच्चा करे या अन्य? श्री गौतम ने कहा—सच्चे को प्रायश्चित्त नहीं प्रायश्चित्त झूठ का होता है तो आनन्द ने कहा—इस सत्य-झूठ का निर्णय तो केवल प्रभु कर सकते हैं।

गौतम स्वामी ज्योंही प्रभु के निकट आये, प्रभु ने ज्ञान द्वारा दृष्ट सारी घटित वार्ता प्रकट कर दी। प्रभु ने यह भी कहा, उक्त प्रसग मे आनन्द का पक्ष सत्य है। यह सुनते ही श्री गौतम स्वामी तुरन्त पुन आनन्द के आवास पर

पहुच कर उससे क्षमायाचना की और सत्य को सहप स्वीकार किया। श्रीमद् गौतम स्वामी का यह सारल्य जीवन निर्माण के लिए एक प्रेरक सूत्र है।

विलक्षण रत्न चर्चा

साकेत निवासी जिनदेव एक श्रावक रत्न था। वह व्यापारार्थ 'कोटिवर्ष' नामक नगर मे पहुँचा जहाँ एक "चिलात" (किरात) म्लेच्छ राजा का राज्य था। जिनदेव ने उन्हें कुछ रत्न भेंट किये, अदृष्ट पूर्व होने के कारण वह उन्हें पाकर बडा प्रसन्न हुआ। उसकी इच्छा और कई रत्न देखने की हुई। जिनदेव ने कहा—हमारे देश मे कई अनोखे रत्न होते हैं आप चलें तो बताएँ।

किरात भी देखने की उत्सुकता लिये जिनदेव के साथ साकेत आ गया। उन दिनो भगवान महावीर वहाँ पधारे हुए थे। हजारो नरनारी उनके दर्शनार्थ उमडे जा रहे थे। चिलात ने पूछा, ये कहाँ जा रहे हैं? जिनदेव ने कहा, एक बडा रत्न व्यापारी आया है सभी वहाँ रत्न लेने जा रहे हैं।

किरात को भी उत्सुकता हुई। वह भी जिनदेव के साथ वहाँ पहुँचा। किन्तु वहाँ कोई रत्न दिखाई नही दिया। धर्मोपदेश के बाद भगवान महावीर से रत्नो के विषय मे बडी सुन्दर चर्चा हुई।

किरात के प्रश्नो के उत्तर मे प्रभु ने कहा—द्रव्य और भाव यो दो तरह के रत्न होते है। द्रव्य रत्न, भौतिक तथा क्लेशवर्धक और उपाधि-जन्य होते हैं। किन्तु भाव रत्न, प्रशस्त और आनन्द के सर्जक आत्म-कल्याण के विधायक होते हैं, वे ज्ञान रत्न, दर्शन रत्न और चारित्र रत्न यो तीन तरह के होते हैं। प्रभु ने इनके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए सासारिक विकारो की हेयता सिद्ध कर दी।

प्रभु के तत्त्वोपदेश से किरात को स्वरूप ज्ञान हुआ और वह प्रभु के पास दीक्षित हो अनुपम सयम रत्न का अधिकारी बन गया।

एक निषेध

राजगृह मे महाशतक भगवान का श्रेष्ठ श्रावक था किन्तु उसकी पत्नि रेवती बडी तुच्छ व क्षुद्र स्वभाव की और कर्कशा स्त्री थी। वह महाशतक के धर्माराधन से अप्रसन्न थी।

एक बार महाशतक पौषध में था। रेवती उसके सामने आकर बडा अश्लील बोलने लगी, अपने बालो को बिखेर कर और चिल्लाकर महाशतक को ध्यान भ्रष्ट करने लगी। ऐसा उसने दो तीन बार किया तो महाशतक आतकित हो उठा और उसने उसके नरक-गमन का निश्चय प्रकाशित कर दिया।

प्रभु महावीर तब राजगृह ही थे। उन्हे अपने ज्ञान से यह ज्ञात हुआ तो उन्होने गौतम स्वामी को महाशतक के निकट भेजा। श्री गौतम स्वामी ने महाशतक को समझाया कि ऐसा सद्‌भूत निश्चय भी श्रावक को पौषध मे प्रकट करना नही कल्पता। महाशतक ने आत्मशुद्धि की।

पुण्यपाल के आठ स्वप्न

पावा के राजा पुण्यपाल को एक रात्रि मे दश स्वप्न दिखाई दिये। उस समय प्रभु का चातुर्मास पावा मे ही था। यह प्रभु का अन्तिम चातुर्मास था। हाथी, बन्दर, क्षीर तरु, कौआ, सिंह, पद्म, बीज और कुभ ये कुल आठ स्वप्न राजा को आये, ये सभी अशुद्धावस्था पूर्ण थे।

इन स्वप्नो से राजा का मन चिन्तित और आतकित-सा हो गया। उसने प्रभु के समक्ष अपने स्वप्नों की बात रखी। स्पष्टीकरण करते हुए प्रभु ने कहा, राजन्! ये अशुद्ध स्वप्न अशुद्ध भावी युग के सूचक हैं। अब श्रेष्ठत्व कम होकर आर्यावर्त में हीनत्व का प्रभाव बढ़ेगा।

हाथी, स्वप्न की सूचना यह है कि श्रमणोपासक क्षणिक सामान्य ऋद्धि पाकर भी अह में हाथी की तरह फूल जाएँगे।

कपि दर्शन का परिणाम यह होगा कि कई सघपति आचार्य चचल प्रकृति के और क्षुद्र होंगे।

क्षीर तरु का तात्पर्य यह है कि यशादि लाभार्थ दान देने वाले व्यक्तियो को कुसाधु बडा महत्त्व देंगे।

काक स्वप्न का अर्थ यह है कि साधु सस्था मे अनुशासनहीनता की अभिवृद्धि होगी।
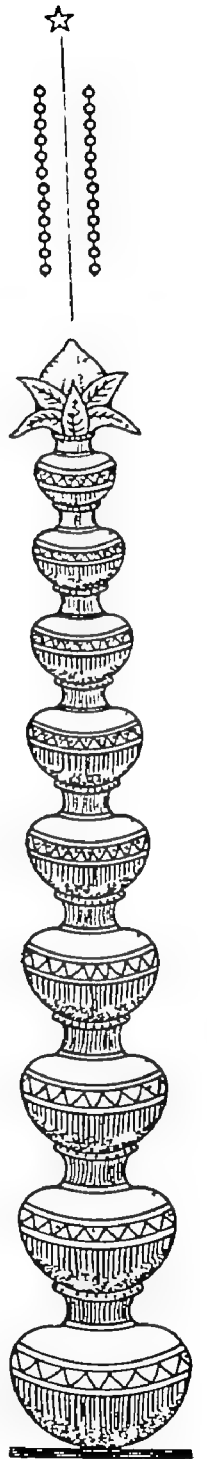
सिंह किन्तु क्लान्तावस्था मे दिखाई दिया, इसका तात्पय यह है कि जैनधम का प्रकाश मन्द होगा। मिथ्यात्व बढ़ेगा।

कमल को कीचड मे लिप्त देखा इसका अर्थ है कि श्रेष्ठ कुलोत्पन्न व्यक्ति भी हीनाचरण से ग्रस्त हो जाएगा। प्राय कुसग करेगा।

सातवें स्वप्न मे बीज देखा, राजन् ! गृहस्थ मूख किसान की तरह उपजाऊ, सुपात्र मुनि को छोड ऊसर, पाखण्डियो की अधिक सेवा करेंगे।

आठवें स्वप्न कु म का निर्णय देते हुए प्रभु ने कहा—खाली घडा मोटा तो दिखता है किन्तु उसमे सार तत्त्व की कमी होती है ऐसे ही नि सार, पाखडी शिथिलाचारी साधु ही अधिक होंगे।

प्रभु के द्वारा अपने स्वप्नो का निणय सुन कर राजा पुण्यपाल को आश्चर्य तो हुआ ही साथ ही, परिवतनशील ससार के स्वभाव को पहचान कर उसे विरक्ति हो गई। और उन्होंने प्रभु के चरणो मे सयम स्वीकार कर लिया।

प्रभु अपनी आयु बढ़ावें

प्रभु का निर्वाण निकट ही था। शक्रेन्द्र से यह बात छिपी हुई नही थी।

उन्होंने सेवा मे उपस्थित हो आग्रह किया—प्रभु ! आपकी जन्म-राशि पर भस्म ग्रह सक्रान्त होने वाला है। वह दो हजार वर्ष रहेगा अत आप अपने निर्वाण को कुछ आगे बढ़ा दें। जिससे यह अशुभ योग टल जायेगा। प्रभु ने कहा—यह नहीं हो सकता।

आने वाली परिस्थितिया जिन शासन के लिए विकट हैं। उनका विकट निवारण समव नहीं।

इन्द्रभूति को अन्तिम आज्ञा

इस चातुर्मास के अन्तिम मास कार्तिक मे, अपना निर्वाण निकट जान कर कार्तिकी अमावस्या के एक दिन पूर्व ही प्रभु ने बेले का तप कर उपदेश प्रारम्भ किया।

यह प्रवचन सोलह प्रहर तक चला।

प्रभु ने गौतम स्वामी का अपने प्रति असीम अनुराग देखकर सोचा—यदि यह मेरे निर्वाण के समय उपस्थित रहा तो शोक द्रवित हो असीम रुदन करेगा अत प्रभु ने उन्हें एक देवशर्मा नामक ब्राह्मण को प्रतिबोधित करने का आदेश देकर उसके स्थान पर भेज दिया। श्री गौतम स्वामी तो केवल 'आणाए धम्मो' के पालक थे। वे देवशर्मा को प्रति बोधित करने गये।

परिनिर्वाण

कार्तिक कृष्णा अमावस्या की अर्धरात्रि का समय था मुहूर्तानुसार, चन्द्र सवत्सर प्रीतिवधनमास, नन्दीवधन पक्ष, उपशम दिन, देवानन्दारात्रि अर्थ नामक लव था। सर्वार्थ सिद्ध मुहूत्त मे स्वाति नक्षत्र का शुभयोग था।

प्रभु ने अपना अन्तिम अवसर देख, उत्कृष्ट शुक्ल ध्यान किया। शैलेशी दशा को प्राप्त करते हुए शेष अघाती कर्मों का क्षय कर योग निरुद्ध होते ही पचाक्षारोच्चारण जितने अल्प समय मे ही सिद्ध हो गये।

गौतम स्वामी को कैवल्य

प्रभु के निर्वाण होने की सूचना क्षणभर मे चारो ओर फैल गई। देवनिर्वाणोत्सव करने लगे, धर्मानुरागी नरनारी प्रभु के वियोग मे शोकाकुल रुदन करने लगे, ज्ञानीजन, वीतराग भाव में रमण करने लगे। त्रैलोक्य दीप के बुझ जाने के कारण सारा वातावरण तमसावृत-सा हो गया।

श्री गौतम स्वामी तुरन्त निर्वाण-स्थल पर पहुँच कर शोकाकुल हो गये। कहते हैं, उस समय इन्द्र ने श्री गौतम स्वामी को भक्तिभाव पूर्वक बड़े मधुर शब्दो में धैर्य दिया और ज्योंही श्री गौतम धैर्यस्थ हुए उनका वीतराग भाव जाग्रत हो गया। वे शोक का परित्याग कर आत्म चिंतन मे लग गये। उसी क्षण उन्हें कैवल्य की प्राप्ति हो गई।
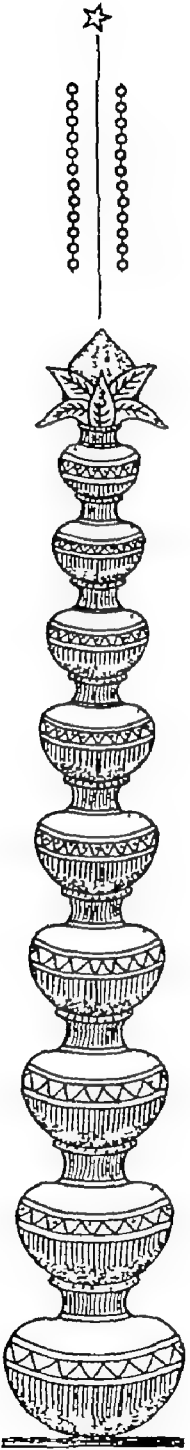
उस रात द्रव्य प्रकाश किया गया

प्रभु के निर्वाण साथ ही के विश्व का भाव प्रकाश उठ गया। देवो ने आत्म-प्रकाश के अभाव को व्यक्त करते हुए नगर में रत्नो के द्वारा द्रव्य प्रकाश किया। उस समय देश के अठारह गणराज्यो के प्रधान नृप भी वहाँ पौषध-साधना रत थे। उन्होने अपने-अपने स्थानो पर यह द्रव्य प्रकाश की उस परम्परा को चालू रखी।

आज भी दीप-माला के रूप मे वह क्रम चल रहा है।

दाह-क्रिया

प्रभु के पार्थिव शरीर की दाहक्रिया देवो द्वारा सपन्न हुई। मानव भी सम्मिलित थे।

श्रेष्ठ सुगन्धित पदार्थ से शरीर सिञ्चित किया गया। अग्निकुमार नामक देवो ने आग प्रज्वलित की। वायु कुमार देवो ने आग को व्यापक किया। मेघकुमार ने सुगन्धित जल से चिता शान्त की।

भगवान महावीर के विषय में कतिपय ज्ञातव्य—

भगवान तीस वर्ष गृहवास, बारह वर्ष से कुछ अधिक छद्मस्थ, कुछ कम तीस वर्ष केवली रहे। इस तरह कुल बहत्तर वर्ष का आयुष्य पाये।

प्रभु ने अस्थिग्राम मे एक, चम्पा और पृष्ठ चम्पा मे तीन, वैशाली मे बारह, नालदा (राजगृह) मे चौदह मिथिला मे छह, भद्रिका मे दो, आलभिया मे एक, सावत्थी में एक, अनार्य देश मे एक और अन्तिम चातुर्मास पावा मे यो कुल बियालीस चातुर्मास किये।

भगवान महावीर के शासन मे ७०० केवली, ५०० मनपर्यवज्ञानी ३०० अवधिज्ञानी, ३०० चौदह पूर्वधारी ४०० वादी, ७०० वैक्रिय लब्धि धारक, ८०० अनुत्तरोपपातिक मुनि, १४००० साधु, ३६००० आर्यिका, १५९००० श्रावक तथा ३१८००० श्राविकाएँ थी।

श्रावक-श्राविकाओं की यह सख्या व्रत-धारियो की दृष्टि से है।
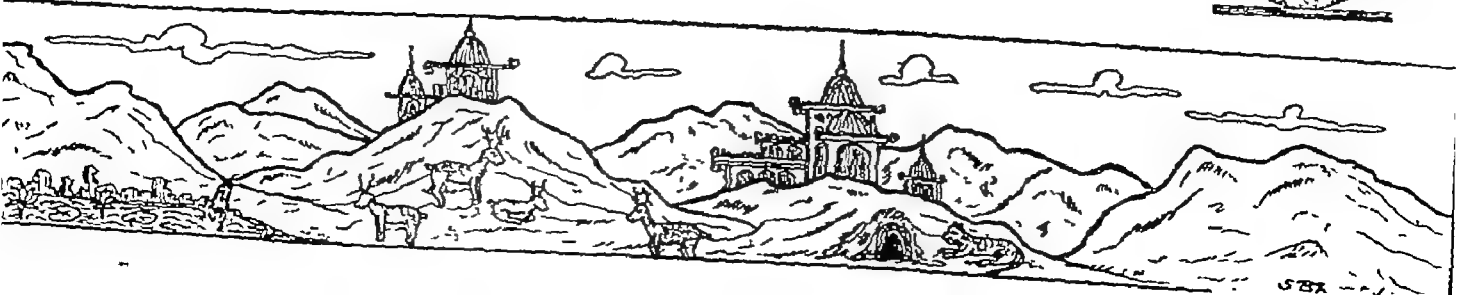
केवलि-काल

प्रधान शिष्य श्री इद्रभूति गौतम

भगवान महावीर के परिनिर्वाण के वाद उनके पट्ट पर श्री सुधर्मा स्वामि को स्थापित किया गया, किन्तु भगवान महावीर के प्रधान शिष्यरत्न श्री गौतम स्वामि के परिचय के विना इतिहास को आगे वढ़ाना एक ऐतिहासिक कमी होगी।

श्री गौतम स्वामी का भगवान महावीर के शासन मे इतना विशाल व्यक्तित्व रहा कि उसकी कोई उपेक्षा कर ही नही सकता।

जन्म

श्री गौतम का जन्म स्थान गोव्वर ग्राम माना जाता है जो राजगृह के निकट था। गौतम गोत्रीय ब्राह्मण परिवार मे ईसा पूर्व ६०७ वर्ष मे श्री गौतम का जन्म हुआ। इन्द्रभूति नाम रखा गया। वसुभूति पिता था और 'पृथ्वी' माता का नाम था।

अग्निभूति और वायुभूति, ये दो छोटे भाई थे।

पाण्डित्य

इन्द्रभूति गौतम आदि तीनो भ्राता वाल्यावस्था से ही वडे वुद्धिमान और तत्त्व जिज्ञासु थे।

पच्चीस वर्ष की वय तक विविध प्रकार की विद्याओ, वेद वेदागो आदि का विस्तृत अध्ययन कर श्री गौतम अधिकृत विद्वान सिद्ध हो गये। उन्होंने अपने वाक्चातुर्य तथा सुदृढ ज्ञान-शक्ति के द्वारा अनेको विद्वानो को विवाद मे पराजित किया और वादि-गजसिंह, जैसी अनेको उपाधियाँ प्राप्त कीं।

श्री गौतम के पाडित्य से प्रभावित हो, सहस्रो विद्यार्थी इनके पास ज्ञानार्जन [को आया करते थे। पाँच सौ विद्यार्थी तो प्राय विद्याध्ययन के लिए निरन्तर निकट ही रहते थे।

वड़े-वडे विद्वान ब्राह्मण तथा धनाढ्य व्यक्ति अपने यज्ञादि अनुष्ठान श्री गौतम के हाथो सम्पन्न कराने में अपना सौभाग्य समझते थे।

श्री गौतम वैदिक कर्मकाण्ड के भी सफल साधक थे। विधि-विधान युक्त क्रियाकाण्ड सम्पन्न करने में व वेजोड थे।

प्रभु के चरणो मे

अपापा निवासी सोमिल ब्राह्मण ने वहुत वडे यज्ञ का आयोजन किया था। उसने अपने उस विशाल यज्ञ म इन्द्रभूति के अलावा अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्मा, मण्डित, मौर्य, अकपित, अचल भ्राता और प्रभास जैसे श्रेष्ठ कर्मकाण्डी प्रसिद्ध विद्वानो को भी निमन्त्रित किया। सम्पूर्ण यज्ञ श्री इन्द्रभूति की अध्यक्षता में सम्पन्न हो रहा था।

उन दिनो विश्व ज्योति भगवान महावीर भी वही पधारे हुये थे। समवसरण की रचना थी। देवगण गगन मार्ग से प्रभु के दर्शनार्थ उमड रहे थे।

यज्ञानुष्ठान जहाँ सपन्न हो रहा था देवगण वही होकर समवसरण की तरफ वढ़ रहे थे। यज्ञकर्ता प्राय समझ रहे थे कि हमारी आहुतियो से प्रसन्न होकर देव यज्ञ मे उपस्थित हो रहे हैं किन्तु जब देवगण आगे वढ जाते तो उन्हें वडी निराशा होती। इतना ही नही, इन्द्रभूति को तो यह अपना सबसे बडा अपमान लगा। वे तिलमिला उठे। उन्होंने लगभग चिल्लाते हुए कहा—वह इन्द्रजालिया कौन है जो मेरे यज्ञ मे आते देवो को आकृष्ट करता है? मैं उसे अभी वाद और विद्या दोनो तरह से पराजित करके रहूँगा।

किसी ने भगवान महावीर का परिचय दिया तो इन्द्रभूति क्रोधित हो उधर ही चल पड़े उन्हे अपनी विद्या और कर्मकाण्ड का वडा गर्व था।

भगवान समवसरण के मध्य विराजमान थे।

इन्द्रभूति गौतम ज्यो ही प्रभु के निकट पहुचे, प्रभु की आकर्षक दिव्य आकृति, सौम्य मुखमडल तथा देवकृत

सातिशायी भव्य सरचना देखकर दग रह गये। वे अपलक नेत्रो से प्रभु के भव्य आनन की तरफ निहारते ही रह गये। वे एक शब्द भी नही बोल पाये। प्रभु ने पहले नामोच्चारण करते हुए गौतम के चाकचिक्य को भग किया। प्रभु ने स्नेहसिक्त वाणी से गौतम से वार्तालाप करते हुए उनके हृद्गत भावो को स्पष्ट प्रकट कर दिया।

वेदो के कुछ वाक्यो के विषय मे इन्द्रभूति गौतम के मन मे शकाऐं थी। प्रभु ने उनका ठीक-ठीक समाधान करते हुए दृढता के साथ जीव का अस्तित्व सिद्ध कर दिया।

प्रभु ने कहा—गौतम! आत्मा एक नही अनेक है और वह देह से भिन्न है। पाँच भूतो से आत्मा की उत्पत्ति सभव नही, आत्मा अलग द्रव्य है।

प्रभु की आत्म-विवेचना से गौतम के अन्तचक्षु खुल गये। प्रभु के तत्त्वोपदेश से गौतम वैराग्योत्माह से तरगित होने लगे। उन्होंने अपने पाँच सौ विद्यार्थियो को भी तत्त्वोपदेश दिया। इस तरह सभी ने एक साथ प्रभु के चरणो मे 'जैनेन्द्रिया' दीक्षाग्रहण कर अपने जीवन को अध्यात्म मार्ग पर वढा दिया।

विक्रम पूव ५०० वैशाख शुक्ला एकादशी के दिन यह प्रव्रज्या ग्रहण समारोह सपन्न हुआ।

४४०० शिष्यो के साथ

इन्द्रभूति गौतम प्रभु के पास दीक्षित हो गये। इस सवाद के विस्तृत होते ही अन्य विद्वानो मे आक्रोश और आश्चर्य की लहर दौड गई। प्रभु को वाद कर परास्त करने की उम्मीद लेकर अग्निभूति, वायुभूति अपने पाँच-पाँच सौ शिष्यो को लेकर उपस्थित हुए, किन्तु इन्द्रभूति की तरह उनका भी समाधान कर प्रभु ने उन्हे प्रतिवोधित किया और उन्होंने सयम स्वीकार कर आश्चर्य को और अधिक विस्तृत कर दिया।

व्यक्त और सुधर्मा भी अपने सहस्र शिष्यो सहित उपस्थित हुए किन्तु वे सभी पूववत् प्रव्रजित हो गये।

मडित और मौर्य पुत्र के साढे तीन-तीन सौ शिष्य थे, अकम्पित अचलभ्राता मैतार्य और प्रभास के तीन-तीन सौ शिष्य थे। ये सभी प्रभु के पास इन्द्रभूति की ही तरह उपस्थित हुए। प्रभु ने सभी की विविध शकाओ का विना कहे ही समाधान कर दिया और उन्हें प्रतिबोध देकर सयम प्रदान किया। इस तरह पहली देशना मे ही प्रभु के ४४११ शिष्य (११ विद्वान एव उनके ४४०० शिष्य) हुए।

प्रभु ने इन्द्रभूति आदि को त्रिपदी, उत्पाद व्यय और ध्रौव्य का सद्वोध देकर वस्तु स्वरूप का सम्यक्वोध दिया। इन गणधरो ने त्रिपदी पर मनन कर चौदह पूर्व[1] की रचना की।

'अत्थ भासेइ अरहा, सुत्त गत्थति गणहरा' इस सिद्धान्त के अनुसार इन गणधरो के द्वारा द्वादशागी की रचना सम्पन्न हुई।

प्रभु ने सुयोग्य समझ कर इन प्रधान ग्यारह मुनियो को 'गणधर' पद प्रदान किया।

इनमे अकम्पित और अचल का एक ही गण था। इसी तरह मैतार्य और प्रभास का भी एक गण था।

अन्य सभी का गण भिन्न था, यह समुदाय की भिन्नता नही थी, अपितु प्रभु के द्वारा दी गई वाचना की अपेक्षा ये गण थे।

प्रभु से अनन्यता

यद्यपि प्रभु के शासन मे ग्यारह गणधर थे किन्तु इसमे कोई सदेह नही कि उनमे सर्वाधिक महत्त्व केवल गौतम स्वामी को मिला।

---

१ उत्पाद पूव
२ अग्रायणी पूव
३ वीर्य प्रवाद पूव
४ अस्ति नास्ति प्रवाद पूर्व
५ ज्ञान प्रवाद पूर्व
६ सत्य प्रवाद पूव
७ आत्म-प्रवाद पूर्व
८ कर्म प्रवाद पूव
९ प्रत्याख्यान पूव
१० विद्यानुप्रवाद पूव
११ कल्याणवाद पूव
१२ प्राणावाय पूव
१३ क्रिया विशाल पूव
१४ लोकबिन्दुसार पूर्व
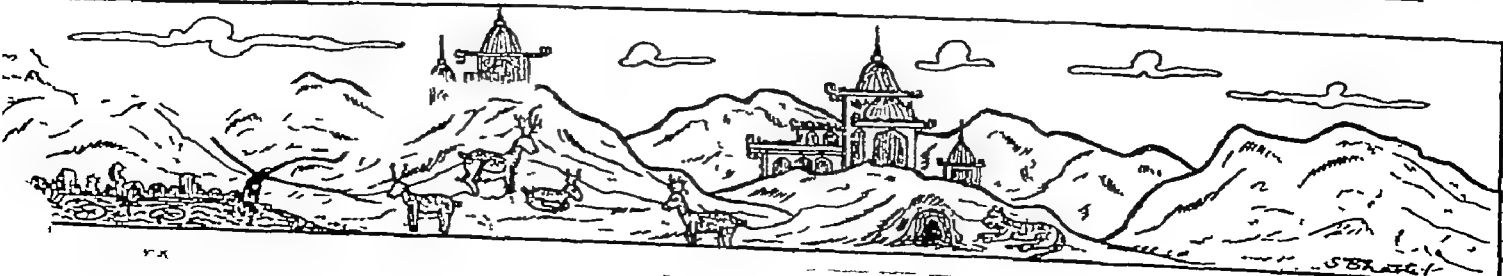
प्रभु प्राय गौतम स्वामी को उद्दिष्ट कर उपदेश देते और गौतम भी किसी भी तरह की शका का समाधान तत्काल केवल प्रभु से पूछते।

चार ज्ञान तथा चौदह पूर्व के अधिकृत विद्वान होते हुए भी उन्हें तनिक भी गर्व नही था। प्रतिक्षण प्रभु की आज्ञा को शिरोधार्य करने मे तत्पर रहते।

आनन्द के अवधिज्ञान के प्रसग मे आनन्द का पक्ष सत्य था और जब गौतम स्वामी को प्रभु के द्वारा निर्णय होने पर उस सत्यता का बोध हो गया तो, प्रभु आज्ञा शिरोधार्य कर, उन्होंने तत्काल गाथापति आनन्द के निकट पहुच कर "खमत खामणा" किये।

श्री गौतम स्वामी प्राय प्रभु के साथ ही विचरण किया करते। वे निरन्तर अनन्य भाव से सेवा करते।

भगवान महावीर के प्रति श्री गौतम स्वामी का असीम राग-भाव था, कहते हैं—यही कारण था कि भगवान महावीर की उपस्थिति मे उन्हे कैवल्य नही हो सका।

भगवान महावीर ने इस असीम अनुराग भाव का कारण कई भवो का ससग बताया। कहते हैं—भगवान महावीर की आत्मा जब त्रिपृष्ट वासुदेव के भव मे थी तब गौतम की आत्मा उनके सारथी के रूप मे निकट सम्बन्ध मे थी इस तरह कई भवो का पारस्परिक स्नेह-सम्बन्ध प्रभु ने स्पष्ट किया।

श्री गौतम स्वामी के असीम अनुराग को देखकर ही प्रभु ने अपने निर्वाण से पूर्व उन्हें देवशर्मा नामक ब्राह्मण को प्रतिबोधित करने भेज दिया। श्री गौतम स्वामी प्रभु आज्ञा शिरोधार्य कर वहाँ गये। पीछे से प्रभु का निर्वाण हो गया।

यही प्रसग श्री गौतम स्वामी के केवलोपार्जन का बना।

श्री गौतम स्वामी को उक्त अवसर पर बडा शोक हुआ किन्तु कहते है—इन्द्र ने अनुनय विनय पूर्वक उन्हें धैर्य प्रदान किया। उस अवसर पर उनकी आध्यात्मिकता ने निर्मोह की भूमिका का क्रान्तिकारी सस्पर्श किया और परम ऋजुकर्मी श्री गौतम स्वामी को तत्काल कैवल ज्ञान हो गया।

निर्वाण

श्री गौतम स्वामी ने केवली बनने के बाद बारह वर्ष तक भूमण्डल पर साधक विचरण किया। अन्त में राजगृह के गुणशील चैत्य मे सलेखना सथारा सहित मोक्ष पद प्राप्त किया।

भगवान श्री गौतम स्वामी ५० वर्ष की वय मे सयमी बने। तीस वर्ष प्रभु की सेवा मे रहे और बारह वर्ष केवली, यो कुल ९२ वर्ष की कुल उम्र पाये।

(१) भगवान महावीर के प्रथम पट्टधर 'आर्य सुधर्मा'

भगवान महावीर के प्रधान शिष्यरत्न श्री गौतम स्वामी को प्रभु निर्वाण के तुरन्त बाद केवल ज्ञान हो चुका था।

केवली सर्वथा ससार निरपेक्ष होते हैं अत उन्हें किसी पद पर स्थापित नहीं किया जाता। वे नितान्त आत्मानद विलासी, अपने मे परिपूर्ण होते हैं।

आर्य सुधर्मा को छोडकर शेष-गणधर प्रभु की उपस्थिति में ही निर्वाण पा गये थे। उस स्थिति मे प्रभु निर्वाण के बाद प्रभु द्वारा स्थापित विशाल चतुर्विध सघ की समुचित धार्मिक व्यवस्था हेतु प्रभु के ही सुयोग्य शिष्य श्री सुधर्मा-स्वामी को कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा के दिन प्रभु के गरिमापूर्ण, धर्म पट्ट पर स्थापित किया।

अन्य गणधरो के जो गण थे—उनका भी श्री सौधर्म गच्छ मे विलीनीकरण हो गया। इस तरह, प्रभु के बाद वीर-सघ की सम्पूर्ण व्यवस्था का भार पुण्यश्लोकी, गुणालय आर्य सुधर्मा के सुयोग्य स्कन्धों पर उतर आया।

जन्मादि अन्य परिचय

श्री सुधर्मा स्वामी का जन्म ईसा पूर्व ६०७ वर्ष विदेह प्रदेश के कोल्लाग नामक ग्राम मे हुआ। पिता का नाम धम्मिल्ल था तथा माता का नाम भद्दिला। बाल्यावस्था से ही धर्म के प्रति अनुराग होने के कारण 'सुधर्म' के नाम से प्रसिद्ध हुए।

सासारिकता के प्रति बाल्यावस्था से ही एक उदासीनता उनके मन मे छाई हुई थी, नहीं चाहते हुए भी पारिवारिक जनो ने एक कन्या से लग्न कर दिया। इन्हे एक कन्या की भी प्राप्ति हुई।

सासारिकसुख के सभी साधन उपलब्ध होते हुए भी ये निरन्तर ज्ञानाभ्यास तथा अध्यापन काय मे लगे रहते ।

गौतम स्वामी की तरह सुधर्मा भी उस युग के वेद-वेदागो के श्रेष्ठ विद्वानो म से थे । इनके पास पाच सौ छात्र प्राय अध्ययन के लिये बने रहते ।

अपापा मे जब भी इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति और व्यक्तभूति अपनी शकाओ का समाधान पाकर प्रभु के चरणो मे दीक्षित हो गये तो श्री सुधर्मा भी अपना समाधान पाने प्रभु के निकट पहुचे और सदा के लिये जिन शासन के अधीन हो गये ।

श्री सुधर्मा पचास वप की उम्र मे दीक्षित हुए । तीस वष प्रभु की सेवा मे रहे । बीस वष सघ सचालन किया—इनमे आठ वर्ष अन्त के केवली पर्याय रूप थे । कुल १०० वप का आयुष्यपूर्ण कर राजगृह के गुणशील चैत्य मे पादोप गमन सथारा युक्त हो मुक्ति पद पाये ।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है अन्य गण सौधर्म गच्छ मे सम्मिलित हो चुके थे अत वतमान श्रमण परम्परा सौधर्म गच्छीय ही है, साथ ही अन्य गणो की जो वाचनाएँ थी वे भी आज नही हैं । आज जो अगादि शास्त्र हैं वे सौघम वाचना के ही अग ह ।

(२) वैराग्य रत्नाकर "श्री जम्बू स्वामी"

आर्य सुधर्मा स्वामी के परिनिर्वाण के बाद वैराग्य रत्नाकर श्री जम्बू स्वामी को पट्टाधीश निश्चित किया गया ।

राजगृह नगर मे ऋषभदत्त नामक एक धर्मनिष्ठ श्रेष्ठि का निवास था । गृहिणी का नाम धारिणी था । दोनो पति-पत्नी सद्‌गुणी, सुन्दर और धर्मानुरागी थे । वैभव उनके पास बहुत था किन्तु पुत्र की कमी से उनका सारा गृह लगभग शून्यवत् था । सेठ की अपेक्षा सेठानी के मन पर इस कमी का अधिक प्रभाव था ।

एकदा भगवान सुधर्मा स्वामी के दर्शनार्थ दोनो पति-पत्नी वैभार गिरि की तरफ जा रहे थे, वही मार्ग मे यश-मित्र नाम का एक नैमित्तिक उन्हें मिला और निमित्त के बल से उसने एक सुन्दर सुपुत्र होने की भविष्य वाणी की, साथ ही इसके लिये जम्बू नामक देव की आराधना के लिये १०८ आयबिल करने की प्रेरणा भी प्राप्त हुई ।

सेठानी ने अपना अभिष्ट सिद्ध करने को वैसा ही किया ।

कालान्तर मे एक रात्रि उसने सुन्दर सिंह शावक और सरस जम्बू फल के स्वप्न देखे । कुछ ही दिनो मे उसे अपने देह में किसी नये जीवन का आविर्भाव भी स्पष्ट प्रतीत हुआ ।

ज्यो-ज्यो गर्भकाल व्यतीत होता गया । ऋषभदत्त के गेह मे श्री वृद्धि होने लगी । धारिणी भी सद् सस्कारो से अपने गर्भ को प्रतिपालित करती रही ।

गभकाल की परिपक्वता के बाद धारिणी ने एक सुन्दर शिशु को जन्म दिया उसका नाम स्वप्न के आधार पर "जम्बू" रक्खा ।

'जम्बू कुमार' जो कि ऋषभदत्त के पतझड पूर्ण जीवन मे वसन्त की तरह उग आया, हाथो-हाथ पलने लगा ।

सुवर्ण और सुडौल देहाकृति से युक्त जम्बू जन-जन का प्रिय और माता-पिता की आँखो का तारा था ।

ज्यो ही वह योग्यावस्था मे आया श्रेष्ठ कलाचार्य के नेतृत्व में नियुक्ति कर पुरुष योग्य ७२ कलाओ मे उसे निपुण बनाया गया ।

जम्बू कुमार अब तन और बुद्धि से पूण विकसित युवक रत्न था । दमकता हुआ बाल-रवि मध्याह्न मे आते-आते जिस तरह अपनी सम्पूण तेजस्विता के साथ चमकने लगता है । ऐसे ही जम्बू ज्योही यौवन की देहली पर आया उसकी विशाल, सुडौल देह राशि पर यौवन सूर्य-तेजस्विता के साथ दमकने लगा ।

श्रेष्ठि श्रेष्ठ ऋषभदत्त ने अपने सुपुत्र के लिये आठ कन्याओ के साथ सम्बन्ध निश्चित किये । आठो कन्याएँ श्रेष्ठ कुलो मे जन्मी, सद्‌सस्कारो मे पली तथा अप्सराएँ भी लज्जित हो ऐसी सुन्दरियाँ थी । उनके नाम क्रमश थे—

समुद्र श्री, पद्मश्री, पद्म सेना, कनक सेना, नभ सेना, कनकश्री, कनकवती, जयश्री ।

वैराग्योदय

उन्ही दिनो भगवान महावीर के पट्टधर शिष्य श्री सुधर्मा स्वामी का राजगृह पदार्पण हुआ।

सहस्रो व्यक्तियो की तरह श्री जम्बू भी दर्शनार्थ गया और उनके अमृतमय उपदेशो का सरस पान कर अपने आपको धन्य बनाया।

श्री सुधर्मा स्वामी के उपदेशो मे आत्मा के अनन्तकालिक भवभ्रमण का बडा सजीव विवेचन था, जिसे श्रवण कर जम्बू का हृदय वैराग्य की तरगो मे लहराने लगा। ज्यो-ज्यो, जम्बू श्री सुधर्मा स्वामी के उपदेशो पर मनन करता गया त्यो त्यो सासारिकता की असारता और सयम की श्रेष्ठता का तत्त्व-रत्न उसे मिलता रहा।

उसे अनुभव हुआ कि जीवन का सर्वाधिक करणीय पुरुषार्थ तो केवल यह है कि आत्मा अपने अनन्त कालिक भव भ्रमण की सतति को काट सके।

जम्बू जब पुन अपने गृह की ओर बढ़ रहे थे उनके अन्तर मे, दृढ निश्चय भी होता जा रहा था।

उन्होंने अपने भवन पर पहुँच कर अपने सम्यक् निर्णय और दृढ निश्चय का परिचय माता-पिता को स्पष्ट दे दिया।

श्री जम्बू का निश्चय सयम मार्ग पर बढने का था। अपने प्राणो से भी अधिक प्रिय-पुत्र के द्वारा सयम का निश्चय सुनकर माता तो मूर्च्छित ही हो गई—पिता भी आहत से हो चिन्तित हो गये। उन्होंने पुत्र के इस वज्र सकल्प का कई तरह विरोध किया। उसे कई तरह से समझाया किन्तु उन्हें सफलता नही मिली।

वैराग्य पूर्वक विवाह

जम्बू कुमार के माता-पिता के लिये जम्बू का दृढ निश्चय लगभग असह्य था किन्तु श्री जम्बू का निश्चय, तत्त्वार्थ पर आधारित आत्मा के धरातल से उठा एक परम सत्य था। जीवन मे परम सत्य को पा जाना ही बहुत बड़े भाग्य की बात है। जम्बू उसे पाकर खोना नही चाहते थे।

माता-पिता को भी लगभग निश्चय हो गया कि अब जम्बू का निश्चय परिवर्तित होना सम्भव नही फिर भी उन्होंने एक अतिम प्रयास और किया।

उन्होने कहा—हमने बडी आशाएँ लगा रखी थीं तुम पर, जम्बू! तुम्हारे इस नवीन-निश्चय से हमारी लगभग सभी इच्छाओ पर पानी फिर गया।

अब अन्त मे हमारा एक छोटा-सा आग्रह है—यदि तुम सयम-पथ पर बढ़ना ही चाहते हो तो बढो, किन्तु विवाह कर एक बार हमारे आगन पर पुत्र-वधुओ के आभूषणालकृत पद चाप की मधुर झकार झकृत हो जाने दो। फिर अपनी पत्नियो को मनाकर तुम सयमी बनो, हमारी कोई आपत्ति नहीं। यह सुनकर जम्बू ने कहा—मैंने आजीवन ब्रह्मचर्य का नियम लिया है, मुझसे अब विवाह करने को कोई कन्या क्यों तैयार होगी, मेरा निश्चय स्पष्ट है, किसी को अनजान भी नहीं रखना है फिर भी यदि कोई विवाह को तैयार हो जाए तो मुझे आपत्ति नहीं। मैं आपकी इस अतिम अभिलाषा को खण्डित नही करना चाहता।

जम्बूकुमार का यह अनुकूल उत्तर पाकर माता-पिता बड़े प्रसन्न हुए। उन्हें विश्वास था कि आने वाली कन्याएँ इसे अपने आकर्षण मे बाँध लेंगी और पुत्र सयम के पथ पर बढने से रुक जाएगा।

ऋषभदत्त सेठ ने अपने आठो सम्बन्धियो को अपनी सारी वास्तविकता से अवगत किया और विवाह का प्रस्ताव रखा। ऐसी स्थिति मे कोई विवाह करे यह सम्भव नही था किन्तु आठो कन्याओं ने मिलकर, विवाह करने का निश्चय कर लिया था। उन्हें अपनी सुन्दरता का मान तो था ही साथ ही उन्होने यह भी निश्चय किया कि एक व्यक्ति के प्रति पति-भाव का निश्चय कर अन्य का वरण करना अधम है।

उन्होंने निश्चय किया कि हमें त्याग कर जाना आसान नहीं है—हम अपनी राग-पाश मे बाँधकर उन्हें निश्चय से हटा देंगी।

कन्याओं के निश्चयानुसार उनके माता-पिता, विवाह को तैयार हो गये और उचित समय पर बड़े समारोह के साथ विवाह कार्य-सपन्न हुआ। कन्याओं को विदा करते समय माता-पिता उनकी विजय की मगलकामना के साथ उनकी भावी सुरक्षा के लिये अतुल धन-वैभव भी साथ दिया।
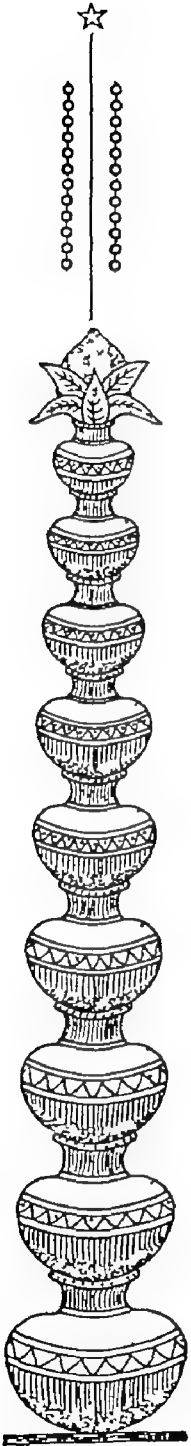
विवाहित जम्बूकुमार ने आठो कमल किसलय-सी सुकुमार पत्नियो के साथ जव गृह-प्रवेश किया तो धारिणी का रोम-रोम पुलकित हो उठा। मगल आरतियाँ कर उनका स्वागत किया।

जम्बू विवाह के प्रारम्भ से अत तक, एक आज्ञाकारी की तरह सारे कायक्रम निभाते रहे उन्हे कही भी तो रस नही था।

अनोखी सुहागरात

नव दम्पत्ति के लिये सुहागरात सम्मोहन और विमुग्धता लेकर आती है किन्तु, जम्बू की सुहागरात तो अनोखी थी।

रात्रि के प्रथम प्रहर मे एक सजे हुए भवन मे—जव जम्बू और उनकी आठो पत्निया मिले तो, वहाँ नितान्त अनोखा वातावरण था।

कामनियाँ जहाँ मोहोद्रेक मे छकी सलज्ज वकिम चित्तवन से श्री जम्बू को आकर्षित करने मे लगी थी वहाँ श्री जम्बू वैराग्य आभा से देदीप्यमान, सौम्य दृष्टि से उन्हें देख रहे थे।

नीरवता को भग करते हुए श्री जम्बू ने कामिनियो को विकार पूण ससार की भीषणता बताते हुए, मुक्ति माग की ओर बढने का आग्रह किया।

पद्मश्री आदि ने अपने आकर्षण पूण हाव-भाव के साथ अप्रत्यक्ष-मुक्ति के आग्रह को अनुपयोगी और भ्रमपूण बताया।

जम्बू और आठो के मध्य तकपूण प्रश्नोत्तर चल रहे थे। तभी—

'प्रभव' तस्कर का आगमन

जयपुर नरेश 'विन्ध्यराज' का पुत्र प्रभव राजा की अप्रसन्नता से राज्याधिकार से वचित होने के कारण क्रुद्ध हो, राजमहलो से बाहर आ गया और बागी वन कर बडे-बडे डाके डालने लगा। 'प्रभव' के गिरोह मे पाँच-सौ डाकू सम्मिलित थे। ये डाका भी डाला करते। कभी-कभी बडी-बडी चोरियाँ भी कर लिया करते। राजगृह और उसके आस-पास ही नही, दूर-दूर तक भी प्रभाव के नाम का बडा आतक था। प्रभव क्रूर और कलापूण तो था ही साथ ही वह कई विद्याओ का स्वामी भी था।

उसने राजगृह और उसके आस-पास अपने कई सहयोगी भी बना रखे थे जो शहर और अन्य जगह की उसे बराबर खबर दिया करते थे।

प्रभव को जब यह ज्ञात हुआ कि ऋषभदत्त सेठ जो पहले से ही बडा धनाढ्य है, उसके वहाँ—अपने पुत्र—विवाह मे और बहुत-सा धन आ पहुँचा है। अभी उस धन को वह सुनियोजित नही कर पाया होगा अत उसने उसी दिन उसके वहाँ चोरी करने का निश्चय कर लिया और अपने पाँच-सौ चोरो के साथ वह उस भवन मे पहुँच गया।

उसने अपनी स्वापिनी और तालोद्घाटिनी विद्याओ का प्रयोग कर सभी को सुला दिया और ताले भी हटा दिये किन्तु अचानक वहाँ कुछ और ही स्थिति बन गई। एक प्रभव को छोड सभी के पाँव जहाँ के तहाँ चिपक गये।

उसे बडा आश्चर्य हुआ साथ ही उसे इस घटना से बडी बेचैनी भी हुई। वह हैरान इधर-उधर ढूढने लगा उस व्यक्ति को जिसके प्रबल प्रभाव का चमत्कार उसे सकट मे डाल रहा था।

'प्रभव' ढूँढता हुआ अचानक उस सुसज्जित मध्य-भवन में पहुँच गया जहाँ, अप्सरातुल्य आठो कामलता-सी कामिनियो के मध्य इन्द्र कल्प, वीतराग भाव मण्डित जम्बू शोभायमान हो रहा था और आठो कामिनियों को वैराग्यप्रद सदेश देता हुआ उन्हें ससार की असारता से परिचित करा रहा था।

प्रभव यह सब देखकर ठिठक गया। वह कुछ देर खडा रहा तथा उस दुर्लभ दृश्य को देखता रहा जो उसके लिये नितान्त अकल्पनीय तथा अनुपम था।

राग और विराग का ऐसा सुस्पष्ट द्वन्द्व उसे कभी भी कहीं भी देखने को नहीं मिला था। जम्बू की ओजपूर्ण सत्योक्तियों से वह बडा प्रभावित हो रहा था किन्तु कोमलागिनी कामनियो की तिरोहित होती हुई भावोर्मियों के प्रति भी वह कम सवेदनशील नही था। उसे बार-बार उनके प्रति सहानुभूति जग रही थी। उसे अनुभव हो रहा था कि जम्बू का माग सत्य हो सकता है किन्तु नवविवाहिता इन सुन्दरियो के साथ जो कुछ हो रहा है वह भी कम अन्याय-पूर्ण नही है।
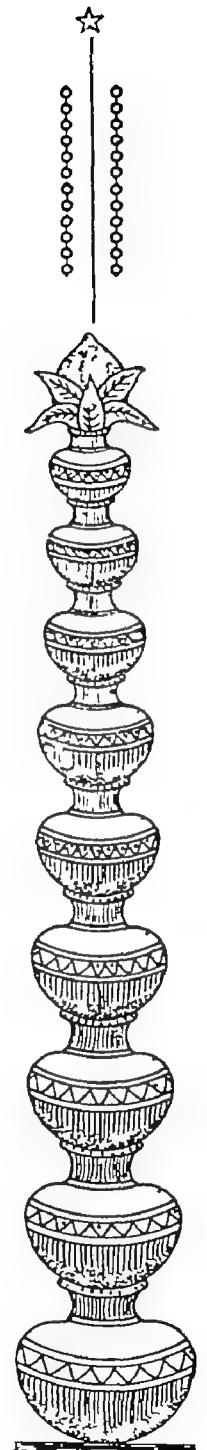
वह कुछ देर ऐसे ही विचारो मे खो गया कि अचानक उसे अपनी सुधि आई। उसके पाँच-सौ साथी चिपके हुए हैं उसे तो तत्काल इसका कोई समाधान ढूंढना है।

उसे समझते देर नही लगी कि सारा चमत्कार इस दिव्य पुरुष जम्बू का ही हो सकता है।

उसने हिम्मत कर आगे पाव बढ़ाया और कहा—जम्बू!

अचानक एक नये स्वर के गूँजने से वातावरण मे एक चौकन्नापन आ गया किन्तु जम्बू घबराये नहीं उन्होंने आगन्तुक को निभयता पूर्वक अपने निकट आने का सकेत करते हुए रात्रि मे उस भवन मे आ पहुचने का प्रयोजन पूछा।

अपनी सारी स्थिति स्पष्ट बताते हुए प्रभव ने विनयपूवक आग्रह रखा कि जम्बू! मुझसे स्वापिनी और तालोदघाटिनी विद्या लेकर स्तम्भनी और विमोचिनी ये दो विद्याएँ दो। हम तुम से बडे उपकृत होंगे।

जम्बू न कहा—प्रभव! मैं तो इस सारे वैभव का परित्याग कर कल ही प्रव्रजित होने वाला हूं मुझे इन विद्याओ की कोई स्पृहा नही है। आत्म कल्याण के पथिक को इनसे प्रयोजन ही क्या?

प्रभव यह सुनकर चकित होता हुआ जम्बू को प्राप्त भोगोपभोग का उपभोग करने का आग्रह करने लगा, किन्तु जम्बू ने सुयुक्तियो के द्वारा प्रभव को ऐसा सद्बोध दिया कि वह स्वय वैराग्यभाव मे झूमने लगा। उसने यावज्जीवन स्तेय-कर्म का वही परित्याग कर दिया, तत्काल उसके साथी भी अनायास मुक्त हो गये। सभी जम्बू के सामने उपस्थित हुए।

श्री जम्बू ने सभी को प्रतिबोधित किया। अनमोल तत्त्व-मार्ग को समझ सभी ने जम्बू के साथ सयम लेने का निश्चय किया।

आठो कामनियाँ जो जम्बू को विकार माग मे प्रवृत्त करने को समुद्यत थी। श्री जम्बू के सातिशय तत्त्वोपदेश से प्रबोधित हो, सयम मार्ग को स्वीकार करने को तत्पर हो गई।

सम्पूण वातावरण मे एक वैराग्य रस की लहर छा गई। जम्बूकुमार के अद्भुत वैराग्य को धन्य है जिसन वैकारिक तम सम्पूर्ण वातावरण मे विराग का जगमगाता सूर्य चमका दिया।

श्री जम्बू की इस महान सफलता से उसके माता-पिता भी कम प्रभावित नही हुए, जब आठो बालाओं के माता-पिताओ को भी यह सारा वृत ज्ञात हुआ तो उन्होंने भी जम्बूजी के साथ ही सयम लेने का निश्चय कर लिया। इस तरह वैराग्य भास्कर श्री जम्बू जी ने ५२७ व्यक्तियो सहित परमोज्ज्वल सयम मार्ग को स्वीकार किया।

'तिण्णाण तारयाण' अर्थात् तिरने और तिराने वाले का ऐसा अद्भुत उदाहरण अन्यत्र मिल पाना कठिन है।

अन्तिम केवली

परम श्रेष्ठ वीतराग भाव मण्डित पूज्य श्री जम्बू स्वामी जिस प्रकर्ष वैराग्य से दीक्षित हुए सयमी जीवन भी उनका उससे भी कही अधिक वैराग्यपूण रहा।

श्रेष्ठतम आत्म-साधना मे तल्लीन रहते हुए श्री जम्बू स्वामी ने श्री सुधर्मास्वामी से अनेक वार तात्त्विक पृच्छाएँ कीं जिसके फलस्वरूप कई शास्त्र प्रकाश मे आये।

श्री जम्बू स्वामी वीर निर्वाण सवत् २० मे श्री सुधर्मा स्वामी के निर्वाण होने पर भगवान महावीर के द्वितीय पट्टधर हुए। उन्ही दिनो श्री जम्बू स्वामी को केवलज्ञान भी प्रकट हुआ। भरत क्षेत्र के इस काल के ये अन्तिम केवली थे। ४४ वष केवल पर्याय से प्रदीप्त होते हुए सघ सचालन करते रहे।

वीर निर्वाण ६४ वर्ष मे श्री जम्बू स्वामी का परिनिर्वाण सम्पन्न हुआ। १६ वर्ष की उम्र मे सयमी हुए। इस तरह श्री जम्बू स्वामी का ८० वर्ष का कुल आयुष्य था। श्री जम्बू स्वामी के निर्वाण होने के साथ ही भरत क्षेत्र से निम्नाकित १० बोल विच्छेद हुए।

(१) मन पर्यवज्ञान, (२) परमावधिज्ञान, (३) पुलाक लब्धि (४) आहारक शरीर, (५) क्षपक श्रेणी, (६) उपशम श्रेणि, (७) जिनकल्प, (८) परिहार विशुद्ध, सूक्ष्मसपराय, यथाख्यात ये तीन चारित्र, (९) केवलज्ञान (१०) मुक्तिगमन।

□

पूर्वधर काल

(३) श्री प्रभव स्वामी

वैराग्यादश श्री जम्बूस्वामी के निर्वाण वाद, श्री प्रभव स्वामी को भगवान का तृतीय पट्ट धर नियुक्त किया ।

जन्म आदि परिचय

श्री प्रभव राजकुमार थे । इनका जन्म जयपुर नरेश के यहाँ ईसा पूव ५५७ मे हुआ । योग्यावस्था मे सव-कलाओ मे पारगत होने पर ज्यो ही प्रभव युवावस्था मे आये । किसी कारण से पिता इनसे अप्रसन्न हो गये । राज्याधिकार का जो कि इनका जन्म-सिद्ध अधिकार था ,छीन लिया और उनके स्थान पर लघुभ्राता को राज्य दे दिया ।

इस पर प्रभव वड़े खिन्न हुए और राजधानी छोड कर बाहर निकल गये । उन्होंने दल वनाकर डाका डालना प्रारम्भ कर दिया ।

श्री प्रभव के जीवन की आगे की घटनाओ से पाठक जम्बू के जीवनवृत के साथ ही परिचित हो चुके हैं ।

डाकू अर्थात् पतित से पावन होने का प्रभव जैसा पुरुषार्थ, विश्व मे बहुत कम दिखाई देता है ।

उत्तराधिकारी की शोध

श्री प्रभव स्वामी ने ७५ वर्ष सयम पालन किया उसमे से अन्तिम ११ वर्ष तक वडी निपुणता के साथ चतुर्विध सघ का सचालन किया ।

अपने आखिरी वर्षों मे उन्हें इस वात का वडा विचार था कि सघ मे कोई मुनि ऐसा सुयोग्य दिखाई नही दे रहा था जो भविष्य मे सघ का सचालन कर सके ।

एक रात ऐसी ही विचारधारा मे डूबे चिन्तन-रत थे तभी एक व्यक्तित्व उन्हें ध्यान मे आया जो सघ सचालन के लिए सुयोग्य सिद्ध हो सकता था ।

उन्होंने दूसरे ही दिन राजगृह की तरफ विहार कर दिया । राजगृह के बाहर उद्यान मे ठहर कर दो मुनियो को नगर मे कुछ आदेश के साथ विदा किया । दोनो मुनि जहाँ आर्य शय्यभव यज्ञानुष्ठान मे रत थे, वहाँ आकर बोले, "अहो कष्ट-अहो कष्ट कष्ट तत्त्व न ज्ञायते" जब यह शय्यभव ने सुना तो, उन्होंने सोचा, क्या इतना कष्ट उठाकर जो अनुष्ठानादि कर रहे हैं, ये तत्त्व स्वरूप नही है ? क्या इनसे भी अधिक कोई तत्त्व हो सकता है ? ये मुनि हैं, असत्य के त्यागी हैं, अवश्य इनके कथन मे सच्चाई है, मुझे और विशेष तत्त्व ज्ञान को समझना चाहिये ।

यज्ञानुष्ठान सम्पन्न कर प० शय्यभव ने आचाय प्रभव के पास पहुँचकर विशेष तत्त्व जानने की जिज्ञासा प्रकट की । आचाय ने शुभावसर देख शय्यभव को वीतराग-मार्गीय तत्त्व-ज्ञान का सम्यक्बोध प्रदान किया जिसे सुनकर शय्यभव वडे प्रभावित हुए ।

उन्होंने आचाय प्रभव के पास सयम लेकर आत्म-कल्याण का पथ स्वीकार कर लिया । आचार्य, प्रभव भी अपनी एक चिन्ता से मुक्त हुए ।

थोडे ही समय मे आचाय प्रभव शय्यभव को सघभार देकर अपने को निश्चिन्त बना दिया ।

स्वर्ग गमन

आचार्य प्रभव ३० वर्ष गृहस्थ रहे, ६४ वर्ष सामान्य मुनि पद पर तथा ११ वर्ष सघ के आचार्य पद पर रहे इस तरह ७५ वर्ष दीर्घ सयम का पालन कर वीर निर्वाण सवत् ७५ मे स्वर्ग गति प्राप्त हुए ।

(४) आचार्य शय्यभव

महान् प्रभाविक आचाय रत्न श्री प्रभव स्वामी के स्वर्गवास वाद, उनके पवित्र गौरवशाली पट्ट पर, श्री सयमव मुनि रत्न को विराजित किया गया ।

आचाय शय्यभव कैसे प्रतिबोधित हुए ? यह तो पाठक पूर्वाचार्य के वृत्त में पढ ही चुके हैं ।
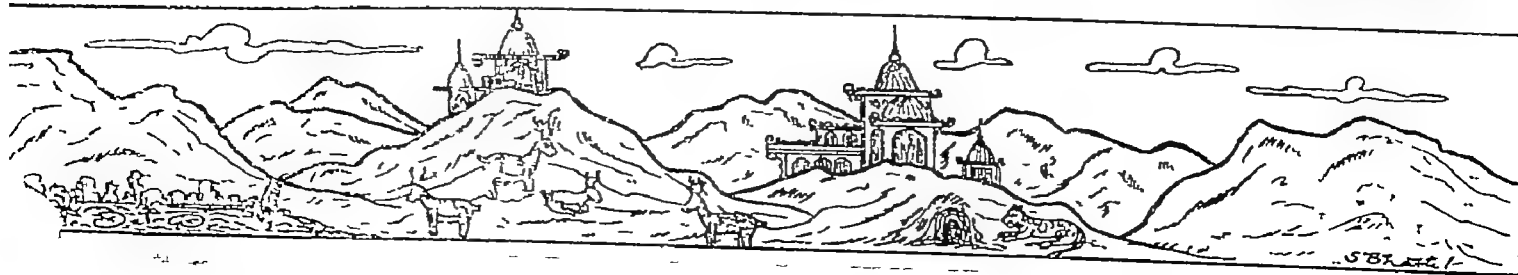
मणक की दीक्षा और दशवैकालिक की रचना

श्री सयभव भट्ट आचाय प्रभव द्वारा प्रतिबोधित होकर सयमी हुए, तब वे अपने पीछे एक सुन्दर पत्नि को गर्भवती अवस्था मे छोड आये थे।

सयभव से सम्बन्धित व्यक्ति इस चिन्ता मे थे कि कोई पुत्र भी नही था जो भट्ट वश को प्रगति दे।

सम्बन्धित कुछ स्त्रियाँ, श्री सयभव की पत्नि से यह जानने का यत्न करने लगी कि कोई आशावल्लरी विद्यमान है या नही ?

किसी ने पूछा तो भट्ट जी की पत्नि ने मनाक् शब्द का उच्चारण किया जिसका अथ 'कुछ' होता है। यह मनाक् शब्द ही मणक के रूप मे फैला और कालान्तर मे जब पुत्रोपलब्धि हुई तो उसका नाम ही 'मणक' प्रसिद्ध हो गया।

'मणक' बाल भाव से मुक्त होते ही ज्योही कुछ सयाना हुआ, अपने पिता के विषय मे जानने का प्रयास करने लगा। एक दिन अपनी माता से ही पिता के विषय मे पूछ बैठा तो मा ने पिता के दीक्षित होने का सारा वृत स्पष्ट बता दिया।

मणक ने निश्चय किया मैं अपने पिता के दशन करूँगा। वह उन्हे ढूँढने को घर से निकल पडा।

एक दिन वह चम्पा नगरी मे पहुँच रहा था कि नगर के बाहर ही उन्हे एक मुनि मिले। वे मुनि और कोई नही, आचाय सयभव ही थे जो जगल को आये थे। मणक ने बहुत ही भोले भाव से आचार्य को पूछा कि क्या आप मेरे पिता सयभव आचार्य को जानते हैं ? मैं उनका पुत्र मणक हूँ, मैं उन्हे ढूंढ रहा हूँ। कही मिलें तो मैं उनके दशन करूँ ?

आचाय सयभव ने कहा—हाँ, वे आचाय यही हैं तुम हमारे उपाश्रय मे उन्हे पहचान लोगे। 'मणक' साथ चला और उपाश्रय मे उन्ही मुनि को आचाय के पट्ट पर बैठा देख, वह बडा प्रसन्न हुआ। वह समझ गया कि मुझे यहाँ तक लाने वाले मुनि ही मेरे पिता हैं। वह उनकी चरणोपासना करने लगा। आचाय ने उसे उपदेश देते हुए कहा कि वह अपने पिता पुत्र के सम्बन्ध को प्रकाशित न करे।

'मणक' प्रतिबोधित हो सयम पथ पर आ गया।

आचाय सयभव ने 'मणक' के आयुष्य को बहुत थोडा देखकर लघु और सारगर्भित दशवैकालिक सूत्र की सरचना कर उसे द्वादशागी का सारभूत ज्ञान प्रदान किया।

'मणक' कुल छह माह सयमी जीवन मे रहा। समाधि पूवक काल कर स्वगगति प्राप्त की।

आचाय सयभव ने मुनियो को "मणक" का परिचय देते हुए अपना सम्बन्ध प्रकट किया।

मुनि बडे आश्चर्य चकित हुए, इतने लम्बे समय तक परिचय नही देने का कारण बताते हुए आचार्य ने कहा—परिचय ज्ञात होने पर अन्य मुनि सेवा लाभ नहीं लेने देते तथा अन्य मुनिगण उसकी सेवा करते, सेवा से वचित होने से उसकी आत्मा सेवा एव निजरा का लाभ नही उठा सकती।

स्वर्गगमन

श्री शय्यभव ने २८ वष की युवावस्था मे सयम ग्रहण किया। ११ वष सामान्य मुनि पद पर रहे। २३ वष आचाय पद पर रह कर जिन शासन को तेजस्विता के साथ चमकाया और वीर निर्वाण सवत् ९८ में ६२ वष की आयु पूर्ण कर स्वर्गवासी हुए।

स्वर्गवास से पूर्व, सुयोग्य शिष्य यशोभद्र को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया।

५ आचार्य श्री यशोभद्र स्वामी

आचाय श्री यशोभद्र के विषय मे अधिक जानकारी नहीं मिल सकी, ये याज्ञिक ब्राह्मण गौत्रीय थे। आचाय सयभव से प्रतिबोधित होकर २२ वष की वय मे सयमी हुए। आचायसयभव के स्वगगमन के बाद आपको पट्टारोहण किया गया। ५० वष आचाय पद पर रहे। वीर निर्वाण सवत् १४८ मे श्री सभूति विजय को उत्तराधिकारी घोषित कर स्वर्गवास प्राप्त किया।

इन्होंने २२ वष गृहस्थ मे १४ वर्ष सामान्य मुनि पद पर तथा ५० वष आचार्य पद पर बिताये। कुल ८६ वर्ष का आयुष्य था।

(६) आचार्य श्री सम्भूतिविजय

भगवान महावीर के छट्ठे पट्टधर आचार्य सम्भूति विजय का जन्म वीर निर्वाण सवत् ६६ मे हुआ था। ४२ वर्ष की वय मे आचार्य प्रवर श्री यशोभद्र से प्रतिबोधित होकर सयमी हुए। ये पाठक गोत्रीय ब्राह्मण थे। ४० वष सामान्य मुनिपर्याय तथा ८ वर्ष आचार्य पद पर रहकर वीर निर्वाण सवत् १५६ मे स्वर्ग गति प्राप्त हुए।

(७) आचार्य श्री भद्रबाहु

आचार्य श्री सभूति विजय के पट्ट पर श्री भद्रबाहु समासीन हुए।

आचार्य भद्रबाहु का जन्म वी० नि० स० ९४ प्रतिष्ठानपुर मे एक प्राचीन गोत्रीय ब्राह्मण परिवार मे हुआ। ४५ वष गृहस्थावस्था मे व्यतीत करने पर आचाय यशोभद्र स्वामी के शिष्य हुए।

वीर नि०स० १५६ में आचाय पद प्राप्त हुआ। १४ वर्ष तक आचायत्व काल मे जिनशासन मे सूर्य के समान प्रखरता के साथ तप कर अनेको उपकार सम्पन्न करते हुए वीर नि० स० १७० मे आपका स्वगगमन हुआ।

आचाय भद्रबाहु, अन्तिम श्रुतकेवली तथा उत्कृष्ट श्रुत सेवी परमोपकारक महान् आचाय थे।

इन्होंने चार छेद सूत्रो की रचनाएँ की। स्थूलभद्र महामुनि को दो वस्तु कम दश पूव का ज्ञान प्रदान किया।

आचाय भद्रबाहु ज्ञानी ही नही, बहुत बडे योगी भी थे। १२ वर्ष तक निरन्तर महाप्राण ध्यान की उत्कृष्ट साधना कर परम निजरा की आराधना की। यह ध्यान साधना नेपाल देश मे सम्पन्न हुई।

उत्कृष्ट शासन-प्रभावक

आचाय भद्रबाहु श्रेष्ठ शासन प्रभावक थे। इसका प्रमाण यह है कि वराहमिहिर इनका छोटा भाई था। दोनो साथ ही दीक्षित हुए किन्तु भद्रबाहु को आचार्य पद मिलने से वह खिन्न हो, सयम-भ्रष्ट हो गया और निमित्त ज्ञान का चमत्कार बताकर आजीविका चलाने लगा। चमत्कार से प्रभावित हो, प्रतिष्ठानपुर के राजा ने राज्य पुरोहित का पद दे दिया। वह यह अधिकार पाकर मुनियो का बडा द्वेषी बन गया।

एक बार आचाय भद्रबाहु वहाँ पधारे। राजा सहित सभी सेवा मे उपस्थित थे। वराहमिहिर भी साथ था तभी एक व्यक्ति ने सन्देश दिया "पुरोहित जी के घर पुत्र-जन्म हुआ है" इस सन्देश से राजा आदि सभी को प्रसन्नता हुई। राजा ने पुरोहित से पूछा, शिशु का भविष्य क्या है ? उसने कहा, मेरा पुत्र शतायु होगा, किन्तु आचार्य ने शासन की प्रभावना हेतु निमित्त प्रकाशित करते हुए कहा—बच्चा सातवें दिन बिल्ली से मारा जाएगा। वराहमिहिर ने बच्चे की सुरक्षा का बडा प्रबन्ध किया किन्तु सातवें दिन अर्गला (आगल) के गिरने से बच्चा मर गया। आगल पर बिल्ली का चित्र अकित था। आचार्य की बात सत्य सिद्ध होने से वराहमिहिर बडा खिन्न हुआ और परिव्राजक बन, घोर तप कर, व्यन्तर देव हुआ और जिन धर्मियो को शारीरिक व्याधियो से पीडित करने लगा। आचार्य भद्रबाहु ने 'उवसग्गहर' स्तोत्र की रचना कर, उसकी आराधना प्रारम्भ कराई। व्यन्तर का सारा उपद्रव समाप्त हो गया।

(८) आचार्य स्थूलभद्र

आचाय स्थूलभद्र का जन्म वीर नि० स० ११६ मे पाटलिपुत्र के प्रसिद्ध महामात्य शकटार की धर्मपत्नी लक्ष्मीदेवी की कुक्षि से हुआ था। ये गौतम गोत्रीय श्रेष्ठ ब्राह्मण थे। शकटार नवम नद के प्रधानमन्त्री थे। श्रीयक, श्री स्थूलभद्र के अनुज थे, साथ ही इनके यक्षा आदि सात बहनें थी जो बडी बुद्धिमती थी।

युवावस्था मे पहुचन तक स्थूलभद्र अनेक विद्याओ मे पारगत हो गये किन्तु व्यावहारिकता के प्रति नितात उदासीनता देखकर शकटार ने श्री स्थूलभद्र को 'कोशा' नामक नृत्यागना के यहाँ भेज दिया जिससे वह सासारिकता का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सके।

कोशा के यहाँ, सासारिकता का अनुभव करते स्थूलभद्र कोशा के प्रति इतने अनुरक्त हुए कि बारह वष उन्होने कोशा के भवन से बाहर पाव तक नही रखा।
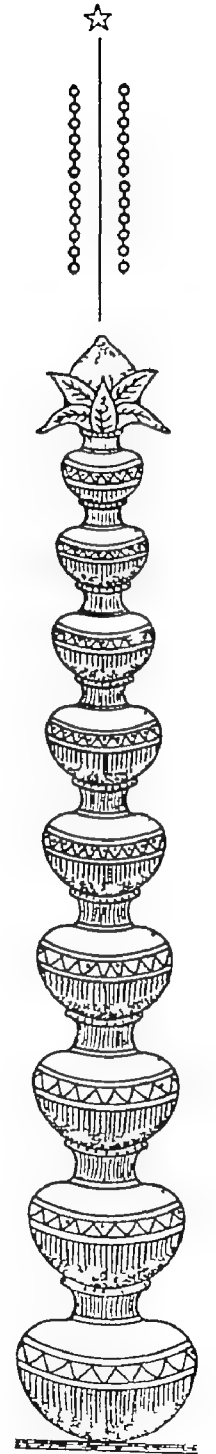
महामात्य शकटार के देहावसान के बाद श्री स्थूलभद्र को महामात्य पद लेने का आग्रह किया गया, किन्तु राज्य व्यवस्था के लिये किये जाते स्वार्थपूर्ण प्रपञ्चो को देखकर उनके मन में वैराग्य भाव का उदय हो गया।

उन्होंने वीर नि० स० १४६ मे आचार्य श्री सभूति विजय के निकट सयम माग स्वीकार किया।

सयम लेकर श्री स्थूलभद्र मुनि ज्ञान सपादन और गुरुसेवा मे रत हो गये।

कठिन अभिग्रह

चातुर्मास काल निकट आने पर स्थूलभद्र के साथी मुनियो ने कई विचित्र अभिग्रह किए। एक मुनि ने सिंह की गुफा मे चातुर्मास विताने का, एक मुनि ने सप की बावी पर ध्यान करने का, एक ने कुए के किनारे चातुर्मास करने का इस तरह उस समय श्री स्थूलभद्र ने भी एक विचित्र निणय किया "कोशा के भवन मे निर्विकार दशा मे चार माह विताने का।"

गुरुजी ने सभी को आज्ञाएँ प्रदान कर दीं। सभी अपने निर्धारित स्थान पर चातुर्मासार्थ पहुँचे तो स्थूलभद्र भी कोशा के भवन पर पहुचे।

कोशा जो स्थूलभद्र के वियोग मे तडप रही थी उसका प्रतिपल प्रतीक्षा मे बीत रहा था। स्थूलभद्र को आते देख बडी प्रसन्न हुई। उसने बडे सम्मान के साथ अपने भवन मे मुनि को ठहराया और वह तन्मय होकर सेवा लाभ उठाने लगी।

कोशा की सेवा मे विकार का पुट था। वह निरन्तर श्री स्थूलभद्र मुनि को भोग मे प्रवृत्त करने को प्रयास करती रही। उसने हास, परिहास, नृत्य, शृ गार प्रत्येक विकारोत्तेजक क्रीडा द्वारा मुनि को आकर्षित करने का यत्न किया किन्तु उसे सफलता नही मिली, मुनि स्थूलभद्र स्फटिक रत्न की तरह निर्विकार दशा मे ही झूलते रहे।

इतना ही नही, वे समय-समय पर कोशा को सद्बोध भी देते रहे।

कोशा और स्थूलभद्र के मध्य 'योग और भोग' का यह विलक्षण सघष चार माह तक चला। अन्ततोगत्वा स्थूलभद्र की आध्यात्मिकता की पूर्ण विजय हुई। कोशा व्रत धारिणी श्राविका बनी।

चातुर्मास समाप्ति के वाद जब सब मुनि गुरुसेवा में आये तो, गुरु ने सभी को 'दुक्कर'(तुम्हारा तप दुष्कर है) कहकर सम्बोधित किया किन्तु जब स्थूलभद्र आये तो 'अइ दुक्कर' (अति दुष्कर) कहकर, अत्यन्त आत्मीयतापूर्वक स्नेह-आशीर्वचन कहे।

इस पर, अन्य मुनि रुष्ट हुए। उन्होंने सोचा कोशा के यहाँ सभी तरह की सुविधा मे रह आये, फिर क्या कष्ट था। उनमे से एक मुनि कोशा के यहाँ, फिर चातुर्मास करने को गया किन्तु परीक्षण करने हेतु कोशा ने ज्यों ही विकार चेष्टा की, वह मुनि सयम मार्ग से भ्रष्ट हो गया।

कोशा ने अपनी विशेष युक्तिपूर्वक उसे पुन' सयम में स्थिर किया।

उस मुनि को अनुभव हुआ, वास्तव मे स्थूलभद्र की निर्विकारता की साधना, सभी से श्रेष्ठतम थी।

दश पूर्वधर

श्री स्थूलभद्र दश पूव धर थे। देश के मध्य प्रान्तों मे उस समय भीषण अकाल था। अनेक मुनि विदेशो की तरफ बढ गये। श्रीभद्रबाहु स्वामी नेपाल देश मे ध्यान लीन हो गये। साधुसघ विश्रृ खलित-सा हो गया। श्रुत लुप्त होता दिखाई देने लगा। यह दुर्भिक्ष १२ वर्षीय था।

बडी कठिनाई से यह समय निकला। फिर सुभिक्ष आया, साधुसघ एकत्रित हो श्रुत सेवा मे जुट गया। पाटलिपुत्र मे श्री स्थूलभद्र के नेतृत्व में आगम की प्रथम वाचना सम्पन्न हुई।

आगम पाठ मिलाये गये, उन्हें स्थिर किया तथा भविष्य में सुरक्षित रखने हेतु निर्णय लिये। यह उस युग का महानतम काय था, जो श्रीमद् स्थूलभद्र मुनि के नेतृत्व मे सम्पन्न हुआ।

पूर्व जो विच्छेद होने जा रहे थे उन्हें सुरक्षित प्राप्त करने और सुरक्षित करने हेतु श्री स्थूलभद्र मुनि पाँच सौ मुनियो के साथ नेपाल देश गये और बडे श्रम के साथ भद्रबाहु स्वामी से दश पूव का ज्ञान प्राप्त किया।

ध्यान की साधना सपन्न होने पर श्री भद्रबाहु स्वामी सभी मुनियो के साथ मध्य देश मे आए। पाटलिपुत्र मे सघ ने उनका हार्दिक स्वागत किया।
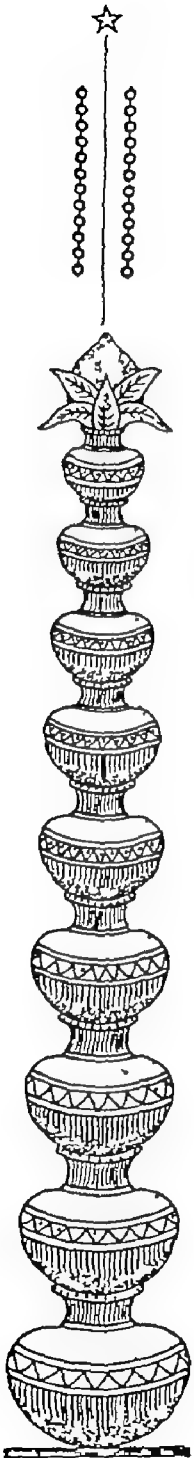
वर्षो से स्थूलभद्र मुनि आये अत उनकी बहनें दशनार्थ गई। वे भी साध्वियाँ ही थीं। श्री स्थूलभद्र मुनि ने अपनी बहनो को चमत्कार बताने हेतु सिंह का रूप धारण कर लिया।

यह घटना जब भद्रबाहु ने सुनी तो उन्होंने शेष चार पूर्वों की वाचना देना बन्द कर दिया।

आचार्य स्थूलभद्र जिन शासन के जगमगाते दीप थे।

उन्होंने आगम वाचना सम्पन्न कराकर सघ पर अनन्त उपकार किया।

ये कुल ३० वर्ष गृहस्थ रहे। २४ वर्ष सामान्य मुनि और ४५ वर्ष आचार्य पद को सुशोभित किया। इस तरह ९९ वर्ष का आयुष्य भोग कर वैभार गिरि (राजगृह) पर १५ दिन के सथारे सहित स्वर्गलोक को प्राप्त हुए।

(९) आचार्य महागिरि

आचार्य महागिरि एलापत्य गोत्रीय थे, ३० वर्ष गृहस्थ पर्याय मे पले। आचार्य श्री स्थूलभद्र द्वारा प्रतिबोधित हो सयमी बने। ४० वर्ष सामान्य मुनिपद तथा ३० वर्ष आचार्य पद पर सुशोभित होकर वीर नि स २४५ स्वर्गवास पाये।

आचार्य महागिरि एकात निष्ठ दृढ़ साधनानिरत उग्र तपस्वी, दश पूर्वधर, बड़े प्रभावक मुनिराज थे। इन्होंने अपने जीवन काल मे ही सघ का भार अपने परम सहयोगी आचार्य सुहस्ति को सौंप दिया था। ये त्याज्य आहार का सेवन करते और प्राय एकात ध्यान करते। आचार्य महागिरि सुदृढ आचारवादी महात्मा थे।

(१०) आचार्य सुहस्ति

आचार्य सुहस्ति का गार्हस्थ्य काल २३ वर्ष, सामान्य मुनिव्रत ३१ वर्ष तथा आचार्य काल ४६ वर्ष, इस तरह कुल १०० वर्ष का आयुष्य पाया।

आचार्य महागिरि की तरह सुहस्ति भी आचार्य स्थूलभद्र से दीक्षित हुए तथा स्थूलभद्र और आचार्य महागिरि के सानिध्य मे दीर्घकाल तक ज्ञानाराधना कर, दश पूर्वधर बने।

इन्होंने अपने आचार्य काल मे जिनशासन की महती सेवाएँ की।

आचार्य सुहस्ति ने राजा सम्प्रति को सद्बोध देकर जिनमार्ग का सुदृढ अनुयायी बनाया।

राजा सम्प्रति ने जैनधर्म के प्रचार हेतु अनेक प्रयत्न किये। उन्होंने अपने पुत्र तथा पुत्रियो को मुनिवेश पहना कर विदेशो तक मे भेजा और जनता को श्रमणाचार का परिचय दिया जिससे मुनियो को विचरने मे कठिनाई का सामना नहीं करना पड़े।

जैन इतिहास प्रसिद्ध अवन्ति सुकुमार मुनि इन्ही आचार्य सुहस्ति के सुशिष्य थे। श्मशान मे ध्यान करते हुए शृगालिनी के द्वारा इस मुनि का वध हुआ था। मुनि बडी धैर्यता से आत्मरत रहे और मृत्यु प्राप्त कर नलिनी गुल्म विमान में देव बने।

(११) आर्य बालिस्सह

आचार्य सुहस्ति के स्वर्गवास के बाद गणाचार्य, वाचनाचार्य आदि परम्पराएँ सघ व्यवस्था और श्रुतसेवा की दृष्टि से प्रवर्तमान हुई। आर्य बालिस्सह गणाचार्य थे। आर्य महागिरि के स्वर्गगमन तथा दुष्काल आदि कारणो से नष्ट होते श्रुतज्ञान की सुरक्षा हेतु भिक्खुराय ने कुमारगिरि पर श्रुत सभा बुलाई उसमे २०० जिनकल्प, मुनि, ३०० स्थविर कल्प मुनि, ३०० साध्वियाँ, ७०० श्रावक तथा ७०० श्राविकाएँ उपस्थित थी।

इस सभा मे आर्य बालिस्सह प्रधान थे। ये पूर्वधर थे।

(१२) आर्य इन्द्रदिन्न

गणाचार्य की परम्परा में आर्य सुहस्ति के पट्टधर आर्य सुप्रतिबद्ध भी गणाचार्य थे, आर्य इन्द्रदिन्न इन्ही के पट्ट पर वीर नि सवत् ३३९ मे पट्टासीन हुए।

(१३) आर्य आर्यदिन्न

गणाचार्य इन्द्रदिन्न के पट्ट को इन्होने सुशोभित किया। ये गौतम गोत्रीय ब्राह्मण थे।

(१४) आर्य वज्र स्वामी (वहेर स्वामी)

जैन शासन को दैदीप्यमान करने वाले युग-प्रधान श्रेष्ठ आचार्यों मे आचार्य वज्र स्वामी का नाम भी कम

महत्त्वपूर्ण नही है। इनका जन्म वीर नि सवत् ४९६ मे तुम्बवन नामक नगर मे हुआ। पिता का नाम धनगिरि तथा माता का नाम सुनन्दा था। धनगिरि वैराग्य प्राप्त कर दीक्षित हुए तब "वज्र" माँ के गर्भ मे थे।

कहते हैं जन्म के कुछ समय बाद ही पिता के दीक्षित होने का सवाद सुनकर बालक वज्र को जाति स्मरण ज्ञान हो गया।

उसने मन ही मन दीक्षा लेने का निर्णय ले लिया। दीक्षा का आधार बनाने को वह बराबर रोता रहता था। एक दिन धनगिरि गोचरी को आये। सुनन्दा ने परेशान हो बच्चा उनकी झोली मे डाल दिया, मुनि ले आये। मुनि ने उस बच्चे को सघ को सौंप दिया। बच्चा वय सम्पन्न हो जाने पर, माता ने मोहवश बच्चे को प्राप्त करने को झगडा किया। सघ मुनि के सौंपे बच्चे को कैसे दे सकता था। आखिर यह झगडा राजा के समक्ष उपस्थित हुआ, राजा ने बच्चे को मध्य मे खडा रख एक तरफ रजोहरण मुनि-वस्त्र, पात्र आदि धरे दूसरी तरफ गृहस्थ के वस्त्र भूषण आदि रखे, बच्चे ने मुनि वस्त्रो को धारण कर लिया। बच्चा सघ को सौंप दिया गया। सघ ने बडे उत्सव के साथ "वज्र" का सयम समारोह सम्पन्न किया। पात्र मे वहराने के कारण भी इनको वहेर स्वामी कहा जाता है, वैसे वज्र का अपभ्रश उच्चारण भी वयर होता है। श्री वज्र स्वामी श्रमण श्रेष्ठ सिंहगिरि के शिष्य थे।

वीर निर्वाण सवत् ५४८ मे इन्हें आचार्य पद दिया गया।

आचार्य वज्र बडे प्रभाविक सुन्दर तथा श्रेष्ठ व्याख्याता थे।

एक बार पाटलिपुत्र निवासी धनश्रेष्ठी की कन्या रुक्मिणी ने जब वज्र स्वामी की बडी प्रशसा सुनी तो वह उन पर मुग्ध हो गई, उसने उन्हीं के साथ विवाह करने का प्रण ले लिया। श्रेष्ठीधन ने अपनी पुत्री को समझाया किन्तु वह अपने प्रण से तिल भर भी नहीं हटी तो, धन—कन्या और विपुल धनराशि लेकर आचार्य के पास उपस्थित हो सारी बात बताई और कन्या के प्रण की पूर्ति करने का आग्रह किया।

आचार्य वज्र ने कन्या और धन को बडे ही मृदुल भावो से तत्त्वबोध दिया। फलत दोनो ने सयम मार्ग स्वीकार कर आत्म-कल्याण साधा।

आचार्य वज्र ने अपने जीवन काल मे अनेक शासनोपयोगी उपकार किये।

(१५) आर्य वज्रसेन

प्राप्त पट्टावली के अनुसार वहेर स्वामी के पट्ट पर वज्रसेन स्वामी आचार्य बने। वज्रसेन आर्य वहेर स्वामी के प्रमुख शिष्य थे।

(१६) आर्यरथ

आचार्य वज्रसेन के पट्ट पर आचार्य रथ (रह-रोह) समासीन हुए।

(१७) आर्य मुखगिरि

आचार्य रथ के बाद आर्य मुखगिरि प्रधान गणाचार्य के रूप मे स्थापित हुए।

दिगम्बर मत का उदय

वीर निर्वाण सवत् ६०९ मे रथवीर पुर मे राज-पुरोहित शिवभूति (कहीं-कहीं सहस्रामल्ल) राज्य वैभव म मस्त रात तक इतस्तत भ्रमण किया करता था। एक दिन बहुत देरी से घर पहुँचा तो मा ने कहा—यहाँ तो द्वार बन्द है जहाँ खुला द्वार हो वही चले जाओ। शिवभूति भी कभी वापस नही आने की प्रतिज्ञा कर दूसरी तरफ निकल गया। उस समय जैनाचार्य कृष्ण वहीं विराजित थे, उनके उपाश्रय का द्वार खुला था। वह उसी मे प्रविष्ट हो गया। श्री कृष्णाचार्य ने प्रारम्भिक परिचय पूछ कर सद्बोध दिया। शिवभूति दीक्षित होगया। स्थानीय राजा ने भी यह सवाद सुना तो दर्शनार्थ आया। उसने भक्ति निर्भर हो एक रत्न कम्बल वहराई जिसे शिवभूति ममत्व से गट्ठर मे बाँधकर ही रक्खा करता।

आचार्य कृष्ण ने कई बार कहा कि कम्बल को काम मे लेना चाहिये किन्तु शिवभूति नहीं माना—एक दिन आचार्य ने कम्बल के टुकडे कर सभी साधुओं को दे दिये। इस पर शिवभूति बडा कुपित हुआ। आचार्य ने कहा ममत्व रखना पाप है। शिवभूति ने कहा—ममत्व तो कपडा रखने वालो के भी होता ही है। आचार्य ने कहा—ऐसा मत कहो, वस्त्र सयम की रक्षार्थ है, न कि ममत्व हेतु।

शिवभूति को समझाया किन्तु उसने अपनी विरुद्ध प्ररूपणा छोडी नहीं। उसने कहा—सवस्त्र सग्रथ है, निग्रन्थ नही।

निग्रन्थ को वस्त्र कल्पता ही नही, ऐसा कहकर वह निवस्त्र हो विचरने लगा।

उसने आचारागादि शास्त्रो के विच्छेद होने की भी प्ररूपणा की। विद्यमान शास्त्रो को कृत्रिम कहने लगा। उसके साथ कहते हैं उसकी बहन भी नग्न हुई थी, किन्तु किसी सज्जन ने किसी उच्च भवन से उस पर वस्त्र डाल दिया। शिवभूति ने कहा—स्त्रियाँ निर्ग्रन्थ नही हो सकतीं। इन्हें मोक्ष भी नही। इस तरह कई विरुद्ध प्ररूपणाएँ करते हुए इसने एक भिन्न मत की स्थापना की जो 'दिगम्बर' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

(१८) आचार्य फल्गुमित्र

आचाय मुखगिरि के पट्ट पर आचाय फल्गुमित्र सुशोभित हुए। इनके वाद क्रमश —

(१९) धारण गिरि, (२०) आचार्य शिवभूति, (२१) आर्यभद्र, (२२) आर्यनक्षत्र, (२३) आर्य रक्षित, (२४) आर्य नाग स्वामी, (२५) जेहल विष्णु, (२६) सढील अणगार, (२७) देवर्धि क्षमाश्रमण।

प्राप्त पट्टावली मे यह क्रम है, अधिक परिचय भी उसमे उपलब्ध नही है। अन्य पट्टावलियो मे देवर्धि क्षमाश्रमण के पूर्व कई अन्य नामोल्लेख के साथ क्रम चलता है। वस्तुत कई गच्छ और उपगच्छो के अस्तित्व मे आ जाने से कोई निश्चित एक क्रम बन नहीं सका।

जैन-धर्म के मौलिक इतिहास मे इससे भिन्न क्रम दिया गया है। इस क्रम के अनुसार स्थूलभद्र के वाद क्रमश आचार्य महागिरि, आचाय सुहस्ति, आचार्य गुण सुन्दर, आचाय श्याम, आचाय साण्डिल्य, आचाय रेवती मित्र, आचाय-धम, आचाय भद्रगुप्त, आचार्य श्री गुप्त, आचार्य वज्र, आचार्य रक्षित, आचार्य दुवलिका पुष्यमित्र, आचार्य वज्रसेन, आचार्य नागहस्ति, आचार्य रेवती मित्र, आचार्य सिंह, आचार्य नागहस्ति, आचाय भूतदिन्न, आचार्यकालकाचाय, आचाय सत्यमित्र, आचार्य देवधिगणी क्षमाश्रमण।

इस तरह विविध कई क्रम उपलब्ध होते हैं।

पट्टावलीगत आचार्यों मे से जिनका जितना परिचय प्राप्त हो सका वह सक्षिप्त मे नीचे दिया जाता है।

(२३) आचार्य रक्षित

आचार्य रक्षित का जन्म वीर नि० स० ५२२ का माना जाता है। २२ वष की वय मे सयम स्वीकार किया, ४२ वर्ष सामान्य मुनि पद पर रहे, १३ वर्ष आचाय पद पर, इस तरह वीर नि० स० ५९७ मे स्वर्गवास प्राप्त हुए।

इनके वचपन की बात है जब ये पाटलिपुत्र से विशेष शिक्षा लेकर अपने जन्म-स्थान दशपुर आये तो, सभी ने स्वागत किया किन्तु माता रुद्रसोमा जो जैन तत्त्वानुरागिनी थी उसने कहा, यदि दृष्टिवाद पढकर आता तो मुझे प्रसन्नता होती।

सुपुत्र रक्षित दृष्टिवाद पढने आचार्य गुरु तोषली पुत्र के पास गये और दृष्टिवाद पढने लगे। शास्त्राभ्यास करते हुए वैराग्योदय हुआ और सयमी वन गये।

आचार्य तोषली पुत्र ने रक्षित मुनि को सुयोग्य समझकर पूर्वज्ञान प्राप्त करने हेतु आय वज्र के पास भेजा। आर्य वज्र की सेवा मे पहुँच कर आर्य रक्षित ने नौ पूर्वो का ज्ञान प्राप्त किया। घर से प्रस्थान करने पर पुन रक्षित के घर नहीं लौटने से सभी को बडी चिन्ता हुई। उन्हें ढूँढने को छोटा भाई फल्गुरक्षित को भेजा। फल्गुरक्षित ढूँढता हुआ वहाँ पहुँचा जहाँ आर्यरक्षित पूर्वज्ञान प्राप्त कर रहे थे।

वहाँ पहुँचकर फल्गुरक्षित ने घर लौटने का आग्रह किया। उसने कहा कि यदि तुम जन्मभूमि मे आओगे तो बडे उपकार होंगे, कई पारिवारिक-जन दीक्षित होंगे। रक्षित मुनि ने कहा, यदि ऐसा है तो पहले तुम तो दीक्षित हो जाओ।

फल्गुरक्षित ने आज्ञा शिरोधार्य कर सयम ले लिया। उसकी तत्परता देख रक्षित मुनि का जन्मभूमि की तरफ जाने का आकर्षण वन गया, फिर वे वहाँ अधिक ज्ञान लाभ नहीं ले पाये और आज्ञा लेकर अपने जन्मस्थान की तरफ
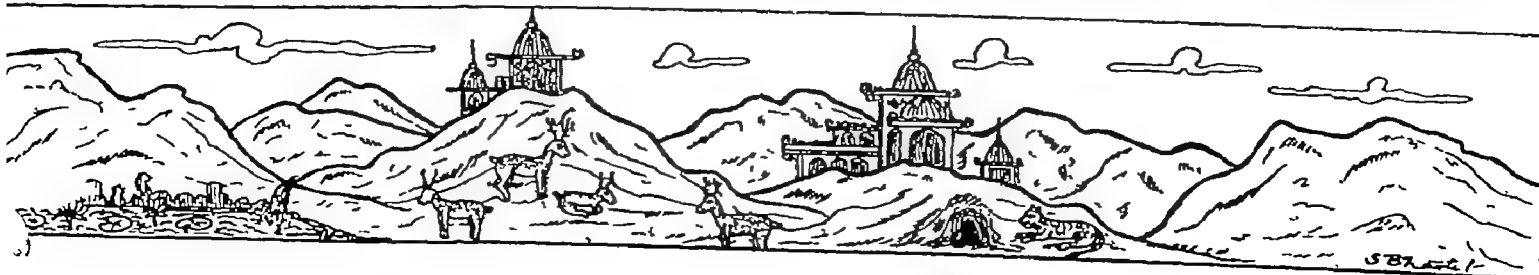
बढ गये । इस तरह नौ पूव ही शेष रह पाये । एक पूर्व आचाय वज्र किसी को दे भी नहीं पाये और उनका स्वगवास हो गया ।

अनुयोग पृथक्कर्ता

आचायरक्षित ने अनुभव किया कि युग प्रभावानुसार श्रमणो और विद्यार्थियो की बुद्धि क्रमश क्षीण होती जा रही है । ऐसी स्थिति मे समग्र श्रुत का एक ही साथ अध्ययन सभव नही होगा और अध्ययन ठीक नही होने पर श्रुत के विलुप्त होने का भय था, अत उन्होंने चारो अनुयोगो को पृथक् कर दिया । अनुयोगो का यह पृथक्करण सामान्य प्रज्ञा वालो के लिये बडा उपयोगी रहा । अल्पधी व्यक्ति भी श्रुत लाभ पा सके ।

(२४) आर्य नाग स्वामी

श्रीनाग स्वामी का दीक्षा काल वीर नि स ५६२-५६३ का माना जाता है । २८ वष सामान्य मुनिपद पर रहकर तथा ६६ वष आचार्य पद निभाकर सुदृढ शासन सेवाएँ की वी नि स ६८६ मे स्वगवास पाये । आप कुछ न्यून १० पूर्व के ज्ञाता थे ।

(२६) आर्य सढील अणगार (स्कन्दिल)

आय स्कन्दिल के विषय मे सर्वाधिक प्रसिद्ध घटना उनके द्वारा माथुरी वाचना करवाना है । इनका काय काल वी नि स ८२३ से ८४० के आस-पास का मान्य है ।

देश मे दुर्भिक्ष आदि कई कठिन कारणो से साधु समुदाय विच्छिन्न हो रहा था । श्रुतोपस्थिति की बडी हानि हो रही थी । ऐसी स्थिति मे आय स्कन्दिल का मथुरा मे साधु समुदाय को एकत्रित कर व्यवस्थित वाचना करना बडा महत्त्वपूर्ण काय रहा । उपलब्ध आगम माथुरी वाचना के ही माने जाते हैं ।

चैत्यवास, आचार शैथिल्य का पर्याय

भगवान महावीर ने श्रमण पर्याय की सुरक्षा और श्रमण के अध्यात्मिक अभ्युदय को प्रगतिशील रखने हेतु एक व्यवस्थित आचार सहिता का निर्देश किया । तदनुसार भगवान महावीर का श्रमण सघ वीर निर्वाण बाद भी ६-७ शताब्दियों तक विधिवत् आचार धर्म का पालन करता हुआ प्रगति करता रहा ।

दुष्काल आदि कठिनाइयो तथा श्रमण सघ मे सुविधा स्नेही मनोवृत्ति का यत्र तत्र प्रवेश होने से सातवी शताब्दी मे कही-कहीं आचार शैथिल्य प्रकट होने लगा जो क्रमश बढ़ता ही गया ।

वी नि की आठवी शताब्दी के मध्य और उत्तरार्ध तक तो यह शैथिल्य अपनी चरम सीमा तक पहुंचने लगा था ।

उस स्थिति का चित्रण करते हुए आचार्य हरिभद्र कहते हैं ।

"ये चैत्य मे निवास करते हैं । पूजादि आरम्भ कार्य कराते हैं । देव द्रव्य भोगते हैं तथा जिन शालाएँ, मन्दिर आदि बनवाते है ।[1]

हरिभद्र कहते हैं कि अधिक क्या कहें । ये चैत्यवासी बिना नाथ (नकेल) के बैल की तरह है ।[2]

ये किसी नियम मे बधे नहीं हैं ।

चैत्यवास की स्थिति में शिथिलाचार खुलकर फैला । श्रमण धर्म लगभग विलुप्त-सा हो रहा था ।

सुविहित आचार वाले मुनि बिलकुल नहीं थे ऐसी बात तो नही थी किन्तु आठवी शताब्दी (वी नि) के अन्त तक लगभग चैत्यवासियों का प्राबल्य हो चुका था । मूर्ति और मूर्तिवाद चैत्यवास युग की ही देन है ।

नितान्त आत्मानुलक्षी, निराडम्बरी जैनधर्म चैत्यवास के पनपने के साथ ही अपने मौलिक स्वरूप से बहुत कुछ हट चुका था ।

---

१ चेइय मढाइ वास, पूयारभाइ निच्च वासित्त ।
देवाइ दव्व भोग, जिणहर सालाइ करण च ॥

२ अनत्थिय वसहा इव ।—सबोध प्रकरण

चैत्यवासियो ने यन्त्र मन्त्रादि के प्रयोग व अन्य कई चमत्कारो के द्वारा जनमत को अपनी तरफ खीच रखा था। कई नगर मे तो केवल चैत्यवासी ही जा-आ सकते थे। सुविहित मुनियो का प्रवेश तक निषिद्ध था।

तथाकथित चैत्यवासी मुनियो ने अपने वष मे भी मनभाना परिवतन किया।

मुख वस्त्रिका का वास्तविक उपयोग समाप्त हो गया। साथ ही निरन्तर दण्ड धारण जैसी अनावश्यक प्रवृत्तियां भी तब चल पड़ी।

चैत्यवास के प्रबल प्रभुत्व के होते हुए भी आर्य सुहस्ति आर्य महागिरि आदि कुछ प्रधान आचार्यों की सुविहित परम्परा अविच्छिन्न चली आई जिससे मुमुक्षुओ को जैनधम तथा श्रमणाचार के सत्य स्वरूप का जब तब परिचय मिल जाया करता था।

(२७) आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण

आचाय देवर्द्धि गणी क्षमाश्रमण वीर निर्वाण दशवी शताब्दी की देन है। आचाय देवर्द्धि का जन्म वेरावल पाटण मे काश्यप गोत्रीय कामर्द्धि क्षत्रीय की पत्नि कलावती की कुक्षि से हुआ था।

स्वप्न मे देवताओ की समृद्धि देखने से बालक का नाम देवर्द्धि रखा गया। युवावस्था मे दो कन्याओ के साथ लग्न हुए। कहते हैं कुसग के कारण इनके जीवन मे कई तरह की बुराइयां भी आ गई थी उनमे आखेट प्रधान था। ऐसा भी कहते हैं कि देवर्द्धि पूर्वभव मे हरिणगमैषी देव था। वहाँ से च्यवित होने पर उस स्थान पर जिस देव ने जन्म लिया उसने देवर्द्धि को सद्बोध देने को एक बार शिकार के लिये दौडते देवर्द्धि को बडी भयकर स्थिति मे डाल दिया। एक तरफ गहरी खाई, दो तरफ भयकर क्रूर शूकर सामने गुर्राता हुआ सिंह यह स्थिति देख देवर्द्धि के प्राण सूखने लगे। उसी समय पृथ्वी कपित हुई और देववाणी हुई अब भी सम्भल, अन्यथा मृत्यु ध्रुव है।

देवर्द्धि ने कहा—मैं आज्ञानुसार करने को उपस्थित हूँ। उसी समय देव ने उसे उठाकर दूष्य-गणी के पास पहुँचा दिया।

सद्बोध पाकर देवर्द्धि ने सयम धर्म प्राप्त किया और लगनपूर्वक शास्त्राभ्यास करना प्रारम्भ किया।

वल्लभी वाचना

आचार्य स्कन्दिल के सानिध्य मे जो आगम वाचना सम्पन्न हुई उसे १५० वर्ष के लगभग हो चुके थे। कहते हैं औषधि हेतु लाये सोठ के एक टुकडे को आचार्य ने अपने कान पर लगा दिया, वह पुन सूर्यास्त पूर्व गृहस्थ को सौंपना था किन्तु भूल गये। प्रतिक्रमण के समय वन्दन करते हुए देखा कि टुकडा कान से नीचे आ पडा। अपनी इस विस्मृति से वे तत्काल सावधान हो गये। उन्होंने हीनमान कालक्रम के अनुसार मन्द प्रज्ञा तथा विस्मृति आदि को देखते हुए आचार्य देवर्द्धि ने आगम वाचना का गुरुतर कार्य अपने हाथ मे लिया।

वीर नि० स० ९८० मे वल्लभी मे विशाल मुनि सम्मेलन बुलाया गया तथा मुनियो से जिसको जैसा याद था शास्त्र पाठ लिया। विविध वाचनाओ से हुए पाठान्तरों को भी अलग से सुरक्षित रखे तथा स्मृतिपथ पर जीवित रहे आगमों को लिखित रूप देने का प्रथम बार महान् उपक्रम किया गया।

प्रस्तुत कार्य में अनेक आचार्यों का महत्त्वपूर्ण योग था। उनमे आचार्य कालक (चतुर्थ) का सहयोग अत्यधिक प्रशसनीय था।

विस्मृति के अन्ध गर्त मे जाते आगमो को लिपिबद्ध करके आचार्य देवर्द्धि गणी क्षमा श्रमण ने आप और हम जैसे अल्प प्रज्ञा वाले साधको पर अनन्त-अनन्त उपकार किया है जिसे जिह्वा या लेखनी से किसी भी तरह प्रकट नहीं किया जा सकता।

आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण जिन शासन की महती सेवा कर वीर नि०स० ९९० में स्वर्गवासी हुए।

आचार्य देवर्द्धि गणी क्षमाश्रमण के स्वर्गवास होने के साथ ही पूर्वज्ञान का भी विच्छेद हो गया।
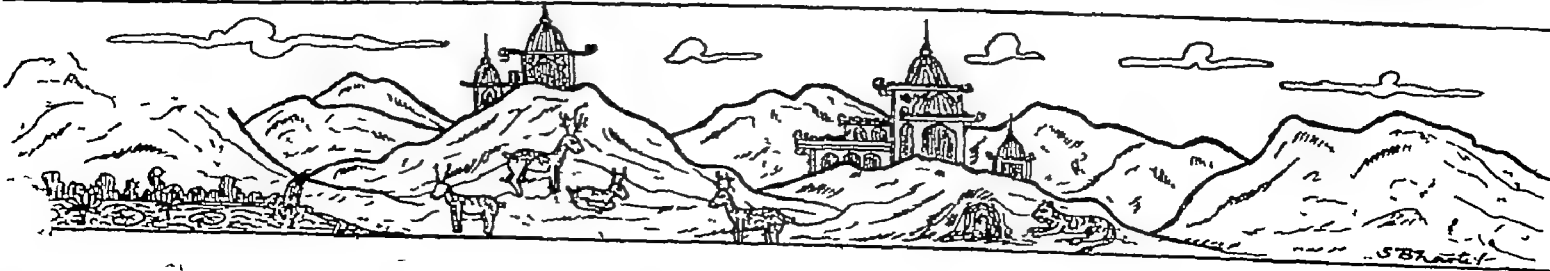
अवक्रमण युग

भगवान महावीर और इन्द्र के मध्य हुआ एक प्रश्नोत्तर बडा प्रसिद्ध है।

इन्द्र ने पूछा—प्रभु ! आपके निर्वाण वाद जैनधर्म का भविष्य क्या होगा ?

प्रभु ने कहा—विशेष उत्साहप्रद नही, निर्वाण के समय राशि पर भष्म ग्रह का योग है—और वह जिन शासन की अवनति का सूचक है। दो हजार वर्ष का यह अवक्रमण काल होगा। इन्द्र ने कहा—क्या यह योग टल भी सकता है ? प्रभु ने कहा—असम्भव, योग तो निमित्त मात्र है। वस्तुत तो होना ही है।

उक्त सवाद से पाठक समझ गये होंगे कि भगवान महावीर के परिनिर्वाण के बाद, जिन शासनका नवोदय रुक सा गया। अवक्रमण का प्रारम्भ निर्वाणोत्तर काल मे प्रारम्भ हो चुका था किन्तु जम्बू, प्रभव, सयभव जैसी महान चेतनाओ की उपस्थिति तथा उनके वाद भद्रवाहु स्थूलभद्र जैसे, अत्युच्च कोटि के महात्माओ के प्रभाव से वह लोक जीवन मे व्यक्त नही हो सका किन्तु गच्छ भेद तथा अनेक आचार्यों की निष्पत्ति वह मूल था जिसके कटुफल लगने-समव थे।

वीर निर्वाण छठी शताब्दी मे दिगम्बर भेद तथा आठवी शताब्दी मे चैत्यवास का प्रावल्य, इतने वडे प्रमाण हैं कि जो ह्रासोन्मुखता को स्पष्ट व्यक्त करते हैं।

जिन शासन को विकृत करने वाले विकार कृमि यद्यपि वहुत पहले से उत्पन्न हो चुके थे। किन्तु युग प्रधान तेजस्वी महात्माओ के प्रभाव से वे यथेष्ट प्रभाव नही वता सके किन्तु देवर्द्धिगणि जैसी आदर्श विभूति के विलुप्त होने के साथ ही उन विकृतियो को, पनपने और खुलकर खेलने का अवसर मिल गया।

वीर निर्वाण सवत् १००० मे श्रीमद् देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के स्वर्गवास के साथ ही पूर्वो का विच्छेद हो गया। तदन्तर लगभग १००० वर्ष का काल जैन समाज के लिये नितात अवक्रमण काल रहा। उन वर्षो मे नवागी टीकाकार श्री अभयदेवसूरि, श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य, श्रीमद् हरिभद्र सूरि, श्रीमद् सिद्धसेन दिवाकर आदि कुछ तेजस्वी साहित्य प्रणेता तथा आचारनिष्ठ प्रसिद्ध श्रमण भी हुए किन्तु या तो वे चैत्यवास का विरोध ही नही कर सके या विरोध भी किया तो उसे विकसित करने और सार्थक वनाने मे सिद्ध नही हो सके।

श्रमणो मे व्याप्त शिथिलाचार का परिचय हरिभद्रसूरि के सम्बोध प्रकरण से स्पष्ट मिल जाता है। कुछ परिचय तो पाठको को चैत्यवास वाले प्रकरण में मिला ही है कुछ और यहाँ परिचय देना असगत नहीं होगा। तात्कालिक श्रमण स्थिति का परिचय देते आचार्य हरिभद्र कहते हैं—

ये साधु-आहार का सग्रह करते हैं। आधा कर्म भोगते हैं, जल-फलफूल सभी सचित सेवन करते हैं। नित्य दो समय भोजन लेते हैं, सभी विगय और लवग ताम्बोल आदि का भी सेवन करते हैं।[१]

ये तथाकथित मुनि कहलाने वाले नरक गति का हेतु ज्योतिष निमित्त, मन्त्र योग आदि का प्रयोग करते रहते हैं। प्रतिदिन पाप साधना मे लगे रहते हैं।[२]

गृहस्थो के आगे दिखावे को स्वाध्याय कर लिया करते है, एक-दूसरे से झगडते हैं। ये लोग शिष्यो के लिये प्राय क्लेश किया करते हैं।[३]

ये पतित साधु केवल मूर्खो को ही सुन्दर लगते हैं। सुदक्ष व्यक्तियो को तो ये साक्षात विराधक और पाप के द्रह प्रतीत होते हैं।[४]

आचार्य रत्न श्री हरिभद्र को इनकी यथेच्छ प्रवृत्तियो का कितना दुख था। यह तो पाठक उनकी इस अभिव्यक्ति से समझ सकते हैं कि उन्होने इन्हें बिना नाथे बैल कहा।

---

१ सनिहिमाहाकम्म जलफल कुसुमाइ सव्व सच्चित। निच्च दुतिवार भोयण, विगइ लवगाइ तबोल ॥
२ नरय गइ हेउ जोइस, निमित्त तेगच्छ मत्त जोगाइ। मिच्छत्तराय मेव नीयाण पाव माहिज्ज ॥
३ गिहि पुरओ सज्झाय करति अण्णोण्णमेव झूझति। मीमाइयाण कज्जे कलह विवाय उइरगेंति ॥
४ किंवहुणा भणिएण वालाण ते हवतिरमणिज्जा। दक्खाण पुण एए, विराहगा छिन्न पावदहा ॥

उन्होंने कहा कि 'मूर्ख कहते हैं' यह भी तीर्थंकरो का भेष है अत नमनीय है ! ऐसे अल्पज्ञ व्यक्तियो को क्या कहें । मेरे विचारो की यह कसक किसे कहूं ।[१]

पाठक इससे समझ सकते हैं कि उस समय श्रमण धर्म की कैसी दुरवस्था हुई होगी । यद्यपि सुविहित आचार पद्धति का कही न कहीं थोडा-बहुत सवहन हो भी रहा था किन्तु उसे हम केवल नाममात्र का कह सकते है ।

आचारहीनता के उस वातावरण मे कोई उत्क्रान्ति का स्वर नही उठा ऐसा तो हम नही कह सकते । सविग्न सम्प्रदाय का उदय तथा तप-गच्छ, खरतर गच्छ आदि के उदय मे भी परिष्कार की भावना निहित रही थी किन्तु वाह्य आडम्बर का मूल तथा आचार शैथिल्य का प्रमुख कारण तो अचैनन्य पूजा तथा उसके केन्द्रो के साथ लगी अनावश्यक प्रदर्शन मूलक प्रक्रियाएँ थीं, जिसे वे उत्क्रान्तिकर्ता हरा न सके परिणामस्वरूप परिस्थितियों का कुछ रूपान्तर भले ही हो गया हो, किन्तु समूल उच्छेद नही हो सका ।

उत्क्रान्ति युग

लोंकाशाह का आलोक

लोकाशाह के तात्विक अभ्युदय का परिचय देने से पूर्व, उनके जीवन वृत का थोडा परिचय देना अनुपयुक्त नहीं होगा ।

लोंकाशाह का जन्म अरहट्टवाडा (गुजरात) मे ओसवशीय चौधरी परिवार मे विक्रम सवत् १४७२ तदनुसार वीर निर्वाण सवत् १४४२ मे कातिक शुक्ला पूर्णिमा शुक्रवार दि १८।७।१४१५ मे हुआ । पिता का नाम हेमाशाह था तथा माता गगाबाई थी ।

लोकाशाह बचपन से ही निर्विकारप्रिय सद्सस्कारों से ओतप्रोत थे उन्हें सासारिकता का कोई मौलिक आकर्षण नही था किन्तु अध्ययन आदि प्रारम्भिकता सपन्न करने के बाद युवावस्था मे आते-आते माता-पिता के आग्रह ने उन्हें एक कन्या के साथ विवाह करने को विवश किया । कन्या सिरोही के सुप्रसिद्ध सेठ ओघव जी की सुपुत्री 'सुदर्शना थी । कालान्तर मे एक पुत्र रत्न की भी प्राप्ति हुई । उसका नाम 'पूर्णचन्द्र' रखा गया । २३ वष की उम्र मे माता तथा २४ वर्ष की उम्र में पिता का देहावसान हो गया ।

लोकाशाह का अब वहाँ से मन हट गया । कुछ राजनैतिक वातावरण मे अरहट्टवाडा में रहने के प्रतिकूल था । वे अहमदाबाद रहने लगे ।

अहमदाबाद के तत्कालीन शाह मुहम्मद श्री लोकाशाह के चातुय और बौद्धिकता से बडे प्रभावित थे । उन्होने लोकाशाह को कोषाधिकारी नियुक्त कर दिया ।

राज्य-काय का सचालन करते हुए लोकाशाह ने देखा कि सांसारिकता और लालसा के गुलाम मानव कितने पापाचार और षड्यन्त्र रचते हैं । उन्हीं दिनो कुतुबशाह ने अपने पिता मुहम्मद शाह को विष देकर मार डाला । स्वार्थ-वश पुत्र द्वारा पिता की इस तरह हत्या किये जाने पर तो लोंकाशाह को बडी हार्दिक पीडा हुई । उन्हें सामारिकता से बडी घृणा हो गई । उन्होंने राज्य-कार्य का परित्याग कर घर पर ही धर्माराधन करना प्रारम्भ कर दिया ।

श्री लोंकाशाह का मौलिक स्वभाव ही ससार के प्रति उदासीनता का था । जैन धम का त्याग प्रधान सदेश उनको बडा प्रिय था । वे जैन तत्त्वो को बडी गहराई तक जानना, समझना चाहते थे ।

उन्ही दिनो एक ऐसा प्रसग बना जिससे उनके तत्त्व-ज्ञान को विस्तृत होने का बडा सुन्दर अवसर मिला ।

लोकाशाह का लेखन बडा सुन्दर था । उससे प्रभावित हो, यति ज्ञान सुन्दर जी ने उन्हें शास्त्रों की प्रतिलिपि करने का आग्रह किया । श्रुत सेवा का अवसर देखकर श्री लोकाशाह ने भी सानन्द स्वीकार किया । सवप्रथम दश वैकालिक सूत्र की प्रतिलिपि करना प्रारम्म किया । प्रथम गाथा मे ही अहिंसा, सयम, तप, रूप, धर्म स्वरूप को पाकर श्री लोकाशाह को बडा आकषण जगा । उन्होंने प्रत्येक शास्त्र की दो प्रति करना प्रारम्भ किया ।

---

१ वालावयति एव वेसो तित्थयराण एसोवि ।
णमणिज्जो छिद्दी अहो सिर मूलकस्स पुक्करियो ॥

एक प्रति दिन मे और एक रात मे इस तरह दो प्रति लिखते। कहते हैं उन शास्त्रो की उन्होंने प्रतिलिपियाँ कर ली। प्रतिलिपि के साथ गहनतत्त्व ज्ञान का अभ्यास भी होता गया।

अभ्यास के साथ उनका चिन्तन भी चलता रहा। उन्होने देखा, भगवान महावीर का यथाथ आचार मार्ग तो आज विलुप्त-सा हो चुका है। चारो तरफ आडम्बर और शिथिलाचार छाया हुआ है।

साधु अपनी मर्यादा को भूल चुके हैं, धम क्रियाओ से हिंसा का प्रत्यक्ष ताडव चल रहा है।

उन्होंने अनुभव किया कि शास्त्रो मे मूर्तिपूजा और मन्दिर आदि का कोई अस्तित्व और महत्व है ही नही किन्तु आज तो सारा जैन सघ इन्ही को केन्द्र बनाकर लगभग सभी तरह के आस्रवो का सेवन करने मे लगा हुआ है। उन्हें भगवान महावीर के माग की यह हीनावस्था देखकर बडा दु ख हुआ। जैन धम और साध्वाचार के नाम पर जो चल रहा था वह श्री लोकाशाह के लिए नितान्त असह्य था।

एक बार यति जी शास्त्र लेने आये। घर पर शाहजी की पत्नि थी, उसने कहा—दिन वाले दू, या रात वाले? इस तरह कहने से यति जी कुछ शास्त्र लेकर गये किन्तु उन्होंने आगे लिखाना वन्द कर दिया।

श्री लोकाशाह को जो ३२ शास्त्र मिले, इनमे भी बहुत कुछ जैन तत्त्वो का खजाना उन्हे मिल चुका था।

उन्होंने एक दिन व्याप्त विकारो का सुदृढ विरोध करने का निश्चय कर लिया।

उत्क्रान्ति का प्राथमिक प्रयास

श्रीमद् लोकाशाह का विरोध किसी व्यक्ति का विरोध नही था। उनका विरोध उन आडम्बरो, विकारो और शिथिलाचारो से था जो जैन धर्म की वास्तविकता को मिटाये जा रहे थे।

उन्होंने अपने विचारो के प्रचार के लिए कोई बड़े आयोजन नही किये, न प्रचार दौरे किये। उन्होंने केवल अपने सम्पर्क मे आने वालो को वास्तविक तत्त्वज्ञान और आचार मार्ग बताना प्रारम्भ किया।

श्री लोकाशाह का तत्त्व-सन्देश यथार्थ पर आधारित था। वे जो भी कहते, शास्त्र पाठो के द्वारा उसे पुष्ट करते। उनके तर्क बेजोड और अकाट्य होते थे। फलत जो भी उनके सम्पर्क मे 'आता, उनसे प्रभावित हुए बिना नही रहता।

कुछ ही समय मे श्री लोकाशाह के कई अनुयायी तैयार हो गये और वे श्री लोकाशाह के घर पहुच कर तत्त्व चर्चा किया करते।

श्री लोंकाशाह अपने घर पर ही आगत व्यक्तियो को धर्मोपदेश दिया करते।

वे अपने धर्मोपदेश मे मुख्य रूप से निम्न सिद्धान्तों की पुष्टि करते।

(१) तीर्थंकर भगवन्तो की मूर्ति और मूर्तिपूजा का शास्त्रो मे कोई आधार नहीं।

(२) प्रतिष्ठा आदि कार्यों मे होने वाली हिंसा धम नही, अधर्म ही है।

(३) वर्तमान साध्वाचार, भगवान महावीर का श्रमणाचार नही है।

श्रमणो को एक ही स्थान पर सुविधापूर्ण होकर रहना, हिंसा के कार्यों मे भाग लेना, द्रव्यादि का सग्रह करना नितान्त अकल्पनीय है।

श्री लोकाशाह ये कुछ मुद्दे ही विकृत वाद मे विप्लव मचाने को काफी थे। श्री लोकाशाह का प्रचार बडी तेजी से बढ़ने लगा। फलस्वरूप स्थापित सुविधा वाद मे हलचल फैल गई।

उधर से भी प्रबल विरोध चालू हो गया। श्री लोकाशाह को मिथ्यात्वो और उत्सूत्र प्ररूपक कहा जाने लगा।

यथास्थितिवादियो ने उस समय के सुप्रसिद्ध सघपति, पाटन के श्री लखमशी भाई को लोकाशाह को समझाने भेजा। श्री लखमशी भाई बड़े शास्त्र रसिक और सघ हितैषी श्रावक थे। उन्होंने श्री लोकाशाह को समझाने का प्रयास किया, किन्तु जब श्री लोकाशाह ने शास्त्र रहस्य प्रकट कर लखमशी भाई के सामने रखा और प्रचलित परिस्थितियो की विडम्बना का परिचय दिया तो वह चकित रह गया।

श्रीमद् लोकाशाह ने कहा, लखमशी भाई! जैन धर्म आज हिंसा और पाखण्ड के दो पाटों के बीच पिसा जा रहा है और सुविधावादी धमगुरु और पथवादी उपासक उसे पीस रहे हैं। उठो! जिन शासन को इस दशा से मुक्त करो।

श्री लखमशी भाई जो समझाने गये थे, श्री लोकाशाह से तत्त्वार्थ समझकर उनके अनुयायी हो गये। इस घटना से जैन समाज में बडी चर्चा फैल गई फलत कई व्यक्ति उनके पास पहुँचने लगे, जो पहुँचते उनमे कुछ तो विग्रह-विवाद लेकर आते कुछ समझने को आते। किन्तु जो भी आते वे लोकाशाह के विचारो से अवश्य प्रभावित हो जाते।

उन्ही दिनों अरहट्टवाडा, सिरोही, पाटण और सूरत के सघ यात्रार्थ निकले और अहमदाबाद आये। वह समय वर्षा का था, बडी भारी जीवोत्पत्ति हो रही थी।

सघ कुछ दिनो के लिए अहमदाबाद ठहरा। श्री लोकाशाह की क्रान्ति वीणा बज रही थी, चारो सघो के सघपति श्री नाग जी, श्री दलेचन्द जी, श्री मोतीचन्द जी, श्री शम्भू जी ने भी यह चर्चा सुनी तो व भी श्री लोकाशाह के पास पहुचे और गम्भीरतापूर्वक वार्तालाप करने लगे। श्री लोकाशाह ने शुद्ध दयाधम का स्वरूप शास्त्रोक्त शैली म समझाया तो चारो इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने यात्रा का विचार ही त्याग दिया। इतना ही नही वे शुद्ध दयाधम के अनुरूप श्रमण धर्म स्वीकार करने को तैयार हो गये। यात्रा मे आये अन्य व्यक्ति भी इस तत्त्वोपदेश से वैराग्यवान बने। इस तरह कुल ४५ व्यक्ति मुनि बनने को तैयार हो गये।

श्री लोकाशाह ने सोचा मैं तो गृहस्थ हूँ इन्हें श्रमण धम देने को कोई योग्य मुनि चाहिये।

श्री ज्ञान जी मुनि श्री लोकाशाह की श्रद्धा-प्ररूपणा के अनुरूप आचार की प्रतिपालना करने वाले, मुमुक्षु मुनि थे, उन्हें अहमदाबाद बुलाया और ४५ व्यक्तियो की दीक्षा कराई।

यह घटना सवत् १५२७ वैशाख शुक्ला ३ के दिन की है।

श्री लोकाशाह जी की आगम मान्यता का अब तेजी से विस्तार होने लगा, उनके अनुयायियो की सख्या लाखो मे होने लगी।

उपयुक्त अवसर देखकर उन्होंने भी स० १५३६ मिगसर शुक्ला ५ को ज्ञान जी के शिष्य श्री सोहन जी के पास दीक्षा स्वीकार कर ली।

श्री लोकाशाह का प्रचार कार्य मुनिपद आने के साथ बडा भारी विस्तृत हो गया, अहमदाबाद से दिल्ली तक लाखो उनके अनुयायी शुद्ध वीतराग धर्म का जयघोष कर रहे थे। ४०० शिष्य बने जो देश के कौने-कौने मे पवित्र वीतराग मार्ग को फैलाने लगे।

विषाहार और स्वर्गगमन

श्रीमद् धर्मवीर लोकाशाह मुनि का चैतन्यवादी उद्घोष जडवादियो को प्रकम्पित कर रहा था। श्री लोकाशाह के क्रान्ति-अभियान से पाखण्डवाद की जडें हिल चुकी थी। कहीं-कही तो वह लगभग समाप्त ही हो चुका था यह बात यथास्थितिवादियो के लिए बडी असह्य थी। वे कई षड्यन्त्र तैयार करने लगे।

एक बार श्री लोकाशाह मुनि दिल्ली से अलवर आये। वही किसी मिथ्याभिनिवेशी ने जहरीला आहार बहरा दिया। श्री लोकाशाह ने वह आहार लिया और तत्काल उसका असर हुआ। वस्तु स्थिति को समझते देरी नही लगी।

उन्होंने तत्काल सलेखना सस्थारक स्वीकार कर अन्तिम क्रिया साधी और स्वग लोक की ओर प्रयाण कर दिया।

यह घटना स० १५४६ चैत्र शुक्ला एकादशी के दिन घटी।

श्रीमद् लोंकाशाह का स्वर्गवास मुमुक्षु जैन जनता के लिए गहरा धक्का था—मानो जगमगाता क्रान्तिसूर्य अस्त हो गया।

श्री लोंकाशाह चले गये किन्तु वे जो प्रकाश फैला गये वह अद्भुत तथा अनेक आत्माएँ उससे अपने पथ-ज्ञान प्राप्त कर रही थी।

लोंकागच्छ की स्थापना और ह्रास

श्रीमद् लोंकाशाह ने जो क्रान्ति की मशाल प्रज्वलित की उसका जगमगाता प्रकाश लगभग सारे भारतवर्ष मे फैला। हजारो ही नही लाखो अनुयायी बने, कई सौ विहित मार्गानुगामी मुनि सद्धर्म के प्रचार मे लगे। यह सारा एक विशाल समूह था बिलकुल व्यवस्थित। यह समूह 'लोकागच्छ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

एक प्रति दिन में और एक रात में इस तरह दो प्रति लिखते। कहते हैं उन शास्त्रों की उन्होंने प्रतिलिपियाँ कर लीं। प्रतिलिपि के साथ गहनतत्त्व ज्ञान का अभ्यास भी होता गया।

अभ्यास के साथ उनका चिन्तन भी चलता रहा। उन्होंने देखा, भगवान महावीर का यथार्थ आचार मार्ग तो आज विलुप्त-सा हो चुका है। चारों तरफ आडम्बर और शिथिलाचार छाया हुआ है।

साधु अपनी मर्यादा को भूल चुके हैं, धर्म क्रियाओं से हिंसा का प्रत्यक्ष ताडव चल रहा है।

उन्होंने अनुभव किया कि शास्त्रों में मूर्तिपूजा और मन्दिर आदि का कोई अस्तित्व और महत्व है ही नहीं किन्तु आज तो सारा जैन संघ इन्हीं को केन्द्र बनाकर लगभग सभी तरह के आस्रवों का सेवन करने में लगा हुआ है। उन्हें भगवान महावीर के मार्ग की यह हीनावस्था देखकर बड़ा दुःख हुआ। जैन धर्म और साध्वाचार के नाम पर जो चल रहा था वह श्री लोकाशाह के लिए नितान्त असह्य था।

एक बार यति जी शास्त्र लेने आये। घर पर शाहजी की पत्नि थी, उसने कहा—दिन वाले दूं, या रात वाले? इस तरह कहने से यति जी कुछ शास्त्र लेकर गये किन्तु उन्होंने आगे लिखाना बन्द कर दिया।

श्री लोकाशाह को जो ३२ शास्त्र मिले, इनमें भी बहुत कुछ जैन तत्त्वों का खजाना उन्हें मिल चुका था।

उन्होंने एक दिन व्याप्त विकारों का सुदृढ़ विरोध करने का निश्चय कर लिया।

उत्क्रान्ति का प्राथमिक प्रयास

श्रीमद् लोकाशाह का विरोध किसी व्यक्ति का विरोध नहीं था। उनका विरोध उन आडम्बरों, विकारों और शिथिलाचारों से था जो जैन धर्म की वास्तविकता को मिटाये जा रहे थे।

उन्होंने अपने विचारों के प्रचार के लिए कोई बड़े आयोजन नहीं किये, न प्रचार दौरे किये। उन्होंने केवल अपने सम्पर्क में आने वालों को वास्तविक तत्त्वज्ञान और आचार मार्ग बताना प्रारम्भ किया।

श्री लोकाशाह का तत्त्व-सन्देश यथार्थ पर आधारित था। वे जो भी कहते, शास्त्र पाठों के द्वारा उसे पुष्ट करते। उनके तर्क बेजोड़ और अकाट्य होते थे। फलतः जो भी उनके सम्पर्क में आता, उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता।

कुछ ही समय में श्री लोकाशाह के कई अनुयायी तैयार हो गये और वे श्री लोकाशाह के घर पहुँच कर तत्त्व चर्चा किया करते।

श्री लोकाशाह अपने घर पर ही आगत व्यक्तियों को धर्मोपदेश दिया करते।

वे अपने धर्मोपदेश में मुख्य रूप से निम्न सिद्धान्तों की पुष्टि करते।

(१) तीर्थंकर भगवन्तों की मूर्ति और मूर्तिपूजा का शास्त्रों में कोई आधार नहीं।

(२) प्रतिष्ठा आदि कार्यों में होने वाली हिंसा धर्म नहीं, अधर्म ही है।

(३) वर्तमान साध्वाचार, भगवान महावीर का श्रमणाचार नहीं है।

श्रमणों को एक ही स्थान पर सुविधापूर्ण होकर रहना, हिंसा के कार्यों में भाग लेना, द्रव्यादि का संग्रह करना नितान्त अकल्पनीय है।

श्री लोकाशाह ये कुछ मुद्दे ही विकृत वाद में विप्लव मचाने को काफी थे। श्री लोकाशाह का प्रचार बड़ी तेजी से बढ़ने लगा। फलस्वरूप स्थापित सुविधा वाद में हलचल फैल गई।

उधर से भी प्रबल विरोध चालू हो गया। श्री लोकाशाह को मिथ्यात्वी और उत्सूत्र प्ररूपक कहा जाने लगा।

यथास्थितिवादियों ने उस समय के सुप्रसिद्ध संघपति, पाटन के श्री लखमशी भाई को लोकाशाह को समझाने भेजा। श्री लखमशी भाई बड़े शास्त्र रसिक और संघ हितैषी श्रावक थे। उन्होंने श्री लोंकाशाह को समझाने का प्रयास किया, किन्तु जब श्री लोकाशाह ने शास्त्र रहस्य प्रकट कर लखमशी भाई के सामने रखा और प्रचलित परिस्थितियों की विडम्बना का परिचय दिया तो वह चकित रह गया।

श्रीमद् लोकाशाह ने कहा, लखमशी भाई! जैन धर्म आज हिंसा और पाखण्ड के दो पाटों के बीच पिसा जा रहा है और सुविधावादी धर्मगुरु और पथवादी उपासक उसे पीस रहे हैं। उठो! जिन शासन को इस दशा से मुक्त करो।

श्री लखमशी भाई जो समझाने गये थे, श्री लोकाशाह से तत्त्वार्थ समझकर उनके अनुयायी हो गये। इस घटना से जैन समाज मे बडी चर्चा फैल गई फलत कई व्यक्ति उनके पास पहुँचने लगे, जो पहुचते उनमे कुछ तो विग्रह-विवाद लेकर आते कुछ समझने को आते। किन्तु जो भी आते वे लोकाशाह के विचारो से अवश्य प्रभावित हो जाते।

उन्ही दिनो अरहट्टवाडा, सिरोही, पाटण और सूरत के सघ यात्रार्थ निकले और अहमदावाद आये। वह समय वर्षा का था, बडी भारी जीवोत्पत्ति हो रही थी।

सघ कुछ दिनो के लिए अहमदावाद ठहरा। श्री लोकाशाह की क्रान्ति वीणा बज रही थी, चारो सघो के सघपति श्री नाग जी, श्री दलेचन्द जी, श्री मोतीचन्द जी, श्री शम्भू जी ने भी यह चर्चा सुनी तो वे भी श्री लोकाशाह के पास पहुचे और गम्भीरतापूवक वार्तालाप करने लगे। श्री लोकाशाह ने शुद्ध दयाधम का स्वरूप शास्त्रोक्त शैली म समझाया तो चारो इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने यात्रा का विचार ही त्याग दिया। इतना ही नही वे शुद्ध दयाधम के अनुरूप श्रमण धर्म स्वीकार करने को तैयार हो गये। यात्रा मे आये अन्य व्यक्ति भी इस तत्त्वोपदेश से वैराग्यवान बने। इस तरह कुल ४५ व्यक्ति मुनि बनने को तैयार हो गये।

श्री लोकाशाह ने सोचा मैं तो गृहस्थ हूँ इन्हे श्रमण धम देने को कोई योग्य मुनि चाहिये।

श्री ज्ञान जी मुनि श्री लोकाशाह की श्रद्धा-प्ररूपणा के अनुरूप आचार की प्रतिपालना करने वाले, मुमुक्षु मुनि थे, उन्हें अहमदावाद बुलाया और ४५ व्यक्तियो की दीक्षा कराई।

यह घटना सवत् १५२७ वैशाख शुक्ला ३ के दिन की है।

श्री लोकाशाह जी की आगम मान्यता का अब तेजी से विस्तार होने लगा, उनके अनुयायियो की सख्या लाखो मे होने लगी।

उपयुक्त अवसर देखकर उन्होने भी स० १५३६ मिगसर शुक्ला ५ को ज्ञान जी के शिष्य श्री सोहन जी के पास दीक्षा स्वीकार कर ली।

श्री लोंकाशाह का प्रचार काय मुनिपद आने के साथ बडा भारी विस्तृत हो गया, अहमदावाद से दिल्ली तक लाखो उनके अनुयायी शुद्ध वीतराग धर्म का जयघोष कर रहे थे। ४०० शिष्य बने जो देश के कौने-कौने मे पवित्र वीतराग मार्ग को फैलाने लगे।

विषाहार और स्वर्गगमन

श्रीमद् धमवीर लोकाशाह मुनि का चैतन्यवादी उद्घोष जडवादियो को प्रकम्पित कर रहा था। श्री लोकाशाह के क्रान्ति-अभियान से पाखण्डवाद की जडें हिल चुकी थी। कही-कही तो वह लगभग समाप्त ही हो चुका था यह बात यथास्थितिवादियों के लिए बडी असह्य थी। वे कई षड्यन्त्र तैयार करने लगे।

एक बार श्री लोंकाशाह मुनि दिल्ली से अलवर आये। वहीं किसी मिथ्याभिनिवेशी ने जहरीला आहार वहरा दिया। श्री लोकाशाह ने वह आहार लिया और तत्काल उसका असर हुआ। वस्तु स्थिति को समझते देरी नहीं लगी।

उन्होंने तत्काल सलेखना सस्थारक स्वीकार कर अन्तिम क्रिया साधी और स्वर्ग लोक की ओर प्रयाण कर दिया।

यह घटना स० १५४६ चैत्र शुक्ला एकादशी के दिन घटी।

श्रीमद् लोकाशाह का स्वर्गवास मुमुक्षु जैन जनता के लिए गहरा धक्का था—मानो जगमगाता क्रान्तिसूर्य अस्त हो गया।

श्री लोकाशाह चले गये किन्तु वे जो प्रकाश फैला गये वह अद्भुत तथा अनेक आत्माएँ उससे अपने पथ-ज्ञान प्राप्त कर रही थी।

लोंकागच्छ की स्थापना और ह्रास

श्रीमद् लोकाशाह ने जो क्रान्ति की मशाल प्रज्वलित की उसका जगमगाता प्रकाश लगभग सारे भारतवर्ष मे फैला। हजारो ही नही लाखों अनुयायी बने, कई सौ विहित मार्गानुगामी मुनि सद्धम के प्रचार मे लगे। यह सारा एक विशाल समूह था बिलकुल व्यवस्थित। यह समूह 'लोकागच्छ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

लोकागच्छ का इतिहास धर्म क्रान्ति का इतिहास है। इसने लगभग सौ वर्ष तक यथार्थ वीर मार्ग को प्रसारित किया। कालान्तर में, यह तीन भागों में विभाजित हो गया—(१) गुजराती लोकागच्छ, (२) नागोरी लोकागच्छ, (३) उत्तरार्ध लोकागच्छ।

सामान्यतया चैत्यवासियों यतियों का प्राबल्य था ही, लोकागच्छ यद्यपि क्रांति लेकर आया था किंतु दुर्भाग्यवश ही कहिए इस पर चैत्यवास की सुविधावादी छाया पड़ने लगी। लोकागच्छ ने मूर्ति और मंदिर को तो स्वीकार नहीं किया किंतु साध्वाचार में वह श्रेष्ठता नहीं रही, जो लोकाशाह ने स्थापित की।

धर्म क्रांति का स्वर फिर मंद हो गया। जैन जनता पुनः आडम्बरों के बीहड़ में भटकने लगी। चारों ओर अज्ञानता का तमस फैला था तभी जैन जगत में क्रियोद्धार की एक नयी लहर पैदा हुई।

स्थानकवासी (साधुमार्गी) परम्परा का अभ्युदय

श्रीमद् लोकाशाह का दिव्य संदेश उन्हीं के अनुयायियों के द्वारा लगभग भुला दिया गया था, तभी अर्थात् सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दि में कुछ ऐसे महापुरुष आगे आये, जिनके क्रांतिकारी उद्घोष से चिर निद्रा में प्रसुप्त जैन जगत पुनः जाग्रत हो, सक्रिय हो उठा।

उन महापुरुषों में पूज्य श्री जीवराज जी महाराज पूज्य श्री धर्मसिंह जी महाराज, पूज्य श्री लवजी ऋषि पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज, पूज्य श्री हरजी ऋषि जी महाराज के नाम प्रमुख हैं।

श्री जीवराज जी महाराज

श्री जीवराज जी महाराज का जन्म सूरत में श्रावण शुक्ला १४ संवत् १५८१ में हुआ। श्री वीरजीभाई पिता तथा श्री केसरबाई माता का नाम था।

इन्होंने १६०१ में जगजी यति के पास दीक्षा ली। ज्ञानादि की आराधना के बाद सत्यार्थ का बोध होने पर संवत् १६०८ में इन्होंने सर्वप्रथम क्रियोद्धार का बिगुल बजाया। पाँच मुनियों के साथ शुद्ध दीक्षा स्वीकार की और प्रचलित मुनिवेश को रखकर शेष अनावश्यक उपकरणों का परित्याग किया। श्री जीवराज जी महाराज का आगरा में समाधिपूर्वक स्वर्गवास हुआ। इनकी उपस्थिति में ही इनके अनेक शिष्य बने। इनकी शिष्य परम्परा से कई सम्प्रदायों का उद्गम हुआ। आज आठ-दस सम्प्रदायें आपको अपना मूल-पुरुष मानती हैं

श्री धर्मसिंह जी महाराज

क्रियोद्धारक पूज्य श्री धर्मसिंह जी महाराज का जन्म जामनगर दशा श्रीमाली परिवार में हुआ जिनदास और शिवादेवी माता-पिता थे। १५ वर्ष की वय में लोकागच्छी देवजी ऋषि के पास संयम लिया। ये बचपन से ही तीक्ष्ण बुद्धि थे, थोड़े ही समय में गम्भीर तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लिया। शास्त्र ज्ञान से इनके अन्तचक्षु खुल गये। उन्हें प्रचलित शिथिलाचार से बड़ी घृणा हुई। उन्होंने शुद्ध वीतराग मार्ग के अनुसार शुद्ध साधुत्व लेने का दृढ़ निश्चय किया। उन्होंने अपने विचार गुरु के समक्ष रखे। उन्होंने कहा—यह तलवार की धार पर चलाने के समान है, तुम यदि दरगाह (अहमदाबाद) एक रात्रि रह लो तो, मैं तुम्हें क्रियोद्धार की आज्ञा दे दूंगा।

दृढ़ निश्चयी श्री धर्मसिंह जी दरिया पीर की चमत्कारिक दरगाह में रात्रि भर ठहरे। उस दरगाह में रात्रि ठहरना उस समय बड़ा खतरनाक था। उसमें रात्रि ठहरने वाला प्रायः जीवित नहीं रहता था।

श्री धर्मसिंह जी महाराज रात्रि में तत्व-ज्ञान का चिन्तन करते रहे।

दरिया पीर उससे बड़ा प्रभावित हुआ। उसने रात्रिभर मुनि श्री की वाणी का लाभ लिया।

दूसरे दिन जीवित बाहर आने पर चारों तरफ आश्चर्य छा गया।

उनके तथाकथित गुरु भी समझ गये कि धर्मसिंह अद्भुत तेजस्वी मुनि है, इससे निश्चित ही वीर धर्म की सेवा होगी।

मुनि श्री धर्मसिंहजी क्रियोद्धार का बिगुल बजाकर हजारों भटके प्राणियों को सद्बोध प्रदान किया। इनकी सम्प्रदाय का नाम दरियापुरी सम्प्रदाय प्रसिद्ध हुआ। उपर्युक्त घटना १६६२ की है। सौराष्ट्र गुजरात में अधिकतर इन्हीं महात्मा का उपकार है। १७२८ के आसोज वदी ४ को इनका स्वर्गवास हुआ।

श्री धर्मसिंह जी महाराज ने २७ सूत्रो पर 'टब्बा' (शब्दार्थ) लिखा जो अत्यधिक प्रसिद्ध और अपने ढग की अनुपम रचना है।

पूज्य श्री लवजी ऋषिजी महाराज

श्री लवजी ऋषि जब बालक थे उनके पिता का देहावसान हो गया, अत सूरत के वीरजी वोरा, जो लवजी के नाना थे, पालन-पोषण वही हुआ।

वहाँ वज्राग लोंकागच्छी यति रहा करते थे, लवजी अपने नाना के साथ वहाँ दर्शनार्थ जाया करते। एक दिन यतिजी का ध्यान लवजी के हाथ की तरफ गया रेखाएँ देखकर वे बडे प्रभावित हुए। उन्हे यह भी जानकर आश्चर्य हुआ कि ७ वर्ष के बच्चे को प्रतिक्रमण याद है। वे लवजी को पास बिठाकर शास्त्राभ्यास कराने लगे। लवजी बड़े बुद्धिमान और जिज्ञासु थे, उनका शास्त्राभ्यास क्रमश गम्भीर होने लगा। ज्ञानाभ्याम से उन्हें ससार से विरक्ति होने लगी। १६९२ मे उन्होंने यति दीक्षा ग्रहण की।

अब उन्हें शास्त्राभ्यास का और विशेष अवसर मिला। भगवान महावीर के शुद्ध आचार माग और तत्कालीन विडम्बना को देख उन्हें बडा खेद हुआ। श्री धर्मसिंह जी मुनि की तरह इन्हे भी शुद्धाचार तथा सत्य-प्ररूपणा की लगन लगी। अन्ततोगत्वा १६९४ मे शुद्ध भागवती दीक्षा ग्रहण कर क्रियोद्धार की नवीन ज्योति जगा दी।

श्री लवजी द्वारा क्रियोद्धार की घोषणा से यतिवर्ग मे बडी हलचल फैल गई। उन्होंने श्री वीरजी वोरा (नाना) को भडकाया। नानाजी उनकी बातो मे आकर क्रुद्ध हो गया। उसने खमात के नवाब को पत्र लिखकर श्री लवजी को गिरफ्तार करवा दिया किन्तु नवाब और नवाब की बेगम ने जब इस अद्भुत साधु की धर्म क्रिया और शात वृत्ति देखी तो वे बड़े प्रभावित हुए और उन्हे ससम्मान मुक्त कर दिया।

कहते हैं अहमदाबाद मे यतियो ने इनके दो मुनियो को मारकर उपाश्रय मे गाड दिया। शोध करने पर सत्य सामने आया तो तत्कालीन अधिकारी यतियों को गम्भीर दण्ड देने लगे तो श्री लवजी ऋषि ने करुणाकर उन्हें दण्ड से मुक्त करवाकर अपनी महानता का अद्भुत परिचय दिया।

यति वर्ग कितना पतित हो चुका था और उसके भयकर आतक के बीच उनका विरोध कितना कठिन था पाठक उक्त घटना से यह अच्छी तरह जान सकते हैं।

इतने विरोध की उपस्थिति होते हुए भी श्री लवजी ऋषि यथाथ माग पर कदम बढ़ाते रहे, धन्य हो! उन उत्तम पुरुषों को जिन्होंने असीम कष्ट सहकर भी सत्य की ज्योति जगाई।

बहारनपुर में एक हलवाई ने मोदक मे जहर दे दिया और वही पूज्य लवजी ऋषि जी का समाधिपूर्वक स्वर्गवास हुआ।

श्री लवजी ऋषि की परम्परा में आज अनेक सिंघाड़े ऋषि सम्प्रदाय आदि हैं।

पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज

सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में उत्क्राति की जो नई लहर आई, उसके फलस्वरूप देश के विभिन्न भागो मे क्रियोद्धार कर्ता कई श्रेष्ठ सद्पुरुष सामने आये।

पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज भी उन सद् पुरुषो में से एक हैं।

पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज का जन्म सरखेज (अहमदाबाद) नामक ग्राम मे वि० स० १७०१ चैत्र शुक्ला ११ के दिन हुआ।

श्री रत्नीदास जी तथा हीराबाई इनके माता-पिता थे। ये भावसार थे। सरखेज में भावसारों के ७०० घर थे।

लोकागच्छ का इतिहास धर्म क्रान्ति का इतिहास है। इसने लगभग सौ वर्ष तक यथार्थ वीर मार्ग को प्रसारित किया। कालान्तर में, यह तीन भागों में विभाजित हो गया—(१) गुजराती लोकागच्छ, (२) नागोरी लोकागच्छ, (३) उत्तरार्ध लोकागच्छ।

सामान्यतया चैत्यवासियों यतियों का प्राबल्य था ही, लोकागच्छ यद्यपि क्रांति लेकर आया था किंतु दुर्भाग्यवश ही कहिए इस पर चैत्यवास की सुविधावादी छाया पड़ने लगी। लोकागच्छ ने मूर्ति और मंदिर को तो स्वीकार नहीं किया किंतु आचार में वह श्रेष्ठता नहीं रही, जो लोकाशाह ने स्थापित की।

धर्म क्रांति का स्वर फिर मंद हो गया। जैन जनता पुनः आडम्बरों के बीहड़ में भटकने लगी। चारों ओर अज्ञानता का तमस् फैला था तभी जैन जगत में क्रियोद्धार की एक नयी लहर पैदा हुई।

स्थानकवासी (साधुमार्गी) परम्परा का अभ्युदय

श्रीमद् लोकाशाह का दिव्य संदेश उन्हीं के अनुयायियों के द्वारा लगभग भुला दिया गया था, तभी अर्थात् सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दि में कुछ ऐसे महापुरुष आगे आये, जिनके क्रांतिकारी उद्घोष से चिर निद्रा में प्रसुप्त जैन जगत पुनः जाग्रत हो, सक्रिय हो उठा।

उन महापुरुषों में पूज्य श्री जीवराज जी महाराज पूज्य श्री धर्मसिंह जी महाराज, पूज्य श्री लवजी ऋषि पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज, पूज्य श्री हरजी ऋषि जी महाराज के नाम प्रमुख हैं।

श्री जीवराज जी महाराज

श्री जीवराज जी महाराज का जन्म सूरत में श्रावण शुक्ला १४ संवत् १५८१ में हुआ। श्री वीरजीभाई पिता तथा श्री केसरबाई माता का नाम था।

इन्होंने १६०१ में जगजी यति के पास दीक्षा ली। ज्ञानादि की आराधना के बाद सत्यार्थ का बोध होने पर संवत् १६०८ में इन्होंने सर्वप्रथम क्रियोद्धार का बिगुल बजाया। पाँच मुनियों के साथ शुद्ध दीक्षा स्वीकार की और प्रचलित मुनिवेश को रखकर शेष अनावश्यक उपकरणों का परित्याग किया। श्री जीवराज जी महाराज का आगरा में समाधिपूर्वक स्वर्गवास हुआ। इनकी उपस्थिति में ही इनके अनेक शिष्य बने। इनकी शिष्य परम्परा से कई सम्प्रदायों का उद्गम हुआ। आज आठ-दश सम्प्रदायें आपको अपना मूल-पुरुष मानती हैं

श्री धर्मसिंह जी महाराज

क्रियोद्धारक पूज्य श्री धर्मसिंह जी महाराज का जन्म जामनगर दशा श्रीमाली परिवार में हुआ जिनदास और शिवादेवी माता-पिता थे। १५ वर्ष की वय में लोकागच्छी देवजी ऋषि के पास संयम लिया। ये बचपन से ही तीक्ष्ण बुद्धि थे, थोड़े ही समय में गम्भीर तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लिया। शास्त्र ज्ञान से इनके अन्तर्चक्षु खुल गये। उन्हें प्रचलित शिथिलाचार से बड़ी घृणा हुई। उन्होंने शुद्ध वीतराग मार्ग के अनुसार शुद्ध साधुत्व लेने का दृढ़ निश्चय किया। उन्होंने अपने विचार गुरु के समक्ष रखे। उन्होंने कहा—यह तलवार की धार पर चलाने के समान है, तुम यदि दरगाह (अहमदाबाद) एक रात्रि रह लो तो, मैं तुम्हें क्रियोद्धार की आज्ञा दे दूंगा।

दृढ़ निश्चयी श्री धर्मसिंह जी दरिया पीर की चमत्कारिक दरगाह में रात्रि भर ठहरे। उस दरगाह में रात्रि ठहरना उस समय बड़ा खतरनाक था। उसमें रात्रि ठहरने वाला प्रायः जीवित नहीं रहता था।

श्री धर्मसिंह जी महाराज रात्रि में तत्त्व-ज्ञान का चिन्तन करते रहे।

दरिया पीर उससे बड़ा प्रभावित हुआ। उसने रात्रिभर मुनि श्री की वाणी का लाभ लिया।

दूसरे दिन जीवित बाहर आने पर चारों तरफ आश्चर्य छा गया।

उनके तथाकथित गुरु भी समझ गये कि धर्मसिंह अद्भुत तेजस्वी मुनि है, इससे निश्चित ही वीर धर्म की सेवा होगी।

मुनि श्री धर्मसिंहजी क्रियोद्धार का बिगुल बजाकर हजारों भटके प्राणियों को सद्बोध प्रदान किया। इनकी सम्प्रदाय का नाम दरियापुरी सम्प्रदाय प्रसिद्ध हुआ। उपर्युक्त घटना १६९२ की है। सौराष्ट्र गुजरात में अधिकतर इन्हीं महात्मा का उपकार है। १७२८ के आसोज वदी ४ को इनका स्वर्गवास हुआ।

श्री धर्मसिंह जी महाराज ने २७ सूत्रो पर 'टब्बा' (शब्दार्थ) लिखा जो अत्यधिक प्रसिद्ध और अपने ढग की अनुपम रचना है।

पूज्य श्री लवजी ऋषिजी महाराज

श्री लवजी ऋषि जब बालक थे उनके पिता का देहावसान हो गया, अत सूरत के वीरजी वोरा, जो लवजी के नाना थे, पालन-पोषण वही हुआ।

वहाँ वज्राग लोकागच्छी यति रहा करते थे, लवजी अपने नाना के साथ वहाँ दर्शनार्थ जाया करते। एक दिन यतिजी का ध्यान लवजी के हाथ की तरफ गया रेखाएँ देखकर वे बडे प्रभावित हुए। उन्हें यह भी जानकर आश्चर्य हुआ कि ७ वष के बच्चे को प्रतिक्रमण याद है। वे लवजी को पास विठाकर शास्त्राभ्यास कराने लगे। लवजी बड़े बुद्धिमान और जिज्ञासु थे, उनका शास्त्राभ्यास क्रमश गम्भीर होने लगा। ज्ञानाभ्यास से उन्हें ससार से विरक्ति होने लगी। १६९२ मे उन्होने यति दीक्षा ग्रहण की।

अब उन्हे शास्त्राभ्यास का और विशेष अवसर मिला। भगवान महावीर के शुद्ध आचार माग और तत्कालीन विडम्बना को देख उन्हें बडा खेद हुआ। श्री धर्मसिंह जी मुनि की तरह इन्हे भी शुद्धाचार तथा सत्य-प्ररूपणा की लगन लगी। अन्ततोगत्वा १६९४ मे शुद्ध भागवती दीक्षा ग्रहण कर क्रियोद्धार की नवीन ज्योति जगा दी।

श्री लवजी द्वारा क्रियोद्धार की घोषणा से यतिवर्ग मे बडी हलचल फैल गई। उन्होंने श्री वीरजी वोरा (नाना) को भडकाया। नानाजी उनकी बातो मे आकर क्रुद्ध हो गया। उसने खमात के नवाव को पत्र लिखकर श्री लवजी को गिरफ्तार करवा दिया किन्तु नवाव और नवाब की बेगम ने जब इस अद्भुत साधु की धर्म क्रिया और शात वृत्ति देखी तो वे बडे प्रभावित हुए और उन्हें ससम्मान मुक्त कर दिया।

कहते हैं अहमदाबाद मे यतियो ने इनके दो मुनियो को मारकर उपाश्रय मे गाड दिया। शोध करने पर सत्य सामने आया तो तत्कालीन अधिकारी यतियों को गम्भीर दण्ड देने लगे तो श्री लवजी ऋषि ने करुणाकर उन्हे दण्ड से मुक्त करवाकर अपनी महानता का अद्भुत परिचय दिया।

यति वग कितना पतित हो चुका था और उसके भयकर आतक के बीच उनका विरोध कितना कठिन था पाठक उक्त घटना से यह अच्छी तरह जान सकते हैं।

इतने विरोध की उपस्थिति होते हुए भी श्री लवजी ऋषि यथार्थ मार्ग पर कदम बढ़ाते रहे, धन्य हो ! उन उत्तम पुरुषों को जिन्होंने असीम कष्ट सहकर भी सत्य की ज्योति जगाई।

बहारनपुर मे एक हलवाई ने मोदक मे जहर दे दिया और वही पूज्य लवजी ऋषि जी का समाधिपूर्वक स्वर्गवास हुआ।

श्री लवजी ऋषि की परम्परा में आज अनेक सिंघाडे ऋषि संप्रदाय आदि हैं।

पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज

सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में उत्क्राति की जो नई लहर आई, उसके फलस्वरूप देश के विभिन्न भागो मे क्रियोद्धार कर्ता कई श्रेष्ठ सद्पुरुष सामने आये।

पूज्य श्री धमदास जी महाराज भी उन सद् पुरुषो में से एक हैं।

पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज का जन्म सरखेज (अहमदाबाद) नामक ग्राम मे वि० स० १७०१ चैत्र शुक्ला ११ के दिन हुआ।

श्री रत्नीदास जी तथा हीराबाई इनके माता-पिता थे। ये भावसार थे। सरखेज में भावसारों के ७०० घर थे।

श्री धर्मदास जी बचपन से ही मुमुक्षुवृत्ति मे रहा करते। सरखेज मे श्री केशवजी यति के पक्ष के पूज्य श्री तेजसिंह जी विराजित रहते। ये लोकागच्छी थे। श्री धमदास जी ने उनके पास से ज्ञानाराधना की।

शुद्ध वीतराग तत्त्व को समझकर उसके मन मे वैराग्य भाव का उदय हुआ किन्तु वे शिथिलाचारियो के पास सयम लेने को तैयार नही थे। उन्ही दिनो एकलपात्रिया पथ के प्रचारक श्री कल्याणजी उधर आये। उनका क्रियानुष्ठान बहुत अच्छा था, उससे प्रभावित हो श्री धमदास जी ने उनके पास सयम लिया और मनोयोगपूवक अभ्यास करने लगे। श्री धमदास जी को एकल पात्रिया पथ की श्रद्धा अशुद्ध लगी, उन्होने एक वर्ष बाद उसका परित्याग कर स० १७१६ मे अहमदाबाद के दिल्ली दरवाजा बाहर बादशाह की बाडी मे सवज्ञ भगवान तथा स्वात्मा की साक्षी से शुद्ध सयम स्वीकार किया।

कहते हैं—पूज्य श्री धमदास जी महाराज सर्वप्रथम गोचरी गये तो, किसी ने उन्हे राख बहरा दी। इसका फलितार्थ पूज्य श्री धर्मसिंह जी महाराज जो श्री धमदास जी पर कृपालु थे उन्होंने कहा कि धमदास जी! जैसे यह राख सारे पात्र मे फैल गई उसी तरह तुम्हारे अनुयायी भी सारे भारत मे फैले हुए मिलेंगे। भारत का कोई क्षेत्र ऐसा नही होगा जहाँ तुम्हारी आम्नाय का श्रावक न हो।

पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज ने १७२१ मे सयम ग्रहण किया।

पूज्य श्री धमदास जी महाराज, श्री धर्मसिंह जी महाराज तथा पूज्य श्री लवजी ऋषि जी से भी मिले। बडी गम्भीर तत्त्व चर्चाएँ हुई, किन्तु कुछेक बोलो मे मतैक्य नही हो पाया अत परस्पर एक नेश्राय नही बन सका। यो इन सब मे परस्पर प्रेम भाव था ही, क्योकि सभी शुद्धाचारवादी और मोक्ष माग के आराधक थे।

पूज्य श्री धमदास जी महाराज उत्कृष्ट क्रियापात्र तो थे ही, उग्र विहारी सुन्दर वाचा भी थे।

कुछ ही दिनो मे पूज्य श्री के नेतृत्व मे चार तीथ की सुन्दर सरचना होने लगी। स० १७२१ मे ही उज्जैन मे श्री सघ ने आपको आचाय पद प्रदान किया।

पूज्य श्री धमदास जी महाराज का सघ द्वितीया के चन्द्र की तरह बराबर प्रगति करता रहा।

किसी भी क्रियोद्धारक महात्मा की अपेक्षा पूज्य धमदास जी महाराज को सर्वाधिक ६६ शिष्यों की उपलब्धि हुई।

पूज्य श्री ने अपने सुयोग्य शिष्यो को विभिन्न प्रान्तो मे शुद्ध वीतराग मार्ग का प्रचार करने भेजा।

६६ शिष्यो मे से २२ विद्वान मुनियो को विभिन्न प्रान्तो मे आचाय पद मिले, इस तरह श्री धमदास जी महाराज के २२ सप्रदाय बने।

आज भी स्थानकवासी समाज मे बाईस सप्रदाय के श्रावक और मुनियो का ही बाहुल्य हैं यही कारण है कि बाईस सप्रदाय स्थानकवासी समाज का पर्याय शब्द बनकर फैल गया।

पूज्य श्री धमदास जी महाराज का स्वगवास जन्म और जीवन से भी ज्यादा चमत्कार सिद्ध हुआ।

धार मे एक मुनि ने अपरिपक्व स्थिति मे सथारा कर लिया और कुछ ही दिनो बाद वह अपनी प्रतिज्ञा से हटने लगा।

यह बात जब पूज्य श्री ने सुनी तो उन्हें बडा दुःख हुआ, उन्होंने सोचा यदि साधु सथारे से उठ जायेगा तो जैन धर्म की बडी निन्दा होगी। जैन मुनियो की प्रतिज्ञा को कोई महत्त्व नहीं देगा। पूज्य श्री ने एक दृढ निश्चय किया और धार की तरफ विहार कर दिया। पूज्य श्री ने वहाँ पहुँचकर उस मुनि को समझाया कि स्वीकृत प्रतिज्ञा से हटना उचित नही, किन्तु जब वह स्थिर नही हुआ तो, पूज्यश्री ने तत्काल उसे उठाकर स्वय को सथारे के अपण कर दिया।

सवत् १७६८ मे आपका स्वर्गवास हुआ।
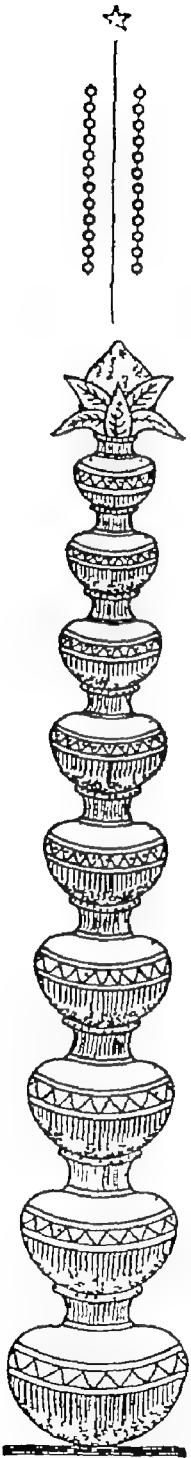
पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज का जीवन और मरण दोनो अतिशय क्रान्तिकारी रहे।

जैन धर्म की कीर्ति को अक्षुण्ण रखने के लिए पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज का यह बलिदान हजारो वर्षों तक जैन इतिहास मे दमकता रहेगा।

धर्मदासजी महाराज और मेवाड परम्परा

पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज के शिष्यो से २२ सप्रदायो की स्थापना हुई। उनमे से छोटे पृथ्वीराज जी महाराज का सम्बन्ध मेवाड सप्रदाय से है।

कहते हैं—पूज्य श्री छोटे पृथ्वीराज जी महाराज को उदयपुर मे आचाय पद प्रदान किया गया। इस तरह मेवाड सप्रदाय की स्थापना हुई।

उनके पाट पर पूज्य श्री दुर्गादास जी महाराज, पूज्य श्री हरिजराज जी महाराज। पूज्य श्री गगाराम जी महाराज, पूज्य श्री रामचन्द्र जी महाराज, श्री मनोजी महाराज, श्री नारायणदास जी महाराज, श्री पूरणमलजी महाराज श्री रोडजी स्वामी, पूज्य श्री नृसिहदास जी महाराज, पूज्य श्री मानजी स्वामी, पूज्य श्री एकलिगदास जी महाराज, पूज्य श्री मोतीलाल जी महाराज। गुरुदेव श्री भारमल जी महाराज, गुरुदेव श्री अम्बालाल जी महाराज क्रमश परपरागत है।[1]

श्री रोडजी स्वामी और उनसे उत्तरवर्ती आचार्यों का परिचय मेवाडगौरव खड (द्वितीय खड पृष्ठ १२४ से १६२ तक) में उपलब्ध है। गुरुदेव श्री अम्बालाल जी महाराज का परिचय प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रारम्भ मे ही उपलब्ध है।

स्थानकवासी समाज, कोई नवीन पथ नहीं

आज स्थानकवासी के नाम से पहचाना जाने वाला समाज, जैन धम मे कोई नया पथ लेकर खडा नही हुआ। भगवान महावीर द्वारा स्थापित श्रमण धर्म और जैनत्व के सिद्धान्त अपने आप मे स्पष्ट और परिपूर्ण है।

श्रीमद् देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण तक जो शुद्ध परपरा चली यदि वह चलती रहती तो जैन समाज ही नही वह सम्पूर्ण विश्व का एक सौभाग्य होता किन्तु वह बना नहीं। आचार शैथिल्य और विरुद्ध प्ररूपणाओ का एक ऐसा प्रवाह आया कि मौलिक वीतराग माग विलुप्त-सा हो गया।

उन्ही कठिन परिस्थितियों में श्रीमद् लोकाशाह की क्रान्ति सामने आई और जब उस परम्परा में भी विकृतियों की हवा फैल गई तो क्रियोद्धारक महापुरुषो ने शुद्ध वीतराग मार्ग को पुन उजागर किया।

श्री हरिभद्र सूरि ने सबोध प्रकरण मे जो अन्तर्पीडा व्यक्त की। क्रियोद्धारक महापुरुषों ने उसी पीडा का ही तो समाधान किया। स्थापित विकृतियो को निराकृत कर यथार्थ को उजागर करना, नवीन पथ की स्थापना नही है।

क्रियोद्धारक महापुरुषों ने अपना कोई पथ नहीं चलाया। केवल वीतराग तत्त्वो को प्रकाशित किया।

यथार्थ श्रद्धा-प्ररूपणा के जो अनुयायी रहे उन्हें स्थानकवासी कहा जाने लगा।

स्थानकवासी और यथार्थ

बहुत भूल करते हैं वे लोग जो स्थानकवासी का अथ किसी स्थान विशेष से लगाते हैं।

हाँ, यह बात अवश्य ही सत्य है कि स्थानकवासी मन्दिर को छोड कर स्थानक में धर्माराधना किया करते हैं किन्तु मुनियो का न तो स्थानको में स्थायी निवास होता है और न उनका इन स्थानों से कोई सम्बन्ध ही होता है।

स्थानक गृहस्थ अपनी धर्माराधना के लिए निर्मित किया करते हैं और अधिकतर वे ही वहाँ धर्माराधना

---

१ पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज के बाद पूज्य श्री पूरणमल जी महाराज तक इन मध्यवर्ती, मुनिराजो के विषय मे नामोल्लेख के अलावा और कुछ भी जानकारी उपलब्ध नहीं है।

किया करते है। यदाकदा मुनि भी आ जाया करते हैं तो, वहाँ गृहस्थो की आज्ञा लेकर ठहर जाया करते हैं और उस स्थान को वापस उन्हे ही सौंप कर विहार कर देते हैं।

स्थानकवासी शब्द केवल स्थानक से धर्म ध्यानार्थ सम्बन्धित होने तक ही अर्थ रखता है। निवास या अधिकार तक उसका कोई अर्थ लगाए तो यह अनर्थ है।

स्थानकवासी शब्द भौतिक से अधिक आध्यात्मिक अर्थ रखता है।

वस्तुत आत्मा ही यथार्थ मे वास्तविक स्थान है जहाँ चेतना को टिकना चाहिये।

आत्मा में स्थित होने की प्रक्रिया ही स्थानकवासी शब्द का अन्तमर्म है। और यह सत्य भी है कि जडवाद को जिसने त्याग दिया, उसके लिए केवल "आत्मा" ही चिन्तन केन्द्र रह जाता है।

मुमुक्षुओ के लिए केवल आत्मा ही वह स्थान है जहाँ टिककर वे अपना आध्यात्मिक उत्कर्ष साध पाए।

उपर्युक्त समग्र विवेचना को निम्नाकित पद्य मे ठीक-ठीक अभिव्यक्ति दी गई है।

सत्य अहिंसा अनेकान्त पथ,
जीव दया विश्वासी।
आत्म स्थान मे स्थित सर्वदा,
जिनमत स्थानकवासी॥

☐

जोइति पक्क न उ पक्कलेण, ठावेंति त सूरहगस्स पासे।
एक्कमि खभम्मि न मत्तहत्थी, वज्झति वग्घा न य पजरे दो।

—बृहत्कल्पभाष्य ४४१०

पक्व (झगडालू) को पक्व (झगडालू) के साथ नियुक्त नही करना चाहिए, किन्तु शान्त के साथ रखना चाहिए, जैसे कि एक खम्भे से दो मस्त हाथियो को नहीं बाधा जाता है और न एक पिंजडे मे दो सिंह रखे जाते है।
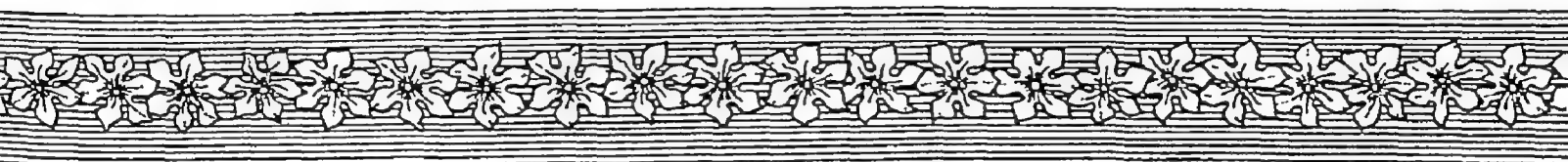
अभिनन्दनीय गुरुदेव के नित्य स्मरणीय पद, मेवाड़-सम्प्रदाय के प्रभावक आचार्यों की काव्य-कृतियों की सरस बानगी एवं उनकी प्रशस्ति में रचित कुछ कृति-कुसुमों की भीनी महक प्रस्तुत खण्ड में उपलब्ध है।

षष्ठ खण्ड
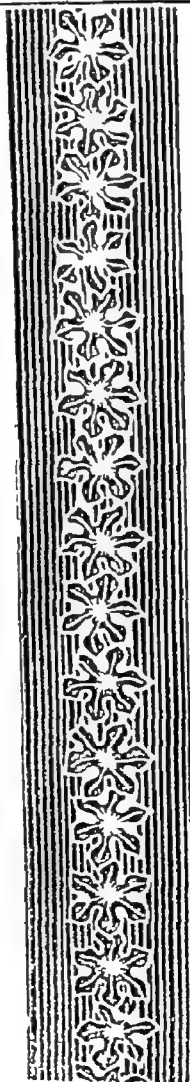
पूज्य प्रवर्तक श्री अम्बालालजी महाराज के

नित्य स्मरणीय पद

अरिहत जप्या से ती अष्ट कर्म विनास होय
सिद्धजी के जप्या सेथी सिद्ध पद पाइये।
आचारज जप्या सेथी आतमस्वरूप दीसे
उपाध्याय जप्या सेथी उच पद पाइये।
साधुजी के जप्या शिव मार्ग वताय देत
इहलोक परलोक अति सुखदाई है।
कहत विनोदीलाल जपो नवकार माल
जाके जाप जप्या सेथी सदा सुख पाइये ॥१॥

सोले सुख

१ सुख—काया नीरोग, २ सुख—घर मे नई सोग, ३ सुख—गुणवता साथ, ४ सुख—स्त्री हात, ५ सुख—माथे नई देणो, ६ सुख—धर्मीतणो, ७ सुख—निरभय स्थान, ८ सुख—जाणे नई गाँव, ९ सुख—मीठो नीर, १० सुख—पडित सीर, ११ सुख—पोषधशाला, १२ सुख—चित्त विसाला, १३ सुख—पूत सपुता, १४ सुख—घर विभूता, १५ सुख—केवलज्ञान, १६ सुख—पहुँचा निरवाण, वा पुरुषा ने धन्य है जिन्होने १५वा १६वा सुख प्राप्त किया है, वो दिन मेरा धन्य हो जिस दिन १५ वा १६ वा सुख की प्राप्ति हो।

☆

१२ भावना

१ पहली अनित्य भावना—माता मोरू देवी
२ अशरण भावना—अनाथी मुनि
३ ससार भावना—शालभद्रजी
४ एकत्व भावना—नमीराज रिषी
५ अन्यत्व भावना—मृगापुत्र जी
६ अशुचि भावना—सनतकुमार चक्रवर्ती
७ आश्रव भावना—हरकेशी मुनि
८ सवर भावना—समुद्रपालजी
९ निर्जरा भावना—अर्जुनमाली
१० लोक स्वरूप भावना—सयत्ती राजा
११ बोधि भावना—आदिनाथ के ९८ पुत्र
१२ धर्म भावना—धर्मरुचिजी

वह दिन मेरा कल्याणकारी होगा जिस दिन ऐसी भावना आएगी। धन्य है उन पुरुषो को जिन्होने ऐसी भावना बनाई है।

☆

१ क्रोध क्षय हो, क्षमा गुण प्रगट हो।
२ मान क्षय हो, विनय गुण प्रगट हो।
३ माया क्षय हो, सरलता प्रगट हो।
४ लोभ क्षय हो, सतोष प्रगट हो।
५ अज्ञान क्षय हो, ज्ञान प्रगट हो।

उन पुरुषो को धन्य है, जिन्होने इन दुर्गुणो को नष्ट किया। वह दिन मेरा परम कल्याणकारी हो जिस दिन मेरे ये पाँच दुर्गुण नष्ट हो।
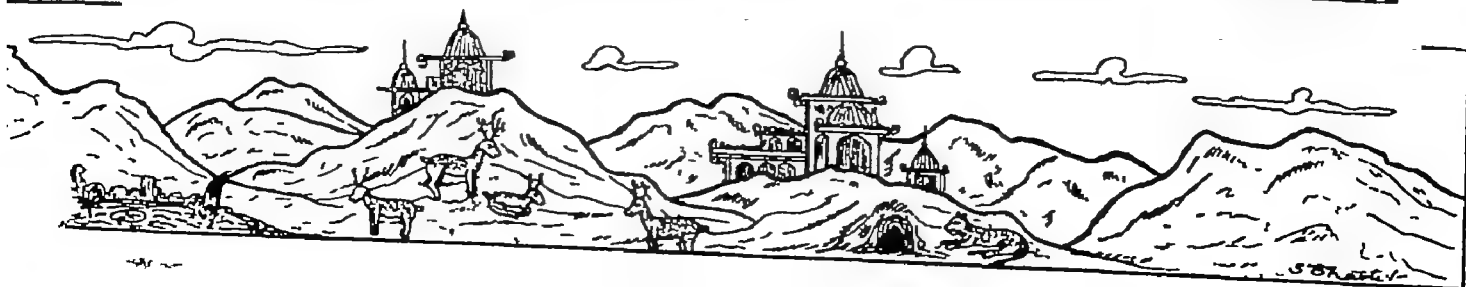
स्तवन : १

साता कीजो जी,
श्री सातीनाथ प्रभु शिव सुख दीजो जी ॥टेर॥
सान्तिनाथ है नाम आपको सवने साताकारी जी ।
तीन भवन मे चावा प्रभुजी मृगी नीवारी जी ॥१॥
आप सरीखा देव जगत मे ओर नजर नहिं आवे जी ।
त्यागी ने वीतरागी मोटा मुज मन भावेजी ॥२॥
शान्ति जाप मन माही जपता चावे सो फल पावे जी ।
ताव तीजा से दुख दारीदर सब मिट जावे जी ॥३॥
विश्वसेन राजाजी के नदन अचलादे राणी जायाजी ।
चोथमल कहे गुरू प्रसादे म्हाने घणा सुवाया जी ॥४॥

स्तवन : २

भजो जी शातिनाथ ने
काया ना मिट जा दु खो ॥टेर॥
विश्वसेन राजा अचलादे माता जिनकी आया कुखो ।
या मृगी का रोग देस मे सभी मिटाया दु खो ॥१॥
चवदे सपना देखी मेट गयो सब दु खो ।
लडका जाया जगत रोसनी देख रहे सब मुखो ॥२॥
देवलोक मे इन्द्र गावे सृष्टि पडे मन को ।
मगलाचार करे नर नारी बोल रहे सब मुखो ॥३॥
सतीया वरती बीच जगत मे पुरा रहे सुखो ।
आदर भाव घणेरा सेडु जे जे बोलो मुखो ॥४॥
दान शील तप भावना भावो जिणसे पावो सुखो ।
कर्म खपाई मोक्ष पहुता मेट गयो सब दुखो ॥५॥

स्तवन ३

जो आनद मगल चावो रे मनावो महावीर ॥टेर॥
प्रभु त्रीसलाजी के जाया हे कचन वरणी काया ।
जाके चरणा शीश नमावो रे ॥१॥
प्रभु अनत ज्ञान गुणधारी हे सूरत मोहनगारी ।
थे दर्शन कर सुख पावो रे ॥२॥
या प्रभुजी की मीठी वाणी है, अनत सुखो की दानी ।
थे धार-धार तिर जावो रे ॥३॥
जाके शिष्य वडा है नामी सदा सेवो गोतम स्वामी ।
जो रिद्ध सिद्ध थे पावो रे ॥४॥
थारा विघन सभी टल जावे मनवाछित सुख पावे ।
थारा आवागमन मिटावे रे ॥५॥
ये साल उगणीयासी भाई देवास सेर के माई ।
कहे चोथमल गुण गावो रे ॥६॥

स्तवन ४

मती भूलो कदा रे मती भूलो कदा,
वीर प्रभु का गुण गावो सदा ॥टेर॥
जो जो रे भगवत भाव किया,
गणधर सूत्र मे गूंथ लिया ॥१॥
परभुजी री वाणी रो आज आधार
सुण सफल करो अवतार ॥२॥
जल सु न्हाया रे तन मेल हटे,
प्रभुजी री वाणी सुणिया सब पाप कटे ॥३॥
तुरत फुरत सब विपत टले,
जिहां तिहां वछित आस फले ॥४॥
मुनि नदलाल जी हुकम दियो,
जद रावल पिंडी चोमास कियो ॥५॥

स्तवन ५

सदा जय हो सदा जय हो,
श्री महावीरस्वामी की, सदा जय हो ॥टेर॥
पतितपावन जिनेश्वर की,
सदा जय हो सदा जय हो ॥टेर॥
तुम्ही हो देव देवन के, तुम्ही हो पीर पेगम्बर ।
तुम्ही ब्रह्मा तुम्ही विष्णु ॥१॥ सदा
तुम्हारे ज्ञान खजाने की महिमा बहुत भारी है ।
लुटाने से वढे हरदम ॥२॥ सदा
तुम्हारी ध्यान मुद्रा से अलौकिक शाति झरती है ॥
सिंह भी गोद पर सोते ॥३॥ सदा
तुम्हारा नाम लेने से जागती वीरता भारी ।
हटाते कर्म लश्कर को ॥४॥ सदा
तुम्हारा सघ सदा जय हो मुनि मोतीलाल सदा जय हो
मुनि दल सारे की, सदा जय हो ॥५॥

स्तवन : ६

श्री श्रीमदिर स्वामी महा विदेह अतरयामी ।
थारो ध्यान धरू सिर नामी,
हो जी नद जस गामी ॥टेर॥
प्रभु चोतीस अतिशय वाणी का गुण पेतीश ।
थे जीत्या राग ने रीस ॥१॥
रतन सिंहासन बैठे अशोक वृक्ष के हेठे ।
थारी ज्ञान जोत पेठे हो ॥२॥
देव दुदभी वाजे आकाशा अमर गाजे ।
यो मत पाखडी लाजे हो ॥३॥
चोसठ इन्द्र सेवा और गणेश देवा ।
थारो नाम लिया नित मेवा ॥४॥
काटो चोरासी फदा, मैं सेवक तेरा वदा ।
थारो नाम लिया नव नदा ॥५॥
अरजी सुणजो म्हारी भवसागर दीजो तारी ।
या वाणी मीठी थारी ॥६॥
थे सुणजो वाया भाया धर्म करो सवाया ।
थे मिनक जमारो पाया ओ ॥७॥
रतनचदजी माहाराजा भव जीवो का सारे काजा ।
गुरु जवाहरलालजी ताजा ओ ॥८॥
मेवाड देश के माई गाँव भदेसर भाई ।
हीरालाल लावणी गाई ॥९॥

स्तवन . ७

अरिहत जय जय सिद्ध प्रभु जय जय ।
साधु जीवन जय जय जिन धर्म जय जय ॥१॥
अरिहत मगल सिद्ध प्रभु मगल ।
साधु जीवन मगल जिन धर्म मगल ॥२॥
अरिहत उत्तम सिद्ध प्रभु उत्तम ।
साधुजीवन उत्तम जिन धर्म उत्तम ॥३॥
अरिहत सरण सिद्ध प्रभु सरण ।
साधु जीवन सरण जिन धर्म सरण ॥४॥
ए चार सरण मगल करण और न सरण कोय ।
जो भवि प्राणी आदरे अक्षय अमर पद होय ॥५॥

स्तवन · ८

श्री जिनराज सरणो धर्म को, सरणो धर्म को ने चलणो मुक्त को ॥टेर॥
राग-द्वेष दोई मगर मोटा पाने पडिया रे गल जाय उनन को ॥१॥
ससार सागर घोर अवस्था त्रसना नीर भरीयो रे भरम को ॥२॥
भव सागर मे भटकत धर्म जाज मिली रे तीरण को ॥३॥
भव जीव प्राणी बेठा रे आई सतगुरु मिलिया नाव खेवण को ॥४॥
कहे हीरालाल सुनो भव जीवा चालो रे मुक्त मे ठाम आनद को ॥५॥

स्तवन · ९

लाल त्रसला को प्यारो रे गणो छे मोवनगारो रे ॥टेर॥
सीधारथ राजा केवे पुत्र ने सोभागी कुवर तुमारो रे ॥१॥
पास बैठाके माता भोजन जिमावे कर कर अति मनवारो रे ॥२॥
कहे भोजाई सुण रे देवरिया मुखडो तो दिखा दे तुमारो रे ॥३॥
जव मिले जव भाई यु बोले म्हारे तो तू ही प्राण अधारो रे॥४॥
इन्द्र इन्द्राणी आके खेलावे म्हारे तो यो ही सफल जमारो रे ॥५॥
वार वार प्रभु ने लेवे रे गोद मे मेले तो नही क्षण भर न्यारो रे ॥६॥
देवीलाल कहे सरणे तुम्हारे नाथजी अव मोही तारो रे ॥७॥
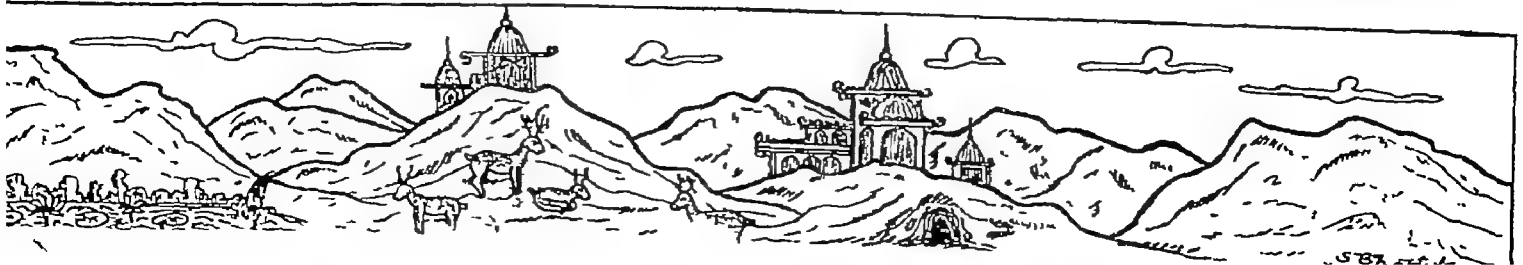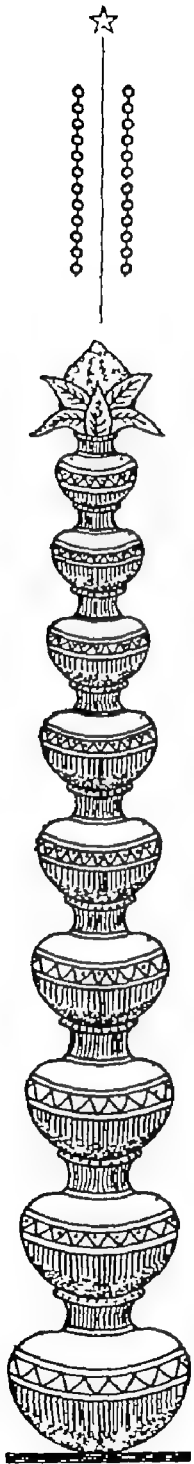
स्तवन · १०

अरिहताण मज्झ मगल अरिहताण मज्झ देवय ।
अरिहताण गुण कित्तइत्ताण वोसरामि पावकम्म ॥१॥
सिद्धाण मज्झ मगल सिद्धाण मज्झ देवय ।
सिद्धाण गुणकित्तइत्ताण वोसरामि पावकम्म ॥२॥
आयरियाण मज्झ मगल आयरियाण मज्झ देवय ।
आयरियाण गुणकित्तइत्ताण वोसरामि पावकम्म ॥३॥
उवज्झायाण मज्झ मगल उवज्झायाण मज्झ देवय ।
उवज्झायाण गुणकित्तइत्ताण वोसरामि पावकम्म ॥४॥
सव्व साहुण मज्झमगल सव्व साहुण मज्झ देवय ।
सव्व साहूण गुणकित्तइत्ताण वोसरामि पावकम ॥५॥
एसा पच मज्झ मगल एसा पच मज्झ देवय ।
एसा पच गुणकित्तइत्ताण वोसरामि पावकम्म ॥६॥

स्तवन ११

रे चेतन पोते तू पापी पर ना छिद्र चितारे तू ।
निरमल होय कर्म करदम सू निज गुण नी अबु नितारे तू ॥टेर॥
सम्यक्दृष्टि नाम धरावे सेवे पाप अठारे तू ।
नर्क नीगोद थकी किम छूटे जो पर हियो न ठारे तू ॥१॥ रे चेतन
जिम तिम करने सोभा आपणी या जग माहि दिखावे तू ।
प्रकट कहावे धर्म को धोरी अतर भरियो विकारे तू ॥२॥
परमेश्वर साक्षी घट घट नो तेहनी शर्म न धारे तू ।
पचसी कुंभीपाक नरक मे अतस छलना निवारे तू ॥३॥
परनिंदा अघ-पिंड भरीजे आगम साख सँभाले तू ।
विनयचद कहे आतमनिंदा भव भव दुष्कृत टाले तू ॥४॥

स्तवन १२

शातिनाथ प्रभु सोलमाजी जगतारण जगदीश ।
वीनतडी म्हारी सांभलो मैं तो अरज करूँ कर जोड ॥१॥
साता वरताई सारे देश मे प्रभु पेट मे पोढिया जी आय ।
जनमिया सायबा थें तो आया घणा के दाय ॥२॥
चकरवर्ती पदवी था लई प्रभु कियो भरत मे राज ।
सुख विलसी ससार ना पछे सार्या आतम काज ॥३॥

सुर नर इन्द्र सेवा करे प्रभु वरसे अमृत वेण।
अमिय झरे प्रभु मुख थकी थाने देखिया ठरे दोई नैन ॥४॥

तीर्थनाथ त्रिभुवनधणी तीरथ थाप्या चार।
समो सरण भेला रहे प्रभु जठे सीह ने बकरी एक ठाम ॥५॥

देव घणा ही देखिया प्रभु गरज सरी न काय।
तू मारे साचो सायवा मे तो आस धरी दिल माय ॥६॥

रिख चोथमलजी की वीनती प्रभु सुनियो दुतिया चद।
अविचल पदवी आपजो म्हाने अचला जीनानद ॥७॥

☆

स्तवन १३

प्रभुजी रो कइय न माँगूं म्हाका राज।
म्हारी राखीजे प्रभुजी लाज ॥टेर॥

हाथी घोडा म्हेल नही माँगूं नइ माँगू कछु राज।
पुत्र कलत्र धन दोलत न माँगूं माँगूं धर्म की जहाज ॥१॥

समकित माही क्षायक माँगूं ध्यान मे सुकल ध्यान।
यथाख्यात चारित्र माँगूं ज्ञान मे केवल ज्ञान ॥२॥

जिनवर गणधर रो पद जो माँगूं माँगूं सुख की रास।
मुनि राम कहे अक्षय पद माँगूं माँगूं सिवपुर खास ॥३॥

☆

स्तवन : १४

ढढण रिष दर्शन री वलिहारी आपरी सूरत मोहनगारी ॥टेर॥

निर्जरा करणी दोनो थारी परम श्री नेम उचारी।
यादव नो कुल उचो जो लाया अद्भुत करणी थारी ॥१॥

छ महीना लग अन्न-जल न लीदो लीदो अभिग्रह धारी।
म्हारी लब्धी को आहर पानी लेसु जाव जीव लग धारी ॥२॥

श्रीपती गाथापती प्रतिलाभ्यो आहार ने पानी।
आहार पानी ले प्रभु पासे आया नई वछ लवध तुम्हारी ॥३॥

मोदक परठण काजे चाल्या दिया कर्म विदारी।
मुनि राम जपे जिन शासन मे मुनिवर बडे उपकारी ॥४॥
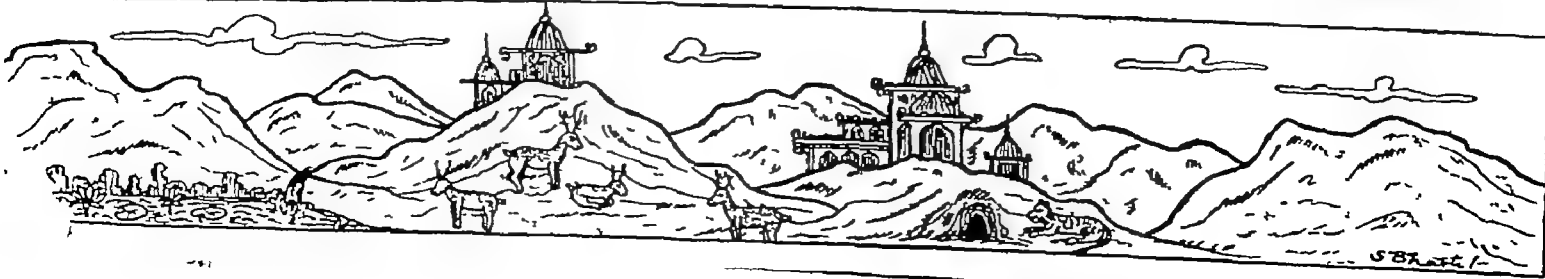
स्तवन · १५

रैवतीवाई प्रभुजी ने पाक वेरायो।
वीर सीयो अणगार पठायो ॥रे०॥ टेर॥

सुर नर इन्दर सेवा करते है कचन वृष्टि करायो।
थोडा-सा पाकर हुई मेहवाणी जिन पद गोत वधायो रे ॥१॥

चदन बालाजी अष्टम पारणे वीर अभिग्रह फलायो।
उडदा रा वाकला सुपडा के खूणे प्रतिलाभी मान वढायो ॥२॥

साडी बारा वरस लग तपस्या करने करम कठोर हठायो।
साली दरखत हेठे केवल पाया इन्द्र मोच्छव को आयो ॥३॥

इन्द्रभूति प्रभु पासे पदारिया सजम सू चिति लाया।
वडा रे चेला वीरजी रा वादु तो गणधर पदवी पाया ॥४॥

वोहतर वरस नो आयुस पाली भव जीवा उपकार करायो।
आनद घन कहे घन श्री वर्धमान भाग वडो यश पायो ॥५॥

☆

स्तवन . १६

चेतन रे तू ध्यान आरत किम ध्यावे।
तू नाहक करम बँधावे—चे० ॥टेर॥

जो जो रे भगवत भाव देखिया सो सो ही वरतावे।
घटे-वढे नहि किंचित मात्र काहे को मन डुलावे ॥१॥

जलत काल जो चिता अग्नी उपजे सो विणशावे।
शोकातुर वीते दिन रेणी धर्म ध्यान घट जावे ॥२॥

सुख सू नीद न आवे रात मे अन्न उदक नई भावे।
पेरण ओढण मन नई चावे रग राग नई सुहावे ॥३॥

सुख नई रया तो दुख किम रहसी ऐ भी सायत गुजरावे।
वाध्या सो भुक्त्या ही सरसी क्यू आतम ने डडावे ॥४॥

बिन भुगत्या छूटे नई असुभ उदे जो आवे।
साहुकार सिरोमणि जो ही हस हस करज चुकावे ॥५॥

प्रभु समरण तपस्या करता दुष्कृत रज टल जावे।
ज्येष्ठ कहे समता रस पीदा तुरन्त आनद पावे ॥६॥

●

पूज्य श्री नृसिंहदास जी महाराज की कुछ

र च ना एँ

[१]

तवन लषते ॥

वीर जिणेस सासण नायक सुण प्रभु अरज हमारी।
जबु दीपै भरत षेत्र मैं कुडणपुर सुषकारी। वी० ॥१॥

राय सिधारथ ने घर राणी तिसला मात तुमारी।
प्राणतलोक थकी चवीनैं आय लीयो अवतारी। वी० ॥२॥

चवदे सुपना देषनैं जागी राजा पास पधारी।
राजाजी साभलनैं कहीयो कुमर होसे अतिभारी। वी० ॥३॥

राजा सुपन पाठक तेडीने कीधो सपन विच्यारी।
इम घर सु तिर्थंकर होसे दान दीयो बहु भारी। वी० ॥४॥

जनम्या पाछै जोवन वै मैं परण्या छो एक नारी।
तीस वरस घर माय रही नइ लीघो सजम भारी। वी० ॥५॥

बीस वरस छदमस्त रहीनैं कठण कर्म परजारी।
घनघाती चउ कर्म षपावी केवल कमला धारी। वी० ॥६॥

च्यार हजार च्यार सै मुनीवर एकण दिन व्रतधारी।
गोनम सरिषा गण घर ग्यारैं लबध तणा भडारी। वी० ॥७॥

चवद हजार मुनीसर हूवा अरजका छतीस हजारी।
तीस वरस केवलपद पाली तार्या बहु नर-नारी। वी० ॥८॥

पावापुरी प्रभूजी पधार्या हरष हुवा नर-नारी।
हस्तपालरा करी वीनती चौमासो रह्या धारी। वी० ॥९॥

काती बुध अमावस कै दिन पहुता मुगति मजारी।
कर जोडी रष नरसीघ बोलै अब प्रभुजी मोए तारी। वी० ॥१०॥

समत अठार पच्यासे मगसर दसमी मगलवारी।
कसन पष गगापुर माहै तवन कह्यो हेतकारी। वी० ॥११॥

॥ इति श्री सपुर्ण ॥
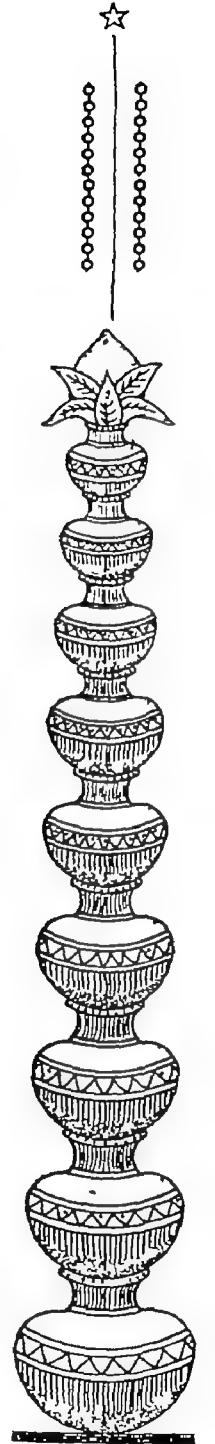
[२]

सुमत जिणेसर सुमत का दाता विसव माहे विष्याता रे।
जयत विमाण थकी चवी ने वतीस सागर भोगवनै रे। सु० ॥१॥

कोसलपुर नगर छै नीको मेघ राजा छै ठीको रे।
मगला राणी माता नै आया सपना चवद दिपाया रे। सु० ॥२॥

धनदत सेठ छै नगर मे नीको सेठा सेठा सिर टीको रे।
दोय स्त्री नो छै उ नाहो माहो माहि उछाहो रे। सु० ॥३॥

एक स्त्री नै पुत्रज हुवो पाछै सेठजी मुवो रे।
दोइ माता पुत्र नै पालै जतन करी रुपवालै रे। सु० ॥४॥

कर्म नै जोगै माता दोइ ताम लडाइ होइ रे।
वडी कहै छै वेटो मारो लहोडी कहै मारो रे। सु० ॥५॥

लडती-लडती रावलै जावै राजा पासै आवै रे।
राजा सेती न्याय न थावै अचरज सव जन पावै रे। सु० ॥६॥

राणी साभल ग्रभ प्रभावे दोइ नारी नै उर ही वोलावै रे।
न्याव करै छै नारी केरो सुणता हरष घणेरो रे। सु० ॥७॥

नारी कहै ए न्याव करीजै सुत म्हारो मुज दीजै रे।
राणी भाषै दो षड करस्या दोया नै वाटी देस्या रे। सु० ॥८॥

सोक कहै सुधो न्याव कीधो झगडो मेटी दीधो रे।
माता भाषै मत मारीजे सुत एहनो इनै दीजे रे। सु० ॥९॥

म्हारो वेटो छै नही कोइ राणी समजी सोइ रे।
जूठी सोक नै जूठी कीजे वेटो माता नै दीजे रे। सु० ॥१०॥

सुभ वेला राणी सुत जायो सुमत ज नाम कहायो रे।
कर्म षपावी मुगत सिद्धाया तिरथकर पद पाया रे। सु० ॥११॥

समत अठारै पच्यासै चोमासो सहर राईपुर उलासो रे।
रष नरसीघदास भाषी उदारसिंघ भणी सुपकार रे। सु० ॥१२॥

धर्म ध्यान रो हुवो उपगार नर नारी सुपकार रे।
काती सुद री चउदस सार आयो छै गुरवार रे। सु० ॥१३॥

इति सपुर्ण ॥

दुहा

[३]

श्री मित्र प्रसाध थी विध जपता श्रीकार।
श्री गुरदत प्रसाद थी नत जपीया जयकार ॥१॥

सकल वाछत फल सीजसै पच पदा प्रसाय।
तेहनी सुर सानिध करे जिम श्रीमती सुषदाय ॥२॥

[एक दिवस लकापती ॥ए देसी ॥]

भरत षेत्र छै अती भलो पोतन पुर निगर तिलो
गिढ मिढ मिंदर सोभा घणी ए।
जतु सतु राजा भलो न्याव नीत कर आगलो
आ० राणी तो छै धारणी ए ॥१॥

सुगुपत नामै विवहारीयौ, समगत सुधो धारीयो
धा० मिथ्या मत मानै नही ए।
श्रीमती नामै बेटी छइ गुण मणी केरी पेटी छइ
पे० सील रतन करनै सही ए ॥२॥

एक मिथ्याती वाणीयो बेटो आछो जाणीयौ
जा० श्रीमनी नै देषी सही ए।
रूप देषीनै मोहीयो परणवा वाछै सोहीयो
सो० मथ्यामत भणी देवे नही ए ॥३॥

कपट करी श्रावक होइ श्रीमती नै परणी सोइ
प० आपणडै घर आवीयो ए।
कटुब सहु छै मिथ्या ती श्रीमती घर मै जाती
घ० काम काज सहु सावीयो ए ॥४॥

जैनधर्म करता भणी सासु नणदी षीजे घणी
षी० तव बाइ चिते सही ए।
आपणा कर्म सहीजीए केहने दोस न दीजिए
दी० धर्म थकी चुके नही ए ॥५॥

भरतार श्रीमती उपरे द्वेष वहै तो नही डरे
न० ए स्त्री ने मारीए ए।
वीजी स्त्री परणीजे ससारी सुष विलसीजे
वि० एहवो मन माहे धारीए ए ॥६॥

एक वार तिण काले जी, सर्प घडा मै घाले जी
घा० ढांकी घर मै मुकीयो ए।
अवसर वास भवन माहे सेज्या बैठो छै प्राहे
छै० श्रीमती नइ इम कीयो ए।।७।।

जा घर माहे अमुलनी घडा माहै छै फुलनी
फुल० माला मुकी छै भली ए।
आणो ते माला सई तत्काल तीहा गई
ती० नवकार जपता मन रली ए।।८।।

उघाडीनै ढाकणो घडा माहे तिहा घणो
ति० मन्त्र प्रभावै ए धरी ए।
तुठी सासण नी देवी सर्प फीट नै तत् षेवी
सुगध फुल माला करी ए।।९।।

फुला नी माला कर थापी आणी भरतार नै आपी
नै० ते देषी चमक्यो सही ए।
ए करस्यु तिहा जाइनै ते घडो जोवै आइनै
आ० देषै तो माहै नही ए।।१०।।

एह घडो परमल भरी महकै छै महमैकरी
म० एमै जाण्यो एहवो ए।
एहनै देव सानिध करै हुं अभागीया सरै
या० जेहनै पाहु उ चिंतव्यो ए।।११।।

पाछै सजन नै मली तेह आगल आयो चली
आ० ए वरतत माता नै कीयो ए।
माताजी तब उछली नगर लोक आया मली
आ० आण घडो उघाडीयो ए।।१२।।

माता नै कहै सभलो एह घडा माहै न्हालो
मा० देषो माहै छै कांइ ए।
देषे तो माहै साप माता पामै सताप
स० बेटा नै बोलै माइ ए।।१३।।

नारी नै कहै नाथ तुम देषै सघलो साथ
स० देषता माला काढै ए।
सुगध सघलै वसतरी नर नारी हर्षत घरी
ह० गुणवती ना गुण वाढै ए।।१४।।

श्रीमती नै षमावै तेहना गुण मुष सु गावै
मु० नर नारी सहु सुष लहै ए।
एक वार अवसर देषी नै श्रीमती भरतार पेषीनै
पे० जैन धर्म नो मर्म कहै ए ॥१५॥

कर्म विवर सुण जोगही प्रतीवोध्यो कुमर सही
कु० श्रावक धर्म ज धारीयो ए।
जाव जीव धर्म पालीनै दोषण सघला टालीनै
सुर गत माहप्पघारीयो ए ॥१६॥

महाविदे है आइनै मोटा नो कुल पाइनै
पा० थिवरा पास पधारसी ए।
वाणी सुण वयराग सी सजम सु चित लागसी
ला० आतम कारज सारसी ए ॥१७॥

समत अठारें पच्यासे सहर राइपुर मै सुषवासै
सु० काती सुद पुनम दनै ए।
सुकर वारज आवीयो च्यार सग सुष पावीयो
पा० रष नरसिंघ कहै हर्ष मनैए ॥१८॥

॥इति सपुर्ण ॥
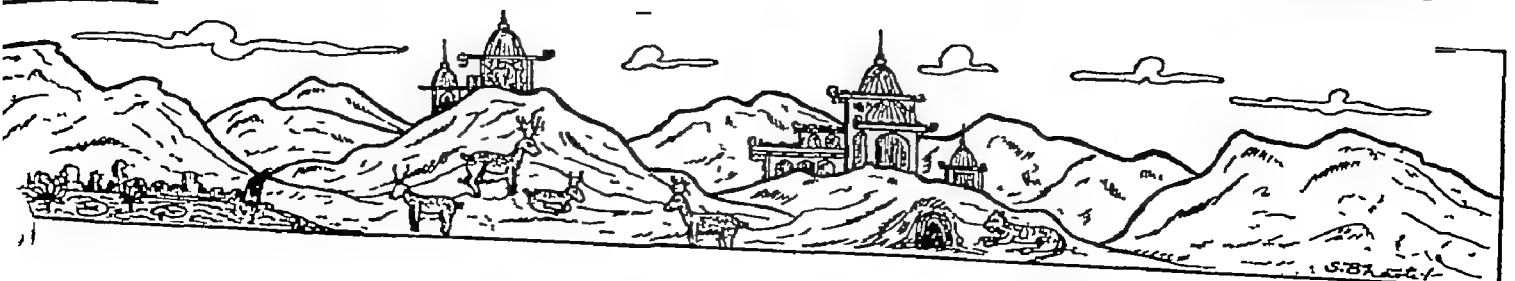
पूज्य श्री नृसिंहदास जी महाराज रचित

श्री रोड़जी स्वामी का गुण

श्री रोडजी स्वामी मे गुण गणा।
म्होटा तो स्वामी रोडजी जी तपस्यारा भडार।
गाम करेडा माय ने वाकी-दया माता की दी साय जी—
राजा जी जव यू कह्यो—स्वामी काजल लो महाराज।
एक दिवस गढ पधारज्यो, म्हारा सफल करो काज जी॥
स्वामी तो मन मे विचारियो जी, सूज तो काजल नाय।
यो तो काजल लेणो नही, म्हारे दोष लागे वर्ता माय।
स्वामी शहर सू पधारिया, गया विखमी उजाड।
तेलो करी स्वामी विराजिया जी, वाकी आख्या खुली तत्काल—
रायपुर स्वामी आवियाजी, घणा री वाली मे जाय।
तपस्या करे स्वामी रोडजी जी, मूर्ख शिला मेली माथे आय जी॥
सनवाड स्वामी आवीया जी तपस्या करे भरपूर।
चरण पकड गवाल्या घीसिया, वा तो क्षमा आणी मनशूर।
स्वामी वठा सूं पधारिया, गया उदयपुर माय।
स्वामी तो देवे धर्म देशना, वे तो भाया करे अरदास—
आतापना लेवे स्वामी रोडजी जी सला उपर जाय।
सर्प निकल्यो तिण अवसरे, उतो कालो दाटक नाग जी—
प्रक्रमा दीनी तिण अवसरे जी, राजा वासग नाग।
पगा विचे उभो रयो, उतो उभो करे अरदास—
तपस्या करे स्वामी रोडजी जी, एकलिंगजी मे जाय।
जोगी तो आया तिण अवसरे, वे तो लिया छोरा ने बुलाय।
भाटा सूं मार्या तिण अवसरे जी, रोडजो ने तिण वार।
ये वाता राज मे सुणी जव लिया जोगी ने बुलाय—
जोग्या ने दरवार बुलायने जी, रोक्या छे तिण वार।
स्वामी रोड जी इम कहे याने छोडो जदी लेस्यूं अहार जी।
नाथद्वारे स्वामी पधारिया जी, प्रतिवोध्या कितना इक ग्राम।
श्रावक श्राविका अति घणा, वे तो लुर-लुर लागे पाँव।

सोवो वाण्यो आयने जी वोल्या वचन करूर।
कूडो आल चढावियो वा तो क्षमा करी भरपूर।
वेले वेले स्वामी पारणा जी, मासखमण दोय वार।
तेला तो चोला सहेज है, वे तो तपस्या रा भडार।
अभिग्रह कीनो हाथी तणो जी, आणी मन उछाय।
फलियो दिन गुणत्तीस मे ज्यारो जस फैल्यो जुग माय—
साड वेरावे तो लेवणो जी नही तर लेणो नाय।
फलियो दिन इगतीस मे ज्या जैन मार्ग दीपाय जी—
सियाले एक पछेवडी जी, ध्यान धरे महाराय।
थोडो सी अधिक पडे तो, वाही देवे राल—
ज्येष्ठ तपे रवि आकरो जी धूप पडे असराल।
स्वामी लेवे अतापना जी, वे तो कर-कर लम्बी वाय जी—
कोई खोटो आहार वेरावियो जी, नाख्यो नही मुनि राय।
विष अमृत देई प्रगम्यो वाकी दया माता कीदी साय—
आमेट स्वामी पधारिया जी, आज्ञा मांगी हाट माय।
परीसो तो दीधो अति घणो, पारणो कीनो लावे जाय जी।
वालू रेत मे काउसग्ग करे जी, मानवी आयो तिण वार।
सला मेली माथा उपरे पापी चढ उभो तिण वार जी।
मानवी ने रावले बुलावियो जी, रोक्यो छे तिण वार।
स्वामी तो रोड जी इम कहे, इण ने छोडो जव लेस्यूं आहार ॥
स्वामी जी मन मे विचारियो जी, पूर्वला भवना पाप।
म्हारा मने सहना पडसी, किण पे नही करना कोई कोप जी ॥
काल कितना इक विचरिया जी, एकल बिहारी आप।
परीषा तो खम्या अति घणा ज्यारा टल्या सर्व सताप ॥
पच महाव्रत पालता जी, खम्या करी भरपूर।
बावीस परिषह जीतिया जी दोष टाल्या बियालिस पूर।
सुरनर सेवा करे जी उभा करे अरदास।
भव्य जीवा ने तारने पाम्या, स्वर्ग गति वास जी ॥
शहर रायपुर मायने जी गुण गाया नरसिंघदास।
सुगुरु प्रसाद से या तो, जोड करी ततसार—
सवत् अठारे सैतालीस मायने जी, जोड्या तपसी गुण सार।
आषाढ वद अमावस्या मैं तो लागा स्वामी जी रे चरणार जी ॥

पूज्य श्री मानजी स्वामी विरचित

पूज्य श्री नृसिंहदास जी महाराज के गुण

□

दोहा

श्री अरिहंत सिद्ध नमी करी आचारज उवज्झाय ।
सर्व साधु नमी करी गुण गाऊँ चित लाय ।।
गुरु हीरा गुरु कचणा गुरु ज्ञान दातार ।
गुरु पोरस चित्र वेल सम लीज्यो मन मे धार ।।
गुरु पारस सारखा सीख लोह जिम जाण ।
कनक करे तत खिणे गुरु वचन प्रमाण ।।
गुरु कारीगर सारखा टाँकी वचन समेत ।
पत्थर थी प्रतिमा करी पूजा लहे सहेत ।।
तेह भणी गुरुदेव रा गुण वरणूं अभिराम ।
चरण नमी ने गावस्यूं पुजजी का गुण ग्राम ।।

ढाल-नानो २ नाहलो रे ।।एदेशी।।

सकल जिनन्द नमी करी करू पुजजी रा गुण ग्राम ।
भविक जन सांभलो रे सजन जन चित लायके रे ।
करज्यो थे परमाण ।भ०।।१।।
जबूदीप ना भरत मे रे बत्तीस सहस्र देश ।भ०।
आर्य साढा पचवीस हे रे अनार्य अवशेस ।भ०।।२।।
देश मेवाड मनोहरु रे ग्राम दश सहस्र परमाण ।भ०।
राजा राज करे तिहारे भीमसिंघजी जाण ।भ०।।३।।
सेर रायपुर सोभतो रे गढ मढ पोल प्रकार ।भ०।
सेठ सेनापति तिहाँ वसे रे वहुला छे सुखकार ।भ०।।४।।
खत्री वश मे जाणिये रे गुलाबचन्द जी नाम ।भ०।
भारज्या गुमानावाई दीपती रे रूपवत अभिराम ।भ०।।५।।
सुभ सपनो अवलोकियोए उत्तम जीव अवतार ।भ०।
नो महिना साढी सात रात मे रे जनम्या पुत्र विसाल ।भ०।।६।।
प्रथम ढाल पूरण थई रे जनम तणो अधिकार ।
रिख मानमल इण पर कहे रे लीज्यो पुण्यवत धार ।।७।।

दुहा

भणे गुणे बुधवत थया जोवन वय मे आय।
वेपार वणज करे घणो रह्या परम सुखमाय ॥१॥
परण्या एकज कामणी सुख विलसे ससार।
धर्म ध्यान हिये सीखिया जाण्यो अथिर ससार ॥२॥

ढाल—हरणी जो चरे ललणा ॥एदेशी॥

पूज श्री रोडीदास जी ललणा। ललणा हो।
सकल गुणा री खान।
पूजजी वारू रे ललणा जिन मारग दीपावता ल०
नर अहकारी नर मान ।पू०॥१॥
भव जीवां ने तारता ल० करता पर उपकार ।पू०।
परिसा रो अधिकार छे ल० दूजी ढाल मे द्वार ।पू०॥२॥
सखेपे कर वरणव्यो ल० गुण बहुला छे तास ।पू०।
एक जिभ्या किम वरणवूं ल० गावता सुख विसाल ।पू०॥३॥
विचरत विचरत आविया ल० लावा ग्राम ते माय ।पू०।
श्रावक श्राविका अति घणा ल० विनवे सहु नर नार ।पू०॥४॥
चोमासो पुजजी यां करो ल० विनती करे रसाल ।पू०।
विनती मान तिहां रह्या ल० करे उपकार विसाल ।पू०॥५॥
भीलोडा सूं पदारिया ल० आया लावा ग्राम ने मांय ।पू०।
पोसा पडिक्कमणा करे ल० भेट्या श्री पुजजी ना पाय ।पू०॥६॥
उपदेश सुणिया थका ल० वेराग मे चित्त लाय ।पू०।
दिख्या तो लेसूं हूं सही ल० जिम मनडो सुख पाय ।पू०॥७॥
जिम सुख होवे तिम करो ल० बोल्या अमृत वाण ।पू०।
रिष मानमल इण पर कहे ल० दिख्या नो अधिकार ।पू०॥८॥

दोहा

पाछे आवे असत्तरी क्लेश कीधो आण।
श्रावक श्राविका समझाये तब वचन कियो परमाण ॥१॥
पाछे दीधी आगन्या हुआ हर्ष अपार।
श्राविका थापी बेनडी पहुँचावण अधिकार ॥२॥
बाप भाइ आवी करी कीधो क्लेश एम।
पाछे दीधी आगन्या राखी बहुलो प्रेम ॥३॥

ढाल—आव उरी के जा परी हे कूवेण मत

तर छावेजीव कर्तन सोनार को ।।ए देशी।।

अष्टादस बावने के भविक जन मिगसर मास वखाण ।
सुगण नर साँभलो रे भवियण पूज्य तणा गुण भारी ।
कृष्ण पक्ष नम कही रे भ० सजम लीधो जाण ।।१।।
आज्ञा पाले निरमली रे भ० करे वचन परमाण ।भ०।
भणे गुणे पडित थया रे भ० वने विवेक रसाण ।सु०।।२।।
मास खमण धुरजाणिये रे भ० तेइस इकवीस जाण ।सु०।
कर्म चूर तप आदर्यो रे भ० पनरा तक तप आण ।सु०।।३।।
और तपस्या कीधी घणी रे भ० कहता नावे पार ।सु०।
सेर उदियापुर आविया रे भ० विनति करे नर नार ।सु०।।४।।
पूज्य रोडीदासजी थाणे रह्या रे भ० नव व्रसो लग जोय ।
आतम कारज सारिया रे भ० उपगार विविध होय ।सु०।।५।।
छेलो अवसर आवियो रे भ० सथारो कियो उल्लास ।
दिवस साढ़ा चार मे कियो सुरग मे वास ।सु०।।६।।
पुजजी पाट विराजिया रे भ० नरसिंघदास जी नाम ।
लखण पढन उपदेश नो रे भ० और न बीजो काम ।सु०।।७।।
ढाल भणी ए तीसरी ए भ० सुणता लागे प्रेम ।
रिख मानमल इण पर कहेरे भ० वरते कुसल न खेम ।सु०।।८।।

दुहा

सेवा भक्ति कीधी घणी गुरु गुरु भाया री जोय ।
आतापन लीधी घणी कर लाम्वा करी दोय ।।
ग्राम नगर पुर विचरिया कीदो भव जीवा उपकार ।
अनार्य आर्य किया धर्म दिपायो सुध सार ।।

ढाल—वामानन्द पासजिणदजी प्रभुजी ।।ए देशी।।

सोले चोमासा उदियापुर माय जी
पुजजी कीदा आप हर्ष उछाया ।
हे मार्ग दिपायो आप जस लियो ए ।
हाँ ए दर्शन आपरो ए निवारण पाप रो ए पुजजी महाराज ।।१।।
श्री जी दुवारे नव किया चोमास नर नारी हुवा हर्ष उल्लास ।
हे दर्शन करीने पाप दूरो कियो ए । हा ।।२।।
सनवाड माहे एक चोमासो जोय जी पोटला माहे एक हीज होय ।
हे गगापुर माहे एकज जाणिये हे । हा ।।३।।

लावा माहे दोय चोमासो कीधजी देवगढ माहे एक प्रसिद्ध ।
हे रायपुर माहे दोय वखाणिये हे । हाँ ॥४॥

कोटा माहे चोमासो कियो एक जी भीलोडा माहे पण दोय ।
हे चित्तौड मे चोमासो कियो मन रलिये हे । हाँ ॥५॥

ए चोमासा हुआ सेत्रीसजी कीधा आप आण जगीस ।
हे मन रा मनोरथ सहु फली हे । हाँ ॥६॥

चउथी ढाल कही छे रसाल जी भव्यक जन लहे अेलाद ।
हे गुणकारी देही करी सली हे । हा ॥७॥

दोहा

वाया भाया ने तप दियो कर्मचूर प्रधान ।
या तपस्या भारी घणी वाया लीधी मान ॥

ढाल—नक छोल्या नींबू भावे ॥ ए देशी ॥

सेर उदियापुर पधारिया रे कीदो धर्म चोमास ।
धर्मध्यान निपजावियो रे विहार करण री आस ।
हो सुण स्वामी ॥१॥

चउथ भक्त अणसण कियो रे आणी मन उल्लास ।
फागुण कृष्णा अष्टमी रे सुरलोक मे वास हो । सु०॥२॥

सुरगलोक मे विराजिया रे नाटक ना धुकार ।
देवता देवी अति घणा रे कर जोडी तुरत तैयार हो । सु०॥३॥

एक मोरत नाटक माहे रे वरस निकले दोय हजार ।
सुख सजोग विलमे घणा रे पुण्य तणा परकार हो । सु०॥४॥

अष्टादस निव्यासिए रे वसत फागण मास ।
कृष्ण चतुर्दशी रिष मानमल कहे रे वदे थारी आस हो । सु०॥५॥

चन्द्रवार सुहावणो रे जोड करी प्रकास ।
शेहर उदियापुर मे कही रे नर-नारी हुवा उल्लास हो ।सु०॥६॥

॥ सपूर्ण ॥

ढाल—हेवर गेवर पुर तुरगम । ए देशी ।

सकल मुनीन्द्र मे पुजजी सोवे जिम तारा विच चद रे ।
श्री श्री पुज नरसिंघदासजी छोड्या ससार ना फद ।
देखो सजन वदो ए पुजजी माराज ।।१।।

नव पाले नव चित माहे धारे आठ नो करे परिहार ।
तेरा जी काठ्या कू दूर निवारे दसविध जती धर्म सार । दे०।।२।।

च्यार कू टाले च्यार कू आदरे चार को बतावे जी ज्ञान ।
च्यार कू ध्यान जस कू तज्या जी सज्झाय पच नू ध्यान । दे०।।३।।

आप वखाण देवे जुगत सू जी भविक जन रहे लेलीन ।
उपदेशज लागे तुरत सू सजन जन रहे जी भीन । दे०।।४।।

गुरु देवन का देव कही जे गुरु सम अवर न कोय ।
एहवा गुरु मिले जेहने तेहना कारज सिद्ध होय । दे०।।५।।

पूज्य श्री श्री रोडीदासजी रा चेला सर्व जीवाना प्रतिपाल ।
मेवाड खेतर मे पुजजी विचरे मोटा छो जी दीनदयाल । दे०।।६।।

रायपुर सू आप नीसर्या दिल्या लवि लीदी आय ।
त्रिया आद कुटुम्ब प्रवारज वहु हद कीनी माय । दे०।।७।।

दिक्षा लेने विचरत मुनिवर सिंघ जिम करो जी आवाज ।
पाखड मत मिथ्यात निवारण समकित नो देइ साज । दे०।।८।।

जिम्या एक गुण अनेक छे विनति करूँ कर जोड ।
एक अरज मुझ अवधारो पूरो म्हारा मनवाछित कोड । दे०।।९।।

आप प्रसादे कमी न रहे काई सुणज्यो जी दीनदयाल ।
पुजजी म्हारी आही अरज छे राखज्यो म्हारी प्रतिपाल । दे०।।१०।।

अष्टादस निव्यासे फागुण वसन्त ज मास ।
मानमल कहे सुणो भविकजन गुण गावो मन उल्लास । दे०।।११।।

इति सपूर्ण समत १९१८ पर का पौष सुद ५ चम,
लिखते गाम थामला मद्धे ।।

श्रावक चतुर्भुज द्वारा रचित

पूज्य श्री मानजी स्वामी के गुण

पुजजी रा गुणा की लावणी

पुजजी चीत मन एक धारी।
पुज मानमल माहाराज आपकी सुरत बलीहारी ॥ऐ आकडी॥
गेर गभीर धीर सागर-सा षमावत भारी।
मेरू सरीषा आप ऊजागर धन धन गुणधारी ॥ पुज ॥१॥
सावण महीने ईन्द्र गाजतो जेसी आप वाणी।
जेसो वन मे सीग षडुके बुध गणी साणी ॥ पुज ॥२॥
बुधसागर तो आप कहीजे करणी करी भारी।
पुज पाटे तो आप सोवता बाल ब्रमचारी ॥ पुज ॥३॥
पाषडी तो धुजे देषता ग्यान गणो भारी।
जीवा ऊपर मय्या ज राषो मैं तो चीत धारी ॥ पुज ॥४॥
सुरज सरीषो तेज आपको देषे जन सारी।
अगन्यानी कु ग्यान बतावो बुध गणी भारी ॥ पुज ॥५॥
पुज नरसीगदासजी गुरु कहीजे पाट गणो भारी।
पुज रोडीदासजी पाट कहीजे वाणी हद प्यारी ॥ पुज॥६॥
पच महाव्रत पालो सुदा दोषण टालो सारी।
दय्यावत तो दय्या ज राषो सुद समता धारी ॥ पुज ॥७॥
भरत षेतर मे आप वीचरता ठाठ गणो भारी।
मेवाड देस तो रुडो कहीये दीप रहा भारी ॥ पुज ॥८॥
पचमे आरे आप दीपता वदे नर नारी।
पाषडी को सग बुडावो भाव गणा भारी ॥ पुज ॥९॥
हु सावक तो कहु आपको गुण गावु भारी।
चत्रभुज तो नाम हमारो सरणो लीयो भारी ॥ पुज ॥१०॥
समत उगणीसे ओरु तेरे।
माहा वीदी दसमी गुण गाय्या काकडोली सेरे ॥पुज ॥११॥

॥ इति सपुरण ॥

समत १९१४ का मती आसोज सुधी दसरावा के दन
लषे पुजजी माहाराज श्री १००८ श्री मानमल जी माहाराज
तत शी हीराच लषते उदीआपुर मधे ॥

कविराज श्री रिखबदास जी महाराज के

कुछ पद

□

आवे जिनराज तोरण पर आवे ।
समुद्रविजय सेवादेवी के नदन सावल वर्ण सुहावे । तो०॥१॥
दस धनुष तन सषनो लछण वरस तीनस्यै मे आवे । तो०॥२॥
जोवन वेस मे जोर वतावे अचरज सब जन पावे । तो०॥३॥
राजमती उग्रसेन की धीया अधभुत रूप कहावे । तो०॥४॥
हरि हलधर मिल व्याह मनायो साजन हर्ष बधावे । तो०॥५॥
जबर जोर स्यु जादव कुल आवे अधीक आडव करावे । तो०॥६॥
बहु पस्युअन पिंजर माहे देपी सवारथी साथ पुछावे । तो०॥७॥
सेवगमुष सुणी कुरणा आणी श्रव जीवन कु छोडावे । तो०॥८॥
तोर्ण थी रथ पाछो वलीयो हरी हलधर समजावे । तो०॥९॥
एक न मानी सजम लीधो वरसीदान देवावे । तो०॥१०॥
तप करणी करी केवल पाम्या बहु उपगार करावे । तो०॥११॥
अतस वाणी गुणकर सोभे पुरव पुन्य प्रभावे । तो०॥१२॥
नेम जिनेसर पाछा फरीया सुण राजुल दुष पावे । तो०॥१३॥
सषीय सघाति राजमतीजी सजम लीयो चित चावे । तो०॥१४॥
सषीया साथे गिरवर जाता घोर घटा वरसावे । तो०॥१५॥
चीर सुषावण गइ गुफा मे सील अषड रहावे । तो०॥१६॥
मदमातो गज आण्यो ठेकाणे वचनाकुस लगावे । तो०॥१७॥
पिउ पेली सती मुगत पोहती जामण मरण मिटावे । तो०॥१८॥
वर्स सातस्यै सजम पाली सिवनगरी मे सिधावे । तो०॥१९॥
नेम जिनेश्वर राजुल केरी अवचल जोड कहावे । तो०॥२०॥
पेउ श्री नेमीस्वरजी केरा चर्णकमल चित लावे । तो०॥२१॥
रोग सोग उपद्रव मट जावे दिन-दिन दोलत प्यावे । तो०॥२२॥
सुगुर पसाए रिषब रिषेश्वर नित उठ सीस नमावे । तो०॥२३॥
बारे फागुण रतनपुरी मे, ए उपदेस सुणावे । तो०॥२४॥

राम न जाण्यौ । ए देशी ।

अग्यानी थे प्रभु न पिछाण्यौ रे।
विषय-सुष ससारना किच माहे षुचाणो रे।
तन धन जोवन कारमो जेस्या दुध उफाणो रे। अ०॥१॥

सजन सनेही थारो नही नही रूप नाणो रे।
काल अवध पुरी हुइ कीयो वास मसाणो रे। अ०॥२॥

पुर्ब पुन्ये पामीयो मानव भव टाणो रे।
धर्म रतन चिंतामणी हाथ आय गमाणो रे। अ०॥३॥

इन्द्र आप वछा करे वेठा अमर विमाणो रे।
मनुष थइ करणी करी पावा पद निरवाणो रे। अ०॥४॥

कुगुर कुदेव कुधर्म थी भव माय भमाणो रे।
अब ही चेत रे प्राणीया पर्म निध्यानो रे। अ०॥५॥

देव निरजण भेटीयो गुर गुण री षानो रे।
धर्म दया मे जाणीये जन्म मर्ण मिटाणो रे। अ०॥६॥

वार वार तुझने कहु मति होय अयाणो रे।
धर्म थकी सुष पामीये एसी जनवर वाणो रे। अ०॥७॥

भव जीव हित कारणे कही सीष सु जाणो रे।
रिषव रिषी कहे हारीया बाजी दुलभ पाणो रे। अ०॥८॥

साल गुणीस वारे हुवो षाचरोद मे आणो रे।
फागुण विद बीज हर्ष स्यु उपदेस सुणाणो रे। अ०॥९॥

॥इति सपुर्ण ॥

□

चतुर नर ले सतगुर सरणा।
लष चोरासी मे तु भम आयो कीया जनम मरणा ॥१॥

सबद करी सतगुर समजावे सीष हीये धरणा।
काल अनत लयो मानव भव निरफला क्यु करणा०। च०॥२॥

मात पिता नारी सुत काजे पाप पीड भरणा।
अत समे तेरे कोन सघाति पर भव स्यु डरणा०। च०॥३॥

कठी दोरा कडा पेरीया वागा ने चरणा।
स्वय पर काजे करम बाघने दुरगत मे फरणा०। च०॥४॥

धन जोवन रिध मे गरभाणो गोरो दष वरणा।
धर्मधिर्म न जाणी मुर्ष भव जल मे पडणा०। च०॥५॥

ज्यो षिण जाए स्यौ पिछी न आवे रात दिवस षरणा।
कालचक्र को नही भरोस्यौ समज हीये करणा०। च०॥६॥

इम जाणी समजो भव प्राणी सुगर वयण सुणणा।
तप जप समज सुष अराधो भव सायर तर्णा०। च०॥७॥

श्री गुरदेव तणे सु पसाए कीया एह वरणा।
रिषव रिषी कहै धर्म कीया थी भव-भव दुप हरणा०। च०॥८॥

साल गुणीस बारे फागुण विध एक गुर्णा।
पाचरोद सहेर मे हुवो समागम साध सत मिलणा०। च०॥९॥

॥ इति सपुर्ण ॥

श्री रिखबदास जी महाराज लिखित प्रस्तुत चर्चा ऐतिहासिक महत्त्व की दृष्टि से यहाँ दी जा रही है। समन्वय-प्रधान वर्तमान युग मे इस चर्चा से कोई सज्जन अन्यथा भाव न लेकर मात्र एक ऐतिहासिक विरासत के रूप मे देखें। —सपादक

श्री रिषबदासजी महाराज कृत

ता त्त्वि क - च र्चा

॥तेरा पथ्या री चरचा। आचारग नामा सुत्तर नवमा अधीन मे। चोथे उदसे श्री भगवत महावीर सामी। छद मस्त पणे कचण मात्त पाप कीधो नही १। भगवती रे पनर मे सतके। श्री भगवत महावीर सामी ने। केवल उपज्या पछे। भगवान गोतम सामी ने कह्यो। हे गोतम अणुकपा दया रे वासते। गोसाला ने वचायो सो अणुकपा कही। पण सावज अणुकपा कण ही सुतर मे चाली नही २॥ उपासग दसारा आठमा अधिनमे। सेणक राजा जीव मार्गणा मने कराया ३। गन्याता सुतर रे पाचमे अधिन मे। थावर चा पुत्त सुषदेव सन्यासी रो। सरावग सुदरसण सेठ कह्यो। भगवान रो मारग वना मूल धर्म जी रा दोय भेद। आगार नो वनो ते श्रावग नो। अणगार नो वनो ते साधू नो। दोय प्रकार रो वनो करतो जीव। आठ कर्म षपावीने मुगत रे वीषे जाय ४। भगवती सुतर रे बारमे सत के पेले उदेस्ये। सषजी री भारज्या पोषलीजी सरावग रो वनो कीधो। सात आठ पग सामी गइ। वनणा नमसकार कीधी। पोषलीजी श्रावग सषजी ने वनणा कीधी पछे। दुजा सरावग सषजी उपरे। करोध करता ने नद ताने। श्री भगवान वनणा करता ने वरज्या। जतरे भगवान रा मुडा आगे। सगलाइ श्रावग सषजी न वनणा नमसकार कीधी। श्रावग रा वना माहे पाप हुवे तो। भगवान वरज्या क्यु नही ५। श्री भगवती रे सातमे सतके छठे उदेसे। जीव री अणुकपा कीधा जीव रे साता वेदनी। पुन्य रा ठाट बद्धे पाप कह्यो नही ६। भगवती सुतर रे इग्यारमे सतके। बारमे उदसे असी भद्र पुत्त सरावग ने बीजा सरावगा वनणा कीधी ७। उवाइ सुत्तर मे अमडजीरा सात से। चेला सथारो करती वेला। अमडजी श्रावग ने नमो थुण कीधो ८। उवाइ सुतर में अमडजी श्रावग सो घरा पारणो कीधो। पाप हूवे तो सोघरा पाप काने लगावता ९। दसमी कालक सुतर मे तीजा अधिन मे। ग्रहस्ती रे घरे जाय बेसो तो। अनाचार लागो छ दशमो १०। वेदकलप सुत्त मे चोथे उदेसे। ग्रहस्ती रे घरे बेठी ने वषाण करणो नही। कदाचित काम पडे तो। उभो थको एक गाथा सुणावणी ११। नशीतरे आठमे उदेस्ये। न्याती अन्याती सरावग असरावग। आदि रात अषी रात राषे तो प्राइछीत आवे। जणीमे अर्थ रो निरणो कीधो। असतरी सहेत। भोजन सहेत। प्रगरा सहेत होवे जणीने राषे तो चोमासा प्राइछित आवे १२। वेद कलप सुतर मे पेले उदेसे। असतरी होवे जठे साधने न कलपे आरज्या ने कल्पे। पुरष हूवे जठे आरज्या ने न कल्पे साध ने कलपे १३॥ भगवती रा परनरमा सतक मे। भगवान श्री महावीर सामी ने। गोसालो ग्रहस्थी थको। च्यार महीना एक जायगा मै रह्या। राज-

ग्रही नगरी मे १४। सुगडाग सुतर मे दुजे अधीने। दुजे उदेसे तेरमी गाथा। जण कलपीने च्यार बोल वरज्या गाथा।
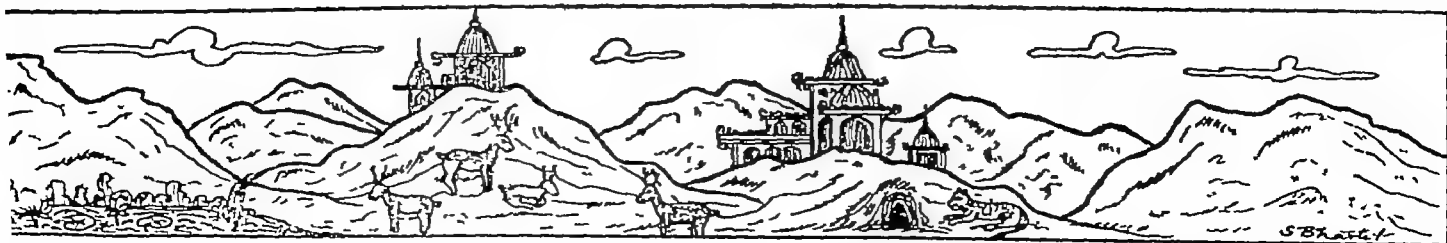
णो पीहे नावयगुणा दारु मुन्न घरस्स सजए। पुरठ न उदाहरे। वयण समुर छणो सथरे तण १३।

अरथ ॥ किण ही सयनादि कारणइ। सुने घर रही उ साधू ते घर नो द्वार टाके नही। उघाडे नही कीणहीक धर्म्म पुछिउ। तथा मारग पुछ्यौ थको। सावद्य वचन न बोले। जिन कलपी तथा अभीग्रह धारी। निरवद्य वचन पण नहो बोले। उपदेश पणन्ही देवे। तरण कचरो काढै नही। चारो वछाव नही। ए आचार जणकलपी अभीग्रहे धारीनो छे। थीवरकलपी च्यार बोल करे तो दोष नही १५। उतराधीन रा पेतीसमा अधीन मे। मनोहर घर चतराम सहेत होवे फूल री माला होवे धूप होवे। कमाड होवे। द्रोलो होवें। चदरवो होवे जणीने देष वषे विकार जागे। जणी जायगा शाधू आरज्या ने दोया ने रेणो वरज्यौ। कमाड जडवा पोलवा नो दोष नही च्याल्यौ १६। वेद कलप ने पेले उदेस्ये। आरज्या ने उघाडे वारणे न कलपे। पण आडो जडणो नही। इसो पाट तो चाल्यौ नही १७। आचारगसुत्तर मे दुजे सत षधे। पेले अधिन पाचमे उदेस्यें घर रे वारणे काटा करीने ढाक्यौ हुवे तो। साधू आग्या मागी उघाडवौ चाल्यौ १८। आचारग दुजे सातमे अधीने। सभोगी साध आया जाणीने। आहार पाणी देणो कह्यौ। असभोगी साध आया जाणीने। पाट पाटला देणा कह्या। दोइ साध चोपा आया रो सभोग जुदो-जुदो कह्यौ १९। सोले सपना मे तीजे सपने। चदरमा चालणी शमान देष्यौ। जण रे प्रताप पाचमा आरामे। साधा रा टोला जुदा जुदा होमी ॥२०॥ ।इति,तेरापथ्या री चरचा सपुर्ण लिषतु रिपवदास देव गुरु प्रसादतु गाम सणवड मध्ये।

□

श्री रिखबदासजी महाराज द्वारा लिखित छोटी पट्टावली ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। परपरागत पट्टावली पत्रक की उस समय की गई प्रतिलिपि प्रतीत होती है। सक्षिप्त पट्टावली मे कुछ अन्य स्थानकवासी परपराओं की भी नामावलियां दी गई हैं जो अनुसधान का विषय हो सकती हैं।

छोटी पट्टावली

अथ छोटी पाटावली लिषते। समत १५३१ के साल ४५ जणा लुका महेता की सापस्यु सजम मार्ग आदर्यौ तीवार पछे फरे साध आचार थकि ढाल पड्या समत १७०६ के साल लुका जती वजरग जी नो गछ बोसरावीने लवजीसाध ४ ठाणा स्यु निकल्या पछे सोमजी साहा लवजी रिषजी कने दिष्या लीधी पछे केसवजी ताराचदजी जोगराजजी लुकानो गछ बेसरावी सोमरिषजी कने तीनु ही दीष्या लीधी अठा स्सु ढुढिया वाजीया श्रीम्हावीर स्यु पाट चाल्या ते कहै छै ॥

श्री वीर पछे १२ वर्से गोतमजी
१ श्री सुधरमासामी २० वर्से पछे
२ श्री जबुसामी ६४ मोष पहता
३ श्री प्रभव सामीजी
४ श्री जसोभद्र सामीजी
५ श्रीयभव सामीजी
६ श्री सभुतविजय सामीजी
७ श्री भद्रबाहु सामीजी
८ थुलभद्र सामीजी
९ माहागिरी सामीजी
१० सुहस्ती आचारज
११ सुपडी बुधी आचारज
१२ इद्र दिन आचार्य
१३ आर्य दिन आचार्य
१४ वहेर सामीजी
१५ वजरसेण आचार्य
१६ आर्य रोह आचार्य
१७ पुस्वगिरी आचार्य
१८ फगुमित्र आचार्य
१९ धरणगिरी आचार्य
२० सीवभुता आचार्य
२१ आर्यभद्र आचार्य
२२ आर्यनषत्र आचार्य
२३ आर्य रिक्षत आचार्य
२४ नाहा सामीजी
२५ जेहलवीसनु आ
२६ सढील आचारज
२७ दिवठी षमासाण
२८ नागाजुण आचारज
२९ हीमत आचार्य
३० वाचिक आचार्य
३१ गोवदक आचार्य

३२ भुतदीन आचार्य
३३ लोहीतना आचार्य
३४ क्रम आचारज
३५ सुपडीवुध आचारज
३६ इद्रदीन आचारज
३७ वजुसेण आचारज
३८ आरजरोह आचारज
३९ पुसगिरी आ
४० नागरष आ
४१ जेहन आचा
४२ सठल आचा
४३ वलसीह आ
४४ सत आचार्य
४५ सीहगिरी आ०
४६ सामत आ०
४७ लेतनदी आ०
४८ वीर भद्र आ०
४९ सकर भद्र
५० जसभद्र आ०
५१ लोहत्यागी
५२ वीरसेण
५३ नरीयामेसेण
५४ जेसेण आचार्य
५५ हर्षसेण आचार्य
५६ जेवसेण आचार्य
५७ जगमाल आ०
५८ देवरिषजी
५९ भीमसार रिष
६० कश्मीर रिषजी
६१ राजरिपजी
६२ देवसेणरिप
६३ मकर सेण र
६४ लेपमी रपजी
६५ गमगिरी रप
६६ पदम रपजी
६७ हरीसाम रिष
६८ कुसल रषजी
६९ उमण रषजी
७० जेसेण रषजी
७१ वीजीया रषजी
७२ देवचद्र रषजी
७३ सुरसेण रष
७४ मायसग रष
७५ माहसण र
७६ जयराज रष
७७ गजसेण र
७८ मत्रस्ण रष
७९ वीजयसेण
८० सीवराज र
८१ लालजी रष
८२ ग्यानजी रष
८३ मानुरष
८४ रूप रपजी
८५ जीव रषजी
८६ लवजी रष
८७ सोम रषजी
८८ हरिदासजी
८९ गोदाजी
९० पर्सराम जी
९१ श्रीपादजी
९२ जीवोजी
९३ धनजीजी
९४ केसोजी
९५ धर्मदासजी
९६ प्रथीराजजी
९७ दुरगदासजी
९८ हरजीजी
९९ गागोजी
१०० रामचन्दजी
१०१ मनोजी

१०२ नाराणजी
१०३ पुरोजी
१०४ रोडीदासजी
१०५ नरसिंघदासजी
१०६ सुरजमलजी
१०७ रखवदासजी

●

१ जीवराजजी
२ धनरषजी
३ रामचन्दजी
४ वालचन्दजी
५ प्रथीराजजी
६ वडा पीथाजी
७ षेमरषजी
८ मूलचन्दजी
९ ताराचन्दजी
१० पदार्थजी
११ मलुकचन्दजी
१२ भवानीदासजी
१३ पुर्सोतमजी
१४ मुगटरायजी
१५ मनोहरजी
१६ साइदासजी
१७ समर्थजी
१८ वाघजी
१९ धर्मसिहजी
२० मसतुजी
२१ धर्मदासजी
२२ गुसाइजी

॥ इति २२ ढाला ॥

●

१ मुगटरायजी
२ हरकसनजी
३ नैणसुषजी
४ मनसारामजी
५ दयाचन्दजी
६ वडा प्रथीराजजी
७ देवीचन्दजी
८ सुषानन्दजी
९ हीरानन्दजी
१० रामकसनजी
११ रोडजी
१२ तुलछीदासजी

●

१ मनजी
२ नाथुरामजी
३ भोजराजजी
४ कल्याणजी
५ ग्यानजी

●
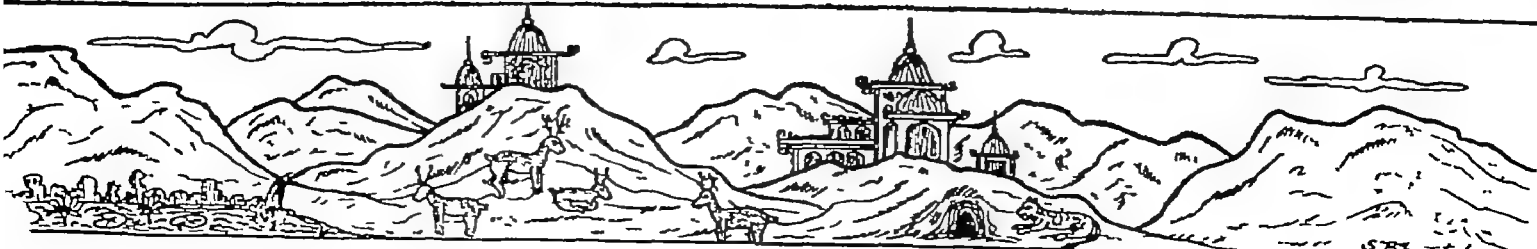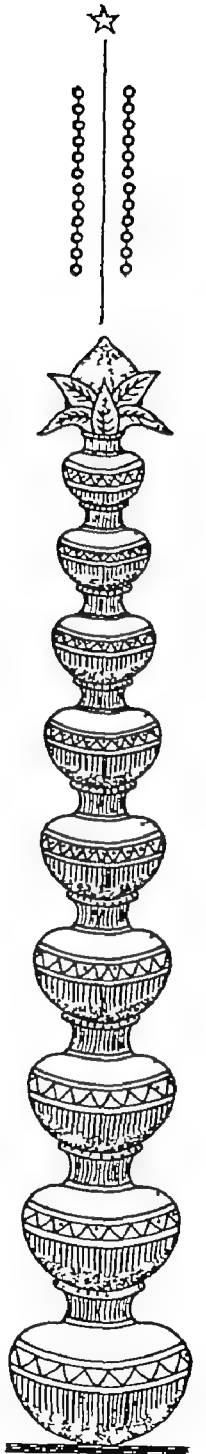
१ सामजी
२ मलुकचन्दजी
३ उदेभाणजी
४ अनोपचन्दजी
५ वीनेचन्दजी
६ वगतावरजी
७ सामतरामजी

☆

१ जीवराजजी
२ लालचन्दजी
३ दीपचन्दजी
४ सामीदासजी
५ उगरसेसाजी
६ घासीरामजी
७ कनीरामजी

☆

१ धनजीजी
२ वालचन्दजी
३ सीतलजी
४ देवीचन्दजी
५ हीराचन्दजी
६ लषमीचन्दजी
७ भैरूदासजी
८ उदैचन्दजी

☆

१ पर्सरामजी
२ लोकमनजी
३ म्हारामजी
४ दोलतरामजी
५ राजारामजी
६ गोवीदरामजी

☆

१ षेतसीहजी
२ षेमसीहजी
३ गुलावचन्दजी
४ परसरामजी
५ वुद्धरदासजी

☆

१ धर्मदासजी का
२ रामचन्दजी
३ माणकचन्दजी
४ चमनाजी
५ नरोतमजी
६ कासीरामजी

●

अभिनन्दन समारोह की आखो देखी सचित्र झाकी एवं अभिनन्दन ग्रन्थ मे सक्रिय योगदान देने वाले गुरुदेव श्री के भक्त, सुश्रावक, समाज एवं संस्थाओ के कार्यकर्ताओ के कतिपय चित्र

कार्यक्रम की आँखो देखी झाँकी

विश्वज्योति भगवान महावीर के धर्मशासन को दैदीप्यमान करने वाले सत रत्नो की मणिमाला की दैदीप्यमान मणि स्वरूप पूज्य प्रवत्तक श्री अम्बालाल जी महाराज की दीक्षा स्वर्ण जयन्ति के पवित्र अवसर पर उनका सार्वजनिक अभिनन्दन करने का मेवाड श्रावक सघ ने एकमत होकर निश्चय किया, साथ ही मुनि श्री 'कुमुद' जी के सद्प्रयास से अभिनन्दन ग्रन्थ के निर्माण और प्रकाशन की शुभ योजना बनी।

योजना बनाना जितना आसान था, कार्य उतना ही विशाल और कठिन था।

मेवाड के वरिष्ट कार्यकर्ता, बुद्धिजीवी, धनाढ्य, अग्रगण्य सभी सज्जनो ने प्रस्तुत काय को एक चुनौती के रूप मे स्वीकार किया और सभी अपने सामर्थ्यानुसार लगन के साथ कार्य को सम्पन्न करने मे जुट गये।

वर्षभर के कठिन श्रम व निष्ठा ने लक्ष्य को निकट लाकर खडा कर दिया।

समय का निर्णय

अभिनन्दन समारोह कब किया जाये यह एक प्रश्न था, कई पहलू से इस पर गम्भीरता से चिन्तन चला, अन्त मे चैत्र शुक्ला पचमी का निश्चय किया गया। ऋतु, मास, वार तिथ्यादि की दृष्टि से यह एक श्रेष्ठ निर्णय था जो सम्पूण रूप से मान्य हुआ। चैत्र शुक्ला चतुर्थी को धर्म-ज्योति परिषद् के अधिवेशन का निश्चय हुआ, इस तरह द्विदिवसीय कार्यक्रम रखने का निर्णय किया गया।

समारोह-कोशीथल में

अभिनन्दन समारोह जैसे विशाल कार्यक्रम को अपने यहाँ सम्पन्न कराने हेतु कई श्रावक सघो के हृदय मे, उमगों की हिलोर्ले उठने लगी। जो श्रावकसघ पुर जोर आग्रह कर रहे थे, उनमे 'आमेट और कोशीथल' मुख्य थे।

उदयपुर जहाँ पूज्य गुरुदेव श्री का चातुर्मास था, वही मेवाड के प्रमुख सघो और अभिनन्दन समारोह समिति के सदस्यों की एक सुन्दर सभा आयोजित हुई, आमेट और कोशीथल तथा अन्य क्षेत्रो के आग्रह सामने आये, वडी गहराई से इस विषय को चर्चने के वाद कोशीथल के आग्रह को स्वीकार किया गया। तुमुल जयनाद के साथ कोशीथल सघ ने इस स्वीकृति का हार्दिक स्वागत किया।

बहुमुखी तैयारियाँ

अभिनन्दन समारोह के लिए कोशीथल को स्वीकृति मिलने के साथ ही कोशीथल सघ ने अपनी तैयारियाँ प्रारम्भ कर दीं।

दूसरी तरफ अभिनन्दन समारोह समिति का विधिवत् गठन हुआ।

अध्यक्ष—श्री भूरालाल जी सूर्या, उपाध्यक्ष—श्री ऊँकारलाल जी सेठिया, सयोजक—श्री घीसूलाल जी कोठारी, मत्री—श्री रोशनलाल जी पगारिया आदि अन्य सदस्यगण, इस तरह ५१ सदस्यो की सक्रिय कार्यकारिणी का गठन किया गया।

अभिनन्दन समारोह को सफल बनाने हेतु प्रचार, प्रसार सम्बन्धी काय को देखना तथा उक्त समारोह, समाज-सुधार की दृष्टि से उपयोगी सिद्ध हो, इस दृष्टि से आवश्यक काय करना ये इस समिति के कार्य थे।

समिति ने 'काकरोली' में अपना कार्यालय स्थापित कर अपना कार्य प्रारम्भ किया।

इसी सदर्भ मे देलवाडा मे एक सभा हुई, दूसरी विशाल सभा काकरोली मे सम्पन्न हुई, इसमे कई उपयोगी सुझाव आये और कई सारपूर्ण निर्णय लिये गये। इसी अवसर पर समारोह की अध्यक्षता के लिए सनवाड निवासी श्रीमान् ऊँकारलाल जी सेठिया का नाम श्रीमान् भूरालाल जी सूर्या ने रक्खा जो सब सम्मति से स्वीकृत हुआ।

कुंवारिया मे भी एक मीटिंग हुई, जिसमे प्रचार-प्रसार और समाज सुधार सम्बन्धी विस्तृत विचार चर्चाएँ हुई।

विविध व्यक्तियो से सम्पर्क साधने, पत्र-व्यवहार करने, विविध स्थानों पर भ्रमण करने मे श्रीमान् यशवन्तसिंह जी नाहर भीलवाडा, श्रीमान् भूरालाल जी सूर्या, कोशीथल, श्रीमान् ओकारलाल जी सेठिया सनवाड, श्रीमान् घीसूलाल जी कोठारी कपासन, श्रीमान् मांगीलाल जी कोठारी काकरोली, श्रीमान् रोशनलाल जी पगारिया कांकरोली, श्रीमान् बसन्तीलाल जी कोठारी कोशीथल, श्रीमान् जालमचन्द जी उदयपुर, श्रीमान् एकलिंगलाल जी वारी, श्रीमान् रणजीतसिंह जी उदयपुर, श्रीमान् हिम्मतलाल हिंगड काकरोली, श्रीमान् मांगीलाल जी पगारिया काकरोली।

आदि-आदि सज्जनो ने बडी सुन्दर सेवाएँ दी जो सदा स्मरणीय रहेगी।

अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति

अभिनन्दन समारोह के अवसर पर पूज्य गुरुदेव श्री को एक विशाल अभिनन्दन ग्रथ भेंट करने का निश्चय आमेट के ऐतिहासिक चातुर्मास मे ही कर लिया गया था।

अर्थ सग्रह के लिए, अधिकतर श्री सघो को सदस्य बनाने का निणय हुआ। राशि एक हजार एक और पाँच सौ एक, इस तरह दो स्तर पर लेना तय किया। व्यक्तिगत सदस्य बनाने का अधिक लक्ष्य नही रहा। प्रतिनिधित्व की दृष्टि से, श्री सघो को प्राथमिकता दी गई।

प्रस्तुत योजना को कार्यान्वित करने के लिए श्रीमान् सोहनलाल जी सूर्या की अध्यक्षता मे ग्रन्थ प्रकाशन समिति का गठन किया गया, श्री पन्नालाल जी हिरण मत्री और श्री शकरलाल जी सरणोत ने कोषाध्यक्ष पद का दायित्व सँभाला।

श्री सोहनलाल जी सूर्या, श्री पन्नालाल जी हिरण, श्री शकरलाल जी सरणोत कार्यकर्ताओ की इस त्रिपुटी ने ग्रन्थ के लिए अर्थ सग्रह का काय अपने हाथ मे लिया और जिस लगन, श्रम और स्नेह से इन्होंने यह काय सम्पन्न किया वह सदा स्मरणीय रहेगा। अपने व्यस्त समय मे से समय निकाल कर तीनो कार्यकर्ताओ ने जो हार्दिक सेवा दी वह प्रशसा के योग्य तथा अनुकरणीय है।

ग्रन्थ निर्माण मुनि श्री कुमुद जी के दिशा निर्देश, लेखन सम्पादन में चला और प्रकाशन श्री श्रीचन्द जी सुराणा 'सरस' के निर्देशन मे आगरा सम्पन्न हुआ।

मुनिराज महासतियो को आग्रह और पदार्पण

ग्रन्थ प्रकाशन और समारोह के प्रचार-प्रसार के उपरान्त भी समारोह की सर्वाधिक जिम्मेदारी, कोशीथल श्रावक सघ की थी।

सघ ने श्री भूरालाल जी सूर्या की अध्यक्षता मे कायकारिणी का चुनाव सम्पन्न किया, स्वागताध्यक्ष श्री सोहनलाल जी भटेवरा और मत्री श्री बसन्तीलाल जी कोठारी मनोनीत किये गये।

श्रावक सघ का एक शिष्टमडल मेवाड, मारवाड, मालवा, अजमेरा में विचरने वाले सभी श्रमण सघीय सत सती जी की सेवा में विनति लेकर पहुँचा, फलस्वरूप कई मुनिराज और महासती जी ने पधारने की स्वीकृति प्रदान की।

कुछ सत सती जी स्वीकृति देने के उपरान्त भी कुछ कारणों से नही पधार सके।

समारोह के अवसर पर निम्नाकित पूज्य मुनिराज और महासती जी ने पधार कर समारोह को समालकृत किया।

- परमपूज्य प्रवर्तक मरुधरकेशरी श्री मिश्रीमल जी महाराज एव घोर तपस्वी श्री रूपचन्द्र जी म० 'रजत' ठा० ६
- परमपूज्य प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज, प० मुनि श्री हीरामुनि जी महाराज, ठा० ७
- पडितरत्न श्री कन्हैयालाल जी म० 'कमल' ठा० ३
- प० रत्न श्री मूल मुनि जी महाराज, ठा० ३

- परम विदुषी महासती जी श्री सौभाग्य कुंवर जी महाराज परम विदुषी महासती जी श्री रूपकुंवर जी महाराज परम विदुषी मधुरवक्तृ महासती जी श्री प्रेमवती जी महाराज ठा० १०
- परम विदुषी महासती जी श्री नानूजी महाराज ठा० ५
- परम विदुषी महासती जी श्री चतुरकुंवर जी महाराज ठा० ६
- परम विदुषी महासती जी श्री तेजकुंवर जी महाराज ठा० ३
- परम विदुषी महासती जी श्री वल्लभकुंवर जी महाराज ठा० ४

प्रखर वक्ता श्री रूप मुनि जी महाराज समारोह से ३ सप्ताह पूर्व ही प्रवतक श्री से आ मिले।

चैत्र कृष्णा अष्टमी मगलवार को पूज्यप्रवर्तक श्री और श्री रजत मुनि जी आदि मुनिराजो का कोशीथल पदार्पण हुआ। स्थानीय जनता ने हार्दिक उमगो से गुरुदेव श्री का स्वागत किया।

गुरुदेव श्री के पदार्पण के साथ ही कोशीथल मे उत्साह की नयी लहर छा गई, श्री रजत मुनि जी के मारवाडी भाषा के जोशीले व्याख्यानो ने अनोखा समा बाँध दिया।

पूज्य मरुधर केसरी जी महाराज, श्री 'कमल' जी महाराज, श्री मूल मुनि जी महाराज आदि ज्यो-ज्यो मुनिराजो और महासतियाँ जी महाराज का पदापण होता गया त्यो-त्यो कोशीथल नगर की जनता हृप और आनन्द के वातावरण से तरगायमान होने लगी। कार्यकर्ताओ मे बिजली-सी स्फूर्ति प्रवेश कर गई।

बाहर के अतिथियो दर्शनार्थियो का आवागमन भी चालू हो गया।

जनता ने मान्य अतिथियो का स्वागत करने हेतु नगर को दुल्हन की तरह सजाया।

अद्भुत सेवा

कोशीथल मे स्थानीय ठाकुरसाहव श्री उम्मेदसिह जी से लेकर नगर निवासी सभी जाति और वर्ग का बच्चा-बच्चा तक समारोह हेतु सेवा मे जुट गया।

ज्यो-ज्यो समय निकट आता गया, देखते ही देखते सभी तरह की व्यवस्थाएँ जुटा ली गईं।

प्रत्येक कार्य की अलग-अलग समितियाँ बन चुकी थी और सभी समितियाँ अपनी जिम्मेदारी को ठीक-ठीक समझकर योग्य कदम उठा रही थी। सघ की पञ्च समिति सारी व्यवस्थाओ की ठीक-ठीक देखभाल कर रही थी।

पानी, आवास, बिजली, भोजन, बिस्तर, पण्डाल आदि व्यवस्था के सारे पहलुओ पर एक साथ काम हो रहा था।

देखते ही देखते नगर के बाहर प्राइमरीशाला के पास तीस हजार से अधिक व्यक्ति बैठ सकें ऐसा बडा पण्डाल निर्मित हो गया, डेढ सौ तम्बू कोटडियाँ अलग से तैयार हो गईं।

सारे नगर मे यत्र-तत्र पानी की बडी सुन्दर व्यवस्था कर दी गई।

नगर मे जितने भी सम्भव हुए, स्थान (जो आवास योग्य थे) खाली करवा लिये गये। ठाकुर साहब ने गढ़ खोल दिया। स्कूल कन्याशाला आदि सार्वजनिक-स्थल भी सेवा हेतु प्रस्तुत कर दिये गये।

दि० २-४-७६ से जनता का पदार्पण प्रारम्भ हुआ। मादसोडा मगलवाड, सनवाड बदनोर, भीलवाडा, फतहनगर, खेरोदा, करेडा (राज) रायपुर, आमेट, झडोल आदि कई स्थानो के स्वयसेवक दि० २ और ३ प्रात पहुँच गये थे और अपने निर्धारित कार्यो मे लग गये। राणावास और जैतारण छात्रावास के छात्र भी अपने बैण्ड और विशेष तैयारी के साथ उपस्थित हुए।

दि० २, रात्रि को, राणावास के छात्रो का सास्कृतिक कार्यक्रम बडा आकर्षक और प्रभावशाली रहा। हजारो जनता ने मुक्तकठ से सराहना की।

दिनाँक ३ अप्रेल अधिवेशन दिवस

रवि की स्वर्णिम रश्मियो के साथ ही पवित्र प्रभु प्रायना के द्वारा दिनाँक ३ का कायक्रम प्रारम्भ हुआ। दानवीर सेठ श्री हस्तिमल जी मुणोत ने ध्वजोत्तोलन कर कायक्रम का उद्घाटन किया।

पचरगा जैन ध्वज नील गगन मे फहराने के साथ ही स्वागत-गान द्वारा उसका स्वागत किया गया।

आठ बजे के बाद प्रवचन कार्यक्रम रहा जो ११ बजे तक चला। पूज्य मुनिराजो और महासतियाँ जी महा-

राज के ओजस्वी प्रवचनो का रसास्वादन कर जनता धन्य हो उठी। प्रमुख प्रवक्ता पूज्य मरुधर केसरी जी महाराज ने रचनात्मक कार्य करने का प्रेरक सन्देश प्रदान किया।
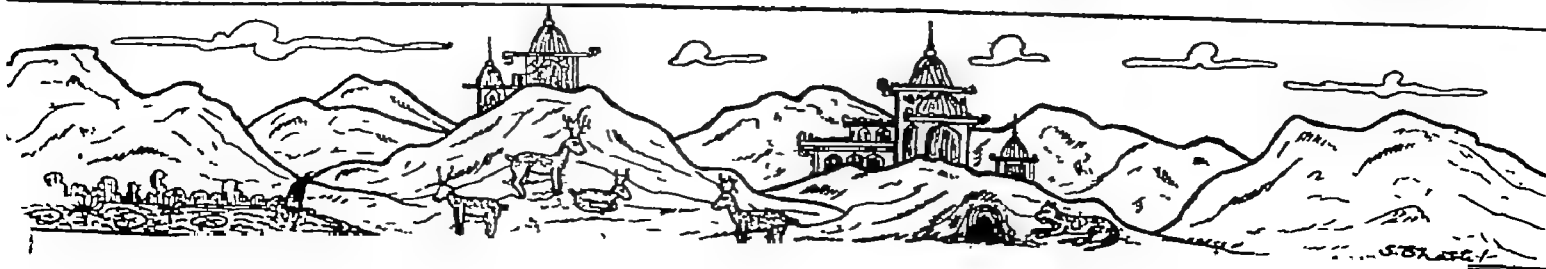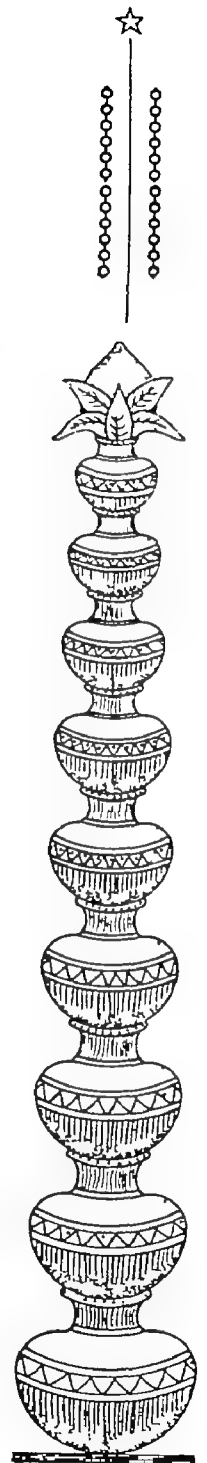
मध्याह्न मे धर्म-ज्योति परिषद का खुला अधिवेशन दानवीर सेठ भूरालाल जी सूर्या की अध्यक्षता मे प्रारम्भ हुआ।

विशेष अतिथि श्रीमान् ओकारलाल जी बोहरा भू पू एम पी ने उद्घाटन करते हुए समाज मे व्यापक परिवर्तन लाने और उपयोगी एकता बनाने हेतु बड़े ओजस्वी शब्दो मे अपनी बात कही।

श्री बोहरा जी ने कहा—हम बहुत टुकडो मे बँट हुए हैं यह हमारे पिछड़ने का मूल कारण है। साम्प्रदायिक ऐक्य बनाने हेतु उन्होंने कहा—सम्प्रदायो से दुराग्रहो का त्याग कर एक दूसरे को निकट जाना चाहिए।

छोटी-छोटी बातो पर जो साम्प्रदायिक विवाद खड़े हो जाते हैं उनकी उन्होंने कड़े शब्दो मे भर्त्सना की।

श्री बोहरा ने आग्रह किया कि जैन यदि अपने महत्त्व को समझ जाए तो वह देश की वर्तमान परिस्थितियो मे अपना योग्य स्थान प्राप्त कर सकता है।

अन्त मे बोहरा जी ने धम ज्योति परिषद को उपयोगी सस्था बताते हुए, इसके विकास के लिए कुछ महत्त्वपूण सुझाव दिये।

अधिवेशन मे मन्त्री ने सस्था की रिपोट पढ़ी, कोषाध्यक्ष ने आर्थिक स्थिति पर प्रकाश डाला। कुछ महत्त्वपूण प्रस्ताव पारित हुए जिनमे समाज-सुधार, स्वाध्याय केन्द्रो की स्थापना, साहित्य-प्रकाशन तथा सेवायोजना को आगे बढाने के प्रस्ताव मुख्य थे।

शाखा कार्यालय मोलेला ने भी अपनी रिपोट रक्खी।

अन्त मे नये चुनावो के साथ तथा आम बजट की स्वीकृति के साथ कायक्रम सम्पन्न हुआ।

अधिवेशन के मध्य जिन प्रवक्ताओ ने अपने विशेष भाषण दिये, उनमे श्री मदनलाल जी पीतल्या (मुन्सिफ बाडमेर) श्री शकर जी जैन, श्री तेजमल जी बाफना आदि प्रमुख थे।

स्नेह-सम्मान

धम ज्योति परिषद् के श्रेष्ठ कायक्रमो मे एक कार्यक्रम "धर्म ज्योति" के प्रचार-प्रसार का भी है। विगत वर्षों मे धम ज्योति के प्रचार-प्रसार मे समाज के सैकडो कायकर्ताओ ने भाग लिया, उनमे सर्वाधिक सेवा देने वाले श्रीमान् चान्दमल जी सूर्या, श्रीमान् भवरलाल जी तलेसरा, श्रीमान् भगवतीलाल जी तातेड को सस्था ने सम्मान-पत्र प्रदान किये। स्वर्गीय श्रीमान् फतहलाल जी जैन गगापुर वासी को मरणोपरान्त सम्मान-पत्र अर्पित किया।

महिला सम्मेलन

लगभग ३ बजे के बाद इन्दौर निवासी श्रीमती कमला बहनजी (माता जी) की अध्यक्षता मे महिला सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। इसमे हजारो की तादाद मे महिलाएँ सम्मिलित हुई। परम विदुषी महासती जी श्री प्रेमवती जी ने अपने ओजस्वी प्रवचन द्वारा इस सम्मेलन को सम्बोधित किया। महासती श्री चन्द्रावती जी ने भी अपना सारगर्भित प्रवचन दिया। डॉ० श्रीमती शान्ता भानावत ने बड़े ओजस्वी भाषण से नारियो को, कुरीतियो का परित्याग करने का आग्रह किया।

श्री कमला माताजी ने कहा कि यदि बहनें अपने जीवन में आवश्यक परिवर्तन ले आयें तो समाज की काया पलट हो सकती है।

इस विशाल अधिवेशन मे अनेक महिलाओ ने कुरीतियों, रूढियो, दहेज और दस्तूर आदि को ठुकराने का सुदृढ निश्चय किया।

लगभग पाँच बजे तक प्रस्तुत सम्मेलन चला। अनेको विदुषी महिलाओ ने अपने सुन्दर प्रवचन देकर नारी समाज को जागृति के सन्देश सुनाए।

युवक सम्मेलन

दिनाक ३, रात्रि को आठ बजे से युवक सम्मेलन का कायक्रम था। बाहर की जनता, टैक्सियो, स्पेशल मोटरो और बसो, कारो द्वारा कोसीथल में लगातार पहुँच रही थी।
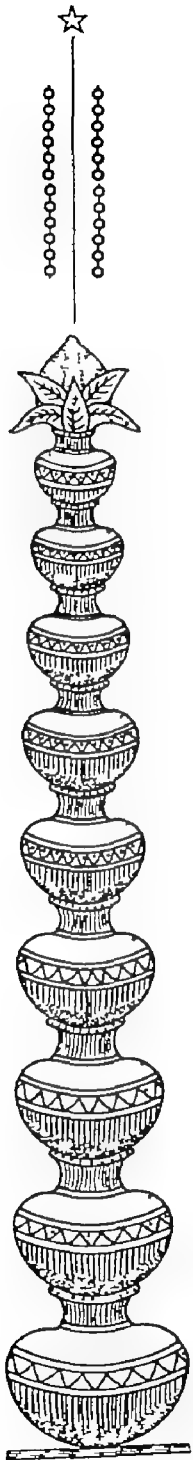
अभिनन्दन समारोह का उद्घाटन करते हुए
श्रीयुत शिवचरण जी माथुर, खाद्यमंत्री (राजस्थान)

स्नेहाभिनन्दन एवं प्रेरक संदेश देते हुए
पूज्य प्रवर्तक श्री मरुधरकेसरी मिश्रीमल जी महाराज

प० रत्नमुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल' अभिनन्दन उद्‌गार प्रकट करते हुए

विशेष अतिथि श्री हीरालाल जी देवपुरा हार्दिक अभिनन्दन करते हुए
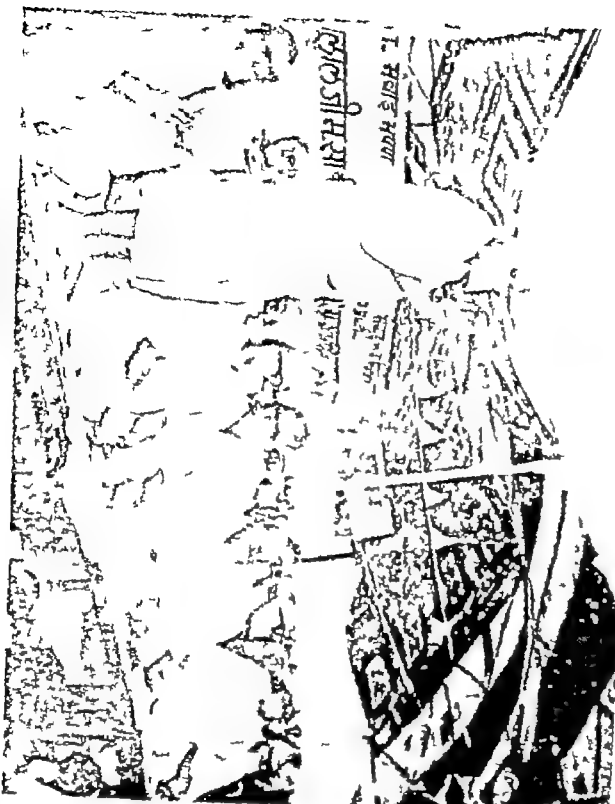
दिनाक ३ रात्रि के युवक सम्मेलन तक कोशीथल मे लगभग बीस हजार जनता का शुभागमन हो चुका था। सारा नगर और पाडाल खचाखच जनता से भरे थे। स्वय सेवक और नगर की जनता तन्मयता से सेवा मे जुटे हुए थी।

युवक सम्मेलन ठीक समय पर श्रीमान् चादमल जी लोढा (जस्टिस-हाईकोर्ट) की अध्यक्षता मे प्रारम्भ हुआ।

अभिनन्दन समारोह समिति के मन्त्री श्री रोशनलाल जी पगारिया ने समाज-सुधार के विषय मे अब तक हुए कार्य का परिचय दिया।

बाहर से आये सुझावो का वाचन हुआ।

विशेष अतिथि गणमान्य सज्जन श्रीमान् जसवन्तसिंह जी नाहर ने अपने विशेष भाषण मे कुरीतियो पर तीव्र प्रहार करते हुए समाज को आगे बढने का आग्रह किया।

श्रीयुत् नाहर साहब ने कहा—अब, समय आ गया है कि हम समाज मे एक नयी क्रान्ति कर युगधर्म को आत्मसात् करें।

सेठ श्री हस्तिमल जी मुणोत ने कहा—मीठी बातो से कुछ होने वाला नही है, कार्य करना है तो, मुनियों को और कार्यकर्त्ताओ को कडक कदम उठाने होगे।

श्री मनोहर जी कोठारी एम एल ए ने कहा, कि सभी तरह के भेदभावो को भुलाकर भगवान महावीर की जो देन है उसके अनुसार सात्विक समाज रचना का काय होना चाहिए।

श्री भवर जी पगारिया ने २२ सूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत करते हुए उसकी उपयोगिता पर प्रकाश डाला। श्री घीसूलाल जी कोठारी, श्री शकर जी जैन, श्री मदनलाल जी जैन आदि विचारको के कई सुन्दर विचारों से युवको मे समाज सुधार का एक नया वातावरण बन गया।

अन्त मे, मृत्युभोज समाप्त करने, दहेज का प्रदशन रोकना और तिलक प्रथा समाप्त करने सम्बन्धी तथा समाज के हित साधक कुछ अन्य ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव सर्वानुमति से पास हुए।

अन्त में, श्रीमान् चाँदमल जी लोढा ने अपने अध्यक्षीय भाषण मे सामाजिक परिवर्तन की बहुत बडी आवश्यकता बताते हुए युवकों को नव समाज रचना मे आगे आने का सन्देश दिया।

यह ऐतिहासिक युवक सम्मेलन अर्धरात्रि तक चला और कई उपलब्धियो के साथ कुछ शानदार प्रेरणाओं के साथ सम्पन्न हुआ।

दिनांक ४ अप्रेल अभिनन्दन समारोह दिवस

रवि रश्मियो की मृदुल अठखेलियो के साथ मगल प्रभात मे प्रार्थना की स्वर-लहरियाँ लहराने लगी और दिनाक ४ अर्थात् चैत्र शुक्ला पचमी का शुभ कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ।

ध्वज विमोचन और मगल ध्वनियों से वातावरण उल्लास के नये क्षणों मे प्रवेश कर गया।

अध्यक्ष का स्वागत

८ ३० बजे अध्यक्ष महोदय श्री ऊँकारलाल जी सेठिया तथा अभिनन्दन समारोह समिति के अध्यक्ष दानवीर सेठ श्री भूरालाल जी सूर्या का स्वागताध्यक्ष श्रीमान् सोहनलाल जी भटेवरा तथा उपस्थित जनता ने मालार्पण कर हार्दिक स्वागत किया और भव्य चल समारोह का आयोजन किया।

दोनो महोदय, सजी हुई गाडी में समारूढ थे, राणावास के छात्र बैण्ड की मधुर झकारों और गगनभेदी जयकारो से वातावरण बडा उल्लासमय बन रहा था। स्वागत जुलुस कन्याशाला से प्रारम्भ हुआ और पाडाल मे समाप्त हुआ, जहाँ स्वागत मन्त्री ने उनका हार्दिक स्वागत किया और विशेष सज्जा-सुसज्जित अध्यक्ष के आसन पर विराजमान किया।

मुनि मडल का पदार्पण

श्रावक सघ के आग्रह पर मुनि मडल और महासती वृन्द ८ ३० बजे सभा स्थल पर पधारे। उल्लासमय जयकारो और हार्दिक वन्दनाओ के साथ उपस्थित हजारों भाई-बहनो ने अपने गुरुवृन्द का स्वागत किया।

गुरु-वन्दना गीत द्वारा मगलाचरण कर स्वागत गान द्वारा समागत मुनिराज और महासती जी का भाव भीना स्वागत किया गया।
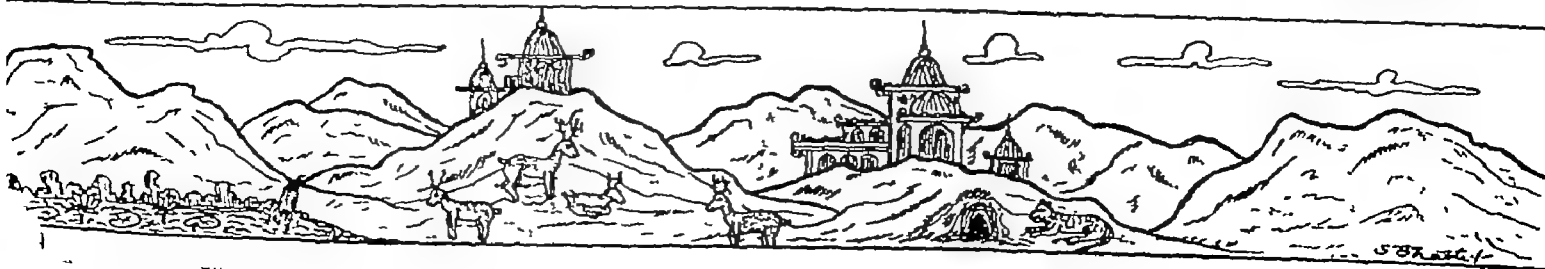
विशेष अतिथियों का आगमन

स्थानीय बालिकाओ ने परमेष्ठी गान का लयात्मक समुच्चारण करते हुए कार्यक्रम की मगल स्थापना की। प्रस्तुत मगल उपक्रम का सयोजन अध्यापक श्री गणपतलाल जी कर रहे थे।

मगलाचरण के तुरन्त बाद समागत विशेष अतिथि श्रीमान् चादमल जी लोढा जस्टिस-राजस्थान हाईकोट, श्रीमान् शिवचरण जी माथुर, खाद्यमत्री राजस्थान, श्रीमान् हीरालाल जी देपुरा विद्युतमत्री राजस्थान श्रीमान् जसवन्तसिह जी नाहर "नाहर साहब" का स्वागत मन्त्री और समारोह समिति के मन्त्री ने माला पहना कर हार्दिक स्वागत किया।

सभी सम्मानित अतिथि विशेष मच पर समारूढ थे।

पूज्य मुनिराज पट्टाभिरूढ तथा महासती वृन्द शाला के विशाल बरामदे मे विराजमान थी सामने लगभग तीस हजार जनता से खचाखच भरा हुआ पाडाल जन समुद्र-सा लग रहा था और रग बिरगी साडिया और पगडियाँ इन्द्र धनुषी तरगो को चरितार्थ कर रही थी।

यह एक विराट् और भव्य समायोजन था अद्भुत नजारा था। जिसने देखा धन्य हो गया।

मेवाड की धरती पर यह दृश्य अभूतपूर्व था, आनन्द उमग और उत्साह से भरा हुआ वह दृश्य ऐसा था कि जिसने भी देखा देखता ही रहा।

उद्घाटन

श्रीयुत् शिवचरण जी माथुर ने विधिवत् उद्घाटन करते हुए इस अवसर का लाभ मिलना अपने आपके लिए अमूल्य बताया (शिवचरण जी माथुर का वक्तव्य आगे उद्धृत है)।

अभिनन्दन वक्तव्यो की शृ खला दो घन्टे तक चली।

इस बीच पूज्य मरुधरकेसरी जी महाराज प० प्रवर श्री कन्हैया मुनि जी कमल, प० प्रवर श्री मूल मुनि जी महाराज, श्री सौभाग्य मुनि जी कुमुद, श्री मदन मुनि जी 'पथिक' ने अपने भाव पूर्ण वक्तव्य प्रस्तुत किये। श्री सुकनमुनि जी ने मधुर गीतिका से अभिनन्दन किया श्री रूप मुनिजी रजत ने भी भाव पूर्ण ओजस्वी वक्तव्य दिया।

इन सभी मुनिराजो के वक्तव्य आगे प्रकाशित हैं। श्रावक समुदाय में से श्री चिम्मनसिंह जी लोढा ने बड़े ओजस्वी शब्दो मे गुरुदेव का अभिनन्दन करते हुए समाज सुधार के लिए प्रेरणा प्रदान की। श्री हस्तिमल जी मुणोत ने भावाभिनन्दन प्रस्तुत किया। कविवर्य श्री जीतमल जी चोपडा ने अपनी शानदार कविता द्वारा अनोखा समा बाँध दिया। इनकी काव्याञ्जली बडी प्रभावोत्पादक रही। श्री मदनजी तातेड ने मेवाडी भाषा मे श्रद्धापण किया।

विशेष अतिथि श्री देपुराजी ने अपने प्रभावशाली वक्तव्य मे अभिनन्दन करते हुए कहा कि बिना ही कानून समाज को दिशा बदलना चाहिए।
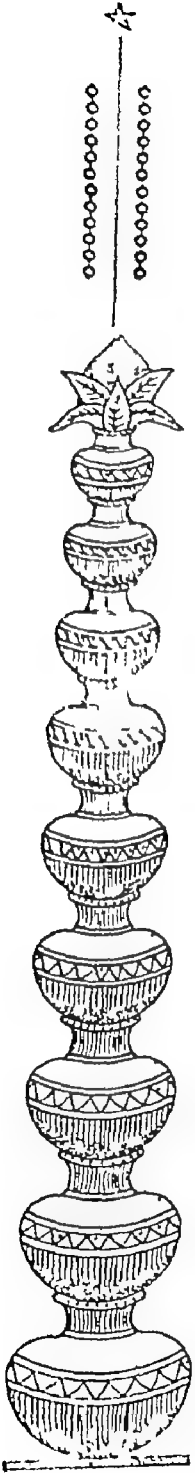
सेमा निवासी श्री गहरीलाल जी कोठारी
ग्रन्थ-विमोचन हेतु न्यायमूर्ति लोढा साहब को देते हुए।

न्यायमूर्ति श्रीमान चांदमल जी लोढ़ा
अभिनन्दन ग्रन्थ गुरुदेव श्री को सभक्ति समर्पण करते हुए।

पूज्य गुरुदेव श्री के चरणो में अभिनन्दन एव भावाञ्जली प्रस्तुत करते हुए
श्रीयुत न्यायमूर्ति लोढा साहब
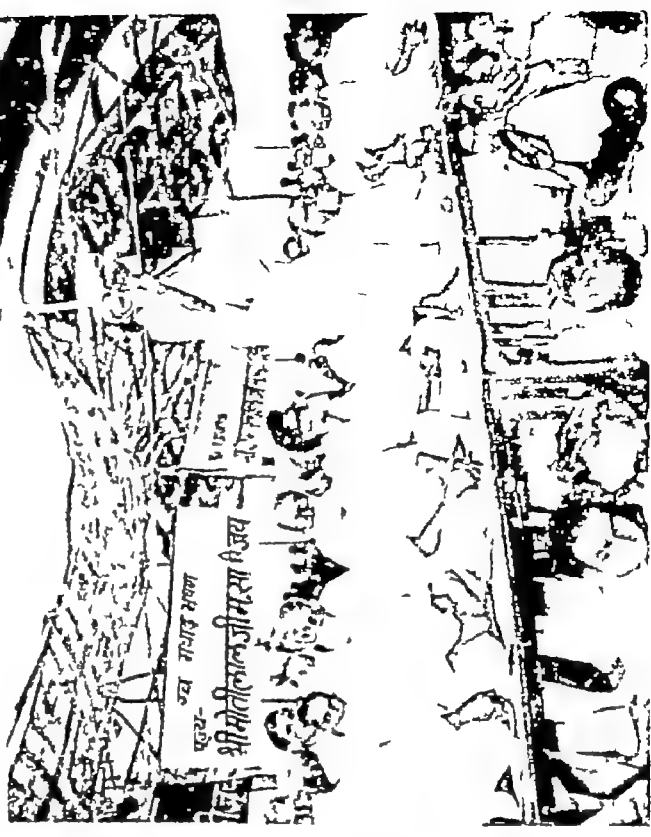
अपने महान अभिनन्दन को जिनशासन और भगवान महावीर के चरणो मे अर्पित करते हुए
मेवाड-सघ शिरोमणि पूज्य प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज

विशेष अतिथियों का आगमन

स्थानीय बालिकाओ ने परमेष्ठी गान का लयात्मक समुच्चारण करते हुए कार्यक्रम की मगल स्थापना की। प्रस्तुत मगल उपक्रम का सयोजन अध्यापक श्री गणपतलाल जी कर रहे थे।

मगलाचरण के तुरन्त बाद समागत विशेष अतिथि श्रीमान् चादमल जी लोढा जस्टिस-राजस्थान हाईकोट, श्रीमान् शिवचरण जी माथुर, खाद्यमन्त्री राजस्थान, श्रीमान् हीरालाल जी देपुरा विद्युतमंत्री राजस्थान श्रीमान् जसवन्तसिंह जी नाहर "नाहर साहब" का स्वागत मन्त्री और समारोह समिति के मन्त्री ने माला पहना कर हार्दिक स्वागत किया।

सभी सम्मानित अतिथि विशेष मच पर समारूढ़ थे।

पूज्य मुनिराज पट्टाभिरूढ तथा महासती वृन्द शाला के विशाल बरामदे मे विराजमान थी सामने लगभग तीस हजार जनता से खचाखच भरा हुआ पाण्डाल जन समुद्र-सा लग रहा था और रग-बिरगी साडिया और पगडियाँ इन्द्र धनुषी तरगो को चरितार्थ कर रही थी।

यह एक विराट् और भव्य समायोजन था अद्भुत नजारा था। जिसने देखा धन्य हो गया।

मेवाड की धरती पर यह दृश्य अभूतपूर्व था, आनन्द उमग और उत्साह से भरा हुआ वह दृश्य ऐसा था कि जिसने भी देखा देखता ही रहा।

उद्घाटन

श्रीयुत् शिवचरण जी माथुर ने विधिवत् उद्घाटन करते हुए इस अवसर का लाभ मिलना अपने आपके लिए अमूल्य बताया (शिवचरण जी माथुर का वक्तव्य आगे उद्धृत है)।

अभिनन्दन वक्तव्यो की शृ खला दो घन्टे तक चली।

इस बीच पूज्य मरुधरकेसरी जी महाराज प० प्रवर श्री कन्हैया मुनि जी कमल, प० प्रवर श्री मूल मुनि जी महाराज, श्री सौभाग्य मुनि जी कुमुद, श्री मदन मुनि जी 'पथिक' ने अपने भाव पूर्ण वक्तव्य प्रस्तुत किये। श्री सुकनमुनि जी ने मधुर गीतिका से अभिनन्दन किया श्री रूप मुनिजी रजत ने भी भाव पूर्ण ओजस्वी वक्तव्य दिया।

इन सभी मुनिराजो के वक्तव्य आगे प्रकाशित हैं। श्रावक समुदाय में से श्री चिम्मनसिंह जी लोढा ने बड़े ओजस्वी शब्दो मे गुरुदेव का अभिनन्दन करते हुए समाज सुधार के लिए प्रेरणा प्रदान की। श्री हस्तिमल जी मुणोत ने भावाभिनन्दन प्रस्तुत किया। कविवर्य श्री जीतमल जी चोपडा ने अपनी शानदार कविता द्वारा अनोखा समां बाँध दिया। इनकी काव्याञ्जली बडी प्रभावोत्पादक रही। श्री मदनजी तातेड ने मेवाडी भाषा मे श्रद्धार्पण किया।

विशेष अतिथि श्री देपुराजी ने अपने प्रभावशाली वक्तव्य मे अभिनन्दन करते हुए कहा कि बिना ही कानून समाज को दिशा बदलना चाहिए।

ग्रन्थ-समर्पण

हजारो व्यक्ति जिस कार्यक्रम की प्रतीक्षा मे थे, वह कार्यक्रम था ग्रथ समर्पण।

ग्रन्थ विमोचन के पूर्व प्रबन्ध सपादक श्री श्रीचन्द्र सुराणा 'सरस' ने ग्रन्थ का बाह्य और अन्तरग परिचय दिया।

सेमा निवासी श्रीमान् गहरीलाल जी कोठारी ने ग्रन्थ विमोचन किया और साथ ही, उदयपुर मे स्थापित होने वाले शोध सस्थान हेतु पाँच हजार एक रु० की घोषणा की।

श्रीमान् चांदमल जी लोढा ने बडे भावोद्रेक के साथ ग्रन्थ पूज्य गुरुदेव श्री को समर्पित किया।

ग्रन्थ समर्पण के बाद श्रीमान् लोढा जी ने अपने भावपूर्ण वक्तव्य मे पूज्य गुरुदेव श्री के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए सामाजिक परिवर्तन के लिए जोरदार आग्रह किया।

अन्त में ग्रन्थ समर्पण को स्वीकार करते हुए पूज्य गुरुदेव श्री ने मेवाडी भाषा मे सक्षिप्त किन्तु प्रेरक वक्तव्य दिया।

मुनि गण और महासती वर्ग की तरफ से पूज्य प्रवर्तक श्री मरुधरकेसरी जी महाराज ने पूज्यश्री अम्बालाल जी म० को अभिनन्दन चद्दर ओढाई गई।
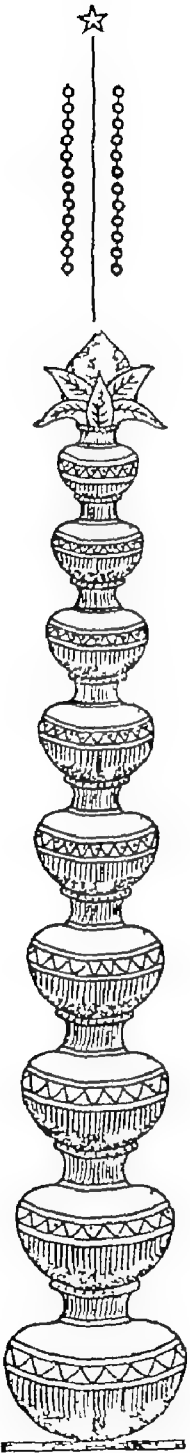
अभिनन्दन समारोह मे पधारे हुए मुनिराज प्रशात मुद्रा मे मच पर विराजमान हैं।
भावुक जनता के उमडते श्रद्धाभावो का अवलोकन करते हुए
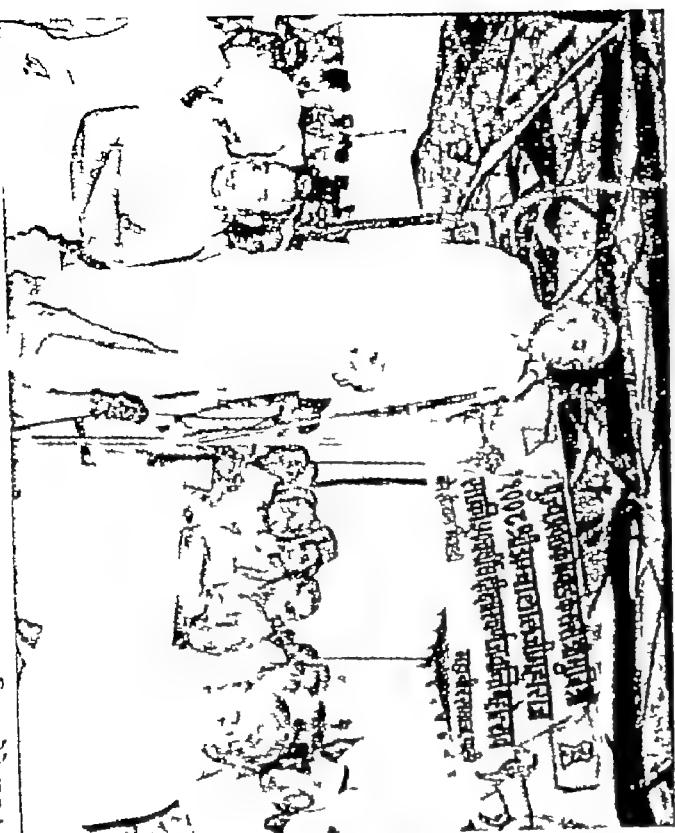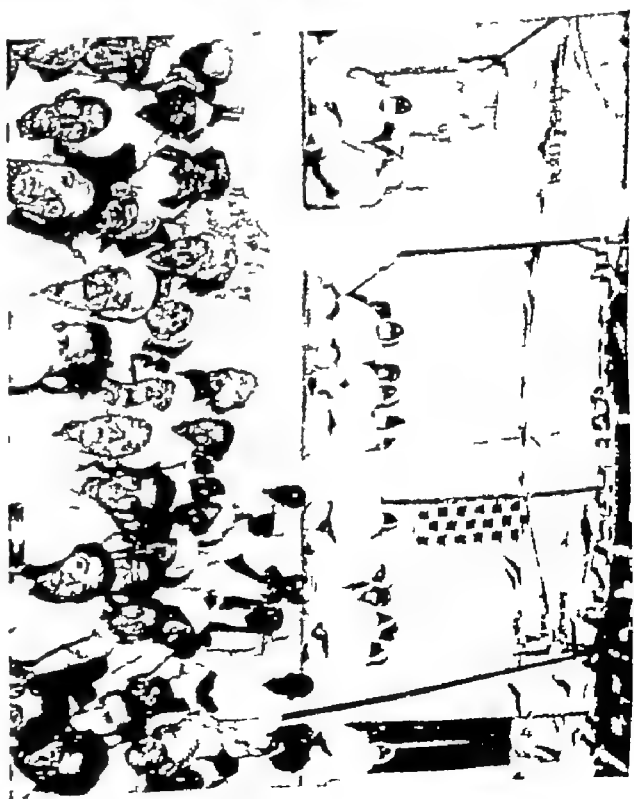
समारोह मे पधारी हुई महासती जी एक सामूहिक दृश्य
सामने विशाल जन समुदाय

प्रसिद्ध साहित्यकार श्री श्रीचन्द सुराना 'सरस' अभिनन्दन ग्रन्थ का परिचय देते हुए।
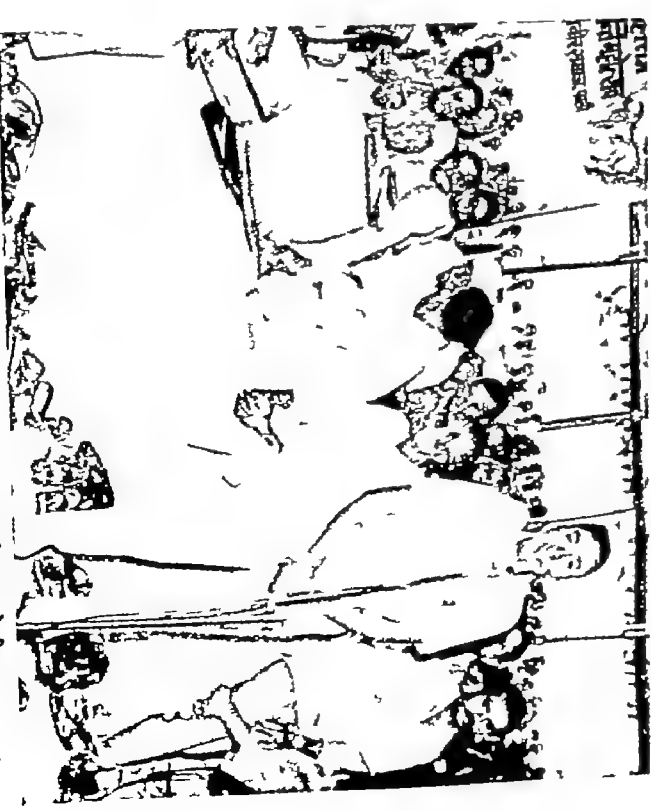
दूर दूर से आये हुए श्रद्धालु अतिथियो का स्वागत करते हुए कोशीयल के कमठ श्रावक, सघ के माननीय मन्त्री श्री बसन्तीलाल जी कोठारी

अपने सक्षिप्त वक्तव्य मे पूज्य प्र० श्री मरुधर केसरी जी महाराज ने प्रवतक श्री को एक सुयोग्य सत रत्न बताते हुए हार्दिक स्नेह प्रकट किया और 'मेवाड सघ शिरोमणि' पद प्रदान करने का आग्रह किया। जिसका समस्त श्री सघो ने जयनाद के साथ बडे उत्साह से स्वागत किया।

साथ ही पूज्य मरुधर केसरी जी महाराज ने प्रवर्तक श्री के सुयोग्य शिष्य विद्वदरत्न श्री सौभाग्य मुनि 'कुमुद' को 'प्रवचन भूषण' पद से अलकृत करने का आग्रह किया। उपस्थित जन-समुदाय ने बडे उल्लास से समर्थन प्रकट किया।

समापन

कार्यक्रम ८॥ बजे से प्रारम्भ होकर १२॥ बजे तक अद्भुत शान्ति के साथ चला।

कार्यक्रम का सयोजन श्री रोशनलाल जी पगारिया श्री मदनलाल जी जैन तथा श्री वसन्तीलाल जी कोठारी कर रहे थे। अन्त मे दानवीर सेठ श्री ऊकारलाल जी सेठिया का अध्यक्षीय भाषण हुआ। श्री सेठिया जी ने अपने विस्तृत प्रवचन मे समाज की अनेक समस्याओ को छूते हुए उनके समाधान हेतु ठोस कार्यक्रम प्रस्तुत किया।

अध्यक्षीय भाषण पर धन्यवाद देते हुए मन्त्री महोदय ने आगत अतिथियो का हार्दिक स्वागत किया तथा शान्ति व्यवस्था बनाये रखने मे जो सहयोग दिया इसके लिए धन्यवाद ज्ञापित किया।

समारोह की कुछ अद्भुत विशेषताएँ

तटस्थ दर्शको का अनुमान है कि समारोह मे २५ से ३० हजार जनता की उपस्थिति रही होगी। किन्तु इतने लम्बे कार्यक्रम मे कही किसी भी तरह की अशान्ति का प्रसग उपस्थित नही हुआ। न किसी की कोई वस्तु खोई और न कोई व्याधिग्रस्त ही हुआ और न कोई अप्रिय प्रसग बना। यह एक सुखद आश्चर्य था।

× × × ×

हजारो व्यक्तियो ने एक साथ हाथ खड़े कर कुरीतियो के त्यागने का जो सकल्प इस समारोह मे लिया, सामूहिक सुधार का यह आदर्श शताब्दियो तक प्रेरणा स्रोत बना रहेगा।

× × × ×

समारोह से पूर्व कई व्यक्ति प्राय ऐसा कहा करते थे कि 'कोशीथल' निवासी क्या व्यवस्था कर पायेंगे ? छोटा-सा गाँव है। पानी की व्यवस्था में ही थक जायेंगे किन्तु कोशीथल श्रावक सघ ने और वहाँ की जनता ने जो शानदार व्यवस्था की उसे देखकर उन्हे कहना पडा कि ऐसी सुन्दर व्यवस्था कोशीथल वाले कर पाये, यह अद्भुत बात है।

× × × ×

कई व्यक्तियो का अनुमान था कि विशाल जनता को देखते हुए भोजन-व्यवस्था गडबडा जाएगी। किन्तु कार्यकर्ताओ की सूझ-बूझ से भोजन-व्यवस्था बडी सुन्दर रही, साथ ही यह भी सुनने मे आया कि भोजन भण्डार मे बिलकुल कमी नही आई, इतना ही नहीं अनुमान से अधिक व्यक्तियों के भोजन कर लेने के उपरान्त भी भोजन भारी मात्रा में बढा और स्थानीय जनता ने उसका उपयोग किया।

× × × ×

विशाल पाडाल जो लगभग २५-३० हजार जनता से खचाखच भरा था, पाडाल कई बार तेज हवा के झोको से हिला। कई बार उठा भी कार्यकर्ताओ को भय भी हुआ कि कही पाडाल नीचे न आ जाए किन्तु कोई दुर्घटना नही हुई।

सयोग की बात थी कि कार्यक्रम के सम्पन्न होने के आधा घटे बाद जब पाडाल बिलकुल खाली था, हवा के एक तीव्र झोके के साथ ही पाडाल भूमि पर आ गिरा।

इस पर चुटकी लेते हुए श्री हस्तिमल जी मुणोत ने कहा कि समारोह सम्पन्न होने तक पाडाल को देवता थामे हुए थे।
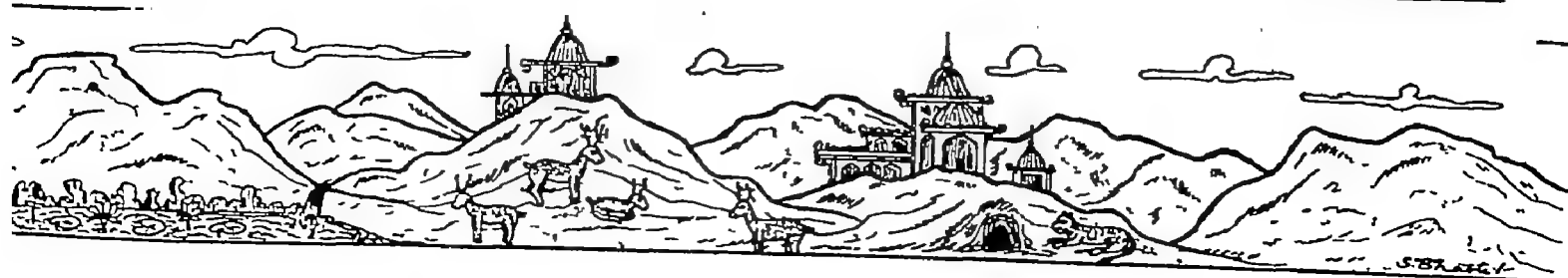
अभिनन्दन मय स्वर्णिम-सूत्र

□

परम पूज्य प्रवर्तक श्री मरुधर केशरी मिश्रीमलजी महाराज का ओजस्वी वक्तव्य

जो कार्य करणे रे वास्ते आप यहाँ इक्ट्ठे हैं, वो प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी स्वामी का अभिनन्दन है।

अम्बालाल जी स्वामी रो मेवाड मे ही नही, सारा स्थानकवासी समाज मे बडो महत्त्व है।

प्रकृति सू सरल, साधुता मे रमियोडा स्वामी जी सबने वडा प्रिय है। इणांरा पचास वर्ष रा सयम मे वडी चमक-दमक रही।

इणा रा सुयोग्य शिष्य और मेवाड रा श्रावक अभिनन्दन रो यो विशाल आयोजन कियो, यो अपना गुरु रे प्रति आदर और भक्ति रो एक सुन्दर परिचय है।

म्हारो एक आग्रह हैं इणा रा अभिनन्दन को कोई स्थायी लाभ होणो चाहिजे।

उदयपुर मे शोध सस्थान री योजना वडी उत्तम है, पिण वाता सू तो की होवे नी। काम तो करणे सू होवे। काम करणे रे वास्ते आप मे लगन है तो काम बणने मे की रुकावट नही।

तन-मन-धन सू सहयोग करणे री भावना राख हिम्मत सू काम आगे बढाओ, सफलता मिले और मिले।

आज रो यो दृश्य देख म्हारा हिरदै में आनन्द री हिलौला उठ रही है।

यो पडाल रग-विरगी पागडिया वाला सू ठट्ठ भरियोडो एडो सुहावणो लागे मानो रग-विरगा फूलारी सैंकडो क्यारिया एक साथ खिलगी।

मेवाडी आन शान मे शूरा ने वात मे पक्का है आ वीर भूमि है, इण भूमि री मिट्टी मे एक तेज है।

आज आपणा श्रमण सघ री एकता बणी राखणे रे वास्ते आपसू म्हारी अपील है। आज श्रमण सघ रे सामने सवत्सरी री एकता रो म्होटो प्रश्न है। आप सब इण एकता ने बणी राखणे मे हृदय सू मददगार बणो। अपणी अपणी जिद्द राखणे मे की धरियो नी है। एकता बणी रहे तो या वहुत वडी सिद्धि है।

अभिनन्दन री इण वेला मे स्वामी जी श्री अम्बालाल जी महाराज ने 'मेवाड सघ शिरोमणि' पद सू अलकृत करणे री भावना है। सारा सघ रो इण में समर्थन मिलणो चाहिजे।[1]

मरुधर केसरी—इसी तरह स्वामी जी रा सुयोग्य शिष्य सौभाग्य मुनि 'कुमुद' ने 'प्रवचन भूषण पदसू अलकृत किया है।'

सारी जनता ने भारी समथन किया।

म० के०—पूज्य आचाय श्री ये पद घोषित करें, यह हमारी सबकी भावना है।

श्री अम्बालाल जी स्वामी ने साधु समाज री तरफ सू अभिनन्दन स्वरूप अभिनन्दन चद्दर अर्पित करते हैं।[2]

---

१ सारे सघ ने जवर्दस्त समर्थन कर पद समपण के साथ जयनाद किया।

२ पूज्य मरुधर केसरी जी ने चद्दर ओढाई और सारे समाज ने जयनाद के साथ स्वागत और समथन किया।

'मेवाड़ संघ शिरोमणि' के पद से अलंकृत कर पूज्य मरुधरकेसरी जी म०
ने गुरुदेव श्री अम्बालाल जी म० को अभिनन्दन चादर ओढ़ाई

न्यायमूर्ति श्रीमान चांदमल जी लोढा का स्वागत करते हुए
श्रीमान भूरालाल जी सूर्या

समारोह के अध्यक्ष श्री ओंकारलाल जी सेठिया (सनवाड़)
का स्वागत करते हुए समारोह समिति के अध्यक्ष श्री सूर्या साहब

श्रीयुत सेठ हस्तिमल जी मुणोत गुरु-अभिनन्दन पूर्वक
अपना प्रेरक भाषण करते हुए।

प० रत्न मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल' का वक्तव्य

आप और हम आज एक महान् सन्त का अभिनन्दन कर रहे हैं। उस सन्त पुरुष का नाम है, अम्बालाल जी महाराज।

महाराज श्री के नाम मे दो शब्द हैं अम्बा और लाल। अम्बा माता का सूचक है। सारे जगत की माता को जगदम्बा कहते हैं। हाँ तो, अम्बा का अर्थ माँ ही है और इसके बाद जो शब्द है लाल, यदि माँ के साथ इसे जोडकर बोले तो "माई का लाल" यह वाक्य बनेगा।

हमारे यहाँ एक वाक्य है, "है कोई माई का लाल" जो यह काय करे। जो भी हिम्मत, बहादुरी का बडा कार्य होता है, उसे करने वाला कोई माई का लाल होता है। तो हमारे प्रवर्तक श्री माई के लाल है। पिछले पचास वर्षों से यह माई का लाल सयम के पवित्र-पथ पर बडी दृढता के साथ बढता चला आया।

आप सभी यहाँ अभिनन्दन करने आये है किन्तु "है कोई माई का लाल" जो इनके जैसा शुद्ध सयम धारण कर सच्चा अभिनन्दन करे।

प्रत्येक मुनि माई का लाल होता है। कोई कहे आपने माँ का त्याग कर दिया, अब आपके कौन सी माँ है? तो इस पर भी थोडा विचार कर लेते हैं।

मुनि एक माँ को छोडता है किन्तु वह कई माताओ का लाल हो जाता है। जैन शास्त्रानुसार "अट्ठपवयण माउण" अर्थात् पाँच समिति और तीन गुप्ति इस तरह इन आठो को प्रवचन मातृ कहा है।

आप समझ गये होंगे कि मुनि के आठ माताएँ होती हैं।

हमारे प्रवर्तक श्री भी आठ माताओ के लाल हैं अत इनका 'अम्बालाल' नाम बहुत ही सार्थक है।

अन्त मे हम हार्दिक श्रद्धापूर्वक आपका अभिनन्दन करते हुए आपके चिरायु होने की मगल कामना करते है।

☆

मधुरवक्ता श्री मूल मुनिजी महाराज का वक्तव्य

भाइयो! नदी का एक रूप है अपनी सीमा मे बहना, मधुर-मधुर बहती नदी आसपास के किनारो को हरा-भरा कर देती है, किनारे बसे गाँवो को नवजीवन प्रदान करती है।

नदी का एक दूसरा रूप भी है, जिसे बाढ आना कहते है, जब नदी अपनी मर्यादा का उल्लघन कर बहने लगती है तो वह अपनी सुन्दरता भी नष्ट कर देती है और आसपास के खेतों, खलिहानो को बरबाद कर दिया करती है। यह नदी का विकृत तथा भयकर रूप है।

मानव भी अपने जीवन मे दो तरह से बहते है, नदी की तरह। कुछ मर्यादाहीन उद्दड बनकर अपने आपको और समाज को विकृत किया करते हैं। कुछ सज्जन ऐसे होते हैं जो अपने जीवन मे नदी के प्रथम रूप की तरह मर्यादित रूपेण चला करते हैं। वे स्व और पर का कल्याण किया करते हैं। सत्पुरुषो का यही रूप होता है।

आज यहाँ पूज्य प्रवर्तक श्री अम्बालालजी महाराज के अभिनन्दन हेतु आप और हम उपस्थित हैं। इस महा-पुरुष के जीवन मे नदी का प्रथम रूप देखा जा सकता है। ये पिछले पचास वर्ष से स्व, पर के कल्याण स्वरूप, सयमी जीवन धारण कर भूमडल पर विचरण कर रहे हैं।

सरलता, मधुरता तथा सयम के साक्षात् प्रतीक प्रवतक श्री का हम हार्दिक अभिनन्दन करते हैं।

प्रवर्तक श्री जैसे गुणवान मुनिराजो के पवित्र सानिध्य मे श्रमण सघ गौरवान्वित और जयवन्त है।

प्रवतक श्री दीर्घायु होकर अपनी सयम की प्रभा से भव्यो के जीवन को आलोकित करें इसी शुभकामना के साथ।

☆

श्री सौभाग्य मुनि जी 'कुमुद' का अभिभाषण

परम पूज्यनीय श्री मरुधर केसरी जी महाराज साहब, परम पूज्यनीय गुरुदेव श्री अम्बालालजी महाराज साहब, प० रत्न श्री हीरा मुनिजी महाराज, प० प्रवर श्री 'कमल' जी महाराज, मधुर वक्ता श्री मूल मुनिजी महाराज, घोर तपस्वी श्री रूप मुनिजी महाराज अन्य साथी मुनिराज, आदरणीय महासती वृन्द, उपस्थित भाइयो और बहनो !

आज कोशीथल नगर के इस शानदार प्रागण मे, पूज्य गुरुदेव श्री के अभिनन्दन समारोह को समलकृत करने हेतु मेवाड, मारवाड और मालवा से उग्र विहार कर पधारे हुए पूज्यनीय मुनिगण और आदरणीय महासती वृन्द का हार्दिक स्वागत करते हुए हम असीम हर्षानन्द का अनुभव कर रहे हैं।

सन्त सतीजी ने पधार कर वडी कृपा की, हम आपके आभारी हैं।

मेवाड की श्रद्धालु जनता को आपने दर्शन दिये, यह धरती धन्य हो गई।

मेवाड धर्म भूमि है, वीर भूमि है, इसके कण-कण मे ओज है, तेज है, इस भूमि की मिट्टी वह है जिसने दिल्ली के तख्त से सदियो तक टक्कर ली।

मेवाड ने राष्ट्र और समाज को अनेक रत्न दिये। यह वीर प्रसू है। यहाँ कर्मवीर ही नही धर्मवीर भी आला दर्जे के हुए हैं।

सभी धर्म और सम्प्रदायें मेवाड के किसी न किसी महापुरुष से अवश्य गौरवान्वित है।

जैन धर्म को ही ले लीजिये, पूज्यश्री रोडजी स्वामी और मानजी स्वामी पर किस जैन को गर्व नही होगा।

मेवाड का राजस्थान ही नहीं भारत मे एक गौरवपूर्ण स्थान है यह गौरव निरन्तर आन बान और शान की रक्षा कर प्राप्त किया है।

हमारा इतिहास बताता है कि हम सकटो और विपत्तियो को हँसते हुए सह गये किन्तु हमने अन्याय, अधर्म और चापलूसी के साथ कभी समझौता नहीं किया।

आज फिर युग चेतना का आह्वान है कि हमारा समाज पुन वही तेज लेकर खडा हो। हमें किसी पर न हमला करना है और न तलवार तानना है, हमें उन कुरूढ़ियो का खात्मा करना है, जिनसे समाज ध्वस्त और खोखला होता जा रहा है।

तिलक, दहेज और मृत्यु-भोज जैसी अनावश्यक प्रथाओ से समाज को मुक्त करना है। आप यहाँ हजारो की सख्या में उपस्थित हैं यदि आप सभी वडी दृढ़ता के साथ कह दें कि हमने इन कुरूढियो का काला मुँह कर दिया है तो, मैं समझता हूँ मेवाड मे इन बुराइयों को टिकने को कहीं जगह नहीं मिलेगी।[1]

वडी खुशी की बात है, आप वडी दृढता के साथ बुराइयो के विरुद्ध खडे हो रहे हैं।

हम आज जिस महापुरुष का अभिनन्दन कर रहे हैं, इन्होंने हमे यही सिखाया कि हम बुराइयो से लडें। इनका स्वय का जीवन इस विशेषता से ओत-प्रोत है।

मैं बहुत बचपन से गुरुदेव के चरणो में पहुचा। अब तक मैंने इन्हें जिस तरह पाया वह सब कुछ यहाँ बता दूँ ऐसा सम्भव नही, किन्तु सक्षिप्त मे मैं यह बताना चाहूँगा कि जीवन एक कला है इसे सीखना और पाना होता है। गुरुदेव श्री उस कला को पाये और वडी सरलता के साथ।

त्याग, तप, सयम और शालीनता की प्रतिमूर्ति गुरुदेव लाखो के श्रद्धा केन्द्र हैं यह कहने की आवश्यकता नही, प्रत्येक दर्शक इसे यहाँ प्रत्यक्ष देख रहा है।

अभिनन्दन समारोह और ग्रन्थ समर्पण की विशाल योजना जब मैंने मेवाड की गुरुभक्त जनता के समक्ष रक्खी तो, जनता ने इतने उल्लास के साथ इसे लिया कि मैं स्वयं हर्ष मे ओत-प्रोत हो गया।

---

१ मुनि श्री के ओजस्वी आह्वान पर हजारो हाथ खड़े हो गये और कुरुढियो के विरोध मे पांडाल गूंज उठा।
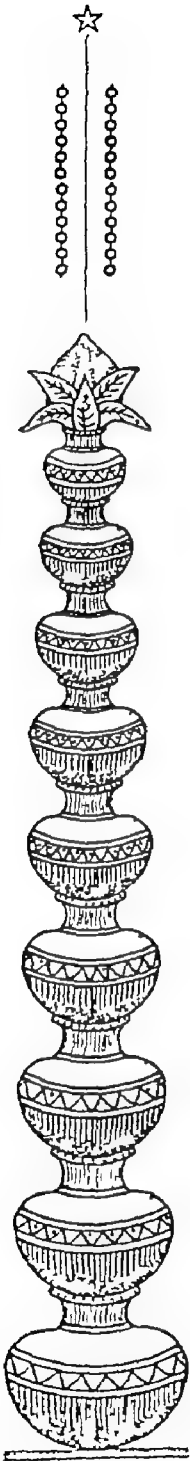
ग्रन्थ निर्माण और प्रकाशन से लेकर समारोह तक हजारो कार्यकर्ता जिस तरह जुटे रहे और अहर्निश श्रम करते रहे यह हमारे लिए बडे सात्विक आनन्द का विषय है।

इस अवसर पर मैं श्री रूप मुनि जी महाराज 'रजत' को हार्दिक धन्यवाद दिये बिना नही रह सकता, जो समारोह के तीन सप्ताह पूर्व ही इधर हमसे आ मिले और बडी लगन तथा तत्परता के साथ अपनी महत्त्वपूर्ण सेवाएं दी।

श्रावक सघ कोशीथल की महान् सेवाओ का मैं क्या उल्लेख करूँ। आज इसने जैन सघो के इतिहास मे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है।

अन्त मे पूज्य गुरुदेव श्री का हमे दीर्घकाल तक मगल सानिध्य प्राप्त हो इसी शुभ भावना के साथ सभी पूज्य मुनिराज और महासती जी का एक बार और हार्दिक स्वागत करता हुआ अपनी बात पूर्ण करता हूँ।

☆

प्रखरवक्ता श्री रूप मुनि जी 'रजत' का ओजस्वी वक्तव्य

आज कोशीथल का आगणा मे सारी चीजा है। धर्म नेता और राज नेता दोई अठे है। एक खाद्यमन्त्री है एक प्रकाश करणे वाला है। मुनिराज भी आत्मा री खुराक दे और अन्तर रो प्रकाश करे।

बाह्य और आध्यात्मिक दोनो बातो री पूर्ति कोशीथल मे है। बाह्य से सम्बन्ध ससार सू है अन्तर को सम्बन्ध आत्मा सू है। या आध्यात्मिक उत्सव है। प्रवर्तक श्री अम्बालालजी महाराज को अभिनन्दन यो सयम, तप, और साधना को अभिनन्दन है। इण अवसर पे कोई न कोई उद्योत होणो चहिजे।

पूज्य मरुधर केसरी जी महाराज भी अठे आयोडा है, ए सच्चा केसरी है। ये मारवाड सू आया है, मेवाड मारवाड एक है। अब तो राजस्थान वणग्यो कीं भेद नी है। सबने एक जुट वण समाज रो उत्थान करणे रे वास्ते आगे आणो है।

म्हाणे मित्र मुनि 'श्री कुमुद' जी रे आह्वान पे अभी तिलक, दहेज और मृत्यु भोज रे खिलाफ हाथ खडा किया पिण, इणा मे पागडिया वाला हाथ कम खडा किया है।

इणा रे आगे आया बिना काम चलेला नही। माल ताल रूपचन्दजी सब पागडिया वाला रे हाथ मे है।

उगाडा माथा वाला रा हाथ मे की नी है। सब एक साथ मिल काम करणे रे वास्ते आगे आओ तो नियम पार पडे ला।

प्रवर्तक श्री अम्बालालजी महाराज धर्म रा धोरी, श्रमण सघ का प्यारा ने मेवाड रा दुल्हारा है।

आप लोग अपणे गुरू रो अभिनन्दन करियो, या श्रेष्ठ बात है। अपणे गुरु रो, अपणे वडेरा रो, अपणे माता-पिता रो, आदर करणो यो सपूत पणो है।

आज कोशीथल रा कण-कण में गुरु अभिनन्दन री चमक है। आप सब के साथ मैं भी इण महान् आत्मा रो हार्दिक अभिनन्दन करूँ।

प्रवर्तक श्री अम्बालालजी महाराज अत्यन्त सरल है, मेवाड तो सरल नी है पर, मेवाड का गुरु सरल है। इण रा नेतृत्व सूँ मेवाड रो नाम और ऊँचो उठियो।

अन्त मे इणा रा दीर्घ-जीवन री मगल कामना रे साथ मैं अपणो प्रवचन पूरो करूँ।

☆
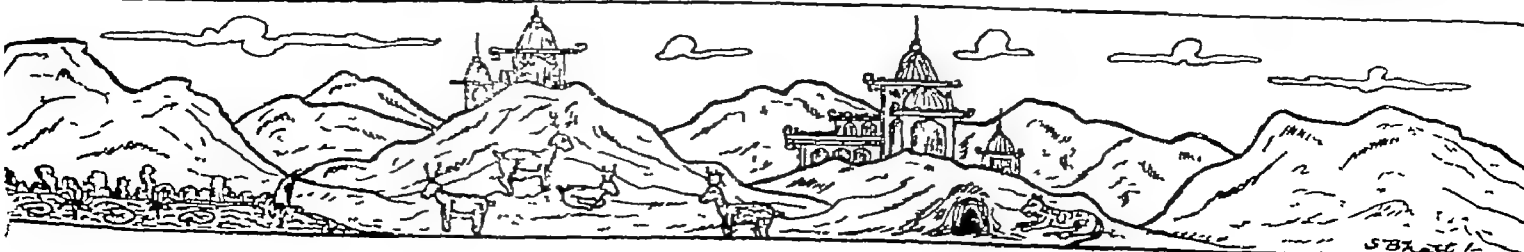
प्रवर्तक श्री के शिष्य रत्न श्री मदन मुनि जी 'पथिक' का श्रद्धा-समर्पण

हम आज अपने पूज्य गुरुदेव श्री का अभिनन्दन करते हुए अतीव प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं।

प्रस्तुत अभिनन्दन समायोजन का मूल वह श्रद्धा है, जो श्रद्धेय के चरणो मे हमारे मन को समर्पित करती है।

एक वाक्य है 'यो यच्छ्रद्ध स एव स' अर्थात् जो जिसकी श्रद्धा करता है वह वैसा ही हो जाता है।

श्रद्धा वह तत्त्व है जो जीवन को तदनुरूप बना देती है।

श्रद्धा एक आन्तरिक बल है। मानव-जीवन आँधी और तूफानो का केवल श्रद्धा के बल पर सामना कर सकता है।

पूज्य गुरुदेव श्री के प्रति हमारी श्रद्धा ने हमको बदला।

गुरुदेव श्री के जीवन मे एक निर्माणात्मक ऊर्जा है। ये स्वय बने हैं, इनके निकट मे आने वाले प्रत्येक को ये बनाया करते हैं इनसे हजारो बने हैं, उनमे से एक मैं भी हूँ।

कोई किसी के मन मे अपने प्रति श्रद्धा खडी नहीं करवा सकता, श्रद्धा तो सहज बनती है।

कोई फूल भ्रमर को बुलाता नही है, आकर्षण होता है सुगन्ध का, भ्रमर दौडा आता है।

आज आप हजारो यहाँ उपस्थित हैं आपको यहाँ कौन खीच लाया ?

गुरुदेव श्री का श्रेष्ठ ज्ञान, दर्शन, चारित्र यही वह तत्त्व है जो आपको यहाँ तक लाया है।

गुरुदेव श्री सरल सात्विक और साधना प्रिय जीवन के धनी हैं।

इस वार्धक्य पूर्ण वय मे भी कभी बिना किसी बहुत बडे कारण के दिन मे नहीं सोते।

ये बडे भजनानन्दी हैं, रात्रि को देर तक और प्रात बहुत पहले ये स्मरण करते और ध्यान करते मिलेंगे। ऋजुता इनके जीवन के रग-रग मे व्याप्त है।

आचाराग सूत्र की भाषा मे "जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ" के अनुसार ये अभेद भाव से धनिक और रक सभी को उपदेश दिया करते हैं। इनका सभी पर समान वात्सल्य भाव है। मैं अधिक क्या कहूँ, जो भी इनके निकट आया है वह प्रत्येक व्यक्ति इनके जीवन की श्रेष्ठता से तुरन्त परिचित हो जाता है।

हम धन्य हैं कि हमे इन चरणों की सेवा प्राप्त है।

सम्पूर्ण हार्दिक श्रद्धा के साथ अभिनन्दन करता हुआ मैं अपना स्थान ग्रहण करता हूँ।

☆
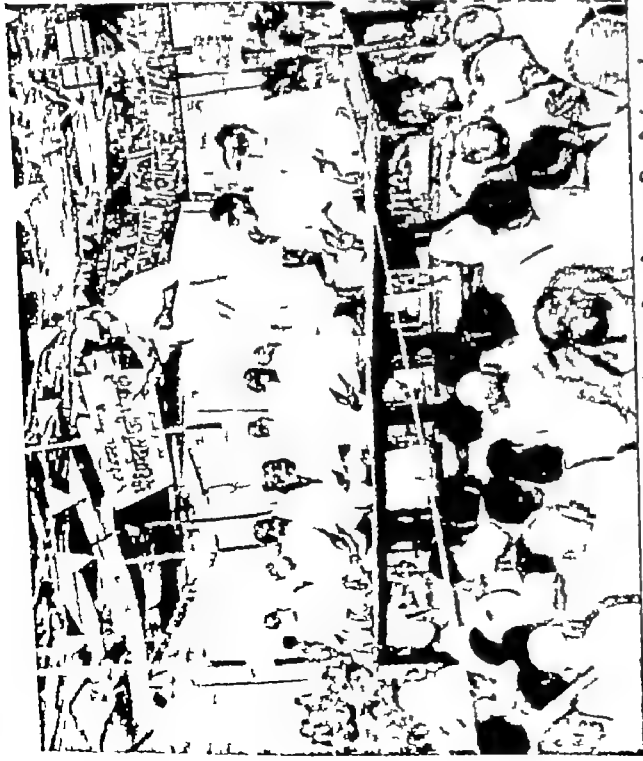
भावपूर्ण अभिनन्दन वक्तव्य देते हुए घोरतपस्वी श्री रूप मुनि जी 'रजत'

धर्म ज्योति परिषद के खुले अधिवेशन को सम्बोधित करते हुए प्रवचन-भूषण श्री सौभाग्य मुनि जी 'कुमुद' निकट मे श्री रूप मुनि जी 'रजत' विराजित हैं।

महिला सम्मेलन मे अपने क्रान्तिकारी विचार प्रकट करती हुई उदघाटन कर्त्री श्रीमती कमला बहन (माता जी)

अभिनन्दन समारोह के अध्यक्ष दानवीर सेठ ओंकारलाल जी सेठिया अध्यक्षीय भाषण दे रहे हैं।
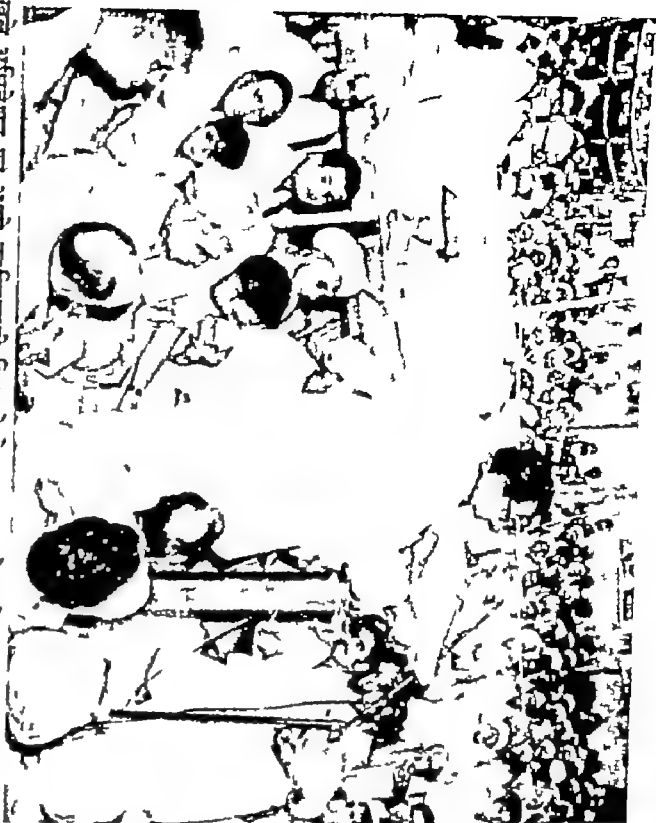
खुले अधिवेशन का अपने क्रान्तिकारी विचारो से झकृत करने वाले भू० पू० ससद सदस्य श्रीमान ओकारलाल जी वोहरा
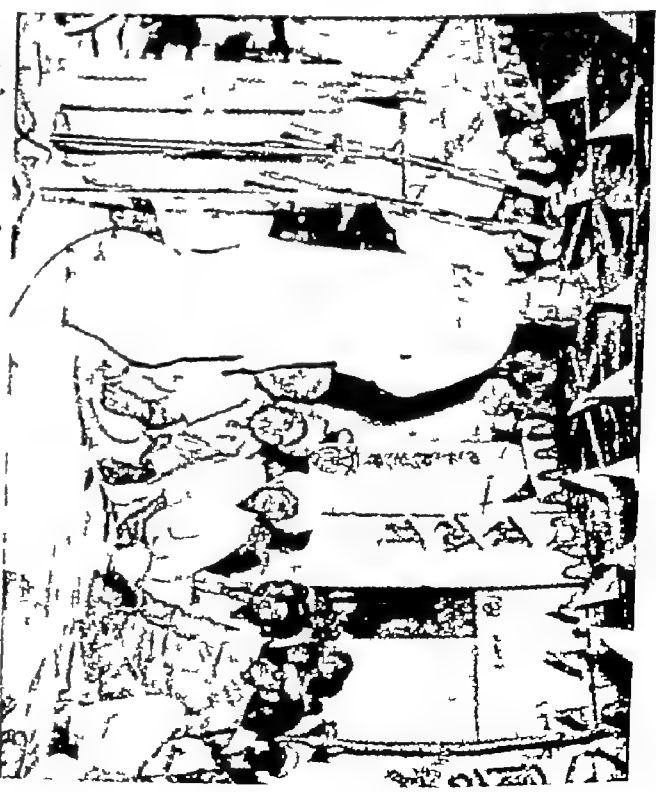
खर और स्पष्टवक्ता श्रीयुत यशवन्तसिंह जी नाहर युवक सम्मेलन को सम्बोधित कर रहे हैं। निकट खड़े हैं युवक सम्मेलन के सयोजक, समारोह समिति के मन्त्री श्री रोशनलाल जी पगारिया

[illegible] श्रीमान मदनलाल जी [illegible] (अतिरिक्त मजिस्ट्रेट)

धम ज्योति परिषद के खुले अधिवेशन मे समाधान के स्वर मे वोलते हुए श्रीमान घीसूलाल जी कोठारी

उद्घाटन कर्त्ता—

श्रीयुत शिवचरण जी माथुर

खाद्यमंत्री, (राजस्थान) का

उद्घाटन भाषण

□

उपस्थित पूज्य मुनिराज, सज्जनो और देवियो !

आज का दिन भीलवाडा के कोशीथल ग्राम के लिए एक ऐतिहासिक दिन है। यह सारे जैन समाज का ही नहीं सारी जनता का सौभाग्य है कि आज ऐसे पवित्र कार्य के लिए यहाँ आप और हम एकत्रित हुए हैं।

हम एक महान् सत श्री अम्बालाल जी महाराज की तपस्या के पचास वर्ष पूरे होने पर उनकी तपस्या की स्वर्ण जयन्ति मनाने के लिए यहाँ एकत्रित हुए है।

वैसे किसी व्यक्ति की उम्र अगर बढती है तो एक तरह से ऐसा माना जाता है कि उसकी शक्ति का ह्रास होता है, लेकिन यदि कोई व्यक्ति अपने जीवन में त्याग, तपस्या और बलिदान के आधार पर समाज मे पूज्यनीय होता है तो मैं समझता हूँ कि जीवन का महत्त्वपूर्ण अग है।

पचास वर्ष निरन्तर तपस्या के एकनिष्ठ साधना के किसी व्यक्ति के जीवन मे हो तो अपने आप मे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि कही जा सकती है। और जैन समुदाय के जो सन्त हैं, उनमे साधना और तपस्या को बडा महत्त्व दिया गया है। अनेको बार इन सन्तो के दर्शन करने का सौभाग्य मुझे मिला और मैंने इस बात को पाया कि जीवन के उच्च आदर्श स्थापित करते हुए समाज को प्रभावित करने का जो उच्च आदर्श हमारे सन्त परम्परा के लोगो ने इस देश मे स्थापित किया है, यह सबसे महत्त्वपूर्ण बात है।

आज कोई राजनैतिक नेता या सामाजिक नेता समाज-सुधार या परिवर्तन की कोई बात कहता है तो, वह अच्छा समझा जाता है, किन्तु एक ऐसा व्यक्ति जिसको अपना कोई मोह नही हो, समाज के हित के लिए कुछ कहे तो उसका बडा व्यापक महत्त्व होता है। मैं इस बात को महसूस करता हूँ कि समाज के उत्थान के बारे में हमारे सन्त कोई भी बात कहे, छोटी या बडी, उसका समाज मे बडा व्यापक असर पडता है।

हमारा देश जिसने हमेशा सस्कृति के मामले में धर्म के आचरण के मामले मे, व्यक्तिगत आचरण के मामले में न केवल देश के रहने वालो को बल्कि ससार को एक मार्ग-दर्शन किया है।

जब-जब भी ससार के लोग भटकते हैं, अपनी राह से रास्ता भूलते है उस समय सभी लोग हिन्दुस्तान की ओर देखते हैं।

हमारे जीवन-दशन मे सम्यक्जीवन, सम्यक्वाणी और सम्यक्चारित्र को बडा महत्त्व दिया गया है।
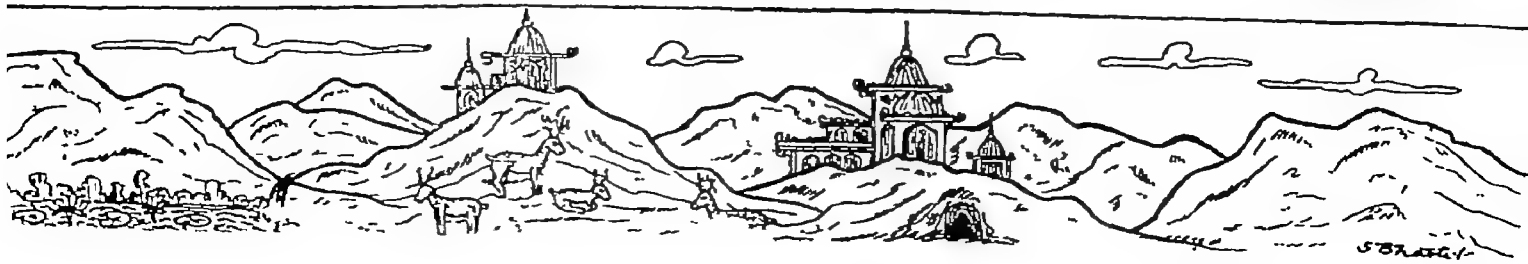
कोई व्यक्ति चक्रवर्ति भी बन जाय, तो हमारे इतिहास मे याद नही किया जाता, किन्तु हमारे त्यागी साधु-सन्त जिन्होंने अपने जीवन को देश व समाज के हित मे दे दिया, व्रत मे लगा दिया, उसे उसके जीवन के बाद भी हमारा देश और समाज याद करता है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी हमारे यहाँ सन्त पूजा जाता है।

हमारे यहाँ सन्तो का जीवन बहुत ऊँचा होता है, किन्तु हमे उनसे जो सुनने को मिलता है, हम जो उनका चरित्र देखते हैं, हम कितना उनका अनुकरण कर पाते हैं ?

मैं एक विनम्र निवेदन करना चाहता हूँ कि हमारे सन्तो ने कहा, सभी को जीने का अधिकार है, हम भी जिएँ पडोसी भी जिएँ' यह एक बहुत उत्तम सिद्धान्त है, किन्तु मैं समझता हूँ कि हम इसे अभी तक अपना नही सके।

यदि आप और हम दूसरो की जिन्दगी खराब करके आराम की जिन्दगी बिताने की कोशिश करें तो मैं मानता हू कि समाज मे एक दिन सघर्ष उपस्थित हो जाएगा और समाज टूटेगा।

इतिहास को उठाकर देखिये, वही समाज श्रेष्ठ रहा। जहाँ व्यक्ति स्वय अपने तक ही नही प्रत्येक व्यक्ति के हित को भी सोचता है, राष्ट्र के हित का चिन्तन करता है।

युग का निर्माण समाज करता है। समाज व्यक्ति बनाता है।

आज के सन्दर्भ मे किसी भी पहलू से सोचें बहुत-सी विकृतियों का मूल कारण व्यक्ति का स्वयनिष्ठ होना है। स्वयनिष्ठ होना ही स्वार्थ है, स्वार्थ के परित्याग के लिए हमारे मुनि कई बार कहते है। मैं कई बार जैन मुनियो के प्रवचनो को सुनता हूँ, वे बहुत कुछ कहते हैं और साफ-साफ कहते हैं। किन्तु समाज कितना बदल रहा है, यह हमे गहराई से सोचना चाहिए।

एक महापुरुष की स्वर्ण जयन्ति मनाने को आप और हम यहाँ उपस्थित हैं इस अवसर पर यह प्रतिज्ञा करके उठना चाहिए कि सम्यक् भाव, सम्यक् वाणी और सम्यक् आचार बनाने का प्रयत्न करेंगे।

आज आप और हम एक स्वतन्त्र देश के नागरिक हैं। आजादी से पूर्व तो हम आजाद होने के लिए पूज्य गाँधीजी के नेतृत्व मे लडते रहे और जब आजाद हो गये तो, हमने गरीबो को ऊपर उठाने की नीति घोषित की थी गरीबी हमारे देश का अभिशाप है किन्तु गरीबी कोई पुराना कपडा तो नही, जिसे उतार दिया जाए और नया धारण कर लिया जाए।

गरीबी से समृद्धि तक की यात्रा एक कठिन यात्रा है, श्रम और सहयोग से ही हम इस यात्रा को तय कर सकेंगे। गरीब को ऊँचा उठाने के लिए बढे हुए लोगो को कुछ नीचे लाना होगा, तभी गरीब ऊँचा उठ सकेगा।

पिछले सत्ताइस-अट्ठाइस वर्ष से सरकार ने कई बडे कार्य किये, फिर भी हर व्यक्ति हुकूमत से बहुत कुछ चाहता है, इस पर वाद-विवाद चलता है। हमारे यहाँ प्रजातन्त्र है सभी के विचारो का महत्त्व है किन्तु साथ मे यह भी सोचना आवश्यक है कि देश की वर्तमान परिस्थितियो के सन्दर्भ मे हमारा क्या कर्त्तव्य है।

जब स्वतन्त्र देश का नागरिक अपनी जिम्मेदारियो को भूलने लगता है, देश और सरकार के सामने बडी कठिनाई पैदा हो जाती है ऐसे ही कुछ कठिन दौर से आजकल हम गुजर रहे हैं।

आज सबसे बडी आवश्यकता आत्म-निरीक्षण की है।

आप अधिकतर व्यापारी हैं और मेरा विभाग व्यापारियो से सम्बन्ध रखता है। आज फसलें अच्छी हैं सब कुछ ठीक है, किन्तु साल भर पूर्व क्या स्थिति थी ? आप सभी जानते हैं, बडा अभाव था किन्तु व्यापारी वर्ग ने उस समय कितना सहयोग किया ? कठिनाई की घडियो मे देश की मदद नहीं करे वह देश का वफादार नहीं है।

मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि यदि मेरे पास एक रोटी है, उसमे से एक टुकडा पडोसी को देकर जिन्दा रख दूँ यदि ऐसी भावना बन जाए तो देश की सारी कठिनाइयाँ एक प्रकार से समाप्त हो गईं।

व्यापार करना बुरी बात नही, कोई पैदा करता है, कोई वितरण करता है किन्तु उसमे ईमानदारी हो, इस तरह व्यापारी कमाई भी कर सकता है और देश सेवा भी।

हमारे देश की प्रधानमन्त्री जोकि साठ करोड जनता की ही नही विकासोन्मुख सभी राष्ट्रो की नेता है,
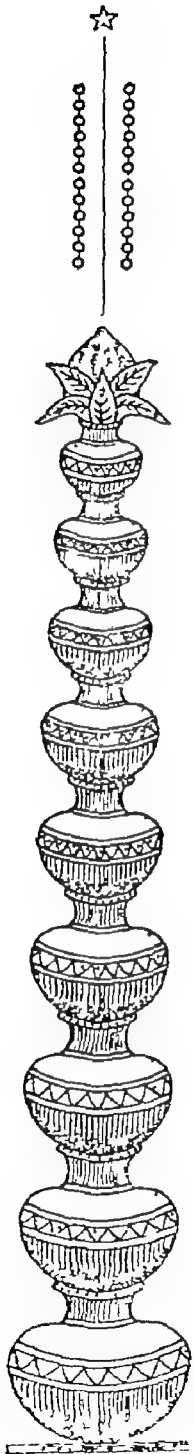
उन्होने देश के आत्म-सम्मान को बनाये रखने और इसे कठिनाइयो से बाहर लाने को कुछ कदम अब उठाये हैं हमे उन्हे अपने स्तर पर अपना कर उनको सफल बनाने का प्रयास करना चाहिए।

हमारे देश का आदर्श महान् है। ऐसा और कौन देश होगा जो एक अन्य प्रताड़ित देश को अपनी सेना द्वारा आजाद करा कर वहाँ की जनता को सौंप दे। भारत ने ऐसे आदर्श उपस्थित किये हैं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं।

ऐसे देश के नागरिक सयम और जिम्मेदारी से चलें तभी वह देश अपने महत्त्व को बनाये रख सकता है।

अभी कुछ समय पूर्व देश के सामने कठिन परिस्थिति पैदा कर दी गई, जनता का मनोबल क्षीण होने लगा तो हमारी प्रधानमन्त्री ने समय पर उचित कदम उठाकर देश को अस्त-व्यस्त होने से बचा लिया। आपात स्थिति से देश मे एक नयी जिम्मेदारी का वातावरण बना और आज देश मे सर्वत्र शान्ति से सारे कार्य ठीक चल रहे हैं।

हमारा देश सतो और भक्तो की भूमि है, बड़े-बड़े सतो ने हमारे देश को गौरवान्वित किया है। इसमे कोई शक नहीं कि कई देश हमसे ज्यादा सम्पन्न हैं, भौतिकता की दृष्टि से, किन्तु हमारे पास जो आध्यात्मिक धन है उसकी तुलना मे उनके पास कुछ भी नही है। सारे विश्व को सभ्यता का पहला पाठ भारत ने सिखाया।

भारत को सर्वाधिक गौरव उस महान् सत परम्परा का है, जो सब कुछ त्यागकर भक्ति मे और सेवा मे जुटे हुए हैं।

यहाँ जो मरुधर केसरी मिश्रीमल जी महाराज पधारे हुए हैं मैंने इनके कई बार उपदेश सुने, मैंने देखा कि ये बड़ी से बड़ी बात साफ-साफ कह देंगे और इनके इशारे मात्र से बड़े-बड़े कार्य सम्पन्न हो जाते हैं, यह सतो की आन्तरिक शक्ति है, यह सयम और साधना का बल है।

आज हम इस समारोह मे सत का अभिनन्दन कर एक नयी जिम्मेदारी ले रहे हैं उनके उपदेशो पर चलने की।

इतना बड़ा समारोह तभी सफल होगा जब हम वास्तव मे कुछ लेकर जाएँ ऐसी प्रतिज्ञा, जो समाज को नयी दिशा दे।

सत्य एक होता है, उसके कई रूप होते हैं, जितने भी धर्म है उनमे एक ही सत्य विविध रूप मे रहा हुआ है अत जैन, वैष्णव, बौद्ध, ईसाई, मुसलमान सभी मे जो अच्छाइयाँ हैं वे एक हैं।

हम जिस महात्मा का सम्मान कर रहे हैं वह जैनधर्म की नही, मानवता की निधि है सत सभी का होता है। हमे असाम्प्रदायिक रूप से सत्य और गुणो को स्वीकार करना चाहिए।

अन्त मे मैं पूज्यनीय श्री अम्बालाल जी महाराज का हार्दिक अभिनन्दन करता हुआ श्रद्धाञ्जली अर्पित करता हूँ और इनके दीर्घ जीवन की मगल कामना करता हूँ।

☆
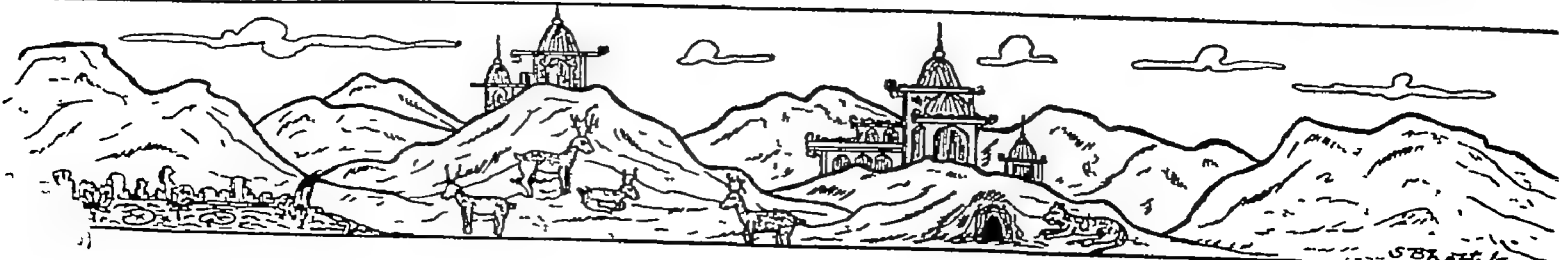
विशिष्ट अतिथि—

श्री हीरालाल जी देपुरा, विद्युतमंत्री (राजस्थान) का अभिभाषण

पूज्य मुनिवृन्द, भाइयो और बहनो !

आज के इस पावन अवसर पर आपने जो मुझे याद किया, मैं आपका बहुत आभार मानता हूँ। पूज्य श्री की तपस्या की स्वर्ण जयन्ति के अवसर पर मैं भी उपस्थित हुआ। महान सतो के जीवन का, उनकी तपस्या का अभिनन्दन तो उसी दिन हो गया जिस दिन श्री अम्बालाल जी महाराज की दीक्षा हुई।

पिछले पचास वर्ष से लगातार एक तपस्वी जीवन बिताना आप जैसे महर्षियो से ही समव है। जो उपदेश सन्त देते हैं, उसे पहले वे अपने जीवन मे उतारते हैं तभी उनके उपदेशो का समाज पर बडा असर होता है।

महाराज साहब श्री अम्बालाल जी समाज का मार्गदर्शन करते हुए समाज का निर्माण करते हुए आधी शताब्दी पार कर गये, यह केवल आपके लिए ही नही, ऐसे महान सन्त से हम और हमारा समाज भी कम गौरवान्वित नही होता है।

हमारे देश की जो सस्कृति है उसमे त्याग तप की ज्योतियाँ है यही कारण है कि सारा विश्व इस सस्कृति को महत्त्वपूर्ण स्वीकार करता है।

कोई चीज महत्त्वपूण होती है तो उसकी सुरक्षा उससे भी अधिक महत्त्वपूण हो जाती है।

हमारी जो सस्कृति है उसकी सुरक्षा करना एक बडा काय है और यह हमारा नैतिक दायित्व है कि हम उस सस्कृति के मौलिक तत्त्वो की सुरक्षा करें।

हमारी जो धार्मिक परम्पराएँ हैं कि उस सन्दर्भ मे हमें सोचना है, हम मुनियो के पास चले जाते हैं, मन्दिरो मे चले जाते हैं किन्तु हमारी क्या जिम्मेदारी है यह भी हमे सोचना चाहिए। गुरुओ के प्रवचन सुनते हैं उनके सूत्र हम पढते हैं, लेकिन आज से पहले जो गलत कार्य किये, यदि उन्हें नहीं छोड पायें तो और जीवन मे नया अध्याय प्रारम्भ नही कर सकें तो हमारी कितनी सार्थकता है यह सोचना चाहिए।

जीवन में परिवतन दृढ निश्चय के बिना समव नही, व्यक्ति समाज का निर्माता है अत प्रत्येक व्यक्ति दृढ निश्चय पूर्वक आगे बढ़े तो नव युग का निर्माण हो सकता है।

हमारे अनेक कष्टो का कारण हमारा गलत मूल्यांकन है। हमारे यहाँ जो धन की प्रतिष्ठा होती जा रही है वह अनेक पतन का मूल है। धन के स्थान पर हमे धर्म को प्रतिष्ठा देनी होगी। बडी प्रसन्नता है आज कि हम एक धम के प्रतिनिधि का अभिनन्दन कर रहे हैं। ऐसे आयोजन धन के स्थान पर गुणों की प्रतिष्ठा बढाते हैं।

भगवान महावीर ने पाँच महाव्रत बताये और हम उनकी बडी चर्चाएँ भी करते हैं किन्तु वास्तविक जीवन मे हम उन्हें कितना स्थान दे पाये यह विचारणीय है।

अनैतिकता से कमाये धन ने हममे, कई कुरीतियाँ पैदा कर दी है यदि वास्तव मे स्वस्थ समाज का निर्माण करना है तो प्रत्येक व्यक्ति को आकना होगा सिद्धांतो से कौन सत्य, अहिंसा, अचौय ब्रह्मचय और अपरिग्रह का कितना पालन करता है।

ये मोटे सिद्धात हैं, इन्हें यदि जीवन मे नही उतार पाये तो जैनधम को मैं नही समझता कि कोई पा सकता है।

अभी दहेज मृत्यु-भोज जैसी बुराइयो को मिटाने को कई वक्ताओ ने कहा, तपस्वियो ने भी कहा, हाथ भी खड़े किये, किन्तु जब तक दृढतापूर्वक अपने को न बदला जाये ये बुराइयाँ नहीं जा सकती।

आप सब जानते है कि दहेज, मृत्यु भोज जैसी बुराइयो के विरुद्ध कानून बने हैं और सख्त बन रहे है किंतु कोई समाज केवल कानून से बदले यह कोई अच्छी बात नही है।

आपका समाज एक प्रतिष्ठित समाज है, आपको धर्म गुरुओ के उपदेश से बदल जाना चाहिए।

कानून से ही बदलना आवश्यक नहीं है स्वत बदल जाना ही श्रेष्ठ है।

आज यदि कोई यह कहे कि शिक्षा सिद्धान्त कानून के आधार पर अनिवाय कर देना चाहिए तो सोचिए दूसरे देश क्या सोचेंगे कि भारतवासी अभी भी इतने पिछड़े हुए है कि शिक्षा के लिए कानून बनाना पडता है। जब यह कहा जाए कि दहेज को कानून से बन्द किया जाए तो कोई क्या सोचेगा कि यह देश कितना पिछड़ा हुआ है कि अपना भला-बुरा भी नही सोच सकता।

मेरा आग्रह है कि एक ऐसा वातावरण बना दिया जाय कि अनायास ही समाज से बुराइयाँ समाप्त हो जाएँ कानून आपकी और हमारी इज्जत नही बना सकता, वह तो इज्जत को खराब कर सकता हैं।

हमे कानून की राह नहीं देखकर जो हमारे हित मे है उसे तुरन्त स्वीकार करना चाहिए ये।

आज महान मुनिराज श्री अम्बालाल जी महाराज को अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट कर हम उनका अभिनन्दन कर रहे हैं ये पूरे समाज के लिए बड़े उत्साह के क्षण है। हमे इस अवसर पर सामाजिक बुराइयो का परित्याग कर मुनिवर का सच्चा अभिनन्दन करना चाहिए।

☆

साहित्य-सेवी श्री श्रीचद सुराणा द्वारा दिया गया
ग्रन्थ-परिचय

पूज्यनीय सत सतीवग, भाइयो और बहनो!

पूज्य गुरुदेव श्री अम्बालाल जी महाराज साहब के दीक्षा स्वर्ण जयन्ति महोत्सव के इस महान् अवसर पर अभी पूज्य प्रवर्तक श्री को एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जाएगा।

उपस्थित जनसमूह में एक उत्सुकता है कि यह ग्रन्थ क्या है?

आपकी सम्पूण उत्सुकता का समाधान तो ग्रन्थ को साक्षात् देखने पर ही हो सकेगा किन्तु ग्रथ के सम्पादक मडल से मेरा भी सम्बन्ध है एतदथ ग्र थ का थोडा-सा परिचय दे देना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।

जब गुरुदेव के अभिनन्दन की योजना बनी तो, ग्रन्थ के रूप मे उसे साहित्यिक मोड देने का श्रेय श्री सौभाग्य मुनि जी 'कुमुद' को है।

किसी भी सद्पुरुष की कीर्ति को चिरस्थायी बनाने के लिए ग्रन्थ एक उपयोगी और श्रेष्ठ साधन है।

प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ धार्मिक सामाजिक एव सास्कृतिक साहित्य जगत मे अनूठा स्थान बनाये ऐसी कृति है।

इसका बाह्यावरण सवमान्य जैन ध्वज के पाँच रगो से सुशोभित है। मध्य मे 'विजय-स्तम्भ' अकित है जो मेवाड के ओज तेज और व्यक्तित्व का शानदार प्रतीक है। एक तरफ जैन प्रतीक है जो प्रस्तुत कृति को भगवान महावीर के पच्चीस सौ वें निर्वाण वर्ष के सन्दर्भ मे व्यक्त करता है।

तीन रगो मे ग्रन्थ का नाम है तथा नीचे अष्टमगल जो शास्त्रानुसार परम कल्याण के सूचक हैं, चित्रित हैं।

ग्रथ का बाह्य आवरण जितना आकपक और भव्य है, अन्तरग उससे भी कही अधिक शानदार है।

ग्रन्थ कुल षट्खण्डो मे विभाजित है, चक्रवर्ती भी तो छह ही खण्ड साधते हैं।

प्रथम खण्ड जीवन और श्रद्धार्चन का है, इसमे पूज्य प्रवर्तक श्री का इतिवृत्त और अनेकों भावपूर्ण श्रद्धा पुष्पो का सग्रह है।

मेवाड गौरव नामक ग्र थ का द्वितीय खण्ड है, इसमे मेवाड की उन विभूतियो का जीवन वृत आपको मिलेगा
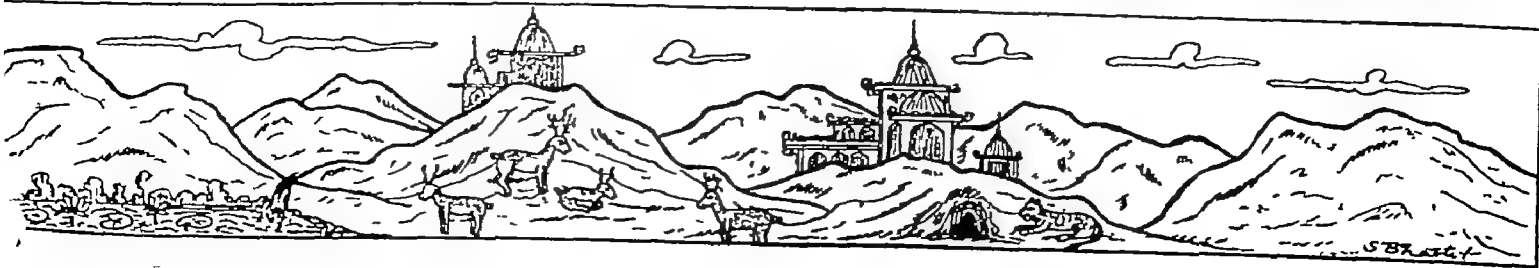
जिन पर अभी तक बिलकुल नही लिखा गया या बहुत कम लिखा गया। मेवाड के धार्मिक, सामाजिक श्रेष्ठ तत्त्वो व सास्कृतिक उपलब्धियो का परिचय भी इस खण्ड मे है।

इसके बाद, जैन विद्या जैन साहित्य और सस्कृति के दो खण्ड हैं, जिनमे उपर्युक्त विषयो के विविध अगों का परिपूर्ण विवेचन है।

पाँचवाँ खण्ड जैन इतिहास का है इसमे भगवान महावीर से पूज्य श्री धमदास जी महाराज तक की ऐतिहासिक परम्परा का सक्षिप्त किन्तु सारगर्भित विवेचन है।

छठा खण्ड 'काव्य-कुसुम' के रूप मे है जिसमे गुरुदेव श्री के स्मरण-पद एव अन्य आचार्यों, मुनियो की रचनाएँ तथा ऐतिहासिक महत्त्व की कृतियो का सकलन है।

इस तरह ग्रन्थ के छह खण्ड चक्रवर्ति सम्राट के पट्खण्ड की तरह सुशोभित हो रहे हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ जैन विद्या-साधना तथा तत्व विवेचना का एक अद्भुत कोष है। भारत के कई श्रेष्ठ विद्वानो ने अपनी श्रेष्ठतम कृतियाँ देकर इसे समलकृत किया है।

जैन जगत में ही नही, साहित्य के क्षेत्र मे भी इसका जो महत्त्व है, वह आने वाले वर्षों मे और अधिक बढ जायेगा। हजारो विद्या-जिज्ञासु इससे तत्त्वज्ञान-रस प्राप्त कर अपने आपको कृतार्थ समझेंगे।

ग्रन्थ आदि से अन्त तक पठनीय और मननीय है।

प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ के लेखन और सम्पादन मे सर्वाधिक श्रम यदि किसी ने किया है तो वे हैं श्री सौभाग्य मुनि जी 'कुमुद'।

ग्रन्थ मे दो सौ से अधिक पृष्ठ तो स्वय 'कुमुद' जी ने अपनी भावग्राही लेखनी से लिखे हैं।

भाव भाषा और प्रवाह का जो चमत्कार मुनि श्री की लेखनी मे देखने को मिला वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसमे कोई सदेह नही कि मुनि श्री ने प्रस्तुत ग्रन्थ मे अथक श्रम किया।

मुनि श्री ने श्रेष्ठ निबन्ध जुटाने मे जिस तरह विद्वानो से सम्पर्क साधा और अपने मधुर व्यवहार से उन्हे आकर्षित कर निबन्ध प्राप्त किये यह भी कम महत्त्वपूर्ण नही है।

कुल मिलाकर प्रस्तुत ग्रन्थ मुनि श्री के एकनिष्ठ श्रम का परिणाम है, जो आज के महान् कार्यक्रम मे एक महत्त्वपूर्ण भूमिका सहित आपके समक्ष पूज्य गुरुदेव श्री को समर्पित किया जायेगा।[१]

---

१ मुनि श्री का परिचय हम ग्रन्थ के प्रारम्भिक पृष्ठो में देना चाहते थे किन्तु प्रयत्न करने पर भी नहीं मिल सका, अब हमे थोडा परिचय मिला है, जो सक्षिप्त मे दे रहे हैं,

प्रधान सम्पादक मुनि श्री 'कुमुद' जी का सक्षिप्त परिचय

श्री सौभाग्य मुनिजी 'कुमुद' का जन्म-स्थान अकोला (उदयपुर) है। विक्रम स० १९९४ मृगशीर्ष शुक्ला सप्तमी शुक्रवार रात्रि को ६ बजे स्थानीय गाँधी परिवार मे एक बच्चे का जन्म हुआ, जिसका नाम सुजानमल रक्खा गया। श्री नाथी बाई और नाथूलाल जी इनके माता-पिता के नाम हैं।

श्री नाथूलाल जी व्यवसाय से 'दाणी' थे। बालक सुजानमल, श्री नाथूलाल जी गाँधी की चौथी जीवित सतान थी।

बालक सुजान से पूर्व एक भाई और दो बहनें उपस्थित थी।

कर्मदशा की विचित्रता स्वरूप बालक सुजान को बाल्यावस्था मे ही पितृ वियोग सहना पडा। ऐसी स्थिति में माँ का ही वह सम्बल था जिसने बच्चे को सद्सस्कारो से ओत-प्रोत बना दिया।

बालक सुजान पाँचवीं मे पढ़ता था तब तक दोनो बहनें और भाई विवाहित हो चुके थे। उन्हीं दिनो एक दुर्घटना घटी, बहन उगमबाई विधवा हो गई। सारे परिवार में शोक छा गया। मृत्यु की इस अनिवार्यता और मानव की विवशता देख बालक सुजान का मन बडा खिन्न हो गया।

बहन उगम भी वहीं थी, वह सासारिकता से उपराम हो रही थी। वहाँ महासती सोहनकवर जी भी थे उनका उस स्थिति मे बडा सहयोग रहा।

उसी वर्ष पूज्य श्री मोतीलाल जी महाराज का आकोला चातुर्मास था। मुनियो के सद्सम्पर्क ने अन्तर की वैराग्य-भावना को और बढाया और दोनो भाई-बहनो ने सयम लेने का निश्चय किया।

माता को इस निश्चय का पता लगा तो वह भी अपने आत्म-कल्याण को उत्सुक हो गई। इस तरह तीनो ने जब सयम ग्रहण करने का निश्चय किया तो पारिवारिक-जनो मे हलचल मच गई। उन लोगो ने कई उपद्रव खडे कर दिये फलस्वरूप दोनो अर्थात् माँ और पुत्री ने तो यथासमय सयम स्वीकार कर लिया किन्तु बालक सुजान की दीक्षा उन लोगो ने रुकवा दी।

बालक सुजान को उनके भाई गोरीलाल जी गाँधी और बहनोई श्री अम्बालाल जी अहमदाबाद जहाँ वे व्यापार करते थे ले गये।

गुप्त-आगमन

बालक सुजान अहमदाबाद गया भी, उसने जो दृढ निश्चय कर रक्खा था उससे वह तिल भर भी नही डिगा, मात्र अवसर की तलाश मे था। चौदह दिन बाद ही एक अवसर मिला कि सुजान वहाँ से बिना ही टिकट गाडी मे बैठ गया और मारवाड जक्शन तक बेरोक-टोक चला आया किन्तु मारवाड जक्शन पर एक पुलिस ने चैक कर ही लिया। उसने बिना टिकट यात्रा करने वाला कोई जेबकतरा समझ कर पुलिस कम्पार्ड मे बिठा दिया। वहाँ जो पुलिस सुरक्षा के लिए था वह सज्जन मिला। सुजान ने अपनी सारी कहानी उसे साफ साफ कह दी तो, उसने सहृदयता प्रकट कर अपने चगुल से मुक्त कर दिया।

सुजान अन्य डिब्बे मे जा बैठा तो वहाँ दो सज्जन सुजान को ऐसे मिले जैसे "अधेरे मे चिराग" उन्हे ज्यो ही यह ज्ञात हुआ कि इस बच्चे के पास टिकिट नही है, उन्होने सुजान को नीचे सुला कर बिस्तरो की ओट दे दी 'अहैतुकी कृपा करने वाले ऐसे सज्जन ससार मे विरले ही होते हैं।"

इस तरह सुजान माहोली आ पहुँचा। वहाँ से फतहनगर होकर सनवाड चला गया। वहा के धर्मप्रेमी गुरुभक्त श्री चाँदमल जी बडाला और उनकी धर्मपत्नि दाखबाई ने बडा सहयोग दिया और सुजान उसी दिन शाम की गाडी से खेरोदा पहुँच गये जहाँ पूज्य श्री मोतीलाल जी महाराज आदि मुनि गण विराजमान थे।

खेरोदा मे श्री देवीलाल जी खेरोदिया का अच्छा सहयोग रहा। वही श्री मोडीलाल जी चवाण देलवाडा वाले आये हुए थे, उन्होंने बडी मदद की। बालक सुजान गुप्त रूप से बापडा एक सुथार के वहाँ एक रात ठहर कर देलवाडा पहुँच गया। श्री मोडीलाल जी के यहाँ एक दिन गुप्त निवास कर बालक सुजान 'रामा' श्रीमान् सेठ रतनलाल जी माडोत के यहाँ पहुँच गया। श्री रतनलाल जी माडोत धर्मप्रेमी गुरुभक्त और बडे साहसी श्रावक थे।

गुप्तवास और दीक्षा

श्री रतनलाल जी माडोत ने बालक सुजान का बडे प्रेम से स्वागत किया और सारी स्थिति समझकर उसे बडी प्रसन्नता के साथ अपने यहाँ रख लिया।

भाव दीक्षित श्री सुजानमल 'रामा' (अरावली श्रेणी मे बसा एक छोटा-सा ग्राम) मे लगभग तीन माह एकान्तवास के रूप मे रहा। श्री रतनलाल जी माडोत और उनके सम्पूर्ण परिवार ने और रामा निवासी सज्जनो ने बडी आत्मीयता तथा सतर्कता पूर्वक हार्दिक सहयोग दिया।

उधर पारिवारिक-जनो ने बालक सुजान को खोजने मे दिन-रात एक कर दिया किन्तु उन्हे कोई भेद नही मिला।

तीन माह बाद परिस्थितियो में कुछ परिवर्तन आया और श्री रतनलाल जी माडोत ने गुरुदेव श्री अम्बालाल जी महाराज आदि ठाणा को 'कडिया' ग्राम मे बुलाया।

कडिया के श्रावक भी बडे गुरुभक्त और सेवाभावी थे। व हार्दिक भावो से सेवा मे तैयार थे।

मुनिराजो के कडिया पहुँचने पर श्रीयुत् माडोत साहब श्री सुजान जी को लेकर वहाँ पहुँच गये और दूसरे ही दिन बडी सादगी के साथ गाँव के बाहर एक विशाल वटवृक्ष के नीचे भाव दीक्षित उत्कृष्ट वैराग्यवान श्री सुजानमल जी की दीक्षा सम्पन्न हो गई।

कुछ ही दिनो मे बडे आश्चर्य के साथ मेवाड में श्री सुजान की दीक्षा के समाचार सुने गये।

कई व्यक्तियो को विश्वास नही हो पाया था कि सुजानमल दीक्षित हो गया, किन्तु जो हो चुका था वह तो ध्रुव था। थोड़े ही समय मे पारिवारिक उपद्रव भी समाप्त हो गये।

दीक्षा सवत् २००६ माघशुक्ला पूर्णिमा प्रात ६॥ बजे सम्पन्न हुई।

गुरु प्रदत्त नाम श्री सौभाग्य मुनि घोषित हुआ।

बहुमुखी विकास के पथ पर

श्री सौभाग्य मुनि जी 'कुमुद' बचपन से ही विनम्र, तीक्ष्णबुद्धि और विद्यानुरागी थे।

सयम से पूर्व केवल पाँचवी कक्षा तक पढ़े थे किन्तु सयम प्राप्ति के बाद मुनि श्री ने अपनी सम्पूर्ण क्षमता का उपयोग अध्ययन की तरफ किया। फलत जैन शास्त्रो के गम्भीर तत्वज्ञान के उपरान्त विभिन्न दर्शन शास्त्रो का गहराई तक अध्ययन किया। सस्कृत, हिन्दी, प्राकृत के विशिष्ट अध्येता श्री सौभाग्य मुनि जी 'कुमुद' बहुत अच्छे कवि भी हैं। आपकी कई सगीत एव काव्य की पुस्तकें निकल चुकी हैं।

समय के साथ मुनि श्री की प्रतिभा का लगातार विकास होता गया। मुनि श्री प्रवचन मच पर आये और बड़े ठाठ से जमे। आज मुनि जी श्रेष्ठतम वक्ताओ मे से एक है।

मुनि श्री बहुत अच्छे रचनाकार हैं, साहित्य की दिशा मे ही नही, समाज की दिशा मे भी आपका कर्तृत्व आज मेवाड मे दमक रहा है। धर्मज्योति परिषद् का गठन और विकास आपके श्रम का फल है, मेवाड मे चलने वाली अनेक जैनशालाएँ, स्थापित, पुस्तकालय, गठित युवक मडल, स्वाध्याय केन्द्र और न जाने क्या क्या इस उदीयमान मुनिरत्न की प्रेरणाओं के अमर परिणाम हैं।

प्रस्तुत अभिनन्दन समायोजन और ग्रन्थ निर्माण मे भी, यदि कही प्राण तत्व ढूढेगे तो उसे श्री सौभाग्य मुनि कुमुद के रूप मे पायेंगे।

मुनि श्री कुमुद जैन जगत की विभूति और मेवाड प्रदेश के आशाकेन्द्र हैं।

मेवाड प्रदेश की धार्मिक, सामाजिक तथा सस्थागत सक्रियता के सृष्टा मुनि श्री कुमुद जी चिरायु हो समाज का निर्देशन करते रहें, इसी शुभ आशा के साथ। ☆

ग्रन्थ—समर्पण कर्ता

न्यायमूर्ति श्रीयुत चाँदमल जी लोढ़ा का भावपूर्ण वक्तव्य

मेवाड सघ शिरोमणि पूज्य प्रवतक श्री अम्बालाल जी महाराज साहब, उपस्थित गुरुजन, माथुर साहब, देपुरा साहब, नाहर साहब, सभा के अध्यक्ष, महोदय एव धर्मप्रेमी सज्जनो!

आज के इस महान् अवसर पर आपने मुझे आमन्त्रित कर मुझे इस समारोह मे सम्मिलित होने का अवसर प्रदान किया इसके लिए मैं आभारी हूँ।

आज आप और हम मिलकर एक सन्त का अभिनन्दन कर रहे हैं।

त्याग, तप और सयम का अभिनन्दन करना यह हमारी सस्कृति का मौलिक तत्व है।

दुनिया मे विभिन्न प्रकार के नेता होते हैं। आप हमारे धर्मनेता हैं। धर्मनेता हमारे यहाँ सर्वाधिक पूज्य है।

आज विज्ञान ने बड़ी उन्नति कर ली है, व्यक्ति चाँद पर भ्रमण कर रहा है, कई व्यक्ति वहाँ जाकर आये हैं किन्तु विश्व में अमन और शान्ति जिसे कहते हैं, वह चन्द्रयात्रा से सम्भव नही है। हमे शान्ति इन महापुरुषो से मिलती है।

पच्चीस सौ वर्ष पूर्व भगवान महावीर ने शान्ति का मार्ग प्रकाशित किया था, विश्व के कोने-कोने में आज उस सिद्धान्त की चर्चा है। इसकी वजह क्या है कि एक की बात सारा विश्व सुनता है। जिस सन्देश मे अध्यात्मिकता, करुणा होती है, उस सन्देश को सभी चाहते हैं।

विश्व-पीड़ा का समाधान अध्यात्मिकता है।

हम बड़े-बड़े नेताओ, वैज्ञानिको और धनाढ्यो के चरणों मे नही झुकते हैं, किन्तु इन सतों के चरणो मे झुकते

हैं, इनके पास भौतिक समृद्धि कुछ नही है, ये फक्कड हैं, इनके पास अपने जरूरी काम की वस्तुएँ भी अधिक नही हैं, फिर भी हम इनका सर्वाधिक सम्मान करते हैं, इसके पीछे इनकी अध्यात्मिकता है, साधना है ।

मैं आपसे आग्रह करता हूँ कि ऐसी विशाल समायोजनाओ से हमे प्रभावित और प्रेरित होना चाहिए । गुरु अभिनन्दन का असर अपने जीवन मे बना रहे यह आवश्यक है ।

अभी आपने सामाजिक कुरीतियो के निवारण हेतु बडे प्रेरक सन्देश सुने । हम केवल सुने ही नही, इन पर अमल भी करे ।

समाज का एक अग होने के नाते भी मैं आपको सलाह दूगा कि अब दहेज, मृत्युभोज जैसी आवश्यक बातो को समाज से हटा देना चाहिए । यदि आप मुनियो के उपदेशो पर ध्यान नही देते हैं तो याद रखिये, कानून की तलवार सर पर लटक रही है । वह बडी कठोर होती है, उससे बचना चाहिये इसका मार्ग यही है कि हम सन्तो के उपदेश से बुराइयो को मिटा दें ।

हम आज पूज्य गुरुदेव श्री अम्बालाल जी महाराज का अभिनन्दन कर रहे हैं ये क्षण हमारे लिए बडे महत्व-पूर्ण हैं, हमे इन्हे सम्पूर्ण रूप से सार्थक बनाना है ।

आप सभी सज्जनो ने अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने हेतु मुझे चुना, इसके लिए मैं आपका बडा आभारी हूँ ।

आप सभी की ओर से मैं विशाल अभिनन्दन ग्रन्थ पूज्य प्रवर्तक श्री को भेंट कर रहा हूँ ।

ग्र थ हमारी श्रद्धा का प्रतीक है । मुनि श्री का सयम और इनके उपकार असीम हैं, उनकी तुलना मे हम जो भेंट कर रहे हैं वह तो वास्तव मे हमारी श्रद्धा है, हम केवल वही चरणो मे अर्पित कर सकते हैं । ग्रन्थ हमारी श्रद्धा का एक साहित्यिक सस्करण है ।

मैं अपनी हार्दिक श्रद्धा के साथ पूज्य मुनिराज का अभिनन्दन करता हुआ इनके दीर्घ जीवन की मगल कामना करता हूँ ।

आप सबने मुझे यह अवसर प्रदान किया, इसके लिए एक बार और हार्दिक धन्यवाद देता हूँ ।

☆

अपने महान अभिनन्दन के प्रत्युत्तर मे

पूज्य प्रवर्तक श्री का भावपूर्ण वक्तव्य

भगवान महावीर रो शासन जयवन्तो है । म्हूँ तो, एक मामूली साधु हूँ । आप म्हने अतरो बडो सम्मान दी दो या तो आपकी गुण दृष्टि है, म्हूँ तो अस्यो नी हूँ के पुजाउँ ।

म्हे तो समाज री शासन री कोई खास सेवा नी की दी, जो भी व्यो वो सब बडेरा रो प्रताप है ।

आप जो म्हारो अभिनन्दन कीदो इ ने म्हूँ, भगवान महावीर ने बडेरा रा चरणा मे अर्पण करू हूँ ।

म्हूँ तो महावीर रा शासन रो एक सिपाही हूँ । भगवान री आज्ञा रो पालन करणो म्हारो कर्तव्य है । कोई आपणा कर्तव्य रो पालन करे तो कई बडी बात नी है । बडी बात तो कर्तव्य के उपरान्त और काम करै जदी वे । म्हूँ तो कर्तव्य सूँ ज्यादा आज तक कई नी कर सक्यो ।

भगवान महावीर रा शासन रो काम ए कूँ नी चालै, साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका सब ध्यान राखे ने सेवा करे जदी शासन चमके । आप सूँ म्हारो यो हीज केणो है के समाज मे जो बुराइयाँ हैं ने जो आपने अतरा विद्वान और समाज सुधारक चेतारिया है, वणी पे ध्यान दे ने समाज रो सुधारो करो तो म्हने जरूर घणी खुशी वेला ।

टेम चली जा, बात रेजा अणी वगत चेत्या तो घणी फायदा री बात वेगा ।

अतरा मुनिराज और महासतियाँ जी महाराज अठे पधार्या दर्शन दी दा बडी कृपा की दी ।

आखरी बात या है के मोटो बण्या सू , कल्याण नी है, आप और म्हूँ, चावे कोई वो भगवान री आज्ञा पालेला वी को कल्याण है ।

☆
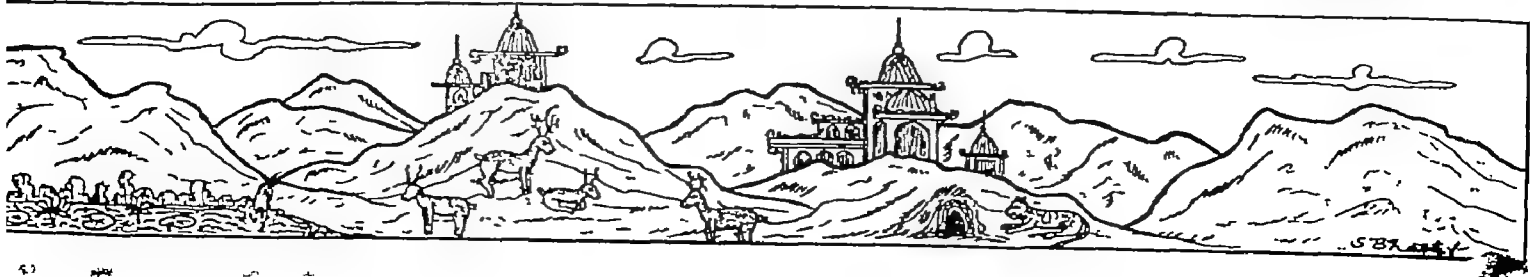
पूज्य गुरुदेव श्री अम्बालाल जी महाराज दीक्षा स्वर्ण जयन्ति समारोह कोशीथल

श्री ओंकारलाल जी सेठिया का

अध्यक्षीय अभिभाषण

पूज्य गुरुदेव, उपस्थित मुनिराज एव महासती जी महाराज को वन्दन करने के पश्चात् माइयो और बहिनो,

प्रस्तुत विशाल अभिनन्दन समारोह की अध्यक्षता के लिए आपने मुझ जैसे साधारण व्यक्ति को जो प्रेम और आदर दिया उसके लिए मैं आभारी हूँ।

इस पद की कठिनाई और जिम्मेदारी को समझते हुए मैं अपने को इस काबिल नही मानता किन्तु सघ का आदेश मानकर मैंने आपके सहयोग से इसे स्वीकार किया।

शासनदेव की कृपा से यदि मैं समाज की सेवा मे कुछ भी योगदान दे सका तो अपना सौभाग्य समझूँगा।

सर्वप्रथम और कुछ कहने के पहले मैं उन अनेक पूज्य मुनिराज और महासतियाँ जी महाराज का हार्दिक स्वागत करता हूँ, जो बहुत दूर-दूर से पाद विहार कर हमारे समारोह को सुशोभित करने पधारें।

गुरुदेव का अभिनन्दन करते हुए आज हम अपने जीवन के सर्वश्रेष्ठ क्षणो का अनुभव कर रहे हैं।

मेवाड सघ शिरोमणि पूज्य प्रवतक गुरुदेव श्री अम्बालालजी महाराज मेवाड के जैन-जगत की एक दिव्य विभूति है। पिछले ५० वर्षों से मेवाड मे ही नही देश के अन्य भागो मे भी पादविहार कर आपने जो जन चेतना जागृत की है वह सचमुच आदर्श है।

गुरुदेव के शान्तिपूर्ण निमल व्यक्तित्व मे अनूठी आभा है, चमक है।

आज हम एक ऐसे चरित्र का अभिनन्दन कर रहे हैं जिसमें 'सादा जीवन और उच्च विचार' को सर्वदा अपने आप मे चरितार्थ किया कि महाराज श्री ने अपने बाल्यकाल के १६ वर्ष की उम्र मे विचार किया—ससार मे अपना कोई नहीं है, आत्मा अकेली ही ससार मे आयी है और अपने शुभाशुभकर्मों का फल भोगकर अन्त मे अकेले ही इस ससार से चली जाती है। न कोई ससार में हितु है, न मित्र, क्यो न मानव देह जो हमे मिली है उसका सदुपयोग कर बार-बार के जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्ति पाने का प्रयास किया जाय। इसकी विचारधारा ने आपको ससार से विरक्त बना दिया, सासारिक परिवार एव सरकार का प्रबल विरोध के बावजूद भी आप अपने वैराग्य के विचार पर अटल रहे और आखिर मे अपने पूज्य गुरुदेव के पास दीक्षित बन गये।

आपका सुगठित निरोग तन, गौर वर्ण, मध्यम कद, मुस्कराता चेहरा व इस सारे देह वैभव को ज्योतिमय बनाते हुए उज्ज्वल ज्ञान, दर्शन और चारित्र महानता का आभास देता है।

गुरुदेव अभी ७० वष की वय मे हैं किन्तु युवको जैसा उत्साह आप मे देखा जा सकता है।

कथनी और करनी की एकरूपता ही आपका जीवन दर्शन है।

आज के भौतिकता प्रधान वातावरण में आध्यात्मिकता की पवित्र ज्योति जगाने वाले गुरुदेव का आप और हम अभिनन्दन कर रहे हैं तो यह विश्व मे तेजी से फैलती जा रही है, आसुरी वृत्तियो की तुलना मे दैवी वृत्तियो की श्रेष्ठता का एक प्रयत्न है।

हमारी सस्कृति व्यक्ति के स्थान पर गुणो को अधिक महत्त्व देती है, यही कारण है कि हमारे यहाँ उन गुण वान् व्यक्तियो का सर्वदा सम्मान हुआ है जिन्होंने अपने जीवन को उच्च आदश के लिए समर्पित कर दिया।

हमारे यहाँ मौलिक रूप से साम्प्रदायिक इकाईयो के मतभेद कुछ साधना पद्धतियो के कारण है किन्तु गुणवान व्यक्तित्व किसी भी सम्प्रदाय मे विकसित हुआ है, उसको सभी ने एक मत होकर महत्त्व दिया है। हमारी सस्कृति मे यही वह तत्त्व है जो अनेकता मे एकता का बोध देता है।

अभिनन्दन जहाँ गुणो की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करता है वहाँ जन-जीवन को एक नई प्रेरणा भी देता है। यह सत्य है कि जहाँ पाप पूजा जाता है वहाँ पाप बढ़ेगा और जहाँ सत्य पूजा जाता है वहाँ सत्य। हमारे विशाल भारतवर्ष मे सत्य पूजनीय और सार स्वरूप माना जाता है।

भगवान महावीर ने कहा "सच्चं लागेम्मि सारभूयं" "सत्यमेव-जयते" यह हमारी सस्कृति का मूल सूत्र है किन्तु पिछले एक हजार वर्षों से भारतवर्ष मे जो परिस्थितियाँ बनी, गुलामी और पराजित मनोवृत्ति से जिस तरह हम जकडे गये उससे हमने अपना बहुत कुछ सार तत्त्व खोया।

पराधीनता और पतन के उस चरमोत्कर्ष मे एक दिव्य पुरुष ने हमे नई प्रेरणा देकर जागृत किया। उस महा-पुरुष का नाम महात्मा गाँधी है।

सत्य और अहिंसा के बल पर देश आजाद कराने वाले उस साबरमती के सन्त को हमारा देश कभी भी नही भूल सकता जिसने कठिनाई की घडियो मे हमारा नेतृत्व किया।

बाद मे पण्डित जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल एव लालबहादुर शास्त्री ने देश को पिछडेपन से आगे बढाने के लिए बहुत प्रयत्न किया।

आज हमारी प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी देश को पिछडेपन, अन्धविश्वासो और गरीबी से बाहर निकालने के लिए जी-जान से प्रयत्नशील है।

जैनधर्म तोड-फोड, हिंसा और अराजकता मे कतई विश्वास नही करता हम शान्ति के इच्छुक हैं।

जैनधर्म के उदात्त सस्कारो मे साम्प्रदायिकता को कोई स्थान नहीं।

भगवान् महावीर से पूव अर्थात् पार्श्वनाथ और उनसे पूर्व के मुनि कई रग के वस्त्र धारण करते किन्तु महावीर के श्रमण श्वेत वस्त्र पहनते थे।

सिद्धान्त एक होते हुए भी ऊपर से बडा भेद था किन्तु श्रावस्ती नगरी के तिन्दुक उद्यान मे केशी श्रमण और गौतम स्वामी ने बैठ कर परस्पर समाधान कर लिया और साम्प्रदायिकता को नही पनपने दिया। आज देश मे पुन उस वातावरण को जाग्रत करना है, साम्प्रदायिकता को कही प्रश्रय नहीं देना चाहिए।

जैन समाज जो कई सम्प्रदायों मे विभक्त है, उसका भी उन्नति का मार्ग तभी प्रशस्त होगा जब वह साम्प्र-दायिकता से बाहर आये।

जैन समाज के सन्दर्भ में मैं एक बात अवश्य कहना चाहूँगा कि हम साम्प्रदायिक वातावरण मे इतने अधिक घुलमिल गये हैं कि प्रत्येक दूसरे सम्प्रदाय वाले को हम मिथ्या दृष्टि कह देते हैं किन्तु क्या यह सत्य है? यह कितनी हास्यास्पद बात है कि दूसरे को मिथ्यादृष्टि कहने वाले अक्सर यह जानते ही नहीं कि सम्यक् दृष्टि किसे कहते हैं। और मिथ्या दृष्टि किसे। शास्त्रो मे जो कुछ भी व्याख्या है उसको जहाँ तक भी हमारे मनीषियो ने समझा है और जो उन्होंने कहा, यदि मैं आधुनिक भाषा मे उसे व्यक्त करूँ तो वह यह है कि नफरत ही मिथ्यादृष्टि है। किसी के प्रति घृणा लेकर चलने से अधिक और क्या पाप होगा। भगवान महावीर ने ससार मे अमन और शान्ति कायम रखने हेतु कुछ अमूल्य सन्देश दिये। उनमे सत्य, अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह प्रधान हैं।

प्रभु स्वय निस्परिग्रही थे और उन्होने लाखो अपरिग्रही मानवो का निर्माण किया। आप और हम आज उनके अनुयायी कहलाते हैं। किन्तु हमने महावीर की शिक्षाओ मे से अहिंसा को तो कुछ लिया किन्तु अपरिग्रह को हम बिल्कुल नही ले पाये।

एक तरफ लाखो भूखे सोते हैं। दूसरी तरफ करोडो की सम्पत्ति एक हाथ में है। यह न्याय नही है। हमे अपरिग्रह को अपना कर देश सेवा में आगे बढना चाहिए।

भगवान् महावीर का एक सवश्रेष्ठ सन्देश अनेकान्त है। अनेकान्त का अर्थ मेरी समझ मे गुण ग्राही एकता है।

वस्तु को अनेक दृष्टि से देखा जा सकता है और उसमे अनेक विशेषताएँ हैं, इसे स्वीकार करना यह अनेकान्त का प्रयोग है। हम इस शिक्षा द्वारा परस्पर किसी समान योग्यता से सबद्ध होकर सगठित हो सकते हैं।

हमारा समाज छिन्न-भिन्न है, वह कई टुकडों मे है अत हम थोडी सख्या मे हो गए और निरन्तर हमारा घटाव चल रहा है।
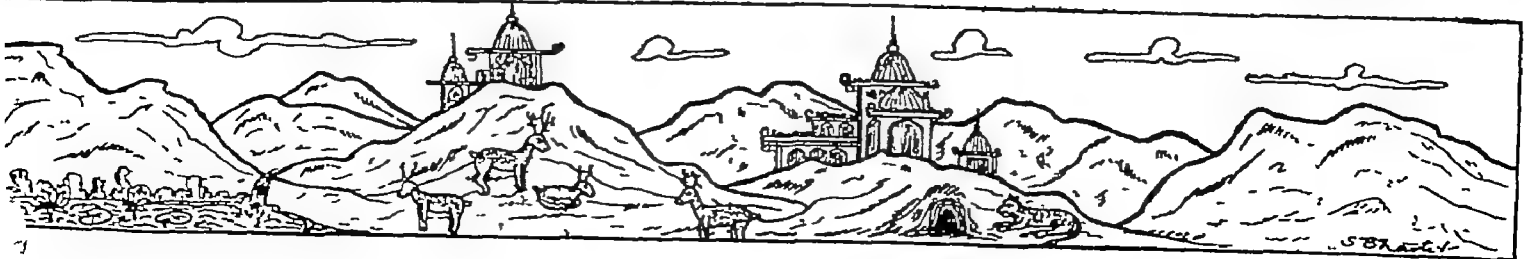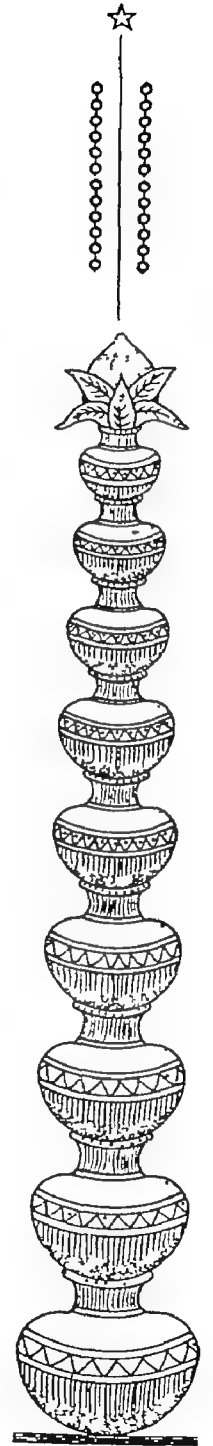
इस स्थिति से वचने के लिए हमे सगठित होने की आवश्यकता है। मैं किसी सम्प्रदाय की बुराई नहीं करता किन्तु श्रमण सघ को श्रेष्ठ समझता हूँ क्योकि यह एकता का प्रतीक है। हमे इसे सुदृढ़ बनाना चाहिए, एक सम्वत्सरी तथा एक पर्व हो, ऐसी भूमिका बनानी चाहिए। हम असगठित रह अपना ही नुकसान करते हैं।

देश बडी तेजी से आगे बढ रहा है, किन्तु हमारा समाज जो सदियो से कुछ कुण्ठाओ से ग्रस्त है आज भी उन्हें ढो रहा है। दहेज-प्रथा, मृत्यु-भोज तिलक जैसी अनावश्यक कुप्रथाएँ हमे निगलती जा रही है। समाज हमारी सुख-शान्ति और नैतिकता को ये कुप्रथाए भ्रष्ट कर रही हैं। इनसे समाज को छुटकारा दिलाना चाहिए। यह तभी होगा जब समाज की युवाशक्ति सामने आये।

समाज को अपने युवको पर बडा भरोसा है, हमारा युवक पढा-लिखा, सभ्य और प्रगतिशील है इसमे कोई सन्देह नहीं, किन्तु असगठन तथा कुशल नेतृत्व के अभाव मे वह अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा का उपयोग नही कर पा रहा है अत बुद्धिमान युवाजनो को सगठित होकर आगे बढने का प्रयास करना चाहिए।

हमारा युवक उस जगह बडी भूल करता है जब वह पश्चिम की नक्ल करने लगता है। मैं अपने लघु वय साथियो से हार्दिक अपील करता हूँ कि वे अपनी सस्कृति को अपना कर चले, जिससे समाज के वास्तविक उत्थान का मार्ग प्रशस्त हो।

आज विश्व, शान्ति और समता का भूखा है। हम भगवान महावीर की शिक्षा के आधार पर विश्व को शान्ति और समता का मार्ग दिखा सकते हैं। किन्तु कब जबकि हम स्वय उन्हें अपनायें साथ ही हमारे पढे-लिखे विद्वान नौजवान साथी महावीर की शिक्षाओ को अन्य भाषाओ मे अनुवादित कर उन्हें विदेशो तक और देश के घर-घर मे पहुचाएँ।

मैं उन युवको को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। जिन्होने जैनोलोजी मे पी-एच० डी० किया है तथा जो कर रहे हैं।

हमसे कुछ विद्वानो ने आग्रह किया है कि उदयपुर मे जैन शोध-सस्थान स्थापित हो, मैं उनकी इस प्रेरणा का स्वागत करता हूँ। हम प्रयत्न करेंगे कि शीघ्र ही उदयपुर मे ऐसा सस्थान स्थापित हो सके जहाँ शोध सुविधाएँ हों।

जैन धम के तत्त्व बडे यथार्थ, उदात्त तथा उपयोगी हैं किन्तु प्रचार की कमी होने से अभी तक इन्हे विश्व मे वह स्थान नही मिला जिसके कि वह योग्य हैं। हमे एक जुट होकर ज्ञान प्रचार की दिशा मे काम करना चाहिए।

छोटे-छोटे गाँवो मे जैन शाला और पुस्तकालय भी बडे उपयोगी साबित हो सकते हैं। कुछ तो शालाएँ तथा पुस्तकालय हैं किन्तु वे बहुत ही कम हैं। हमे अधिक सख्या मे उनकी स्थापना करनी है।

समाज के स्वधर्मि बन्धु और असहाय विधवा बहिनो तथा अभावग्रस्त विद्यार्थियो को वास्तविक तथा उपयोगी सहायता मिलनी चाहिए। इस दिशा मे पूज्य गुरुदेव श्री की प्रेरणा से स्थापित धम ज्योति परिपद सेवारत है, हमे उसे सशक्त और सफल बनाने का पूण प्रयास करना चाहिए।

आप और हम सभी एक समाज और एक राष्ट्र के अग हैं अत हमे सामूहिक एव व्यक्तिगत रूप से वे तमाम कर्तव्य निभाने हैं जो हमे पुकार रहे हैं।

आज मैं आपके सामने जो कुछ बोल रहा हू वह आपको उपदेश देने की दृष्टि से नहीं। किन्तु आपका साथी होने के कारण आपके और मेरे मन की बात कह पाया हूँ, मैं भी आपके समान ही हूँ, मुझे भी वही करना है या जो मेरे द्वारा कहा गया, मैं आपसे, अलग नहीं हूँ।

अन्त में मैं प्रस्तुत समारोह मे उपस्थित हुए सम्माननीय जननेता, राज्याधिकारी, प्रमुख समाज सेवी अग्रगण्य कायकर्ता और समस्त स्वर्धामि भाई-बहिनो का हार्दिक स्वागत करता हूँ। साथ ही पधारे हुए पूज्य मुनिराजो महासतियो को वन्दना करता हुआ आभार प्रदर्शित करता हूँ।

मैं कोशीथल श्रावकसघ को धन्यवाद दिये बिना नही रह सकता जिसने समारोह को अपने यहाँ आयोजित कर सुव्यवस्था द्वारा इसे सफल बनाया।

कोशीथल सघ की महान् सेवाएँ जैन समाज के इतिहास मे सवदा अमर रहेगी।

और अन्त मे पूज्य गुरुदेव श्री के सुदीघ जीवन की मगल कामना के साथ हार्दिक अभिनन्दन करता हुआ अपना स्थान ग्रहण करता हूँ।॥ जय जिनेन्द्र॥

जय जय गुरुवर

(राग—त्रिभंगी) —महासती प्रेमवती जी

जय जय गुरुवर, पूज्य परमेश्वर
अम्बमुनीश्वर, गुणधारी।

वाणी प्यारी, अमृत धारी,
गुण गावे अति नरनारी ॥
पुन्य स्थान है, थामला महान है,
मेवाड़ शान है, सुखकारी।
बासठ साल मे, शुक्ला ज्येष्ठ मे,
जन्म श्रेष्ठ है, शुभवारी।
ओसवश मे, सोनी कुल मे,
मगलक्षण मे, अवतारी ॥
प्यारानन्दन, अति सुख कन्दन,
किशोर नन्दन सुखकारी।
सद्गुरु पाया, हर्ष भराया,
आनन्द छाया, उर भारी ॥
ससार कतार पार उतार,
वैराग्यधार, सुखकारी।
करके विचारा, सयम धारा,
चारित्र प्यारा उपकारी ॥

गुरुवर मोती, दीये ज्योति,
सूरत सोहती मोहन गारी।
भार मुनीश्वर सच्चे गुरुवर,
उनके शिष्यवर, गुणधारी ॥
शासन श्रृगारा, प्यारा दुल्हारा,
भविजन तारा, जग उहारी।
शिष्य सोहन्ता, अति पुण्यवन्ता,
है गुणवन्ता जयकारी ॥
मेवाड़ भूषण, टाले दूषण,
पाप का शोषण हितकारी।
शम दम शूरा, सयम पूरा,
दोष से दूरा आचारी ॥
सघ सचालक, महाव्रत पालक,
आत्मा तारक, बलिहारी।
प्रेम का वन्दन, है अभिनन्दन,
भविजन वन्दन उपकारी ॥

☆☆

आनन्द आयो रे

—मदनलाल तातेड़

मोच्छव को आनन्द भाया, कोशीथल मे आयो रे
दीक्षा स्वर्ण जयन्ति को म्हाने आनन्द आयो रे
आनन्द आयो रे
ग्रन्थ ने भेंट करवा, भारी भीड लागी ओ
कोशीथल को नाम ऊँचो सघ कीधो ओ
आनन्द आयो रे
जुग जुग जीओ अम्बा, म्हां सब करा विनति हो।
आपका म्हा दर्शन करतां, आनन्द पावां हो ॥
रग रगीली धरती भाया, आज कैसी सोवे हो।
मा बहिना रा गीता में, शुभ मगल होवे हो ॥

स्वागत गान
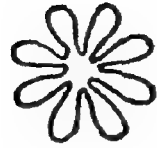
साध्वी श्री प्रेमवती जी

अमोलख आया हो—

स्वागत करता मन कमल खिलाया हो
कोशीथल मे मगल वरते, घर घर आनन्द छाया हो।
सारे सघ का भाग्य सवाया, गुरुवर आया हो।
मरुधर केहरी, मरुधरा सू, आया तेज सवाया हो।
केशर कुँवर का लाडला, मिश्री मुनि भाया हो ॥१॥
कन्हैया मुनि जी कमल खिलाया, ज्ञान सरोवर मांही हो।
ज्ञान ध्यान में लीन रहे, ठावी पण्डिताई हो ॥
मूल मुनि जी मन मे भाया, रतलाम सूँ आया हो।
मुनिराजो का ठाठ देख, जनगण हर्षाया हो ॥२॥
रूप मुनि जी व्याख्यानी है, जबरो ठाठ लगायो हो।
कोशीथल मे मुनियो रो, मेलो मनभायो हो।
महासती सौभाग्य कुंवर जी, चतर कुंवर जी आला हो।
तेज कुवर जी ज्ञान तणा कर दिया उजाला हो ॥३॥
नान कुँवर जी सोहन कुँवर जी आदि ठाणा सो हे हो।
त्यागी ने वैरागी म्होटा, मुझ मन मोहे हो ॥
सब को स्वागत करा भाव सू, आछा आप पधार्या हो।
समारोह की छवि वढ़ाई, भविजन तार्या हो ॥
प्रेमवती कहे कोशीथल में, केशर क्यारी छाई हो।
गुरु अभिनन्दन की ये घड़ियाँ, अनुपम आई हो ॥

☆☆

भाव भरे श्रद्धा सुमन

(तर्ज—यदि भला किसी का कर न सको)

गुरु भ्रात, तुम्हारे चरणों में, मैं सादर शीष झुकाता हूँ।
सद्गुरु रत्नाकर सागर हो, निश-दिन तुम गुण गाता हूँ ॥टेर॥

ये पूज्य प्रवर्तक स्वामी हैं, और जैन जगत के नामी हैं।
शासन की दिव्य विभूति हैं, बलिहारी तुम पर जाता हूँ ॥१॥

इस श्रमण सघ के गरिमामय, अति उच्च पद के धारक हो।
मेवाड़ सघ के जगमगते, भास्कर को दिल मे ध्याता हूँ ॥२॥

अति स्वच्छ सुनिर्मल सयम पालक, गुरुभ्रात आप यशधारी हो।
हो सरल स्वभावी देव आपके, शरण मे आनन्द पाता हूँ ॥३॥

शुभ आत्म-साधना जीवन मे, दिन दिन पल-पल बढती जावे।
भूलो को मार्ग बताते रहो, मैं यही भावना भाता हूँ ॥४॥

थे भद्रिक भावी सरल स्वभावी, मुनि भारमल जी गुणधारी।
है शिष्य उन्हीं के कहलाते, मैं मन में अति हर्षाता हूँ ॥५॥

इस स्वर्ण जयन्ति अभिनन्दन, अवसर पर सुन्दर ठाठ लगा।
मुनि ईन्द्र कहे कोशीथल मे, श्रद्धा सुमन चढ़ाता हूँ ॥६॥

यह चार सघ का मेला है, उल्लास भरा यह झमेला है।
सब अम्ब गुरु की जय बोलो, मैं भी जयनाद सुनाता हूँ ॥७॥

□
□□

प्रवतक श्री के गुरुभ्राता
तपस्वी मुनि श्री इन्द्रमुनि जी

युवा-हृदय श्री सुकन मुनि जी द्वारा प्रस्तुत

अभिनन्दन संगीत

कोशीथल के माँय,
कल्पतरु छाया है जी छाया है।
यह समारोह अति खास,
सभी मन भाया है जी भाया है ॥

अम्ब मुनि का है अभिनन्दन।
शतशत शतशत करते वन्दन ॥
जैन जगत के रत्न, आप कहलाया है कहलाया है ॥

गाँव 'थामला' सेठ किशोरी।
ता सुत है यह गुण के ओरी ॥
भारमल्ल मुनि पास, सयम धन पाया है जी पाया है ॥

नही चचलता, बडी सरलता।
बडी नम्रता, हृदय विशदता ॥
मुखडा री मुस्कान, सभी दिल भाया है जी भाया है ॥

सन्त सभी मिल करके आया।
श्रावक जन ने ठाठ लगाया ॥
आया लोग अपार, मडप नहीं माया है जी माया है ॥

अभिनन्दन की स्वर्णिम वेला।
कोशीथल में लग रयो मेला ॥
अद्‌भुत ऐसा ठाठ, नयन लख पाया है जी पाया है ॥

☆☆

सगीतमय श्रद्धा समर्पण

—ओजस्वी वक्ता **श्री जीतमल जी चोपडा**

जैन जगत की शान है।
भक्ता रा भगवान है ॥
जन जन प्यारा रे
सत्‌गुरु म्हारा रे।

भारत माँ के बाल हैं।
मरुधर मिश्रीलाल हैं ॥
जग उजियाला रे
सत् गुरु म्हारा रे।

श्रमण सघ की ढाल है।
गुरुवर अम्बालाल है ॥
मेवाडी सितारा रे।
सत्‌गुरु म्हारा रे ॥

दीक्षा स्वर्ण जयन्ति है।
सबकी यही विनन्ति है ॥
दीपो गुरु म्हारा रे।
सत् गुरु म्हारा रे ॥

कोशीथल आबाद है।
सघ ने घणो धन्यवाद है ॥
स्वागत किया प्यारा रे।
सत् गुरु म्हारा रे ॥

भटेवरा – बन्धु

[समाज एव जिन-शासन भक्त परिवार]

धर्मानुरागी सेवाशील

स्व० श्री तख्तमल जी भटेवरा, कोशीथल

धर्मोत्साही समाजसेवी

स्व० श्री चुन्नीलाल जी भटेवरा, कोशीथल

उदारमना

सेठ श्री शेरीलाल जी कोठारी

सेमा

धम प्रिय सरल हृदय

सेठ श्री भैरूंलाल जी सेठिया

सनवाद
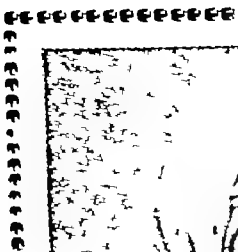
श्रीमान अर्जुनलाल जी डांगी
अध्यक्ष वर्धमान स्थानकवासी श्रावक संघ
भीलवाड़ा

श्रीमान सेठ खेमराज जी बोहरा
मोलेला
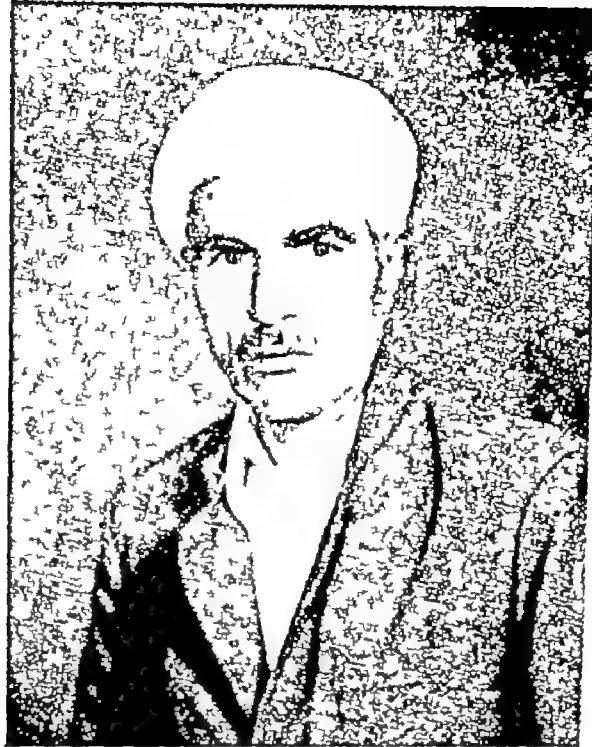
श्रीमान सेठ मोतीलाल जी कोठारी, सेमा

गुरु भक्त स्व० श्री मोतीलाल जी चोरड़िया,
चक्कीवाला, इन्दौर

श्रीमान भवरलाल जी भण्डालिया, पांसा

अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति के सक्रिय कार्यकर्ता

श्रीमान सोहनलाल जी सूर्या

अध्यक्ष

अ० ग्र० प्र० समिति तथा श्रावक संघ, आमेट

श्रीमान शंकरलाल जी सरणोत

कोषाध्यक्ष

अ० ग्र० प्र० समिति आमेट

श्रीमान पन्नालाल जी हरण

मन्त्री

अ० ग्र० प्र० समिति तथा श्रावक संघ आमेट

अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति के सक्रिय कार्यकर्ता

श्रीमान रोशनलाल जी पगारिया (एडवोकेट)

मन्त्री

अभिनन्दन समारोह समिति कांकरोली

श्रीमान सम्पतलाल जी महता

अध्यक्ष

श्री व० स्था० जैन श्रावक संघ, रेलमगरा

श्रीमान रोशनप्रकाश जी ओस्तवाल

कुँवारिया

श्रीमान तेजमल जी बापना (एडवोकेट) भूपालगज

श्रीमान बसन्तीलाल जी कोठारी (एडवोकेट) भूपालगज

धर्म ज्योति परिषद्

के

भू० पू० अध्यक्ष

मन्त्री

श्रीमान मदनलाल जी पीतल्या
(मु० मजिस्ट्रेट) गगापुर

संयुक्त मन्त्री

श्रीमान लक्षीलाल जी कोठारी (एडवोकेट)

सहमन्त्री
सम्पादक धर्म ज्योति

वरिष्ठ कार्यकर्ता

श्रीमान धनपतमल जी बोहरा (C A)

कोषाध्यक्ष

श्रीमान शान्तिलाल जी पोखरणा

सह-सम्पादक 'धर्म ज्योति'

श्रीमान मोतीसिंह जी सुराना

भू० पू० मन्त्री

धर्म ज्योति परिषद के वरिष्ठ कार्यकर्ता

श्रीमान भूपालसिंह जी पगारिया

भू० पू० सहमन्त्री

श्रीमान अमरसिंह जी चौधरी

प्रचारक
धर्म ज्योति परिषद

सक्रिय कार्यकर्ता
मेवाड़ भूषण श्रावक समिति
(M. B. S. S.)
उदयपुर

श्रीमान अम्बालाल जी बागरेचा

उपाध्यक्ष

श्रीमान रणजीतसिंह जी सोजत्या

मन्त्री

श्रीमान सम्पतिलाल जी बोहरा (एडवोकेट)

अध्यक्ष

श्रीमान जालमचन्द जी कोठीफोड़ा

कोषाध्यक्ष

श्रीमान रोशनलाल जी चह्वाण

सहमन्त्री
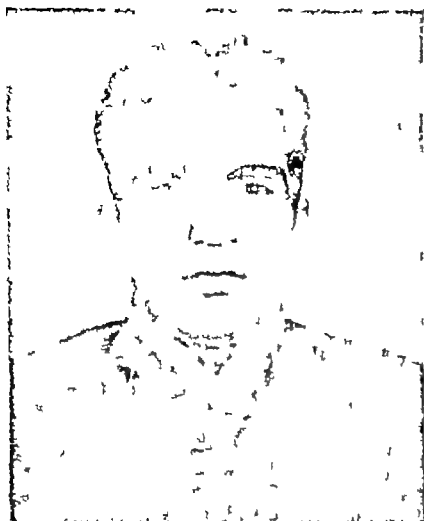
श्रीमान रोशनलाल जी नाहर

श्रीमान अम्बालाल जी नवलखा

कर्मठ कार्यकर्ता M. B. S. S. उदयपुर

श्रीमान बसन्तीलाल जी बडाला

श्रीमान चन्दनमल जी सोलंकी

श्रीमान श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्रबन्ध सम्पादक

पू० प्र० अ० अभिनन्दन ग्रन्थ, आगरा

श्रीमान डा० नरेन्द्र भानावत, एम ए, पी-एच डी

सहयोगी सम्पादक

पू० प्र० अ० अभिनन्दन ग्रन्थ जयपुर

श्रीमान घीसूलाल जी कोठारी, कपासन

सयोजक

अभिनन्दन समारोह समिति

श्रीमान गोटूलाल जी माडोत 'निर्मल'
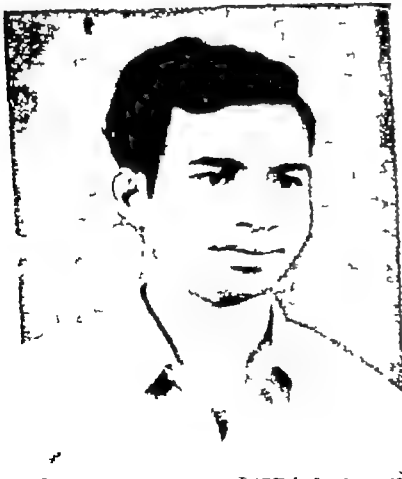
सहयोगी लेखक

पू० प्र० अ० अभिनन्दन ग्रन्थ

श्रीमान नाथूलाल जी चण्डालिया

मन्त्री

श्रावक संघ कपासन

श्रीमान मागीलाल जी दुगड

पनाणी

श्रीमान नेमीचन्द जी बोहरा

मालना

श्रीमान मागीलाल जी सचेती

मोही

श्रीमान छगनलाल जी धनावत

फतहनगर

स्व० श्रीमान मोतीलाल जी दुगड

पलाना कला [जि० उदयपुर]

श्रीमान सेठ भेरूलाल जी बोल्या

अध्यक्ष
श्रावक संघ, कांकरोली

श्रीमान धर्मोत्साही मीठालाल जी सामर

फतहनगर

श्रीमान सेवामूर्ति सेठ श्री भूरालाल जी कोठारी

नान्दसा
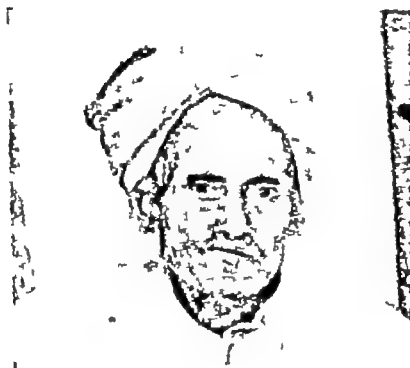
गुरुदेव श्री के बालसखा परम भक्त हृदय
श्रीमान सेठ श्री तुलसीराम जी सोमाणी माहेश्वरी

फतहनगर

श्रीमान दानप्रेमी सेठ श्री भूरालाल जी महता
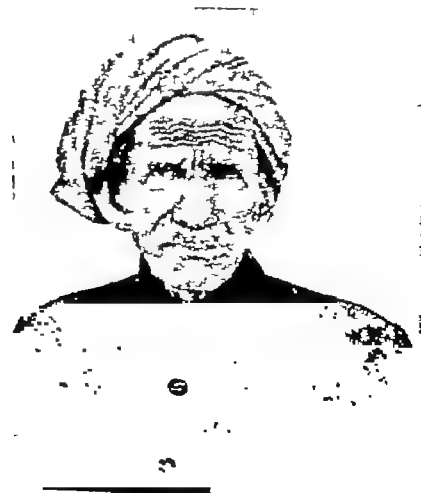
कोशीथल
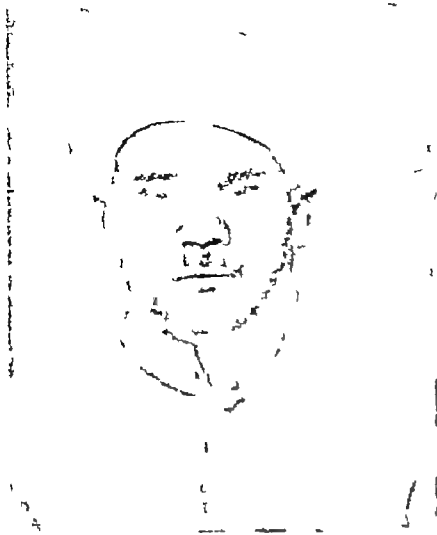
श्रीमान नेमीचन्द जी बाफना

सडौल प्रधान प० ग० रायपुर

श्रीमान कन्हैयालाल जी चपलोत

नाना

धर्मानुरागी श्रीमान सेठ श्री चम्पालाल जी कोठारी

कोशीथल

श्रीमान उदार हृदय सेठ श्री उदयराम जी वेराडिया

कोशीथल

श्रीमान शकरलाल जी चण्डालिया

कु वारिया

श्रीमान भवरलाल जी कोठारी

सेमा

श्रीमान सेठ गणेशलाल जी हींगड़

मोई

श्रीमान भवरलाल जी वदामा

सलोदा

श्रीमान मदनलाल जी जैन (जिनगर)

गुरज

श्रीमान देवीलाल जी चण्डालिया

घासा

श्रीमान नन्दलाल जी डागा

भूपालगंज, (भीलवाड़ा)

श्रीमान नवरतनमल जी चौधरी

अध्यक्ष

श्री व० स्था० जैन श्रावकसंघ, भूपालगंज (भीलवाड़ा)

श्रीमान हीरालाल जी चोपड़

लाम्बोला

श्रीमान शान्तिलाल जी कोठारी

गेगाना

श्रीमान गोपीलाल जी चपलोत

मोई

श्रीमान शान्तिलाल जी वापना

भोपालसागर

श्रीमान भगवतीलाल जी तातेड़

उगना

श्रीमान शकरलाल जी कोठारी

मोतेला

श्रीमान फूलचन्द जी लोढ़ा

धाङ्गा

स्व० श्रीमान मोहनलाल जी माढोत

खमणोर

श्रीमान नन्दलाल जी डागा

भूपालगंज, (भीलवाड़ा)

श्रीमान नवरतनमल जी चौधरी

अध्यक्ष

श्री व० स्था० जैन श्रावकसंघ, भूपालगंज (भीलवाड़ा)

श्रीमान हीरालाल जी चोपड़

लाखोला

श्रीमान शान्तिलाल जी कोठारी

मैराना

श्रीमान गोपीलाल जी चपलोत

मोई

श्रीमान चुनीलाल जी चपलोत

माई

श्रीमान सोहनसिंह जी कावड़िया
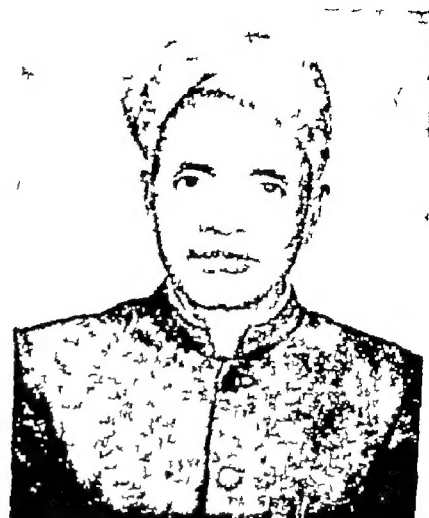
भू० पू० मन्त्री
व० स्था० जैन श्रावक संघ, भीलवाड़ा

श्रीमान लक्ष्मीलाल जी चन्डालिया

पांना

श्रीमान अम्बालाल जी सियाल

जवाणा
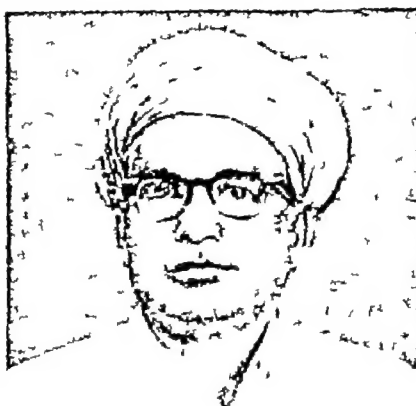
श्रीमान पन्नालाल जी चण्डालिया

गनवाड़

धर्मोत्साही सेठ श्री पूनमचन्द जी कछारा

धोइन्दा

श्रीमान सोहनलाल जी कोठारी

बरसणी

श्रीमान नाथूलाल जी कछारा

कु वारिया

श्रीमान शकरलाल जी ओस्तवाल

कु वारिया

श्रीमान दीपचन्द जी दक

आमेट

श्रीमान मांगीलाल जी पगारिया

मन्त्री
श्रावक संघ, कांकरोली

धर्मोत्साही सेठ श्री छगनलाल जी हींगड

अकोला (भूपाल सागर)

श्रीमान बाबूलाल जी पीपाड़ा

कुंवारिया

श्रीमान चुन्नीलाल जी पोखरणा

अकोला

श्रीमान भैरु लाल जी